* श्रीहरिः *

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

(प्रथम खण्ड)

प्रसारितमहाप्रेमपीयूषरससागरे ।
चैतन्यचन्द्रे प्रकटे यो दीनो दीन एव सः ॥
अवतीर्णे गौरचन्द्रे विस्तीर्णे प्रेमसागरे ।
सुप्रकाशितरत्नौघे यो दीनो दीन एव सः ॥

लेखक—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्रीहरिः

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड १

की

विषय-सूची

चित्र-सूची

समर्पण

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्‌ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोमि यत्तत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥*

प्यारे ! शैलशिखरकी सुहावनी चोटीसे उतारकर जिस कार्यके निमित्त नीचे लाये थे, उस कार्यका कुछ अंश यह तुम्हारे सम्मुख है । इसकी असली नकदी रोकड़ तो तुम्हारे ही पास है, मैं तो तुम्हारे हिसाब-किताबको लिखनेवाला, बहीखातेके भारको ढोनेवाला वेतनभोगी मुनीम हूँ, जैसा तुमने लिखवाया लिख दिया । मेरी मजूरी तुम दे ही देते हो । मजूरी क्या, मैं तो तुम्हारा क्रीतदास हूँ । क्रीतदासका तो सम्पूर्ण भार स्वामीपर ही रहता है । किन्तु मेरे भोलेभाले मालिक ! तुम निष्ठुर नहीं हो । बड़े दयालु हो, तुम्हारा हृदय बड़ा कोमल है । इस कोमलताके

---

* शरीरके द्वारा, वाणीके द्वारा, मन तथा इन्द्रियोंके द्वारा, बुद्धिसे, आत्मासे अथवा स्वाभाविक प्रकृतिके वशीभूत होकर जिन-जिन भी क्रियाओंको करता हूँ, उन सबको नारायणके ही प्रति समर्पण किये देता हूँ ।

कारण मैं कुपथगामी न बन जाऊँ, प्रभो! जरा इस गुलामपर थोड़ी कड़ी निगाह भी रहे, जिससे यह तुम्हारी चीज़को अपनी न समझ बैठे, यही इस दीन-हीन कंगालकी प्रार्थना है। दयालो! क्या मेरी इस अर्जीकी तुम्हारे दरबारमें सुनायी होगी? क्या मैं तुम्हारा विशेष कृपापात्र चाकर बन सकूँगा? अच्छा, जैसी इच्छा। 'अर्जी हमारी आगे मर्जी तुम्हारी है।'

श्रीहरिबाबाका बाँध
गवाँ (बदायूँ)
वसन्तपञ्चमी, गुरुवार
१९८८ विक्रमीय

तुम्हारा पुराना भिखिया—

प्रभु

प्रस्तावना

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥*

श्रीकृष्णचरणोंसे पृथक् होनेपर प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकारकी योनियोंमें भटकता फिरता है। परम शान्ति ही जिसका चरम लक्ष्य है ऐसा जीव श्रीकृष्णचरणोंसे भिन्न अन्य स्थानोंमें शान्तिका अन्वेषण करता है, किन्तु सांसारिक पदार्थोंमें शाश्वत शान्ति कहाँ? वहाँ तो विषयजन्य विकलता है। परम शान्ति तो श्रीकृष्णचरणारविन्दोंमें ही है, जब विषयजन्य सुखोंकी इच्छाको त्यागकर जीव श्रीकृष्णचरणाम्बुजों-का ही आश्रय लेगा, तभी उसे सच्ची शान्तिकी प्राप्ति हो सकेगी। इन्द्रिय-जन्य विषयोंमें जबतक वैराग्य-बुद्धि नहीं होती, जबतक पूर्णरीत्या स्वरूपतः सभी प्रकारकी वासनाओं और भोगोंका त्याग नहीं होता तबतक ज्ञान, वैराग्य, भक्ति अथवा शान्तिकी बातें बनाना केवल पागलोंका प्रलापमात्र ही है। त्यागके अनन्तर ही शान्ति है 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।'

---

* कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें युद्धसे विमुख हुए अर्जुनके प्रति भगवान् कह रहे हैं—हे अर्जुन! सभी प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिसे मजबूर हैं। तेरी प्रकृति युद्ध ही करनेकी है—यदि अहंकारके वशीभूत होकर तू इस बातका हठ करेगा, कि मैं युद्ध नहीं करता, तो तेरा यह हठ व्यर्थ है, केवल दुराग्रहमात्र है। प्रकृति तुझे बरबस उसमें नियुक्त कर देगी।

त्यागमय जीवन भी पूर्वजन्मोंके सुकृतोंसे ही बन सकता है। वे मनस्वी, तपस्वी, विरक्त महात्मा धन्य हैं, जिन्हें संसारकी किसी भी प्रकारकी एषणाएँ आकर नहीं सतातीं, जो शरीरको पका फोड़ा समझकर उसे जड़-मूलसे नष्ट करनेके निमित्त ही उसकी देख-रेख करते हैं, अन्नको व्रण-लेपन समझकर ही आवश्यकतानुसार उसमें लगाते हैं, जिस प्रकार व्रणको धोते हैं, उसी बुद्धिसे वे स्नान करते हैं, वस्त्रोंका उपयोग व्रण-की चीरके समान करते हैं, भिक्षा ही जिनकी एकमात्र वृत्ति है, जिनके लिये निन्दा-स्तुति दोनों समान हैं, संसारी बातोंसे जो सदा मौनी बने रहते हैं, जो मिल गया उसीमें सन्तोष कर लेते हैं, जो कहींपर अपना निश्चित स्थान नहीं बनाते और जिनकी श्रीकृष्णचरणोंमें मति स्थिर हो गयी है, उन पूज्यपाद महात्माओंके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है। उन त्यागी महानुभावोंके चरणचिह्नोंका अनुवर्तन मैं कब कर सकूँगा ? यही इस जीवनमें चिरकालकी अभिलाषा है। कई बार जोर मारा, अनेकों बार कार्यक्रम बनाये, प्रेमी बन्धुओंसे बीसों बार परा-मर्श किया, किन्तु यह अपने हाथकी बात थोड़े ही है। जिसके ऊपर उन्हींकी कृपा हो, उसे ही ऐसा जीवन उपलब्ध हो सकता है, जिन्हें वे ही बुद्धियोग दे दें, वही उनका 'प्रिय नर' बन सकता है। वे किसे बुद्धियोगका अधिकारी समझते हैं, इसे वे ही जानें।

सो जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहि होइ जाई ॥

गत राष्ट्रीय आन्दोलनमें मौनी तथा नियमी होनेपर भी दो बार कारावासमें जाना पड़ा। मौनी, फलाहारी तथा उपद्रवी होनेके कारण छः महीनेकी पूरी अवधि मैंने स्वेच्छासे कारावासकी कालकोठरियोंमें ही काटी। तीन महीने प्रयागकी जेलमें रखकर अधिकारियोंने मुझे नैपालकी तराईमें बहराइच जिलेकी जेलमें भेज दिया। यह जेल बहुत छोटी थी, यहाँके सभी

अधिकारी शिष्ट थे। मेरे साथी सभी भावुक नवयुवक थे, वहाँकी कालकोठरियाँ भी अन्य जेलोंकी अपेक्षा कुछ अच्छी थीं, इसलिये यह जेल मेरे बहुत अनुकूल पड़ी। मुझे दिन-रात्रि भजन-पूजन तथा एकान्त-चिन्तनका समय मिलता था। केवल दो-तीन घण्टे मैं अपने रामजी, काशी और सरयू आदि प्रेमी बन्धुओंके साथ कथा-वार्ता करता, नहीं तो अपनी कोठरीमें ही बैठा रहता। वहाँके एकान्त चिन्तनका हृदयपर बड़ा प्रभाव पड़ा। जीवनमें उत्कट त्यागके भाव आने लगे, बार-बार सोचता, कब अवधि समाप्त हो और कब इस कोलाहलपूर्ण संसारको त्यागकर पहाड़ोंकी कन्दराओंमें जाकर एकान्त-हृदयसे प्रभुके प्रेममें पागलकी भाँति रुदन करूँ। भर्तृहरिजीका यह पद बार-बार याद आता कि 'क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपयन्' अर्थात् संसारकी ओरसे वीतराग होकर हम किस पुण्य वन-प्रदेशमें बैठकर कब शिव-शिव-शिव ऐसा प्रलाप करते रहेंगे। अवधि समाप्त हुई, मैंने चित्रकूट, अयोध्या आदि पुण्य तीर्थोंकी पैदल यात्रा की, गंगाजीके किनारे-किनारे उत्तराखण्डमें प्रभु-प्रेमकी पूर्णरीत्या उपलब्धि न हो तबतक रहनेकी इच्छासे बदरीनारायणतककी यात्रा भी की, किन्तु 'पुण्यैर्विना नहि भवन्ति समीहितार्थाः' पूर्वजन्मोंके पुण्योंके प्रभावसे ही ऐसे स्थानोंमें निवास हो सकता है, पापोंके उदय हो आनेके कारण अनिच्छा-पूर्वक भी फिर नीचे ही लौटना पड़ा।

दूसरे आषाढ़का अन्त था, श्रावण लग गया था, बदरीनाथमें प्रायः रोज ही वर्षा होती, बर्फ भी गिरती। मेरे ओढ़ने, बिछाने, पहिननेको वही एक जालीदार टाटका टुकड़ा था। उसीमें गुड़मुड़ी मारे बदरीनारायणके बड़े फाटकके सामने पड़ा रहता था, रात्रिमें ठण्डी-ठण्डी वायु आकर शरीरमें घुस जाती, उस समय दुःख होता था या सुख इसे ठीक-ठीक कह नहीं सकता, किन्तु दुःखमें जैसी घबराहट या विकलता होती है, सो बिल्कुल नहीं थी। पहाड़ी जलसे और भोजनके व्यतिक्रमसे पाँच छः वर्षकी

पुरानी संग्रहणी भी उभड़ आयी। पेटमें जोरोंका ऐंठा होता, छः-छः सात-सात वार दस्त जाना पड़ता। पेटसे शुद्ध आँव निकलता। खानेको भिक्षामें जो भी मिल जाय, इतनेपर भी भूख इतनी लगती कि सेर तीन पाव अन्न यदि मिल जाता तो उसे प्रेमके साथ पा लेता! शरीरकी दशा विचित्र ही हो गयी। बदरीनारायणजीके बड़े दरवाजेपर जहाँ मैं रात्रिको पड़ा रहता था वहीं एक साधुद्वारा मालूम हुआ कि यहाँसे छः-सात मील और ऊपर एक वसुधारा नामक स्थान है, वह स्थान भी बड़ा सुन्दर है और वहाँ दो बहुत पुराने महात्मा भी रहते हैं।

मैंने सोचा—जब यहाँतक आ गया हूँ, तब इस सुयोगको हाथसे क्यों छोड़ूँ, मरूँ चाहे जीऊँ उन महापुरुषोंके दर्शन करने चाहिये। जानकी बाजी लगाकर नंगे ही पाँवोंसे वसुधाराको चल पड़ा। व्यासगुफा, गरुड़गुफा, भीमशिला आदि स्थानोंमे होते हुए चाँदीके समान चमकीली बर्फके ऊपर होकर वसुधारा पहुँच गया। दस्तोंकी कमजोरीके कारण आशा तो नहीं थी कि उस चढ़ाईको पार कर सकूँगा, किन्तु प्रभुकी ऐसी ही इच्छा थी, जैसे-तैसे पहुँच गया। उस स्थानको देखकर हृदय नृत्य करने लगा। बात बढ़ जायगी, विषयान्तर भी हो जायगा, स्थान भी बहुत घिर जायगा और पाठक भी उकता जायँगे इसलिये उस स्थानकी मनोहरता, अपनी निर्बलता और वहाँकी प्राकृतिक छटाका वर्णन छोड़े ही देता हूँ। उन दोनों महापुरुषोंके विषयमें भी विस्तारके साथ वर्णन न करूँगा। पाठक इतना ही समझ लें कि वे सचमुचमें महापुरुष ही होंगे जहाँ पशु-पक्षीकी तो बात ही क्या, पौधे भी बर्फके कारण नहीं जमते, वहाँ वे अठारह-बीस वर्षोंसे निरन्तर रहते हैं। केवल जाड़ोंमें चार महीनेके लिये बदरीनारायणसे थोड़े नीचे आते हैं। उनका स्वभाव बालकोंका-सा था, वे निष्कपट भोलीभाली बातें करते थे, मानो कोई पाँच-छः वर्षका अबोध बालक किसीसे बातें कर रहा हो। उनके स्वभावमें पागलपन था, बातें दोनों ही बे-सिर-पैरकी करते

थे, किन्तु वे निरर्थक नहीं होती थीं। बहुत-सी बातें होती रहीं। दोनोंने ही बताया 'यहाँसे केदारनाथ और गंगोत्तरी केवल ढाई कोस है। बीचमें बर्फके पहाड़ होनेसे लोग वहाँ जा नहीं सकते! हम तीन-चार बार सीधे गये हैं।' मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। मैं उसी मार्गको लगभग दो सौ मीलकी यात्रा करके आया था। ये महात्मा सीधे गये होंगे, इसमें हमें सन्देह नहीं रहा। जो हम बर्फमें नंगे रह सकते हैं और बीस वर्षोंसे वैसे ही घास-पत्ते खाकर रहते हैं उनके लिये बर्फके पहाड़से फिसलना क्या कठिन है! खैर, मैंने अपने बारेमें इशारेसे पूछा—वे महापुरुष झट समझ गये और खिड़ी-पागलोंकी तरह कहने लगे—हाँ, वे बात-बातमें यह कह देते थे—'हम तो जंगली आदमी हैं भैया।' 'हम तो जंगली आदमी हैं भैया! हमारी क्या!' इसी तरह अपनेको तीन-चार बार जंगली बताकर बोले—'यहाँ नहीं वहीं जाओ। जहाँ अनुकूल पड़े वहीं रहना चाहिये। यदि यहाँ रहना है, तो फिर कोई इच्छा ही न होनी चाहिये। सबके स्थान अलग-अलग हैं, हम तो जंगली हैं, देवस्थानोंमें देव ही रह सकते हैं। जहाँ मन लगे वहीं ठीक होता है। वहीं जाओ। हम तो जंगली आदमी हैं।' उनका भाव क्या था, इसे तो वे ही जानें। मैंने यही समझा ये महापुरुष मुझे नीचे जानेकी ही आज्ञा देते हैं, इसलिये मैं बदरीनारायणसे अल्मोड़ा होता हुआ सीधा यहाँ गाँवे आ गया।

पहिले संग्रहणी होनेपर भी उसकी चिकित्सा भाई बाबूलालजीने ही दूधके कल्पद्वारा की थी। तबसे तो मैं फिर तीन-चार वर्षोंतक निरन्तर दूध-फलोंपर ही जीवन बिताता रहा। इस यात्रामें अन्न आरम्भ किया था, वह असंयमके कारण अनुकूल न पड़ा। इसलिये फिर वही दूधकी चिकित्सा करायी और रोग कुछ-कुछ अच्छा हुआ। अन्ततः फिरसे फलाहारी बनना पड़ा।

बात बहुत बड़ी है और पाठकोंका उससे कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं, इसलिये इस गाथाको अधिक न बढ़ाकर बस इतना ही कह देना पर्याप्त होगा, कि भावी बड़ी बलवान् होती है, उसे जिससे जिस स्थानमें जो काम जब कराना होता है, उससे उसी स्थानमें वही काम उसी समय करा लेती है। इस स्थानमें रुकनेका मेरा बिल्कुल ही विचार नहीं था, 'श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली' जैसे महाग्रन्थको लिखनेका कभी जीवनमें साहस भी करूँगा ऐसी मुझे कभी स्वप्नमें भी आशा नहीं थी। मैं सोच रहा था, 'वहीं झूसीकी पुरानी कुटियामें चलकर पूर्ववत् एकान्तवास, स्वाध्याय, अध्ययन और अनुष्ठानादि करूँगा।' किन्तु भवितव्यताको कौन अन्यथा कर सकता है, भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका आदेश मिला कि 'चैतन्य-चरित्र' लिखो। पहिले तो मैं हिचका, अपनी असमर्थता भी प्रकट की, फिर सोचा—उन्हींका काम है वे ही करवावेंगे, तू क्यों मुकुरता है ? दादूदयालजीके शब्दोंमें—

'दादू' करता हम नहीं, करता औरे कोय।
करता है सो करेगा तूं जिन करता होय॥

मैंने उन्हें लिख दिया—'आदेशपालनकी यथाशक्ति चेष्टा करूँगा।' इधर भाई बाबूलालजीने आग्रह करते हुए कहा—'यदि तुम्हें चैतन्य-चरित्र ही लिखना है, तो हरियाबावाली बाँधकी कुटियामें ही रहकर क्यों नहीं लिखते ? वह आजकल एकदम उजाड़ पड़ी है, उसमें चैतन्यदेवका वर्षों कीर्तन हुआ है, अनेकों बार चैतन्य-चरित्रकी कथाएँ हुई हैं। उससे अधिक एकान्त शान्त और रम्य स्थान तुम्हें कहाँ मिलेगा ? गंगाजीका एकदम किनारा, सुन्दर रमणीक स्थान, चैतन्य-चरित्रका सुन्दर वायुमण्डल, सभी बातें तो अनुकूल हैं। फिर हमलोग भी तुम्हारे शरीरकी देख-रेख करते रहेंगे।' उनकी ऐसी ही इच्छा। यहाँ आ गया। यहाँ आते ही

एक परम वैराग्यवान् महापुरुषके सत्संगका सुयोग प्राप्त हुआ। परिव्राजकाचार्य महात्मा ब्रह्मप्रकाशजी महाराजके दर्शन यहाँ आते ही हो गये। स्थानकी सफाई कराकर यहाँ आसन जमा दिया। बन्धुवर रामेश्वरदयालुजीने तथा पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजीने चैतन्यदेवके सम्बन्धकी जितनी बँगला, अंग्रेजी, उर्दू तथा हिन्दीकी पुस्तकें थीं, वे सभी मुझे चरित्र लिखनेके लिये दे दीं। पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजीके एकमात्र इष्टदेव महाप्रभु गौराङ्ग ही हैं। उनके जीवनमें भी स्वयं गौराङ्गदेवजीकी-सी भावुकता, पवित्रता, महत्ता और तन्मयता है। वे स्वयं त्याग, वैराग्य, भक्ति और प्रेमकी एक आदर्श मूर्ति हैं। उनके द्वारा बीसों वर्षोंसे इस प्रान्तका कल्याण हो रहा है। लाखों मनुष्य उनके प्रेम-पीयूषका पान करके शान्ति-मार्गकी ओर अग्रसर होनेकी इच्छा कर रहे हैं। उन महापुरुषकी इतनी कृपा ही पर्याप्त है, कि वे हृदयसे इस कार्यके प्रति सहानुभूति रख रहे हैं। महापुरुषोंके सत्सङ्कल्पके सामने कौन-सा कार्य नहीं हो सकता है, उनके सत्सङ्कल्पसे दुस्साध्य कार्य भी सुसाध्य बन जाता है। अपात्र भी उस कार्यके योग्य पात्र बन जाता है। श्रीहरिबाबाजीने चैतन्य-चरित्रका बड़े परिश्रमके साथ अध्ययन किया है। वे महाप्रभुके लीला-स्थानोंमें स्वयं गये हैं, उनके सम्प्रदायके मुख्य-मुख्य महापुरुषोंसे मिले हैं और उनके सभी ग्रन्थोंका उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया है। दुर्भाग्यवश, मुझको वे इस चरित्रमें प्रत्यक्ष रीतिसे पुस्तकोंके अतिरिक्त कुछ भी सहायता न कर सके, कारण कि वे नियममें थे। अस्तु, उनका आशीर्वाद ही यथेष्ट है।

जिस दिन मैं यहाँ आया, उसी दिन सहसा एक पण्डितजी महाराजने पधारकर श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणका नवाह आरम्भ कर दिया। पूज्यपाद श्रीब्रह्मप्रकाशजी महाराजके सहित मैंने नवाह सुना। पू० ब्रह्मप्रकाशजीके महान् और आदर्श जीवनका मेरे हृदयके ऊपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। वे महापुरुष वेदान्तशास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे, वेदान्तका कोई भी मुख्य

ग्रन्थ उनसे नहीं बचा था, जिसकी उन्हें भलीभाँति जानकारी न हो। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतकी श्रीधरी टीका तो उन्हें अक्षर-अक्षर स्मरण थी। इतने बड़े ज्ञानी होनेपर भी हृदय इतना सरस और कोमल था कि भगवन्नामके श्रवणमात्रसे उनकी आँखोंमें आँसू आ जाते। श्रीमद्-भागवतकी तो बात ही क्या महाभारतको पढ़ते-पढ़ते वे निरन्तर रोते रहते थे। त्यागी इतने जबरदस्त कि बस, एक चद्दरमें ही सदा रहते। जाड़ा हो, गरमी हो, चाहे वर्षा हो, दूसरा वस्त्र वे रखते ही नहीं थे। बदरीनाथ तथा गंगोत्तरीमें भी एक ही चद्दरसे रहते थे। मैंने बहुत आग्रह किया कि रात्रिमें थोड़ा दुग्ध ग्रहण कर लिया करें। किन्तु बार-बार प्रार्थना करनेपर भी मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। गाँवोंमेंसे जो रूखी-सूखी रोटी माँग लाते, उन्हें ही एक समय पाकर निर्वाह करते।

नवाह समाप्त होनेपर मैंने कछलाके पं० वागीशजी शास्त्रीको लिखा, मेरा समाचार पाते ही वे फौरन चले आये और नवाह समाप्त होनेके दूसरे ही दिनसे श्रीमद्भागवतकी कथा प्रारम्भ हो गयी। इसी बीच श्रीब्रह्मचारी आनन्दजी तथा श्रीब्रह्मचारी इन्द्रजी भी यहाँ आकर रहने लगे। इन सभी बन्धुओंके सहवास और सत्सङ्गसे समय बड़े ही आनन्दके साथ कट रहा है।

एक दिन सहसा श्रीब्रह्मप्रकाशजी महाराज मुझसे बिना कहे ही कहीं चले गये। दो महीनेतक जो पुत्रकी भाँति प्यार करते रहे, उनकी ऐसी निष्ठुरताको स्मरण करके यह लोकोक्ति याद आ गयी 'राजा किसके पाहुने जोगी किसके मीत।' मन मसोसकर रह गया मनकी वेदनाको किसपर प्रकट करूँ? तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

मिलत एक दारुण दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हर लेहीं॥

उनका स्मरण बना ही हुआ था, तभी पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबा यहाँ

आ गये। उनके आनेसे सम्पूर्ण आश्रम आनन्दमय बन गया। निरन्तर भक्तोंके आगमनसे आश्रममें चहल-पहल बनी रहती है।

जब भगवान्‌की कृपा होती है, तब एक साथ ही होती है। महात्मा श्रीहरिहर-श्रीचैतन्यजीका नाम बहुत दिनोंसे सुन रहा था, २२-२३ वर्षके छोटी अवस्थामें ही उन्होंने वेदान्त-शास्त्रमें पूर्णता प्राप्त कर ली है, वे एक चद्दरके अतिरिक्त कमण्डलु भी नहीं रखते, बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित उनके पास वेदान्तके ऊँचे-ऊँचे ग्रन्थ पढ़ने आते हैं। मैं उनके दर्शनको ऋषिकेश गया था, किन्तु मेरे दुर्भाग्यसे वे उसी दिन हरिद्वार चले आये थे, इसलिये उनके दर्शनोंसे तब वञ्चित ही रहा। सहसा एक दिन वे स्वतः ही यहाँ आ गये और मेरी प्रार्थनापर कुछ काल उन्होंने यहाँ रहना भी स्वीकार कर लिया है। शामको आप नियमितरूपसे 'चैतन्य-चरितावली' की कथा सुनते हैं और दिनमें श्रीमद्भागवतकी भी। अबतक मैं अपनेको बिल्कुल भगवत्कृपासे हीन समझता था, किन्तु इन महापुरुषोंके दर्शनोंसे और इनकी अहैतुकी कृपाका स्मरण करके सोचता हूँ, तुझे चाहे अनुभव न हो, किन्तु तेरे ऊपर भगवान्‌की थोड़ी-बहुत कृपा अवश्य है। कारण 'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।' इस पदपर ही विश्वास करके अनुमान करता हूँ, वैसे अपने चित्तकी बहिर्मुखी वृत्तिका स्मरण करके तो अबतक यही पता लगता है, कि मैं भगवत्कृपासे अभी बहुत दूर हूँ।

मार्गशीर्षकी पूर्णिमाको इस ग्रन्थका लिखना आरम्भ किया था, बीचमें शारीरिक बड़े-बड़े विघ्न हुए। उस अरुचिकर प्रसङ्गका वर्णन करके मैं पाठकोंका बहुमूल्य समय बरबाद नहीं करना चाहता, किन्तु इतना बताये देता हूँ कि पूर्व जन्मोंके पापोंके परिणामस्वरूप या प्रारब्धके भोगोंके कारण यह शरीर बहुत ही रोगमय प्राप्त हुआ है। एक दिन दोनों खोखली डाढ़ोंमें बड़ी भारी वेदना हो रही थी, उन्हें उखड़वानेके लिये डाक्टर साहबको बुलाया था, पैरोंकी बड़ी-बड़ी बिवाइयोंमें सूखा दर्द हो रहा था। इससे

एक दिन पहिले ही वात-व्याधिके कारण लगातार ९ घंटेतक पेटमें असह्य दर्द हो चुका था, उसकी मीठी-मीठी वेदना शेष थी, दद्रु अलग पीड़ा दे रहे थे। कुछ अन्यमनस्क भावसे डाढ़को पकड़े हुए डाक्टरकी प्रतीक्षा कर रहा था उसी समय इन्द्रजीने मुझे यह श्लोक लिखकर दिया—

इदं शरीरं शतसन्धिजर्जरं
पतत्यवश्यं परिणामपेशलम्।
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ दुर्मते
निरामयं कृष्णरसायनं पिब॥*

किन्तु उस निरामय कृष्णरसायनका पान करूँ भी तो कैसे करूँ? मेरा दुर्भाग्य मुझे करने दे तब तो! जब वे ही स्वयं कृपा करके बुद्धियोग प्रदान करेंगे तभी उसके द्वारा उनतक पहुँच सकूँगा।

भजन, अध्ययन, कथाश्रवण तथा नित्यकर्मोंसे जो समय बचता है, उस समयमें ग्रन्थ लिखनेका काम होता है। जितना लिखा जाता है, उतनेकी नियमितरूपसे आनन्दजी रात्रिमें कथा कहते हैं, जबसे पूज्यपाद उड़ियाबाबाजी यहाँ पधारे हैं, वे भी कथा सुनते हैं इस प्रकार लिखा जानेपर सभी भक्तोंमें इसकी थोड़ी-बहुत आलोचना-प्रत्यालोचना होती है।

चैतन्य-चरित्र अगाध सुस्वादु रसका सागर है। इसमेंका रस कभी समाप्त ही नहीं होनेका, कोई चाहे जितना पी ले, चाहे जितना उलीच ले,

---

* यह शरीर सैकड़ों प्रकारके जोर लगनेके कारण बहुत ही कमजोर बना हुआ है। यह एक-न-एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जायगा, क्योंकि यह नाशवान् है। कहते हैं—'फिर इसकी ओषधि क्या है?' उत्तर देते हैं—'अरे, हतभागी नीच! तू शोक क्यों करता है, सब रोगोंको दूर करनेवाले कृष्णरसायनका निरन्तर पान क्यों नहीं करता! उसके पान करनेसे सम्पूर्ण रोग चले जायँगे।'

इसमें अनुराग भी कम नहीं होवेगा । मैंने तो इस ग्रन्थका यत्किञ्चित् भी पूरा किया है । इससे मुझे तो स्वतः बहुत अधिक लाभ हुआ है, पर इससे दूसरे लोगोंको लाभ होता है या नहीं इसका मुझे पता नहीं । 'दूसरे लोगोंको लाभ हो' इस नीयतसे मैंने इस चरित्रको लिखा भी नहीं । जिस उद्देश्यसे यह चरित्र लिखा गया उसका फल तो मुझे ग्रन्थारम्भके पूर्व ही मिल गया । इसके बाद सहारा यह मिला कि चैतन्य-चरित्रके प्रत्येक पद-पदपर विचार करते-करते अनेकों बार अपूर्व आनन्दका अनुभव हुआ । फलोंका भी फल यह मिला कि महात्माओंने कृपा करके इस चरित्रको सुना और इसकी सराहना की । अब पाठकोंको इससे कुछ लाभ मिले इसका श्रेय मुझे न होकर भक्तिप्रेमके महात्माओंको ही है कि जिनकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ लिखा गया और उनके अनवरत परिश्रमके कारण पाठकोंके हाथोंतक पहुँच सका । मेरी अपनी तो इच्छातक नहीं थी ।

महाप्रभु गौराङ्गदेवके जीवनमें सर्वव्यापी प्रेमके सभी लक्षण यथावत् स्पष्ट हुए हैं । महाप्रभु अपने समयके प्रेमी और भावुक महापुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ महापुरुष समझे जाते हैं । उनका सम्पूर्ण जीवन विरहमय है, उनका श्रीविग्रह कृष्ण वियोगका साकार स्वरूप ही बन गया था । किसी भी मनुष्य-के शरीरमें विरहजन्य इतने ऊँचे भाव नहीं देखे गये हैं । जिन्हें रोना सीखना हो, जो श्रीकृष्ण-प्रेममें पागल होकर निरन्तर अश्रु बहाते रहनेका इच्छुक हो उसे चैतन्य-चरित्रका अध्ययन करना चाहिये । रोना ही जीवन-का एकमात्र सर्वोत्कृष्ट आनन्द है, बिलखते रहना ही इस नीरस जीवनको अमर बनानेकी सञ्जीवनी है । तड़पना ही जीवनका सर्वोत्तम सौन्दर्य है । जिसे अपने जीवनको सर्वोत्कृष्ट, आनन्दमय, सौन्दर्यमय, भावमय तथा प्रेममय बनाना हो, जो बिलखना, तड़पना और छटपटाना चाहते हों, उनसे हमारी प्रार्थना है, वे 'चैतन्य-चरितावली' का स्वाध्याय करें । उन्हें

इसमें पूर्णरीत्या तो नहीं, किन्तु कुछ-कुछ संकेत अवश्य मिल जायँगे। बस, उन्हींके द्वारा वे अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँच सकेंगे।

यह तो इसका प्रथम भाग ही है। इसे तो चैतन्य-चरित्रकी प्रस्तावना ही समझनी चाहिये। यह तो उस साकार प्रेमावतारके व्यापक चरित्रकी उपक्रमणिकामात्र है। चैतन्य-चरित्रका प्रारम्भ तो वस्तुतः दूसरे भागसे होगा।

चैतन्यदेवके महान् जीवनमें चैतन्यताका बीजारोपण तो गयाधाममें हुआ, नवद्वीपमें आकर यह अंकुरित और कुछ-कुछ परिवर्धित हुआ। श्रीनीलाचल (जगन्नाथपुरी) में यह पल्लवित, पुष्पित और अमृतमय फलों-वाला बन गया। उसके अमृतमय सुस्वादु फलोंसे असंख्यों प्राणी सदाके लिये तृप्त हो गये और उनकी बुभुक्षाका अत्यन्ताभाव ही हो गया। उसकी नित्यानन्द और अद्वैतरूपी दो बड़ी-बड़ी शाखाओंने सम्पूर्ण देशको सुखमय और शान्तिमय बना दिया। इन सब बातोंका वर्णन पाठकोंको अगले भागोंमें मिलेगा। इसलिये हमारी प्रार्थना है कि पाठक इस मधुमय, आनन्दमय और प्रेममय दिव्य चरित्रको श्रद्धाभक्तिके साथ पढ़ें। इसके पठनसे शान्ति मिलेगी परमार्थका पुनीत मार्ग परिष्कृत होगा, मनकी मलिन वासनाएँ दूर होंगी चित्तके भाँति-भाँतिके सन्देहोंका भञ्जन होगा, भक्तोंके चरणोंमें प्रीति होगी और भगवान्‌के समीपतक पहुँचनेकी अधिकारभेदसे जिज्ञासा उत्पन्न होगी। इससे पाठक यह न समझ बैठें कि इसमें कुछ मेरी कारीगरी या लेखन-चातुरी है, यह तो चैतन्य-चरित्रकी विशेषता है, मुझ जैसे क्षुद्र जीवकी चातुरी हो ही क्या सकती है ? यदि इस ग्रन्थके लेखनमें कहीं मनोहरता, सुन्दरता या सरसता आदि आ गयी हो तो इन सबका श्रेय श्रील कृष्णदास गोस्वामी, श्रील वृन्दावनदास ठाकुर, श्रील लोचनदास ठाकुर, श्रील मुरारी गुप्त तथा श्रीशिशिरकुमार घोष आदि पूर्ववर्ती चरित्र-लेखक महानुभावोंको ही है

और जहाँ कहीं विषमता, तीक्ष्णता, नीरसता आदि दूषण आ गये हों उन सबका दोष इस क्षुद्र लेखकका है और इसका एकमात्र कारण इस अज्ञानीकी अल्पज्ञता ही है।

अन्तमें मेरी प्रेमी पाठकोंसे यही प्रार्थना है कि वे एक बार 'चैतन्य-चरितावली' को आदिसे अन्ततक ध्यानपूर्वक अवश्य पढ़ जायँ। उस मुनिमनहारी, बाँकेविहारी मुरलीमनोहरकी मंजुल मूर्तिका अपने हृदयमें ध्यान करता हुआ मैं अपनी इस रामकहानीको समाप्त करता हूँ।

श्रीहरिबाबाका बाँध
गँवा (बदायूँ)
वसन्तपञ्चमीकी गुलाबी रात्रि
संवत् १९८८ विक्रमीय

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

इष्ट-प्रार्थना

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

ग्रन्थारम्भके पूर्व दो महापुरुषोंके नमस्कारात्मक आशीर्वाद ।

श्रीपरमहंस परिव्राजक श्रीस्वामी ब्रह्मप्रकाशजी महाराजद्वारा प्राप्त—

कटाक्षकिरणाचान्त नमन्मोहाब्धये नमः ।
अनन्तानन्दकृष्णाय जगन्मङ्गलमूर्तये ॥ १ ॥

प्रणाम करनेवाले भक्तोंके मोहरूपी समुद्रको जिन्होंने अपने कटाक्ष-की किरणोंसे पान कर लिया है और जो जगत्‌के मङ्गलकी साक्षात् मूर्ति ही हैं ऐसे अनन्त आनन्दस्वरूप श्रीकृष्णके लिये नमस्कार है ॥ १ ॥

नमामि सच्चिदानन्दं भक्तान्स्वात्मनि कर्षकम् ।
कृष्णं नवघनश्यामं भक्तपापादिकर्षणम् ॥ २ ॥

कृष्ण-शब्दके चार अर्थ करते हैं—'कृष्' सत् 'ण' आनन्द अर्थात् जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। 'भक्तान् स्व आत्मनि कर्षतीति कृष्णः'—जो भक्तोंको अपनी ओर बलात् खींचते हैं। 'नवघनमिव श्यामम्'—जो नूतन मेघकी तरह काले हैं। 'भक्तानां पापादिविकारान् कर्षतीति कृष्णस्तम्'—जो भक्तोंके पाप आदि विकारोंको हृदयसे हठात् खींच लेते हैं। ऐसे कृष्णके लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीमत् पूज्यपाद महात्मा उड़ियाबाबाद्वारा प्राप्त—

राजचन्द्रकरोचिताहचिरतिप्राणेशभावाधिका
मानिद्रोहपराकुशानुतनुतापादीनताभूषिता।
नागारे स्फुरितादराप्रियतमालाभासमाधिश्रिता
पायात्वामधुनाशनादिरहिता मा राधिका सा तनू॥

यह श्लोक श्रीराधा-कृष्ण-परक है। इसके विशेषण श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनोंके ही सम्बन्धमें घट सकते हैं। प्रधानतया यह राधापरक ही श्लोक है, इसीलिये उसीका अर्थ सुनिये। श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल हुई श्रीराधिकाजीके रूपका वर्णन करता हुआ भक्त कहता है, ऐसी विरह-पीड़िता श्रीराधिकाजी तुम्हारी रक्षा करें—

जिन श्रीराधिकाजीको सुन्दर, सुप्रकाशित चन्द्रमाकी किरणें अरुचि-कर प्रतीत होती हैं, जो अपने प्यारे प्राणेशके विरहके कारण अत्यन्त ही दुःखित है, जिन्हें निद्रा आती ही नहीं, जो श्रीकृष्णके आगमनके सम्बन्धमें दिन-रात्रि तर्क-वितर्क ही करती रहती हैं, जिनका शरीर विरहाग्निसे सदा तपता रहता है, जो अत्यन्त ही दीनतासे ललिता आदि सखियोंसे श्रीकृष्णको बुलानेके लिये प्रार्थना कर रही है, इसके कारण उनके शरीरकी शोभा अत्यन्त ही भली मालूम पड़ती है, जिन

श्रीकृष्णके विरहमें घर-बार कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है, जो अपने प्रियतमके न मिलनेसे अत्यन्त ही व्याकुल हुई बैठी हैं, जिन्होंने खान-पान सभीका परित्याग कर दिया है और जिन्होंने अपने शरीरकी सभी सुधि-बुधि भुला दी है, ऐसी श्रीराधिकाजी तुम्हारी (लेखककी) रक्षा करें।

अब श्रीराधा-कृष्ण दोनोंके मिलित स्वरूपोंका वर्णन करते हैं— जिनके सिरपर सुन्दर मोर-मुकुट शोभायमान है, जिनके शरीरका लावण्य कोटि कन्दर्पोंकी छविको भी तिरस्कृत करनेवाला है, जिनसे कंसादि देहाभिमानी सदा द्रोह-भाव ही रखते हैं, जिनके शरीरकी कान्ति अग्निके समान सदा देदीप्यमान रहती है, जो भक्तोंकी दीनताके लिये ही कृपारूपी आभूपणको धारण करते हैं, गरुड़जीको जिनके द्वारा आदर प्राप्त हुआ है, जिनकी तमालवृक्षके समान सुन्दर आभा है, जो सदा आत्मस्वरूपमें ही स्थित रहते हैं, जिन्होंने मधुनामके दैत्यका संहार किया है ऐसे अनादि परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रजीका वह शरीर श्रीराधिकाजीके सहित तुम्हारी (लेखककी) रक्षा करे।

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

(मधुसूदन स्वामी)

"जिनके कर-कमलोंमें मनोहर मुरलिका विराजमान है और जिनके शरीरकी आभा नूतन मेघके समान श्याम है, जो पुनीत पीताम्बरको धारण किये हुए हैं, जिनका मुख शरद्के पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर है, नेत्र कमलके समान कमनीय हैं तथा अधर बिम्बाफलके समान लाल हैं ऐसे श्रीकृष्णको छोड़कर मैं कोई दूसरा परतत्त्व नहीं जानता । अर्थात् सर्वस्व तो ये ही वृन्दावनविहारी मुरलीमनोहर हैं ।"

इष्ट-प्रार्थना

कदा वृन्दारण्ये विमलयमुनातीरपुलिने
चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम्।
अये कृष्ण स्वामिन् मधुरमुरलीवादनविभो
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥*

प्यारे! तुमसे किस मुखसे कहूँ, कि मुझे ऐसा जीवन प्रदान करो। चिरकालसे महात्माओंके मुखसे सुनता चला आ रहा हूँ, कि तुम निष्किञ्चनोंके प्रिय हो, जिन्होंने आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकारके परिग्रहका परित्याग कर दिया है, जिनके तुम ही एकमात्र आश्रय हो, जो तुमको ही अपना सर्वस्व समझते हों, उन्हीं एकनिष्ठ भक्तोंके हृदयमें आकर तुम विराजमान होते हो, उन्हींके जीवनको असली जीवन बना देते हो। उन्हींके तुम प्यारे हो और वे तुम्हें प्यारे हैं। प्यारे! इस पामर प्राणीसे तुम कैसे प्यार

---

* यमुनाजीका सुन्दर पुलिन हो, वृन्दावनके सुन्दर वनोंमें वंशी बजाते हुए हलधर और सुदामा आदि प्यारे गोपोंके साथ आप विचरण कर रहे हों। हे मेरे प्राणनाथ! हे मेरे मदनमोहन! ओ मेरे चितचोर! मेरे ऐसे दिन कब आवेंगे, जब मैं तुम्हारी इस प्रकारकी छविको हृदयमें धारण किये पागलोंकी भाँति कृष्ण-कृष्ण चिल्लाता हुआ, अपने जीवनके सम्पूर्ण समयको निमिषकी नाईं बिता दूँगा।

कर सकोगे ? वञ्चना नहीं, अत्युक्ति नहीं, नाथ ! यह कैसे कहूँ कि बनावट नहीं, किन्तु तुम तो अन्तर्यामी हो, तुमसे कोई बात छिपी थोड़े ही है, इस अधमका तो तुम्हारे प्रति तनिक भी आकर्षण नहीं । रोज सुनता हूँ, अमुकके ऊपर तुमने कृपा की, अमुकको तुमने दर्शन दिये, इन प्रसङ्गोंको सुनकर मुझे अधीर होना चाहिये, किन्तु कृपालो ! अधीर होना तो अलग रहा, मुझे तो विश्वासतक नहीं होता, कि ऐसा हुआ भी होगा या नहीं ।

बहुत चाहता हूँ, तुम्हारा स्मरण करूँ, मनमें तुम्हें छोड़कर दूसरा विचार ही न उठे, कान तुम्हारे गुण-कीर्तनोंके अतिरिक्त दूसरी सांसारिक बातें सुनें ही नहीं । जिह्वा निरन्तर तुम्हारे ही नामामृतका पान करती रहे । नेत्रोंके सम्मुख तुम्हारी वही ललित त्रिभङ्गीयुक्त बाँकी चितवन नृत्य करती रहे । पैरोंसे तुम्हारी प्रदक्षिणा करूँ । करोंसे तुम्हारी पूजा-अर्चा करता रहूँ और हृदयमें तुम्हारी मनोहर मूर्तिको धारण किये रहूँ, किन्तु नटनागर ! ऐसा एक क्षण भी तो होने नहीं पाता ।

मन न जाने क्या ऊल-तमूल सोचता रहता है, जब कभी स्मरण आता है, तो मनको बारम्बार धिक्कारता हूँ, 'अरे नीच ! न जाने तू क्या व्यर्थकी बातें सोचता रहता है ! अरे, उन मनमोहनकी छविका चिन्तन कर जिसके बाद फिर कोई चिन्तनीय चीज़ ही शेष नहीं रह जाती, किन्तु नाथ ! वह मेरी सीखको सुनता ही नहीं । न जाने कितने दिनसे यह इन घटपटादिकोंको सोचता आ रहा है । विषयोंके चिन्तनसे यह ऐसा विषय-मय बन गया है, कि तुम्हारी ओर आते ही काँपने लगता है और आगे बढ़ना तो अलग रहा, चार कदम और पीछे हट जाता है । कैसे करूँ नाथ ! अनेक उपाय किये, अपने करनेयोग्य साधन जहाँतक कर सका, सब किये, किन्तु इसपर कुछ भी असर नहीं हुआ । हो भी तो कैसे !

इसकी डोरी तो तुम्हारे हाथमें है। तुमने तो इसकी डोरी ढीली छोड़ दी है, यदि तुम्हारा जरा भी इशारा हो जाता तो फिर इसकी क्या मजाल जो इधरसे उधर तनिक भी जा सकता। मेरे साधनोंसे यह वशमें हो सकेगा, ऐसी मुझे आशा नहीं। तुम्हीं जब बरजो तब काम चले।

मैं हारयो करि जतन बहुत बिधि अतिसै प्रबल अजै।
'तुलसिदास' बस होय तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

प्यारे प्रभु! जरा बरज दो। एक क्षणको भी तुम्हारे प्रेमसागरमें डूब जाय तो यह जीवन सार्थक हो जाय। यह कलेवर निहाल हो जाय।

जीभ नाना प्रकारके रसोंमें इतनी आसक्त है, कि इसे तुम्हारे नाममें मज़ा ही नहीं आता। निरन्तर स्वादु-स्वादु पदार्थोंकी ही वाञ्छा करती रहती है। हठात् इसे लगाता हूँ, किन्तु बेमनका काम भी कभी ठीक होता है! नाथ! अब तो बस तुम्हारा ही आश्रय है।

तुम्हारे प्रति अनुराग नहीं, विषयोंसे वैराग्य नहीं, जीवनमें यथार्थ त्याग नहीं। जीवन क्या है, पूरा जंजाल बना हुआ है। चाहता हूँ अनन्य होकर तुम्हारा ही चिन्तन करूँ, नहीं कर सकता। इच्छा होती है, जीवनमें यथार्थ त्याग हो, नहीं होता। सोचता हूँ संसारसे उपराम होऊँ, हो नहीं सकता। परिग्रहसे जितना ही दूर होनेकी इच्छा करता हूँ, उतना ही अधिक संग्रही बनता जाता हूँ। तुम्हारे चरणोंसे पृथक् होनेसे ऐसा होना अवश्यम्भावी है।

शरीरको सुखाया। तितिक्षाका ढोंग रचा। ध्यान, जप, योग, आसन सभी तरफ मनको लगाया, किन्तु तुम्हारी यथार्थताका पता नहीं चला। तुम्हारे प्रेममें पागल न बन सका। हिर-फिरकर वही संसार भाँति-भाँतिका रूप रखकर सामने आ गया। तुम छिपे ही रहे। अपने ऊपर अब विश्वास नहीं रहा, यह शरीर रोगोंका अड्डा बन गया है। नेत्रोंकी

ज्योति अभीसे क्षीण हो गयी, दन्त खोखले हो गये । पाचन-शक्ति कम हो गयी, वायुके प्रकोपसे शरीरके सभी अवयव वेदनामय बन गये, फिर भी यथार्थ जीवन लाभ नहीं कर सका । अब सब तरफसे हारकर बैठ गया हूँ, अब तो एक यही बात सोच ली है, जो तुम कराओगे करूँगा, जहाँ रखोगे रहूँगा और जैसा नाच नचाओगे वैसा नाचूँगा । तो भी प्यारे ! इस जीवनमें एक ही साध है और यह साध अन्ततक बनी ही रहेगी । एक बार सबको भूलकर तुम्हारे चरणोंमें पागलकी भाँति लोटपोट हो जाऊँ, यही एक हार्दिक वासना है ।

अहा ! ये सभी सांसारिक वासनाएँ जब क्षय हो जायँगी, जब एकमात्र तुम ही याद आते रहोगे, सोते-जागते आठों पहर तुम्हारी मनोहर मुरलीकी मीठी-मीठी ध्वनि ही सुनायी देती रहेगी, तुम्हारी उस मन्द-मन्द मुसकानमें ही चित्त सदा गोते लगाता रहेगा और मैं सभी प्रकारसे लज्जा, सङ्कोच तथा भयको त्यागकर पागलोंका-सा नृत्य करता रहूँगा, तब यह जीवन धन्य हो जायगा, यह शरीर सार्थक हो जायगा ।

नाथ ! मुझे रोनेका वरदान दो, रोता रहूँ, पागलकी भाँति सदा रोऊँ, उठते-बैठते, सोते-जागते सदा इन आँखोंमें आँसू ही भरे रहें, रोना ही मेरे जीवनका व्यापार हो । खूब रोऊँ, हर समय रोऊँ, हर जगह रोऊँ और जोरसे रोते-रोते चैतन्यदेवकी भाँति चिल्ला उठूँ—

हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
हा ! हा ! कदानु भवितासि पदं दृशोर्मे ॥

गुरु-वन्दना

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥*

(वृ० स्तो० र०)

गुरुदेव ! तुम्हारे पादपद्मोंमें कोटि-कोटि प्रणाम है । अन्तर्यामिन् ! तुम्हारे अनन्त गुणोंका बखान यदि शेषनाग अपने सहस्र मुखोंसे सृष्टिके अन्त-

---

* जो ब्रह्मानन्दस्वरूप हैं, परम सुखके देनेवाले हैं, उनके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं । जो मूर्तिमान् ज्ञान हैं, द्वन्द्वोंसे परे हैं, गगनके समान सर्वत्र व्यापक हैं, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके लक्ष्य हैं । जो एक हैं, नित्य हैं, मल-रहित हैं, अचल हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिके साक्षिस्वरूप हैं, जो भावोंसे परे हैं, तीनों गुणोंसे रहित हैं, इस प्रकारके अपने सद्गुरुके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ।

तक अहर्निश करते रहें तो भी उनका अन्त नहीं होगा। तब फिर मैं क्षुद्र प्राणी तुम्हारी विमल विरदावलीका बखान भला किस प्रकार कर सकता हूँ? फिर भी तुम जाने जाते हो। तुम अगम्य हो, तो भी अधिकारी तुमतक पहुँचते हैं। तुम अनिर्वचनीय हो, तो भी शिष्य-प्रशिष्य परस्परमें मिलकर तुम्हारा निर्वचन करते हैं। तुम निर्गुण-निराकार हो फिर भी शिष्योंके प्रेमवश तुम सगुण-साकार होकर प्रकट होते हो। मनीषी तुम्हारे तत्त्वको परोक्ष बतलाते हैं, तो भी तुम प्रत्यक्ष होकर शिष्योंकी पूजा-अर्चाको ग्रहण करते हो। हे गुरुदेव! इस प्रकारके तुम्हारे रूपको बारम्बार नमस्कार है।

हे ज्ञानावतार! मेरी पात्रता-अपात्रताका विचार न करना। पारस लोहेकी पात्रताकी ओर ध्यान नहीं देता, वह तो सामने आये हुए हर प्रकारके लोहेको सुवर्ण कर देता है क्योंकि उसका स्वभाव ही लोहेको काञ्चन बनाना है। तुम्हारे योग्य पात्रता क्या इन पार्थिव प्राणियोंमें कभी आ सकती है? अपने स्वभावका ही ध्यान रखना। तुम्हारे दयालु स्वभावकी प्रशंसा सुनकर ही मैं समिधा हाथमें लिये हुए तुम्हारे श्रीचरणोंमें आया हूँ। ये वन्य पुष्प हैं, अभीकी लायी हुई ये कुशा हैं और ये सूखी समिधा हैं, यही मेरे पास उपहार है और सम्भवतया यही तुम्हें प्रिय भी होगा। हे निरपेक्ष! मेरी प्रार्थना स्वीकार करो और मुझे अपने चरणोंमें शरण दो। तुम्हारे पादपद्मोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।

हे त्रिगुणातीत! मैं तुम्हारी दयाका भिखारी हूँ, हम नेत्रहीनोंको एक-मात्र तुम्हारा ही आश्रय है। अज्ञान-तिमिरने हमारी ज्योतिको नष्ट कर दिया है? इसे अपनी कृपारूपी सलाकासे उन्मीलित कर दो। जिससे हम तुम्हारी छविका दर्शन कर सकें। हे मेरे उपास्यदेव! तुम्हें छोड़कर संसारमें मेरा और कौन ऐसा हितैषी है? तुम ही एकमात्र मेरे आधार हो। हे अनाश्रितके आश्रय! मेरी इस बद्धाञ्जलिको स्वीकार करो।

न तो मैं तैरना ही जानता हूँ, न नाव खेना ही। फिर भी घोर समुद्रमें बहा चला जा रहा हूँ। किधर जा रहा हूँ, कुछ पता नहीं। बवण्डर सामनेसे आता हुआ दीख रहा है, उससे कैसे बच सकूँगा। कुछ पता नहीं। अब एकमात्र तुम्हारा ही आश्रय है। कर्णधार बनकर मेरी सहायता करोगे तभी काम चल सकेगा। तुम्हारे पधारनेके अतिरिक्त निःसृतिका दूसरा मार्ग ही नहीं। चारों ओरसे फूटी हुई इस जीर्ण तरणीपर जब तुम्हारे श्रीचरण पड़ेंगे तो यह सजीव होकर निर्दिष्ट-पथकी ओर आप-से-आप ही चल पड़ेगी। हे घोर संसाररूपी समुद्रके एकमात्र कर्णधार! इस शुष्क जीवनमें सरसता लानेवाले गुरुदेव! इस प्रश्नोंकी ओर दृष्टिपात कीजिये।

तुम्हारी जगन्मोहन मूर्तिका ध्यान करते करते दिन व्यतीत हो जाता है; रात्रि आ जाती है; फिर भी मैं तुम्हारी कृपासे वञ्चित ही बना रहता हूँ। तुम्हारे निकट रहते हुए भी 'तुम्हारा' नहीं बन पाता। तुम्हारी चरण-छायाके सन्निकट बना रहनेपर भी शीतलतासे वञ्चित रहता हूँ। किसे दोष दूँ, मेरा दुर्दैव ही मुझे तुमतक नहीं पहुँचने देता। बस, इस जीवनमें एक ही आशा है, उसीका ध्यान करता रहता हूँ—

वह दिन कैसा होयगा, जब गुरु गहँगे बाँह।
अपना करि बैठावँगे चरण-कमलकी छाँह॥

भक्त-वन्दना

> प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
> व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
> रुक्माङ्गदोद्धवविभीषणफाल्गुनादीन्
> पुण्यानिमान्परमभागवतान्नतोऽस्मि ॥
>
> (पाण्डव-गीता)

जिन्होंने दैत्यकुलमें जन्म लेकर भी अच्युतकी अनन्य भावसे अर्चा-पूजा की है, जिनके सदुपदेशसे दैत्य-बालक भी परम भागवत बन गये, जिन्होंने अपने प्रतापी पिताके प्रभावकी परवा न करके अपनी प्रतिज्ञामें परिवर्तन नहीं किया, जिन्हें हलाहल विष पान कराया गया, पर्वतके शिखरसे गिराया गया, जलमें डुबाया गया, अग्निमें जलाया गया तो भी जो अपने प्रणसे विचलित नहीं हुए, जिनके कारण साक्षात् भगवान्‌को नृसिंहरूप धारण करना पड़ा, उन भक्ताग्रगण्य प्रह्लादजीके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि नमस्कार है ।

जो संसारके कल्याणकी इच्छासे सदा नाना लोकोंमें भ्रमण करते रहते हैं, जो ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं, जिनकी सम्पूर्ण लोकोंमें अप्रतिहत गति है, जो स्मरण करते ही सर्वत्र पहुँच जाते हैं, जिन्हें इधर-की-उधर मिलानेमें आनन्द आता है, जो सङ्गीतमें पारङ्गत हैं और भक्तिके आदि-

आचार्य हैं, जो वीणा लेकर उच्च स्वरसे अहर्निश 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ ! नारायण वासुदेव' इन नामोंका संकीर्तन करते रहते हैं ऐसे भक्तशिरोमणि देवर्षि नारदजीके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।

जो मूर्तिमान् तप हैं, जो पुराणोंके मर्मज्ञ हैं, जिन्होंने अनेक प्रकारके यज्ञोंमें विष्णुकी आराधना की है उन व्यासदेवजीके पिता परम भागवत महर्षि पराशरजीके पादपद्मोंमें अनन्त प्रणाम है।

परम भागवत, परम वैष्णव पुण्डरीक ऋषिके चरणोंमें मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।

जिन्होंने एक वेदको चार भागोंमें विभक्त कर दिया है, जिन्होंने कलिके जीवोंके उद्धारके निमित्त पञ्चम वेद महाभारत और अठारह पुराणोंकी रचना की है, जो ज्ञानावतार हैं, उन महर्षि वेदव्यासदेवको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।

जिनकी वैष्णवताके प्रभावको सूचित करनेके निमित्त भगवान्ने शरणमें आये हुए महर्षि दुर्वासाकी स्वयं रक्षा न करके उन्हींके पास भेजा था, जिनके परम भागवत होनेकी प्रशंसासे पुराणोंके बहुत-से स्थल भरे पड़े हैं, उन राजर्षि अम्बरीषकी चरणधूलिको मैं अपने मस्तकपर धारण करता हूँ।

जो संसारी मायाके प्रभावसे बचनेके निमित्त बारह वर्षतक माताके गर्भमें ही वास करते रहे; जिन्होंने मरणासन्न महाराज परीक्षित्को सात दिनोंमें ही श्रीमद्भागवतकी कथा सुनाकर मोक्षका उत्तम अधिकारी बना दिया, उन अवधूतशिरोमणि महामुनि शुकदेवजीके चरणोंमे मैं श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम करता हूँ।

जिन्होंने नैमिषारण्यकी पुण्यभूमिमें सूतके मुखसे महाभारत और अठारहों पुराण श्रवण किये, जो ऋषियोंके अग्रणी गिने जाते हैं,

जिन्होंने हजारों वर्षकी दीक्षा लेकर भारी-भारी यज्ञ-याग किये हैं उन मन्त-महन्त महर्षि शौनकजीकी चरणवन्दना करके मैं अपनेको कृतकृत्य बनाना चाहता हूँ।

जिन्होंने पिताका प्रिय करनेके निमित्त आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया, जो अपनी प्रतिज्ञापालनके निमित्त अपने गुरु परशुरामजीसे भी भिड़ गये, जिन्होंने पिताको प्रसन्न करके इच्छामृत्युका अमोघ वरदान प्राप्त किया, जिनकी प्रतिज्ञा पूरी करनेके निमित्त साक्षात् भगवान्ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी, उन गंगाके पुत्र वसु-अवतार महात्मा भीष्मपितामहके आशीर्वादकी मैं इच्छा करता हूँ।

परम भागवत और परम वैष्णव दाल्भ्य ऋषिके चरणकमलोंमें मेरा कोटि-कोटि नमस्कार है।

जिन्होंने एकादशीव्रतके माहात्म्यको सम्पूर्ण पृथ्वीपर स्थापित किया, जिनके धर्मके कारण स्वयं धर्मराज भी भयभीत होकर पितामहकी शरणमें गये और उन्हें धर्मच्युत करानेके निमित्त अद्वितीय रूप-लावण्य-युक्त 'मोहिनी' नामकी एक सुन्दरीको भेजा, जिन्होंने मोहिनीके आग्रह करनेपर अपने इकलौते प्यारे पुत्रका सिर देना तो मंजूर किया किन्तु एकादशीव्रत नहीं छोड़ा, उन राजर्षि रुक्माङ्गदके प्रति मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।

जो भगवान्के परम अन्तरङ्ग सखा गिने जाते हैं, भगवान्की प्रेमपाती लेकर जो वृन्दावनकी गोपिकाओंको ज्ञानोपदेश करने गये थे और वहाँसे परम वैष्णव होकर लौटे थे, जो भगवान्के तिरोभाव होनेपर उनकी आज्ञासे नर-नारायणके क्षेत्रमें योगसमाहित हुए थे, उन परम भागवत उद्धवजीके चरणोंमें मेरा अधिकाधिक अनुराग हो।

जो अन्यायी भाईका पक्ष छोड़कर भगवान् रामचन्द्रजीके शरणा-

पन्न हुए और अन्तमें लंकाधिपति बने, उन श्रीरामचन्द्रजीके प्रियसखा अमर भक्त विभीषणको मैं नत होकर अभिवादन करता हूँ।

जिनका सारथ्य महाभारतके युद्धमें स्वयं भगवान्‌ने किया, जो इसी शरीरसे स्वर्गमें वास कर आये, जिन्होंने शंकरजीसे युद्ध करके उनसे पाशुपतास्त्र प्राप्त किया, जिन्होंने अकेले गाण्डीव धनुषसे अठारह अक्षौहिणीवाले महाभारतमें विजय प्राप्त कर ली। युद्धसे पराङ्मुख होनेपर जिन्हें भगवान्‌ने स्वयं गीताका उपदेश दिया, जो भगवान्‌के विहार, शय्या, आसन और भोजनोंमें सदा साथ-ही-साथ रहे, जिन्हें भगवान् बड़े प्रेमसे 'हे पार्थ! हे सखा! हे धनंजय!' ऐसे सुन्दर सम्बोधनोंसे सम्बोधित करते थे, वे नरावतार श्रीअर्जुनजी मेरे ऊपर कृपाकी दृष्टि करें।

बौद्धोंके नास्तिकवादको मिटाकर जिन्होंने निर्विशेष ब्रह्मका व्याख्यान किया। जिन्होंने जगत्‌के प्रपञ्चोंको मिथ्या बताकर एकमात्र ब्रह्मको ही साध्य बताया। अभेदवादको सिद्ध करते हुए भी जिन्होंने समुद्रकी तरंगोंकी भाँति अपनेको प्रभुका दास बताया, उन आचार्यप्रवर भगवान् शंकराचार्यके चरणोंमें मेरा शत-शत प्रणाम है।

जिन्होंने भक्तिमार्गको सर्वसाधारणके लिये सुलभ बना दिया, जो जीवोंके कल्याणके निमित्त स्वयं नरककी यातनाएँ सहनेके लिये तत्पर हो गये। जिन्होंने गुरुके मना करनेपर भी सर्वसाधारणके लिये गोपनीय मन्त्रका उपदेश किया, उन विशिष्टाद्वैतके प्रचारक विष्णु-भक्त भगवान् रामानुजाचार्यके चरणोंमें मेरा प्रणाम है।

जिन्होंने लुप्त हुए विष्णुसम्प्रदायका उद्धार करके पुष्टिमार्गकी स्थापना की, जो गृहस्थमें रहते हुए भी महान् विरक्त और आसक्तिरहित बने रहे, जिन्होंने वात्सल्योपासनाकी मधुरताको दिखाकर अपनेको स्वयं गोपवंशका प्रकट किया, जिन्होंने बालक श्रीकृष्णकी अर्चा-पूजाको ही प्रधानता

देते हुए सर्वतोभावेन आत्मसमर्पणको ही अन्तिम ध्येय बताया, उन शुद्धाद्वैतके प्रचारक बालकृष्णोपासक भगवान् वल्लभाचार्यके चरणोंमें मेरी प्रीति हो।

जिन्होंने श्रीराधाकृष्णकी उपासनाको ही सर्वस्व सिद्ध किया, जिन्होंने नीमके पेड़में अर्क (सूर्य) दिखाकर भूखे वैष्णवको भोजन कराया, उन द्वैताद्वैतमतके प्रवर्तक, मधुर भावके उपासक भगवान् निम्बार्काचार्यके चरणोंमें मेरा प्रणाम है।

जिन्होंने वृन्दावनविहारीकी प्रीतिको ही एकमात्र साध्य माना है, जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम करके स्वयं हिमालयपर जाकर वेदव्यासजीसे ज्ञान प्राप्त किया और वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य रचा, उन द्वैतमतके प्रवर्तक भगवान् मध्वाचार्य आनन्दतीर्थके पादपद्मोंमें मेरा बार-बार प्रणाम है।

जिन्होंने छूताछूत और जाति-पाँतिका कुछ भी विचार न करके सर्वसाधारणको भक्तिका उपदेश दिया, जिनकी कृपासे चमार, नाई, छीपी, मुसल्मान सभी जगत्पूज्य बन गये, जिन्होंने वैष्णव-समाजमें सीतारामकी सेवा-पूजाका प्रचार किया, उन आचार्यप्रवर श्रीरामानन्दस्वामीके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।

इनके अतिरिक्त दूसरे देशोंके अन्य सम्प्रदायोंके प्रवर्तक ईसा, मूसा, मुहम्मद आदि जितने आचार्य हुए हैं उन सभीके चरणोंमें मेरा प्रणाम है।

सम्पूर्ण पृथ्वीकी धूलिके कणोंकी गणना चाहे हो भी सके, आकाशके तारे चाहे गिने भी जा सकें, बहुत सम्भव है सम्पूर्ण जीवोंके रोमोंकी गणना की जा सके, किन्तु भक्तोंकी गणना किसी भी प्रकार नहीं हो सकती। सृष्टिके आदिसे अबतक असंख्य भक्त होते आये हैं। उन सबके केवल नामोंको ही गणेशजी-जैसे लेखक दिन-रात्रि निरन्तर लिखते रहें तो

महाप्रलयके अन्ततक भी नहीं लिख सकते। फिर मुझ-जैसे अल्पज्ञकी तो बात ही क्या है ? शिवजी, नारदजी, ब्रह्माजी, पाण्डव, सनत्कुमार इन भक्तोंसे लेकर सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन चारों युगोंमें १८ मन्वन्तरोंमें असंख्यों कल्पोंमें जितने भक्त हुए हैं, उन सभीके चरणोंमें मेरा प्रणाम है, जिन्होंने सत्ययुगमें कपिलरूपमें भगवान्‌का दर्शन किया है उन भगवन्-भक्तोंके चरणोंमें मेरा प्रणाम है। जिन्होंने त्रेतामें रामरूपसे भगवान्‌का दर्शन किया है उन राम-भक्तोंके चरणोंकी मैं वन्दना करता हूँ। जिन्होंने व्यासरूपसे द्वापरमें भगवान्‌के दर्शन किये हैं उन भक्तोंके चरणोंमें मेरा प्रणाम है। कल्किरूपसे जिन्होंने कलियुगमें भगवान्‌के दर्शन किये हैं और जो इस कलिके अन्तमें करेंगे उन सभी भक्तोंके पादपद्मोंमें मेरा कोटि कोटि नमस्कार है।

जिन्होंने वाराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, कुमार दत्तात्रेय, हयग्रीव, हंस, पृश्निगर्भ, ऋषभदेव, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, वेदव्यास, बलदेव, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि इन भगवान्‌के अवतारोंका दर्शन, स्पर्श और सहवास किया है, उन-उन अवतारोंके भक्तोंके चरणोंमें मेरा प्रणाम है।

कलिकालमें पैदा हुए कबीरदास, नानकदेव, दादूदयाल, पलटूदास, चरनदास, रैदास, बुल्ला, जगजीवनदास, तुलसीदास, सूरदास, मलूकदास, रामदास, निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि जितने भी महापुरुष भगवत्-भक्त हुए हैं उन सभीके चरणोंमें मेरा प्रणाम है। भक्तोंमें कौन छोटा और कौन बड़ा, इसका निर्णय जो करता है, वह महामूर्ख है। शालिग्रामकी बटिया चाहे छोटी हो या बड़ी सभी एक-सी पूज्य हैं, इसलिये ये सभी भक्त एक ही भाँति पूज्य और मान्य हैं, इनके चरणोंमें प्रणाम करनेसे ही मनुष्य कल्याण-मार्गका पथिक बन सकता है।

इनके अतिरिक्त वर्तमान समयमें जो भगवान्‌के नामोंका संकीर्तन करते हैं, लिखकर प्रचार करते हैं या जो स्वयं दूसरोंसे कराते हैं उन सभी नाम-भक्तोंके चरणोंमें मेरा प्रणाम है। जो भगवान्‌के गुणोंका श्रवण करते हैं, जो भगवन्नामका कीर्तन करते हैं, जो हर समय भगवत्-रूपका स्मरण करते हैं, जो भगवान्‌की पाद-सेवा करते हैं, जो भगवत्-विग्रहोंका अर्चन करते हैं, जो देवता, द्विज, गुरु, भगवत्-भक्तों और भगवत्-विग्रहोंको नमन करते हैं, जो भगवान्‌के प्रति सख्यभाव रखते हैं, जिन्होंने भगवान्‌को आत्मनिवेदन कर दिया है उन सभी भक्तोंके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि नमस्कार है।

जो सम्प्रदायोंके अन्तर्भुक्त हैं, अथवा जो सम्प्रदायोंमें नहीं हैं, जो ज्ञाननिष्ठ हैं, जो देशभक्त हैं, जो जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करते हुए नाना भाँतिकी यातनाएँ सह रहे हैं, जिन्होंने देशकी सेवामें ही अपना जीवन अर्पण कर दिया है, जो किसी भी प्रकारसे जनताकी सेवा कर रहे हैं, उन सभी भक्तोंके चरणोंमें मेरा बार-बार प्रणाम है।

वर्तमानकालमें जितने भक्त हैं, जो हो चुके हैं अथवा जो आगे होंगे उन सभी भक्तोंके चरणोंकी मैं बार-बार वन्दना करता हूँ। भक्त ही भगवान्‌के साकाररूप हैं, भगवान्‌की शक्तिका विकास पूर्णरूपसे भक्तके ही शरीरमें होता है। भक्तोंका शरीर पार्थिव होते हुए भी चिन्मय है। ये साक्षात् भगवत्स्वरूप ही हैं। भक्तोंकी चरणवन्दना करनेसे ही सब प्रकारके विघ्न मिट जाते हैं—

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर्नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, मेटत विघ्न अनेक॥

व्यासोपदेश

व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे।
नमो वै ब्रह्मनिधये वासिष्ठाय नमो नमः॥*

(महाभारत)

संसारका यावत् ज्ञान है सभी व्यासोच्छिष्ट कहा जाता है। भगवान् व्यास साक्षात् विष्णु हैं। बस, इतना ही अन्तर है कि इनके चारकी जगह दो ही भुजा हैं, ये अचतुर्मुख ब्रह्मा हैं और दो नेत्रवाले शिव हैं। चौबीस अवतारोंमें भगवान् व्यासदेवजी भी एक अवतार हैं, ये प्रत्येक द्वापरके अन्तमें प्रकट होकर लोककल्याणके निमित्त एक वेदको चार भागोंमें विभक्त करते हैं।

---

* व्यासरूप विष्णुको नमस्कार है, विष्णुरूप व्यासदेवको नमस्कार है, वेदोंके विभाग करनेवाले व्यास भगवान्‌को नमस्कार है तथा वसिष्ठगोत्रमें उत्पन्न हुए पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायनको नमस्कार है।

इस युगमें महर्षि पराशरके वीर्यसे तथा सत्यवतीके गर्भसे भगवान् व्यासदेवका जन्म हुआ है। इन्होंने एक वेदको चार भागोंमें विभक्त किया इसीलिये इन्हें वेदव्यास भी कहते हैं। जब देखा कि कलियुगके जीव इतनेपर भी ज्ञानसे वञ्चित रहेंगे तो इन्होंने सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके निमित्त महाभारतकी रचना की और अठारह पुराणोंका प्रचार किया। भगवान् व्यासकृत इन सभी ग्रन्थोंमें ऐसा कोई भी इहलौकिक तथा पारलौकिक विषय नहीं रहा है जिसका वर्णन भगवान् व्यासदेवने न किया हो। राजधर्म, नीति-धर्म, वृत्तिधर्म, वर्णाश्रमधर्म, मोक्षधर्म, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, शौच, सदाचार, गति, अगति, कर्तव्य, अकर्तव्य सभी विषयोंका वर्णन भगवान् व्यासदेवने किया है। संसारमें कोई भी ऐसी बात जिसका कोई कभी भी अनुभव कर सकता है, उसका सूत्ररूपसे वर्णन भगवान् व्यासदेव पहले ही कर चुके हैं। भगवान् व्यासदेवने बताया है कि कालकी गति अव्याहत और एकरस है। जो पैदा हुआ है, उसका कभी-न-कभी अन्त अवश्य ही होगा। दिन-रात्रि सबके लिये समानरूपसे आते-जाते हैं। बुद्धिमान् अपने समयका उप-योग काव्यशास्त्रोंके अध्ययन और मननमें करते हैं, जो मूर्ख हैं वे सोनेमें, खाने-पीने या दूसरोंकी निन्दा-स्तुतिमें अपने समयका दुरुपयोग करते हैं इसलिये व्यासदेवजी उपदेश करते हैं कि मूर्खोंकी भाँति समय बिताना ठीक नहीं है। अपने समयका दुरुपयोग कभी भी मत करो, उसका सदा सदुपयोग ही करते रहो। सदुपयोग कैसे हो? इसके लिये वे उपदेश करते हैं—

इतिहासपुराणानि तथाख्यानानि यानि च।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव च॥

मनुष्योंको इतिहास, पुराण, दूसरी सुन्दर कहानियाँ और महात्माओं-के जीवन-चरित्र इनका नित्यप्रति श्रवण करना चाहिये।

छोटे-से-छोटे पुरुषार्थका तथा परम-से-परम पुरुषार्थका वर्णन है। शौच कैसे जाना चाहिये, शौचके अनन्तर कितनी बार बायें हाथको, कितनी बार दायें हाथको तथा दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये, कुल्ला कितनी बार करना चाहिये, दाँतुन कितनी अंगुलका हो इत्यादि छोटे-से-छोटे विषयोंसे लेकर मोक्षतकका वर्णन पुराणोंमें किया गया है। पुराण ही आर्यजातिके असली प्राण हैं। प्राणोंके बिना प्राणियोंका जीना सम्भव हो भी सकता है, किन्तु पुराणोंके बिना आर्य-जाति जीवित नहीं रह सकती। पुराणोंका श्रवण आदिकालसे होता आया है। इस सम्पूर्ण जगत्के उत्पन्नकर्ता भगवान् ब्रह्मदेवने ही ऋषियोंको पुराणोंका उपदेश किया। इसलिये पुराण सम्पूर्ण ज्ञानके भण्डार हैं। कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको पुराणों-का श्रवण नियमितरूपसे करना चाहिये।

आख्यान महाभारत तथा पुराणोंमें असंख्यों आख्यान हैं। उन्हींके आधारपर सत्कवि सुन्दर-सुन्दर काव्योंकी रचना करते हैं। बीजरूपसे तो सभी आख्यान भारत तथा पुराणोंमें ही विद्यमान हैं। कोई भी, किसी जातिका कवि कभी भी ऐसे आख्यानकी कल्पना नहीं कर सकता जिसका बीज (प्लॉट) पुराणोंमें न हो। फिर भी जो कवि उनका विस्तार करते हैं, उन्हें मनोहर कवितामें लिखते हैं, उन ऐसे काव्योंका भी अध्ययन सदा करना चाहिये।

महात्माओंके चरित्र जिस प्रकार गङ्गाजीका प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, उसी प्रकार इस पृथ्वीपर महापुरुषोंका भी जन्म सदा होता ही रहता है। यदि ऐसा न हो तो इस पृथ्वीपर धर्मका तो फिर लेश भी न रहे। धर्मके बिना यह संसार एक क्षण भी नहीं रह सकता। धर्मके ही आधारपर यह जगत् स्थित है। अब भी असंख्य सिद्ध महात्मा पहाड़ोंकी कन्दराओंमें जनसंसदिसे पृथक् रहकर योगसाधनद्वारा संसारका कल्याण कर रहे हैं।

अब आइये, इस बातपर थोड़ा विचार करें कि इन उपर्युक्त विषयोंके श्रवणसे क्या लाभ और इनमें यथार्थ वस्तु क्या है !

इतिहास

आर्यशास्त्रोंमें दो ही इतिहास या महाकाव्य माने गये हैं। एक तो भगवान् व्यासकृत महाभारत और दूसरा भगवान् वाल्मीकिकृत आदिकाव्य रामायण। इन दो ही महाग्रन्थोंमें सम्पूर्ण जगत्का इतिहास भरा पड़ा है। सभी रस, सभी विषय, जितनी भी कथाओंकी कल्पना हो सकती है वे सब इन दोनों ग्रन्थोंमें संक्षेप और विस्ताररूपसे वर्णन की गयी हैं। इन महाग्रन्थोंमें आर्यजातिके महापुरुषोंका ही इतिहास नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण जगत्का इतिहास भरा पड़ा है। जिस प्रकार गंगा, यमुना, समुद्र, पर्वत, ग्रह, नक्षत्र ये सृष्टिके अंग हैं उसी प्रकार ये ग्रन्थ भी नित्य और सनातन हैं। जैसे पृथ्वीपर जन्म धारण करनेवाला इच्छासे अथवा अनिच्छासे बिना श्वास लिये रह नहीं सकता, उसी प्रकार सभ्य जातिके ज्ञानपिपासु पुरुष इन महाकाव्योंके ज्ञानोपार्जनके बिना रह ही नहीं सकते, फिर चाहे वे प्रत्यक्षरूपसे इन ग्रन्थोंका अध्ययन करें अथवा इनके आधारपर बनाये हुए अन्य भाषाके ग्रन्थोंसे। वे इस ज्ञानसे वञ्चित रह ही नहीं सकते, क्योंकि नित्य सनातन ज्ञान तो एक ही है और उसका व्याख्यान युगके अन्तमें व्यासरूपसे भगवान् ही कर सकते हैं। इसलिये भगवान् व्यासदेव प्रतिज्ञा करके कहते हैं—'जो मैंने महाभारतमें वर्णन किया है वही सर्वत्र है, जिसका यहाँ वर्णन नहीं हुआ, उसका कहीं वर्णन हो ही नहीं सकता।' हिन्दूजाति आदिकालसे इन प्राचीन आख्यानोंको सुनती आयी है। ये आख्यान अनादिकालसे ऐसे ही चले आये हैं और अन्ततक इसी तरह चले जायँगे, इसलिये इनका श्रवण सदा करते रहना चाहिये।

पुराण

पुराण अनादि है और असंख्य हैं, किन्तु भगवान् व्यासदेवने उन्हें अठारह भागोंमें संग्रह कर दिया है। इनमें

छोटे-से-छोटे पुरुषार्थका तथा परम-से-परम पुरुषार्थका वर्णन है। शौच कैसे जाना चाहिये, शौचके अनन्तर कितनी बार बायें हाथको, कितनी बार दायें हाथको तथा दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये; कुल्ला कितनी बार करना चाहिये; दाँतुन कितनी अंगुलका हो इत्यादि छोटे-से-छोटे विषयोंसे लेकर मोक्षतकका वर्णन पुराणोंमें किया गया है। पुराण ही आर्यजातिके असली प्राण हैं। प्राणोंके बिना प्राणियोंका जीना सम्भव हो भी सकता है, किन्तु पुराणोंके बिना आर्य-जाति जीवित नहीं रह सकती। पुराणोंका श्रवण आदिकालसे होता आया है। इस सम्पूर्ण जगत्के उत्पन्नकर्ता भगवान् ब्रह्मदेवने ही ऋषियोंको पुराणोंका उपदेश किया। इसलिये पुराण सम्पूर्ण ज्ञानके भण्डार हैं। कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको पुराणों-का श्रवण नियमितरूपसे करना चाहिये।

आख्यान

महाभारत तथा पुराणोंमें असंख्यों आख्यान हैं। उन्हींके आधारपर सत्कवि सुन्दर-सुन्दर काव्योंकी रचना करते हैं। बीजरूपसे तो सभी आख्यान भारत तथा पुराणोंमें ही विद्यमान हैं। कोई भी, किसी जातिका कवि कभी भी ऐसे आख्यानकी कल्पना नहीं कर सकता जिसका बीज (प्लॉट) पुराणोंमें न हो। फिर भी जो कवि उनका विस्तार करते हैं, उन्हें मनोहर कवितामें लिखते हैं, उन ऐसे काव्योंका भी अध्ययन सदा करना चाहिये।

महात्माओंके चरित्र

जिस प्रकार गङ्गाजीका प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, उसी प्रकार इस पृथ्वीपर महापुरुषोंका भी जन्म सदा होता ही रहता है। यदि ऐसा न हो तो इस पृथ्वीपर धर्मका तो फिर लेश भी न रहे। धर्मके बिना यह संसार एक क्षण भी नहीं रह सकता। धर्मके ही आधारपर यह जगत् स्थित है। अब भी असंख्य सिद्ध महात्मा पहाड़ोंकी कन्दराओंमें जनसंसदिसे पृथक् रहकर योगसाधनद्वारा संसारका कल्याण कर रहे हैं।

अनेकों सिद्ध पुरुष भेष बदले पृथ्वीपर पर्यटन कर रहे हैं, लोग उन्हें पहिचानते नहीं, किन्तु उनकी सभी चेष्टाएँ लोककल्याणके ही निमित्त होती हैं। वे अपनेको अपनी शक्तिद्वारा प्रकट नहीं होने देते, अप्रकटरूपसे लोक-कल्याण करनेमें ही उन्हें आनन्द आता है। किसी भाग्यवान् पुरुषको ऐसे महापुरुषोंका साक्षात् दर्शन हो जाय, यह दूसरी बात है। नहीं तो वे छन्न-वेषमें ही घूमा करते हैं।

कुछ नित्यजीव या मुक्तजीव लोक-कल्याणके निमित्त भौतिक शरीर भी धारण करते हैं और लोगोंको जन्म लेते तथा मरते हुए-से भी प्रतीत होते हैं। वास्तवमें तो वे जन्म-मृत्युसे रहित होते हैं, केवल लोक-कल्याणके ही निमित्त उनका प्रादुर्भाव होता है और जब वे अपना काम कर चुकते हैं तब तिरोहित हो जाते हैं। उनके कार्य गुप्त नहीं होते। वे अधिकारियोंको उपदेश करते हैं, शिक्षार्थियोंको शिक्षा देते हैं और स्वयं आचरण करके लोगोंमें नवजीवनका सञ्चार करते हैं, उनका जीवन अलौकिक होता है, उनके कार्य अचिन्त्य होते हैं। क्षुद्रबुद्धिके पुरुष उन्हें भी साधारण जीव समझकर उनके कार्योंकी समालोचना करते हैं, इससे उनके काममें बहुत सहायता मिलती है, वे इसी बहाने लोगोंके सामने आदर्श उपस्थित करते हैं, कि ऐसी स्थितिमें कैसा व्यवहार करना चाहिये। उनका यह व्यवहार अन्य लोगोंके लिये प्रमाणीभूत बन जाता है। इस प्रकार वे संसारी लोगोंकी निन्दा-स्तुतिके बीचमें रहते हुए भी अपने जीवनको आदर्श जीवन बनाकर लोगोंके उत्साहको बढ़ाते हैं, ऐसे महापुरुष सदासे उत्पन्न होते आये हैं, अब भी हैं और आगे भी होंगे। किसीके जीवनका प्रभाव व्यापक होता है, उनके आचरणोंके द्वारा अधिक लोगोंका कल्याण होता है और किसीके जीवनका प्रभाव अल्प होता है, उनसे थोड़े ही पुरुष लाभ उठा सकते हैं। इस प्रकार सब जातियोंमें सब कालमें किसी-न-किसी रूपमें महात्मा उत्पन्न होते ही रहते हैं। बहुतसे

ऐसे महापुरुष होते हैं जिनकी टक्करका शताब्दियोंतक कोई महापुरुष व्यक्तरूपसे प्रकट नहीं होता है। किन्तु इसका निर्णय होता है अपने-अपने भावोंके अनुसार भिन्न-भिन्न रीतिसे। इस बातको आजतक न तो किसीने पूर्णरूपसे निर्णय किया है और न आगे भी कोई कर सकेगा कि अमुक महापुरुष किस कोटिके हैं और इनके बाद इनकी कोटिका कोई महापुरुष उत्पन्न हुआ या नहीं। इसलिये शालिग्रामकी बटियाके समान हमारे लिये तो सभी महात्मा पूजनीय तथा वन्दनीय हैं। संसारमें असंख्य सम्प्रदाय विद्यमान हैं और उन सबका सम्बन्ध किसी-न-किसी महापुरुषसे है और उन सभी सम्प्रदायोंके अनुयायी उन्हें ईश्वर या ईश्वरतुल्य मानते और कहते हैं। हमें उनकी मान्यताके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहना है। एक महापुरुषको ही सर्वस्व माननेवाले पुरुषोंको प्रायः देखा गया है, कि वे अपनेसे भिन्न सम्प्रदायवाले महापुरुषकी उपेक्षा करते हैं और बहुतसे तो निन्दा भी करते हैं। हम ऐसा नहीं कर सकते। हमारे लिये तो सभी महापुरुष–जिनका वास्तवमें किसी भी सम्प्रदायसे सम्बन्ध नहीं है, किन्तु तो भी लोग उन्हें अपने सम्प्रदायका आचार्य या आदिपुरुष मानते हैं, समानरूपसे पूजनीय और वन्दनीय हैं। इसलिये हम अपने प्रेमी पाठकोंसे यही प्रार्थना करते हैं, कि जिनका सम्बन्ध परमार्थसे है ऐसे सभी महात्माओंके चरित्रोंका श्रद्धाके साथ श्रवण करना चाहिये। महात्माओं-का चरित्र जीवनको महान् बनाता है, हमें कर्तव्य और सहिष्णुता सिखाता है तथा हमें अपने असली लक्ष्यतक पहुँचाता है इसलिये यथार्थ उन्नति-का एकमात्र साधन महात्माओंके चरित्रोंका श्रवण तथा सत्पुरुषोंका सत्सङ्ग ही सर्वत्र बताया गया है।

इस युगके महापुरुषोंमें महाप्रभु चैतन्यदेवका स्थान सर्वोच्च कहा जाता है। वे भक्तिके मूर्तिमान् अवतार थे, प्रेमकी सजीव मूर्ति थे। उनके जीवनमें परम वैराग्य, महान् त्याग, अलौकिक प्रेम, अभूतपूर्व उत्कण्ठा

और भगवान्‌के लिये विलक्षण छटपटाहट थी। उनका अवतार संसारके कल्याणके ही निमित्त हुआ था। उन महापुरुषके जीवनसे अबतक असंख्य जीवोंका कल्याण हुआ है और आगे भी होगा। ऐसे महापुरुषका जीवन कल्याणकी इच्छा रखनेवाले जीवोंके लिये निर्भ्रान्त पथ-प्रदर्शक बन सकता है। चैतन्य-चरित्र अगाध है और दुर्ज्ञेय है। साधारण जीवोंकी समझमें न तो वह आ ही सकता है, न दुष्कृति पुरुष उसे श्रवण ही कर सकते हैं। सौभाग्यसे ऐसे चरित्रोंके श्रवणका सुयोग मिलता है, सुनकर उसे यथावत् समझनेवाले तो विरले ही पुरुष होते हैं, जिनके ऊपर उनकी कृपा होती है वे ही समझ सकते हैं। फिर उन चरित्रोंका कथन करना तो बहुत ही कठिन काम है।

मुझमें न भक्ति है, न बुद्धि। शास्त्रोंका ज्ञान भी यथावत् नहीं। चैतन्यके दुर्ज्ञेय चरित्रको भला मैं क्या समझ सकता हूँ? किन्तु जितना भी कुछ समझ सका हूँ, उसका ही जैसा बन सकेगा, कथन करूँगा। मुझे पूर्ण आशा है कि कल्याण-मार्गके पथिकोंको मेरी इस टूटी-फूटी भाषासे अपने साधनमें बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी, क्योंकि चैतन्य-चरित्र इतना मधुर है कि वह चाहे कैसी भी भाषामें लिखा जाय, उसकी माधुरी कम नहीं होनेकी।

श्रीश्रीचैतन्य

ॐ श्रीहरिः

चैतन्य-कालीन भारत

> भ्रातः कष्टमहो महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
> पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत् ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
> उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः
> सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः ॥*

महाप्रभु चैतन्यदेवका प्रादुर्भाव विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीके मध्य-भागमें हुआ और वे लगभग आधी शताब्दीतक इस धराधामपर विराजमान रहकर भावुक भक्तोंको निरामय श्रीकृष्ण-प्रेम पीयूषका पान कराते

---

* पहिले यहाँ कैसी सुन्दर नगरी थी, उसका राजा कैसा महान् था और उसका राज्य कितनी दूरतक फैला हुआ था । उसकी सभा कैसी सुन्दर थी और उसके यहाँ चन्द्रमुखी स्त्रियाँ कैसी शोभायमान होती थीं, उन राजपुत्रोंका समूह कैसा प्रबल था और वे बन्दीगण कैसी-कैसी सुमधुर कमनीय कथा कहा करते थे । अब वे सभी बातें केवल सुननेके ही लिये शेष रह गयीं, जिस कालके वश होकर ये सब लुप्त हो गये, उस कालके लिये नमस्कार है ।

रहे। उस समयके और आजके भारतकी तुलना कीजिये। आकाश-पाताल-का अन्तर हो गया, राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक सभी प्रकारकी स्थितियोंमें घोर परिवर्तन हो गया। न जाने इस्लाम-धर्मका वह दौर-दौरा कहाँ चला गया, मुसल्मान बादशाहोंके ऐश-आरामकी वे बातें इतिहासके निर्जीव पृष्ठोंपर ही लिखी रह गयीं। हिन्दुओंकी वह आचार-विचारकी दृढ़ता, स्वधर्मके प्रति कट्टरता न जाने कहाँ विलुप्त हो गयी। उस समय लाखों सती स्त्रियाँ अपने पतियोंके मृतक शरीरोंके साथ हँसते-हँसते जीवित ही जल जाती थीं, इसे बीसवीं शताब्दीका महिला-मण्डल कब स्वीकार करने लगा। न जाने एक रुपयेके आठ मन चावलोंकी बात किसीने वैसे ही लिख दी थी, क्या इसका अनुमान इस युगके मनुष्य कठिनतासे कर सकेंगे। भक्तोंका वह आदर्श प्रेम, कृष्ण-भक्ति-की वह निष्कपटता, सेवा-पूजामें उतनी श्रद्धा और रति इन बीसवीं शताब्दीके साम्प्रदायिक पक्षपातसे पूर्ण हृदयवाले भक्तोंमें कब देखनेमें आ सकती है। वे बातें तो समयके साथ ही विलुप्त हो गयीं। वह असली प्रेम तो उन महापुरुषोंके साथ ही चला गया, अब तो साँपकी लकीर शेष रह गयी है, उसे चाहे जैसे पीटते रहो। साँप तो निकल गया। वह तो उसी समयकी रागिनी थी। महाकवि भवभूतिने ठीक ही कहा है—

समय एक करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम्॥

अर्थात् समय ही अच्छा और बुरा बनानेमें कारण है। मयूरोंका स्वर वर्षामें ही भला मालूम पड़ता है और हंसोंका शरद् ऋतुमें ही। सचमुच समयकी गति बड़ी ही विलक्षण है।

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवका प्राकट्य जिस कालमें हुआ, वह समय बड़ा ही विलक्षण था, उस युगको महान् क्रान्ति-युग कह सकते हैं। उस

समय सम्पूर्ण भारतवर्षमें चारों ओर राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सभी प्रकारकी घोर क्रान्ति मची हुई थी। उस समयतक प्रायः ऐसी मान्यता थी, कि जो दिल्लीके सिंहासनपर विराजमान है, वही सम्पूर्ण भारतका सर्वश्रेष्ठ नरपति है। दिल्लीका सिंहासन ही भारतवर्षको दिग्विजय करनेका मुख्य चिह्न था। उस समय दिल्लीके सिंहासनपर लोदी-वंशका अधिकार था, किन्तु उस वंशके बादशाहोंमें अब वीरता—पराक्रम बिल्कुल नहीं रहा था, लोदी-वंश अपनी अन्तिम साँसोंको जैसे-तैसे कष्टके साथ पूर्ण कर रहा था, अफगान-सरदार लोदी-वंशका अन्त करनेपर तुले हुए थे, इसलिये उन्होंने काबुलके बादशाह बाबरको दिल्लीके सिंहासनके लिये निमन्त्रित किया। बाबर-जैसा राज्यलोलुप बादशाह ऐसे स्वर्ण-समयको हाथसे कब खोनेवाला था। पंजाबका शासक दौलत खाँ उसका पृष्ठ-पोषक था, ईसवी सन् १५२६ में बाबरने भारतवर्षपर चढ़ाई की और पानीपतके इतिहास-प्रसिद्ध रणक्षेत्रमें इब्राहीम लोदीको परास्त करके वह स्वयं दिल्लीका बादशाह बन बैठा और उसके पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ दिल्लीके तख्तपर बैठा। इधर राजपूतानेमें राणा सांगाने हिन्दूधर्मकी दुहाई देकर बाबरके विरुद्ध बलवा आरम्भ किया। दोनोंमें घोर युद्ध हुआ, किन्तु मैदान बाबरके ही हाथ रहा, राणा सांगा परास्त होकर भाग गये। पंजाबमें भी छोटी-मोटी पचासों रियासतें बन गयीं। उनमेंके पहाड़ी राजा तो प्रायः सभी अपनेको स्वतन्त्र ही समझते थे। पहाड़ोंमें छोटी-छोटी बीसों स्वतन्त्र रियासतें थीं।

इधर दक्षिणमें विजयनगरका अन्त हो चुका था। बहमनी वंशका अन्त होते ही अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा, बीदर और बरार ये पाँच रियासतें एकदम अलग हो गयीं। बंगाल, बिहार, तिरहुत तथा उड़ीसामें भी छोटी-छोटी बहुत-सी मुसलमानी तथा हिन्दुओंकी नयी रियासतें बन गयीं। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतवर्षमें पूर्वसे पश्चिमतक और

उत्तरसे दक्षिणतक एक भारी राजक्रान्ति मची हुई थी। सैकड़ों छोटे-छोटे राज्य परस्परमें एक दूसरेसे लड़ते-भिड़ते रहते थे। सभी एक दूसरेको नीचा दिखानेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करते। कभी तो किसी मुसल्मानी रियासतको दबानेके लिये मुसलमानोंमेंसे दूसरे वंशके सरदार किसी पराक्रमी हिन्दू-राजाकी सहायतासे उसपर चढ़ाई कर देते और कभी किसी हिन्दू-राज्यको नष्ट करनेके निमित्त दो मुसलमान-सरदार मिलकर उसपर धावा बोल देते। सम्पूर्ण भारतमें कोई एकछत्र शासक नहीं था। वह राज्य-परिवर्तनका समय था, जिसमें भी बलपराक्रम हुआ, जिसके भी अधीन बलवान् सेना हुई, वही उस प्रान्तका शासक बन बैठा और दिल्लीके बादशाहने भी उसे उसी समय शासक स्वीकार कर लिया। ऐसी तो उस समय राजनैतिक परिस्थिति थी।

अब सामाजिक परिस्थितिपर भी थोड़ा विचार कीजिये। मुसल्मानको यहाँ आये सैकड़ों वर्ष हो चुके थे, फिर भी हिन्दू अपनी कट्टरतापर ही तुले हुए थे, वे अबतक मुसल्मानोंके साथ किसी भी प्रकारका संसर्ग नहीं करते थे। जिसका तनिक भी मुसल्मानोंसे संसर्ग हो जाता, जो भूलकर भी कभी मुसल्मानोंके हाथकी कोई वस्तु खा लेता, वह एकदम समाजसे बहिष्कृत कर दिया जाता, फिर उसके उद्धारका समाजके पास कोई उपाय ही नहीं था। संस्कृत-विद्याका आदर था, पण्डितोंकी व्यवस्थाकी मान्यता थी, समाजमें उस व्यवस्थाके विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठा सकता। ब्राह्मणोंका फिर भी बहुत अधिक प्रभाव था, उच्च वर्णवाले नीच वर्णवालोंके साथ अत्याचार भी कम नहीं करते थे, इसलिये नीच समझे जानेवाले करोड़ों मनुष्य हिन्दू-धर्मको अन्तिम तिलाञ्जलि दे-देकर इस्लाम-धर्मकी शरणमें जा रहे थे। बङ्गालमें इसका प्रचार और प्रभाव अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा अत्यधिक था। इस प्रकार हिन्दू-समाज और प्राचीन वर्णाश्रमधर्म चारों ओरसे छिन्न-भिन्न हो रहा था।

धार्मिक स्थिति तो उस समयकी महान् ही जटिल थी। लोगोंमें यज्ञ-यागादिकोंके प्रति जो शंकराचार्यके पश्चात् कुछ-कुछ रुचि हुई थी, वह तान्त्रिक और शाक्त-पद्धतियोंके प्रचारके कारण फिरसे लुप्त होती जा रही थी। वैदिक कर्मोंके प्रति मनुष्य उदासीन बनते जा रहे थे। दिन-रात 'जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है,' इन वाक्योंको सुनते-सुनते लोग उकता-से गये थे। वे मस्तिकी विद्यासे ऊबकर कुछ हृदयके आहारकी तलाशमें थे। सतियोंमें भी वह पति-प्रेम नहीं रहा।। लोकप्रथाको स्थिर रखनेके निमित्त कहीं-कहीं तो अनिच्छापूर्वक जबरदस्ती विधवा स्त्रीको उसके पतिके साथ जला देते थे। निम्न श्रेणीके पुरुष भगवत्-प्राप्तिके अनधिकारी समझे जाते, उन्हें किसी भी प्रकारके धार्मिक कृत्योंके करनेका अधिकार प्राप्त नहीं था। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत एक नूतन धार्मिक पद्धतिका इच्छुक था। लोग नीरस पद्धतियोंसे ऊबकर सरस पद्धति चाहते थे, ऐसे समयमें भारतके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें बहुत-से महापुरुष एक साथ ही उत्पन्न हुए। उन सभीने अपने-अपने प्रान्तोंमें वैष्णव-धर्मका प्रचार किया। इसलिये हम इस युगको वैष्णव-युग कह सकते हैं।

सबसे पहिले काशीमें श्रीस्वामी रामानन्दजी महाराज हुए। वैरागी-सम्प्रदायके ये ही आदि आचार्य समझे जाते हैं। इन्होंने भगवत्-भक्तिमें जाति-पाँतिका बन्धन मेट दिया। इन्होंने सभी जातियोंको समानरूपसे भगवत्-भक्ति करनेका अधिकार प्रदान किया। इनका सूत्र था—'हरिको भजै सो हरिका होय, जाति पाँति पूछै ना कोय।' इनके बाद इनके बारह मुख्य शिष्य हुए, जिनमें चमार, जुलाहे, छीपी, नाई आदि सभी अधिकांशमें छोटी ही जातिके थे। इन सबमें महात्मा कबीर बहुत ही प्रसिद्ध और परम उच्च स्थितिके महापुरुष हुए। इनके उच्च तत्त्वोंका सम्पूर्ण भारतवर्षके ऊपर समानभावसे प्रभाव पड़ा। ये महापुरुष परम ज्ञानी, आदर्श भक्त, अद्वितीय अनुरागी और सबसे बड़े निर्भीक थे। इस हेतुसे प्रायः उच्च

जातिके लोग डाहके कारण इनके द्वेषी बन गये। महात्मा रैदास, नामदेवजी आदि परमभक्त भी उसी कालमें उत्पन्न हुए। इन सभीने रूपान्तर-भेदसे वैष्णव-धर्मका ही प्रचार किया। कबीर-पन्थ वैष्णव-धर्मका ही विकृत और रूपान्तरमात्र है।

इधर उसी समय पंजाबमे श्रीगुरु नानकदेवजी भी हुए, ये कबीरदासजीके समकालीन ही थे, इन्होंने भी सम्पूर्ण भारतवर्षमें बारह वर्षोंतक भ्रमण तथा तीर्थयात्रा करके पंजाबके करतारपुरमें ही आकर रहने लगे। इनके उपदेशोंका लोगोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता था। इसलिये लाखों मनुष्य इनके उपदेशोंको सुन-सुन इनके शिष्य अथवा 'सिक्ख' बन गये, आगे चलकर गुरु गोविन्दसिंहजीने इन्हीं सबका एक 'सिक्खसंघ' ही बना लिया।

इनके बड़े पुत्र श्रीचन्दजी भी एक बड़े त्यागी तेजस्वी और प्रभावशाली महापुरुष थे, उन्होंने विरक्तोंको ही उपदेश दिया। इसलिये उनके अनुयायी अपनेको 'उदासी' कहने लगे। उदासी एक प्रकारके संन्यासी ही होते हैं, असलमें तो यह भी वैष्णव-धर्मका ही रूपान्तर है, केवल ये लोग शिखा-सूत्र नहीं रखते। वैसे उदासी-सम्प्रदायमें भगवत्-भक्ति ही मुख्य समझी जाती थी। अब तो उदासी-सम्प्रदाय भी विचित्र ही बन गया है।

इधर दक्षिणमें महात्मा समर्थ गुरु रामदासजीने भी रामभक्तिका प्रचार किया। उनके प्रधान शिष्य छत्रपति महाराज शिवाजी केवल राज्यलोलुप लड़ाकू शूरवीर ही नहीं थे, वे परम भागवत वैष्णव थे, उनके युद्धका प्रधान उद्देश्य होता था हिन्दू-धर्म-रक्षण और गो-ब्राह्मणोंका प्रतिपालन। इनके द्वारा महाराष्ट्रमें भजन-कीर्तन और भगवत्-भक्तिका खूब प्रचार हुआ।

महाराष्ट्रके प्रसिद्ध सन्त श्रीतुकारामजी महाराज भी इसी समय उत्पन्न हुए और उन्होंने अपनी अद्भुत भगवत्-भक्तिके द्वारा सम्पूर्ण महाराष्ट्र देशको पावन कर दिया। ये विट्ठलनाथजीके प्रेममें विभोर होकर स्वयं पद गा-गाकर नृत्य करते और स्वयं पदोंकी भी रचना करते थे। इनके भक्तिभावसे प्रसन्न होकर साक्षात् विट्ठलनाथजीने इन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वे सदा इनके साथ ही रहते थे। ये सशरीर वैकुण्ठको चले गये। इनके द्वारा मराठी भाषाका और सम्पूर्ण महाराष्ट्र देशका बड़ा कल्याण हुआ।

इधर काशीमें भगवान् श्रीवल्लभाचार्यजी भी उस समय विराजमान थे। काशी छोड़कर उन्होंने व्रजमण्डलकी परम प्रसिद्ध पुण्यनगरी गोकुलपुरीमें अपना निवास-स्थान बनाया। शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायके यही प्रधान आचार्य माने जाते हैं, ये श्रीबालकृष्णके उपासक थे। इनके द्वारा देशके विभिन्न स्थानोंमें श्रीकृष्ण-भक्तिका खूब ही प्रचार हुआ। इनके शिष्य अधिकांश धनी ही पुरुष थे। गुजरात, काठियावाड़की ओर इनके सम्प्रदायका अत्यधिक प्रचार हुआ। इनके सात पुत्र थे, उन सभीने वैष्णव-धर्मका खूब प्रचार किया।

इसी समय बङ्गालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुका प्राकट्य हुआ। चैतन्यके पूर्व बङ्गालकी क्या दशा थी और चैतन्यदेवके द्वारा उसमें किस प्रकार परिवर्तन हुआ, इन सभी बातोंका परिचय पाठकोंको अगले अध्यायोंमें लग जायगा।

चैतन्य-कालीन बंगाल

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः ॥*

श्रीमद्भागवतमें कीकट देशकी परिभाषा की है, कि जहाँ काला हिरन स्वेच्छासे विहार न करता हो, जहाँ ब्राह्मणोंकी भक्ति न होती हो और जहाँ शुचि, पवित्र सज्जन और विद्वान् पुरुष निवास न करते हों, वे ही देश अपवित्र हैं। एक स्थानपर कीकट देशोंके नाम भी गिनाये हैं। यथा—

---

* भगवान् कहते हैं, जिन स्थानोंमें प्रशान्त और समदर्शी मेरे भक्त निवास करते हैं वे देश चाहे अपवित्र ही क्यों न हों, उनकी चाहे कीकट संज्ञा ही क्यों न हो, किन्तु उनके यहाँ उत्पन्न होने और निवास करनेसे वे देश परम पवित्र बन जाते हैं।

अङ्गवङ्ग-कलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति ॥

अर्थात् 'अङ्गदेश, वङ्गदेश, कलिङ्गदेश, सौराष्ट्र और मगधदेश यदि इनमें तीर्थयात्रा विना चला भी जाय तो उसे फिरसे संस्कार करना चाहिये ।' पूर्वकालमें ऐसी मान्यता थी, कि वङ्गदेशमें प्रवेश करते ही ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है। महाभारतमें स्थान-स्थानपर इसका उल्लेख आया है। यहाँतक कि तीर्थयात्राके समय पाण्डवके साथ जो ब्राह्मण थे, वे वङ्गदेशकी सरहद आते ही उनके साथसे लौट गये। तीर्थयात्राके निमित्त भी उन्होंने वङ्गदेशमें जाना उचित नहीं समझा। इसमें असली रहस्य क्या है, इसे तो सर्वज्ञ ऋषि ही समझ सकते हैं, किन्तु आजकल तो कोई इस प्रकारका आग्रह करने लगे तो उसे पागल-खानेमें भेजनेके लिये सभी लोग सहमत हो जायँगे। जहाँपर ऐसे देशोंमें न जानेके सम्बन्धमें वाक्य मिलते हैं, वहाँ ऐसे भी अनेकों प्रमाण भरे पड़े हैं कि भगवत्-भक्तकी लीलास्थली कोटि तीर्थोंसे भी बढ़कर पावन बन जाती है। जिस भूमिको महाप्रभु गौराङ्गदेव, परमहंस रामकृष्णदेव, विजयकृष्ण गोस्वामी तथा जगद्बन्धु ऐसे भगवत्-भक्तोंने अपनी पद-धूलिसे पावन बनाया हो, जिसमें राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर तथा ब्रह्मानन्द, केशवचन्द्र-जैसे भगवत्-भक्त, समाज-सुधारक उत्पन्न हुए हों, जिस भूमिने देशबन्धु चित्तरञ्जन दास-जैसे देशभक्तको जन्म दिया हो, आज भी जिसमें अरविन्द-जैसे योगी, रवीन्द्र-जैसे विश्व-कवि, जगदीशचन्द्र वसु-जैसे जगत्-विख्यात विज्ञान-वेत्ता और सुभाष-चन्द्र-जैसे अनन्य देशभक्त सम्पूर्ण भारतका मुख उज्ज्वल कर रहे हों, उस देशको हम अब कीकट-देश कैसे कह सकते हैं ? जब होगा, तब रहा होगा, आज तो वही देश परम पावन बना हुआ है, चैतन्यदेवकी लीला-भूमिके लिये भावुक भक्तोंके हृदयमें व्रजभूमिसे कम आदर नहीं

है। नवद्वीप तो भक्तोंके लिये पूर्ण वृन्दावन ही बना हुआ है। जहाँ श्रीकृष्णचैतन्य-जैसे परम भावुक और साक्षात् प्रेमकी सजीव मूर्ति प्रेमावतार महापुरुषका प्राकट्य हुआ हो, उसका महत्त्व वृन्दावनके सदृश होना ही चाहिये।

बङ्गाल भाव-प्रधान देश है। बङ्गाली प्रायः हृदय-प्रधान होते हैं, उन्हें ललित-कलाओंसे बहुत अनुराग है, वे प्रकृतिप्रिय हैं। उनका हृदय प्रकृतिके साथ मिला हुआ है। प्रकृतिमें होनेवाले परिवर्तनोंका उनके हृदय-पटलपर गहरा प्रभाव पड़ता है, वे भावुक होते हैं, इसका प्रमाण उनके रहन-सहनमें, खान-पान तथा उत्सव-पर्वोंमें प्रत्यक्ष मिलता है। बँगला-भाषाका अधिकांश साहित्य भावुकता-प्रधान ही है, उनमें उपन्यास नाटक, ललितकाव्य आदि विषयोंका ही प्राधान्य है। कुछ विशेष श्रेणीके पुरुषोंको छोड़कर सर्वसाधारण लोग निष्काम कर्मोंसे एकदम अनभिज्ञ हैं। वे इस बातको प्रायः समझ ही नहीं सकते कि बिना कामनाके भी कर्म हो सकता है। वहाँ जितना भी पूजा-पाठ और धार्मिक कृत्य होता है सभी सकाम भावनासे किया जाता है। संन्यास-धर्मका प्रचार बङ्ग-देशमें बहुत ही कम है। अब तो वहाँ कुछ-कुछ संन्यास-धर्मका प्रचार होने लगा है, नहीं तो पहिले इसका प्रचार नहींके ही बराबर था। अब भी बङ्गालमें मधुकरी-भिक्षाकी परिपाटी नहीं है। बना-बनाया अन्न वहाँ भिक्षामें कठिनतासे मिल सकेगा। अधिकांश बङ्गाली संन्यासी इधर उत्तर-भारतकी ही ओर आकर रहने लगते हैं। अब भी उत्तर-भारतमें बहुत-से सुयोग्य त्यागी और विरक्त बङ्गाली महात्मा निवास कर रहे हैं।

बङ्ग-देश शक्ति-उपासक है। शक्तिकी उपासना बिना रजोगुणके हो नहीं सकती। कुछ शाक्त-भक्त सात्त्विक-पद्धतिसे फल-फूलोंका ही बलिदान देकर शक्ति-उपासना करते हैं, किन्तु ऐसे भक्तोंकी संख्या उँगलियोंपर ही

गिनी जा सकती है, अधिकांश तो गरम-गरम रक्तद्वारा ही कालीमाईको प्रसन्न करनेवाले भक्त हैं। प्रतिवर्ष दोनों नवरात्रोंमें करोड़ों जीवोंका संहार देवीके नामसे किया जाता होगा। भारतवर्षभरमें बङ्गाल-प्रान्तमें ही खूब धूमधामसे नवरात्र मनाया जाता है, जिनमें लाखों बकरे कालीमाईके ऊपर चढ़ाये जाते हैं। बङ्गालियोंमें निरामिषभोजी भी बहुत ही कम मिलेंगे। यदि बहुत-से मांस न भी खाते होंगे, तो मछलीके बिना तो वे रह ही नहीं सकते। मछलीके मांसको वे मांसमें गणना नहीं करते। यहाँतक कि बहुतसे वैष्णव भी मांस न खाते हुए भी मछलीका सेवन करते हैं। केवल विधवा स्त्रियोंको एकादशीके दिन मछली खाना मना है। या कोई-कोई वैष्णव या ऊँची श्रेणीके भट्टाचार्य बचे हुए हैं, नहीं तो मछलीके बिना बङ्गाली रह ही नहीं सकते। जिस बङ्गालीको स्नानके पूर्व शरीरमें मलनेको तेल नहीं मिला, और भोजनके समय मछली नहीं मिली उसका जीवन व्यर्थ ही समझा जाता है, वह अपने समाजमें या तो अत्यन्त ही दीन-हीन होगा या कोई परम योगी। सर्वसाधारण लोगोंके लिये ये दोनों वस्तुएँ अत्यन्त ही आवश्यक समझी जाती हैं।

जिस समयकी हम बातें कह रहे हैं, उस समय बङ्गालकी बड़ी ही बुरी दशा थी। देशभरमें, मुसलमानोंका आतङ्क छाया हुआ था, मनुष्य धर्म-कर्मसे हीन होकर नाना प्रकारके पाखण्ड-धर्मोंका आश्रय किये हुए थे। वाम-मार्गका सर्वत्र प्रचार था। स्थान-स्थानपर घोर तान्त्रिक-पद्धतियोंका अनुष्ठान होता हुआ दृष्टि-गोचर होता था। मांस, मदिरा, मैथुन आदि पाँच वाम-मार्गियोंके मकारोंका सर्वत्र बोल-बाला था। शाक्त-धर्मका भी प्राबल्य था। बकरे-भैंसेका बलिदान तो साधारण-सी बात समझी जाती थी, कहीं-कहीं मनुष्योंतकको बलि दे दी जाती थी। (अब भी साल-दो-सालमें एक-आध ऐसी घटना सुननेमें आ जाती है।) ब्राह्मणलोग अपने हाथोंमें खड्ग लेकर बलिदान करते। वैष्णव-धर्मकी लोग खिल्लियाँ उड़ाते थे,

वाद-विवाद करते रहना ही विद्याका मुख्य प्रयोजन समझा जाता। भक्ति करना मूर्खों और अनपढ़ोंका काम समझा जाता। इतना सब होनेपर भी छूआछूत और छोटे-बड़ेपनका भूत सबके सिरपर सवार था। यदि कहीं किसी छोटी जातिवालेने उच्च-जातिके पवित्र पुरुषको छू लिया तो उसका धर्म ही भ्रष्ट हो गया। किसी विधवाने मुसल्मानसे बात भी कर ली तो वह पतित हो गयी। समाजके वह किसी भी कामकी नहीं रही। इन सभी कारणोंसे मुसल्मानोंकी संख्या बढ़ने लगी। नीची जातिके समझे जानेवाले पुरुष हिन्दू-धर्मकी छत्र-छायाको छोड़कर नवीन इस्लाम-धर्मकी शरणमें आने लगे। इसीके परिणामस्वरूप तो आज बङ्गाल-प्रान्तमें हिन्दुओंकी अपेक्षा मुसल्मानोंकी ही संख्या अधिक है। सम्भवतः ५२-५३ फी सदी मुसल्मान हैं।

बङ्गालमें ब्राह्मण, वैद्य और कायस्थ ये ही तीन जाति शिक्षित और कुलीन समझी जाती थीं। जिनमें कायस्थोंको तो ब्राह्मण लोग शूद्र ही बताते थे। उस समय कायस्थोंमें विद्याका खूब प्रचार था। राजकाजोंमें उनकी बुद्धि भी तीक्ष्ण थी। वे आचार-विचारमें भी हिन्दूओंकी कुछ परवा नहीं करते थे। वे मुसल्मानोंके नामसे ही ब्राह्मणोंकी भाँति दूर नहीं भागते थे। उनका खानपान, आचार-व्यवहार मुसल्मानोंसे मिल जाता था। इसलिये बङ्गालमें अधिकांश जमींदार, ताल्लुकेदार और राजा कायस्थ ही थे। राजशक्ति और शासनशक्ति हाथमें होनेके कारण बहुतसे विद्वान् ब्राह्मण भी उनके दरबारमें रहते थे। मुखसे चाहे उन्हें शूद्र भले ही कहें, किन्तु उनके साथ ब्राह्मणोंका सभी बर्ताव क्षत्रियराजाओंका-सा ही था। उन्हें शास्त्रोंका अध्ययन कराते, उनका दान-प्रतिग्रह ग्रहण करते, उनसे श्राद्ध, यज्ञ-यागादि कार्य भी ब्राह्मण लोग कराते ही थे। इस प्रकार क्षात्र धर्म उस समय बङ्गालमें कायस्थोंमें ही था। कायस्थोंमें संस्कृतके बड़े-बड़े ऊँचे विद्वान् उस समय मौजूद थे। बहुतसे कायस्थ जमींदारोंके तो नाम भी

मुसल्मानोंकी ही तरह होते थे । जैसे बुद्धिमन्त खाँ, रामचन्द्र खाँ आदि-आदि ।

महाप्रभु गौराङ्गके प्रादुर्भावके समय गौड़-देशके शासक सुबुद्धि खाँ या सुबुद्धि राय थे । उनके यहाँ हुसेन खाँ नामक बड़ा ही आत्माभिमानी और कुशाग्रबुद्धि भृत्य था । एक बार कोई काम बिगड़ जानेपर राजाने उसकी पीठपर क्रोधमें चाबुक मार दिया । इससे वह आत्माभिमानी भृत्य जल उठा और उसने मन-ही-मन राजाको राज्यच्युत करनेकी कठोर प्रतिज्ञा की । बुद्धिमान् तो वह था ही, बड़े-बड़े अधिकारी राजासे मन-ही-मन द्वेष करते थे, उसने सभीको साम, दान, दण्ड और भेद आदि नीतियोंका आश्रय लेकर राजाको कैद कर लिया और आप स्वयं गौड़-देशका राजा बन बैठा । सुबुद्धि राय जब हुसेन खाँके बन्दी थे तब उसकी स्त्रीने उसे सलाह दी कि इसे जानसे मार दो, किन्तु हुसेन खाँ इतनी नीच प्रकृतिका मनुष्य नहीं था, उसने कहा—'चाहे इसने मेरे साथ कैसा भी बर्ताव किया हो, आखिर तो यह मेरा स्वामी रहा है और मैंने इसका नमक खाया है, मैं इसकी जान नहीं लूँगा ।' यह कहकर उसने राजाको छोड़ दिया । किन्तु उसने अपने जूँठे मिट्टीके बर्तनका पानी जबरदस्ती इनके मुँहमें डाल दिया ।

राज्यच्युत और धर्मभ्रष्ट हुए सुबुद्धि रायने गौड़-देशके पण्डितोंसे इस पापके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था चाही । धर्मके मर्मको भलीभाँति जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंने बहुत ही बढ़िया व्यवस्था बतायी । उन्होंने कहा—'इस पापका प्रायश्चित्त प्राणत्यागके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं । सो भी प्राणोंका त्याग या तो गरम घृत पान करके किया जाय, या धानके तुषारोंमें धीरे-धीरे सुलगाकर शरीर जलाया जाय ।'*

* पता नहीं उस समयकी क्या परिस्थिति थी, वैसे स्मृतियोंमें तो अन्त्यज अथवा म्लेच्छके बर्तनका जल पी लेनेपर घी, दूध, दधि तथा उपवास

जन्मसे राजसुखोंको भोगनेके आदी और ऐश-आराममें पले हुए सुबुद्धि रायकी बुद्धिने इस व्यवस्थाको स्वीकार नहीं किया, वे कोई और हल्की व्यवस्था लेनेके निमित्त वाराणसीके पण्डितोंके पास गये। काशीके पण्डित भी कोई घाट थोड़े ही थे, शास्त्रोंका अध्ययन तो उन्होंने भी किया था, उन्होंने भी उसी व्यवस्थाको बहाल रखा। प्राण त्यागनेमें असमर्थ सुबुद्धि खाँ इधर-उधर भटकते हुए अपने जीवनको बिताने लगे। कालान्तरमें जब महाप्रभु वाराणसी पधारे तब ये उनका नाम सुनकर उनके शरणापन्न हुए और अपनी सम्पूर्ण कथा कह सुनायी। सब कुछ सुनकर प्रभुने आज्ञा दी—'अनिच्छापूर्वक प्राणोंके त्यागसे कोई लाभ नहीं। वृन्दावन वास करके अहर्निश कृष्ण-स्मरण करो और भक्त-महात्माओंकी सेवा-पूजा करो। भगवन्नामसे ही करोड़ों जन्मोंके पाप क्षय हो जाते हैं, एक जन्मकी तो बात ही क्या?' प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके ये वृन्दावनमें जाकर रहने लगे। कहते हैं—वे जंगलोंमें जाकर सूखी लकड़ियाँ ले आते। वे तीन या चार पैसे जितनेमें भी बिक जातीं उन्हें बेचकर एक पैसेके चने खाकर तो स्वयं निर्वाह करते थे, शेष पैसोंको एक दूकानदारके यहाँ जमा कर देते थे। उन बचे हुए पैसोंका तेल खरीदकर बङ्गाली गरीब यात्रियों तथा भक्तोंको स्नानके पूर्व लगानेके लिये देते थे। धन्य है, भक्ति हो तो ऐसी हो। इस प्रकार महात्मा सुबुद्धि रायजीने अपने पानी पीनेके पापका ही प्रायश्चित्त नहीं किया, जन्म-जन्मान्तरोंके पापोंका प्रायश्चित्त कर डाला।

करके कई प्रकारके प्रायश्चित्त बताये हैं। इसके लिये जलकर प्राण त्याग देना तो कहीं मिलता नहीं। हाँ, द्विजोंको शराब पी लेनेपर तो जरूर प्राणत्यागका विधान कहीं-कहीं पाया जाता है। कायस्थ क्षत्र-बन्धु तो अवश्य ही हैं। सम्भव है उन्होंने शराब ही पी ली हो या सदा पीते रहे हों, इसी कारण पण्डितोंने ऐसी व्यवस्था दी हो। जो भी कुछ हो इस व्यवस्थामें कोई आन्तरिक रहस्य जरूर रहा होगा।

हुसेन खाँने राजगद्दीपर बैठते ही अपना शासन जमानेके लिये स्थान-स्थानपर अपने काजियोंको नियुक्त किया। बहुत-से लोगोंको इलाकोंका ठेका दिया। वे एक प्रकारसे पट्टेदार जमींदार ही समझे जाते थे, लोगोंसे लगान वसूल करके नियमित रकम तो बादशाहको दे देते, शेष जो बचती उसे अपने पास रख लेते। इस प्रकार नवद्वीपमें बुद्धिमन्त खाँ, हरिपुरग्राममें गोवर्धनदास मजूमदार, कुलीनग्राममें मालाधर तथा खेतूरग्राममें कृष्णानन्द-दत्त आदि इन कायस्थ जमींदारोंको भी ठेके दिये गये। अधिकांशमें ठेकेदार मुसलमान अथवा कायस्थ ही होते थे। नवद्वीपमें चाँद खाँ नामके एक काजीकी नियुक्ति की गयी और जगन्नाथ तथा माधव (जगाई-मधाई) नामके क्रूरकर्मा दो ब्राह्मण भाइयोंको वहाँका कोतवाल बनाया गया। नवद्वीपके बेलपोखरिया नामक मोहल्लेमें चाँद खाँकी कचहरी थी। उस समय काजी मुंसिफ या जजका काम करते थे, वे हिन्दू-मुसल्मानोंके झगड़ोंका फैसला करते थे, इसी प्रकारका एक मुलुक नामका काजी शान्तिपुरके समीप गङ्गाजीकी धाराके पास रहता था।

नवद्वीप उस समय बङ्गालभरमें विद्याका सर्वश्रेष्ठ केन्द्र समझा जाता था। उसमें संस्कृत विद्याकी पचासों पाठशालाएँ थीं, जो टोलके नामसे विख्यात थीं। दूर-दूरसे विद्यार्थी आ-आकर नवद्वीपमें विभिन्न शास्त्रोंका अध्ययन करते और नवद्वीपके नामको देशव्यापी बनाते। उस समय संस्कृतके प्रधान केन्द्र नवद्वीपने बहुत-से लोकप्रसिद्ध पण्डितोंको उत्पन्न किया। मिथिलासे न्यायके ग्रन्थको कण्ठस्थ करके उसका बङ्गाल और उड़ीसामें प्रचार करनेवाले वासुदेव सार्वभौम उन दिनों नवद्वीपमें ही पढ़ाते थे। उस समयके विद्वानोंमें नैयायिक रामचन्द्र, सार्वभौम, विद्यावागीश, महेश्वर विशारद, नीलाम्बर चक्रवर्ती, अद्वैताचार्य गङ्गादास आदिका नाम विशेष उल्लेखनीय है। सार्वभौमके विद्यार्थियोंमें रघुनाथदास, भवानन्द, रघुनन्दन, कृष्णानन्द तथा मुरारी गुप्त आदि लोकप्रसिद्ध और भारी विद्वान् हुए।

इस प्रकार उस समय नवद्वीप बङ्गालभरमें विद्याका एक प्रधान स्थान *समझा जाता था। सैकड़ों विद्यार्थी एक साथ ही गङ्गाजीके घाटोंपर स्नान* करते और परस्परमें शास्त्रचर्चा करते बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। चारों ओर पण्डितोंकी ही चहल-पहल रहती। कहीं न्यायकी फक्किकाएँ चल रही हैं तो कहीं व्याकरणकी पंक्तियाँ पूछी जा रही हैं। सभ्य और धनी-मानी पुरुषोंमें भी संस्कृतविद्याका आदर था। वे संस्कृतविद्याको आजकी भाँति हेय नहीं समझते थे। इसी कारण अध्यापक तथा विद्यार्थियोंको भोजन-वस्त्रोंकी कमी नहीं रहती। धनी पुरुष उनके खाने-पहिननेका स्वयं ही श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रबन्ध कर देते। ऐसी ही घोर क्रान्तिके समयमें इस विद्या-व्यासंगिनी पुरीमें महाप्रभु चैतन्यदेवका जन्म हुआ। उन्होंने अपनी भक्ति-भागीरथीकी बाढ़में सभी पण्डितोंके नास्तिकवादको एक साथ ही बहा दिया। उनके भक्ति-भावके ही कारण नवद्वीप भावुक भक्तोंका अड्डा और भक्तिका केन्द्र बन गया।

वंश-परिचय

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।*

सचमुचमें माता होना तो उसीका सार्थक कहा जा सकता है, जिसके गर्भसे भगवत्-भक्त पुत्रका जन्म हुआ हो । जन्म और मृत्यु ही जिसका स्वरूप है ऐसे इस परिवर्तनशील संसारमें गर्भ धारण तो प्रायः सभी योनिकी माताएँ करती हैं, किन्तु सार्थक गर्भ उसीका कहा जा सकता है, जिसके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रके ऊपर हरि-भक्तोंकी मण्डलीमें हर्ष-ध्वनि होने लगे । जिसके दर्शनमात्रसे भक्तोंके शरीरोंमें स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च और स्वरभङ्ग आदि सात्त्विक भावोंका उदय आप-से-आप होने लगे । अथवा जिसके ऊपर विद्वान् अथवा शूर-वीरोंकी सभामें सभी

---

* वह कुल परम पावन है, वह जननी धन्य है और वह ... है, जहाँपर भगवत्-भक्त महापुरुष उत्पन्न हुआ हो ।

लोगोंकी समान-भावसे उसीके ऊपर दृष्टि पड़े । परस्परमें लोग उसीके सम्बन्धमें काना-फूँसी करें, असलमें यही पुत्र कहलानेके योग्य है और उसे गर्भमें धारण करनेवाली माता ही सच्ची माता है । वैसे तो शूकरी अथवा कूकरी भी सालमें दस-दस, बीस-बीस बच्चे पैदा करती हैं, किन्तु उनका गर्भ धारण करना केवलमात्र अपनी वासनाओंकी पूर्तिका विकार-मात्र ही है । इसी भावको लेकर कोई कवि बड़ी ही मार्मिक भाषामें माता-को उपदेश करता हुआ कहता है—

जननी जने तो भक्त जनि, या दाता या शूर ।
नाहिं तो जननी बाँझ रह, क्यों खोवे है नूर ॥

भाग्यवती शची माताने ही यथार्थमें माता-शब्दको सार्थक बनाया, जिसके गर्भसे विश्वरूप और श्रीकृष्णचैतन्य-जैसे दो पुत्ररत्न उत्पन्न हुए । श्रीकृष्णचैतन्य अथवा महाप्रभुको पैदा करके तो वे जगन्माता ही बन गयीं । गौराङ्ग-जैसे महापुरुषको जिन्होंने गर्भमें धारण किया हो उन्हें जगन्माताका प्रसिद्ध पद प्राप्त होना ही चाहिये ।

महाप्रभु गौराङ्गदेवके पूर्वज श्रीहट्ट (सिलहट) निवासी थे । यह नगर आसामप्रान्तमें है और बंगालसे सटा ही हुआ है, वर्तमान कालमें यह आसामप्रान्तका एक सुप्रसिद्ध जिला है । इसी श्रीहट्ट-नगरमें भारद्वाजवंशीय परम धार्मिक और विद्वान् उपेन्द्र मिश्र नामके एक तेजस्वी और कुलीन ब्राह्मण निवास करते थे । धर्मनिष्ठ और स्वकर्मपरायण होनेके कारण उपेन्द्र मिश्रके घर खाने-पीनेकी कमी नहीं थी । उनकी गुज़र साधारणतया भलीभाँति हो जाती थी । उन भाग्यशाली ब्राह्मणके सात पुत्र थे । उनके नाम कंसारि, परमानन्द, पद्मनाभ, सर्वेश्वर, जगन्नाथ, जनार्दन और त्रैलोक्यनाथ थे । इनमेंसे पण्डित जगन्नाथ मिश्रको ही गौराङ्गके पूज्य पिता होनेका जग-दुर्लभ सुयश प्राप्त हो सका ।

पण्डित जगन्नाथ मिश्र अपने पिताकी अनुमतिसे संस्कृतविद्या पढ़नेके लिये सिलहटसे नवद्वीपमें आये और पण्डित गंगादासजीकी पाठशालामें अध्ययन करने लगे। इनकी बुद्धि कुशाग्र थी, पढ़ने-लिखनेमें ये तेज थे इसलिये अल्पकालमें ही इन्होंने काव्यशास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन करके पाठशालासे 'पुरन्दर' की पदवी प्राप्त कर ली। इनके रूप-लावण्य तथा विद्या-बुद्धिसे प्रसन्न होकर नवद्वीपके प्रसिद्ध पण्डित श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीने अपनी ज्येष्ठा कन्या शची देवीका इनके साथ विवाह कर दिया।

पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्ती भी नवद्वीपनिवासी नहीं थे। इनका आदिस्थान फरीदपुरके जिलेमें मगडोबा नामक एक छोटे-से ग्राममें था। ये भी विद्याध्ययनके निमित्त नवद्वीप आये थे और पढ़-लिखकर फिर यहीं रह गये। इनका घर 'बेलपुकुरिया' में काजीपाड़ाके समीप था। इनके यज्ञेश्वर और हिरण्य दो पुत्र और दो कन्याएँ थीं। छोटी कन्याका विवाह श्रीचन्द्रशेखर आचार्यरत्नके साथ हुआ था और बड़ी कन्या जगन्माता शची देवीका पण्डित जगन्नाथ मिश्रके साथ।

रूपवती और कुलवती पत्नीको पाकर पुरन्दर महाशय परम सन्तुष्ट हुए और फिर सिलहट न जाकर वहीं मायापुरमें घर बनाकर रहने लगे। मायापुरमें और भी बहुत-से सिलहटनिवासी ब्राह्मण रहते थे। पण्डित जगन्नाथ मिश्र भी वहीं रहने लगे। मायापुर नवद्वीपका ही एक मुहल्ला है।

आजकल जो नगर नवद्वीपके नामसे प्रसिद्ध है, वह तो उस समय 'कुलिया' नामका ग्राम था। पुराना नवद्वीप तो कुलियाके सामने गङ्गाजीके उस पार पूर्व किनारेपर अवस्थित था, जो आजकल बामनपूकर नामसे

पुकारा जाता है। कहा जाता है कि प्राचीन नवद्वीपकी परिधि १६ कोसकी थी, उसमें अन्तःद्वीप, सीमन्तद्वीप, गोद्रुमद्वीप, मध्यद्वीप, कोलद्वीप, ऋतुद्वीप, जन्हूद्वीप, मोदद्रुमद्वीप और रुद्रद्वीप ये ९ द्वीप थे। इन नवोंको मिलाकर ही नवद्वीप कहते थे। मायापुर जहाँपर पण्डित जगन्नाथ मिश्र रहते थे, वह मध्यद्वीपके अन्तर्गत था, अब उस स्थानका पता भी नहीं है कि कहाँ गया। भगवती भागीरथीके गर्भमें ये सभी प्राचीन स्थान विलीन हो गये, केवल महाप्रभुकी कीर्तिके साथ उनके नाममात्र ही शेष रह गये हैं।

पण्डित जगन्नाथ मिश्र अपनी सर्वगुणसम्पन्ना पत्नीके साथ सुखपूर्वक नवद्वीपमें रहने लगे। शची देवीके गर्भसे एक-एक करके ८ कन्याओंका जन्म हुआ और वे अकालमें ही कालकवलित बन गयीं। इससे मिश्र-दम्पतीका गार्हस्थ्य-जीवन कुछ चिन्तामय और दुःखमय बना हुआ था। गृहस्थीके लिये सन्तानहीन होना जितना कष्टप्रद है, उससे भी अधिक कष्टप्रद सन्तान होकर उसका जीवित न रहना है, किन्तु इस धर्मप्राण दम्पतीका यह दुःख और अधिक कालतक न रह सका। थोड़े ही दिनों-के अनन्तर शची देवीके गर्भसे एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम मिश्रजीने विश्वरूप रखा। विश्वरूप सचमुचमें ही विश्वरूप थे। माता-पिता-को इस अद्वितीय रूप-लावण्ययुक्त पुत्रको पाकर परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। चन्द्रमाकी कलाओंके समान विश्वरूप धीरे-धीरे बड़े होने लगे। इस प्रकार विश्वरूपकी अवस्था नव-दस वर्षकी हुई होगी कि तभी माघ-मासमें शची देवीके फिर गर्भ रहा। बस, इसी गर्भसे महाप्रभु चैतन्यदेवका प्रादुर्भाव हुआ।

प्रादुर्भाव

कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः
प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा ।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे
गाढं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥*

श्रीमद्भागवत तथा गीतामें भगवान्‌ने बार-बार श्रीमुखसे जोर देकर कहा है कि मेरे पानेका एकमात्र उपाय भक्ति ही है । मैं योगसे, ज्ञानसे, जपसे, तपसे, समाधिसे तथा यज्ञ-यागादि अन्य वैदिक कर्मोंसे इतना तुष्ट नहीं होता जितना कि भक्तिसे प्रसन्न होता हूँ, केवल अनन्य भक्तिके ही द्वारा मेरा यथार्थ ज्ञान होता है कि मैं कैसा हूँ और मेरा प्रभाव कितना है । जिस भक्तिकी इतनी महिमा है, वह भक्ति जिसके हृदयमें हो उस भाग्यवान् भक्तके महत्त्वका वर्णन भला कौन कर सकता है । वास्तवमें भगवान् और भक्त नाममात्रके ही लिये दो हैं, भक्त भगवान्‌के साकार विग्रहका ही नाम है । भगवान् स्वयं ही कहते हैं—'मैं तो भक्तोंके अधीन हूँ, कोई मेरा अपराध कर दे तो उसे तो मैं क्षमा कर भी सकता हूँ, किन्तु भक्तद्रोहीके अपराधको मैं क्षमा करनेमें असमर्थ हूँ ।' भगवान् भक्तोंकी महिमाको बतलाते हैं कि मैं भक्तोंके पीछे-पीछे सदा इसलिये घूमा करता हूँ कि उनके चरणोंकी धूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय तो मैं पावन हो जाऊँ । यहाँतक नहीं, भगवान् स्वयं भक्तोंका भजन करते हैं ।

---

* कालके प्रभावसे लुप्त हुए अपने भक्तियोगको प्रकट करनेके निमित्त जो 'कृष्णचैतन्यके रूपमें आविर्भूत हुए हैं', रे चञ्चरीक चित्त ! उन्हीं चैतन्य भगवान्‌के चरणोंमें निरन्तररूपसे गुञ्जार करता रह । अर्थात् इन चरणोंका परित्याग करके कहीं अन्यत्र मत जा ।

भगवान् हस्तिनापुरमें ही विराजमान थे। महाराज युधिष्ठिर प्रायः हर समय ही उनके पास रहते थे, उन्हें भगवान्‌के बिना चैन ही नहीं पड़ता था। एक दिन रात्रिके बारह बजे महाराज भगवान्‌के स्थानपर पहुँचे। उस समय भगवान् समाधिमें बैठे हुए थे। धर्मराज बहुत देरतक हाथ जोड़े खड़े रहे। कुछ कालके अनन्तर भगवान्‌की समाधि भङ्ग हुई। सामने धर्मराजको खड़े देखकर उन्होंने उनका स्वागत किया और असमयमें आनेका कारण पूछा।

धर्मराजने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'भगवन्! और बातें तो मैं फिर पूछूँगा, इस समय जो मुझे बड़ा भारी संशय हुआ है, उसका उत्तर पहिले दीजिये। आप चराचर जगत्‌के एकमात्र स्वामी हैं, सम्पूर्ण प्राणियोंके आप ही भजनीय हैं। ऋषि, महर्षि, देव, दानव, देवता तथा मनुष्य सभी आपका ध्यान करते हैं, इस समय आपको समाधिमें बैठा देखकर मुझे महान् कुतूहल उत्पन्न हुआ है, कि आप किसका ध्यान करते होंगे?'

धर्मराजके प्रश्नको सुनकर भगवान् हँसे और मन्द-मन्द मुस्कानके साथ बोले—'धर्मराज! यह ठीक है कि सम्पूर्ण जगत्‌का एकमात्र मैं ही भजनीय हूँ, किन्तु मेरे भी भजनीय भक्त हैं, मैं सदा भक्तोंका ध्यान किया करता हूँ।'

यह सुनकर धर्मराजने पूछा—'अच्छा, इस समय आप किसका ध्यान कर रहे थे?'

भगवान्‌ने गद्गद-कण्ठसे कहा—'जिन्होंने सर्वस्व त्यागकर केवल मेरेमें ही अपने मनको लगा रखा है, जो एक-दो दिनसे नहीं कई महीनोंसे बाणोंकी शय्यापर बिना खाये-पीये पड़े हुए हैं, सम्पूर्ण शरीर तीरोंसे भिदा होनेपर भी जो मत्परायण ही बने हुए हैं उन्हीं भक्तराज भीष्मपितामहका मैं इस समय ध्यान कर रहा था।'

भगवान्‌की इस भक्तवत्सलताकी बात सुनकर भक्तिकी सर्वश्रेष्ठताके सम्बन्धमें किसे संशय रह सकता है ? भगवान् ही इस जगत्‌के एकमात्र आश्रय हैं, उनकी भक्ति उनकी कृपाके बिना प्राप्त ही नहीं हो सकती। ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके वे ही एकमात्र प्रवर्तक हैं। जब कर्मकी शिथिलता देखते हैं तब आप नरपति-विशेषके रूपमें उत्पन्न होकर कर्मका प्रचार करते हैं, जब ज्ञानका लोप देखते हैं तब मुनि-विशेषके रूपमें प्रकट होकर ज्ञानका प्रचार करते हैं और जब भक्तिको नष्ट होते देखते हैं तब भक्त-विशेषका रूप धारण करके भक्तिकी महिमा बढ़ाते हैं। उन्हें स्वयं कुछ भी कर्तव्य नहीं होता, क्योंकि स्वयं परिपूर्ण स्वरूप हैं। लोककल्याणके निमित्त वे स्वयं आचरण करके लोगोंको शिक्षा देते हैं।

भगवान्‌के लिये कोई बात 'सहसा' या 'अकस्मात्' नहीं। जिस प्रकार नाटकका एक अभिनय देखनेके अनन्तर हम प्रतीक्षा करते रहते हैं, कि देखें अब क्या हो। इतनेमें ही रङ्ग-मञ्चपर सहसा दूसरे नये पात्रोंको देखकर हम चकित हो जाते हैं; किन्तु नाटकके व्यवस्थापकके लिये इसमें सहसा या अकस्मात् कुछ भी नहीं। उसे आदिसे अन्ततक सम्पूर्ण नाटकका पता है कि इसके बाद कौन-सा पात्र क्या अभिनय करेगा। इसी प्रकार इस जगत्‌के रङ्ग-मञ्चपर भगवान् जो नाटक खिला रहे हैं, उसका उन्हें रत्ती-रत्तीभर पता है। उनके लिये भविष्यके गर्भमें कोई बात छिपी नहीं है। भविष्यका परदा तो हम अज्ञानियोंके नेत्रोंपर पड़ा हुआ है। हम किसी घटनाको देखकर ही उसे नयी और सहसा उत्पन्न हुई बताने लगते हैं, यही हमारी अपूर्णता है। कार्यको देखकर कारणके सम्बन्धमें सोचते हैं, किन्तु दिव्य दृष्टिवाले कारणको पहिले ही समझ जाते हैं इसलिये उन्हें किसी भी घटनासे कोई आश्चर्य नहीं होता।

शाके १४०७ (सं० १५४२ विक्रमी) के फाल्गुनकी पूर्णिमाका शुभ दिवस है। सम्पूर्ण भारतवर्षमें प्रसन्नता छायी हुई है। रामकृष्णके

माननेवाले सभी हिन्दूओंके घरोंमें अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सुन्दर-सुन्दर पकान्न बनाये गये हैं। सबोंने अपने-अपने घरोंको लीप-पोतकर स्वच्छ और सुन्दर बनाया है। बहुत पहिले—सत्ययुगमें—आजके दिन भक्तराज प्रह्लादने अग्निमें प्रवेश करके भक्तिकी विशुद्धता, पवित्रता और निर्मलता दिखायी थी। भगवत्-भक्तिके कारण उनके पिताकी भगिनी होली—जो इन्हे गोदमें लेकर अग्निमें बैठी थी—स्वयं जल गयी किन्तु इनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसी कारण भक्तोंमें अत्यन्त ही आह्लाद उत्पन्न हुआ और तभीसे आजतक यह दिन परम पवित्र समझा जाता है। आज-के दिन जीवनमे नवजीवनका सञ्चार होता है। वर्षभरकी सभी बातें भुला दी जाती हैं, सालभरके वैर, द्वेष तथा अशुभ कर्मोंको होलीकी ज्वालामें स्वाहा कर दिया जाता है। आजके दिन शत्रु-मित्रका कुछ भी विचार न करके सबको गलेसे लगाते है। इतने दिनोंसे होली होती तो थी, किन्तु यथार्थ होली तो आज ही है। तभी तो भक्तोंके हृदयोंमें कोई एक अज्ञात आनन्द हिलोरें मार रहा है।

पं० जगन्नाथ मिश्र अपने घरके एक कोनेमें बैठे हुए हैं। मिश्रजीके पास सांसारिक धन नहीं है, फिर भी ब्राह्मणोंका जो धन है, जिसके कारण ब्राह्मणोंको तपोधन कहा जाता है, उस धनका अभाव नहीं है। मिश्रजीका घर छोटा-सा है, किन्तु है खूब साफ-सुथरा। सम्पूर्ण स्थान गौके गोबरसे लिपा है, आँगनमें तुलसीका सुन्दर बिरवा लगा हुआ है। एक ओर एक गौ बँधी है। ब्राह्मणीने ताँबेके तथा पीतलके बर्तनोंको खूब माँजकर एक ओर रख दिया है। धूप लगनेसे वे चमक उठते हैं। मिश्रजी भोजन करके पुस्तकको पढ़ने लगे हैं।

तीसरे पहरके बाद शची देवीको कुछ प्रसव-वेदना-सी प्रतीत हुई। घरमें दूसरी कोई स्त्री थी नहीं। सास तथा देवरानी, जेठानी सभी श्रीहट्ट

(सिलहट) मे थीं । यहाँ तो शचीदेवीका पितृगृह था, इसलिये पं० चन्द्रशेखर (आचार्य-रत्न) की पत्नी अपनी छोटी बहिनको इन्होंने बुला लिया । धीरे-धीरे वेदना बढ़ने लगी और साथ ही भक्तोंके अज्ञात आनन्दकी भी वृद्धि होने लगी । भगवान् मरीचिमाली अस्ताचलको प्रस्थान कर गये, किन्तु तो भी पूर्णिमाके चन्द्र उदय नहीं हुए । कारण कि वे चैतन्य-चन्द्रके उदय होनेकी प्रतीक्षामें थे । इसी समय राहुने सुअवसर पाकर चन्द्रमाको ग्रस लिया ।

ग्रहणका स्नान करनेके निमित्त नवद्वीपके सभी घाटोंपर स्त्री-पुरुषोंकी भारी भीड़ थी । असंख्यों नर-नारी उस पुण्य अवसरपर स्नान करनेके निमित्त एकत्रित हुए थे । सभीके कण्ठोंसे राम, कृष्ण, हरिकी मधुर ध्वनि निकल रही थी । जो कभी भी भगवान्‌का नाम नहीं लेते थे, वे भी उस दिन प्रेममें उन्मत्त होकर कृष्ण-कीर्तन कर रहे थे । हिन्दुओंको चिढ़ानेके व्याजसे मुसलमान भी हरि बोल हरि बोल कहकर हिन्दुओंका साथ दे रहे थे । इसी महान् आनन्दके समयमें नामावतार श्रीगौराङ्गदेवका प्रादुर्भाव हुआ ।

शचीदेवीकी भगिनीने यह शुभ समाचार मिश्रजीको सुनाया । मिश्रजी-की प्रसन्नताका तो कुछ ठिकाना ही न रहा । वे तो पहिलेसे ही अत्यधिक आनन्दित थे, किन्तु अब तो उनके आनन्दकी सीमा ही न रही । क्षणभरमें बिजलीकी तरह यह समाचार मुहल्लेभरमे फैल गया । स्त्री-पुरुष जिसने भी सुना वही मिश्रजीके घर दौड़ा आया । श्रीअद्वैताचार्यकी धर्म-पत्नी, श्रीवासजीकी स्त्री आदि शचीदेवीकी जितनी अन्तरङ्ग सहेलियाँ थीं वे उपहार ले-लेकर बच्चेको देखनेके लिये आ गयीं ।

विश्वरूपके द्वारा समाचार पाकर शचीदेवीके पिता नीलाम्बर चक्रवर्ती भी आ उपस्थित हुए । वे तो प्रसिद्ध ज्योतिषी ही थे, उसी समय उन्होंने

गणना करके लग्न निकाली और जन्म-कुण्डली बनाकर ग्रहोंके फल देखने लगे। इतने शुभ ग्रहोंको देखकर वे आनन्दसे गद्गद हो उठे और मिश्रजी-से बोले—यह बालक कोई महान् पुरुष होगा। इसके द्वारा असंख्यों जीवोंका कल्याण होगा। इसके राजग्रह स्पष्ट बता रहे हैं कि यह असाधारण महापुरुष होगा।

इस प्रकार ग्रहोंका फल सुनकर मिश्रजीके आनन्दकी और भी अधिक वृद्धि हुई। उस समय उन्हें अपनी निर्धनतापर कुछ खेद हुआ। उनका हृदय कह रहा था कि 'इस समय यदि मेरे पास कुछ होता तो इसी समय सर्वस्व दान कर डालता।' फिर भी अपनी शक्तिके अनुसार उन्होंने अन्न-वस्त्रका दान अभ्यागत तथा ब्राह्मणोंके लिये दिया। इस प्रकार वह रात्रि आनन्द तथा उत्साहमें ही व्यतीत हुई।

दूसरे दिन धूलेंडी थी। उस दिन सभी परस्परमें मिलकर धूलि-कीचड़ तथा अबीर-गुलाल और रंगसे होली खेलते हैं। बस, उसी दिन कट्टर-से-कट्टर पण्डित भी स्पर्शास्पर्शका भेद नहीं मानते। सभी परस्परमें मिलते हैं। उस दिन भक्तोंमें महान् आनन्द रहा। एक दूसरेपर उत्साहके साथ रंग-गुलाल तथा दधि-हल्दी डाल रहे थे। मानो आज नन्दोत्सव मनाया जा रहा हो। भक्तोंने अनुभव किया कि आकाशमें देवता उनकी प्रसन्नता-में अपनी प्रसन्नता मिलाकर जयघोष कर रहे हैं और भक्तोंको अभयदान देते हुए आदेश कर रहे हैं कि अब भयकी कोई बात नहीं, तुम्हारे दुर्दिन अब चले गये। अब नवद्वीपमें ही नहीं सम्पूर्ण देशमें भक्ति-भागीरथीकी एक ऐसी मनोरम बाढ़ आवेगी कि जिसके द्वारा सभी जीव पावन बन जायँगे और चारों ओर 'हरि बोल, हरि बोल' यही सुमधुर ध्वनि सुनायी पड़ेगी।

निमाई

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥*

(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २)

पं० जगन्नाथ मिश्र और श्रीशचीदेवीकी मानसिक प्रसन्नताका वही अनुभव कर सकता है जिसकी अवस्था महाराज दशरथ और जगन्माता कौशल्याजी-सी हो । अथवा कंसका वध करनेके अनन्तर देवकी और वसुदेवको जो प्रसन्नता हुई होगी उसी प्रकारकी प्रसन्नता मिश्र-दम्पतीके हृदयमें विद्यमान होगी । शचीदेवीकी क्रमशः आठ कन्याएँ प्रसव होनेके कुछ कालके ही पश्चात् परलोकगामिनी बन चुकी थीं । इस वृद्धावस्थामें दम्पती सन्तान-सुखसे निराश हो चुके थे, कि भगवान्का अनुग्रह हुआ और विश्वरूपका जन्म हुआ । विश्वरूप यथा नाम तथा गुण ही थे । इनका रूप विश्वको मोहित करनेवाला था, किन्तु बालोचित चाञ्चल्य इनमें बिल्कुल नहीं था, चेहरेपर परम शान्ति विराजमान थी । माता-पिता इस सर्वगुणसम्पन्न पुत्रके मुख-कमलको देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हुआ करते थे । अब भगवान्की कृपाका क्या कहना है ! विश्वरूपके बाद दूसरे बालकको देखकर तो मिश्र-दम्पती अपने-आपेको ही भूल गये थे ।

---

* उन सबके मध्यमें पीताम्बर पहिने, गलेमें पुष्पोंकी माला धारण किये, मन्द-मन्द मुस्कानसे सबोंको प्रसन्न करते हुए प्राणिमात्रके मनको मोहित करनेवाले कामदेवको भी अपने रूपलावण्यसे तिरस्कृत करते हुए प्रभु प्रकट हुए ।

सब बालक ९ महीने या अधिक-से-अधिक १० महीने गर्भमें रहते हैं, किन्तु गौराङ्ग पूरे १३ महीने गर्भमें रहे थे। सात महीनेमें भी बहुत-से बच्चे होते हैं और वे प्रायः जीवित भी रहते हैं, किन्तु वे बहुधा क्षीणकाय ही होते हैं। बात यह है, कि ६ महीनेमें गर्भके बच्चेके सब अवयव बनकर ठीक होते हैं और सातवें महीनेमें जाकर उसमें जीवनका सञ्चार प्रतीत होता है। जीवनका सञ्चार होते ही बच्चा गर्भसे बाहर होनेका प्रयत्न करता है। जो माताएँ कमजोर होती हैं, उनका प्रसव सात ही महीनोंमें हो जाता है, किन्तु बहुधा सातवें महीनेमें बच्चेका प्रयत्न निर्बल होनेके कारण असफल ही होता है। बाहर निकलनेके प्रयत्नमें बालक बेहोश हो जाता है और यह बेहोशी दो महीनेमें जाकर ठीक होती है। जो बच्चे ८ ही महीनोंमें हो जाते हैं, वे बचते नहीं हैं, क्योंकि एक तो पहिली बेहोशी और दूसरी प्रसवकी बेहोशी, इसलिये कमजोर बालक उन्हें सह नहीं सकता। १० महीनेका बच्चा खूब तन्दुरुस्त होता है। १३ महीने गर्भमें रहनेके कारण गौराङ्ग पैदा होते ही सालभरके-से प्रतीत होते थे। इनका शरीर खूब मजबूत था, अङ्गके सभी अवयव सुगठित और सुन्दर थे। तपाये हुए सुवर्णकी भाँति इनके शरीरका वर्ण था, छोटी-छोटी दोनों भुजाएँ खूब उतार-चढ़ावकी थीं। हाथकी उँगली कोमल और रक्त-वर्णकी बड़ी ही सुहावनी प्रतीत होती थी। छोटे-छोटे गुदगुदे पैर, मांसमें छिपे हुए सुन्दर टखने, सुन्दर गोल-गोल पिंडरियाँ और मनोहर ऊरुद्वय थे। छोटे कमलके समान सुन्दर मुख, बड़ी-बड़ी आँखें और सुन्दर पैनी नासिका बड़ी ही भली मालूम पड़ती थी। गर्भके सभी बालकोंके इतने मुलायम बाल होते हैं, कि वे रेशमके लच्छोंको भी मात करते हैं, किन्तु गौराङ्गके बाल तो अपेक्षाकृत अन्य बालकोंके बालोंसे बहुत बड़े थे। काले-काले सुन्दर घुँघुराले बालोंसे उस सुचारु आननकी शोभा ठीक ऐसी बन गयी थी मानो किसी अधिक रसमय कमलके ऊपर बहुत-

से भौंरे आकर स्वेच्छापूर्वक रसपान कर रहे हों। शचीमाता उस रूप-माधुरीको बार-बार निहारती और आश्चर्यसागरमें गोते लगाने लगती। वह बच्चेके सौन्दर्यमें एक अपूर्व तेजका अनुभव करती।

धीरे-धीरे बालक एक मासका हुआ। बङ्गालकी ओर माता २१ दिनमें अथवा महीनेभरमें प्रसूति-घरसे बाहर होती है और तभी षष्ठीपूजा भी होती है। नामकरण संस्कार प्रायः चार महीनोंमें होता था, किन्तु अब तो लोग बहुत पहिले भी करने लगते हैं। एक महीनेके बाद गौराङ्गका निष्क्रमण-संस्कार हुआ। सखी-सहेलियोंके साथ शचीदेवी बालकको लेकर गङ्गास्नान करनेके निमित्त गयीं। वहाँ जाकर विधिवत् गङ्गाजीका पूजन किया और फिर षष्ठीदेवीके स्थानपर उनके पूजनके निमित्त गयीं।

षष्ठीदेवी कौन हैं, इनके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् देशोंकी पृथक्-पृथक् मान्यता है। यह कोई शास्त्रीय देवी नहीं हैं, एक लौकिक पद्धति है। बहुत जगह तो यह बालकोंके अशुभको मेटनेवाली समझी जाती हैं, और इसीलिये बालकके कल्याणके निमित्त इनकी पूजा करते हैं। हमारी तरफ बालकके जन्मके छठे दिन षष्ठी (छठी) देवीका पूजन होता है। घरकी सबसे मान्य स्त्री पहिले-पहिल पूजा करती है, फिर सम्पूर्ण कुल-परिवारकी स्त्रियाँ आ-आकर पूजा करती हैं और भेंट चढ़ाती हैं। मान्य स्त्री उन सबको खानेके लिये सीरा-पूड़ी या कोई अन्य वस्तु देती है। हमारी ओर वैमाता (भावी माता) को ही षष्ठी मानते हैं, ऐसी मान्यता है कि वैमाता उसी दिन रात्रिमें आकर बालककी आयुभरका शुभाशुभ भाग्यमें लिख जाती है। वैमाता बालकके भाग्यको खूब अच्छा लिख जाय इसीलिये उसकी प्रसन्नताके निमित्त उसका पूजन करते हैं। नीचेके दोहेमें यही बात स्पष्ट है—

> जो विधनाने लिख दई, छठी रात्रिके अंक।
> राई घटै न तिल बढ़ै, रहु रे जीव निसंक॥

कुछ भी हो, लौकिक ही रीति सही, किन्तु इसका प्रचार किसी-न-किसी रूपमें सर्वत्र ही है। षष्ठीदेवीके स्थानपर जाकर शचीदेवीने श्रद्धा-भक्तिके साथ देवीका पूजन किया और वे बच्चेकी मङ्गल-कामनाके निमित्त देवीके चरणोंमें प्रार्थना करके सखी-सहेलियोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक घर लौट आयीं।

बालक ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था, त्यों-ही-त्यों उसकी चञ्चलता भी बढ़ती जाती थी। विश्वरूप जितने अधिक शान्त थे, गौराङ्ग उतने ही अधिक चञ्चल थे। एक महीनेके ही थे कि अपने आप ही आँगनमें घुटनोंके सहारे रेंगने लगते थे। चलते-चलते जोरसे किलकारियाँ मारने लगते, कभी-कभी अपने आप ही हँसने लगते। माता इन्हें पकड़ती, किन्तु इन्हें पकड़ना सहज काम नहीं था। ये स्तन पीते-ही-पीते कभी इतने जोरसे दौड़ते कि फिर इन्हें रोक रखना असम्भव ही हो जाता था। पहिले-पहिले ये बहुत रोते थे, माता भाँति-भाँतिसे इन्हें चुप करनेकी चेष्टा करती किन्तु ये चुप ही नहीं होते थे। एक दिन ये छोटे खटोलेपर पड़े-पड़े बहुत जोरोंसे रो रहे थे। माताने बहुत चेष्टा की किन्तु ये चुप नहीं हुए। तब तो माता इन्हें 'हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल' यह पद गा-गाकर धीरे-धीरे हिलाने लगी। बस, इसका श्रवण करना था कि ये चुप हो गये। माताको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्हें चुप करनेका एक सहज ही उपाय मिल गया। जब कभी ये रोते तभी माता अपने कोमल कण्ठसे गाने लगती—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

इसे सुनते ही ये झट चुप हो जाते। इनके मुहल्लेकी स्त्रियाँ इन्हें बहुत ही अधिक प्यार करती थीं, इसलिये घरके कामसे निवृत्त होते ही वे शचीदेवीके घर आ बैठतीं। शचीदेवीका स्वभाव बड़ा ही मधुर था।

उनके घर जो भी आती उसीका खूब प्रेमपूर्वक सत्कार करतीं और घरका काम-काज छोड़कर उनसे बातें करने लगतीं। इसलिये सभी भली स्त्रियाँ अपना अधिकांश समय शचीदेवीके ही यहाँ बितातीं। वे सभी मिलकर गौराङ्गको खिलाती थीं। बच्चेकी जिसमें प्रसन्नता हो खिलानेवाले उसी कामको बार-बार करते हैं। गौराङ्ग हरि-नाम-संकीर्तनसे ही परम प्रसन्न होते थे और सुनते-सुनते किलकारियाँ मारने लगते इसलिये स्त्रियाँ बार-बार उसी पदको गातीं। कभी-कभी सब मिलकर एक स्वरसे कीर्तनके पदोंका गान करती रहतीं। इस प्रकार दिनभर शचीदेवीके घरमें—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

इसी पदकी ध्वनि गूँजती रहती।

इस प्रकार धीरे-धीरे बालककी अवस्था चार मासकी हुई। मिश्रजीने शुभ मुहूर्तमें बालकके नामकरण-संस्कारकी तैयारियाँ कीं। अपने सहपाठी प्रेमी पण्डितोंको उन्होंने निमन्त्रित किया। ब्राह्मणोंने विधि-विधानके साथ वेद-पाठ और हवन किया। पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्तीने जन्म-नक्षत्रके अनुसार बालकका नाम विश्वम्भर रखा। किन्तु जन्मकी राशिके नाम प्रायः बहुत कम प्रचलित होते हैं। बच्चेका नाम तो माता-पिता अपनी राजीसे ही रख लेते हैं, यह सब जगहकी रिवाज है, कि बच्चेका आधा नाम लेनेमें ही सबको आनन्द आता है। इसलिये बच्चेका कैसा भी नाम क्यों न हो उसे तोड़-मरोड़कर आधा ही बना लेंगे। यह प्रगाढ़ प्रेमका एक मुख्य अङ्ग है। शचीदेवीकी सखियोंने भी गौराङ्गका नाम रख लिया 'निमाई'।

निमाई नामके सम्बन्धमें लोगोंके भिन्न-भिन्न मत हैं। कइयोंका कहना है कि जब ये उत्पन्न हुए थे, तब धात्रीको ऐसा प्रतीत हुआ कि इनके शरीरमें प्राणोंका सञ्चार नहीं हो रहा है। वे प्रसवके अनन्तर अन्य

बालकोंकी भाँति रोये नहीं । जब इनके कानमें हरि-मन्त्र बोला गया तब ये रोने लगे । इसलिये माताने कहा—'यह यमराजके यहाँ नीमकी तरह कड़वा साबित हो ।' इसलिये इसका नाम माताने 'निमाई' रख दिया ।

बहुतोंका मत है कि इनका प्रसवगृह एक नीमके वृक्षके नीचे था, इसलिये इनका नाम 'निमाई' रखा गया । बहुतोंके विचारमें यह नाम हीनताका द्योतक इसलिये रखा गया, कि बच्चेकी दीर्घायु हो । लोकमें ऐसा प्रचार है कि जिस माताकी सन्तानें जीवित नहीं रहतीं वह अपनी सन्तानका इसी प्रकार हीन नाम रखती हैं । कुछ भी हो, हमारा मत तो यह है, यह नाम किसी अर्थको लेकर नहीं रखा गया । प्यारमें ऐसे ही नाम रखे जाते हैं । और सर्वसाधारणमें वही प्रेमका नाम प्रचलित होता है । जैसे नित्यानन्दका 'निताई', जगन्नाथका 'जगाई' इत्यादि । कुछ भी क्यों न हो, सम्पूर्ण नवद्वीपमें गौराङ्गका यही नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ । पण्डित होनेपर भी सब लोग इन्हें 'निमाई पण्डित' के ही नामसे जानते तथा पहिचानते थे ।

नाम-करण-संस्कारके अनन्तर पिताने इनके स्वभावकी परीक्षा करनी चाही । उन्होंने इनके सामने रुपये-पैसे, अन्न-वस्त्र, द्रव्य-शस्त्र तथा पुस्तकें रख दीं और बड़े प्रेमसे बोले—'बेटा ! इनमेंसे किसी चीजको उठा तो लो ।' प्रायः बालक चमकीली चीजोंको सबसे पहिले पसन्द करते हैं, किन्तु यह स्वभाव तो साधारण लौकिक बालकोंका होता है, ये तो अलौकिक थे । झट इन्होंने सबसे पहिले श्रीमद्भागवतकी पुस्तकपर हाथ रख दिया । सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई । सबने एक स्वरमें कहा—'निमाई बड़ा भारी पण्डित होगा ।'

मत है—

होनहार बिरवानके होत चीकने पात ।
इसीलिये [illegible] ॥

प्रेम-प्रवाह

> अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
> विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
> कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
> भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥*

ओतप्रोतरूपसे परिप्लावित इस प्रेमपयोधिरूपी जगत्‌में जीव अपनी क्षुद्रताके कारण ऐसे संकीर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, कि उस प्रेमपीयूषका सम्पूर्ण स्वारस्य एकदम नष्ट हो जाता है। अहा! जब सुख-दुःखमें समान भाव हो जाय, किसी भी अवस्थामें चित्तकी वृत्ति सजातीय-विजातीयका अनुभव न करने लगे उस समयके सुखका भला क्या कहना है? ऐसा प्रेम किसी विरले ही महापुरुषके शरीरमें प्रकट होता है और उनकी प्रीतिके पात्र कोई बड़भागी ही सुजन होते हैं। महापुरुषोंमें जन्मसे ही यह विश्व-विमोहन प्रेम होता है।

* जो कि सुख-दुःखमें समान रहता है तथा सम्पूर्ण अवस्थाओंमें अपने अनुकूल ही बना रहता है, जो हृदयका एकमात्र विश्रामस्थान है, वृद्धावस्था जिसके रसको नष्ट नहीं कर सकती, जो समयके बदलनेसे स्वयं नहीं बदलता है और जिसकी स्थिति सदा स्नेह-सारमें ही रहती है, सत्पुरुषके इस प्रकारके सुन्दर प्रेमके पात्र कोई बड़भागी पुरुष ही होते हैं।

सभी महापुरुषोंके सम्बन्धमें हम चिरकालसे सुनते आ रहे हैं, कि वे जन्मसे ही सभी प्राणियोंमें समान भाव रखते थे। महात्मा नानकजी जब बाल्यावस्थामें भैंस चराने जाते तो एकान्तमें बैठकर ध्यान करने लगते। बहुत-से लोगोंने प्रत्यक्ष देखा कि एक बड़ा भारी सर्प अपने फणसे उनके ऊपर छाया किये रहता और जब वे ध्यानसे उठते तब चला जाता। सिंहोंको कुत्तेकी तरह पूँछ हिलाते अभीतक तपस्वियोंके आश्रममें देखा गया है। महापुरुषोंके अंगमें यह प्रेमकी आकर्षक बिजली जन्मसे ही होती है, कि पापी-से-पापी पुरुषकी तो बात ही क्या है, पशु-पक्षी, कीट-पतंगतक उनके आकर्षणसे खिंचकर उनके चेरे हो जाते हैं।

शचीदेवीके छोटेसे आँगनमें जो दिन-रात्रि 'हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल' की ध्वनि गूँजती रहती है, इसका कारण निमाईकी अपूर्व रूपमाधुरी ही नहीं है, किन्तु उनकी विश्वमोहिनी मन्द मुस्कानने ही पास-पड़ोसियोंकी स्त्रियोंको चेरी बना लिया है, उन्हें निमाईकी मन्द मुस्कानके देखे बिना कल ही नहीं पड़ती। माताओंका यह सनातन स्वभाव है कि उनकी सन्तानपर जो कोई प्रेम करता है तो उनके हृदयमें एक प्रकारकी मीठी-मीठी गुदगुदी होती है, उनका जी चाहता है इस प्यार करनेवाले पुरुषको मैं क्या दे दूँ! स्त्रियाँ निमाईको जितना ही प्यार करतीं, शचीमाता निमाईको उतना ही और अधिक सजातीं। मातृ-हृदयको भी ब्रह्माजीने एक अपूर्व पहेली बनाया है।

निमाई अभी छोटा है, बहुत-से स्थानोंसे बालकके लिये छोटे-छोटे सिले वस्त्र और गहने आये हैं। माताने अब निमाईको उन्हें पहिनाना आरम्भ कर दिया है। एक दिन माताने निमाईको उबटन लगाकर खूब नहवाया। तेल डालकर छोटे-छोटे घुँघराले बालोंको कङ्घीसे साफ किया। एक पीला-सा कुर्ता शरीरमें पहिनाया। हाथके कड़ूलोंको मिट्टीसे घिसकर चमकीला

किया। कमरमें करधनी पहिनायी, उसे एक काले डोरेसे बाँध भी दिया। पैरोंमें छोटे-छोटे कड़ूले पहिनाये। कण्ठमें कठुला पहिनाया। कई एक काले गंडे-तावीज बच्चेकी मंगल-कामनाके निमित्त पहिलेसे ही पड़े थे। बड़ी-बड़ी कमल-सी आँखोंमें काजल लगाया। बायीं ओर मस्तकपर एक काला-सा टिप्पा भी लगा दिया, जिससे बच्चेको नजर न लग जाय। खूब श्रृंगार करके माता बच्चेके मुखकी ओर निहारने लगी। माता उस अपूर्व सौन्दर्य-माधुरीका पान करते-करते अपने आपेको भूल गयी। इतनेमें ही विश्वरूपने आकर कहा—'अम्मा! अभी भात नहीं बनाया?'

कुछ झूठी व्यग्रता और रोष दिखाते हुए माताने जल्दीसे कहा—'तेरे इस छोटे भाईसे मुझे फुरसत मिले तब भात भी बनाऊँ। यह तो ऐसा नटखट है, कि तनिक आँख बचते ही घरसे बाहर हो जाता है, फिर इसका पता लगाना ही कठिन हो जाता है।'

विश्वरूपने कहा—'अच्छा ला, इसे मैं खिलाता हूँ। तू तबतक जल्दीसे रन्धन कर।' यह कह विश्वरूपने बालक निमाईको अपनी गोदमें ले लिया। माता तो दाल-चावल बनानेमें व्यस्त हो गयी और विश्वरूप धूपमें बैठ गये। भला विश्वरूप-जैसे विद्याव्यासंगी बालक ठाली कैसे बैठे रह सकते हैं? वे निमाईको पास बिठाकर पुस्तक पढ़ने लगे। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते वे उसमें तन्मय हो गये। अब निमाईको किसका भय? धीरेसे रेंग-रेंगकर आप आँगनके दूसरी ओर एकान्तमें जा पहुँचे? वहाँपर, एक कोई बड़भागी सर्प देवता बैठे हुए थे। बस, निमाईको एक नूतन खिलौना मिल गया। वे उसके साथ खेलने लगे।

माता शरीरसे तो दाल-भात बनाती जाती थीं, किन्तु उनका मन निमाईकी ही ओर लगा हुआ था। थोड़ी देरमें जब उसने दोनों भाइयोंमें

कुछ भी बातें-चीतें न सुनीं तो विश्वरूपको सावधान करनेके निमित्त उन्होंने वहींसे पूछा—'विश्वरूप ! निमाई सो गया क्या ?'

मानो कोई घोर निद्रासे जागकर अपने चारों ओर जगानेवालेको भौंचक्केकी भाँति देखता है उसी प्रकार पुस्तकसे नजर उठाकर विश्वरूपने कहा—'क्या अम्मा ! क्या कहा ? निमाई ? निमाई तो यहाँ नहीं है !'

मानो माताके कलेजेमें किसीने गरम ठेस लगा दी हो, उनका मातृ-हृदय उसी समय किसी अशुभ आशङ्काके भयसे पिघलने लगा। वे दाल-भातको वैसे ही छोड़ कर जल्दीसे बाहर आयीं। विश्वरूप भी उठकर खड़े हो गये। दोनों माँ-बेटे इधर-उधर निमाईको ढूँढ़ने लगे। आँगनके दूसरी ओर उन्होंने जो कुछ देखा उसे देखकर तो सबके छक्के छूट गये। माताने बड़े जोरसे एक चीत्कार मारी। उनकी चीत्कारको सुनकर आस-पाससे और भी स्त्री-पुरुष वहाँ आ गये।

सबोंने देखा निमाईका आधा शरीर धूलि-धूसरित है, आधा अङ्ग तेलके कारण चमक रहा है। बालोंमें भी कुछ धूलि लगी है। कुर्तेमें पीठकी ओर एक गाँठ लगी है, वह बड़ी ही भली मालूम पड़ती है। पीले रङ्गके वस्त्रमेंसे सुवर्ण-रङ्गका शरीर बड़ा ही सुहावना मालूम पड़ता है। सर्प गुड़मुड़ी मारे बैठा है। निमाई उसके ऊपर सवार है। उसने अपना काला गौके खुरके चिह्नसे चिह्नित विशाल फण ऊपर उठा रखा है। निमाईका एक हाथ फणके ऊपर है। एकसे वे जमीनको छू रहे हैं। एक पैरमें वलय देकर साँप चुपचाप पड़ा है। सूर्यके प्रकाशमें उसका स्याह काला शरीर चमक रहा है। निमाईको कोई चिन्ता ही नहीं। वे हँस रहे हैं। हँसनेसे आगेके दाँत जो अभी नये ही निकले हैं खूब चमक रहे हैं। देखनेवालोंके होश उड़ गये। सभीके हृदयमें एक विचित्र आन्दोलन उठ रहा था। किसीकी हिम्मत भी

नहीं पड़ती थी, कि बच्चेको साँपसे छुड़ावे। इसी समय शचीदेवी छुड़ानेके लिये दौड़ीं। उनका दौड़ना था कि साँप जल्दीसे अपने बिलमें घुस गया। निमाई हँसते-हँसते माताकी ओर चले। माताने जल्दीसे बालकको छातीसे चिपटा लिया। उस समय माताको तथा अन्य सभी लोगोंको जो आनन्द हुआ होगा उसका वर्णन भला कौन कर सकता है! सभीने बच्चेको सकुशल कालके गालमेंसे लौटा देखकर भाँति-भाँतिके उपचार किये। किसीने झाड़-फूँक की, किसीने ताबीज बनाया।

स्त्रियाँ कहने लगीं—'यह कोई कुलदेवता है, तभी तो इसने बच्चेको कोई क्षति नहीं पहुँचायी।' कोई-कोई बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ बच्चेका मुँह चूम-चूमकर कहने लगीं—'निमाई, तू इतनी बदमाशी क्यों किया करता है? क्या तुझे खेलनेको साँप ही मिले हैं? निमाई उनकी ओर देखकर हँस देते तभी सब स्त्रियाँ गाने लगतीं—

हरि हरि-बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

इस प्रकार निमाईकी अधिक चञ्चलता देखकर माता उनकी अधिक चिन्ता रखने लगी। माता जितनी ही अधिक होशियारी रखती, ये उतना ही अधिक उसे धोखा भी देते।

एक दिन ये घरसे निकलकर बाहर रास्तेमें एकान्तमें खेल रहे थे। शरीरपर बहुत-से आभूषण थे, उनमें कई सोनेके भी थे। इतनेमें ही चोर उधर आ निकला। निमाईको आभूषण पहिने एकान्तमें खेलते देखकर उसके मनमें बुरा भाव उत्पन्न हुआ और वह इन्हें पीठपर चढ़ाकर एकान्त स्थानकी ओर जाने लगा। इनके स्पर्शमात्रसे ही उसकी विचित्र दशा हो गयी, उसे अपने कुकृत्योंपर रह-रहकर पश्चात्ताप होने लगा। निमाईका एक पैर उसके कन्धेके नीचे लटक रहा था। उस कमलकी भाँति कोमल पैरको देखकर उसका हृदय भर आया। उसने एक बार

निमाईके कमलकी तरह खिले हुए मुँहकी ओर ध्यानपूर्वक देखा। पीठपर चढ़े हुए निमाई हँस रहे थे। चोरका हृदय पानी-पानी हो गया। जगदुद्धारक निमाईका वही पापी सर्वप्रथम कृपापात्र बना।

इधर निमाईको घरमें न देखकर माता-पिताको बड़ी चिन्ता हुई। मिश्रजी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गङ्गाजीतक पहुँचे, किन्तु निमाईका कुछ भी पता नहीं चला। इधर शचीदेवी पगलीकी तरह आस पासके मुहल्लोंके सभी घरोंमें निमाईको ढूँढ़ने लगी। स्त्रियाँ कहतीं—'वह बड़ा चञ्चल है, घरमें रहना तो मानो सीखा ही नहीं। तुम चिन्ता मत करो। यहीं कहीं खेल रहा होगा। मिल जायगा। चलो मैं भी चलती हूँ।' इस प्रकार सभी स्त्रियाँ शची-माताको धैर्य बँधाती थीं, किन्तु शचीको धैर्य कहाँ? उन सबकी बातोंको अनसुनी करती हुई माता एक घरसे दूसरे घरमें दौड़ने लगी। विश्वरूप अलग ढूँढ़ रहे थे।

इधर चोरकी चित्तवृत्ति शुद्ध होनेसे उसका भाव ही बदल गया। बस, वही उसका चोरीका अन्तिम दिन था। उसने धीरेसे लाकर निमाईको उनके द्वारपर उतार दिया।

माता-पिता तथा भाई इधर ढूँढ़ रहे थे, किसीने आकर समाचार दिया कि निमाई तो घरपर खेल रहा है। मानो मरु-भूमिमें जलाभावके कारण मरते हुए पथिकको सुन्दर सुशीतल जल मिल गया हो अथवा किसी परम बुभुक्षितको अच्छे-अच्छे खाद्य-पदार्थ मिल गये हों, इस प्रकारकी प्रसन्नता मिश्रजीको हुई। उन्होंने द्वारपर आकर देखा कि निमाई हँस रहा है। माताने आकर बच्चेको छातीसे चिपटाया। विश्वरूपने भाईको पुचकारा। स्त्रियाँ आकर गाने लगीं—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल। मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

अलौकिक बालक

स्वगर्भशुक्तिनिर्भिन्नं सुवृत्तं, सुतमौक्तिकम् ।
वंशश्रीतिलकीभूतं मन्दभाग्यस्य दुर्लभम् ॥*

शची-रूपी सीपीके भाग्यकी सराहना कौन कर सकता है, जिसमें निमाईके समान संसारको सुख-शान्ति प्रदान करनेवाला बहुमूल्य मोती पैदा हुआ ? शचीकी समझमें स्वयं नहीं आता था कि यह बालक कैसा है ! इसकी सभी बातें दिव्य हैं, सभी चेष्टाएँ अलौकिक हैं । देखनेमें तो यह बालक-सा प्रतीत होता है, किन्तु बातें ऐसी करता है कि अच्छे-अच्छे समझदार भी उन्हें सरलतापूर्वक नहीं समझ सकते । कभी तो उसे भ्रम होता और सोचने लगती यह कोई छद्म-वेष बनाये महापुरुष या देवता मेरे यहाँ क्रीड़ा कर रहे हैं और कभी-कभी मातृस्नेहके कारण सब कुछ भूल जाती ।

एक दिन माताने देखा कि घरमें बड़े जोरोंका प्रकाश हो रहा है । बहुत-से तेजपूर्ण दिव्य दिव्य पुरुष निमाईकी पूजा और स्तुति कर रहे हैं । यह देखकर माताको बड़ा भय मालूम हुआ । वे जल्दीसे घरके भीतर गयीं । वहाँ जाकर उन्होंने देखा निमाई सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं । यह

* अपनी माताके गर्भरूपी सीपीको निर्भिन्न करके अच्छे गुणोंवाला पुत्ररत्न जो कि अपने वंशकी श्रीको बढ़ानेवाला है, ऐसे सौभाग्यशाली 'सुतका' मन्द भाग्यवाले पुरुषोंके यहाँ उत्पन्न होना अत्यन्त ही दुर्लभ है ।

बात शचीदेवीने अपने पति पण्डित जगन्नाथ मिश्रसे कही। मिश्रजीने कहा–'हम तो पहिलेसे ही जानते थे, यह बालक कोई साधारण पुरुष नहीं है।'

इसी प्रकार एक दिन आँगनमें ध्वजा, वज्र, कुश आदि शुभ चिह्नोंसे चिह्नित छोटे-छोटे पैरोंको देखकर शचीदेवी विस्मित हो गयीं। उन्होंने वे चरणचिह्न मिश्रजीको भी दिखाये। भाग्यवान् दम्पतीने उन चरणोंकी धूलि अपने मस्तकपर चढ़ायी। मिश्रजी कहने लगे–'मालूम पड़ता है, घरके बालगोपाल ठाकुर सशरीर आँगनमें घूमते हैं। यह हमलोगोंका परम सौभाग्य है।' इतनेमें ही उन्होंने निमाईके छोटे-छोटे पैरोंमें भी वे ही चिह्न देखे। मिश्रजी पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्तीको बुलाकर लाये और निमाईके हाथ तथा पैरोंकी रेखा उन्हें दिखायी। सब देखकर चक्रवर्ती महाशय बोले–'हमने उसी दिन जन्मकुण्डली ही देखकर कह दिया था, कि यह बालक कोई साधारण बालक नहीं है। भविष्यमें इसके द्वारा संसार-का बहुत कल्याण होगा।'

एक दिन मिश्रजीने निमाईसे कहा–'बेटा! भीतरसे पुस्तक ता दे आ।' निमाई हँसते हुए भीतर चले गये। मिश्रजीको ऐसा प्रतीत हुआ मानो नूपुरकी सुमधुर ध्वनि निमाईके पैरोंमेंसे होती जा रही है। उन्होंने शचीदेवीजीसे पूछा–'निमाईको नूपुर तुमने पहिना दिये हैं क्या?' शचीदेवीने उत्तर दिया–'नहीं तो, नूपुर तो मैंने नहीं पहिनाये। देखते नहीं हो उसके पैरोंमें सिवाय कड़लोंके और कुछ भी नहीं है।' मिश्रजी सब समझकर चुप हो गये। निमाई पुस्तक रखकर चले गये।

एक दिन ये अपनी मातासे किसी बातपर झगड़ बैठे। चञ्चल तो वे थे ही, किसी बातपर अड़ गये। माताने बहुत मनाया, नहीं माने, तब माता रोषमें भरकर बाहर जाने लगी। इन्होंने अपने कोमल करोंसे माता-

पर थोड़ा प्रहार किया । माताका हृदय भर आया। उन्हें निमाईकी अलौकिक लीलाएँ और उनकी लोकोत्तर सभी बातें स्मरण होने लगीं । वे अपने भाग्यकी सराहना करने लगीं । इसी बीचमें उन्हें अपनी दरिद्रावस्थाका भी स्मरण हो आया । दुःखके बीचमें माता अधीर हो उठीं और वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ी । पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ शचीमाताको पंखा आदिसे वायु करने लगीं । निमाई घबड़ा गये । माताकी ऐसी अवस्था देखकर उनके होश उड़ गये । वे स्त्रियोंसे पूछने लगे–'माता किस प्रकार अच्छी हो सकेंगीं ?' उनमेंसे किसी स्त्रीने कह दिया–'यदि दो ताजी नारिकेल ला सको और उनका जल इन्हें पिलाया जाय तो ये अभी अच्छी हो जायँ ।'

यह सुनकर ये दौड़े-दौड़े बाहर गये और थोड़ी ही देरमें दो बड़े-बड़े ताजा नारिकेल लेकर घरमें वापिस आये । नारिकेल फोड़कर उसका जल शचीमाताके मुँहमें डाला गया । धीरे-धीरे वे होशमें आने लगीं । जब वे खूब होशमें आ गयीं तब ये उनसे लिपटकर खूब रोये और रोते-रोते बोले–'माँ ! न जाने मुझे क्या हो जाता है जो तुम्हें इतना तंग करता हूँ । मेरी माँ ! अब कभी ऐसा काम न करूँगा ।'

एक दिन ये वैसे ही रोने लगे और खूब जोर-जोरसे रोने लगे । माता-पिताने इन्हें बार-बार समझाया, पुचकारा, बहलाया किन्तु ये मानते ही न थे । बराबर रोते ही जाते थे । अन्तमें माताने पूछा— 'तू चाहता क्या है ? क्यों इतना रोता है ? मुझे सब बात बता दे । तू कहेगा वही चीज तुझे ला दूँगी ।'

आपने रोते-ही-रोते कहा–'जगदीश और हिरण्य पण्डितके घर जो आज ठाकुरजीके लिये नैवेद्य बना है उसे ही लेकर हम चुप होंगे ।'

यह सुनकर सभी चकित हो गये । किसीका भी साहस नहीं पड़ता था कि उनके घर जाकर बिना पूजा किये नैवेद्यको लाकर बालकको दे दें ।

सभी चुप होकर एक दूसरेके मुखकी ओर देखने लगे। निमाई फूट-फूट-कर रो रहे थे। माताने बहुत समझाया—'बेटा! पूजा माईकी चीज है, जबतक भगवान्‌का भोग नहीं लगता तबतक नहीं खाते। पूजा हो जाने दे, मैं जाकर उनके घरसे ला दूँगी। बिना पूजा किये जो बच्चे मिठाईको खा लेते हैं, उनके कान पक जाते हैं। रोवे मत। ये तेरे सब साथी तेरी हँसी करेंगे कि निमाई कैसा रोनेवाला है?'

माताकी इन बातोंका निमाईपर कुछ भी असर नहीं हुआ। वे बराबर रोते ही रहे। किसीने जाकर उन ब्राह्मणोंसे ये बातें कह दीं। ये दोनों वैष्णव ब्राह्मण पण्डित जगन्नाथ मिश्रके पड़ोसी थे और मिश्रजीसे बड़ा प्रेम मानते थे। निमाई उनके घर बहुत जाया-आया करते थे। इस बातको सुनकर उनके घरके सभी लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ कि निमाईको यह कैसे पता चला कि हमारे घर आज भगवान्‌के लिये नैवेद्य तैयार हो गया है। कुछ भी हो, वे बड़ी प्रसन्नतासे नैवेद्य लेकर निमाईके पास आये। निमाईने सभी सामग्रियोंमेंसे थोड़ा-थोड़ा लेकर खा लिया तब ये शान्त हुए।

माताको इनकी ऐसी बातोंपर बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगी—इसपर जरूर कोई भूत-पिशाच आता है, इसलिये उन्होंने देवताओंके नामसे द्रव्य उठाकर रख दिया, देवियोंकी पूजा की और बहुत सी मनौतियाँ भी मानीं। वे निमाईकी ऐसी दशा देखकर मनमें किसी अशुभ बातकी शङ्का करके डर जातीं और बच्चेकी मङ्गल-कामनाके निमित्त भाँति-भाँतिके उपाय सोचतीं।

धीरे-धीरे इनकी अवस्था पाँच सालके लगभग हुई। पिताने इनका अक्षरारम्भ कराया। लिखनेके लिये हाथमें पट्टी और खड़िया दी। भला इन्हें क्या पढ़ना था, ये तो सभी कुछ पढ़े-पढ़ाये ही आये थे। पिताको

दिखानेके लिये तो कभी ये पट्टीपर कुछ उल्टी-सीधी लकीरें करने लगते किन्तु वैसे पढ़ते कुछ भी नहीं थे। खड़ियाको लेकर शरीरमें मल लेते, लम्बे-लम्बे माथेपर उसके तिलक लगा लेते और मातासे कहते-'अम्मा! तेरे घरमें एक परम वैष्णव आया है, कुछ भिक्षा देगी!' माता इनके तिलकोंको देखती और हँस पड़ती। गोदमें बिठाकर मुख चूमती और कहती-'बेटा इतना उपद्रव नहीं किया करते हैं। कुछ पढ़ना-लिखना भी चाहिये। अब तो निरा बालक ही नहीं है। तेरी बराबरीके ब्राह्मणके बालक पोथी पढ़ लेते हैं, तू वैसे ही दिनभर इधर-उधर खेला करता है।'

ये माताकी बातोंको सुन लेते और मुस्करा देते। खा पीकर जल्दी बालकोंमें खेलनेके लिये भाग जाते। सभी बालकोंको लेकर ये उन्हें नाचना सिखाते। तीन-तीन चार-चार बालक मिलकर हाथ पकड़ पकड़ नाचते और घूमते-घूमते कभी चक्कर आनेसे धूलिमें गिर भी पड़ते। कभी ऊपर हाथ उठा-उठाकर 'हरि बोल, हरि बोल' कहकर खूब नाचते। इनके साथ-साथ और बालक भी 'हरि बोल, हरि बोल' की उच्च ध्वनि करने लगते। रास्ता चलनेवाले लोग इनके खेलोंको देखकर खड़े हो जाते और घंटों इनकी लीलाओंको देखा करते। बहुत-से विद्वान् पण्डित भी उधरसे निकलते, इन-के साथ निमाईको नाचते देखकर उन्हें अपनी पुस्तकी बिसारकर वहीं खड़ा आती। उनका जी चाहता था कि सब कुछ छोड़-छाड़कर इन बच्चोंके ही साथ नृत्य करने लगें, किन्तु लोक-लज्जा उन्हें ऐसा न करने देती विवश करती।

इस प्रकार ये खेलमें भी बालकोंको कुछ-न-कुछ शिक्षा देने लगे। पिता इन्हें जितना ही पढ़ाना चाहते थे ये उतने ही खेलोंमें मस्त रहते। ज्यों-ज्यों इनकी अवस्था बड़ी होती जाती थी, त्यों-त्यों चञ्चलता भी दूनेसे अधिक बढ़ती जाती थी।

वाल्य-भाव

दिग्वाससं गतव्रीडं जटिलं धूलिधूसरम् ।
पुण्याधिका हि पश्यन्ति गंगाधरमिवात्मजम् ॥*

'इस कामके करनेसे क्या फायदा ?' 'इसको क्यों करें, इससे हमारा क्या मतलब ?' ये प्रश्न स्वार्थजन्य हैं, स्वार्थ अज्ञानजन्य है और अज्ञान ही बन्धनका हेतु है। *'भगवान्ने इस सृष्टिको क्यों उत्पन्न किया ?' यह* सभी अज्ञानी जीवोंकी शङ्का है, जो बिना मतलबके कुछ करना ही नहीं जानते। इसीलिये भगवान् व्यासदेवजीने इसका यही सीधा-सादा उत्तर दिया है, कि उसका कुछ भी मतलब नहीं। 'बाल-लीलावत्' है। बच्चोंको देखा है, खाली गाड़ी देखकर उसपर बहुत दूरतक चढ़कर चले जाते हैं और फिर उधरसे पैदल ही लौट आते हैं। कोई पूछे—'ऐसा करनेसे उन्हें क्या लाभ ?' इसका उत्तर कुछ भी नहीं। लाभ-हानि बच्चा जानता ही नहीं। उसके लिये दो चीज हैं ही नहीं, या तो लाभ-ही-लाभ है या हानि-ही-हानि। या तो उसके लिये सभी वस्तु पवित्र-ही-पवित्र हैं या सभी अपवित्र हैं। *वह ज्यों-ज्यों हमलोगोंके संसर्गमें रहकर ज्ञान या अज्ञान* सीखता जाता है, त्यों-ही-त्यों मतलब और फायदा सोचने लगता है। उस समय उसकी वह द्वन्द्वातीतपनेकी अवस्था धीरे-धीरे लोप हो जाती है। फिर *वह मज़ा जाता रहता है।*

---

* सम्पूर्ण शरीर धुलिसे धूसरित हो रहा हो, छोटी-छोटी अल्कावलि मस्तकके चारों ओर फहरा रही हो, जिसे किसी भी कामके करनेमें लज्जा न लगती हो और शरीरपर एक भी वस्त्र न हो ऐसे महादेवकी भाँति दिगम्बर बालकको आँगनमें खेलते हुए भाग्यवान् ही गृहस्थ देख सकते हैं।

बाल-भाव भी कितना मनोहर है, जब साधारण बालकोंके ही विनोदमें परम आनन्द और उल्लास भरा रहता है, तब दिव्य बालकोंकी लीलाओंका तो कहना ही क्या ? उस समय तो लोग उन्हें नहीं जानते, ज्यों-ज्यों उनके जीवनमें प्रकाश होने लगता है त्यों-ही-त्यों उन पुरानी बातोंमें भी रस भरता जाता है। निमाई अलौकिक बालक थे। उनकी लीलाएँ भी बड़ी मधुर और साधारण बालकोंकी भाँति होनेपर भी परम अलौकिक थीं। पाठक स्वयं समझ लेंगे कि ३-४ वर्षकी अवस्थाके बालककी कितनी गूढ़-गूढ़ बातें होती थीं।

एक दिन माताने देखा, निमाई एकदम नंगा है। इधर-उधरसे चीरें उठाकर लपेट ली हैं। सम्पूर्ण शरीरमें धूलि लपेटे हुए हैं। एक घूरेपर अशुद्ध हॉड़ियोंपर आप बैठे हैं। हॉड़ियोंमेंसे कारिख लेकर मुँह और माथेपर काली-काली, लम्बी-लम्बी रेखाएँ खींच ली हैं। शरीरमें जगह-जगह काली बिंदी लगा ली है। एक फूटी हॉड़ीको खपड़ेसे बजा-बजाकर आप कुछ गा रहे हैं। सुवर्ण-जैसे शरीरपर भस्मके ऊपर काली-काली बिंदी बहुत ही भली मालूम होती थी। जो भी उधरसे निकलता वही उस अद्भुत स्वाँगको देखनेके लिये खड़ा हो जाता। निमाई अपने रागमें मस्त थे, उन्हें दीन-दुनियाँका कुछ भी पता नहीं। किसीने जाकर यह समाचार शचीमाताको सुनाया। माता दौड़ी-दौड़ी आयीं और दो-चार मीठी-मीठी प्रेमयुक्त कड़ी बातें कहकर डाँटने लगीं—'निमाई ! तू अब बहुत बदमाशी करने लगा है। भला ब्राह्मणके बेटेको ऐसे अपवित्र स्थानमें बैठना चाहिये ?'

आपने कहा—'अम्मा ! स्थानका क्या अपवित्र और क्या पवित्र ! स्थान तो सभी एक-से हैं। हाँ, जो स्थान हरि-सेवा-पूजासे हीन हो वहाँ बैठना ठीक नहीं। इन हाँड़ियोंमें तो तैंने भगवान्का प्रसाद बनाया है। भला, फिर ये हॉड़ियाँ अपवित्र कैसे हुईं ?'

माताने डाँटकर कहा—'बहुत ज्ञान मत छाँट, जल्दीसे उठकर स्नान कर ले।'

निमाई भला कब उठनेवाले थे ? वे तो वहीं डटे रहे और फिर वही अपना पुराना राग अलापने लगे। माताने जब देखा यह किसी भी तरह नहीं उठता, तो स्वयं जाकर इनका हाथ पकड़कर उठा लायीं और घरमें आकर इन्हें स्नान कराया और स्वयं स्नान किया।

इसी प्रकार ये सभी बालोचित लीलाएँ करते। कभी किसी कुत्तेके बच्चेको पकड़ लाते और उसे दूध-भात खिलाते। दिनभर उसे बाँधे रखते। माता यदि उसे भगा देती तो खूब रोते। कभी पक्षियोंको पकड़नेको दौड़ते और कभी गौके छोटे बच्चेके साथ खेलते और उससे धीरे-धीरे न जाने क्या-क्या बातें करते। सबके घरोंमें बिना रोक-टोक चले जाते। कोई कहती—'निमाई ! तुझे हम सन्देश देंगे, ज़रा नाच तो दे।' तब आप कहते—'पहिले सन्देश (मिठाई) दो, तब नाचूँगे।' वे सन्देश-लड्डू-पेड़े इन्हें दे देतीं। ये उसी समय कुछ मुँहमें भर लेते, शेषको हाथमें लेकर ऊपर हाथ उठा-उठाकर खूब नाचते। इस प्रकार ये घर-घर जाकर खूब नाच दिखाते और खानेके लिये खूब माल पाते। स्त्रियाँ इन्हें बहुत प्यार करतीं। कोई केला देती, कोई मेवा देती, कोई मिठाई देती। ये सबसे ले लेते, स्वयं खाते और अपने साथियोंको बाँट देते। इस प्रकार ये सभीके मनको अपनी ओर आकर्षित करने लगे और नर-नारियोंको परम सुख देने लगे।

एक दिन ये बाहरसे दौड़े-दौड़े आये और जल्दीसे मातासे बोले—'अम्मा ! अम्मा ! बड़ी भूख लग रही है, कुछ खानेके लिये हो तो दे।'

माताने कहा—'बेटा ! बैठ जा। अभी दूध-चिउरा लाती हूँ, उन्हें तबतक खा ले फिर झटसे भात बनाऊँगी।' यह कहकर माताने भीतरसे

लाकर एक कटोरेमें दूध-चिउरा इन्हें दिया। माता तो देकर भीतर चली गयीं, ये दूध-चिउरा न खाकर पासमें पड़ी मिट्टीको खाने लगे। माताने जब आकर देखा कि निमाई तो मिट्टी खा रहा है, तब वे जल्दीसे कहने लगीं—

'अरे निमाई! तू यह क्या कर रहा है? मिट्टी क्यों खाता है?'

आपने भोली सूरत बनाकर कहा—'अम्मा! तैंने भी तो मुझे मिट्टी लाकर दी है। मिट्टी ही मैं खा रहा हूँ।'

माताने कहा—'मैंने तो तुझे दूध-चिउरा दिया है, उसे न खाकर तू मिट्टी खा रहा है।'

आपने कहा—'माँ! यह सब मिट्टी ही तो है। सभी पदार्थ मिट्टीके ही विकार हैं।'

माता इस गूढ़ ज्ञानको समझ गयी। पुचकारकर बोलीं—'बेटा! हैं तो सब मिट्टी ही किन्तु काम सबका अलग-अलग है। घड़ा भी मिट्टी है, रेत भी मिट्टी है। घड़ेमें पानी भरकर लाते हैं, तो वह रखा रहता है और रेतमें पानी डालें तो वह सूख जायगा। इस लिये सबके काम अलग-अलग हैं।'

आपने मुँह बनाकर कहा—'हाँ, ऐसी बात है? तब हमें तैंने पहिलेसे क्यों नहीं बताया, अब ऐसा न किया करेंगे। अब कभी मिट्टी न खायँगे। भूख लगनेपर तुझसे ही माँग लिया करेंगे।'

इस प्रकार भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाओंके द्वारा निमाई माताको दिव्य सुखका आस्वादन कराने लगे। माता इनकी भोली और गूढ़ ज्ञानसे सनी हुई बातें सुन-सुनकर कभी तो आश्चर्य करने लगतीं, कभी आनन्दके सागरमें गोता लगाने लगतीं।

बाल-लीला

पंकाभिषिक्तसकलावयवं विलोक्य
दामोदरं वदति कोपवशाद् यशोदा।
त्वं सूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारे !
इत्युक्तस्मितमुखोऽवतु नो मुरारिः ॥*

निमाईकी सभी लीलाएँ दिव्य हैं। अन्य साधारण बालकोंकी भाँति वे चञ्चलता और चपलता तो करते हैं, किन्तु इनकी चञ्चलतामें एक अलौकिक भावकी आभा दृष्टिगोचर होती है। जिसके साथ ये चपलता करते हैं, उसे किसी भी दशामें इनके ऊपर गुस्सा नहीं आता, प्रत्युत वह प्रसन्न ही होता है। ये चञ्चलताकी हद कर देते हैं, जिस बातके लिये मना किया जाय, उसे ही ये हठपूर्वक बार-बार करेंगे—यही इनकी विशेषता थी। इन्हें अपवित्र या पवित्र किसी भी वस्तुमें राग या द्वेष नहीं। इनके लिये सब समान ही है।

एक दिनकी बात है कि निमाईके पिता पण्डित जगन्नाथ मिश्र गङ्गास्नान करके घर लौट रहे थे। उन्होंने अपने घरके समीप एक परदेशी ब्राह्मणको देखा। देखनेमें वह ब्राह्मण किसी शुभ तीर्थका प्रतीत होता था।

* एक दिन यशोदाजीने खूब अच्छी तरह नहला-धुलाकर बालक कृष्णको आँगनमें बिठा दिया। थोड़ी देरमें माता क्या देखती हैं, कि कृष्ण सम्पूर्ण शरीरमें कीच लपेटे हुए आ रहे हैं। उन्हें देखकर माताको बड़ा गुस्सा आया और बोलीं—'ओः पूतनाके मारनेवाले ! मालूम पड़ता है, तू पहिले जन्ममें सूकर था, इसीलिये तेरी यह कीचमें लोटनेकी आदत अभीतक बनी है।' ऐसी बात सुनकर कृष्ण विस्मित-से होकर माताके मुखकी ओर देखने लगे। भक्त कहता है, ऐसे बालकृष्ण हमारा कल्याण करें।

उसके चेहरेपर तेज था, माथेपर चन्दनका तिलक था और गलेमें तुलसी-की माला थी। मुखसे प्रतिक्षण भगवन्नामका जप कर रहा था। मिश्रजीने ब्राह्मणको देखकर नम्रतापूर्वक उनके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने यहाँ आतिथ्य स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। मिश्रजीके शील-स्वभावको देखकर ब्राह्मणने उनका अतिथि होना स्वीकार किया और वे उनके साथ-ही-साथ घरमें आये।

घर पहुँचकर मिश्रजीने ब्राह्मणके चरणोंका प्रक्षालन किया और उस जलको अपने परिवारके सहित सिरपर चढ़ाया, घरमें छिड़का तथा आचमन किया। इसके अनन्तर विधिवत् अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय तथा फल-फूलके द्वारा ब्राह्मणकी पूजा की और पश्चात् भोजन बना लेनेकी भी प्रार्थना की। ब्राह्मणने भोजन बनाना स्वीकार कर लिया। शचीदेवीने घरके दूसरी ओर लीप-पोतकर ब्राह्मणकी रसोईकी सभी सामग्री जुटा दी। पैर धोकर ब्राह्मणदेव रसोईमें गये। दाल बनायी, चावल बनाये, शाक बनाया और आलू भूनकर उनका भुरता भी बना लिया। शचीदेवीने पापड़ दे दिये, उन्हें भूनकर ब्राह्मणने एक ओर रख दिया। सब सामग्री सिद्ध होनेपर ब्राह्मणने एक बड़ी थालीमें चावल निकाले, दाल भी हॉडीमेंसे निकालकर थालीमें रखी। केलेके पत्तेपर शाक और भुरता रखा। भुने पापड़को भातके ऊपर रखा। आसन-पर सुस्थिर होकर बैठ गये, सभी पदार्थोंमें तुलसीपत्र डाले। आचमन करके वे भगवान्का ध्यान करने लगे। आँखें बंद करके वे सभी पदार्थोंको विष्णु भगवान्के अर्पण करने लगे। इतनेमें ही घुटुओंसे चलते हुए निमाई वहाँ आ पहुँचे और जल्दी-जल्दी थालीमेंसे चावल लेकर खाने लगे। ब्राह्मण जब आँख खोलकर देखा तो सामने बालकको खाते पाया। ब्राह्मण एकदम चौंक उठा और जोरसे कहने लगा—'अरे, यह क्या हो गया!' इतना सुनते ही निमाई भयभीतकी भाँति वहाँसे भागने लगे। हाय-हाय करके मिश्रजी दौड़े। कोलाहल सुनकर शचीदेवी भी वहाँ आ गयीं। मिश्रजी

बालक निमाईको मारनेके लिये दौड़े । निमाई जल्दीसे जाकर माताके पैरोंमें लिपट गये । इतनेमें ही ब्राह्मण दौड़े आये । उन्होंने आकर मिश्रजीको पकड़ लिया और बड़े प्रेमसे कहने लगे—'आप तो पण्डित हैं, सब जानते हैं । भला बच्चेको चौके-चूल्हेका क्या ज्ञान ? इसके ऊपर आप गुस्सा न करें । भोजनकी क्या बात है ? थोड़ा चना-चर्वण खाकर जल पी लूँगा ।'

सभीको बड़ा दुःख हुआ । आस-पासके दो-चार और भी ब्राह्मण वहाँ आ गये । सभीने मिलकर ब्राह्मणसे फिर भोजन बनानेकी प्रार्थना की । सभीकी बातको ब्राह्मण टाल न सके और वे दूसरी बार भोजन बनानेको राजी हो गये । शचीदेवीने जल्दीसे फिर चौका लगाया, ब्राह्मण देवता स्नान करके रसोई बनाने लगे । अबके बनाते-बनाते चार-पाँच बज गये । शचीदेवीने निमाईको पलभरके लिये भी इधर-उधर नहीं जाने दिया । संयोगकी बात, माता किसी कामसे थोड़ी देरके लिये भीतर चली गयीं । उसी समय ब्राह्मणने रसोई तैयार करके भगवान्‌के अर्पण की । वे आँख बंद करके ध्यान कर ही रहे थे कि उन्हें फिर खटपट-सी मालूम हुई । आँख खोलकर देखते हैं, तो निमाई फिर दोनों हाथोंसे चावल उठा उठाकर खा रहे हैं और दालको अपने शरीरसे मल रहे हैं । इतनेमें ही माता भीतरसे आ गयीं । निमाईको वहाँ न देखकर वह दौड़कर ब्राह्मणकी ओर गयीं । वहाँ दालसे सने हुए निमाईको दोनों हाथोंसे भात खाते हुए देखकर वे हाय-हाय करने लगीं । मिश्रजी भी पास ही थे । अबके वे अपने गुस्सेको न रोक सके । बालकको जाकर पकड़ लिया । वे उसको तमाचा मारनेको ही थे कि ब्राह्मणने जाकर उनका हाथ पकड़ लिया और विनती करके कहने लगे 'आपको मेरी शपथ है जो बच्चेपर हाथ उठावें । भला, अबोध बालकको क्या पता ? रहने दीजिये, आज भाग्यमें भोजन बदा ही नहीं है ।'

निमाई डरे हुए माताकी गोदीमें चुपचाप चिपटे हुए थे, बीच-बीचमें पिताकी ओर छिपकर देख भी लेते कि उनका गुस्सा अभी शान्त हुआ या

नहीं। माताको उनकी डरी हुई भोलीभाली सूरतपर बड़ी दया आ रही थी। इसलिये वे कुछ भी न कहकर चुपचाप उन्हें गोदमें लिये खड़ी थीं।

ब्राह्मणके आनेके पूर्व ही विश्वरूप भोजन करके पाठशालामें पढ़नेके लिये चले गये थे। उसी समय वे भी लौट आये। आकर उन्होंने अतिथि ब्राह्मणके चरणोंको स्पर्श करके प्रणाम किया और चुपचाप एक ओर खड़े हो गये। उनके सौन्दर्य, तेज और ओजको देखकर ब्राह्मणने मिश्रजीसे पूछा—'यह देवकुमारके समान तेजस्वी बालक किसका है?' कुछ लजाते हुए मिश्रजीने कहा—'यह आपका ही है।' ब्राह्मण एकटक विश्वरूपकी ओर देखने लगा। विश्वरूपके विश्वविमोहन रूपके देखनेसे ब्राह्मणकी तृप्ति ही नहीं होती थी। धीरे-धीरे विश्वरूपको सभी बातोंका पता चल गया। उन्होंने ब्राह्मण देवताके सामने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! अबकी बार आप मेरे आग्रहसे भोजन और बना लें। अबके मैं अपने ऊपर जिम्मेवारी लेता हूँ। अबकी बार आपको भोजन पानेतकमें किसी भी प्रकारका विघ्न न होगा।'

ब्राह्मणने बड़े ही प्रेमसे विश्वरूपको पुचकारते हुए कहा—'भैया! तुम मेरी तनिक भी चिन्ता न करो। मेरी कुछ एक ही दिनकी बात थोड़े ही है। मैं तो सदा ऐसे ही घूमता रहता हूँ। मुझे रोज-रोज भोजन बनानेका अवसर कहाँ मिलता है? कभी-कभी तो महीनों वनके कन्द मूल-फलोंपर ही रहना पड़ता है। बहुत दिन चना-चर्वणपर ही गुजर होती है, कभी-कभी उपवास भी करना पड़ता है। इसलिये मुझे तो इसका अभ्यास है। तुम्हारे यहाँ कुछ मीठा या चना-चर्वण हो तो मुझे दे दो उसे ही पाकर जल पी लूँगा। अब कल देखी जायगी।'

विश्वरूपने बड़ी नम्रतासे दीनता प्रकट करते हुए कहा—'महाराज! यह तो हम आपके स्वभावसे ही जानते हैं कि आपको स्वयं किसी बातकी

इच्छा नहीं। किन्तु आपके भोजन करनेसे ही हम सबको सन्तोष होगा। मेरे पूज्य पिताजी तथा माताजी बहुत ही दुखी हैं। इनका साहस ही नहीं हो रहा है कि आपसे पुनः प्रार्थना करें। इन सबको तभी सन्तोष हो सकेगा जब आप स्वयं बनाकर फिर भोजन करें। अपने लिये नहीं किन्तु हमारी प्रसन्नताके निमित्त आप भोजन बनावें।'

विश्वरूपकी वाणीमें प्रेम था, उनके आग्रहमें आकर्षण था और उनकी विनयमें मोहकता थी। ब्राह्मण फिर कुछ भी न कह सके उन्होंने पुनः भोजन बनाना आरम्भ कर दिया।

अबके निमाईको रस्सीसे बाँधकर माता तथा विश्वरूपने अपने पास ही सुला लिया। ब्राह्मणको भोजन बनानेमें बहुत रात्रि हो गयी। दैवकी गति उसी समय सबको निद्रा आ गयी। ब्राह्मणने भोजन बनाकर ज्यों ही भगवान्के अर्पण किया त्यों ही साक्षात् चतुर्भुज भगवान् उनके सामने आ उपस्थित हुए। देखते-ही-देखते उनके चारकी जगह आठ भुजाएँ दृष्टिगोचर होने लगीं। चार भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म विराजमान थे। एकमें माखन रखा था। दूसरेसे खा रहे थे। शेष दो हाथोंसे मुरली बजा रहे थे। भगवान्ने हँसते हुए कहा—'तुम मुझे बुलाते थे, मैं बालकरूपमें तुम्हारे पास आता था, तुमने मुझे पहिचाना नहीं। मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे अपना अभीष्ट वर माँगो।'

गद्गद कण्ठसे हाथ जोड़े हुए ब्राह्मणने धीरे-धीरे कहा—'हे पुरुषोत्तम! आपकी माया अनन्त है, भला मैं क्षुद्र प्राणी उसे कैसे समझ सकता हूँ! हे निरञ्जन! मुझ अज्ञानीके ऊपर आपने इतनी कृपा की, मैं तो अपनेको इसके सर्वथा अयोग्य समझता हूँ। भगवन्! मैंने न कोई तप किया, न कभी ध्यान किया; जप, दान, धर्म, पूजा, पाठ मैंने आपकी प्रसन्नताके निमित्त कुछ भी तो नहीं किया। फिर भी मुझ दीन-हीन कंगालपर

आपने इतनी कृपा की, इसे मैं आपकी स्वाभाविक करुणा ही समझता हूँ। मेरा कोई ऐसा साधन तो नहीं था, जिससे आपके दर्शन हो सकें। हे नाथ! यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं तो यही वरदान दीजिये कि आपकी मञ्जुल मूर्ति मेरे मन-मन्दिरमें सदा बनी रहे।'

'एवमस्तु' कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मणने बड़े ही आनन्द और उल्लासके साथ भोजन किया। इतनेमें ही माता आदिकी आँखें खुलीं। निमाईको पास ही सोता देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई। जब देखा कि ब्राह्मण भी बड़े प्रेमसे प्रसाद पाकर निवृत्त हो गये हैं तब तो उन्हें परम सन्तोष हुआ। प्रातःकाल ब्राह्मण देवता निमाईको मन-ही-मन प्रणाम करके चले गये और जबतक वे रहे नित्यप्रति किसी-न-किसी समय आकर निमाईके दर्शन कर जाते थे। ऐसे बड़भागी भक्तोंके दर्शन सद्गृहस्थियोंको ही कभी-कभी होते हैं।

निमाई अब थोड़ा-थोड़ा बोलने भी लगे थे। स्त्रियाँ खिलाते-खिलाते कहतीं—'निमाई! तू ब्राह्मणका बालक होकर भिखारी ब्राह्मणके हाथके चावल खा लेता है, अब तेरी जाति कहाँ रही! तेरा विवाह भी न होगा। बहू भी न आवेगी। बेटा! ऐसे किसीके हाथके चावल नहीं खाये जाते। देख, ब्राह्मणके बालक खूब पवित्रतासे रहते हैं। तू अच्छी तरहसे रहेगा, उपद्रव न करेगा तो तेरी बहुआ-सी बहू आवेगी; रुन-झुन करती हुई घरमें घूमेगी। अब तो ऐसी बदमासी न करेगा?'

निमाई धीरे-धीरे कहने लगते—'हमें ब्राह्मणपनेसे क्या? हम तो ग्वाल-बाल हैं। ग्वालोंकी ही तरह जहाँ मिल जाता है खा लेते हैं। लाओ तुम्हारे घरका खा लें।' यह सुनकर सभी हँसने लगतीं और निमाईको सन्देश (मिठाई) आदि चीजें खानेको देतीं।

चाञ्चल्य

किं मिष्टं सुतवचनं मिष्टतरं किं तदेव सुतवचनम्।
मिष्टान्मिष्टतमं किं श्रुतिपरिपक्वं तदेव सुतवचनम् ॥*

(सु० र० भां० ९३।९)

इतनी चञ्चलता करनेपर भी मिश्र-दम्पतीका प्रेम निमाईके प्रति अधिकाधिक बढ़ता ही जाता था। यही नहीं, किन्तु निमाईकी चञ्चलतामें माता-पिताको एक अपूर्व आनन्द आता था। मिश्रजी तो मनुष्य-स्वभावके कारण कभी-कभी बहुत चञ्चलतासे ऊबकर नाराज भी हो जाते, किन्तु माताका हृदय तो सदा बच्चेकी बातें सुननेके लिये छटपटाता ही रहता सच है, बच्चेकी बोलीमें मोहिनी विद्या है। संसारमें बच्चेकी तोतली बोलीसे बढ़कर बहुमूल्य वस्तु मिल ही नहीं सकती। देखा गया है, प्राय: माताका सबसे छोटी सन्तानपर बहुत अधिक ममत्व होता है। निमाई मिश्रजीकी

---

* मीठी वस्तु क्या है? पुत्रकी मीठी वाणी। सबसे मीठी वस्तु क्या है? वही पुत्रकी मधुर वाणी। अत्यन्त मीठीसे भी मीठी वस्तु क्या है? वेदशास्त्रोंद्वारा यही सुना गया है, कि कानोंमें खूब अच्छी तरहसे गूँजती हुई पुत्रकी वाणी ही सबसे मीठी है। अर्थात् पुत्रकी वाणीसे मीठी वस्तु कोई भी नहीं।

वृद्धावस्थामें उत्पन्न हुए थे इसीलिये उनका भी इनके प्रति आवश्यकतासे अधिक स्नेह था। इतनी चञ्चलता करनेपर भी मिश्रजी उन्हें बहुत अधिक डाँटते-फटकारते नहीं थे। इसलिये ये मिश्रजीके सामने भी चञ्चलता करनेमें नहीं चूकते थे। सबसे अधिक तो ये माताके सामने उपद्रव करते। माताके सामने इन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था। पिताके सामने थोड़ा संकोच करते और भाई विश्वरूपके सामने तो ये कभी भी उपद्रव नहीं करते थे, उनसे तो ये बहुत ही अधिक संकोच करते थे। विश्वरूप भी इनसे अत्यधिक स्नेह करते, किन्तु वह स्नेह अव्यक्त होता था। प्रायः वे अपने प्रेमको लोगोंके सामने प्रकट नहीं करते थे। निमाई भी उनका मन-ही-मन बहुत आदर करते थे। उनके आते ही भोले-भाले बालककी तरह चुपचाप बैठ जाते या बाहर उठ जाते।

अब ये पिताजीके साथ गंगा-स्नान करनेको भी जाने लगे। विश्वरूप सबकी धोती, तैल और भीगे आँवले लेकर आगे-आगे चलते और मिश्रजी उनके पीछे होते। निमाई कभी तो पिताजीकी उँगली पकड़कर चलते और कभी भाईका वस्त्र पकड़े हुए चलते। रास्तेमें चलते हुए इधर-उधर देखते जाते। पिताजीसे भाँति-भाँतिके ऊटपटाँग प्रश्न भी करते जाते। मिश्रजी किसीका तो उत्तर दे देते और किसीको वैसे ही टाल देते। कभी-कभी आप दोनोंसे अलग होकर चलते। इसपर विश्वरूप इन्हें बुलाकर झटसे गोदमें ले लेते। गंगा स्नान करके मिश्रजी तथा विश्वरूप सन्ध्या-वन्दन करते, ये भी बैठकर उनकी नकल करते। जैसे वे लोग जल छिड़कते, ये भी जल छिड़कते, जब वे आचमन करते, ये भी आचमन करते तथा सूर्यको अर्घ देनेपर ये भी खड़े होकर सूर्यको अर्घ देते। कभी-कभी तैल लगाकर स्नान करनेके अनन्तर फिर आप बालूमें लोट जाते। पिता फिरसे इन्हें स्नान कराते। घर आकर ये सब बातें अपनी मातासे कहते। स्त्रियाँ पूछतीं—'बेटा! अच्छा तुमने सन्ध्या कैसे की?' तब आप पद्मासन लगाकर बैठ जाते

और आँखें बंदकर धीरे-धीरे ओष्ठ हिलाने लगते। कभी-कभी नाक बंद करके प्राणायामका अभिनय करते। जब ये अपने छोटे-छोटे हाथोंको ऊपर उठाकर, सूर्यकी ओर टकटकी लगाकर उपस्थानका ढंग दिखाते तब स्त्रियाँ हँसते-हँसते लोट-पोट हो जातीं। इसी प्रकार ये जिस कामको देखते उसीकी नकल करते। इनके चाञ्चल्यसे कभी-कभी बड़ी हँसी होती।

एक दिन मिश्रजीके साथ ये गंगा-स्नान करने गये। स्नान करनेके अनन्तर मिश्रजी प्रायः पासके भगवान्के मन्दिरमें दर्शन करने जाया करते थे। ये भी शामके समय कभी-कभी बालकोंके साथ उसमें आरती देखने और प्रसाद लेने चले जाते थे। आज दोपहरको भी ये मिश्रजीके साथ मन्दिरमें चले गये। मिश्रजीने जिस प्रकार साष्टाङ्ग प्रणाम किया उसी प्रकार इन्होंने भी किया। उन्होंने प्रदक्षिणा की तब ये भी प्रदक्षिणा करने लगे। पिताजीको हाथ बाँधे देखकर इन्होंने भी हाथ जोड़ लिये और इधर-उधर देखते-भालते हाथ जोड़े जगमोहनमें बैठ गये। पुजारीजीने मिश्रजीको चम्मचमें थोड़ा केसर-कर्पूर-मिश्रित प्रसादी चन्दन दिया। इनका ध्यान तो उस तरफ था ही नहीं, ये तो न जाने किस चीजको देख रहे थे। पुजारीजीने थोड़ा-सा चन्दन इन्हें भी दिया। इन्होंने पञ्चामृतकी तरह दोनों हाथ फैलाकर चन्दनको ग्रहण किया और चटसे उसे खा गये। पुजारीजी तथा मिश्रजी यह देखकर हँसने लगे। कड़ुवा लगनेसे ये वहीं थू-थू करने लगे और गुस्सा दिखाते हुए बोले—'यह कड़ुवा-कड़ुवा प्रसाद पुजारीजीने न जाने आज कहाँसे दे दिया?'

मिश्रजीने हँसते हुए कहा—'बेटा, यह प्रसादी चन्दन है! इसे खाते नहीं हैं मस्तकपर लगाते हैं।'

आपने मुँह बनाकर कहा—'तब आपने मुझे पहिलेसे यह बात क्यों नहीं बतायी थी?'

पुजारीजीने जल्दीसे इन्हें एक पेड़ा दिया उसे पाकर ये खुश हो गये। घर आकर माताजीसे इन्होंने सभी बातें कह दीं।

अब तो ये अकेले भी गंगाजीपर चले जाते और वहाँ घंटों खेला करते। दो-दो, तीन-तीन बार स्नान करते। बालूके लड्डू बना-बनाकर अपने साथके लड़कोंको मारते, गंगाजीमेंसे पत्र-पुष्प निकाल-निकालकर उनसे बालूमें बाग बनाते और नाना प्रकारकी बाल-लीलाएँ करते। मिश्रजी इन्हें बहुत समझाते कि बेटा! कुछ पढ़ना भी चाहिये, किन्तु ये उनकी बातोंपर ध्यान ही न देते और दिनभर बालकोंके साथ खेला ही करते। एक दिन मिश्रजीको इनपर बड़ा गुस्सा आया, वे इन्हें पीटनेके लिये गंगा-किनारे गये। शचीदेवी भी मिश्रजीको क्रोधमें जाते देखकर गंगाकिनारेके लिये उनके पीछे-पीछे चल दीं। वहाँपर ये बच्चोंके साथ खूब उपद्रव कर रहे थे। मिश्रजी तो गुस्सेमें भरे ही हुए थे, इन्हें उपद्रव करते देखकर वे आपेसे बाहर हो गये और इन्हें पकड़नेके लिये दौड़े। ये भी बड़े चालाक थे, पिताको गुस्सेमें अपनी ओर आते देखकर वे खूब जोरसे घरकी तरफ भागे। रास्तेमें माता मिल गयीं। झटसे ये उनसे जाकर लिपट गये। माताने इन्हें गोदमें उठा लिया, ये उनके अञ्चलमें मुँह छिपाकर लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगे। माता कहती थीं—'तू बहुत उपद्रव करता है, किसीकी बात मानता ही नहीं, आज तेरे पिता तुझे खूब पीटेंगे।' इतनेमें ही मिश्रजी भी आ गये, वे बाँह पकड़कर इन्हें शचीदेवीकी गोदमेंसे खींचने लगे। माता चुपचाप खड़ी थीं। इसी बीच और भी १०-५ आदमी इधर-उधरसे आ गये। सभी मिश्रजीको समझाने लगे—'अभी बच्चा है, समझता नहीं। धीरे-धीरे पढ़ने लगेगा। आपको पण्डित होकर बच्चेपर इतना गुस्सा न करना चाहिये।' सब लोगोंके समझानेपर मिश्रजीका गुस्सा शान्त हुआ। पीछे उन्हें अपने इस कृत्यपर पश्चात्ताप भी हुआ।

कहते हैं, एक दिन रात्रिके समय स्वप्नमें किसी महापुरुषने इनसे कहा—'पण्डितजी! आप अपने पुत्रको साधारण पुरुष ही न समझें। ये अलौकिक महापुरुष हैं। इनकी इस प्रकार भर्त्सना करना ठीक नहीं।'

स्वप्नमें ही मिश्रजीने उत्तर दिया—'ये चाहे महापुरुष हों या साधारण पुरुष, जब ये हमारे यहाँ पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं, तो हमें इनकी भर्त्सना करनी ही पड़ेगी। पिताका धर्म है कि पुत्रको शिक्षा दे। इसीलिये शिक्षा देनेके निमित्त हम ऐसा करते हैं।'

दिव्य पुरुषने फिर कहा—जब ये स्वयं सब कुछ सीखे हुए हैं और इन्हें अब किसी भी शास्त्रके सीखनेकी आवश्यकता नहीं तब आप इन्हें व्यर्थ क्यों तंग करते हैं?'

इसपर इन्होंने कहा—'पिताका तो यही धर्म है, कि वह पुत्रको सदा शिक्षा ही देता रहे। फिर चाहे पुत्र कितना भी गुणी तथा शास्त्रज्ञ क्यों न हो। मैं अपने धर्मका पालन अवश्य करूँगा और आवश्यकता होनेपर इनको दण्ड भी दूँगा।' महापुरुष इनसे प्रसन्न होकर अन्तर्धान हो गये। प्रातःकाल ये इस बातपर सोचते रहे। कालान्तरमें ये इस बातको भूल गये।

इनकी अवस्था ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी त्यों-ही-त्यों इनकी कान्ति और भी दिव्य प्रतीत होने लगी। ये शरीरसे खूब हृष्ट-पुष्ट थे। शरीरके सभी अंग सुगठित और मनोहर थे। शरीरमें इतना बल था, कि ४-४, ५-५ लड़के मिलकर भी इनको पराजित नहीं कर सकते थे। इनके चेहरेसे चञ्चलता सदा छिटकती रहती। जो भी इन्हें देखता खुश हो जाता और साथ ही सचेष्ट भी हो जाता कि कहीं हमसे भी कोई चञ्चलता न कर बैठें। रास्तेमें ये सदा कूदकर चलते। सीढ़ियोंसे गङ्गाजीमें उतरना हो तो सदा एक-दो सीढ़ी छोड़कर ही कूदते-कूदते उतरें। रास्तेमें दो-चार लड़कोंको खेलते

देखकर ये किसी दूसरेको उनके ऊपर ढकेल देते और फिर बड़े जोरोंसे हँस पड़ते।

गङ्गा-किनारेपर छोटी-छोटी कन्याएँ पूजाकी सामग्री लेकर देवी तथा गङ्गाजीकी पूजा करने जातीं। आप उनके पास पहुँच जाते और कहते—'सब नैवेद्य हमें चढ़ाओ, हम तुम्हें मनोवाञ्छित वर देंगे।' छोटी-छोटी कन्याएँ इनके अपूर्व रूपलावण्यको देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो जातीं और इन्हें बहुत-सी मिठाई खानेको देतीं। ये उन्हें वरदान देते। किसीसे कहते—'तुम्हें खूब रूपवान् सुन्दर पति मिलेगा।' किसीसे कहते 'तुम्हारा विवाह बड़े भारी धनिकके यहाँ होगा।' किसीसे कहते 'तुम्हारे पाँच बच्चे होंगे।' किसीको सात, किसीको ग्यारह बच्चोंका वरदान देते। कन्याएँ सुनकर झूठा रोप दिखाते हुए कहतीं—'निमाई! तू हमसे ऐसी बातें किया करेगा तो फिर हम तुझे मिठाई न देंगी।' बहुत-सी कन्याएँ अपना नैवेद्य छिपाकर भाग जातीं तब ये उनसे हँसते-हँसते कहते—'भले ही भाग जाओ मुझे क्या, तुम्हें काना पति मिलेगा। धनिक भी होगा तो महा कंजूस होगा। ५-५ सौत घरमें होंगी, लड़की-ही-लड़की पैदा होंगी।' यह सुनकर सभी लड़कियाँ हँसने लगतीं और इन्हें लौटकर मिठाई दे जातीं। किसीसे कहते हमारी पूजा करो, हम ही सबके प्रत्यक्ष देवता हैं। कभी-कभी मालाएँ उठा-उठाकर गलेमें डाल लेते। स्त्रियोंके पास चले जाते और उन्हें पूजन करते देख कहते—'हरिको भजे तो लड़का होय। जाति पाँति पूछै ना कोय।' यह सुनकर स्त्रियाँ हँसने लगतीं। जो इनकी गाँवनातेसे भाभी या चाची होतीं वे इन्हें खूब तंग करतीं और खानेको मिठाई देतीं।

इन्हीं लड़कियोंमें लक्ष्मीदेवी भी पूजा करने आया करती थी। वह बड़ी ही भोली-भाली लड़की थी। निमाईके प्रति उसका स्वाभाविक ही स्नेह था। पूर्व-जन्मोंके संस्कारके कारण वह निमाईको देखते ही लज्जित

हो जाती और उसके हृदयमें एक अपार आनन्द-स्रोत उमड़ने लगता। ये सब लड़कियोंके साथ उसे भी देखते, किन्तु इससे कुछ भी नहीं कहते थे, न कभी इससे मिठाई ही माँगी। इसलिये लक्ष्मीदेवीकी हार्दिक इच्छा थी कि कभी ये मेरा भी नैवेद्य स्वीकार करें। किन्तु विना माँगे देनेमें न जाने क्यों उसे लज्जा लगती थी!

एक दिन लक्ष्मीदेवीको पूजाके लिये जाती देखकर आपने उससे कहा—'तू हमारी ही पूजा कर।' यह सुनकर भोली-भाली कन्या बड़ी ही श्रद्धाके साथ इनकी पूजा करने लगी। छोटी-छोटी, पतली-पतली उँगलियोंसे काँपते हुए उसने निमाँईके मस्तकपर चन्दन चढ़ाया, अक्षत लगाये, माला पहिनायी, नैवेद्य समर्पण किया और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। निमाईने आशीर्वाद दिया—'तुम्हें देवतुल्य रूपवान् तथा गुणवान् पति प्राप्त हो।' यह सुनकर बेचारी कन्या लज्जाके मारे जमीनमें गड़-सी गयी और जल्दी वहाँसे भाग आयी। कालान्तरमें इन्हीं लक्ष्मीदेवीको निमाईकी प्रथम धर्मपत्नी होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

ये अपने साथके सभी लड़कोंमें सरदार समझे जाते थे। चञ्चलता तो मानो इनकी नस-नसमें भरी हुई थी। नटखटपनेमें इनसे बढ़कर दूसरा बालक नहीं था। सभी लड़के इनसे अत्यधिक स्नेह करते, मानो ये बालसेनाके सर्वप्रधान सेनापति थे। लड़के इनका इशारा पाते ही कर्तव्य-अकर्तव्य सभी प्रकारके काम कर डालते। बालकपनसे ही इनमें यह मोहिनी विद्या थी, कि जो एकबार इनके साथ रह गया, वह सदाके लिये इनका गुलाम बन जाता था। इसलिये ये अपने सभी साथियोंको लेकर गङ्गा-किनारे भाँति-भाँतिकी बालक्रीड़ाएँ करते। इन्हें स्त्री-पुरुषोंको तंग करनेमें बड़ा मजा आता था। कभी-कभी ये बहुत-से बालूके छोटे-छोटे लड्डू बनवाते। सभीकी झोलियोंमें दस-दस बीस-बीस लड्डू भर देते और

एक ओर खड़े हो जाते। गङ्गा-स्नान करके जो भी निकलता सभी एक साथ तड़ातड़ बालूके लड्डू उनके ऊपर फेंकते और जल्दीसे फेंककर भाग जाते। कभी-कभी किसीकी सूखी धोती लेकर गङ्गाजीमें डुबो देते। कभी ऐसा करते कि जहाँ दस-पाँच आदमी बैठे हुए बातें करते होते तो ये उनके पास जा बैठते और धीरेसे एकके वस्त्रसे दूसरेके वस्त्रको बाँध देते। जब वे स्नान करनेको उठते तो एक दूसरेको अपनी ओर खींचता। कभी-कभी वस्त्र भी फट जाता। ये अपने साथियोंके साथ अलग खड़े हुए ताली बजा-बजाकर खूब जोरोंसे हँसते; सभी लोग हँसने लगते। बेचारे वे लज्जित हो जाते।

कभी लड़कोंके साथ घंटों स्नान करते रहते। एक दूसरेके ऊपर घंटों पानी उलीचते रहते। किसीको कच्छप बनाकर आप उसके ऊपर चढ़ जाते। कभी धोतीमें हवा भरकर उसके साथ गङ्गाजीके प्रवाहकी ओर बहते और कभी उस धोतीके फूले हुए गुब्बारेमेंसे हवाके बुलबुले निकालते। स्त्रियोंके घाटोंपर चले जाते, वहाँ पानीमें डुबकी लगाकर कछुएका रूप बना लेते और स्नान करनेवाली स्त्रियोंके पैर डुबकी मारकर पकड़ लेते। स्त्रियाँ चीत्कार मारकर बाहर निकलतीं तब ये हँसते-हँसते जलके ऊपर आते और सबसे कहते—'देखो हम कैसे कछुए बने।' स्त्रियाँ मधुर-मधुर भर्त्सना करतीं और कहतीं—'तू आज घर चल, मैं तेरी माजीसे सब शिकायत करूँगी। मिश्रजी तुझे मारते-मारते ठीक कर देंगे।' कोई कहती 'इतना दंगली लड़का तो हमने कोई नहीं देखा। यह तो हद कर देता है। हमारे लड़के भी तो इसने बिगाड़ दिये। वे हमारी बातें मानते ही नहीं।' कोई कहती 'न जाने बीर! इस छोकरेमें क्या जादू है, इतना उपद्रव करता है, फिर भी यह मुझे बहुत प्यारा लगता है।' इस बातका सभी समर्थन करतीं।

स्त्रियोंकी ही भाँति पुरुष भी इनके भाँति-भाँतिके उपद्रवोंसे तंग आ गये। बहुतोंने जाकर इनके पितासे शिकायत की। स्त्रियाँ भी शचीमाताके पास जा-जाकर मीठा उलाहना देने लगीं। शचीदेवी सभीकी खुशामद करतीं और विनयके साथ कहतीं 'अब मैं क्या करूँ, तुम्हारा भी तो वह लड़का है। बहुत मना करती हूँ, शैतानी नहीं छोड़ता, तुम उसे खूब पीटा करो।' स्त्रियाँ सुनकर हँस पड़तीं और मन-ही-मन खुश होकर लौट जातीं।

एक दिन कई पण्डितोंने जाकर निमाईकी मिश्रजीसे शिकायत की और कहा 'अभी जाकर देख आओ तब तुम्हें पता चलेगा कि वह कितना उपद्रव करता है।' यह सुनकर मिश्रजी गुस्सेमें भरकर गङ्गा-किनारे चले। किसीने यह संवाद जाकर निमाईसे कह दिया। निमाई जल्दीसे दूसरे रास्ते होकर घर पहुँचे और अपने शरीरपर खड़ी आदि लगाकर मातासे बोले 'अम्बा! मुझे तैल दे दे मैं गङ्गा-स्नान कर आऊँ।' माताने कहा—'अभीतक तैंने स्नान नहीं किया क्या?'

आपने कहा 'अभी स्नान कहाँ किया! तू जल्दीसे मुझे तैल और धोती दे दे।' यह कहकर आप तैल हाथमें लेकर और धोती बगलमें दबाकर गङ्गाजीकी ओर चले। उधर मिश्रजीने गङ्गाजीके किनारे जाकर बच्चोंसे पूछा 'यहाँ निमाई आया था क्या?' बच्चे तो पहिलेसे ही सिखाये-पढ़ाये हुए थे। उन्होंने कहा 'आज तो निमाई इधर आया ही नहीं।' यह सुनकर मिश्रजी घरकी ओर लौटने लगे। घरसे निकलते हुए बगलमें धोती दबाये निमाई मिले। मिश्रजीने कहा—'तू इतना दंगल क्यों किया करता है?'

आपने जोरसे कहा 'न जाने क्यों लोग हमारे पीछे पड़ गये हैं? यही बात अम्मा कहती थीं, कि स्त्रियाँ तेरी बहुत शिकायत करती थीं।

मैं तो अभी पढ़कर आ रहा हूँ। अबतक गङ्गाजीकी ओर गया ही नहीं। यदि ये हमारी झूठी शिकायतें आ-आकर करते हैं तो अब हम सत्य ही किया करेंगे।'

मिश्रजी चुप हो गये और ये हँसते-हँसते गङ्गाजीकी ओर स्नान करने चले गये। लड़कोंमें जाकर अपनी चालाकीका सभी वृत्तान्त सुनाया। लड़के सुनकर खूब जोरसे हँसने लगे।

इस प्रकार इनकी अवस्था ५ वर्षकी हो गयी। माता-पिताको इनकी इस चाञ्चल्य वृत्तिसे बहुत ही आनन्द प्राप्त होता। विश्वरूप इनसे ११-१२ वर्ष बड़े थे किन्तु वे जन्मसे ही बहुत अधिक गम्भीर थे, इसलिये पिता भी उनका बहुत आदर करते थे। अब तो उनकी अवस्था १६ वर्षकी हो चली थी, इसलिये 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्' अर्थात् पुत्र जब १६ वर्षका हो जाय तो उससे मित्रकी भाँति व्यवहार करना चाहिये, इस सिद्धान्तानुसार मिश्रजी उनके प्रति पण्डितका-सा व्यवहार करते।

एक दिन माताने भोजन बनाकर तैयार कर लिया, किन्तु विश्वरूप अभीतक पाठशालासे नहीं आये। वे श्रीअद्वैताचार्यकी पाठशालामें पढ़ते थे। आचार्यकी पाठशाला मिश्रजीके घरसे थोड़ी दूर गङ्गाजीकी ओर थी। माताने निमाईसे कहा 'बेटा निमाई! देख तेरा दादा अभीतक भोजन करने नहीं आया। जाकर उसे पाठशालामेंसे बुला तो ला।' बस, इतना सुनना था, कि ये नंगेबदन ही वहाँसे पाठशालाकी ओर चल पड़े।

शरीरकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णकी भाँति सूर्यके प्रकाशके साथ मिलकर झलमल-झलमल कर रही थी। गौरवर्ण-शरीरपर स्वच्छ साफ धोती बड़ी ही भली मालूम पड़ती थी। निमाई आधी धोती ओढ़े हुए थे। उनके बड़े-बड़े विकसित कमलके समान सुन्दर और स्वच्छ नेत्र मुखचन्द्र-की शोभाको द्विगुणित कर रहे थे। आचार्यके सामने हँसते-हँसते इन्होंने भाईसे कहा 'दादा! चलो भात तैयार है, अम्मा तुम्हें बुला रही हैं।'

विश्वरूपने निमाईको गोदमें चिठा लिया और स्नेहसे बोले—'निमाई! आचार्यदेवको प्रणाम करो' यह सुनकर निमाई कुछ लजाते हुए मुसकराने लगे। वे लज्जाके कारण भाई विश्वरूपकी गोदमें छिपे-से जाते थे। आचार्यसे आज्ञा लेकर विश्वरूप घर चलनेको तैयार हुए। निमाई विश्वरूपका वस्त्र पकड़े उनके पीछे खड़े हुए थे। आचार्यने निमाईको खूब ध्यानसे देखा। आज पहिले-ही-पहिले उन्होंने निमाईको भलीभाँति देखा था। देखते ही उनके सम्पूर्ण शरीरमें बिजली-सी दौड़ने लगी। उन्हें प्रतीत होने लगा कि मैं इतने दिनसे जिन भवभयहारी जनार्दनकी उपासना कर रहा हूँ, वे ही जनार्दन साकार बनकर बालक-रूपमें मुझे अभय प्रदान करने आये हैं। उन्होंने मन-ही-मन निमाईके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और अपने भावको दबाते हुए बोले—'विश्वरूप! यह तुम्हारे भाई हैं न?'

विश्वरूपने नम्रतापूर्वक कहा—'हाँ, आचार्यदेव! यह मेरा छोटा अनुज है। बड़ा चञ्चल है, आपके सामने वह ऐसे चुपचाप भोले बालककी भाँति खड़ा है, आप इसे गङ्गा-किनारे या घरपर देखें तब पता चले कि वह कितना कौतुकी है। संसारको उलट-पलट कर डालता है। माता तो इससे तंग हो जाती हैं।' आचार्य यह सुनकर हँसने लगे। निमाई विश्वरूपकी आड़मेंसे छिपकर आचार्यकी ओर देखने लगे। विश्वरूपका वस्त्र पकड़कर जाते-जाते दो-तीन बार निमाईने फिर-फिर आचार्यकी ओर देखा। आचार्य चेतना-शून्य-से हो गये। वे ठीक-ठीक न समझ सके कि हमारे चित्तको यह बालक हठात् अपनी ओर क्यों आकर्षित कर रहा है। अन्तमें ये ही आचार्य गौराङ्गदेवके मुख्य पार्षद हुए जिनके द्वारा गौराङ्ग अवतारी माने जाने लगे। इसलिये अब यह जान लेना जरूरी है कि ये अद्वैताचार्य कौन थे और इनकी पाठशाला कैसी थी?

विश्वरूपका वस्त्र पकड़कर जाते-जाते दो-तीन बार निमाईने फिर-फिर आचार्यकी ओर देखा। [पृष्ठ १०८]

अद्वैताचार्य और उनकी पाठशाला

गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च घ्नन्ति सन्तो महाशयाः॥*
(सु० र० भां० ४७। ६)

जो आचार्य अद्वैत गौर-धर्मके प्रधान स्तम्भ हैं, गौर-लीलाओंके जो प्रथम प्रवर्तक, प्रबन्धक और संयोजक समझे जाते हैं, जिन्होंने वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध और बुद्धिवृद्ध होनेपर भी बालक गौराङ्गकी पद-रजको अपने मस्तकका सर्वोत्तम लेपन बनाया, जिन्होंने गौराङ्गसे पहिले अवतीर्ण होकर गौर-लीलाके अनुकूल वायुमण्डल बनाया, उत्तम-से-उत्तम रंगमञ्च तैयार किया, उसपर गौराङ्गको प्रधान अभिनय-कर्ता बनाकर भक्तोंके साथ भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करायीं और गौराङ्गके तिरोभावके अनन्तर अपनी सम्पूर्ण लीलाओंका संवरण करके आप भी तिरोहित हो गये। उन अद्वैताचार्यके पूर्वज श्रीहट्ट (सिलहट) जिलेमें लाउड परगनेके अन्तर्गत नवग्राम नामके एक छोटे-से ग्राममें रहते थे। हम पहिले ही बता चुके हैं, कि उस समय भारतमें बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, जिनमें प्रायः स्वतन्त्र ही नरपति शासन करते थे। लाउड भी एक छोटी-सी रियासत थी। उन दिनों उस रियासतके शासनकर्ता महाराज दिव्यसिंहजी थे। महाराज परम धार्मिक तथा गुणग्राही थे। उनकी सभामें पण्डितोंका बहुत सम्मान होता था। आचार्यके पूज्य पिता पण्डित कुबेर तर्कपञ्चानन महाराजकी सभाके राज-पण्डित थे।

---

* श्रीगंगाजी पापोंको क्षय कर देती हैं, चन्द्रमा तापको शमन करनेमें समर्थ हैं और कल्पवृक्ष दैन्यको नष्ट कर सकते हैं, किन्तु महानुभाव संत तो पाप, ताप और दैन्य इन सभीको नष्ट करनेमें समर्थ होते हैं।

तर्कपञ्चानन महाशय न्यायके अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता-की चारों ओर ख्याति थी। विद्वान् होनेके साथ-ही-साथ वे धनवान् भी थे, किन्तु एक ही दुःख था, कि उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसी कारण वे तथा उनकी धर्मपत्नी लाभादेवी सदा चिन्तित बनी रहती थीं। लाभादेवीके गर्भसे बहुत-से बच्चे हुए और वे असमयमें ही इस असार संसारको त्यागकर परलोकगामी हुए। इसी कारण तर्कपञ्चानन महाशय अपने पुराने गाँवको छोड़कर नवद्वीपके इस पार शान्तिपुरमें आकर रहने लगे। यहींपर लाभादेवीके गर्भ रहा और यथासमयपर पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्रका नाम रखा गया कमलाक्ष। ये ही कमलाक्ष आगे चलकर महाप्रभु अद्वैतके नामसे प्रसिद्ध हुए।

बालक कमलाक्ष आरम्भसे ही विनयी, चतुर, मेधावी तथा भगवत्-परायण थे। उन दिनों बंगालमें शाक्त-धर्म और वाम-मार्गका बोलबाला था। धर्मके नामपर लाखों मूक प्राणियोंका वध किया जाता था और उसे बड़े-बड़े भट्टाचार्य और विद्यावागीश परम धर्म मानते और बताते थे। कमलाक्ष इन कृत्योंको देखते और मन-ही-मन दुखी होते, कि भगवान् कब इन लोगोंको सुबुद्धि देंगे, कब इन लोगोंका अज्ञान दूर होगा, जिससे कि धर्मके नामसे ये प्राणियोंकी हिंसा करना बंद कर दें। निर्भीक ये बालकपनसे ही थे, जिस बातको सत्य समझ लेते उसे किसीके भी सामने कहनेमें नहीं चूकते फिर चाहे वह कितना ही बड़ा आदमी क्यों न हो।

एक बारकी बात है कि राज्यकी ओरसे कालीदेवीकी विशेष पूजाके उपलक्ष्यमें एक बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। इस समारोहमें बालक कमलाक्ष भी गये। उन्होंने देखा कालीमाईकी भेंटके लिये सैकड़ों बकरे तथा भैंसोंका बलिदान किया गया है। दूर-दूरसे कालीमाईके कीर्तनके

लिये सुप्रसिद्ध कीर्तनकार बुलाये गये हैं। कमलाक्ष भी काली-मण्डपमें बिना कालीमाईको प्रणाम किये जा बैठे। उनके इस व्यवहारसे महाराज दिव्यसिंहको बड़ा आश्चर्य हुआ। अपनी राजसभाके एक सुप्रतिष्ठित पण्डित्-के पुत्रके इस अधार्मिक व्यवहारसे वे क्षुब्ध-से हो गये और कहने लगे—'कमलाक्ष! तुम देवीको बिना ही प्रणाम किये कैसे बैठ गये?'

इसपर बालक कमलाक्षने कुछ रोषके साथ कड़ककर कहा—'देवी तो जगज्जननी है। सभी प्राणी उसकी सन्तान हैं। जो माता अपने पुत्रोंको खाती है, वह माता नहीं राक्षसी है। पुत्र चाहे कैसा भी कुपुत्र हो किन्तु माता कुमाता कभी नहीं होती 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' एक सच्चिदानन्द भगवान् ही पूजनीय और वन्दनीय हैं। उनको प्रणाम करनेसे ही सबको प्रणाम हो जाता है। आपलोग देवी-देवताओंके नामसे अपनी वासनाओंको पूर्ण करते हैं।'

बालकके मुखसे ऐसी बात सुनकर राजा दिव्यसिंह अवाक् रह गये। कमलाक्षके पिता कुबेर तर्कपञ्चानन भी वहाँ बैठे थे, उन्होंने महा-राजका पक्ष लेकर कहा—'देवी-देवता सभी उस नारायणके ही रूप हैं। इसलिये देवीकी प्रतिमाके सम्मुख प्रणाम न करना महापाप है। तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।'

पिताकी बात सुनकर कमलाक्ष निर्भीक होकर कहने लगे—'एक जनार्दन भगवान्‌हीकी पूजासे सबकी पूजा हो सकती है, जहाँ प्राणियोंकी हिंसा होती हो, वह न तो देवस्थान है और न वह देवपूजा ही है।'

छोटे बालकके मुखसे ऐसी बातें सुनकर सभी दर्शक आश्चर्यचकित हो गये। महाराजने इनकी बुद्धिकी बड़ी प्रशंसा की। इस प्रकार अल्पा-वस्थामें ही इन्होंने अपनी निर्भीकता, दयालुता और वैष्णव-परायणताका परिचय दिया।

धीरे-धीरे इनकी अवस्था १२-१३ वर्षकी हुई। पिताके समीप पढ़नेसे इनकी तृप्ति नहीं हुई। उन दिनों इनके पिता लाउड़में ही रहते थे, ये विद्याध्ययनके निमित्त शान्तिपुर चले गये, समाचार मिलनेपर इनके माता-पिता भी इनके समीप शान्तिपुर ही आ गये। यहाँपर रहकर इन्होंने वेद-वेदाङ्ग तथा नव्य न्यायकी विशेष शिक्षा प्राप्त की। थोड़े ही दिनोंमें ये एक नामी पण्डित गिने जाने लगे। कालान्तरमें इनके माता-पिता परलोकवासी हुए। मरते समय इनके पिता आदेश दे गये थे कि—'हमारा गयाजीमें जाकर श्राद्ध अवश्य करना।' पिताकी अन्तिम आज्ञाको पालन करनेके निमित्त और उनकी परलोकगत आत्माकी शान्तिके निमित्त इन्होंने श्रीगयाधामकी यात्रा की और वहाँपर श्रीगदाधर भगवान्‌के चरण-चिह्नोंका दर्शन करके शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पितृश्राद्ध आदि सभी कृत्य बड़ी श्रद्धाके साथ कराये।

अद्वैताचार्य अब युवा हो गये थे, भक्तिका अंकुर उनके हृदयमें जन्मसे ही था। विद्याने उनके भक्तिभाव तथा प्रेमको और भी अधिक विकसित कर दिया। वे सदा जीवोंके कल्याणकी ही बात सोचा करते थे। संसारसे उन्हें कुछ उपरामता-सी हो गयी। चित्तमें वैराग्य तो पहिलेहीसे था। अब माता-पिताके परलोक-गमनसे ये निश्चिन्त हो गये। इसलिये इन्होंने भारतके प्रायः सभी मुख्य-मुख्य पुण्य-तीर्थोंकी यात्रा की। सेतुबन्ध रामेश्वर, शिवकाञ्ची, मदुरा आदि तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए ये भगवान् मध्वाचार्यके आश्रमपर पहुँचे। वहाँपर श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी महाराज भी उपस्थित थे। इन श्रीमाधवेन्द्रपुरीने ही पहिले-पहिल संन्यासियोंमें भक्तिभाव तथा मधुर उपासनाका प्रचार किया। इनके प्रसिद्ध शिष्योंमें श्रीईश्वरपुरी, श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीब्रह्मानन्दपुरी, श्रीरङ्गपुरी, श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि तथा श्रीरघुपति उपाध्याय विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीईश्वरपुरी इनके

अन्तरङ्ग तथा प्रधान शिष्य थे। इन्हें ही श्रीगौराङ्गके दीक्षागुरु होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

श्रीमाधवेन्द्रपुरी अद्वैताचार्यको देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए। उनकी शीलता, नम्रता, विद्या, भक्ति और देशके उद्धारकी सच्ची लगनको देखकर पुरी महाशय गद्गद हो उठे। उन्होंने अद्वैतको छातीसे लगाया और श्रीकृष्णमन्त्रकी दीक्षा देकर इनमें नवशक्तिका सञ्चार किया। अपने गुरुदेवके सामने भी इन्होंने अपनी मनोव्यथा कही। तब पुरी महाशयने इन्हें आश्वासन देते हुए कहा—'संसारकी रचना उन्होंने ही की है। इस बढ़ते हुए कदाचारको वे ही भक्तभयहारी भगवान् मेट सकेंगे, तुम घबड़ाओ मत। भगवान् शीघ्र ही अपने किसी विशेष रूपसे अवतीर्ण होकर भक्तिका उद्धार करेंगे।' गुरुदेवके आश्वासनसे इन्हें विश्वास हो गया कि भगवान् भक्तोंके भयको भञ्जन करनेके निमित्त अवश्य ही इस धराधामपर अवतीर्ण होंगे। इसलिये ये अपने गुरुदेवकी चरणरज मस्तकपर चढ़ाकर व्रजकी यात्रा करते हुए शान्तिपुर लौट आये।

श्रीअद्वैतकी कुशाग्र बुद्धि और भगवत्-भक्तिका श्रीमाधवेन्द्रपुरीपर प्रभाव पड़ा। जब उन्होंने गौड़देशकी यात्रा की तो वे शान्तिपुर भी पधारे और कुछ काल अद्वैताचार्यके ही घरमें रहे। अद्वैताचार्य नामी पण्डित होनेके साथ ही धनवान् भी थे। शान्तिपुरके वैष्णवोंके वे ही एकमात्र आधार थे। उन दिनों शास्त्रार्थ करना ही पाण्डित्यका प्रधान गुण समझा जाता था। वाद-विवादमें विपक्षीको पराजित करके अपने पाण्डित्यका प्रदर्शन करना ही उन दिनों भारी पण्डित होनेका प्रमाणपत्र था। इसलिये बहुत-से पण्डित अपनेको दिग्विजयी बताते थे और जिसके भी पाण्डित्यकी प्रशंसा सुनते उसीसे शास्त्रार्थ करनेको उद्यत हो जाते थे। आचार्यकी ख्याति सुनकर भी एक दिग्विजयी तर्कपञ्चानन महाशय इनसे शास्त्रार्थ करने आये और अन्तमें इनसे परास्त होकर वे इनके शिष्य बन गये।

इसलिये इनकी ख्याति अब पहिलेसे और भी अधिक हो गयी। इनके पिताके आश्रयदाता महाराज दिव्यसिंहजी भी इनकी प्रशंसा सुनकर इनके दर्शनोंके लिये आये। उन्होंने इनका भक्तिभावपूर्ण पाण्डित्य देखकर अपने सफेद बालोंवाला सिर इनके चरणोंपर रख दिया। और गद्गद कण्ठसे कहा—'आपने अपने सम्पूर्ण कुलका उद्धार कर दिया। कृपा करके मुझे भी अपने चरणोंकी शरण दीजिये।' बूढ़े राजा शाक्त होनेपर भी इनके शिष्य बन गये। वे इनमें बड़ी श्रद्धा रखते थे। अन्तमें उन्होंने राजकाज छोड़कर एकान्तमें अपना निवासस्थान बना लिया और कृष्ण-कीर्तन करते-करते ही शेष आयुका अन्त किया। अद्वैतकी बाल-लीलाओंका वे सदा गुणगान करते रहते थे। उन्होंने संस्कृतमें अद्वैतकी बाल-लीलाओंको लिखा भी था।

श्रीमाधवेन्द्रपुरीने इन्हें गृहस्थी बननेकी आज्ञा दी। गुरुदेवकी आज्ञा शिरोधार्य करके इन्होंने नारायणपुर-निवासी पण्डित नृसिंह भादुड़ीकी सीता और ठकुरानी नामकी दो पुत्रियोंके साथ विवाह किया और उनके साथ सुखपूर्वक समय बिताने लगे।

ये बड़े ही उदार, कोमलहृदय तथा कृष्ण-कथा-प्रिय थे। भेदभाव या संकीर्णताको ये कृष्ण-भक्तिमें बाधक समझते थे। उन्हीं दिनों परम भक्त हरिदास भी इनके पास आये। ये यवन-बालक थे, किन्तु ये बड़े होनहार तथा कृष्ण-भक्त, इसलिये आचार्यने इन्हें अपने पास ही रखकर व्याकरण, गीता, भागवत आदिको पढ़ाया। ये बड़े ही समझदार थे, आचार्यके चरणोंमें इनकी परम श्रद्धा थी, आचार्य भी इन्हें पुत्रकी तरह मानते तथा प्यार करते थे। हरिदास आचार्यके घरमें ही भोजन आदि करते थे। एक नामी पण्डित होकर अद्वैताचार्य मुसलमान-बालकको अपने घरमें रखते हैं, इस बातसे सभी पण्डित तथा ब्राह्मण इनका विरोध करने

लगे, किन्तु इन्होंने उनकी कुछ भी परवा न की । एक दिन किसी ब्राह्मण-के यहाँ श्राद्धके समय सबसे प्रथम आचार्यने श्राद्धान्न हरिदासके ही हाथोंमें दे दिया । इससे कुपित होकर पण्डितोंने इनसे कुछ बुरा-भला कहा । इन्होंने निर्भय होकर कह दिया—'हरिदासको भोजन करानेसे मैं करोड़ों ब्राह्मणोंके भोजनोंका माहात्म्य समझता हूँ ।' इनकी इस बातसे सभी भौंचक्के-से रह गये ।

ये कोरे पण्डित ही न थे, किन्तु क्रियावान् भक्त और विचारवान् भी थे । ये शास्त्रोंका पठन-पाठन करते हुए भी सदा हरि-कीर्तन और भगवत्-भक्तिमें परायण रहते थे । उन दिनों अधिकांश पण्डित पुस्तकोंके कीड़े तथा शुष्क वाद-विवाद करनेवाले ही थे । शास्त्रोंके अनुसार क्रियाएँ करना तो वे जानते ही न थे । शास्त्रोंमें ऐसे पण्डितोंको मूर्ख कहा है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥

अर्थात् 'शास्त्र पढ़नेपर भी यदि उसके अनुसार आचरण न करे तो मनुष्य मूर्ख ही बना रहता है । जैसे कैसी भी बढ़िया-से-बढ़िया औषध-को मनसे सोच लो, जबतक उसे घोट-पीसकर व्यवहारमें न लाओगे तबतक नीरोग कभी भी नहीं बन सकते ।' उन दिनोंके पण्डित ऐसे ही अधिक थे । अद्वैताचार्यकी उनसे नहीं पटती थी, इसलिये इन्होंने अपनी एक नयी पाठशाला खोल ली । उसमें ये दिनभर तो शास्त्रोंको पढ़ाते थे और रात्रिमें हरिदास आदि अपने अन्तरङ्ग भक्तोंके साथ 'कृष्ण-' करते थे । इनकी पाठशालामें विशेषकर भक्ति-शास्त्रोंकी ही

इसलिये आस्तिक और भगवत्-भक्त पण्डितगण इनके प्रति बड़ी ही श्रद्धा रखते थे। कहते हैं एक बार पण्डित जगन्नाथ मिश्रके घर जाकर इन्होंने उन्हें पुत्रवान् होनेका आशीर्वाद दिया था, तभी विश्वरूपका जन्म हुआ। निमाई जब गर्भमें थे तब शचीदेवीने एक बार इनके चरणोंमें भक्तिभावसे प्रणाम किया। इन्होंने आशीर्वाद दिया—'इस गर्भसे तुम्हारे अवतारी पुत्र उत्पन्न होगा।' इस प्रकार सभी धार्मिक लोग इनका बहुत अधिक सम्मान करते थे। पण्डित जगन्नाथ मिश्रसे इनका बहुत अधिक स्नेह था। विश्वरूपको मिश्रजीने इन्हींके हाथों सौंप दिया था। विश्वरूप-जैसे मेधावी, गम्भीर और होनहार बालकको पाकर ये परम प्रसन्न हुए और बड़े ही मनोयोगके साथ उनको पढ़ाने लगे। विश्वरूप एक बार जिस श्लोकको पढ़ लेते दुबारा फिर उन्हे पूछनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। उनकी बुद्धि असाधारण थी। प्रायः आचार्यकी पाठशालामें ऐसे ही विद्यार्थी पढ़ते थे। दिनभर घट-पट और अवच्छिन्न-अवच्छेदकता ही बकते रहनेवाले तथा सदा व्याकरणकी फक्किकाओंके ही ऊपर सम्पूर्ण शक्ति खर्च कर देनेवाले विद्यार्थी इनके यहाँ बहुत कम थे। उनके लिये तो और ही बहुत-सी पाठशालाएँ थीं। भक्तितत्त्व और सद्ज्ञानवर्धनके निमित्त ही आचार्यने अपनी पाठशाला खोल रखी थी। उन्हें पाठशालासे कुछ आजीविका तो करनी ही नहीं थी। उनकी पाठशालामें सदा भक्तितत्त्वके ही ऊपर आलोचना-प्रत्यालोचना होती रहती। विश्वरूप इन विषयोंमें सबसे अधिक भाग लेते। उनका चित्त बालकपनसे ही संसारसे विरक्त था। अद्वैताचार्य-की कथाओंका तो आगे समय-समयपर यथास्थान उल्लेख होता ही रहेगा। अब आइये थोड़ा निमाईके दादा विश्वरूपके मनोविचारोंको समझनेकी चेष्टा करें। देखें वे अपने जीवनका क्या लक्ष्य स्थिर करते हैं!

विश्वरूपका वैराग्य

को देशः कानि मित्राणि कः कालः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥*

(सु० र० भाँ० ३८३। १)

भगवत्पादपद्मोंसे पृथक् होकर प्राणी प्रारब्धकर्मानुसार असंख्य योनियोंमें भ्रमण करता हुआ मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण होता है। एक यही योनि ऐसी है जिसमें वह अपने सत्स्वरूपको पुनः प्राप्त कर सकता है। मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है, शेष सभी भोगयोनियाँ हैं। मनुष्य ही कर्मके द्वारा निष्कर्म और पुनरावृत्तिसे रहित बन सकता है। पुनरावृत्ति कर्मवासनाओंके द्वारा होती है। जीव अपनी वासनाओंके द्वारा फिर-फिर जन्म ग्रहण करता है और मरणके दुःखोंको भोगता है। यदि कर्मवासना क्षय हो जाय तो परावर भगवान्‌का दर्शन हो जाता है। भगवद्दर्शनके

---

* देश क्या है? ये मित्र कौन हैं? समय क्या है? व्यय-आगम ये क्या चीज हैं? मैं स्वयं कौन हूँ और मेरी शक्ति क्या है? इन बातोंका बार-बार चिन्तन करना चाहिये। अर्थात् जो इस मनुष्यजन्मकी महत्ता और कालकी महानता समझते हैं, उनके हृदयमें ये प्रश्न बार-बार उठते रहते हैं।

तीन मुख्य धर्म हैं—(१) हृदयमें जो अज्ञानकी ग्रन्थि पड़ी हुई है, जिसके द्वारा असत् पदार्थोंको सत् समझे बैठे हैं वह ग्रन्थि खुल जाती है। (२) अज्ञान संशयके द्वारा उत्पन्न होता है और संशय ही विनाशका मुख्य हेतु है, परावरके साक्षात् हो जानेपर सर्वसंशय आप-से-आप मिट जाते हैं। संसृतिका मुख्य हेतु है कर्मबन्ध। कर्म ही प्राणियोंको नाना योनियोंमें सुख-दुःख भुगताते रहते हैं। जिसे भगवत्-साक्षात्कार हो गया है उसके सभी कर्म क्षय हो जाते हैं। बस, फिर क्या है! वह संसार-चक्रसे मुक्त होकर अपने स्वस्वरूपको प्राप्त कर लेता है—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

यही तो जीवका परम पुरुषार्थ है।

त्याग-धर्म सृष्टिके आदिमें सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ। सभी प्राणियोंका मुख्य और प्रधान उद्देश्य है 'त्याग'। इन संसारी विषयोंका जभी त्याग कर सके तभी त्याग कर देना चाहिये। इसीलिये सृष्टिके आदिमें सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन—ये चार त्यागी संन्यासी ही उत्पन्न हुए। भगवान्के वामन, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभदेव आदि बहुत-से अवतारोंने त्यागका ही उपदेश दिया है। त्याग ही 'साधन' है इसीलिये मनुष्यको ही साधक कहा गया है। बहुत-से लोग कहते हैं गृहस्थ-धर्म यदि निष्काम-भावसे किया जाय तो सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु यह रोचक और श्रुतिमधुर शब्द हैं, जो पूर्वजन्मकी सञ्चित वासनाओंके अनुसार सर्वत्याग करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, उनके आश्वासनके निमित्त ये शब्द हैं। जैसे मांस खानेकी जो अपनी वासनाका संवरण नहीं कर सकता उसके लिये कहते हैं—'यदि मांस खाना ही है तो यज्ञ करके जो शेष बचे उसे प्रसाद समझकर खाओ। ऐसा करनेसे हिंसा न होगी।' इन शब्दोंमेंसे ही

स्पष्ट प्रतीत होता है कि असलमें अहिंसा तो यही है जिसमें किसी भी प्राणी-को कष्ट न पहुँचाया जाय, किन्तु तुम उसका पालन नहीं कर सकते, तो अपनी वासनाको सर्वतोमुखी स्वतन्त्र मत छोड़ दो, उसे संयममें लाओ। कामवासनाको संयममें लानेके ही लिये गृहस्थी होनेकी आज्ञा दी है, उसीको धर्म कहते हैं। धर्महीन वासनाएँ तो बन्धनका हेतु हैं ही, किन्तु केवल धर्म भी बन्धनका हेतु है, यदि तुम अपनी वासनाओंको संयममें रखकर धर्म-पूर्वक जीवन व्यतीत करते रहोगे तो स्वर्गका सुख भोगते रहोगे, जन्म-मरणके चक्करसे नहीं छूट सकते। हाँ, यदि मोक्षकी प्राप्तिके उद्देश्यसे जो धर्माचरण करोगे तो धीरे-धीरे इन कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे। पूर्वजन्मकी वासनाओंके अनुसार प्राणी स्वयं इन बन्धनोंमें फँसता है। कर्दम प्रजापतिने दस हजार वर्षतक भगवान्‌की अनन्य भावसे भूख-प्यास सहकर और प्राणोंका निरोध करके तपस्या की थी। तपस्यासे प्रसन्न होकर जब भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हुए और वरदान माँगनेको कहा तब उन्होंने हाथ जोड़े हुए गद्गदकण्ठसे कैसी सत्य बात कही थी! उन्होंने कहा—'भगवन्! मुझमें और ग्राम्य-पशुमे कोई अन्तर नहीं। मैंने कामना-से तुम्हारी उपासना की है, मैं काम-सुखका इच्छुक हूँ, यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं, तो मेरे अनुकूल मुझे भार्या दीजिये। यही मैं वरदान माँगता हूँ।'

दस हजार वर्षकी घोर तपस्याके फलस्वरूप भार्याका वरदान सुनकर भगवान्‌के नेत्रोंमें जल भर आया और उस विन्दुके गिरनेसे ही विन्दुसरतीर्थ बन गया। वे अपनी मायाकी प्रबलता देखकर स्वयं आश्चर्यान्वित हो गये और स्वयं इनके यहाँ देवहूतिके गर्भसे कपिलरूपमें उत्पन्न हुए। भगवान् कपिलने अपने पिताको तथा माताको तत्त्वोपदेश किया और अन्तमें वे संसारसे संन्यास लेकर भगवान्‌के अनन्य धामको प्राप्त हुए। इसलिये कपिल भगवान्‌का मत है—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा

वनाद् वा ।' किसी भी आश्रममें क्यों न हो जब उत्कट वैराग्य हो जाय तब सर्व-धर्मोंका परित्याग करके एक प्रभुके ही पादपद्मोंमें मन लगाना चाहिये, यही प्राणीमात्रका परम पुरुषार्थ है। किन्तु उत्कट वैराग्य भी तो पूर्वजन्मोंके परम शुभ संस्कारोंसे प्राप्त होता है।

निमाईके भाई विश्वरूपकी अवस्था अब सोलह वर्षकी हो चली। वे साधारण बालक नहीं थे। मालूम पड़ता है वे सत्य अथवा ब्रह्मलोकके जीव थे जो अपने अपूर्ण ज्ञानको पूर्ण करनेके निमित्त योगभ्रष्ट शुचि ब्राह्मणके घरमें कुछ कालके लिये उत्पन्न हो गये थे। और लोग इस बातको क्या समझें? माता-पिताके लिये तो वे साधारण पुत्र ही थे, माता-पिताका जो कर्तव्य है उसका वे पालन करने लगे। विश्वरूप अपने ममेरे भाई लोकनाथको छोड़कर और किसीसे विशेष बातें नहीं करते थे। लोकनाथको वे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे। लोकनाथ इनसे साल-छः-महीने अवस्थामें छोटे थे, वे भी इनमें गुरुकी भाँति भक्ति करते थे। दोनोंके विचार भी एक-से थे, एकान्तमें घंटों परमार्थ-विषयक बातें होती रहतीं।

मिश्रजीने देखा पुत्रकी अवस्था सोलह वर्षकी हो चुकी है, इसलिये इसके विवाहका कहींसे प्रबन्ध करना चाहिये। अपने विचार उन्होंने शचीदेवीके सम्मुख प्रकट किये। शचीदेवीने भी इनकी बातका समर्थन किया। अब माता-पिता विश्वरूपके अनुरूप कन्याकी खोज करने लगे।

इधर विश्वरूपके विचारोंमें और अधिक गम्भीरता आने लगी। पंद्रह वर्षकी अवस्थाके पश्चात् सभी युवकोंके हृदयोंमें एक प्रकारकी महान् खलबली-सी उत्पन्न हुआ करती है। चित्त किसी अत्यन्त प्यारेके मिलनके लिये तड़पता रहता है। हृदयमें एक मीठी-मीठी वेदना-सी होती है। जी चाहता है अपनेको किसीके ऊपर न्यौछावर कर दें। इसी बातको समझकर

माता-पिता इस अवस्थामें लड़केका विवाह कर देते हैं और अपने हृदयको समर्पण करनेके निमित्त संगिनी पाकर बहुत-से शान्त हो जाते हैं। बहुत-से धनके बन्धनमें फँसकर, बहुत-से मित्रके प्रेममें फँसकर और बहुत-से विषयवासनाओंमें फँसकर उस वेगको शान्त कर लेते हैं। उस वेगको जिधर लगाओ उधर ही वह लग जायगा। विश्वरूपने उस प्रेमको माता-पिताके ही बीचमें सीमित न रखकर उसे विश्वके साथ तद्रूप बनाना चाहा। वे इसी बातको सोचते रहते थे, कि इस कोलाहलपूर्ण संसारसे कैसे उपरत हो सकेंगे ?

जब इन्होंने अपने विवाहकी बात सुनी तब तो मानो इनके वैराग्य-रूपी प्रज्वलित अग्निमें घृतकी आहुति पड़ी। ये बार-बार सोचने लगे—'क्या विवाह करके संसारी सुख भोगनेसे मुझे परम शान्ति मिल सकेगी ? क्या मैं गृहस्थी बनके अपने चरम लक्ष्यतक शीघ्र-से-शीघ्र पहुँच सकूँगा ? क्या मुझे माता-पिता और भाइयोंके ही बीचमें अपने प्रेमको सीमित बनाकर संसारी बनना चाहिये ? उनकी यह विकलता बढ़ती ही जाती थी। एक दिन लोकनाथने एकान्तमें इनसे पूछा—'भैया ! क्या कारण है, तुम अब सदा किसी गम्भीर विचारमें डूबे रहते हो ?'

उनकी बात सुनकर इन्होंने उन्हें टालते हुए कहा—'नहीं, कुछ नहीं, वैसे ही शास्त्रविषयक बातें सोचता रहता हूँ, कोई विशेष बात तो नहीं है।'

उन्होंने फिर कहा—'आप चाहे बतावें या न बतावें मैं सब जानता हूँ। फूफाजी आपके विवाहकी सोच रहे हैं। मैं आपके भावोंको खूब जानता हूँ, कि आप विवाहके बन्धनमें कभी न फँसेंगे। आप इसके लिये सबका त्याग कर सकते हैं, किन्तु मैं आपके चरणोंमें यही विनीत भावसे प्रार्थना करता हूँ, कि मुझे अपने चरणोंसे पृथक् न करें—यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है।'

विश्वरूपने उन्हें गाढ़ आलिङ्गन करते हुए कहा—'भैया! तुम कैसी बात कर रहे हो यदि ऐसा कुछ होगा भी तो मैं तुम्हारी सम्मतिके बिना कुछ थोड़े ही कर सकता हूँ। तुम तो मेरे प्राण हो, भला तुम्हें छोड़कर मैं कैसे जा सकता हूँ।'

दोनों भाई यथासमय भोजन करनेके निमित्त अपने-अपने घर चले गये। विश्वरूप घरमें बहुत ही कम रहते थे, केवल दोपहरको और शामको भोजन करनेके ही निमित्त घर जाते, नहीं तो सदा अद्वैताचार्यजीकी पाठशालामें ही शास्त्रालोचना तथा गम्भीर विचार करते रहते। इसीलिये माता-पिताको इनके मनोभावोंके सम्बन्धमें विशेष जानकारी नहीं हो सकी। बीच-बीचमें जब निमाई इन्हें बुलाने जाते तब ये थोड़ी देरके लिये घर आ जाते और कभी-कभी निमाईसे दो-चार बातें करते। मिश्रजी इनसे बातें करनेमें सङ्कोच करते थे। इनके पढ़नेमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं डालना चाहते थे।

धीरे-धीरे विश्वरूपका वैराग्य दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक बढ़ने लगा। एक बार उन्होंने ज्ञानदृष्टिसे देखा कि ये माता, पिता, भाई, मित्र आदि असलमें चीज क्या हैं! विचार करते-करते वे संसारी सम्बन्धोंसे ऊँचे उठ गये। उन्हें प्रतीत होने लगा, सभी प्राणी अपने प्रारब्ध-कर्मोंके अनुसार बिना सोचे-समझे दिन-रात कर्मोंमें जुटे हुए हैं। अन्धेकी भाँति बिना आगेका ध्यान किये किसी अज्ञात मार्गकी ओर चले जा रहे हैं। विचार करते-करते उन्हें संसारके सभी प्राणी समानरूपसे रेंगते हुए-से दीखने लगे। जैसे किसी बहुत ऊँचे स्थानपर चढ़कर देखनेसे मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष सभी छोटे-छोटे भिनगे-से उड़ते दिखायी पड़ते हैं, उनमें फिर विवेक नहीं किया जा सकता कि कौन मनुष्य है, कौन पशु। सभी समानरूपसे छोटे-छोटे कण-से दिखायी पड़ते हैं, उसी प्रकार विचारकी ऊँची भित्तिपर

चढ़कर विश्वरूपको ये संसारी जीव दीखने लगे। उनका माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवोंके प्रति जो मोह था, वह एकदम जाता रहा। वे अपनेको समझ गये और मन-ही-मन कहने लगे—'ये संसारी लोग भी कितने दयाके पात्र हैं! रोज न जाने क्या-क्या विचार करते रहते हैं। बड़े-बड़े विधान बनाते रहते हैं, किन्तु सभी किसी अज्ञात शक्तिकी प्रेरणासे घूम रहे हैं।' लोग कहते हैं, 'अजी अभी संसारका सुख भोग लो। आगे चलकर भगवद्भजन कर लेंगे। वे अज्ञ यह नहीं समझते कि यह शरीर क्षणभंगुर है, इसका दूसरे क्षणका भी पता नहीं।' इन विचारोंके आते ही उन्होंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। भर्तृहरिजीके इस श्लोकको वे बार-बार पढ़ने लगे—

> यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
> यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
> आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
> प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

'अरे ओ युवको! जबतक यह कोमल और नूतन शरीर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था तुमसे बहुत दूर चुपचाप तुम्हारी ताकमें बैठी है, जबतक तुम्हारी इन्द्रियोंकी शक्ति न्यून नहीं हुई है और जबतक यह आयु शेष नहीं हुई है, तबतक ही आत्माके कल्याणका प्रयत्न कर लो, इसीमें बुद्धिमानी है। नहीं तो घरमें आग लगनेपर जो कुँआ खोदनेकी बात सोचकर चुपचाप बैठा है, उसके घरमें आग लगनेपर वह जल ही जायगा। आग लगनेपर कुँआ खोदनेमें प्रयत्न करना मूर्खता है।'

विश्वरूपका गृह-त्याग

धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसम्मताः।
जितात्मानो महाभागा येषां न स्तः प्रियाप्रिये॥*
(श्रीवा० रा० सु० २६। ४७)

बन्धनका हेतु ममत्व है, ममत्वका सम्बन्ध मनसे है। जिसने मनसे ममत्वको निकाल दिया, वह तो नित्यमुक्त ही है। उसके लिये न कोई अपना है न पराया, वह तो अनेक रूपोंमें एक ही आत्माको चारों ओर देखता है, फिर वह संकुचित सीमामें अपनेको आबद्ध नहीं रख सकता। विश्वरूपने निश्चय कर लिया कि मुझे इस गृहको त्याग देना चाहिये। जहाँपर माता-पिता ही मुझे अपना समझते हैं, जहाँ नित्यप्रति भाँति-भाँतिके संसारी प्रलोभनोंके आनेकी सम्भावना है, ऐसी जगह अब अधिक दिन ठहरना ठीक नहीं है। ऐसा निश्चय कर लेनेपर एक दिन इन्होंने अपनी माताको एक पुस्तक देते हुए कहा—'माँ, यह पुस्तक निमाईके लिये है, जब वह बड़ा हो तो इस पुस्तकको उसे दे देना, भूल मत जाना।'

माताने सरलताके साथ उत्तर दिया—'तबतक तू कहीं चला थोड़े ही जायगा। मैं भूल जाऊँ तो तू तो न भूलेगा। तू ही इसे अपने हाथसे उसे देना और पढ़ाना। तू भी तो अब पण्डित बन गया है। निमाई तुझसे ही पढ़ा करेगा।'

विश्वरूपने मानसिक भावोंको छिपाते हुए कहा—'हाँ, ठीक है, मैं रहा तो दे ही दूँगा, किन्तु तू भी इस बातको याद रखना।'

---

* वे सत्यकी उपासना करनेवाले जितात्मा महाभाग महात्मा मुनिगण धन्य हैं जिन्हें न तो किसीसे अनुराग है और न किसीसे द्वेष। जो सभी प्राणियोंमें समानभाव रखकर सभीको समदृष्टिसे देखते हैं।

भोली-भाली माताको क्या पता कि मेरा विश्वरूप अब दो ही चार दिनका मेहमान है। दो-चार दिनके बाद फिर इसकी मनमोहिनी सूरत हमलोगोंको कभी भी देखनेको न मिल सकेगी। माता अपने काम-धंधेमें लग गयी।

जाड़ेका समय है, खूब कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा है। सभी प्राणी जाड़ेके मारे गुड़मुड़ी मारे रात्रिमें सो रहे हैं। चारों ओर नीरवताका साम्राज्य है, कहीं भी कोलाहल सुनायी नहीं पड़ता, सर्वत्र स्तब्धता छायी हुई है। ऐसे समय विश्वरूपको निद्रा कहाँ? वे तो भविष्य-जीवनको महान् बनानेकी ऊहापोहमें लगे हुए हैं। घरमें एक बार दृष्टि डाली। एक ओर माता सो रही है, उसके पास ही चुपचाप निमाई आँख बंद किये हुए शयन कर रहे हैं। मिश्रजी दूसरी ओर रजाई ओढ़े खाटपर सो रहे हैं। विश्वरूपने एक बार खूब ध्यानसे पिताकी ओर देखा। सिरके बाल पके हुए थे, मुँहपर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं। हमेशा गृहस्थीकी चिन्ता करते रहनेसे उनका स्वभाव ही चिन्तामय बन गया था, सोते समय भी मानो वे किसी गहरी चिन्तामें डूबे हुए हैं। निर्धन वृद्धके चेहरेकी ओर देखकर एक बार तो विश्वरूप अपने निश्चयसे विचलित हुए। उनके मनमें भाव आया—'पिता वृद्ध हैं, आजीविकाका कोई निश्चित प्रबन्ध नहीं, निमाई अभी निरा बालक ही है, घरका काम कैसे चलेगा?' किन्तु थोड़े ही देर बाद वे सोचने लगे—'अरे, मैं यह क्या सोच रहा हूँ! जिसने इस चराचर विश्वकी रचना की है, जो सभीके भरण-पोषणका पहिलेसे ही प्रबन्ध कर देता है, उसको कर्ता न मानकर मैं अपनेमें कर्तापनेका आरोप क्यों कर रहा हूँ? वृत्ति तो सबकी वही चलाता है। मनुष्य तो निमित्तमात्र है। विश्वम्भर ही सबका पालन करते हैं, मुझे अपने सत्संकल्पसे विचलित न होना चाहिये' यह सोचकर उन्होंने सोती हुई माताको मन-ही-मन प्रणाम किया। छोटे

भाईको एक बार प्रेमपूर्वक देखा और धीरेसे घरसे निकल पड़े । संकेतके अनुसार लोकनाथ उन्हें गङ्गातटपर तैयार बैठे मिले। दोनों एक दूसरेको देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए, अब उन्हें यह चिन्ता हुई, कि रात्रिमें गङ्गा-पार किस प्रकार जा सकते हैं। अब बहुत ही शीघ्र प्रातःकाल होनेवाला है । इधर-उधर कहीं जायँगे तो पहिचाने जानेपर पकड़े जायँगे। इसलिये गङ्गा-पार जाये बिना क्षेम नहीं है । उस समय नावका मिलना कठिन था। दोनों ही युवक निर्भीक थे, जीवनका मोह तो उन्हें था ही नहीं । मनुष्य इस जीवन-रक्षाके ही लिये साहसके काम करनेसे डरा करता है। जिसने जीवनकी उपेक्षा कर दी है, जिसने अपने शीशको उतारकर हथेलीपर रख लिया है, वह संसारमें जो भी चाहे कर सकता है, उसके लिये कोई काम कठिन नहीं । 'असम्भव' तो उसके शब्द-कोषमें रहता ही नहीं। ये दोनों युवक भी भगवान्‌का नाम लेकर पतितपावनी कलिमलहारिणी भगवती भागीरथीकी गोदमें बिना शङ्काके कूद पड़े। मानो आज वे जलती हुई भव-दावाग्निसे निकलकर जगज्जननी माँ जाह्नवीकी सुशीतल क्रोड़में शाश्वत शान्तिके निमित्त सदाके लिये प्रवेश करते हों।

गङ्गाजीके किनारे रहनेवाले छोटे-छोटे बच्चे भी खूब तैरना जानते हैं, फिर ये तो युवक थे और तैरनेमें प्रवीण थे, सामान इन लोगोंके पास कुछ था ही नहीं, इसीलिये ये निर्विघ्न गङ्गा पार हो गये । जाड़ेका समय था, शरीरके सभी वस्त्र भीग गये थे, किन्तु इन्हें इस बातका ध्यान ही नहीं था। शीतोष्णादि द्वन्द्व तो तभीतक बाधा पहुँचा सकते हैं जबतक कि शरीरमें ममत्व होता है । शरीरसे ममत्व कम हो जानेपर मनुष्य द्वन्द्वोंकी वेदनासे ऊँचा उठ जाता है, तभी वह निर्द्वन्द्व हो सकता है। विश्वरूप निर्द्वन्द्व हो चुके थे। वे गीले ही वस्त्रोंसे आगे बढ़े चले गये।

इसके पश्चात् विश्वरूपजीका कोई निश्चित वृत्तान्त नहीं मिलता। पीछेसे यही पता चला कि इन्होंने किसी अरण्य नामक संन्यासीसे संन्यास

ग्रहण कर लिया और इनके संन्यासका नाम हुआ शङ्करारण्य। इनके संन्यासी हो जानेपर लोकनाथने इनसे संन्यास लिया। दो वर्षोंतक ये भारतके अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे। अन्तमें महाराष्ट्रके परम प्रसिद्ध तीर्थ पण्ढरपुरमें इन्होंने श्रीविट्ठलनाथजीके क्षेत्रमें अपना यह पाञ्चभौतिक शरीर त्याग कर दिया। देहत्यागके पूर्व इन्होंने अपना स्वकीय तेज श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीके आश्रममें उनके परम प्रिय शिष्य श्रीईश्वरपुरीको प्रदान कर दिया था। उन्हींसे वह तेज नित्यानन्दके पास आया। इसीलिये नित्यानन्दको बलराम या शेषनागका अवतार मानते हैं। इस प्रसङ्गको पाठक आगे समझेंगे।

इधर प्रातःकाल हुआ। मिश्रजीने देखा विश्वरूप शय्यापर नहीं है। इतने सबेरे पितासे पहिले वे उठकर कहीं नहीं जाते थे। पिताको एकदम शङ्का हो गयी। उन्होंने शय्याके समीप जाकर देखा। पहिले तो सोचा गङ्गास्नानके लिये चला गया होगा; किन्तु जलपात्र और धोती तो ज्यों-की-त्यों रखी है। थोड़ी देरतक वे चुप रहे, फिर उनसे नहीं रहा गया, उन्होंने यह बात शचीदेवीसे कही। शचीदेवी भी सोचमें पड़ गयी। निमाई भी उठ बैठा। शचीदेवीने कहा—'बेलपोखरा (शचीदेवीके पिता नीलाम्बर चक्रवर्तीका घर बेल्पोखरा मुहल्लेमें ही था, विश्वरूप लोकनाथसे शास्त्रविचार करने बहुधा वहीं चले जाते थे) लोकनाथके पास चला गया होगा।' मिश्रजी जल्दीसे चक्रवर्ती महाशयके घर गये। वहाँ जाकर देखा कि लोकनाथ भी नहीं है। सभी समझ गये। दोनों परिवारके लोग शोकसागरमें मग्न हो गये। शचीदेवी दौड़ी-दौड़ी अद्वैताचार्यके यहाँ गयी। वहाँ भी विश्वरूपका कुछ पता नहीं था। क्षणभरमें यह बात सर्वत्र फैल गयी कि विश्वरूप घर छोड़कर चले गये। चारों ओरसे मिश्रजी-के स्नेही उनके घर आने लगे। लोगोंकी भीड़ लग गयी। अद्वैताचार्य

भी अपने शिष्योंके साथ वहाँ आ गये। सभी भाँति-भाँतिकी कल्पना करने लगे। कुछ भक्त कहने लगे—'अब घोर कलियुग आ गया। साधु ब्राह्मणोंका मान नहीं, वैष्णवोंको सर्वत्र अपमानित होना पड़ता है, धर्म कर्म सभी लोप हो गये। अब यह संसार भले आदमियोंके रहने योग्य नहीं रहा। हमें भी सर्वस्व छोड़कर विश्वके ही मार्गका अनुसरण करना चाहिये।' कुछ कहते—'भाई! विश्वरूपको हम इतना निष्ठुर नहीं समझते थे, उसने अपने छोटे भाईका भी तनिक मोह नहीं किया।'

मिश्रजीकी आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही थी, वे मुखसे कुछ भी नहीं कहते थे, नीची दृष्टि किये वे बराबर भूमिकी ओर ताक रहे थे, मानो उन्हें सन्देह हो गया था, कि इस भूमिने ही मेरे प्राणप्यारे पुत्रको अपनेमें छिपा लिया है। उनके धँसे हुए कपोल और सिकुड़ी हुई खालके ऊपरसे अश्रु-बिन्दु बह-बहकर पृथ्वीमें गिरते जाते थे और वे उसी समय पृथ्वीमें विलीन होते जाते थे। इससे उनका सन्देह और भी बढ़ता जाता था, कि जो पृथ्वी बराबर इन अश्रुओंको अपनेमें छिपाती जाती है उसने ही जरूर मेरे बेटे विश्वरूपको छिपा लिया है। उनकी दृष्टि ऊपर उठती ही नहीं थी। लोग परस्परमें क्या बातें कर रहे हैं इसका उन्हें कुछ भी पता नहीं था। उनके साथी-सम्बन्धी उन्हें भाँति-भाँतिसे समझाते, किन्तु वे किसीकी भी बातका प्रत्युत्तर नहीं देते थे।

इधर शचीदेवीके करुण-रुदनको सुनकर पत्थर भी पसीजने लगे। माता जोर-जोरसे दहाड़ मारकर रुदन कर रही थी। विश्वरूपके गुणोंका बखान करते-करते माता जिस प्रकार गौ अपने बच्चेके लिये आतुरतासे रम्हाती है उसी प्रकार शचीदेवी उच्चस्वरसे विलाप कर रही थीं। वे बार-बार कहतीं—'बेटा, इस बूढ़ीको अधजली ही छोड़कर [illegible] गया। यदि मेरा और

अपने बूढ़े बापका कुछ खयाल न किया तो न सही, इस अपने छोटे भाईकी ओर भी तूने नहीं देखा। यह तो तेरे बिना क्षणभर भी नहीं रह सकेगा। विश्वरूप! मैं नहीं जानती थी, कि तू इतना निर्दयी भी कभी बन सकेगा।'

माताके विलापको सुनकर निमाई भी जोर-जोरसे रोने लगे और रोते-रोते वे एकदम बेहोश हो गये। भ्रातृ-वियोगका स्मरण करके तथा माता-पिताके दुःखको देखकर निमाई मूर्छित हो गये। उनका सम्पूर्ण शरीर संज्ञाशून्य हो गया। आस-पासकी स्त्रियोंने जल्दीसे निमाईको उठाया, उनके मुखमें जल डाला और उन्हें सचेत करनेके लिये भाँति-भाँतिकी चेष्टाएँ करने लगीं। स्त्रियाँ शचीदेवीको समझा रही थीं—'शची! अब रोनेसे क्या होगा, धैर्य धारण करो। तुम्हारे पुत्रने कोई बुरा काम तो किया ही नहीं। तुम्हारी सैकड़ों पीढ़ियोंको उसने तार दिया। भगवान्की भक्तिसे बढ़कर और क्या है? अब इस निमाईको ही देखकर धैर्य धारण करो। देख, तेरे रुदनसे यह बेहोश हो गया है, इसका खयाल करके तू रोना बंद कर दे।' माताने कुछ-कुछ धैर्य धारण किया। निमाईको धीरे-धीरे चेतना होने लगी। वे थोड़ी ही देरमें प्रकृतिस्थ हो गये। अपने आँसुओंको पोंछकर आप मातासे बोले—'माँ! दादा चले गये तो कोई चिन्ता नहीं। मैं तुमलोगोंकी बड़ा होकर सेवा-शुश्रूषा करूँगा। आपलोग धैर्य धारण करें।'

लोग मिश्रजीसे कह रहे थे। हम उत्तरकी ओर जाते हैं, चार आदमियोंको दक्षिणकी ओर भेजो। लोकनाथके पिता दो-चार आदमियों-को लेकर गङ्गापार जायँ। अभी दो-चार कोस ही तो पहुँचे होंगे, हम उन्हें जल्दी ही लौटा लावेंगे। इन सब लोगोंकी बातें सुनकर ऊपर दृष्टि उठाकर मिश्रजीने साहसके साथ कहा—'अब भाई! कहीं जानेसे क्या लाभ?

विश्वरूप बालक तो है ही नहीं। यदि उसकी ऐसी ही इच्छा है, तो भगवान् उसकी मनोकामना पूर्ण करें। यदि उसे संन्यासमें ही सुख है तो वह संन्यासी ही बनकर रहे। आप सबलोग भगवान्से यही प्रार्थना करें, कि यह संन्यासी होकर अपने धर्मको यथारीति पालन करता रहे और फिर लौटकर घरमें न आवे।' पिताके ऐसे साहसपूर्ण वचनोंको सुनकर सभीको बड़ा आनन्द हुआ। सभी इसी सम्बन्धकी बातें करते हुए सुखपूर्वक घर लौट गये।

माता-पिताने धैर्य धारण तो किया, किन्तु उनके हृदयमें सर्वगुण-सम्पन्न पुत्रके वियोगके कारण एक गहरा-सा घाव हो गया जो अन्ततक बना रहा। मिश्रजी तो एक ही घावको लेकर इस संसारसे विदा हो गये, किन्तु वृद्धा शचीके तो आगे चलकर एक और भी बड़ा भारी घाव हुआ था, जिसकी मीठी-मीठी वेदनाका रसास्वादन करते हुए उसने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी प्रकार वेदनामय ही बिताया। गृहस्थमें जहाँ अनेक सुख और आनन्दके अवसर आते हैं, वहाँ ऐसे दुःखके भी प्रसङ्ग बहुत आते हैं जिनके स्मरणमात्रसे छाती फटने लगती है। जगज्जननी सीताजी जब अपने प्राणनाथ श्रीरामचन्द्रजीके वियोगसे अत्यन्त ही व्यथित हो उठीं और उनकी वेदना असह्य हो गयी तब उन्होंने रोते-रोते बड़ी ही मार्मिक वाणीमें हनूमान्जीसे ये वचन कहे थे—

प्रियान्न संभवेद्दुःखमप्रियादधिकं भवेत्।
ताभ्यां हि ते वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम्॥

वे जितात्मा सत्यवादी महात्मा धन्य हैं जिन्हें प्रियकी प्राप्तिमे न तो सुख होता है और अप्रियकी प्राप्तिमें जिन्हे दुःख-व्यथा नहीं पहुँच सकता, जिनकी वृत्ति सुख-दुःखमें समान रहती है, ऐसे महात्माओंके चरणोंमे बार-बार प्रणाम है।

निमाईका अध्ययनके लिये आग्रह

विद्यानाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो
धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं
तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु ॥*

(भर्तृ० नी० श० २०)

पुत्र-स्नेह भी संसारमें कितनी विलक्षण वस्तु है? जिस समय माता-पिताका ममत्व पराकाष्ठापर पहुँच जाता है, उस समय वे कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानको खो बैठते हैं। बड़े-बड़े पण्डित भी पुत्र-स्नेहके कारण अपने

---

* विद्या मनुष्यकी अतुलनीय कीर्तिस्वरूपा है, भाग्य क्षय होनेपर विद्या ही एकमात्र आश्रयदात्री है। विद्या सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु है, विरहमें रति है और मनुष्यके तृतीय नेत्रके समान है। विद्या सत्कारकी खानि, कुलकी महिमाको बढ़ानेवाली और बिना ही रत्नोंके सर्वोत्तम भूषण है। इसलिये सम्पूर्ण विषयोंकी उपेक्षा करके एक विद्यामें ही अधिकार करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

कर्तव्यसे च्युत होते हुए देखे गये हैं। भगवान्‌की माया ही विचित्र है, उसका असर मूर्ख-पण्डित सभीपर समानरूपसे पड़ता है। पण्डित जगन्नाथ मिश्र स्वयं अच्छे विद्वान् थे, कुलीन ब्राह्मण थे, विद्याके महत्त्वको जानते थे, किन्तु विश्वरूपके विछोहसे वे अपने कर्तव्यको खो बैठे। सर्वगुणसम्पन्न पुत्रके असमयमें धोखा देकर चले जानेके कारण उनके हृदयपर एक भारी चोट लगी। वे इस विछोहका मूल कारण विद्याको ही समझने लगे। उनके हृदयमें बार-बार यह प्रश्न उठता था—'यदि विश्वरूप इतना अध्ययन न करता, यदि मैं उसे इस प्रकार सर्वदा पढ़ते रहनेकी छूट न देता, तो सम्भव है मुझे आज यह दिन न देखना पड़ता। इसलिये इनके मनमें आया कि अब निमाईको अधिक पढ़ाना-लिखाना न चाहिये। हाय रे! मोह!

इधर अबतक तो निमाई कुछ पढ़ते ही लिखते न थे। दिनभर बालकोंके साथ उपद्रव मचाते रहना ही इनका प्रधान कार्य था, किन्तु विश्वरूपके गृह त्यागनेके अनन्तर इनका स्वभाव एकदम बदल गया। अब इन्होंने उपद्रव करना बिल्कुल छोड़ दिया। अब ये खूब मन लगाकर पढ़ने लगे। दिनभर खूब परिश्रमके साथ पाठ पढ़ते और खेलने-कूदने कहीं भी न जाते। माता-पिताके साथ भी अब ये सौम्यताका बर्ताव करने लगे। इस एकदम स्वभाव-परिवर्तनका पिताके ऊपर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। वे सोचने लगे—'मुझे जो भय था वही सामने आ उपस्थित हुआ। निमाई भी अब विश्वरूपकी भाँति अध्ययनमें संलग्न हो गया। इसकी बुद्धि उससे कम तीव्र नहीं है। एक ही दिनमें इसने सम्पूर्ण वर्णोंकी जानकारी कर ली थी, यदि इसे भी अध्ययनके लिये विश्वरूपकी भाँति स्वतन्त्रता दे दी जाय तो यह भी हमारे हाथसे जाता रहेगा। यह सोचकर उन्होंने एक दिन निमाईको बुलाया और बड़े प्यारसे कहने लगे—'बेटा! मैं तुमसे एक बात कहता हूँ, तुम्हें मेरी वह बात चाहे उचित हो या

अनुचित माननी ही पड़ेगी।'

निमाईने नम्रतापूर्वक कहा—'पिताजी! आप आज्ञा कीजिये। भला, मैं कभी आपकी आज्ञाको टाल सकता हूँ! आपके कहनेसे मैं सब कुछ कर सकता हूँ।'

मिश्रजीने कहा—'हम तुम्हें अपनी शपथ दिलाकर कहते हैं, तुम आजसे पढ़ना बंद कर दो। हमारी यही इच्छा है कि तुम पढ़ने-लिखनेमें विशेष प्रयत्न न करो।

जिस दिनसे विश्वरूप गृह त्यागकर चले गये थे, उस दिनसे निमाई माता-पिताकी आज्ञाको कभी नहीं टालते थे। पिताकी बात सुनकर इन्होंने नीचे सिर झुकाये हुए ही धीरेसे कहा—'जैसी आज्ञा होगी मैं वही करूँगा।' इतना कहकर ये भीतर माताके पास चले गये और पिताकी आज्ञा माताको सुना दी। दूसरे दिनसे इन्होंने पढ़ना-लिखना बिलकुल बंद कर दिया।

अब इन्होंने अपनी वही पुरानी चञ्चलता फिर आरम्भ कर दी। लड़कोंके साथ गङ्गाजीके घाटोंपर जाते, घंटों जलमें ही स्नान करते रहते। कभी अपने साथियोंको लेकर लोगोंके ऊपर पानी उलीचते। स्त्रियोंके पास चले जाते, छोटे-छोटे बच्चोंको रुला देते। स्त्रियोंके सूखे वस्त्रोंको जलमें फेंककर भाग जाते। किसीकी घाटपर रखी हुई नैवेद्यको बिना उसके पूछे ही जल्दीसे चट कर जाते। कोई आकर डाँटने लगता तो बड़े जोरोंके साथ रोने लगते, सभी बालक इनके चारों ओर खड़े हो जाते, आस-पाससे और भी लोग इकट्ठे हो जाते। कोई तो उस डाँटनेवालेको बुरा-भला कहता। कोई इन्हें शान्त करनेकी चेष्टा करता। बहुत-से कहते—'अजी! कोई कहाँतक सहन करे, यह लड़का है भी बड़ा उपद्रवी, किसीकी सुनता ही नहीं।' इस प्रकार लोग नित्यप्रति जा-जाकर मिश्रजीसे शिकायत करते। मिश्रजी इन्हें पुचकारकर कहते—

'बेटा! इतना दंगल नहीं करना चाहिये।' आप धीरेसे कहते—'तब हम करें क्या? जब पढ़ने न जायँगे तो बालकोंके साथ खेल ही करेंगे। हमसे चुपचाप घरमें तो बैठा नहीं जाता।' पिता इनका ऐसा उत्तर सुनकर चुप हो जाते।

ये भाँति-भाँतिके खेल खेलने लगे। एक दिन आपने बहुत ही फटे-पुराने कपड़े पहिन लिये, आँखोंमें पट्टी बाँध ली और एक लड़केका कंधा पकड़कर घर-घर भीख माँगने लगे। बहुत-से लड़के इनके साथ ताली बजा-बजाकर हँसते जाते थे। ये घरोंमें जाते और स्त्रियोंसे कहते—'माई! अन्धेको भीख डालना, भगवान् तेरा भला करेंगे।' स्त्रियाँ इनकी ऐसी क्रीड़ा देखकर खूब जोरोंसे हँसने लगती और इन्हें कुछ खानेकी चीजें दे देतीं। ये उसे अपने साथियोंमे बाँटकर खा लेते और फिर दूसरे घरमें जाते। इस प्रकार ये अपने घर भी गये। शचीमाता भोजन बना रही थी। आपने आवाज़ दी—'मैया! भगवान् तेरा भला करे, दूध-पूत सदा फलते-फूलते रहें, इस अन्धेको थोड़ी भीख डाल देना।' माता निकलकर बाहर आयीं और इनका ऐसा रूप देखकर आश्चर्यके साथ कहने लगीं—'निमाई! तू कैसा होता जा रहा है, भला, ब्राह्मणके बालकको ऐसा रूप बनाना चाहिये। तू घर-घरसे भीख माँग रहा है, तेरे घरमें क्या कमी है? ऐसा खेल ठीक नहीं होता।'

आपने उसी समय पट्टी खोलकर कहा—'अम्मा! निर्धन ब्राह्मणका मूर्ख बालक अन्धा ही है, वह भीख माँगनेके सिवा और कर ही क्या सकता है? मुझे पढ़ावेगी नहीं तो मुझे भीख ही तो माँगनी पड़ेगी।' इनकी यह बात सुनकर शचीदेवीकी आँखोंमें मारे प्रेमके आँसू आ गये। उन्होंने इन्हें जल्दीसे गोदमें लेकर पुचकारा। साथके बच्चोंको थोड़ी-थोड़ी मिठाई देकर विदा किया और इन्हें स्नान कराके भोजन कराने लगी।

ये जान-बूझकर उपद्रव करने लगे । जब ये घरपर रहते और कोई चीज़ बेचनेवाला उधर आता तो मातासे बार-बार आग्रह करते हमें अमुक चीज़ दिला दो । मिठाईवाला आता तो मिठाई लेनेको कहते, फलवाला आता तो फलोंके लिये आग्रह करते । चाट बिकने आती तो चाट ही खानेको माँगते । न दिलानेपर खूब ज़ोरोंसे रोते और जबतक उसे पा नहीं लेते तबतक बराबर रोते ही रहते । चीज़ मिलनेपर उसमेंसे थोड़ी-सी खा लेते, शेषको वैसे ही छोड़ देते ।

माता बार-बार प्यारसे समझाती—'बेटा ! तू जानता नहीं, तेरे पिता निर्धन हैं, उनके पास इतने पैसे कहाँसे आये । तू दिनभर भाँति-भाँतिकी चीजोंके लिये रोया करता है, जो भी बिकने आता है उसींके लिये आग्रह करने लगता है । इतने पैसे मैं कहाँसे लाऊँ ?'

आप कहते—'हमें पढ़ने न दोगी तो हम ऐसा ही करेंगे । जब पढ़ेंगे नहीं तो यही करते रहेंगे । हमें इससे क्या मतलब, या तो हमें पढ़ने दो नहीं तो हम ऐसे ही माँगा करेंगे ।' इनकी ऐसी बातें सुनकर माता सोचती, इससे तो इसे पढ़ने ही दिया जाय तो अच्छा है, किन्तु विश्वरूपका स्मरण आते ही वह डर जाती और फिर उसे मिश्रजीके सामने ऐसा प्रस्ताव करनेका साहस न होता । ये और भी अधिकाधिक चञ्चल होते जाते ।

एक दिन आपने गुस्सेमें आकर घरमेंसे बहुत-से मिट्टीके बर्तन निकाल-निकालकर आँगनमें फोड़ दिये और आप-पासके ही एक घूरेपर जा बैठे । वहाँ उसी प्रकार अशुद्ध हाँड़ियोंको अपनी भुजाओंमें पहिन लिया । टूटी-फूटी टोकरीको सिरपर रख लिया और खपड़े घिस-घिसकर उससे शरीरको मलने लगे । माता बार-बार मने करतीं, किन्तु ये सुनते ही न थे, वहीं बैठकर चुपचाप फूटी हाँड़ियोंको बजाने लगे । बहुत-सी पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ भी आ गयीं । गङ्गास्नान करनेवाले

खड़े हो गये । माता इन्हें बार-बार धिक्कार देते हुए ऐसे अपवित्र कार्यको करनेसे मने करतीं । ये कहते—'मूर्ख बेटेसे तुम और आशा ही क्या रख सकती हो ? जब तुम हमें पढ़ाओगी नहीं तो हम ऐसा ही काम करेंगे । मूर्ख आदमी शुचि-अशुचि क्या जाने ? इसका ज्ञान तो विद्या पढ़कर ही होता है ।' पासमें खड़ी हुई स्त्रियाँ शचीमाताको उलाहना देते हुए कहतीं—'बालक कह तो ठीक रहा है । तुम इसे पढ़ने क्यों नहीं देती ? यह तो बड़े भाग्यकी बात है कि बच्चा पढ़नेके लिये इतना आग्रह कर रहा है । हमारे बच्चे तो मारने-पीटनेपर भी पढ़ने नहीं जाते । इसे पढ़नेके लिये जरूर भेजा करो ।' पासमें खड़े हुए और भी लोग बच्चेकी बातका समर्थन करने लगे ।

सबके समझानेसे माताका भी भाव परिवर्तित हो गया । उन्होंने प्यारके साथ कहा—'अच्छा, कलसे पढ़ा करना, मैं तेरे पितासे कह दूँगी । अब आकर जल्दीसे स्नान कर ले ।' इतना सुनते ही ये जल्दीसे उठकर चले आये और माताके कथनानुसार शीघ्र ही गङ्गास्नान करके घर लौट आये ।

शचीदेवीने पण्डितजीसे बहुत आग्रह किया कि बच्चेको पढ़ने देना चाहिये । सभी पढ़े-लिखे संन्यासी थोड़े ही हो जाते हैं । नवद्वीपमें हजारों पण्डित हैं, इतने विद्यार्थी हैं, इनमेंसे कोई भी संन्यासी नहीं हुआ । यह तो भाग्यकी बात है । यदि इसके भाग्यमें संन्यास ही होगा तो हम उसे रोक थोड़े ही सकते हैं । ब्राह्मणका बालक मूर्ख ठीक नहीं होता । और भी बहुत-से लोगोंने पण्डितजीसे आग्रह किया । सब लोगोंके कहनेसे पण्डितजीने पढ़नेकी सम्मति दे दी । निमाई खूब मनोयोगके साथ पढ़ने-लिखने लगे । अब इन्होंने सभी प्रकारकी चञ्चलता छोड़ दी ।

एक दिन इन्होंने नैवेद्यका पान खा लिया । उसे खाते ही ये बेहोश हो गये । थोड़ी देरमें होश आनेपर इन्होंने मातासे कहा—'अम्मा ! भैया विश्वरूप मेरे पास आये थे, उन्होंने कहा—'तुम भी संन्यासी हो जाओ ।' हमने कहा—'हम बालक हैं, भला हम संन्यासका मर्म क्या समझें । हम तो अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा ही करेंगे । यही हमारा धर्म है, हम अपने माता-पिताको छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहते ।' मेरी बात सुनकर उन्होंने कहा—'अच्छा, तो ठीक है, माताजीके चरणोंमें हमारा प्रणाम कहना । अब हम जाते हैं ।' यह कहकर वे चले गये ।

इस बातको सुनकर माताको विश्वरूपकी याद आ गयी । उनकी आँखोंमेंसे अश्रुओंकी धार बहने लगी । उन्होंने अपने प्यारे निमाईको छातीसे चिपटा लिया । उनका मातृस्नेह उमड़ पड़ा और रुँधे हुए कण्ठसे रोते-रोते उन्होंने कहा—'बेटा निमाई ! अब हमें तेरा ही एकमात्र सहारा है, हम वृद्ध अन्धोंकी तू ही एकमात्र लकड़ी है । हमारी सब आशाएँ तेरे-ही ऊपर हैं । तू हमें विश्वरूपकी तरह धोखा मत देना ।' निमाई बहुत देर-तक माताकी गोदमें चिपके रहे, उन्हें माताकी शीतल सुखदायी गोदीमें परम शान्ति मिल रही थी, माता भी एक अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कर रही थी ।

इस प्रकार निमाईकी अवस्था ९ वर्षकी हो गयी । शरीर इनका नीरोग, पुष्ट और सुगठित था, देखनेमें ये १६ वर्षके-से युवक जान पड़ते थे । अब पिताने इनके यज्ञोपवीतकी तैयारियाँ कीं ।

व्रत-बन्ध

> जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते।
> वेदपाठी भवेद् विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥*
>
> (धर्मशास्त्र)

संस्कार ही जीवन-पथके परिचायक चिह्न हैं। जैसे संस्कार होंगे उन्हींके अनुसार जीवन आगे बढ़ेगा। संयम और नियम ही उन्नतिके साधन हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने संयमके ही सिद्धान्तोंपर वर्णाश्रम-धर्मका प्रसार किया और उनके लिये पृथक्-पृथक् विधान बनाये। द्विजातियोंके लिये १६ संस्कारोंकी आज्ञा दी। गर्भाधानसे लेकर मृत्यु अथवा संन्यास-पर्यन्त सभी संस्कारोंकी एक विशेष विधिका निर्माण किया। जिनसे चित्त-पर प्रभाव पड़े और भविष्य-जीवन उज्ज्वल बन सके। द्विजातियोंका वेदारम्भ और उपवीत-संस्कार यही प्रधान संस्कार समझा जाता है। असलमें यज्ञोपवीत-संस्कार होनेपर ही बालकके ऊपर वैदिक कर्म लागू होते हैं, इसीलिये इसे व्रत-बन्ध-संस्कार भी कहते हैं। पूर्वकालमें बच्चा जब पढ़नेके योग्य हो जाता था, तो उसे सद्गुरुके आश्रममें ले जाते थे। गुरु उसे ग्रहण करके शौच, आचार और वेदकी शिक्षा देते थे। बस, इसीको उपनयन-संस्कार कहते थे। विद्या समाप्त होनेपर गुरुकी आज्ञासे शिष्य जब घरको लौटता था, तो उसे समावर्तन-संस्कार कहते थे। ये

---

* जन्म-कालमें बालक शूद्रतुल्य ही होता है। संस्कार होनेसे उसकी द्विजसंज्ञा होती है, जो निरन्तर वेदोंका ही अध्ययन-अध्यापन करते-कराते रहते हैं इससे वे विप्र कहाते हैं और जिसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया वही असलमें ब्राह्मण है।

तीनों संस्कार आज भी नाममात्रको होते तो हैं, किन्तु इन तीनोंका अभिनय एक ही दिनमें करा दिया जाता है। यह विकृत संस्कार आज भी हमारी महत्ताका स्मरण दिलाता है।

आज निमाईका यज्ञोपवीत संस्कार होगा। घरमें विवाह-शादीकी तरह तैयारियाँ हो रही हैं, मिश्रजीने अपनी शक्तिके अनुसार इस संस्कारको खूब धूमधामसे करनेका निश्चय किया है। घरके आँगनमें एक मण्डप बनाया गया है। उसमें एक ओर विद्वान् ब्राह्मण बैठे हुए हैं, उनके पीछे मिश्रजीके सम्बन्धी और स्नेही बैठे हैं। सामने स्त्रियाँ बैठी हैं, जो भाँति-भाँतिके मङ्गलगीत गा रही हैं। द्वारपर बाजे बज रहे हैं, चारों ओर खूब चहल-पहल दिखायी पड़ती है। ग्रहपूजा और हवनादिका कार्य करानेके निमित्त आचार्य सुदर्शन और विष्णु पण्डित प्रभृति विद्वान् मिश्रजीके पास मण्डपमें बैठे हुए हैं। यथासमय क्षौर कराकर निमाई मण्डपमें बुलाये गये। उनका सिर घुटा हुआ था, आचार्यने उन्हें अपने हाथोंसे ब्रह्मचारियोंके-से पीत वस्त्र पहिनाये। पीले वस्त्रकी लंगोटी पहिनायी, ओढ़नेको मृगचर्म दिया और हाथमें बड़ा-सा एक पलासका दण्ड दिया। अब निमाई पूरे ब्रह्मचारी बन गये। गौर वर्णके उज्ज्वल शरीरपर पीत वस्त्र बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। पिताके पास बैठकर इन्होंने समिधाधान किया, अग्निमें आहुति दी और यज्ञोपवीत धारण किया। मिश्रजीने एक वस्त्रकी आड़ करके इनके कानमें वेदमाता सावित्री अथवा गायत्री-मन्त्रका उपदेश दिया। मन्त्रके श्रवणमात्रसे ये भावमें निमग्न हो गये। मन्त्र सुनते ही इन्होंने एक बड़े जोरकी हुंकार मारी और साथ ही अचेत होकर पृथ्वी-पर गिर पड़े। हाथका दण्ड एक ओर पड़ा था और ये अचेत होकर पृथ्वीपर दूसरी ओर पड़े थे। दोनों नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही थी, प्राणवायु बहुत धीरे-धीरे चल रहा था। यज्ञके धूम्र लगनेसे लाल-लाल

आँखें आधी खुली हुई थीं और ये संज्ञाशून्य हुए चुपचाप पृथ्वीपर पड़े थे। इनकी ऐसी अवस्था देखकर सभी घबड़ा गये। मिश्रजीने इनके मुहमें जल डाला। कई आदमी पंखेसे हवा करने लगे। धीरे-धीरे इनकी मूर्च्छा भंग हुई और ये कुछ कालमें सचेत हो गये। सभीको इनकी इस अवस्थासे महान् आश्चर्य हुआ। सचेत होनेपर इन्होंने पिताजीसे कहा—'पिताजी! अब मुझे क्या करना चाहिये?'

ब्रह्मचर्य-व्रत लेनेपर छात्रको गुरु-गृहमें रहकर भिक्षापर ही निर्वाह करना होता था, यज्ञोपवीतके समय आज भी एक दिनके लिये भिक्षाका अभिनय कराया जाता है। इसीलिये अब निमाईको भिक्षा माँगनेके लिये झोली दी गयी। निमाईके हृदयपर उस संस्कारका बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा था। इन कृत्योंके कारण इनकी कायापलट-सी हो गयी। मुखपर एक अपूर्व ज्योति दृष्टिगोचर होने लगी। मुँड़ा हुआ माथा सूर्यके प्रकाशमें दमकने लगा। एक हाथमें दण्ड लिये और दूसरेमें झोली लटकाये ब्रह्मचारीके वेशमें निमाई बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। मानो वामन भगवान् अपने भक्त बलिसे भिक्षा माँगने जा रहे हों। ये पहिले अपनी माताके पास भिक्षा माँगने गये, फिर बारी-बारीसे सभीके पास भिक्षा माँगने लगे। आचार्यने इन्हें भिक्षा माँगनेका प्रकार बता दिया था। उसी प्रकार ये सबके सामने जाते और—'भवति भिक्षां देहि' कहकर झोली सामने कर देते। स्त्रियाँ इनके रूप-लावण्यको देखकर मुग्ध हो गयीं, माता मन-ही-मन प्रसन्न हो रही थी, उनके हृदयमें पुत्रस्नेहकी हिलोरें निरन्तर उठ रही थीं। वे निमाईकी शोभाको देखते-देखते तृप्त ही न होती थीं। अतृप्त दृष्टिसे वे नीचा सिर किये हुए धीरे-धीरे निमाईकी ओर निहार रही थीं। स्त्रियाँ इन्हें भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ भेंटमें देतीं। कोई फल देती, कोई मिठाईका थाल और कोई-कोई इनकी झोलीमें द्रव्य डाल देतीं। ये सभीके पास जाकर खड़े हो जाते, जिसके भी सामने खड़े होते उसीकी इच्छा होती कि इसे

सर्वस्व समर्पण कर दें। इस प्रकार ये भिक्षा माँगते हुए इधरसे उधर घूमने लगे।

इसी बीचमें एक वृद्ध ब्राह्मण लाठी टेकते-टेकते संस्कारमण्डपमें आया। उसने निमाईको इशारेसे अपने पास बुलाया, ये जल्दीसे उसके समीप चले गये। उसने अपने काँपते हुए हाथोंसे एक सुपारी इनकी झोलीमें डाल दी। इन्होंने उस सुपारीको जल्दीसे झोलीमेंसे निकालकर अपने मुँहमें डाल लिया। सुपारीके खाते ही इनकी विचित्र दशा हो गयी। ये किसी भारी भावावेशमें मग्न हो गये और उसी भावावेशमें मातासे गम्भीर स्वरमें बोले—'माँ! आजसे एकादशीके दिन अन्न कभी न खाया करना' माता भी भावावेशमें अपनेको भूल गयी। वह समझ न सकी, कि निमाई ही मुझसे उक्त बात कह रहा है। उसे प्रतीत हुआ मानो कोई दिव्य पुरुष मुझे आदेश कर रहे हैं। इसीलिये उसने विनयके साथ उत्तर दिया—'जो आज्ञा, आजसे हरिवासरके दिवस अन्न ग्रहण न करूँगी।'

थोड़ी देरमें इन्होंने कहा—'अच्छा, अब हम जाते हैं, अपने पुत्र-की रक्षा करना।' इतना कहकर ये फिर अचेत होकर गिर पड़े और थोड़ी देर बाद चारों ओर अपनी बड़ी-बड़ी लाल-लाल आँखोंको फाड़-फाड़कर देखने लगे, मानो कोई नींदसे जागा हुआ आदमी आश्चर्यके साथ अपने पासके अपूर्व कार्योंको देख रहा हो। इनके प्रकृतिस्थ होनेपर मिश्रजीने पूछा—'बेटा! क्या बात थी, तुम क्या कह रहे थे।'

इन्होंने सरलताके साथ उत्तर दिया—'नहीं तो पिताजी! मैंने तो कोई बात नहीं कही। मुझे कुछ भी पता नहीं, जाने क्या हुआ। मुझे कुछ निद्रा-सी प्रतीत होने लगी थी।' इस बातको सुनकर सभी इस भावावेशके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके तर्क-वितर्क करने लगे। किसीने कहा—'किसी भूत-प्रेतका आवेश है' किसीने कहा—'किसी दिव्यात्माका आवेश

है।' भक्तोंने कहा—'नहीं, यह साक्षात् हरि भगवान्‌का आवेश है।' उसी दिन यज्ञोपवीतके समय इनका नाम 'गौरहरि' हुआ। स्त्रियोंको यह नाम बहुत ही प्रिय था। अबसे वे निमाईको प्रायः 'गौर' या 'गौरहरि' ही कहकर पुकारने लगीं।

यज्ञोपवीत-संस्कारके समाप्त होनेपर गौरका समावर्तन-संस्कार किया गया। उनके वस्त्र बदल दिये गये। माताने बड़ी-बड़ी आँखोंमें काजल लगा दिया। नूतन वस्त्र पहिनकर गौर बाहर आये। उन्होंने सबसे पहिले पिताके चरणोंको स्पर्श करके प्रणाम किया, फिर क्रमशः सभी वृद्ध ब्राह्मणोंकी चरण-वन्दना की। ब्राह्मणोंने इन्हे भाँति-भाँतिके आशीर्वाद दिये। इस प्रकार बड़े ही आनन्दके साथ इनका व्रत-बन्ध-संस्कार समाप्त हुआ।

यज्ञोपवीत हो जानेके अनन्तर ये आचार्य सुदर्शन और विष्णु पण्डितके समीप पढ़नेके लिये जाने लगे। इनकी मेधाशक्ति बाल्यकालसे ही बड़ी तीक्ष्ण थी। अध्यापक एक बार जो इन्हें पढ़ा देते, फिर दूसरी बार इन्हे पूछनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। इसलिये अध्यापक इनसे बहुत ही प्रसन्न रहने लगे।

थोड़े दिनोंके प श्चात् मिश्रजीने इन्हे मायापुरके निकटवर्ती गङ्गानगरकी पाठशालामें पढ़नेके लिये भेजा। उस समय उस पाठशालाके प्रधानाध्यापक पण्डित गङ्गादासजी थे। पण्डित गङ्गादासजी व्याकरणके अद्वितीय विद्वान् थे। व्याकरणमें उनकी ख्याति दूर-दूरतक फैल चुकी थी, बड़े-बड़े योग्य छात्र उनकी पाठशालामें अध्ययन करते थे। उस समय व्याकरणकी यही पाठशाला मुख्य थी। निमाई भी अन्य छात्रोंके साथ पण्डित गङ्गादासजीके समीप व्याकरणका अध्ययन करने लगे।

पिताका परलोकगमन

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त ! हन्त !! नलिनीं गज उज्जहार ॥*

(भर्तृ० वै० श०)

---

* (सूर्यास्तके समय कमल मूँद जाते हैं, रसका लोलुप एक भ्रमर भी कमलके साथ उसमें बंद हो गया । रात्रिमें कमलके भीतर-ही-भीतर बैठा वह मनसूबे बाँध रहा था) अब थोड़ी देरमें मनोहर सुन्दर प्रभात हो जायगा । भगवान् भुवनभास्कर उदित होकर सम्पूर्ण लोकको आलोक प्रदान करेंगे, उस समय मारे प्रसन्नताके कमल खिल जायगा, चकवा अपनी प्यारी चकवीको रात्रिभरके वियोगको भूलकर उसे पाकर हँसने लगेगा । इस प्रकार वह चिन्ता कर ही रहा था, कि ओहो बड़े ही कष्टकी बात है, उसी समय एक मतवाला हाथी वहाँ चला आया और जिस कमलकी दण्डीमें वह फूल था, उसे तोड़कर कुचल डाला । भ्रमरके सब मनसूबे मनके मनमें ही रह गये ।

पण्डित जगन्नाथ मिश्रकी आशा-लता अब बड़ी ही तेजीके साथ बढ़ने लगी। उस लतापर छोटी-छोटी कलियाँ आने लगीं। उनकी भीनी-भीनी गन्धके कारण मिश्रजी कभी-कभी अपने आपको भूल जाते। वे सोचने लगते—'भगवान् मेरी चिराभिलषित आशाको अब शीघ्र ही पूर्ण करेंगे।' मेरी आशा-लता अब शीघ्र ही फूलने-फलने लगेगी। वह दिन कैसा सुहावना होगा, जिस दिन निमाईको बहूके साथ अपने आँगनमें देखूँगा। माता-पिताकी यही सबसे मधुर और सुखकरी कामना है कि वे अपने पुत्रको प्यारी पुत्र-वधूके साथ देख सकें। संसारमें यही उनके लिये एक सुन्दरतम सुअवसर होता है। शचीदेवीके सहित मिश्रजी उसी दिनकी प्रतीक्षा करने लगे। 'तेरे मन कुछ और है, विधनाके कुछ और' विधिको मिश्रजीकी मनसूबा मंजूर नहीं था, उसने तो कुछ और ही रचना रच रखी थी। मिश्रजी अपने प्यारे पुत्रका विवाहोत्सव इस शरीरसे न देख सके।

निमाई अब ग्यारह वर्षके हो गये। नियमित समयपर पढ़ने जाते और रोज आकर पिताजीके चरणोंमें प्रणाम करते। एक दिन उन्होंने देखा, पिताजी ज्वरके कारण अचेत पड़े हैं। उन्होंने घबड़ाकर मातासे पूछा—'अम्मा! पिताजीको क्या हो गया है?' उदास होकर माताने कहा—'बेटा! तेरे पिताको ज्वर आ गया है।' निमाई पिताकी खाटके पास जा बैठे और धीरे-धीरे उनके माथेपर हाथ फेरने लगे। निमाईके सुकोमल शीतल कर-स्पर्शसे पिताकी तन्द्रा दूर हुई। उन्होंने क्षीण स्वरमें कहा—'निमाई! बेटा! मुझे थोड़ा जल तो पिला दे।'

निमाईने पासके बर्तनमेंसे जल पिलाया, अपने वस्त्रसे उनका मुँह पोंछा और प्रेमके साथ पूछने लगे—'पिताजी! अब आपकी तबीयत कैसी है?'

करवट बदलते हुए मिश्रजीने कहा—'अब मैं अच्छा हूँ; चिन्ताकी कोई बात नहीं, तू पढ़ने नहीं गया क्या ?'

निमाईने अन्यमनस्क-भावसे कहा—'अब जबतक आपकी तबीयत अच्छी तरहसे ठीक नहीं होती, तबतक मैं पढ़ने न जाऊँगा ।' मिश्रजी चुप हो गये, निमाई उदास-भावसे उनके पास बैठे रहे ।

कई दिन हो गये, ज्वर कम ही नहीं होता था। वैद्यको भी शचीदेवीने बुलाया । घरमें इतना द्रव्य नहीं था, कि बड़े-बड़े वैद्योंको बुलाया जा सके । पासमें जो मामूली वैद्य थे उन्हींकी बतायी हुई दवा कभी-कभी दी जाती । किन्तु रोग घटनेके स्थानमें बढ़ने लगा । मिश्रजी अपने जीवनकी आशासे निराश हो गये । उन्हें अपने अन्तिम समयका ज्ञान हो गया ।

क्षीण स्वरमें उन्होंने शचीदेवीसे कहा—'अब मेरे जीवनकी कोई आशा नहीं है, मालूम होता है, इस शरीरसे अब मैं अपनी आशाको पूरी होते न देख सकूँगा, अच्छा, जैसी रघुनाथजीकी इच्छा । मैं अब क्या कहूँ, मेरे साथ तुम्हें कुछ भी सुख प्राप्त न हो सका । भगवान्‌की ऐसी ही मर्जी थी, अब मैं तो थोड़े ही समयका मेहमान हूँ, निमाईका खयाल रखना ।' इतना कहते-कहते मिश्रजीकी साँस फूलने लगी । आगे वे कुछ भी न कह सके और चुप होकर लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगे । शचीदेवी फूट-फूटकर रोने लगी ।

पिताकी ऐसी दशा देखकर निमाईने उन्हें खाटसे नीचे उतारनेकी सलाह दी । मिश्रजी नीचे दामके आसनपर लिटाये गये । मिश्रजीने नीचेसे धीरे-धीरे कहा—'मुझे श्रीभागीरथीके तटपर ले चलो ।' उनकी इच्छाके अनुसार निमाई माताके साथ उन्हें स्वयं गङ्गातटपर ले गये । ग्यारह वर्षके

बालकने किसी दूसरेको हाथ नहीं लगाने दिया। माताकी सहायतासे वे स्वयं मिश्रजीको गङ्गा-तटपर ले गये।'

निमाईने भी समझ लिया, कि अब पिताजी हमें छोड़कर सदाके लिये जा रहे हैं। इसलिये उन्होंने रोते-रोते कहा—'पिताजी! मुझसे क्या कहते हैं, मुझे किसके हाथों सौंप रहे हैं?'

मिश्रजीने अपने शक्तिहीन हाथको धीरे-धीरे उठाकर निमाईके सिरपर फिराया और उनके सिरको छातीपर रखकर क्षीण स्वरमें कहा—'निमाई! मैं तुझे भगवान् विश्वम्भरके हाथों सौंपता हूँ, वे ही तेरी रक्षा करेंगे।' यह कहते-कहते मिश्रजीने पुण्यतोया भगवती भागीरथीकी गोदमें अपना यह नश्वर शरीर त्याग दिया। निमाई और शचीदेवी चीत्कार करके रोने लगे। सगे-सम्बन्धियोंने उन्हें धैर्य धारण कराया। यथाविधि निमाईने पिताकी अन्त्येष्टि क्रिया की। पिताके परलोकगमनसे उन्हे बहुत दुःख हुआ। माताको तो चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार प्रतीत होने लगा। उन्हे मिश्रजीकी असामयिक मृत्युसे बहुत दुःख हुआ। घरमें कोई दूसरा नहीं था। इसलिये गौरने ही माताको धैर्य धारण कराया। उन्होंने मातासे कहा—'अम्मा! भाग्यको कौन मेंट सकता है। मृत्यु तो एक-न-एक दिन सभीकी होनी है। हमारे भाग्यमें इतने ही दिन पिताजीका साथ बदा था। अब वे हमें छोड़कर चले गये। तुम इतनी दुखी मत हो। तुम्हे दुखी देखकर मेरा कलेजा फटने लगता है। मैं हर तरहसे तुम्हारी सेवा करनेको तैयार हूँ।'

निमाईके समझानेपर माताने धैर्य धारण किया और अपने शोकको छिपाया।

विद्याव्यासंगी निमाई

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्ति-
रन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम् ।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरङ्गहृद्या
विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥*
(सु० र० भां० ४० । २५)

प्रायः मेधावी बालक गम्भीर होते हैं। उनके गाम्भीर्यमें उनक
पाण्डित्य प्रस्फुटित नहीं होता, वे लोगोंके सम्मान-भाजन तो अवश्य बन
जाते हैं, किन्तु सभी साथी उनसे खुलकर बातें नहीं कर सकते। उनवे
साथ संलाप करनेमें कुछ संकोच और भय-सा हुआ करता है। यदि
प्रखर बुद्धिवाला छात्र मेधावी होनेके साथ ही चञ्चल, हँसमुख और मिलन-
सार भी हो तब तो उसका कहना ही क्या ? सुहागा मिले सोनेमें माने
सुगन्ध भी विद्यमान है। ऐसा छात्र छोटे-बड़े सभी छात्रों तथा अध्यापकोंक
प्रीति-भाजन बन जाता है। निमाई ऐसे ही विद्यार्थी थे। ये आवश्यकतासे
अधिक चञ्चल थे और वैसे ही अद्वितीय मेधावी। हँसीका तो मानो
मुखसे सदा फुव्वारा ही छूटता रहता। ये बात-बातपर खूब जोरोंसे खिल-

---

* विद्वानोंकी मनोवृत्ति जगत्‌का हित करनेवाली और संसारी लोगोंकि
वृत्तिसे विलक्षण ही होती है। उनकी वचनावलीकी रचना भी कुछ अलौकिव
ही होती है। आकृति मनोहर और कृति लोकोत्तर होती है। उनकी सभी बातं
ऐसी होती है जिनका वाणीके द्वारा वर्णन किया ही नहीं जा सकता।

खिलाकर हँसते और दूसरोंको भी अपने मनोहर विनोदोंसे हँसाते रहते। इनके पास मुँह लटकाये कोई बैठ ही नहीं सकता था, ये रोतेको हँसानेवाले थे।

पं० गंगादासजीकी पाठशालामें बहुत बड़े-बड़े विद्यार्थी अध्ययन करते थे जो इनसे विद्यावृद्ध होनेके साथ ही वयोवृद्ध भी थे। ३०-३०, ४०-४० वर्षके छात्र पाठशालामें थे। इनकी अवस्था अभी १३-१४ ही वर्षकी थी, फिर भी ये बड़े छात्रोंसे सदा छेड़खानी करते रहते। उन छात्रोंमें बहुत-से तो बड़े ही मेधावी और प्रत्युत्पन्नमति थे, जो आगे चलकर लोक-प्रसिद्ध पण्डित हुए। प्रसिद्ध कवि मुरारी गुप्त, कमलाकान्त, तन्त्रशास्त्रके सर्वमान्य आचार्य कृष्णानन्द उन दिनों उसी पाठशालामें पढ़ते थे। निमाई छोटे-बड़े किसीसे भी संकोच नहीं करते थे, ये सभीसे भिड़ जाते और उनसे वाद-विवाद करने लगते। विशेषकर ये वैष्णव-विद्यार्थियोंको खूब चिढ़ाया करते थे। उनकी भाँति-भाँतिसे मीठी-मीठी चुटकियाँ लेते और उन्हें लज्जित करके ही छोड़ते थे।

मुरारी गुप्त इनसे अवस्थामें बड़े थे, किन्तु ये उन्हें सदा चिढ़ाया करते। मुरारी पहिले तो बालक समझकर सदा इनकी उपेक्षा करते रहते। जब उन्हें इनकी विलक्षण बुद्धिका परिचय प्राप्त हुआ, तब तो वे इनके साथ खूब बातें करने लगे। ये कहते—'मुरारी! अमुक प्रयोगको सिद्ध करो।' मुरारी उसे ठीक-ठीक सिद्ध करते। ये उसमें बीसों दोष निकालते, उसका कई प्रकारसे खण्डन करते। मुरारी इनकी तर्कशैलीको सुनकर आश्चर्य प्रकट करने लगते, तब आप एक-एक शंकाका समाधान करते हुए मुरारीके ही मतको स्थापित करते। फिर हँसकर कहते—'गुप्त महाशय! यह तो पण्डितोंका काम है, आप ठहरे वैद्यराज। जड़ी-बूटी घोंट-पीसकर गोली बनाना सीख लो! नाड़ी देख ली, फिर चाहे रोगी मरो

या जीओ, तुम्हें अपने टकेसे काम। 'वैद्यराज नमस्तुभ्यं यमराजसहोदर। यमस्तु हरते प्राणान् त्वं तु प्राणान् धनानि च ॥' 'तुम तो यमराजके सहोदर हो। तुम्हें नमस्कार है।' मुरारी इनकी ये बातें सुनते और मन-ही-मन लज्जित होते, ऊपरसे इनके साथ हँसने लगते। इस प्रकार ये मुरारीके साथ सदा ही विनोद करते रहते। कभी-कभी मुरारी अत्यन्त चिढ़ानेसे खिन्न भी हो जाते, तब ये अपना कोमल करकमल उनकी देहपर फेरने लगते। इनके स्पर्शमात्रसे ही वे सब बातें भूल जाते और इनके प्रति अत्यन्त स्नेह प्रकट करने लगते। मुरारीसे इनकी खूब पटती थी और मुरारी भी इनसे हार्दिक स्नेह करते थे।

वाद-विवाद करनेमें ये अद्वितीय थे। जो भी छात्र मिल जाता उसीसे भिड़ पड़ते और वह चाहे उल्टा कहे या सीधा, सभीका खण्डन करते और उसे परास्त करके ही छोड़ते। अपने आप ही पहिले किसी विषयका खण्डन कर देते, फिर युक्तियोंद्वारा स्वयं ही उसका मण्डन भी करने लगते। विद्यार्थी इनकी ऐसी विलक्षण बुद्धिकी बारंबार बड़ाई करते और इनकी वाक्पटुताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते। किसी भी पाठशालाके छात्रको गङ्गातटपर या कहीं अन्यत्र रास्तेमें पाते वहीं उसे पकड़ लेते और उससे संस्कृतमें पूछते—'तुम्हारे गुरुका क्या नाम है? क्या पढ़ते हो?' जब वह कहता अमुक पाठशालामें व्याकरण पढ़ता हूँ, तब झट आप उससे प्रयोग पूछने लगते। बेचारा विद्यार्थी इनसे जिस किसी भाँति अपना पीछा छुड़ाकर भागता। शामके समय सभी पाठशालाओंके छात्र दल बना-बनाकर गङ्गाजीके किनारे आते और परस्परमें शास्त्रालाप किया करते। ये उन सबमें प्रधान रहते। कभी किसी पाठशालाके छात्रोंके साथ शास्त्रार्थ कर रहे हैं, कभी किसी पाठशालाके छात्रोंको परास्त कर रहे हैं, यही इनका नित्यप्रतिका कार्य था। दस-दस बीस-बीस छात्र मिल-कर इनसे शङ्का करने लगते। ये बारी-बारीसे सबका उत्तर देते। इनकी

पाठशालावाले इनका पक्ष लेते। कभी-कभी बातों-ही-बातोंमें वितण्डा भी होने लगता और मार-पीटतककी नौबत आ जाती। इस बातमें भी ये किसीसे कम नहीं थे। इस प्रकार ये सभी पाठशालाओंके छात्रोंमें प्रसिद्ध हो गये। विद्यार्थी इनकी सूरतसे घबड़ाते थे।

उन दिनों आजकलकी भाँति व्याकरणके टीकाग्रन्थोंका प्रचार नहीं था, छापेखाने नहीं थे, इसलिये पुस्तकें हाथसे ही लिखनी पड़ती थीं और मूलके साथ ही टीकाको भी कण्ठस्थ ही करना पड़ता था। अध्यापक टीकाओंके ऊपर जो टिप्पणियाँ बताते उन्हें छात्र भूल जाते थे। इसलिये कई छात्र परस्पर मिलकर पाठको विचार न लें तबतक पाठ लगता ही नहीं था। अब भी पाठशालाओंमें बुद्धिमान् छात्र अपने साथियोंको पाठ विचरवाया करते हैं। निमाई भी अपने साथियोंको पाठ विचरवाते, इसलिये सभी छात्र इनका गुरुकी भाँति आदर करते थे। ये विषयको इस ढंगसे समझाते थे कि मूर्ख-से-मूर्ख भी छात्र सहजहीमें पढ़े हुए पाठको समझ जाता था।

उन दिनों गौराङ्ग व्याकरणके 'पञ्जीटीका' नामक ग्रन्थको समाप्त कर चुके थे, इन्होंने उसके ऊपर एक सरल टिप्पणी भी लिखी। इनकी की हुई टीकाके ऊपर टिप्पणी विद्यार्थियोंके बड़े ही कामकी थी, बहुत शीघ्र ही विद्यार्थियोंमें इनकी टिप्पणीका प्रचार हो गया और बड़े-बड़े विद्वानोंने इनकी पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणीकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की। यहाँतक नहीं, उस टिप्पणीका नवद्वीपसे बाहर अन्य देशोंके छात्रोंमें भी प्रचार हुआ और सभीने इनके पाण्डित्यकी सराहना की। इस प्रकार इनकी प्रशंसा दूर-दूरतक फैल गयी। व्याकरणके साथ ही ये अलंकारके भी पाठ सुनते और उन्हें सुनते-सुनते ही हृदयंगम करते जाते थे। इस प्रकार ये थोड़े ही समयमें व्याकरण तथा अलंकारमें प्रवीण हो गये।

उन दिनों नवद्वीपमें न्यायका बोलबाला था। जो पण्डित व्याकरण पढ़कर न्याय नहीं जानता, उसका विशेष सम्मान नहीं होता था। न्यायमें उन दिनों पं० वासुदेव सर्वभौम नदियाके राजा समझे जाते थे। न्यायमें उन्हींकी पाठशाला सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थी और उसमें सैकड़ो छात्र पढ़ते थे। उस पाठशालाके पढ़े हुए छात्र आज संसारप्रसिद्ध पण्डित माने जाते हैं। नव्यन्यायकी जो टीका 'जागदीशी' के नामसे न्यायका ही परिचय देती है उसीके प्रणेता पं० जगदीशके भी गुरु भवानन्द इसी पाठशालाके छात्र थे। 'दीधिति' नामक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थके प्रणेता पं० रघुनाथजी भी उन दिनों इसी पाठशालामें पढ़ते थे। इस प्रकार वह पाठशाला न्यायका एक भारी केन्द्र बनी हुई थी। निमाई भी पाठशालामें जाकर न्यायका पाठ सुनने लगे। ऐसी पाठशालाओंमें प्रत्येक छात्रोंके पृथक् पाठ नहीं चलते हैं। दस-पाँच पाठ होते हैं, अपनी जैसी योग्यता हो, उसी पाठको जाकर सुनते रहो; बस, यही पढ़ाई थी। सैकड़ों छात्र और पण्डित पाठ सुनने आते हैं। अध्यापक उनमेंसे बहुतोंका नाम-पता भी नहीं जानते। वे पाठ सुनकर चले जाते हैं। आज भी काशी आदि बड़े-बड़े स्थानोंकी प्राचीन ढंगकी पाठशालाओंमे ऐसा ही रिवाज है। निमाई भी पाठशालामे जाकर पाठ सुन आते। सार्वभौम महाशयका उन दिनों इनके साथ कोई विशेष परिचय नहीं हुआ; किन्तु इनकी चञ्चलता, चपलता, वाक्पटुता और लोकोत्तर मेधाके कारण मुख्य-मुख्य छात्र इनसे बहुत स्नेह करने लगे। वे यह भी जानने लगे कि न्याय-जैसे गम्भीर विषयको निमाई भलीभाँति समझता है। वह अन्य बहुत-से छात्रोंकी भाँति केवल सुनकर ही नहीं चला जाता।

पीछे जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं वे ही 'दीधिति' महाग्रन्थके रचयिता पण्डित रघुनाथ उन दिनों सभी छात्रोंमें सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। उन्हें स्वयं भी अपनी तर्कशक्ति और विलक्षण बुद्धिका भरोसा था। उनकी

उस समयसे ही यह प्रबल वासना थी कि मैं भारतवर्षमें एक प्रसिद्ध नैयायिक बनूँ। सम्पूर्ण देशमें मेरी विलक्षण बुद्धिकी ख्याति हो जाय। जो जैसे होनहार होते हैं, उनकी पहिलेसे ही वैसी भावना होती है। रघुनाथकी भी सर्वमान्य बननेकी पहिलेसे ही वासना थी। रघुनाथके साथ निमाईका परिचय पहिलेसे ही हो चुका था। उनके साथ इनकी गाढ़ी मैत्री भी हो चुकी थी। निमाई कभी-कभी रघुनाथके निवासस्थानपर भी जाया करते और उनसे न्यायसम्बन्धी बातें भी किया करते थे। इनकी बातचीतोंसे ही रघुनाथ समझ गये कि यह भी कोई होनहार नैयायिक है। वे समझते थे कि मुझसे न्यायमें स्पर्धा रखनेवाला नवद्वीपमें दूसरा कोई छात्र नहीं है। निमाईसे बातचीत करते-करते कभी उन्हें खटकने लगता कि यदि यह इसी प्रकार परिश्रम करता रहा, तो सम्भवतया मुझसे बढ़ सकता है। किन्तु उन्हें अपनी बुद्धिपर पूरा भरोसा था, इसलिये इस विचारको वे अपने हृदयमें जमने नहीं देते थे।

एक दिन रघुनाथको गुरुने कोई 'पंक्ति' लगानेको दी। वह 'पंक्ति' रघुनाथकी समझमें ही नहीं आयी। वे दिनभर चुपचाप बैठे हुए उसी पंक्तिको सोचते रहे। तीसरे पहर जाकर वह पंक्ति रघुनाथकी समझमें आयी, उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। गुरुको बताकर वे अपने स्थानपर भोजन बनाने चले गये।

निमाईका स्वभाव तो चञ्चल था ही, रघुनाथको पाठशालामें न देखकर आप उनके निवासस्थानपर पहुँचे। वहाँ जाकर देखा रघुनाथ भोजन बना रहे हैं। लकड़ी गीली है। रघुनाथ बार-बार फूँकते हैं, अग्नि जलती ही नहीं। धुएँके कारण उनकी आँखें लाल पड़ गयी हैं और उनमें-से पानी निकल रहा है। हँसते हुए निमाईने रघुनाथके चौकेमें प्रवेश किया। प्रेमके साथ हँसते हुए बोले—'पण्डित महाशय! आज असमयमें रन्धन क्यों हो रहा है?'

अग्निमे फूक देते हुए रघुनाथने कहा—'क्या बताऊँ भाई ! गुरुजीने एक 'पंक्ति' लगानेके लिये दी थी, वह मेरी समझमें ही नहीं आयी। दिनभर सोचते रहनेपर अब समझमे आयी, उसे अभी गुरुजीको सुनाकर आया हूँ, इसीलिये भोजन बनानेमें देर हो गयी।'

जल्दीसे निमाईने कहा—'जरा हम भी तो उस पंक्तिको सुनें। पंक्ति क्या थी आफत थी, जो आप-जैसे पण्डितकी समझमे इतनी देरमे आयी। जरूर कोई बहुत ही कठिन होगी। मैं भी उसे एक बार सुनना चाहता हूँ।'

रघुनाथने वह पंक्ति सुना दी। थोड़ी देर सोचनेके अनन्तर निमाई हँस पड़े और बोले—'बस, इसी छोटी-सी 'पंक्ति' को इतनी देर सोचते रहे, इसमे है ही क्या ?'

ज़रा आवेशके साथ रघुनाथजीने कहा—'अच्छा, कुछ भी नहीं है तो तुम्हीं लगाकर बताओ।'

इतना सुनते ही निमाईने बड़ी ही सरलताके साथ पंक्तिके पूर्वपक्षकी स्थापना की। फिर यथावत् एक-एक शङ्काका समाधान करते हुए उसे बिल्कुल ठीक लगा दिया।

निमाईके मुखसे उस इतनी कठिन पंक्तिको खिलवाड़की भाँति हँसते-हँसते लगाते देख रघुनाथके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। उन्हें जो शङ्का थी, वह प्रत्यक्ष आ उपस्थित हुई। उनकी सभी आशापर पानी फिर गया। भोजन बनाना भूल गये। निमाई उनके मनोभावको ताड़ गये कि रघुनाथ कुछ लज्जित हो गये हैं, इसलिये यह कहते हुए कि 'अच्छा आप भोजन बनावें फिर मिलेंगे।' पाठशालाकी ओर चले गये। रघुनाथने जैसे-तैसे भात तो बनाया, किन्तु उनके हृदयमें निमाईकी बुद्धिके प्रति डाह होनेके कारण उन्हें भोजनमें आनन्द नहीं आया, जैसे-तैसे भोजन करके वे

पाठशालामें आये।

अब निमाईकी अवस्था सोलह वर्षकी हो चुकी थी, उनके घुँघराले लम्बे-लम्बे बाल, तेजस्वी चेहरा, सुगठित शरीर, बड़ी-बड़ी सुहावनी आँखें, मिष्ट-भाषण और मन्द-मन्द मुस्कान देखनेवालेको स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती थीं। वे सभीसे दिल खोलकर मिलते और खूब घुल-घुलकर बातें करते। उनके मिलनेवाले परस्परमें सभी यही समझते कि निमाई जितना अधिक स्नेह हमसे करता है, उतना किसी दूसरेसे शायद ही करता हो। इसका कारण यह था कि उनके हृदयमें किसी भी प्राणीके प्रति द्वेष नहीं था। जिसके हृदयमें प्राणीमात्रके प्रति सम्मान है उसे सभी अपना सगा-सम्बन्धी समझने लगते हैं। इसीलिये निमाईके बहुत अधिक स्नेही थे। व्याकरण पढ़नेके अनन्तर ये न्यायका अभ्यास करने लगे और उसी बीच न्यायके ऊपर भी एक टिप्पणी लिखने लगे।

इनके सहपाठी और स्नेही पं० रघुनाथजी उसी समय अपने जगत्-प्रसिद्ध 'दीधिति' ग्रन्थको लिख रहे थे। वे समझते थे, मेरा यह ग्रन्थ अर्वाचीन-न्यायके ग्रन्थोंमें अद्वितीय होगा। जब उन्होंने सुना कि निमाई भी एक न्यायका ग्रन्थ लिख रहे हैं, तब तो इनको भय मालूम पड़ने लगा और इनकी प्रबल इच्छा हुई कि उस ग्रन्थको देखना चाहिये। यह सोच-कर एक दिन उन्होंने निमाईसे कहा—'भाई! हमने सुना है, न्यायके ऊपर तुम कोई ग्रन्थ लिख रहे हो? हमारी बड़ी इच्छा है, किसी दिन अपने ग्रन्थको हमें भी दिखाओ।'

इन्होंने जोरोंसे हँसते हुए कहा—'अजी! आप भी कैसी बात कर रहे हैं। भला, हम न्याय-जैसे जटिल विषयपर लिख ही क्या सकते हैं? यह तो आप-जैसे पण्डितोंका काम है। हम तो वैसे ही मनोविनोदके लिये खिलवाड़-सा करने लगे हैं। आपसे किसने कह दी।'

रघुनाथने आग्रहके साथ कहा—'कुछ भी हो, मेरी बड़ी प्रबल इच्छा है, यदि तुम्हें कोई आपत्ति न हो, तो अपने ग्रन्थको मुझे जरूर दिखाओ।'

इन्होंने जल्दीसे कहा—'भला, इसमें आपत्तिकी बात ही क्या हो सकती है? यह तो हमारा सौभाग्य है कि आप-जैसे विद्वान् हमारी कृतिके देखनेकी जिज्ञासा करते हैं। मैं कल जरूर उसे लेता आऊँगा।'

दूसरे दिन निमाई अपने ग्रन्थको साथ लेते आये। पाठशालासे लौटते समय वे नावपर बैठकर रघुनाथको अपने ग्रन्थको सुनाने लगे। रघुनाथ ज्यों-ज्यों उस ग्रन्थको सुनते थे, त्यों-ही-त्यों उनकी मनोवेदना बढ़ती जाती थी। यहाँतक कि वे ग्रन्थको सुनते-सुनते फूट-फूटकर रोने लगे। निमाई अपनी धुनिमें सुनाते ही जा रहे थे, उन्हें पता भी नहीं था, कि रघुनाथकी ग्रन्थके सुननेसे क्या दशा हो रही है। सुनाते-सुनाते एक बार इन्होंने दृष्टि उठाकर रघुनाथकी ओर देखा। इनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। आश्चर्य प्रकट करते हुए निमाईने पूछा—'भैया! तुम रो क्यों रहे हो?'

आँसू पोंछते हुए रुद्धकण्ठसे उन्होंने कहा—'निमाई! तुमसे मैं अपने मनोगत भावोंको छिपाकर एक नया दूसरा पाप न करूँगा। सत्य बात तो यह है कि मैं इस अभिलाषासे एक ग्रन्थ लिख रहा था कि यह सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ होगा। किन्तु तुम्हारे इस ग्रन्थको देखकर मेरी चिराभिलषित आशापर पानी फिर गया। भला, तुम्हारे इस ग्रन्थके सामने मेरे ग्रन्थको कौन पूछेगा? इसी मनोवेदनाके कारण मैं अपने आँसुओंको रोकनेमें असमर्थ हो गया हूँ।'

यह सुनकर निमाई बड़े जोरोंसे हँसे और उन्हें स्पर्श करते हुए बोले—'बस, इस छोटी-सी बातके ही लिये आप इतना अनुताप कर रहे

हैं। भला, यह भी कोई बात है, यह तो साधारण-सी पोथी है, मैं आपकी प्रसन्नताके निमित्त जलती अग्निमें भी कूदकर इन प्राणोंको स्वाहा कर सकता हूँ, फिर यह तो बात ही क्या है ! इस पुस्तकने आपको इतना कष्ट पहुँचाया, लो इसे मैं अभी नष्ट किये देता हूँ।' इतना कहते-कहते निमाईने अपनी बड़े परिश्रमसे हस्तलिखित पोथीको गङ्गाजीके प्रवाहमें फेंक दिया। जाह्नवीके तीक्ष्ण प्रवाहकी हिलोरोंमें पुस्तकके पन्ने इधर-उधर नाचने लगे, मानो निमाईके त्याग और प्रेमके गीत गा-गाकर वे आनन्दमें थिरक रहे हों।

रघुनाथने निमाईको गलेसे लगाया और प्रेमके कारण रुँधे हुए कण्ठसे बोले—'भैया निमाई! ऐसा लोकोत्तर दुस्साध्य कार्य तुम्हीं कर सकते हो। इतनी भारी लोकैषणाको तृणवत् समझकर उसका तिरस्कार कर देना तुम्हारे-जैसे ही महापुरुषोंका काम है। हम तो कीर्ति और प्रतिष्ठाके कीड़े हैं। हमारी पुस्तककी अपेक्षा तुम्हारे इस त्यागकी संसारमें लाखों गुनी ख्याति होगी और आगेके लोग इस त्यागके द्वारा प्रेमका महत्त्व समझ सकेंगे।'

इस प्रकारकी बातें करते हुए दोनों मित्र अपने-अपने घर लौट आये। उसी दिनसे निमाईका न्याय पढ़ना ही नहीं छूटा, किन्तु उनका पाठशाला जाना ही छूट गया। अब उन्होंने ऐसी विद्याको पढ़ना एकदम त्याग दिया। घरपर पिताकी और ज्येष्ठ भ्राताकी बहुत-सी पुस्तकें थीं, वे उन्हींका स्वयं अध्ययन करने लगे।

अपूर्व त्याग

पत्तोंसे भोगे हुए प्राणी शीतलताका सुखास्वादन करते हैं, उसकी पूर्ण आयुका अनुमान भी नहीं किया जाता है। वह शाश्वत वृक्ष बन जाता है।

निमाई यद्यपि अपने साथी विद्यार्थियोंकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और विलक्षण थे, फिर भी साधारण लोग यही समझते थे कि कालान्तरमें यह भी एक पाठशाला खोलकर नवद्वीपका अन्य पण्डितोंकी भाँति एक नामी पण्डित बन जायगा। यह भी अन्य पण्डितोंकी भाँति स्त्री-पुत्रोंमें आसक्त होकर सुखपूर्वक संसारी सुखोंका उपभोग करेगा। क्योंकि विद्वान् हो अथवा मूर्ख संसारी विषयोंमें तो सब समानरूपसे ही रत रहते हैं। बड़े लोगोंकी भोग-सामग्री बहुमूल्य और बड़ी होती है। छोटे लोग साधारण भोग-सामग्रियोंसे ही अपनी वासनाओंको पूर्ण करते हैं, किन्तु उनमें आसक्ति दोनोंकी समान ही है। बँधे दोनों ही हैं। फिर चाहे वह बन्धन रस्सीका हो अथवा रेशमका। सोनेकी हो या लोहेकी, बेड़ी तो समान ही हैं। दोनों ही बन्धनसे प्रभुकी इच्छाके बिना नहीं निकल सकते। अन्यान्य पण्डितोंको धनके ही लिये विद्योपार्जन करते देख लोगोंका यही अनुमान हो गया था कि निमाई भी अपने विद्या-बलसे खूब धन प्राप्त करेगा। उन्हें यह पता नहीं था, इसके उपदेशसे असंख्यों मनुष्य स्त्री, धन, परिवार और समस्त उत्तमोत्तम भोग-सामग्रियोंको तुच्छ समझकर महाधनकी प्राप्तिमें कटिबद्ध हो जायँगे और अपने मनुष्य-जन्मको सार्थक बनावेंगे। संसारी लोग बेचारे और अनुमान कर ही क्या सकते हैं? इनका आरम्भिक जीवन आदिमें अन्य साधारण जीवनोंकी भाँति था ही, इससे लोगोंका यही अनुमान लगाना ठीक था।

निमाईकी अवस्था अब सोलह वर्षकी है। व्याकरण, अलङ्कार और न्यायमें इन्होंने प्रवीणता प्राप्त कर ली है। आगे पढ़नेकी भी इच्छा थी, किन्तु कई कारणोंसे इन्होंने पाठशालामें जाकर पढ़ना बंद कर दिया।

घरपर अकेली विधवा माता थी, निर्वाहका कोई दूसरा प्रबन्ध नहीं था। आकाशी वृत्ति थी, ईश्वरेच्छासे जो भी आ जाता उसीपर निर्वाह होता। मिश्रजी कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ गये थे, उनके सामने भी इसी प्रकार निर्वाह होता था। अब निमाई समझदार हो गये, विद्वान् भी बन गये, इसीलिये अब जीवन-निर्वाहके लिये भी कुछ उद्योग करना चाहिये। वृद्धा माताको सुख पहुँचानेका यही अवसर है। यह सब सोच-समझकर इन्होंने सोलह वर्षकी छोटी ही अवस्थामें अध्यापनका कार्य करना आरम्भ कर दिया।

इनकी विलक्षण बुद्धि और पठन-पाठनकी अद्वितीय सुन्दर शैलीसे सभी शास्त्रीय ज्ञान रखनेवाले पुरुष परिचित थे। इसलिये इन्हें नवद्वीप-जैसे विद्याके भारी केन्द्रस्थानमें अध्यापक बननेमें कोई कठिनता न हुई। नवद्वीपमें मुकुन्द संजय नामके एक विद्यानुरागी धनी-मानी व्यक्ति थे। उनके एक पुरुषोत्तम संजय नामका पुत्र था। संजय महाशय अपने पुत्रके पढ़ानेके निमित्त किसी योग्य अध्यापककी तलाशमें थे। निमाईकी ऐसी इच्छा देख उन्होंने इनसे प्रार्थना की। निमाई स्वयं ही एक पाठशाला स्थापित करनेकी बात सोच रहे थे, किन्तु उनके छोटे-से मकानमें पाठशाला स्थापित करनेके योग्य स्थान ही न था। संजय भगवत्-भक्त होनेके साथ धनी भी थे। बङ्गालमें प्रायः सभी धार्मिक पुरुषोंके यहाँ एक 'चण्डी-मण्डप' नामसे अलग स्थान होता है, उसे 'देवी-गृह' या 'ठाकुर-दालान' भी कहते हैं। नवदुर्गाओंमें उक्त स्थानपर ही चण्डीपाठ और पूजा तथा उत्सव हुआ करते हैं। यह स्थान ऐसे ही शुभ कार्योंके लिये सुरक्षित होते हैं। योग्य और विद्वान् अतिथिके आनेपर इसी स्थानमें उनका आतिथ्यादि भी किया जाता है। अपनी शक्तिके अनुसार धनिकोंका चण्डी-मण्डप विस्तृत, सुन्दर और अधिक कीमती होता है। संजय महाशयका चण्डी-मण्डप खूब बड़ा था। निमाई पण्डितने उसी मण्डपमें अपनी

स्थापित की। इधर-उधरसे बहुत-से छात्र इनका नाम सुनकर पढ़ने आने लगे। पुत्रके साथ संजय भी निमाईसे विद्याध्ययन करने लगे। इनकी पढ़ानेकी शैली बड़ी ही सरल तथा चित्ताकर्षक थी, इसलिये थोड़े ही समय-में इनकी पाठशाला चल निकली और सैकड़ों छात्र इनके पास पढ़ने आने लगे। ये विद्यार्थियोंके साथ गुरु-शिष्यका व्यवहार न करके एक प्रेमी मित्रका-सा व्यवहार करते। उनसे खूब हँसी-दिल्लगी करते, घरका हाल-चाल पूछते और अपनी सब बातें बताते। इससे विद्यार्थी इनके ऊपर अत्यधिक अनुराग रखने लगे। बहुत-से विद्यार्थी तो इनसे अवस्था-में बहुत बड़े-बड़े थे। वे सब भी इनके पास अध्ययन करने आते और इनका हृदयसे बहुत अधिक आदर करते थे। इस प्रकार इनकी पाठशाला नवद्वीपमें एक प्रसिद्ध पाठशाला मानी जाने लगी। व्याकरण-शास्त्रमें गंगा-दासजीकी पाठशालाको छोड़कर निमाईकी पाठशाला सबसे श्रेष्ठ समझी जाती थी। निमाई विद्यार्थियोंके साथ परिश्रम भी खूब करते थे।

एक दिन निमाई पण्डित पाठशालासे पढ़ाकर अपने घर जा रहे थे। दैवात् गङ्गाजी जाते हुए रास्तेमें पं० बल्लभाचार्यजीकी तनया लक्ष्मी-देवीसे उनका साक्षात्कार हो गया। बल्लभाचार्य निमाईके सजातीय ब्राह्मण थे। इन्होंने लक्ष्मीदेवीको पहिले भी कई बार देखा था, किन्तु आजके दर्शनमें विशेषता थी। लक्ष्मीदेवीको देखते ही परम सदाचारी निमाईके 'भावस्थितानि जननान्तरसौहृदानि' इस न्यायके अनुसार पूर्वजन्मके संस्कार जाग्रत् हो उठे। स्वाभाविक सौहृद तो स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, इसमें चेष्टा करना या अनुराग करना तो कहा ही नहीं जा सकता। इन्होंने लक्ष्मीदेवीकी ओर देखा। लक्ष्मीदेवीने भी धीरेसे इनकी ओर देखा और इनके पादपद्मोंमें भक्तिसे मन-ही-मन प्रणाम करके वह गङ्गाकी ओर चली गयी। ये अपने घरकी ओर चले गये।

भावीकी भवितव्यता तो देखिये उसी दिन वनवारी घटक नामके जगन्नाथ मिश्रके स्नेही एक ब्राह्मण शचीदेवीके समीप आये और मातासे कहने लगे—'निमाई अब सयाना हो गया है, अब उसके विवाह-का शीघ्र ही उद्योग करना चाहिये। यदि तुम्हें पसंद हो तो पं० वल्लभा-चार्यकी एक कन्या है। तुम उसे चाहो तो देख सकती हो। लाखोंमें एक है, बड़ी ही सुशीला, सुन्दरी और बुद्धिमती लड़की है। निमाईके वह सर्वथा योग्य है। यदि तुम्हे यह सम्बन्ध मंजूर हो तो मैं पण्डितजीसे इस सम्बन्धमें कहूँ।'

माता स्वयं पुत्रके विवाहकी चिन्तामें थी, किन्तु वे निमाईकी इच्छाके बिना कोई सम्बन्ध निश्चित करना नहीं चाहती थी। घरमें कोई दूसरा आदमी सलाह करनेके लिये था नहीं, पुत्र समझदार और सयाना था, उसकी अनुमतिके बिना वे विवाहके सम्बन्धमें किसीको निश्चित वचन नहीं दे सकती थीं, अतः बातको टालते हुए माताने कहा—'इस पितृ-हीन बालकका विवाह ही क्या है, अभी तो वह पढ़ ही रहा है। कुछ करने लगेगा तो देखा जायगा।'

घटक महाशय शचीमाताका ऐसा उदासीन भाव देखकर समझ गये कि माताको यह सम्बन्ध मंजूर नहीं। कारण कि पं० वल्लभाचार्य बहुत ही गरीब थे। ब्राह्मणने समझा, माता अपने पण्डित पुत्रका निर्धनकी लड़कीके साथ विवाह करना नहीं चाहती है। यह समझकर वे लौट आये। दैवात् रास्तेमें उन्हें निमाई मिल गये। इन्हें देखते ही निमाई खिल उठे और हँसते हुए बोले—'कहिये, घटक महाशय! किधर-किधरसे आगमन हो रहा है।'

कुछ असन्तोषके भावसे घटकने उत्तर दिया—'तुम्हारी माताके पास पं० वल्लभाचार्यकी पुत्रीके साथ तुम्हारे विवाहकी बातचीत करने गया था,

सो उन्होंने मंजूर ही नहीं किया। कहो तुम्हारी क्या सलाह है ?'

निमाई यह सुनकर हँस पड़े। उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वे हँसते हुए घर चले गये। घर पहुँचकर इन्होंने कुछ मुस्कराते हुए कहा—'घटक उदास होकर जा रहे थे, वल्लभाचार्यजीका सम्बन्ध मंजूर क्यों नहीं किया ?'

माता समझ गयीं, कि निमाईको इस सम्बन्धमें कोई आपत्ति नहीं है, इसलिये उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन घटकको बुलाकर उन्होंने कहा—'आचार्य महाशय, कल आप जो बात कहते थे, वह मुझे स्वीकार है, आप पं० वल्लभाचार्यसे कहकर सब ठीक करा दीजिये। आप ही अब हमारे हितैषी हैं और घरमें दूसरा है ही कौन ? आपका ही लड़का है जैसे चाहें, कीजिये।'

वनवारी घटकको यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उसी समय वल्लभाचार्यके घर पहुँचे। आचार्यने इनका सत्कार किया और आनेका कारण जानना चाहा। इन्होंने सब वृत्तान्त बता दिया। इस संवादको सुनकर पं० वल्लभाचार्यको तथा उनके समस्त घरवालोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे घटकसे कहने लगे—'मेरा सौभाग्य है, कि शचीदेवीने इस सम्बन्धको स्वीकार कर लिया है। निमाई पण्डित-जैसे विद्वान्‌को अपना जामाता बनानेमें मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। लड़कीके पूर्वजन्मके शुभ संस्कारोंके उदय होनेपर ही ऐसा वर मिल सकता है, किन्तु आप मेरी परिस्थितिसे तो परिचित ही हैं। मेरे पास देने-लेनेके लिये कुछ नहीं है। केवल पाँच हरीतिकीके साथ कन्याको ही समर्पित कर सकूँगा। यदि यह बात उन्हें मंजूर हो तो आप जब भी कहें मैं विवाह करनेको तैयार हूँ।'

घटकने कहा—'आप इस बातकी कुछ चिन्ता न कीजिये। शचीदेवीको रुपये-पैसेका लोभ नहीं है। वे तो सुशीला सुन्दरी लड़की ही चाहती

हैं, आप प्रसन्नताके साथ विवाहकी तैयारियाँ कीजिये !' यह कहकर घटक महाशय बल्लभाचार्यजीसे विदा होकर शचीदेवीके पास आये और सम्पूर्ण वृत्तान्त सुना दिया ! दोनों ओरसे विवाहकी तैयारियाँ होने लगीं !

नियत तिथिके दिन अपने स्नेही बन्धु-बान्धव तथा विद्यार्थियोंके साथ बरात लेकर निमाई बल्लभाचार्यजीके घर गये ! आचार्यने सभीका यथोचित सम्मान किया ! गोधूलिकी शुभ लग्नमें निमाई पण्डितने लक्ष्मीदेवीका पाणिग्रहण किया ! लक्ष्मीदेवीने काँपते हुए हाथोंसे इनके चरणोंमें माला अर्पण की और भक्तिभावके साथ प्रणाम किया । इन्होंने उन्हे वामाङ्ग किया । हवन, प्रदक्षिणा, कन्यादान आदि सभी वैदिक कृत्य होनेपर विवाहका कार्य सकुशल समाप्त हुआ ।

दूसरे दिन आचार्यसे विदा होकर लक्ष्मीदेवीके साथ पालकीमें चढ़कर निमाई घर आये । माताने सती स्त्रियोंके साथ पुत्र और पुत्रवधूका स्वागत किया । ब्राह्मणोंको तथा अन्य आश्रित जनोंको यथायोग्य द्रव्य-दान किया गया । लक्ष्मीदेवीका रंग-रूप निमाईके अनुरूप ही था। इस जुगल जोड़ीको देखकर पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ परम प्रसन्न हुईं । कोई तो इन्हें रति-कामदेवकी उपमा देने लगी, कोई-कोई शची-पुरन्दर कहकर परिहास करने लगी, कोई-कोई गौर-लक्ष्मी कहकर निमाईकी ओर हँसने लगी । सुन्दरी पुत्रवधूके साथ पुत्रको देखकर माताको जो आनन्द प्राप्त हुआ उसका वर्णन करना इस लोहकी लेखनीके बाहरकी बात है ।

चञ्चल पण्डित

सदयं हृदयं यस्य भाषितं सत्यभूषितम्।
कायः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम्॥*

(सु० र० भां० १६३ । १९२)

मिश्रीको कहींसे भी खाओ उसका स्वाद मीठा ही होगा, घी-बूरेका लड्डू यदि टेढ़ा और इरछा-तिरछा भी बना हो तो भी उसके स्वादमें कोई कमी नहीं होती। इसी प्रकार प्रेम किसी भी प्रकार किया जाय, कहीं भी किया जाय, किसीके भी साथ किया जाय उसका परिणाम अनिर्वचनीय सुख ही होगा। हृदयमें दयाके भाव हों, अन्तःकरण शुद्ध हो, अपने स्वार्थकी मनमें वाञ्छा न हो, फिर चाहे दूसरोंके साथ कैसा भी बर्ताव करो, उन्हें चाहे गलेसे लगाकर आलिङ्गन करो या उनकी मधुर-मधुर भर्त्सना करो, दोनोंमें ही सुख है, दोनोंसे ही आनन्द प्राप्त होता है।

निमाई अब विद्यार्थी नहीं हैं। अब उनकी गणना प्रसिद्ध पण्डितोंमें होने लगी है। अब वे गृहस्थी भी बन गये हैं और अध्यापक भी। ऐसी दशामें अब उन्हें गम्भीरता धारण करनी चाहिये जिससे लोग उनकी इज्जत-प्रतिष्ठा करें। किन्तु निमाईने तो गम्भीरताका पाठ पढ़ा ही नहीं है। मानो वे संसारमें सबसे बड़ी समझी जानेवाली मान-प्रतिष्ठाकी कुछ परवा ही नहीं रखते। 'लोग हमारे इस व्यवहारसे क्या सोचेंगे' यह विचार उनके मनमें आता ही नहीं। 'लोगोंको जो सोचना हो सोचते रहें। दुनियाभरके विचारोंका हमने कोई ठेका थोड़े ही ले लिया है।

* जिसके हृदयमें प्राणीमात्रके प्रति दयाके भाव हैं, वाणी प्रिय और सत्यसे भूषित है और शरीर परोपकारके लिये समर्पित है फिर उसका कलि कर ही क्या सकता है? उसके लिये सदा ही सत्ययुग है।

हमें तो जिसमें प्रसन्नता प्राप्त होगी, जिस कामसे हमारा अन्तःकरण सुखी और शान्त होगा हम तो उसे ही करेंगे। लोग बकते हैं तो बकते रहें। हम किसीका मुँह थोड़े ही सी सकते हैं!' बस, निमाई इन्हीं विचारोंमें मस्त रहते।

पाठशालामें विद्यार्थियोंको पढ़ा रहे हैं। पढ़ाते-पढ़ाते बीच-बीचमें ऐसी हँसीकी बात कह देते हैं कि सभी खिलखिलाकर हँस उठते हैं। किसी लड़केको पाठ याद नहीं होता तो उसे आँख निकालकर डाँटते नहीं। प्रेमके साथ कहते हैं, भाई! तोतेकी तरह धुन लगा जाया करो। जैसे 'अनद्यतने लुट्' इसे बार-बार कहो। इतना समझाकर आप स्वयं सिर हिला-हिलाकर 'अनद्यतने लुट्' 'अनद्यतने लुट्' इस सूत्रको बार-बार पढ़ते। लड़के हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। तब आप दूसरे विद्यार्थीको समझाने लगते। पाठ समाप्त हुआ और साथ ही विद्यार्थी और पण्डितका भाव भी समाप्त हो गया। अब सभी विद्यार्थियोंको साथी समझकर उन्हें लेकर गङ्गा-किनारे पहुँच गये। कभी किसीके साथ शास्त्रार्थ हो रहा है, कभी गङ्गाजीकी बालुकामें कबड्डी खेली जा रही है, कभी जल-विहारका ही आनन्द छिड़ा हुआ है। निमाई पण्डित स्वयं अपने हाथोंसे विद्यार्थियोंके ऊपर पानी उलीचते हैं, विद्यार्थी भी सब भूल-भालकर उनके ऊपर पानी उलीच रहे हैं। कभी-कभी दस-पाँच मिलकर एक साथ ही निमाईके ऊपर जल उलीचने लगते हैं, निमाई पण्डित जलसे घबड़ाकर जल्दीसे जलसे बाहर निकलकर भागते हैं, पैर फिसल जानेसे वे जलमें गिर पड़ते हैं, सभी ताली देकर हँसने लगते हैं। दर्शनार्थी दूरसे देखते हैं और खुश होते हैं। बहुत-से ईर्ष्यावश आवाजें कसने लगते हैं—'वाह रे पण्डित! पण्डितोंके नामको भी कलङ्कित करते हो। विद्यार्थियोंके साथ ऐसी खिलवाड़!' कोई कहता—'छोटी उम्रमें अध्यापक बन जानेका यही कुपरिणाम होता है।' किन्तु उनकी इन बातोंपर कौन ध्यान देता है,

निमाई अपने रंगमें मग्न हैं। कौन क्या बक रहा है, इसका उन्हें पता भी नहीं। कभी-कभी दूरसे ही पुचकारते हुए कह देते—'अच्छा, बेटा, भूकते रहो। कभी-न-कभी टुकड़ा मिल ही जायगा।'

स्नान करके रास्तेमें जा रहे हैं, किसीने किसीको किसीके ऊपर ढकेल दिया है, वह मोरीमें गिर पड़ा है, सभी ताली देकर हँस रहे हैं। किसी पण्डितको देखते ही बड़ी कठिन संस्कृत बोलने लगते हैं। एक साथ ही उससे दस-बीस प्रश्न कर डाले। बेचारा बगलमें आसन दबाये चुपचाप भीगी बिल्लीकी भाँति बिना कुछ कहे ही गङ्गाकी ओर चला जाता है, इनसे बातें करनेकी हिम्मत ही नहीं होती। बाजारमें भी चौकड़ी मारकर भागते हैं। कूद-कूदकर चलना तो इनका स्वभाव ही था। रास्ते भी बच्चोंकी तरह कुदककर चलते।

किसी वैष्णवको देखते ही उसे घेर लेते और उससे जोरसे प्रश्न करते 'किं तावत् वैष्णवत्वम्' 'वैष्णवता किसे कहते हैं!' कभी पूछते 'ऊर्ध्वपुण्ड्रेन किं स्यात्' 'ऊर्ध्वपुण्ड्र लगानेसे क्या होता है!' बेचारे वैष्णव हैरान हो जाते और इनसे जैसे-तैसे अपना पीछा छुड़ाकर भागते। वे कहते जाते—'घोर कलियुग आ गया। पण्डित भी वैष्णवोंकी निन्दा करने लगे।' कोई कहता—'अजी इस निमाईको पण्डित कहता ही कौन है, यह तो रसिकशिरोमणि है, उद्दण्डताकी सजीव मूर्ति है, इसका भी कोई धर्म-कर्म है!' कोई कहता—'इतना छिछोरपन ठीक नहीं।'

उन्हीं दिनों श्रीअद्वैताचार्यकी पाठशालामें चटगाँवनिवासी मुकुन्ददत्त नामक एक विद्यार्थी पढ़ता था। वह परम वैष्णव था। उसके चेहरेसे सौम्यता टपकती थी। उसका कण्ठ बड़ा ही मनोहर था। वह अद्वैताचार्यकी सभामें पदसंकीर्तन किया करता था, और अपने सुमधुर गानसे भक्तोंके चित्तको आनन्दित किया करता था। निमाई उससे मन-ही-मन

बहुत स्नेह करते थे, किन्तु ऊपरसे सदा उससे छेड़खानी ही करते रहते। जब भी वह मिल जाता, उसे पकड़कर न्यायकी फक्किका पूछने लगते। वह हाथ जोड़कर कहता—'बाबा! मुझे माफ करो, मैं तुम्हारा न्याय-फ्याय कुछ नहीं जानता। मैं तो वैष्णव-शास्त्रोंका अध्ययन करता हूँ।' तब आप उससे कहते—'अच्छा, वैष्णवकी ही परिभाषा करो। बताओ वैष्णवके क्या लक्षण हैं?'

मुकुन्द कहते—'भाई, हम हारे तुम जीते। कैसे पिण्ड भी छोड़ोगे? तुमसे मगजपच्ची कौन करे? तुमपर तो सदा शास्त्रार्थका ही भूत सवार रहता है। हमें इतना समय कहाँ है?' इस प्रकार कहकर वे जैसे-तैसे इनसे अपना पीछा छुड़ाकर भागते।

एक दिन ये गङ्गा-स्नान करके आ रहे थे, उधरसे मुकुन्ददत्त भी गङ्गा-स्नान करनेके निमित्त आ रहे थे, इन्हे दूरसे ही आता देख मुकुन्ददत्त जल्दीसे दूसरे रास्ते होकर गङ्गाकी ओर जाने लगे। निमाईने अपने विद्यार्थियोंसे कहा—'देखो, तुमने इस वैष्णव विद्यार्थीकी चालाकी? कैसा बचके भागा जा रहा है, मानो मैं उसे देख ही नहीं रहा हूँ।

एक विद्यार्थीने कहा—'किसी जरूरी कामसे उधर जा रहे होंगे।'

आप जोरसे कहने लगे—'जरूरी काम कुछ नहीं है। सोचते हैं वैष्णव होकर हम इन अवैष्णव लोगोंसे व्यर्थकी बातें क्यों करें। इसलिये एक तरफ होकर निकले जा रहे हैं।' फिर जोरोंसे मुकुन्ददत्तको सुनाते हुए बोले—'अच्छा बेटा, देखते हैं कितने दिन इस तरह हमसे दूर रहोगे। यों मत समझना कि हम ही वैष्णव हैं। एक दिन हम भी वैष्णव होंगे और ऐसे वैष्णव होंगे, कि तुम सदा पीछे-पीछे फिरते रहोगे।' इन बातोंको सुनते-सुनते मुकुन्द गङ्गाकी ओर चले गये और ये अपनी पाठशालामें लौट आये।

इनके पिता श्रीहट्टके निवासी थे। नवद्वीपमें बहुत-से श्रीहट्टके विद्यार्थी पढ़नेके लिये आया करते और बहुत-से श्रीहट्टवासी नवद्वीपमें

रहते ही थे। ये जहाँ भी श्रीहट्टके विद्यार्थीको देखते वहीं उसकी खिल्ली उड़ाते। श्रीहट्टकी बोलीकी नकल करते, उनके आचार-विचारकी आलोचना करते। लोग कहते—'तुम्हें शर्म नहीं आती, तुम भी तो श्रीहट्टके ही हो। जहाँके रहनेवाले हो वहाँकी खिल्लियाँ उड़ाते हो।' ये कहते—'शर्म तो हमने उतारकर अपने घरकी खूँटीपर लटका दी है, तुम झूठ मानो तो हमारे घर जाकर देख आओ।' सभी सुनते और चुप हो जाते। कोई-कोई राजकर्मचारियोंतकसे इनकी उद्दण्डताकी शिकायत करते, किन्तु राजकर्मचारी इनके स्वभावसे परिचित थे, वे उन्हें देखकर जोरोंसे हँस पड़ते। कर्मचारी शिकायत करनेवालेको ही चार उल्टी-सीधी सुनाकर विदा करते। इस प्रकार इनकी चञ्चलता नगरभरमें विख्यात हो गयी।

उन दिनों नवद्वीपमें इने-गिने ही वैष्णव थे, उनकी संख्या उँगलियोंपर गिनी जा सकती थी। उन सबके आश्रयदाता थे अद्वैताचार्य। वैष्णवगण अपनी मनोव्यथा उन्हींसे जाकर कहते। वे वैष्णवोंको आश्वासन दिलाते, 'घबड़ाओ मत। अन्तर्यामी भगवान् हमारी दुर्दशाको भलीभाँति जानते हैं, वे प्रत्यक्ष रीतिसे हमारी दुर्गति देख रहे हैं। बहुत शीघ्र ही वे हमारा उद्धार करेंगे। एक दिन नवद्वीपमें भक्तिकी ऐसी बाढ़ आवेगी कि उसमें सभी नर-नारी सराबोर हो जायँगे। जितने दिनकी यह विपत्ति है उतने दिन धैर्यसे और काटो, अब शीघ्र ही नास्तिकवाद और हिंसावादका अन्त होनेवाला है।'

वैष्णव कहते—'निमाई पण्डित ऐसे विद्वान् वैष्णवोंकी हँसी उड़ाते हैं।'

अद्वैत कहते—'तुम अभी निमाईको जानते नहीं, वे हृदयसे वैष्णवोंके प्रति बड़ा स्नेह रखते हैं, वे जो भी कुछ कहते हैं ऊपरसे ही यों ही कह देते हैं। आगे चलकर तुम उन्हें यथार्थ रीतिसे समझ सकोगे।'

इस प्रकार वैष्णव तो आपसमें ऐसी बातें किया करते और निमाई अपनी लोकोत्तर मधुर-मधुर चञ्चलतासे नगरवासी तथा शचीदेवी और लक्ष्मीदेवीको आनन्दित और हर्षित किया करते।

नवद्वीपमें ईश्वरपुरी

येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥*

(श्रीमद्भा० १ । १९ । ३३)

बड़े-बड़े विद्वान् और धर्मकोविदोंने गृहस्थ-धर्मकी जो इतनी भारी प्रशंसा की है, उसका एक प्रधान कारण है अतिथि-सेवा। गृहस्थमें रहकर

---

* जिन (विरक्त महात्माओं) के भक्तिभावसे स्मरण कर लेनेमात्रहीसे गृहस्थियोंके गृह पवित्र हो जाते हैं, वे महात्मा यदि किसीके घरपर आ जायँ और उस बड़भागीको उनके दर्शन, पादस्पर्श, पादप्रक्षालन और आसन आदिद्वारा सेवा करनेका सुयोग प्राप्त हो जाय तो फिर उसके भाग्यका तो कहना ही क्या है?

मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार अतिथि-सेवा भलीभाँति कर सकता है। भूखेको यथासामर्थ्य भोजन देना, प्यासेको जल पिलाना और निराश्रितको आश्रय प्रदान करके सुख पहुँचाना—इनसे बढ़कर कोई दूसरा धर्म हो ही नहीं सकता। अहा! उस बड़भागी गृहस्थके घरकी कल्पना तो कीजिये। छोटा-सा लिपा-पुता स्वच्छ घर है, एक ओर तुलसीका बिरवा आँगनमें शोभा दे रहा है, दूसरी ओर हल्दी और कुंकुमसे पूजित सुन्दर-सी श्यामा गौ बँधी है। गृहिणी सुन्दर और हँसमुख है, छोटे-छोटे बच्चे आँगनमें खेल रहे हैं। गृहिणी मुखसे सुन्दर हरि-नामका उच्चारण करती हुई रसोई बना रही है, इतनेहीमें गृहपति आ गये। भोजन तैयार है, गृहपतिने गोग्रास निकाला, सभी सामग्रियोंमेंसे थोड़ा-थोड़ा लेकर अग्निमें आहुति दी और द्वारपर खड़े होकर किसी अतिथिकी खोज करने लगे। इतनेहीमें क्या देखते हैं, एक विरक्त महात्मा कौपीन लगाये भिक्षाके निमित्त ग्रामकी ओर आ रहे हैं। गृहस्थीने आगे बढ़कर महात्माके चरणोंमें अभिवादन किया और उनसे भिक्षा कर लेनेकी प्रार्थना की। सद्गृहस्थीकी प्रार्थना स्वीकार करके संत उसके घरमें जाते हैं। योग्य अतिथिको देखकर दम्पती हर्षसे उन्मत्त-से हो जाते हैं। अपने सगे जमाईकी तरह उसका स्वागत-सत्कार करते हैं। महात्माके चरणोंको धोकर उस जलका स्वयं पान करते हैं और अपने घरभरको पवित्र बनाते हैं। संतको बड़ी ही श्रद्धासे अपने घरमें जो भी कुछ रूखा-सूखा बना है, प्रेमसे खिलाते हैं। भोजन करके महात्मा चले जाते हैं और गृहस्थी अपने बाल-बच्चे और आश्रित जनोंके साथ उस शेष अन्नको पाता है। ऐसे गृहस्थधर्मसे बढ़कर दूसरा कौन-सा धर्म हो सकता है? ऐसा गृहस्थी स्वयं तो पावन बन ही जाता है किन्तु जो लोग अतिथि होकर ऐसे गृहस्थका आतिथ्य स्वीकार कर लेते हैं वे भी पवित्र हो जाते हैं। ऐसे अन्नके दाता, भोक्ता दोनों ही पुण्यके भागी होते हैं।

निमाई पण्डितको हम आदर्श सद्गृहस्थी कह सकते हैं। उनकी वृद्धा माता प्रेमकी मानो मूर्ति ही हैं, घरमें जो भी आता है उसको पुत्रकी भाँति प्यार करती हैं और उससे भोजनादिके लिये आग्रह करती है। लक्ष्मीदेवीका स्वभाव बड़ा ही कोमल है, वे दिनभर घरका काम करती हैं और तनिक भी दुखी नहीं होती। निमाई तो रसिकशिरोमणि हैं ही, वे दो-एकके साथ बिना भोजन करते ही नहीं, लक्ष्मीदेवी सबके लिये आलस्य-रहित होकर रन्धन करती हैं और अपने पतिके साथ उनके प्रेमियोंको भी उसी श्रद्धाके साथ भोजन कराती हैं। कभी-कभी घरमें दस-दस, पाँच-पाँच अतिथि आ जाते हैं। वृद्धा माताको उनके भोजनकी चिन्ता होती है, निमाई इधर-उधरसे क्षणभरमें सामान ले आते हैं और उनके द्वारा अतिथि-सेवा की जाती है। नगरमें कोई भी नया साधु-वैष्णव आवे यदि उनके साथ निमाईका साक्षात्कार हुआ, तो वे उसे भोजनके लिये जरूर निमन्त्रित करेंगे और अपने घर ले जाकर भिक्षा करावेंगे। ये सब कार्य ही तो उनकी महानताके द्योतक हैं।

पाठक श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजीके नामसे तो परिचित ही होंगे और यह भी स्मरण होगा, कि उनके अन्तरङ्ग और सर्वप्रिय शिष्य श्रीईश्वरपुरीजी थे। भक्तशिरोमणि श्रीमाधवेन्द्रपुरी इस असार संसारको त्यागकर अपने नित्यधामको चले गये। अन्तिम समयमें उनके रुँधे हुए कण्ठसे यह श्लोक निकला था—

> अयि! दीनदयार्द्रनाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
> हृदयं त्वदलोककातरं दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम्॥

अर्थात् 'हे दीनोंपर दया करनेवाले मेरे नाथ! हे व्रजेशनन्दन! इन चिरकालकी पियासी आँखोंसे आपकी अमृतोपम मकरन्दमाधुरीका कब पान कर सकूँगा। हे नाथ! यह हृदय तुम्हारे दर्शनके लिये कातर हुआ

चारों ओर बड़ी ही द्रुतगतिसे दौड़ रहा है। हे चञ्चल श्याम! मैं क्या करूँ!' यह कहते-कहते उन्होंने इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग कर दिया। अन्तिम समयमें वे अपना सम्पूर्ण प्रेम श्रीईश्वरपुरीको अर्पण कर गये। गुरुदेवसे अमूल्य प्रेमनिधि पाकर ईश्वरपुरी तीर्थोंमे भ्रमण करते हुए गौड़देशकी ओर आये।

इनका जन्मस्थान इसी जिलेके कुमारहट्ट नामक ग्राममें था। ये जातिके कायस्थ थे, कोई-कोई इन्हें वैद्य भी बताते हैं, किन्तु वैष्णवोंकी जाति ही क्या? उनकी तो हरिजन ही जाति है, फिर संन्यास धारण करनेपर तो जाति रहती ही नहीं। ये सदा श्रीकृष्णप्रेममें उन्मत्त-से बने रहते थे। जिह्वासे सदा मधुर श्रीकृष्णनाम उच्चारण करते रहते और प्रेममें छके-से, उन्मत्त-से अलक्षितरूपसे देशमे भ्रमण करते हुए भाग्यवानोंको अपने शुभ दर्शनोसे पावन बनाते फिरते थे, इसी प्रकार भ्रमण करते हुए ये नवद्वीपमे भी आये और अद्वैत आचार्यके घरके समीप आकर बैठ गये।

आचार्य देखते ही समझ गये, ये कोई परम भागवत वैष्णव हैं, उन्होंने इनका यथोचित सत्कार किया। परिचय प्राप्त होनेपर तो आचार्यके आनन्दका ठिकाना ही न रहा। उनके गुरुदेवके प्रधान और परम प्रिय शिष्य उनके गुरुतुल्य ही थे। आचार्यने इनकी गुरुवत् पूजा की और कुछ काल नवद्वीपमें ही रहनेका आग्रह किया। पुरी महाशयने आचार्यकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और वहीं उनके पास रहकर श्रीकृष्णकथा और सत्संग करने लगे।

नवद्वीपमे रहते हुए महामहिम श्रीईश्वरपुरीने निमाई पण्डितका नाम तो सुना था, किन्तु साथ ही यह भी सुना था, कि वे बड़े भारी चञ्चल हैं, वैष्णवोंसे खूब तर्क-वितर्क करते हैं। इसलिये पुरी महाशयने उनसे भेंट नहीं की।

एक दिन अकस्मात् निमाईकी ईश्वरपुरीजीसे भेंट हो गयी। संन्यासी समझकर निमाई पण्डितने पुरी महाशयको प्रणाम किया। परिचय पाकर उन्हें परम प्रसन्नता हुई। पुरी महाशय तो उनके रूप-लावण्यको देखकर मन्त्रमुग्धकी भाँति एकटक दृष्टिसे उनकी ही ओर देखते रहे। उन्होंने सिरसे पैरतक निमाईको देखा, फिर देखा और फिर देखा। इस प्रकार बार-बार उनके अद्भुत रूप-लावण्य और तेजको देखते, किन्तु उनकी तृप्ति ही नहीं होती थी। वे सोचने लगे ये तो कोई योगभ्रष्ट महापुरुष-से जान पड़ते हैं, इनके चेहरेपर कितना तेज है, हृदयकी स्वच्छता, शुद्धता और प्राणीमात्रके प्रति ममता इनके चेहरेसे प्रस्फुटित हो रही है। ये साधारण पुरुष कभी हो ही नहीं सकते। जरूर कोई प्रच्छन्न वेशधारी महापुरुष हैं।

पुरीको एकटक अपनी ओर देखते देखकर हँसते हुए निमाई बोले—'पुरी महाशय! अब इस प्रकार कहाँतक देखियेगा। आज हमारे ही घर भिक्षा कीजियेगा, वहाँ दिनभर हमें देखते रहनेका सुअवसर प्राप्त होगा।'

यह सुनकर पुरी महाशय कुछ लज्जित से हुए और उन्होंने निमाईका निमन्त्रण बड़े प्रेमसे स्वीकार कर लिया। भोजन तैयार होनेके पूर्व निमाई अद्वैताचार्यके घरसे पुरीको लिवा गये। शचीमाताने स्वामीजीकी बहुत ही अधिक अभ्यर्चना की और उन्हें श्रद्धा-भक्तिके साथ भोजन कराया। भोजनके अनन्तर कुछ कालतक दोनों महापुरुषोंमें कुछ सत्संग होता रहा, फिर दोनों ही अद्वैताचार्यके आश्रममें आये।

अब तो निमाई पण्डित पुरी महाशयके समीप यदा-कदा आने लगे। उन दिनों पुरी महाशय 'श्रीकृष्णलीलामृत' नामक एक ग्रन्थकी रचना कर रहे थे। पुरीने पण्डित समझकर इनसे उस ग्रन्थके सुननेका आग्रह किया। गदाधर पण्डितके साथ सन्ध्या समय जाकर ये उस ग्रन्थको रोज सुनने लगे।

पुरी महाशयने कहा—'आप पण्डित हैं, इस ग्रन्थमें जहाँ भी कहीं अशुद्धि हो, शुद्धि मालूम पड़े, वहीं आप बता दीजियेगा।'

इन्होंने नम्रताके साथ उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण-कथामें भला क्या शुद्धि और क्या अशुद्धि। भक्त अपने भक्ति-भावके आवेशमें आकर जो भी कुछ लिखता है, वह परम शुद्ध ही होता है। जिस पदमें भगवत्-भक्ति है, जिस छन्दमें श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन है वह अशुद्ध होनेपर भी शुद्ध है और जो काव्य श्रीकृष्ण-कथासे रहित है वह चाहे कितना भी ऊँचा काव्य क्यों न हो, उसकी भाषा चाहे कितनी भी बढ़िया क्यों न हो, वह व्यर्थ ही है। भगवान् तो भावग्राही हैं, वे घट-घटकी बातें जानते हैं। बेचारी भाषा उनकी विरदावलीका बखान कर ही क्या सकती है, उनकी प्रसन्नतामें तो शुद्ध भावना ही मुख्य कारण है। यथा—

मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे।
उभयोस्तु शुभं पुण्यं भावग्राही जनार्दनः॥

अर्थात् मूर्ख कहता है 'विष्णाय नमः' (यथार्थमें 'विष्णु' शब्दका चतुर्थीमें 'विष्णवे' बनता है, मूर्ख 'रामाय' और 'गणेशाय'की तरह अनुमानसे विष्णाय लगाकर ही भगवान्‌को नमस्कार करते हैं) और विद्वान् कहते हैं 'विष्णवे नमः' परिणाममें इन दोनोंका फल समान ही है। क्योंकि भगवान् जनार्दन तो भावग्राही हैं। उनसे यह बात छिपी नहीं रहती कि विष्णाय कहनेमें भी उसका भाव मुझे नमस्कार करनेका ही था।'
निमाई पण्डितका ऐसा उत्तर सुनकर पुरी महाशय अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'यह उत्तर तो आपकी महत्ताका द्योतक है। इस कथनसे आपने श्रीकृष्ण-लीलाकी महिमाका ही वर्णन किया है। आप धुरन्धर वैयाकरण हैं, इसलिये पद-पदान्त और क्रियाकी शुद्धि-अशुद्धिपर आप ध्यान जरूर देते जायँ।' यह कहकर वे अपने ग्रन्थको

इन्हें सुनाने लगे। ये बड़े मनोयोगके साथ नित्यप्रति आकर उस ग्रन्थको सुनते और सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते।

एक दिन ग्रन्थ सुनते-सुनते एक धातुके सम्बन्धमें इन्होंने कहा—'यह धातु 'आत्मनेपदी' नहीं है 'परस्मैपदी' है।' पुरी उसे आत्मनेपदी ही समझे बैठे थे। इनकी बातसे उन्हें शङ्का हो गयी। इनके चले जानेके पश्चात् पुरी रातभर उस धातुके ही सम्बन्धमें सोचते रहे। दूसरे दिन जब ये फिर पुस्तक सुनने आये तो इनसे पुरीने कहा—'आप जिसे परस्मैपदी धातु बताते थे, वह तो आत्मनेपदी ही है।' यह कहकर उन्होंने उस धातुको सिद्ध करके इन्हें बताया। सुनकर ये प्रसन्न हुए और कहने लगे—'आपहीका कथन ठीक है, मुझे भ्रम हो गया होगा।' इस प्रकार इन्होंने पुरीके समस्त ग्रन्थको श्रवण किया। उस ग्रन्थके श्रवण करनेसे इन्हें बहुत ही सुख प्राप्त हुआ। इनकी श्रीकृष्णभक्ति धीरे-धीरे प्रस्फुटित-सी होने लगी। ईश्वरपुरीके प्रति भी इनका आन्तरिक अनुराग उत्पन्न हो गया। कुछ कालके अनन्तर पुरी महाशय नवद्वीपसे गयाकी ओर चले गये और निमाई पूर्वकी भाँति अपनी पाठशालामें पढ़ाने लगे।

पुरी महाशयने कहा—'आप पण्डित हैं, इस ग्रन्थमें जहाँ भी कहीं अः हो, त्रुटि मालूम पड़े, वहीं आप बता दीजियेगा ।'

इन्होंने नम्रताके साथ उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण-कथामें भला क्या और क्या अशुद्धि । भक्त अपने भक्ति-भावके आवेशमें आकर ज कुछ लिखता है, वह परम शुद्ध ही होता है । जिस पदमें भगवत्-भा जिस छन्दमें श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन है वह अशुद्ध होनेपर भी शुद्ध ि जो काव्य श्रीकृष्ण-कथासे रहित है वह चाहे कितना भी ऊँचा का न हो, उसकी भाषा चाहे कितनी भी बढ़िया क्यों न हो, वह व्यर्थ । भगवान् तो भावग्राही हैं, वे घट-घटकी बातें जानते हैं । बेचारे उनकी विरदावलीका बखान कर ही क्या सकती है, उनकी प्रसन्न शुद्ध भावना ही मुख्य कारण है । यथा—

> मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे ।
> उभयोस्तु शुभं पुण्यं भावग्राही जनार्दनः ॥

अर्थात् मूर्ख कहता है 'विष्णाय नमः' (यथार्थमें 'विष्णु चतुर्थीमें 'विष्णवे' बनता है, मूर्ख 'रामाय' और 'गणेशाय'की तरह विष्णाय लगाकर ही भगवान्‌को नमस्कार करते हैं) और वि है 'विष्णवे नमः' परिणाममें इन दोनोंका फल समान ही भगवान् जनार्दन तो भावग्राही हैं । उनसे यह बात छिपी न विष्णाय कहनेमें भी उसका भाव मुझे नमस्कार करनेका निमाई पण्डितका ऐसा उत्तर सुनकर पुरी महाशय अत्यन्त उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'यह उत्तर तो द्योतक है । इस कथनसे आपने श्रीकृष्ण-लीलाकी महिमाका है । आप धुरन्धर वैयाकरण हैं, इसलिये पद-पदान्त और अशुद्धिपर आप ध्यान जरूर देते जायँ ।' यह कहकर

शक्ति ठीक है, उसे यथेष्ट भोज्य-पदार्थ नहीं मिलते। विद्वानोंके पास धनका अभाव है, जिनमें विद्या-बुद्धि नहीं उनके पास आवश्यकतासे अधिक अर्थ भरा पड़ा है। जहाँ धन है वहाँ सन्तान नहीं, जहाँ बहुत सन्तान हैं वहाँ भोजनके लाले पड़े हुए हैं। इसी बातसे तो खीजकर किसी कविने ब्रह्माजीको बुरा-भला कहा है। वे कहते हैं—

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु।
विद्वान् धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥

कविकी दृष्टिमें ब्रह्माजीने सृष्टि रचनेमें बड़ी भारी भूल की है। देखिये सुवर्ण कितना सुन्दर है, उसमें यदि सुगन्ध होती तो फिर उसकी उत्तमताका कहना ही क्या था। ईखके डंडेमें जब इतनी मिठास है, तब यदि उसके ऊपर कहीं फल लगता तो वह कितना स्वादिष्ठ होता? ब्रह्माजी उसपर फल लगाना ही भूल गये। चन्दनकी लकड़ीमें जब इतनी सुगन्ध है, तो उसपर कहीं फूल लगता होता तो उसके बराबर उत्तम फूल संसारमें और कौन हो सकता? सो ब्रह्माजीको उसपर फूल लगानेका ध्यान ही न रहा। विद्वान् लोग बिना रुपये-पैसेके ही आकाश-पाताल एक कर देते हैं, यदि उनके पास कहीं धन होता तो इस सृष्टिकी सभी विषमताको दूर कर देते, सो उन्हें दरिद्री ही बना दिया, साथ ही उनकी आयु भी थोड़ी बनायी। इन सब बातोंको सोचकर कवि कहता है कि इसमें बेचारे ब्रह्माजीका कुछ दोष नहीं है, मालूम पड़ता है, सृष्टि करते समय ब्रह्माजीको कोई योग्य सलाह देनेवाला चतुर मन्त्री नहीं मिला। इसीलिये जल्दीमें ऐसी गड़बड़ी हो गयी।

मन्त्रीके अभावमें हुई हो अथवा उन्होंने जान-बूझकर की हो, यह गल्ती तो ब्रह्माजीसे जरूर ही हो गयी कि उन्होंने विद्वानोंको निर्धन ही बनाया। विद्वानोंको प्रायः धनके लिये सदा परमुखापेक्षी ही बनना पड़ता

पूर्व वङ्गालकी यात्रा

विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥*
(सु० र० भां० ४० । ७)

विधिके विधानको कोई ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। जिसके पास प्रचुर परिमाणमें भोज्य-पदार्थ हैं, उसे पाचनशक्ति नहीं। जिसकी पाचन-

* विद्वान् और राजाकी कोई परस्परमें समता करे तो राजा विद्वान्की समताके योग्य कभी सिद्ध हो ही नहीं सकता। कारण कि राजाकी तो अपने ही देशमें मान-प्रतिष्ठा होती है, किन्तु विद्वान् जहाँ भी जाता है वहीं उसकी पूजा-प्रतिष्ठा होती है।

शक्ति ठीक है, उसे यथेष्ट भोज्य-पदार्थ नहीं मिलते। विद्वानोंके पास धनका अभाव है, जिनमें विद्या-बुद्धि नहीं उनके पास आवश्यकतासे अधिक अर्थ भरा पड़ा है। जहाँ धन है वहाँ सन्तान नहीं, जहाँ बहुत सन्तान हैं वहाँ भोजनके लाले पड़े हुए हैं। इसी बातसे तो खीजकर किसी कविने ब्रह्माजीको बुरा-भला कहा है। वे कहते हैं—

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु।
विद्वान् धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥

कविकी दृष्टिमें ब्रह्माजीने सृष्टि रचनेमें बड़ी भारी भूल की है। देखिये सुवर्ण कितना सुन्दर है, उसमें यदि सुगन्ध होती तो फिर उसकी उत्तमताका कहना ही क्या था। ईखके डंडेमें जब इतनी मिठास है, तब यदि उसके ऊपर कहीं फल लगता तो वह कितना स्वादिष्ट होता ? ब्रह्माजी उसपर फल लगाना ही भूल गये। चन्दनकी लकड़ीमें जब इतनी सुगन्ध है, तो उसपर कहीं फूल लगता होता तो उसके बराबर उत्तम फूल संसारमें और कौन हो सकता ? सो ब्रह्माजीको उसपर फूल लगानेका ध्यान ही न रहा। विद्वान् लोग बिना रुपये-पैसेके ही आकाश-पाताल एक कर देते हैं, यदि उनके पास कहीं धन होता तो इस सृष्टिकी सभी विषमताको दूर कर देते, सो उन्हें दरिद्री ही बना दिया, साथ ही उनकी आयु भी थोड़ी बनायी। इन सब बातोंको सोचकर कवि कहता है कि इसमें बेचारे ब्रह्माजीका कुछ दोष नहीं है, मालूम पड़ता है, सृष्टि करते समय ब्रह्माजीको कोई योग्य सलाह देनेवाला चतुर मन्त्री नहीं मिला। इसीलिये जल्दीमें ऐसी गड़बड़ी हो गयी।

मन्त्रीके अभावमें हुई हो अथवा उन्होंने जान-बूझकर की हो, यह गलती तो ब्रह्माजीसे जरूर ही हो गयी कि उन्होंने विद्वानोंको निर्धन ही बनाया। विद्वानोंको प्रायः धनके लिये सदा परमुखापेक्षी ही बनना पड़ता

है। किसीने तो यहाँतक कह डाला है 'अनाश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः' अर्थात् पण्डित, स्त्री और बेल बिना आश्रयके भले ही नहीं मालूम पड़ते। बेचारे पण्डितोंको वनिता-लताके साथ समानता करके उनकी व्यथाको और भी बढ़ा दिया है।

जिस समयकी हम बातें कह रहे हैं, उस समय संस्कृत विद्याकी आजकी भाँति दुर्गति नहीं थी। भारतवर्षभरमें संस्कृत-विद्याका प्रचार था। बिना संस्कृत पढ़े कोई भी मनुष्य सभ्य कहला ही नहीं सकता था। बंगालमें ब्राह्मण ही संस्कृत-विद्याके पण्डित नहीं थे; किन्तु कायस्थ, वैद्य तथा अन्य जातिके कुलीन पुरुष भी संस्कृत-विद्याके पूर्ण ज्ञाता थे। उस समय पण्डितोंकी दो ही वृत्तियाँ थीं, या तो वे पठन-पाठन करके अपना निर्वाह करें या किसी राजसभाका आश्रय लें। पण्डित सदासे ही दरिद्र होते चले आये हैं, इसका कारण एक कविने बहुत ही सुन्दर सुझाया है। उसने एक इतिहास बताते हुए कहा है कि ब्रह्माजीके सुकृति (लक्ष्मी) और दुष्कृति (दरिद्रता) दो कन्याएँ थीं। सुकृति बड़ी थी, इसलिये विवाहके योग्य हो जानेपर ब्रह्माजीने उसे बिना ही सोचे-समझे मूर्खको दे डाला। मूर्खके यहाँ उसकी दुर्गति देखकर ब्रह्माजीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। तभीसे वे दूसरी पुत्री दुष्कृतिके लिये अच्छा-सा वर खोज रहे हैं, जिसे भी विद्वान्, कुलीन और सर्वगुणसम्पन्न देखते हैं उसे ही दरिद्रताको दे डालते हैं।

निमाई पण्डित विद्वान् थे, गुणवान् थे, रूपवान् और तेजवान् भी थे, भला ऐसे योग्य वरको ब्रह्माजी कैसे छोड़ सकते थे? उनके यहाँ भी दरिद्रताका साम्राज्य था, किन्तु वह निमाई पण्डितको तनिक व्यथा नहीं पहुँचा सकती। उनके सामने सदा हाथ बाँधे दूर ही खड़ी रहती थी। निमाई उसकी जरा भी परवा नहीं करते थे।

उन दिनों योग्य और नामी पण्डित देश-विदेशोंमें अपने योग्य छात्रोंके

गाय भ्रमण करते थे, सद्गृहस्थ उनकी धन, वस्त्र और खाद्य-पदार्थोंके द्वारा पूजा करते थे। आजकी भाँति पण्डितोंकी उपेक्षा कोई भी नहीं करता था। निमाईकी भी पूर्व बंगालमें भ्रमण करनेकी इच्छा हुई। उन्होंने अपनी माताकी अनुमतिसे अपने कुछ योग्य छात्रोंके साथ पूर्व बंगालकी यात्रा की। उस समय लक्ष्मीदेवीको अपने पितृगृहमें रख गये थे।

श्रीगङ्गाजीको पार करके निमाई पण्डित अपने शिष्योंके साथ पद्मा-नदीके तटपर राढ़-देशमें पहुँचे। बंगालमें भगवती भागीरथीकी दो धाराएँ हो जाती हैं। गङ्गाजीकी मूल शाखा पूर्वकी ओर जाकर जो बंगालके उपसागरमें मिली है, उसका नाम तो पद्मावती है। दूसरी जो नवद्वीप होकर गङ्गासागरमें जाकर समुद्रसे मिली है उसे भागीरथी गङ्गा कहते हैं। ब्रह्मपुत्र नदीके और दक्षिण-तटसे लेकर पद्मा नदीपर्यन्तके देशको राढ़-देश कहते हैं। पहले 'बंगाल' इसे ही कहते थे। उत्तर-तटको गौड़देश कहते थे और दक्षिण-तटको बंगाल या राढ़के नामसे पुकारते थे। आज जिसे पूर्व बंगाल कहते हैं, यथा—

रत्नाकरं समारभ्य ब्रह्मपुत्रान्तगं शिवे।
बङ्गदेशो मया प्रोक्तः सर्वसिद्धिप्रदर्शकः॥

गौड़-देशवालोंसे बंग-देशवालोंका आचार-विचार भी कुछ-कुछ भिन्न था और अब भी है। निमाई पण्डितने पद्माके किनारे-किनारे पूर्व बंगालके बहुत-से स्थानोंमें भ्रमण किया। जो भी लोग इनका आगमन सुनते वे ही यथाशक्ति भेंट लेकर इनके पास आते।

वहाँके विद्यार्थी कहते—'हम बहुत दिनोंसे आपकी प्रशंसा सुन रहे थे। आपकी लिखी हुई व्याकरणकी टिप्पणी बड़ी ही सुन्दर है। हमें अपने पाठमें उससे बहुत सहायता मिलती है।'

कोई कहते—'आपकी पद-धूलिसे यह देश पावन बन गया,

आपके प्रकाण्ड पाण्डित्यकी हम प्रशंसा ही मात्र सुनते थे। आपके गुणोंकी कौन प्रशंसा कर सकता है ?' इस प्रकार लोग भाँति-भाँतिसे इनकी प्रशंसा और पूजा करने लगे।

इनके साथियोंको भय था कि पण्डितजी यहाँ भी नवद्वीपकी भाँति चञ्चलता करेंगे तो सब गुड़ गोबर हो जायगा, किन्तु ये स्वयं देश-कालको समझकर बर्ताव करनेवाले थे। कई मासतक ये पूर्व बंगालमें भ्रमण करते रहे, किन्तु वहाँ इन्होंने एक दिन भी चञ्चलता नहीं की। एक योग्य गम्भीर पण्डितकी भाँति ये सदा बने रहते थे। इनसे जो जिस विषयका प्रश्न पूछता उसे उसीके प्रश्नके अनुसार यथावत् उत्तर देते। यहाँ इन्होंने वैष्णवोंकी आलोचना नहीं की, किन्तु उलटा भगवद्भक्तिका सर्वत्र प्रचार किया। इन्होंने लोगोंके पूछनेपर भगवन्नामका माहात्म्य बताया, भक्तिकी श्रेष्ठता सिद्ध की और कलियुगमें भक्ति-मार्गको ही सर्वश्रेष्ठ, सुलभ और सर्वोपयोगी बताया। किन्तु ये बातें इन्होंने एक विद्वान् पण्डितकी ही हैसियतसे कही थीं, जैसे विद्वानोंसे जो भी प्रश्न करो उसीका शास्त्रानुसार उत्तर दे देंगे। भक्तिका असली स्रोत तो इनका अभी अव्यक्तरूपसे छिपा ही हुआ था। उसके प्रवाहित होनेमें अभी देरी थी। फिर भी इनके पाण्डित्यपूर्ण उत्तरोंसे राढ़-देश-वासी श्रद्धालु मनुष्योंको बहुत लाभ हुआ। वे भगवन्नाम और भक्तिके महत्त्वको समझ गये, उनके हृदयमें भक्तिका एक नया अंकुर उत्पन्न हो गया, जिसे पीछेसे गौराङ्गकी आज्ञानुसार नित्यानन्द प्रभुने प्रेमसे सींचकर पुष्पित, पल्लवित, फलान्वित बनाया। इस प्रकार ये शास्त्रीय उपदेश करते हुए राढ़-देशके मुख्य-मुख्य स्थानोंमें घूमने लगे। शामको अपने साथियोंको लेकर ये पद्मामें स्नान करते और घंटों एकान्तमें जलविहार करते रहते। लोग बड़े सत्कारसे इन्हें खाने-पीनेकी सामग्री देते। इनके साथी अपना भोजन स्वयं ही बनाते थे। इस प्रकार इनकी यात्राके दिन आनन्दसे कटने लगे।

एक दिन महामहिम निमाई पण्डित एकान्त स्थानमें बैठे हुए थे। उसी समय एक तेजस्वी ब्राह्मण उनके समीप आया। ब्राह्मणके चेहरेसे उसकी नम्रता, शीलता, पवित्रता और प्रभु-प्राप्तिके लिये विकलता प्रकट हो रही थी। ब्राह्मण अपनी वाणीसे निरन्तर भगवान्‌के सुमधुर नामोंका उच्चारण कर रहा था। उसने आते ही इनके चरण पकड़ लिये और फूट-फूटकर रोने लगा। इन्होंने उस ब्राह्मणको उठाकर गलेसे लगाया और अपना कोमल कर उसके अङ्गपर फेरते हुए बोले—'आप यह क्या कर रहे हैं, आप तो हमारे पूज्य हैं, हम तो अभी बालक हैं। आप स्वयं हमारे पूजनीय हैं।'

ब्राह्मण इनके पैरोंको पकड़े हुए निरन्त रुदन कर रहा था, वह कुछ सुनता ही नहीं था, बस, हिचकियाँ भर-भरकर जोरोंसे रोता ही था।

प्रभुने आश्वासन देते हुए कहा—'बात तो बताओ, इस प्रकार रुदन क्यों कर रहे हो। तुमपर क्या विपत्ति है, मंगलमय भगवान् तुम्हारा सब भला ही करेंगे, मुझे अपने दुःखका कारण बताओ।'

प्रभुके इस प्रकार बहुत आश्वासन देनेपर ब्राह्मणने कहा—'प्रभो! मैं बड़ा ही अधम और साधनशून्य दीन-हीन ब्राह्मण-बन्धु हूँ। अभीतक इस संसारमें मनुष्यका साध्य क्या है, उसतक पहुँचनेका असली साधन कौन-सा है, इस बातको नहीं समझ सका हूँ। मैं सदा इसी चिन्तामें मग्न रहा करता था कि साध्य-साधनका निर्णय कैसे हो, भगवान्‌से नित्य प्रार्थना किया करता था कि—'भगवन्! मैं तुम्हारी स्तुति-प्रार्थना कुछ नहीं जानता। आपको कैसे पुकारा जाता है यह बात भी नहीं जानता। इस दीन-हीन कंगालको आप स्वयं ही किसी प्रकार साध्य-साधनका तत्त्व समझा दीजिये।'

अन्तर्यामी भगवान्‌ने मेरी प्रार्थना सुन ली। कल रातमें मैं सो रहा

था। स्वप्नमें एक महापुरुषने आकर मुझसे कहा—'पूर्व बंगालमें जो आजकल निमाई पण्डित भ्रमण कर रहे हैं उन्हें तुम साधारण पण्डित ही न समझो, वे साक्षात् नारायणस्वरूप हैं, उन्हींके पास तुम चले जाओ, वे ही तुम्हारी शङ्काका समाधान करके तुम्हें साध्य-साधनका मर्म समझावेंगे।' बस, आँख खुलते ही मैं इधर चला आया हूँ। आज मेरा जीवन सफल हुआ, मैं श्रीचरणोंके दर्शन करके कृतकृत्य हो गया।

प्रभु तनिक मुस्कराये और फिर धीरे-धीरे तपन मिश्रसे कहने लगे—'महाभाग! आपके ऊपर श्रीकृष्ण भगवान्‌की बड़ी कृपा है। आपकी अन्तरात्मा अत्यन्त पवित्र है, इसीलिये आप सभीमें भगवद्भावना करते हैं। मनुष्य जैसी भावना किया करता है, वैसे ही रात्रिमें स्वप्न देखता है। आप इस बातको सत्य समझें और किसीके सामने प्रकाशित न करें।'

तपन मिश्रने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो! मुझे भुलाइये नहीं। अब तो मैं सर्वतोभावेन आपकी शरणमें आ गया हूँ। जैसे भी उचित समझें मुझे अपनाइये और मेरी शङ्काका समाधान कीजिये।'

प्रभुने हँसते हुए पूछा—'अच्छा, तुम क्या पूछना चाहते हो? तुम्हारी शङ्का क्या है?'

दीनभावसे तपन मिश्रने कहा—'प्रभो! इस कलिकालमें प्राचीन साधन जो शास्त्रोंमें सुने जाते हैं, उनका होना तो असम्भव है। समयानुसार कोई सरल, सुन्दर और सर्वश्रेष्ठ साधन बताइये और किसको साध्य मानकर उस साधनको करें।'

प्रभु थोड़ी देर चुप रहे, फिर बड़े ही प्रेमके साथ मिश्रसे बोले—'विप्रवर! प्रभु प्राप्ति ही मनुष्यका मुख्य साध्य है। उसकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक युगमें अलग-अलग साधन होते हैं। सत्ययुगमें ध्यान ही मुख्य

साधन समझा जाता था, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उस यज्ञपुरुष भगवान्‌की अर्चना की जाती थी, द्वापरमें पूजा-अर्चाके द्वारा प्रभु-प्रसन्नता समझी जाती थी, किन्तु इस कलियुगमें तो केवल केशव-कीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधन बताया जाता है। जो फल अन्य युगोंमें उन-उन साधनोंसे होते थे वही फल कलियुगमें भगवन्नाम-स्मरणसे होता है। यथा—

> कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
> द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

बस, सब साधनोंको छोड़कर हरि-नामका ही आश्रय पकड़ना चाहिये। भगवान् व्यासदेव तीन बार प्रतिज्ञा करके कहते हैं—

> हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थात् कलियुगमें केवल हरिका ही नाम सार है। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कलियुगमें हरिनामको छोड़कर दूसरी गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।

लोग हरिनामका माहात्म्य न समझकर ही संसारमें भाँति-भाँतिकी यातनाएँ सह रहे हैं। जो भगवन्नामकी महिमा समझ लेगा, फिर उसे भव-बाधाएँ व्यथा पहुँचा ही नहीं सकतीं। मैं तुम्हें सार-से-सार बात, गुह्य-से-गुह्य साधन बताये देता हूँ। इसे खूब यत्नपूर्वक स्मरण रखना और इसे ही अपने जीवनका मूलमन्त्र समझना—

> संसारसर्पदंष्टानामेकमेव सुभेषजम्।
> सर्वदा सर्वकालेषु सर्वत्र हरिचिन्तनम्॥

अर्थात् संसाररूपी सर्पके काटे हुए मनुष्यके लिये एक ही सर्वोत्तम

ओषधि है, वह यह कि हर समय, हर कालमें और हर स्थानमें निरन्तर हरिस्मरण ही करते रहना चाहिये । बस, मुख्य साधन यह है–

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

'ये सोलह नाम और बत्तीस अक्षरोंका मन्त्र ही मुख्य साधन है। साध्यके चक्करमें अभीसे मत पड़ो । इसका जप करते-करते साध्यका निर्णय स्वयं ही हो जायगा ।'

प्रभुके मुखसे साधनका गुह्य रहस्य सुनकर मिश्रजीको बड़ा ही आनन्द हुआ । आनन्दके कारण उनकी आँखोंमेंसे अश्रुधारा बहने लगी। उन्होंने रोते-रोते प्रभुके चरण पकड़कर प्रार्थना की–'प्रभो! आपकी असीम अनुकम्पासे आज मेरे सभी संशयोंका मूलोच्छेदन हो गया । अब मुझे कोई भी शंका नहीं रही । अब मेरी यही अन्तिम प्रार्थना है कि मुझे श्रीचरणोंसे पृथक् न कीजिये । सदा चरणोंके ही समीप बना रहूँ, ऐसी आज्ञा प्रदान कीजिये ।'

प्रभुने कहा–'अब काशी जाकर निवास कीजिये । कालान्तरमें हम भी काशीजी आवेंगे तभी आपसे भेंट होगी । आपको वहीं शिवपुरीमें जाकर रहना चाहिये ।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके तपन मिश्र काशीजीको चले गये और इधर प्रभु अब घर लौटनेकी तैयारियाँ करने लगे ।

पत्नी-वियोग और प्रत्यागमन

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः।
पत्युर्गतिसमा नास्ति दैवतं वा यथा पतिः॥*

(सु० र० भां० ३६६ । १४)

पत्नी गृहस्थाश्रममें एक सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रधान वस्तु है, गृहिणीके बिना गृहस्थ ही नहीं। पत्नी गृहस्थके कार्यमें मन्त्री है, सेवा करनेमें दासी

---

* स्त्रियोंका पति ही देवता है, पति ही बन्धु है और पति ही गति है। पतिके समान उनकी कोई दूसरी गति नहीं और पतिके समान उनका कोई दूसरा देवता नहीं।

है, भोजन करानेमें माताके समान है, शयनमें रम्भाके समान सुखदात्री है, धर्मके कार्योंमें अर्धाङ्गिनी है, क्षमामें पृथ्वीके समान है अर्थात् गृहस्थकी योग्य गृहिणी ही सर्वस्व है। जिसके घरमें सुचतुर सुन्दरी और मृदुभाषिणी गृहिणी मौजूद है, उसके यहाँ सर्वस्व है, उसे किसी चीजकी कमी ही नहीं और जिसके गृहिणी ही नहीं, उसके है ही क्या!

लोकप्रिय निमाई पण्डितकी पत्नी लक्ष्मीदेवी ऐसी ही सर्वगुणसम्पन्ना गृहिणी थीं। वे पतिको प्राणोंके समान प्यार करती थीं, सासकी तन-मनसे सदा सेवा करती रहती थीं और सदा मधुर और कोमल वाणीसे बोलती थीं। उनका नाम ही लक्ष्मीदेवी नहीं था, वस्तुतः उनमें लक्ष्मीदेवीके सभी गुण भी विद्यमान थे। वे मर्त्यलोकमें लक्ष्मीके ही समान थीं। ऐसी ही पत्नीको तो नीतिकारोंने लक्ष्मी बताया है—

> यस्य भार्या शुचिर्दक्षा भर्तारमनुगामिनी।
> नित्यं मधुरवक्त्री च सा रमा न रमा रमा॥

अर्थात् 'जिसकी भार्या पवित्रता रखनेवाली, गृहकार्योंमें दक्ष और अपने पतिके मनोनुकूल आचरण करनेवाली है, जो सदा ही मीठी वाणी बोलती है, असलमें तो वही लक्ष्मी है। लोग जो 'लक्ष्मी-लक्ष्मी' पुकारते हैं वह कोई और लक्ष्मी नहीं है।' निमाई पण्डितकी पत्नी लक्ष्मीदेवी सचमुचमें ही लक्ष्मी थीं।

पूर्व बंगालकी यात्राके समय माताके आग्रहसे निमाई लक्ष्मीदेवीको उनके पितृगृहमें कर गये थे। पतिके वियोगके समय पतिव्रता लक्ष्मीदेवीने बड़े ही प्रेमसे अपने स्वामीके चरण पकड़ लिये और वियोग-वेदनाका स्मरण करके वे फूट-फूटकर रोने लगीं। निमाईने उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—'इस प्रकार दुखी होनेकी कौन-सी बात है? मैं बहुत ही शीघ्र लौटकर आ जाऊँगा, तबतक तुम यहीं रहो। मैं बहुत दिनके लिये थोड़े

ही जाता हूँ । वैसे ही दस-बीस दिन घूम-घामकर आ जाऊँगा ।' उन्हें क्या पता था, कि यह लक्ष्मीदेवीसे अन्तिम ही भेंट है, इसके बाद लक्ष्मीदेवीसे इस लोकमें फिर भेंट न हो सकेगी ।

लक्ष्मीदेवीको भाँति-भाँतिसे आश्वासन देकर निमाई पण्डितने पूर्व बंगालकी यात्रा की । इधर लक्ष्मीदेवी पतिके वियोगमें खिन्नचित्तसे दिन गिनने लगीं, उन्हें पतिके बिना यह सम्पूर्ण संसार सूना-ही-सूना दृष्टिगोचर होता था । उन्हें संसारमें पतिके सिवा प्रसन्न करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं थी । प्रसन्नताकी मूल वस्तुके अभावमें उनकी प्रसन्नता एकदम जाती रही, वे सदा उदास ही बनी रहने लगीं । उदासीके कारण उन्हें अन्न-जल कुछ भी अच्छा नहीं लगता था । उनकी अग्नि मन्द हो गयी, पाचनशक्ति नष्ट हो गयी और विरह-ज्वालाके तापसे सदा ज्वर-सा रहने लगा । पिताने चिकित्सकोंको दिखाया, किन्तु बेचारे संसारी वैद्य इस रोगका निदान कर ही क्या सकते हैं ! वात, पित्त, कफके सिवा वे चौथी बात जानते ही नहीं हैं । यह इन तीनोंसे विलक्षण ही धातु-विकार व्याधि है, इस कारण वैद्योंके उपचारसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ । धीरे-धीरे लक्ष्मीदेवीका शरीर अधिकाधिक क्षीण होने लगा । किसीको भी उनके जीवनकी आशा न रही । वे मानो अपने अत्यन्त क्षीण शरीरको अन्तिम बार पति-दर्शनोंकी लालसा-से ही टिकाये हुए हैं, किन्तु उनकी यह अभिलाषा पूरी न हो सकी । निमाई पण्डितको पूर्व बंगालमें अनुमानसे अधिक दिन लग गये । अन्तमें बड़े कष्टके साथ वियोग-व्यथाको न सह सकनेके कारण अपने पतिदेवके चरण-चिह्नोंको हृदयमें धारण करके उन्होंने इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग कर दिया । वे इस मर्त्यलोककी भूमिको त्यागकर सतियोंके रहने योग्य अपने पुण्य-लोकमें पति-मिलनकी आकांक्षासे चली गयीं । घरवालोंने रोते-रोते उनके सभी संस्कार किये ।

इधर निमाई पण्डितको पूर्व बंगालमें भ्रमण करते हुए कई मा बीत गये। अब इन्हें घरकी चिन्ता होने लगी। इन्हें भान होने लगा कि हमारे घरपर जरूर कुछ अनिष्ट हुआ है, हृदयके भाव तो असंख्यों कोसों परसे हृदयमें आ जाते हैं। लक्ष्मीदेवीकी अन्तिम वेदना इनके हृदयको पीड़ा पहुँचाने लगी। इन्हें अब कहीं आगे जाना अच्छा नहीं लगता था, इसलिये इन्होंने साथियोंको नवद्वीप लौट चलनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाकर सभी नवद्वीप लौट चलनेकी तैयारियाँ करने लगे। बहुत-से नवीन छात्र भी विद्योपार्जनके निमित्त इनके साथ हो लिये थे। उन सभीको साथ लेकर ये नवद्वीपकी ओर चल पड़े। इन्हें काफी धन तथा अन्य आवश्यकीय वस्तुएँ भेंट तथा उपहारमें प्राप्त हुई थीं। थोड़े दिनोंमें ये फिर नवद्वीपमें ही आ गये।

इनके आगमनका समाचार बिजलीकी तरह नगरमें फैल गया। इनके इष्ट, मित्र, स्नेही तथा पुराने छात्र दर्शनोंके लिये इनके घरपर आने लगे। ये सभीसे यथोचित प्रेमपूर्वक मिले। सभीने यात्राके कुशल-समाचार पूछे।

इन्होंने सबसे पहिले अपनी माताके चरणोंको स्पर्श किया। माताका चेहरा मुरझाया हुआ था, वे पुत्रवधूके वियोग और पुत्रकी चिन्ताके कारण अत्यन्त दुखी-सी मालूम पड़ती थीं। चिरकालके बिछुड़े हुए अपने प्रिय पुत्रको पाकर माताके सुखका वारापार न रहा। गौ जिस प्रकार बिछुड़े हुए बछड़ेको पाकर उसे प्रेमसे चाटने लगती है उसी प्रकार माता निमाईके युवा शरीरके ऊपर अपना शीतल और कोमल कर फिराने लगीं। उनकी आँखोंसे निरन्तर प्रेमाश्रु निकल रहे थे। निमाईने हँसते हुए पूछा—'अम्मा! सब कुशल तो है! मुझे अनुमान भी नहीं था, कि इतने दिन

लग जायँगे, तुम्हें पीछे कोई कष्ट तो नहीं हुआ ।' पुत्रके ऐसा पूछनेपर माता चुप ही रही ।

तब किसी दूसरी स्त्रीने धीरेसे लक्ष्मीदेवीके परलोक-गमनकी बात इनसे कह दी । सुनते ही इनके चेहरेपर दुःख, सन्ताप और वियोगके भाव प्रकट होने लगे । माता और भी जोरोंके साथ रुदन करने लगीं । निमाई-की भी आँखोंमें अश्रु आ गये । उन्हें पोंछते हुए धीरे-धीरे वे माताको समझाने लगे—'माँ, विधिके विधानको मेट ही कौन सकता है ? जो भाग्यमें बदा होगा, वह तो अवश्य ही होकर रहेगा । इतने ही दिनोंतक तुम्हारी पुत्र-वधूका तुमसे संयोग बदा था, इस बातको कौन जानता था?'

माताने रोते-रोते कहा—'बेटा, अन्तिम समयमें भी वह तेरे आनेकी ही बात पूछती रही । ऐसी बहू अब मुझे नहीं मिलेगी, साक्षात् लक्ष्मी ही थी ।'

निमाई यह सुनकर चुप हो गये । माता फिर बड़े जोरोंसे रोने लगीं । इसपर प्रभुने कुछ जोर देकर कहा—'अम्मा ! अब चाहे तू कितनी भी रोती रह, तेरी पुत्र-वधू तो अब लौटकर आनेकी नहीं । वह लौटनेके लिये नहीं गयी है । अब तो धैर्य-धारणसे ही काम चलेगा ।'

पुत्रके ऐसे समझानेपर माताने धैर्य धारण करके अपने आँसू पोंछे और निमाईको स्नानादि करनेके लिये कहा । फिर स्वयं उन सबके लिये भोजन बनानेमें लग गयीं ।

भोजनसे निवृत्त होकर निमाई पण्डित अपने इष्ट-मित्रोंके साथ पूर्व बंगालकी यात्रा-सम्बन्धी बहुत-सी बातें करने लगे और फिर पूर्वकी भाँति पाठशालामें जाकर पढ़ाने लगे ।

नवद्वीपमें दिग्विजयी पण्डित

सभायां पण्डिताः केचित्केचित्पण्डितपण्डिताः।
गृहेषु पण्डिताः केचित्केचिन्मूर्खेषु पण्डिताः॥*

(कस्यचित्कवेः)

भगवद्दत्त प्रतिभा भी एक अलौकिक वस्तु है। पता नहीं, किस मनुष्यमें कब और कैसी प्रतिभा प्रस्फुटित हो उठे! अच्छे गायकोंको

---

* बहुत-से तो सभामें ही पण्डित होते हैं, सभामें तो वे इधर-उधरकी बहुत-सी बातें कहकर लोगोंपर अपना पाण्डित्य प्रदर्शन कर देंगे; किन्तु एकान्तमें वे यथावत् किसी शास्त्रीय विषयपर विचार नहीं कर सकते। बहुत-से अपने पाण्डित्यको पण्डितोंके ही सामने प्रकट करनेमें समर्थ होते हैं। जो उनके विषयको समझनेमें असमर्थ होते हैं, उनके सामने वे अपना पाण्डित्य नहीं दिखा सकते। बहुत-से अपने घरकी स्त्रियोंके ही सामने अपना पाण्डित्य छाँटा करते हैं, बाहर उनसे बातें भी नहीं बनतीं और बहुत-से अपने पाण्डित्यका मूर्खोंपर ही रोब जमाया करते हैं। बुद्धिवैलक्षण्यसे पाण्डित्यके अनेक प्रकार हैं।

देखा है, वे पदको सुनते-सुनते ही कण्ठस्थ कर लेते हैं। सुयोग्य गायकोंको दूसरी बार पदको पढ़नेकी आवश्यकता नहीं होती, एक बारके सुननेपर ही उन्हें याद हो जाता है। किसीको जन्मसे ही ताल, स्वर और राग-रागिनियोंका ज्ञान होता है और वह अल्प वयमें अच्छे-अच्छे धुरन्धरोंको अपने गायनसे आश्चर्यान्वित बना देता है। कोई कवि होकर ही माताके गर्भसे उत्पन्न होते हैं, जहाँ वे बोलने लगे, कि उनकी वाणीसे कविता ही निकलने लगती है। कोई अनपढ़ होनेपर भी ऐसे सुन्दर वक्ता होते हैं कि अच्छे-अच्छे शास्त्री और महामहोपाध्याय उनके व्याख्यानको सुनकर चकित हो जाते हैं। यह सब भगवद्दत्त शक्तियाँ हैं, इन्हें कोई परिश्रम करके प्राप्त करना चाहे तो असम्भव है। ये सब प्रतिभाके चमत्कार हैं और यह प्रतिभा पुरुषके जन्मके साथ ही आती है, काल पाकर वह प्रस्फुटित होने लगती है।

बहुत-से विद्वानोंको देखा गया है, वे सभी शास्त्रोंके धुरन्धर विद्वान् हैं, किन्तु सभामें वे एक अक्षर भी नहीं बोल सकते। इसके विपरीत बहुत-से ऐसे भी होते हैं जिन्होंने शास्त्रीय विषय तो बहुत कम देखा है किन्तु वे इतने प्रत्युत्पन्नमति होते हैं, कि प्रश्न करते ही झट उसका उत्तर दे देते हैं। किसी भी विषयके प्रश्नपर उन्हें सोचना नहीं पड़ता, जो प्रश्न सुनते ही ऐसा युक्तियुक्त उत्तर देते हैं कि सभाके सभी सभासद् वाह-वाह करने लगते हैं, इसीका नाम सभा-पाण्डित्य है। पहिले जमानेमें पण्डितके माने ही वावदूक वक्ता या व्याख्यानपटु किये जाते थे। जिसकी वाणीमें आकर्षण नहीं, जिसे प्रश्नके सुननेपर सोचना पड़ता है, जो तत्क्षण बातका उत्तर नहीं दे सकता, जिसे सभामें बोलनेसे संकोच होता है, वह पण्डित ही नहीं। सभामें ऐसे पण्डितोंकी प्रशंसा नहीं होती। पाण्डित्यपनेकी कीर्तिके वे अधिकारी नहीं समझे जाते। वे तो पुस्तकीय जन्तु हैं जो पुस्तकें उलटते रहते हैं।

आजसे कई शताब्दी पूर्व इस देशमें संस्कृत-साहित्यका अच्छा प्रचार था। राजसभाओंमें बड़े-बड़े पण्डित रखे जाते थे, उन्हें समय-समयपर यथेष्ट धन पारितोषिकके रूपमें दिया जाता था। दूर-दूरसे विद्वान् सभाओंमें शास्त्रार्थ करने आते थे और राजसभाओंकी ओरसे उनका सम्मान किया जाता था। पण्डितोंका शास्त्रार्थ सुनना उन दिनों राजा या धनिकोंका एक आवश्यक मनोरञ्जन समझा जाता था। जो बोलने-चालनेमें अत्यन्त ही पटु होते थे, जिन्हे अपनी वक्तृत्व-शक्तिके साथ शास्त्रीय ज्ञानका भी पूर्ण अभिमान होता था, वे सम्पूर्ण देशमें दिग्विजयके निमित्त निकलते थे। प्रायः ऐसे पण्डितोंको किसी राजा या धनीका आश्रय होता था, उनके साथ बहुत-से और पण्डित, घोड़े, हाथी तथा और भी बहुत-से राजसी ठाट होते थे। वे विद्याके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध केन्द्र-स्थानोंमें जाते और वहाँ जाकर डंकेकी चोटके साथ मुनादी कराते कि 'जिसे अपने पाण्डित्यका अभिमान हो वह हमसे आकर शास्त्रार्थ करे। यदि वह हमें शास्त्रार्थमें परास्त कर देगा तो हम अपना सब धन छोड़कर लौट जायँगे और वे हमें परास्त न कर सके तो हम समझेंगे हमने यहाँके सभी विद्वानोंपर विजय प्राप्त कर ली। यदि किसीकी हमसे शास्त्रार्थ करनेकी हिम्मत न हो तो हमें इस नगरके सभी पण्डित मिलकर अपने हस्ताक्षरोंसहित विजय-पत्र लिख दें, हम शास्त्रार्थ किये बिना ही लौट जायँगे।' उनकी ऐसी मुनादीको सुनकर कहीं के विद्वान् तो मिलकर शास्त्रार्थ करते और कहींके विजय-पत्र भी लिख देते, कहीं-कहींके विद्वान् उपेक्षा करके चुप भी हो जाते। दिग्विजयी अपनी विजयका डंका पीटकर दूसरी जगह चले जाते। धनी-मानी सज्जन ऐसे लोगोंका खूब आदर करते थे और उन्हे यथेष्ट द्रव्य भी भेंटमें देते थे। इस प्रकार प्रायः सदा ही बड़े-बड़े शहरोंमें दिग्विजयी पण्डितोंकी धूम रहती। चैतन्यदेवके ही समयमें चार पाँच दिग्विजयी पण्डितोंका उल्लेख मिलता है। आजकल यह प्रथा बहुत कम

हो गयी है, किन्तु फिर भी दिग्विजयी आजकल भी दिग्विजय करते देखे गये हैं। हमने दो दिग्विजयी विद्वानोंके दर्शन किये हैं, उनमें यही विशेषता थी कि वे प्रत्येक प्रश्नका उसी समय उत्तर देते थे। एक दिग्विजयी आचार्यको तो काशीजीमें एक विद्यार्थीने परास्त किया था, वह विद्यार्थी हमारे साथ पाठ सुनता था; बस, उसमें यही विशेषता थी कि वह धाराप्रवाह संस्कृत बड़ी उत्तम बोलता था। दिग्विजयके लिये वाक्पटुताकी ही अत्यन्त आवश्यकता है। पाण्डित्यकी शोभा तब और अब भी वाक्पटुता ही समझी जाती है। ऐसे ही एक काश्मीरके केशव शास्त्री अन्य स्थानोंमें दिग्विजय करते हुए नवद्वीपमें भी विजय करनेके लिये आये।

उन दिनों नवद्वीप विद्याका और विशेषकर नव्य न्यायका प्रधान केन्द्र समझा जाता था। भारतवर्षमें उसकी सर्वत्र ख्याति थी। इसलिये नवद्वीपको विजय करनेपर सम्पूर्ण पूर्वदेश विजित समझा जाता था। उस समय भी नवद्वीपमें गङ्गादास वैयाकरण, वासुदेव सार्वभौम नैयायिक, महेश्वर विशारद, नीलाम्बर चक्रवर्ती, अद्वैताचार्य आदि धुरन्धर और नामी-नामी विद्वान् थे। नये पण्डितोंमें रघुनाथदास, भवानन्द, कमलाकान्त, मुरारी गुप्त, निमाई पण्डित आदिकी भी यथेष्ट ख्याति हो चुकी थी।

नगरमें चारों ओर दिग्विजयीकी ही चर्चा थी। दस-पाँच पण्डित और विद्यार्थी जहाँ भी मिल जाते, दिग्विजयीकी ही बात छिड़ जाती। कोई कहता—'नवद्वीपको विजय करके चला गया, तो नवद्वीपकी नाक कट जायगी।' कोई कहता—'अजी, 'न्याय वह क्या जाने, न्यायकी ऐसी कठिन पंक्तियाँ पूछेंगे' कि उसके होश दंग हो जायँगे।' दूसरा कहता—'उसके सामने जायगा कौन ? बड़े-बड़े पण्डित तो गद्दी छोड़कर सभाओंमें

जाना ही पसंद नहीं करते।' इस प्रकार जिसकी समझमें जो आता वह वैसी ही बात कहता।

प्रायः बड़े-बड़े विद्वान् सभाओंमें शास्त्रार्थ नहीं करते। कुछ तो पढ़ानेके सिवा शास्त्रार्थ करना जानते ही नहीं, कुछ विद्वान् होनेपर शास्त्रार्थ कर भी लेते हैं, किन्तु उनमें चालाकी, धूर्तता और बातको उड़ा देनेकी विद्या नहीं होती, इसलिये चारों ओर घूम-घूमकर दिग्विजय करनेवाले वावदूकोंसे वे घबड़ाते हैं। कुछ अपनी इज्जत-प्रतिष्ठाके डरसे शास्त्रार्थ नहीं करते कि यदि हार गये तो लोगोंमें बड़ी बदनामी होगी। इसलिये बड़े-बड़े गम्भीर विद्वान् ऐसे कामोंमें उदासीन ही रहते हैं।

विद्यार्थियोंने जाकर निमाई पण्डितसे भी यह बात कही—'काश्मीरसे एक दिग्विजयी पण्डित आये हैं। उनके साथ बहुत-से हाथी-घोड़े तथा विद्वान् पण्डित भी हैं। उनका कहना है, नदियाके विद्वान् या तो हमसे शास्त्रार्थ करें नहीं तो विजय-पत्र लिखकर दे दें। वैसे शास्त्रार्थ करनेके लिये तो बहुत-से पण्डित तैयार हैं, किन्तु सुनते हैं, उन्हें सरस्वती सिद्ध है। शास्त्रार्थके समय सरस्वती उनके कण्ठमें बैठकर शास्त्रार्थ करती है। इसीसे वे सम्पूर्ण भारतको विजय कर आये हैं। सरस्वतीके साथ भला कौन शास्त्रार्थ कर सकता है? इसलिये उन्हें बड़ा भारी अभिमान है। वे अभिमानमें बार-बार कहते हैं—'मुझे शास्त्रार्थमें पराजय करनेवाला तो पृथ्वीपर प्रकट ही नहीं हुआ है।' इसलिये नदियाके सभी पण्डित डर गये हैं।'

विद्यार्थियोंकी बातें सुनकर पण्डितप्रवर निमाईने कहा—'चाहे किसीका भी वरदान प्राप्त क्यों न हो, अभिमानीका अभिमान तो अवश्य ही चूर्ण होता है। भगवान्‌का नाम ही मदहारी है, वे अभिमानहीका तो आहार करते हैं। रावण, वेन, नरकासुर, भस्मासुर आदि सभीने घोर तप करके

ब्रह्माजी तथा शिवजीके बड़े-बड़े वर प्राप्त किये थे। दर्पहारी भगवान्‌ने उनके भी दर्पको चूर्ण कर दिया। अभिमान करनेसे बड़े-बड़े पतित हो जाते हैं, फिर यह दिग्विजयी तो चीज ही क्या है ?' इस प्रकार विद्यार्थियोंसे कहकर आप गङ्गा-किनारे चले गये और वहाँ जाकर नित्यकी भाँति जल-विहार और शास्त्रार्थ करने लगे। इन्होंने दिग्विजयीके सम्बन्धमें छात्रोंसे पता लगा लिया कि वह क्या-क्या करता है और एकान्तमें गङ्गाजीपर आता है या नहीं, यदि आता है तो किस घाटपर और किस समय ? पता चला कि अमुक घाटपर सन्ध्या-समय दिग्विजयी नित्य आकर बैठता है। निमाई उसी घाटपर अपने विद्यार्थियोंके साथ जाने लगे। और भी पाठशालाओंके विद्यार्थी कुतूहलवश वहीं आकर शास्त्रार्थ और वाद-विवाद करने लगे।

दिग्विजयीका पराभव

परैः प्रोक्ता गुणा यस्य निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ॥*

(सु० र० भा० ८७। १)

महामहिम निमाई पण्डित एकान्तमें दिग्विजयी पण्डितके साथ वार्तालाप करना चाहते थे, वे भरी सभामें उस मानी और वयोवृद्ध पण्डितकी हँसी करना ठीक नहीं समझते थे। प्रायः देखा गया है, भरी सभामें लोगोंके सामने अपने सम्मानकी रक्षाके निमित्त शास्त्रार्थ करनेवाले

---

* दूसरे लोग जिसकी प्रशंसा करें तो वह निर्गुण होनेपर भी गुणवान् हो जाता है और जो अपनी प्रशंसा अपने ही मुखसे करता है, फिर चाहे वह त्रिलोकेश इन्द्र ही क्यों न हो, उसे भी नीचा देखना पड़ता है।

झूठी बातपर भी अड़ जाते हैं और उसे येन केन प्रकारेण सत्य ही सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। सत्यको झूठ और झूठको सत्य करनेके कौशलका ही नाम तो आजकल असलमें शास्त्रार्थ करना है। निमाई उससे शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते थे, किन्तु उसे यह बताना चाहते थे, कि संसारमें परमात्माके अतिरिक्त अद्वितीय वस्तु कोई नहीं है। कोई कितना भी अभिमान क्यों न कर ले, संसारमें उससे बढ़कर कोई-न-कोई मिल ही जायगा। ब्रह्माजीकी बनायी हुई इस सृष्टिमें यही तो विचित्रता है, कहावत है—

'मल्लन कूँ मल्ल घनेरे, घर नाहिं तो बाहिर बहुतेरे'

अर्थात् 'बलवानोंको बहुत-से बलवान् मिल जाते हैं, उनके समीप उनके समान न भी हों, तो बाहर बहुत-से मिल जायँगे।' इसी बातको जतानेके निमित्त निमाई पण्डित एकान्तमें दिग्विजयीसे बातें करना चाहते थे।

सन्ध्याका समय है, कलकलनादिनी भगवती भागीरथी, अपनी द्रुत गतिसे सदाकी भाँति सागरकी ओर दौड़ी जा रही हैं, मानो उन्हें संसारी बातें सुननेका अवकाश ही नहीं, वे अपने काममें बिना किसीकी परवा किये हुए निरन्तर लगी हुई हैं। कलरव करते हुए भाँति-भाँतिके पक्षी आकाश-मार्गसे अपने-अपने कोटरोंकी ओर उड़े जा रहे हैं। भगवान् भुवन-भास्करके अस्ताचलमें प्रस्थान करनेके कारण विधवाकी भाँति सन्ध्या-देवी रुदन कर रही है। शोकके कारण उसका चेहरा लाल पड़ गया है, मानो उसे ही प्रसन्न करनेके निमित्त भगवान् निशानाथ अपनी सोलहों कलाओंके सहित गगनमें उदित होकर प्राणिमात्रको शीतलता प्रदान कर रहे हैं। पुण्यतोया जाह्नवीके वैडूर्यके समान स्वच्छ नील-जलमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब बड़ा ही भला मालूम होता है। प्रायः सभी पाठशालाओंके

बहुत-से मेधावी छात्र गङ्गाजीके जलके बिल्कुल सन्निकट बैठकर शास्त्रचर्चा कर रहे हैं। एक दूसरेसे प्रश्न पूछता है, वह उसका उत्तर देता है, पूछनेवाला उसका फिरसे खण्डन करता है। उत्तर देनेवालेकी दस-पाँच विद्यार्थी मिलकर सहायता करते हैं, अब सहायता करनेवालोंसे शास्त्रार्थ छिड़ जाता है। इस प्रकार सब एक दूसरेको परास्त करनेकी जी-जानसे चेष्टा कर रहे हैं। शास्त्रार्थ करनेमें असमर्थ छात्र चुपचाप उनके समीप बैठकर शास्त्रार्थके श्रवणमात्रसे ही अपनेको आनन्दित कर रहे हैं। बहुत-से दर्शनार्थी चारों ओर घिरकर बैठ जाते हैं, कोई-कोई खड़े होकर भी विद्यार्थियोंके वाक्-युद्धका आनन्द देखने लगते हैं, तब दूसरे विद्यार्थी उन्हें इशारेसे बिठा देते हैं। इस प्रकार विद्यार्थियोंमें खूब ही शास्त्रालोचना हो रही है। इन सभी छात्रोंके बीच निमाई पण्डित मानो सिरमौर हैं। इस शास्त्रार्थकी जान वे ही हैं, वे स्वयं भी विद्यार्थियोंमें मिलकर शास्त्रार्थ करते हैं और दूसरोंको भी उत्साहित करते जाते हैं। दूसरे पण्डित एकान्तमें दूर खड़े होकर, कोई सन्ध्याका बहाना करके, कोई पाठके बहानेसे निमाईके मुखसे निसृत वाक्-सुधाका रसास्वादन कर रहे हैं। बहुत-से पण्डित यथार्थमें ही सन्ध्या करके मनोविनोदके निमित्त विद्यार्थियोंके समीप खड़े हो गये हैं, और एक दूसरेके विवादमें कभी-कभी किसीकी सहायता भी कर देते हैं। इसी बीच दिग्विजयी पण्डित भी अपने दो-चार अन्तरङ्ग पण्डितोंके साथ गङ्गाजीपर आये। दिग्विजयीका सुन्दर सुहावना गौर वर्ण था, शरीर सुगठित और स्थूल था, बड़ी-बड़ी सुन्दर भुजाएँ, उन्नत वक्षःस्थल और गोल चेहरेके ऊपर बड़ी-बड़ी आँखें बड़ी ही भली मालूम पड़ती थीं। उनके प्रशस्त सुन्दर ललाटपर रोलीकी एक चौड़ी-सी बिन्दी लगी हुई थी, सिरके बाल आधे पक गये थे, चेहरेसे रोब और विद्वत्ता प्रकट होती थी, शरीरमें अभिमानजन्य स्फूर्ति थी, केवल एक सफेद कुर्ता पहिने नंगे सिर आकर दिग्विजयीने गङ्गाजीको प्रणाम किया, आचमन करके वे थोड़ी देर बैठे

रहे। फिर वैसे ही मनोविनोदके निमित्त विद्यार्थियोंकी ओर चले गये। निमाईके समीपके विद्यार्थीने इशारेसे बताया, ये ही वे दिग्विजयी हैं। दिग्विजयीको देखकर निमाई पण्डितने उन्हें नम्रतापूर्वक प्रणाम किया और बैठनेके लिये आग्रह किया। पहिले तो दिग्विजयीने बैठनेमें संकोच किया, जब सभीने आग्रह किया, तो वे बैठ गये। प्रायः मानियोंके समीप ही मान-प्रतिष्ठाकी परवा की जाती है, जो मान-अपमानसे परे हैं उनके समीप मानी-अमानी, मूर्ख-पण्डित सभी समानरूपसे जा-आ सकते हैं और उनकी सीधी-सादी बातोंमें वे मानापमानका ध्यान नहीं करते। इसीलिये तो लड़के, पागल तथा मूर्खोंके साथ सभी बेखटके चले जाते हैं, उनसे उन्हें उद्वेग नहीं होता। उद्वेगका कारण तो अन्तरात्मामें सम्मानकी इच्छा है। जिसके हृदयमें सम्मानकी लिप्सा है, वह माननीय लोगोंमें सम्मानके ही साथ जाना पसन्द करेगा, उसे इस बातका सदा भय बना रहता है, कि वहाँ मेरा अपमान न होने पावे। इसलिये उत्तम आसनका पहिलेसे ही प्रबन्ध करा लेगा, तब वहाँ जाना स्वीकार करेगा। विद्यार्थी तो मान-अपमानसे दूर ही रहते हैं, उन्हें मान-अपमानकी कुछ भी परवा नहीं रहती। चाहे विद्यार्थी सभी शास्त्रोंको पढ़ चुका हो, जबतक वह पाठशाला-में विद्यार्थी बना है, तबतक वह छोटे-से-छोटे विद्यार्थीसे भी समानताका ही बर्ताव करेगा। विद्यार्थी-विद्यार्थी सब एक-से। इसीलिये विद्यार्थियोंसे भी किसीको उद्वेग नहीं होता। इसी कारण विद्यार्थियोंके आग्रह करनेपर महामानी लोकविख्यात दिग्विजयी पण्डित भी विद्यार्थियोंके समीप ही बैठ गये। निमाई पण्डितने अपना वस्त्र उनके लिये बिछा दिया। दिग्विजयीके सुखपूर्वक बैठ जानेपर सभी विद्यार्थी चुप हो गये। सभीने शास्त्रार्थ बन्द कर दिया। हँसते हुए दिग्विजयी बोले—'भाई, तुमलोग चुप क्यों हो गये, कुछ शास्त्र-चर्चा होनी चाहिये। इतनेपर भी सब चुप ही रहे। सभी विद्यार्थी धीरे-धीरे निमाईके मुखकी ओर देखने लगे। कुछ प्रसङ्ग चलनेके

निमित्त दिग्विजयीने निमाई पण्डितसे पूछा—'तुम किस पाठशालामें पढ़ते हो ?' निमाई इस प्रश्नको सुनकर चुप हो गये, वे कुछ कहनेहीको थे कि उनके समीप बैठे हुए एक योग्य छात्रने कहा—'ये यहाँके विख्यात अध्यापक निमाई पण्डित हैं ।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए दिग्विजयीने निःसंकोचभावसे उनकी पीठ-पर हाथ फेरते हुए कहा—'ओहो ! निमाई पण्डित आपका ही नाम है ? आपकी तो हमने बड़ी भारी प्रशंसा सुनी है । आप तो यहाँके वैयाकरणोंमें सिरमौर समझे जाते हैं । हाँ, आप ही कोई व्याकरणकी पंक्ति सुनाइये ।'

हाथ जोड़े हुए नम्रतापूर्वक निमाई पण्डितने कहा—'यह तो आप-जैसे गुरुजनोंकी कृपा है, मैं तो किसी योग्य भी नहीं । भला, आपके सामने मैं सुना ही क्या सकता हूँ, मैं तो आपके शिष्योंके शिष्य होनेके योग्य भी नहीं ! आपने संसारको अपनी विद्या-बुद्धिसे दिग्विजय किया है । आपके कवित्वकी बड़ी भारी प्रशंसा सुनी है । यह छात्र-मण्डली आपके कवित्वके श्रवण करनेके लिये बड़ी उत्सुक हो रही है । कृपा करके आप ही अपनी कोई कविता सुनानेकी कृपा कीजिये ।

यह सुनकर दिग्विजयी पण्डित हँसने लगे । पासके दो-चार विद्यार्थियोंने कहा—'हाँ, महाराज ! हमलोगोंकी इच्छाको जरूर पूर्ण कीजिये । हम सभी लोग बहुत उत्सुक हैं आपकी कविता सुननेके लिये ।'

अबतक दिग्विजयीको नदियामें अपनी अलौकिक प्रतिभा और लोकोत्तर कवित्व-शक्तिके प्रकाशित करनेका सुअवसर प्राप्त ही नहीं हुआ था । उसे प्रकट करनेका सुअवसर समझकर उन्होंने कुछ गर्व मिली हुई प्रसन्नताके साथ कहा—'तुमलोग जो सुनना चाहते हो, वही सुनावें ।'

इसपर निमाई पण्डितने धीरेसे कहा—'कुछ भगवती भागीरथीकी

महिमाका ही बखान कीजिये जिससे कर्ण भी पवित्र हों और काव्यामृतका भी रसास्वादन हो ।'

इतना सुनते ही दिग्विजयी धारा-प्रवाहसे गङ्गाजीके महत्त्वके श्लोक बोलने लगे । सभी श्लोक नवीन ही थे, वे तत्क्षण नवीन श्लोकोंकी रचना करते जाते और उन्हें, उसी समय बोलते जाते । उन्हें नवीन श्लोक बनानेमें न तो प्रयास करना पड़ता था, न एक श्लोकके बाद ठहरकर कुछ सोचना ही पड़ता था । जैसे किसीको असंख्य श्लोक कण्ठस्थ हों और वह जिस प्रकार जल्दी-जल्दी बोलता जाय, उसी प्रकार दिग्विजयी श्लोक बोल रहे थे ।

सभी विद्यार्थी विस्मितभावसे एकटक होकर दिग्विजयीकी ओर आश्चर्यभावसे देख रहे थे । सभीके चेहरोंसे महान् आश्चर्य—अद्भुत संभ्रम-सा प्रकट हो रहा था, उन्होंने इतनी विद्या-बुद्धिवाला पुरुष आजतक कभी देखा ही नहीं था । विद्यार्थियोंके भावोंको समझकर दिग्विजयी मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होते जाते थे और दूने उत्साहके साथ यमक और अनुप्रासयुक्त श्लोकोंको सुमधुर कण्ठसे बोलते जाते थे । एक घड़ी भी नहीं हुई कि वे सौसे अधिक श्लोक बोलकर चुप हो गये । घाटपर सन्नाटा छा गया । गङ्गाजीका कलरव बंद हो गया, मानो इतनी उतावली गङ्गा-माता भी दिग्विजयीके लोकोत्तर काव्य-रससे प्रवाहित होकर उसे अपने प्रवाहमें मिलानेके लिये कुछ कालके लिये ठहर गयी हो । उस नीरवताको भंग करते हुए मधुर और गम्भीर स्वरमें निमाई पण्डित बोले—'महाराज ! हम सब लोग आज आपकी अमृतमयी वाणी सुनकर कृतार्थ हुए । हमने ऐसा अपूर्व काव्य कभी नहीं सुना था, न आप-जैसे लोकोत्तर कविके ही कभी दर्शन किये थे । आपके काव्यको आप ही समझ भी सकते हैं । दूसरेकी क्या सामर्थ्य है, जो ऐसे सुललित काव्यको यथावत् समझ ले ।

इसलिये इनमेंसे किसी एक श्लोककी व्याख्या और गुण-दोष हम और सुनना चाहते हैं।

कुछ गर्वके साथ हँसते हुए दिग्विजयीने कहा—केशवकी कमनीय कवितामें दोष तो दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकते। हाँ, व्याख्या कहो तो कर दूँ। बताओ किस श्लोककी व्याख्या चाहते हो, यह बात दिग्विजयीने निमाई पण्डितको युक्तिसे चुप करनेके ही लिये कह दी थी। वे समझते थे मेरे सभी श्लोक नवीन हैं, मैं जल्दी-जल्दीमें उन्हें बोलता गया हूँ, ये उनमेंसे किसीको बता ही न सकेंगे इसलिये यह बात यहीं समाप्त हो जायगी। किन्तु निमाई भी कोई साधारण पण्डित नहीं थे। दिग्विजयी यदि भगवतीके वरसे कविवर हैं, तो ये भी श्रुतिधर हैं। झटसे आपने अपने कोमल कण्ठसे यह श्लोक पढ़ा—

> महत्त्वं गङ्गायाः सततमिदमाभाति नितरां
> यदेषा श्रीविष्णोश्चरणकमलोत्पत्तिसुभगा।
> द्वितीयश्रीलक्ष्मीरिव सुरनरैरर्च्यचरणा
> भवानीभर्तुर्या शिरसि विभवत्यद्भुतगुणा॥*
>
> (केशवकाश्मीरी पण्डितस्य)

इस श्लोकको बोलकर आपने कहा—'इसकी व्याख्या और गुण-दोष कहिये।'

निमाईके मुखसे अपने श्लोकको यथावत् सुनकर दिग्विजयीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, उनका मुख फीका पड़ गया। सभी एकटक

---

* इस श्लोकका भाव यह है, कि इस गङ्गा देवीका महत्त्व सर्वदा देदीप्यमान है, इसी कारण यह बड़ी ही सौभाग्यशालिनी हैं। इनकी उत्पत्ति श्रीविष्णु भगवान्के चरणकमलसे हुई है। इनके चरणोंकी द्वितीय लक्ष्मीकी भाँति सुरनरगण सदा पूजा-अर्चा करते रहते हैं। ये अद्भुत गुणवाली देवी, भवानीके स्वामी श्रीमहादेवजीके सिरपरसे प्रवाहित हुई हैं।

होकर निमाईकी ओर देखने लगे, मानो दिग्विजयीकी श्री, प्रतिभा, कान्ति और प्रभा निमाईके पास आ गयी हो। कुछ बनावटी उपेक्षा-सी करते हुए कहा—'आप बड़े चतुर हैं, मैं इतनी जल्दी-जल्दी श्लोक बोलता था, उनके बीचमेंसे आपने श्लोकको कण्ठस्थ भी कर लिया।'

निमाईने धीरेसे नम्रतापूर्वक कहा—'सब आपकी कृपा है, कृपया इस श्लोककी व्याख्या और गुण-दोष सुनाइये।'

दिग्विजयीने कहा—'यह अलङ्कारका विषय है, तुम वैयाकरण हो, इसे क्या समझोगे?'

इन्होंने नम्रताके साथ कहा—'महाराज! हमने अलङ्कार-शास्त्रका यथावत् अध्ययन नहीं किया है, तो उसे सुना तो अवश्य है, कुछ तो समझेंगे ही। फिर यहाँ अलङ्कार-शास्त्रके ज्ञाता बहुत-से छात्र तथा पण्डित भी बैठे हुए हैं, उन्हें ही आनन्द आवेगा।'

अब दिग्विजयी अधिक टालमटोल न कर सके, वे अनिच्छापूर्वक बेमनसे श्लोककी व्याख्या करने लगे। व्याख्याके अनन्तर उपमालङ्कार और अनुप्रासादि गुण बताकर दिग्विजयी चुप हो गये। तब निमाई पण्डितने बड़ी नम्रताके साथ कहा—'आज्ञा हो और आप अनुचित न समझें तो मैं भी इस श्लोकके गुण-दोष बता दूँ?'

मानो क्रुद्ध सर्पपर किसीने पाद-प्रहार कर दिया हो, संसारविजयी सरस्वतीके वरप्राप्त दिग्विजयी पण्डितके श्लोकमें यह युवक अध्यापक दोष निकालनेका साहस करता है, उन्होंने भीतरके दोषसे बनावटी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'अच्छा, बताओ, श्लोकमें क्या गुण-दोष हैं?'

निमाई पण्डित अब श्लोककी व्याख्या करने लगे। उन्होंने कहा—'श्लोक बड़ा ही सुन्दर है, वैसे लगानेसे तो सैकड़ों गुण-दोष निकल सकते हैं, किन्तु मुख्यरूपसे इसमें पाँच गुण हैं और पाँच दोष हैं।'

दिग्विजयीने झुँझलाकर सिर हिलाते हुए कहा—'बताओ न कौन-कौन-से दोष हैं !'

निमाईने उसी सरलताके साथ कहा—पहिले श्लोकके गुण ही सुनिये।

(१) पहिला गुण तो इसमें 'शब्दालङ्कार' है। श्लोकके पहिले चरणमें पाँच 'तकारों' की पंक्ति बड़ी ही सुन्दरताके साथ ग्रथित की गयी है। तृतीय चरणमें पाँच 'रकार' और चतुर्थ चरणमें चार 'भकार' बड़े ही भले मालूम पड़ते हैं। इन शब्दोंके कारण श्लोकमें शब्दालङ्कार-गुण आ गया है।

(२) दूसरा गुण है 'पुनरुक्तिवदाभास'। पुनरुक्तिवदाभास उस गुणको कहते हैं जो सुननेमें तो पुनरुक्ति प्रतीत हो, किन्तु पुनरुक्ति न होकर दोनों पदोंके दो भिन्न-भिन्न अर्थ हों। जैसे श्लोकमें 'श्री-लक्ष्मी-इव' यह पद आया है। सुननेमें तो श्री और लक्ष्मी दोनों समान अर्थवाचक ही प्रतीत होते हैं किन्तु यहाँ श्री और लक्ष्मीका अलग-अलग अर्थ न करके 'श्रीसे युक्त लक्ष्मी' ऐसा अर्थ करनेसे सुन्दर अर्थ भी हो जाता है और साथ ही 'पुनरुक्तिवदाभास' गुण भी प्रकट होता है।

(३) तीसरा गुण है 'अर्थालङ्कार'। अर्थालङ्कार उसे कहते हैं, जिसमें अर्थके सहित उपमाका प्रकाश किया हो। जैसे श्लोकमें 'लक्ष्मीः इव' अर्थात् लक्ष्मीकी तरह कहकर गङ्गाजीको लक्ष्मीकी उपमा दी गयी है। इस कारण बड़ा ही मनोहर 'अर्थालङ्कार' है।

(४) चौथा एक और भी 'अर्थालङ्कार' गुण है, उसका नाम है 'विरोधाभासार्थालङ्कार'। विरोधाभासरूपी अर्थालङ्कार उसे कहते हैं कि उपमा-उपमेय एक-दूसरेसे बिलकुल विभिन्न गुणवाले हों, जैसे—

अम्बुजमम्बुनि जातं क्वचिदपि न जातमम्बुजादम्बु।
मुरभिदि तद्विपरीतं पादाम्भोजान्महानदी जाता॥

अर्थात् जलसे तो कमलोंकी उत्पत्ति होती हुई देखी गयी है, किन्तु कमलसे जल कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, परन्तु भगवान्‌की लीला विचित्र ही है, उनके पाद-पद्मोंसे जगत्पावनी महानदी उत्पन्न हुई है। यहाँ कमलसे जलकी उत्पत्तिका विरोध है, किन्तु भगवान् तो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' सभी प्रकारसे समर्थ हैं, इसलिये आपके श्लोकमें 'विष्णोश्चरणकमलोत्पत्तिसुभगा' इस पदसे विष्णु भगवान्‌के चरण-कमलोंसे उत्पत्ति बतानेसे 'विरोधाभासरूपी अर्थालङ्कार' आ गया है।

(५) पाँचवाँ एक और भी 'अनुमान' अलङ्कार है। श्लोकमें साध्य वस्तु गङ्गाजीका महत्त्व वर्णन करना है। विष्णुपादोत्पत्ति उसका साधन बताकर बड़ा चमत्कारपूर्ण अनुमानालङ्कार सिद्ध हो जाता है। अर्थात् 'विष्णुपादोत्पत्ति-वाक्य ही अनुमानालङ्कार है।'

इस प्रकार पाँच गुणोंको बताकर निमाई पण्डित चुप हो गये। सभी अनिमेषभावसे टकटकी लगाये निमाई पण्डितकी ही ओर देख रहे थे, उन्होंने ये सब बातें बड़ी सरलता और निर्भीकताके साथ कही थीं, दिग्विजयीका कलेजा भीतर-ही-भीतर खिंच-सा रहा था, वे उदासीनभावसे गङ्गाजीकी सीढ़ीके घाटकी ओर देख रहे थे, मानो वे कह रहे हैं, यह पत्थर यहाँसे हट जाय तो मैं इसमें समा जाऊँ। निमाई पण्डितके गुण बतानेपर उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई। जैसे किसी शास्त्री पण्डितसे कह दें आप थोड़ा-सा व्याकरण भी जानते हैं, जैसे उसे इस वाक्यमें कोई विशेष प्रसन्नता न होकर और दुःख ही होगा, उसी प्रकार अपने काव्यको सर्वगुणसम्पन्न समझनेवाले दिग्विजयीको इन पाँच गुणोंके श्रवणसे प्रसन्नताकी जगह दुःख ही हुआ। उन्होंने कुछ चिढ़कर कहा—'अच्छा, ये तो गुण हो गये, अब तुम बता सकते हो तो इसमेंके दोषोंको भी बताओ।'

यह सुनकर उसी गम्भीर वाणीसे निमाई पण्डित कहने लगे—

'गुणोंकी भाँति दोष भी इसमे अनेकों निकाले जा सकते हैं, किन्तु पाँच मोटे-मोटे दोष तो प्रत्यक्ष ही है। श्लोकमे दो स्थानोंपर तो 'अविमृष्ट-विधेयांश' दो दोष है, तीसरा 'विरुद्धमति' दोष है, चौथा 'भग्नक्रम' और पाँचवाँ 'पुनरुक्ति' दोष भी है। इस प्रकार ये पाँच दोष मुख्य हैं, अब इनकी व्याख्या सुनिये।

(१) 'अविमृष्ट-विधेयांश' दोष उसे कहते हैं जिसमें 'अनुवाद' अर्थात् परिज्ञात विषय आगे न लिखा जाय। ऐसा करनेसे अर्थमें दोष आ जाता है। आपके श्लोकका मूल विधेय है 'गङ्गाजीका महत्त्व' और 'इदम्' शब्द अनुवाद है। आपने 'अनुवाद' को पहिले न कहकर सबसे पहिले 'महत्त्वं गङ्गायाः' जो 'विधेय' है उसे ही आगे कह दिया, इससे 'अविमृष्ट-विधेयांश' दोष आ गया।

(२) दूसरा 'अविमृष्ट-विधेयांश' दोष 'द्वितीयश्रीलक्ष्मी' इस पदमें है। यहाँपर 'द्वितीयत्व' ही 'विधेय' है, द्वितीय-शब्द ही समासमें पड़ गया। समासमें पड़ जानेसे वह मुख्य न रहकर गौण पड़ गया। इससे शब्दार्थ-क्षय हो गया अर्थात् लक्ष्मीकी समता प्रकाश करना ही अर्थका मुख्य तात्पर्य था, सो द्वितीय शब्दके समासमे पड़ जानेसे अर्थ ही नाश हो गया।

(३) तीसरा श्लोकमे 'विरुद्धमति' दोष है। विरुद्धमति दोष उसे कहते हैं, कि कहना तो किसीके लिये चाहते हैं और अर्थ करनेपर किसी दूसरेपर घटता है। आपके श्लोकमें 'भवानीभर्तुः' पद आया है, आपका अभिप्राय शङ्करजीसे है, किन्तु अर्थ लगानेपर महादेवजीका न लगकर किसी दूसरेका ही भास होता है। 'भवानीभर्ता' के शब्दार्थ हुए (भवस्य पत्नी भवानी भवान्या भर्ता=भवानीभर्ता) अर्थात् शिवजीकी पत्नीका पति।

दिग्विजयीका पराभव [पृष्ठ २०७]

इससे पार्वतीजीके किसी दूसरे पतिका अनुमान किया जा सकता है। जैसे 'ब्राह्मणपत्नीके स्वामीको दान दो' इस वाक्यके सुनते ही दूसरे पतिका बोध होता है। काव्यमें इसे 'विरुद्धमति' दोष कहते हैं, यह बड़ा दोष समझा जाता है।

(४) चौथा 'पुनरुक्ति' दोष है। पुनरुक्ति दोष उसे कहते हैं, एक बातको बार-बार कहना—या क्रियाके समाप्त होनेपर फिरसे उसी बातको दुहराना। आपके श्लोकमें 'विभवति' क्रिया देकर विषयको समाप्त कर दिया है, फिर भी क्रियाके अन्तमें 'अद्‌भुतगुणा' विशेषण देकर 'पुनरुक्तिदोष' कर दिया गया है।

(५) पाँचवाँ 'भग्नक्रम' दोष है। भग्नक्रम दोष उसे कहते हैं कि दो या तीन पदोंमें तो कोई क्रम जारी रहे और एक पदमें वह क्रम भग्न हो जाय। आपके श्लोकके प्रथम चरणमें पाँच 'तकार' तीसरेमें पाँच 'रकार' और चतुर्थ चरणमें चार भकारोंका अनुप्रास है किन्तु दूसरा चरण अनुप्रासोंसे रहित ही है। इससे श्लोकमें 'भग्नक्रम' दोष आ गया।

महामहिम निमाई पण्डित बृहस्पतिके समान निर्भीक होकर धाराप्रवाह गतिसे बोलते जाते थे, सभी दर्शकोंके चेहरेसे प्रसन्नताकी किरणें निकल रही थीं। दिग्विजयी लज्जाके कारण सिर नीचा किये हुए चुपचाप बैठे थे। निमाई पण्डितका एक-एक शब्द उनके हृदयमें शूलकी भाँति चुभता था, उससे वे मन-ही-मन व्यथित होते जाते थे, किन्तु बाहरसे ऐसी चेष्टा करते थे, जिससे भीतरकी व्यथा प्रकट न हो सके, किन्तु चेहरा तो अन्तःकरणका दर्पण है, उसपर तो अन्तःकरणके भावोंका प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। निमाई पण्डितके चुप हो जानेपर भी दिग्विजयी नीचा सिर किये

हुए चुपचाप ही बैठे रहे, उन्होंने अपने मुखसे एक भी शब्द इनके प्रतिवादमें नहीं कहा। यह देखकर विद्यार्थी ताली पीटकर हँसने लगे। गुणग्राही निमाई पण्डितने डाँटकर उन्हें ऐसा करनेसे निषेध किया। दिग्विजयीको लज्जित और खिन्न देखकर आप नम्रताके साथ कहने लगे–'हमने बाल-चापल्यके कारण ये बातें कह दी हैं। आप इनको कुछ बुरा न मानें। हम तो आपके शिष्य तथा पुत्रके समान हैं। अब बहुत रात्रि व्यतीत हो गयी है, आपको भी नित्यकर्मके लिये देर हो रही होगी। हमें भी अपने-अपने घर जाना है। अब आप पधारें। कल फिर दर्शन होंगे। आपके काव्यको सुनकर हम सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। रही गुण-दोषकी बात, सो सृष्टिकी कोई भी वस्तु दोषसे खाली नहीं है। गुण-दोषोंके सम्मिश्रणसे ही तो इस सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। कालिदास, भवभूति, जयदेव आदि महाकवियोंके काव्योंमें भी बहुत-से दोष देखे जाते हैं। यह तो कुछ बात नहीं है, दोष ही न हों, तो फिर गुणोंके महत्त्वको कौन समझे? अच्छा तो आज्ञा दीजिये' यह कहकर सबसे पहिले निमाई पण्डित ही उठ बैठे। इनके उठते ही सभी छात्र भी एक साथ ही उठ खड़े हुए। सर्वस्व गँवाये हुए व्यापारीकी भाँति निराशाके भावसे दिग्विजयी भी उठ खड़े हुए और धीरे-धीरे उदास-मनसे अपने डेरेकी ओर चले गये। इधर निमाई पण्डित नित्यकी भाँति हँसते-खेलते और चौकड़ी लगाते शिष्योंके साथ अपने स्थानको चले गये।

दिग्विजयीका वैराग्य

> भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
> मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
> शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
> सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥*
>
> (भर्तृहरि वै० श० ३५)

जिसकी जिह्वाने मिश्रीका रसास्वादन नहीं किया है, वही लौटा अथवा सीरामें सुखका अनुभव करेगा । जिस स्थानमें गुड़से चीनी या शक्कर बनायी जाती है, उसके बाहर एक बड़ा-सा कुण्ड होता है, उसमे गुड़का सम्पूर्ण काला-काला मैल छन-छनकर आता है । दूकानदार उस मैलको कारखानेमेंसे सस्ते दामोंमें खरीद लाते हैं और उसे तंबाकूमें कूटकर बेचते हैं । दूकानदार सीरेको काठके बड़े-बड़े पीपोंमें भरकर और गाड़ीमें लादकर ले जाते हैं । काठके पीपेमें छोटे-छोटे छिद्र हो जाते हैं, उनमेंसे सीरा रास्तेमें टपकता जाता है, हमने अपनी आँखोंसे देखा है, कि

---

* भोगमें रोगका भय है, कुल बढ़नेसे उसके च्युत होनेका भय है, अधिक धन होनेमे उससे राजभय है, मौन होनेमें दीनताका भय है, बलमें शत्रुका भय है, रूपमें वृद्धावस्थाका भय है, शास्त्राभ्यासमें वादविवादमें हार जानेका भय है, गुणोंमें दुष्टोंका भय है, शरीरमें उसके नष्ट हो जानेका भय है, संसारके यावत् पदार्थ सभी भयसे भरे पड़े हैं । बस, एक वैराग्य ही भयसे रहित है । वैराग्यमें किसीका भी भय नहीं ।

गाँवके ग्वारिया उन बूँदोंको उँगलियोंसे उठाकर चाटते हैं और मिठासकी खुशीके कारण नाचने लगते हैं; जहाँ कहीं बड़ी-बड़ी दस-पाँच बूँदें मिल जाती हैं, वहाँ वे प्रसन्नताके कारण उछलने लगते हैं और खुशीमें अपनेको परम सुखी समझने लगते हैं। यदि उन्हें कहीं मिश्री खानेके लिये मिल जाय, तो फिर वे उस बदबूदार सीरेकी ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे, क्योंकि असली मिठास तो मिश्रीमें ही है। सीरेमें तो उसका मैल है। मिठासके संसर्गके कारण ही मैलमें भी मिठास-सा प्रतीत होता है। अज्ञानी बालक उसे ही मिठास समझकर खुशीसे कूदने लगते हैं।

इसी प्रकार असली आनन्द तो वैराग्यमें ही है, विषयोंमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वह तो वैराग्यका मैलमात्र ही है, जिसने वैराग्यका रसास्वादन कर लिया, वह इन क्षणभंगुर अनित्य संसारी विषयोंमें क्यों राग करेगा? वैराग्यका पिता पश्चात्ताप है, पश्चात्तापके बिना वैराग्य हो ही नहीं सकता। जब किसी महात्माके संसर्गसे हृदयमें अपने पुराने कृत्योंपर पश्चात्ताप होगा तभी वैराग्यकी उत्पत्ति होगी। वैराग्यका पुत्र त्याग है, त्याग वैराग्यसे ही उत्पन्न होता है, बिना वैराग्यके त्याग ठहर ही नहीं सकता। त्यागके सुख नामका पुत्र है और शान्ति नामकी एक पुत्री। 'त्यागान्नास्ति परं सुखम्' त्यागसे बढ़कर परम सुख कोई है ही नहीं। त्यागके बिना सुख हो ही नहीं सकता। भगवान् भी कहते हैं—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' त्यागके अनन्तर ही शान्तिकी उत्पत्ति होती है। अतः इस पूरे परिवारके आदिपुरुष या पूर्वज जनक पश्चात्ताप ही हैं। पश्चात्तापके बिना इस परिवारकी वंशवृद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये तो सत्संगकी इतनी महिमा वर्णन की गयी है। महापुरुषोंके संसर्गमें जानेसे कुछ तो अपने व्यर्थके कर्मोंपर पश्चात्ताप होगा ही, इसीलिये भगवती श्रुति बार-बार कहती है 'कृतं स्मर' 'कृतं स्मर' किये हुएका स्मरण करो। असली पश्चात्ताप तो सर्वस्वके नष्ट हो जानेपर या अपनी अत्यन्त प्रिय वस्तुके न प्राप्त होनेपर ही

होता है। जिन्हें परम सुखकी इच्छा है और संसारी पदार्थोंमें उसका अभाव पाते हैं, वे संसारी सुखोंमें लात मारकर असली सुखकी खोजमें पहाड़ोंकी कन्दराओंमें तथा एकान्त स्थानोंमें रहकर उसकी खोज करने लगते हैं उन्हींको विरागी कहते हैं।

दिग्विजयी पण्डित केशव काश्मीरीकी हार्दिक इच्छा थी कि मैं संसारमें सर्वोत्तम ख्याति लाभ करूँ, भारतवर्षमें मैं ही सर्वश्रेष्ठ कवि और पण्डित समझा जाऊँ। इसीके लिये उन्होंने देश-विदेशोंमें घूमकर इतनी इज्जत-प्रतिष्ठा और धूम-धामकी सामग्री एकत्रित की थी, आज एक छोटी उम्रके युवक अध्यापकने उनकी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा धूलमें मिला दी। उनकी इतनी ऊँची आशापर एकदम पानी फिर गया। उनकी इतनी जबरदस्त ख्याति अग्निमें जलकर खाक हो गयी, इससे उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। गङ्गाजीसे लौटकर वे चुपचाप आकर पलँगपर पड़ रहे। साथियोंने भोजनके लिये बहुत आग्रह किया किन्तु तबीअत खराब होनेका बहाना बताकर उन्होंने उन लोगोंसे अपना पीछा छुड़ाया। वे बार-बार सोचते थे—'आज मुझे हो क्या गया? बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् मेरे सामने बोल नहीं सकते थे, अच्छे-अच्छे शास्त्री और आचार्य मेरे प्रश्नोंका उत्तर देना तो अलग रहा, यथावत् प्रश्नको समझ भी नहीं सकते थे, पर आज गङ्गा-किनारे उस युवक अध्यापकके सामने मेरी एक भी न चली। मेरी बुद्धिपर पत्थर पड़ गये, उसकी एक बातका भी मुझसे उत्तर देते नहीं बना। मेरी समझमें नहीं आता यह बात क्या है?' उन्हें बार-बार सरस्वतीदेवीके ऊपर क्रोध आने लगा। वे सोचने लगे—'मैंने कितने परिश्रमसे सरस्वती-मन्त्रका जाप किया था, सरस्वतीने भी प्रत्यक्ष प्रकट होकर मुझे वरदान दिया था, कि मैं शास्त्रार्थमें सदा तुम्हारी जिह्वापर निवास किया करूँगी, आज उसने अपना वचन झूठा कैसे कर दिया, आज वह मेरी जिह्वापरसे कहाँ चली गयी?'

इसी उधेड़-बुनमें वे उसी देवीके मन्त्रका जप करने लगे और जप करते करते ही सो गये।

स्वप्नमें मानो सरस्वतीदेवी उनके समीप आयी हैं और कह रही हैं—'सदा एक-सी दशा किसीकी नहीं रही है। जो सदा सबको विजय ही करता रहा है, उसे एक दिन पराजित भी होना पड़ेगा। तुम्हारा यह पराभव तुम्हारे कल्याणके ही निमित्त हुआ है। इसे तुम्हें इस दिग्विजयका और मेरे दर्शनोंका फल ही समझना चाहिये। यदि आज तुम्हारी पराजय न होती तो तुम्हारा अभिमान और भी अधिक बढ़ता। अभिमान ही नाशका मुख्य हेतु है। तुम निमाई पण्डितको साधारण पण्डित ही न समझो। वे साक्षात् नारायणस्वरूप हैं, वे नररूपधारी श्रीहरि ही हैं, उन्हींकी शरणमें जाओ, तभी तुम्हारा कल्याण होगा और तुम इस मोहरूपी अज्ञानसे मुक्त हो सकोगे।' इतनेमें ही दिग्विजयीकी आँखें खुल गयीं। देखते क्या हैं भगवान् भुवनभास्कर प्राचीदिशिमें उदित होकर अपनी जगन्मोहिनी हँसीके द्वारा सम्पूर्ण संसारको आलोक प्रदान कर रहे हैं। पण्डित केशव काश्मीरीको प्रतीत हुआ मानो मरीचिमाली भगवान् मेरे पराभवके ही ऊपर हँस रहे हैं। वे जल्दीसे कुर्ता पहिनकर नंगे सिर और नंगे पैरों अकेले ही निमाईके घरकी ओर चले। रास्तेमें जो भी इन्हें इस वेशमें जाते देखता, वही आश्चर्य करने लगता। राजा-महाराजाओंकी भाँति जो हाथीपर सवार होकर निकलते थे, जिनके हाथीके आगे-आगे चोबदार नगाड़े बजा-बजाकर आवाज देते जाते थे, वे ही दिग्विजयी पण्डित आज नंगे पैरों साधारण आदमियोंकी भाँति नगरकी ओर कहाँ जा रहे हैं? इस प्रकार सभी उन्हें कुतूहलकी दृष्टिसे देखने लगे। कोई-कोई तो उनके पीछे भी हो लिये। नगरमें जाकर उन्होंने बच्चोंसे निमाई पण्डितके घरका पता पूछा। झुंड-के-झुंड लड़के उनके

साथ हो लिये और उन्होंने निमाई पण्डितका घर बता दिया।

उस समय गौर गङ्गा-स्नान करके तुलसीमें जल दे रहे थे। सहसा दिग्विजयी पण्डितको सादे वेशमें अकेले ही अपने घरकी ओर आते देख उन्होंने दौड़कर उनका स्वागत किया। दिग्विजयी आते ही प्रभुके चरणोंमें गिर गये। प्रभुने जल्दीसे उन्हें उठाकर छातीसे लगाते हुए कहा—'हैं हैं, महाराज! यह आप कर क्या रहे हैं! मैं तो आपके पुत्रके समान हूँ। आप जगत्-पूज्य हैं, आप ऐसा करके मुझपर पाप क्यों चढ़ा रहे हैं? आप मुझे आशीर्वाद दीजिये, आप ही मेरे पूजनीय और परम माननीय हैं।'

गद्गद-कण्ठसे दिग्विजयीने कहा—'प्रभो! मान-प्रतिष्ठाकी भयंकर अग्निमें दग्ध हुए इस पापीको और अधिक सन्ताप न पहुँचाइये। इस प्रतिष्ठारूपी सूकरी-विष्ठाको खाते-खाते पतित हुए इस नारकीयको और अधिक पतित न बनाइये। अब मेरा उद्धार कीजिये।'

प्रभु उनका हाथ पकड़कर भीतर ले गये और बड़े सत्कारसे उन्हें बिठाकर कहने लगे—'आपने यह क्या किया, पैदल ही यहाँतक कष्ट किया, मुझे आज्ञा भेज देते, तो मैं स्वयं ही आपके डेरेपर उपस्थित होता। मालूम होता है आप मुझे सम्मान प्रदान करने और मेरी टूटी-फूटी कुटिया-को पवित्र करनेके ही निमित्त यहाँ पधारे हैं। इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। आज यह घर पवित्र हुआ। मेरी विद्या सफल हुई जो आप-ऐसे महापुरुषोंके चरण यहाँ पधारे।'

दिग्विजयी पण्डित नीचे सिर किये चुपचाप प्रभुकी बातें सुन रहे थे। वे कुछ भी नहीं बोलते थे। इसलिये प्रभुने धीरे-धीरे फिर कहना प्रारम्भ किया—'कल मुझे पीछेसे बड़ी लज्जा आयी। मैंने व्यर्थमें ही कुछ कहकर आपके सामने धृष्टता की। आप कुछ और न समझें। आपने सुना ही होगा, मेरा स्वभाव बड़ा ही चञ्चल है। जब मैं कुछ कहने लगता हूँ, तो आगे-पीछेकी सब बातें भूल जाता हूँ। बस, फिर बकने ही लगता हूँ!

छोटे-बड़ेका ध्यान ही नहीं रहता । इसी कारण कल कुछ अनुचित बातें मेरे मुखसे निकल गयी हों तो उनके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।'

दिग्विजयीने अधीर होकर कहा—'प्रभो ! अब मुझे अधिक वञ्चित न कीजिये । मुझे सरस्वतीदेवीने रात्रिमें सब बातें बता दी हैं, अब मेरे उद्धारका उपाय बताइये !'

प्रभुने कहा—आप कैसी बातें कह रहे हैं ? आप शास्त्रोंके मर्मको भलीभाँति जानते हैं, फिर भी मुझे सम्मान देनेकी दृष्टिसे आप पूछते ही हैं, तो मैं निवेदन करता हूँ । असलमें मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य तो उसीको समझना चाहिये जिसके द्वारा प्रभुके पादपद्मोंमें प्रगाढ़ प्रीति उत्पन्न हो । यह जो आप हाथी-घोड़ोंको साथ लिये घूम रहे हैं, यह भी ठीक ही है, किन्तु इनसे संसारी भोगोंकी ही प्राप्ति हो सकती है । भगवत्-प्राप्तिमें ये बातें कारण नहीं बन सकतीं । आप तो सब जानते ही हैं—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
विदुषामिह वैदुष्यं भुक्तये न तु मुक्तये ॥
(श्रीशंकराचार्य)

अर्थात् सुन्दर सुललित सौष्ठवयुक्त धाराप्रवाह वाणी और बढ़िया व्याख्यान देनेकी युक्ति ये सब मनुष्यको संसारी भोगोंकी ही प्राप्ति करा सकती हैं । इनके द्वारा मुक्ति अर्थात् प्रभुके पाद-पद्मोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

संसारी प्रतिष्ठाका महत्त्व ही क्या है ! जो चीज आज है और कल नहीं है, उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है । महाराज भर्तृहरिने इस बातको भलीभाँति समझा था । वे स्वयं राजा थे, सब प्रकारके मान-सम्मान और संसारी भोग-पदार्थ उन्हें प्राप्त थे । उनकी राजसभामें बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् दूर-दूरसे नित्यप्रति आया ही करते थे । इसलिये उन्हें इन

सब बातोंका खूब अनुभव था, वे सब जानते थे, कि इतने भारी-भारी विद्वान् इज्जत-प्रतिष्ठा और अनित्य तथा दुःखका मुख्य हेतु बतानेवाले धनके लिये किस प्रकार कुत्तेकी तरह पूँछ हिलाते रहते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे उन्हें परम वैराग्य हुआ। और उन्होंने अपने परम अनुभवकी बात इस एक ही श्लोकमें बता दी है—

> किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
> स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः।
> मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं
> स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः॥
>
> (श्रीभर्तृहरि वै० श० ८१)

इन श्रुति, स्मृति, पुराण और बड़े विस्तारके साथ शास्त्रोंके ही पठन-पाठनमें जिन्दगीको लगाये रहनेसे क्या होता है। बस, इनसे स्वर्गरूपी ग्राममें एक कुटी बनाकर भोगोंको भोगनेका ही अवसर मिल जाता है। इस कर्मकाण्डके क्रिया-कलापोंमें कालयापन करनेसे क्या लाभ! जो इस दुःखरचनासे युक्त संसार-बन्धनको विध्वंस करनेमें प्रलयाग्निके समान तेजोमय हैं ऐसे प्रभुके पाद-पद्मोंको नैरन्तर्य भावसे सेवन करते रहनेके अतिरिक्त ये सभी कार्य वैश्योंके-से व्यापार हैं। एक चीजको देकर उसके बदलेमें दूसरी चीज लेना है। असली वस्तु तो प्रभुकी प्राप्ति ही है। उसीके लिये उद्योग करना चाहिये।

दिग्विजयीने कहा—'अब आप हमें हमारा कर्तव्य बता दीजिये। ऐसी हालतमें हमें क्या करना चाहिये। अब इस वणिक्-व्यापारसे तो एकदम घृणा हो गयी है।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—आप शास्त्रज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं। शास्त्रमें सभी विषय भरे पड़े हैं, आपसे कोई विषय छिपा थोड़े ही है, किन्तु हाँ, इसे मैं आपका परम सौभाग्य ही समझता हूँ, कि इतनी बड़ी भारी प्रतिष्ठासे आपको एकदम वैराग्य हो गया है, लोग पुत्रैषणा और वित्तैषणाको तो छोड़ भी सकते हैं, किन्तु लोकैषणा इतनी प्रबल होती है कि बड़े-बड़े महापुरुष भी इसे छोड़नेमें पूर्ण रीतिसे समर्थ नहीं होते। श्रीहरिभगवान्‌की आपके ऊपर यह परम असीम कृपा ही समझनी चाहिये कि आपको इसकी ओरसे भी वैराग्य हो गया। मैं तो परमसुखस्वरूप प्रभुकी प्राप्तिमें इसे ही मुख्य समझता हूँ। मैंने तो इस श्लोकको ही कर्तव्यताका मूलमन्त्र समझ रखा है—

> धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
> सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
> अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु त्यक्त्वा
> सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥
>
> (श्रीमद्भा० माहात्म्य ४। ८०)

धर्मका आचरण करो और विषयवासनारूपी जो लोकधर्म हैं उन्हें छोड़ दो। सत्पुरुषोंका निरन्तर संग करो और हृदयसे भोगोंकी इच्छाको निकालकर बाहर फेंक दो। दूसरोंके गुण-दोषोंका चिन्तन करना एकदम त्याग कर दो। श्रीहरिकी सेवा-कथारूपी जो रसायन है उसका निरन्तर पान करते रहो। बस, इसीको मैंने तो मनुष्यमात्रका कर्तव्य समझा है। इसके अतिरिक्त आपने जो समझा हो, उसे कृपा करके मुझे बताइये।

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यका यह श्लोक केशव पण्डितने अनेक बार

पढ़ा होगा, और उसका प्रयोग भी हजारों बार अपने व्याख्यानोंमें किया होगा, किन्तु वे इसका असली अर्थ तो आज ही समझे। उनके कानोंमें यह पद—

> अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु त्यक्त्वा
> सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥

—बार-बार गूँजने लगा।

प्रभुकी आज्ञा लेकर और उनके उपदेशको ग्रहण करके दिग्विजयी पण्डित अपने डेरेपर आये। उनके पास जितने हाथी, घोड़े तथा अन्य साज-बाजके सामान थे, वे सभी उन्होंने उसी समय लोगोंको बाँट दिये और अपने सभी साथियोंको विदा करके वे भगवत्-चिन्तनके निमित्त कहीं चले गये। इनका फिर पीछे किसीको पता नहीं चला।

दिग्विजयीके पराभवसे सभी लोग निमाई पण्डितकी बड़ी प्रशंसा करने लगे और सभी पण्डितोंने मिलकर उन्हें 'वादिसिंह' की उपाधि प्रदान करना चाहा। इस प्रकार निमाई पण्डितकी ख्याति और भी अधिक फैल गयी और उनकी पाठशालामें अब पहिलेसे बहुत अधिक छात्र पढ़नेके लिये आने लगे।

सर्वप्रिय निमाई

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥*
(गीता १२।१५)

न तो बाह्य सौन्दर्य ही सौन्दर्य है और न बाह्य पवित्रता ही असली पवित्रता है। जिसका हृदय शुद्ध है, उसमें तनिक भी विकार नहीं है तो वह बदसूरत होनेपर भी सुन्दर प्रतीत होता है, लोग उसके आन्तरिक सौन्दर्यके कारण उसपर मुग्ध हो जाते हैं और उसके इशारेपर नाचने लगते हैं। भीतरकी पवित्रता ही चेहरेपर झलकने लगती है। उस पवित्रतामें मोहकता है, इसीसे लोग उनके वशमें हो जाते हैं। यदि हृदय भी स्वच्छ शीशेकी भाँति निर्मल हो और देहकी कान्ति भी कमनीय और मनोहर हो तब तो उस देवतुल्य मनुष्यकी मोहकताका कहना ही क्या है।

---

* जिसे देखकर लोगोंके मनमें किसी प्रकारका भय या डर नहीं होता और जो दूसरोंसे भी किसी प्रकारकी शङ्का नहीं करता, उनके सामने निर्भीकताके साथ बर्ताव करता है। जिसके लिये प्रसन्नता और अप्रसन्नता दोनों ही समान हैं, वह संसारी मनुष्य कभी हो ही नहीं सकता। वह तो भगवान्‌का अत्यन्त ही प्रिय नित्य शुद्ध मुक्तस्वरूप है।

फिर तो सोनेमें सुगन्ध ही है। ऐसा कौन सहृदय पुरुष होगा, जो ऐसे पुरुषके गुणोंका प्रशंसक नहीं बन जाता। यदि ऐसा पुरुष प्रसन्न-चित्त और चुलबुले स्वभावका भी हो, तब तो सभी लोग उससे आत्मीयकी भाँति स्नेह करने लगते हैं और उससे किसी भी मनुष्यको संकोच अथवा उद्वेग नहीं होता। बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक उससे खिलवाड़ करने लगते हैं।

निमाई पण्डितमें उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान थे। उनका हृदय अत्यन्त ही कोमल और बड़ा ही विशाल था, उसमें मनुष्यमात्रके ही लिये नहीं प्राणीमात्रके प्रति प्रेम और ममताके भाव भरे हुए थे, उनका शरीर सुगठित, सुन्दर और शोभायुक्त था। वे इतने अधिक सुन्दर थे, कि मनुष्य उनके सौन्दर्यको ही देखकर मोहित हो जाते थे। चेहरेपर कभी सिकुड़न ही नहीं पड़ती थी। हर समय हँसते ही रहते और साथियोंको भी अपनी विनोदपूर्ण बातोंसे सदा हँसाते रहते थे। स्वभावमें इतना चुलबुलापन था, कि छोटे-छोटे बच्चोंके स्वभावको भी मात कर देते थे। इन्हीं सब कारणोंसे नगरके सभी लोग इनसे आन्तरिक स्नेह रखते थे, जो भी इन्हें देख लेता वही प्रसन्नतासे खिल उठता। सभी जानते थे, निमाई अब बालक नहीं हैं, वे नवद्वीपके एक नामी पण्डित हैं, इन्होंने शास्त्रार्थमें दिग्विजयी पण्डितको परास्त किया है, ये अपनी लोकोत्तर प्रतिभाके कारण बङ्गालके कोने-कोनेमें प्रसिद्ध हो गये हैं। सैकड़ों छात्र इनके पास विद्याध्ययन करने आते हैं, फिर भी वे इन्हें अपना एक साथी तथा प्रेमी ही समझते थे। उन लोगोंको यह खयाल कभी नहीं होता था, कि ये बड़े आदमी हैं, इनके साथ सम्मान और शिष्टाचारका व्यवहार करना चाहिये। वे यदि शिष्टाचार या सम्मान करना भी चाहें तो निमाई पण्डित उन्हें ऐसा करनेका अवकाश ही कब देनेवाले थे। ये उन सबसे बिना बात ही छेड़खानी करते। बड़े-बड़े लोगोंसे परिहास करनेमें नहीं चूकते थे। इनके सभी कार्य विचित्र होते और उनसे सभीको प्रसन्नता होती।

ये नवद्वीपके प्रत्येक मुहल्लेमें घूमते। कभी इस मुहल्लेसे उस मुहल्लेमें जा रहे हैं, और उस मुहल्लेसे इसमें। रास्तेमें जो भी मिल जाता है उसीसे कुछ-न-कुछ छेड़खानी करते हैं। बड़े लोग कहते हैं—'पण्डित! अब थोड़ी गम्भीरता भी सीखनी चाहिये, हर समय लड़कपन ठीक नहीं होता। अब तुम एक गण्यमान्य पण्डित हो गये हो।'

ये झूठा आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए कहते 'हाँ, सचमुच अब हमारी गणना पण्डितोंमें होने लगी है, हमें तो पता भी नहीं। यदि ऐसी बात है तो हम कहीं जाकर किसीसे गम्भीरता जरूर सीखेंगे।' कहनेवाले बेचारे अपना-सा मुँह लेकर चले जाते। ये विद्यार्थियोंके साथ हँसते-खेलते फिर उसी भाँति चले जाते।

इनका नगर-भ्रमण बड़ा ही मनोहर होता। देखनेवाले इन्हें एकटक देखते-के-देखते ही रह जाते। तपाये हुए सुवर्णके समान सुन्दर शरीर था, उसपर एक हलकी-सी बनियायिन रहती। चौड़ी काली किनारीकी नीचेतक लटकती हुई सफेद धोतीके ऊपर एक हल्के-से पीले रंगकी चादर ओढ़े रहते। मुखमें पानकी बीरी है, बाँये हाथमें पुस्तक है, दाहिनेमें एक हलकी-सी छड़ी है। साथमें दस-पाँच विद्यार्थी हैं, उनसे बातें करते हुए चले जा रहे हैं, बीच-बीचमें कभी इधर-उधर भी देखते जाते हैं। किसी कपड़ेवाले-की दूकानको देखकर उसपर जा बैठते हैं। कपड़ेवाला पूछता है—'कहिये महाराज! क्या चाहिये।' आप हँसते हुए कहते हैं—'जो यजमानकी इच्छा, जो दे दोगे वही ले लेंगे।' दूकानदार हँसी समझता और चुप हो जाता। कोई-कोई दूकानदार जबरदस्ती इनके सिर कपड़ा मँढ़ देता। आप उससे कहते—'लेनेको तो हम लिये जाते हैं, किन्तु पासमें पैसा नहीं है। उधार किसीसे न कभी चीज ली है न लेते हैं। दामोंकी आशा न रखना।' दूकानदार हाथ जोड़कर श्रद्धाके साथ कहते—'हमारा अहोभाग्य

आप पहिनेंगे, तो हमारा यह व्यवसाय भी सफल हो जायगा। यह कपड़ा और लेते जाइये। इसके किसी गरीब छात्रके वस्त्र बनवा दीजियेगा।' ये प्रसन्नतापूर्वक उन वस्त्रोंको ले आते। कोई-कोई दूकानदार इनसे कटाक्ष भी करता—'पैसा पास नहीं है, कपड़े खरीदने चले हैं।' आप हँसते हुए कहते—'पैसा ही पास होता तो फिर तुम्हारी ही दूकान कपड़ा खरीदनेको रही थी! फिर तो जी चाहता वहींसे खरीद लाते।'

कभी किसी गरीब वस्त्र बनानेवालेके यहाँ जाते। उसका थान देखते, उससे दाम पूछते और कहते 'दाम तो हमारे पास है नहीं, बोलो, वैसे ही दोगे'—वह श्रद्धाके साथ कहता, 'हाँ, ले जाइये महाराज! आपका ही तो है।' ये हँसते हुए चले आते।

इनके नाना नीलाम्बर चक्रवर्तीके पास बहुत-से अहीरोंके घर थे। वे दूध बेचनेका व्यवसाय करते। आप उनके घरोंमें चले जाते और जिस अहीरको भी पाते उसीसे कहते—'मामा! आज दूध नहीं पिलाओगे क्या?' वे इन्हें बड़े सत्कारसे अपने घरोंको ले जाते। सभी मिलकर विद्यार्थियोंके सहित इनका खूब सत्कार करते। कोई ताज़ा दूध पिलाता। कोई दही लाकर इनके सामने रख देता और थोड़ा खा लेनेका आग्रह करता। ये निस्संकोच भावसे खाने लगते। किसी स्त्रीको देखकर कहते 'मामी! तेरा दही तो खट्टा है, थोड़ी चीनी डाल देती तो स्वाद बन जाता।' यह सुनकर कोई चीनी लेने दौड़ती। चीनी घरमें न होती तो गुड़ ही ले आती। ये हँसते-हँसते गुड़के साथ दही पीने लगते। विद्यार्थियोंको भी दूध-दही पिलाते और फिर हँसते-हँसते पाठशालाकी ओर चले आते।

विशेषकर ये सीधे-सादे वैष्णवोंको और सरल स्वभाववाले दूकानदारों-को खूब छेड़ते। दूकानदारोंको भी इनके साथ छेड़खानी करनेमें आनन्द आता। एक पानवालेसे इनका सदा झगड़ा ही बना रहता। ये उससे

मुफ्त ही पान माँगा करते और वह मुफ्त देनेसे इनकार किया करता। तब ये अपने हाथसे ही उठा लेते। पानवाला हँस पड़ता, ये तबतक पानको चट कर जाते। पानवालेको ऐसा करनेमें नित्य नया ही आनन्द प्रतीत होता था, अतः यह झगड़ा प्रायः रोज ही हुआ करता। कभी तो दिनमें दो-दो, तीन-तीन बार हो जाता। पानवाला बड़ा ही सरल और कोमल प्रकृतिका पुरुष था। वह इन्हें पुत्रकी तरह मन-ही-मन चाहता था।

वहीं श्रीधर नामके एक भक्त दूकानदार थे। वे अत्यन्त ही गरीब थे, किन्तु थे परम वैष्णव। उनके पास रहनेवाले उनके कारण बहुत ही परेशान रहते। वे रातभर खूब जोरोंके साथ भगवन्नामका कीर्तन करते रहते। पड़ोसियोंकी रातमें जब भी आँखें खुलतीं तभी इन्हें भगवन्नामका कीर्तन करते ही पाते। कोई कहता—'भाई, इस बूढ़ेके कारण तो हम बड़े परेशान हैं, रातभर चिल्लाता रहता है, सोने ही नहीं देता?' कोई कहता—'भगवान् जाने इसे नींद क्यों नहीं आती। दिनभर तो दूकानदारी करता है और रातभर चिल्लाता रहता है, यह सोता किस समय है?'

कोई-कोई इनके पास आकर कहते—'बाबा! भगवान् बहिरा थोड़े ही है, जरा धीरे-धीरे भजन किया करो।'

ये कहते—'बेटा! धीरे-धीरे कैसे करूँ, तुम सब लोग तो दिन-रात काममें ही जुटे रहते हो, कभी भगवान्‌का घड़ीभरको भी नाम नहीं लेते। इसलिये जिह्वासे नहीं ले सकते तो कानसे तो सुनोगे ही, इसीलिये मैं जोर-जोरसे भगवन्नामका उच्चारण करता हूँ जिससे तुम सबोंके कानोंमें भगवन्नाम पड़ जाय।'

इस प्रकार ये किसीकी भी बात नहीं सुनते और हमेशा भगवान्‌के मधुर नामोंका उच्चारण करते रहते। ये केलेके पत्ते और केलेके भीतरके कोमल-कोमल कोपलोंको बेचा करते। बंगालमें कोमल कोपलोंका साग

चनाया जाता है। निमाई इनसे रोज ही आकर छेड़खानी किया करते।

इनके खोलको उठा लेते और कहते—'पैसेके कितने खोल दोगे?' वे कहते—'चार देंगे।' तब आप कहते—'अजी, आठ दो। सब जगह आठ-आठ तो बिक ही रहे हैं।' श्रीधर कहते—'पण्डित! यह रोज-रोजकी छेड़खानी अच्छी नहीं होती। जहाँ आठ बिक रहे हों, वहींसे जाकर ले आओ। हमने तो चार ही बेचे हैं, चार ही देंगे। तुम्हारी राजी पड़े ले जाओ, न राजी हो मत ले जाओ, झगड़ा करनेसे क्या फायदा?'

आप कहते—'हमें तो तुम्हारे ही खोल बहुत प्रिय लगते हैं, तुम्हींसे लेंगे और आठ ही लेंगे।'

श्रीधर कहते—'देखो, तुम अब सयाने हुए। ये बातें अच्छी नहीं होतीं। तुम्हें आठ दे देंगे तो फिर सभी आठ ही माँगेंगे। यदि ऐसी ही बात है, तो हम तुम्हें बिना ही मूल्य खोल दिया करेंगे।'

निमाई हँसते हुए कहते—'वाह! फिर कहना ही क्या है?' 'नेकी और पूछ-पूछकर' 'मीठा और भर कठौता' बस, यही तो हमें चाहिये।' फिर कहते—'हमारी पूजा नहीं करते, माला हमें भी दिया करो।'

श्रीधर कहते—'माला तो मैं देवताके ही लिये लाता हूँ, गङ्गाजीके लिये पुष्प लाता हूँ, तुम्हें पुष्प-माला कैसे दूँ?'

आप कहते—'सबसे बड़े देवता तो हमी हैं, हमसे बढ़कर देवता और कौन हो सकता है? गङ्गाजी तो हमारे चरणोंका धोवन हैं।'

यह सुनकर श्रीधर कानोंपर हाथ रख लेते और दाँतोंसे जीभ काटते हुए कहते—'हाय पण्डित! पढ़े-लिखे होकर ऐसी बातें कहते हो! ऐसी बातके कहनेसे पाप होता है। तुम ब्राह्मणके कुमार होकर ऐसी पापकी बातें अपने मुँहसे निकालते हो!'

कालान्तरमें यही श्रीधर महाप्रभु गौराङ्गके अनन्य भक्त हुए और इन्होंने अन्तमें उन्हें ईश्वर करके माना और अपने इन वाक्योंके लिये बहुत ही पश्चात्ताप प्रकट किया। प्रभु इनसे अत्यन्त ही स्नेह रखते थे। गौर-भक्तोंमें श्रीधरका खोल बहुत ही प्रसिद्ध था। गौरको श्रीधरके खोलके बिना सभी व्यञ्जन रुचिकर ही नहीं होते थे।

एक दिन ये घरकी ओर जा रहे थे, रास्तेमें पण्डित श्रीवासजी मिले। श्रीवास पण्डित अद्वैताचार्यके साथी और स्नेही थे। पण्डित जगन्नाथ मिश्रके ये अभिन्न मित्र थे, इनकी पत्नी मालतीदेवी और ये निमाईको सगे पुत्रकी भाँति प्यार करते थे। ये भी इन दोनोंमें माता-पिताके समान श्रद्धा रखते थे। श्रीवास पण्डितको देखकर इन्होंने उन्हें प्रणाम किया। पण्डितजीने इन्हें आशीर्वाद दिया और बड़े ही प्रेमके साथ बोले—'निमाई! देखो, अब तुम बालक नहीं हो, यह बाल-चापल्य तुम्हें शोभा नहीं देता। इस तरहसे उच्छृङ्खलताका जीवन बिताना ठीक नहीं। कुछ भक्तिभाव भी सीखना चाहिये। तुम्हारे पिता तो परम वैष्णव थे।'

इन्होंने सरलतासे कहा—'अभी थोड़े दिन और इसी तरह मौज कर लेने दो, फिर इकट्ठे ही वैष्णव बनेंगे और ऐसे वैष्णव बनेंगे, कि वैष्णवोंकी तो बात ही क्या है, साक्षात् विष्णु भी हमारे पास आया करेंगे।'

इनकी बात सुनकर उन्होंने कहा—'आगे और कब होंगे? अभीसे कुछ भक्तिभाव करना चाहिये। किसी देवी-देवतामें श्रद्धा रखते हो?'

इन्होंने कहा—'किस देवतामें श्रद्धा रखें, आप ही कृपा करके बताइये?'

श्रीवास पण्डितने कहा—'जिसमें तुम्हारी श्रद्धा हो। देवपूजा करनी चाहिये और भगवन्नामका यथाशक्ति जप करना चाहिये।

निमाई जानते थे, कि वैष्णव 'सोऽहम्' और अहं 'ब्रह्मास्मि' इन वाक्योंसे चिढ़ते हैं। इसलिये श्रीवास पण्डितको चिढ़ानेके लिये कहने लगे—

'सोऽहम्' 'अहं ब्रह्मास्मि' हमारी तो इन्हीं महावाक्योंपर श्रद्धा है। जब हम ही ब्रह्म हैं तब पूजा किसकी करें और जप किसके नामका करें, आप ही बताइये!

यह सुनकर श्रीवास पण्डितने कानोंपर हाथ रख लिया और बोले—'वैष्णवके पुत्रको ऐसी बात मुखसे नहीं कहनी चाहिये। तुम तो लड़कपन किया करते हो।

इतना सुनकर ये यह कहते हुए घरकी ओर चले गये कि 'अच्छा, किसी दिन देख लेना, हम कैसे वैष्णव बनते हैं, तब तुम हमारे पीछे-ही-पीछे लगे डोलोगे।'

इन्होंने ये बातें हँसीमें कही थीं, किन्तु श्रीवास पण्डितको इन बातोंसे कुछ आशा-सी हुई। वे सोचने लगे—'यदि निमाई-जैसे पण्डित, मेधावी और सर्वप्रिय पुरुष वैष्णव बन जायँ तो वैष्णवधर्मका देशभरमें झंडा फहराने लगे। अनाथ वैष्णव भक्त सनाथ हो जायँ।' वे यही सोचते-विचारते गङ्गाजीकी ओर चले गये। कालान्तरमें श्रीवास पण्डितके विचार सत्य ही हो गये। वैष्णव-धर्मकी विजय-दुन्दुभिसे सम्पूर्ण देश गूँजने लग गया और भक्ति-भागीरथीकी एक ऐसी भारी बाढ़ आयी जिसके कारण सभी विषमता दूर होकर चारों ओर समताका साम्राज्य स्थापित हो गया।

श्रीविष्णुप्रिया-परिणय

रूपसम्पन्नमप्राग्र्यं प्रेमप्रायं प्रियंवदम्।
कुलीनमनुकूलं च कलत्रं कुत्र लभ्यते ॥*
(सु० र० भां० ३३६।५)

बहूके बिना घर सूना-ही-सूना लगता है, इसका अनुभव वही माता कर सकती है, जिसके घरमें एक ही पुत्र हो और उसकी सर्वगुणसम्पन्ना

---

* रूप और सद्गुणोंसे सम्पन्न, सभ्या अथवा सद्व्यवहारमें सुचतुर, अत्यन्त प्रेमयुक्त, सुन्दर वचन बोलनेवाली, अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई तथा पतिके मनोऽनुकूल आचरण करनेवाली पत्नी बड़े भाग्यसे ही मिलती है।

पुत्र-वधू परलोकगामिनी हो चुकी हो, उसे चारों ओरसे अपना ही घर उजड़ा हुआ-सा दिखायी पड़ता है, घरकी लिपी-पुती स्वच्छ दीवालें उसे काटनेको दौड़ती हैं। एकलौते पुत्रको देखते ही माताकी छाती फटने लगती है और जब-जब पुत्रको स्वयं अपने हाथोंसे कुछ काम करते देखती है, तभी तब अश्रुओंसे अपनी छातीको भिगोती है। पुत्र-वधूसे रहित युवक पुत्रको देखकर माताको महान् कष्ट होता है। शचीमाताकी भी ऐसी ही दशा थी, जबसे लक्ष्मीदेवी परलोकगामिनी हुई हैं, तभीसे माताका चित्त उदास रहता है। वे निमाईको देखते ही रोने लगती हैं। निमाई मन-ही-मन सब समझते हैं, किन्तु कुछ कहते नहीं हैं, चुप ही रहते हैं, कहें भी तो क्या कहें?

माताको सदा यही चिन्ता रहती है, कि निमाईके योग्य कोई सुन्दरी और गुणवती कुलीन कन्या मिल जाय तो मैं जल्दी-से-जल्दी उसका दूसरा विवाह करके अपने घरको पहिलेकी भाँति हरा-भरा, आनन्द-उल्लासयुक्त देख सकूँ। वे गङ्गा-किनारे जब-जब जातीं तभी-तब वहाँ स्नान करनेके निमित्त आयी हुई अपनी सजातीय सयानी कन्याओंके ऊपर एक हलकी-सी दृष्टि डालतीं और फिर निगाह नीची कर लेतीं। इस प्रकार वे रोज ही अपनी नवीन पुत्र-वधूकी उन कन्याओंमें खोज किया करतीं।

उन्हीं कन्याओंके बीचमें वे एक परम सुन्दरी और सुशीला कन्याको भी देखतीं। वह कन्या प्रायः शचीदेवीको रोज ही मिलती। सुबह, शाम, दोपहरको जब भी शचीमाता स्नानके निमित्त आतीं तभी उस कन्याको घाटपर देखतीं, कभी तो वह स्नान करती होती, कभी देव-पूजन और कभी-कभी स्नान करके घरको जाती हुई शचीदेवीको मिलती। वह कन्या शचीमाताको जब भी देखती तभी वह बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम करती। शचीदेवी भी प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद देतीं—'भगवान्‌की कृपासे

मेरी बेटीको योग्य पति प्राप्त हो।' कन्या इस आशीर्वादको सुनती और लज्जितभावसे नीची निगाह करके चली जाती।

एक दिन शचीमाताने उस कन्याको बुलाकर पूछा—'बेटी! तेरा क्या नाम है?'

लजाते हुए नीचेकी ओर दृष्टि करते हुए धीरेसे कन्याने कहा—'विष्णुप्रिया।'

माताने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'अहा, 'विष्णुप्रिया' कैसा सुन्दर नाम है! जैसा सुन्दर शील-स्वभाव है उसीके अनुरूप सुन्दर नाम भी है।' फिर पूछा—'बेटी! तेरे पिताका क्या नाम है?'

विष्णुप्रिया यह सुनकर चुपचाप ही खड़ी रहीं। उन्होंने इस प्रश्नका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब शचीमाताने पुचकारते हुए कहा—'बता दे बेटी! बतानेमें क्या हर्ज है, क्या नाम है तेरे पिताका?'

लजाते हुए और शरीरको कुछ टेढ़ा करते हुए धीरेसे विष्णुप्रियाने कहा—'राजपण्डित!'

माताने जल्दीसे कहा—'पं० सनातन मिश्रकी लड़की है तू? तब बताती क्यों नहीं है? राजपण्डितकी पुत्री भी राजपुत्री होती है, तभी नहीं बताती थी, क्यों यही बात है न?'

विष्णुप्रिया लजाती हुई चुपचाप खड़ी रहीं। माताने उससे और भी दो-चार बातें पूछकर उसे विदा किया। विष्णुप्रियाका शील स्वभाव और सौन्दर्य शचीमाताकी दृष्टिमें गड़-सा गया था। वे बार-बार यही सोचने लगीं—'क्या ही अच्छा हो यदि यह लड़की मेरी पुत्र-वधू बन जाय?' वे रोज घाटपर विष्णुप्रियाको देखतीं और उससे दो-चार बातें जरूर करतीं। विष्णुप्रियाका अद्भुत रूप-लावण्य, उनकी अत्यन्त कोमल

प्रकृति, प्रशंसनीय शील-स्वभाव और अनुपम विष्णुभक्तिकी वे मन-ही-मन बार-बार सराहना करतीं। इसलिये वे उनके प्रति अधिकाधिक प्रेम प्रदर्शित करने लगीं। विष्णुप्रियाके मनमें भी इनके प्रति भक्ति बढ़ने लगी।

शचीमाता बार-बार सोचतीं—'क्या हर्ज है, एक बार सनातन मिश्रसे पुछवाऊँ तो सही, बहुत करेंगे वे अस्वीकार ही कर देंगे।' फिर सोचतीं—'वे राजपण्डित हैं, धनाढ्य हैं, सब जगह उनकी भारी प्रतिष्ठा है, वे एक विधवाके पुत्रके साथ अपनी पुत्रीका सम्बन्ध क्यों करने लगे?' यही सोचकर कुछ डर-सी जातीं और उनका साहस नहीं होता।

एक दिन उन्होंने साहस करके काशीनाथ मिश्र नामके घटकको बुलाया और उनसे बोलीं—'मिश्रजी! तुमने सनातन मिश्रकी लड़की देखी है?'

घटकने कहा—'लड़की मैंने देखी है, बड़ी ही सुन्दर, सुशील तथा गुणवती है। निमाईके वह सर्वथा योग्य है। मैं समझता हूँ तुम उस लड़कीको अपनी पुत्र-वधू बनाकर जरूर प्रसन्न होगी।'

माताने कहा—'यह तो तुम ठीक कहते हो, किन्तु वे धनाढ्य हैं, राजपण्डित हैं। बहुत सम्भव है वे इस सम्बन्धको न स्वीकार करें। हमारी तो तुम दशा देखते ही हो, वैसे लड़कीको अन्न-वस्त्रका तो घाटा न होगा।'

घटकने जोर देकर कहा—'माताजी! तुम कैसी बात करती हो! भला, निमाई-जैसे योग्य प्रतिष्ठित पण्डितको जमाई बनानेमें कौन अपना सौभाग्य न समझेगा! मैं समझता हूँ, वे इसे सहर्ष स्वीकार कर लेंगे। मैं आज ही उनके यहाँ जाऊँगा और शामको ही तुम्हें उत्तर दे जाऊँगा।' यह कहकर काशीनाथ मिश्र माताको प्रणाम करके चले गये।

सनातन मिश्रके घरमें जब स्त्रियोंने यह बात सुनी तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। कोई कहने लगी—'लड़कीका भाग्य खुल गया।' कोई-कोई विष्णुप्रियाके ही सामने कहने लगी—'इतने दिनका इसका गङ्गा-स्नान और विष्णु-पूजा आज सफल हुई, साक्षात् विष्णुके ही समान इसे वर मिल गया।' ये सब बातें सुनकर विष्णुप्रिया लजाती हुई उठकर दूसरी ओर चली गयीं। स्त्रियाँ और भी भाँति-भाँतिकी बातें करने लगीं।

राजपण्डित सनातन मिश्रकी स्वीकृति लेकर घटक महाशय सीधे शचीमाताके समीप पहुँचे और उन्हें यह शुभ संवाद सुना दिया। सुनकर शचीमाताको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसी समय विवाहकी तिथि आदि भी निश्चय करा दी।

सनातन मिश्रके यहाँ तिथि आदिकी सभी बातें पक्की करके काशीनाथ घटक आ ही रहे थे, कि रास्तेमें अकस्मात् उनकी निमाई पण्डितसे भेंट हो गयी। निमाईने उन्हें आलिङ्गन करते हुए कहा—'किधरसे आ रहे हैं? आप तो सदा घटाया ही करते हैं। कहिये किसे घटाकर आये हैं?'

हँसते हुए घटकने कहा—'घटाकर तो नहीं आये हैं बढ़ानेकी ही फिक्र है, तुम्हें एकसे दो करना चाहते हैं। बताओ, क्या सलाह है?'

कुछ आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए निमाई पण्डितने कहा—'मैं आपकी बातका मतलब नहीं समझा। कैसा बढ़ाना, स्पष्ट बताइये?'

जरा आवाजको बढ़ाते हुए जोर देकर घटकने कहा—'राजपण्डित सनातन मिश्रकी पुत्रीके साथ तुम्हारे परिणयकी बातें पक्की करके आ रहा हूँ। बताओ तुम्हें मंजूर है न?'

इधर पण्डित सनातन मिश्र भी बहुत दिनोंसे चाह रहे थे, कि विष्णुप्रियाका सम्बन्ध निमाई पण्डितके साथ हो जाता तो बहुत अच्छा होता। किन्तु वे भी मनमें कुछ संकोच करते थे कि निमाई आजकल नामी पण्डित समझे जाते हैं। इस बीस बरसकी ही अल्प वयसमें उन्होंने इतनी भारी ख्याति प्राप्त कर ली है, बहुत सम्भव है वे इस सम्बन्धको स्वीकार न करें। यदि हमारी प्रार्थनापर भी उन्होंने इस सम्बन्धको स्वीकार न किया तो इसमें हमारा बहुत अपमान होगा। प्रायः धनी लोग अपने मानका बहुत ध्यान रखते हैं, इसी भयसे उन्होंने इच्छा रहनेपर भी आजतक यह बात किसीपर प्रकट नहीं की थी।

सनातन मिश्रके हृदयमें इसी प्रकारके विचार उठ ही रहे थे कि उसी बीच काशीनाथ घटक उनके समीप आ पहुँचे। घटकको देखकर उन्होंने इनका सम्मान किया, बैठनेको आसन दिया और आनेका कारण जानना चाहा। काशीनाथ घटकने आदिसे अन्ततक सब बातें कहकर अन्तमें कहा—'शचीमाताने मुझे बुलाकर स्वयं कहा है। इस बातको मैं अपनी ओरसे कहता हूँ कि आपको अपनी पुत्रीके लिये इससे अच्छा वर दूसरी जगह कठिनतासे मिलेगा।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए सनातन मिश्रने कहा—'निमाई पण्डित कोई अप्रसिद्ध मनुष्य तो हैं ही नहीं। देशभरमें उनका यशोगान हो रहा है। उन्हें जामाता बनानेमें मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। मेरी भी चिरकालसे यही इच्छा थी, किन्तु इसी संकोचसे आजतक किसीपर प्रकट नहीं की कि वे सम्भव है स्वीकार न करें।'

घटकने कहा—'इस बातकी आप तनिक भी चिन्ता न करें, शचीदेवी जो कह देंगी वही होगा, निमाई उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकते।'

सनातन मिश्रके घरमें जब स्त्रियोंने यह बात सुनी तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। कोई कहने लगी—'लड़कीका भाग्य खुल गया।' कोई-कोई विष्णुप्रियाके ही सामने कहने लगी—'इतने दिनका इसका गङ्गा-स्नान और विष्णु-पूजा आज सफल हुई, साक्षात् विष्णुके ही समान इसे वर मिल गया।' ये सब बातें सुनकर विष्णुप्रिया लजाती हुई उठकर दूसरी ओर चली गयीं। स्त्रियाँ और भी भाँति-भाँतिकी बातें करने लगीं।

राजपण्डित सनातन मिश्रकी स्वीकृति लेकर घटक महाशय सीधे शचीमाताके समीप पहुँचे और उन्हें यह शुभ संवाद सुना दिया। सुनकर शचीमाताको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसी समय विवाहकी तिथि आदि भी निश्चय करा दी।

सनातन मिश्रके यहाँ तिथि आदिकी सभी बातें पक्की करके काशीनाथ घटक आ ही रहे थे, कि रास्तेमें अकस्मात् उनकी निमाई पण्डितसे भेंट हो गयी। निमाईने उन्हें आलिङ्गन करते हुए कहा—'किधरसे आ रहे हैं? आप तो सदा घटाया ही करते हैं। कहिये किसे घटाकर आये हैं?'

हँसते हुए घटकने कहा—'घटाकर तो नहीं आये हैं बढ़ानेकी ही फिक्र है, तुम्हें एकसे दो करना चाहते हैं। बताओ, क्या सलाह है?'

कुछ आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए निमाई पण्डितने कहा—'मैं आपकी बातका मतलब नहीं समझा। कैसा बढ़ाना, स्पष्ट बताइये?'

जरा आवाजको बढ़ाते हुए जोर देकर घटकने कहा—'राजपण्डित सनातन मिश्रकी पुत्रीके साथ तुम्हारे परिणयकी बातें पक्की करके आ रहा हूँ। बताओ तुम्हें मंजूर है न?'

यह जोरसे हँसते हुए इन्होंने कहा—'हहाहा ! हमारा विवाह ? और राजपण्डितकी पुत्रीके साथ ! हमें तो कुछ भी पता नहीं।' यह कहते-कहते ये हँसते हुए घर चले गये।

घटकको इनकी सूखी हँसीमें कुछ सन्देह हुआ। सनातन मिश्रके यहाँ भी खबर पहुँच गयी। सुनते ही घरभरमें सुसी छा गयी। सनातन मिश्रने कहा—'जिस बातकी शंका थी, वही हुई। मैं पहिले ही जानता था, निमाई स्वतन्त्र प्रकृतिके पुरुष हैं, वे भला, इस प्रकार सम्बन्धको कब मंजूर करनेवाले थे! हुआ तो कुछ भी नहीं, उलटी मेरी सब लोगोंमें हँसी हुई। सबको पता चल गया है कि लड़कीका विवाह निमाई पण्डितके साथ होगा। यदि न हो सका तो मेरे लिये बड़ी लज्जाकी बात है।' यह सोचकर उन्होंने उसी समय काशीनाथ घटकको बुलाया और अपनी चिन्ताका कारण बताकर शीघ्र ही शचीमातासे इसके सम्बन्धमें निश्चित उत्तर ले आनेकी प्रार्थना की।

घटक महाशय उसी समय शचीमाताके समीप गये और राजपण्डितकी चिन्ताका सभी वृत्तान्त कह सुनाया। सब कुछ सुनकर शचीमाताने कहा—'निमाई मेरी बातको कभी टालता नहीं है, इसीलिये मैंने उससे इस सम्बन्धमें कुछ भी पूछ-ताँछ नहीं की। आज वह पाठशालासे आवेगा तो मैं उससे पूछ लूँगी। मेरा ऐसा विश्वास है, वह मेरी बातको टाल नहीं सकता। कल मैं तुम्हें इसका ठीक-ठीक उत्तर दूँगी।' माताका ऐसा उत्तर सुनकर घटक अपने घरको चले गये।

इधर जब शामको पाठशालासे पढ़ाकर निमाई घर आये तब माताने इधर-उधरकी दो-चार बातें करके बड़े प्रेमसे कहा—'निमाई बेटा! मैं एक बात पूछना चाहती हूँ। क्या सनातन मिश्रवाला सम्बन्ध तुझे मंजूर नहीं है? लड़की तो बड़ी सुशील और चतुर है। मैं उसे रोज गङ्गाजीपर देखती हूँ।'

कुछ लजाते हुए निमाईने कहा—'मैं क्या जानूँ, जो तुम्हें अच्छा लगे वह करो ।' माताको यह उत्तर सुनकर सन्तोष हुआ । इन्होंने अपनी माताके सन्तोषार्थ स्वयं एक मनुष्यके द्वारा सनातनके यहाँ विवाहकी तैयारी करनेकी खबर भेज दी । इस खबरके पाते ही सनातन मिश्रके घरमें फिरसे दुगुना आनन्द छा गया और वे धूम-धामके साथ पुत्रीके विवाहकी तैयारियाँ करने लगे ।

इधर निमाई पण्डितके पास इतना द्रव्य नहीं था, कि वे राजपण्डितकी पुत्रीके साथ खूब समारोहके साथ विवाह कर सकें । इसके लिये वे कुछ चिन्तित-से हुए । धीरे-धीरे इस बातकी खबर इनके सभी विद्यार्थी तथा स्नेहियोंको लग गयी । विद्यार्थी बड़े प्रसन्न हुए और आ-आकर कहने लगे—'गुरुजी ! ज्योंनारकी मिठाइयाँ तो खूब खानेको मिलेंगी । सनातन तो राजपण्डित ठहरे । खूब जी खोलकर विवाह करेंगे । बढ़िया-बढ़िया मिठाइयाँ बनावेंगे । खूब आनन्द रहेगा ।' ये सबकी बातें सुनकर हँस देते ।

उस समय नवद्वीपमें बुद्धिमन्त खाँ ही सबसे बड़े जमींदार थे । वे उस समयके एक प्रकारसे नवद्वीपके राजा ही समझे जाते । निमाई पण्डितसे वे बहुत स्नेह करते थे । इनके विवाहकी बात सुनकर वे इनके पास पाठशालामें आये । जिनके चण्डी-मण्डपमें ये पढ़ाते थे, वे मुकुन्द संजय भी वहीं बैठे थे । उन्होंने इनका आगत-स्वागत किया । बुद्धिमन्त खाँने कहा—'पण्डितजी ! सुना है आप दूसरा विवाह कर रहे हैं ? यह बात कहाँतक सच है ? सुना है अबके राजपण्डितकी पुत्री पसंद की है ?'

कुछ लजाते हुए इन्होंने कहा—'आप जो भी सुनेंगे सब सत्य ही होगा । भला, आपके सामने झूठ बात कहनेकी किसकी हिम्मत हो सकती है ?'

इस उत्तरसे प्रसन्न होकर बुद्धिमन्त खाँने कहा—'तब तो खूब मिठाई खानेको मिलेगी। हाँ, एक प्रार्थना मेरी है, इस विवाहका सम्पूर्ण खर्च मेरे जिम्मे रहा।'

बीचमें ही मुकुन्द संजय बोल उठे—'वाह साहब! सब आपका ही रहा, हम वैसे ही रहे। कुछ हमें भी तो अवसर दीजिये। अकेले-ही-अकेले आनन्द उठा लेना ठीक नहीं।'

हँसते हुए बुद्धिमन्त खाँने जवाब दिया—'आप भी अपनी इच्छा पूर्ण कर लें। कुछ भिखमंगे ब्राह्मणका विवाह थोड़े ही है। राजपण्डितकी पुत्रीके साथ शादी है। राजकुमारकी ही भाँति खूब ठाट-बाटसे विवाह करेंगे। आप जितना भी चाहें खर्च कर लें।' इस प्रकार विवाहके सम्पूर्ण खर्चेका भार तो इन दोनों धनिकोंने अपने ऊपर ले लिया। अब निमाई इस बातसे तो निश्चिन्त हो गये, फिर भी उन्हें बहुत-सा काम स्वयं ही करना था। उसके लिये वे विद्यार्थियोंकी सहायतासे स्वयं ही सब काम करने लगे।

सभी बड़े-बड़े पण्डितोंको निमन्त्रित किया गया। विद्वन्मण्डलीमेंसे ऐसा एक भी पण्डित नहीं बचने पाया जिसके पास निमन्त्रण न पहुँचा हो। इधर पूर्वोक्त दोनों धनाढ्योंने विवाहके लिये गाने-नाचनेका, आतिशबाजी-फुलवारीका, अच्छे-अच्छे बाजोंका तथा और भी सजावटके बहुत-से सामानोंका भलीभाँति प्रबन्ध किया। नियत तिथिके दिन अपने स्नेही बहुत-से पण्डित, विद्यार्थियों तथा अन्य गण्य-मान्य सज्जनोंके साथ बरात सजाकर निमाई पण्डित विवाहके लिये चले। वे आगे-आगे पालकीमें जा रहे थे। दोनों ओर चमर ढुर रहे थे। सबसे आगे भाँति-भाँतिके बाजे बज रहे थे। इस प्रकार खूब समारोहके साथ वे सनातन मिश्रके द्वारपर जा पहुँचे। मिश्रजीने सब लोगोंका यथोचित खूब सम्मान किया। सभीके ठहरने, खाने-पीने और

मनोरञ्जनका उन्होंने बहुत ही उत्तम प्रबन्ध कर रखा था। उनके स्वागत-सत्कारसे सभी लोग अत्यन्त ही प्रसन्न हुए।

गोधूलिके शुभ लग्नमें निमाई पण्डितने विष्णुप्रियाका पाणिग्रहण किया। ब्राह्मणोंने स्वस्त्ययन पढ़ा, वेदज्ञोंने हवन कराया। इस प्रकार विवाहके सभी लौकिक तथा वैदिक कृत्य बड़ी ही उत्तमताके साथ समाप्त हुए। विष्णुप्रियाने पतिदेवके चरणोंमें आत्मसमर्पण किया और निमाईने उन्हें वामाङ्ग करके स्वीकार किया। सनातन मिश्रने बहुत-सा धन तथा बहुमूल्य वस्त्राभूषण निमाईके लिये भेंटमें दिये। इन सब कार्योंके हो जानेपर विवाहके सब कार्य समाप्त किये गये।

दूसरे दिन सनातन मिश्रने सभी विद्वान् पण्डितोंकी सभा की। उनकी योग्यतानुसार यथोचित पूजा की और द्रव्यादि देकर खूब सत्कार किया। तीसरे दिन विष्णुप्रियाके साथ दोला (पालकी) में चढ़कर निमाई अपने घर आये। चिरकालसे जिसे अपनी पुत्र-वधू बनानेके लिये माता उत्सुक थी, आज उसे ही पुत्रके साथ अपने घरमें आयी देखकर माताकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वह उस युगल जोड़ीको देखकर मन-ही-मन अत्यन्त ही प्रसन्न हो रही थी।

घरमें घुसते समय चौखटमें उँगली पिच जानेके कारण विष्णुप्रियाके कुछ खून निकल आया था। इसे अपशकुन समझकर उनका चित्त पहले तो कुछ दुखी हुआ था, किन्तु थोड़े दिनोंमें वे इस बातको भूल गयी थीं। जब निमाई संन्यास लेकर चले गये, तब उन्हें यह घटना याद आयी थी और वह उसे स्मरण करके दुखी हुई थीं।

इस प्रकार विष्णुप्रियाको पाकर निमाई अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और विष्णुप्रिया भी अपने सर्वगुणसम्पन्न पतिको पाकर परम आह्लादित हुईं।

प्रकृति-परिवर्तन

परोपदेशकुशला दृश्यन्ते बहवो जनाः ।
स्वभावमतिवर्तन्तः सहस्रेष्वपि दुर्लभाः ॥*

(सु० र० भां० ७७ । ४

बाल्यावस्थाका स्वभाव आगे चलकर धीरे-धीरे बदल जाता है, किन्तु युवावस्थामें जो स्वभाव बन जाता है, उसका परिवर्तित होना अत्यन्त ही कठिन है । अवस्था ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों स्वभावमें भी प्रौढ़ता होने लगती है और फिर जिस मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है वही उसका आगेके लिये स्वाभाविक गुण बन जाता है । बहुधा ऐसा भी देखा गया है कि बहुत-से लोगोंका जीवन एकदम पलट जाता है, वे क्षणभरमें ही कुछ-से-कुछ बन जाते हैं । आज जो महाविषयी-सा प्रतीत होता है, वही कल परम वैष्णवोंके-से आचरण करने लगता है । जिसे हम कलतक आवारा-आवारा कहकर पुकारते थे, थोड़े दिनोंमें सहस्रों नर-नारी सिद्ध महात्मा मानकर उसीकी पूजा-अर्चा करते हुए देखे गये हैं, किन्तु ऐसा परिवर्तन

---

* दूसरोंको बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे उत्तम-से-उत्तम उपदेश करनेवाले तो बहुतसे सुचतुर पण्डित मिल जायँगे, किन्तु जो एकदम अपने स्वभावको ही पलट दें ऐसे पुरुष हजारोंमें भी दुर्लभ हैं । कहीं करोड़ोंमें कोई ऐसे पुरुष निकलते हैं ।

सभी पुरुषोंके जीवनमें नहीं होता। ऐसे तो कोई विरले ही भाग्यशाली महापुरुष होते हैं।

प्रायः देखा गया है, कि मनुष्य जब प्राकृतिक विचारोंसे ऊँचे उठने लगता है, तब हृदयके परिवर्तनके साथ उसके शरीरमें भी परिवर्तन हो जाता है। शरीरके सभी अवयव स्वभावके ही अनुसार बने हैं, मनुष्य जैसे-जैसे प्राकृतिक विचारोंको छोड़ने लगता है वैसे-वैसे उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी बदलते जाते हैं। साधारण लोग उस परिवर्तनको रोग समझने लगते हैं। जो एकदम प्रकृतिसे ऊँचा उठ गया है, फिर उसका पाञ्चभौतिक शरीर अधिक काल स्थिर नहीं रह सकता। क्योंकि शरीरके स्थायित्वके लिये रजोगुणजन्य प्राकृतिक अहंभावकी कुछ-न-कुछ आवश्यकता पड़ती ही है। तभी तो परम भावुक ज्ञानी और प्रेमी अल्पावस्थामें ही इस शरीरको त्याग जाते हैं। श्रीशंकराचार्य, चैतन्यदेव, ज्ञानेश्वर, रामतीर्थ, जगद्बन्धु ये सभी परम भावुक भगवत्-भक्त प्रकृतिसे अत्यन्त ऊँचे उठ जानेके ही कारण इस शरीरको अधिक दिन नहीं टिका सके। कोई-कोई महापुरुष अपने सत्सङ्कल्पका कुछ अंश देकर लोक-कल्याणकी दृष्टिसे उस अवस्थामें पहुँचने-पर भी कुछ कालके लिये इस शरीरको टिकाये रहते हैं, फिर भी उनमें भावुकताकी अपेक्षा ज्ञानांशकी कुछ अधिकता होती है, तभी वे ऐसा कर सकते हैं। भावुकताकी चरम सीमापर पहुँचनेपर तो संकल्प करनेका होश ही नहीं होता।

जब हृदयमें सहसा प्रबल भावुकताका उदय होता है, तो निर्बल शरीर उसका सहन नहीं कर सकता। किसी-किसीका शरीर तो उसी वेगमें शान्त हो जाता है, बहुत-से उसे सहन तो कर लेते हैं, किन्तु पागल हो जाते हैं, कुछ कर-धर नहीं सकते। जिनसे भगवान्‌को कुछ काम कराना होता है, वे उस वेगको पूर्णरीतिसे सहन करनेमें समर्थ होते हैं किन्तु शरीर-

पर उसका कुछ-न-कुछ असर पड़ना तो स्वाभाविक ही है, इसलिये उनके शरीरमें या तो वायुरोग हो जाता है या अतिसार। बहुधा इन दो भयंकर रोगोंके द्वारा ही उस भावका शमन हो सकता है। संसारी लोगोंको ये रोग प्रायः चालीस-पचास वर्षकी अवस्थाके बाद हुआ करते हैं, किन्तु जिन लोगोंके शरीरमें प्रबल भावुकताके उदय होनेके उद्वेगमें ये रोग होते हैं, उनके लिये कोई नियम नहीं, कभी हो जाय। असलमें उनके ये रोग साधारण लोगोंके रोगकी भाँति यथार्थ रोग नहीं होते, किन्तु वे रोग-से ही प्रतीत होते हैं और भावोंके शमन होनेपर आप ही शान्त हो जाते हैं। परमहंस रामकृष्णदेवको युवावस्थामें ही यह उद्वेग उत्पन्न हुआ। किसी-ने उसे वायुरोग, किसीने मस्तिष्करोग और किसीने वीर्योन्मादरोग बताया। उनके परम भक्त मथुरा बाबू तो चिकित्सकोंके कहनेसे उन्हें वेश्याओंतकके यहाँ ले गये, किन्तु उन्हें उन्माद या वायुरोग हो तब तो। वहाँ भी वे छोटे बालककी भाँति क्रीड़ा करते रहे। सालों वे अतिसारके भयंकर रोगसे पीड़ित बने रहे। उनके इस भावको एक ब्राह्मणीने ही समझा। पीछेसे उनके बहुत-से भक्त भी समझ गये। चिकित्सक इन्हें अन्ततक वायुरोग बताते रहे और बोलनेसे मना करते रहे, किन्तु इन्होंने शरीरको टिका ही इसलिये रखा था, चिकित्सकोंके मना करनेपर भी धाराप्रवाह बोलते रहे, अन्तमें गलेमें फोड़ा-सा हुआ और उसीकी भयंकर वेदनामें महीनों बिताकर वे इस नश्वर शरीरको त्याग गये। गलेके फोड़ेको चिकित्सक लोग अधिक बोलनेका विकार बताते, उसके कारण इतनी पीड़ा होती कि तोलेभर दूध पीनेमें भी उन्हें महाकष्ट होता था, किन्तु इस अवस्थामें भी वे भक्तोंको उपदेश तो निरन्तर करते ही रहे। चिकित्सकोंके बार-बार जोर देकर मना करनेपर वे कह देते—'अब इस शरीरका बनेगा ही क्या ? इससे जिसका जितना भी उपकार हो सके उतना ही उत्तम है।' क्योंकि वे शरीरके प्राकृतिक स्वभावसे एकदम ऊँचे उठ गये थे।

अब निमाई पण्डितके भी प्रकृति-परिवर्तनका समय आया। निमाई परम भावुक थे, यदि सचमुच उनके हृदयमें एक साथ ही प्रबल भावुकताकी भारी बाढ़ आती, तो चाहे इनका शरीर कितना भी बलवान् क्यों नहीं था, वह उसका सहन कभी नहीं कर सकता। इसलिये इनकी भावुकताका उत्तरोत्तर विकास हुआ और अन्तमें तो वे शरीरको एकदम भूलकर समुद्रमें ही कूद पड़े। इनके जीवनमें प्रेमके जैसे उत्तरोत्तर अद्वितीय भाव प्रकट हुए हैं, वैसे भाव संसारका इतिहास खोजनेपर भी किसी प्रकटरूपसे उत्पन्न हुए महापुरुषके जीवनमें शायद ही मिलें! किसीके जीवनमें क्या, बहुतोंके जीवनमें ये भाव प्रकट हुए होंगे, किन्तु वे संसारकी दृष्टिसे दूर जाकर प्रकट हुए होंगे, संसारी लोगोंको उन भावोंका पता नहीं। चैतन्यके जीवनके भाव तो भक्तोंने प्रत्यक्ष देखे और उनके समकालीन लेखकोंने यथासाध्य उनका वर्णन करनेकी चेष्टा भी की है, किन्तु वे भाव तो अवर्णनीय हैं। संसारी भाषा इन अलौकिक भावोंका वर्णन कर ही कैसे सकती है?

सहसा एक दिन निमाई पण्डित रास्ता चलते-चलते पुस्तक फेंककर अपने घरकी ओर भाग पड़े। रास्तेके सभी लोग डर गये। इनकी सूरत विचित्र ही बन गयी थी। घर पहुँचकर इन्होंने घरके सभी बर्तनोंको आँगनमें निकाल-निकालकर फोड़ना प्रारम्भ कर दिया। माता अवाक् होकर इनकी ओर देखने लगीं। उनकी हिम्मत न हुई कि निमाईको ऐसा करनेसे रोकें। ये अपनी धुनमें मस्त थे। किसी भी चीजकी परवा नहीं करते। जो भी चीज मिल जाती उसे ही नष्ट करते। पानीको उलीचते, अन्नको फेंकते और वस्त्रोंको बीचसे फाड़ देते थे। माता बाहर जाकर आस-पासके लोगोंको बुला लायी। लोगोंने इन्हें इस कामसे हटानेकी चेष्टा की, किन्तु जो भी इनकी ओर जाता, उसे ही ये मारनेके लिये दौड़ते। इसलिये किसीकी हिम्मत ही नहीं पड़ती थी। जैसे-तैसे लोगोंने इन्हें हटाकर

शय्यापर सुलाया। चारों ओरसे विद्यार्थी तथा इनके स्नेही इनकी शय्याको घेरकर बैठ गये। अब ये निरन्तर पागलोंकी भाँति बकने लगे। लोगोंसे कहते—'हम साक्षात् विष्णु हैं, हमारी पूजा करो। संसारमें हम ही एकमात्र वन्दनीय तथा पूजनीय हैं। तुमलोग निरन्तर श्रीकृष्ण-कीर्तन किया करो। संसारमें श्रीकृष्णका ही नाम सार है और सभी वस्तुएँ असार हैं। इस प्रकार ये न जाने क्या-क्या कहते रहे।

लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भाँति-भाँतिके अनुमान लगाते। कोई कहता—'भूतव्याधि है।' कोई कहता—'किसी डाकिनी-शाकिनीका प्रकोप है।' कोई-कोई उपेक्षाकी दृष्टिसे कहता— 'अजी, बहुत बकवादका यही तो फल होता है, दिनभर शास्त्रार्थ करके विद्यार्थियोंके साथ मगजपची करके तथा लोगोंको छेड़कर बका ही तो करते थे। इन्हें कभी किसीने चुपचाप तो देखा ही नहीं था। उसीका यह फल है, पागलपन है। मस्तिष्कका विकार है। गर्मी बढ़ गयी है और कुछ नहीं है।'

चिकित्सकोंने वायुरोग स्थिर किया। समाचार पाकर बुद्धिमन्त खाँ और मुकुन्द संजय ये सभी धनी-मानी सज्जन वैद्योंको साथ लेकर निमाईके घर दौड़े आये। सभी घबड़ा गये। ये लोग बड़े-बड़े धनिक थे। नाना प्रकारकी मूल्यवान् ओषधियाँ इनके यहाँ रहती थीं। वैद्योंकी सम्मतिसे विष्णुतैल, नारायणतैल आदि सुगन्धित और मूल्यवान् तैल इनके सिरमे मले जाने लगे। इनके सिरको तैलमें डुबाया गया, और भी भाँति-भाँतिके उपचार किये जाने लगे। इस प्रकार कई दिनोंमें धीरे-धीरे ये स्वस्थ हुए। यह देखकर इनके प्रेमियोंको परम प्रसन्नता हुई। धीरे-धीरे ये फिर पूर्वकी भाँति अपनी पाठशालामें जाकर अध्यापनका कार्य करने लगे।

अब इनके स्वभावमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। अब ये पहिलेकी

भाँति लोगोंसे छेड़खानी नहीं करते थे। इनमें बहुत कुछ गम्भीरता आ गयी। वैष्णवोंकी हँसी करना इन्होंने एकदम छोड़ दिया। इन्हें स्वस्थ देखकर लोग कहते—'भगवान्‌की बड़ी कृपा हुई आप स्वस्थ हो गये। यह शरीर नश्वर और क्षणभङ्गुर है, अब कुछ कृष्णकीर्तन भी करना चाहिये। आयुको इसी तरह बिता देना ठीक नहीं।' ये हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम करते और उनकी बातको स्वीकार करते। लोगोंको—विशेषकर वैष्णवोंको इनके इस स्वभाव-परिवर्तनसे परम प्रसन्नता हुई।

अब ये नियमितरूपसे भगवान्‌की पूजा और तुलसीपूजन आदि कार्योंको करने लगे। सन्ध्या-पूजा करके ये पढ़ानेके लिये जाते और सभी विद्यार्थियोंके सदाचारके ऊपर अत्यधिक ध्यान रखते। जिस विद्यार्थीके मस्तकपर तिलक नहीं देखते उसे ही बुलाकर कहते—'आज तिलक क्यों नहीं धारण किया है? फिर सबको सुनाकर कहते—'जिसके मस्तकपर तिलक नहीं, समझ लो आज वह बिना ही सन्ध्या-वन्दन किये चला आया है।' इस प्रकार जिसे भी तिलकहीन देखते उसे ही कहते—'पहिले घर जाकर सन्ध्या-वन्दन करके तिलक धारण कर आओ, तब आकर पाठ पढ़ना।' फिर आप समझाने लगते—'देखो भाई! सन्ध्या ही तो द्विजातियोंका सर्वस्व है। जो ब्राह्मण सन्ध्या-वन्दनतक नहीं करता उसे ब्राह्मण कह ही कौन सकता है! फिर वह पारमार्थिक उन्नति तो बहुत दूर रही, इहलौकिक उन्नति भी नहीं कर सकता। कहा भी है—

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं च सन्ध्या
वेदाः शाखाः धर्मकर्मादि पत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं
छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्॥

ब्राह्मणरूपी वृक्षकी सन्ध्या ही जड़ है। वेद ही उस वृक्षकी बड़ी-बड़ी चार शाखाएँ हैं और धर्म-कर्मादि ही उस वृक्षके सुन्दर-सुन्दर

पत्ते हैं इसलिये खूब सावधानीके साथ जल आदि देकर जड़की ही सेवा करनी चाहिये, क्योंकि जड़के नष्ट हो जानेपर न तो शाखा ही रह सकती है और न पत्ते ही।' आप कहते—'जो साठ घड़ीके दिन-रात्रिमेंसे दो घड़ी सन्ध्याके लिये नहीं निकाल सकता वह आगे उन्नति ही क्या कर सकता है?' इनके इस कथनका विद्यार्थियोंके ऊपर बड़ा ही प्रभाव पड़ता और वे सभी यथासमय उठकर स्नानादिसे निवृत्त होकर सन्ध्या-वन्दनादि करके तब पाठ पढ़ने आते। इन सभी बातोंसे विद्यार्थी इनके ऊपर बड़ा ही अनुराग रखने लगे और ये भी उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्यार करने लगे।

ये भाव इनके हृदयमें भक्ति-भागीरथीके स्रोत उमड़नेके पूर्वके सूत्रपातमात्र ही हैं। निमाईके हृदयमें भक्तिके स्रोतका उदय तो श्रीगयाधाममें श्रीविष्णु भगवान्के पादपद्मोंके दर्शनसे ही होगा। वहींसे भक्ति-भागीरथीका प्रवाह नवद्वीप आदि पुण्यस्थानोंमें होकर अपनी द्रुतगतिसे समस्त प्राणियोंको पावन करता हुआ श्रीनीलाचलके महासागरमें एकरूप हो जायगा। यह बात नहीं कि नीलाचलमें जाकर प्रेमपयोधिमें मिलनेपर उस त्रितापहारी प्रेमपीयूषपूर्ण पावन प्रवाहकी परिसमाप्ति हो जायगी, किन्तु वह प्रवाह भगवती भागीरथीकी भाँति अखण्डरूपसे इस धराधामपर सदा प्रवाहित ही होता रहेगा, जिसमें अवगाहन करके प्रेमी भक्त सदा सुखशान्ति प्राप्त करते रहेंगे। इन सभी बातोंका वर्णन पाठकोंको अगले प्रकरणोंमें प्राप्त होगा।

भक्ति-स्रोत उमड़नेसे पहिले

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥*
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ९)

भक्ति तथा मुक्तिका प्रधान और मुख्य कारण कर्म ही है। निष्काम और सकाम-भेदसे कर्म दो प्रकारका है। सकाम कर्म भुक्तिप्रद है। उससे

* वर्णाश्रमविहित कर्मोंको तबतक करते ही रहना चाहिये जबतक उनके प्रति पूर्णरूपसे वैराग्य न हो जाय अथवा भगवान्‌की कथाके श्रवणमें जबतक पूर्णरूपसे दृढ़ भक्ति न हो जाय। तात्पर्य यह कि, वर्णाश्रममें विहित कर्मोंके करनेके दो ही हेतु हैं या तो उनके द्वारा वैराग्य उत्पन्न होकर ज्ञान हो और ज्ञानके द्वारा मुक्ति अथवा भगवान्‌के कथाकीर्तनमें दृढ़ श्रद्धाद्वारा रति हो जाय और रतिसे भक्तिकी प्राप्ति हो।

भूः भुवः और स्वः इन तीन ही लोकोंके भोग प्राप्त हो सकते हैं और निष्काम कर्मोंके द्वारा आत्मशुद्धि होकर साधक भक्ति तथा मुक्तिका अधिकारी बनता है।

जो हृदय-प्रधान साधक हैं उन्हें निष्काम कर्मोंके करते रहनेसे साधु-महात्माओंमें प्रीति उत्पन्न होती है। महात्माओंके अधिक संसर्गमें रहनेसे उन्हें भगवत्-कथाओंमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। भगवत्-कथाओंमें श्रद्धा होनेसे भगवद्गुणोंमें रति हो जाती है। भगवद्गुणोंमें रति होनेके बाद भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति ही अन्तिम साध्य वस्तु है, उसे ही पराकाष्ठा या परा गति कहते हैं।

जो मस्तिष्क-प्रधान साधक होते हैं, उन्हें निष्काम कर्मोंके द्वारा आत्मशुद्धि होकर भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, फिर संसारी विषयोंसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे उन्हें ज्ञानकी इच्छा उत्पन्न होती है और ज्ञानके द्वारा वे मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। मुक्ति ही प्राणीमात्रका चरम लक्ष्य है। यही जीवोंकी एकमात्र साध्य वस्तु है। इसीलिये मुक्ति तथा भक्तिका प्रधान हेतु वर्णाश्रमविहित कर्म ही है। जबतक भगवत्-कथाओंमें पूर्णरूपसे श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय, बिना भगवत्-कथा श्रवण किये चैन ही न पड़े अथवा जबतक संसारी विषयोंसे पूर्णरीत्या वैराग्य न हो जाय, चित्त सर्वदा इन संसारी भोगोंसे हटकर एकान्तवासके लिये लालायित न बना रहे तबतक सभी प्रकारके मनुष्योंको अपने-अपने अधिकारानुसार कर्तव्य-कर्मोंको करते ही रहना चाहिये। जो श्रद्धा तथा वैराग्यके पूर्व ही अज्ञानके वशीभूत होकर कर्मोंका त्याग कर देते हैं, वे नारकीय जीव हैं, वे स्वयं कर्मत्यागरूपी पापके द्वारा अपने लिये नरकके मार्गको परिष्कृत करते हैं। ऐसे पुरुष न तो भक्त बन सकते हैं और न ज्ञानी, वे इस संसार-चक्रमें ही पड़े घूमते रहते हैं।

कुछ ऐसे भी नित्यभक्त वा जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, जिन्हें फिरसे कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं होती, वे पहिलेसे ही मुक्त अथवा भक्त होते हैं। शुक-सनकादि जन्मसे ही मुक्त थे। नारदादि पहिलेसे ही भक्त होकर उत्पन्न हुए, इनके लिये किसी प्रकारके विशेष कर्मोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं हुई। इनमें आरम्भसे ही वैराग्य तथा भक्ति विद्यमान थी। इसीलिये शुक-सनकादि आरम्भसे ही ज्ञानी बनकर स्वेच्छापूर्वक विचरण करते रहे और नारदादि सदा हरि-गुण-गान करते हुए सभी लोकोंको पावन बनाते फिरे। अतएव इनके लिये आरम्भसे ही कोई कर्तव्य-कर्म नहीं था।

अब प्रश्न यह है, कि भक्ति तथा मुक्तिमें कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? इनका उत्तर यही दिया जा सकता है कि या तो इनमेंसे कोई भी श्रेष्ठ नहीं या दोनों ही श्रेष्ठ हैं। ये दोनों ही स्थिति सनातन हैं, सदासे प्राणियोंकी ये ही दो परम स्थिति सुनी गयी हैं। वेद-शास्त्रोंमें ज्ञानी-महर्षियोंने इन्हीं दो स्थितियोंका वर्णन किया है। 'तस्य तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नः' जिसके जो अनुकूल पड़े उसके लिये वही सर्वोत्तम है। हृदय और मस्तिष्ककी ये दो ही शक्तियाँ हैं। जिसमें जिसकी प्रधानता होगी, उसको वही मार्ग रुचिकर होगा। दूसरेसे उसे कोई प्रयोजन नहीं। वह तो अपने ही मार्गको सर्वस्व समझेगा।

अब यह प्रश्न उठता है, कि बहुधा भक्तोंको यह कहते सुना गया है कि 'हम तो मुक्तिको अत्यन्त तुच्छ समझते हैं, भक्तिके बिना मुक्तिको हम तो ठुकरा देते हैं।' इसके विपरीत ज्ञान-मार्गके साधकोंके द्वारा यह सुना गया है कि 'मुक्ति ही मनुष्यका चरम लक्ष्य है, भक्ति उसका साधन भले ही हो, किन्तु साध्य वस्तु तो मुक्ति ही है। मुक्तिके बिना परम शान्ति नहीं।' इनमेंसे किसकी बात मानें? दो बातें तो

ठीक हो नहीं सकतीं। फिर वे दो ऐसी बातें जो परस्परमें एक दूसरेके विरुद्ध हों।

यदि ध्यानपूर्वक इन दोनों बातोंपर विचार किया जाय तो इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं मालूम पड़ता। लोकमें भी देखा जाता है, कि जिस मनुष्यको जो वस्तु अत्यन्त प्रिय होती है, वह कहता है 'मैं तो इससे बढ़कर त्रिलोकीमें कोई वस्तु नहीं समझता।' उसके कथनका अभिप्राय इतना ही है, कि मुझे तो यही वस्तु अत्यन्त प्रिय है, मेरे लिये तो इससे बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। 'नहीं' कहनेसे उसका अभिप्राय अन्य वस्तुओंके 'अभाव' से न होकर 'प्रिय' से है। अर्थात् मुझे इसके सिवा दूसरी वस्तु प्रिय नहीं है। उसका कथन एक प्रकारसे ठीक भी है, जबतक उसकी उस वस्तुके प्रति अनन्यता न हो जायगी तबतक उसमें प्रीति कही ही नहीं जा सकती। इसी प्रकार भक्तिका मार्ग जिन्होंने ग्रहण किया है, उनके लिये ज्ञानके द्वारा मुक्ति प्राप्त करना कोई वस्तु ही नहीं है और जिन्होंने ज्ञानके मार्गसे जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया है, उनके लिये किसी भी प्रकारके नाम-रूपका चिन्तन करना महान् विघ्न है। ये हम साधारण लोगोंके समझनेके लिये साधारण-सी दलीलें हैं। वास्तवमें तो भक्ति तथा मुक्ति दो वस्तु हैं ही नहीं। एक ही वस्तुको दो नामोंसे पुकारते हैं, अपनी भावनाके ही अनुसार एक प्रिय वस्तुको दो रूपोंमें देखते हैं। साध्य तो एक ही है उसे चाहे भक्ति कह लो या मुक्ति। और उसका साधन भी एक ही है अनासक्तभावसे भगवत्-सेवा या कर्तव्य समझकर निष्काम कर्म। हाँ, करनेकी प्रक्रियाएँ पृथक्-पृथक् अवश्य हैं, जिनका रुचि-वैचित्र्यके कारण अधिकारी-भेदसे पृथक्-पृथक् होना आवश्यक ही है। एकमें त्याग ही प्रधान है, घरको त्यागो, संगको त्यागो, आसक्तिको त्यागो, नाम-रूपको त्यागो, फिर अपने आपको भी त्याग दो। दूसरेमें प्रेमकी प्रधानता है, अच्छे पुरुषोंसे प्रेम करो, भगवद्भक्तोंसे प्रेम करो, भगवद्-

चरित्रोंसे प्रेम करो, प्रेमसे प्रेम करो। फिर आकर प्रेममें समा जाओ। ये मुक्ति-भक्ति दो मार्ग हैं।

महाप्रभु चैतन्यदेवका जीवन तो भक्तिमार्गका एक प्रधान स्तम्भ है। उनके जीवनमें शुद्ध भक्तिका परम पवित्र स्वरूप है, उसमें पक्षपातका लेश नहीं, दूसरे मार्गके प्रति विद्वेष नहीं। किसी भी कर्मकी उपेक्षा नहीं। संकुचित भावोंकी गन्ध नहीं। वहाँ तो शुद्ध प्रेम है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ना चाहो त्यों-ही-त्यों अधिकाधिक प्रेम करो, यही शिक्षा उसमें ओत-प्रोतरूपसे भरी पड़ी है। उनका नाम लेकर आज जो बातें कही जाती हैं, वे चैतन्यदेवकी कभी हो ही नहीं सकतीं। इसका साक्षी उनका प्रेममय जीवन ही है। ये साम्प्रदायिक विचार तो पीछेके संकुचित बुद्धिवाले लोगोंके मस्तिष्कसे निकले हैं। अपनी चीजका नाम कोई जो चाहे रख ले। कोई रोकनेवाला थोड़े ही है। चैतन्यका जीवन तो परम प्रेममय, सभीको आश्रय देनेवाला परम महान् है, उसमें भला साम्प्रदायिक संकुचित भावों-का क्या काम? इनके हृदयमें प्राणीमात्रके भावोंका आदर था।

निमाई पण्डितका अब दूसरा विवाह हो गया है। विष्णुप्रिया उनके सब प्रकारसे अनुकूल आचरण करती हैं। उनका स्वभाव हँसमुख है, वे सुशीला हैं, गृहकार्योंमें चतुर हैं और अत्यन्त ही पतिपरायणा हैं, वे अपने पतिको ही सर्वस्व समझती हैं। यह सब होते हुए भी निमाईका चित्त अब उदास ही रहता है। पता नहीं क्यों? अब उनकी वह चपलता न जाने कहाँ चली गयी? घंटों एकान्तमें न जाने क्या सोचा करते हैं? अब उन्हें संसारी बातोंसे अनुराग नहीं है। अब उनका हृदय किसी विशेष वस्तुके लिये छटपटाता-सा दिखायी पड़ता है। अब वे अपनेमें किसी एक विशेष अभावका-सा अनुभव करने लगे हैं। इस बातसे उनके सभी स्नेही चिन्तित रहते हैं।

जब हृदयमें किसी प्रबल भावका आगमन होनेको होता है, तो उसके पूर्व हृदय एक प्रकारके अभावका अनुभव करने लगता है। जी चाहता है, कहीं चलकर अपनी प्रिय वस्तुको ले आवें। ऐसी ही दशामें लोग तीर्थोंमें जाते हैं। तीर्थोंमें अच्छे-अच्छे धार्मिक लोगोंके सत्संगका सुयोग प्राप्त होता है, विरक्त साधु-महात्माओंके दर्शन होते हैं। उनके सत्संग तथा सदुपदेशसे हृदयमें एक प्रकारकी शान्ति होती है। इसलिये निमाईकी भी इच्छा तीर्थ-भ्रमण करनेकी हुई।

बंगालमें सकामकर्मोंकी प्रधानता है, वहाँके बहुत ही कम मनुष्य निष्कामकर्मका महत्त्व जानते हैं। अधिकांश लोग किसी-न-किसी कामनासे ही सम्पूर्ण धार्मिक कार्योंको करते हैं। सकाम कर्मोंमें पितृश्राद्धको बहुत महत्त्व दिया गया है। स्मृतियोंमें तो पितृकर्मोंको देवकर्मोंसे भी अधिक महत्ता दी गयी है। गृहस्थियोंके लिये पितृकर्म ही मुख्य बताये गये हैं। पितृकर्मोंमें गयाधाममें जाकर पितरोंके श्राद्ध करनेका बहुत भारी माहात्म्य वर्णन किया गया है, इसलिये प्रतिवर्ष बंगालसे लाखों मनुष्य गयाजीमें पितृश्राद्ध करने आते हैं। दूसरे प्रान्तोंसे भी बहुत बड़ी संख्यामें यात्री गयाजी पितृश्राद्ध करने आते हैं, किन्तु बंगालमें इसका प्रचार अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा विशेष है। अबकी बार अन्य लोगोंके साथ निमाई पण्डितने भी गयामें जाकर अपने पिताका श्राद्ध कर आनेका विचार किया। किन्तु इनके विचारमें अन्य लोगोंकी भाँति सकाम भावना नहीं थी, ये तो अपने अभावको दूर करने और धार्मिक लोगोंके भावोंका आदर करनेके निमित्त ही गयाजी जाना चाहते थे।

श्रीगयाधामकी यात्रा

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥*

(गीता ३ । २१)

आश्विन शुक्ला दशमीका दिवस है । आजके ही दिन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने लङ्कापर विजय प्राप्त करनेके लिये चढ़ाई की थी । घर-घर आनन्द मनाया जा रहा है । आजके ही दिन वर्षाकालकी परिसमाप्ति समझी जाती है । व्यापारी आजके ही दिन वाणिज्यके निमित्त विदेशोंकी यात्रा करते हैं । नृपतिगण आजके ही दिन दूसरे देशोंको दिग्विजय करनेके निमित्त अपनी-अपनी सेनाओंको सजाकर राज्य-सीमासे बाहर होते हैं । चार महीने एक ही स्थानपर रहनेवाले परिव्राजक आजके ही दिन फिरसे भ्रमण करना आरम्भ कर देते हैं । तीर्थयात्रा करनेवाले भी आजके ही दिन यात्राके लिये प्रस्थान करते हैं । अबके नवद्वीपसे भी बहुत-से यात्री गया-धामकी यात्रा करने जा रहे थे । गौराङ्गके मौसा पं० चन्द्रशेखर भी गया-को जाना चाहते थे, उन्होंने अपनी इच्छा निमाईको जतायी । सुनते ही इन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की । माताकी आज्ञा लेकर इन्होंने भी अपने कुछ स्नेही तथा छात्रोंके साथ गयाजीकी यात्राका निश्चय किया । सब सामान जुटाकर अन्य लोगोंको साथ लेकर ये गयाधामके लिये चल पड़े ।

इस प्रकार ये अपने सभी साथियोंके साथ आनन्द मनाते और प्रेममें

---

* श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अन्य साधारण लोग उसी भाँति उसका अनुकरण करते हैं, जिस बातको वे प्रमाण मानते हैं उसे ही दूसरे लोग भी प्रामाणिक समझते हैं ।

ब्राह्मण नहीं हैं केवल ब्रह्मबन्धु हैं (अर्थात् केवल नाममात्रके ही ब्राह्मण हैं, बस, जिन्होंने ब्राह्मण-वंशमें जन्म ही भर ग्रहण किया है) उनका तो इतना सत्कार नहीं करना चाहिये । वे तो केवल काष्ठकी हस्तीके समान नाममात्रके ही ब्राह्मण हैं, जैसे काष्ठके हाथीसे हाथीपनेका कोई भी काम नहीं चलनेका, उसी प्रकार जो अपने धर्म-कर्मसे हीन है, जिसने विद्या प्राप्त नहीं की, उस नाममात्रके ब्राह्मणका हम आदर क्यों करें ?'

निमाई पण्डितने थोड़ी देर सोचनेके अनन्तर कहा—'तुम्हारा कथन एक प्रकारसे ठीक ही है, जो अपने धर्म-कर्मसे रहित है, वह तो दूध न देनेवाली वन्ध्या गौके समान है, उससे संसारी स्वार्थ कोई सध नहीं सकता । फिर भी जो सभी कार्मोको सकाम भावसे नहीं करते हैं, जो श्रद्धा-के साथ शास्त्रोंकी आज्ञानुसार अपनेको ही सुधारनेका सदा प्रयत्न करते रहते हैं, वे दूसरोंके दोषोंके प्रति उदासीन रहते हैं । हम दोषदृष्टिसे देखना आरम्भ करेंगे तब तो संसारमें एक भी मनुष्य दोषसे रहित दृष्टिगोचर नहीं होगा । संसार ही दोष-गुणके सम्मिश्रणसे बना है ! इसलिये अपनी बुद्धिको संकुचित बनाकर गौकी सेवा करनेमें यह बुद्धि रखना ठीक नहीं, कि जो गौ अधिक दूध देगी हम उसीकी सेवा करेंगे । जो दूध नहीं देती, उससे हमें क्या मतलब ? ऐसी बुद्धि रखनेसे तो विचारोंमें संकुचितता आ जायगी । तुम तो शास्त्रकी आज्ञा समझकर गौमात्रमें श्रद्धा रक्खो । यह तो स्वाभाविक ही होगा कि जो गौ सुशील, सुन्दर तथा दुधारी होगी, उसकी सभी लोग इच्छा-अनिच्छापूर्वक सेवा-शुश्रूषा करेंगे और अश्रद्धालु पुरुषोंको भी सुमिष्ट दूधके लालचसे प्रभावान्वित होकर ऐसी गौकी सेवा करते हुए देखा गया है, किन्तु यह सर्वश्रेष्ठ पक्ष नहीं है । सर्वश्रेष्ठ तो यही है, कि मनमें किसी भी प्रकारका पक्षपात न करके केवल शास्त्राज्ञा समझ-कर और अपना कर्तव्य मानकर गोब्राह्मणमात्रकी सेवा करें । किन्तु ऐसे श्रद्धालु संसारमें बहुत ही थोड़े होते हैं । भगवान्ने स्वयं क्रुद्ध हुए भृगुको

श्रीकृष्ण-कीर्तन करते हुए मन्दार नामक स्थानमें पहुँचे। इस स्थानमें पहुँचकर इन्हें बड़े जोरोंसे ज्वर आ गया। इनके साथी इनकी ऐसी दशा देखकर बहुत अधिक चिन्तित हुए और भाँति-भाँतिके उपचार करने लगे, किन्तु इन्हें किसी प्रकार भी लाभ नहीं हुआ। अन्तमें इन्होंने अपनी ओषधि अपने-आप ही बतायी। इन्होंने कहा-'मेरी व्याधि इन प्राकृतिक ओषधियोंसे न जायगी। यह रोग तो असाध्य है, इसकी एकमात्र ओषधि है भगवत्कृपा! भगवान्‌की प्रसन्नताका सर्वश्रेष्ठ साधन है ब्राह्मणोंकी अर्चा-पूजा। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने अग्नि और ब्राह्मण अपने दो ही मुख बताये हैं, उनमें ब्राह्मणको ही सर्वोत्तम मुख बताया है। वे अपने श्रीमुखसे ही सनकादि महर्षियोंकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः॥

अर्थात् भगवान् कहते हैं 'मेरे अग्नि और ब्राह्मण ये दो मुख हैं, इनमें ब्राह्मण ही मेरा श्रेष्ठ मुख है, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे ही अर्पण कर दिया है और जो सदा सन्तुष्ट ही रहते हैं, ऐसा ब्राह्मण जो टपकते हुए घृतसे व्याप्त सुस्वादु अन्नके व्यञ्जनोंको खाता है, उसके प्रत्येक ग्रासके साथ मैं ही उस अन्नके रसका आस्वादन करता हूँ। उस ब्राह्मणकी तृप्तिसे जितना मैं तुष्ट होता हूँ, उतना यज्ञमें अग्निद्वारा, यजमानके अर्पण किये हुए हवि आदिसे नहीं होता।' जिन ब्राह्मणोंकी ऐसी महिमा साक्षात् भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे वर्णन की है, उन्हींका पादोदक पान करनेसे मेरा यह रोग शमन हो सकेगा।'

यह सुनकर एक सरल-से विद्यार्थीने प्रश्न किया—'गुरुजी! जो

ब्राह्मण नहीं हैं केवल ब्रह्मबन्धु हैं (अर्थात् केवल नाममात्रके ही ब्राह्मण हैं, बस, जिन्होंने ब्राह्मण-वंशमें जन्म ही भर ग्रहण किया है) उनका तो इतना सत्कार नहीं करना चाहिये। वे तो केवल काष्ठकी हस्तीके समान नाममात्रके ही ब्राह्मण हैं, जैसे काष्ठके हाथीसे हाथीपनेका कोई भी काम नहीं चलनेका, उसी प्रकार जो अपने धर्म-कर्मसे हीन है, जिसने विद्या प्राप्त नहीं की, उस नाममात्रके ब्राह्मणका हम आदर क्यों करें ?'

निमाई पण्डितने थोड़ी देर सोचनेके अनन्तर कहा—'तुम्हारा कथन एक प्रकारसे ठीक ही है, जो अपने धर्म-कर्मसे रहित है, वह तो दूध न देनेवाली बन्ध्या गौके समान है, उससे संसारी स्वार्थ कोई सध नहीं सकता। फिर भी जो सभी कामोंको सकाम भावसे नहीं करते हैं, जो श्रद्धाके साथ शास्त्रोंकी आज्ञानुसार अपनेको ही सुधारनेका सदा प्रयत्न करते रहते हैं, वे दूसरोंके दोषोंके प्रति उदासीन रहते हैं। हम दोषदृष्टिसे देखना आरम्भ करेंगे तब तो संसारमें एक भी मनुष्य दोषसे रहित दृष्टिगोचर नहीं होगा। संसार ही दोष-गुणके सम्मिश्रणसे बना है! इसलिये अपनी बुद्धिको संकुचित बनाकर गौकी सेवा करनेमें यह बुद्धि रखना ठीक नहीं, कि जो गौ अधिक दूध देगी हम उसीकी सेवा करेंगे। जो दूध नहीं देती, उससे हमें क्या मतलब ? ऐसी बुद्धि रखनेसे तो विचारोंमें संकुचितता आ जायगी। तुम तो शास्त्रकी आज्ञा समझकर गौमात्रमें श्रद्धा रक्खो। यह तो स्वाभाविक ही होगा कि जो गौ सुशील, सुन्दर तथा दुधारी होगी, उसकी सभी लोग इच्छा-अनिच्छापूर्वक सेवा-शुश्रूषा करेंगे और अश्रद्धालु पुरुषोंको भी सुमिष्ट दूधके लालचसे प्रभावान्वित होकर ऐसी गौकी सेवा करते हुए देखा गया है, किन्तु यह सर्वश्रेष्ठ पक्ष नहीं है। सर्वश्रेष्ठ तो यही है, कि मनमें किसी भी प्रकारका पक्षपात न करके केवल शास्त्राज्ञा समझकर और अपना कर्तव्य मानकर गोब्राह्मणमात्रकी सेवा करें। किन्तु ऐसे श्रद्धालु संसारमें बहुत ही थोड़े होते हैं। भगवान्‌ने स्वयं क्रुद्ध हुए भृगुको

अपनी छातीमें जोरसे लात मारते देखकर यही नम्रतासे दुःख प्रकट करते हुए कहा था—

अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने।

अर्थात् हे ब्राह्मणदेव ! आपके कोमल चरणारविन्दोंको मेरी इस पत्थर-सी छातीमें लगनेसे बड़ा कष्ट हुआ होगा।

ये बहुत ऊँचे साधकके भाव हैं, जो संसारी मान-प्रतिष्ठा तथा धन और विषयभोगोंकी इच्छाको सर्वथा त्यागकर एकमात्र भगवत् कृपाको ही अपने जीवनका परम लक्ष्य समझकर सभी कार्योंको करते हैं, उन्हींके लिये भगवान् अपने श्रीमुखसे फिर स्वयं उपदेश करते हैं—

ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-
स्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः।
वाण्यानुरागकलयात्मजवद् गृणन्तः
सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः॥

'जो पुरुष वासुदेव-बुद्धि रखकर कठोर बोलनेवाले ब्राह्मणोंकी भी प्रसन्न अन्तःकरणसे कमलके समान प्रफुल्लित मुखद्वारा अपनी अमृतमयी वाणीसे प्रसन्नचित्त होकर स्तुति करते हैं और पिताके क्रुद्ध होनेपर जिस प्रकार पुत्रादि क्रुद्ध न होकर उनका सत्कार ही करते हैं, उसी प्रकार उन्हें प्रेमपूर्वक बुलाते हैं, तो समझ लो ऐसे पुरुषोंने मुझे अपने वशमें ही कर लिया है।' क्रुद्ध होनेवाले किसी भी प्राणीपर जो क्रोध नहीं करता वही सच्चा साधक और परमार्थी है। प्रभुके पाद-पद्मोंकी प्राप्ति ही जिसका एकमात्र लक्ष्य है, उसके हृदयमें दूसरोंके प्रति असम्मानके भाव आ ही नहीं सकते। इसलिये तुम लोग शीघ्र जाकर इस ग्रामके किसी ब्राह्मणका पादोदक लाकर मेरे मुखमें डाल दो।'

इनकी आज्ञा पाकर दो-तीन विद्यार्थी गये और एक परम शुद्ध

वैष्णव ब्राह्मणके चरणोंको धोकर उसका चरणोदक ले आये। यह तो इनकी लोगोंको ब्राह्मणोंका महत्त्व प्रदर्शित करनेकी लीला थी। चरणोदकका पान करते ही ये झटसे अच्छे हो गये और अपने सभी साथियोंके साथ आगे बढ़ने लगे। पुनपुना-तीर्थमें पहुँचकर इन सब लोगोंने पुन्पुन् नामकी नदीमें स्नान किया और सभीने अपने-अपने पितरोंका श्राद्धादि कराया। इसके अनन्तर सभी श्रीगयाधाममें पहुँच गये।

ब्रह्मकुण्डमें स्नान और देव-पितृ-श्राद्धादि करके निमाई पण्डित अपने साथियोंके सहित चक्रवेड़ाके भीतर विष्णु-पाद-पद्मोंके दर्शनोंके निमित्त गये। ब्राह्मणोंने पाद-पद्मोंपर माला-पुष्प चढ़ानेको कहा। ये अपने विद्यार्थियोंके द्वारा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, माला आदि सभी पूजनकी बहुत-सी सामग्री साथ लिवाते गये थे। गयाधामके तीर्थ-पण्डा जोरोंसे पाद-पद्मोंका प्रभाव वर्णन कर रहे थे। वे उच्च स्वरसे कह रहे थे—'इन्हीं पाद-पद्मोंके धोवनसे जगत्-पावनी मुनि-मन-हारिणी भगवती भागीरथीकी उत्पत्ति हुई है। इन्हीं चरणोंका लक्ष्मीजी बड़ी ही श्रद्धाके साथ निरन्तर सेवन करती रहती हैं। इन्हीं चरणोंका ध्यान योगीजन अपने हृदय-कमलमें निरन्तर करते रहते हैं। इन्हीं चरणोंको प्रभुने गयासुरके मस्तकपर रखकर उसे सद्गति प्रदान की थी।'

असंख्य लोगोंकी भीड़ थी, हजारों आदमी पाद-पद्मोंके दर्शन कर रहे थे और बीच-बीचमें जय-घोष करते जाते थे। पण्डालोग उनसे भेंट चढ़ानेका आग्रह कर रहे थे। बार-बार पाद-पद्मोंका पुण्य-माहात्म्य सुनाया जा रहा था। पाद-पद्मोंका माहात्म्य सुनते ही निमाई पण्डित आत्मविस्मृत हो गये। उन्हें शरीरका होश नहीं रहा। शरीर थर-थर काँपने लगा, युगल अरुण ओष्ठ कोमल पल्लवकी भाँति हिलने लगे। आँखोंसे निरन्तर अश्रुधारा बहने लगी। उनके चेहरेसे भारी तेज निकल रहा था। वे एकटक पाद-पद्मोंकी ही ओर निहार रहे थे। वे कहाँ खड़े हैं, उनके पास कौन है,

किसने उन्हें स्पर्श किया, इन सभी बातोंका उन्हें कुछ भी पता नहीं है। वे संशाशून्य-से होकर काँप रहे हैं, उनका शरीर उनके वशमें नहीं है, वे मूर्छित होकर गिरनेवाले ही थे, कि सहसा एक तेजस्वी संन्यासीका सहारा लगनेसे वे गिरनेसे बच गये। उनके साथियोंने उन्हें पकड़ा और भीड़से हटाकर जल्दीसे बाहर ले गये। बाहर पहुँचकर उन्हें कुछ होश आया और वे निद्रासे उठे मनुष्यकी भाँति अपने चारों ओर आँखें उठा-उठाकर देखने लगे। सहसा उनकी दृष्टि एक लंबे-से तेजस्वी संन्यासीपर पड़ी। वे उन्हें देखकर एक साथ चौंक उठे, उनके आनन्दका पारावार नहीं रहा। इन्होंने दौड़कर संन्यासीजीके चरण पकड़ लिये। अपनी आँखोंसे अश्रुविमोचन करते हुए संन्यासीने इन्हें उठाकर गलेसे लगा लिया। इनके स्पर्शमात्रसे संन्यासी महाशय बेहोश हो गये। दोनों ही आत्मविस्मृत थे। दोनोंको ही शरीरका होश नहीं था, दोनों ही प्रेममें विभोर होकर अश्रुविमोचन कर रहे थे। यात्री इन दोनोंके ऐसे अलौकिक प्रेमको देखकर आनन्द-सागरमें गोते खाने लगे। बहुत-से लोग रास्ता चलते-चलते खड़े हो गये। चारों ओरसे लोगोंकी भीड़ लग गयी। कुछ कालमें संन्यासीको कुछ-कुछ चेतना हुई। उन्होंने बड़े ही प्रेमसे इनका हाथ पकड़कर एक ओर बिठाया और अत्यन्त प्रेमपूर्ण वाणीसे वे कहने लगे—'निमाई पण्डित ! आज मेरा भाग्योदय हुआ जो सहसा मुझे तुम्हारे दर्शन हो गये। नवद्वीपमें ही मेरा हृदय तुम्हारी ओर स्वाभाविक ही खिंचा-सा जाता था। मुझसे लोग कहते—'निमाई पण्डित कोरे पोथीके ही पण्डित हैं, बड़े चञ्चल हैं, देवता तथा वैष्णवोंकी खिल्लियाँ उड़ाते हैं। आप उन्हें अपना 'श्रीकृष्णलीलामृत' सुनाकर क्या लाभ उठावेंगे ?' कोई-कोई तो यहाँतक कहता—'अजी, ये तो पूरे नास्तिक हैं। वैष्णवोंको छेड़नेमें ही इन्हें मज़ा आता है।' मैं उन सबकी बातें सुनता और चुप हो जाता। मेरा अन्तःकरण इन बातोंको कभी स्वीकार ही नहीं करता था। मैं बार-बार यही सोचता था—

निमाई पण्डित-जैसे सरस, सरल, सहृदय और भावुक पुरुष भक्तिहीन कभी हो नहीं सकते। इनके मुखका तेज ही इनकी भावी शक्तिका परिचय दे रहा है। आज आपके दर्शनके समयके भावको देखकर मेरे आनन्दकी सीमा नहीं रही। मैं कृतकृत्य हो गया। भगवत्-दर्शनसे जो आनन्द मिलता है, उसी आनन्दका मैं अनुभव कर रहा हूँ। मैं अपने आनन्दको प्रकट करनेमें असमर्थ हूँ।' इतना कहते-कहते संन्यासी महाशयका गला भर आया। आगे वे कुछ और भी कहना चाहते थे, किन्तु कह नहीं सके। उनके नेत्रोंमेंसे अश्रुधारा अब भी पूर्ववत् बह रही थी।

संन्यासी महाराजकी बातें सुनते-सुनते इन्हें कुछ चेतना हो गयी थी। इसलिये रुँधे हुए कण्ठसे कुछ अस्पष्ट स्वरमें इन्होंने कहा—'प्रभो! आज मैं कृतार्थ हुआ। मेरी गया-यात्रा सफल हुई। मेरी असंख्यों पीढ़ियोंका उद्धार हो गया, जो यहाँ आनेपर आपके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। तीर्थमें श्राद्ध करनेपर तो उन्हीं पितरोंकी मुक्ति होती है, जिनके निमित्त श्राद्ध-तर्पणादि कर्म किये जाते हैं, किन्तु आप-जैसे परम भागवत वैष्णवोंके दर्शनसे तो करोड़ों पीढ़ियोंके पितर स्वतः ही मुक्त हो जाते हैं। सब लोगोंको आपके दर्शन दुर्लभ हैं। जिनका भाग्योदय होता है, उन्हींको आपके दर्शन होते हैं।' यह कहते-कहते इन्होंने फिरसे संन्यासी महाशयके चरण पकड़ लिये। संन्यासीजीने हठपूर्वक अपने चरण छुड़ाये और इन्हें प्रेमवाक्योंसे आश्वासन दिया। पाठक समझ ही गये होंगे ये संन्यासी महाशय कौन हैं। ये वे ही भक्ति-बीजके अंकुरित करनेवाले श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजीके सर्वप्रधान प्रिय शिष्य श्रीईश्वरपुरी हैं, जिन्हें अन्तिम समयमें गुरुदेव अपना सम्पूर्ण तेज प्रदान करके इस संसारसे तिरोहित हो गये थे। नवद्वीपके प्रथम मिलनमें ही ये निमाई पण्डितके अलौकिक तेज और अद्वितीय रूप-लावण्यपर मुग्ध होकर इन्हें एकटक देखते-के-देखते ही रह गये थे। इन्हें इस प्रकार देखते देखकर निमाई

पण्डितने हँसकर कहा था—'आज हमारे घर ही भिक्षा कीजियेगा, तभी हमे दिनभर भलीभाँति देखते रहनेका सुअवसर प्राप्त हो सकेगा ।' उनकी प्रार्थनापर ये उनके घर भिक्षा करने गये थे और कुछ कालतक अपने स्वसम्पादित ग्रन्थ 'श्रीकृष्ण-लीलामृत' को भी उन्हें सुनाते रहे । तभीसे पुरी महाशयके हृदय-पटलपर इनकी प्रेममयी मनोहर मूर्ति खिंच गयी थी । आज सहसा भेंट हो जानेपर दोनों ही आनन्दमें डूब गये और आनन्दके उद्वेगमें ही उपर्युक्त बातें हुई थीं ।

पुरी महाशयकी आज्ञा लेकर निमाई पण्डित अपने स्थानके लिये विदा हुए । स्थानपर पहुँचकर इन्होंने साथियोंको संग लेकर गयाके सभी मुख्य-मुख्य तीर्थोंके दर्शन किये और वहाँ जाकर यथाविधि शास्त्रीत्यनुसार श्राद्ध और पिण्डादि पितृ-कर्म किये ।

अन्तःसलिला भगवती फल्गुनदीमें जाकर इन्होंने पितरोंके लिये बालुकाके पिण्ड दिये । फल्गुका प्रवाह गुप्त है । उसका जल नीचे-ही-नीचे बहता है । ऊपरसे बालू ढकी रहती है । बालूको हटाकर जल निकाला जाता है और यात्री उसमें स्नान-सन्ध्यादि कृत्य करते हैं ।

प्रेत-गया, राम-गया, युधिष्ठिर-गया, भीम-गया, शिव-गया आदि सोलहों गयामें निमाई पण्डितने अपने साथियोंके साथ जा-जाकर पितरोंके पिण्ड और श्राद्धादि कर्म किये, सब स्थानोंमें दर्शन तथा श्राद्ध करके ये अपने ठहरनेके स्थानपर लौट आये ।

प्रेम-स्रोत उमड़ पड़ा

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥*

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३९)

संसारमें उन्हीं मनुष्योंका जीवन धारण करना सार्थक कहा जा सकता है, जिनके हृदय-पटलपर हर समय मुरलीमनोहर मुकुन्दकी मञ्जुल मूर्ति नृत्य करती रहती हो। जिनके कर्ण-रन्ध्रोंमें प्रतिक्षण मनोहर मुरलीकी मधुर

* रथाङ्गपाणि भगवान्‌के 'चक्रपाणि' 'गोपिजनवल्लभ' 'राधारमण' आदि सुन्दर और सुमनोहर नामोंका तथा उनके अर्थोंका गान और उनकी अलौकिक दिव्य-दिव्य लीलाओंका संकीर्तन करता हुआ श्रेष्ठ भक्त निर्लज्ज और निरीह होकर निःसंग-भावसे पृथ्वीपर विचरण करे।

तान सुनायी पड़ती रहती हो। जिनके चक्षु भगवान्‌की मूर्तिके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुका दर्शन ही न करना चाहते हों, जिनका मनमधुप सदा भक्त-भय-हारी भगवान्‌के चरण-कमलोंका मधुरातिमधुर मकरन्द पान करता रहता हो, ऐसे शुभ-दर्शन भक्त स्वयं तो कृतकृत्य होते ही हैं, वे सम्पूर्ण संसारको भी अपनी पद-रजसे पावन बना देते हैं। उनकी वाणीमें उन्माद होता है, दृष्टिमें जीवोंको अपनी ओर आकर्षित करनेकी शक्ति होती है, उनके सभी कार्य अलौकिक होते हैं, उनके सम्पूर्ण कार्य लोकग्राह्य और संसारके कल्याण करनेवाले ही होते हैं।

निमाई पण्डितकी हृदय कन्दरामेंसे जो त्रैलोक्यपावन प्रेम-स्रोत उमड़नेवाला था, जिसका सूत्रपात चिरकालसे हो रहा था, अद्वैताचार्य आदि भक्तगण जिसकी लालसा लगाये वर्षोंसे प्रतीक्षा कर रहे थे, उस स्रोतका पृथ्वीपर परिस्फुट होनेका सुहावना समय अब सन्निकट आ पहुँचा। जगत्-विख्यात गयाधामको ही उसके प्रकट करनेका अखण्ड यश प्राप्त हो सका। यही पावन पृथ्वी इसका कारण बन सकी। अहा 'वसुन्धरा पुण्यवती च तेन'। सचमुच वह वसुन्धरा बड़भागिनी है, जिसका संसर्ग किसी महापुरुषकी लोकविख्यात घटनाके साथ हो सके। वही संसारमें पावन तीर्थके नामसे विख्यात हो जाता है।

निमाई पण्डित अपने निवासस्थानपर अन्य साथियोंके साथ भोजन बना रहे थे। दाल-साग बनकर तैयार हो चुके थे। चूल्हेमेंसे थोड़ी अग्नि निकालकर दालको उसपर रख दिया था। साग दूसरी ओर चौकेमें ही रखा था। चूल्हेपर भात बन रहा था। निमाई उसे बार-बार देखते। चावल तैयार तो हो चुके थे, किन्तु उनमें थोड़ा-सा जल और शेष था, उसे जलानेके लिये और भातको शुष्क बनानेके लिये हमारे पण्डितने उसे ढक दिया था। थोड़ी देर बाद वे कटोरीको भातपरसे उतार ही रहे थे, कि इतनेमें ही उन्हें दूरसे पुरी महाशय अपनी ओर आते हुए दिखायी

दिये। कटोरीको ज्यों-की-त्यों ही पृथ्वीपर पटककर ये उनकी चरण-वन्दना करनेके लिये दौड़े। पुरीने प्रेमपूर्वक इनका आलिंगन किया और वे हँसते हुए बोले—'अपने स्थानसे किसी शुभ मुहूर्तमें ही चले थे, जो ठीक तैयारी-के समयपर आ पहुँचे।'

नम्रताके साथ निमाई पण्डितने उत्तर दिया—'जिस समय भाग्योदय होता है और पुण्य-कर्मोंके संस्कार जाग्रत होते हैं, उस समय आप-जैसे महानुभावोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होता है। भोजन बिलकुल तैयार है, हाथ-पैर धोइये और भिक्षा करनेकी कृपा कीजिये।'

हँसते हुए पुरी महाशय बोले—'यह खूब कही, अपने लिये बनाये हुए अन्नको हमें ही खिला दोगे, तब तुम क्या खाओगे?'

नम्रताके साथ नीची निगाह करके इन्होंने उत्तर दिया—'अन्न तो आपहीका है, मैं तो केवल रन्धन करनेवाला पाचकमात्र हूँ, आज्ञा होगी तो और बना दूँगा।'

पुरीने देखा ये भिक्षा बिना कराये मानेंगे नहीं। इसलिये बोले—'अच्छा, फिरसे बनानेकी क्या आवश्यकता है, जो बना है उसीमेंसे आधा-आधा बाँटकर खा लेंगे। क्यों मंजूर है न? किन्तु हम ठहरे संन्यासी और तुम ठहरे गृहस्थी। हमारी भिक्षा होगी और तुम्हारा होगा भोजन। इस प्रकार कैसे काम चलेगा? तुम भी थोड़ी देरके लिये भिक्षा ही कर लेना।'

कुछ हँसते हुए निमाई पण्डितने कहा—'अच्छा, जैसी आज्ञा होगी, वही होगा। आप पहले हाथ-पैर तो धोवें।' यह कह इन्होंने अपने हाथोंसे पुरीजीके पैर धोये और उन्हें एक सुन्दर आसनपर बिठाया। पुरी महाशय बैठकर भोजन करने लगे। जब निमाई-जैसे प्रेमावतार परोसनेवाले हों, तब भला फिर किसकी तृप्ति हो सकती है, धीरे-धीरे इन्होंने आग्रह कर-करके सभी सामान पुरी महाशयको परोस दिया और वे भी प्रेमके वशीभूत

होकर सारा खा गये। अग्नि तो जल ही रही थी, क्षणभरमें ही दूसरी बार भी भोजन तैयार हो गया मानो अन्नपूर्णाने आकर स्वयं ही भोजन तैयार कर दिया हो। भोजन तैयार होनेपर इन्होंने भी भोजन किया और फिर परस्पर बातें होने लगीं।

हाथ जोड़े हुए निमाई पण्डितने कहा—'भगवन्! अब तो हमें बहुत दिन इस ग्राह्यवृत्तिके जीवनको बिताते हुए हो गये, अब हमें अपने चरणो-की शरण प्रदान कीजिये। कृपा करके थोड़ी-बहुत श्रीकृष्णभक्ति हमें भी दीजिये।'

इनकी बातका उत्तर देते हुए पुरी महाशयने कहा—'आप तो स्वयं ही श्रीकृष्ण-स्वरूप हैं, आपको भला भक्ति कौन प्रदान कर सकता है! आप स्वयं ही सम्पूर्ण संसारको प्रेम प्रदान कर सकते हैं।'

दीनताके साथ इन्होंने कहा—'प्रभो! मेरी वञ्चना न कीजिये। मेरी प्रार्थना स्वीकृत कीजिये और मुझे श्रीकृष्ण-मन्त्र प्रदान कर दीजिये।'

पुरीने सरलताके साथ कहा—'आप श्रीकृष्ण-मन्त्र प्रदान करनेको ही कहते हैं, हम आपके कहनेपर अपने प्राण प्रदान कर सकते हैं, किन्तु हममें इतनी योग्यता हो तब तो? हम स्वयं अधम हैं। प्रेमका रहस्य हम स्वयं नहीं जानते फिर आप-जैसे कुलीन और विद्वान् ब्राह्मणको हम मन्त्र-प्रदान कैसे कर सकेंगे?'

बड़ी सरलताके साथ आँखोंमें आसू भरे हुए इन्होंने उत्तर दिया—'आप सर्वसामर्थ्यवान् हैं, आप स्वयं ईश्वर हैं। आपका श्रीविग्रह ही प्रेमकी सजीव मूर्ति है। आप चाहें तो संसारभरको प्रेम-पीयूषमें प्लावित कर सकते हैं।'

कुछ विवशता दिखाते हुए पुरीने कहा—'संसारको प्रेम-पीयूषके पुण्य-पयोधिमें परिप्लावित करनेकी [illegible]त्र शक्ति [illegible] ही है, किन्तु आप

अपने गुरुपदके गुरुतर गौरवका सौभाग्य मुझे ही प्रदान करना चाहते हैं, तो मैं विवश हूँ। आपकी आज्ञाको टाल ही कौन सकता है? जैसी आपकी आज्ञा होगी, उसी प्रकार मैं करनेके लिये तैयार हूँ।' इतना कहकर पुरी महाशय मन्त्र-दीक्षा देनेके लिये तैयार हो गये। उसी समय पत्रा देखकर दीक्षाकी शुभ तिथि निश्चित की गयी।

नियत तिथि आ गयी। निमाई पण्डित नवीन उल्लास और आनन्दके साथ मन्त्र-दीक्षा लेनेके लिये तैयार हो गये। इनके सभी साथियोंने उस दिन दीक्षोत्सवके उपलक्ष्यमें खूब तैयारियाँ की थीं। नियत समयपर पुरी महाशय आ गये। उनकी पद-धूलि इन्होंने मस्तकपर चढ़ायी और स्वस्त्ययनके पुण्य-श्लोक पढ़कर और भगवान्‌के मधुर-मञ्जुल नामोंका संकीर्तन करनेके अनन्तर पुरी महाशयने इनके कानमें 'गोपीजनवल्लभाय नमः' इस दशाक्षर-मन्त्रका उपदेश कर दिया। मन्त्रके श्रवणमात्रसे ही ये मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और इन्हें अपने शरीरका बिलकुल ही होश नहीं रहा।

साथियोंने भाँति-भाँतिके उपचार करके इन्हें सावधान किया। बहुत देरके अनन्तर इन्हें कुछ होश हुआ। अब तो इनकी विचित्र ही दशा हो गयी। कभी तो खूब जोरोंके साथ हँसते, कभी रोते और कभी 'हा कृष्ण! हा पिता!' ऐसा कहकर जोरोंसे रुदन करते। कभी यह कहते हुए कि 'मैं तो श्रीकृष्णके पास व्रजमें जाऊँगा' व्रजकी ओर भागते। इनके साथी इन्हें पकड़-पकड़ लाते। किन्तु ये पागलोंकी भाँति उनसे अपने शरीरको छुड़ा-छुड़ाकर भागते। कभी फिर उसी भाँति जोरोंसे प्रलाप करने लगते। रोते-रोते कहते—'प्यारे! मुझे छोड़कर तुम कहाँ चले गये? मेरे कृष्ण! मुझे अपने साथ ही ले चलो।' इतना कहकर फिर जोरोंसे रोने लगते।

कभी रोते-रोते अपने विद्यार्थियों तथा साथियोंसे कहते—'भैया! तुमलोग अब अपने-अपने घर जाओ। अब हम लौटकर घर

नहीं जायँगे, हम तो अब श्रीकृष्णके पास वृन्दावनमें ही जाकर रहेंगे। हमारी माताको हमारा हाथ जोड़कर प्रणाम कहना और कह देना तेरा निमाई तो पागल हो गया है।' इनके सभी साथी इनकी ऐसी अलौकिक दशा देखकर चकित रह गये और इनका भाँति भाँतिसे प्रबोध करने लगे, किन्तु ये किसीकी मानते ही नहीं थे। इस प्रकार रुदन तथा प्रलापमें रात्रि हो गयी। सभी साथी तथा शिष्यगण सुखकी नींदमें सो गये, किन्तु इन्हें नींद कहाँ! सुखी संसार सुखरूपी मोह-निशामें शयन कर सकता है, किन्तु जिनके हृदयमें विरह-वेदनाकी तीव्र ज्वाला उठ रही है, उनके नयनोंमें नींद कहाँ? सबके सो जानेपर ये जल्दीसे उठ खड़े हुए और रात्रिमें ही रुदन करते हुए व्रजकी ओर दौड़े। इनके प्राण श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये छटपटा रहे थे। इन्होंने साथी तथा शिष्योंकी कुछ भी परवा न की और घोर अन्धकारमें अकेले ही अलक्षित स्थानकी ओर चल पड़े। ये थोड़ी दूर ही चले होंगे कि इन्हें मानो अपने हृदयमें एक दिव्य वाणी सुन पड़ी। इन्हें भास हुआ मानो कोई अलक्षितभावसे कह रहा है—'तुम्हारा व्रजमें जानेका अभी समय नहीं आया है, अभी कुछ काल और धैर्य धारण करो। अभी अपने सत्संगसे नवद्वीपके भक्तोंको आनन्दित करके प्रेमदान करो। योग्य समय आनेपर ही तुम व्रजमें जाना।' आकाशवाणीका आदेश पाकर ये लौटकर अपने स्थानपर आ गये और आकर अपने आसनपर पड़ गये।

नदियामें प्रत्यागमन

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥*

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

प्रेममें पागल हुए उन मतवालोंके दर्शन जिन लोगोंको स्वप्नमें भी कभी हो जाते हैं, वे संसारमें बड़भागी हैं, फिर ऐसे भक्तोंके निरन्तर सत्सङ्गका सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हो सका है, उनके भाग्यकी तो भला सराहना कर ही कौन सकता है ? इसीलिये तो महाभागवत विदुरजीने भगवत्-दासोंके दासोंका दास बननेमें ही अपनेको कृतकृत्य माना है। सचमुच भगवत्-सङ्गियोंका सङ्ग बड़ा ही मधुमय, आनन्दमय और रसमय

---

* नाम-संकीर्तन करनेके कारण जिसका प्रभुके पाद-पद्मोंमें दृढ़ अनुराग उत्पन्न हो गया है, जिसका चित्त प्रेमसे द्रवीभूत हो गया है ऐसा भक्त पिशाचसे पकड़े हुएके समान अथवा पागलकी भाँति कभी तो जोरसे खिलखिलाकर हँस पड़ता है, कभी दहाड़ मारकर रोता है, कभी रोते-रोते हू-हू करके चिल्लाने लगता है, कभी गाने लगता है और कभी संसारकी कुछ भी परवा न करते हुए आनन्दके उद्वेगमें नृत्य करने लगता है। (ऐसे ही भक्तोंके पाद-पद्मोंकी रजसे यह पृथ्वी पावन बनती है)

नहीं जायँगे, हम तो अब श्रीकृष्णके पास वृन्दावनमें ही जाकर रहेंगे। हमारी माताको हमारा हाथ जोड़कर प्रणाम कहना और कह देना तेरा निमाई तो पागल हो गया है।' इनके सभी साथी इनकी ऐसी अलौकिक दशा देखकर चकित रह गये और इनका भाँति-भाँतिसे प्रबोध करने लगे, किन्तु ये किसीकी मानते ही नहीं थे। इस प्रकार रुदन तथा प्रलापमें रात्रि हो गयी। सभी साथी तथा शिष्यगण सुखकी नींदमें सो गये, किन्तु इन्हें नींद कहाँ! सुखी संसार सुखरूपी मोह-निशामें शयन कर सकता है, किन्तु जिनके हृदयमें विरह-वेदनाकी तीव्र ज्वाला उठ रही है, उनके नयनोंमें नींद कहाँ? सबके सो जानेपर ये जल्दीसे उठ खड़े हुए और रात्रिमें ही रुदन करते हुए व्रजकी ओर दौड़े। इनके प्राण श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये छटपटा रहे थे। इन्होंने साथी तथा शिष्योंकी कुछ भी परवा न की और घोर अन्धकारमें अकेले ही अलक्षित स्थानकी ओर चल पड़े। ये थोड़ी दूर ही चले होंगे कि इन्हें मानो अपने हृदयमें एक दिव्य वाणी सुन पड़ी। इन्हें भास हुआ मानो कोई अलक्षितभावसे कह रहा है—'तुम्हारा व्रजमें जानेका अभी समय नहीं आया है, अभी कुछ काल और धैर्य धारण करो। अभी अपने सत्संगसे नवद्वीपके भक्तोंको आनन्दित करके प्रेमदान करो। योग्य समय आनेपर ही तुम व्रजमें जाना।' आकाशवाणीका आदेश पाकर ये लौटकर अपने स्थानपर आ गये और आकर अपने आसनपर पड़ गये।

नदियामें प्रत्यागमन

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्यां
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥*
(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

प्रेममें पागल हुए उन मतवालोंके दर्शन जिन लोगोंको स्वप्नमें भी कभी हो जाते हैं, वे संसारमें बड़भागी हैं, फिर ऐसे भक्तोंके निरन्तर सत्सङ्गका सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हो सका है, उनके भाग्यकी तो भला सराहना कर ही कौन सकता है? इसीलिये तो महाभागवत विदुरजीने भगवत्-दासोंके दासोंका दास बननेमें ही अपनेको कृतकृत्य माना है। सचमुच भगवत्-सङ्गियोंका सङ्ग बड़ा ही मधुमय, आनन्दमय और रसमय

---

* नाम-संकीर्तन करनेके कारण जिसका प्रभुके पाद-पद्मोंमें दृढ अनुराग उत्पन्न हो गया है, जिसका चित्त प्रेमसे द्रवीभूत हो गया है ऐसा भक्त पिशाचसे पकड़े हुएके समान अथवा पागलकी भाँति कभी तो जोरसे खिलखिलाकर हँस पड़ता है, कभी दहाड़ मारकर रोता है, कभी रोते-रोते हू-हू करके चिल्लाने लगता है, कभी गाने लगता है और कभी संसारकी कुछ भी परवा न करते हुए आनन्दके उद्वेगमें नृत्य करने लगता है। (ऐसे ही भक्तोंके पाद-पद्मोंकी रजसे यह पृथ्वी पावन बनती है)

होता है। उनका क्षणभरका भी संसर्ग हमें संसारसे बहुत दूर ले जाता है। उनके दर्शनमात्रसे ही आनन्द उमड़ने लगता है।

निमाई पण्डितको मन्त्र-दीक्षा देकर श्रीईश्वरपुरी किधर और कहाँ चले गये, इसका अन्ततक किसीको पता नहीं चला। उन्होंने सोचा होगा, जगत्-पूज्य प्रेमावतार लोक-शिक्षाके निमित्त गुरु मानकर हमें प्रणाम करेंगे, यह हमारे लिये असहनीय होगा, इसलिये अब इस संसारमें प्रकट-रूपसे नहीं रहना चाहिये। इसीलिये वे उसी समय अन्तर्धान हो गये। फिर जाकर कहाँ रहे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं।

इधर प्रातःकाल निमाई पण्डित उठे। लोगोंने देखा उनके शरीरका सारा कपड़ा आँसुओंसे भीगा हुआ है, वे क्षणभरके लिये भी रात्रिमें नहीं सोये थे। रातभर 'हा कृष्ण! मेरे प्यारे! ओः बाप! मुझे छोड़कर किधर चले गये?' इसी प्रकार विरहयुक्त वाक्योंके द्वारा रुदन करते रहे। इनकी ऐसी विचित्र अवस्था देखकर अब साथियोंने गयाजीमें अधिक ठहरना उचित नहीं समझा। इनके शिष्य इन्हें बड़ी सावधानीके साथ इनके शरीरको सम्हालते हुए नवद्वीपकी ओर ले चले। ये किसी अचैतन्य पदार्थकी भाँति शिष्योंके सहारेसे चलने लगे। शरीरका कुछ भी होश नहीं है। कभी-कभी होशमें आ जाते हैं, फिर जोरोंसे चिल्ला उठते हैं, 'हा कृष्ण! किधर चले गये? प्राणनाथ! रक्षा करो! पतितपावन! इस पापीका भी उद्धार करो!' इस प्रकार ये श्रीकृष्णप्रेममें बेसुध हुए साथियोंके सहित कुमारहट्ट नामके ग्राममें आये। जिनसे इन्होंने श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ली थी, जिन्होंने इन्हें पण्डितसे पागल बना दिया था, उन्हीं श्रीईश्वरपुरीजीका जन्म स्थान इसी कुमारहट्ट नामक ग्राममें था। प्रभुने उस नगरीको दूरसे ही साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर साधारण लोगों-को गुरु-महिमाका महत्त्व बतानेके लिये इन्होंने उस ग्रामकी धूलि अपने

वस्त्रमें बाँध ली और साथियोंसे कहा—'इस धूलिमें कभी श्रीगुरुदेवके चरण पड़े होंगे। बाल्यकालमें हमारे गुरुदेवका श्रीविग्रह इसमें कभी लोट-पोट हुआ होगा। इसलिये यह रज हमारे लिये अत्यन्त ही पवित्र है। इससे बढ़कर त्रिलोकीमें कोई भी वस्तु नहीं हो सकती। कुमारहट्टका कुत्ता भी हमारे लिये वन्दनीय है। जिस स्थानमें हमारे गुरुदेवने जन्म धारण किया है, जहाँकी पावन भूमिमें उन्होंने क्रीडा की है, वह हमारे लिये लाखों तीर्थोंसे बढ़कर है।' इस प्रकार गुरुदेवका माहात्म्य प्रदर्शन करते हुए वह आगे बढ़े और थोड़े दिनोंमें नवद्वीप पहुँच गये।

इनके गयासे लौट आनेका समाचार सुनकर सभी इष्ट-मित्र, स्नेही तथा छात्र इनके दर्शनके लिये आने लगे। कोई आकर इन्हें प्रणाम करता, कोई चरण-स्पर्श करता, कोई गले लगकर मिलता। ये भी सबका यथोचित आदर करते। किसीको पुचकारते, किसीको आशीर्वाद देते, किसीके सिरपर हाथ रख देते और जो अवस्थामें बड़े थे और इनके माननीय थे, उन्हें ये स्वयं प्रणाम करते। वे इन्हें भाँति-भाँतिसे आशीर्वाद देते। शचीमाता तथा विष्णुप्रियाके आनन्दका तो कुछ ठिकाना ही नहीं था। वे मन-ही-मन प्रसन्न हो रही थीं। उस भारी भीड़में वे दोनों एक ओर चुपचाप बैठी थीं। सबसे मिल लेनेपर इन्होंने प्रेमपूर्वक सभीको विदा किया और स्वयं स्नानादिमें लग गये। इनका भाव विचित्र था, शरीरकी दशा एकदम परिवर्तित हो गयी थी। माताको इनकी ऐसी दशा देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु वे कुछ पूछ न सकीं।

तीसरे पहर जब ये स्वस्थ होकर बैठे तब श्रीमान् पण्डित सदाशिव कविराज, मुरारी गुप्त आदि इनके अन्तरङ्ग स्नेही इनके समीप आकर गया-यात्राका वृत्तान्त पूछने लगे। सबकी जिज्ञासा देखकर इन्होंने कहना प्रारम्भ किया—'पुरीकी यात्राका क्या वर्णन करूँ? मैं तो पागल हो गया।

जिस समय पादपद्मोंका माहात्म्य मेरे कानोंमें पड़ा, जब मैंने सुना कि प्रभुके पादपद्म सभी प्रकारके प्राणियोंको पावन और प्रेममय बनानेवाले हैं, पापी-से-पापी प्राणी भी इन पादपद्मोंका सहारा पाकर अपार संसारसागरसे सहजमें ही तर जाता है, जिन पादपद्मोंके प्रक्षालित पयसे त्रिलोकपावनी भगवती भागीरथी निकली हैं, उन पादपद्मोंके दर्शन करनेसे किसे परमशान्ति न मिल सकेगी ?' इतना सुनते ही मैं बेहोश हो गया।

प्रभु अन्तिम शब्दोंको ठीक-ठीक कह भी न पाये थे कि वे बीचमें ही बेहोश होकर गिर पड़े। लोगोंको इनकी ऐसी दशा देखकर महान् आश्चर्य हुआ। सभी भौंचक्के-से एक दूसरेकी ओर देखने लगे। तीन महीने पहिले उन्होंने जिस निमाईको देखा था, आज उसे इस प्रकार प्रेममें विह्वल देखकर उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। निमाई लम्बी-लम्बी साँसें ले रहे थे। उनकी आँखोंमेंसे निरन्तर अश्रु निकल रहे थे, शरीर पसीनेसे लथपथ हो रहा था। थोड़ी देरमें वे 'हा कृष्ण! हा प्राणनाथ! प्यारे! ओ मेरे प्यारे! मुझे छोड़कर कहाँ चले गये?' यह कहते-कहते बहुत जोरोंके साथ रुदन करने लगे। सभीने शान्त करनेकी चेष्टा की, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। इन्होंने रुँधे हुए कण्ठसे कहा—'आज हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है। कल हम स्वयं शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीके निवासस्थानपर आकर अपनी यात्राका समाचार सुनायँगे।' इतना सुनकर इनके सभी साथी अपने-अपने स्थानोंके लिये चले गये।

अब तो इनके इस अद्भुत नूतन भावकी नवद्वीपमें स्थान-स्थानपर चर्चा होने लगी। हँसते-हँसते श्रीमान् पण्डितने श्रीवास आदि भक्तोंसे कहा—'आज हम आपलोगोंको बड़ी ही प्रसन्नताकी बात सुनाना चाहते हैं, आपलोग सभी सुनकर परम आश्चर्य करेंगे। गयामें जाकर निमाई पण्डितकी तो काया-पलट ही हो गयी। वे श्रीकृष्ण प्रेममें विह्वल होकर कभी

रोते हैं, कभी गाते हैं, कभी हँसते हैं और कभी-कभी जोरोंसे नृत्य करने लगते हैं। उनके जीवनमें महान् परिवर्तन हो गया है। आजतक किसीको स्वप्नमें भी ऐसी आशा नहीं थी कि उनका जीवन इस प्रकार एक साथ ही इतना पलटा खा जायगा।'

परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्रीवास पण्डितने कहा—'सचमुच ऐसी बात है? तब तो फिर वैष्णवोंके भाग्य ही खुल गये। वैष्णवोंका एक प्रधान आश्रय हो गया। निमाई पण्डितके वैष्णव हो जानेपर भक्ति फिरसे सनाथ हो गयी। आप हँसी तो नहीं कर रहे हैं? क्या यथार्थमें ऐसी बात है?'

जोर देकर श्रीमान् पण्डितने कहा—'मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, हँसीका क्या काम? आप स्वयं जाकर देख आइये, वे तो बालकोंकी भाँति फूट-फूटकर रुदन कर रहे हैं। कल सदाशिव, मुरारी आदि सभी लोगोंको शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीके स्थानपर बुलाया है, वहाँ अपनी यात्राका समस्त वृत्तान्त सुनावेंगे।' इस बातको सुनकर श्रीवास आदि सभी भक्तोंको परम सन्तोष हुआ। किन्तु गदाधर पण्डितको अब भी कुछ सन्देह ही बना रहा। उन्होंने निश्चय किया कि ब्रह्मचारीके घरमें छिपकर सब बातें सुनूँगा, देखें उन्हें यथार्थमें श्रीकृष्ण-प्रेम उत्पन्न हुआ है या नहीं। यह सोचकर वे दूसरे दिन नियत समयके पूर्व ही शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीके घरमें जा छिपे।

नियत समयपर सदाशिव पण्डित, मुरारी गुप्त, नीलाम्बर चक्रवर्ती तथा श्रीमान् पण्डित आदि सभी मुख्य-मुख्य गण्य-मान्य भद्रपुरुष प्रभुकी यात्राका समाचार सुनने शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीके स्थानपर गङ्गातीर आ पहुँचे। थोड़ी देरमें प्रभु भी आ पहुँचे। आते ही इन्होंने वही राग अलापना आरम्भ कर दिया। कहने लगे—'भैया! मुझे श्रीकृष्णसे मिला दो,

सभी प्रेमावेशमें आकर रुदन करने लगे। सभी अपने आपेको भूल गये। इस प्रकार रुदन और विलाप करते हुए शाम हो गयी और सभी अपने-अपने घर लौट आये।

दूसरे दिन स्वस्थ होकर महाप्रभु अपने विद्या-गुरु श्रीगंगादास पण्डित-के घर गये और उन्हें प्रणाम करके बैठ गये। गंगादासजीने इनका आलिङ्गन किया और यात्राका सभी वृत्तान्त पूछा। वे कहने लगे—'तुमने तो तीन-चार महीने लगा दिये। तुम्हारे सभी विद्यार्थी अत्यन्त दुखी थे, उन्हें तुम्हारे पाठके अतिरिक्त किसी पण्डितका पाठ अच्छा ही नहीं लगता है। इसीलिये वे लोग तुम्हारी बहुत प्रतीक्षा कर रहे थे। अच्छा हुआ अब तुम आ गये। अब तो पढ़ाओगे न ?'

मेरा प्यारा कृष्ण कहाँ चला गया ? हाय रे ! मेरा दुर्भाग्य ! मेरा श्रीकृष्ण मुझसे बिछुड़ गया ! मुझे बिलखता ही छोड़ गया ।' इतना कहते-कहते ये मूर्छित होकर गिर पड़े । इनकी ऐसी दशा देखकर भीतर घरमें छिपे हुए गदाधर भी प्रेममें विह्वल होकर मूर्च्छा आनेके कारण पृथ्वीपर गिर पड़े और जोरोंसे रुदन करने लगे । कुछ कालके अनन्तर प्रभुकी मूर्च्छा भंग हुई । वे कुछ कालके लिये प्रकृतिस्थ हुए, किन्तु फिर भारी वेदना उठनेके कारण जोरोंसे चीत्कार मारकर रुदन करने लगे । इनके रुदनको देखकर वहाँ जितने भी मनुष्य बैठे थे, सभी फूट-फूटकर रोने लगे । सबके रुदनसे आकाश गूँजने लगा । क्रन्दनकी ध्वनिसे आकाशमण्डल भर गया । बहुत-से दर्शनार्थी आ-आकर खड़े हो गये । उनकी आँखोंमेंसे भी अश्रु बहने लगे । इस प्रकार शुक्लाम्बरका घर रुदनके कारण कोलाहलपूर्ण हो गया ।

कुछ कालके अनन्तर फिर प्रभु सुस्थिर हुए । उन्हें कुछ-कुछ बाह्यज्ञान होने लगा । स्थिर होनेपर प्रभुने शुक्लाम्बरजीसे पूछा—'ब्रह्मचारीजी ! घरके भीतर कौन है ?'

प्रेमके साथ ब्रह्मचारीजीने कहा—'आपका गदाधर है ।' 'गदाधर' इतना सुनते ही वे फिर फूट-फूटकर रोने लगे । रोते-रोते कहने लगे—'गदाधर ! भैया ! तुम ही धन्य हो । मनुष्यजन्मका यथार्थ फल तो तुमने ही प्राप्त किया है, हम तो वैसे ही रह गये । हमारी तो आयु वैसे ही बरबाद हुई ।' इतना कहकर फिर वही 'हा कृष्ण ! हा अशरणशरण ! हा पतितपावन ! कहाँ चले गये ।' फिर अधीर होकर लोगोंके पैरोंपर अपना सिर रख-रखकर कहने लगे—'भैया ! मुझ दुखियाके ऊपर दया करो ! मेरे दुःखको दूर करो । मुझे श्रीकृष्णसे मिला दो । मेरे प्राण उन्हींसे मिलनेके लिये तड़प रहे हैं ।'

प्रभुके इन दीनताभरे वाक्योंको सुनकर सभीका हृदय फटने लगा ।

सभी प्रेमावेशमें आकर रुदन करने लगे। सभी अपने आपको भूल गये। इस प्रकार रुदन और विलाप करते हुए शाम हो गयी और सभी अपने-अपने घर लौट आये।

दूसरे दिन स्वस्थ होकर महाप्रभु अपने विद्या-गुरु श्रीगंगादास पण्डितके घर गये और उन्हें प्रणाम करके बैठ गये। गंगादासजीने इनका आलिङ्गन किया और यात्राका सभी वृत्तान्त पूछा। वे कहने लगे—'तुमने तो तीन-चार महीने लगा दिये। तुम्हारे सभी विद्यार्थी अत्यन्त दुखी थे, उन्हें तुम्हारे पाठके अतिरिक्त किसी पण्डितका पाठ अच्छा ही नहीं लगता है। इसीलिये वे लोग तुम्हारी बहुत प्रतीक्षा कर रहे थे। अच्छा हुआ अब तुम आ गये। अब तो पढ़ाओगे न ?'

महाप्रभुने कहा—'हाँ, प्रयत्न करूँगा, श्रीकृष्ण कृपा करेंगे तो सब कुछ होगा। सब उन्हींके ऊपर निर्भर है।' इस प्रकार उन्हें आश्वासन देकर फिर आप मुकुन्द संजयके चण्डीमण्डपमें, जहाँ आपकी पाठशाला थी, वहाँ आये। संजय महाशय बड़े ही आनन्दके साथ प्रभुसे मिले। उनके पुत्र पुरुषोत्तम संजयने प्रभुके पादपद्मोंमें श्रद्धाभक्तिके साथ प्रणाम किया। प्रभुने उसे आलिङ्गन किया। इस प्रकार दोनों पिता-पुत्र प्रभुके दर्शनोंसे परम प्रसन्न हुए।

स्त्रियोंने जब प्रभुके आगमनके समाचार सुने तो वे बड़ी ही आनन्दित हुईं और परस्परमें भाँति-भाँतिकी बातें कहने लगीं। कोई कहती—'अब तो निमाई पण्डित एकदम बदल आये।' कोई कहती—'बड़े भाग्यसे भगवत्-भक्ति प्राप्त होती है। यह सौभाग्यकी बात है कि निमाई-जैसे पण्डित परम भागवत वैष्णव बन गये।' इस प्रकार सभी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुरूप भाँति-भाँतिकी बातें कहने लगीं। सबसे मिल-जुलकर निमाई घर लौट आये।

वही प्रेमोन्माद

> यदाग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
> त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
> मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते
> नारायणेत्यात्मगतिर्गतत्रपः ॥*
>
> (श्रीमद्भा० ११)

जिसके हृदयमें भगवत्प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे फिर अन्य संसारी

---

* प्रेमी भक्त प्रेमके भावावेशमें पिशाचसे पकड़े जानेवाले मनुष्यके समान कभी तो खिलखिलाकर हँस पड़ता है, कभी जोरोंसे चीत्कार करने लगता है, कभी भगवान्‌की मञ्जुल मूर्तिका ध्यान करने लगता है, कभी लोगोंके चरण पकड़-पकड़-कर उनकी वन्दना करता है, फिर बार-बार लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगता है और लोकलज्जाकी कुछ भी परवा न करता हुआ जोरोंसे हे हरे ! हे जगत्पते ! हे नारायण ! इस प्रकार उच्चारण करने लगता है ।

बातें भली ही किस प्रकार लग सकती हैं ? जिसकी जिह्वाने मिश्रीका रसास्वाद कर लिया फिर वह गुड़के मैलको आनन्द और उल्लासके साथ स्वेच्छासे कब पसंद कर सकती है ? स्थायी प्रेम प्राप्त होनेपर तो मनुष्य सचमुच पागल बन जाता है, फिर उसे इस बाह्य संसारका होश ही नहीं रहता। जिन्हें किन्हीं महापुरुषकी कृपासे या किसी पुण्य-स्थानके प्रभावसे क्षण-भरके लिये प्रेमावेश हो जाता है, वह तो वास्तवमें प्रेमकी झलक है। जैसे पर्वतके शिखरके ऊपरके बने हुए मन्दिरकी किञ्चिन्मात्र धुँधली सी चोटी देखकर सैकड़ों कोस दूरसे ही कोई पथिक आनन्दमें उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे कि हम तो अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँच गये। यही दशा उस क्षणिक प्रेमीकी है। वास्तवमें अभी वह सच्चे प्रेमसे बहुत दूर है। प्रेममार्गमें यथार्थ रीतिसे प्रवेश हो जानेपर तो उसकी वृत्ति संसारी विषयोंमें प्रवेश कर ही नहीं सकती। वह तो सदा प्रेम-मदमें उन्मत्त-सा ही बना रहेगा। वह न तो क्षणभरमें ऊपर ही चढ़ जायगा और न दूसरे ही क्षणमें नीचे गिर जायगा। उसकी स्थिति तो सदा एक-सी बनी रहेगी। कबीरदासजी कहते हैं—

छनहिं चढ़ै छन उतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय॥

वास्तवमें प्रेमीकी स्थिति तो सदा एक ही रस रहती है, उसे प्रतिक्षण अपने प्रियतमसे मिलनेकी छटपटाहट होती रहती है। वह सदा अतृप्त ही बना रहता है। प्यारेके सिवा उसका दूसरा कोई है ही नहीं। उसका प्रियतम उसे चाहता है या नहीं इसकी उसे परवा नहीं। इस बातका वह स्वप्नमें भी ध्यान नहीं करता। वह तो अपने प्यारेको ही सर्वस्व समझकर उसकी स्मृतिमें सदा अधीर-सा बना रहता है। रसिक रसखानने प्रेमके स्वरूपका क्या ही सुन्दर वर्णन किया है—

इक अंगी बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान।
गनैं प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥

मुझे इच्छा नहीं। मेरा प्यारा, मेरे जीवनका सहारा, मेरी आँखोंका तारा यह निमाई स्वच्छ और नीरोग बना रहे, यही मेरी प्रार्थना है।' माता बार-बार निमाईके मुखकी ओर देखतीं और उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर अत्यन्त ही दुखी होतीं।

महाप्रभु अब जो भी काम करना चाहते, उसे ही नहीं कर सकते। काम करते-करते उन्हे अपने प्रियतमकी याद आ जाती और उसीके विरहमें बेहोश होकर गिर पड़ते। ठीक-ठीक भोजन भी नहीं कर सकते। स्नान, सन्ध्या, पूजाका उन्हें कुछ भी होश नहीं, मुखसे निरन्तर श्रीकृष्णके मधुर नामोंका ही अपने-आप उच्चारण होता रहता है। किसीकी बातका उत्तर भी देते हैं तो उसमें भी भगवान्‌की अलौकिक लीलाओंका ही वर्णन होता है। किसीसे बातें भी करते हैं, तो श्रीकृष्णके ही सम्बन्धकी करते हैं। अर्थात् वे श्रीकृष्णके सिवा कुछ जानते ही नहीं हैं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं, श्रीकृष्ण ही उनके धन हैं, अर्थात् उनके सर्वस्व श्रीकृष्ण ही हैं, उनके लिये संसारमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

प्रभुके सब विद्यार्थियोंने जब सुना कि गुरुजी गयाधामकी यात्रा करके लौट आये हैं, तो वे एक-एक करके उनके घरपर आने लगे और पाठशालामें चलकर पढ़ानेकी प्रार्थना करने लगे। सबके बहुत आग्रह करनेपर प्रभु पाठशालामें पढ़ानेके निमित्त गये। किन्तु वे पढावें क्या, लौकिक शास्त्रोंको तो वे एकदम भूल ही गये, अब वे श्रीकृष्ण-कीर्तनके अतिरिक्त किसी भी विषयको नहीं कह सकते। उसी पाठको विद्यार्थियोंके लिये पढ़ाने लगे — 'भैया! इन संसारी शास्त्रोंमें क्या रखा है? श्रीकृष्णका नाम ही एकमात्र सार है, वह मधुरातिमधुर है। उसीका पान करो, इन लौकिक शास्त्रोंसे क्या अभीष्ट सिद्ध होगा? प्राणिमात्रके आश्रय-स्थान श्रीकृष्ण ही हैं। संसारकी सृष्टि, स्थिति और लय उन ही श्रीकृष्णकी इच्छामात्रसे होता रहता है। वे आनन्दके धाम हैं, सुखस्वरूप हैं। उनके

महाप्रभु चैतन्यदेवका प्रेम ऐसा ही था। उनकी हृदय-कन्दरासे जो भक्ति-भावका भव्य स्रोत उदित हो गया, वह फिर सदा उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। उनकी हृदय कन्दरासे उत्पन्न हुई भक्ति-भागीरथीकी धारा सावन-भादोंकी क्षुद्र नदीकी भाँति नहीं थी जो थोड़े समयके लिये तो खूब इठलाकर चलती है और जेठ-मासकी तेज धूप पड़ते ही सूख जाती है। उनके हृदयसे उत्पन्न हुई प्रेम-सरिताकी धारा सदा बहकर समुद्रमें ही जाकर मिलनेवाली स्थायी थी। उसमें कमीका क्या काम? वह तो उत्तरोत्तर बढ़नेवाली अलौकिक और अनुपम धारा थी, उसकी उपमा इन संसारी धाराओंसे दी ही नहीं जा सकती। वह तो अनुभव-गम्य ही है।

महाप्रभु जबसे गयासे लौटकर आये हैं, तभीसे उनकी विचित्र दशा है। वे भोजन करते-करते सहसा बीचमें ही उठकर रुदन करने लगते हैं, रास्ता चलते-चलते पागलोंकी भाँति नृत्य करने लगते हैं। शय्यापर लेटे-लेटे सहसा उठकर बैठ जाते हैं और 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहकर जोरोंसे चिल्लाने लगते हैं। कभी-कभी लोगोंसे बातें करते-करते बीचमें ही जोरोंसे ठहाका मारकर हँसने लगते हैं। रातभर सोनेका नाम नहीं। लम्बी-लम्बी साँसें लेते रहते हैं, अधीर होकर अत्यन्त विरहीकी भाँति हिचकियाँ भरते रहते हैं और उनके नेत्रोंसे इतना जल निकलता है कि सम्पूर्ण वस्त्र गीले हो जाते हैं। विष्णुप्रिया इनकी ऐसी दशा देखकर भयभीत हो जाती हैं और जाकर अपनी साससे सभी बातोंको कहती हैं। शचीमाता पुत्रकी दशा देखकर दुःखसे कातर होकर रुदन करने लगती हैं और सभी देवी-देवताओंकी मनौती मानती हैं। वे करुणभावसे अधीर होकर प्रभुके पादपद्मोंमें प्रार्थना करती हैं—'हे अशरण-शरण! इस दीन-हीन कंगालिनी विधवाके एकमात्र पुत्रके ऊपर कृपा करो। दयालो! मैं धन नहीं चाहती, भोग नहीं चाहती, सुन्दर वस्त्राभूषण तथा सुस्वादु भोजनकी

मुझे इच्छा नहीं। मेरा प्यारा, मेरे जीवनका सहारा, मेरी आँखोंका तारा यह निमाई स्वच्छ और नीरोग बना रहे, यही मेरी प्रार्थना है।' माता बार-बार 'निमाईके मुखकी ओर देखतीं और उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर अत्यन्त ही दुखी होतीं।

महाप्रभु अब जो भी काम करना चाहते, उसे ही नहीं कर सकते। काम करते-करते उन्हें अपने प्रियतमकी याद आ जाती और उसीके विरहमें बेहोश होकर गिर पड़ते। ठीक-ठीक भोजन भी नहीं कर सकते। स्नान, सन्ध्या, पूजाका उन्हें कुछ भी होश नहीं, मुखसे निरन्तर श्रीकृष्णके मधुर नामोंका ही अपने-आप उच्चारण होता रहता है। किसीकी बातका उत्तर भी देते हैं तो उसमें भी भगवान्‌की अलौकिक लीलाओंका ही वर्णन होता है। किसीसे बातें भी करते हैं, तो श्रीकृष्णके ही सम्बन्धकी करते हैं। अर्थात् वे श्रीकृष्णके सिवा कुछ जानते ही नहीं हैं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं, श्रीकृष्ण ही उनके धन हैं, अर्थात् उनके सर्वस्व श्रीकृष्ण ही हैं, उनके लिये संसारमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

प्रभुके सब विद्यार्थियोंने जब सुना कि गुरुजी गयाधामकी यात्रा करके लौट आये हैं, तो वे एक-एक करके उनके घरपर आने लगे और पाठशालामें चलकर पढ़ानेकी प्रार्थना करने लगे। सबके बहुत आग्रह करनेपर प्रभु पाठशालामें पढ़ानेके निमित्त गये। किन्तु वे पढ़ावें क्या, लौकिक शास्त्रोंको तो ये एकदम भूल ही गये, अब वे श्रीकृष्ण-कीर्तनके अतिरिक्त किसी भी विषयको नहीं कह सकते। उसी पाठको विद्यार्थियोंके लिये पढ़ाने लगे—'भैया! इन संसारी शास्त्रोंमें क्या रखा है? श्रीकृष्णका नाम ही एकमात्र सार है, वह मधुरातिमधुर है। उसीका पान करो, इन लौकिक शास्त्रोंसे क्या अभीष्ट सिद्ध होगा? प्राणिमात्रके आश्रय-स्थान श्रीकृष्ण ही हैं। संसारकी सृष्टि, स्थिति और लय उन ही श्रीकृष्णकी इच्छामात्रसे होता रहता है। वे आनन्दके धाम हैं, सुखस्वरूप हैं। उनके

गुणोंका आर्त होकर गान करते रहना मनुष्योंका परम पुरुषार्थ है।' इतना कहते-कहते प्रभु उच्च स्वरसे कृष्ण-कीर्तन करने लगे।

इन बातोंको श्रवण करके कुछ विद्यार्थी तो आनन्द-सागरमें मग्न हो गये। वे तो बाह्यज्ञान-शून्य होकर परमानन्दका अनुभव करने लगे। कुछ ऐसे भी थे, जो पुस्तकी विद्याको ही सर्वस्व समझते थे। भट्टाचार्य और शास्त्री बनना ही जिनके जीवनका एकमात्र चरम लक्ष्य था, वे कहने लगे—'गुरुजी! आप कैसी बातें कर रहे हैं? हमें इन बातोंसे क्या प्रयोजन? इन बातोंका विचार तो वैष्णव भक्त करें। हमें तो हमारी पाठ्य पुस्तकका पाठ पढ़ाइये। हम यहाँ पाठशालामें भक्ति-तत्त्वकी शिक्षा लेनेके लिये नहीं आये हैं, हमें तो व्याकरण, अलंकार तथा न्याय आदि पुस्तकोंके पाठोंको पढ़ाइये।'

उन विद्यार्थियोंकी ऐसी बातें सुनकर प्रभुने कहा—'भाई! आज हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है। आज आपलोग अपना-अपना पाठ बंद रखिये, पुस्तकोंको बाँधकर रख दीजिये। चलो, अब गङ्गा-स्नान करने चलें। कल पाठकी बात देखी जायगी।' इतना सुनते ही सभी विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकें बाँध दीं और वे प्रभुके साथ गङ्गा-स्नानके निमित्त चल दिये। गङ्गाजीपर पहुँचकर बहुत देरतक जल-विहार होता रहा। रात्रि हो जानेपर प्रभु लौटकर घर आये और विद्यार्थी अपने-अपने स्थानोंको चले गये।

दूसरे दिन महाप्रभु फिर पाठशालामें पहुँचे। प्रभुके आसनासीन हो जानेपर विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकोंमेंसे प्रश्न पूछना आरम्भ कर दिया। कोई भी विद्यार्थी इनसे कैसा भी प्रश्न पूछता उसका ये श्रीकृष्णपरक ही उत्तर देते।

कोई विद्यार्थी पूछता—'सिद्धवर्णसमाम्नाय बताइये?'

कोई पूछता–'सिद्धवर्णसमाम्नाय' बताइये। आप उत्तर देते–'नारायण ही सब वर्णोंमें सिद्धवर्ण हैं।' [पृष्ठ २७४]

गुणोंका आर्त होकर गान करते रहना मनुष्योंका परम पुरुषार्थ है इतना कहते-कहते प्रभु उच्च स्वरसे कृष्ण-कीर्तन करने लगे।

इन बातोंको श्रवण करके कुछ विद्यार्थी तो आनन्द-सागरमें मग्न हो गये। वे तो बाह्यज्ञान-शून्य होकर परमानन्दका अनुभव करने लगे कुछ ऐसे भी थे, जो पुस्तकी विद्याको ही सर्वस्व समझते थे। भट्टाचार्य और शास्त्री बनना ही जिनके जीवनका एकमात्र चरम लक्ष्य था, वे कहने लगे—'गुरुजी! आप कैसी बातें कर रहे हैं? हमें इन बातोंसे क्या प्रयोजन? इन बातोंका विचार तो वैष्णव भक्त करें। हमें तो हमारी पाठ्य पुस्तकका पाठ पढ़ाइये। हम यहाँ पाठशालामें भक्ति-तत्त्वकी शिक्षा लेनेके लिये नहीं आये हैं, हमें तो व्याकरण, अलंकार तथा न्याय आदि पुस्तकोंके पाठोंको पढ़ाइये।'

उन विद्यार्थियोंकी ऐसी बातें सुनकर प्रभुने कहा—'भाई! आज हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है। आज आपलोग अपना-अपना पाठ बंद रखिये, पुस्तकोंको बाँधकर रख दीजिये। चलो, अब गङ्गा-स्नान करने चलें। कल पाठकी बात देखी जायगी।' इतना सुनते ही सभी विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकें बाँध दीं और वे प्रभुके साथ गङ्गा-स्नानके निमित्त चल दिये। गङ्गाजीपर पहुँचकर बहुत देरतक जल-विहार होता रहा। रात्रि हो जानेपर प्रभु लौटकर घर आये और विद्यार्थी अपने-अपने स्थानोंको चले गये।

दूसरे दिन महाप्रभु फिर पाठशालामें पहुँचे। प्रभुके आसनासीन हो जानेपर विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकोंमेंसे प्रश्न पूछना आरम्भ कर दिया। कोई भी विद्यार्थी इनसे कैसा भी प्रश्न पूछता उसका ये श्रीकृष्णपरक ही उत्तर देते।

कोई विद्यार्थी पूछता—'सिद्धवर्णसमाम्नाय बताइये?'

कोई पूछता–'सिद्धवर्णसमाम्नाय' बताइये। आप उत्तर देते–'नारायण ही सब वर्णोंमें सिद्धवर्ण हैं।' [पृष्ठ २०४]

आप उत्तर देते—'नारायण ही सब वर्णोंमें सिद्ध वर्ण हैं।'

कोई पूछता—'वर्णोंकी सिद्धि किस प्रकारसे होती है?'

प्रभु उत्तर देते—'श्रीकृष्णकी दृष्टिमात्रसे ही सब वर्ण सिद्ध हो जाते हैं।'

ऐसा उत्तर सुनकर कोई-कोई विद्यार्थी कहता—'ये भक्तिभावकी बातें छोड़िये। जो ठीक बात हो उसे ही बताइये।'

प्रभु कहते—'ठीक बात तो यही है, प्रतिक्षण श्रीकृष्ण-नामका ही संकीर्तन करते रहना चाहिये।'

यह सुनकर सभी विद्यार्थी एक दूसरेके मुखकी ओर देखने लगते। कोई तो चकित होकर प्रभुके श्रीमुखकी ओर देखने लगता। कोई-कोई धीरेसे कह देता 'दिमागमें गर्मी चढ गयी है।' दूसरा उसे धीरेसे धक्का देकर ऐसा कहनेके लिये निषेध करता।

प्रभुकी ऐसी अद्भुत व्याख्याएँ सुनकर बड़े-बड़े विद्यार्थी कहने लगे—'आप ये तो न जाने कहाँकी व्याख्या कर रहे हैं, शास्त्रीय व्याख्या कीजिये।'

प्रभु इसका उत्तर देते—'मैं शास्त्रोंका सार ही बता रहा हूँ। किसी भी पण्डितसे जाकर पूछ आओ, वह सर्वशास्त्रोंका सार श्रीकृष्ण-पद-प्राप्ति ही बतायेगा।'

विद्यार्थी बेचारे इनकी अलौकिक बातोंका उत्तर दे ही क्या सकते थे! सब अपनी-अपनी पुस्तकें बाँधकर अपने-अपने स्थानके लिये चले गये। कुछ समझदार और बड़े छात्र पण्डित गंगादासजीकी सेवामें पहुँचे।

वे प्रणाम करके उनके समीप बैठ गये। कुशल-प्रश्नके अनन्तर आचार्य गंगादासने उनके आनेका कारण पूछा। दुखी होकर उन लोगोंने कहा—'महाराजजी! हम क्या बतावें, हमारे गुरुजी जबसे गयासे लौटे हैं, तभीसे उनकी विचित्र दशा है। वे कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं।

पाठशालामें आते तो पाठ पढ़ानेके लिये हैं, किन्तु पाठ न पढ़ाकर भक्ति-तत्त्व-का ही उपदेश देने लगते हैं। हमलोग व्याकरण, न्याय, अलंकार तथा साहित्य आदि किसी भी शास्त्रका प्रश्न करते हैं, तो वे उसका कृष्णपरक ही उत्तर देते हैं। उनसे जो भी प्रश्न किया जाय उसीका उत्तर ऐसा देते हैं जो पाठ्य पुस्तकके एकदम विरुद्ध है। कभी-कभी पढ़ाते-पढ़ाते रोने लगते हैं और कभी-कभी जोरसे 'हा कृष्ण! हा प्यारे! प्राणवल्लभ! पाहि माम्, राधावल्लभ! रक्ष माम्' इन वाक्योंको कहने लगते हैं। अब आप ही बताइये, इस प्रकार हमारी पढ़ाई कैसे होगी? हमलोग घर-बार छोड़कर केवल विद्याध्ययनके ही निमित्त यहाँ पड़े हुए हैं, यहाँपर हमारी पढ़ाई-लिखाई कुछ होती नहीं। उलटे पढ़े-लिखेको भूले जाते हैं। वे आपके शिष्य हैं, आप उन्हें बुलाकर समझा दें।'

पं० गंगादासजी वैसे तो बड़े भारी नामी विद्वान् थे, किन्तु उनकी विद्या पुस्तकी ही विद्या थी। भक्ति-भावसे वे एकदम कोरे थे। ईश्वरके प्रति उनका उदासीन भाव था। 'यदि ईश्वर होगा भी तो हुआ करे हमें उससे क्या काम, समयपर भोजन कर लिया, विद्यार्थियोंको पाठ पढ़ा दिया। बस, यही हमारे जीवनका व्यापार है। इसमें ईश्वरकी कुछ जरूरत ही नहीं।' कुछ-कुछ इसी प्रकारके उनके विचार थे। महाप्रभुके भक्त हो जानेकी बात सुनकर वे ठहाका मारकर हँसने लगे और विद्यार्थियोंसे कहने लगे—'हाँ, सुना तो मैंने भी है कि निमाई अब भक्त बन आया है। पण्डित होकर उसपर यह क्या भूत सवार हो गया—यह तो अनपढ़ मूर्खोंका काम है। ब्राह्मण पण्डितको तो निरन्तर शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनमें ही लगे रहना चाहिये। खैर, अब तुमलोग अपने-अपने स्थानोंको जाओ। पर उसे मेरे पास भेज देना, मैं उसे समझा दूँगा। मेरी बातको वह कभी नहीं टालता है।' इतना सुनकर विद्यार्थी अपने-अपने स्थानोंपर चले गये।

दूसरे दिन प्रभुसे विद्यार्थियोंने कहा—'आचार्यजीने आज आपको

अपने यहाँ बुलाया है, आगे आपकी इच्छा है, आज आइये या फिर किसी दिन हो आइये ।' आचार्य गंगादासजीका बुलावा सुनकर प्रभु उसी समय दो-चार विद्यार्थियोंको साथ लेकर उनके स्थानपर पहुँचे । वहाँ जाकर प्रभुने अपने विद्यागुरुके चरणोंकी वन्दना की, गंगादासजीने भी उनका पुत्रकी भाँति आलिङ्गन किया और बैठनेके लिये एक आसनकी ओर संकेत किया। आचार्यकी आज्ञा पाकर उनके बताये हुए आसनपर प्रभु बैठ गये । प्रभुके बैठ जानेपर साथके विद्यार्थी भी पीछे एक ओर हटकर पाठशालाकी बिछी हुई चटाइयोंपर बैठ गये ।

प्रभुके सुखपूर्वक बैठ जानेपर वात्सल्य-प्रेम प्रकट करते हुए आचार्य गंगादासजीने कहा—'निमाई ! तुम मेरे प्रिय विद्यार्थी हो, मैं तुम्हें पुत्रकी भाँति प्यार करता हूँ । शास्त्रोंमें कहा है, अपने प्यारेकी उसके मुखपर बड़ाई न करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे उसकी आयु क्षीण होती है, किन्तु यथार्थ बात तो कही ही जाती है । तुमने मेरी पाठशालाके नामको सार्थक बना दिया है, तुम-जैसे योग्य विद्यार्थीको विद्या पढ़ाकर मेरा इतने दिनोंका परिश्रमसे पढ़ाना सफल हो गया । तुमने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य-द्वारा मेरे मुखको उज्ज्वल कर दिया । मैं तुमसे बहुत ही प्रसन्न हूँ ।'

आचार्यके मुखसे अपनी इतनी प्रशंसा सुनकर प्रभु लज्जितभावसे नीचेकी ओर देखते हुए चुपचाप बैठे रहे, उन्होंने इन बातोंका कुछ भी उत्तर नहीं दिया ।

आचार्य गंगादासजी फिर कहने लगे—'योग्य बननेके अनन्तर तुम अध्यापक हुए और तुमने अध्यापन-कार्यमें भी यथेष्ट ख्याति प्राप्त की । तुम्हारे सभी विद्यार्थी सदा तुम्हारे शील-स्वभावकी तथा पढ़ानेकी सरल और

सुन्दर प्रणालीकी प्रशंसा करते रहते हैं, वे लोग तुम्हारे सिवा दूसरे किसीके पास पढ़ना पसंद ही नहीं करते। किन्तु कल उन्होंने आकर मुझसे तुम्हारी शिकायत की है। तुम उन्हें अब मनोयोगके साथ ठीक-ठीक नहीं पढ़ाते हो। और लोगोंने भी मुझसे आकर कहा है कि तुम अनपढ़ मूर्ख भक्तोंकी भाँति रोते-गाते तथा हँसते-कूदते हो, एक इतने भारी अध्यापकको ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं! तुम विद्वान् हो, समझदार हो, मेधावी हो। शास्त्रज्ञ होकर मूर्खोंके कामोंकी नकल क्यों करने लगे हो? ऐसे ढोंग तो वे ही लोग बनाते हैं, जो शास्त्रोंकी बातें तो जानते नहीं, विद्या-बुद्धिसे तो हीन हैं, किन्तु मूर्खोंमें अपनेको पुजवाना चाहते हैं, वे ही ऐसे ढोंग रचा करते हैं। तुम्हें इसकी क्या जरूरत है? तुम तो स्वयं विद्वान् हो, बड़े-बड़े लोग तुम्हारी विद्या-बुद्धिपर ही मुग्ध होकर मुक्तकण्ठसे तुम्हारी प्रशंसा करते हैं और सर्वत्र तुम्हारी प्रतिष्ठा करते हैं, फिर तुम ऐसे अशास्त्रीय आचरणोंको क्यों करते हो? ठीक-ठीक बताओ क्या बात है?'

ये सब बातें सुनकर भी प्रभु चुप ही रहे, उन्होंने किसी भी बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

गंगादासजीने अपना व्याख्यान समाप्त नहीं किया। वे फिर कहने लगे—'तुम्हारे नाना नीलाम्बर चक्रवर्ती एक नामी पण्डित हैं। तुम्हारे पूज्य पिता भी प्रतिष्ठित पण्डित थे, तुम्हारे मातृकुल तथा पितृकुलमें सनातनसे पाण्डित्य चला आया है, तुम स्वयं भारी विद्वान् हो, तुम्हारी विद्या-बुद्धिसे ही मुग्ध होकर सनातन मिश्र-जैसे राजपण्डितने अपनी पुत्री-का तुम्हारे साथ विवाह किया है। नवद्वीपकी विद्वन्मण्डली तुम्हारा यथेष्ट सम्मान करती है, विद्यार्थियोंको तुम्हारे प्रति पूर्ण सम्मानके भाव हैं, फिर

तुम मूर्खोंके चक्करमें कैसे आ गये ? देखो बेटा ! अध्यापकका पद पूर्व-जन्मके बहुत बड़े भाग्योंसे मिलता है। तुम उसके काममें असावधानी करते हो, यह ठीक नहीं है। बोलो, उत्तर क्यों नहीं देते ? अब अच्छी तरहसे पढ़ाया करोगे ?'

नम्रताके साथ महाप्रभुने कहा—'आपकी आज्ञा पालन करनेकी भरसक चेष्टा करूँगा। क्या करूँ, मेरा मन मेरे वशमें नहीं है। कहना चाहता हूँ कुछ और मुँहसे निकल जाता है कुछ और ही !'

गंगादासजीने प्रेमके साथ कहा—'सब ठीक हो जायगा। चित्तको ठीक रखना चाहिये। तुम तो समझदार आदमी हो। मनको वशमें करो, सोच-समझकर बातका उत्तर दो। कलसे खूब सावधानी रखना। विद्यार्थियों-को खूब मनोयोगके साथ पढ़ाना। अच्छा !'

'जो आज्ञा' कहकर प्रभुने आचार्य गंगादासको प्रणाम किया और वे विद्यार्थियोंके साथ उनसे विदा हुए।

सर्वप्रथम संकीर्तन और अध्यापककी अन्त

तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया।
तद्वर्णं तत्कुलं श्रेष्ठं तदाश्रमं शुभं भवेत्॥*

जिन नयनोंमें प्रियतमकी छवि समा गयी, जिस हृदय-मन्दिरमें श्रीकृष्णकी परमोज्ज्वल परम प्रकाशयुक्त मूर्ति स्थापित हो गयी, फिर भला उसमें दूसरेके लिये स्थान कहाँ ? जिनका मन-मधुप श्रीकृष्ण-कथारूपी मकरन्दका पान कर चुका है, जिनके चित्तको चित्तचोरने अपनी चञ्चल चितवनसे अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, वे फिर अन्य वस्तुकी ओर

* जिस कर्मके द्वारा हरि भगवान् सन्तुष्ट हो सकें वास्तवमें तो वही कर्म कहा जा सकता है और जिससे मुकुन्द-चरणोंमें रति उत्पन्न हो सके वही सची विद्या है। जिस वर्ण, जिस कुलमें और जिस आश्रममें रहकर श्रीकृष्ण-कीर्तन करनेका सुन्दर सुयोग प्राप्त हो सके वही वर्ण, कुल तथा आश्रम शुभ और परम श्रेष्ठ गिना जा सकता है।

आँख उठाकर भी नहीं देख सकते। उनकी जिह्वा सदा नारायणाख्यपीयूषका ही निरन्तर पान करती रहेगी, उनके द्वारा संसारी बातें कही ही नहीं जा सकेंगी। उन्हीं कर्मोंको वह कर्म समझेगा जिनके द्वारा श्रीकृष्णके कमनीय कीर्तनमें प्रगाढ़ रतिकी प्राप्ति हो सके। उसकी विद्या, बुद्धि, वैभव और सम्पदा तथा मेधा सभी एकमात्र श्रीकृष्ण-कथा ही है।

महाप्रभुका चित्त अब इस लोकमें नहीं रहा, वह तो कृष्णमय हो चुका। प्राण कृष्णरूप बन चुके, मनका उनके मनोहर गुणोंके साथ तादात्म्य हो चुका, चित्त उस माखनचोरकी चञ्चलतामें समा गया। वाणी उसके गुणोंकी गुलाम बन गयी, अब वे करें भी तो क्या करें? संसारी कार्य करनेके लिये मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रियाँ आदि कोई भी उनका साथ नहीं देतीं, वे दूसरेके वशमें हो चुकीं। महाप्रभुकी सभी चेष्टाएँ श्रीकृष्णमय ही होने लगीं।

आचार्य गंगादासजीकी मधुर और वात्सल्यपूर्ण भर्त्सनाके कारण वह खूब सावधान होकर घरसे पढ़ानेके लिये चले। विद्यार्थियोंने अपने गुरुदेवको आते देखकर उनके चरणकमलोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और सभी मुखसे बैठ गये। विद्यार्थियोंका पाठ आरम्भ हुआ। किसी विद्यार्थीने पूछा—'अमुक धातुका किस अर्थमें प्रयोग होता है और अमुक लकारमें उसका कैसा रूप बनेगा?'

इस प्रश्नको सुनते ही आप भावावेशमें आकर कहने लगे—'सभी धातुओंका एक श्रीकृष्णके ही नाममें समावेश हो सकता है, शरीरमें जो सप्तधातु हैं और भी संसारमें जितनी धातु सुनी तथा कही जा सकती हैं सभीके आदिकारण श्रीकृष्ण ही हैं। उनके अतिरिक्त कोई अन्य धातु हो ही नहीं सकती। सभी स्थितियोंमें उनके समान ही रूप बनेंगे। भगवान्का रूप नील-श्याम है, उनके श्रीविग्रहकी कान्ति नवीन जलधरकी भाँति एकदम

स्वच्छ और हलके नीले रंगकी-सी है। उसे वैडूर्य या घनकी उपमा तो 'शाखाचन्द्रन्याय' से दी जाती है, असलमें तो वह अनुपमेय है, किसी भी संसारी वस्तुके साथ उसकी उपमा नहीं दी जा सकती।'

प्रभुके ऐसे उत्तरको सुनकर विद्यार्थी कहने लगे—'आप तो फिर वैसी ही बातें कहने लगे। धातुका यथार्थ अर्थ बताइये। पुस्तकमें जो लिखा है उसीके अनुसार कथन कीजिये।'

प्रभुने अधीरताके साथ कहा—'धातुका यथार्थ अर्थ तो यही है, जो मैं कर रहा हूँ, इसके अतिरिक्त मैं और कुछ कह ही नहीं सकता। मुझे तो इसका यही अर्थ मालूम पड़ता है। आगे आपलोग जैसा समझें।'

इसपर विद्यार्थियोंने कुछ प्रेमके साथ अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहा—'आप तो हमें ऐसी विचित्र-विचित्र बातें बताते हैं, हम अब याद क्या करें? हमारा काम कैसे चलेगा, इस प्रकार हमारी विद्या कब समाप्त होगी और इस तरहसे हम किस प्रकार विद्या प्राप्त कर सकते हैं?'

आप प्रेमके आवेशमें आकर कहने लगे—'सदा याद करते रहनेकी तो एक ही वस्तु है। सदा, सर्वदा सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामोंके ही स्मरणमात्रसे प्राणीमात्रका कल्याण हो सकता है। सदा उसीका स्मरण करते रहना चाहिये। अहा, जिन्होंने पूतना-जैसी बालघ्नीको, जो अपने स्तनोंमें जहर लपेटकर बालकोंके प्राण हर लेती थी, उस क्रूर कर्म करनेवाली राक्षसीको भी सद्गति दी, उन श्रीकृष्णकी लीलाओंका चिन्तन करना ही मनुष्योंके लिये परम कल्याणका साधन हो सकता है। जो दुष्टबुद्धिसे भी श्रीकृष्णका स्मरण करते थे, जो उन्हें शत्रुरूपसे विद्वेषके कारण मारनेकी इच्छासे उनके पास आये थे, वे अघासुर, बकासुर, शकटासुर आदि पापी भी उनके जगत्-पावन दर्शनोंके कारण इस संसार-सागरसे बात-की-बातमें पार हो गये, जिससे योगीलोग करोड़ों वर्षतक समाधि लगाकर भाँति-

भौतिक साधन करते रहनेपर भी नहीं तर सकते, उन श्रीकृष्णके चारु चरित्रोंके अतिरिक्त चिन्तनीय चीज और हो ही क्या सकती है ?

श्रीकृष्ण-कीर्तनसे ही उद्धार होगा, श्रीकृष्ण-कीर्तन ही सर्व सिद्धिप्रद है, उसके द्वारा प्राणीमात्रका कल्याण हो सकता है। श्रीकृष्ण-कीर्तन ही शाश्वत शान्तिका एकमात्र उपाय है, उसीके द्वारा मनुष्य सभी प्रकारके दुःखोंसे परित्राण पा सकता है। तुमलोगोंको उसी श्रीकृष्णकी शरणमें जाना चाहिये।

इनकी ऐसी व्याख्या सुनकर सभी विद्यार्थी श्रीकृष्णप्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे। वे सभी प्रकारके संसारी विषयोंको भूल गये और श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-स्थान समझकर उन्हींकी स्मृतिमें अश्रु-विमोचन करने लगे।

उनमेंसे कुछ उतावले और पुस्तकी विद्याको ही परम साध्य समझने-वाले छात्र कहने लगे—'हमें तो पुस्तकके अनुसार उसकी व्याख्या बताइये! उसे ही पढ़नेके लिये हम यहाँ आये हैं।'

प्रभु अब कुछ-कुछ स्वस्थ हुए थे। उन्हें अब थोड़ा-थोड़ा बाह्य ज्ञान होने लगा। इसलिये विद्यार्थियोंके ऐसा कहनेपर आपने रोते-रोते उत्तर दिया—'भैया! हम क्या करें, हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है। मालूम पड़ता है, हमें फिरसे वही पुराना वायु-रोग हो गया है। हम क्या कह जाते हैं, इसका हमें स्वयं पता नहीं। अब हमसे इन ग्रन्थोंका अध्यापन न हो सकेगा। आपलोग जाकर किसी दूसरे अध्यापकसे पढ़ें! अब हम अपने वशमें नहीं हैं।'

प्रभुके ऐसा कहनेपर सभी विद्यार्थी फूट-फूटकर रोने लगे और विलाप करते हुए करुणकण्ठसे प्रार्थना करने लगे—'गुरुदेव! अब हम कहाँ जायँ ? हम निराश्रयोंके आप ही एकमात्र आश्रय हैं। हमें आपके

समान वात्सल्यप्रेम दूसरे किस अध्यापकमें मिल सकेगा ? इतने प्रे साथ हमें अन्य अध्यापक पढ़ा ही नहीं सकता । आपके समान संशयोंका छेत्ता और सरलताके साथ सुन्दर शिक्षा देनेवाला अध्याप ढूँढ़नेपर भी हमें त्रिलोकीमें नहीं मिल सकता । आप हमारा परित्याग कीजिये । हम आपके रोगकी यथाशक्ति चिकित्सा करावेंगे । स्वयं दिन-रा सेवा-शुश्रूषा करते रहेंगे ।'

उनकी आर्तवाणी सुनकर प्रभुकी आँखोंमेंसे अश्रुओंकी धारा बह लगी । रोते-रोते उन्होंने कहा—'भैया ! तुमलोग हमारे बाह्य प्राणों समान हो । तुमसे सम्बन्ध-विच्छेद करते हुए हमें स्वयं अपार दुःख हो रहा है, किन्तु हम करें क्या, हम तो विवश हैं । हमारी पढ़ानेकी शक्ति ही नहीं । नहीं तो तुम्हारे-जैसे परम बन्धुओंके सहवासका सुख स्वेच्छापूर्वक कौन सत्पुरुष छोड़ सकता है ?'

विद्यार्थियोंने दीनभावसे कहा—'आज न सही, स्वस्थ होनेपर आप हमें पढ़ावें । हमारा परित्याग न कीजिये, यही हमारी श्रीचरणोंमें विनम्र प्रार्थना है । आप ही हमारी इस जीवननौकाके एकमात्र आश्रय हैं, हमें मझधारमें ही बिलखता हुआ छोड़कर अन्तर्धान न हूजिये ।'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'भैया ! मेरा यह रोग असाध्य है । अब इससे छुटकारा पानेकी आशा नहीं । किसी दूसरेके सामने तो बतानेकी बात नहीं है, किन्तु तुम तो अपनी आत्मा ही हो, तुमसे छिपाने योग्य तो कोई बात हो ही नहीं सकती । असल बात यह है कि अब हम पढ़ानेका या किसी अन्य कामके करनेका यत्न करते हैं तो एक श्यामवर्णका सुन्दर शिशु हमारी आँखोंके सामने आकर बड़े ही सुन्दर स्वरमें मुरली बजाने लगता है । उस मुरलीकी विश्वविमोहिनी तानको सुनकर हमारा चित्त व्याकुल हो जाता है और हमारी सब सुध-बुध भूल जाती है । हम पागलोंकी

भाँति मन्त्र-मुग्ध-से हो जाते हैं। फिर हम कोई दूसरा काम कर ही नहीं सकते।' इतना कहकर प्रभु फिर जोरोंके साथ फूट-फूटकर रोने लगे। उनके रुदनके साथ ही सैकड़ों विद्यार्थियोंकी आँखोंसे अश्रुओंकी धाराएँ बहने लगीं। सभी ढाढ़ बाँधकर उच्चस्वरसे रुदन करने लगे। संजय महाशयका चण्डीमण्डप विद्यार्थियोंके रुदनके कारण गूँजने लगा। इस करुणापूर्ण क्रन्दन-ध्वनिको सुनकर सहस्रों नर-नारी दूर-दूरसे वहाँ आकर एकत्रित हो गये।

प्रभु अब कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए। अश्रु-विमोचन करते हुए उन्होंने कहा—'मेरे प्राणोंसे भी प्यारे छात्रो! अपनी-अपनी पुस्तकोंको बाँध लो, आजसे अब हम तुम्हारे अध्यापक नहीं रहे और न अब तुम ही हमारे छात्र हो, अब तो तुम श्रीकृष्णके सखा हो। अब सभी मिलकर हमें ऐसा आशीर्वाद दो जिससे हमें श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त हो सके। तुम सभी हमें हृदयसे स्नेह करते हो, तुमसे हम यही दीनताके साथ भीख माँगते हैं। तुम सदा हमारे कल्याणके कामोंमें तत्पर रहे हो।'

प्रभुके मुखसे ऐसे दीनतापूर्ण शब्द सुनकर सभी विद्यार्थी बेहोश-से हो गये। कोई तो पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिरने लगे और कोई अपने सिरको पृथ्वीपर रगड़ने लगे।

प्रभुने फिर कहा—'मैं अन्तिम बार फिर तुमलोगोंसे कहता हूँ। तुमलोग पढना न छोड़ना, कहीं जाकर अपने पाठको जारी रखना।'

रोते हुए विद्यार्थियोंने कहा—'अब हमें न तो कहीं आप-जैसा अध्यापक मिलेगा और न कहीं अन्यत्र पढ़ने ही जायँगे। अब तो ऐसा ही आशीर्वाद दीजिये कि आपके श्रीमुखसे जो भी कुछ पढ़ा है, वही स्थायी बना रहे और हमें किसी दूसरेके समीप जानेकी जिज्ञासा ही उत्पन्न न हो। अब तो हमें अपने चरणोंकी शरण ही प्रदान कीजिये! आपके

चरणोंकी सदा स्मृति बनी रहे यही अन्तिम वरदान प्रदान कीजिये।' यह कहकर सभी विद्यार्थियोंने प्रभुको एक साथ ही साष्टाङ्ग प्रणाम किया और प्रभुने भी सबको पृथक्-पृथक् गलेसे लगाया। वे सभी बड़भागी विद्यार्थी प्रभुके प्रेमपूर्ण आलिंगनसे कृतकृत्य हो गये और जोरोंसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहकर हरिनामकी तुमुल-ध्वनि करने लगे।

प्रभुने उन विद्यार्थियोंसे कहा—'भैया, हमलोग, इतने दिनोंतक साथ-साथ रहे हैं। हमारा तुमलोगोंसे बहुत ही अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, तुम ही हमारे परम आत्मीय तथा सुहृद् हो। एक बार तुम सभी एक स्वरसे श्रीकृष्णरूपी शीतल सलिलसे हमारे हृदयकी जलती हुई विरहज्वाला-को शान्त कर दो। तुम सभी श्रीकृष्ण-रसायन पिलाकर हमें नीरोग बना दो। एक बार तुम सभी लोग मिलकर श्रीकृष्णके मंगलमय नामोंका उच्चस्वरसे संकीर्तन करो।'

विद्यार्थियोंने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा—'गुरुदेव! हम संकीर्तनको क्या जानें? हमें तो पता भी नहीं संकीर्तन कैसे किया जाता है? हाँ, यदि आप ही कृपा करके हमें संकीर्तनकी प्रणाली सिखा दें तो हम जिस प्रकार आज्ञा हो उसी प्रकार सब कुछ करनेके लिये उद्यत हैं।'

प्रभुने सरलताके साथ कहा—'कृष्ण-कीर्तनमें कुछ कठिनता थोड़े ही है, बड़ा ही सरल मार्ग है। तुमलोग बड़ी ही आसानीके साथ उसे कर सकते हो।' यह कहकर प्रभुने स्वयं स्वरके सहित नीचेका पद उच्चारण करके बता दिया—

हरे हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

प्रभुने स्वयं हाथसे ताली बजाकर इस नाम-संकीर्तनको आरम्भ किया। प्रभुकी बतायी हुई विधिके अनुसार सभी विद्यार्थी एक स्वरसे इस

नाम-संकीर्तनको करने लगे। हाथकी तालियोंके बजनेसे तथा संकीर्तनके सुमधुर स्वरसे सम्पूर्ण चण्डीमण्डप गूँजने लगा। लोगोंको महान् आश्चर्य हुआ। नवद्वीपमें यह एक नवीन ही वस्तु थी। इससे पूर्व ढोल, मृदंग, करताल आदि वाद्योंपर पद-संकीर्तन तो हुआ करता था, किन्तु सामूहिक नाम-संकीर्तन तो यह सर्वप्रथम ही था। इसकी नींव निमाई पण्डितकी पाठशालाहीमें पहले-पहल पड़ी। सबसे पहले इन्हीं नामोंके पदसे नाम-संकीर्तन प्रारम्भ हुआ।

प्रभु भावावेशमें जोरसे संकीर्तन कर रहे थे, विद्यार्थी एक स्वरसे उनका साथ दे रहे थे। कीर्तनकी सुमधुर ध्वनिसे दिशा-विदिशाएँ गूँजने लगीं। चण्डीमण्डपमें मानो आनन्दका सागर उमड़ पड़ा। दूर-दूरसे मनुष्य उस आनन्द-सागरमें गोता लगाकर अपनेको कृतार्थ बनानेके लिये दौड़े आ रहे थे। सभी आनन्दकी बाढ़में अपने-आपेको भूलकर बहने लगे और सभी दर्शनार्थियोंके मुँहसे स्वयं ही निकलने लगा।

हरे हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

इस प्रकार चारों ओरसे इन्हीं भगवन्नामोंकी ध्वनि होने लगी। पक्के-पक्के मकानोंमेंसे जोरकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ने लगी—

हरे हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

मानो स्थावर-जंगम, चर-अचर सभी मिलकर इस कलिपावन नाम-का प्रेमके साथ संकीर्तन कर रहे हों। इस प्रकार थोड़ी देरके अनन्तर प्रभुका भावावेश कुछ कम हुआ। धीरे-धीरे उन्होंने ताली बजानी बंद कर दी और संकीर्तन समाप्त कर दिया। प्रभुके चुप हो जानेपर सभी विद्यार्थी तथा दर्शनार्थी चुप हो गये, उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु अब भी निकल रहे थे।

प्रभुने उठकर एक बार फिर सब विद्यार्थियोंको गलेसे लगाया। सभी विद्यार्थी फूट-फूटकर रो रहे थे। कोई कह रहा था—'हमारे प्राणोंके सर्वस्व हमें इसी प्रकार मझधारमें न छोड़ दीजियेगा!' कोई हिचकियाँ लेते हुए गद्गदकण्ठसे कहता—'पढ़ना-लिखना तो जो होना था, सो हो लिया, आपके हृदयके किसी कोनेमें हमारी स्मृति बनी रहे, यही हमारी प्रार्थना है।' प्रभु उन्हें बार-बार आश्वासन देते। उनके शरीरोंपर हाथ फेरते, किन्तु उन्हें धैर्य होता ही नहीं था, प्रभुके स्पर्शसे उनकी अधीरता अधिकाधिक बढ़ती जाती थी, वे बार-बार प्रभुके चरणोंमें लोटकर प्रार्थना कर रहे थे। दर्शनार्थी इस करुण दृश्यको और अधिक देरतक देखनेमें समर्थ न हो सके, वे कपड़ोंसे अपने-अपने मुखोंको ढककर फूट-फूटकर रोने लगे। प्रभु भी इस करुणाकी उमड़ती हुई तरङ्गमें बहुत प्रयत्न करनेपर भी अपनेको न सम्हाल सके। वे भी रोते-रोते वहाँसे गङ्गाजीकी ओर चल दिये। विद्यार्थी उनके पीछे-पीछे जा रहे थे। प्रभुने सभीको समझा-बुझाकर विदा किया। प्रभुके बहुत समझानेपर विद्यार्थी दुःखितभावसे अपने-अपने स्थानोंको चले गये और प्रभु गङ्गाजीसे निवृत्त होकर अपने घरको चले आये।*

* आगेकी पुण्य लीलाओंके लिये दूसरा खण्ड देखनेकी प्रार्थना है।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली
(द्वितीय खण्ड)

उच्चैरास्फालयन्तं करचरणमहो हेमदण्डप्रकाण्डौ
बाहू प्रोद्धृत्य सत्ताण्डवतरलतनूं पुण्डरीकायताक्षम् ।
विश्वस्यामङ्गलघ्नं किमपि हरिहरीत्युन्मदानन्दनादै-
र्वन्दे तं देवचूडामणिमतुलरसाविष्टचैतन्यचन्द्रम् ॥

लेखक

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८९ प्रथम संस्करण ५२५०
मूल्य १=) एक रुपया दो आना
सजिल्द १।=) एक रुपया छः आना

मुफ्त मँगवाइये । पता—गीताप्रेस,

विषय-सूची

चित्र-सूची

कीर्तनीयः सदा हरिः।

सचित्र

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

श्रीचैतन्यदेवकी इतनी बड़ी सविस्तर जीवनी अभीतक हिन्दीमें कहीं नहीं छपी। भगवान् और उनके भक्तोंके गुणगानसे भरी हुई इस जीवनीको पढ़कर सभी सज्जन लाभ उठावें। इसकी भाषा सुन्दर है। छपाई उत्तम है। वर्णन सरस है। श्रीचैतन्यदेवकी लीलाओंके विषयमें तो कहना ही क्या? जिन्होंने एक बार भी थोड़ी सुनी है, उनका चित्त ही जानता है।

सम्पूर्ण पुस्तक पाँच खण्डोंमें समाप्त होगी। पहला-दूसरा खण्ड छप गये हैं। (दूसरा आपके हाथमें है) तीसरा, चौथा और पाँचवाँ छपनेके लिये प्रेसमें आ गये हैं, शीघ्र ही तैयार होंगे। इस खण्डकी तरह सब सुन्दर साफ सफाईसे छपेंगे।

इन्हें पढ़कर लाभ उठानेको पुनः प्रार्थना है।

गीताप्रेसकी गीताएँ

१–श्रीमद्भगवद्गीता–[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य है और भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है । श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है । पृष्ठ ५०४, ३ चित्र, साधारण जिल्द २॥) बढ़िया जिल्द ··· २॥)

२–श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्मविषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्ति-सहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे ४ चित्र १।)

३–श्रीमद्भगवद्गीता–गुजराती-टीका, गीता नम्बर दोकी तरह ··· १।)

४–श्रीमद्भगवद्गीता–मराठी-टीका, हिन्दीकी १।) वालीके समान मूल्य १।)

५–श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥≈) सजिल्द ॥।=)

६–श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला-टीका, गीता नं० ५ की तरह मू० १) स० १।)

७–श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय और त्यागसे भगवत्-प्राप्तिनामक निबन्धसहित, साइज मझोला, मोटा टाइप, ३१६ पृष्ठ सचित्र पुस्तकका मूल्य ॥) स० ॥≈)

८–गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।–) सजिल्द ··· ।≈)

९–गीता–साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सभी विषय ॥) वालीके समान, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य ≈)॥ सजिल्द ··· ≢)॥

१०–गीता–भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। अक्षर मोटे हैं, १ चित्र मू० ।) स० ।≠)

११–गीता–मूल ताबीजी, साइज २ × २॥ इंच, सजिल्द ··· =)

१२–गीता–मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द ··· =)

१३–गीता–७॥ × १० इंच साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण ··· –)

१४–गीता-सूची (Gita List) अनुमान २००० गीताओंका परिचय ॥)

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर

समर्पण

यत्कृतं यत्करिष्यामि यत्करोमि जनार्दन।
तत् त्वयैव कृतं सर्वं त्वमेव फलभुग् भवेः ॥*

प्यारे ! लो, यह तुम्हारे कराये हुए कार्यका दूसरा अंश है। अपनी चीजको आप ही स्वीकार करो और जिस प्रकार स्वामी सेवकके द्वारा अपनी ही वस्तु पाकर उसकी ओर कृपाकी दृष्टिसे देखता है, उसी प्रकार इस दीन-हीन, कंगाल, साधनरहित सेवक-की ओर भी कृपा-कटाक्षकी कोरसे एक बार निहार भर लो। यही इस कृतघ्न सेवककी अभिलाषा है।

प्रभो ! तुम्हारे कराये हुए कार्योंमें अपनेपनके भाव न उठने पावें। मैं भी महात्मा पल्टूदासजीकी भाँति निष्कपटभाव-से बनावटीपनको दूर करके हृदयसे कह उठूँ—

ना मैं किया न करि सकौं, साहिब करता मोर।
करत करावत आप हैं, 'पलटू' 'पलटू' शोर॥

श्रीहरिबाबाका बाँध
गँवा (बदायूँ)
फाल्गुनशुक्ला ६,
१९८८ वि०

कृपाकटाक्षका आकांक्षी—
तुम्हारा पुराना सेवक
प्रभु

---

* हे जनार्दन ! मेरेद्वारा जो कुछ हुआ है, हो रहा है और जो आगे होगा यह सब तुमने ही कराया है, इसलिये तुम्हीं इन सबके फलभोक्ता हो।

प्राक्कथन

आनन्दलीलामयविग्रहाय
हेमाभदिव्यच्छविसुन्दराय।
तस्मै महाप्रेमरसप्रदाय
चैतन्यचन्द्राय नमो नमस्ते ॥*
(चैतन्यचन्द्रामृतस्य)

पुण्यवती नवद्वीप नगरीमें मिश्रवंशावतंस पुरन्दर-उपाधि-विशिष्ट पण्डितप्रवर श्रीजगन्नाथ मिश्रके यहाँ भाग्यवती शचीदेवीके गर्भमें तेरह मास रहकर महाप्रभु गौराङ्गदेव सं० १४०६ शकाब्द (वि० १५४१) की फाल्गुनकी पूर्णिमाके दिन इस धराधामपर अवतीर्ण हुए। बाल्यकालसे ही इन्होंने अपने अद्भुत-अद्भुत ऐश्वर्य प्रदर्शित किये। अपनी अलौकिक बाल-लीलाओंसे ये अपने माता-पिता, भाई-बन्धु तथा पुरजन-परिजनोंको आनन्दित

---

* जिनका श्रीविग्रह आनन्द-लीलामय ही बना हुआ है, जिनके शरीरकी सुन्दर कान्ति सुवर्णके समान शोभायमान और देदीप्यमान है, जो प्राणियोंको पूर्ण प्रेम प्रदान करनेवाले हैं, चन्द्रमाके समान शीतल प्रेमरूपी किरणोंके द्वारा भक्तोंके सन्तापोंको शान्त करनेवाले उन श्रीचैतन्यदेवके चरण-कमलोंमें हम बार-बार प्रणाम करते हैं।

करते हुए जब इनकी अवस्था सात-आठ वर्षकी हुई तब इनके अग्रज विश्वरूपजी अपने पिता-माताको बिलखते छोड़कर संसारत्यागी विरागी बन गये। तब इन्होंने पुत्र-शोकसे दुखी हुए माता-पिताको अल्पावस्थामें ही अपने अनुपम सान्त्वनामय वाक्योंसे शान्ति प्रदान की और माता-पिताकी विचित्र भाँतिसे अनुमति प्राप्त करके विद्याध्ययनमें ही अपना सम्पूर्ण समय बिताने लगे। कालान्तरमें इनके पूज्य पिता परलोकवासी हुए, तब सम्पूर्ण घर-गृहस्थीका भार इन्हींके ऊपर आ पड़ा। इसीलिये सोलह वर्षकी अल्पायुमें ही ये अध्यापकीके अत्युच्च आसनपर आसीन हुए और कुछ कालके अनन्तर द्रव्योपार्जन तथा मनोरञ्जन और लोक-शिक्षणके निमित्त इन्होंने राढ़-देशमें भ्रमण किया। विवाह पहले ही हो चुका था। राढ़-देशसे लौटनेपर अपनी प्राणप्रिया प्रथम पत्नी लक्ष्मीदेवीको इन्होंने घरपर नहीं पाया, उन्हें पतिरूपी वियोग-भुजंगने डस लिया था। माताकी प्रसन्नताके निमित्त उनके आग्रह करनेपर श्रीविष्णुप्रियाजीके साथ इनका दूसरा विवाह हुआ। कुछ काल अध्यापकी करते हुए, और गार्हस्थ्य-जीवनका सुख भोगनेके अनन्तर इन्होंने पितृऋणसे उऋण होनेके निमित्त अपने पूर्व-पितरोंकी प्रसन्नता और श्राद्ध करनेके लिये श्रीगयाधामकी यात्रा की। वहींपर स्वनामधन्य श्रीस्वामी ईश्वरपुरीने न जाने इनके कानमें कौन-सा मन्त्र फूँक दिया कि उसके सुनते ही ये पागल हो गये और सदा प्रेम-वारुणीका पान किये हुए उसके मदमें भूले-से, भटके-से,

उन्मत्त-से, सिड़ी-से, पागल-से बने हुए ये सदा लोकबाह्य प्रलाप-सा करने लगे। ऐसी दशामें पढ़ना-पढ़ाना सभी कुछ छूट गया। बस, प्रेममें उन्मत्त होकर प्रेमी भक्तोंके सहित अहर्निश श्रीकृष्ण-कीर्तन करते रहना ही इनके जीवनका एकमात्र व्यापार बन गया। पुराना जीवन एकदम परिवर्तित हो गया। गयासे आनेपर अध्यापकीका अन्त होनेपर इनके पुराने जीवनके कार्यक्रमका भी अन्त ही हो गया। यह गौराङ्ग महाप्रभुके जीवनका प्रथम भाग है, जिसका विस्तारके साथ वर्णन पाठक-वृन्द 'श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली' के प्रथम खण्डमें पढ़ ही चुके होंगे।

महाप्रभुके असली प्रेममय जीवनका आरम्भ तो उनके जीवनके दूसरे ही भागमें होता है, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं। प्रथम खण्डको तो उनके असली जीवनकी भूमिका ही समझनी चाहिये। भूमिकाका असली वस्तुके बिना कोई महत्त्व ही नहीं। प्रेम-जीवन ही असली जीवन है। जिस जीवनमें प्रेम नहीं उसे 'जीवन' कहना ही पाप है। वह तो 'जड़ जीवन' है। जिस प्रकार ईंट-पत्थर पृथ्वीपर पड़े हुए अपनी आयु बिताते हुए भूमिका भार बने हुए हैं, वही दशा प्रेमसे रहित जीवन बितानेवाले व्यक्तिकी है। हिन्दीके किसी कविने निम्न पद्यमें प्रेमका कैसा सुन्दर आदर्श बताया है—

प्रेम ही सब प्राणियोंके पुण्य-पथका द्वार है।
प्रेमसे ही जगत्का होता सदा उपकार है॥

जिस हृदयमें प्रेमका उठता नहीं उद्गार है।
व्यक्ति वह निस्सार है, वह मनुज भूका भार है॥

सचमुच प्रेमके बिना जीवन इस भूमिका भार ही है। महाप्रभुके जीवनमें प्रेम ही एक प्रधान वस्तु है। उनका जीवन प्रेममय था या वे स्वयं ही प्रेममय बने हुए थे। कैसे भी कह लीजिये, उनके जीवनसे और प्रेमसे अभेद सम्बन्ध हो गया था। 'गौरजीवन' और 'प्रेम' ये दोनों पर्यायवाची शब्द ही बन गये हैं। इन बातोंका पूर्णरीत्या तो नहीं, हाँ, कुछ-कुछ आभास पाठकोंको श्रीश्रीचैतन्य-चरितावलीके पढ़नेसे मिल जायगा।

'श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली' के सम्बन्धमें एक बात हम पाठकोंको बता देना आवश्यक समझते हैं। वह यह कि यह ग्रन्थ न तो किसी भी भाषाके ग्रन्थका भावानुवाद है और न किसी ग्रन्थके आधारपर ही लिखा गया है। इसका एक प्रधान कारण है, प्रायः गौराङ्ग महाप्रभुके सम्बन्धका समस्त साहित्य या तो बंगला-भाषामें है या संस्कृत-भाषामें। उस सम्पूर्ण साहित्यके लेखक बंगदेशी ही महानुभाव हैं और वे भी चैतन्य-सम्प्रदायके ही सज्जन। उन सभी लेखकोंने चैतन्य-जीवनको बंगाली हाव-भाव और रीति-रिवाजोंके ही अधीन होकर लिखा है, क्योंकि बंगाली होनेके कारण वे ऐसा करनेके लिये मजबूर थे। इसके अतिरिक्त एक और भी बात है। आजतक गौड़ीय सम्प्रदायके जितने भी चैतन्य-चरित्र-सम्बन्धी लेखक हुए हैं, उनका दो बातोंके ऊपर प्रधान लक्ष्य रहा है। एक तो अद्वैत-वेदान्त-सम्बन्धी

सिद्धान्तको मायावाद बताकर उसकी असच्छास्त्रता सिद्ध करना और दूसरे गौराङ्गदेवको सभी अवतारोंके आदि-कारण 'अवतारी' के पदपर बिठाना। बस, इन दोनों बातोंको भाँति-भाँतिसे सिद्ध करनेके ही निमित्त प्रायः सभी चैतन्यदेवके चरित्र-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये हैं। उन परम भावुक लेखकोंने मायावादियोंको उल्टी-सुल्टी सुनानेमें और श्रीचैतन्यदेवको साक्षात् पूर्ण परब्रह्म नहीं माननेवालोंको कोसनेमें ही अपनी अधिक शक्ति व्यय की है। मायावादियोंको नीचा दिखाने और गौराङ्गके 'अवतारित्व' को सिद्ध करनेमें गौराङ्गका असली प्रेममय जीवन छिप-सा गया है। विपक्षियोंका खण्डन करनेमें वे लेखकवृन्द महाप्रभुके '*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना*' वाले उपदेशको प्रायः भूल गये हैं। उनका यह काम एक प्रकारसे ठीक भी है, क्योंकि उनका जीवनी लिखनेका प्रधान उद्देश्य ही यह था, कि लोग सब कुछ छोड़-छाड़कर श्रीगौराङ्गको ही साक्षात् श्रीकृष्ण मानकर एकमात्र उन्हींकी शरणमें आ जायँ। श्रीगौराङ्गकी शरणमें आये बिना जीवोंकी निष्कृतिका दूसरा उपाय ही नहीं। उन्होंने तो अपने दृष्टिकोणसे लोगोंके परमकल्याणकी ही चेष्टा की और कुछ गौर-भक्तोंमें गौराङ्गका 'अवतारित्वपना' सिद्ध करके अपने परिश्रमको सफल बना भी लिया।

हमारी इस बातको सुनकर कुछ गौड़ीय सम्प्रदायके महानुभाव

क्रोधके कारण हमपर रोष प्रकट करते हुए पूछेंगे—'क्या महाप्रभु गौराङ्गदेव साक्षात् परब्रह्म परमात्मा नहीं थे? क्या राधाभावका रसास्वादन करनेके निमित्त स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण ही गौररूपसे अवतीर्ण नहीं हुए थे?' उन महानुभावोंके श्रीचरणोंमें मैं अत्यन्त ही विनम्रभावसे यह प्रार्थना करूँगा कि—श्रीमहाप्रभु श्रीगौराङ्गदेव साक्षात् श्रीकृष्णके अवतार थे या नहीं, इस बातका मुझे पता नहीं, किन्तु वे महान् प्रेमी अवश्य हैं। प्रेमकी प्राप्तिके लिये जितने त्याग-वैराग्यकी आवश्यकता होती है, वह पूर्णरीत्या महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवके जीवनमें पाया जाता है। भक्तिके परमप्रधान त्याग और वैराग्य ये दो ही साधन हैं। प्रेम भक्तिका फल है। इसीलिये महाप्रभुने प्रेमको मोक्षसे भी बढ़कर पञ्चम पुरुषार्थ बताया है। उस प्रेमकी उपलब्धि अहैतुकी भक्तिके द्वारा ही हो सकती है, और भक्ति त्याग-वैराग्यके बिना हो ही नहीं सकती। अतः महाप्रभु गौराङ्गके जीवनमें त्याग, वैराग्य और भक्ति इन तीन भावोंकी तीन पृथक्-पृथक् धाराएँ बहकर अन्तमें प्रेमरूपी महासागरमें मिलकर वे एक हो गयी हैं। इन पंक्तियोंके लेखकके द्वारा इन्हीं तीनों भावोंको प्रधानता देते हुए यह जीवनी लिखी गयी है। महाप्रभुके जीवन-सम्बन्धी घटनाओंका आधार तो बंगलाकी 'चैतन्य-भागवत', 'चैतन्य-मंगल' और 'चैतन्य-चरितामृत' आदि प्राचीन पुस्तकोंसे लिया गया है और उन घटनाओंको श्रीमद्भागवतके भावरूपी साँचोंमें ढालकर भागवतमय बनाया

गया है । इस प्रकार यह महाप्रभु गौराङ्गदेवको उपलक्ष्य बनाकर असली जिसे 'चैतन्य-जीवन' कहते हैं, उसी भागवत चैतन्य-जीवनका इसमें वर्णन है । प्रेम-जीवन ही चैतन्य-जीवन है । श्रीचैतन्यदेवके समान प्रेमके भावोंको प्रकट करनेवाले प्रेमियोंका अवतार कभी-कभी ही इस धराधामपर होता है । वे अपने प्रेममय आचरणोंसे प्राणिमात्रको सुख पहुँचाते हैं । इसलिये असली प्रेमी देश, काल और जातिके बन्धनोंसे सदा पृथक् ही रहते हैं । उनका जीवन संकीर्ण न होकर सम्पूर्ण संसारको सुख-शान्तिका पाठ पढ़ानेवाला सार्वभौम होता है । वे किसी एक विशेष जातिके भीतर ही क्यों न पैदा हुए हों, किन्तु उनके ऊपर सभी जातिवालोंका समान अधिकार होता है । सभी देशवासी उन्हें अपना ही मानकर पूजते हैं । इसी दृष्टिको सम्मुख रखकर जैसा कुछ इस लेखकके द्वारा लिखाया गया है, वैसा आपलोगोंके सम्मुख उपस्थित है । उक्त उद्देश्यकी पूर्ति कहाँतक हो सकी है, इसे साम्प्रदायिक संकीर्णतासे रहित पक्षपात-शून्य सहृदय समालोचक महानुभाव ही समझ सकते हैं । हाँ, इतनी बात मैं निरभिमान होकर बताये देता हूँ कि इस पुस्तकमें आये हुए सभी भाव श्रीमद्भागवतके अनुकूल ही हैं । श्रीमद्भागवतकी टीकाओंमें श्रीधरी टीका ही सर्वमान्य समझी जाती है, महाप्रभु भी उसे ही मानते थे । मुझे भी वही टीका मान्य है और उसके विपरीत जहाँतक मैं समझता हूँ, इस ग्रन्थमें कोई भी भाव नहीं आया ।

प्रेमको ही ध्रुव लक्ष्य बनाकर श्रीचैतन्य-चरित्रका वर्णन हो सकता है, किन्तु प्रेम कोई लौकिक भाव तो है ही नहीं। उसका वर्णन भला मायाबद्ध अज्ञानी जीव कर ही कैसे सकता है? प्रेमका वर्णन तो कोई असली प्रेमी ही कर सकता है। बात तो यह ठीक ही है किन्तु प्रेमकी उपलब्धि हो जानेपर फिर उसे इतना होश ही कहाँ रहता है, कि वह उस दशाका वर्णन कर सके। कबीरजी तो कहते हैं—

'नाम-वियोगी ना जिये, जिये तो बाउर होय॥'

हाल तो नाम-वियोगी प्रेमी जीते ही नहीं हैं, यदि दैव-संयोगसे जी भी पड़ें तो वे लोकबाह्य और संसारी लोगोंकी दृष्टिमें बिलकुल पागल बन जाते हैं। उन पागलोंसे प्रेम-पथकी बातें जाननेकी आशा रखना दुराशामात्र ही है। यह तो हम-जैसे प्रेमके नामसे अपने स्वार्थको सिद्ध करनेवाले स्वभावके अधीन प्राणियोंके द्वारा ही वे ऐसा काम कराते हैं। इसमें कुछ-न-कुछ लाभ तो प्रेम-पथके पथिकोंको होगा ही। जिस प्रकार कोई राजाको देखना चाहता है। किन्तु राजा हमलोगोंकी तरह वैसे ही सब जगह थोड़े ही घूमता रहता है! उसके पास जानेके लिये सात पहरे-वालोंसे अनुमति लेनी पड़ती है, तब कहीं जाकर किसी भाग्य-शालीको राजाके दर्शन होते हैं, नहीं तो ऐसे-वैसोंको तो पहले पहरेवाला पुरुष ही फटकार देता है। अब जिस आदमीने पहले कभी राजाको देखा तो है नहीं और राजाको देखनेकी उसकी प्रबल

इच्छा है, किन्तु असली राजातक उसकी पहुँच नहीं, तब वह चार आनेका टिकट लेकर नाट्यशालामें चला जाता है और वहाँ राजाका अभिनय करनेवाले बनावटी राजाको देखनेपर उसकी इच्छाकी कुछ-कुछ पूर्ति हो जाती है। यद्यपि नाट्य-शालामें उसे असली राजाके दर्शन नहीं हुए, किन्तु तो भी उस बनावटी राजाको देखकर वह राजाके वेषभूषा, वस्त्र-आभूषण, मुकुट-कुण्डल और रोब-दाब तथा प्रभावके विषयमें कुछ कल्पना कर सकता है। उस बनावटी राजाके देखनेसे वह अनुमान लगा सकता है, कि असली राजा शायद ऐसा होगा।

इसी प्रकार इस पुस्तकके पढ़नेसे पाठकोंको प्रेमकी प्राप्ति हो सके, यह तो सम्भव नहीं, किन्तु इसके द्वारा पाठक प्रेमियोंकी दशाका कुछ-कुछ अनुमान अवश्य लगा सकते हैं। उन्हें इस पुस्तकके पढ़नेसे पता चल जायगा कि प्रेममें कैसी मस्ती है, कैसी तन्मयता है, कैसी विकलता है। प्रेम-रसमें छके हुए प्रेमीकी कैसी अद्भुत दशा हो जाती है, उसके कैसे लोक-बाह्य आचरण हो जाते हैं, वह किस प्रकार संसारी लोगोंकी कुछ भी परवा न करके पागलोंकी तरह नृत्य करने लगता है। इन सभी बातोंका दिग्दर्शन पाठकोंको इस पुस्तकके द्वारा हो सकेगा।

अध्यापकीका अन्त होनेके बाद प्रभुका सम्पूर्ण जीवन प्रेममय ही था। अहा, उस मूर्तिके स्मरणमात्रसे हृदयमें कितना भारी आनन्द प्राप्त होता है! पाठक! प्रेममें नृत्य करते हुए गौराङ्ग-

का एक मनोहर-सा चित्र अपने हृदय-पटलपर अङ्कित तो करें।

सुवर्णके समान देदीप्यमान शरीरपर पीताम्बर पड़ा हुआ है। जमीनतक लटकती हुई चौड़ी किनारीदार एक बहुत ही सुन्दर धोती बँधी हुई है। दोनों आँखोंकी पुतलियाँ ऊपर चढ़ी हुई हैं। खुली हुई आँखोंकी कोरोंमेंसे अश्रु निकलकर उन सुन्दर गोल-कपोलोंको भिगोते हुए वक्षस्थलको तर कर रहे हैं। दोनों हाथोंको ऊपर उठाये गौराङ्ग 'हरि बोल, हरि बोल' की सुमधुर ध्वनिसे दिशा-विदिशाओंको गुञ्जायमान कर रहे हैं। उनकी घुँघराली काली-काली लटें वायुके लगनेसे फहरा रही हैं। वे प्रेममें तन्मय होनेके कारण कुछ पीछेकी ओर झुक-से गये हैं। चारों ओर आनन्दमें उन्मत्त होकर भक्तवृन्द नाना भाँतिके वाद्य बजा-बजाकर प्रभुके आनन्दको और भी अत्यधिक बढ़ा रहे हैं। बीच-बीचमें प्रभु किसी-किसी भाग्यवान् भक्तका गाढ़ालिङ्गन करते हैं, कभी किसीका हाथ पकड़कर उसके साथ नृत्य करने लगते हैं। भावुक भक्त प्रभुके चरणोंके नीचेकी धूलि उठा-उठाकर अपने सम्पूर्ण शरीरपर मल रहे हैं। इस स्मृतिमें कितना आनन्द है, कैसा मिठास है, कितनी प्रणयोपासना भरी हुई है? हाय! हम न हुए उस समय! धन्य हैं वे महाभाग जिनके साथ महाप्रभु गौराङ्गदेवने आनन्द-विहार और सङ्कीर्तन तथा नृत्य किया!

सर्वप्रथम नाम-सङ्कीर्तनका सौभाग्य-सुख उन भाग्यशाली

विद्यार्थियोंको प्राप्त हुआ, जो निमाई पण्डितकी पाठशालामें पढ़ते थे। जब निमाई गौरहरि हो गये और पाठशालाकी इतिश्री हो गयी तब मानो निमाई पण्डित प्रेमपण्डित बन गये। अब वे लौकिक पाठ न पढ़ाकर प्रेम-पाठ पढ़ानेवाले अध्यापक बन गये। सर्वप्रथम उनके कृपापात्र होनेका सौभाग्य परम भाग्यशाली स्वनामधन्य श्रीरत्नगर्भाचार्यको प्राप्त हुआ। उन भगवद्-भक्त आचार्यके चरण-कमलोंमें हम बार-बार प्रणाम करते हुए इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं। पाठकोंको प्रथम परिच्छेदमें ही श्रीरत्नगर्भाचार्यजीके ऊपर कृपाकी सर्वप्रथम किरणके प्रकाशित होनेका वृत्तान्त मिलेगा। इस क्षुद्र लेखककी इतनी ही प्रार्थना है, कि इन सभी प्रकरणोंको समाहित चित्तसे पढ़िये। ऐसा विश्वास है, इन सब पाठोंके पढ़नेसे आपको शान्ति मिलेगी।

अन्तमें मैं उन श्रद्धेय और कृपालु महात्माओंके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ, जो अपने देवदुर्लभ दर्शनोंसे इस दीन-हीन कंगालको कृतार्थ करते रहते हैं। ब्र० इन्द्रजी, ब्र० आनन्दजी, ब्र० कृष्णानन्दजी, स्वा० विश्वनाथजी (सम्राट् गौरचन्द्र) आदि अपने प्रेमी धर्म-बन्धुओंको भी यहाँ प्रेम-पूर्वक स्मरण कर लेना अपना कर्तव्य समझता हूँ। इनके सम्बन्धमें धन्यवाद या कृतज्ञता लिखना तो इनके साथ भारी अन्याय होगा क्योंकि ये अपने हैं और अपनोंके सामने धन्यवाद

और कृतज्ञता ऐसे शब्द कहना शोभा नहीं देता, किन्तु ये सभी भगवान्‌के प्यारे हैं, श्रीहरिके कृपापात्र हैं। प्रभुके प्यारोंके स्मरण करनेसे भी पापोंका क्षय होता है। अतः अपने पापोंके क्षय करनेके ही निमित्त इनका स्मरण कर लेना ठीक होगा। ये बन्धु श्रीगौर-गुणोंमें अनुराग रखते हुए अपनी सुखमय संगतिसे मुझे सदा आनन्दित और उत्साहित करते रहते हैं।

भगवत्-भक्तोंके स्मरण कर लेनेके पश्चात् तो मैं समझता हूँ, अब फिरसे भगवान्‌के स्मरणकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। क्योंकि महात्माओंका वचन है—

> भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
> इनके पदवन्दन किये, मेंटत विघ्न अनेक॥

—प्रेमी पाठकोंसे प्रेमका भिखारी
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

ललित त्रिभंगि गतिसे खड़े हुए जो आँखोंकी भौंहोंको थोड़ी चढ़ाये हुए सदा बाँसुरी ही बजाते रहते हैं, जिनके मुखमण्डलपर आजतक मैंने विषादकी रेखा देखी ही नहीं, जो अपने घुँघराले काले-काले कन्धों-तक लटकते हुए बालोंके ऊपर पाँच मयूर-पुच्छोंके मुकुटको पहने रहते हैं, जिनके ऊर्ध्वपुण्ड्रके बीचमें मैं एक छोटी-सी सफेद चन्दनकी गोल बिन्दी रोज और लगा देता हूँ, जिन्हें बाँसुरी बजानेके सिवा कोई दूसरा काम ही नहीं, जो सदा मुरलीको ही मुखपर धारण किये रहते हैं, उन अपने मुरलीमनोहर मोहनको ही सम्पूर्ण मङ्गलोंकी मूर्ति मान-कर स्मरण किये लेता हूँ ।

श्रीनिमाइ-निताइ

श्रीहरिः

कृपाकी प्रथम किरण

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्या-
न्वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥ *
(श्रीमद्भा० ७।७।३४)

हृदयमें जब सरलता और सरसताका साम्राज्य स्थापित हो जाता है, तब चारों ओरसे सद्गुण आ-आकर उसमें अपना निवास-स्थान बनाने लगते हैं। भगवत्-भक्तिके उदय होनेपर सम्पूर्ण सद्गुण उसके आश्रयमें आकर बस जाते हैं। उस समय मनुष्यको पत्तेकी खड़खड़ाहटमें प्रियतमके पदोंकी धमकका

* जिन्होंने भक्तोंके वशीभूत होकर उन्हें सुख पहुँचानेके निमित्त भाँति-भाँतिकी अलौकिक लीलाएँ की हैं, उन श्रीहरिके अद्वितीय गुण-कर्मों तथा अद्भुत वीर्य-पराक्रमोंके माहात्म्यका श्रवण करके प्रेमी भक्तके शरीरमें कभी तो अत्यन्त हर्षके कारण रोमाञ्च हो जाते हैं, कभी आँखोंमेंसे अश्रुधारा बहने लगती है, कभी गद्गद-कण्ठसे वह गान करने लगता है, कभी रोता है और कभी उन्मादीकी भाँति प्रेममें निमग्न होकर नृत्य करने लगता है।

भ्रम होने लगता है, वह पागलकी भाँति चौंककर अपने चारों ओर देखने लगता है। यदि उसके सामने कोई उसके प्यारेकी विरदावलीका बखान करने लगे तब तो उसके आनन्दका पूछना ही क्या है, उस समय तो वह सचमुचमें पागल बन जाता है और उस बखान करनेवालेके चरणोंमें लोटने लगता है। उसकी स्थिति उस विरहिणीकी भाँति हो जाती है, जो चातक-पक्षीके मुखसे भी 'पिउ-पिउ' की कर्णप्रिय मनोहर वाणी सुनकर अपने प्राण-प्यारेकी स्मृतिमें अधीर होकर नयनोंसे नीर बहाने लगती है। क्यों न हो, प्रियतमकी पुण्य-स्मृतिमें मादकता ही इस प्रकारकी है।

महाप्रभु अपने प्रिय-शिष्योंके साथ रास्तेमें प्रेमालाप करते हुए अपने घरकी ओर चले आ रहे थे, कि रास्तेमें उन्हें आचार्य रत्नगर्भजीका घर मिला। ये महाप्रभुके सजातीय ब्राह्मण थे, ये भी सिलहटके ही निवासी थे। प्रभुको रास्तेमें जाते देखकर इन्होंने प्रभुको बड़े ही आदरके साथ बुलाकर अपने यहाँ बिठाया। रत्नगर्भ महाशय बड़े ही कोमल-प्रकृतिके पुरुष थे। इनके हृदयमें काफी भावुकता थी, सरलताकी तो ये मानों मूर्ति ही थे। शास्त्रोंके अध्ययनमें इनका अनुपम अनुराग था। प्रभुके बैठते ही परस्पर शास्त्र-चर्चा छिड़ गयी। रत्नगर्भ महाशयने प्रसङ्गवश श्रीमद्भागवतका एक श्लोक कहा। श्लोक उस समयका था, जब यमुना-किनारे यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंकी पत्नियाँ भगवान्‌के लिये भोज्य-पदार्थ लेकर उनके समीप उपस्थित हुई थीं। श्लोकमें भगवान्‌के उसी स्वरूपका वर्णन था।

बात यों थी, कि एक दिन सभी गोपोंके साथ बलरामजीके सहित भगवान् वनमें गौएँ चरानेके लिये गये । उस दिन गोपोंने गँवारपन कर डाला, रोज जिधर गौओंको ले जाते थे उधर न ले जाकर दूसरी ही ओर ले गये । उधर बड़ी मनोहर हरी-हरी घास थी, गौओंने घास खूब प्रेमके साथ खायी और श्रीयमुनाजी-का निर्मल स्वच्छ जल-पान किया । गौओंका तो पेट भर गया, किन्तु ग्वाल-बाल व्रजकी ही ओर टकटकी लगाये देख रहे थे, कि आज हमारी छाक (भोजन) नहीं आयी । छाक कैसे आवे, गोपियाँ तो रोज दूसरी ओर छाक लेकर जाती थीं । आज उन्होंने उधर जाकर वनमें गौओंकी बहुत खोज की, कहीं भी पता न चला तो वे छाकको लेकर घर लौट आयीं । इधर सभी गोप भूखके कारण तड़फड़ा रहे थे । उन सबने सलाह करके निश्चय किया कि कनुआ और बलुआसे इस बातको कहना चाहिये । वे अवश्य ही इसका कुछ-न-कुछ प्रबन्ध करेंगे । सभी ग्वाल-बाल प्यारसे भग-वान्‌को तो 'कनुआ' कहा करते थे और बलदेवजीको 'बलुआ' के नामसे पुकारते थे । ऐसा निश्चय करके वे भगवान्‌के समीप जाकर कहने लगे---'भैया कनुआ ! तैंने अघासुर, बकासुर, शकटासुर आदि बड़े-बड़े राक्षसोंको बात-की-बातमें मार डाला । बालकोंके प्राण हरनेवाली पूतनाके भी शरीरमेंसे तैंने क्षणभरमें प्राण खींच लिये, किन्तु भैया, तैंने इस राँड़ भूखको नहीं मारा। यह राक्षसी हमें बड़ी पीड़ा पहुँचा रही है, तैंने हमारी समय-समयपर रक्षा की है, हमारे सङ्कटोंको दूर किया है । आज तू हमारी इस दुःखसे भी रक्षा कर । हमें खानेके लिये कहींसे कुछ वस्तु दे ।'

गोपोंकी इस बातको सुनकर भगवान् अपने चारों ओर देखने लगे, किन्तु उन्हें खानेकी कोई भी वस्तु दिखायी न दी। उस वनमें कैथके भी पेड़ नहीं थे। यह देखकर भगवान् कुछ चिन्तित-से हुए। जब उन्होंने बहुत दूरतक दृष्टि डाली तो उन्हें यमुनाजीके किनारे कुछ वेदज्ञ ब्राह्मण यज्ञ करते हुए दिखायी दिये। उन्हें देखकर भगवान् गोप-बालकोंसे बोले—'तुम लोग एक काम करो। यमुना-किनारे वे जो ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं, उनके पास जाओ और उनसे कहना—'हम कृष्ण और बलरामके भेजे हुए आये हैं; हम सब लोगोंको बड़ी भूख लगी है, कृपा करके हमें कुछ खानेके लिये दे दीजिये।' वे तुम्हें भूखा समझकर अवश्य ही कुछ-न-कुछ दे देंगे। रास्तेमें ही चट मत कर आना। यहाँ ले आना। सब साथ-ही-साथ बाँटकर खायँगे।'

भगवान्के ऐसा कहनेपर वे गोप-ग्वाल उन ब्राह्मणोंके समीप पहुँचे। दूरसे ही उन्होंने यज्ञ करनेवाले उन ब्राह्मणोंको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और यज्ञ-मण्डपके बाहर ही अपनी-अपनी लकुटीके सहारे खड़े होकर दीनताके साथ वे कहने लगे—'हे धर्मके जानने-वाले ब्राह्मणो! हम श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीबलदेवजीके भेजे हुए आपके पास आये हैं, इस समय हम सभीको बड़ी भारी भूख लगी हुई है, कृपा करके यदि आपके पास कुछ खानेका सामान हो तो हमें दे दीजिये। जिससे कृष्ण-बलरामके साथ हम अपनी भूखको शान्त कर सकें।' गोपोंके ऐसी प्रार्थना करनेपर वे

ब्राह्मण उदासीन ही रहे। उन्होंने गोपोंकी बातपर ध्यान ही नहीं दिया। जब इन्होंने कई बार कहा तब उन्होंने रुखाईके साथ कह दिया—'तुम लोग सचमुच बड़े मूर्ख हो, अरे, देवताओंके भागमेंसे हम तुम्हें कैसे दे सकते हैं? भाग जाओ, यहाँ कुछ खाने-पीनेको नहीं है।' ब्राह्मणोंके इस उत्तरको सुनकर सभी गोप दुःखित-भावसे भगवान्‌के समीप लौट आये और उदास होकर कहने लगे—'भैया कनुआ, तैंने कैसे निर्दयी ब्राह्मणोंके पास हमें भेज दिया। कुछ देना-लेना तो अलग रहा, वे तो हमसे प्रेमपूर्वक बोले भी नहीं। उन्होंने तो हमें फटकार बताकर यज्ञ-मण्डपसे भगा दिया।'

गोपोंकी ऐसी बात सुनकर भगवान्‌ने कहा—'वे कर्मठ ब्राह्मण हमारे दुःखको भला क्या समझ सकते हैं, जो स्वयं स्वर्ग-सुखका लोभी है, उसे दूसरेके दुःखकी क्या परवा। अबकी तुम लोग उनकी स्त्रियोंके समीप जाओ, उनका हृदय कोमल है, वे शरीरसे तो वहाँ हैं, किन्तु उनका अन्तःकरण मेरे ही समीप है। वे तुम लोगोंको जरूर कुछ-न-कुछ देंगी। तुम लोग हम दोनों भाइयोंका नामभर ले देना।' इस बातको सुनकर गिड़गिड़ाते हुए गोपोंने कहा—'भैया कनुआ! हम तेरे कहनेसे और तो सभी काम कर सकते हैं, किन्तु हम जनानेमें न जायँगे, तू हमें स्त्रियोंके पास जानेके लिये मत कहे।'

भगवान्‌ने हँसते हुए उत्तर दिया—'अरे, मेरी तो जान-पहिचान जनानेमें ही है। मेरे नामसे तो वे ही सब कुछ दे सकती हैं। तुम लोग जाओ तो सही।'

भगवान्‌की ब्राह्मण-पत्नियोंसे जान-पहिचान पुरानी थी। बात यह थी कि मथुराकी मालिन पुष्प चुननेके निमित्त नित्य-प्रति वृन्दावन आया करती थीं। जब वे ब्राह्मणोंके घरोंमें पुष्प देने जातीं तभी स्त्रियोंसे श्रीकृष्ण और बलरामके अद्भुत रूप-लावण्यका बखान करतीं और उनकी अलौकिक लीलाओंका भी गुणगान किया करतीं। उन्हें सुनते-सुनते ब्राह्मण-पत्नियोंके हृदयमें इन दोनोंके प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। वे सदा इनके दर्शनोंके लिये छटपटाती रहती थीं। उनकी उत्सुकता आवश्यकता-से अधिक बढ़ गयी थी। उनकी लालसाको पूर्ण करनेके ही निमित्त भगवान्‌ने यह लीला रची थी।

जब भगवान्‌ने कई बार जोर देकर कहा तब तो उदास मनसे गोप ब्राह्मण-पत्नियोंके पास पहुँचे और उसी प्रकार दीनताके साथ उन्होंने कहा—'हे ब्राह्मण-पत्नियो! यहाँसे थोड़ी ही दूरपर बलदेवजी और श्रीकृष्णचन्द्रजी बैठे हैं। वे दोनों ही बहुत भूखे हैं। यदि तुम्हारे पास कुछ खानेकी वस्तु हो, तो उन्हें जाकर दे आओ।' ब्राह्मण-पत्नियोंका इतना सुनना था, कि वे प्रेमके कारण अधीर हो उठीं। यह सुनकर कि श्रीराम-कृष्ण भूखे बैठे हैं उनकी अधीरताका ठिकाना नहीं रहा। जिनके दर्शनोंकी

चिरकालसे इच्छा थी, जिनकी मनोहर मूर्तिके दर्शनके लिये नेत्र छटपटा-से रहे थे, वे ही श्रीकृष्ण-बलराम भूखे हैं और भोजनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, इस बातसे उन्हें सुख-मिश्रित दुःख-सा हुआ। वे जल्दीसे भाँति-भाँतिके पकवानोंको थालोंमें सजाकर श्रीकृष्णके समीप जानेके लिये तैयार हो गयीं। उनके पतियोंने बहुत मना किया, किन्तु उन्होंने एक भी न सुनी और प्रेममें मतवाली हुई जल्दीसे श्रीकृष्णके समीप पहुँचनेका प्रयत्न करने लगीं।

उस समय भगवान् खूब सज-बजकर ठाठके साथ खड़े-खड़े उसी ओर देख रहे थे, कि कोई आती है या नहीं। भगवान् व्यासदेवजीने बड़ी ही सुन्दरताके साथ भगवान्के उस मधुर गोपवेशका सजीव और जीता-जागता चित्र खींचा है। भगवान्-का उस समयका वेश कैसा है—'उनका शरीर नूतन मेघके समान श्याम रंगका है। उसपर वे पीताम्बर धारण किये हुए हैं, गलेमें वनमाला शोभित हो रही है। मस्तकपर मोरपंखका मनोहर मुकुट शोभित हो रहा है, सम्पूर्ण शरीरको सेलखड़ी, गेरू, पोतनी मिट्टी, यमुनारज आदि भाँति-भाँतिकी धातुओंसे रँग लिया है। कहीं गेरूकी लकीरें खींच रखी हैं, कहीं यमुना-रज मल रखी है,, कहींपर सेलखड़ी घिसकर उसकी बिन्दियाँ लगा रखी है। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीरको सजा लिया है। कानोंमें भाँति-भाँतिके कोमल-कोमल पत्ते उरस रखे हैं। सुन्दर

नटका-सा वेश बनाये एक मित्रके कन्धेपर हाथ रखे हुए हैं। उनकी काली-काली घुँघुराली लटें सुन्दर गोल कपोलोंके ऊपर लटक रही हैं। मन्द-मन्द मुस्कराते हुए उसी ओर देख रहे हैं। भगवान्के ऐसे मनोहर वेशको देखकर कौन सहृदय पुरुष अपने आपेमें रह सकता है ? आचार्य रत्नगर्भका कण्ठ बड़ा ही कोमल और सुरीला था, वे बड़े लहजेके साथ प्रेममें गद्गद होकर इस श्लोकको पढ़ने लगे—

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥

(श्रीमद्भा० पू० १० । २३ । २२)

बस, इस श्लोकका सुनना था, कि महाप्रभु प्रेममें उन्मत्त-से हो गये। जोरोंके साथ जहाँ बैठे थे, वहींसे उछले और उसी समय मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। उन्हें न शरीरका होश है न स्थानका। वे बेहोश पड़े जोरोंके साथ लम्बी-लम्बी साँसें ले रहे थे, थोड़ी देरमें कहने लगे—'आचार्य, मेरे हृदयमें प्रेमका सञ्चार कर दो, कानोंमें अमृत भर दो। फिरसे मुझे श्लोक सुना दो। मेरा हृदय शीतल हो रहा है। अहा—'*श्यामं हिरण्यपरिधिं*' कैसे-कैसे, हाँ-हाँ फिरसे सुनाइये।' आचार्य उसी लहजेके साथ फिर श्लोक पढ़ने लगे—

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥
(श्रीमद्भा० पू० १०।२३।२२)

दूसरी बार श्लोकका सुनना था, कि महाप्रभु जोरोंसे फूट-फूटकर रोने लगे। इनके रुदनको सुनकर आस-पासके बहुत-से आदमी वहाँ जुट आये। सभी प्रभुकी ऐसी दशा देखकर चकित हो गये। आजतक किसीने भी ऐसा प्रेमका आवेग किसी भी पुरुषमें नहीं देखा था। प्रभुके कमलके समान दोनों नेत्रोंकी कोरोंसे श्रावण-भादोंकी वर्षाकी भाँति शीतल अश्रुकण गिर रहे थे। वे प्रेममें विह्वल होकर कह रहे थे—'प्यारे कृष्ण ! कहाँ हो ? क्यों नहीं मुझे हृदयसे चिपटा लेते। अहा, वे ब्राह्मण-पत्नियाँ धन्य हैं, जिन्हें नटनागरके ऐसे अद्भुत दर्शन हुए थे।' यह कहते-कहते प्रभुने प्रेमावेशमें आकर रत्नगर्भको जोरोंसे आलिंगन किया। प्रभुके आलिंगनमात्रसे ही रत्नगर्भ उन्मत्त हो गये। अबतक तो एक ही पागलको देखकर लोग आश्चर्यचकित हो रहे थे, अब तो एक ही जगह दो पागल हो गये। रत्नगर्भ कभी तो जोरोंसे हँसते, कभी रुदन करते और कभी प्रभुके पादपद्मोंमें पड़कर प्रेमकी भिक्षा माँगते। कभी रोते-रोते फिर उसी श्लोक-को पढ़ने लगते। रत्नगर्भ ज्यों-ज्यों श्लोक पढ़ते, प्रभुकी वेदना त्यों-ही-त्यों अत्यधिक बढ़ती जाती। वे श्लोकके श्रवणमात्रसे ही

बार-बार मूर्छित होकर गिर पड़ते थे। रत्नगर्भको कुछ भी होश नहीं था, वे बेसुध होकर श्लोकका पाठ करते और बीच-बीचमें जोरोंसे रुदन भी करने लगते। जैसे-तैसे गदाधर पण्डितने पकड़कर रत्नगर्भको श्लोक पढ़नेसे शान्त किया। तब कहीं जाकर प्रभुको कुछ-कुछ बाह्य ज्ञान हुआ। कुछ होश होनेपर सभी मिलकर गंगा-स्नान करने गये और फिर सभी प्रेममें छके हुए-से अपने-अपने घरोंको चले गये। इस प्रकार प्रभुकी सर्वप्रथम कृपा-किरणके अधिकारी रत्नगर्भाचार्य ही हुए। उन्हें ही सर्व-प्रथम प्रभुकी असीम अनुकम्पाका आदि-अधिकारी समझना चाहिये।

भक्त-भाव

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥*

(श्रीकृष्णचैतन्यशिक्षाष्टक)

भक्त-गण दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर इन पाँचों भावोंके द्वारा अपने प्रियतमकी उपासना करते हैं। उपासनामें ये ही पाँच भाव मुख्य समझे गये हैं, किन्तु इन पाँचोंमें भी दास्य-भाव ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रधान है। या यों कह लीजिये कि दास्यभाव ही इन पाँचों भावोंका मुख्य प्राण है। दास्यभावके बिना न तो सख्य ही हो सकता है और न वात्सल्य, शान्त तथा मधुर ही। कोई भी भाव क्यों न हो, दास्यभाव उसमें अव्यक्तरूपसे जरूर छिपा रहेगा। दास्यके बिना प्रेम हो ही

---

* अपने आपको तृणसे भी नीचा समझना चाहिये तथा तरुसे भी अधिक सहनशील बनना चाहिये। स्वयं तो सदा अमानी ही बने रहना चाहिये, किन्तु दूसरोंको सदा सम्मान प्रदान करते रहना चाहिये। अपनेको ऐसा बना लेनेपर ही श्रीकृष्ण-कीर्तनके अधिकारी बन सकते हैं। क्योंकि श्रीकृष्ण-कीर्तन प्राणियोंके लिये सर्वदा कीर्तनीय वस्तु है।

नहीं सकता। जो स्वयं दास बनना नहीं जानता वह स्वामी कभी बन ही नहीं सकेगा, जिसने स्वयं किसीकी उपासना तथा वन्दना नहीं की है, वह उपास्य तथा वन्दनीय हो ही नहीं सकता। तभी तो अखिल ब्रह्माण्डकोटिनायक श्रीहरि स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं *'क्रीतोऽहं तेन चार्जुन'* हे अर्जुन ! भक्तोंने मुझे खरीद लिया है, मैं उनका क्रीतदास हूँ। क्योंकि वे स्वयं चराचर प्राणियोंके स्वामी हैं इसलिये स्वामीपनेके भावको प्रदर्शित करनेके निमित्त वे भक्त तथा ब्राह्मणोंके स्वयं दास होना स्वीकार करते हैं और उनकी पदरजको अपने मस्तकपर चढ़ानेके निमित्त सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करते हैं।

महाप्रभु अब भावावेशमें आकर भक्तोंके भावोंको प्रकट करने लगे। भक्तोंको सम्पूर्ण लोगोंके प्रति और भगवत्-भक्तोंके प्रति किस प्रकारके आचरण करने चाहिये, उनमें भागवत पुरुषोंके प्रति कितनी दीनता, कैसी नम्रता होनी चाहिये, इसकी शिक्षा देनेके निमित्त वे स्वयं आचरण करके लोगोंको दिखाने लगे। क्योंकि वे तो भक्ति-भावके प्रदर्शक भक्तशिरोमणि ही ठहरे। उनके सभी कार्य लोकमर्यादा-स्थापनके निमित्त होते थे। उन्होंने मर्यादाका उल्लंघन कहीं भी नहीं किया, यही तो प्रभुके जीवनमें एक भारी विशेषता है।

अध्यापकीका अन्त हो गया, बाह्यशास्त्र पढ़ना तथा पढ़ाना दोनों ही छूट गये, अब न वह पहिला-सा चाञ्चल्य है और न

शास्त्रार्थ तथा वाद-विवादकी उन्मादकारी धुन, अब तो इनपर दूसरी ही धुन सवार हुई है, जिस धुनमें ये सभी संसारी कामोंको ही नहीं भूल गये हैं, किन्तु अपने आपको भी विस्मृत कर बैठे हैं। इनके भाव अलौकिक हैं, इनकी बातें गूढ़ हैं, इनके चरित्र रहस्यमय हैं, भला सर्वदा स्वार्थमें ही सने रहनेवाले संसारी मनुष्य इनके भावोंको समझ ही कैसे सकते हैं। अब ये नित्य-प्रति प्रातःकाल गङ्गा-स्नानके निमित्त जाने लगे। रास्तेमें जो भी ब्राह्मण, वैष्णव तथा वयोवृद्ध पुरुष मिलता उसे ही नम्रतापूर्वक प्रणाम करते और उसका आशीर्वाद ग्रहण करते।

गङ्गाजीपर पहुँचकर ये प्रत्येक वैष्णवकी पदधूलिको अपने मस्तकपर चढ़ाते। उनकी वन्दना करते और भावावेशमें आकर कभी-कभी प्रदक्षिणा भी करने लगते। भक्तगण इन्हें भाँति-भाँतिके आशीर्वाद देते। कोई कहता—'भगवान् करे आपको भगवान्‌की अनन्य भक्तिकी प्राप्ति हो।' कोई कहता—'आप प्रभुके परम प्रिय बनें।' कोई कहता—'श्रीकृष्ण तुम्हारी सभी मनोकामनाओंको पूर्ण करें।' सबके आशीर्वादोंको सुनकर प्रभु उनके चरणोंमें लोट जाते और फूट-फूटकर रोने लगते। रोते-रोते कहते—'आप सभी वैष्णवोंके आशीर्वादका ही सहारा है, मुझ दीन-हीन कङ्गालपर आप सभी लोग कृपा कीजिये। भागवत पुरुष बड़े ही कोमल स्वभावके होते हैं, उनका हृदय करुणासे सदा भरा हुआ होता है, वे पर-पीड़ाको देखकर सदा

दुखी हुआ करते हैं। मुझ दुखियाके दुखको भी दूर करो मुझे श्रीकृष्णसे मिला दो, मेरी मनोकामना पूर्ण कर दो, मे सत्संकल्पको सफल बना दो। यही मेरी आप सभी वैष्णवोंके चरणोंमें विनीत प्रार्थना है।'

घाटपर बैठे हुए वैष्णवोंकी, प्रभु जो भी मिल जाती वही सेवा कर देते। किसीका चन्दन ही घिस देते, किसीकी गीली धोतीको ही धो देते। किसीके जलके घड़ेको भरकर उनके घरतक पहुँचा आते। किसीके सिरमें आँवला तथा तैल ही मलने लगते। भक्तोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेमें ये सबसे अधिक सुखका अनुभव करते। वृद्ध वैष्णव इन्हें भाँति-भाँतिके उपदेश करते। कोई कहता 'निरन्तर श्रीकृष्ण-कीर्तन करते रहना ही एकमात्र सार है। तुम्हें श्रीकृष्ण ही कहना चाहिये, कृष्णके मनोहर नामोंका ही स्मरण करते रहना चाहिये। श्रीकृष्ण-कथाओंके अतिरिक्त अन्य कोई भी संसारी बातें न सुननी चाहिये। सम्पूर्ण जीवन श्रीकृष्णमय ही हो जाना चाहिये। खाते कृष्ण, पीते कृष्ण, चलते कृष्ण, उठते कृष्ण, बैठते कृष्ण, हँसते कृष्ण, रोते कृष्ण, इस प्रकार सदा कृष्ण-कृष्ण ही कहते रहना चाहिये। श्रीकृष्णनामामृतके अतिरिक्त इन्द्रियोंको किसी प्रकारके दूसरे आहारकी आवश्यकता ही नहीं है। इसीका पान करते-करते वे सदा अतृप्त ही बनी रहेंगी।'

वृद्ध वैष्णवोंके सदुपदेशोंको ये श्रद्धाके साथ श्रवण करते, उनकी वन्दना करते और उनकी पद-धूलिको मस्तकपर चढ़ाते

तथा अञ्जन बनाकर आँखोंमें आँजने लगते। इनकी ऐसी भक्ति देखकर वैष्णव कहने लगते—'कौन कहता है, निमाई पण्डित पागल हो गया है, ये तो श्रीकृष्ण-प्रेममें मतवाले बने हुए हैं। इन्हें तो प्रेमोन्माद है। अहा! धन्य है इनकी जननीको जिनकी कोखसे ऐसा सुपुत्र उत्पन्न हुआ। वैष्णवगण इस प्रकार इनकी परस्परमें प्रशंसा करने लगते।'

इधर महाप्रभुकी ऐसी विचित्र दशा देखकर शचीमाता मन-ही-मन बड़ी दुखी होतीं। वह दीन होकर भगवान्‌से प्रार्थना करतीं—'प्रभो! इस विधवाके एकमात्र आश्रयको अपनी कृपा-का अधिकारी बनाओ। नाथ! इस सदसठ वर्षकी अनाथिनी दुखिया-की दीन-हीन दशापर ध्यान दो। पति परलोकवासी बन चुके, ज्येष्ठ पुत्र विलखती छोड़कर न जाने कहाँ चला गया। अब आगे-पीछे यही मेरा एकमात्र सहारा है। इस अन्धी वृद्धाका यह निमाई ही एकमात्र लकुटी है। इस लकुटीके ही सहारे यह संसारमें चल-फिर सकती है। हे अशरण-शरण! इसे रोगमुक्त कीजिये, इसे सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान कीजिये।' भोलीभाली माता सभीके सामने अपना दुखड़ा रोतीं। रोते-रोते कहने लगतीं—'न जाने निमाईको क्या हो गया है, वह कभी तो रोता है, कभी हँसता है, कभी गाता है, कभी नाचता है, कभी रोते-रोते मूर्छित होकर गिर पड़ता है, कभी जोरोंसे दौड़ने लगता है और कभी किसी पेड़पर चढ़ जाता है।'

स्त्रियाँ भाँति-भाँतिकी बातें कहतीं। कोई कहती—'अम्मा-जी! तुम भी बड़ी भोली हो, इसमें पूछना ही क्या है, वही पुराना वायुरोग है। समय पाकर उभर आया है। किसी अच्छे वैद्यसे इसका इलाज कराइये।'

कोई कहती—'वायु रोग बड़ा भयङ्कर होता है, तुम निमाईके दोनों पैरोंको बाँधकर उसे कोठरीमें बन्द करके रखा करो, खानेके लिये हरे नारियलका जल दिया करो। इससे धीरे-धीरे वायुरोग दूर हो जायगा।' कोई-कोई सलाह देतीं—'शिवातैलका सिरमें मर्दन कराओ, सब ठीक हो जायगा। भगवान् सब भला ही करेंगे। वे ही हम सब लोगोंकी एकमात्र शरण हैं।'

बेचारी शचीमाता सबकी बातें सुनतीं और सुनकर उदासभाव-से चुप हो जातीं। इकलौते पुत्रके पैर बाँधकर उसे कोठरीमें बन्द कर देनेकी उसकी हिम्मत न पड़ती। बेचारी एक तो पुत्रके दुःखसे दुखी थी, दूसरा उसे विष्णुप्रियाका दुख था। पतिकी ऐसी दशा देखकर विष्णुप्रिया सदा चिन्तित ही बनी रहतीं। उन्हें अन्न-जल कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उदासीन-भावसे सदा पतिके ही सम्बन्धमें सोचती रहतीं। शचीमाताके बहुत अधिक आग्रह करनेपर पतिके उच्छिष्ट अन्नमेंसे दो-चार ग्रास खा लेतीं, नहीं तो सदा वैसे ही बैठी रहतीं। इससे शचीमाताका दुख दुगुना हो गया था। उनकी अवस्था सड़सठ वर्षकी थी। वृद्धावस्थाके

कारण इतना दुःख उनके लिये असह्य था। किन्तु नीलाम्बर चक्रवर्तीकी पुत्रीको जगन्नाथ मिश्र-जैसे पण्डितकी धर्मपत्नीको तथा विश्वरूप और विश्वम्भर-जैसे महापुरुषोंकी माताके लिये ये सभी दुःख स्वाभाविक ही थे, वे ही इन दुःखोंका सहन करनेमें भी समर्थ हो सकती थीं, साधारण स्त्रियोंका काम नहीं था, कि वे इतने भारी-भारी दुःखोंको सहन कर सकें।

महाप्रभुकी नूतनावस्थाकी नवद्वीपभरमें चर्चा होने लगी। जितने मुख थे उतने ही प्रकारकी बातें भी होती थीं। जिसके मनमें जो आता वह उसी प्रकारकी बातें कहता। बहुत-से तो कहते—'ऐसा पागलपन तो हमने कभी नहीं देखा।' बहुत-से कहते—'सचमुचमें भाव तो विचित्र है कुछ समझमें नहीं आता, असली बात क्या है। चेष्टा तो पागलोंकी-सी जान नहीं पड़ती। चेहरेकी कान्ति अधिकाधिक दिव्य होती जाती है। उनके दर्शन-मात्रसे ही हृदयमें हिलोरें-सी मारने लगती हैं, अन्तःकरण उमड़ने लगता है। न जाने उनकी आकृतिमें क्या जादू भरा पड़ा है। पागलोंकी भी कहीं ऐसी दशा होती है?' कोई-कोई इन बातोंका खण्डन करते हुए कहने लगते—'कुछ भी क्यों न हो, है तो यह मस्तिष्कका ही विकार। किसी प्रकारकी हो, यह वात-व्याधिके सिवाय और कुछ नहीं है।'

हम पहिले ही बता चुके हैं, कि श्रीवास पण्डित प्रभुके पूज्य पिताजीके परम स्नेही और सखा थे, उनकी पत्नी मालती

देवीसे शचीमाताका सखीभाव था, वे दोनों ही प्रभुको पुत्रकी भाँति प्रेम करते थे। श्रीवास पण्डितको इस बातका हार्दिक दुःख बना रहता था, कि निमाई पण्डित-जैसे समझदार और विद्वान् पुरुष भगवत्-भक्तिसे उदासीन ही बने हुए हैं, उनके मनमें सदा यही बात बनी रहती कि निमाई पण्डित कहीं वैष्णव बन जाय तो वैष्णव-धर्मका बेड़ा पार ही हो जाय। फिर वैष्णवोंकी आजकी भाँति दुर्गति कभी न हो। प्रभुके सम्बन्धमें लोगोंके मुखोंसे भाँति-भाँतिकी बातें सुनकर श्रीवास पण्डितके मनमें परम कुतूहल हुआ, वे आनन्द और दुःखके बीचमें पड़कर भाँति-भाँतिकी बातें सोचने लगे। कभी तो सोचते—'सम्भव है, वायुरोग ही उभड़ आया हो, इस शरीरका पता ही क्या है ? शास्त्रोंमें इसे अनित्य और आगमापायी बताया है, रोगोंका तो यह घर ही है।' फिर सोचते—'लोगोंके मुखोंसे जो मैं लक्षण सुन रहा हूँ, वैसे तो भगवत्-भक्तोंमें ही होते हैं, मेरा हृदय भी भीतर-ही-भीतर किसी अज्ञात सुखका-सा अनुभव कर रहा है, कुछ भी हो, चलकर उनकी दशा देखनी चाहिये।' यह सोचकर वे प्रभुकी दशा देखनेके निमित्त अपने घरसे चल दिये।

महाप्रभु उस समय श्रीतुलसीजीमें जल देकर उनकी प्रदक्षिणा कर रहे थे। पिताके समान पूजनीय श्रीवास पण्डितको देखकर प्रभु उनकी ओर दौड़े और प्रेमके साथ उनके गलेसे लिपट गये। श्रीवासने प्रभुके अंगोंका स्पर्श किया। प्रभुके

अंगोंके स्पर्शमात्रसे उनके शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी। उनके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो गया। वे प्रेममें विमोर होकर एकटक प्रभुके मनोहर मुखकी ही ओर देखते रहे। प्रभुने उन्हें आदरसे ले जाकर भीतर बिठाया और उनकी गोदीमें अपना सिर रखकर वे फूट-फूटकर रोने लगे। शचीमाता भी श्रीवास पण्डितको देखकर वहाँ आ गयीं और रो-रोकर प्रभुकी व्याधिकी बातें सुनाने लगीं। पुत्रस्नेहके कारण उनका गला भरा हुआ था, वे ठीक-ठीक बातें नहीं कह सकती थीं। जैसे-तैसे श्रीवास पण्डितको माताने सभी बातें सुनायी।

सब बातें सुनकर भावावेशमें श्रीवास पण्डितने कहा—'जो इसे वायुरोग बताते हैं, वे स्वयं वायुरोगसे पीड़ित हैं। उन्हें क्या पता कि यह ऐसा रोग है जिसके लिये शिव-सनकादि बड़े-बड़े योगीजन तरसते रहते हैं। शचीदेवी! तुम बड़भागिनी हो, जो तुम्हारे ऐसा भगवत्-भक्त पुत्र उत्पन्न हुआ। ये सब तो पूर्ण भक्तिके चिह्न हैं।'

श्रीवास पण्डितकी ऐसी बातें सुनकर माताको कुछ-कुछ सन्तोष हुआ। अधीर-भावसे प्रभुने श्रीवास पण्डितसे कहा—'आज आपके दर्शनसे मुझे परम शान्ति हुई। सभी लोग मुझे वायुरोग ही बताते थे। मैं भी इसे वायुरोग ही समझता था और मेरे कारण विष्णुप्रिया तथा माताको जो दुःख होता था, उसके कारण मेरा हृदय फटा-सा जाता था। यदि आज आप यहाँ आकर मुझे इसप्रकार आश्वासन न देते तो मैं सचमुच ही

गंगाजीमें डूबकर अपने प्राणोंका परित्याग कर देता। लोग मेरे सम्बन्धमें भाँति-भाँतिकी बातें करते हैं।'

श्रीवास पण्डितने कहा—'मेरा हृदय बार-बार कह रहा है, आपके द्वारा संसारका बड़ा भारी उद्धार होगा। आप ही भक्तोंके एकमात्र आश्रय और आराध्य बनेंगे। आपकी इस अद्वितीय और अलौकिक मादकताको देखकर तो मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है, कि अखिल-कोटि-ब्रह्माण्डनायक अनादि पुरुष श्रीहरि ही अवनितल पर अवतीर्ण होकर अविद्या और अविचारका विनाश करते हुए भगवन्नामका प्रचार करेंगे। मुझे प्रतीत हो रहा है, कि सम्भवतया प्रभु इसी शरीरद्वारा उस शुभकार्यको करावें।'

प्रभुने अधीरताके साथ कहा—'मैं तो आपके पुत्रके समान हूँ। वैष्णवोंके चरणोंमें मेरी अनुरक्ति हो, ऐसा आशीर्वाद दीजिये। श्रीकृष्णकीर्तनके अतिरिक्त कोई भी कार्य मुझे अच्छा ही न लगे यही मेरी अभिलाषा है, सदा प्रभु-प्रेममें विकल होकर मैं रोया ही करूँ, यही मेरी हार्दिक इच्छा है।'

श्रीवास पण्डितने कहा—'आप ही ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे इस प्रकारका थोड़ा-बहुत पागलपन हमें भी प्राप्त हो सके। हम भी आपकी भाँति प्रेममें पागल हुए लोक-बाह्य बनकर उन्मत्तोंकी भाँति नृत्य करने लगें।

इस प्रकार बहुत देरतक इन दोनों ही महापुरुषोंमें विशुद्ध अन्तःकरणकी बातें होती रहीं। अन्तमें प्रभुकी अनुमति लेकर श्रीवास पण्डित अपने घरको चले आये।

अद्वैताचार्य और उनका सन्देह

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयेत्तु यः ।
न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः ॥
(तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वैष्णवान्पूजयेत्सदा) *
(विष्णुपुराण)

भगवान् तो प्राणीमात्रके हृदयमें विराजमान हैं । समान-रूपसे संसारके अणु-परमाणुमें व्याप्त हैं, किन्तु पात्रभेदके कारण उनकी उपलब्धि भिन्न-भिन्न प्रकारसे होती है । भगवान् निशानाथकी किरणें समानरूपसे सभी वस्तुओंपर एक-सी ही पड़ती हैं । पत्थर, मिट्टी, घड़ा, वस्त्रपर भी वे ही किरणें पड़ती हैं और शीशा तथा चन्द्रकान्तमणिपर भी उन्हीं किरणों-का प्रभाव पड़ता है । मिट्टी तथा पत्थरमें निशानाथका प्रभाव प्रकट नहीं होता है, वहाँ घोर तमोगुणके कारण अव्यक्त-रूपसे ही बना रहता है, किन्तु स्वच्छ और निर्मल चन्द्रकान्तमणिपर

---

* जो भगवान्‌की पूजा तो करता है, किन्तु भगवत्-भक्त वैष्णवों-की पूजा नहीं करता, वह यथार्थमें भक्त नहीं है, उसे तो दाम्भिक ही समझना चाहिये । भगवान् तो भक्तकी ही पूजासे अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं, इसलिये सर्व प्रयत्नसे वैष्णवोंकी ही पूजा करनी चाहिये ।

उनकी कृपाकी तनिक-सी किरण पड़ते ही उसकी विचित्र दशा हो जाती है। उन लोकसुखकारी भगवान् निशानाथकी कृपाकोर पाते ही उसका हृदय पिघलने लगता है और वह द्रवीभूत होकर बहने लगता है। इस कारण चन्द्रदेव उसके प्रति अधिकाधिक स्नेह करने लगते हैं। इसी कारण उसका नाम ही चन्द्रकान्तमणि पड़ गया। उसका चन्द्रमाके साथ नित्यका शाश्वत सम्बन्ध हो गया। वह निशानाथसे भिन्न नहीं है। निशानाथके गुणोंका उसमें समावेश हो जाता है। इसी प्रकार भक्तोंके हृदयमें भगवान्‌की कृपा-किरण पड़ते ही वह पिघलने लगता है। चन्द्रकान्तमणि तो चाहे, चन्द्रमाकी किरणोंसे बनी भी रहे, किन्तु भक्तोंके हृदयका फिर अस्तित्व नहीं रहता, वह कृपा-किरणके पड़ते ही पिघल-पिघलकर प्रभुके प्रेम-पीयूषार्णवमें जाकर तदाकार हो जाता है। यही भक्तोंकी विशेषता है। तभी तो गोस्वामी तुलसीदासजीने यहाँतक कह डाला है—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥

भगवद्-भक्तोंकी महिमा ही ऐसी है, भक्तोंके समझनेके लिये भी प्रभुकी कृपाकी ही आवश्यकता है। जिसपर भगवान्‌की कृपा नहीं, वह भक्तोंकी महिमाको भला समझ ही क्या सकता है। जिसके हृदयमें उस रसराजके रस-सुधामयी एक बिन्दुका भी प्रवेश नहीं हुआ, जिसमें उसके ग्रहण करनेकी

किञ्चिन्मात्र भी शक्ति नहीं हुई, वह रसिकताके मर्मको समझ ही कैसे सकता है ! इसीलिये रसिक-शिरोमणि भगवत-रसिकजी कहते हैं—

'भगवत-रसिक' रसिककी बातें
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।

महाप्रभुके नवानुरागकी चर्चा नदियाके सभी स्थानोंमें भाँति-भाँतिसे हो रही थी, उस समय सभी वैष्णव श्रीअद्वैताचार्य-जीके यहाँ एकत्रित हुआ करते थे। अद्वैताचार्यके स्थानको वैष्णवोंका अखाड़ा ही कहना ठीक है। वहाँपर सभी नामी-नामी वैष्णवरूपी पहलवान एकत्रित होकर भक्तितत्त्वरूपी युद्ध-का अभ्यास किया करते थे। प्रभुकी प्राप्तिके लिये भाँति-भाँतिके दाव-पेचोंकी उस अखाड़ेमें आलोचना तथा प्रत्यालोचना हुआ करती थी और सदा इस बातपर विचार होता कि कदाचाररूपी प्रबल शत्रु किसके द्वारा पछाड़ा जा सकता है ? वैष्णव अपने बलका विचार करते और अपनी ऐसी दुर्दशापर आँसू भी बहाते। महाप्रभुके नूतन भावकी बातोंपर यहाँ भी वाद-विवाद होने लगे। अधिकांश वैष्णव इसी पक्षमें थे कि निमाई पण्डित-को भक्तिका ही आवेश है, उनके हृदयमें प्रेमका पूर्णरूपसे प्रकाश हो रहा है। उनकी सभी चेष्टाएँ अलौकिक हैं, उनके मुखके तेजको देखकर मालूम पड़ता है कि वे प्रेमके ही उन्माद-में उन्मादी बने हुए हैं, दूसरा कोई भी कारण नहीं है, किन्तु

कुछ भक्त इसके विपक्षमें थे। उनका कथन था, कि निमाई पण्डितकी भला, एक साथ ऐसी दशा किस प्रकार हो सकती है! कलतक तो वे देवी, देवता और भक्त वैष्णवोंकी खिल्लियाँ उड़ाते थे, सहसा उनमें इस प्रकारके परिवर्तनका होना असम्भव ही है। जरूर उन्हें वही पुराना वायुरोग फिरसे हो गया है। उनकी सभी चेष्टाएँ पागलोंकी-सी ही हैं।

उन सबकी बातें सुनकर श्रीमान् अद्वैताचार्यजीने सबको सम्बोधित करते हुए गम्भीरताके साथ कहा—'भाई! आप लोग जिन निमाई पण्डितके सम्बन्धमें बातें कर रहे हो, उन्हींके सम्बन्धमें मेरा भी एक निजी अनुभव सुन लो। तुम सब लोगोंको यह बात तो विदित ही है कि मैं भगवान्को प्रकट करनेके निमित्त नित्य गंगा-जलसे और तुलसीसे श्रीकृष्णका पूजन किया करता हूँ। गौतमीय तन्त्रके इस वाक्यपर मुझे पूर्ण विश्वास है—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

अर्थात् भगवान् ऐसे दयालु हैं कि वे भक्तिसे दिये हुए एक चुल्लू जल तथा एक तुलसीपत्रके द्वारा ही अपनी आत्माको भक्तोंके लिये दे देते हैं। इसी वाक्यपर विश्वास करके मैं तुम लोगोंको बार-बार आश्वासन दिया करता था। कल श्रीमद्भगवद्-[illegible]के एक श्लोकका अर्थ मेरी समझमें ही नहीं आया। इसी

चिन्तामें रात्रिमें मैं बिना भोजन किये ही सो गया था। स्वप्नमें क्या देखता हूँ, कि एक गौर वर्णके तेजस्वी महापुरुष मेरे समीप आये और मुझसे कहने लगे—'अद्वैत! जल्दीसे उठ, जिस श्लोकमें तुझे शङ्का थी, उसका अर्थ इस प्रकार है। अब तेरी मनोकामना पूर्ण हुई। जिस इच्छासे तू निरन्तर गंगा-जल और तुलसीसे मेरा पूजन करता था, तेरी वह इच्छा अब सफल हो गयी। हम अब शीघ्र ही प्रकाशित हो जायँगे। अब तुम्हें भक्तों-को अधिक दिन आश्वासन न देना होगा। अब हम थोड़े ही दिनोंमें नाम-संकीर्तन आरम्भ कर देंगे। जिसकी घनघोर तुमुल ध्वनिसे दिशा-विदिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठेंगी।' इतना कहने-पर उन महापुरुषने अपना असली स्वरूप दिखाया। वे और कोई नहीं थे, शचीनन्दन विश्वम्भर ही ये बातें मुझसे कह रहे थे। जब इनके अग्रज विश्वरूप मेरी पाठशालामें पढ़ा करते थे, तब ये उन्हें बुलानेके निमित्त मेरे यहाँ कभी-कभी आया करते थे, इन्हें देखते ही मेरा मन हठात् इनकी ओर आकर्षित होता था, तभी मैं समझता था, कि मेरी मनोकामना इन्हींके द्वारा पूर्ण होगी। आज स्वप्नमें उन्हें देखकर तो यह बात स्पष्ट ही हो गयी। इतना कहते-कहते वृद्ध आचार्यका गला भर आया। वे फूट-फूट-कर बालकोंकी भाँति रुदन करने लगे। भगवान्‌की भक्त-वत्सलता-का स्मरण करके वे हिचकियाँ भर-भरकर रो रहे थे, इनकी ऐसी दशा देखकर अन्य वैष्णवोंकी आँखोंमेंसे भी आँसू निकलने लगे। सभीका हृदय प्रेमसे भर आया। सभी वैष्णवोंके इस भावी

उत्कर्षका स्मरण करके आनन्द-सागरमें गोता लगाने लगे। इस प्रकार बहुत-सी बातें होनेके अनन्तर सभी वैष्णव अपने-अपने घरोंको चले गये।

इधर महाप्रभुकी दशा अब और भी अधिक विचित्र होने लगी। उन्हें अब श्रीकृष्ण-कथा और वैष्णवोंके सत्सङ्गके अतिरिक्त दूसरा विषय रुचिकर ही प्रतीत नहीं होता था, वे सदा गदाधर या अन्य किसी भक्तके साथ भगवत्-चर्चा ही करते रहते थे। एक दिन प्रभुने गदाधर पण्डितसे कहा—'गदाधर! आचार्य अद्वैत परम भागवत वैष्णव हैं, वे ही नवद्वीपके भक्त वैष्णवोंके शिरोमणि और आश्रयदाता हैं, आज उनके यहाँ चलकर उनकी पद-रजसे अपनेको पावन बनाना चाहिये।'

प्रभुकी ऐसी इच्छा जानकर गदाधर उन्हें साथ लेकर अद्वैताचार्यके घरपर पहुँचे। उस समय सत्तर वर्षकी अवस्थावाले वृद्ध आचार्य बड़ी श्रद्धाभक्तिके साथ तुलसी-पूजन कर रहे थे। आचार्यके सिरके सभी बाल श्वेत हो गये थे। उनके तेजोमय मुखमण्डलपर एक प्रकारकी अपूर्व आभा विराजमान थी, वे अपने सिकुड़े हुए मुखसे शुद्धताके साथ गम्भीर स्वरमें स्तोत्र-पाठ कर रहे थे। मुखसे भगवान्‌की स्तुतिके मधुर श्लोक निकल रहे थे और आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही थी। उन परम-भागवत वृद्ध वैष्णवके ऐसे अपूर्व भक्तिभावको देखकर प्रभु प्रेममें गद्‌गद हो गये। उन्हें भावावेशमें शरीरकी कुछ भी सुध-बुध न

ही ।. वे मूर्छा खाकर पृथ्वीपर बेहोश होकर गिर पड़े।

अद्वैताचार्यने जब अपने सामने अपने इष्टदेवको मूर्छित-दशामें पड़े हुए देखा, तब तो उनके आनन्दकी सीमा न रही। सामने रखी हुई पूजनकी थालीको उठाकर उन्होंने प्रभुके कोमल पाद-पद्मोंकी अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य और पत्रपुष्पोंसे विधिवत् पूजा की। उन इतने भारी ज्ञानी वृद्ध महापुरुषको एक बालकके पैरोंकी पूजा करते देख आश्चर्यमें चकित होकर गदाधरने उनसे कहा—'आचार्य! आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं? इतने भारी ज्ञानी, मानी और वयोवृद्ध पण्डित होकर आप एक बच्चेके पैरोंकी पूजा करके उसके ऊपर पाप चढ़ा रहे हैं।'

गदाधरकी ऐसी बात सुनकर हँसते हुए आचार्य अद्वैतने उत्तर दिया—'गदाधर! तुम थोड़े दिनोंके बाद इस बालकका महत्व समझने लगोगे। सभी वैष्णव इनके चरणोंकी पूजा करके अपनेको कृतकृत्य समझा करेंगे। अभी तुम मेरे इस कार्यको देख-कर आश्चर्य करते हो। कालान्तरमें तुम्हारा यह भ्रम स्वतः ही दूर हो जायगा।'

इसी बीच प्रभुको कुछ-कुछ बाह्यज्ञान हुआ। चैतन्यता प्राप्त होते ही उन्होंने आचार्यके चरण पकड़ लिये और वे रोते-रोते कहने लगे—'प्रभो! अब हमारा उद्धार करो। हमने अपना बहुत-सा समय व्यर्थकी बकवादमें ही बरबाद किया। अब तो हमें अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये। अब तो हमें प्रेमका

थोड़ा-बहुत तत्त्व समझाइये। हम आपकी शरणमें आये हैं, आप ही हमारी रक्षा कर सकते हैं।'

प्रभुकी इस प्रकारकी दैन्ययुक्त प्रार्थनाको सुनकर आचार्य भौचक्के-से रह गये और कहने लगे—'प्रभो! अब मेरे सामने अपनेको बहुत न छिपाइये। इतने दिनतक तो छिपे-छिपे रहे, अब और कबतक छिपे ही रहनेकी इच्छा है? अब तो आपके प्रकाशमें आनेका समय आ गया है।'

प्रभुने दीनताके साथ कहा—'आप ही हमारे माता-पिता तथा गुरु हैं। आपका जब अनुग्रह होगा, तभी हम श्रीकृष्णप्रेम प्राप्त कर सकेंगे। आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये, कि हम वैष्णवोंके सच्चे सेवक बन सकें।'

इस प्रकार बहुत देरतक परस्परमें दोनों ओरसे दैन्यतायुक्त बातें होती रहीं। अन्तमें प्रभु गदाधरके साथ अपने घरको चले गये। इधर अद्वैताचार्यने सोचा —'ये मुझे छलना चाहते हैं, यदि सचमुचमें मेरा स्वप्न सत्य होगा और ये वे ही रात्रिवाले महापुरुष होंगे तो संकीर्तनके समय मुझे स्वतः ही अपने पास बुला लेंगे। अब मेरा नवद्वीपमें रहना ठीक नहीं।' यह सोचकर वे नवद्वीपको छोड़कर शान्तिपुरके अपने घरमें जाकर रहने लगे।

श्रीवासके घर संकी

> चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
> श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
> आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
> सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्॥*
>
> (पद्यावली अं० १०।१)

सम्पूर्ण संसार एक अज्ञात आकर्षणके अधीन होकर ही सब व्यवहार कर रहा है। अग्नि सभीको गरम प्रतीत होती है। जल सभीको शीतल ही जान पड़ता है। सर्दी-गरमी पड़नेपर उसके सुख-दुःखका अनुभव जीवमात्रको होता है। यह बात अवश्य है, कि स्थिति-भेदसे उसके अनुभवमें न्यूनाधिक्य-भाव हो जाय। किसी-न-किसी रूपमें अनुभव तो सब करते ही हैं।

---

* जो श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तन चित्तरूपी दर्पणका मार्जन करनेवाला है, भवरूपी महादावाग्निका शमन करनेवाला है, जीवोंके मङ्गलरूपी कैरव-चन्द्रिकाका वितरण करनेवाला है, विद्यारूपी वधूका जीवन है, आनन्द-रूपी सागरका वर्द्धन करनेवाला है। प्रत्येक पदपर पूर्णामृतको आस्वादन करानेवाला है और जो सर्व प्रकारसे शीतलस्वरूप है उसकी विशेषरूप-से जय हो।

इस जीवका आदिउत्पत्ति-स्थान आनन्द ही है। आनन्दके पुत्र होनेके कारण यह सदा आनन्दकी ही खोज करता रहा है 'मैं सदा आनन्दमें ही बना रहूँ' यह इसकी स्वाभाविक इच्छा होती है, होनी भी चाहिये। कारण, कि जनकके गुण जन्यमें जरूर ही आते हैं। इसलिये आनन्दसे ही उत्पन्न होनेके कारण यह आनन्दमें ही रहना भी चाहता है और अन्तमें आनन्दमें ही मिल भी जाता है। जलका एक बिन्दु समुद्रसे पृथक् होता है, पृथक् होकर चाहे वह अनेकों स्थानमें भ्रमण कर आवे, किन्तु अन्तमें सर्वत्र घूमकर उसे समुद्रमें ही आना पड़ेगा। समुद्रके अतिरिक्त उसकी दूसरी गति ही नहीं। भाप बनके वह बादलोंमें जायगा। बादलोंसे वर्षा बनकर पृथ्वीपर बरसेगा। पृथ्वीसे बहकर तालाबमें जायगा। तालाबसे छोटी नदीमें पहुँचेगा, उसमेंसे फिर बड़ी नदीमें, इसी प्रकार महानदके प्रवाहके साथ मिलकर वह समुद्रमें ही पहुँच जायगा। कभी-कभी क्षुद्र तालावके संसर्गसे उसमें दुर्गन्धि-सी भी प्रतीत होने लगेगी, किन्तु चौमासेकी महा बाढ़में वह सब दुर्गन्धि साफ हो जायगी और वह भारी वेगके साथ अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच जायगा।

मनन करनेवाले प्राणियोंका मन एक-सा ही होता है। सर्वत्र उसकी गति एक ही भाँतिसे सञ्चालन करती है। सम्पूर्ण शरीरमें चित्तकी वृत्तियाँ किसी एक निर्धारित नियमके ही साथ कार्य करती हैं। जीवका मुख्य लक्ष्य है, अपने प्रियतमके साथ

जाकर योग करना। उसे प्यारेके पास पहुँचे बिना शान्ति नहीं, फिर वहाँ जाकर उसका बनकर रहना या उसीके स्वरूपमें अपनेको मिला देना, यह तो अपने-अपने भावोंके ऊपर निर्भर है। कुछ भी क्यों न हो, पास तो पहुँचना ही होगा। योग तो करना ही पड़ेगा। बिना योगके शान्ति नहीं। योग तभी हो सकता है, जब चित्तवृत्तियोंका निरोध हो। चित्त बड़ा ही चञ्चल है, एकान्तमें यह अधिकाधिक उपद्रव करने लगता है, इसलिये इसके निरोधका एक सरल-सा उपाय यही है, कि जिन्होंने पूर्व जन्मोंके शुभ संस्कारोंसे साधन करके या भगवत्-कृपा प्राप्त करके अपनी चित्तवृत्तियोंका थोड़ा बहुत या सम्पूर्ण निरोध कर लिया है, उन्हींके चित्तके साथ अपने चित्तको मिला देना चाहिये। कारण कि सजातीय वस्तु अपनी सजातीय वस्तुके प्रति शीघ्र आकृष्ट हो जाती है। इसीलिये सत्सङ्ग और संकीर्तनकी इतनी अधिक महिमा गायी गयी है। यदि एक उद्देश्यसे एक-मन और एक-चित्त होकर जो भी साधन किया जाय, तो पृथक्-पृथक् साधन करनेकी अपेक्षा उसका महत्त्व सहस्रों गुणा अधिक होता है और विशेषकर इस ऐसे घोर कलियुगके समयमें जब सभी खाद्य-पदार्थ भाव-दोषसे दूषित हो गये हैं तथा विचार-दोषसे गिरि-शिखर, एकान्त स्थान आदि सभी स्थानोंका वायुमण्डल दूषित बन गया है, ऐसे घोर समयमें सत्पुरुषोंके समूहमें रहकर निरन्तर प्रेमसे श्रीकृष्ण-संकीर्तन करते रहना ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। स्मृतियोंमें भी यही वाक्य मिलता है 'संघे शक्तिः

कलौ स्मृता' कलियुगमें सभी प्रकारके साधन सङ्घ-शक्तिसे ही फलीभूत हो सकते हैं और कलियुगमें *'कलौ केशवकीर्तनात्'* अर्थात् केशव-कीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसलिये इन सभी बातोंसे यही सिद्ध हुआ कि कलिकालमें सब लोग एक-चित्त और एक-मनसे एकान्त स्थानमें निरन्तर केशव-कीर्तन करें तो प्रत्येक साधकको अपने-अपने साधनमें एक-दूसरेसे बहुत अधिक मदद मिल सकती है। यही सब समझ-सोचकर तो संकीर्तनावतार श्रीचैतन्यदेवने संकीर्तनकी नींव डाली। वे इतने बड़े भावावेशमें आकर भी वनोंमें नहीं भाग गये। उस प्रेमोन्मादकी अवस्थामें जिसमें कि घर-बार, भाई-बन्धु सभी भूल जाते हैं, वे *लोगोंमें ही रहकर श्रीकृष्ण-कीर्तन करते रहे और अपने आचरणसे* लोक-शिक्षा देते हुए जगदुद्धार करनेमें संलग्न-से ही बने रहे। यही उनकी अन्य महापुरुषोंसे विशेषता है।

महाप्रभुकी दशा अब कुछ-कुछ गम्भीरताको धारण करती जाती है, अब वे कभी-कभी होशमें भी आते हैं और भक्तोंसे परस्परमें बातें भी करते हैं। चिरकालसे आशा लगाये हुए बैठे कुछ भक्त प्रभुके पास आये और सभीने मिलकर प्रतिदिन संकीर्तन करनेकी सलाह की। प्रभुने सबकी सम्मति सहर्ष स्वीकार की और भक्ताग्रगण्य श्रीवासके घर संकीर्तनका सभी आयोजन होने लगा। रात्रिके समय छँटे-छँटे भगवत्-भक्त वहाँ आकर एकत्रित होने लगे। प्रभुने सबसे पहले संकीर्तन आरम्भ किया। सभीने

प्रभुका साथ दिया । संकीर्तन करते-करते प्रभु भावावेशमें आकर ताण्डव नृत्य करने लगे । शरीरकी किञ्चित् मात्र भी सुध-बुध नहीं रही । एक प्रकारके महाभावमें मग्न होकर उनका शरीर अलात-चक्रकी भाँति निरन्तर घूम रहा था । न तो किसीको उनके पद ही दिखायी देते थे और न उनका घूमना ही प्रतीत होता था, नृत्य करते-करते उन्हें एक प्रकारकी उन्मादकारी बेहोशी-सी आ गयी और उसी बेहोशीमें वे मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े । भक्तोंने इन्हें बड़े यत्नसे उठाया । थोड़ी देरके अनन्तर इन्होंने रोते-रोते भक्तोंसे कुछ कहना आरम्भ किया । 'भाई, मैं क्या करूँ, मेरा मन अब मेरे वशमें नहीं है । मैं जो कहना चाहता हूँ, उसे कह नहीं सकता । कितने दिनोंसे मैं तुमसे एक बात कहनेके लिये सोच रहा हूँ, किन्तु उसे अभीतक नहीं कह सका हूँ । आज मैं तुमलोगोंसे उसे कहूँगा । तुमलोग सावधानी-के साथ श्रवण करो ।'

प्रभुके ऐसा कहनेपर सभी भक्त स्थिर-भावसे चुपचाप बैठ गये और एकटक होकर उत्सुकताके साथ प्रभुके मुखचन्द्रकी ओर निहारने लगे । प्रभुने साहस करके गम्भीरताके साथ कहना आरम्भ किया—'आप लोग तो अपने परम आत्मीय हैं, आपके सामने गोप्य ही क्या हो सकता है ? इसलिये सबके सामने प्रकट न करने योग्य इस बातको मैं आपके समक्ष बताता हूँ । जब मैं गयासे लौट रहा था, तब नाटशाला ग्राममें एक श्यामवर्णका परम

सुन्दर बालक मेरे समीप आया। उसके लाल-लाल कोमल चरणोंमें सुन्दर नूपुर बँधे हुए थे। पैरोंकी उँगलियाँ बड़ी ही सुहावनी तथा क्रमसे छोटी-बड़ी थीं। कमरमें पीताम्बर बँधा हुआ था। पेट त्रिबलीसे युक्त और नाभि गोल तथा गहरी थी। वक्षःस्थल उन्नत और मांससे भरा हुआ था। गलेकी एक भी हड्डी दिखायी नहीं देती थी। गलेमें वनमाला तथा गुञ्जोंकी मालाएँ पड़ी हुई थीं। कानोंमें सुन्दर कुण्डल झलमल कर रहे थे। वह कमलके समान दोनों मनोहर नेत्रोंसे तिरछी निगाहसे मेरी ओर देख रहा था, उसके सुन्दर गोल कपोलोंके ऊपर काली-काली लटें लहरा रही थीं। वह मन्द-मन्द मुस्कानके साथ मुरली बजा रहा था। उस मुरलीकी मनोहर तानको सुनकर मेरा मन मेरे वशमें नहीं रहा। मैं बेहोश हो गया और फिर वह बालक न जाने कहाँ चला गया!' इतना कहते-कहते प्रभु बेहोश हो गये। उनकी आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी। शरीरके सम्पूर्ण रोम बिल्कुल खड़े हो गये। वे मूर्छित-दशामें ही इस श्लोकको पढ़ने लगे—

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि
हरे! त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो! करुणैकसिन्धो!
हा हन्त! हा हन्त!! कथं नयामि॥ *
(कृष्णकर्णामृत ४१)

* हे करुणाके सिन्धो! हे अनाथोंके एकमात्र बन्धो! हे हरे! इन व्यर्थके दिनोंको जिनमें कि तुम्हारे दर्शनोंसे वञ्चित रह रहा हूँ, हे नाथ! हे प्रजनाथ! मैं किस प्रकार व्यतीत करूँ?

प्रभु इस श्लोकको गद्गद-कण्ठसे बार-बार पढ़ते और फिर बेहोश हो जाते। थोड़ा होश आनेपर फिर इसे ही पढ़ने लगते। जैसे-तैसे भक्तोंने प्रभुको श्लोक पढ़नेसे रोका और वे थोड़ी देरमें प्रकृतिस्थ हो गये। इस प्रकार उनकी ऐसी दशा देखकर सभी उपस्थित भक्त अश्रु-विमोचन करने लगे, यों वह पूरी रात्रि इसी प्रकार संकीर्तन और सत्सङ्गमें ही व्यतीत हुई।

इस प्रकार श्रीवास पण्डितके घर नित्य ही कीर्तनका आनन्द होने लगा। रात्रिमें जब मुख्य-मुख्य भक्त एकत्रित हो जाते, तब घरके किवाड़ भीतरसे बन्द कर दिये जाते और फिर कीर्तन आरम्भ होता। कीर्तनमें खोल, करताल, मृदङ्ग, मजीरा आदि सभी वाद्य लय और स्वरके साथ बजाये जाते थे। प्रभु सभी भक्तोंके बीचमें खड़े होकर नृत्य करते थे। अब इनका नृत्य बहुत ही मधुर होने लगा। सभी भक्त आनन्दके आवेशमें आकर अपने आपेको भूल जाते और प्रभुके साथ नृत्य करने लगते। प्रभुके शरीरमें स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य तथा प्रलय आदि सभी सात्त्विक भावोंका उदय होता। भक्त इनके अद्भुत भावोंको देखकर मुग्ध हो जाते और भावावेशमें आकर खूब जोरोंसे संकीर्तन करने लगते। सभी सहृदय थे, सभीका चित्त प्रभुसे मिलनेके लिये सदा छटपटाता रहता था, किसीके भी मनमें मान-सम्मान तथा दिखावेपनके भाव नहीं थे। सभीके हृदय शुद्ध थे, ऐसी दशामें आनन्दका पूछना ही क्या है? वे सभी स्वयं आनन्दस्वरूप ही थे। भक्त परस्परमें एक दूसरे-

की वन्दना करते, कोई-कोई प्रेममें विह्वल होकर प्रभुके पैरोंको ही पकड़ लेते। बहुत-से परस्परमें ही पैर पकड़-पकड़ रुदन करते। इस प्रकार सभी प्रेममय कृत्योंसे श्रीवास पण्डितका घर प्रेम-पयोधि बन गया था। उस प्रेमार्णवमें प्रवेश करते ही प्रत्येक प्राणी प्रेममें पागल होकर स्वतः ही नृत्य करने लगता था। वहाँ प्रभुके संसर्गमें पहुँचते ही सभी संसारी विषय एकदम भूल जाते थे। भक्तोंका हृदय स्वयमेव तड़फड़ाने लगता था।

गदाधर इनके परम अन्तरङ्ग थे। ये सदा प्रभुकी ही सेवामें बने रहते। एक दिन ये भोजनके अनन्तर मुखशुद्धिके निमित्त प्रभुको पान दे रहे थे। प्रभुने प्रेमावेशमें आकर अधीर बालककी भाँति पूछा—'गदाधर! भैया, तुम ही बताओ, मेरे कृष्ण मुझे छोड़कर कहाँ चले गये? भैया, मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकता। तुम सच-सच मुझे उनका पता दो, वे जहाँ भी होंगे, मैं वहीं जाकर उनकी खोज करूँगा और उनसे लिपटकर खूब पेटभरके रोऊँगा। तुम बता भर दो, कि वे गये कहाँ?'

गदाधरने बात टालनेके लिये कह दिया—'आप तो वैसे ही व्यर्थमें अधीर हुआ करते हैं। भला, आपके कृष्ण कभी आपको छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं? वे तो हर समय आपके हृदयमें विराजमान रहते हैं।'

यह सुनकर आपने उसी अधीरताके साथ पूछा—'क्या प्यारे कृष्ण अब भी मेरे हृदयमें बैठे हैं?'

गदाधरने कुछ देरके बाद कहा—'बैठे क्यों नहीं हैं। अब वे आपके हृदयमें विराजमान हैं और सदा ही रहते हैं।'

इतना सुनते ही बड़े आनन्द और उल्लासके साथ प्रभु अपने बड़े-बड़े नखोंसे हृदयको विदारण करने लगे। वे कहने लगे—'मैं हृदय फाड़कर अपने कृष्णके दर्शन करूँगा। वे मेरे पास ही छिपे बैठे हैं और मुझे दर्शनतक नहीं देते। इस हृदयको चीर डालूँगा।' इस प्रकार करते देख गदाधरको बहुत दुःख हुआ और उन्होंने भाँति-भाँतिकी अनुनय-विनय करके इन्हें इस कामसे निवारण किया। तब ये बहुत देरके बाद होशमें आये।

एक दिन रात्रिमें प्रभु शय्यापर शयन कर रहे थे। गदाधर उनकी चरण-सेवामें संलग्न थे, चरण-सेवा करते-करते गदाधरने अपना मस्तक प्रभुके पादपद्मोंमें रखकर गद्गद-कण्ठसे प्रार्थना की—'प्रभो! इस अधमको, किन पापोंके परिणामस्वरूप श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती? आप तो दीनवत्सल हैं, मुझे साधनका बल नहीं, शुभ कर्म भी मैं नहीं कर सकता। तीर्थ-यात्रा आदि पुण्य कार्योंसे भी मैं वञ्चित हूँ, मुझे तो एकमात्र श्रीचरणोंका ही सहारा है। मेरे ऊपर कब कृपा होगी? प्रभो! कबतक मैं इसी प्रकार प्रेमविहीन शुष्क जीवन बिताता रहूँगा?'

उनकी इस प्रकार कातर-वाणी सुनकर प्रभु प्रसन्न हुए और उन्हें आश्वासन देते हुए कहने लगे—'गदाधर! तुम अधीर मत हो, तुम तो श्रीकृष्णके अत्यन्त ही प्यारे हो। दीन ही

तो भगवान्‌को सबसे प्रिय है। बिना दीन-हीन बने कोई प्रभुको प्राप्त कर ही नहीं सकता। जिन्हें अपने शुभ कर्मोंका अभिमान है, या उग्र साधनोंका भरोसा है, वे प्रभुकी महती कृपाके अधिकारी कभी हो ही नहीं सकते। प्रभु तो अकिञ्चनप्रिय हैं, निष्किञ्चन बननेपर ही उनकी कृपाकी उपलब्धि हो सकती है। तुम्हारे भाव पूरे निष्किञ्चन भक्तके-से हैं। जब तुम सच्चे हृदयसे निष्किञ्चन बन गये तब फिर तुम्हें श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्तिमें देर न होगी। कल गंगा-स्नानके बाद तुम्हें प्रभुकी पूर्ण कृपाका अनुभव होने लगेगा।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर गदाधरकी प्रसन्नताका वारापार नहीं रहा। वे रात्रिभर प्रेममें मग्न होकर आनन्दाश्रु बहाते रहे, वे एक-एक घड़ीको गिनते रहे, कि कब प्रातःकाल हो और कब मुझे प्रेम प्राप्त हो। प्रतीक्षामें उनकी दशा पागलोंकी-सी हो गयी, वे कभी तो उठकर बैठ जाते, कभी खड़े होकर नृत्य ही करने लगते। कभी फिर लेट जाते और कभी आप-ही-आप कुछ सोचकर ज़ोरोंसे हँसने लगते। प्रभु उनकी दशा देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए। प्रातःकाल गंगा-स्नान करते ही वे आनन्दमें विभोर होकर नृत्य करने लगे। वे प्रेमासवको पीकर उन्मत्त-से प्रतीत होते थे, मानो उन्हें उस मधुमय मनोज्ञ मदिराका पूर्णरूपसे नशा चढ़ गया हो। उन्होंने प्रेमरसमें निमग्न हुए अलसाने-से नेत्रोंसे प्रभुकी ओर देखकर उनके पाद-पद्मोंमें प्रणाम किया और कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहने लगे—'प्रभो! आपने इस अधम पापीको भी

प्रेम प्रदान करके अपने पतितपावन पुण्य नामका यथार्थ परिचय करा दिया। आपकी कृपा जीवोंपर सदा अहैतुकी ही होती है। मुझ साधनहीनको भी दुस्साध्य प्रेमकी परिधितक पहुँचा दिया। आपको सब सामर्थ्य है। आप सब कुछ कर सकते हैं।'

प्रभुने उनकी ऐसी दशा देखकर अधीरताके साथ कहा—'गदाधर! कृपालु श्रीकृष्णने तुम्हारे ऊपर कृपा कर दी, अब तुम उनसे मेरे लिये भी प्रार्थना करना।'

गदाधरने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'प्रभो! मैं तो आपको ही इसका कारण समझता हूँ। इस प्रेमको आपकी ही दयाका फल समझता हूँ, आपसे भी भिन्न कोई दूसरे कृष्ण हैं, इसका मुझे पता नहीं।' यह कहते-कहते गदाधर प्रेममें विह्वल होकर रुदन करने लगे।

शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीजीने भी गदाधरकी ऐसी दशा देखी। उनके अन्तःकरणमें भी प्रेम-प्राप्तिकी उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गयी। वे भी गदाधरकी भाँति अपने आपेको भूलकर प्रेममें उन्मत्त होना चाहते थे। उनका हृदय भी प्रेमासवको पान करनेके लिये अधीर हो उठा। दूसरे दिन वे भिक्षा करके आ रहे थे। रास्तेमें गंगा जाते हुए प्रभु उन्हें मिल गये। प्रभुको देखते ही वे वयोवृद्ध ब्रह्मचारी उनके पैरोंमें लिपट गये। प्रभुने सङ्कोच प्रकट करते हुए कहा—'मैं आपके पुत्रके समान हूँ। आपने बाल्यकालसे ही पिताकी भाँति मेरा लालन-पालन

किया है और गोदमें लेकर प्रेमपूर्वक खिलाया है। आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं, क्यों मेरे ऊपर पाप चढ़ा रहे हैं!'

प्रभुकी इन बातोंको सुनकर कातर-भावसे ब्रह्मचारीजीने कहा—'प्रभो! अब हमारी बहुत छलना न कीजिये। इस व्यर्थके जीवनको बिताते-बिताते वृद्धावस्था समीप आ चुकी। इस शरीरको भाँति-भाँतिके कष्ट पहुँचाकर काशी, काञ्ची, अवन्तिका आदि सभी पवित्र पुरियों और पुण्य-तीर्थोंकी पैदल ही यात्रा की। घर-घरसे मुट्ठी-मुट्ठी अन्न माँगकर हमने अपनी जीविका चलायी। अब तो हमें श्रीकृष्ण-प्रेमका अधिकारी बना देना चाहिये। अब हमें किसी भी प्रकार प्रभु-प्रेम प्राप्त हो, यही पूज्य पाद-पद्मोंमें विनीत प्रार्थना है।'

ब्रह्मचारीजीकी बातें सुनकर प्रभु कुछ भी नहीं बोले। वे ब्रह्मचारीजीकी ओर देखकर मन्द-मन्द भावसे खड़े मुसकरा रहे थे। ब्रह्मचारीजी प्रभुकी मुसकराहटका अर्थ समझ गये। वे अधीर होकर अपने आप ही कह उठे—'प्रभो! हम तीर्थ-यात्राओंका कथन करके अपना अधिकार नहीं जता रहे हैं। हम तो दीनभावसे एकमात्र आपकी शरण होकर प्रेमकी याचना कर रहे हैं। हमें श्रीकृष्ण-प्रेम प्रदान कीजिये।'

भावावेशमें प्रभुके मुखसे स्वतः ही निकल पड़ा—'जाओ दिया, दिया।'

बस, इतना सुनना था कि ब्रह्मचारी सब कुछ भूलकर प्रेमावेशमें भरकर पागलोंकी भाँति नृत्य करने लगे। वे नृत्य

करते-करते उन्मत्तकी भाँति मुखसे कुछ प्रलाप-सा भी करते जाते थे। प्रभु उनकी ऐसी विचित्र दशा देखकर प्रेममें गद्‌गद हो गये और उनकी झोलीमेंसे धानमिश्रित भिक्षाके सूखे चावलोंको निकाल-निकालकर चबाने लगे, मानो सुदामाके प्रति प्रेम प्रकट करते हुए कृष्ण उनके घरकी चावलोंकी कनीको खवा रहे हों। इन दोनोंके इस प्रकार प्रेममय व्यवहारको देखकर सभी दर्शक चकित-से हो गये और बार-बार प्रभुके प्रेमकी प्रशंसा करने लगे। शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी भी अपनेको कृतकृत्य समझकर प्रेममें विभोर हुए अपनी कुटियामें चले गये।

इस प्रकार भक्तोंके हृदयमें प्रभुके प्रति अधिकाधिक सम्मान-के भाव बढ़ने लगे। प्रभु भी भक्तोंपर पहिलेसे अत्यधिक प्रेम प्रदर्शित करने लगे। श्रीवास पण्डितके घर संकीर्तनका आरम्भ माघमासमें हुआ था, परन्तु दो-ही-तीन महीनेमें इसकी चर्चा चारों ओर फैल गयी और बहुत-से दर्शनार्थी संकीर्तन देखने-की उत्सुकतासे रात्रिमें श्रीवास पण्डितके घरपर आने लगे। किन्तु संकीर्तनके समय घरका फाटक बन्द कर दिया जाता था, इसलिये सभी प्रकारके लोग भीतर नहीं जा सकते थे। बहुत-से लोगोंको तो निराश होकर ही द्वारपरसे लौटना पड़ता था। संकीर्तनमें खास-खास भक्त ही भीतर जा सकते थे। उस समय संकीर्तनका यही नियम निर्धारित किया गया था।

धीर-भाव

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेच्छम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ *

(भर्तृहरि० श० नी० ८१)

नियमोंका बन्धन सबको अखरता है। सभी प्राणी नियमोंके बन्धनोंको परित्याग करके स्वाधीन होना चाहते हैं, इसका कारण यही है कि प्राणीमात्रकी उत्पत्ति आनन्द अथवा प्रेमसे हुई। प्रेममें किसी प्रकारका नियम नहीं होता। प्राणीमात्रको प्रेम-पीयूषकी ही पिपासा है। सभी इसी परमप्रिय पयके अभाव में अधीर होकर छटपटाते-से नजर आते हैं और सभी प्रकारके बन्धनोंको छिन्नभिन्न करके उसके समीपतक पहुँचना चाहते

---

* नीतिनिपुण पुरुष चाहे निन्दा करें, चाहे स्तुति; लक्ष्मी चाहे रहे या स्वेच्छापूर्वक कहीं अन्यत्र चली जाय; चाहे आज ही मृत्यु हो जाय या युगोंतक जीवित बने रहें। धीर पुरुष इन सब बातोंकी तनिक भी परवा नहीं करते, उन्होंने धर्म समझकर जिस कामको ग्रहण कर लिया है, उससे वे कैसी भी विपत्ति पड़नेपर विचलित नहीं होते।

हैं, किन्तु बिना नियमोंका पालन किये उसतक पहुँचना भी असम्भव है। प्रेमके चारों ओर नियमकी परिखा खुदी हुई है। बिना उसे पार किये हुए कोई प्रेम-पीयूषतक पहुँच ही नहीं सकता। यह ठीक है, कि प्रेम स्वयं नियमोंसे अतीत है, उसके समीप कोई नियम नहीं, किन्तु साथ ही वह नियमके बिना प्राप्त भी नहीं हो सकता।

एक बार किसी भी प्रकार सही, प्रेमसे पृथक् हो गये अथवा अपनेको उससे पृथक् मान ही बैठे तो बिना नियमोंकी सहायताके उसे फिरसे प्राप्त नहीं कर सकते। प्रेमको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन नियम ही है। जो प्रेमके नामसे नियमोंका उल्लंघन करके विषय-लोलुपताके वशीभूत होकर अपनी इन्द्रियोंको उनके प्रिय भोगोंसे तृप्त करते हैं, वे दम्भी हैं। प्रेमके नामसे इन्द्रिय-वासनाओंको तृप्त करना ही उनका चरम लक्ष्य है। प्रेम तो कल्पतरु है, उसकी उपासना जो मनुष्य जिस भावसे करेगा, उसे उसी वस्तुकी प्राप्ति होगी। जो प्रेमके नामसे अच्छे-अच्छे पदार्थोंको ही चाहते हैं, उन्हें वे ही मिलते हैं। जो प्रेमका बहाना बनाकर सुन्दर-सुन्दर विषय भोगना चाहते हैं, उन्हें उनकी इच्छानुसार विषयोंकी ही प्राप्ति होती है, किन्तु जो प्रेमके नामसे प्रेमको ही चाहते हैं और

बहुधा लोगोंको कहते सुना है 'स्वर्गके सुखोंकी तो बात ही क्या है, हम तो मोक्षको भी ठुकरा देते हैं।' ये सब कहनेकी ही बातें हैं, सुन्दर मिठाईको देखकर ही जिनके मुखमें पानी भर आता है, वे स्वर्गके दिव्य-दिव्य भोगोंको भला कैसे ठुकरा सकेंगे ? वे अज्ञ पुरुष स्वर्गके सुखोंसे अनभिज्ञ हैं। जिसने चिरकालतक नियमोंका पालन नहीं किया है, उसका चित्त अपने वश हो सकेगा, वह कभी प्रेमी बन सकेगा, इसका अनुमान त्रिकालमें भी नहीं किया जाता।

नियमोंको पालन करनेमें सभीको झुँझलाहट होती है किन्तु जो धीर पुरुष हैं, जिनके ऊपर प्रभुकी कृपा है, वे तो मनको मारकर इच्छाके विरुद्ध भी नियमोंका पालन करते हैं और धीरे-धीरे नियमोंके पालनसे उनमें दृढ़ता, तत्परता, नम्रता तथा दीनता और सहनशीलता आदि सद्वृत्तियाँ आने लगती हैं। जो नियमोंसे झुँझलाकर उन्हें छिन्नभिन्न करना चाहते हैं, उनके हृदयमें पहिले तो नियमोंके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है, द्वेषसे उस नियमके विरुद्ध प्रचार करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। द्वेषबुद्धिसे किसीके विरुद्ध प्रचार करनेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे उस काममें इतनी अधिक आसक्ति हो जाती है, कि उसके विरुद्ध प्रचार करनेके लिये वह बुरे-बुरे घृणित उपायों को भी काममें लाने लगता है। उन बुरे कामोंसे ही उसका सर्वस्व नाश हो जाता है।

महाप्रभुका कीर्तन बन्द मकानमें होता था। ऐसा उस समय भक्तोंने नियम बना रखा था, कि अनधिकारियोंके पहुँचनेसे भावोंमें सांसारिकताका समावेश न होने पावे। लोगोंके हृदयोंमें संकीर्तनको देखनेकी उत्सुकता उत्पन्न हुई। उन्हें यह नियम बहुत ही अखरने लगा। उन्हें प्रभुके इस नियमके प्रति झुँझलाहट होने लगी। जो श्रद्धावान् थे, वे तो अपने मनकी झुँझलाहटको रोककर धैर्यके साथ प्रतीक्षा करने लगे और कीर्तनके अन्तमें उन्होंने नम्रतापूर्वक कीर्तनमें प्रवेश करनेकी प्रार्थना की। उन्हें अधिकारी समझकर दूसरे दिनसे प्रवेश करनेकी अनुमति मिल गयी और वे उसी नियमपालनके प्रभावसे जीवनमें उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए सद्वृत्तियोंकी वृद्धिके द्वारा प्रभुके पाद-पद्मोंतक पहुँच गये, किन्तु जो उस नियमके कारण अपनी झुँझलाहटको नहीं रोक सके, उन्हें संकीर्तनके प्रति द्वेष उत्पन्न हुआ। द्वेषके कारण वे वैष्णवों-के शत्रु बन गये। संकीर्तनके विरुद्ध प्रचार करने लगे और संकीर्तनको नष्ट करनेके लिये भाँति-भाँतिके बुरे-बुरे उपाय काममें लाने लगे। उनके क्रूर कर्मोंके द्वारा संकीर्तन नष्ट नहीं हुआ, प्रत्युत विरोधके कारण उसकी तो अधिकाधिक वृद्धि ही हुई, किन्तु वे दुष्ट-स्वभावके मनुष्य स्वयं अधोगतिके अधिकारी हुए। उन्होंने शुभ नियमके प्रति असहिष्णुताके भाव प्रदर्शित करके अपने आपको गड्ढेमें गिरा दिया। इन विरोधियोंके ही कारण संकीर्तन देशव्यापी बन सका। इस प्रकार इन दुष्ट-५· विरोधसे भी महापुरुषोंके सत्कार्योंमें बहुत-सी सहायता

है । इसलिये सत्पुरुषोंके शुभ कामोंका दुष्ट-प्रकृतिके पुरुष कित
भी विरोध करें, वे उससे घबड़ाते नहीं, किन्तु उस विरोधके कार
और भी दूने उत्साहके साथ उस कार्यमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

संकीर्तनके विरोधियोंने संकीर्तनको रोकनेके लिये भाँति
भाँतिके उपाय किये, लोगोंमें उनके प्रति बुरे भाव उत्पन्न किये
लोगोंको संकीर्तनके विरुद्ध उभाड़ा, उसकी अनेकों प्रकारसे
निन्दा की, किन्तु वे सभी कामोंमें असफल ही रहे ।

इस प्रकार महाप्रभु अपने प्रेमी भक्तोंके सहित श्रीकृष्ण
संकीर्तनमें सर्वदा संलग्न रहने लगे, किन्तु कुछ बहिर्मुख वृत्ति
वाले पुरुष संकीर्तनके विरोधी बन गये । रात्रिभर संकीर्तन होता
था, भक्तगण जोरोंसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' की ध्वनि करते
आसपासके लोगोंके निद्रासुखमें विघ्न पड़ता, इसलिये वे भाँति
भाँतिसे कीर्तनके विरुद्ध भाव फैलाने लगे । कोई कहता—'ये
सब लोग पागल हो गये हैं, तभी तो रात्रिभर चिल्लाते रहते हैं
क्या बतावें इनके कारण तो सोना भी हराम हो गया है ।'
कहता—'सब एक-से ही इकट्ठे हो गये हैं । ज्ञान, योग,
जपमें तो बुद्धिकी आवश्यकता होती है, परिश्रम करना ..
है । इसमें कुछ करना-धरना तो पड़ता ही नहीं । चिल्लाना
है, सो सभी तरहके लोग मिलकर चिल्लाते रहते हैं ।'

कोई बीचमें ही कह उठता—'अजी, हत्याकी जड़
यह श्रीवासिया बामन ही है । भीखके रोट लग गये हैं ।

खाते हैं, मस्ती आ गयी है, चार पैसे पासमें हो गये हैं, उन्हींकी गर्मीके कारण रात्रिभर चिल्लाता रहता है और भी दस-बीस बेकार लोगोंको इकट्ठा कर लिया है। इसके पीछे हम सभी लोगोंका नाश होगा।'

इतनेमें ही एक कहने लगा—'मैंने आज ही सुना है, राजाकी तरफसे दो नावें सभी कीर्तन करनेवालोंको बाँधकर ले जानेके लिये आ रही हैं। साथमें एक फौज भी आवेगी जो श्रीवासके घरको तोड़-फोड़कर गङ्गाजीमें बहा देगी और सभी कीर्तन करनेवालोंको पकड़ ले जायगी।'

इस बातसे भयभीत होकर कुछ लोग कहने लगे—'भाई, इसमें हमारा तो कुछ दोष है ही नहीं, हम तो साफ कह देंगे, कि हम कीर्तनमें जाते ही नहीं, अमुक-अमुक लोग किवाड़ बन्द करके भीतर न जाने क्या-क्या किया करते हैं।'

कुछ लोगोंने सम्मति दी—'जबतक फौज न आने पावे उससे पहिले ही काजीसे जाकर कीर्तनकी शिकायत कर आवें और उसे जता आवें, कि इस वेदविरुद्ध अशास्त्रीय कार्यमें हमारी बिल्कुल सम्मति नहीं है। न जाने ये स्त्रियोंको साथ लेकर क्या-क्या कर्म करते रहते हैं! मालूम पड़ता है, ये लोग वाम-मार्गकी पद्धतिसे पञ्च-मकारोंके साथ उपासना करते हैं। ऊपरसे लोगोंको सुनानेके लिये तो जोर-जोरसे श्रीकृष्ण-कीर्तन करते हैं और भीतर मांस, मदिरा, मछली, मैथुन आदि वाम-मार्गियोंके

साधनोंका प्रयोग करते हैं । इससे यही ठीक होगा, कि पहिले ही काजीको जता दें ।' यह बात लोगोंको पसन्द आयी और इ लोगोंने जाकर नवद्वीपके काजीके सामने संकीर्तनकी शिका की । सब बातें सुनकर काजीने कह दिया—'आप लोग कि बातकी चिन्ता न करें, हम कीर्तनको बन्द करा देंगे ।' इस उत्तर सुनकर शिकायत करनेवाले प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने स्थानों लौट आये ।

अब तो बाजारमें संकीर्तनके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिकी अ वाएँ उड़ने लगीं । कोई कहता—'इनके जोर-जोरसे चिल्लाने भगवान् भी नाराज हो जायँगे और इसके परिणामस्वरूप सम्पू देशमें दुर्भिक्ष पड़ने लगेगा ।' कोई उसकी बातका नम्रता साथ खण्डन करता हुआ कहता—'यह तो नहीं कह सकते कि भगवान् नाराज हो जायँगे, वे तो घट-घट-व्यापी अन्तर्यामी हैं, सबके भावोंको जानते हैं और सबकी सहते हैं, किन्तु यदि ये धीरे-धीरे नाम-स्मरण करें तो क्या इससे पुण्य न होगा ? रात भर 'हा-हा हू-हू' मचाते रहनेसे क्या लाभ ?'

उसी समय कोई अपने हृदयकी जलनको शान्त करनेके भावसे द्वेषबुद्धिसे कहता—'अब दो ही चार दिनोंमें इन्हें अपनी भक्ति और संकीर्तनका मज़ा मिल जायगा । श्रीवासकी खैर नहीं है।'

इन सभी बातोंको श्रीवास पण्डित भी सुनते । रोज-रोज सुननेसे उनके मनमें भी कुछ-कुछ भय उत्पन्न होने लगा ।

सोचने लगे—'गौड़देशका राजा हिन्दू तो है नहीं। हिन्दू-धर्मका विरोधी यवन है, यदि वह ऐसा करे भी तो कोई आश्चर्य नहीं, फिर हमारे बहुत-से हिन्दू भाई ही तो संकीर्तनके विरुद्ध काजीके पास जाकर शिकायत कर आये हैं। ऐसी स्थितिमें बहुत सम्भव है, हम सब लोगोंको भाँति-भाँतिके कष्ट दिये जायँ।'

लोगोंके मुखसे ऐसी-ऐसी बातें सुनकर कुछ भोले भक्त तो बहुत ही अधिक डर गये। वे श्रीवास पण्डितके पास आकर सलाह करने लगे कि अब क्या करना चाहिये। कोई-कोई तो भयभीत होकर यहाँतक कहने लगे कि यदि ऐसा ही हो तो थोड़े दिनके लिये हमलोगोंको देश छोड़कर चले जाना चाहिये। उन सबकी बातें सुनकर श्रीवास पण्डितने कहा—'भाई, अब जो होना होगा सो होगा। श्रीनृसिंह भगवान् सब भला ही करेंगे। हम श्रीकृष्ण-कीर्तन ही तो करते हैं। देखा जायगा। जो कष्ट आवेगा, उसे सहेंगे।' श्रीवास पण्डितने भक्तोंको तो इस भाँति समझा दिया, किन्तु उनके मनमें भय बना ही रहा। तो भी उन्होंने अपने मनोगत भावोंको प्रभुके सम्मुख प्रकट नहीं किया। प्रभु तो सबके भावोंको समझनेवाले थे, उन्होंने भक्तोंके भावोंको समझ लिया कि ये यवन राजाके कारण कुछ भयभीत-से हो गये हैं, इसलिये इन्हें निर्भय कर देना चाहिये।

एक दिन प्रभुने अपने सम्पूर्ण शरीरमें सुगन्धित चन्दन लगाया, घुँघराले काले-काले सुन्दर बालोंमें सुगन्धित तैल डाला। मूल्यवान् स्वच्छ और महीन वस्त्र पहिने और साथमें दो-

भक्तोंको लेकर गङ्गा-किनारेकी ओर चल पड़े। उनके अरुण अधर पानकी लाली लगनेसे और भी अत्यधिक अरुण बन गये थे। नेत्रोंमेंसे प्रसन्नता प्रकाशित हो रही थी, मुखकमल शारद पूर्णिमाके चन्द्रके समान खिला हुआ था। वे मन्द-मन्द मुस्कानके साथ भक्तोंके आनन्दको वर्धन करते हुए गङ्गाजीके घाटोंपर इधर-से-उधर टहलने लगे। जो सात्त्विक प्रकृतिके भगवत्-भक्त थे, वे तो प्रभुके अद्भुत रूपलावण्यको देखकर मन-ही-मन परम प्रसन्न हो रहे थे, किन्तु जो बहिर्मुख वृत्तिके निन्दक पुरुष थे, वे आपसमें भाँति-भाँतिकी आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। परस्परमें एक दूसरेसे कहने लगे—'यह निमाई पण्डित भी अजीब आदमी मालूम पड़ता है, इसे तनिक भी भय नहीं है। सम्पूर्ण शहरमें हल्ला हो रहा है, कल सेना पकड़ने आवेगी और सबसे पहिले निमाई पण्डितको ही बाँधकर नावपर चढ़ाया जायगा। इन सब बातोंको सुननेपर भी यह राजपुत्रके समान बन-ठनकर हँसता हुआ घूम रहा है। इसके चेहरेपर सिकुड़न भी नहीं मालूम पड़ती। बड़ा विचित्र पुरुष है!'

कोई-कोई कहता—'अजी, सब झूठी बातें हैं, न फौज आती है और न नाव ही आ रही है। सब चंडूखानेकी गप्पें हैं।'

दूसरा इसका जोरोंसे खण्डन करके कहता—'वाह साहब! आप गप्प ही समझ रहे हैं, कल काजीसाहब स्वयं कहते थे। 'हाथ कङ्गनको आरसी क्या' कल आप प्रत्यक्ष ही देख लेना।

इस प्रकार लोग भाँति-भाँतिसे अपने-अपने अनुमानोंको दौड़ा रहे थे। महाप्रभु भक्तोंके साथ आनन्दमें विहार कर रहे थे। इसी बीच एक प्रभुके पुराने परिचित पण्डित गङ्गाजीपर सन्ध्या करते हुए मिले। प्रभुको देखकर उन्होंने इन्हें प्रणाम किया, फिर आपसमें वार्तालाप होने लगा। बातों-ही-बातोंमें पण्डितने कहा—'भाई, सुन रहे हैं, तुम्हें पकड़नेके लिये राजाकी तरफसे सेना आ रही है। सम्पूर्ण शहरमें इसकी गरम अफवाह है। यदि ऐसी ही बात है, तो तुम कुछ दिनके लिये नवद्वीप छोड़कर कहीं अन्यत्र ही चले जाओ। राजाके साथ विरोध करना ठीक नहीं। फिर ऐसे राजाके साथ जो हमारे धर्मका स्वयं विरोधी हो। हमारी राय तो यही है, कि इस समय तुम्हें मैदान छोड़कर भाग ही जाना चाहिये, आगे जैसा तुम उचित समझो।'

प्रभुने कुछ उपेक्षाके साथ कहा—'अजी जो होगा सो होने दो, अब गौड़ छोड़कर और जा ही कहाँ सकते हैं? यदि दूसरी जगह जायँगे तो वहाँ क्या बादशाह सेना भेजकर हमें पकड़कर नहीं मँगा सकता? इससे यहीं अच्छे हैं। जो कुछ दुःख पड़ेगा, उसे सहेंगे। शुभ कार्मोंकी ऐसे समयमें ही तो परीक्षा होती है, दुःख ही तो धर्मकी कसौटी है। देखना है कितने इसपर खरे उतरते हैं।' यह सुनकर पण्डित चुप हो गये। प्रभु श्रीवास पण्डितके मकानकी ओर चल पड़े।

श्रीनृसिंहावेश

कि कि सिंहस्ततः किं नरसदृशवपुर्देव चित्रं गृहीतो
नैतादृक् क्वापि जीवोऽद्भुतमुपनय मे देव संप्राप्त एषः।
चापं चापं न चापीत्यहहहहहहा कर्कशत्वं नखानां
इत्थं दैत्येन्द्रवक्षः खरनखमुखरैर्जल्पितवान् यः स नोऽव्यात्॥*

(सु० र० भां० २० । ११)

श्रीवास पण्डित नृसिंह भगवान्के उपासक थे, वे अपने पूजागृहमें बैठे हुए भक्तिभावसे नृसिंह भगवान्का विधिवत् पूजन कर रहे थे । इतनेहीमें उन्हें अपने घरके किवाड़ोंपर जोरसे खट-खटकी आवाज सुनायी पड़ी, मानों कोई जोरोंके साथ किवाड़ोंको खड़खड़ा रहा हो। श्रीवासका ध्यान भंग हुआ। वे डरसे

---

* हिरण्यकशिपु अपने सेवकसे पूछता है—'कौन है, कौन है ?' सेवक कहता है—'प्रभो ! सिंह है ।' तब पूछता है—'तब क्या हुआ, सिंह है तो होने दो ।' सेवक कहता है—'प्रभो ! उसका शरीर मनुष्यके समान है, यही तो महान् आश्चर्यकी बात है ।' यह सुनकर हिरण्यकशिपु कहने लगा—'इस प्रकारका अद्भुत जीव तो आजतक मैंने कभी देखा नहीं, अच्छा उसे मेरे पास ले आओ ।' जल्दीसे सेवक बोल उठा—प्रभो ! यह वह आ ही गया ।' हिरण्यकशिपुने जल्दीसे धनुष माँगते हुए कहा—'धनुष ! धनुष !' नौकरोंकी बुद्धि भ्रष्ट ही हो गयी थी, कहा—'उसके पास धनुष नहीं है, ओहो ! ओहो ! उसके तो कर्कश नख हैं ।' वे लोग इतना कह ही रहे थे कि नृसिंह भगवान्ने कठोर और तीक्ष्ण नखोंसे दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुके वक्षःस्थलको फर दिया । ऐसे नृसिंह भगवान् हमलोगोंकी रक्षा करें ।

गये कि किवाड़ोंको इतने जोरसे कौन खड़खड़ा रहा है। उन्होंने पूछा—'कौन है!' बाहरसे आवाज आयी—'जिसका तुम पूजन कर रहे हो, जिसे अबतक अप्रत्यक्ष मानकर पूजा करते थे, उसे प्रत्यक्ष देख लो।' यह सुनकर श्रीवास पण्डित कुछ सिटपिटा-से गये और उन्होंने डरते-डरते किवाड़ खोले। इतनेमें ही श्रीवास क्या देखते हैं, कि अद्भुत रूप-लावण्यसे युक्त शचीनन्दन श्रीविश्वम्भर निर्भय भावसे पूजागृहमें चले जा रहे हैं। वे जाते ही पूजाके सिंहासनपर विराजमान हो गये। श्रीवास पण्डितको ऐसा प्रतीत हुआ, कि साक्षात् विष्णु भगवान् विश्वम्भर-के रूपमें प्रकट हुए हैं, उनके चार हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हो रहे हैं। गलेमें वैजयन्ती-माला पड़ी हुई है, एक बड़े भारी मत्त सिंहकी भाँति बार-बार हुंकार कर रहे हैं। श्रीवास प्रभुके ऐसे भयङ्कर रूपको देखकर भयभीत-से हो गये।

भगवान्के सिंहासनपर बैठे-ही-बैठे प्रभु घोर गम्भीर स्वरसे सिंहकी भाँति दहाड़ते हुए कहने लगे—'श्रीवास! अभीतक तुमने हमें पहिचाना नहीं। नाड़ा (अद्वैताचार्य) तो हमारी परीक्षा करनेके ही निमित्त शान्तिपुर चले गये। तुम्हें किसी प्रकारका भय न करना चाहिये। हम एक-एक दुष्टका विनाश करेंगे। भक्तोंको कष्ट पहुँचानेवाला कोई भी दुष्ट हमारे सामने बच न सकेगा। तुम घबड़ाओ नहीं। शान्त-चित्तसे हमारी स्तुति करो।' प्रभुके इस प्रकार आश्वासन देनेपर श्रीवास पण्डित कुछ देर बाद प्रेममें विह्वल होकर गद्गद-कण्ठसे स्तुति करने लगे—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥*

(श्रीमद्भा० पू० १०। १४। १)

इस श्लोकको पढ़नेके अनन्तर वे दीन भावसे कहने लगे—'विश्वम्भरकी जय हो, विश्वरूप अग्रजकी जय हो, शचीनन्दनकी जय हो, जगन्नाथप्रियकी जय हो, गौर सुन्दरकी जय हो, मदनमोहनकी जय हो, नृसिंहरूपधारी भगवान्‌की जय हो, भक्तभयहारी भगवान्‌की जय हो, भक्तभयभञ्जन प्रभुकी जय हो ।

इतने दिनोंसे मैं अज्ञानान्धकारमें इधर-उधर भटक रहा था। आज गुरुरूपसे प्रभु साक्षात् आपके दर्शन हुए । आज आपने अपना असली स्वरूप प्रकट करके मुझ पामर प्राणीको परम पावन बना दिया । आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, आप

---

* हे भक्तभयहारी भगवन्! आप प्रसन्न हों, मैं आपकी स्तुति करता हूँ । प्रभो ! आपकी मेघके समान सलोनी श्यामसुन्दर मूर्ति है, शरीरपर बिजलीके समान चमकीला पीताम्बर शोभायमान है, गुञ्जाओंके भूषणोंसे तथा मयूरपिच्छके मुकुटसे आपका श्रीमुख देदीप्यमान है। गलेमें वनमाला विराजमान है,एक हाथमें दही-भातका कौर लिये होनेसे तथा अन्य स्थानोंमें लकुटी, नरसिंहा और मुरलीसे आपकी शोभा अत्यन्त ही बढ़ी हुई है । आपके चरणयुगल बड़े ही कोमल हैं और नन्दबाबाको आप पिता कहकर पुकारते हैं । ऐसे आपके लिये—केवल आपकी ही प्राप्तिके निमित्त—मैं प्रणाम करता हूँ ।

ी शिव हैं। सृष्टिके आदिकारण आप ही हैं। आपकी
जय हो।'

श्रीवासके इस प्रकार स्तोत्र-पाठ करनेपर प्रभुने उन्हें आज्ञा दी कि 'तुम अपने सम्पूर्ण परिवारके सहित हमारी पूजा करो और हमसे मनोवाञ्छित वरदान माँगो।' प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीवास पण्डितने अपने घरकी सम्पूर्ण स्त्रियोंको, बाल-बच्चे तथा दास-दासियोंको एकत्रित किया और सभी मिलकर आनन्द और उल्लासके साथ प्रभुकी पूजा करनेके लिये उद्यत हो गये। पिताके समान पूज्य और वृद्ध श्रीवास पण्डित इस बातको बिलकुल भूल ही गये, कि ये हमारे मित्र पण्डित जगन्नाथ मिश्रके छोटे पुत्र हैं, जिन्हें हमने गोदीमें खिलाया है, और जो हमारा सदा पिताके समान सम्मान करते हैं। उस समय उन्हें यह पूर्ण भाव हो गया था, कि साक्षात् नृसिंह भगवान् ही प्रकट हुए हैं। इसीलिये विष्णुपूजाके निमित्त जितनी सामग्री एकत्रित की थी, वह सब-की-सब प्रभुकी पूजामें लगा दी। श्रीवासके घरकी स्त्रियोंने अपने-अपने हाथोंसे प्रभुके गलेमें मालाएँ पहिनायीं। उनके मस्तकके ऊपर पुष्प चढ़ाये और उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभुने भी उनके मस्तकोंपर अपना चरण रखकर उन्हें आशीर्वाद दिया—'तुम सबकी हममें भक्ति हो।' इस प्रकार सभीने मिलकर भक्तिभावके साथ प्रभुका पूजन किया।

इसके अनन्तर जोरोंसे हुंकार करते हुए प्रभुने गम्भीर स्वरमें कहा—'श्रीवास! तुम्हें चिन्ता न करनी चाहिये। तुम अनन्य-

भावसे हमारा ही तो स्मरण-कीर्तन करते हो, फिर डरकी का बात ! बादशाहकी क्या ताकत है जो हमारे विरुद्ध कुछ कर सकेगा ! यदि वैष्णवोंको पकड़नेके लिये नाव आवेगी तो सबसे पहिले नावमें हम ही चढ़ेंगे और जाकर बादशाहसे कहेंगे, कि तुमने कीर्तन रोकनेकी क्यों आज्ञा दी है ! यदि काजियोंके कहनेसे तुमने ऐसा किया है, तो उन्हें यहाँ बुलाओ और वे अपने शास्त्रके विश्वासके अनुसार प्रार्थना करके सभीसे 'अल्लाह' या 'खुदा' कहलवावें। नहीं तो हम सभी हिन्दू, यवन, पशु, पक्षी आदि जीवोंसे कृष्ण-कृष्ण कहलाते हैं। इस प्रकार सभी जीवोंके मुखसे श्रीकृष्ण-कीर्तन कराकर हम संकीर्तनका महत्व प्रकाशित करेंगे और यवनोंसे भी कृष्ण कहलायेंगे। यदि इतनेपर भी वह न मानेगा तो हम उसका संहार करेंगे। तुम किसी बातकी चिन्ता मत करो। निर्भय रहो। हम तुम्हें अभी बताते हैं कि यह सब किस प्रकार हो सकेगा।' इतना कहकर प्रभुने श्रीवास पण्डित-की भतीजीको अपने पास बुलाया। उसका नाम नारायणी था, उसकी अवस्था लगभग चार वर्षकी होगी। प्रभुने उसे अपने पास बुलाकर कहा—'बेटी ! नारायणी ! तुम श्रीकृष्णप्रेममें उन्मत्त होकर रुदन तो करो !' बस, इतना सुनना था, कि वह चार वर्षकी बालिका श्रीकृष्णप्रेममें मूर्छित होकर गिर पड़ी और जोरोंसे 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !!' कहकर रुदन करने लगी। उसके इस प्रकार रुदनको सुनकर सभी स्त्री-पुरुष आश्चर्यसागरमें गोते खाने लगे। सभीकी आँखोंसे आँसू बहने लगे।

हँसते-हँसते प्रभुने कहा—'इसी प्रकार हम सबसे कृष्ण-कीर्तन करावेंगे।' इस प्रकार श्रीवासको आश्वासन देकर प्रभु मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और बहुत देरके अनन्तर होशमें आये। होशमें आनेपर आप आश्चर्यके साथ इधर-उधर देखने लगे और बोले—'पण्डितजी! मैं यहाँ कैसे आ गया? मैंने कोई चपलता तो नहीं कर डाली? आप तो मेरे पिताके समान हैं, मेरे सभी अपराधोंको आप सदासे क्षमा करते आये हैं। यदि मुझसे कोई चपलता हो भी गयी हो तो उसे क्षमा कर दीजियेगा। मुझे कुछ भी मालूम नहीं है, कि मैं यहाँ कैसे आया और मैंने क्या क्या कहा?'

प्रभुकी इस प्रकार भोली-भाली बातें सुनकर श्रीवास पण्डितने विनीत-भावसे कहा—'प्रभो! मुझे चिरकालतक भ्रममें रखा, अब फिरसे मुझे भ्रममें न डालिये, मेरी अब छलना न कीजिये। अब तो मुझे आपका सत्स्वरूप मालूम पड़ गया है, आपके चरणोंमें मेरा इसी प्रकार अनुराग बना रहे, ऐसा आशीर्वाद दीजिये।' श्रीवासके ऐसा कहनेपर प्रभु मन-ही-मन प्रसन्न हुए और कुछ लजाते हुए-से अपने घरकी ओर चले गये

आवेश समाप्त हो जाता, तब आप एक अमानी भक्तकी
बहुत ही दीनताका बर्ताव करने लगते। भक्तोंकी पद-धू
मस्तकपर चढ़ाते और सबसे अधीर होकर पूछते—'मुझे
प्रेमकी प्राप्ति कब हो सकेगी? आप लोग मुझे श्रीकृष्ण
उपाय बतावें। मैं अपने प्यारे श्रीकृष्णसे कैसे मिल सकूँग
प्रकार इनके जीवनमें दो भिन्न-भिन्न भाव प्रतीत हो
भावावेशमें तो भगवत्-भाव और साधारणरीत्या भ
इनके अन्तरङ्ग भक्त थे, वे तो इनमें सर्वकालमें
ही रखते और ये कितनी भी दीनता प्रकट करते तो
उनके भावमें परिवर्तन नहीं होता, किन्तु जो साधारण
सन्देहमें पड़ जाते कि यह बात क्या है? कोई कहता
साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं।' कोई कहता—'न जाने
देवताका आवेश होता हो।' कोई-कोई इसे तान्त्रिक सि
बताने लगे। प्रभुके शरीरमें कुछ श्रीकृष्ण-लीलाओंका भ
उदय देखा था। कभी तो ये अक्रूर-लीला करते, कभी
विरहमें रुदन करते थे।

मुरारी गुप्त वराह भगवान्के उपासक थे। एक दि
गुप्त वराह भगवान्के स्तोत्रका पाठ कर रहे थे। प्रभु
स्तोत्रपाठ सुनकर वराहकी भाँति जोरोंसे गर्जना क
'शूकर-शूकर' ऐसा कहते हुए मुरारी गुप्तके घरकी ओ
उस समय इनकी प्रकृतिमें मुरारी गुप्तने सभी वराह
पूर्णोंका अनुभव किया। प्रभु दोनों हाथोंको पृथ्वीपर

इसके अतिरिक्त भगवान्के कलावतार, अंशावतार आदि
रोंके मध्यमें एक आवेशावतार भी होता है। किसी महान्
के लिये किसी विशेष शरीरमें भगवान्का आवेश होता है
उस कार्यको पूरा करके फौरन ही वह आवेश चला
है। भगवान् तो '*कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्*' सभी कुछ
में समर्थ हैं, उनकी इच्छामात्रसे बड़े-बड़े दुष्टोंका संहार हो
ता है, किन्तु भक्तोंके प्रेमके अधीन होकर, उन्हें अपनी
ोम कृपाका महत्व जतानेके निमित्त तथा अपनी लीला प्रकट
नेके निमित्त वे भाँति-भाँतिके अवतारोंका अभिनय करते हैं।
तत्वमें तो वे नाम, रूप तथा सभी प्रकारके गुणोंसे रहित हैं।

जिस प्रकार पृथ्वीको दुष्ट क्षत्रियोंके अत्याचारसे पीड़ित देख-
: महर्षि परशुरामके शरीरमें भगवान्का आवेश हुआ और पृथ्वीको
: क्षत्रियोंसे हीन करके शीघ्र ही वह आवेश अदृश्य हो गया,
र परशुरामजी शुद्ध ऋषि बन आजतक भी महेन्द्र-पर्वतपर
ऽ तपस्या कर रहे हैं। इस प्रकार आवेशावतार किसी विशेष
ार्यकी सिद्धिके निमित्त होता है और वह अधिक दिनतक
हरता भी नहीं। द्रौपदीके चीर खींचनेपर भगवान्का चीरावतार
ो हुआ था और क्षणभरमें ही द्रौपदीकी लाज रखकर वह अदृश्य
ी हो गया।

इसी प्रकार अब प्रभुके भी शरीरमें भिन्न-भिन्न अवतारोंके
ावेश होने लगे। जिस समय ये आवेशावस्थामें होते, उस समय
उसी अवतारके गुणोंके अनुसार बर्ताव करने लगते और जब वह

श्रीवाराहावेश

नमस्तस्मै वराहाय हेलयोद्धरते महीम्।
खुरमध्यगतो यस्य मेरुः खुरखुरायते॥

(सु० र० भां०

'आवेश' उसे कहते हैं, कि किसी एक अन्य
किसी भिन्न शरीरीके गुणोंका कुछ कालके लिये आवेश
प्रायः लोकमें स्त्री-पुरुषोंके ऊपर भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस
दानवोंके आवेश आते देखे गये हैं। जो जैसी प्रकृति
होते हैं, उनके ऊपर वैसे ही आवेश भी आते हैं। दे
आवेश सात्त्विक प्रकृतिके ही लोगोंके ऊपर आवेगा। यक्ष
-का अवेश राजस-प्रकृतिके ही शरीरोंमें प्रकट होगा
घोर तामस-प्रकृतिके पुरुष हैं, उन्हींके शरीरमें भूत-पि
आवेश आता है। सभीके शरीरोंमें आवेश ह
बात नहीं। कभी किसी विरले ही शरीरमें आवेश होत
देखा जाता है। वह क्यों होता है और किस प्रकार ह
इसका कोई निश्चित नियम नहीं। जिस देव, दानव अथ
पिशाचने जिस शरीरको अपने उपयुक्त समझ लिया,
प्रवेश करके वह अपने भावोंको व्यक्त करता है।

* उन श्रीवराह भगवान्‌को नमस्कार है, जिन्होंने पाताल
हुई पृथ्वीका बात-की-बातमें ही उद्धार कर दिया और जिनके
आघातसे सुमेरु-पर्वत भी खुरखुर शब्द करने लगा था।

हाथ-पैरोंसे बिलकुल वराहकी भाँति चलने लगे। रास्तेमें एक बड़ा पीतलका जलपूर्ण कलश रखा था। प्रभुने उसे अपनी डाढ़से उठाकर दूसरी ओर फेंक दिया और आप सीधे गुप्त महाशयके पूजागृहमें चले गये। वहाँ जाकर आप आसनासीन हुए और मुरारीसे कहने लगे—'मुरारी! तुम हमारी स्तुति करो।'

मुरारीने हाथ जोड़े हुए अति दीनभावसे कहा—'प्रभो! आपकी महिमा वेदातीत है। वेद, शास्त्र आपकी महिमाको पूर्णरीतिसे समझ ही नहीं सकते। श्रुतियोंने आपका 'नेति' 'नेति' कहकर कथन किया है। आप अन्तर्यामी हैं। शेषजी सहस्र मुखोंसे अहर्निश आपके गुणोंका निरन्तर कथन करते रहते हैं तो भी प्रलयके अन्ततक आपके समस्त गुणोंका कथन नहीं कर सकते। फिर मैं अज्ञ प्राणी भला आपकी स्तुति कैसे कर सकूँगा!'

प्रभुने उसी प्रकार गम्भीर स्वरमें कहा—'मुरारी! तुम्हें भय करनेकी कोई बात नहीं। जो दुष्ट मेरे संकीर्तनमें विघ्न करेगा, मैं उसका संहार करूँगा, फिर चाहे वह कोई भी क्यों न हो। तुम निर्भय रहो। नाम-संकीर्तनद्वारा मैं जगदुद्धारका कार्य करूँगा।' यह कहते-कहते प्रभु अचेत-से हो गये और वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ कालके अनन्तर प्रभु प्रकृतिस्थ हुए और मुरारीसे फिर उसी प्रकारकी अधीरताकी बातें करने लगे। मुरारी गुप्त तो इनके प्रभावका पहिले ही परिचय प्राप्त कर चुके थे। इसलिये उनके भावमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं हुआ। प्रभु इस प्रकार मुरारीको अपने दर्शनोंसे कृतार्थ

आवेश समाप्त हो जाता, तब आप एक अमानी भक्तकी भाँ बहुत ही दीनताका बर्ताव करने लगते । भक्तोंकी पद-रजको अ मस्तकपर चढ़ाते और सबसे अधीर होकर पूछते—'मुझे श्रीकृ प्रेमकी प्राप्ति कब हो सकेगी ? आप लोग मुझे श्रीकृष्ण-प्राप्ति उपाय बतावें । मैं अपने प्यारे श्रीकृष्णसे कैसे मिल सकूँगा !' इ प्रकार इनके जीवनमें दो भिन्न-भिन्न भाव प्रतीत होने लगे भावावेशमें तो भगवत्-भाव और साधारणरीत्या भक्त-भाव । इनके अन्तरङ्ग भक्त थे, वे तो इनमें सर्वकालमें भगवत्-भाव ही रखते और ये कितनी भी दीनता प्रकट करते तो भी उन उनके भावमें परिवर्तन नहीं होता, किन्तु जो साधारण थे, सन्देहमें पड़ जाते कि यह बात क्या है ! कोई कहता—' साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं ।' कोई कहता—'न जाने किसी दे देवताका आवेश होता हो ।' कोई-कोई इसे तान्त्रिक सिद्धि बताने लगे । प्रभुके शरीरमें कुछ श्रीकृष्ण-लीलाओंका भी भक्त उदय देखा था । कभी तो ये अक्रूर-लीला करते, कभी गोपियों विरहमें रुदन करते थे ।

मुरारी गुप्त वराह भगवान्के उपासक थे । एक दिन मु गुप्त वराह भगवान्के स्तोत्रका पाठ कर रहे थे । प्रभु दूरसे स्तोत्रपाठ सुनकर वराहकी भाँति जोरोंसे गर्जना करते 'शूकर-शूकर' ऐसा कहते हुए मुरारी गुप्तके घरकी ओर चले उस समय इनकी प्रकृतिमें मुरारी गुप्तने सभी वराहावतार गुणोंका अनुभव किया । प्रभु दोनों हाथोंको पृथ्वीपर

हाथ-पैरोंसे बिलकुल वराहकी भाँति चलने लगे। रास्तेमें एक बड़ा पीतलका जलपूर्ण कलश रखा था। प्रभुने उसे अपनी डाढ़से उठाकर दूसरी ओर फेंक दिया और आप सीधे गुप्त महाशयके पूजागृहमें चले गये। वहाँ जाकर आप आसनासीन हुए और मुरारीसे कहने लगे—'मुरारी! तुम हमारी स्तुति करो।'

मुरारीने हाथ जोड़े हुए अति दीनभावसे कहा—'प्रभो! आपकी महिमा वेदातीत है। वेद, शास्त्र आपकी महिमाको पूर्णरीतिसे समझ ही नहीं सकते। श्रुतियोंने आपका 'नेति' 'नेति' कहकर कथन किया है। आप अन्तर्यामी हैं। शेषजी सहस्र मुखोंसे अहर्निश आपके गुणोंका निरन्तर कथन करते रहते हैं तो भी प्रलयके अन्ततक आपके समस्त गुणोंका कथन नहीं कर सकते। फिर मैं अज्ञ प्राणी भला आपकी स्तुति कैसे कर सकूँगा!'

प्रभुने उसी प्रकार गम्भीर स्वरमें कहा—'मुरारी! तुम्हें भय करनेकी कोई बात नहीं। जो दुष्ट मेरे संकीर्तनमें विघ्न करेगा, मैं उसका संहार करूँगा, फिर चाहे वह कोई भी क्यों न हो। तुम निर्भय रहो। नाम-संकीर्तनद्वारा मैं जगदुद्धारका कार्य करूँगा।' यह कहते-कहते प्रभु अचेत-से हो गये और वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ कालके अनन्तर प्रभु प्रकृतिस्थ हुए और मुरारीसे फिर उसी प्रकारकी अधीरताकी बातें करने लगे। मुरारी गुप्त तो इनके प्रभावका पहिले ही परिचय प्राप्त कर चुके थे। इसलिये उनके भावमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं हुआ। प्रभु इस प्रकार मुरारीको अपने दर्शनोंसे कृतार्थ

करके घरकी ओर चले गये। इसी प्रकार भक्तोंको अनेक भाँ और लीलाओंसे प्रभु सदा आनन्दित और सुखी बनाते इ श्रीकृष्ण-कीर्तनमें संलग्न बनाये रखते थे।

एक दिन संकीर्तन करते-करते प्रभुने बीचमें ही कहा—'नदियामें अब शीघ्र ही एक महापुरुष आनेवाले हैं, जिनके द्वारा नवद्वीपके कोने-कोने और घर-घरमें श्रीकृष्ण-संकीर्तनक प्रचार होगा।' प्रभुके मुखसे इस बातको सुनकर सभी भक्तोंने परम प्रसन्नता प्राप्त हुई और वे आनन्दके उद्रेकमें और अधिक उत्साहके साथ नृत्य करने लगे। भक्तोंको दृढ विश्वास था कि प्रभुने जो बात कही है, वह सत्य ही होगी।

इस बातको चार-पाँच ही दिन हुए होंगे, कि एक दिन संकीर्तनके अनन्तर प्रभुने भक्तोंसे कहा—'मेरे अग्रज, मेरे परम सखा, मेरे बन्धु और मेरे वे सर्वस्व महापुरुष अवधूतके वेशमें नवद्वीपमें आ गये हैं, अब तुम लोग जाकर उन्हें खोज निकालो।' प्रभुकी ऐसी आज्ञा पाकर भक्तगण उन अवधूत महापुरुषको खोजनेके लिये चले। पाठकोंको उत्सुकता होगी, कि ये निमाईके सर्वस्व अवधूत-वेशमें कौन महापुरुष थे! असल में ये अवधूत नित्यानन्दजी ही थे, जो गौर-भक्तोंमें 'निमाईके भाई निताई' के नामसे पुकारे जाते हैं। पाठकोंको इनका परिचय अगले अध्यायमें मिलेगा।

निताई

निमाईके भाई निताई

ुष्करम् ।
पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः काप्यतिदु सुधीः ॥*
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः, र० भां० १४ । ६)
(सु॰ कभी-कभी एक

विधिका विधान भी बड़ा ही विचित्र है, में शत्रुभावसे बर्ताव
ही माताके उदरसे उत्पन्न हुए दो भाई परस्पर ।-विभीषण, कर्ण-
करते हुए देखे गये हैं । बालि-सुग्रीव, रावण स्परमें एक दूसरे-
अर्जुन आदि सहोदर भाई ही थे, किन्तु ये पर न्न माता-पिताओं-
की मृत्युका कारण बने हैं । इसके विपरीत विभि में आता है, कि
से उत्पन्न होकर उनमें इतना अधिक प्रेम देख तया न हो । इन
इतना किसी विरले सहोदर भाईमें भी सम्भव त्येक प्राणी पूर्व-
सब बातोंसे यही अनुमान किया जाता है, कि प्र

कारका घोर और

* जिन्होंने किसी पुण्य-तीर्थमें रहकर किसी करनेवाला, समृद्ध-
दुष्कर तप किया है, उन्हींके यहाँ इन्द्रियोंको वशमें कर चाहे वह तप
शाली धार्मिक अथवा विद्वान् पुत्र उत्पन्न होता है । रि सुकृतोंसे गुणी
किसी भी जन्ममें क्यों न किया हो । बिना पूर्वजन्मोंके
अथवा धार्मिक पुत्र नहीं हो सकता ।

जन्मके संस्कारोंसे आबद्ध है। जिसका जिसके साथ जितने जन्मोंका सम्बन्ध होगा, उसे उसके साथ उतने ही जन्मोंतक उस सम्बन्धको निभाना होगा। फिर चाहे उन दोनोंका जन्म एक ही परिवार अथवा देशमें हो या विभिन्न जाति-कुल अथवा ग्राममें हो। सम्बन्ध तो पूर्वकी ही भाँति चला आवेगा। महाप्रभु गौराङ्गदेवका जन्म गौड़देशके सुप्रसिद्ध नदिया नामक नगरमें हुआ। इनके पिता सिलहट-निवासी मिश्र ब्राह्मण थे, माता नवद्वीपके सुप्रसिद्ध पण्डित नीलाम्बर चक्रवर्तीकी पुत्री थी। ये स्वयं दो भाई थे। बड़े भाई विश्वरूप इन्हें पाँच वर्षका ही छोड़ कर सदाके लिये चले गये। अपने माता-पिताके यही एकमात्र पुत्र थे इसलिये चाहे इन्हें सबसे छोटा कह लो या सबसे बड़ा। इनके माताके दूसरी कोई जीवित सन्तान ही विद्यमान नहीं थी।

श्रीनित्यानन्दका जन्म राढ़देशमें हुआ। इनके माता-पिता राढ़ीश्रेणीके ब्राह्मण थे, ये अपने सभी भाइयोंमें बड़े थे, किन्तु इनके छोटे भाइयोंका कोई नाम भी नहीं जानता कि वे कौन थे और कितने थे? ये गौराङ्गके बड़े भाईके नामसे प्रसिद्ध हुए और गौरभक्तोंमें संकीर्तनके समय गौरसे पहिले निताईका ही नाम आता है।

भजो निताई गौर राधे श्याम। जपो हरे कृष्ण हरे राम॥

इस प्रकार इन दोनोंका पाञ्चभौतिक शरीर एकस्थानीय रजवीर्यका न होते हुए भी इनकी आत्मा एक ही तत्त्वकी बनी

हुई थी। इनका शरीर पृथक्-पृथक् देशीय होनेपर भी इनका अन्तःकरण एक ही था, इसीलिये तो 'निमाई और निताई' दोनों भिन्न-भिन्न होते हुए भी अभिन्न समझे जाते हैं।

प्रभु नित्यानन्दजीका जन्म वीरभूमि जिलेके अन्तर्गत 'एकचाका' नामक एक छोटे-से ग्राममें हुआ था, इनके ग्रामसे थोड़ी दूरपर मोड़ेश्वर (मयूरेश्वर) नामका एक बहुत ही प्रसिद्ध शिवलिङ्ग था। आजकल वहाँ मयूरेश्वर नामक एक ग्राम भी बसा है, जो वीरभूमिका एक थाना है। नित्यानन्द प्रभुके पिताका नाम हाड़ाई ओझा और माताका नाम पद्मावतीदेवी था। ओझा-दम्पति विष्णुभक्त थे। बिना परमभागवत और सद्वैष्णव हुए उनके घरमें नित्यानन्द-जैसे महापुरुषका जन्म हो ही कैसे सकता था! उस समय साम्प्रदायिक संकुचितताका इतना अधिक प्राबल्य नहीं था। प्रायः सभी सम्प्रदायोंके माननेवाले वैष्णव, स्मार्तमतानुसार ही अपनेको वैष्णव मानते थे। उपास्य-देव तो उनके विष्णु ही होते थे, विष्णुपूजनको ही प्रधानता देते हुए वे अन्य देवताओंकी भी समय-समयपर भक्तिभावसे पूजा किया करते थे। अपनेको श्रीवैष्णव-सम्प्रदायके अनुयायी कहने-वाले कुछ पुरुष जो आज शिवपूजनकी तो बात ही क्या त्रिपुण्ड्र, बिल्वपत्र और रुद्राक्ष आदिके दर्शनोंसे भी घृणा करते हैं, पूर्व-कालमें उनके भी सम्प्रदायमें कई शिवोपासक आचार्योंका वृत्तान्त मिलता है। अस्तु, हाड़ाई पण्डित वैष्णव होते हुए भी नित्यप्रति मोड़ेश्वरमें जाकर बड़े भक्ति-भावसे शिवजीकी पूजा

किया करते थे। शिवलिङ्गकी तो सभी देवताओंकी पूजा की जा सकती है।

हाड़ाई पण्डितके वंशमें सदासे पुरोहित-वृत्ति होती आयी थी। इसलिये ये भी थोड़ी-बहुत पुरोहिती कर लेते घरमें खाने-पहिननेकी कमी नहीं थी, किन्तु इनका घर सन्त बिना सूना था, इसलिये ओझा-दम्पतिको यही एक भारी दु था। एक दिन पद्मावतीदेवीको स्वप्नमें प्रतीत हुआ कि क महापुरुष कह रहे हैं—'देवि! तुम्हारे गर्भसे एक ऐसे महापुरु का जन्म होगा, जिनके द्वारा सम्पूर्ण देशमें श्रीकृष्ण-संकीर्तनक प्रचार होगा और वे जगन्मान्य महापुरुष समझे जायँगे।' प्रा देखा गया है कि सात्त्विक प्रकृतिवाले पुरुषोंको शुद्ध भाव शयन करनेपर रात्रिके अन्तमें जो स्वप्न दीखते हैं वे सच्चे होते हैं। भाग्यवती पद्मावतीदेवीका भी स्वप्न सच्चा हुआ यथासमय उनके गर्भ रहा और शाके १२९५ में माघके शु पक्षमें पद्मावतीदेवीके गर्भसे एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। पुत्रक नाम रक्खा गया नित्यानन्द। आगे चलकर ये ही नित्यानन्द प्रभु अथवा 'निताई' के नामसे गौर-भक्तोंमें बलरामके सम पूजे गये और प्रसिद्ध हुए।

बालक नित्यानन्द देखनेमें बड़े ही सुन्दर थे। इनक शरीर इकहरा और लावण्यमय था। चेहरेसे कान्ति प्रकट होत थी, गौर वर्ण था, आँखें बड़ी-बड़ी और स्वच्छ तथा

थीं, इनकी बुद्धि बाल्यकालसे ही बड़ी तीक्ष्ण थी। पाँच वर्षकी अवस्थामें इनका विद्यारम्भ-संस्कार कराया गया। विद्यारम्भ-संस्कार होते ही ये खूब मनोयोगके साथ अध्ययन करने लगे। थोड़े ही समयमें इन्हें संस्कृत-साहित्य तथा व्याकरणका अच्छा ज्ञान हो गया। ये पाठशालाके समयमें तो पढ़ने जाते, शेष समयमें बालकोंके साथ खूब खेल-कूद करते। इनके खेल अन्य साधारण प्राकृतिक बालकोंकी भाँति नहीं होते थे। ये बालकोंको साथ लेकर छोटी ही उम्रसे श्रीकृष्ण-लीलाओंका अभिनय किया करते। किसी बालकको श्रीकृष्ण बना देते, किसीको ग्वाल-बाल और आप स्वयं बलराम बन जाते। कभी गौ-चारण-लीला करते, कभी पुलिन-भोजनका अभिनय करते और कभी मथुरा-गमनकी लीला बालकोंसे कराते। इन्हें ये लीलाएँ किसने सिखा दीं और इन्होंने इनकी शिक्षा कहाँ पायी, इसका किसीको कुछ भी पता नहीं चलता। ये सभी शास्त्रीय लीला ही किया करते।

कभी-कभी आप रामायणकी लीलाओंको बालकोंसे कराते। किसीको राम बना देते, किसीको भरत, शत्रुघ्न और आप स्वयं लक्ष्मण बन जाते। शेष बालकोंको नौकर-चाकर तथा रीछ-वानर बनाकर भिन्न-भिन्न स्थानोंकी लीलाओंको करते। कभी तो वनगमनका अभिनय करते, कभी चित्रकूटका भाव दर्शाते और कभी सीता-हरणका अभिनय करते। एक दिन आप लक्ष्मण-मूर्च्छाकी लीला कर रहे थे। आप स्वयं लक्ष्मण बनकर मेघनादकी

शक्तिसे बेहोश होकर पड़े थे । एक लड़केको हनूमान् बनाक
सञ्जीवन लानेके लिये भेजा । वह लड़का छोटा ही था, इन्हों
जैसे बताया उसे भूल गया । ये बहुत देरतक बेहोश बने प
रहे । सचमुच लोगोंने देखा कि इनकी नाड़ी बहुत ही धी
धीरे चल रही है । बहुत जगानेपर भी ये नहीं उठते हैं । इसक
सूचना इनके पिताको जाकर बालकोंने दी । पिता यह सुनक
दौड़े आये और उन्होंने भी आकर इन्हें जगाया, किन्तु तो भ
नहीं जगे । तब तो पिताको बड़ा भारी दुःख हुआ । जो बालक
इनके पास रामरूपसे बैठा रुदन कर रहा था, उसे याद आय
और उसने हनूमान् बननेवाले लड़केको बुलाया । जब हनूमान्
जी सञ्जीवन लेकर आये और इन्हें वह सुँघायी गयी तब इनक
मूर्च्छा भंग हुई । इस प्रकार ये बाल्यकालसे ही भाँति-भाँतिक
शास्त्रीय लीलाओंका अभिनय किया करते थे ।

पढ़ने-लिखनेमें ये अपने सभी साथियोंसे सर्वश्रेष्ठ समझे
जाते थे । इनकी बुद्धि अत्यन्त ही तीक्ष्ण थी, प्रायः देखा गया है
पिताका ज्येष्ठ पुत्रके प्रति अत्यधिक प्रेम होता है और माताक
सबसे छोटी सन्तान सबसे प्रिय होती है । फिर ये तो रूप और
गुणोंमें भी अद्वितीय ही थे, इसी कारण हाड़ाई ओझा इन्
प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे । वे जहाँ भी कहीं जाते
वहीं इन्हें साथ ले जाते थे, इनके बिना उन्हें कहीं जाना-आन
या अकेले बैठकर खाना-पीना अच्छा ही नहीं लगता था । मा

भी इनके मनोहर मुखकमलको देखकर सदा आनन्दसागरमें डुबकियाँ लगाती रहती थी। इस प्रकार इनकी अवस्था बारह-तेरह वर्षकी हो गयी।

हाड़ाई पण्डित बड़े साधु-भक्त थे। प्रायः हमेशा ही कोई साधु-सन्त इनके घरपर बने रहते। ये भी यथाशक्ति जैसा घरमें रूखा-सूखा अन्न होता, उसके द्वारा श्रद्धापूर्वक आगत साधु-सन्तोंका सत्कार किया करते थे। एक दिन एक संन्यासी आकर हाड़ाई पण्डितके यहाँ अतिथि हुए। पण्डितजीने श्रद्धा-पूर्वक उनका आतिथ्य किया। पद्मावतीदेवीने शुद्धताके साथ अपने हाथोंसे दाल, चावल, पकौड़ी और कई प्रकारके साग बनाये। पण्डितजीने भक्ति-भावसे संन्यासीजीको भोजन कराया। इनके भक्तिभावको देखकर संन्यासी महात्मा बड़े प्रसन्न हुए और दो-चार दिन पण्डितजीके ही यहाँ ठहर गये। पण्डितजी भी उनकी यथाशक्ति सेवा-शुश्रूषा करते रहे। संन्यासी देखने-में बड़े ही रूपवान् थे। उनके चेहरेसे एक प्रकारकी ज्योति हमेशा निकलती रहती थी। उनकी आकृतिसे गम्भीरता, सच्चरित्रता, पवित्रता, तेजस्विता और भगवद्भक्तिके भाव प्रकट होते थे। हाड़ाई पण्डितकी संन्यासीके प्रति बड़ी श्रद्धा हो गयी। इस अल्प वयस्के संन्यासीके प्रभावसे हाड़ाई पण्डित अत्यधिक प्रभा-वान्वित हो गये। एक दिन एकान्तमें संन्यासीजीने हाड़ाई पण्डितजीसे कहा—'पण्डितजी! हम आपसे एक भिक्षा माँगते हैं, दोगे ?'

दीनता प्रकट करते हुए हाड़ाई पण्डितने कहा—'प्रभो इस दीन-हीन कंगालके पास है ही क्या ! इधर-उधरसे जो कु मिल जाता है, उसीसे निर्वाह होता है । आप देखते ही मेरे घरमें ऐसी कौन-सी चीज़ है, जिसे मैं आपको भिक्षामें दे सकूँ जो कुछ उपस्थित है, उसमें ऐसी कोई भी चीज़ नहीं है, ज आपके लिये अदेय हो सके । यदि आप शरीर माँगें, तो शरीरतक देनेको तैयार हूँ ।'

संन्यासीजीने कुछ गम्भीरताके साथ कहा—'पण्डित ! तुम्हारे पास सब कुछ है, जो चीज़ मैं माँगना चाहता हूँ, वह यह पार्थिव धन नहीं है । वह तो बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है, उसे देनेमें तुम ज़रूर आनाकानी करोगे, क्योंकि वह तुम्हें अत्यन्त ही प्रिय है ।'

हाड़ाई पण्डितने कहा—'भगवन् ! मैं ऐसा सुनता आया हूँ, कि *प्राणीमात्रके लिये अपने प्राण ही सबसे अधिक प्रिय* हैं, यदि आप मेरे प्राणोंकी भी भिक्षा माँगें, तो मैं उन्हें भी देनेके लिये तैयार हूँ ।'

संन्यासीजीने कुछ देर ठहरकर कहा—'मैं तुम्हारे शरीर के भीतरके प्राणोंको नहीं चाहता, किन्तु बाहरके प्राणोंकी याचना करता हूँ । तुम अपने प्राणोंसे भी प्यारे ज्येष्ठ पुत्रको मुझे दे दो । मैं सभी तीर्थोंकी यात्रा करना चाहता हूँ । इसके लिये एक साथीकी मुझे आवश्यकता है । तुम्हारा यह पुत्र योग्य

और होनहार है, इसका भी कल्याण होगा और मेरा भी काम चल जायगा।'

संन्यासीजीकी इस बातको सुनकर हाड़ाई पण्डित सुन्न पड़ गये। उन्हें स्वप्नमें भी ध्यान नहीं था, कि संन्यासी महाशय ऐसी विलक्षण वस्तुकी याचना करेंगे। भला, जिस पुत्रको पिता प्राणोंसे भी अधिक प्यार करता हो, जिसके बिना उसका जीवन असम्भव-सा ही हो जानेवाला हो, उस पुत्रको यदि कोई सदा-के लिये माँग बैठे तो उस पिताको कितना भारी दुःख होगा, इसका अनुमान तो कोई सहृदय स्नेही पिता ही कर सकता है। अन्य पुरुषकी बुद्धिके बाहरकी बात है। महाराज दशरथसे विश्वामित्र-जैसे क्रोधी और तेजस्वी ब्रह्मर्षिने कुछ दिनोंके ही लिये श्रीरामचन्द्रजीको माँगा था। धर्ममें आस्था रखनेवाले महाराज यह जानते भी थे, कि महर्षिकी इच्छा-पूर्ति न करनेपर मेरे राज्य तथा परिवारकी ख़ैर नहीं है। उन अमित तेजस्वी ब्रह्मर्षिके तप और प्रभावसे भी वे पूर्णरीत्या परिचित थे, उन्हें इस बातका भी दृढ़ विश्वास था कि विश्वामित्रजीके साथमें रामचन्द्रजीका किसी प्रकार भी अनिष्ट नहीं हो सकता, फिर भी पुत्र-वात्सल्य-के कारण विश्वामित्रजीकी इच्छा-पूर्ति करनेके लिये वे सहमत नहीं हुए और अत्यन्त दीनताके साथ ममतामें सने हुए वाक्योंसे कहने लगे—

देह प्रानतें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक

सब सुत प्रीय प्रानकी नाईं। राम देत नहिं बनइ गुसाईं॥

जब भगवान् वशिष्ठने उन्हें समझाया, तब कहीं जाकर उनका मोह भंग हुआ और वे महर्षिकी इच्छानुसार श्रीरामचन्द्रजीको उनके साथ वनमें भेजनेको राजी हुए।

इधर हाड़ाई पण्डितको उनकी धर्मनिष्ठाने समझाया। उन्होंने सोचा—'पुत्रको देनेमें भी दुःख सहना होगा और न देनेमें भी अकल्याण है। संन्यासी श्राप देकर मेरा सर्वस्व नाश कर सकते हैं। इसलिये चाहे जो हो, पुत्रको इन्हें दे ही देना चाहिये।' यह सोचकर वे पद्मावतीदेवीके पास गये और उनसे जाकर सभी वृत्तान्त कहा। भला, जिसे नित्यानन्द-जैसे महापुरुषकी माता होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह अपने धर्मसे विचलित कैसे हो सकती है? पुत्र-मोहके कारण वह कैसे अपने धर्मको छोड़ सकती है? सब कुछ सुनकर उसने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—'मैं तो आपके अधीन हूँ। जो आपकी इच्छा है, वही मेरी भी होगी, पुत्र-वियोगका दुःख असह्य होता है, किन्तु पतिव्रताओंके लिये पति-आज्ञा-उल्लंघनका दुःख उससे भी अधिक असह्य होता है, इसलिये आपकी जैसी इच्छा हो करें। मैं सब प्रकारसे सहमत हूँ, जिससे धर्म लोप न हो वही काम कीजिये।'

पत्नीकी अनुमति पाकर हाड़ाई पण्डितने अपने प्राणोंसे भी प्यारे प्रिय पुत्रको रोते-रोते संन्यासीके हाथोंमें सौंप दिया। धर्मनिष्ठ नित्यानन्दजीने भी इसमें कुछ भी आपत्ति नहीं की। वे

प्रसन्नतापूर्वक संन्यासीके साथ हो लिये। उन्होंने पीछे फिरकर फिर अपने माता-पिता तथा कुटुम्बियोंकी ओर नहीं देखा।

संन्यासीजीके साथ नित्यानन्दजीने भारतवर्षके प्रायः सभी मुख्य-मुख्य तीर्थोंकी यात्रा की। वे गया, काशी, प्रयाग, मथुरा, द्वारका, बद्रीनाथ, केदारनाथ, गङ्गोत्तरी, यमुनोत्तरी, रङ्गनाथ, सेतुबन्ध रामेश्वर, जगन्नाथपुरी आदि तीर्थोंमें गये। इसी तीर्थयात्रा-भ्रमणमें इनका श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीके साथ साक्षात्कार हुआ और उनके द्वारा श्रीकृष्ण-भक्ति प्राप्त करके ये प्रेममें विह्वल हो गये। उनसे विदा होकर ये व्रजमें आये। इनके साथके संन्यासी कहाँ रह गये, इसका कोई ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

व्रजमें आनेपर इन्हें पता चला, कि नवद्वीपमें गौरचन्द्र उदय होकर अपनी सुशीतल किरणोंसे दोनों ही पक्षोंमें निरन्तर मोह-ज्वालामें झुलसते हुए संसारी प्राणियोंको अपने श्रीकृष्ण-संकीर्तन-रूपी अमृतसे शीतलता प्रदान कर रहे हैं, इनका मन स्वतः ही श्रीगौरचन्द्रके आलोकमें पहुँचनेके लिये हिलोरें मारने लगा। अब ये अधिक समयतक व्रजमें नहीं रह सके और प्रयाग, काशी होते हुए सीधे नवद्वीपमें पहुँच गये।

नवद्वीपमें जाकर अवधूत नित्यानन्द सीधे महाप्रभुके समीप नहीं गये। वे पण्डित नन्दनाचार्यके घर जाकर ठहर गये। इधर प्रभुने तो अपनी दिव्यदृष्टिद्वारा पहिले ही देख लिया था, कि नित्यानन्द नवद्वीप आ रहे हैं, इसीलिये उन्होंने खोज करनेके लिये भक्तोंको भेजा।

स्नेहाकर्षण

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते॥*
(सु० र० भां० ६२।११)

सचमुच प्रेममें कितना भारी आकर्षण है! आकाशमें भगवान्‌का इन्दु-मण्डल है और पृथ्वीपर सरित्पति सागर वि हैं। जिस दिन शर्वरीनाथ अपनी सम्पूर्ण कलाओंसे मण्डलमें उदित होते हैं, उसी दिन अवनिपर मारे प्रेमके उमड़ने लगता है। पद्माकर भगवान् भुवन-भास्करसे कितनी दूर पर रहते हैं, किन्तु उनके आकाशमें उदय होते ही वे खिल उठते हैं, उनका मुकुर मन जो अबतक सूर्यदेवके शोकमें संकुचित बना बैठा था, वह उनकी किरणोंका स्पर्श पाते ही आनन्दसे विकसित होकर लहराने लगता है। बादल न जाने कहाँ गरजते हैं, किन्तु पृथ्वीपर भ्रमण करनेवाले मयूर यहींसे

* जिसके देखनेसे, जिसके शरीर-स्पर्शसे, जिसके गुणोंके श्रवणसे, जिसके किसी प्रकारके भी भाषणसे मनमें एक प्रकारकी गुदगुदी-सी होने लगे, हृदय आप-से-आप ही पिघलने लगे तो समझ लेना चाहिये, कि वहाँ स्नेहका आविर्भाव हो चुका है। मनीषियोंने इस हृदयके पिघलनेकी प्रक्रियाको ही प्रेम बताया है।

उनकी सुमधुर ध्वनि सुनकर आनन्दमें उन्मत्त होकर चिल्लाने और नाचने लगते हैं, यदि प्रेममें इतना अधिक आकर्षण न होता तो सचमुच इस संसारका अस्तित्व ही असम्भव हो जाता। संसारकी स्थिति ही एकमात्र प्रेमके ही ऊपर निर्भर है। प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। प्रेम ही प्राणियोंको भाँति-भाँतिके नाच नचा रहा है। हृदयका विश्राम-स्थान प्रेम ही है। स्वच्छ हृदयमें जब प्रेमका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, तभी हृदयमें शान्ति होती है। हृदयमें प्रेमका प्राकट्य हो जानेपर कोई विषय अज्ञेय नहीं रह जाता, आगे-पीछेकी सभी बातें प्रत्यक्ष दीखने लगती हैं। फिर चर-अचरमें जहाँ भी प्रेम दृष्टि-गोचर होता है वहीं हृदय आप-से-आप दौड़कर चला जाता है। अहा, जिन्होंने प्रेम-पीयूषका पान कर लिया है, जो प्रेमासवका पान करके पागल बन गये हैं, उन प्रेमियोंके पाद-पद्मोंमें पहुँचनेपर हृदयमें कितनी अधिक शान्ति उत्पन्न होती है, उसे तो वे ही प्रेमी भक्त अनुभव कर सकते हैं,जिन्हें प्रभुके प्रेम-प्रसादकी पूर्ण-रीत्या प्राप्ति हो चुकी है।

नित्यानन्द प्रभु प्रेमके ही आकर्षणसे आकर्षित होकर नव-द्वीप आये थे, इधर इस बातका पता प्रभुके हृदयको बेतारके तार-द्वारा पहिले ही लग चुका था। उन्होंने उसी दिन भक्तोंको नव-द्वीपमें अवधूत नित्यानन्दको खोजनेके लिये भेजा। नवद्वीप कोई छोटा-मोटा गाँव तो था ही नहीं, जिसमेंसे वे झट [illegible] खोज लाते, फिर नित्यानन्दजीसे कोई परिचित भी नहीं था,

उन्हें देखते ही पहिचान लेता । श्रीवास पण्डित तथा हरिदास दिनभर उन नवीन आये हुए महापुरुषकी खोज करते रहे, किन्तु उन्हें इनका पता नहीं चला, अन्तमें निराश होकर वे प्रभुके पास लौट आये और आकर कहने लगे—'प्रभो ! हमने आपकी आज्ञानुसार नवद्वीपके मुहल्ले-मुहल्लेमें जाकर उन महापुरुषकी खोज की, सब प्रकारके मनुष्योंके घरोंमें जाकर देखा, किन्तु हमें उनका कुछ भी पता नहीं चला । अब जैसी आज्ञा हो, वैसा ही करें । जहाँ बतावें वहीं जायँ ।'

इन लोगोंके मुखसे इस बातको सुनकर प्रभु कुछ मुस्कराये और सबकी ओर देखते हुए बोले—'मुझे रात्रिमें स्वप्न हुआ है, कि वे महापुरुष जरूर यहाँ आ गये हैं और लोगोंसे मेरे घर का पता पूछ रहे हैं । अच्छा एक काम करो, हम सभी लोग मिलकर उन्हें ढूँढ़ने चलें ।' यह कहकर प्रभु उसी समय उठकर चल दिये । उनके पीछे गदाधर, श्रीवासादि भक्तगण भी हो लिये । प्रभु उठकर सीधे पं० नन्दनाचार्यके घरकी ओर चल पड़े । आचार्यके घर पहुँचनेपर भक्तोंने देखा, कि एक दिव्य-कान्तियुक्त महापुरुष अपने अमित तेजसे सम्पूर्ण घरको आलोकमय बनाये हुए पद्मासनसे विराजमान हैं । उनके मुख-मण्डलकी तेजोमय किरणोंमें ग्रीष्मके प्रभाकरकी किरणोंकी भाँति प्रखर प्रचण्डता नहीं थी, किन्तु शरद्-चन्द्रकी उन किरणोंके समान शीतलता, शान्तता और मनोहरता मिली हुई थी । गौराङ्गने भक्तोंके सहित उन महापुरुषकी चरण-वन्दना की और

ओर चुपचाप बैठ गये। किसीने किसीसे कुछ भी बातचीत नहीं की। नित्यानन्द प्रभु अनिमेष-दृष्टिसे गौराङ्गके मुख-चन्द्रकी ओर निहार रहे थे। भक्तोंने देखा, उनकी पलकोंका गिरना एकदम बन्द हो गया है। सभी स्थिरभावसे मन्त्रमुग्धकी भाँति नित्यानन्द प्रभुकी ओर देख रहे थे। प्रभुने अपने मनमें सोचा—'भक्तोंको नित्यानन्दजीकी महिमा दिखानी चाहिये। इन्हें कोई प्रेम-प्रसंग सुनाना चाहिये, जिसके श्रवणसे इनके शरीरमें सात्त्विक भावोंका उद्दीपन हो। इनके भावोंके उदय होनेसे ही भक्त इनके मनोगत भावोंको समझ सकेंगे।' यह सोचकर प्रभुने श्रीवास पण्डितको कोई स्तुति-श्लोक पढ़नेके लिये धीरेसे संकेत किया। प्रभुके मनोगत भावको समझकर श्रीवास इस श्लोकको पढ़ने लगे—

> बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
> बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।
> रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै-
> र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः॥
> (श्रीमद्भा० १०।२१।५)

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके इस श्लोकमें कितना माधुर्य है, इसे तो संस्कृत साहित्यानुरागी सहृदय रसिक भक्त ही अनुभव कर सकते हैं। इसका भाव शब्दोंमें व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। व्रजमण्डलके भक्तगण तो इसी श्लोकको श्रीमद्भागवतके प्रचारमें मूल कारण बताते हैं। बात यह थी, कि भगवान्

शुकदेवजी तो बाल्यकालसे ही विरक्त थे, वे अपने पिता व्यासदेवजीके पास न आकर घोर जंगलोंमें ही अवधूत विचरण करते थे। व्यासदेवने उसी समय रचना की थी, उनकी इच्छा थी कि शुकदेवजी इसे किन्तु वे जितनी देरमें गौ दुही जा सकती है, उतनी अधिक कहीं ठहरते ही नहीं थे। फिर अठारह हजार श्रीमद्भागवतको वे किस प्रकार पढ़ सकते थे, इसलिये व्यासदेव की इच्छा मनकी मनहीमें रह गयी।

व्यासदेवजीके शिष्य उस घोर जंगलमें समिधा, कुश फूल फल लेने जाया करते थे, एक दिन उन्हें इस बीहड़ वनमें व्याघ्र मिला, व्याघ्रको देखकर वे लोग डर गये और आकर भगवान् व्यासदेवसे कहने लगे—'गुरुदेव! अब हम घोर जंगलमें न जाया करेंगे, आज हमें व्याघ्र मिला था, उसे देखकर हम सब-के-सब भयभीत हो गये।'

शिष्योंके मुखसे ऐसी बात सुनकर भगवान् व्यासदेव कुछ मुस्कुराये और थोड़ी देर सोचकर बोले—'व्याघ्रसे तुमलोगोंको भय ही किस बातका है? हम तुम्हें एक ऐसा मन्त्र बता देंगे, कि उसके प्रभावसे कोई भी हिंसक जन्तु तुम्हारे पास नहीं फटक सकेगा।' शिष्योंने गुरुदेवके वाक्यपर विश्वास किया और दूसरे दिन स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त होकर हाथ जोड़े हुए वे गुरुके समीप आये और हिंसक जन्तु-निवारक मन्त्रकी जिज्ञासा की। भगवान् व्यासदेवने यही '*बर्हापीडं नटवरवपुः*' वाला श्लोक

बता दिया। शिष्योंने श्रद्धाभक्तिसहित इसे कण्ठस्थ कर लिया और सभी साथ मिलकर जब-जब जंगलको जाते तब-तब इस श्लोकको मिलकर स्वरके साथ पढ़ते। उनके सुमधुर गानसे नीरव और निर्जन जंगल गूँजने लगता और चिरकालतक उसमें इस श्लोककी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती। एक दिन अवधूत-शिरोमणि श्रीशुकदेवजी घूमते-फिरते उधर आ निकले। उन्होंने जब इस श्लोकको सुना तो वे मुग्ध हो गये। शिष्योंसे जाकर पूछा—'तुम-लोगोंने यह श्लोक कहाँ सीखा?' शिष्योंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'हमारे कुलपति भगवान् व्यासदेवने ही हमें इस मन्त्रका उपदेश दिया है। इसके प्रभावसे हिंसक जन्तु पास नहीं आ सकते।' भगवान् शुकदेवजी इस श्लोकके भीतर जो छिपा हुआ अनन्त और अमर बनानेवाला रस भरा हुआ था, उसे पान करके पागल-से हो गये। वे अपने अवधूतपनेके सभी आचरणोंको भुलाकर दौड़े-दौड़े भगवान् व्यासदेवके समीप पहुँचे और उस श्लोकको पढ़ानेकी प्रार्थना की। अपने विरक्त परमहंस पुत्रको इस भाँति प्रेममें पागल देखकर पिताकी प्रसन्नताका वारापार नहीं रहा। वे शुकदेवजीको एकान्तमें ले गये और धीरेसे कहने लगे—'बेटा! मैंने इसी प्रकारके अठारह हजार श्लोकोंकी परमहंस-संहिता ही बनायी है, तुम उसका अध्ययन करो।'

इन्होंने आग्रह करते हुए कहा—'नहीं पिताजी! हमें तो बस, वही एक श्लोक बता दीजिये।' भगवान् व्यासदेवने इन्हें

वही श्लोक पढ़ा दिया और इन्होंने उसी समय उसे कण्ठस्थ क लिया। अब तो ये घूमते हुए उसी श्लोकको सदा पढ़ने लगे। श्रीकृष्णप्रेम तो ऐसा अनोखा आसव है, कि इसका जिसे तनि भी चसका लग गया, फिर वह कभी त्याग नहीं सकता। मनु यदि फिर उसे छोड़ना भी चाहे तो वह स्वयं उसे पकड़ ले है। शुकदेवजीको भी उस मधुमय मनोज्ञ मदिराका चसक लग गया, फिर वे अपने अवधूतपनेके आग्रहको छोड़क श्रीमद्भागवतके पठनमें संलग्न हो गये और पितासे उसे सांगोपां पढ़कर ही वहाँसे उठे। तभी तो भगवान् व्यासदेवजी कहते हैं-

> आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
> कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥
> (श्रीमद्भागवत)

भगवान्‌के गुणोंमें यही तो एक बड़ी भारी विशेषता है कि जिनकी हृदय-ग्रन्थि खुल गयी है, जिनके सर्व संशयों क जड़मूलसे छेदन हो गया है और जिनके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो हो चुके हैं, ऐसे आत्माराम मुनि भी उन गुणोंमें अहैतुकी-भक्ति करते हैं। क्यों न हो, वे तो रसराज हैं न ! 'प्रेमसिन्धुमें डू हुएको किसीने आजतक उछलते देखा ही नहीं।'

जिस श्लोकका इतना भारी महत्व है उसका भाव भी सुन लीजिये। गौएँ चराने मेरे नन्हें-से गोपाल वृन्दावनकी ओर ज रहे हैं। साथमें वे ही पुराने ग्वाल-बाल हैं, उन्हें आज न जा

क्या सूझी है, कि ये कनुआकी कमनीय कीर्तिका निरन्तर बखान करते हुए जा रहे हैं। सभी अपने कोमल कण्ठोंसे श्रीकृष्णका यशोगान कर रहे हैं। इधर ये अपनी मुरलीकी तानमें ही मस्त हैं, इन्हें दीन-दुनिया किसीका भी पता नहीं। अहा! उस समयकी इनकी छवि कितनी सुन्दर है—

'सम्पूर्ण शरीरकी गठन एक सुन्दर नटके समान बड़ी ही मनोहर और चित्ताकर्षक है। सिरपर मोरमुकुट विराजमान है। कानोंमें बड़े-बड़े कनेरके पुष्प लगा रखे हैं, कनकके समान जिसकी द्युति है, ऐसा पीताम्बर सुन्दर शरीरपर फहरा रहा है, गलेमें वैजयन्तीमाला पड़ी हुई है। कुछ आँखोंकी भृकुटियोंको चढ़ाये हुए, टेढ़े होकर वंशीके छिद्रोंको अपने अधरामृतसे पूर्ण करनेमें तत्पर हैं। उन छिद्रोंमेंसे विश्वविमोहिनी ध्वनि सुनायी पड़ रही है। पीछे-पीछे ग्वालबाल यशोदानन्दनका यशोगान करते हुए जा रहे हैं, इस प्रकारके मुरलीमनोहर अपनी पद-रजसे वृन्दावनकी भूमिको पावन बनाते हुए व्रजमें प्रवेश कर रहे हैं।'

जगत्‌को उन्मादी बनानेवाले इस भावको सुनकर जब अवधूतशिरोमणि शुकदेवजी भी प्रेममें पागल बन गये, तब फिर भला हमारे सहृदय अवधूत नित्यानन्द अपनी प्रकृतिमें कैसे रह सकते थे? श्रीवास पण्डितके मुखसे इस श्लोकको सुनते ही मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इनके मूर्छित होते ही श्रीवाससे फिर

पढ़नेपर नित्यानन्द प्रभु जोरोंसे हुंकार देने लगे। उनके दोनों नेत्रोंसे अविरल अश्रु बह रहे थे, शरीरके सभी रोम बिलकुल खड़े हो गये। पसीनेसे शरीर भीग गया। वे प्रेममें उन्मादीकी भाँति नृत्य करने लगे। प्रभुने नित्यानन्दको गलेसे लगा लिया और दोनों महापुरुष परस्परमें एक दूसरेको आलिङ्गन करने लगे। नित्यानन्द प्रेममें बेसुध-से प्रतीत होते थे, उनके पैर कहींके कहीं पड़ते थे, जोरसे 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !' कहकर वे रुदन कर रहे थे। रुदन करते-करते बीचमें जोरोंकी हुंकार करते। इनकी हुंकारको सुनकर उपस्थित भक्त भी थर-थर काँपने लगे। सभी काठकी पुतलीकी भाँति स्थिरभावसे चुपचाप खड़े थे। इसी बीच बेहोश होकर निताई अपने भाई निमाईकी गोदमें गिर पड़े। प्रभुने नित्यानन्दके मस्तकपर अपना कोमल कर कमल फिराया। उसके स्पर्शमात्रसे नित्यानन्दजीको परमानन्द प्रतीत हुआ, वे कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए। नित्यानन्द-प्रभुको प्रकृतिस्थ देखकर प्रभु दीनभावसे कहने लगे—'श्रीपाद ! आज हम सभी लोग आपकी पद-धूलिको मस्तकपर चढ़ाकर कृत-कृत्य हुए। आपने अपने दर्शनसे हमें बड़भागी बना दिया। प्रभो ! आप-जैसे अवधूतोंके दर्शन भला, हमारे-जैसे संसारी पुरुषोंको हो ही कैसे सकते हैं ? हम तो गृहरूपी कूपके मण्डूक हैं, इसे छोड़कर कहीं जा ही नहीं सकते। आप-जैसे महापुरुष हमारे ऊपर अहैतुकी कृपा करके स्वयं ही घर बैठे

हमें दर्शन देने आ जाते हैं, इससे बढ़कर हमारा और क्या सौभाग्य हो सकता है !'

प्रभुकी इस प्रेममय वाणीको सुनकर अधीरताके साथ निताईने कहा—'हमने श्रीकृष्णके दर्शनके निमित्त देश-विदेशोंकी यात्रा की, सभी मुख्य-मुख्य पुण्यस्थानों और तीर्थोंमें गये। सभी बड़े-बड़े देवालयोंको देखा, जो-जो श्रेष्ठ और सात्त्विक देवस्थान समझे जाते हैं, उन सबके दर्शन किये किन्तु वहाँ केवल स्थानोंके ही दर्शन हुए। उन स्थानोंके सिंहासनोंको हमने खाली ही पाया। भक्तोंसे हमने पूछा—इन स्थानोंसे भगवान् कहाँ चले गये ? मेरे इस प्रश्नको सुनकर बहुत-से तो चकित रह गये, बहुत-से चुप हो गये, बहुतोंने मुझे पागल समझा। मेरे बहुत तलाश करनेपर एक भक्तने पता दिया कि भगवान् नवद्वीपमें प्रकट होकर श्रीकृष्ण-संकीर्तनका प्रचार कर रहे हैं। तुम उन्हींकी शरणमें जाओ, तभी तुम्हें शान्तिकी प्राप्ति हो सकेगी। इसीलिये मैं नवद्वीप आया हूँ। दयालु श्रीकृष्णने कृपा करके स्वयं ही मुझे दर्शन दिये। अब वे मुझे अपनी शरणमें लेते हैं या नहीं इस बातको वे जानें।' इतना कहकर फिर नित्यानन्द-प्रभु गौराङ्गकी गोदीमें लुढ़क पड़े। मानो उन्होंने अपना सर्वस्व गौराङ्गको अर्पण कर दिया हो।

प्रभुने धीरे-धीरे इन्हें उठाया और नम्रताके साथ कहने लगे—'आप स्वयं ईश्वर हैं, आपके शरीरमें सभी ईश्वरताके चिह्न प्रकट होते हैं, मुझे भुलानेके लिये आप मेरी ऐसी स्तुति

कर रहे हैं । ये सब गुण तो आपमें ही विद्यमान हैं, हम
साधारण जीव हैं । आपकी कृपाके भिखारी हैं ।'

इन बातोंको भक्त मन्त्रमुग्धकी भाँति चुपचाप पा
बैठे हुए आश्चर्यके साथ सुन रहे थे । मुरारी गुप्तने धीरे
श्रीवाससे पूछा—'इन दोनोंकी बातोंसे पता ही नहीं चल
इनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा ?' धीरे-ही-धीरे श्रीवा
पण्डितने कहा—'किसीने शिवजीसे जाकर पूछा कि आप
पिता कौन हैं ?' इसपर शिवजीने उत्तर दिया—'वि
भगवान् ।' उसीने जाकर विष्णु भगवान्से पूछा कि—'आपके पि
कौन हैं ?' हँसते हुए विष्णुजीने कहा—'देवाधिदेव श्रीमहादे
जी ही हमारे पिता हैं ।' इस प्रकार इनकी लीला ये ही सम
सकते हैं, दूसरा कोई क्या समझे ?'

नन्दनाचार्य इन सभी लीलाओंको आश्चर्यके साथ दे
रहे थे, उनका घर प्रेमका सागर बना हुआ था, जिसमें प्रेमकी
हिलोरें मार रही थीं । करुणक्रन्दन और रुदनकी हृदयक
पिघलानेवाली ध्वनियोंसे उनका घर गूँज रहा था । दोनों ही
महापुरुष चुपचाप पश्यन्ती भाषामें न जाने क्या-क्या बातें क
रहे थे, इसका मर्म वे ही दोनों समझ सकते थे । वैखरी वाणी
को बोलनेवाले अन्य साधारण लोगोंकी बुद्धिके बाहरकी
बातें थीं ।

व्यासपूजा

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥*
(गीता ४।११)

प्रेमका पथ कितना व्यापक है, उसमें सन्देह, छल, वञ्चना, बनावटके लिये तो स्थान ही नहीं। प्रेममें पात्रापात्रका भेद-भाव नहीं। उसमें जाति, वर्ण, कुल, गोत्र तथा सजीव-निर्जीवका विचार नहीं किया जाता, इसीलिये प्रायः लोगोंके मुखोंसे सुना जाता है कि 'प्रेम अन्धा होता है।' ऐसा कहनेवाले स्वयं भ्रममें हैं। प्रेम अन्धा नहीं है, असलमें प्रेमके अतिरिक्त अन्य सभी अन्धे हैं। प्रेम ही एक ऐसा अमोघ बाण है, कि जिसका लक्ष्य कभी व्यर्थ नहीं होता, उसका निशान सदा ही ठीक ही लक्ष्यपर बैठता है। 'अपना' कहीं भी छिपा हो, प्रेम उसे वहींसे खोज निकालेगा। इसीलिये तो कहा है—

'तिनका तिनकेसे मिला, तिनका तिनके पास।'

विशाल हिन्दू-धर्मने प्रेमकी सर्वव्यापकताको ही लक्ष्य करके तो उपासनाकी कोई एक ही पद्धति निश्चय नहीं की है। तुम्हें

* श्रीभगवान् अर्जुनके प्रति उपदेश करते हुए कहते हैं-'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस भावसे भजता है, मैं भी उसका उसी भावसे भजन करता हूँ। किसी भी रास्तेसे क्यों न आओ, अन्तमें सब घूम-फिरकर मेरे ही पास आ जाते हैं। (क्योंकि सभी प्राणियोंका एकमात्र आश्रय-स्थान मैं ही हूँ)

जिससे प्रेम हो, तुम्हारा अन्तःकरण जिसे स्वीकार करता है उसीकी भक्तिभावसे पूजा-अर्चा करो और उसीका निरन्तर ध्यान करते रहो, तुम अन्तमें प्रेमतक पहुँच जाओगे। अपना उपास्य कोई एक निश्चय कर लो। अपने हृदयमें किसी भी एक प्रियको बैठा लो। बस, तुम्हारा बेड़ा पार है। पत्नी पतिमें ही भगवत्-भावना करके उसका ध्यान करे, शिष्य गुरुको ही साक्षात् परब्रह्म साकार स्वरूप मानकर उसकी वन्दना करे, इन सभीका फल अन्तमें एक ही होगा, सभी अपने अन्तिम अभीष्टतक पहुँच सकेंगे। सभीको अपनी-अपनी भावनाके अनुसार प्रभु-पद-प्राप्ति अथवा मुक्ति मिलेगी। सभीके दुःखोंका अत्यन्ताभाव हो जायगा। यह तो सचेतन साकार वस्तुके प्रति प्रेम करनेकी पद्धति है, हिन्दू-धर्ममें तो यहाँतक माना गया है कि पत्थर, मिट्टी, धातु अथवा किसी भी प्रकारकी मूर्ति बनाकर उसीमें ईश्वर-बुद्धिसे पूजन करोगे, तो तुम्हें शुद्ध—विशुद्ध प्रेमकी ही प्राप्ति होगी। किन्तु इसमें दम्भ या बनावट न होनी चाहिये। अपने हृदयको टटोल लो कि इसके प्रति हमारा पूर्ण अनुराग है या नहीं, यदि किसीके भी प्रति तुम्हारा पूर्ण प्रेम हो चुका तो बस, तुम्हारा कल्याण ही है, तुम्हारा सर्वस्व तो वही है।

नित्यानन्दप्रभु बारह-तेरह वर्षकी अल्प वयस्में ही घर छोड़कर चले आये थे। लगभग बीस वर्षोंतक ये तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे, इनके साथी संन्यासीजी इन्हें छोड़कर कहाँ चले गये, इसका कुछ भी पता नहीं चलता, किन्तु इतना अनुमान अवश्य लगाया

जा सकता है कि उन महात्माके लिये इनके हृदयमें कोई विशेष स्थान न बन सका। उनमें इनका गुरुभाव नहीं हुआ। बीस वर्षोंतक इधर-उधर घूमते रहे, किन्तु जिस प्रेमीके लिये इनका हृदय छटपटा रहा था, वह प्रेमी इन्हें कहीं नहीं मिला। महाप्रभु गौराङ्गका नाम सुनते ही इनके हृदय-सागरमें हिलोरें-सी उठने लगीं। गौरके दर्शनोंके लिये मन व्याकुल हो उठा। इसीलिये ये नवद्वीपकी ओर चल पड़े। आज नन्दनाचार्यके घर गौरने स्वयं आकर इन्हें दर्शन दिये। इनके दर्शनमात्रसे ही इनकी चिरकालकी मनोकामना पूर्ण हो गयी। जिसके लिये ये व्याकुल होकर देश-विदेशोंमें मारे-मारे फिर रहे थे, वह वस्तु आज स्वयं ही इन्हें प्राप्त हो गयी। ये स्वयं संन्यासी थे, गौराङ्ग अभीतक गृहस्थीमें ही थे। गौराङ्गसे ये अवस्थामें भी दस-ग्यारह वर्ष बड़े थे, किन्तु प्रेममें तो छोटे-बड़े या उच्च-नीचका विचार होता ही नहीं, इन्होंने सर्वतोभावेन गौराङ्गको आत्मसमर्पण कर दिया। गौराङ्गने भी इन्हें अपना बड़ा भाई समझकर स्वीकार किया।

नन्दनाचार्यके घरसे नित्यानन्दजीको साथ लेकर गौराङ्ग भक्तों सहित श्रीवास पण्डितके घर पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही संकीर्तन आरम्भ हो गया। सभी भक्त नित्यानन्दजीके आगमनके उल्लासमें नूतन उत्साहके साथ भावावेशमें आकर जोरोंसे कीर्तन करने लगे। भक्त प्रेममें विह्वल होकर कभी तो नाचते, कभी गाते और कभी जोरोंसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' की तुमुल ध्वनि करते। आजके कीर्तनमें बड़ा ही आनन्द आने लगा, मानो सभी भक्त

प्रेममें बेसुध होकर अपने आपेको बिलकुल भूल गये हों। अबतक गौराङ्ग शान्त थे, अब उनसे भी न रहा गया, वे भी भक्तोंके साथ मिलकर शरीरकी सुधि भुलाकर जोरोंसे हरि-ध्वनि करने लगे। महाप्रभु नित्यानन्दजीके दोनों हाथोंको पकड़कर आनन्दसे नृत्य कर रहे थे। नित्यानन्दजी भी काठकी पुतलीकी भाँति महाप्रभुके इशारेके साथ नाच रहे थे। अहा, उस समयकी छविका वर्णन कौन कर सकता है ? भक्तवृन्द मन्त्रमुग्धकी भाँति इन दोनों महापुरुषोंका नृत्य देख रहे थे। पखावजवाला पखावज न बजा सका। जो भक्त मजीरे बजा रहे थे उनके हाथोंमेंसे स्वतः ही मजीरे गिर पड़े। सभी वाद्योंका बजना बन्द हो गया। भक्त जड़-मूर्तिकी भाँति चुपचाप खड़े निमाई और निताईके नृत्यके माधुर्यका निरन्तर नेत्रोंसे पान कर रहे थे। नृत्य करते-करते निमाईने निताईका आलिङ्गन किया। आलिङ्गन पाते ही निताई बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, साथ ही निमाई भी चेतनाशून्य-से बन गये।

क्षणभरके पश्चात् महाप्रभु जोरोंके साथ उठकर खड़े हो गये और जल्दीसे भगवान्के आसनपर जा बैठे। अब उनके शरीरमें बलरामजीका-सा आवेश प्रतीत होने लगा। उसी भावावेशमें वे 'वारुणी' 'वारुणी' कहकर जोरोंसे चिल्लाने लगे। हाथ जोड़े हुए श्रीवास पण्डितने —'प्रभो! जिस 'वारुणी' की आप आपके ही पास है। आप जिसके पागल बन

प्रभुके भावावेशको कम करनेके निमित्त एक भक्तने शीशीमें गंगाजल भरकर प्रभुको दिया। गंगाजल पान करके प्रभु कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए और फिर नित्यानन्दजीको भी अपने हाथों-से उठाया।

इस प्रकार सभी भक्तोंने उस दिन संकीर्तनमें बड़े ही आनन्दका अनुभव किया। इन दोनों भाइयोंके नृत्यका सुख सभी भक्तोंने खूब ही लूटा। श्रीवास पण्डितके घर ही नित्या-नन्द-प्रभुका निवास-स्थान स्थिर किया गया। प्रभु अपने साथ ही निताईको अपने घर लिवा ले गये और शचीमातासे जाकर कहा—'अम्मा! देख, यह तेरा विश्वरूप लौट आया। तू उनके लिये बहुत रोया करती थी।' माताने उस दिन सचमुच ही नित्यानन्द-प्रभुमें विश्वरूपके ही रूपका अनुभव किया और उन्हें अन्ततक उसी भावसे प्यार करती रहीं। वे निताई और निमाई दोनोंको ही समानरूपसे पुत्रकी भाँति प्यार करती थीं।

एक दिन महाप्रभुने नित्यानन्दजीका प्रेमसे हाथ पकड़े हुए पूछा—'श्रीपाद! कल गुरुपूर्णिमा है, व्यासपूजनके निमित्त कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा?'

नित्यानन्द-प्रभुने श्रीवास पण्डितके पूजा-गृहकी ओर संकेत करते हुए कहा—'क्या इस स्थानमें व्यासपूजन नहीं हो सकता?'

हँसते हुए गौराङ्गने कहा—'हाँ, ठीक तो है, आचार्य तो श्रीवास पण्डित ही हैं, इन्हींका तो पूजन करना है। बस, ठीक

रहा, अब पण्डितजी ही सब सामग्री जुटावेंगे। इन्हींपर पूजाके उत्सवका सम्पूर्ण भार रहा।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए पण्डित श्रीवासजीने कहा—'भारकी क्या बात है, पूजनकी सामग्री घरमें उपस्थित है। केला, आम्र, पल्लव, पुष्प, फल और समिधादि आवश्यकीय वस्तुएँ आज ही मँगवा ली जायँगी। इनके अतिरिक्त और जिन वस्तुओं-की आवश्यकता हो, उन्हें आप बता दें?'

प्रभुने कहा—'अब हम क्या बतावें, आप स्वयं आचार्य हैं, सब समझ-बूझकर जुटा लीजियेगा। चलिये बहुत समय व्यतीत हो गया, अब गंगा-स्नान कर आवें।'

इतना सुनते ही श्रीवास, मुरारी, गदाधर आदि सभी भक्त निमाई और निताईके सहित गंगास्नानके निमित्त चल दिये। नित्यानन्दजीका स्वभाव बिलकुल छोटे बालकोंका-सा था, वे कुदक-कुदककर रास्तेमें चलते। गंगाजीमें घुस गये तो, फिर निकलना सीखे ही नहीं, घण्टों जलमें ही गोते लगाते रहते। कभी उलटे होकर बहुत दूरतक प्रवाहमें ही बहते चले जाते। सब भक्तोंके सहित वे भी स्नान करने लगे। सहसा उसी समय एक नाक इन्हें जलमें दिखायी दिया। जल्दीसे आप उसे ही पकड़ने-के लिये दौड़े। यह देखकर श्रीवास पण्डित हाय-हाय करके चिल्लाने लगे, किन्तु ये किसीकी कब सुननेवाले थे, आगे बढ़े ही चले जाते थे। जब श्रीवासके कहनेसे स्वयं गौराङ्गने इन्हें आवाज दी, तब जाकर ये लौटे। इनके सभी काम अजीब ही होते थे, इससे

पहिली ही रात्रिमें इन्होंने न जाने क्या सोचकर अपने दण्ड-कमण्डलु आदि सभीको तोड़-फोड़ डाला। प्रभुने इसका कारण पूछा तो चुप हो गये। तब प्रभुने उन्हें बड़े आदरसे बीन-बीनकर गाजीमें प्रवाहित कर दिया।

व्यासपूर्णिमाके दिन सभी भक्त स्नान, सन्ध्या-वन्दन करके ीवास पण्डितके घर आये। पण्डितजीने आज अपने पूजा-गृह- ो खूब सजा रखा था। स्थान-स्थानपर बन्दनवार बँधे हुए थे। ारपर कदली-स्तम्भ बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। सम्पूर्ण घर ीके गोबरसे लिपा हुआ था, उसपर एक सुन्दर बिछौना बिछा ा, सभी भक्त आकर व्यासपीठके सम्मुख बैठ गये। एक ँचे स्थानपर छोटी-सी चौकी रखकर उसपर व्यासपीठ बनायी ुई थी, व्यासजीकी सुन्दर मूर्ति उसपर विराजमान थी। सामने जाकी सभी सामग्री रखी थी, कई थालोंमें सुन्दर अमनिया कये हुए फल रखे थे, एक ओर घरकी बनी हुई मिठाइयाँ रखी ीं। एक थालीमें अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुगीफल, ुष्पमाला तथा अन्य सभी पूजनकी सामग्री सुशोभित हो रही ी। पीठके दायीं ओर आचार्यका आसन बिछा हुआ था। भक्तों- े आग्रह करनेपर पूजाकी पद्धतिको हाथमें लिये हुए श्रीवास ण्डित आचार्यके आसनपर विराजमान हुए। भक्तोंने विधिवत् ्यासजीका पूजन किया। अब नित्यानन्द-प्रभुकी बारी आयी। े श्रीवासजीके कहनेसे पूजा करने लगे। श्रीवास पण्डितने एक ुन्दर-सी माला नित्यानन्दजीके हाथमें देते हुए कहा—'श्रीपाद!

था बड़ी ही भली मालूम पड़ने लगी। सभी भक्त आनन्दमें
व-से हो गये। प्रभु कुछ लज्जित-से हो गये। नित्यानन्दजी
में विभोर होनेके कारण मूर्छित होकर गिर पड़े। अहा, प्रेम
तो ऐसा हो, अपने प्रियपात्रमें ही सभी देवी-देवता और
त्वका दर्शन हो जाय। गौराङ्गको ही सर्वस्व समझनेवाले
ताईका उनके प्रति ऐसा ही भाव था। उनका मनोगत भाव था--

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गौराङ्ग ही उनके सर्वस्व थे। उनकी भावनाके अनुसार
उन्हें प्रत्यक्ष फल भी प्राप्त हो गया। उनके सामनेसे गौराङ्गकी
वह नित्यकी मानुषिक मूर्ति विलुप्त हो गयी। अब उन्हें गौराङ्गकी
षड्भुजी मूर्तिका दर्शन होने लगा। उन्होंने देखा गौराङ्गके मुख-
की कान्ति कोटि सूर्योंकी प्रभासे भी बढ़कर है। उनके चार
हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म विराजमान हैं, शेष दो
हाथोंमें वे हल-मूसलको धारण किये हुए हैं। नित्यानन्दजी प्रभुके
इस अद्भुत रूपके दर्शनोंसे अपनेको कृतकृत्य मानने लगे।
उनके नेत्र उन दर्शनोंसे तृप्त ही नहीं होते थे। उनके दोनों
नेत्र बिलकुल फटे-के-फटे ही रह गये, पलक गिरना एक-
दम बन्द हो गया। नेत्रोंकी दोनों कोरोंसे अश्रुओंकी धारा बह
रही थी। शरीर चेतनाशून्य था। भक्तोंने देखा उनकी
साँस चल नहीं रही है, उनका शरीर मृतक पुरुषकी भाँति
अकड़ा हुआ पड़ा था, केवल मुखकी अपूर्व ज्योतिको

इसे व्यासजीको पहिनाइये।' श्रीवासजीके इतना कहनेपर नित्यानन्दजीने माला व्यासदेवजीको नहीं पहिनायी, वे उसे हा ही लिये हुए चुपचाप खड़े रहे। इसपर फिर श्रीवास पण्डि जरा जोरसे कहा—'श्रीपाद! आप खड़े क्यों हैं, माला प नाते क्यों नहीं?' जिस प्रकार कोई पत्थरकी मूर्ति खड़ी रहती उसी प्रकार माला हाथमें लिये नित्यानन्दजी ज्यों-के-त्यों ही ख रहे, मानो उन्होंने कुछ सुना ही नहीं। तब तो श्रीवास पण्डि घबड़ाये, उन्होंने समझा नित्यानन्दजी हमारी बात तो मा नहीं, यदि प्रभु आकर इन्हें समझावेंगे तो जरूर मान जायँगे प्रभु उस समय दूसरी ओर बैठे हुए थे, श्रीवासजीने प्रभु बुलाकर कहा—'प्रभो! नित्यानन्दजी व्यासदेवको माला न पहिनाते, आप इनसे कह दीजिये माला पहिना दें, देरी रही है।'

यह सुनकर प्रभुने कुछ आज्ञाके-से स्वरमें नित्यानन्दजी कहा—'श्रीपाद! व्यासदेवजीको माला पहिनाते क्यों नहीं! दे देर हो रही है, सभी भक्त तुम्हारी ही प्रतीक्षामें बैठे हैं, जल्दी पूजन समाप्त करो, फिर संकीर्तन होगा।'

प्रभुकी इस बातको सुनकर निताई नींदसे जागे हुए पुरु की भाँति अपने चारों ओर देखने लगे। मानो वे किसी वि वस्तुका अन्वेषण कर रहे हों। इधर-उधर देखकर उन्होंने अ हाथकी माला व्यासदेवजीको तो पहिनायी नहीं, जल्दीसे गौरा सिरपर चढ़ा दी। प्रभुके लम्बे-लम्बे घुँघराले बालोंमें उलझकर

ाला बड़ी ही भली मालूम पड़ने लगी। सभी भक्त आनन्दमें
ेसुध-से हो गये। प्रभु कुछ लज्जित-से हो गये। नित्यानन्दजी
्रेममें विभोर होनेके कारण मूर्छित होकर गिर पड़े। अहा, प्रेम
ो तो ऐसा हो, अपने प्रियपात्रमें ही सभी देवी-देवता और
ेश्वरका दर्शन हो जाय। गौराङ्गको ही सर्वस्व समझनेवाले
ेताईका उनके प्रति ऐसा ही भाव था। उनका मनोगत भाव था—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गौराङ्ग ही उनके सर्वस्व थे। उनकी भावनाके अनुसार
न्हें प्रत्यक्ष फल भी प्राप्त हो गया। उनके सामनेसे गौराङ्गकी
ह नित्यकी मानुषिक मूर्ति विलुप्त हो गयी। अब उन्हें गौराङ्गकी
ड्भुजी मूर्तिका दर्शन होने लगा। उन्होंने देखा गौराङ्गके मुख-
ी कान्ति कोटि सूर्योंकी प्रभासे भी बढ़कर है। उनके चार
ाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म विराजमान हैं, शेष दो
ाथोंमें वे हल-मूसलको धारण किये हुए हैं। नित्यानन्दजी प्रभुके
स अद्भुत रूपके दर्शनोंसे अपनेको कृतकृत्य मानने लगे।
नके नेत्र उन दर्शनोंसे तृप्त ही नहीं होते थे। उनके दोनों
ेत्र बिलकुल फटे-के-फटे ही रह गये, पलक गिरना एक-
म बन्द हो गया। नेत्रोंकी दोनों कोरोंसे अश्रुओंकी धारा बह
ही थी। शरीर चेतनाशून्य था। भक्तोंने देखा उनकी
ाँस चल नहीं रही है, उनका शरीर मृतक पुरुषकी भाँति
कड़ा हुआ पड़ा था, केवल मुखकी अपूर्व ज्योतिको

देखकर और नेत्रोंसे निकलते हुए अश्रुओंसे ही यह अनु॰
लगाया जा सकता था, कि वे जीवित हैं। भक्तोंको इनकी ऐ॰
दशा देखकर बड़ा भय हुआ। श्रीवास आदि सभी
भाँति-भाँतिकी चेष्टाओंद्वारा उन्हें सचेत करना चाहा,
उन्हें बिल्कुल भी होश नहीं हुआ। प्रभुने जब देखा
नित्यानन्दजी किसी भी प्रकार नहीं उठते, तब उनके शरी॰
अपना कोमल कर फेरते हुए प्रभु अत्यन्त ही प्रेमके
कहने लगे—'श्रीपाद! अब उठिये। जिस कार्यके नि॰
आपने इस शरीरको धारण किया है, अब उस कार्यके प्र॰
का समय सन्निकट आ गया है। उठिये और अपनी अहैतु॰
कृपाके द्वारा जीवोंका उद्धार कीजिये। सभी लोग आ॰
कृपाके भिखारी बने बैठे हैं, जिसका आप उद्धार करना च॰
उसका उद्धार कीजिये। श्रीहरिके सुमधुर नामोंका वित॰
कीजिये। यदि आप ही जीवोंके ऊपर कृपा करके भगवन्नाम॰
वितरण न करेंगे, तो पापियोंका उद्धार कैसे होगा?'

प्रभुके कोमल करस्पर्शसे निताईकी मूर्छा भङ्ग हुई, वे कु॰
कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए। नित्यानन्दजीको होशमें देखकर प्र॰
भक्तोंसे कहने लगे—'व्यासपूजा तो हो चुकी, अब स॰
मिलकर एक बार सुमधुर स्वरसे श्रीकृष्ण-संकीर्तन और कर लो।
प्रभुकी आज्ञा पाते ही पखावज बजने लगी, सभी भक्त हाथ॰
मजीरा लेकर बड़े ही प्रेमसे कीर्तन करने लगे। सभी प्रे॰
विह्वल होकर एक साथ—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस सुमधुर संकीर्तनको करने लगे। संकीर्तनकी सुमधुर वनिसे श्रीवास पण्डितका घर गूँजने लगा। संकीर्तनकी आवाज नकर बहुत-से दर्शनार्थी द्वारपर आकर एकत्रित हो गये, किन्तु रका दरवाजा तो बन्द था, वे बाहर खड़े-ही-खड़े संकीर्तनका ानन्द लूटने लगे। इसप्रकार संकीर्तनके आनन्दमें किसीको मयका ज्ञान ही न रहा। दिन डूब गया। तब प्रभुने संकीर्तन-ो बन्द कर देनेकी आज्ञा दी और श्रीवास पण्डितसे कहा—— 'प्रसादके सम्पूर्ण सामानको यहाँ ले आओ।' प्रभुकी आज्ञा ाकर श्रीवास पण्डित प्रसादके सम्पूर्ण थालोंको प्रभुके समीप ठा लाये। प्रभुने अपने हाथोंसे सभी उपस्थित भक्तोंको प्रसाद तरण किया। उस महाप्रसादको पाते हुए सभी भक्त अपने-अपने घरोंको चले गये।

इस प्रकार नित्यानन्दजी श्रीवास पण्डितके ही घरमें रहने गे। श्रीवास पण्डित और उनकी धर्मपत्नी मालिनीदेवी उन्हें अपने सगे पुत्रकी भाँति प्यार करते थे। नित्यानन्दजीको अपने माता-पिताको छोड़े आज लगभग बीस वर्ष हो गये। बीस र्षोंसे ये इसी प्रकार देश-विदेशोंमें घूमते रहे। बीस वर्षोंके बाद ब फिरसे मातृ-पितृ-सुखको पाकर ये परम प्रसन्न हुए। गौराङ्ग ी इनका हृदयसे बड़ा आदर करते थे, वे इन्हें अपने बड़े ाईसे भी बढ़कर मानते थे, तभी तो यथार्थमें प्रेम होता है।

दोनों ही ओरसे सत्कारके भाव हों तभी अभिन्नता होती है
शिष्य अपने गुरुको सर्वस्व समझे और गुरु शिष्यको चाकर
समझकर अपना अन्तरङ्ग सखा समझे तभी दृढ़ प्रेम हो
है। गुरु अपने गुरुपनेमें ही बने रहें और शिष्यको अपना
अथवा दास ही समझते रहें, इधर शिष्यमें अनिच्छापूर्वक कर्त
सा समझकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करता रहे, तो उन दोनें
यथार्थ प्रेम नहीं होता। गुरु-शिष्यका वर्ताव तो ऐसा ही
चाहिये जैसा भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका था अथवा
और शुकदेवजीका जैसा शास्त्रोंमें सुना जाता है।
गौराङ्गको अपना सर्वस्व ही समझते थे, किन्तु गौराङ्ग उनका
पूज्यकी ही भाँति आदर-सत्कार करते थे, यही तो इन महा
विशेषता थी।

नित्यानन्दजीका स्वभाव बड़ा चञ्चल था, वे कभी-क
स्वयं अपने हाथोंसे भोजन ही नहीं करते, तब
उन्हें अपने हाथोंसे छोटे बच्चोंकी तरह खिलातीं। कभी-क
ये उनके सूखे स्तनोंको अपने मुखमें देकर उन्हें
भाँति पीने लगते। कभी उनकी गोदमें शिशुओंकी तरह
करते। इस प्रकार ये श्रीवास और उनकी पत्नी मालिनीद
वात्सल्य-सुखका आनन्द देते हुए, उनके घरमें सुख
रहने लगे।

अद्वैताचार्य

अद्वैताचार्यके ऊपर कृपा

सखि ! साहजिकं प्रेम दूरादपि विराजते ।
चकोरीनयनद्वन्द्वमानन्दयति चन्द्रमाः ॥*
(सु० र० भां० ४२।२)

यदि प्रेम सचमुचमें स्वाभाविक है, यदि वास्तवमें उसमें
िसी भी प्रकारका संसारी स्वार्थ नहीं है, तो दोनों ही ओरसे
दयमें एक प्रकारकी हिलोरें-सी उठा करती हैं। उर्दूके किसी
विने प्रेमकी डरते-डरते और संशयके साथ बड़ी ही सुन्दर
रिभाषा की है। वे कहते हैं—

'इश्क' इसको ही कहते होंगे शायद ?
सीनेमें जैसे कोई दिलको मला करे।

सीनेमें दिलको खिंचता हुआ-सा देखकर ही वे अनुमान
रते हैं, कि हो-न-हो, यह प्रेमकी ही बला है। तो भी निश्चय-
ंक नहीं कह सकते। निश्चयात्मक क्रिया देनेमें डरते हैं।
न्य है! यथार्थमें इससे बढ़िया प्रेमकी परिभाषा हो ही नहीं
कती।

---

* किसी प्रेममें अधीर हुई नायिकासे सखी कह रही है—'हे सखि!
स्वाभाविक सहज स्नेह होता है, वह कभी कम नहीं होनेका, फिर
हे प्रेमपात्र कितनी भी दूरीपर क्यों न रहता हो! आकाशमें विराज-
न होते हुए भी चन्द्रदेव चकोरीके दोनों नेत्रोंको आनन्द प्रदान
ते ही रहते हैं।

शान्तिपुरमें बैठे हुए अद्वैताचार्य गौराङ्गकी सभी की खबर सुनते और मन-ही-मन प्रसन्न होते। अपने प्रशंसा सुनकर हृदयमें स्वाभाविक ही एक प्रकारकी होने लगती है। महाप्रभुका यशःसौरभ अब धीरे-धीरे गौड़देशमें व्याप्त हो चुका था। आचार्य प्रभुके बातें सुनकर आनन्दमें विभोर होकर नृत्य करने लगते अपने आप ही कभी-कभी कह उठते—'गंगा-जल और तुल दलोंसे जो मैंने चिरकालतक भक्तभयभञ्जन भगवान्का पूजन किया था, ऐसा प्रतीत होता है, मेरा वह पूजन सफल हो गया। गौरहरि भगवान् विश्वम्भरके रूपमें प्रकट हो भक्तोंके दुःखोंको दूर करेंगे।' उनका हृदय बार-बार कहता 'प्रभुकी छत्रछायामें रहकर अनेकों भक्त पावन बन रहे हैं, अपनेको गौरहरिके संसर्ग और सम्पर्कसे कृतकृत्य बना रहे हैं, भी चलकर अपने इस नीरस जीवनको सार्थक क्यों नहीं लेता?' किन्तु प्रेममें भी एक प्रकारका मीठा-मीठा मान होता अपने प्रियकी कृपाकी प्रतीक्षामें भी एक प्रकारका अनिर्वचन सुख मिलता है। इसलिये थोड़ी ही देर बाद वे फिर सोचते- 'मैं स्वयं क्यों चलूं, जब वे ही मेरे इष्टदेव होंगे, तो स्वयं ही बुलावेंगे, बिना बुलाये मैं क्यों जाऊँ?' इन्हीं कारणोंसे इच्छा होनेपर भी अद्वैताचार्य शान्तिपुर नहीं आते

इधर महाप्रभुको जब भावावेश होता तभी जोरोंसे

नठते—' 'नाड़ा' कहाँ है । हमें बुलाकर 'नाड़ा' स्वयं शान्तिपुरमें जा छिपा । उसीकी हुंकारसे तो हम आये हैं ।' पहिले-पहिल तो भक्तगण समझ ही न सके कि 'नाड़ा' कहनेसे प्रभुका अभिप्राय किससे है ? जब श्रीवास पण्डितने दीनताके साथ जानना चाहा कि 'नाड़ा' कौन है, तब प्रभुने स्वयं ही बताया कि 'अद्वैताचार्यकी प्रार्थनापर ही हम जगदुद्धारके निमित्त अवनितलपर अवतीर्ण हुए हैं । 'नाड़ा' कहनेसे हमारा अभिप्राय उन्हींसे है ।'

अब तो नित्यानन्द प्रभुके नवद्वीपमें आ जानेसे गौराङ्गका आनन्द अत्यधिक बढ़ गया था । अब वे अद्वैतके बिना कैसे रह सकते थे ? अद्वैत और नित्यानन्द ये तो इनके परिकरके प्रधान स्तम्भ थे । इसलिये एक दिन एकान्तमें प्रभुने श्रीवास पण्डितके छोटे भाई रामसे शान्तिपुर जानेके लिये सङ्केत किया । प्रभुका इङ्गित पाकर रमाई पण्डितको परम प्रसन्नता हुई । वे उसी समय अद्वैताचार्यको लिवानेके लिये शान्तिपुर चल दिये ।

शान्तिपुरमें पहुँचनेपर रमाई पण्डित आचार्यके घर गये । उस समय आचार्य अपने घरके सामने बैठे हुए थे, दूरसे ही श्रीवास पण्डितके अनुजको आते देखकर वे गद्गद हो उठे, उनकी प्रसन्नताका पारावार नहीं रहा । आचार्य समझ गये, कि 'अब हमारे शुभ दिन आ गये । कृपा करके प्रभुने हमें स्वयं

की इतनी अधिक परवा करते हैं, कि उसके सामने वे
सब ऐश्वर्य भूल जाते हैं।' इसी बीच रमाईने आकर
प्रणाम किया। आचार्यने भी उनका प्रेमालिङ्गन किया।
से प्रेमालिङ्गन पाकर रमाई पण्डित एक ओर खड़े हो गये
आचार्यकी ओर देखकर कुछ मुसकराने लगे। उन्हें मुसकराते देख
कर आचार्य कहने लगे—'मालूम होता है, प्रभुने मुझे
है, किन्तु मुझे कैसे पता चले कि यथार्थमें वे ही मेरे प्रभु हैं।
जिन प्रभुको पृथ्वीपर संकीर्तनका प्रचार करनेके निमित्त मैं प्रक
करना चाहता था, वे मेरे आराध्यदेव प्रभु ये ही हैं,
तुमलोगोंके पास कुछ प्रमाण है?'

कुछ मुसकराते हुए रमाई पण्डितने कहा—'आचार्य महा
शय! हमलोग तो उतने पण्डित नहीं हैं। प्रमाण और
तो आप-जैसे विद्वान् ही समझ सकते हैं। किन्तु हम
अवश्य समझते हैं, कि प्रभु बार-बार आपका स्मरण करते
कहते हैं—'अद्वैताचार्यने ही हमें बुलाया है, उसीकी
वशीभूत होकर हम भूतलपर आये हैं। लोकोद्धारकी
अधिक चिन्ता अद्वैताचार्यको ही थी, इसीलिये उसकी चिन्ता
को दूर करनेके निमित्त श्रीकृष्ण-संकीर्तनद्वारा लोकोद्धार क
निमित्त ही हम अवतीर्ण हुए हैं।'

अद्वैताचार्य मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे, प्रभुकी दया
लुता, भक्तवत्सलता और कृपालुताका स्मरण करके उनका
द्रवीभूत हो रहा था, प्रेमके कारण उनका कण्ठ अवरुद्ध

गया। इच्छा करनेपर भी वे कोई बात मुखसे नहीं कह सकते थे, प्रेममें गद्‌गद होकर वे रुदन करने लगे। पासमें ही बैठी हुई उनकी धर्मपत्नी सीतादेवी भी, आचार्यकी ऐसी दशा देखकर प्रेमके कारण अश्रु बहाने लगी। आचार्यका पुत्र भी माता-पिताको प्रेममें विह्वल देखकर रुदन करने लगा।

कुछ कालके अनन्तर अद्वैताचार्यके प्रेमका वेग कुछ कम हुआ। उन्होंने जल्दीसे सभी पूजाकी सामग्री इकट्ठी की और अपनी स्त्री तथा बच्चेको साथ लेकर वे रमाईके साथ नवद्वीपकी ओर चल पड़े। नवद्वीपमें पहुँचनेपर आचार्यने रमाई पण्डितसे कहा—'देखो, हम इस प्रकार प्रभुके पास नहीं जायँगे, हम यहीं नन्दनाचार्यके घरमें ठहरते हैं, तुम सीधे घर चले जाओ। यदि प्रभु हमारे आनेके सम्बन्धमें कुछ पूछें तो तुम कह देना—'वे नहीं आये।' यदि उनकी हमारे प्रति यथार्थ प्रीति होगी, तो वे हमें यहाँसे स्वयं ही बुला लेंगे। वे हमारे मस्तकके ऊपर अपना चरण रखेंगे, तभी हम समझेंगे, कि उनकी हमारे ऊपर कृपा है और हमारी ही प्रार्थनापर वे जगत्-उद्धारके निमित्त अवतीर्ण हुए हैं।'

आचार्यकी ऐसी बात सुनकर रमाई पण्डित अपने घर चले गये। शामके समय सभी भक्त आ-आकर श्रीवास पण्डितके घर एकत्रित होने लगे। कुछ कालके अनन्तर प्रभु भी पधारे। आज प्रभु घरमें प्रवेश करते ही भावावेशमें आ गये।

वेशमें वे जल्दीसे भगवान्‌के आसनपर विराजमान हो गये और जोरोंके साथ कहने लगे—''नाड़ा' शान्तिपुरसे तो आ गया है किन्तु हमारी परीक्षाके निमित्त नन्दनाचार्यके घर छिपा बैठा है। यह अब भी हमारी परीक्षा करना चाहता है। उसीने तो हमें बुलाया है और अब वही परीक्षा करना चाहता है।' प्रभुकी इस बातको सुनकर भक्त आपसमें एक-दूसरेका मुख देखने लगे। नित्यानन्द मन-ही-मन मुसकराने लगे। मुरारीगुप्तने उस समय प्रभुकी पूजा की, धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ाकर सुगन्धित पुष्पोंकी माला प्रभुके गलेमें पहिनायी और खानेके लिये सुन्दर सुवासित ताम्बूल दिया। इसी समय रमाई पण्डितने सभी वृत्तान्त जाकर अद्वैताचार्यसे कहा। सब वृत्तान्त सुनकर आचार्य चकित-से हो गये और प्रेममें बेसुध-से हुए गिरते-पड़ते श्रीवास पण्डितके घर आये। जिस घरमें प्रभु विराजमान थे, उस घरमें प्रवेश करते ही अद्वैताचार्यको प्रतीत हुआ, कि सम्पूर्ण घर आलोकमय हो रहा है। कोटि सूर्योंके सदृश प्रकाश उस घरमें विराजमान है, उन्हें प्रभुकी तेजोमय मूर्तिके स्पष्ट दर्शन न हो सके। उस असह्य तेजके प्रभावको आचार्य सहन न कर सके। उनकी आँखोंके सामने चकाचौंध-सी छा गयी, वे मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े और देहलीसे आगे पैर न बढ़ा सके। भक्तोंने वृद्ध आचार्यको उठाकर प्रभुके सम्मुख किया। प्रभुके सम्मुख पहुँचने पर भी वे संज्ञाशून्य ही पड़े रहे और बेहोशीकी ही हालतमें लम्बी-लम्बी साँसें भरकर जोरोंके साथ रुदन करने लगे। उन वृद्ध तपस्वी

विद्वान् पण्डितकी ऐसी अवस्था देखकर सभी उपस्थित भक्त आनन्द-सागरमें गोते खाने लगे और अपनी भक्तिको तुच्छ समझकर रुदन करने लगे।

थोड़ी देरके अनन्तर प्रभुने कहा—'आचार्य! उठो, अब देर करनेका क्या काम है, तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई। चिरकालकी तुम्हारी अभिलाषाके सफल होनेका समय अब सन्निकट आ गया। अब उठकर हमारी विधिवत् पूजा करो।'

प्रभुकी ऐसी प्रेममय वाणी सुनकर वे कुछ प्रकृतिस्थ हुए। भोले बालकके समान सत्तर वर्षके श्वेत केशवाले विद्वान् ब्राह्मण सरलताके साथ प्रभुका पूजन करनेके लिये उद्यत हुए। जगन्नाथ मिश्र जिन्हें पूज्य और श्रेष्ठ मानते थे, विश्वरूपके जो विद्यागुरु थे और निमाईको जिन्होंने गोदमें खिलाया था, वे ही भक्तोंके मुकुटमणि महामान्य अद्वैताचार्य एक तेईस वर्षके युवकके आदेश-से सेवककी भाँति अपने भाग्यकी सराहना करते हुए उसकी पूजा करनेको तैयार हो गये। इसे ही तो विभूतिमत्ता कहते हैं, यही तो भगवत्ता है, जिसके सामने सभी प्राणी छोटे हैं। जिसके प्रभावसे जाति, कुल, रूप तथा अवस्थामें छोटा होनेपर भी पुरुष सर्वपूज्य समझा जाता है।

अद्वैताचार्यने सुवासित जलसे पहिले तो प्रभुके पादपद्मोंको पखारा, फिर पाद्य, अर्घ्य देकर, सुगन्धित चन्दन प्रभुके श्रीअङ्गोंमें लेपन किया, अनन्तर अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्यादि चढ़ाकर

सुन्दर माला प्रभुके गलेमें पहिनायी और ताम्बूल देकर वे हाथ जोड़कर गद्गदकण्ठसे स्तुति करने लगे। वे रोते-रोते बार-बार इस श्लोकको पढ़ते थे—

> नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
> जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥*
> (विष्णु० पु० १ अ० १९।६५)

श्लोक पढ़ते-पढ़ते वे और भी गौराङ्गको लक्ष्य करके भाँति-भाँतिकी स्तुति करने लगे। स्तुति करते-करते वे फिर बेसुध-से हो गये। इसी बीच अद्वैताचार्यकी पत्नी सीतादेवीने प्रभुकी पूजा की। प्रभुने भावावेशमें आकर उन दोनोंके मस्तकोंपर अपने श्रीचरण रखे। प्रभुके पादपद्मोंके स्पर्शमात्रसे आचार्यपत्नी और आचार्य आनन्दमें विभोर होकर रुदन करने लगे। प्रभुने आचार्यको आश्वासन देते हुए कहा—'आचार्य, अब जल्दीसे उठो, अब देर करनेका काम नहीं है। अपने संकीर्तनद्वारा मुझे आनन्दित करो।'

प्रभुका आदेश पाते ही, आचार्य दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर प्रेमके साथ संकीर्तन करने लगे। सभी भक्त अपने-अपने वाद्योंको बजा-बजाकर आचार्यके साथ संकीर्तन करनेमें निमग्न हो

---

* ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाले प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम है। गौ और ब्राह्मणोंका प्रतिपालन करनेवाले भगवान्‌के प्रति नमस्कार है। सम्पूर्ण जगत्‌का उद्धार करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम है, भगवान् गोविन्दके चरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार हैं।

गये। आचार्य प्रेमके आवेशमें जोरोंसे नृत्य कर रहे थे, उन्हें शरीरकी तनिक भी सुध-बुध नहीं थी। वे प्रेममें इतने मतवाले बने हुए थे, कि कहीं पैर रखते थे और कहीं जाकर पैर पड़ते थे। धीरे-धीरे स्वेद, कम्प, अश्रु, स्वरभङ्ग तथा विकृति आदि सभी संकीर्तनके सात्त्विक भावोंका अद्वैताचार्यके शरीरमें उदय होने लगा। भक्त भी अपने आपेको भूलकर अद्वैताचार्यकी तालके साथ अपना ताल-स्वर मिला रहे थे, इस प्रकार उस दिनके संकीर्तनमें सभीको अपूर्व आनन्द आया। आजतक कभी भी इतना आनन्द संकीर्तनमें नहीं आया था। सभी भक्त इस बातका अनुभव करने लगे, कि आजका संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ रहा। क्यों न हो, जहाँ अद्वैत तथा निमाई, निताई ये तीनों ही प्रेमके मतवाले एकत्रित हो गये हों, वहाँ अद्वितीय तथा अलौकिक आनन्द आना ही चाहिये। बहुत रात्रि बीतनेपर संकीर्तन समाप्त हुआ और सभी भक्त प्रेममें छके हुए-से अपने-अपने घरोंको चले गये।

अद्वैताचार्यको श्यामसुन्दररूपके दर्शन

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥*
(सु० र० भां० १६६।३॥

प्रेममें छोटेपनका भाव ही नहीं रहता। प्रेमी अपने प्रियको सदा बड़ा ही समझता है। भगवान् भक्तप्रिय हैं। जहाँ भक्त उन्हें अपना सर्वस्व समझते हैं, वहाँ वे भी भक्तको अपना सर्वस्व समझते हैं। भक्तके प्रति श्रद्धाका भाव प्रदर्शित करते हुए भगवान् स्वयं कहते हैं—'मैं भक्तोंके पीछे-पीछे इस कारण फिरा करता हूँ, कि उनकी पदधूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और उससे मैं पावन हो जाऊँ।' जगत्‌को पावन बनानेवाले प्रभुके ये भाव हैं। भक्त उनका दिनरात्रि भजन करते हैं, वे भी कहते हैं—'जो मेरा जिस रूपसे भजन करता है, मैं भी उसका उसी रूपसे भजन करता हूँ।' विश्वके एकमात्र भजनीय भगवान्‌की लीला तो देखिये। प्रेमका कैसा अनोखा दृष्टान्त है।

* अपने प्रेमीको मान-सम्मान तथा जो वस्तु अपनेको अत्यन्त प्रिय प्रतीत होती हो उसे प्रदान करना, उसकी दी हुई वस्तुओंको प्रेमसे ग्रहण करना, अपनी गोप्यसे भी गोप्य बातोंको उसके सम्मुख प्रकट करना तथा उससे उसके हृदयकी आन्तरिक बातोंको पूछना, स्वयं उसके यहाँ भोजन करना और उसे खूब प्रेमके साथ अपने हाथोंसे भोजन कराना ये छः प्रीतिके लक्षण बताये गये हैं।

श्वम्भर हैं, चर-अचर सभी प्राणियोंका जो सदा पालन-पोषण
ते हैं, जिनके संकल्पमात्रसे सम्पूर्ण विश्व तृप्त हो सकता है,
कहते हैं जो कोई मुझे भक्तिसे कुछ दे देता है उसे ही मैं
प्रसन्न होकर खा लेता हूँ। पत्ता खानेकी चीज नहीं है, फूल
नेकी वस्तु है और जल पीनेकी, केवल अन्न या फल ही
ये जाते हैं। प्रेममें पागल हुए भगवान् कहते हैं—'यदि
ई कोई भक्ति-भावसे पत्र, पुष्प, फल अथवा जल ही दे देता
, तो उसे मैं बहुत ही अमूल्य वस्तु समझकर सन्तुष्ट मनसे खा
ता हूँ। पत्ते और फूलोंको भी खा जाते हैं, सबके लिये
अश्नामि' इसी क्रियाका प्रयोग करते हैं। धन्य है, ऐसे खानेको!
यों न हो, प्रेममें ये पार्थिव पदार्थ ही थोड़े खाये जाते हैं,
असली तृप्तिका कारण तो उन पदार्थोंमें ओतप्रोतभावसे भरा
आ प्रेम है, उस प्रेमको ही खाकर प्रभु परम प्रसन्न होते हैं।
म है ही ऐसी वस्तु! उसका जहाँ भी समावेश हो जायगा वही
दार्थ सुखमय, मधुमय, आनन्दमय और तृप्तिकारक बन जायगा।

उस दिन संकीर्तनके अनन्तर दूसरे-तीसरे दिन फिर
अद्वैताचार्य शान्तिपुरको ही चले गये। उनके मनमें अब भी
प्रभुके प्रति सन्देहके भाव बने हुए थे। उनका मन अब भी
दुविधामें था, कि ये हमारे इष्टदेव ही हैं या और कोई। इसी-
लिये एक दिन संशयबुद्धिसे वे फिर नवद्वीप पधारे।

महाप्रभुकी स्मृतिमात्रसे परमानन्द प्रतीत होता था, भीतरसे विश्वासके ऐसे भाव हो ही नहीं सकते, किन्तु प्रकटमें वे अविश्वास ही जताते। उस समय प्रभु श्रीवास पण्डितके भक्तोंके साथ श्रीकृष्णकथा कर रहे थे। आचार्यको आया प्रभु भक्तोंके सहित उनके सम्मानके निमित्त उठ पड़े। बड़ी श्रद्धा-भक्तिके सहित आचार्यके लिये प्रणाम किया आचार्यने भी लजाते हुए अपने श्वेत बालोंसे प्रभुके परागको पोंछा। उपस्थित सभी भक्तोंको आचार्यने प्रेमालि दान दिया और प्रभुके साथ वे सुखपूर्वक बैठ गये।

सबके बैठ जानेपर प्रभुने मुसकराते हुए कहा—'यह सीतापति विराजमान हैं, किसीको भय भले हो, हमें तो कुछ नहीं। वे हमारा शमन न कर सकेंगे।' (अद्वैताचार्यकी नाम सीतादेवी था, प्रभुका लक्ष्य उन्हींकी ओर था।)

कुछ बनावटी गम्भीरता धारण करते हुए तथा अपने ओर देखते हुए आचार्यने कहा—'यहाँ रघुनाथ तो होते नहीं, हाँ, यदुनाथ अवश्य विराजमान हैं।' प्रभु इस को सुनकर कुछ लज्जित-से हुए। बातको उड़ानेके निमित्त लगे—'देखिये, हम तो चिरकालसे आशा लगाये बैठे थे, हम सभी लोग आपकी छत्रछायामें रहकर श्रीकृष्ण-कीर्तन किन्तु आप शान्तिपुर जा विराजे, ऐसा हमलोगोंसे क्या बन गया है?'

अद्वैताचार्य इसका कुछ उत्तर देने नहीं पाये थे, कि
चमें ही श्रीवास पण्डित बोल उठे—'अद्वैताचार्यका तो नाम
अद्वैत है । इसीलिये वे शान्तिपुरमें निवास कर रहे हैं । अब
पका आविर्भाव नवद्वीपरूपी नवधाभक्तिके पीठमें हुआ है ।
समें विराजमान होकर नित्यानन्द उसका रसास्वादन कर रहे
। अद्वैत भी शान्तिपुर छोड़कर इस नित्यानन्दपूर्ण पीठमें
कर गौरगुणगानद्वारा अपनेको नित्यानन्दमय बनाना चाहते
। अभी ये द्वैत-अद्वैतकी दुविधामें हैं ।'

इस गूढ़ उत्तरका मर्म समझकर हँसते हुए आचार्य कहने
गे—'जहाँपर 'श्रीवास' हैं, वहाँपर लोगोंकी क्या कमी ! श्रीके
समें आकर्षण ही ऐसा है, कि हम-जैसे सैकड़ों मनुष्य उनके
भावसे खिंचे चले आवेंगे ।'

श्रीवास पण्डित इस गूढोक्तिसे बड़े प्रसन्न हुए, उसे प्रभुके
पर घटाते हुए कहने लगे—'जब लक्ष्मीदेवी थीं तब थीं,
ब तो वे यहाँ वास नहीं करतीं । अब तो वे नवद्वीपसे अन्तर्धान
गयीं ।' (गौराङ्ग महाप्रभुकी पहिली पत्नीका नाम 'लक्ष्मी' था ।
श्री'के माने लक्ष्मी लगाकर श्रीवास पण्डितने कहा अब यहाँ
ीका वास नहीं है ।)

प्रभुने जब देखा श्रीवास हमारे ऊपर घटाने लगे हैं तब
आपने जल्दीसे कहा—'पण्डितजी, यह आप कैसी बात कह
रहे हैं ! श्रीके माने हैं 'भक्त' । जहाँपर आप-जैसे

विराजमान हैं वहाँ श्रीका वास अवश्य ही होना चाहिये, ऐसे स्थानको छोड़कर 'भक्ति' या 'श्री' कहीं जा सकती है!

इसपर आचार्य कहने लगे—'हाँ, ठीक तो है। बिना हरि रह ही कैसे सकते हैं ! 'श्री' विष्णुप्रिया बनकर नवद्वीपमें अवस्थित हैं अथवा उन्होंने श्रीके साथ अपने नाममें और जोड़ लिया है, अब वे केवल श्री न 'श्रीविष्णुप्रिया' बन गयी हैं। (गौरकी द्वितीय पत्नी श्रीविष्णुप्रिया था। उसीको लक्ष्य करके अद्वैताचार्यने बात कही।)

बातको दूसरी ओर घटाते हुए प्रभुने कहा—"श्री सदासे ही विष्णुप्रिया ही हैं, 'भक्तिप्रियो माधवः' माधव भगवान् तो सदासे ही भक्ति प्यारी है। इसलिये श्री अथवा भक्ति नाम पहिलेसे ही विष्णुप्रिया है।'

यह सुनकर आचार्य जल्दीसे प्रभुको प्रणाम करते बोले—'तभी प्रभुने एक विग्रहसे लक्ष्मीरूपसे उन्हें ग्रहण और फिर अब श्रीविष्णुप्रियाके रूपसे उनके दूसरे अपनी अर्धाङ्गिनी बनाया है।'

इस प्रकार आपसमें श्लेषात्मक बातें हो ही रही थीं, कि प्रभु घरसे एक आदमी आया और उसने नम्रतापूर्वक प्रभुसे निवेदन किया—'शचीमाताने कहलाया है कि आज आचार्य

ी भोजन करें। कृपा करके वे हमारे आजके निमन्त्रणको अवश्य ही स्वीकार करें।'

उस आदमीकी बातें सुनकर प्रभुने उसे कुछ भी उत्तर नहीं दिया। जिज्ञासाके भावसे वे आचार्यके मुखकी ओर देखने लगे। प्रभुके भावको समझकर आचार्य कहने लगे—'हमारा अहोभाग्य, जो जगन्माताने हमें भोजनके लिये निमन्त्रित किया है, इसे हम अपना सौभाग्य ही समझते हैं।'

बीचमें ही बातको काटते हुए श्रीवास पण्डित बोल उठे—'इस सौभाग्यसुखको अकेले ही लूटोगे, या दूसरोंको भी साझी बनाओगे? हम तो तुम्हें अकेले कभी भी इस नन्दका उपभोग न करने देंगे, यदि गौराङ्ग हमें निमन्त्रित न करेंगे, तो हम शचीमाताके समीप जाकर याचना करेंगे। तो साक्षात् अन्नपूर्णा ही ठहरीं, उनके दरबारसे कोई निराश कर थोड़े ही लौट सकता है? आचार्य महाशय! तुम्हारी केले ही दाल नहीं गलनेकी, हमें भी साथ ले चलना पड़ेगा।'

आचार्य अद्वैत और महाप्रभु वैसे तो दोनों ही सिलहट-निवासी ब्राह्मण थे, किन्तु दोनोंका परस्परमें खान-पान एक नहीं था, इसी बातको जाननेके निमित्त कुछ संकोचके साथ प्रभुने कहा—'भोजनकी क्या बात है, सर्वत्र आपका ही है, किन्तु आचार्यको दो आदमियोंके लिये भात बनानेमें कष्ट होगा।'

इसपर आचार्य बीचमें ही बोल उठे—'मुझे क्यों कष्ट

होनेका ? कष्ट होगा तो शचीमाताको होगा। सो, वे तो जगन्माता ठहरीं, वे कष्टको कष्ट मानती ही नहीं। यदि बनानेमें असमर्थ होंगी तो फिर हमको बनाना ही होगा।' इ उत्तरसे प्रभु समझ गये, कि आचार्यको अब हमारे घरका भ खानेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं। असलमें प्रेममें कि प्रकारका निश्चित नियम है ही नहीं। यह नहीं कह सक कि सभी प्रेमी सामाजिक नियमोंको भंग ही कर दें, या स प्रेमी अन्य लोगोंकी भाँति सामाजिक नियमोंका पालन ही करें। इनके लिये कोई निश्चित नियम नहीं। भगवान् राम-जैसे सर्व श्रेष्ठ प्रेमीने 'सीता-परीक्षा' 'सीता-परित्याग' और 'लक्ष्मण-परित्याग' जैसे असह्य और वेदनापूर्ण कार्योंको इसीलिये किया, कि जिस लोक-संग्रहका धर्म अक्षुण्ण बना रहे। इसके विपरीत भगवान् श्रीकृष्णने प्रेमके पीछे सामाजिक नियमोंकी कोई परवा ही नहीं की। अब भी देखा जाता है, बहुतसे अत्यन्त प्रेमी सामाजिक और धार्मिक नियमोंमें दृढ़ रहकर बर्ताव करते हैं। बहुत-से इ सबकी उपेक्षा भी करते देखे गये हैं। इसलिये प्रेम-पन्थके लि कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। यह तो नियमोंसे रहित अलौकिक पंथ है। आचार्यके लिये अब प्रभुके घरमें क्या संकोच होना था, जब उन्होंने अपना सर्वस्व प्रभुके पाद-पद्मोंमें समर्पित कर दिया।

स्वीकृति लेकर वह मनुष्य मातासे कहने चला गया। इ आचार्यने धीरेसे कोई बात श्रीवास पण्डितके कानमें कही

पसमें दोनोंको धीरे-धीरे बातें करते देखकर प्रभु हँसते हुए हने लगे—'दोनों पण्डितोंमें क्या गुपचुप बातें हो रही हैं, हम न बातोंको सुननेके अधिकारी नहीं हैं क्या ?'

प्रभुकी बात सुनकर आचार्य तो कुछ लज्जित-से होकर चुप गये, किन्तु श्रीवास पण्डित थोड़ी देर ठहरकर कहने लगे—भो ! आचार्य अपने मनमें अत्यन्त दुखी हैं । वे कहते हैं—भुने नित्यानन्दजीके ऊपर तो कृपा करके उनको अपना असली प दिखा दिया, किन्तु न जाने क्यों, हमारे ऊपर कृपा नहीं करते ? में पहिले आश्वासन भी दिलाया था, कि तुम्हें अपना असली प दिखावेंगे, किन्तु अभीतक हमारे ऊपर कृपा नहीं हुई ।'

कुछ विस्मय-सा प्रकट करते हुए प्रभुने कहा—'मैं नहीं ानता, असली रूप कहनेसे आचार्यका क्या अभिप्राय है ? मेरा सली रूप तो यही है, जिसे आप सब लोग सदा देखते हैं और ब भी देख रहे हैं ।'

अपनी बातका प्रभुको भिन्न रीतिसे अर्थ लगाते हुए देखकर वास पण्डितने कहा—'हाँ प्रभो ! यह ठीक है, आपका सली रूप तो यही है, हम सब भी इसी गौररूपकी श्रद्धा-क्तिके साथ वन्दना करते हैं, किन्तु आपने आचार्यको अन्य रूप-; दर्शनोंका आश्वासन दिलाया था, वे उसी आश्वासनका स्मरण-ात्र करा रहे हैं ।'

श्रीवासजीके ऐसे उत्तरसे सन्तुष्ट होकर प्रभु कहने लगे

'पण्डितजी ! आप तो सब कुछ जानते हैं, मनुष्यकी सदा एक-सी नहीं रहती । वह कभी कुछ सोचता है और कुछ । जब मेरी उन्मादकी-सी अवस्था हो जाती है, तब न जाने मैं क्या-क्या बक जाता हूँ, उसका स्मरण मुझे स्वयं नहीं रहता । मैंने अपनी उन्मादावस्थामें आचार्यसे कुछ दिया होगा, उसका स्मरण मुझे अब बिलकुल नहीं है ।'

यह सुनकर कुछ दीनताके भावसे श्रीवास कहा—'प्रभो ! आप हमारी हर समय क्यों वञ्चना किया हैं, लोगोंको जब उन्माद होता है, तो उनसे अन्य लोगोंको भय होता है । लोग उनके समीप जाने तकमें डरते हैं, आपका उन्माद तो लोगोंके हृदयोंमें अमृत-सिञ्चन-सा करता है भक्तोंको उससे बढ़कर कोई दूसरा आनन्द ही प्रतीत नहीं होता क्या आपका उन्माद सचमुचमें उन्माद ही होता है ? यदि हो तो फिर भक्तोंको इतना अपूर्व आनन्द क्यों होता है ! सर्व सामर्थ्य है । आप जिस समय जैसा चाहें रूप सकते हैं ।'

प्रभुने कहा—'पण्डितजी, सचमुचमें आप विश्वास कीजिये किसीको कोई रूप दिखाना मेरे बिलकुल अधीन नहीं है किस समय कैसा रूप बन जाता है, इसका मुझे स्वयं पता चलता । आप कहते हैं, आचार्य श्यामसुन्दररूपके दर्शन चाहते हैं । यह मेरे हाथकी बात थोड़े ही है । यह तो

र भावनाके ही ऊपर निर्भर है । उनकी जैसे रूपमें प्रीति होगी, सी भावके अनुसार उन्हें दर्शन होंगे । यदि उनकी उत्कट च्छा है, यदि यथार्थमें वे श्यामसुन्दररूपका ही दर्शन करना ाहते हैं तो आँखें बन्द करके ध्यान करें, बहुत सम्भव है, वे ापनी भावनाके अनुसार श्यामसुन्दरकी मनोहर मूर्तिके दर्शन र सकें ।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर आचार्यने कुछ सन्देह और कुछ ारीक्षाके भावसे आँखें बन्द कर लीं । थोड़ी ही देरमें भक्तोंने देखा के आचार्य मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े हैं । लोगोंने उनके ारीरको स्पर्श करके देखा तो उसमें चेतना मालूम ही न पड़ी । श्रीवास पण्डितने उनकी नासिकाके छिद्रोंपर हाथ रखा, उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानों उनकी साँस चल ही नहीं रही है । न सब लक्षणोंसे तो यही प्रतीत होता था, कि उनके शरीरमें प्राण नहीं है, किन्तु चेहरेकी कान्ति समीपके लोगोंको चकित बनाये हुए थी । उनके चेहरेपर प्रत्यक्ष तेज चमकता था । सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो रहा था । सभी भक्त उनकी ऐसी अवस्था देखकर आश्चर्य करने लगे । श्रीवास पण्डितने घबड़ाहटके साथ प्रभुसे पूछा—'प्रभो ! आचार्यकी यह कैसी दशा हो गयी ? न जाने क्यों वे इस प्रकार मूर्छित और संज्ञाशून्य-से हो गये ?'

प्रभुने कहा—'आप लोग किसी प्रकारका भी भय न करें, मालूम होता है, आचार्यको हृदयमें अपने इष्टदेवके दर्शन हो

हैं, उसीके प्रेममें ये मूर्छित हो गये हैं। मुझे तो ऐसा अनुमान होता है।'

गद्गद कण्ठसे श्रीवास पण्डितने कहा—'प्रभो! और प्रत्यक्ष दोनों ही आपके अधीन हैं। आचार्य सौ हैं जो इच्छा करते ही उन्हें आपके श्यामसुन्दररूपके दर्शन गये। हतभाग्य तो हमीं हैं जो हमें इस प्रकारका कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। अस्तु, अपना-अपना भाग्य है, न हो हमें किसी और रूपका दर्शन, हमारे लिये तो गौररूप ही यथेष्ट है। अब ऐसा अनुग्रह कीजिये जिससे होश आवे।'

श्रीवासजीकी बात सुनकर प्रभुने कहा—'आप भी बात कहते हैं, मैं उन्हें कैसे चेतन कर सकता हूँ! वे चैतन्य होंगे। यह देखो, आचार्य अब कुछ-कुछ आँखें लगे हैं।' प्रभुका इतना कहना था, कि आचार्यकी मूर्छा धीरे भंग होने लगी। जब वे स्वस्थ हुए तो श्रीवास पूछा—'आचार्य, क्या देखा?' श्रीवासके पूछनेपर गद्गद आचार्य कहने लगे—'ओहो! अद्भुत रूपके दर्शन हुए। वे श्यामसुन्दर बनवारी, पीतपटधारी, मुरलीमनोहर मेरे प्रत्यक्ष प्रकट हुए। मैंने प्रत्यक्ष देखा, स्वयं गौरने ही ऐसा रूप करके मेरे हृदयमें प्रवेश किया और अपनी मन्द-मन्द मुसकान मुझे बेसुध-सा बना लिया। मेरा मन अपने अधीन नहीं रहा वह उस माधुरीको पान करनेमें ऐसा तल्लीन हुआ, कि

ापेको ही खो बैठा। थोड़ी ही देरके पश्चात् वह मूर्ति गौररूप
रण करके मेरे सामने आ बैठी, तभी मुझे चेत हुआ।' यह
हते-कहते आचार्य प्रेमके कारण गद्गद कण्ठसे रुदन करने लगे।
नकी आँखोंकी कोरोंमेंसे ठण्डे अश्रुओंकी दो धारा-सी बह रही
। प्रभुने हँसते हुए कुछ बनावटी उपेक्षाके साथ कहा—'मालूम
ड़ता है, आचार्यने गत रात्रिमें जागरण किया है। इसीलिये
ाँखें बन्द करते ही नींद आ गयी और उसी नींदमें इन्होंने
ाप्न देखा है, उसी स्वप्नकी बातें ये कह रहे हैं।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर आचार्य अधीर होकर प्रभुके
ारणोंमें गिर पड़े और गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'प्रभो! मेरी
ाब अधिक वञ्चना न कीजिये। अब तो आपके श्रीचरणोंमें
िश्वास उत्पन्न हो जाय, ऐसा ही आशीर्वाद दीजिये।' प्रभुने
ृद्ध आचार्यको उठाकर गलेसे लगाया और प्रेमके साथ कहने
लगे—'आप परम भागवत हैं, आपकी निष्ठा बहुत ऊँची है,
ापके निरन्तर ध्यानका ही यह प्रत्यक्ष फल है, कि नेत्र बन्द
करते ही आपको भगवान्‌के दर्शन होने लगे हैं। चलिये, अब
बहुत देर हो गयी, माता भोजन बनाकर हमलोगोंकी प्रतीक्षा
कर रही होंगी। आज हम सब साथ-ही-साथ भोजन करेंगे।'

प्रभुकी आज्ञा पाकर श्रीवासके सहित आचार्य महाप्रभुके
ार चलनेको तैयार हो गये। घर पहुँचकर प्रभुने देखा, माता
ाब सामान बनाकर चौकेमें बैठी सब लोगोंके आनेकी प्रती

कर रही है। प्रभुने जल्दीसे हाथ-पैर धोकर, आचार्य और श्रीवास पण्डितके स्वयं पैर धुलाये और उन्हें बैठनेको सुन्दर आसन दिये। दोनोंके बहुत आग्रह करनेपर प्रभु भी आचार्य और श्रीवासके बीचमें भोजन करनेके लिये बैठ गये। शची माताने आज बड़े ही प्रेमसे अनेक प्रकारके व्यञ्जन बनाये थे। भोजन परोस जानेपर दोनोंने भगवान्‌के अर्पण करके तुलसी-मञ्जरी पड़े हुए उन सभी व्यञ्जनोंको प्रेमके साथ पाया। प्रभु बार-बार आग्रह कर-करके आचार्यको और अधिक परसवा देते और आचार्य भी प्रेमके वशीभूत होकर उसे पा लेते। इस प्रकार उस दिन तीनोंने ही अन्य दिनोंकी अपेक्षा बहुत अधिक भोजन किया। किन्तु उस भोजनमें चारों ओरसे प्रेम-ही-प्रेम भरा था। भोजनोपरान्त प्रभुने श्रीविष्णुप्रियासे लेकर आचार्य तथा श्रीवास पण्डितको मुख-शुद्धिके लिये ताम्बूल दिया। कुछ आराम करनेके अनन्तर प्रभुकी आज्ञा लेकर अद्वैत तो शान्तिपुर चले गये और श्रीवास अपने घरको चले गये।

च्छन्न भक्त पुण्डरीक विद्यानिधि

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताऽथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥*

(श्रीमद्भा० २।३।२४)

जिनके हृदयमें भगवान्‌के प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी है, जिनका हृदय श्याम-रंगमें रँग गया है, जिनकी भगवान्‌के सुमधुर नामों तथा उनकी जगत्-पावनी लीलाओंमें रति है, उन बड़भागी भक्तोंने ही यथार्थमें मनुष्य-शरीरको सार्थक बनाया है। प्रायः देखा गया है, कि जिनके ऊपर भगवत्-कृपा होती है, जो प्रभुके प्रेममें पागल बन जाते हैं, उनका बाह्य जीवन भी त्यागमय बन जाता है, क्योंकि जिसने उस अद्भुत प्रेमासवका एक बार भी पान कर लिया, उसे फिर त्रिलोकीके जो भी संसारी सुख हैं, सभी फीके-फीके-से प्रतीत होने लगते हैं। संसारी सुखोंमें तो मनुष्य तभीतक सुखानुभव करता है, जबतक उसे असली सुखका पता नहीं चलता। जिसने एक क्षणको भी सुख-स्वरूप

---

* श्रीहरि भगवान्‌के मधुर नामोंके श्रवणमात्रसे जिनके हृदयमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न न हो, अथवा जिनके शरीरमें स्वेद, अश्रु तथा रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावोंका उदय न होता समझना चाहिये कि उन पुरुषोंका हृदय फौलादका बना हुआ

प्रेमदेवके दर्शन कर लिये फिर उसके लिये सभी संसारी तुच्छ-से दिखायी देने लगेंगे। इसीलिये प्रायः देखा गया है, परमार्थके पथिक भगवत्-भक्तों तथा ज्ञाननिष्ठ साधकोंका सदा त्यागमय ही होता है। वे संसारी भोगोंसे स्वरूपतः दूर ही रहते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी भक्त देखनेमें आते हैं, जिनका जीवन ऊपरसे तो संसारी लोगोंका-सा प्रतीत होता किन्तु हृदयमें अगाध भक्ति-रस भरा हुआ होता है जो ज़रा ठेस लगते ही छलककर आँखोंके द्वारा बाहर बहने लगता है। असलमें भक्तिका सम्बन्ध तो हृदयसे है, यदि मन विषयवासनाओं में रत नहीं है, तो कैसी भी परिस्थितिमें क्यों न रहें, वह सदा प्रभुके पादपद्मोंका ही चिन्तन करता रहेगा। यही सोचकर महाकवि केशव कहते हैं—

कहँ 'केशव' भीतर जोग जगै इत बाहिर भोगमयी तन है।
मन हाथ भयो जिनके तिनके बन ही घर है घर ही बन है॥

प्रायः देखा गया है, कि त्यागमय जीवन बितानेसे साधक के मनमें ऐसी धारणा-सी हो जाती है, कि बिना स्वरूपतः बाह्य त्यागमय जीवन बिताये भगवत्-भक्ति प्राप्त ही नहीं होती भक्तिमार्गमें यह बड़ा भारी विघ्न है, त्यागमय जीवन जितना भी बिताया जाय उतना ही श्रेष्ठ है, किन्तु यह आग्रह करना कि स्वरूपतः त्याग किये बिना कोई भक्त बन ही नहीं सकता, यह त्यागजन्य एक प्रकारका अभिमान ही है। भक्तको तो तृणसे भी नीचा बनकर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको भी मन

ों, किन्तु शरीरसे दण्डकी तरह पृथ्वीपर लेटकर प्रणाम करना
हिये, तभी अभिमान दूर होगा। भक्तोंके विषयमें कोई क्या
ह सकता है, कि वे किस रूपमें रहते हैं? नाना परिस्थितियों-
रहकर भक्तोंको जीवन बिताते देखा गया है, इसलिये जिसके
वनमें बाह्य त्यागके लक्षण प्रतीत न हों, वह भक्त ही नहीं,
ा कभी भी न सोचना चाहिये।

पुण्डरीक विद्यानिधि एक ऐसे ही प्रच्छन्न भक्त थे। उनके
चार-व्यवहारको देखकर कोई नहीं समझ सकता था, कि ये
क्त हैं, सब लोग उन्हें विषयी ही समझते थे। लोग समझते
; किन्तु पुण्डरीक महाशय तो सदा प्रभुप्रेममें छके-से रहते थे,
ोगोंको दिखानेके लिये वे कोई काम थोड़े ही करते थे, उन्हें
ो अपने प्यारेसे काम था। वैसे उनका बाह्य व्यवहार संसारी
िषयी लोगोंका-सा ही था। उनका जन्म एक कुलीन वंशमें
ुआ था, वे देखनेमें बहुत ही सुन्दर थे, शरीर राजपुत्रोंकी भाँति
ुकुमार था, अत्यन्त ही चिकने और कोमल उनके काले-काले
ुँघराले बाल थे, वे उनमें सदा बहुमूल्य सुगन्धित तैल डालते,
ारीरको उबटन और तैल-फुलेलसे खूब साफ रखते। बहुत ही
हीन रेशमी वस्त्र पहिनते। कभी गङ्गा-स्नान करने नहीं जाते
। लोग तो समझते थे कि इनकी गङ्गाजीमें भक्ति नहीं है,
िन्तु उनके हृदयमें गङ्गामाताके प्रति अनन्य श्रद्धा थी, वे
स भयसे स्नान करने नहीं जाते थे कि माताके जलसे पादस्पर्श
ो जायगा। लोगोंको गङ्गाजीमें मलमूत्र तथा अस्थि फेंकते, तैल-

पुण्ड्र लगाते और बाल फेंकते देखकर उन्हें दुःख होता था। देवार्चनसे पूर्व ही वे ... प्रकार उनकी सभी बातें लोकबाह्य ही थीं। उन्हें घोर संसारी कहकर उनकी सदा उपेक्षा ...

एक दिन प्रभु भावावेशमें आकर जोरोंसे '... निधि' 'ओ मेरे बाप विद्यानिधि' कहकर जोरोंसे ... 'पुण्डरीक' 'पुण्डरीक' कहते-कहते वे अधीर हो उठे ... होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। भक्त आपसमें एक ... देखने लगे। सभीको विस्मय हुआ। पहिले तो भक्त ... 'पुण्डरीक' कहनेसे प्रभुका अभिप्राय श्रीकृष्णसे है ... जब पुण्डरीकके साथ विद्यानिधि पदपर ध्यान दिया, अनुमान लगाया, हो-न-हो इस नामके कोई भक्त ... सोचनेपर भी नवद्वीपमें 'पुण्डरीक विद्यानिधि' नामके वैष्णव भक्तका स्मरण उन लोगोंको नहीं आया। थोड़े ... अनन्तर जब प्रभुकी मूर्छा भंग हुई तो भक्तोंने पूछा—'प्रभु जिनका नाम ले-लेकर जोरोंसे रुदन कर ... वे भाग्यवान् पुण्डरीक विद्यानिधि कौन परम भागवत महा...

प्रभुने गम्भीरताके साथ कहा—'वे एक परम वैष्णव भक्त हैं, आप लोग उन्हें देखकर नहीं जान ... वे वैष्णव हैं, उनके बाह्य आचार-विचार प्रायः सांसारिक पुरुषोंके-से हैं। वे चटगाँव-निवासी एक परम कुलीन हैं, उनका एक घर शान्तिपुरमें भी है, गङ्गासेवनके ...

ी-कभी चटगाँवसे शान्तिपुर भी आ जाते हैं, वे मेरे अत्यन्त प्रिय भक्त हैं। वे मेरे आन्तरिक सुहृद् हैं, उनके दर्शनके ा मैं अधीर हूँ। वह कौन-सा सुदिवस होगा जब मैं उन्हें से आलिंगन करके रुदन करूँगा !' प्रभुकी ऐसी बात सुनकर ोको परम प्रसन्नता हुई और सब-के-सब पुण्डरीक विद्यानिधि-दर्शनके लिये परम उत्सुकता प्रकट करने लगे। सबने ुमान लगा लिया, कि जब प्रभु उनके लिये इस प्रकार रुदन रते हैं, तो वे शीघ्र ही नवद्वीपमें आनेवाले हैं। प्रभुके स्मरण रनेपर अपने घरमें ठहर ही कौन सकता है, इसीलिये सब क्त विद्यानिधिके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे।

एक दिन चुपचाप पुण्डरीक महाशय नवद्वीप पधारे। िसीको भी उनके आनेका पता नहीं चला। बहुत-से भक्तोंने न्हें देखा भी, किन्तु उन्हें देखकर कौन अनुमान लगा सकता ा, कि ये परम भागवत वैष्णव हैं ? भक्तोंने उन्हें कोई सांसारिक ानी-मानी पुरुष ही समझा, इसीलिये भक्त उनके आगमनसे अपरिचित ही रहे।

पाठकोंको मुकुन्द दत्तका नाम स्मरण ही होगा। ये चटगाँव-निवासी एक परम भागवत वैष्णव विद्यार्थी थे, इनका कण्ठ बड़ा ही सुमधुर था। अद्वैताचार्यके समीप ये अध्ययन करते थे और उनकी सत्संग-सभामें अपने मनोहर गायनसे भक्तोंको आनन्दित किया करते थे। जबसे प्रभुका प्रकाश हुआ है, तबसे वे इन्हींकी शरणमें आ गये हैं और प्रभुके साथ मिलकर श्रीकृष्ण-कथा और

संकीर्तनमें ही सदा संलग्न रहते हैं। विद्यानिधि इनके
ही थे। दोनों ही समवयस्क तथा परस्परमें एक दूसरेसे
भाँति परिचित थे। मुकुन्द दत्त और वासुदेव पण्डित ही वि
निधिके भक्तिभावको जानते थे। प्रभुके परम अन्तरङ्ग भक्त ग
धरसे मुकुन्द बड़ा ही स्नेह करते थे। इसलिये एक दिन एक
में उनसे बोले—'गदाधर! आजकल नवद्वीपमें एक परम भ
वत वैष्णव ठहरे हुए हैं, चलो, उनके दर्शन कर आवें।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए गदाधरने कहा—'वाह!
बढ़कर और अच्छी बात क्या हो सकती है! भगवद्
दर्शन तो भगवान्‌के समान ही हैं। अवश्य चलिये,
आप प्रशंसा करते हैं, वे कोई महान् ही भागवत वैष्णव होंगे
यह कहकर दोनों मित्र विद्यानिधिके समीप चल दिये। वि
निधि नवद्वीपके एक सुन्दर भवनमें ठहरे हुए थे। उनका रह
का स्थान खूब साफ था। उसमें एक बहुत ही बढ़िया श
पड़ी हुई थी, उसके चारों पाये व्याघ्र-मुखकी भाँति कई मू
वान् धातुओंके बने हुए थे, उसके ऊपर बड़ा ही सुकोम
विस्तर बिछा था। पुण्डरीक महाशय स्नान-ध्यानसे निवृत्त होक
उस शय्यापर आधे लेटे हुए थे। उनके विस्तृत ललाटपर सु
सुगन्धित चन्दन लगा हुआ था, बीचमें एक बड़ी ही बढ़ि
लाल बिन्दी लगी हुई थी। सिरके घुँघराले बाल बढ़ि
बढ़िया सुगन्धित तैल डालकर विचित्र ही भाँतिसे सजाये हुए थे
कई प्रकारके मसालेदार पानको वे धीरे-धीरे चबा रहे थे, पानदा

ड़ीसे उनके कोमल पल्लवोंके समान दोनों अरुण अधर और अधिक लाल हो गये थे। सामने दो पीकदान रखे थे। और बहुत-से बहुमूल्य सुन्दर बर्तन इधर-उधर रखे थे। दो नौकर रपिच्छके कोमल पंखोंसे उनको हवा कर रहे थे। देखनेमें कुल राजकुमार-से ही मालूम पड़ते थे। गदाधरको साथ लिये मुकुन्द दत्त उनके समीप पहुँचे और दोनों ही प्रणाम करके के बताये हुए सुन्दर आसनपर बैठ गये। मुकुन्द दत्तके गमनसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए पुण्डरीक महाशय कहने —'आज तो बड़ा ही शुभ दिन है, जो आपके दर्शन हुए। प नवद्वीपमें ही हैं, इसका मुझे पता तो था, किन्तु आपसे नीतक भेंट नहीं कर सका। आपसे भेंट करनेकी बात सोच रहा था, सो आपने स्वयं ही दर्शन दिये। आपके जो ये थी हैं, उनका परिचय दीजिये।'

मुकुन्द दत्तने शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए गदाधरका परिचय या—'ये परम भागवत वैष्णव हैं। बाल्यकालसे ही संसारी यों से एकदम विरक्त हैं, आप मिश्रवंशावतंस पं० माधवजीके त्र हैं और महाप्रभुके परम कृपापात्र भक्तोंमेंसे प्रधान तरङ्ग भक्त हैं।'

गदाधरजीकी प्रशंसा सुनकर पुण्डरीक महाशयने परम न्नता प्रकट करते हुए कहा—'आपके कारण इनके भी दर्शन गये।' इतना कहकर विद्यानिधि महाशय मुस्कुराने लगे। दाधर तो जन्मसे ही विरक्त थे। वे पुण्डरीक महाशयके रहन-

सहन और ठाट-बाटको देखकर विस्मित-से हो गये। उन्हें होने लगा कि ऐसा विषयी मनुष्य किस प्रकार भगवद्‌- हो सकता है? जो सदा विषय-सेवनमें ही निमग्न रहता वह भगवद्भक्ति कर ही कैसे सकता है?

मुकुन्द दत्त श्रीगदाधरके मनोभावको ताड़ गये, इसी उन्होंने पुण्डरीक महाशयके भीतरी भावोंको प्रकट करने निमित्त श्रीमद्भागवतके दो बड़े ही मार्मिक श्लोकोंका सुकोमल कण्ठसे स्वर और लयके साथ धीरे-धीरे गायन किया उनमें परमकृपालु श्रीकृष्णकी अहैतुकी कृपाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। वे श्लोक सम्पूर्ण भागवतके दो परम उज्ज्वल रत्न समझे जाते हैं—वे श्लोक ये थे—

अहो बकीयं स्तनकालकूटं
जिघांसयाऽपाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥*

(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

---

* अहो, कितने आश्चर्यकी बात है, दुष्ट स्वभाववाली पूतना स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर, उन्हें मारनेकी इच्छासे आयी थी इसी असद्विचारसे उसने भगवान्‌को स्तन-पान कराया था। उस क्रूर-कर्मवालीको भी प्रभुने अपनी पालन-पोषण करनेवाली समान सद्‌गति प्रदान की। ऐसे परम कृपालु भगवान्‌को छोड़कर किसकी शरणमें हम लोग जायँ?

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम् ॥*
(श्रीमद्भा० १० । ६ । ३५)

मुकुन्द दत्तके मुखसे इन श्लोकोंको सुनते ही विद्यानिधि [महा]शय मूर्छित होकर शय्यासे नीचे गिर पड़े। एक क्षण पहिले [जो] खूब सजे-बजे बैठे हँस रहे थे, दूसरे ही क्षण श्लोक सुननेसे [उ]नकी विचित्र हालत हो गयी। उनके शरीरमें स्वेद, कम्प, अश्रु, [विकृ]ति आदि सभी सात्त्विक विकार एक साथ उदय हो उठे। [वे] जोरोंके साथ रुदन करने लगे। उनके दोनों नेत्रोंमेंसे निरन्तर दो [ज]ल-धारा-सी बह रही थी। घुँवराले कढ़े हुए केश इधर-उधर [बि]खर गये। सम्पूर्ण शरीर धूलि-धूसरित-सा हो गया। दोनों हाथोंसे अपने रेशमी वस्त्रोंको चीरते हुए जोर-जोरसे मुकुन्दसे कहने [ल]गे—'भैया, फिर पढ़ो, फिर पढ़ो। इस अपने सुमधुर गायनसे [मे]रे कर्ण-रन्ध्रोंमें फिरसे अमृत-सिञ्चन कर दो।' मुकुन्द फिर [उ]सी लयसे स्वरके साथ श्लोक-पाठ करने लगे, वे ज्यों-ज्यों [श्]लोक-पाठ करते, त्यों-ही-त्यों पुण्डरीक महाशयकी बेकली और [ब]ढ़ती जाती थी। वे पुनः-पुनः श्लोक पढ़नेके लिये आग्रह

* पूतना लोगोंके बालकोंको मारनेवाली, रुधिरको पीनेवाली नीच [यो]निकी राक्षसी थी। वह मारनेकी इच्छा रखकर स्तन पिलानेसे भी [स]द्गतिको प्राप्त हो गयी। (अर्थात् दुष्टबुद्धिसे भगवत्-संसर्गका इतना [मा]हात्म्य है, फिर जो श्रद्धा-बुद्धिसे उनका स्मरण-पूजन करते हैं उनका [तो] कहना ही क्या!)

करने लगे, किन्तु उनके साथियोंने उन्हें श्लोक-पाठ
रोक दिया। पुण्डरीक विद्यानिधि बेहोश पड़े हुए अश्रु
रहे थे।

इनकी ऐसी दशा देखकर गदाधरके आश्चर्यका ठिकाना
रहा। क्षणभर पहिले जिन्हें वे संसारी विषयी समझ रहे थे,
अब इस प्रकार प्रेममें पागलोंकी भाँति प्रलाप करते देखकर
भौंचक्के-से रह गये। उनके त्याग, वैराग्य और उपरतिके भाव
जाने कहाँ विलीन हो गये, अपनेको बार-बार धिक्कार देने लगे
कि ऐसे परम वैष्णवके प्रति मैंने ऐसे कलुषित विचार
घोर पाप किया है। वे मन-ही-मन अपने पापका प्रायश्चि
सोचने लगे। अन्तमें उन्होंने निश्चय किया कि वैसे तो
यह अपराध अक्षम्य है। भगवदपराध तो क्षम्य हो भी सक
है, किन्तु वैष्णवापराध तो सर्वदा अक्षम्य है। इसके प्रायश्चि
एक ही उपाय है। हम इनसे मन्त्रदीक्षा ले लें, इनके शिष्य
जायँ, तो गुरु-भावसे ये स्वयं ही क्षमा कर देंगे। ऐसा नि
करके इन्होंने अपना भाव मुकुन्द दत्तके सम्मुख प्रकट कि
इनके ऐसे विशुद्ध भावको समझकर मुकुन्द दत्तको बड़ी प्रसन्न
हुई और उन्होंने इनके विमल भावकी सराहना की।

बहुत देरके अनन्तर पुण्डरीक महाशय प्रकृतिस्थ हुए
सेवकोंने उनके शरीरको झाड़-पोंछकर ठीक किया।
जलसे हाथ-मुँह धोकर वे चुपचाप बैठ गये। तब वि

वसे मुकुन्दने कहा—'महाशय, ये गदाधर पण्डित कुलीन ह्मण हैं, सत्पात्र हैं, परम भागवत वैष्णव हैं। इनकी हार्दिक छा है, कि ये आपके द्वारा मन्त्र ग्रहण करें। इनके लिये क्या ज्ञा होती है?'

कुछ संकोच और नम्रताके साथ विद्यानिधि महाशयने ा—'ये तो स्वयं ही वैष्णव हैं, हममें इतनी योग्यता कहाँ है, इन्हें मन्त्र-दीक्षा दे सकें? ये तो स्वयं ही हमारे पूज्य हैं।'

मुकुन्द दत्तने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'इनकी ी ही इच्छा है। यदि आप इनकी इस प्रार्थनाको स्वीकार न गे तो इन्हें बड़ा भारी हार्दिक दुःख होगा। आप तो कृपालु दूसरेको दुखी देखना ही नहीं चाहते। अतः इनकी यह र्थना अवश्य स्वीकार कीजिये।'

मुकुन्द दत्तके अत्यधिक आग्रह करनेपर इन्होंने मन्त्र-दीक्षा ा स्वीकार कर लिया और दीक्षाके लिये उसी दिन एक शुभ हूर्त भी बता दिया। इस बातसे दोनों मित्रोंको बड़ी प्रसन्नता और वे बहुत रात्रि बीतनेपर प्रेममें निमग्न हुए अपने-अपने ानोंके लिये लौट आये।

इसके दूसरे-तीसरे दिन गुप्तभावसे पुण्डरीक महाशय हले ही एकान्तमें प्रभुके दर्शनोंके लिये गये। प्रभुको देखते ये उनके चरणोंमें लिपटकर फूट-फूटकर रुदन करने लगे। द्यानिधिको अपने चरणोंमें पड़े हुए देखकर प्रभु मारे प्रेमके

वेसुध-से हो गये । उन्होंने पुण्डरीक विद्यानिधिका जोरोंसे
आलिङ्गन किया । पुण्डरीकके मिलनेसे उनके नन्दका
नहीं रहा । उस समय उनकी आँखोंसे अविरल अश्रु प्रवाहित हो
ये । सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था । वे पुण्डरीककी गोदीमें
सिर रखकर रुदन कर रहे थे, इस प्रकार दो प्रह
के वक्षःस्थलपर सिर रखे निरन्तर रुदन करते रहे । पुण्ड
महाशयके सभी वस्त्र प्रभुके अश्रुओंसे भीग गये थे ।
प्रेममें बेसुध हुए चुपचाप प्रभुके मुखकमलकी ओर
दृष्टिसे देख रहे थे । उन्हें समयका कुछ ज्ञान ही नहीं
कि कितना समय बीत गया है । दोपहरके अनन्तर
कुछ-कुछ होश हुआ । उन्होंने उसी समय भक्तोंको बुलाया
सभीसे पुण्डरीक महाशयका परिचय कराया । पुण्डरीक महाश
परिचय पाकर सभी भक्त परम सन्तुष्ट हुए और अपने भा
सराहना करने लगे । विद्यानिधिने अद्वैत आदि सभी भक्त
पदधूलि लेकर अपने मस्तकपर चढ़ायी और सभीको
भक्तिके साथ प्रणाम किया । इसके अनन्तर पुण्डरीकको
करके सभी भक्त चारों ओरसे संकीर्तन करने लगे । श्री
संकीर्तनको सुनकर पुण्डरीक महाशय फिर बेहोश हो गये ।
संकीर्तन बन्द कर दिया और भाँति-भाँतिके उपचार
पुण्डरीकको होशमें किया । कुछ सावधान होनेपर प्र
लेकर पुण्डरीक अपने स्थानके लिये चले गये ।

शामको आकर गदाधरने पुण्डरीकके समीपसे मन्त्र-दीक्षा नेकी अपनी इच्छा प्रभुके सम्मुख प्रकट की। इस बातको नकर प्रभु अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और गदाधरसे कहने लगे— गदाधर, ऐसा सुयोग तुम्हें फिर कभी नहीं मिलेगा। पुण्डरीक-से भगवत्-भक्तका मिलना अत्यन्त ही दुर्लभ है। तुम इस काममें अब अधिक देरी मत करो। यह शुभ काम जितना भी शीघ्र हो जाय उतना ही ठीक है।'

प्रभुकी आज्ञा पाकर नियत शुभ तिथिके दिन गदाधरजीने विद्यानिधिसे मन्त्र-दीक्षा ले ली।

जिनके लिये महाप्रभु गौराङ्ग स्वयं रुदन करते हों, जिनकी प्रशंसा करते-करते प्रभु अधीर हो जाते हों, गदाधर-जैसे परमत्यागी और महान् भक्त जिनके शिष्य बननेमें अपना सौभाग्य समझते हों, ऐसे भक्ताग्रगण्य श्रीपुण्डरीक विद्यानिधिकी विशद विरुदावलीका बखान कौन कर सकता है! सचमुच विद्यानिधि-की भक्ति परम शुद्ध और सात्त्विक कही जा सकती है, जिसमें दिखावट या बनावटीपनका लेश भी नहीं था। ऐसे प्रच्छन्न भक्तोंकी पदधूलिसे पापी-से-पापी पुरुष भी परम पावन बन सकता है।

निमाई और निताईकी प्रेम-लीला

अवतीर्णौ सकारुण्यौ परिच्छिन्नौ सदीश्वरौ।
श्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ द्वौ भ्रातरौ भजे॥*
(श्रीमुरारी गुप्त)

आनन्दका मुख्य कारण है आत्मसमर्पण। जबतक ...
किसीके प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण नहीं कर देता,
उसे पूर्ण प्रेमकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। प्रभु विश्वम्भर
चराचरमें व्याप्त हैं। अपूर्णभावसे नहीं, सभी स्थानोंमें वे ...
पूर्ण शक्तिसहित ही स्थित हैं, जहाँ तुम्हारा चित्त चाहे, जिस ...
मन रमे, उसीके प्रति आत्मसमर्पण कर दो। ...
एकदम मिटा दो। अपनी इच्छा, अपनी भावना और
सभी चेष्टाएँ प्यारेके ही निमित्त हों। सब तरहसे किसीके ...
रहो, तभी प्रेमका यथार्थ मर्म सीख सकोगे। किसी
क्या ही बढ़िया बात कही है—

न हम कुछ हँसके सीखे हैं, न हम कुछ रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं, किसीके होके सीखे हैं॥

---

* प्राणियोंके प्रति अपनी अहैतुकी कृपाको ही प्रकट करनेके लि॰
ईश्वर होनेपर भी जो दोनों भिन्न भावसे पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हैं,
निमाई और निताई दोनों भाइयोंकी हम चरण-वन्दना करते हैं।

अहा, किसीके होकर रहनेमें कितना मज़ा है, अपनी सभी
ातोंका भार किसीके ऊपर छोड़ देनेमें कैसा निश्चिन्तताजन्य
ुख है, उसे अपनेको ही कर्ता माननेवाला पुरुष कैसे अनुभव
र सकता है? जिसे अपने हाथ-पैरोंसे कमाकर खानेका
भिमान है, वह उस छोटे शिशुके सुखको क्या समझ सकता
, जिसे भूख-प्यास तथा सुख-दुखमें एकमात्र माताकी क्रोडका
ी सहारा है और जो आवश्यकता पड़नेपर रोनेके अतिरिक्त और
ुछ जानता ही नहीं! माता चाहे कहीं भी रहे, उसे अपने
स मुनमुना-से बच्चेका हर समय ध्यान ही बना रहता है,
ुसके सुख-दुखका अनुभव माता स्वयं अपने शरीरमें करती है।
नित्यानन्दजीने भी प्रभुके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया और
महाप्रभु श्रीवासके भी सर्वस्व थे। प्रभु दोनोंके ही उपास्यदेव
े, किन्तु नित्यानन्द तो उनके बाहरी प्राण ही थे।

नित्यानन्दजी श्रीवास पण्डितके ही घर रहते। उनकी
ुत्नी मालिनीदेवी तथा वे स्वयं इन्हें पुत्रसे भी बढ़कर प्यार
करते। नित्यानन्दजी सदा बाल्यभावमें ही रहते। वे अपने हाथसे
भोजन नहीं करते, तब मालिनीदेवी अपने हाथोंसे इन्हें भात
खिलातीं। कभी खाते-खाते ही बीचमेंसे भाग जाते और दाल-
भातको सम्पूर्ण शरीरपर लपेट लेते। भोजन करके बालकोंकी
भाँति घूमते रहना ही इनका काम था। कभी मुरारीगुप्तके
घर जाते, कभी गङ्गादासजीकी पाठशालामें ही जा बैठते। कभी
किसीके यहाँसे कोई चीज ही लेकर खाने लगते। कभी

महाप्रभुके ही घर जाते और बाल्यभावसे शचीमाताके
पकड़ लेते। माता इनकी चञ्चलतासे डरकर कभी-कभी
घरमें भाग जातीं। इसप्रकार ये भक्तोंके घरोंमें नाना
बाल्यलीलाओंका अभिनय करने लगे।

एक दिन प्रभुने श्रीवास पण्डितकी परीक्षा करनेके लि
तथा यह जाननेके लिये कि श्रीवासका नित्या
कितना हार्दिक स्नेह है उन्हें एकान्तमें ले जाकर पूछने लगे
'पण्डितजी! इन अवधूत नित्यानन्दजीके कुल, गोत्र तथा
आदिका कुछ भी पता नहीं। इस अज्ञातकुलशील
आपने अपने घरमें स्थान देकर कुछ उचित काम नहीं कि
आप इन्हें पुत्रकी तरह प्यार करते हैं। कौन जाने ये कैसे हैं
इसलिये आपको इन्हें अपने घरमें पुत्रकी तरह नहीं रख
चाहिये। ये साधुओंकी तरह गङ्गा-किनारे या कहीं घाटपर
और माँगें खायँ। साधुको किसीके घर रहनेसे क्या काम!
विषयमें आपके क्या विचार हैं? क्या आप मुझसे सहमत हैं

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर गद्गद-कण्ठसे श्रीवास
अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'प्रभो! आपको हमारी
प्रकारसे परीक्षा करना ठीक नहीं। हम संसारी वासनाओं
आबद्ध पामर प्राणी भला प्रभुकी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण ही
हो सकते हैं? जबतक प्रभु स्वयं कृपा न करें तबतक तो
सदा अनुत्तीर्ण ही होते रहेंगे। मैं यह खूब जानता हूँ

त्यानन्दजी प्रभुके बाह्य प्राण ही नहीं किन्तु अभिन्न विग्रह हैं। प्रभु उन्हें भिन्न-से प्रतीत होनेपर भी भिन्न नहीं समझते। जो प्रभुके इतने प्रिय हैं वे नित्यानन्दजी यदि शराब पीकर गम्यागमन भी करें और मुझे धर्म-भ्रष्ट भी कर दें तब भी मुझे उनके प्रति घृणा नहीं होगी। नित्यानन्दजीको मैं प्रभुका ही स्वरूप समझता हूँ।' इतना कहकर श्रीवास पण्डित प्रभुके पादपद्मोंको पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगे। प्रभुने उन्हें अपने कोमल करोंसे उठाया और प्रेमालिङ्गन करते हुए कहने लगे—'श्रीवास! तुमने ऐसा उत्तर देकर सचमुचमें मुझे खरीद लिया। इस उत्तरसे मैं तुम्हारा क्रीतदास बन गया। मैं तुमसे अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुआ। मेरा यह आशीर्वाद है, कि किसी भी दशामें तुम्हें किसी आवश्यकीय वस्तुका घाटा नहीं होगा और तुम्हारे घरके कुत्तेतकको श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो सकेगी। तुम्हारा मेरे प्रति ऐसा अनन्य अनुराग है इसका पता मुझे आज ही चला।' इतना कहकर प्रभु अपने घरको चले गये।

एक दिन प्रभुने शचीमातासे कहा—'माँ! मेरी इच्छा है, आज नित्यानन्दजीको अपने घर भोजन करावें। तू आज अपने हाथोंसे बढ़िया-बढ़िया भोजन बनावे और हम दोनों भाइयोंको चौकेमें बिठाकर स्वयं परोसकर खिलावे, यही मेरी इच्छा है।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर शचीमाताको परम प्रसन्नता

महाप्रभुके ही घर जाते और बाल्यभावसे शचीमाताके पैरोंको पकड़ लेते। माता इनकी चञ्चलतासे डरकर कभी-कभी भीतर घरमें भाग जातीं। इसप्रकार ये भक्तोंके घरोंमें नाना भाँतिकी बाल्यलीलाओंका अभिनय करने लगे।

एक दिन प्रभुने श्रीवास पण्डितकी परीक्षा करनेके निमित्त तथा यह जाननेके लिये कि श्रीवासका नित्यानन्दजीके प्रति कितना हार्दिक स्नेह है उन्हें एकान्तमें ले जाकर पूछने लगे—'पण्डितजी! इन अवधूत नित्यानन्दजीके कुल, गोत्र तथा जाति आदिका कुछ भी पता नहीं। इस अज्ञातकुलशील अवधूतको आपने अपने घरमें स्थान देकर कुछ उचित काम नहीं किया। आप इन्हें पुत्रकी तरह प्यार करते हैं। कौन जाने ये कैसे हैं! इसलिये आपको इन्हें अपने घरमें पुत्रकी तरह नहीं रखना चाहिये। ये साधुओंकी तरह गङ्गा-किनारे या कहीं घाटपर रहें और माँगें खायँ। साधुको किसीके घर रहनेसे क्या काम! इस विषयमें आपके क्या विचार हैं? क्या आप मुझसे सहमत हैं!'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर गद्गद-कण्ठसे श्रीवास पण्डितने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'प्रभो! आपको हमारी इस प्रकारसे परीक्षा करना ठीक नहीं। हम संसारी वासनाओंमें आबद्ध पामर प्राणी भला प्रभुकी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण ही कैसे हो सकते हैं! जबतक प्रभु स्वयं कृपा न करें तबतक तो हम सदा अनुत्तीर्ण ही होते रहेंगे। मैं यह खूब जानता हूँ कि

नित्यानन्दजी प्रभुके बाह्य प्राण ही नहीं किन्तु अभिन्न विग्रह भी हैं। प्रभु उन्हें भिन्न-से प्रतीत होनेपर भी भिन्न नहीं समझते। जो प्रभुके इतने प्रिय हैं वे नित्यानन्दजी यदि शराब पीकर अगम्यागमन भी करें और मुझे धर्म-भ्रष्ट भी कर दें तब भी मुझे उनके प्रति घृणा नहीं होगी। नित्यानन्दजीको मैं प्रभुका ही स्वरूप समझता हूँ।' इतना कहकर श्रीवास पण्डित प्रभुके पादपद्मोंको पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगे। प्रभुने उन्हें अपने कोमल करोंसे उठाया और प्रेमालिङ्गन करते हुए कहने लगे—'श्रीवास! तुमने ऐसा उत्तर देकर सचमुचमें मुझे खरीद लिया। इस उत्तरसे मैं तुम्हारा क्रीतदास बन गया। मैं तुमसे अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुआ। मेरा यह आशीर्वाद है, कि किसी भी दशामें तुम्हें किसी आवश्यकीय वस्तुका घाटा नहीं होगा और तुम्हारे घरके कुत्तेतकको श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो सकेगी। तुम्हारा मेरे प्रति ऐसा अनन्य अनुराग है इसका पता मुझे आज ही चला।' इतना कहकर प्रभु अपने घरको चले गये।

एक दिन प्रभुने शचीमातासे कहा—'माँ! मेरी इच्छा है, आज नित्यानन्दजीको अपने घर भोजन करावें। तू आज अपने हाथोंसे बढ़िया-बढ़िया भोजन बनावे और हम दोनों भाइयोंको चौकेमें बिठाकर स्वयं परोसकर खिलावे, यही मेरी इच्छा है।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर शचीमाताको परम प्रसन्नता

हुई और वे जल्दीसे भोजन बनानेके लिये उद्यत हो गयीं। इधर प्रभु श्रीवास पण्डितके घर निताईको लिवानेके लिये चले। श्रीवासके घर पहुँचकर प्रभुने नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! आज आपका हमारे घर निमन्त्रण है। चलो, आज हम आप साथ-ही-साथ भोजन करेंगे।' इतना सुनते ही नित्यानन्दजी बालकोंकी भाँति आनन्दमें उछल-उछलकर नृत्य करने लगे और नृत्य करते-करते कहते जाते थे—'अहा रे, लालके, खूब बनेगी, शचीमाताके हाथका भात खायँगे, मौज उड़ायँगे, प्रभुको खूब छकायँगे, कुछ खायँगे, कुछ शरीरमें लगायँगे।'

प्रभुने इन्हें ऐसी चञ्चलता करते देखकर मीठी-सी डाँट देते हुए प्रेमपूर्वक कहा—'देखना खबरदार, वहाँ ऐसी चञ्चलता मत करना। माता आपकी चञ्चलतासे बहुत घबड़ाती है, वह डर जायगी। वहाँ चुपचाप ठीक तरहसे भोजन करना।'

प्रभुकी प्रेममिश्रित मीठी डाँटको सुनकर बालकोंकी भाँति चौंककर और बनावटी गम्भीरता धारण करके कानोंपर हाथ रखते हुए नित्यानन्दजी कहने लगे—'बाप रे! चञ्चलता! चञ्चलता कैसी? हम तो चञ्चलता जानते तक नहीं। चञ्चलता तो पागल लोग किया करते हैं, हम क्या पागल हैं जो चञ्चलता करेंगे?'

इन्हें इस प्रकार स्वाँग करते देखकर प्रभुने इनकी पीठपर एक हल्की-सी थाप जमाते हुए कहा—'अच्छा चलिये, देर

करनेका काम नहीं। यह तो हम जानते हैं कि आप अपनी आदत-को कहीं छोड़ थोड़े ही देंगे, किन्तु देखना वहाँ जरा सम्हलकर रहना।' यह कहते-कहते दोनों भाई आपसमें प्रेमकी बातें करते हुए घर पहुँचे। माता भोजन बना ही रही थी, कि ये दोनों पहुँच गये। पहुँचते ही नित्यानन्दजीने बालकोंकी भाँति बड़े जोरसे कहा—'अम्मा! बड़ी भूख लग रही है। पेटमें चूहे-से कूद रहे हैं। अभी कितनी देर है, मेरे तो भूखके कारण प्राण निकले जा रहे हैं।' प्रभुने इन्हें संकेतसे ऐसा न करनेको कहा। तब आप फिर उसी तरह जोरोंसे कहने लगे—'देख अम्मा! गौर मुझे रोक रहे हैं, भला भूख लगनेपर भोजन भी न माँगूँ!' माता इनकी ऐसी भोली-भाली बातें सुनकर हँसने लगीं। उन्होंने जल्दीसे दो थालियोंमें भोजन परोसा। विष्णुप्रियाजीने दोनोंके हाथ-पैर धुलाये। हाथ-पैर धोकर दोनों भोजन करने बैठे। माता प्रेमसे अपने दोनों पुत्रोंको परोसने लगी। प्रभुके साथमें और भी उनके दो-चार अन्तरङ्ग भक्त आ गये थे। वे उन दोनों भाइयोंको इस प्रकार प्रेमपूर्वक भोजन करते देख प्रेम-सागरमें आनन्दके साथ गोते लगाने लगे। दोनों भाइयोंको भोजन कराते हुए माता ऐसी प्रतीत होने लगी मानो श्रीकौशल्याजी अपने श्रीराम और लक्ष्मण दोनों प्रिय पुत्रोंको भोजन करा रही हों अथवा यशोदा मैया श्रीकृष्ण-बलरामको साथ ही बिठाकर छाक खिला रही हों। माताका अन्तःकरण उस समय प्रसन्नताके कारण

अत्यन्त ही आनन्दित हो रहा था। उनका अगाध मातृ-
उमड़ा ही पड़ता था। दोनों भाई भोजन करते-करते भाँति-भाँ
की विनोदपूर्ण बातें कहते जाते थे। भोजन करके प्रभु चु
चाप बैठ गये, नित्यानन्दजी भोजन करते ही रहे। प्रभु
थालीमें बहुत-सा भात बचा हुआ देखकर नित्यानन्दजी बोले-
'यह क्यों छोड़ दिया है, इसे भी खाना होगा।' प्रभुने असमर्थ
प्रकट करते हुए कहा—'बस; अब नहीं। अब तो बहुत पेट
गया है।' प्रभुकी थालीमेंसे भातकी मुट्ठी भरते हुए नित्यानन्द
कहने लगे—'अच्छा तुम मत खाओ मैं ही खाऊँगा।' यह कहक
प्रभुके उच्छिष्ट भात नित्यानन्दजी खाने लगे। प्रभुने जल्दी
उनका हाथ पकड़ लिया। नित्यानन्दजी खाते-खाते ही चौके
से उठकर भागने लगे। प्रभु भी उनका हाथ पकड़े हुए उन
पीछे-पीछे दौड़ने लगे। इस प्रकार आँगनमें दोनोंमें ही गुत्थ
गुत्था होने लगी। नित्यानन्दजी उस भातको खा ही गये
शचीमाता इन दोनोंके ऐसे स्नेहको देखकर प्रेमके कारण
बेहोश-सी हो गयीं, उन्हें प्रेमावेशमें मूर्छा-सी आ गयी। माताव
ऐसी दशा देखकर प्रभु जल्दीसे हाथ-पैर धोकर चौकेमें गये औ
माताको अपने हाथोंसे वायु करने लगे। कुछ देरके पश्चा
माताको होश आया। माताने प्रेमके आँसू बहाते हुए अप
दोनों पुत्रोंको आशीर्वाद दिया। माताका शुभाशीर्वाद पाक
दोनों ही परम प्रसन्न हुए और दोनोंने माताकी चरण-वन्दन

की। नित्यानन्दजीको पहुँचानेके निमित्त प्रभु उनके साथ श्री-वासके घरतक गये।

इस प्रकार नित्यानन्दजी महाप्रभुकी सन्निधिमें रहकर अनिर्वचनीय सुखका रसास्वादन करने लगे। वे प्रभुके सदा साथ-ही-साथ लगे रहते। प्रभु जहाँ भी जाते, जिस भक्तके भी घर पधारते, नित्यानन्दजी उनके पीछे जरूर होते। महाप्रभुको भी नित्यानन्दजीके बिना कहीं जाना अच्छा नहीं लगता। सभी भक्त प्रभुको अपने-अपने घरोंपर बुलाते और अपनी-अपनी भावनाके अनुसार प्रभुके शरीरमें भाँति-भाँतिके अवतारोंके दर्शनों-का अनुभव करते। प्रभु भी भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते। कभी तो आप नृसिंहजीके आवेशमें आकर जोरोंसे हुंकार करने लगते। कभी प्रह्लादके भावमें दीन-हीन भक्तकी भाँति गद्गद-कण्ठसे प्रभुकी स्तुति करने लगते। कभी आप श्रीकृष्णभावसे मथुरा जानेका अभिनय रचते और कभी अक्रूरके भावमें जोरोंसे रुदन करने लगते। कभी व्रजके ग्वाल-बालोंकी तरह क्रीड़ा करने लगते और कभी उद्धवकी भाँति प्रेममें अधीर होकर रोने लगते। इस प्रकार नित्यानन्दजी तथा अन्य भक्तोंके साथ नवद्वीपचन्द्र श्री-गौराङ्ग भाँति-भाँतिकी लीलाओंके सुप्रकाशद्वारा सम्पूर्ण नवद्वीप-को अपने अमृतमय शीतल प्रकाशसे प्रकाशित करने लगे।

द्विविधि-भाव

> भगवद्भावेन यः शश्वत् भक्तभावेन चैव तत्।
> भक्तानानन्दयते नित्यं तं चैतन्यं नमाम्यहम्॥*
> (प्र० द० ब्र०)

प्रत्येक प्राणीकी भावना भिन्न प्रकारकी होती है। अरण्यमें खिले हुए जिस मालतीके पुष्पको देखकर सहृदय कवि आनन्दमें विभोर होकर उछलने और नृत्य करने लगता है, जिस पुष्पमें वह विश्वके सम्पूर्ण सौन्दर्यका अनुभव करने लगता है, उसको ग्रामके चरवाहे रोज देखते हैं, उस ओर उनकी दृष्टितक नहीं जाती। उनके लिये उस पुष्पका अस्तित्व उतना ही है, जितना कि रास्तेमें पड़ी हुई काठ, पत्थर तथा अन्य सामान्य वस्तुओंका। वे उस पुष्पमें किसी भी प्रकारकी विशेष भावनाका आरोप नहीं करते। असलमें यह प्राणी भावमय है। जिसमें जैसे भाव होंगे उसे उस वस्तुमें वे ही भाव दृष्टिगोचर होंगे। इसी भावको लेकर तो गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

> जाकी रही भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन तैसी॥

महाप्रभुके शरीरमें भी भक्त अपनी-अपनी भावनाके अनुसार नाना रूपोंके दर्शन करने लगे। कोई तो प्रभुको वराहके रूपमें देखता, कोई उनके शरीरमें नृसिंहरूपके दर्शन करता,

---

* जो निरन्तर भक्त-भाव और भगवत्-भाव इन दोनों भावोंसे भक्तोंको आनन्दित बनाते रहते हैं, उन श्रीचैतन्य महाप्रभुके लिये हम नमस्कार करते हैं।

कोई वामनभावका अध्यारोप करता। किसीको प्रभुकी मूर्ति श्यामसुन्दररूपमें दिखायी देती, किसीको षड्भुजी मूर्तिके दर्शन होते। कोई प्रभुके इस शरीरको न देखकर उन्हें चतुर्भुज रूपसे देखता और उनके चारों हस्तोंमें उसे प्रत्यक्ष शंख, चक्र, गदा और पद्म दिखायी देते। इस प्रकार एक ही प्रभुके श्रीविग्रह-को भक्त भिन्न-भिन्न प्रकारसे देखने लगे। जिसे प्रभुके चतुर्भुज रूपके दर्शन होते, उसे ही प्रभुकी चारों भुजाएँ दीखतीं, अन्य लोगोंको वही उनका सामान्य रूप दिखायी देता। जिसे प्रभुका शरीर ज्योतिर्मय दिखायी देता और प्रकाशके अतिरिक्त उसे प्रभु-की और मूर्ति दिखायी ही नहीं देती, उसीकी आँखोंमें वह प्रकाश छा जाता, साधारणतः सामान्य लोगोंको वह प्रकाश नहीं दीखता, उन लोगोंको प्रभुके उसी गौररूपके दर्शन होते रहते।

सामान्यतया प्रभुके शरीरमें भगवत्-भाव और भक्त-भाव ये दो ही भाव भक्तोंको दृष्टिगोचर होते। जब इन्हें भगवत्-भाव होता, तब ये अपने आपेको बिलकुल भूल जाते, निःसङ्कोच-भावसे देवमूर्तियोंको हटाकर स्वयं भगवान्‌के सिंहासनपर विराजमान हो जाते और अपनेको भगवान् कहने लगते। उस अवस्थामें भक्त-वृन्द उनकी भगवान्‌की तरह विधिवत् पूजा करते, इनके चरणोंको गङ्गा-जलसे धोते, पैरोंपर पुष्प-चन्दन तथा तुलसी-पत्र चढ़ाते। भाँति-भाँतिके उपहार इनके सामने रखते। उस समय ये इन कामोंमें कुछ भी आपत्ति नहीं करते, यही नहीं किन्तु बड़ी ही प्रसन्नतापूर्वक भक्तोंकी की हुई पूजाको ग्रहण

करते और उनसे आशीर्वाद माँगनेका भी आग्रह करते और उन्हें इच्छानुसार वरदान भी देते। यही बात नहीं कि ऐसा भाव इन्हें भगवान्‌का ही आवे, नाना देवी-देवताओंका भाव भी आ जाता था। कभी तो बलदेवके भावमें लाल-लाल आँखें करके जोरोंसे हुंकार करते और 'मदिरा-मदिरा' कहकर शराब माँगते, कभी इन्द्रके आवेशमें आकर वज्रको घुमाने लगते। कभी सुदर्शन-चक्रका आह्वान करने लगते।

एक दिन एक जोगी बड़े ही सुमधुर स्वरसे डमरू बजाकर शिवजीके गीत गा-गाकर भिक्षा माँग रहा था। भीख माँगते-माँगते वह इनके भी घर आया। शिवजीके गीतोंको सुनकर इन्हें महादेवजीका भाव आ गया और अपनी लटोंको बखेरकर शिवजीके भावमें उस गानेवालेके कन्धेपर चढ़ गये और जोरोंके साथ कहने लगे—'मैं ही शिव हूँ, मैं ही शिव हूँ। तुम वरदान माँगो, मैं तुम्हारी स्तुतिसे बहुत प्रसन्न हूँ।' थोड़ी देरके अनन्तर जब इनका वह भाव समाप्त हो गया तो कुछ अचेतन-से होकर उसके कन्धेपरसे उतर पड़े और उसे यथेच्छ भिक्षा देकर विदा किया।

इस प्रकार भक्तोंको अपनी-अपनी भावनाके अनुसार नाना रूपोंके दर्शन होने लगे और इन्हें भी विभिन्न देवी-देवताओं तथा परम भक्तोंके भाव आने लगे। जब वह भाव शान्त हो जाता, तब ये उस भावमें कही हुई सभी बातोंको एकदम भूल जाते और एकदम दीन-हीन विनम्र भक्तकी भाँति आचरण करने लगते। तब इनका दीन-भाव पत्थर-से-पत्थर हृदयको भी पिघलाने-

वाला होता। उस समय ये अपनेको अत्यन्त ही दीन, अधम और तुच्छ बताकर जोरोंके साथ रुदन करते। भक्तोंका आलिंगन करके फूट-फूटकर रोने लगते और रोते-रोते कहते—'श्रीकृष्ण कहाँ चले गये? भैया ओ! मुझे श्रीकृष्णसे मिलाकर मेरे प्राणों-को शीतल कर दो। मेरी विरह-वेदनाको श्रीकृष्णका पता बताकर शान्ति प्रदान करो। मेरा मोहन मुझे त्रिलखता छोड़कर कहाँ चला गया!' इसी प्रकार प्रेममें विह्वल होकर अद्वैताचार्य आदि वृद्ध भक्तोंके पैरोंको पकड़ लेते और उनके पैरोंमें अपना माथा रगड़ने लगते। सबको बार-बार प्रणाम करते। यदि उस समय इनकी कोई पूजा करनेका प्रयत्न करता अथवा इन्हें भगवान् कह देता तो ये दुःखी होकर गङ्गाजीमें कूदनेके लिये दौड़ते। इसीलिये इनकी साधारण दशामें न तो इनकी कोई पूजा ही करता और न इन्हें भगवान् ही कहता। वैसे भक्तोंके मनमें सदा एक ही भाव रहता।

जब ये साधारण भावमें रहते, तब एक अमानी भक्तके समान श्रद्धा-भक्तिके सहित गङ्गाजीको साष्टाङ्ग प्रणाम करते, गङ्गाजलका आचमन करते। ठाकुरजीका विधिवत् पूजन करते तथा तुलसीजीको जल चढ़ाते और उनकी भक्तिभावसे प्रदक्षिणा करते। भगवत्-भावमें इन सभी बातोंको भुलाकर स्वयं ईश्वरीय आचरण करने लगते। भावावेशके अनन्तर यदि इनसे कोई कुछ पूछता तो बड़ी ही दीनताके साथ उत्तर देते—'भैया, हमें कुछ पता नहीं, कि हम अचेतनावस्थामें न जाने क्या-क्या

बक गये। आप लोग इन बातोंका कुछ बुरा न मानें। हमारे अपराधोंको क्षमा ही करते रहें, ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे अचेतनावस्थामें भी हमारे मुखसे कोई ऐसी बात न निकलने पावे जिसके कारण हम आपके तथा श्रीकृष्णके सम्मुख अपराधी बनें।'

संकीर्तनमें भी ये दो भावोंसे नृत्य करते। कभी तो भक्त-भावसे बड़ी ही सरलताके साथ नृत्य करते। उस समयका इनका नृत्य बड़ा ही मधुर होता। भक्त-भावमें ये संकीर्तन करते-करते भक्तोंकी चरण-धूलि सिरपर चढ़ाते और उन्हें बार-बार प्रणाम करते। बीच-बीचमें पछाड़ें खा-खाकर गिर पड़ते। कभी-कभी तो इतने जोरोंके साथ गिरते कि सभी भक्त इनकी दशा देखकर घबड़ा जाते थे। शचीमाता तो कभी इन्हें इस प्रकार पछाड़ खाकर गिरते देख परम अधीर हो जातीं और रोते-रोते भगवान्से प्रार्थना करतीं कि 'हे अशरण-शरण! मेरे निमाईको इतना दुःख मत दो।' इसीलिये सभी भक्त संकीर्तनके समय इनकी बड़ी देख-रेख रखते और इन्हें चारों ओरसे पकड़े रहते, कि कहीं मूर्च्छित होकर गिर न पड़ें।

कभी-कभी ये भावावेशमें आकर भी संकीर्तन करने लगते। तब इनका नृत्य बड़ा ही अद्भुत और अलौकिक होता था, उस समय इन्हें स्पर्श करनेकी भक्तोंको हिम्मत नहीं होती थी, ये नृत्यके समयमें जोरोंसे हुंकार करने लगते। इनकी हुंकारसे दिशाएँ गूँजने लगतीं और पदाघातसे पृथ्वी हिलने-सी लगती।

उस समय सभी कीर्तन करनेवाले भक्त विस्मित-से होकर एक प्रकारके आकर्षणमें खिंचे हुए-से मन्त्र-मुग्धकी भाँति सभी क्रियाओंको करते रहते। उन्हें बाह्य ज्ञान बिलकुल रहता ही नहीं था। उस नृत्यसे सभीको बड़ा ही आनन्द प्राप्त होता था। इस प्रकार कभी-कभी तो नृत्य-संकीर्तन करते-करते पूरी रात्रि बीत जाती और खूब दिन भी निकल आता तो भी संकीर्तन समाप्त नहीं होता था।

एक-एक करके बहुत-से भावुक भक्त नवद्वीपमें आ-आकर वास करने लगे और श्रीवासके घर संकीर्तनमें आकर सम्मिलित होने लगे। धीरे-धीरे भक्तोंका एक अच्छा खासा परिकर बन गया। इनमें अद्वैताचार्य, नित्यानन्द प्रभु और हरिदास ये तीन प्रधान भक्त समझे जाते थे। वैसे तो सभी प्रधान थे, भक्तोंमें प्रधान-अप्रधान भी क्या? किन्तु ये तीनों सर्वस्वत्यागी, परम विरक्त और महाप्रभुके बहुत ही अन्तरङ्ग भक्त थे। श्रीवासको छोड़कर इन्हीं तीनोंपर प्रभुकी अत्यन्त कृपा थी। इनके ही द्वारा वे अपना सब काम कराना चाहते थे। इनमेंसे श्रीअद्वैताचार्य और अवधूत नित्यानन्दजीका सामान्य परिचय तो पाठकोंको प्राप्त हो ही चुका है। अब भक्ताग्रगण्य श्रीहरिदासका संक्षिप्त परिचय पाठकोंको अगले अध्यायोंमें मिलेगा। इन महाभागवत वैष्णव-शिरोमणि भक्तने नाम-जपका जितना माहात्म्य प्रकट किया है, उतना भगवन्नामका माहात्म्य किसीने प्रकट नहीं [illegible] इन्हें भगवन्नाम-माहात्म्यका सजीव अवतार ही समझना [illegible]

भक्त हरिदास

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३ । ३३ । ७)

जिनकी तनिक-सी कृपाकी कोरके ही कारण यह नामरूपात्मक सम्पूर्ण संसार स्थित है, जिनके भ्रूभङ्गमात्रसे ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपना सभी कार्य बन्द कर देती है, उन अखिलकोटि-ब्रह्माण्डनायक भगवान्के नाम-माहात्म्यका वर्णन बेचारी अपूर्ण भाषा कर ही क्या सकती है? हरि-नाम-स्मरणसे क्या नहीं हो सकता? भगवन्नाम-जपसे कौन-सा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता? जिसकी जिह्वाको सुमधुर श्रीहरिके नामरूपी रसका चस्का लग गया है, उसके लिये फिर संसारमें प्राप्य वस्तु ही क्या रह जाती है! यज्ञ, याग, जप, तप, ध्यान, पूजा, निष्ठा, योग, समाधि सभीका फल भगवन्नाममें प्रीति होना ही

---

* अहा हा! हे प्रभो! जिसकी जिह्वापर तुम्हारा सुमधुर नाम सदा बना रहता है, वह यदि जातिका श्वपच भी हो तो उन ब्राह्मणोंसे भी अत्यन्त पवित्र है, जो तुम्हारे नामकी अवहेलना करके निरन्तर यज्ञ-यागादि कर्मोंमें ही लगे रहते हैं। हे भगवन्! जो तुम्हारे त्रैलोक्य-पावन नामका संकीर्तन करते हैं, उन्होंने ही यथार्थमें सम्पूर्ण तपोंका, सस्वर वेदका, विधिवत् हवनका और सभी तीर्थोंका फल प्राप्त किया है, क्योंकि तुम्हारे पुण्य-नामोंमें सभी पुण्य-कर्मोंका फल निहित है।

है, यदि इन कर्मोंके करनेसे भगवन्नाममें प्रीति नहीं हुई, तो इन कर्मोंको व्यर्थ ही समझना चाहिये। इन सभी क्रियाओंका अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ फल यही है, कि भगवन्नाममें निष्ठा हो। साध्य तो भगवन्नाम ही है, और सभी कर्म तो उसके साधनमात्र हैं। नाम-जपमें देश, काल, पात्र, जाति, वर्ण, समय-असमय, शुचि-अशुचि इन सभी बातोंका विचार नहीं होता। तुम जैसी हालतमें हो, जहाँ हो, जैसे हो, जिस-किसी भी वर्णके हो, जैसी भी स्थितिमें हो, हर समय और हर कालमें श्रीहरिके सुमधुर नामोंका संकीर्तन कर सकते हो। नाम-जपसे पापी-से-पापी मनुष्य भी परम पावन बन जाता है, अत्यन्त नीच-से-नीच भी सर्वपूज्य समझा जाता है, छोटे-से-छोटा भी सर्वश्रेष्ठ हो जाता है और बुरे-से-बुरा भी महान् भगवत्-भक्त बन जाता है। कबीरदासजी कहते हैं—

नाम जपत कुष्ठी भलो, चुइ-चुइ गिरै जो चाम।
कंचन देह किस कामकी, जिहि मुख नाहीं राम॥

भक्ताग्रगण्य महात्मा हरिदासजी यवन-कुलमें उत्पन्न होनेपर भी भगवन्नामके प्रभावसे भगवत्-भक्त वैष्णवोंके प्रातःस्मरणीय बन गये। इन महात्माकी भगवन्नाममें अलौकिक निष्ठा थी।

महात्मा हरिदासजीका जन्म बंगालके यशोहर-जिलेके अन्तर्गत 'बुड़न' नामके एक ग्राममें हुआ था। ये जातिके मुसलमान थे। मालूम होता है, बाल्य-कालमें ही इनके माता-पिता इन्हें मातृ-पितृ-हीन बनाकर परलोकगामी बन गये थे,

इसीलिये ये छोटेपनसे ही घर-द्वार छोड़कर निरन्तर हरि-नामका संकीर्तन करते हुए विचरने लगे। पूर्व-जन्मके कोई शुभ संस्कार ही थे, भगवान्‌की अनन्य कृपा थी, इसीलिये मुसलमान-वंशमें उत्पन्न होकर भी इनकी भगवन्नाममें स्वाभाविक ही निष्ठा जम गयी। भगवान्‌ने अनेकों बार कहा है—*'यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः'* अर्थात् जिसे मैं कृपा करके अपनी शरणमें लेता हूँ, सबसे पहिले धीरेसे उसका सर्वस्व अपहरण कर लेता हूँ। उसके पास अपना कहनेके लिये किसी भी प्रकारका धन नहीं रहने देता। सबसे पहिले भगवान्‌की इनके ऊपर यही एक बड़ी भारी कृपा हुई। अपना कहनेके लिये इनके पास एक काठका कमण्डलु भी नहीं था। भूख लगनेपर ये गाँवोंसे भिक्षा माँग लाते और भिक्षामें जो भी कुछ मिल जाता। उसे चौबीस घण्टेमें एक ही बार खाकर निरन्तर भगवन्नामका जप करते रहते। घर छोड़कर ये बनग्रामके समीप बेनापोल नामके घोर निर्जन वनमें फूँसकी कुटी बनाकर अकेले ही रहते थे। इनके तेज और प्रभावसे वहाँके सभी प्राणी एक प्रकारकी अलौकिक शान्तिका अनुभव करते। जो भी जीव इनके सम्मुख आता वही इनके प्रभावसे प्रभावान्वित हो जाता। ये दिन-रात्रिमें तीन लाख भगवन्नामोंका जप करते थे, सो भी धीरे-धीरे नहीं, किन्तु खूब उच्च स्वरसे। भगवन्नामका ये उच्च स्वरसे जप इसलिये करते थे, कि सभी चर-अचर प्राणी प्रभुके पवित्र नामोंके श्रवणसे पावन हो जायँ। प्राणीमात्रकी

निष्कृतिका ये भगवन्नामको ही एकमात्र साधन समझते थे। इससे थोड़े ही दिनोंमें इनका यशःसौरभ दूर-दूरतक फैल गया। बड़ी-बड़ी दूरसे लोग इनके दर्शनको आने लगे। दुष्ट बुद्धिके ईर्ष्यालु लोगोंको इनका इतना यश असह्य हो गया। वे इनसे अकारण ही द्वेष मानने लगे। उन ईर्ष्यालुओंमें वहाँका एक *रामचन्द्रखाँ नामका बड़ा भारी ज़मींदार भी था।* वह इन्हें किसी प्रकार नीचा दिखाना चाहता था। इनके बढ़े हुए यशको धूलिमें मिलानेकी बात वह सोचने लगा। साधकोंको पतित करनेके कामिनी और काञ्चन ये ही दो भारी प्रलोभन हैं, इनमें कामिनीका प्रलोभन तो सर्वश्रेष्ठ ही समझा जाता है। रामचन्द्रखाँने उसी प्रलोभनके द्वारा हरिदासको नीचा दिखानेका निश्चय किया। किन्तु उनकी रक्षा तो उनके साईं ही सदा करते थे। फिर चाहे सम्पूर्ण संसार ही उनका वैरी क्यों न हो जाता, उनका कभी बाल बाँका कैसे हो सकता था? किन्तु नीच पुरुष अपनी नीचतासे बाज थोड़े ही आते हैं। रामचन्द्र-खाँने एक अत्यन्त ही सुन्दरी षोडशवर्षीया वेश्याको इनके भजनमें भंग करनेके लिये भेजा। वह रूपगर्विता वेश्या भी इन्हें पतित करनेकी प्रतिज्ञा करके खूब सजधजके साथ हरिदासजी-के आश्रमपर पहुँची। उसे अपने रूपका अभिमान था, उसकी समझ थी, कि कोई भी पुरुष मेरे रूप-लावण्यको देखकर बिना रीझे नहीं रह सकता। किन्तु जो हरिनामपर रीझे हुए हैं, उनके लिये यह बाहरी सांसारिक रूप-लावण्य परम तुच्छ

ऐसे हरिजन इस रूप-लावण्यकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते।

ओहो! कितना भारी महान् त्याग है, कैसा अपूर्व वैराग्य है, कितना अद्भुत इन्द्रियनिग्रह है! पाठक अपने-अपने हृदयोंपर हाथ रखकर अनुमान तो करें। सुन-सान जंगल, हरिदासकी युवावस्था, एकान्त शान्त स्थान, परम रूप-लावण्य-युक्त सुन्दरी और वह भी हरिदाससे स्वयं ही प्रणयकी भीख माँगे और उस विरक्त महापुरुषके हृदयमें किञ्चिन्मात्र भी विकार उत्पन्न न हो, वे अविचल भावसे उसी प्रकार बराबर श्रीकृष्ण-कीर्तनमें ही निमग्न बने रहे। मनुष्यकी बुद्धिके परेकी बात है। वाराङ्गना वहाँ जाकर चुपचाप बैठी रही। हरिदासजी धाराप्रवाहरूपसे इस महामन्त्रका जप करते रहे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

दिन बीता, शाम हुई। रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ। इसी प्रकार चार दिन व्यतीत हो गये। वाराङ्गना रोज आती और रोज ज्यों-की-त्यों ही लौट जाती। कभी-कभी बीचमें साहस करके हरिदासजीसे कुछ बातें करनेकी इच्छा प्रकट करती, तो हरिदासजी बड़ी ही नम्रताके साथ उत्तर देते—'आप बैठें, मेरे नाम-जपकी संख्या पूरी हो जाने दीजिये, तब मैं आपकी बातें सुन सकूँगा।' किन्तु नाम-जपकी संख्या दस पाँच या हजार दो हजार तो थी ही नहीं, पूरे तीन लाख नामों-

का जप करना था, सो भी उच्च स्वरसे गायनके साथ। इसलिये चारों दिन उसे निराश ही होना पड़ा। सुबहसे आती, दोपहर तक बैठती, हरिदासजी लयसे गायन करते रहते—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

बेचारी बैठे-बैठे स्वयं भी इसी मन्त्रको कहती रहती। शामको आती तो आधी रात्रितक बैठी रहती। हरिदासजीका जप अखण्डरूपसे चलता रहता—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

चार दिन निरन्तर हरिनामस्मरणसे उसके सभी पापोंका क्षय हो गया। पापोंके क्षय हो जानेसे उसकी बुद्धि एकदम बदल गयी, अब तो उसका हृदय उसे बार-बार धिक्कार देने लगा। ऐसे महापुरुषके निकट मैं किस बुरे भावसे आयी थी, इसका स्मरण करके वह मन-ही-मन अत्यन्त ही दुखी होने लगी। अन्तमें उससे नहीं रहा गया। वह अत्यन्त ही दीन-भावसे हरिदासजीके चरणोंमें गिर पड़ी और आँखोंसे आँसू बहाते हुए गद्गदकण्ठसे कहने लगी—'महाभाग, सचमुच ही आप पतित-पावन हैं। आप जीवोंपर अहैतुकी कृपा ही करते हैं। आप परम दयालु हैं, अपनी कृपाके लिये आप पात्र-अपात्रका विचार न करके प्राणीमात्रके प्रति समान-भावसे ही दया करते मुझ-जैसी पतिता, लोकनिन्दिता और खोटी बुद्धिवाली

नारीके ऊपर भी आपने अपनी असीम अनुकम्पा प्रदर्शित की। भगवन्! मैं खोटी बुद्धिसे आपके पास आयी थी, किन्तु आपके सत्सङ्गके प्रभावसे मेरे वे भाव एकदम बदल गये। श्रीहरिके सुमधुर नामोंके श्रवणमात्रसे ही मेरे कलुषित विचार भस्मीभूत हो गये। अब मैं आपके चरणोंकी शरण हूँ, मुझ पतिता अबलाका उद्धार कीजिये। मेरे घोर पापोंका प्रायश्चित्त बताइये, क्या मेरी भी निष्कृतिका कोई उपाय हो सकता है!' इतना कहते-कहते वह हरिदासके चरणोंमें लोटने लगी।

हरिदासजीने उसे आश्वासन देते हुए कहा—'देवि! उठो, घबड़ानेकी कोई बात नहीं। श्रीहरि बड़े दयालु हैं, वे नीच, पामर, पतित सभी प्रकारके प्राणियोंका उद्धार करते हैं। उनके दरबारमें भेद-भाव नहीं। भगवन्नामके सम्मुख भारी-से-भारी पाप नहीं रह सकते। भगवन्नाममें पापोंको क्षय करनेकी इतनी भारी शक्ति है, कि चाहे कोई कितना भी घोर पापी-से-पापी क्यों न हो, उतने पाप वह कर ही नहीं सकता, जितने पापोंको मेटनेकी हरिनाममें शक्ति है। तुमने पाप-कर्मसे जो पैसा पैदा किया है, उसे अभ्यागतोंको बाँट दो और निरन्तर हरिनामका कीर्तन करो। इसीसे तुम्हारे सब पाप दूर हो जायँगे और श्रीभगवान्के चरणोंमें तुम्हारी प्रगाढ़ प्रीति हो जायगी। बस—

हरे राम ... हरे।
हरे कृष्ण ... हरे॥

इस महामन्त्र

निरन्तर जप करती रहो। अब इस कुटियामें हम नहीं रहेंगे तुम्हीं इसमें रहो।' उस वेश्याको ऐसा उपदेश करके महाभागवत हरिदासजी सीधे शान्तिपुर चले गये और वहाँ जाकर अद्वैताचार्यजीके समीप अध्ययन और श्रीकृष्ण-संकीर्तनमें सदा संलग्न रहने लगे।

इस वारवनिताने भी हरिदासजीके आदेशानुसार अपना सर्वस्व दान करके अकिञ्चनोंका-सा वेश धारण कर लिया। वह फटे-पुराने चिथड़ोंको शरीरपर लपेटकर और भिक्षान्नसे उदर-निर्वाह करके अपने गुरुदेवके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करने लगी। थोड़े ही समयमें उसकी भक्तिकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। बहुत-से लोग उसके दर्शनके लिये आने लगे। वह हरिदासीके नामसे सर्वत्र प्रसिद्ध हो गयी। लोग उसका बहुत अधिक आदर करने लगे। महापुरुषोंने सत्य ही कहा है, कि महात्माओंका खोटी बुद्धिसे किया हुआ सत्सङ्ग भी व्यर्थ नहीं जाता। सत्सङ्गकी महिमा ही ऐसी है।

इधर रामचन्द्रखाँने अपने कुकृत्यका फल यहींपर प्रत्यक्ष पा लिया। नियत समयपर बादशाहको पूरा लगान न देनेके अपराधमें उसे भारी दण्ड दिया गया। बादशाहके आदमियोंने उसके घरमें आकर अखाद्य पदार्थोंको खाया और उसे स्त्री-बच्चे-सहित बाँधकर वे राजाके पास ले गये, उसे और भी भाँति-भाँतिकी यातनाएँ सहनी पड़ीं। सच है, जो जैसा करता है उसे उसका फल अवश्य ही मिलता है।

हरिदासकी नाम-निष्ठा

रामनामजपतां कुतो भयं
सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात ! मम गात्रसन्निधौ
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥*
(अनर्घराघव ना०)

जप, तप, भजन, पूजन तथा लौकिक, पारलौकिक सभी प्रकारके कार्योंमें विश्वास ही प्रधान है । जिसे जिसपर जैसा विश्वास जम गया, उसे उसके द्वारा वैसा ही फल प्राप्त हो सकेगा। फलका प्रधान हेतु विश्वास ही है । विश्वासके सम्मुख कोई बात असम्भव नहीं । असम्भव तो अविश्वासका पर्यायवाची शब्द है । विश्वासके सामने सभी कुछ सम्भव है । विश्वासके ही सहारे चरणामृत मानकर मीरा विष पान कर गयी, नामदेवने पत्थरकी

---

* अग्निमें जलाये जानेपर भी जब प्रह्लादजी न जले तब वे अपने पिता हिरण्यकशिपुसे निर्भीक भावसे कहने लगे—'श्रीरामनामके जपनेवाले को भला भय कहाँ हो सकता है ? क्योंकि सभी प्रकारके आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक तापोंको शमन करनेवाली राम-नामरूपी महा रसायन है, उसके पान करनेवालेके पास भला ताप आ ही कैसे सकते हैं ! हे पिताजी ! प्रत्यक्षके लिये प्रमाण क्या, आप देखते नहीं मेरे शरीरके अंगोंके समीप आते ही उष्ण-स्वभावकी अग्नि भी जलके समान शीतल हो गयी । अर्थात् वह मेरे शरीरको जला ही न सकी राम-नामका ऐसा ही माहात्म्य है ।

मूर्तिको भोजन कराया, धन्ना भगतका बिना बोया ही खेत उपज आया और रैदासजीने भगवान्‌की मूर्तिको सजीव करके दिखला दिया। ये सब भक्तोंके दृढ़ विश्वासके ही चमत्कार हैं। जिनकी भगवन्नामपर दृढ़ निष्ठा है, उन्हें भारी-से-भारी विपत्ति भी साधारण-सी घटना ही मालूम पड़ने लगती है। वे भयङ्कर-से-भयङ्कर विपत्तिमें भी अपने विश्वाससे विचलित नहीं होते। ध्रुव तथा प्रह्लादके लोकप्रसिद्ध चरित्र इसके प्रमाण हैं, ये चरित्र तो बहुत प्राचीन हैं, कुछ लोग इनमें अर्थवादका भी आरोप करते हैं, किन्तु महात्मा हरिदासजीकी नाम-निष्ठाका ज्वलन्त प्रमाण तो अभी कल ही परसोंका है। जिन लोगोंने प्रत्यक्षमें उनका संसर्ग और सहवास किया था, तथा जिन्होंने अपनी आँखोंसे उनकी भयङ्कर यातनाओंका दृश्य देखा था, उन्होंने स्वयं इनका चरित्र लिखा है। ऐसी भयङ्कर यातनाओंको क्या कोई साधारण मनुष्य सह सकता है? बिना भगवन्नाममें दृढ़ निष्ठा हुए क्या कोई इस प्रकार अपने निश्चयपर अटल भावसे अड़ा रह सकता है? कभी नहीं, जबतक हृदयमें दृढ़ विश्वासजन्य भारी बल न हो, तबतक ऐसी दृढ़ता सम्भव ही नहीं हो सकती।

बेनापोलकी निर्जन कुटियामें वारवनिताका उद्धार करके और उसे अपनी कुटियामें रखकर महात्मा हरिदास शान्तिपुरमें आकर अद्वैताचार्यजीके सत्सङ्गमें रहने लगे। शान्तिपुरके समीप ही फुलिया नामके ग्राममें एकान्त समझकर वहीं इन्होंने अपनी एक छोटी-सी कुटिया बना ली और उसीमें भगवन्नामका

अहर्निश कीर्तन करते हुए निवास करने लगे। यह तो
पहिले ही बता चुके हैं, कि उस समय सम्पूर्ण देशमें
मानोंका प्राबल्य था। विशेषकर बङ्गालमें तो मुसलमानी
और मुसलमानी धर्मका अत्यधिक ज़ोर था। इस्लाम-
विरुद्ध कोई चूँ तक नहीं कर सकता था। स्थान-स्थानपर
धर्मके प्रचारके निमित्त काजी नियुक्त थे, वे जिसे भी
धर्मके प्रचारमें विघ्न समझते, उसे ही बादशाहसे भारी
दिलाते, जिससे फिर किसी दूसरेको इस्लाम-धर्मके प्रचारमें
अटकानेका साहस न हो। एक प्रकारसे उस समयके क
धर्ता तथा विधाता धर्मके ठेकेदार काजी ही थे। शासन-स
पर पूरा प्रभाव होनेके कारण काजी उस समयके बादशाह
समझे जाते थे। फुलियाके आसपासमें गोराई नामका एक क
भी इसी कामके लिये नियुक्त था। उसने जब हरिदासजी
इतना प्रभाव देखा तब तो उसकी ईर्ष्याका ठिकाना नहीं र
वह सोचने लगा—'हरिदासके इतने बढ़ते प्रभावको यदि
न जायगा तो इस्लाम-धर्मको बड़ा भारी धक्का पहुँचेगा। हरि
जातिका मुसलमान है। मुसलमान होकर वह हिन्दुओंके धर्म
प्रचार करता है। सरहकी रूसे यह कुफ्र करता है। वह का
है, इसलिये काफिरको कत्ल करनेसे भी सवाब होता है।
लोग भी इसकी देखादेखी ऐसा ही काम करेंगे। इसलिये
दरबारसे सज़ा दिलानी चाहिये।' यह सोचकर गोराई काजीने
इनके विरुद्ध राजदरबारमें अभियोग चलाया। राजाज्ञासे हरिदास-

गिरफ्तार कर लिये गये और मुलुकपतिके यहाँ इनका
दमा पेश हुआ। मुलुकपति इनके तेज और प्रभावको देखकर
कित रह गया। उसने इन्हें बैठनेके लिये आसन दिया।
दासजीके बैठ जानेपर मुलुकपतिने दयाका भाव दर्शाते हुए
ने स्वाभाविक धार्मिक विश्वासके अनुसार कहा—'भाई,
हारा जन्म मुसलमानके घर हुआ है। यह भगवान्‌की तुम्हारे
र अत्यन्त ही कृपा है। मुसलमानके यहाँ जन्म लेकर
तुम काफिरोंके-से आचरण क्यों करते हो? इससे तुमको
के नहीं मिलेगी। मुक्तिका तो साधन वही है जो इस्लाम-धर्म-
पुस्तक कुरानमें बताया गया है। हमें तुम्हारे ऊपर बड़ी
ा आ रही है, हम तुम्हें दण्ड देना नहीं चाहते। तुम अब भी
वा (अपने पापका प्रायश्चित्त) कर लो और कलमा पढ़कर
हम्मदसाहबकी शरणमें आ जाओ। भगवान् तुम्हारे सभी अपराधों-
ो क्षमा कर देंगे और तुम भी मोक्षके अधिकारी बन जाओगे।'

मुलुकपतिकी ऐसी सरल और सुन्दर बातें सुनकर हरिदास-
ने कहा—'महाशय, आपने जो भी कुछ कहा है, अपने
श्वासके अनुसार ठीक ही कहा है। हरेक मनुष्यका विश्वास
लग-अलग तरहका होता है। जिसे जिस तरहका दृढ़ विश्वास
ता है, उसके लिये उसी प्रकारका विश्वास फलदायी होता है।
सरोंके धमकानेसे अथवा लोभसे जो अपने स्वाभाविक विश्वास-
ो छोड़ देते हैं, वे भीरु होते हैं। ऐसे भीरु पुरुषोंको परमात्मा-
ी प्राप्ति कभी नहीं होती। आप अपने विश्वासके अनुसार

उचित ही कह रहे हैं,किन्तु मैं दण्डके भयसे यदि . . . कीर्तनको छोड़ दूँ, तो इससे मुझे पुण्यके स्थानमें पाप ही होगा ऐसा करनेसे मैं नरकका भागी बनूँगा । मेरी भगवन्नाममें स्वा- विक ही निष्ठा है, इसे मैं छोड़ नहीं सकता । फिर चाहे . . पीछे मेरे प्राण ही क्यों न ले लिये जायँ ।'

इनकी ऐसी युक्तियुक्त बातें सुनकर मुलुकपतिका ... भी पसीज उठा । इनकी सरल और मीठी वाणीमें आकर्षण था। उसीसे आकर्षित होकर मुलुकपतिने कहा—'तुम्हारी बातें तो मेरी भी समझमें कुछ-कुछ आती हैं, किन्तु ये बातें तो हिन्दुओं- के लिये ठीक हो सकती हैं । तुम तो मुसलमान हो, तुम्हें मुसल- मानोंकी ही तरह विश्वास रखना चाहिये ।'

हरिदासजीने कहा—'महाशय, आपका यह कहना ठीक है, किन्तु विश्वास तो अपने अधीनकी बात नहीं है । जैसे पूर्व- के संस्कार होंगे, वैसा ही विश्वास होगा । मेरा भगवन्नामपर ही विश्वास है । कोई हिन्दू जब अपना विश्वास छोड़कर मुसलमान हो जाता है, तब आप उसे दण्ड क्यों नहीं देते ? क्यों नहीं उसे हिन्दू ही बना रहनेको मजबूर करते ? जब हिन्दुओंको अपना धर्म छोड़कर मुसलमान होनेमें आप स्वतन्त्र मानते हैं तब यह स्वतन्त्रता मुसलमानोंको भी मिलनी चाहिये । फिर आप मुझे कलमा पढ़नेको क्यों मजबूर करते हैं ?' इनकी इस बातसे समझदार न्यायाधीश चुप हो गया । तब गोराई काजीने देखा कि यहाँ तो मामला ... जाता है तब उसने

जोरोंके साथ कहा—'हम ये सब बात नहीं सुनना चाहते। इस्लाम-धर्ममें लिखा है, जो इस्लाम-धर्मके अनुसार आचरण करता है उसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, उसके विरुद्ध करनेवाले काफिरोंको नहीं। तुम कुफ्र (अधर्म) करते हो। अधर्म करनेवालोंको दण्ड देना हमारा काम है। इसलिये तुम कलमा पढ़ना स्वीकार करते हो, या दण्ड भोगना! दोनोंमेंसे एकको पसन्द कर लो।'

बेचारा मुलुकपति भी मजबूर था। इस्लाम-धर्मके विरुद्ध वह भी कुछ नहीं कह सकता था। काजियोंके विरुद्ध न्याय करनेकी उसकी हिम्मत नहीं थी। उसने भी गोराई काजीकी बातका समर्थन करते हुए कहा—'हाँ ठीक है, बताओ तुम कल्मा पढ़नेको राजी हो?'

हरिदासजीने निर्भीक भावसे कहा—'महाशय, मुझे जो कहना था, सो एक बार कह चुका। भारी-से-भारी दण्ड भी मुझे मेरे विश्वाससे विचलित नहीं कर सकता। चाहे आप मेरी देहके टुकड़े-टुकड़े करके फिकवा दें तो भी जबतक मेरे शरीरमें प्राण हैं, तबतक मैं हरिनामको नहीं छोड़ सकता। आप जैसा चाहें, वैसा दण्ड मुझे दें।'

हरिदासजीके ऐसे निर्भीक उत्तरको सुनकर मुलुकपति किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। वह कुछ सोच ही न सका कि हरिदासको क्या दण्ड दें! वह जिज्ञासाके भावसे गोराई काजीके मुखकी ओर देखने लगा।

मुल्लुकपतिके भावको समझकर गोराई काजीने कहा—'हुजूर, जरूर दण्ड देना चाहिये। यदि इसे दण्ड न दिया गया, तो सभी मनमानी करने लगेंगे, फिर तो इस्लाम-धर्मका अस्तित्व ही न रहेगा।'

मुल्लुकपतिने कहा—'मुझे तो कुछ सूझता नहीं, तुम्हीं बताओ इसे क्या दण्ड दिया जाय?'

गोराई काजीने जोर देते हुए कहा—'हुजूर, यह पहिला ही मामला है। इसे ऐसा दण्ड देना चाहिये कि सबके कान खड़े हो जायँ। आगे किसीको ऐसा काम करनेकी हिम्मत ही न पड़े। इस्लाम-धर्मके अनुसार तो इसकी सजा प्राणदण्ड ही है। किन्तु सीधे-सादे प्राणदण्ड देना ठीक नहीं। इसकी पीठपर बेंत मारते हुए इसे बाइस बाजारोंमें होकर घुमाया जाय और बेंत मारते-मारते ही इसके प्राण लिये जायँ। तभी सब लोगोंको आगे ऐसा करनेकी हिम्मत न होगी।'

मुल्लुकपतिने विवश होकर यही आज्ञा लिख दी। बेंत मारनेवाले नौकरोंने महात्मा हरिदासजीको बाँध लिया और उनकी पीठपर बेंत मारते हुए उन्हें बाजारोंमें घुमाने लगे। निरन्तर बेंतोंके आघातसे हरिदासके सुकुमार शरीरकी खाल उधड़ गयी। पीठमेंसे रक्तकी धारा बहने लगी। निर्दयी जल्लाद उन घावोंपर ही और भी बेंत मारते जाते थे, किन्तु हरिदासके मुखमें से वही पूर्ववत् हरि-ध्वनि ही हो रही थी। उन्हें बेंतोंकी वेदना प्रतीत ही नहीं होती थी। बाजारमें देखनेवाले उनके दुःखको

न सह सकनेके कारण आँखें बन्द कर लेते थे, कोई-कोई रोने भी लगते थे, किन्तु हरिदासजीके मुखसे 'उफ्' भी नहीं निकलती थी। वे आनन्दके साथ श्रीकृष्ण-कीर्तन करते हुए नौकरोंके साथ चले जा रहे थे।

उन्हें सभी बाजारोंमें घुमाया गया। शरीर रक्तसे लथपथ हो गया, किन्तु हरिदासजीके प्राण नहीं निकले। नौकरोंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'महाशय! ऐसा कठोर आदमी तो हमने आजतक एक भी नहीं देखा। प्रायः दस-बीस ही बेंतोंमें मनुष्य मर जाते हैं, कोई-कोई तो दस-पाँच लगनेसे ही बेहोश हो जाते हैं। आपकी पीठपर तो असंख्यों बेंत पड़े तो भी आपने 'आह' तक नहीं की। यदि आपके प्राण न निकले तो हमें दण्ड दिया जायगा। हमें मालूम पड़ता है, आप जिस नामका उच्चारण कर रहे हैं, उसीका ऐसा प्रभाव है, कि इतने भारी दुःखसे आपको तनिक-सी भी वेदना प्रतीत नहीं होती। अब हम लोग क्या करें!'

दयालु-हृदय महात्मा हरिदासजी उस समय अपने दण्ड देने-दिलानेवाले तथा पीटनेवालोंके कल्याणके निमित्त प्रभुसे प्रार्थना कर रहे थे। वे उन भूले-भटकोंके अपराधको भगवान्‌से क्षमा कर देनेको कह रहे थे। इतनेमें ही सबको प्रतीत हुआ कि महात्मा हरिदासजी अचेतन होकर भूमिपर गिर पड़े। सेवकोंने उन्हें सचमुचमें मुर्दा समझ लिया और उसी दशामें उन्हें मुल्कपतिके यहाँ ले गये। गोराई काजीकी सम्मतिसे

मुलुकपतिने उन्हें गङ्गाजीमें फेंक देनेकी आज्ञा दी। गोराई काजीने कहा—'कब्रमें गड़वा देनेसे तो इसे मुसलमानी-धर्मके अनुसार बहिश्त (स्वर्ग) की प्राप्ति हो जायगी। इसने तो मुसल्मानी-धर्म छोड़ दिया था इसलिये इसे वैसे ही गङ्गामें फेंक देना ठीक है।' सेवकोंने मुलुकपतिकी आज्ञासे हरिदासजीके शरीरको पतितपावनी श्रीभागीरथीके प्रवाहमें प्रवाहित कर दिया। माताके सुखद, शीतल जल-स्पर्शसे हरिदासको चेतना हुई और वे प्रवाहमें बहते-बहते फुलियाके समीप घाटपर आ लगे। इनके दर्शनसे फुलिया-निवासी सभी लोगोंको परम प्रसन्नता हुई। चारों ओर यह समाचार फैल गया। लोग हरिदासके दर्शनके लिये बड़ी उत्सुकतासे आने लगे। जो भी जहाँ सुनता वहींसे इनके पास दौड़ा आता। दूर-दूरसे बहुत-से लोग आने लगे। मुलुकपति तथा गोराई काजीने भी यह बात सुनी। उनका भी हृदय पसीज उठा और इस दृढ़प्रतिज्ञ महापुरुषके प्रति उनके हृदयमें भी श्रद्धाके भाव उत्पन्न हुए। वे भी हरिदासजीके दर्शनके लिये फुलिया आये। मुलुकपतिने नम्रताके साथ इनसे प्रार्थना की—'महाशय! मैं आपको दण्ड देनेके लिये मजबूर था, इसीलिये मैंने आपको दण्ड दिया। मैं आपके प्रभावको जानता नहीं था। मेरे अपराधको क्षमा कीजिये। अब आप प्रसन्नतापूर्वक हरि-नाम-संकीर्तन करें। आपके काममें कोई विघ्न न करेगा।'

हरिदासजीने नम्रतापूर्वक कहा—'महाशय! इसमें आपका

अपराध ही क्या है ? मनुष्य अपने कर्मोंके ही अनुसार दुःख-सुख भोगता है। दूसरे मनुष्य तो इसके निमित्त बन जाते हैं। मेरे कर्म ही ऐसे होंगे। आप किसी बातकी चिन्ता न करें, मेरे मनमें आपके प्रति तनिक भी रोष नहीं है।' हरिदासकी ऐसी सरल और निष्कपट बात सुनकर मुलुकपतिको बड़ा आनन्द हुआ, वह इनके चरणोंमें प्रणाम करके चला गया। फुलिया-ग्रामके और भी वैष्णव ब्राह्मण आ-आकर हरिदास-जीकी ऐसी अवस्था देखकर दुःख प्रकाशित करने लगे। कोई-कोई तो उनके घावोंको देखकर फूट-फूटकर रोने लगे। इस-पर हरिदासजीने उन ब्राह्मणोंको समझाते हुए कहा—'विप्रगण! आप लोग सभी धर्मात्मा हैं। शास्त्रोंके मर्मको भलीभाँति जानते हैं। बिना पूर्व-कर्मोंके दुःख-सुखकी प्राप्ति नहीं होती। मैंने इन कानोंसे भगवन्नामकी निन्दा सुनी थी उसीका भगवान्‌ने मुझे फल दिया है। आपलोग किसी प्रकारकी चिन्ता न करें। यह दुःख तो शरीरको हुआ है, मुझे तो इसका तनिक भी क्लेश प्रतीत नहीं होता। बस, भगवन्नामका स्मरण बना रहे यही सब सुखों-का सुख है। जिस क्षण भगवन्नामका स्मरण न हो, वही सबसे बड़ा दुःख है और भगवन्नामका स्मरण होता रहे, तो शरीरको चाहे कितना भी क्लेश हो उसे परम सुख ही समझना चाहिये।' इनके ऐसे उत्तरसे सभी ब्राह्मण परम सन्तुष्ट हुए और इनकी आज्ञा लेकर अपने-अपने घरोंको चले गये।

इस प्रकार हरिदासजी भगवती भागीरथीके तटपर फुलिया-

ग्रामके ही समीप रहने लगे। वहाँ उन्हें सब प्रकारकी सुविधाएँ थीं। शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यजीके समीप ये प्रायः नित्य ही जाते। आचार्य इन्हें पुत्रकी भाँति प्यार करते और ये भी उन्हें पितासे बढ़कर मानते। फुलियाके सभी ब्राह्मण, वैष्णव तथा धनी-मानी पुरुष इनका आदर-सत्कार करते थे। ये मुखसे सदा श्रीहरिके मधुर नामोंका कीर्तन करते रहते। निरन्तरके कीर्तनके प्रभावसे इनके रोम-रोमसे हरि-ध्वनि-सी सुनायी देने लगी। भगवान्की लीलाओंको सुनते ही ये मूर्छित हो जाते और एक साथ ही इनके शरीरमें सभी सात्त्विक भाव उदय हो उठते।

एक दिनकी बात है, कि ये अपनी कुटियासे कहीं जा रहे थे। रास्तेमें इन्हें मजीरा, मृदङ्गकी आवाज़ सुनायी दी। श्रीकृष्ण-कीर्तन समझकर ये उसी ओर चल पड़े। उस समय 'डंक' नामकी जातिके लोग मृदङ्ग, मजीरा बजाकर नृत्य किया करते थे और नृत्यके साथमें हरि-लीलाओंका कीर्तन किया करते थे। उस समय भी कोई डंक नृत्य कर रहा था। जब हरिदासजी पहुँचे तब डंक भगवान्की कालियदमनकी लीलाके सम्बन्धके पद गा रहा था। डंकका स्वर कोमल था, नृत्यमें वह प्रवीण था और गानेका उसे अच्छा अभ्यास था। वह बड़े ही लयसे यशोदा और नन्दके विलापका वर्णन कर रहा था। 'भगवान् गेंदके बहानेसे कालियदहमें कूद पड़े हैं, इस बातको सुनकर नन्द-यशोदा तथा सभी व्रजवासी वहाँ आ गये हैं। बालकृष्ण अपने कोमल चरण-कमलोंको कालियनागके फणोंके ऊपर रखे हुए उसी अपनी ललित

त्रिभङ्गी गतिसे खड़े हुए मुरली बजा रहे हैं। नाग ज़ोरोंसे फुंकार मारता है, उसकी फुंकारके साथ मुरारी धीरे-धीरे नृत्य करते हैं। यशोदा ऐसी दशा देखकर बिलबिला रही है। वह चारों ओर लोगोंकी ओर कातर-दृष्टिसे देख रही है कि मेरे बनवारीको कोई कालियके मुखसे छुड़ा ले। नन्दबाबा अलग आँसू बहा रहे हैं। इस भावको सुनते-सुनते हरिदासजी मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। डंक इनके सात्विक भावोंको देखकर समझ गया, कि ये कोई महापुरुष हैं, उसने नृत्य बन्द कर दिया और इनकी पद-धूलिको मस्तकपर चढ़ाकर इनकी स्तुति करने लगा। बहुत-से उपस्थित भक्तोंने हरिदासजीके पैरोंके नीचेकी धूलिको लेकर सिरपर चढ़ाया और उसे बाँधकर अपने घरको ले गये।

वहींपर एक मान-लोलुप ब्राह्मण भी बैठा था, जब उसने देखा कि मूर्छित होकर गिरनेसे ही लोग इतना आदर करते हैं, तब मैं इस अवसरको हाथसे क्यों जाने दूँ? यह सोचकर जब वह डंक फिर नाचने लगा तब यह भी झूठ-मूठ बहाना बनाकर पृथ्वीपर अचेत होकर गिर पड़ा। डंक तो सब जानता था। इसके गिरते ही वह इसे ज़ोरोंसे पीटने लगे। मारके सामने तो भूत भी भागते हैं, फिर यह तो दम्भी था, जल्दी ही मार न सह सकनेके कारण वहाँसे भाग गया। उस धनी पुरुषने तथा अन्य उपस्थित लोगोंने इसका कारण पूछा कि 'हरिदासकी तुमने इतनी स्तुति क्यों की और वैसा ही भाव आनेपर इस ब्राह्मणको तुमने क्यों मारा?'

सबके पूछनेपर डंकने कहा—'हरिदास परम भगवद्-भक्त हैं। उनके शरीरमें सचमुच सात्त्विक भावोंका उदय हुआ था, यह दम्भी था, केवल अपनी प्रशंसाके निमित्त इसने ऐसा ढोंग बनाया था, इसीलिये मैंने उनकी स्तुति की और इसे पीटा। ढोंग सब जगह थोड़े ही चलता है, कभी-कभी मूर्खोंमें ही काम दे जाता है, पर कलई खुलनेपर वहाँ भी उसका भण्डाफोड़ हो जाता है। हरिदास सचमुचमें रत्न हैं। उनके रहनेसे यह सम्पूर्ण देश पवित्र हो रहा है। आपलोग बड़े भाग्यवान् हैं, जो ऐसे महापुरुषके नित्यप्रति दर्शन पाते हैं।' डंककी बात सुनकर सभीको परम प्रसन्नता हुई और वे सभी लोग हरिदास-जीके भक्ति-भावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। वह ब्राह्मण तो इतना लज्जित हुआ कि लोगोंको मुँह दिखानेमें भी उसे लज्जा होने लगी। सच है, बनावटीकी ऐसी ही दुर्दशा होती है। किसीने ठीक ही कहा है—

> देखा देखी साधे जोग। छीजै काया बाढ़ै रोग॥

हरिदासजीकी निष्ठा अलौकिक है। उसका विचार करना मनुष्य-बुद्धिके बाहरकी बात है।

हरिदासजीद्वारा नाम-माहात्म्य

हरिकीर्तनशीलो वा तद्भक्तानां प्रियोऽपि वा।
शुश्रूषुर्वापि महतां स वन्द्योऽस्माभिरुत्तमः ॥*
(श्रीमद्भा० ५। १९)

शोक और मोहका कारण है प्राणियोंमें विभिन्न भावोंका अध्यारोप। जब मनुष्य एकको तो अपना सुख देनेवाला प्यारा सुहृद् समझता है और दूसरेको दुःख देनेवाला शत्रु समझकर उससे द्वेष करने लगता है, तब उसके हृदयमें शोक और मोहका उदय होना अवश्यम्भावी है, जिस समय सभी प्राणियोंमें वह उसी एक अखण्ड सत्ताका अनुभव करने लगेगा, जब प्राणीमात्रको प्रभुका पुत्र समझकर सबको महान् भावसे प्यार करने लगेगा तब उस साधकके हृदयमें मोह और शोक-का नाम भी न रहेगा। वह सदा प्रसन्न होकर भगवन्नामोंका ही स्मरण-चिन्तन करता रहेगा। उसके लिये न तो कोई संसारमें शत्रु होगा न मित्र, वह सभीको अपने प्रियतमकी प्यारी सन्तान समझकर भाईके नातेसे जीवमात्रकी वन्दना करेगा और उसे भी कोई क्लेश न पहुँचा सकेगा। उसके सामने आनेपर विषधर सर्प भी अपना स्वभाव छोड़ देगा। भगवन्नामका माहात्म्य ही ऐसा है।

---

* देवता कहते हैं– जो भगवान्के सुमधुर नामोंका संकीर्तन करता है अथवा जो हरि-भक्तोंका प्रिय ही है और जो देवता, ब्राह्मण, गुरु और श्रेष्ठ विद्वानोंकी सदा सेवा-शुश्रूषा करता है, ऐसा श्रेष्ठ-भक्त हमलोगोंका भी वन्दनीय है। अर्थात् हम देवता त्रिलोकीके वन्द्य हैं किन्तु ऐसा भक्त हमारा भी श्रद्धेय है।

महात्मा हरिदासजी फुलियाके पास ही पुण्यसलिला माँ जाह्नवीके किनारेपर एक गुफा बनाकर उसमें रहते थे। उनकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी थी। नित्यप्रति वहाँ सैकड़ों आदमी इनके दर्शनके लिये तथा गंगास्नानके निमित्त इनके आश्रमके निकट आया करते थे। जो भी मनुष्य इनकी गुफाके समीप जाता, उसीके शरीरमें एक प्रकारकी खुजली-सी होने लगती। लोगोंको इसका कुछ भी कारण मालूम न हो सका। उस स्थानमें पहुँचनेपर चित्तमें शान्ति तो सभीके होती, किन्तु वे खुजलीसे घबड़ा जाते। लोग इस विषयमें भाँति-भाँतिके अनुमान लगाने लगे। होते-होते बात सर्वत्र फैल गयी। बहुत-से चिकित्सकोंने वहाँकी जल-वायुका निदान किया, अन्तमें सभीने कहा—'यहाँ जरूर कोई महाविषधर सर्प रहता है। न जाने हरिदासजी कैसे अभीतक बचे हुए हैं, उसके श्वाससे ही मनुष्यकी मृत्यु हो सकती है। वह कहीं बहुत भीतर रहकर श्वास लेता है, उसीका इतना असर है, कि लोगोंके शरीरोंमें जलन होने लगती है, यदि वह बाहर निकलकर जोरोंसे फुंकार करे, तो इसकी फुंकारसे मनुष्य बच नहीं सकता। हरिदासजी इस स्थानको शीघ्र ही छोड़कर कहीं अन्यत्र रहने लगें, नहीं तो प्राणोंका भय है। चिकित्सकोंकी सम्मति सुनकर सभीने हरिदासजीसे आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि आप इस स्थानको अवश्य ही छोड़ दें। आप तो महात्मा हैं, आपको चाहे कष्ट न भी हो, किन्तु औरों लोगोंको आपके यहाँ रहनेसे बड़ा भारी कष्ट होगा। दर्शनार्थ

बिना आये रहेंगे नहीं और यहाँ आनेपर सभीको शारीरिक कष्ट होता है । इसलिये आप हमलोगोंका ही ख़याल करके इस स्थानको त्याग दीजिये ।

हरिदासजीने सबके आग्रह करनेपर उस स्थानको छोड़ना मंजूर कर लिया और उन लोगोंको आश्वासन देते हुए कहा—'आपलोगोंको मेरे कारण कष्ट हो, यह मैं नहीं चाहता । यदि कलतक सर्प यहाँसे चला नहीं गया, तो मैं कल शामको ही इस स्थानको परित्याग कर दूँगा । कल या तो यहाँ सर्प ही रहेगा या मैं ही रहूँगा, अब दोनों साथ-ही-साथ यहाँ नहीं रह सकते ।'

इनके ऐसे निश्चयको सुनकर लोगोंको बड़ा भारी आनन्द हुआ और सभी अपने-अपने स्थानोंको चले गये । दूसरे दिन बहुत-से भक्त एकत्रित होकर हरिदासजीके समीप श्रीकृष्ण-कीर्तन कर रहे थे, कि उसी समय सब लोगोंको उस अँधेरे स्थानमें बड़ा भारी प्रकाश-सा मालूम पड़ा । सभी भक्त आश्चर्यके साथ उस प्रकाशकी ओर देखने लगे । सभीने देखा कि एक चित्र-विचित्र रंगोंका बड़ा भारी सर्प वहाँसे निकलकर गङ्गाजीकी ओर जा रहा है । उसके मस्तकपर एक बड़ी-सी मणि जड़ी हुई है । उसीका इतना तेज प्रकाश है । सभीने उस भयङ्कर सर्पको देखकर आश्चर्य प्रकट किया । सर्प धीरे-धीरे गङ्गाजीके किनारे-किनारे बहुत दूर चला गया। उस दिनसे आश्रममें आने-वाले किसी भी दर्शनार्थीके शरीरमें खुजली नहीं हुई । भक्तोंका ऐसा ही प्रभाव होता है, उनके प्रभावके सामने अजगर तो

कालकूटको हजम करनेवाले देवाधिदेव महादेवजी तक भी भय खाते हैं। यह सब भगवान्‌की भक्तिका ही माहात्म्य है।

इस प्रकार महात्मा हरिदासजी फुलियामें रहते हुए श्रीभागीरथीका सेवन करते हुए आचार्य अद्वैतके सत्संगका निरन्तर आनन्द लूटते रहे। अद्वैताचार्य ही इनके गुरु, पिता, आश्रयदाता अथवा सर्वस्व थे। उनके ऊपर इनकी बड़ी भारी भक्ति थी। जिस दिन महाप्रभुका जन्म नवद्वीपमें हुआ था, उस दिन आचार्यके साथ ये भी आनन्दमें विभोर होकर नृत्य कर रहे थे। आचार्यका कहना था कि ये ही जगन्नाथतनय कालान्तरमें गौराङ्गरूपसे जनोद्धार तथा सम्पूर्ण देशमें श्रीकृष्ण-कीर्तनका प्रचार करेंगे। आचार्यके वचनोंपर हरिदासजीको पूर्ण विश्वास था, इसलिये वे भी गौराङ्गके प्रकाशकी प्रतीक्षामें निरन्तर श्रीकृष्ण-संकीर्तन करते हुए कालयापन करने लगे।

उस समय सप्तग्राममें हिरण्य और गोवर्धन मजूमदार नामक दो धनिक जमींदार भाई निवास करते थे। उनके कुल-पुरोहित परम वैष्णव शास्त्रवेत्ता पं० बलराम आचार्य थे। आचार्य महाशय वैष्णवोंका बड़ा ही आदर-सत्कार किया करते थे। अद्वैताचार्यजीसे उनकी अत्यन्त ही घनिष्ठता थी। दोनों ही विद्वान् थे, कुलीन थे, भगवत्-भक्त और देश-कालके मर्मज्ञ थे, इसी कारण हरिदासजी भी कभी-कभी सप्तग्राममें जाकर बलराम आचार्यके यहाँ रहते थे। आचार्य इनकी नाम-निष्ठा और भगवद्-भक्ति देखकर बड़े ही प्रसन्न होते और सदा इन्हें पुत्रकी भाँति

प्यार किया करते थे। गोवर्धन मजूमदारके पुत्र रघुनाथदास जब पढ़नेके लिये आचार्यके यहाँ आते थे, तो हरिदासजीको सदा नाम-जप करते ही पाते। इसीलिये वे मन-ही-मन इनके प्रति बड़ी श्रद्धा रखने लगे।

एक दिन आचार्य इन्हें मजूमदारकी सभामें ले गये। मजूमदार महाशय अपने कुलगुरुके चरणोंमें अत्यन्त ही श्रद्धा रखते थे, वैष्णव भक्तोंका भी यथेष्ट आदर करते थे। अपने कुलगुरुके साथ हरिदासजीको आया देखकर हिरण्य और गोवर्धन दोनों भाइयोंने आचार्यके सहित हरिदासजीकी उठकर अभ्यर्चना की और शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए उन्हें बैठनेके लिये सुन्दर आसन दिया। हरिदासजी बिना रुके ज़ोरोंसे इसी महामन्त्रका जाप कर रहे थे।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

सभाके सभी लोग संभ्रम-भावसे इन्हींकी ओर एकटक-भावसे देख रहे थे। इनके निरन्तरके नाम-जपको देखकर उन दोनों जमींदार भाइयोंको इनके प्रति स्वाभाविक ही बड़ी भारी श्रद्धा हो गई। उनके दरबारमें बहुत-से और भी पण्डित बैठे हुए थे। भगवन्नाम-जपका प्रसङ्ग आनेपर पण्डितोंने नम्रताके साथ पूछा—'भगवन्नाम-जपका अन्तिम फल क्या है? इससे किस प्रकारके सुखकी प्राप्ति होती है? क्या हरि-नाम-स्मरणसे सभी दुःखोंका अत्यन्ताभाव हो सकता है? क्या केवल नाम-जपसे ही मोक्ष मिल सकता है?'

हरिदासजीने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े हुए पण्डितोंको उत्तर दिया—'महानुभावो ! आप शास्त्रज्ञ हैं, धर्मके मर्मको भली-भाँति जानते हैं। आपने सभी ग्रन्थों तथा वैष्णव-शास्त्रोंका अध्ययन किया है। मैं आपके सामने कह ही क्या सकता हूँ, किन्तु भगवन्नामके माहात्म्यसे आत्मामें सुख मिलता है, इसी-लिये कुछ कहनेका साहस करता हूँ। भगवन्नामका सर्वश्रेष्ठ फल यही है, कि इसके जपसे हृदयमें एक प्रकारकी अपूर्व प्रसन्नता प्रकट होती है, उस प्रसन्नताजन्य सुखका आस्वादन करते रहना ही भगवन्नामका सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम फल है। भगवन्नामका जप करनेवाला साधक, मोक्ष या दुःखोंके अत्यन्ता-भावकी इच्छा ही नहीं करता। वह सगुण-निर्गुण दोनोंके ही चक्करसे दूर रहता है। उसका तो अन्तिम ध्येय भगवन्नामका जप ही होता है। कहीं भी रहें, कैसी भी परिस्थितिमें रहें, कोई भी योनि मिले, निरन्तर भगवन्नामका स्मरण बना रहे। क्षणभरको भी भगवन्नामसे पृथक् न हों। यही नाम-जपके साधकका अन्तिम लक्ष्य है। भगवन्नामके साधकका साध्य और साधन भगवन्नाम ही है। भगवन्नामसे वह किसी अन्य प्रकारके फलकी इच्छा नहीं रखता। मैं तो इतना ही जानता हूँ, इससे अधिक यदि आप कुछ और जानते हों, तो मुझे बतावें।'

इनकी ऐसी युक्तियुक्त और सारगर्भित मधुर वाणीको सुनकर सभीको परम प्रसन्नता हुई। उसी सभामें गोपालचन्द्र चक्रवर्ती नामका इन्हीं जमींदारका एक कर्मचारी बैठा था।

वह बड़ा तार्किक था, उसने हरिदासकी बातका खण्डन करते हुए कहा—'ये तो सब भावुकताकी बातें हैं, जो पढ़-लिख नहीं सकते, वे ही इस प्रकार जोरोंसे नाम लेते फिरते हैं। यथार्थ ज्ञान तो शास्त्रोंके अध्ययनसे ही होता है। भगवन्नामसे कहीं दुःखोंका नाश थोड़े ही हो सकता है ? शास्त्रोंमें जो कहीं-कहीं नामकी इतनी प्रशंसा मिलती है, वह केवल अर्थवाद है। यथार्थ बात तो दूसरी ही है।'

हरिदासजीने कुछ जोर देते हुए कहा—'भगवन्नाममें जो अर्थवादका अध्यारोप करते हैं, वे शुष्क तार्किक हैं। वे भगवन्नामके माहात्म्यको समझ ही नहीं सकते। भगवन्नाममें अर्थवाद हो ही नहीं सकता।'

इसपर गोपालचन्द्र चक्रवर्तीने भी अपनी बातपर जोर देते हुए कहा—'ये मूर्खोंको बहकानेकी बात है। अजामिल-जैसा पापी पुत्रका नारायण नाम लेते ही तर गया। क्या घट-घटव्यापी भगवान् इतना भी नहीं समझ सकते थे, कि इसने अपने पुत्रको बुलाया है ! यह अर्थवाद नहीं तो क्या है !'

हरिदासजीने कहा—'इसे अर्थवाद कहनेवाले स्वयं अनर्थवादी हैं, उनसे मैं कुछ नहीं कह सकता।'

जोशमें आकर गोपाल चक्रवर्तीने कहा—'यदि भगवन्नाम-स्मरण करनेसे मनुष्यकी नीचता जाती रहे तो मैं अपनी नाक कटा लूँ।'

हरिदासजीने भी जोशमें आकर कहा—'यदि भगवन्नामके

जपसे नीचताओंका जड़-मूलसे नाश न हो जाय तो मैं अपने नाक-कान दोनों ही कटानेके लिये तैयार हूँ।' बातको बढ़ते देखकर लोगोंने दोनोंको ही शान्त कर दिया। जमींदार उस आदमीसे बहुत असन्तुष्ट हुए। उसे वैष्णवापराधी और भगवन्नामविमुख समझकर जमींदारने उसे नौकरीसे पृथक् कर दिया, सुनते हैं कि कालान्तरमें उसकी नाक सचमुचमें कट गयी।

इसी प्रकारकी एक दूसरी घटना हरिनदी नामक ग्राममें हुई। हरिनदी नामक ग्रामके एक पण्डित मानी, अहंकारी ब्राह्मण को अपने शास्त्रज्ञानका बड़ा गर्व था। हरिदासजी चलते-फिरते, उठते-बैठते उच्च स्वरसे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस महामन्त्रका सदा जप करते रहते थे। इन्हें मुसलमान और महामन्त्रका अनधिकारी समझकर उसने इनसे पूछा— 'मुसलमानके लिये इस उपनिषद्के मन्त्रका जाप करना कहाँ लिखा है? यह तुम्हारी अनधिकार चेष्टा है और जो तुम्हें भगवत्-भक्त कहकर तुम्हारी पूजा करते हैं वे भी पाप करते हैं। शास्त्रमें लिखा है जहाँ अपूज्य लोगोंकी पूजा होती है और पूज्य लोगोंकी उपेक्षा की जाती है वहाँ दुर्भिक्ष, मरण, भय और दारिद्र्य ये बातें होती हैं। इसलिये तुम इस अशास्त्रीय कार्यको छोड़ दो, तुम्हारे ऐसे आचरणोंसे देशमें दुर्भिक्ष पड़ जायगा।'

हरिदासजीने बड़ी ही नम्रतासे कहा—'विप्रवर ! मैं नीच पुरुष भला शास्त्रोंका मर्म क्या जानूँ ! किन्तु आप-जैसे विद्वानोंके ही मुखसे सुना है, कि चाहे वेद-शास्त्रोंके अध्ययनका द्विजातियोंके अतिरिक्त किसीको अधिकार न हो किन्तु भगवन्नाम तो किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, कङ्क, यवन तथा खश आदि जितनी भी पापयोनि और जङ्गली जाति हैं सभीको पावन बनानेवाला है। भगवन्नामका अधिकार तो सभीको समानरूपसे है।'*

हरिदासजीके इस शास्त्रसम्मत उत्तरको सुनकर ब्राह्मणने पूछा—'खैर, भगवन्नामका अधिकार सबको भले ही हो, किन्तु मन्त्रका जप इस प्रकार जोर-जोरसे करनेसे क्या लाभ ? शास्त्रोंमें मानसिक, उपांशु और वाचिक ये तीन प्रकारके जप बताये हैं। जिनमें वाचिक जपसे सहस्रगुणा उपांशु-जप श्रेष्ठ है, उपांशु-जपसे लक्ष्यगुणा मानसिक जप श्रेष्ठ है। तुम मनमें जप करो, तुम्हारे इस जपको तो मानसिक, उपांशु अथवा वाचिक किसी प्रकारका भी जप नहीं कह सकते। यह तो 'वैखरी-जप' है जो अत्यन्त ही नीच बताया गया है।'

---

* किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ॥
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(श्रीमद्भा० २।४।१८)

हरिदासजीने उसी प्रकार नम्रतापूर्वक कहा—'महाराज ! मैं स्वयं तो कुछ जानता नहीं, किन्तु मैंने अपने गुरुदेव श्रीअद्वैताचार्यजीके मुखसे थोड़ा-बहुत शास्त्रका रहस्य सुना है। आपने जो तीन प्रकारके जप बताये हैं और जिनमें मानसिक जपको सर्वश्रेष्ठता दी है वह तो उन मन्त्रोंके जपके लिये है जिनकी विधिवत् गुरुके द्वारा दीक्षा लेकर शास्त्रकी विधिके अनुसार केवल पवित्रावस्थामें ही साङ्गोपाङ्ग जप किया जाता है। ऐसे मन्त्र गोप्य कहे जाते हैं। वे दूसरोंके सामने प्रकट नहीं किये जाते। किन्तु भगवन्नामके लिये तो शास्त्रोंमें कोई विधि ही नहीं बतायी गयी है। इसका जाप तो सर्व कालमें, सर्व स्थानोंमें, सबके सामने और सब परिस्थितियोंमें किया जाता है। अन्य मन्त्रोंका चाहे धीरे-धीरे जपका अधिक माहात्म्य भले ही हो किन्तु भगवन्नामका माहात्म्य तो जोरोंसे ही उच्चारण करनेमें बताया है। भगवन्नामका जितने ही जोरोंसे उच्चारण किया जायगा उसका उतना ही अधिक माहात्म्य होगा, क्योंकि धीरे-धीरे नाम-जप करनेवाला तो अकेला अपने आपको ही पावन बना सकता है किन्तु उच्च स्वरसे संकीर्तन करनेवाला तो सुननेवाले जड़-चेतन सभीको पावन बनाता है।'*

इनकी इस बातको सुनकर ब्राह्मणने झुँझलाकर कहा—'ये सब शास्त्रोंके वाक्य अर्थवादके नामसे पुकारे जाते हैं।

---

* जपतो हरिनामानि स्थाने शतगुणाधिकः।
आत्मानञ्च पुनात्युच्चैर्जपन् श्रोतॄन् पुनाति च॥
(नारदीये प्र० पा०)

लोगोंकी नाम-जप और संकीर्तनमें श्रद्धा हो इसीलिये ऐसे-ऐसे वाक्य कहीं-कहीं कह दिये गये हैं। यथार्थ बात तो यह है, कि बिना दैवी-सम्पत्तिका आश्रय ग्रहण किये नाम-जपसे कुछ भी नहीं होनेका। यदि नाम-जपसे ही मनुष्यका उद्धार हो जाता तो फिर इतने शास्त्रोंकी रचना क्यों होती ?'

हरिदासजीने उसी तरह नम्रताके साथ कहा—'पण्डितजी! श्रद्धा होना ही तो कठिन है। यदि सचमुचमें केवल भगवन्नाम-पर ही पूर्णरूपसे श्रद्धा जम जाय तो फिर शास्त्रोंकी आवश्यकता ही नहीं रहती। शास्त्रोंमें भी और क्या है। सर्वत्र 'भगवान्पर श्रद्धा करो' ये ही वाक्य मिलते हैं। श्रद्धा-विश्वासकी पुष्टि करनेके ही निमित्त शास्त्र हैं।'

आवेशमें आकर ब्राह्मणने कहा—'यदि केवल भगवन्नाम-जपसे ही सब कुछ हो जाय तो मैं अपने नाक-कान दोनों कटवा दूँगा।'

हरिदासजी यह कहते हुए चले गये कि 'यदि आपको विश्वास नहीं है तो न सही। मैंने तो अपने विश्वासकी बात आपसे कही है।' सुनते हैं, उस ब्राह्मणकी पीनस-रोगसे नाक सड़ गयी और वह गल-गलकर गिर पड़ी। भगवन्नाम-विरोधीकी जो भी दशा हो वही थोड़ी है। सम्पूर्ण दुःखोंका एकमात्र मूल कारण भगवन्नामसे विमुख होना ही तो है।

इस प्रकार महात्मा हरिदासजी भगवन्नामका माहात्म्य स्थापित करते हुए गङ्गाजीके किनारे निवास करने लगे। जब

उन्होंने सुना कि नवद्वीपमें उदय होकर गौरचन्द्र अपनी शीतल और सुखमयी कृपा-किरणोंसे भक्तोंके हृदयोंको भक्ति-रसामृतसे सिञ्चन कर रहे हैं, तो ये भी उस निष्कलंक पूर्ण चन्द्रकी छत्र-छायामें आकर नवद्वीपमें रहने लगे। ये अद्वैताचार्यके कृपापात्र तो पहिलेसे ही थे। इसलिये इन्हें प्रभुके अन्तरङ्ग भक्त बननेमें अधिक समय नहीं लगा। थोड़े ही दिनोंमें ये प्रभुके प्रधान कृपापात्र भक्तोंमें गिने जाने लगे। इनकी भगवन्नामनिष्ठाका सभी भक्त बड़ा आदर करते थे। प्रभु इन्हें बहुत अधिक चाहते थे। इन्होंने भी अपना सर्वस्व प्रभुके पादपद्मोंमें समर्पित कर दिया था। इनकी प्रत्येक चेष्टा प्रभुकी इच्छानुसार ही होती थी। ये भक्तोंके साथ संकीर्तनमें रात्रि-रात्रिभर नृत्य करते रहते थे और नृत्यमें बेसुध होकर गिर पड़ते थे। इस प्रकार श्रीवास पण्डितका घर श्रीकृष्ण-संकीर्तनका प्रधान अड्डा बन गया। शाम होते ही सब भक्त एकत्रित हो जाते। भक्तोंके एकत्रित हो जानेपर किवाड़ बन्द कर दिये जाते और फिर संकीर्तन आरम्भ होता। फिर चाहे कोई भी क्यों न आओ, किसीके लिये किवाड़ नहीं खुलते थे। इससे बहुत-से आदमी निराश होकर लौट जाते और वे संकीर्तनके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके अपवाद फैलाते। इस प्रकार एक ओर तो सज्जन भक्त संकीर्तन-के आनन्दमें परमानन्दका रसास्वादन करने लगे और दूसरी ओर निन्दक लोग संकीर्तनके प्रति बुरे भावोंका प्रचार करते हुए अपनी आत्माको कलुषित बनाने लगे।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥*

(गीता ११।१२)

महाभारतके युद्धक्षेत्रमें अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उसे अपना विराट् रूप दिखाया था। भगवान्का वह विराट् रूप अर्जुनको ही दृष्टिगोचर हुआ था। दोनों सेनाओंके लाखों मनुष्य वहाँ उपस्थित थे, किन्तु उनमेंसे किसीको भी भगवान्के उस रूपके दर्शन नहीं हुए थे। अर्जुन भी इन चर्म-चक्षुओंसे भगवान्के दर्शन नहीं कर सकते थे, इसलिये कृपा करके भगवान्ने उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी थी। इसीलिये दिव्य दृष्टिके सहारे उस अलौकिक रूपको देखनेमें समर्थ हो सके। इधर भगवान् वेदव्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि दे रखी थी, इस कारण उन्हें भी हस्तिनापुरमें बैठे-ही-बैठे उस रूपके दर्शन हो सके। असलमें दिव्य दृष्टिके बिना दिव्य रूपके दर्शन हो ही नहीं सकते। बाहरी लौकिक दृष्टिसे तो बाहरके भौतिक पदार्थ ही देखे जा सकते हैं। जबतक भीतरी नेत्र न खुलें, जबतक कृपा करके श्रीकृष्ण दिव्य दृष्टि प्रदान न करें तबतक अलौकिक और परम प्रकाशमय स्वरूप दीख ही नहीं सकता। भक्तोंका लोक ही अलग होता है, उसकी भाषा

* हजारों सूर्य और चन्द्रमाओंका जैसे एक साथ ही प्रकाश होता है, उसी प्रकारकी उन महात्माकी कान्ति हो गयी।

अलग होती है और उसका व्यवहार भी भिन्न ही प्रकारका होता है। जिसे भगवान् कृपा करके अपना लेते हैं, अपना कहकर जिसे वरण कर लेते हैं और जिसकी रतिरूपी अन्तर्दृष्टिको खोल देते हैं, उसे ही अपने ध्येय पदार्थमें इष्टदेवके दर्शन होते हैं। उसके सामने ही उसके भाव ज्यों-के-त्यों प्रकट होते हैं। दृढ विश्वासके विना कहीं भी अपने इष्टदेवके दर्शन नहीं हो सकते।

हम पहिले ही बता चुके हैं, कि गौराङ्गके जीवनमें द्विविध भाव दृष्टिगोचर होते थे। वैसे तो वे सदा एक अमानी भगवत्-भक्तके भावमें रहते थे, किन्तु कभी-कभी उनके शरीरमें भगवत्-भाव भी प्रकट होता था, उस समय उनकी सभी चेष्टाएँ तथा व्यवहार ऐश्वर्यमय होते थे। ऐसा भाव बहुत देरतक नहीं रहता था, कुछ कालके ही अनन्तर उस भावका शमन हो जाता और फिर ये ज्यों-के-त्यों ही साधारण भगवत्-भक्तके भावमें आ जाते। अबतक ऐसे भाव थोड़ी ही देरको हुए थे, किन्तु एक बार ये पूरे सात प्रहर भगवत्-भावमें ही बने रहे। इस भावको 'सप्तप्रहरिया भाव' या 'महाप्रकाश' कहकर वैष्णव भक्तोंने इसका विशद्‌रूपसे वर्णन किया है। नवद्वीपमें प्रभुके शरीरमें यही सबसे बड़ा भाव हुआ था। वासुदेव घोष, मुरारी गुप्त और मुकुन्द दत्त ये तीनों उस महाप्रकाशके समय वहाँ मौजूद थे। ये तीनों ही वैष्णवोंमें प्रसिद्ध पदकार हुए हैं। इन तीनोंने चैतन्य-चरित्र लिखा है। इन्होंने अपनी आँखोंका प्रत्यक्ष देखा हुआ वर्णन किया है, इतनेपर भी विश्वास न करनेवाले विश्वास नहीं

करते, क्योंकि वे इस विषयसे एकदम अनभिज्ञ हैं। उनकी बुद्धि भौतिक पदार्थोंके अतिरिक्त ऐसे विषयोंमें प्रवेश ही नहीं कर सकती। किन्तु जिनका परमार्थ-विषयमें तनिक भी प्रवेश होगा, उन्हें इस विषयके श्रवणसे बड़ा सुख मिलेगा, इसलिये अब 'महा-प्रकाश' का वृत्तान्त सुनिये।

एक दिन प्रातःकाल ही सब भक्त श्रीवास पण्डितके घरपर जुटने लगे। एक-एक करके सभी भक्त वहाँ एकत्रित हो गये। उनमेंसे प्रधान-प्रधान भक्तोंके नाम ये हैं—अद्वैताचार्य, नित्यानन्द, श्रीवास, गदाधर, मुरारी गुप्त, मुकुन्द दत्त, नरहरि, गङ्गादास, महाप्रभुके मौसा चन्द्रशेखर आचार्यरत्न, पुरुषोत्तम आचार्य (स्वरूपदामोदर) वक्रेश्वर, दामोदर, जगदानन्द, गोविन्द, माधव, वासुदेव घोष, सारङ्ग तथा हरिदास् आदि-आदि। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से भक्त वहाँ उपस्थित थे।

एक प्रहर दिन चढ़ते-चढ़ते प्रायः सभी मुख्य-मुख्य भक्त श्रीवास पण्डितके घर आ गये थे, कि इतनेमें ही प्रभु पधारे। प्रभुके पधारते ही भक्तोंके हृदयोंमें एक प्रकारके नवजीवनका-सा सञ्चार होने लगा। और दिन तो प्रभु अन्य भक्तोंकी भाँति आकर बैठ जाते और सभीके साथ मिलकर भक्ति-भावसे बहुत देरतक संकीर्तन करते रहते, तब कहीं जाकर किसी दिन भगवद्-आवेश होता, किन्तु आज तो सीधे आकर एकदम भगवान्के[✪] सिंहासनपर बैठ गये। सिंहासनकी मूर्तियाँ एक ओर हटा दीं और आप शान्त, गम्भीर-भावसे भगवान्के आसनपर

आसीन हो गये। इनके बैठते ही भक्तोंके हृदयोंमें एक प्रकारका विचित्र-सा प्रकाश दिखायी देने लगा। सभी आश्चर्य और संभ्रम-के भावसे प्रभुके श्रीविग्रहकी ओर देखने लगे। किन्तु किसीको उनकी ओर बहुत देरतक देखनेका साहस ही नहीं होता था। भक्तोंको उनका सम्पूर्ण शरीर तेजोमय परम प्रकाशयुक्त दिखायी देने लगा। जिस प्रकार हजारों सूर्य-चन्द्रमा एक ही स्थानपर प्रकाशित हो रहे हों। बहुत प्रयत्न करनेपर भी किसीकी दृष्टि बहुत देरतक प्रभुके सम्मुख टिक नहीं सकती थी। एकदम, चारों ओर विमल धवल प्रकाशकी ज्योतिर्मय किरणें छिटक रही थीं। मानों अग्निकी शुभ्र ज्वालामेंसे बड़े-बड़े विस्फुलिङ्ग इधर-उधर उड़-उड़कर अन्धकारका संहार कर रहे हों। प्रभुके नखों-की ज्योति आकाशमें बड़े-बड़े नक्षत्रोंकी भाँति स्पष्ट ही पृथक्-पृथक् दिखायी पड़ती थी। उनका चेहरा देदीप्यमान हो रहा था। भक्तोंकी आँखोंमें चकाचौंध छा जाता, किन्तु उस रूपसे दृष्टि हटानेको तबियत नहीं चाहती थी। इस प्रकार सभी भक्त बहुत देरतक पत्थरकी निर्जीव मूर्तियोंकी भाँति स्तब्ध-भावसे चुपचाप बैठे रहे, उस समय कोई जोरसे साँसतक नहीं लेता था, यदि एक सुई भी उस समय गिर पड़ती, तो उसकी भी आवाज सबको सुनायी देती। उस नीरव निस्तब्धताको भङ्ग करते हुए प्रभुने गम्भीर-भावसे कहना आरम्भ किया—'भक्त-वृन्द! हम आज तुम सब लोगोंकी मनोकामना पूर्ण करेंगे! आज तुम लोग हमारा विधिवत् अभिषेक करो।'

प्रभुकी ऐसी आज्ञा पाते ही सभीको अत्यन्त ही आनन्द हुआ। श्रीवासके आनन्दकी तो सीमा ही न रही। वे प्रेमके कारण अपने आपेको भूल गये। जिस प्रकार कोई चक्रवर्ती राजा किसी कङ्गालके प्रेमके वशीभूत होकर सहसा उसकी टूटी झोंपड़ीमें स्वयं आ जाय, उस समय उसकी जो दशा हो जाती है, उससे भी अधिक प्रेममय दशा श्रीवास पण्डितकी हो गयी। वे आनन्दके कारण हक्के-बक्के-से हो गये। शरीरकी सुधि भुलाकर स्वयं ही घड़ा उठाकर गङ्गाजीकी ओर दौड़े, किन्तु बीचमें ही प्रेमके कारण मूर्छित होकर गिर पड़े। तब उनके दास-दासी बहुत-से घड़े लेकर गङ्गा-जल लेनेके लिये चल दिये। बहुत-से भक्त भी कहीं-कहींसे घड़ा माँगकर गङ्गा-जल लेनेके लिये दौड़े गये! बहुत-से घड़ोंमें गङ्गा-जल आ गया। भक्तोंने प्रभुको एक सुन्दर चौकीपर बिठाकर उनके सम्पूर्ण शरीरमें भाँति-भाँतिके सुगन्धित तैलोंकी मालिस की। तदनन्तर सुवासित जलके घड़ोंसे उन्हें विधिवत् स्नान कराया। अद्वैताचार्य और आचार्यरत्न प्रभृति पण्डितश्रेष्ठ महापुरुष स्नानके मन्त्रोंका उच्चारण करने लगे। भक्त बारी-बारीसे प्रभुके श्रीअंगपर गङ्गाजल डालते जाते थे और मन-ही-मन प्रसन्न होते थे। इस प्रकार घण्टोंतक स्नान ही होता रहा। जब सभीने अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार स्नान करा दिया तब प्रभुके श्रीअंगको एक महीन सुन्दर स्वच्छ वस्त्रसे खूब पोंछा गया। उसी समय श्रीवास पण्डित अपने घरमेंसे नूतन महीन रेशमी वस्त्र निकाल लाये। उन सुन्दर वस्त्रोंको भक्तोंने

विधिवत् प्रभुके शरीरमें पहिनाया और फिर उन्हें एक सजे हुए सुन्दर सिंहासनपर विराजमान किया।

प्रभुके सिंहासनारूढ हो जानेपर भक्तोंने बारी-बारीसे प्रभुके अंगोंमें केशर, कपूर तथा कस्तूरी मिले हुए चन्दनका लेपन किया। चरणोंमें तुलसी और चन्दन चढ़ाया। मालाएँ बहुत थोड़ी ही थीं, यह समझकर कुछ भक्त उसी समय बाजारमें दौड़े गये और बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर मालाएँ जल्दीसे खरीद लाये। सभीने एक-एक करके प्रभुके गलेमें मालाएँ पहिनायीं। भक्तोंके चढ़ाये हुए पुष्पोंसे प्रभुके पादपद्म एकदम ढक गये और मालाओंसे सम्पूर्ण गला भर गया। प्रभुने सभी भक्तोंको अपने कर-कमलोंसे प्रसादी-माला प्रदान की। प्रभुकी उस प्रसादी-मालाको पाकर भक्त आनन्दके साथ नृत्य करने लगे।

श्रीवास तो बेसुध थे। उनकी दशा ऐसी हो गयी थी मानो किसी जन्मके दरिद्रीको पारसमणि मिल गयी हो। उनका हृदय तड़प रहा था, कि प्रभुकी इस अलौकिक छबिके दर्शन किसे-किसे करा दूँ? जब कोई प्रिय वस्तु देखनेको मिल जाती है, तब हृदयमें यह इच्छा स्वाभाविक ही उत्पन्न होती है, इसके दर्शन अपने सभी प्रियजनोंको करा दूँ। यह सोचकर उन्होंने अद्वैताचार्यजीके कानमें कहा—'शचीमाता मुझे बहुत चिढ़ाया करती हैं। वे मुझसे बार-बार कहती हैं, कि तुम सभीने मिल-कर मेरे निमाईको बिगाड़ दिया। पहिले वह कितना सीधा-सादा था, अब तुम्हीं सब न जाने उसे क्या-क्या सिखा देते हो!'

आज माताको लाकर दिखाऊँ, कि देख तेरा निमाई असलमें यह है। यह तेरा पुत्र नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण जगत्‌का पिता है। यदि आपकी अनुमति हो, तो मैं शचीमाताको बुला लाऊँ।'

आचार्यने श्रीवासकी बातका समर्थन करते हुए कहा—'हाँ, हाँ, अवश्य। शचीमाताको जरूर दर्शन कराना चाहिये।'

इतना सुनते ही श्रीवास पण्डित जल्दीसे दौड़कर शचीमाताको बुला लाये। शचीमाताको देखते ही अद्वैताचार्य कहने लगे—'माता! यह सामने देखो, जिन्हें तुम अपना बताती थी, वे अब तुम्हारे पुत्र नहीं रहे। अब तुम इनके दर्शन करो और अपने जीवनको सफल बनाओ।'

माता भौचक्की-सी चुपचाप खड़ी ही रही। उसे कुछ सूझा ही नहीं कि मुझे क्या करना चाहिये। श्रीवास पण्डितने माताकी ऐसी दशा देखकर दीन-भावसे प्रार्थना की—'प्रभो! ये जगन्माता शचीदेवी सामने खड़ी हैं। इन्हें आपकी माता होनेका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इनके ऊपर कृपा होनी चाहिये। इन्हें आपके असली स्वरूपके दर्शन हो यही हमारी प्रार्थना है।'

प्रभुने हुंकार देते हुए कहा—'शचीमाताके ऊपर कृपा नहीं हो सकती। यह सदा वैष्णवोंको बुरा बताया करती हैं कि सभी वैष्णवोंने मिलकर मेरे निमाईको बरबाद कर दिया।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर अद्वैताचार्यने कहा—'प्रभो! माताका आपके प्रति वात्सल्य-भाव है। वह जो भी कुछ कहती

है वात्सल्य-स्नेहके वशीभूत होकर ही कहती है। वैष्णवोंके प्रति इसके हृदयमें द्वेषके भाव नहीं हैं। इसकी उपासना वात्सल्य-भावकी ही है। इसके ऊपर अवश्य कृपा होनी चाहिये।'

अद्वैताचार्य यह प्रार्थना कर ही रहे थे, कि धीरेसे श्रीवास पण्डितने माताके कानमें कहा—'तुम प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम करो' माता पुत्रके लिये प्रणाम करनेमें कुछ हिचकने लगी, तब आचार्यने जोर देते हुए कहा—'माँ! अब तुम निमाईके भावको भुला दो। इन्हें भगवत्-बुद्धिसे प्रणाम करो। देर करनेका काम नहीं है।'

वृद्ध आचार्यके ऐसा आग्रह करनेपर माताने आगे बढ़कर प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और गद्‌गद कण्ठसे प्रार्थना करने लगी—'भगवन्! मैं अज्ञ स्त्री तुम्हारे बारेमें कुछ भी नहीं जानती कि तुम कौन हो। तुम जो भी हो, मेरे ऊपर कृपा करो।' माताको प्रणाम करते देखकर प्रभुने उसके मस्तक-पर अपने चरणोंको रखते हुए कहा—'जाओ, सब वैष्णव-अपराध क्षमा हुए, तुम्हारे ऊपर पूर्ण कृपा हुई।' माता यह सुनकर आनन्दमें विभोर होकर रुदन करने लगी।

अब तो सभी भक्त क्रमशः प्रभुकी भाँति-भाँतिकी पूजा करने लगे। कोई धूप चढ़ाता, कोई दीप सामने रखता, कोई फल-फूल सामने रखता और कोई-कोई नवीन-नवीन, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र लाकर प्रभुके शरीरपर धारण कराता। इस प्रकार सभीने अपनी-अपनी इच्छानुसार प्रभुकी पूजा की। अब भोगकी बारी

आयी। सभी अपनी-अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार विविध प्रकारके व्यंजन, नाना भाँतिकी मिठाइयाँ और भाँति-भाँतिके फलोंको थालोंमें सजा-सजाकर प्रभुके भोगके लिये लाये। सभी प्रसन्नतापूर्वक प्रभुके हाथोंमें भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ देने लगे। कोई तो मिठाई देकर कहता—'प्रभु, इसका भोग लगाइये।' प्रभु उसे प्रेमपूर्वक खा जाते। कोई फल देकर ही प्रार्थना करता—'इसे स्वीकार कीजिये।' प्रभु चुपचाप फलोंको ही भक्षण कर जाते। कोई लड्डू, पेड़ा तथा भाँति-भाँतिकी मिठाई देते, कोई कटोरेमें दूध लेकर ही प्रार्थना करता—'प्रभो! इसे आरोगिये।' प्रभु उसे भी पी जाते। उस समय जिसने जो भी वस्तु प्रेमपूर्वक दी, प्रभुने उसे ही भक्षण कर लिया। किसीकी वस्तुको अस्वीकार नहीं किया। भला अस्वीकार कर भी कैसे सकते थे? उनकी तो प्रतिज्ञा है कि 'यदि कोई भक्तिसे मुझे फल-फूल या पत्ते भी देता है, तो उन फूल-पत्तोंको भी मैं खुश होकर खा जाता हूँ। फिर भक्तोंके प्रेमसे दिये हुए नैवेद्यको वह किस प्रकार छोड़ सकते थे। उस दिन प्रभुने कितना खाया और भक्तोंने कितना खिलाया इसका अनुमान कोई भी नहीं कर सकता। सबके प्रेम-प्रसादको पानेके अनन्तर श्रीवास पण्डितने अपने काँपते हुए हाथोंसे सुवासित ताम्बूल प्रभुके अर्पण किया। प्रभु प्रेमपूर्वक ताम्बूल चर्वण करने लगे। सभी बारी-बारीसे ताम्बूल भेंट करने लगे। प्रभु उन्हें स्पर्श करके भक्तोंको प्रसादके रूपमें देते जाते थे। प्रभु-दत्त पानको पाकर सभी भक्त अपने भाग्यकी सराहना करने लगे।

ताम्बूल-भक्षणके अनन्तर प्रभु मन्द-मन्द मुस्कानके साथ समीपर अपनी कृपा-दृष्टि फेरते हुए कुछ प्रेमकी बातें कहने लगे। उस समय उनके मुखसे जो भी बातें निकलतीं, वे सभी अमृत-रससे सिंची हुई होती थीं। भक्तोंके हृदयमें वे एक प्रकारकी विचित्र प्रकारकी खलबली-सी उत्पन्न करनेवाली थीं। प्रभुकी उस समयकी वाणीमें इतना अधिक आकर्षण था, कि सभी बिना हिले-डुले, एक आसनसे बैठे हुए प्रभुके मुखसे निःसृत उपदेशरूपी रसामृतका निरन्तर भावसे पान कर रहे थे। किसीको कुछ पता ही नहीं था, कि हम किस लोकमें बैठे हुए हैं ? उस समय भक्तोंके लिये इस दृश्य-जगत्के प्रपञ्चोंका एक प्रकारसे अत्यन्ताभाव ही हो गया था। प्रातःकालसे बैठे-बैठे सन्ध्या हो गयी, भगवान् भुवनभास्कर भी प्रभुके भाव-परिवर्तनकी प्रतीक्षा करते-करते अस्ताचलको प्रस्थान कर गये, किन्तु प्रभुके भावमें अणुमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ। भक्त भी उसी प्रकार प्रेमपाशमें बँधे वहीं बैठे रहे।

श्रीवास पण्डितके सेवकोंने घरमें दीपक जलाये, किन्तु उन क्षीण दीपकोंकी ज्योति प्रभुकी देहके दिव्य प्रकाशमें फीकी-फीकी-सी प्रतीत होने लगी। किसीको पता ही नहीं चला कि दिन कब समाप्त हुआ और कब रात्रि हो गयी ! सभी उस दिव्यालोकके प्रकाशमें अपने आपेको भूले हुए बैठे थे।
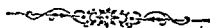
भक्तोंको भगवान्‌के दर्शन

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥*
(श्रीमद्भा० १० । ४३ । १७)

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने जब बलदेवजीके सहित कंसके रङ्गमण्डपमें प्रवेश किया था, तब वहाँपर विभिन्न प्रकृतिके मनुष्य बैठे हुए थे । उन्होंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भगवान्‌के शरीरमें भिन्न-भिन्न रूपोंके दर्शन किये थे । इसलिये वहाँके उपस्थित नर-नारियोंको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार नवों रसोंका अनुभव हुआ । कोई तो भगवान्‌के रूपको देखकर डर गये, कोई काँपने लगे, कोई घृणा करने लगे, कोई हँसने लगे, किसीके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हुआ और किसीको क्रोध

* जिस समय भगवान्‌ने कंसके सभा-मण्डपमें प्रवेश किया, तब रङ्ग-मण्डपमें उपस्थित सभी लोगोंको उनकी भावनाके अनुसार भगवान्‌के विभिन्न रूप दिखायी दिये । मल्लोंको उनका शरीर वज्रके समान, नरोंको नरपतिके समान, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेवके समान, गोपोंको सखाके समान, दुष्टजनोंको सजीव दण्डके समान, अपने माता-पिताको पुत्रके समान, कंसको मृत्युके समान, अज्ञानियोंको विराट्‌के समान, योगियोंको परम तत्त्वके समान और यादवोंको परम देवताके समान दिखायी देने लगा । (जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी ॥)

उत्पन्न हुआ। स्त्रियोंको तो वे साक्षात् कामदेव ही प्रतीत हुए। किन्तु यहाँ प्रभुके प्रकाशके समय सभी एक ही प्रकृतिके भगवत्-भक्त ही थे। इसलिये प्रभुके महाभावसे सभीको समान-भावसे आनन्द ही हुआ, सभीने उनके प्रकाशके आलोकमें सुखका ही अनुभव किया, सभीने उनमें भगवत्ताके ही दर्शन किये, किन्तु सबके इष्ट भिन्न-भिन्न होनेके कारण, एक ही भगवान् उन्हें विभिन्न-भावसे दिखायी दिये। सभीने प्रभुके शरीरमें अपने-अपने इष्टदेवका ही स्वरूप देखा।

सबसे पहिले बातों-ही बातोंमें प्रभुने श्रीवास पण्डितके ऊपर कृपा की। आपने श्रीवास पण्डितको सम्बोधित करते हुए कहा—'श्रीवास! तुम हमारे परम कृपा-पात्र हो, हम सदा ही तुम्हारी देख-रेख करते हैं। तुम्हें वह घटना याद है, जब देवानन्द पण्डितके यहाँ तुम बहुत-से अन्य शिष्योंके सहित श्रीमद्भागवतका पाठ सुन रहे थे। पाठ सुनते-सुनते तुम बीचमें ही भावावेशमें आकर मूर्छित हो गये थे। उस समय तुम्हारे भावावेशको न तो पण्डितजी ही समझ सके थे और न उनके शिष्य ही समझ सके थे। शिष्य तुम्हें कन्धोंपर लादकर तुम्हारे घर पहुँचा गये थे। उस समय मैंने ही तुम्हें होशमें किया था, मैंने ही तुम्हारी मूर्छा भङ्ग की थी।'

प्रभुके मुखसे अपनी इस गुप्त घटनाको सुनकर श्रीवास पण्डितको परम आश्चर्य हुआ। उन्होंने यह घटना किसीके सम्मुख प्रकट नहीं की थी। इसके अनन्तर प्रभु अद्वैताचार्यको

लक्ष्य करके कहने लगे—'आचार्य ! तुम्हें उस दिनकी याद है जब तुम्हें श्रीमद्भगवद्गीताके निम्न श्लोकपर शङ्का हो गयी थी—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(गीता १३ । १३)

और तुम उस दिन बिना ही भोजन किये सो गये थे, इसपर मैंने ही '*पाणिपादं तत्*' की जगह '*पाणि पादान्तः*' यह प्रकृत-पाठ बताकर तुम्हारी शङ्काका निवारण किया था ।' इस बातको सुनकर आचार्यने प्रभुके चरणोंमें बार-बार प्रणाम किया । अब भक्तोंने भगवदावेशमें आसनपर बैठे हुए प्रभुकी सन्ध्या-आरतीका आयोजन किया । एक बहुत बड़ी आरती सजाई गयी । भक्त अपने हाथोंसे शङ्ख, घड़ियाल, झाँझ तथा अन्य भाँति-भाँतिके वाद्य बजाने लगे । श्रीवास पण्डितने शचीमाताके हाथमें आरती देकर उनसे आरती करनेको कहा । श्रीवासकी पत्नीकी सहायतासे वृद्धा माताने अपने काँपते हुए हाथोंसे प्रभुकी आरती की । उस समय सभी भक्त आनन्दमें उन्मत्त होकर वाद्य बजा रहे थे । जैसे-तैसे आरती समाप्त की गयी । श्रीवास पण्डितने शचीमाताको घर भेज दिया । अब सभी भक्तोंके वरदानकी बारी आयी । प्रायः प्रभुके सभी अन्तरङ्ग भक्त उस समय वहाँ उपस्थित थे, किन्तु उनके परम प्रिय भक्त श्रीधर वहाँ नहीं थे ।

भक्त श्रीधरसे तो पाठक परिचित ही होंगे । ये केलाके खोल और दोना बेचनेवाले वे ही भाग्यवान् भक्त हैं, जिनसे

प्रभु सदा छेड़खानी किया करते थे और घड़ी-दो-घड़ी तंग करके ही आधे दामोंपर इनसे खोल लेते थे। केलेकी गहरके डंठलके नीचे केलेमें जो मोटी-सी डंडी शेष रह जाती है, उसीको बङ्गालमें खोल कहते हैं। बङ्गालमें उसका शाक बनता है। प्रभुके भोजनोंमें जबतक श्रीधरके खोलका साग नहीं होता था, तबतक उन्हें अन्य पदार्थ स्वादिष्ट ही नहीं लगते थे। केलेके ऊपर जो कोमल-कोमल खोपटा होता है, उसे काट-काटकर और उसके थालसे बनाकर बहुत गरीब दूकानदार उन्हें भी बेचते हैं। उसमें स्त्रियाँ तथा पुरुष पूजनकी सामग्री रखकर पूजा करनेके निमित्त ले जाते हैं। श्रीधरजी इन्हीं चीजोंको बेचकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। इनसे जो आमदनी हो जाती, उसमेंसे आधीसे तो देवपूजन तथा गङ्गापूजन आदि करते और आधीसे जिस किसी प्रकार पेट भरते। दिन-रात ये उच्च स्वरसे हरिनाम-कीर्तन करते रहते। इसलिये इनके पासमें रहनेवाले मनुष्य इनसे बहुत ही नाराज रहते। उनका कहना था कि—'यह बूढ़ा रात्रिमें किसीको सोने ही नहीं देता।' इस गरीब दूकानदारकी सभी उपेक्षा करते। कोई भी इन्हें भक्त नहीं समझता, किन्तु प्रभुका इनपर हार्दिक स्नेह था। वे इनकी भगवत्-भक्तिको जानते थे, इसीलिये उन्होंने भगवत्-भावमें भी इन्हें स्मरण किया।

श्रीधरका घर बहुत दूर नगरके दूसरे कोनेपर था। सुनते ही चार-पाँच भक्त दौड़े गये। उस समय श्रीधर आनन्दमें

पड़े हुए श्रीहरिके मधुर नामोंका संकीर्तन कर रहे थे। लोगोंने जाकर किवाड़ खटखटाये। *'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव'* कहते-कहते ही इन्होंने कहा—'कौन है?'

भक्तोंने जल्दीसे कहा—'किवाड़ तो खोलो, तब स्वयं ही पता चल जायगा, कि कौन है! जल्दीसे किवाड़ तो खोलो।'

यह सुनकर श्रीधरने किवाड़ खोले और बड़ी ही नम्रताके साथ भक्तोंसे आनेका कारण पूछा। भक्तोंने जल्दीसे कहा—'प्रभुने तुम्हें स्मरण किया है। चलो जल्दी चलो।'

इस दीन-हीन कङ्गालको प्रभुने स्मरण किया है यह सुनते ही श्रीधर मारे प्रेमके बेसुध हो गये। वे हाय कहकर एकदम धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़े। उन्हें शरीरकी सुध-बुध भी न रही। भक्तोंने सोचा—'यह तो एक नयी आफत आयी, किन्तु प्रभुकी आज्ञा तो पूर्ण करनी ही है, भक्तोंने मूर्छित श्रीधरको कन्धोंपर उठा लिया और उसी दशामें उन्हें प्रभुके पास लाये। श्रीधर अभीतक अचैतन्य-दशाहीमें थे, प्रभुने अपने कोमल कर-कमलोंसे उनका स्पर्श किया। प्रभुका स्पर्श पाते ही श्रीधर चैतन्य हो गये। श्रीधरको चैतन्य देखकर प्रभु उनसे कहने लगे—'श्रीधर! तुम हमारे रूपके दर्शन करो। तुम्हारी इतने दिनोंकी मनोकामना पूर्ण हुई।' श्रीधरने रोते-रोते प्रभुके तेजोमय रूपके दर्शन किये। फिर प्रभुने उन्हें स्तुति करनेकी आज्ञा दी।

श्रीधर हाथ जोड़े हुए गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'मैं दीन-हीन पतित तथा लोक-बहिष्कृत अधम पुरुष भला प्रभुकी क्या स्तुति कर सकता हूँ ? प्रभो ! मैं बड़ा ही अपराधी हूँ । आपकी यथार्थ महिमाको न समझकर मैं सदा आपसे झगड़ा ही करता रहा । आप मुझे बार-बार समझाते, किन्तु मायाके चक्करमें पड़ा हुआ मैं अज्ञानी आपके गूढ़ रहस्यको ठीक-ठीक न समझ सका । आज आपके यथार्थ रूपके दर्शनसे मेरा अज्ञानान्धकार दूर हुआ । अब मैं प्रभुके सम्मुख अपने समस्त अपराधोंकी क्षमा चाहता हूँ ।'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'श्रीधर ! हम तुम्हारे ऊपर बहुत सन्तुष्ट हैं । तुम अब हमसे अपनी इच्छानुसार वर माँगो । ऋद्धि, सिद्धि, धन, दौलत, प्रभुता जिसकी तुम्हें इच्छा हो वही माँग लो । बोलो, क्या चाहते हो !'

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही दीनभावसे गद्गद कण्ठ-स्वरमें श्रीधरने कहा—'प्रभो ! मैंने क्या नहीं पा लिया ! संसार मेरी उपेक्षा करता है । मेरे पूछनेपर भी कङ्गाल समझकर लोग मेरी बातकी अवहेलना कर देते हैं, ऐसे तुच्छ कङ्गालको आपने अनुग्रह करके बुलाया और अपने देवदुर्लभ दर्शन देकर मुझे कृतार्थ किया । अब मुझे और चाहिये ही क्या ! ऋद्धि-सिद्धिको लेकर मैं करूँगा ही क्या ! यह भी तो एक प्रकारकी बड़ी माया ही है ।

प्रभुने आग्रहपूर्वक कहा—'नहीं कुछ तो वरदान माँगो ही। ऋद्धि-सिद्धि नहीं तो, जो भी तुम्हें प्रिय हो वही माँगो।'

श्रीधरने उसी दीनताके स्वरमें कहा—'यदि प्रभु कुछ देना ही चाहते हैं, तो यही वरदान दीजिये कि जो ब्राह्मण-कुमार हमसे सदा खोल खरीदते समय झगड़ा करते रहते थे वे सदा हमारे हृदयमें विराजमान रहें।'

श्रीधरकी इस निष्किञ्चनता और निःस्पृहतासे प्रभु परम प्रसन्न हुए। श्रीधर भगवान्‌के मुरली-मनोहर रूपके उपासक थे। वे भगवान्‌के '*श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव*' इन मधुर नामोंका सदा संकीर्तन करते रहते थे, इसलिये उन्हें प्रभुने श्रीकृष्ण-रूपके दर्शन कराये। प्रभुके श्री-विग्रहमें अपने इष्टदेवके दर्शन करके श्रीधर कृतार्थ हुए। वे मूर्छित होकर गिर पड़े और भक्तोंने उन्हें एक ओर लिटा दिया।

अब मुरारी गुप्तकी बारी आयी। मुरारी परम धार्मिक तथा विशुद्ध वैष्णव तो थे, किन्तु उन्हें तर्क-वितर्क और शास्त्रार्थ करनेका कुछ व्यसन-सा था। प्रभुने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—'मुरारी! तुम्हारे भक्त होनेमें यही एक अपूर्णता है, तुम शुष्क वाद-विवाद करना त्याग दो। अध्यात्म-शास्त्रोंमें भक्ति-ग्रन्थोंको ही प्रधानता दो।'

मुरारी गुप्तने कहा—'मैं वाद-विवाद और तर्क-वितर्क और कहाँ करता हूँ, केवल विद्वानोंके समीप कुछ प्रसङ्ग चलनेपर कह देता हूँ।'

प्रभुने कहा—'अद्वैताचार्यके साथ तुम तर्क-वितर्क नहीं किया करते ? क्या उनसे तुम अद्वैत वेदान्तकी बातें नहीं बघारा करते ?'

इसपर अद्वैताचार्यने प्रभुसे पूछा—'प्रभो ! क्या अद्वैत वेदान्तकी बातें करना बुरा काम है ?'

प्रभुने कुछ मुस्कराते हुए कहा—'बुरा काम कौन बताता है ? बहुत अच्छा है, किन्तु जिन्होंने भक्ति-पथका अनुसरण किया है, उन्हें इस प्रकारकी सिद्धियों और प्रक्रियाओंके चक्करमें पड़नेका प्रयोजन ही क्या है ?' यह कहकर प्रभु गम्भीर घोषसे इस श्लोकको पढ़ने लगे—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०)

प्रभुकी ऐसी आज्ञा सुनकर मुरारी चुप हो गये । इसपर प्रभुने कहा—'मुरारी ! तुम्हें ब्रह्मकी सिद्धिके लिये प्रक्रियाओंकी शरण लेनेकी क्या आवश्यकता है ? तुम्हारे भगवान् तो जन्म-सिद्ध हैं । तुम तो प्रभुके जन्म-जन्मान्तरोंके भक्त हो । हनूमान्‌के समान तुम्हारा भाव और विग्रह है । तुम साक्षात् हनूमान् ही हो । अपने रूपका तो स्मरण करो ।'

मुरारी राम-भक्त थे, प्रभुके स्मरण दिलानेपर वे अपने इष्टदेवका ध्यान करने लगे । उन्हें ऐसा भान हुआ, कि मैं साक्षात् हनूमान् ही हूँ और अपने इष्टदेवके चरणोंमें बैठा हुआ

उनकी पूजा कर रहा हूँ। उन्होंने ऊपरको आँख उठाकर प्रभु-की ओर देखा। उन्हें प्रभुका रूप अपने इष्टदेव सीतारामके ही रूपमें दिखायी देने लगा। अपने इष्टदेवको प्रभुके श्रीविग्रहके रूपमें देखकर मुरारी गद्गद कण्ठसे स्तुति करने लगे और बार-बार भूमिपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे।

प्रभुके वरदान माँगनेकी आज्ञापर हाथ जोड़े हुए मुरारीने अविचल श्रीराम-भक्तिकी ही प्रार्थना की, जिसे प्रभुने उनके मस्तक-पर अपने पाद-पद्म रखकर प्रेमपूर्वक प्रदान की।

इसके अनन्तर एक-एक करके सभी भक्तोंकी बारी आयी। अद्वैत, श्रीवास, वासुदेव सभीने प्रभुसे अहैतुकी भक्तिकी ही प्रार्थना की। हरिदास अपनेको बहुत ही दीन-हीन, कङ्गाल और अधम समझते थे। उन्हें प्रभुके सम्मुख होनेमें सङ्कोच होता था, इसलिये वे सबसे दूर भक्तोंके पीछे छिपे हुए बैठे थे। प्रभु-ने गम्भीर भावसे कहा—'हरिदास! हरिदास कहाँ है? उसे हमारे सामने लाओ।' सभी भक्त चारों ओर हरिदासजीको खोजने लगे, हरिदासजी सबसे पीछे सिकुड़े हुए बैठे थे। भक्तोंने उन्हें प्रभुके सम्मुख होनेको कहा, किन्तु वे तो प्रेममें बेसुध थे। भक्तोंने उन्हें उठाकर प्रभुके सम्मुख किया। हरिदासको सम्मुख देखकर प्रभु उनसे कहने लगे—'हरिदास! तुम अपनेको नीच मत समझो। तुम सर्वश्रेष्ठ हो, मेरी-तुम्हारी एक ही जाति है। जो तुम्हारा स्मरण-ध्यान करते हैं, वे मानो मेरी ही पूजा करते

हैं। मैं सदा ही तुम्हारे साथ रहता हूँ। तुम्हारी पीठपर जब बेंत पड़ रहे थे, तब भी मैं तुम्हारे साथ ही था, वे बेंत तो मेरी ही पीठपर पड़ रहे थे। देख लो, मेरी पीठपर अभीतक निशान बने हुए हैं। सभी भक्तोंके कष्टोंको मैं अपने ऊपर ही झेलता हूँ। इसीलिये भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी भक्त दुखी नहीं होते। कारण कि जो लोग भक्तोंको कष्ट देते हैं, वे मानो मुझे ही कष्ट पहुँचाते हैं। इसीलिये अब मैं दुष्टोंका संहार न करके उद्धार करूँगा। तुमने मुझसे दुष्टोंके संहारकी प्रार्थना नहीं की थी। किन्तु उनकी बुद्धि-शुद्धि और कल्याणकी ही प्रार्थना की थी। इसलिये अब मैं अपने सुमधुर नाम-संकीर्तनद्वारा दुष्टोंका उद्धार कराऊँगा। मेरे इस कार्यमें जाति-वर्ण या ऊँच-नीचका विचार न रहेगा। मेरे नाम-संकीर्तनसे सभी पावन बन सकेंगे। अब तुम अपना अभीष्ट वर मुझसे माँगो ?'

हाथ जोड़े हुए दीन-भावसे हरिदासजीने कहा—'हे वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ! हे दयालो! हे प्रेमावतार! यदि आपकी इच्छा मुझे वरदान ही देनेकी है, तो मुझे यही वरदान दीजिये, कि मैं सदा दीन-हीन, कङ्गाल तथा निष्किञ्चन अमानी ही बना रहूँ। मुझे प्रभुके दास होनेके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारका अभिमान न हो, मैं सदा वैष्णवोंकी पदधूलिको अपने मस्तकका परम भूषण ही समझता रहूँ, वैष्णवोंके चरणोंमें मेरी सदा प्रीति बनी रहे। इसी वरदानको मैं प्रभुके निकटसे याचना करता हूँ।'

इनकी इस प्रकारकी वर-याचनाको सुनकर भक्तमण्डलीमें चतुर्दिक्‌से आनन्दध्वनि होने लगी। सभी हरिदासजीकी भक्ति-भावनाकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

मुकुन्द दत्तसे भी पाठक अपरिचित न होंगे। वे भी वहाँ उपस्थित थे, किन्तु अपनेको प्रभु-दर्शनका अनधिकारी समझकर दूर ही बैठे रो रहे थे। श्रीवास पण्डितने डरते-डरते प्रार्थना की–'प्रभो! ये मुकुन्द आपके अत्यन्त ही प्रिय हैं, इनके ऊपर भी कृपा होनी चाहिये। ये अपनेको प्रभुके दर्शनतकका अधिकारी नहीं समझते।'

प्रभुने कुछ रोपके स्वरमें गम्भीर भावसे कहा—'मुकुन्दके ऊपर कृपा नहीं हो सकती। ये अपनेको वैसे तो भक्त करके प्रसिद्ध करते हैं, किन्तु बातें सदा तार्किकों-सी किया करते हैं। वैष्णव-लीलाओंको पण्डितसमाजमें बैठकर बाजीगरका खेल बताते हैं और अपनेको बड़ा भारी विद्वान् और ज्ञानी समझते हैं। इन्हें भगवान्‌के दर्शन न हो सकेंगे।'

रोते-रोते मुकुन्दने श्रीवासके द्वारा पुछवाया, हम कभी भी भगवत्-कृपाके अधिकारी न बन सकेंगे? इनके कहनेपर श्रीवास पण्डितने पूछा—'प्रभो! मुकुन्द जिज्ञासा कर रहे हैं, कि हम कभी भगवत्-कृपाके अधिकारी बन भी सकेंगे?'

प्रभुने कुछ उपेक्षा-भावसे उत्तर देते हुए कहा—'हाँ, कोटि जन्मोंके बाद अधिकारी बन सकते हो।' इतना सुनते ही

मुकुन्द आनन्दमें विभोर होकर नृत्य करने लगे और प्रेममें पुलकित होकर गद्गद कण्ठसे यह कहते हुए कि 'कभी होंगे तो सही, कभी होंगे तो सही' नृत्य करने लगे। वे स्वयं ही कहते जाते। कोटि जन्मोंकी क्या बात है। थोड़े ही कालमें कोटि जन्म बीत जायँगे। बहुत कालमें भी बीता, तो भी तो अन्तमें हमें प्रभु-कृपा प्राप्त हो सकेगी। बस, भगवत्-कृपा प्राप्त होनी चाहिये, फिर चाहे वह कभी क्यों न प्राप्त हो ?' इनकी ऐसी आनन्द-दशाको देखकर सभी भक्तोंको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वे इनकी ऐसी दृढ़ निष्ठाको देखकर अवाक् रह गये। अन्तमें प्रभुने इन्हें प्रेमालिङ्गन प्रदान करते हुए कहा—'मुकुन्द ! तुमने अपनी इस अविचल निष्ठासे मुझे खरीद लिया। सचमुच तुम परम वैष्णव हो, तुम्हारी ऐसी दृढ़ निष्ठाके कारण मेरी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। तुम भगवद्-कृपाके सर्वश्रेष्ठ अधिकारी हो। तुमने ऐसी बात कहकर मेरे आनन्दको और लक्षों गुणा बढ़ा दिया। मुकुन्द ! तुम्हारे-जैसा धैर्य, तुम्हारी-जैसी उच्च निष्ठा साधारण लोगोंमें होनी अत्यन्त ही कठिन है। तुम भगवत्-कृपाके अधिकारी बन गये। मेरे तेजोमय रूपके दर्शन करो।' यह कहकर प्रभुने उन्हें अपने तेजोमय रूपके दर्शन कराये और मुकुन्द उस अलौकिक रूपके दर्शनसे मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। फिर सभी भक्तोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार श्यामवर्ण, मुरलीमनोहर, सीताराम, राधाकृष्ण, देवी-देवता तथा अन्य भगवत्-रूपोंके प्रभुके शरीरमें दर्शन किये।

भगवद्भावकी समाप्ति

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥*
(गीता ११।४५)

संसारमें यह नियम है, जो मनुष्य जितना बोझ ले जा [स]कता है, समझदार लोग उसके ऊपर उतना ही बोझ लादते [ह]ैं। यदि कोई अज्ञानवश किसीके ऊपर उसकी शक्तिसे अधिक [ब]ोझ लाद दे तो या तो वह उस बोझको बीचमें ही गिरा देगा [य]ा उससे मूर्छित होकर स्वयं ही भूमिपर गिर पड़ेगा। इसी [प्र]कार भगवान् अपने सम्पूर्ण तेज अथवा प्रेमको कहीं प्रकट [न]हीं करते। जहाँ जैसा अधिकारी देखते हैं वहाँ वैसा ही अपना [रू]प बना लेते हैं। भगवान्के तेजकी तो बात ही दूसरी है,

* भगवान्का विश्वरूप देखनेके अनन्तर अर्जुनने प्रार्थना की—हे [दे]वेश! हे सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र आधार! आपके इस अलौकिक, [दि]व्य और पहिले कभी न देखे जानेवाले रूपको देखकर मुझे परम [प्र]सन्नता प्राप्त हुई, किन्तु प्रभो! अब न जाने क्यों मेरा मन भयसे [व्]याकुल-सा हो रहा है। आपके इस असह्य तेजको अब अधिक सहन [क]रनेमें असमर्थ हूँ। इसलिये हे कृपालो! मेरे ऊपर प्रसन्न होकर अपने [उ]सी पुराने रूपको मुझे फिरसे दिखाइये।

मनुष्योंमें भी जो सदाचारी, तपस्वी, कर्मनिष्ठ, संयमी, सच्चरित्र तथा तेजस्वी पुरुष होते हैं उनके सामने भी क्षुद्र प्रकृतिके असंयमी और इन्द्रियलोलुप पुरुष अधिक देरतक बैठकर बातें नहीं कर सकते। उनके तेजके सम्मुख उन्हें अधिक देर ठहरना असह्य हो जाता है। किसी विशेष कारणवश उन्हें वहाँ ठहरना भी पड़े तो वह समय भार-सा मालूम पड़ता है। इसीलिये भगवान्के असली तेजके दर्शन तो मायाबद्ध जीवको इस पाञ्चभौतिक शरीरसे हो ही नहीं सकते। उन्हें भगवान्के मायाविशिष्ट तेजके ही दर्शन होते हैं, तभी तो भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूप दिखानेपर भी पीछेसे संकेत कर दिया था, कि यह जो रूप तुझे दिखाया था, यह भी एक प्रकारसे मायिक ही है। मायाबद्ध जीवको शुद्ध स्वरूपके दर्शन हो ही कैसे सकते हैं, इतनेपर भी उसके पूर्ण तेजको अधिक देर सहन करनेकी देवताओंतकमें शक्ति नहीं। फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या! भक्तोंके हृदयमें एक प्रकारकी अपूर्व ज्योति निरन्तर जलती रहती है, किन्तु प्रत्यक्षरूपसे उन्हें भी अधिक [illegible]तक भगवान्का तेजोमय स्वरूप असह्य हो जाता है

इच्छा ही नहीं करते। भगवत्-इच्छासे कभी स्वतः ही हो जाय तो यह बात दूसरी है।

प्रभुको भगवत्-भावमें पूरे सात प्रहर बीत गये। दिन गया, रात्रिका भी अन्त होनेको आया, किन्तु प्रभुके तेज अथवा ऐश्वर्यमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन नहीं दिखायी दिया। भक्त ज्यों-के-त्यों बैठे थे, न तो कोई कहीं अन्यत्र भोजन करने गया और न कोई पैर फैलाकर सोया। चारों ओरसे प्रभुको घेरे हुए बैठे ही रहे। रात्रिके अन्त होनेपर प्रभातका समय हो गया। अद्वैताचार्यने देखा, सभी भक्त घबड़ाये हुए-से हैं, वे अब अधिक देरतक प्रभुके अलौकिक तेजको सहन नहीं कर सकते। अतः उन्होंने श्रीवास पण्डितके कानमें कहा—'हम साधारण संसारी लोग प्रभुके इस असह्य तेजको और अधिक देरतक सहन करनेमें असमर्थ हैं, अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे प्रभुके इस भावका शमन हो जाय।'

श्रीवास पण्डितको अद्वैताचार्यकी यह सम्मति बहुत ही युक्तियुक्त प्रतीत हुई। उनकी बातका समर्थन करते हुए वे बोले—'हाँ, आप ठीक कहते हैं। इस ऐश्वर्यमय रूपकी अपेक्षा तो हमें गौररूप ही प्रिय है। हम सभी मिलकर प्रभुसे प्रार्थना करें कि प्रभो! अब इस अपने अद्भुत अलौकिक भावको संवरण कीजिये और हम लोगोंको फिर उसी गौररूपसे दर्शन दीजिये।' श्रीवासजीकी यह बात सभीको पसन्द आयी

सभी हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे—'प्रभो! अब अपने इस ऐश्वर्यको अप्रकट कर लीजिये। इस तेजसे हम संसारी जीव जल जायँगे। हममें इसे अधिक काल सहन करनेकी शक्ति नहीं है। अब हमें अपना वही असली गौररूप दिखाइये।' भक्तोंकी ऐसी प्रार्थना सुनकर प्रभुने बड़े ज़ोरके साथ एक हुंकार मारी। हुंकार मारते ही उन्हें एकदम मूर्छा आ गयी और मूर्छा आनेपर यह कहते हुए कि 'अच्छा तो लो अब हम जाते हैं' अचेतन होकर सिंहासनपरसे भूमिपर गिर पड़े। भक्तोंने जल्दीसे उठाकर प्रभुको एक सुन्दरसे आसनपर लिटाया, प्रभु मूर्छित दशामें ज्यों-के-त्यों ही पड़े रहे। तनिक भी इधर-उधरको नहीं हिले-डुले।

प्रभुको मूर्छित देखकर सभी भक्त विविध भाँतिके उपचार करने लगे। कोई पंखा लेकर प्रभुको वायु करने लगे। सुगन्धित तैल अथवा शीतल लेप प्रभुके मस्तकपर लेपन करने लगे, किन्तु प्रभुकी मूर्छा भङ्ग नहीं हुई। प्रभुकी परीक्षाके निमित्त अद्वैत और श्रीवास आदि प्रमुख भक्तोंने प्रभुके सम्पूर्ण शरीरकी परीक्षा की। उनकी नासिकाके सामने बहुत देरतक हाथ रखे रहे, किन्तु साँस बिलकुल चलता हुआ मालूम नहीं पड़ता था। हाथ-पैर तथा शरीरके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग संज्ञाशून्य-से बने हुए थे। जिस अङ्गको जैसे भी डाल देते, वह वैसे ही पड़ा रहता, किसी प्रकारकी चैतन्यपनेकी चेष्टा किसी भी अङ्गसे प्रतीत नहीं होती थी। प्रभुकी ऐसी दशा देखकर सभी भक्तोंको बड़ा भारी

भय-सा प्रतीत होने लगा। वे बार-बार प्रभुके इस वाक्यको स्मरण करने लगे—'अच्छा तो लो अब हम जाते हैं।' बहुत-से तो इससे अनुमान लगाने लगे, कि प्रभु सचमुच हमें छोड़कर चले गये। बहुत-से कहने लगे—'यह बात नहीं, वह तो प्रभुके ऐश्वर्य और तेजके सम्बन्धका भाव था, हमारे गौरहरि तो थोड़ी देरमें चैतन्य-लाभ कर लेंगे।' किन्तु उनका यह अनुमान ठीक होता दिखायी नहीं देता था, प्रातःकालसे प्रतीक्षा करते-करते दोपहर हो गया, किन्तु प्रभुकी दशामें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। वे उसी भाँति संज्ञाशून्य पड़े रहे।

ज्येष्ठका महीना था, भक्तोंको बैठे-बैठे तीस घण्टे हो गये थे। प्रभुकी दशा देखकर सभी व्याकुल हो रहे थे। सभी उसी भावसे प्रभुको घेरे हुए बैठे थे, न कोई शौच-स्नानको गया और न किसीको भूख-प्यासकी सुधि रही, सभी प्रभुके भावमें अधीर हुए चुपचाप बैठे थे। बहुतोंने तो निश्चय कर लिया था, कि यदि प्रभुको चेतनता लाभ न हुई तो हम भी यहीं बिना खाये-पीये प्राण त्याग देंगे। इसी उद्देश्यसे वे बिना रोये-पीटे धैर्यके साथ प्रभुके चारों ओर बैठे थे। कल प्रातःकाल श्रीवास पण्डित-के घरके किवाड़ जो बन्द किये गये थे, वे ज्यों-की-त्यों बन्द ही थे, प्रातःकाल कोई भी कहीं निकलकर बाहर नहीं गया। इस घटनाकी सूचना शचीमाताको भी देना उचित नहीं समझा गया। क्योंकि वहाँ तो प्रायः सब-के-सब अपने-अपने प्राणोंकी बाजी लगाये हुए बैठे थे। इसी बीच एक भक्तने कहा—

'अनेकों बार जब प्रभु मूर्छित हुए हैं, तो संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनि सुनकर ही सचेत हुए हैं। क्यों नहीं प्रभुको चैतन्य लाभ करानेके निमित्त संकीर्तन किया जाय।' यह बात सभीको पसन्द आयी और सभी चारों ओरसे प्रभुको घेरकर संकीर्तन करने लगे। सभी भक्त अपने कोमल कण्ठोंसे करुणा-मिश्रित स्वरमें ताल-स्वरके साथ—वाद्य बजाकर—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका संकीर्तन करने लगे। संकीर्तनकी नव-जीवन-सञ्चारी, प्राणोंसे भी प्यारी धुनिको सुनकर प्रभुके शरीरमें रोमाञ्च-से होने लगे। सभीको प्रभुका शरीर पुलकित-सा प्रतीत होने लगा। अब तो भक्तोंके आनन्दकी सीमा नहीं रही। वे नाम संकीर्तन छोड़कर [illegible] हुए [illegible]र्तन करते

सकनेके कारण मूर्छित होकर गिर पड़ा। कोई शङ्ख बजाने लगा, कोई शीतल जल लेकर प्रभुके श्रीमुखमें धीरे-धीरे डालने लगा। इस प्रकार श्रीवासजीका सम्पूर्ण घर उस समय आनन्दका तरङ्गित सागर ही बन गया। जिसमें भक्तोंकी प्रसन्नताकी हिलोरें उठ-उठकर दिशाओंको गुँजाती हुई भीषण शब्द कर रही थीं।

थोड़ी ही देरके अनन्तर प्रभु आँखें मलते हुए निद्रासे जागे हुए मनुष्यकी भाँति उठे और अपने चारों ओर भक्तोंको एकत्रित और बहुत-सी अभिषेककी सामग्रियोंको पड़ी हुई देखकर आश्चर्यके साथ पूछने लगे—'हैं, यह क्या है? हम कहाँ आ गये? आप सब लोग यहाँ क्यों एकत्रित हैं? आप सब लोग इस प्रकार विचित्र भावसे यहाँ क्यों बैठे हुए हैं?'

प्रभुके इन प्रश्नोंको सुनकर भक्त एक दूसरेकी ओर देखकर मुस्कराने लगे। प्रभुके इन प्रश्नोंका किसीने भी कुछ उत्तर नहीं दिया। इसपर प्रभुने श्रीवास पण्डितको सम्बोधन करके पूछा—'पण्डितजी! बताइये न, असली बात क्या है? हमसे कोई चञ्चलता तो नहीं हो गयी, अचेतनावस्थामें हमसे कोई अपराध तो नहीं बन गया? मामला क्या है, ठीक-ठीक बताते क्यों नहीं?'

अपनी हँसीको रोकते हुए श्रीवास पण्डित कहने लगे—'अब हमें बहकाइये नहीं। बहुत बननेकी चेष्टा न कीजिये। अब यहाँ कोई बहकनेवाला नहीं है।'

प्रभुने दुगुना आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'कैसा बहकाना, बताते क्यों नहीं ? बात क्या है ?'

इसपर बातको टालते हुए श्रीवासजीने कहा—'कुछ नहीं, आप संकीर्तनमें अचेत हो गये थे, इसलिये आपको चैतन्य-लाभ करानेके निमित्त सभी भक्त मिलकर कीर्तन कर रहे थे।'

इस बातको सुनकर कुछ लज्जित होते हुए प्रभुने कहा-'अच्छा, तो ठीक है। आपलोगोंको हमारे कारण बड़ा कष्ट हुआ। आप सभी लोग हमें क्षमा करें। बहुत समय बीत गया, अब चलकर स्नान-सन्ध्या-वन्दन करना चाहिये। मालूम होता है अभी प्रातःकालीन सन्ध्या भी नहीं हुई।' यह सुनकर सभी भक्त स्नान-सन्ध्याके निमित्त गङ्गाजीकी ओर चले गये।

प्रेमोन्मत्त अवधूतका पादोदकपान

वाग्भिः स्तुवन्तो मनसा स्मरन्त-
स्तन्वा नमन्तोऽप्यनिशं न तृप्ताः ।
भक्ताः स्रवन्नेत्रजलाः समग्र-
मायुर्हरेरेव समर्पयन्ति ॥ *
(हरि० भ० सु० १८ । ३८)

जिन्हें भगवत्-भक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, जो प्रभु-प्रेममें मतवाले बन गये हैं, उनके सभी कर्म लोक-बाह्य हो जाते हैं। जो क्रिया किसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये की जाती है, उसे कर्म कहते हैं, किन्तु वैसे ही निरुद्देश्यरूपसे केवल करनेके ही निमित्त जो चेष्टाएँ या क्रियाएँ होती हैं, उन्हें लीला कहते हैं। बालकोंकी सभी चेष्टाएँ ऐसी ही होती हैं, उनमें कोई इन्द्रिय-

* उन प्रभुके प्यारे भक्तोंका जीवन कैसा होता है ? वे आयुको कैसे बिताते हैं उसीका वर्णन है—'प्रभुके प्यारे भक्त अपनी वाणीसे निरन्तर सुमधुर हरिनामका उच्चारण करते रहते हैं अथवा स्तोत्रोंसे बाँकेविहारीकी विरदावली गाते रहते हैं, मनसे उस मुरली-मनोहरके सुन्दर रूपका चिन्तन करते रहते हैं और शरीरसे उनके लिये सदा दण्ड-प्रणाम करते रहते हैं। वे सदा विकल-से, पागल-से, अधीर-से तथा अतृप्त-से ही बने रहते हैं। उनके नेत्रोंसे सदा जल टपकता रहता है, इस प्रकार वे अपनी सम्पूर्ण आयुको श्रीहरि भगवान्‌के ही निमित्त समर्पण कर देते हैं। (अहा, वे भगवत्-भक्त धन्य हैं)

जन्य सुख-स्वार्थ या कोई उद्देश्य नहीं होता। वे तो वैसे ही निरुद्देश्य भावसे होती हैं। भक्तोंकी सभी चेष्टाएँ इसी प्रकारकी होती हैं, इसीलिये उन्हें कर्म न कहकर लीला ही कहनेकी प्राचीन परिपाटी चली आयी है। भक्तोंकी लीलाएँ प्रायः बालकोंकी लीलाओंसे बहुत ही अधिक मिलती-जुलती हैं। जहाँ लोक-लज्जाका भय है, जहाँ किसी वस्तुके प्रति अश्लीलताके कारण घृणाके भाव हैं और जहाँ दूसरोंसे भयकी सम्भावना है, वहाँ असली प्रेम नहीं। बिना असली प्रेमके विशुद्ध लीला हो ही नहीं सकती। अतः लज्जा, घृणा और भय ये स्वार्थजन्य मोहके द्योतक भाव हैं। भक्तोंमें तथा बालकोंमें ये तीनों भाव नहीं होते, तभी उनका हृदय विशुद्ध कहा जाता है।

प्रेममें उन्मत्त हुआ भक्त कभी तो हँसता है, कभी रोता है, कभी गाता है और कभी संसारकी लोक-लाज छोड़कर दिगम्बर-वेशसे ताण्डव-नृत्य करने लगता है। उसका चलना विचित्र है, वह विलक्षण-भावसे हँसता है, उसकी चेष्टामें उन्माद है, उसके भाषणमें निरर्थकता है और उसकी भाषा संसारी-भाषासे भिन्न ही है। वह बालकोंकी भाँति सबसे प्रेम करता है, उसे किसीसे भय नहीं, किसी बातकी लज्जा नहीं, नंगा रहे तो भी वैसा और वस्त्र पहिने रहे तो भी वैसा ही। उसे बाह्य वस्तोंकी कुछ अपेक्षा नहीं, वह संसारके विधि-निषेधका गुलाम नहीं। अवधूत नित्यानन्दजीकी भी यही दशा थी। बत्तीस वर्षकी अवस्था होनेपर भी वे सदा बाल्यभावमें ही रहते। मालतीदेवीके

सूखे स्तनोंको मुँहमें लेकर बच्चोंकी भाँति चूसते, अपने हाथसे दाल-भात नहीं खाते, तनिक-तनिक-सी बातोंपर नाराज़ हो जाते और उसी क्षण बालकोंकी भाँति हँसने लगते। श्रीवासको पिता कहकर पुकारते और उनसे बच्चोंकी भाँति हठ करते। गौराङ्ग इन्हें बार-बार समझाते, किन्तु ये किसीकी एक भी नहीं सुनते। सदा प्रेम-वारुणी पान करके उसीके मदमें मत्त-से बने रहते। शरीरका होश नहीं, वस्त्र गिर गया है, उसे उठानेतककी भी सुध नहीं है। नंगे हो गये हैं तो नंगे ही बाजारमें घूम रहे हैं। खेल कर रहे हैं तो घण्टोंतक उसीमें लगे हुए हैं। कभी बालकोंके साथ खेलते, कभी भक्तोंके साथ क्रीड़ा करते, कभी-कभी गौरको भी अपने बाल-कौतूहलसे सुखी बनाते। कभी मालतीदेवीको ही वात्सल्य-सुख पहुँचाते, इस प्रकार ये सभीको अपनी सरलता, निष्कपटता, सहृदयता और बाल-चपलतासे सदा आनन्दित बनाते रहते थे।

एक दिन ये श्रीवास पण्डितके घरके आँगनमें खड़े-ही-खड़े कुछ खा रहे थे, इतनेमें ही एक कौआ ठाकुरजीके घृतके दीप-पात्रको उठा ले गया। इससे मालतीदेवीको बड़ा दुःख हुआ। माताको दुखी देखकर ये बालकोंकी भाँति कौएको टुकड़ा दिखाते हुए कहने लगे। बार-बार कौएको पुचकारते हुए गायनके स्वरमें सिर हिला-हिलाकर कह रहे थे—

कौआ भैया आ जा, दूध बतासे खा जा।
मेरा दीपक दे जा, अपना टुकड़ा ले जा॥

अम्मा बैठी रोवे, आँसूसे मुँह धोवे।
उनको धीर बँधा जा, कौआ भैया आ जा॥
दूध बतासे खा जा, आ जा प्यारे आ जा।

सचमुचमें इनकी बात सुनकर कौआ जल्दीसे आकर उस पीतलके पात्रको इनके समीप डाल गया। माताको इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और वह इनमें ईश्वरभावका अनुभव करने लगी। तब आप बड़े जोरोंसे खिलखिलाकर हँसने लगे और ताली बजा-बजाकर कहने लगे—

कौआ मेरा भैया, मेरी प्यारी मैया।
मेरा वह प्यारा, बेटा है तुम्हारा॥
मैंने पात्र मँगाया है, उससे जल्द मँगाया है।
अब दो मुझे मिठाई, लड्डू बालूसाई॥

माता इनकी इस बाल-चपलतासे बड़ी ही प्रसन्न हुईं। अब आप जल्दीसे घरसे बाहर निकले। बाजारमें होकर पागलोंकी तरह दौड़ते जाते थे, न कुछ शरीरका होश है, न रास्तेकी सुध, किधर जा रहे हैं और कहाँ जा रहे हैं, इसका भी कुछ पता नहीं है। रास्तेमें भागते-भागते लँगोटी खुल गयी, उसे जल्दीसे सिरपर लपेट लिया, अब नंगे-धड़ंगे, दिगम्बर शिवकी भाँति ताण्डव-नृत्य करते जा रहे हैं। रास्तेमें लड़के ताली पीटते हुए इनके पीछे दौड़ रहे हैं, किन्तु इन्हें किसीकी कुछ परवा ही नहीं। जोरोंसे चौकड़ियाँ भर रहे हैं। इस प्रकार बिल्कुल नग्नावस्थामें आप प्रभुके घर पहुँचे। प्रभु उस समय अपने

प्राणेश्वरी विष्णुप्रियाजीके साथ बैठे हुए कुछ प्रेमकी बातें कर रहे थे, विष्णुप्रिया धीरे-धीरे पान लगा-लगाकर प्रभुको देती जाती थीं और प्रभु उनकी प्रसन्नताके निमित्त बिना कुछ कहे खाते जाते थे। वे कितने पान खा गये होंगे, इसका न तो विष्णुप्रियाजीको ही पता था, न प्रभुको ही। पानका तो बहाना था, असलमें तो वहाँ प्रेमका खान-पान हो रहा था। इतनेमें ही ये नंगे-धड़ंगे उन्मत्त अवधूत पहुँच गये। आँखें लाल-लाल हो रही हैं, सम्पूर्ण शरीर धूलि-धूसरित हो रहा है। लँगोटी सिरसे लिपटी हुई है। शरीरसे खूब लम्बे होनेके कारण दिगम्बर-वेशमें ये दूरसे देवकी तरह दिखायी पड़ते थे। प्रभुके समीप आते ही ये पागलोंकी तरह हुँ-हुँ करने लगे। विष्णुप्रियाजी इन्हें नग्न देखकर जल्दीसे घरमें भाग गयीं और जल्दीसे किवाड़ बन्द कर लिये। शचीमाता भीतर बैठी हुई चर्खा चला रही थीं, अपनी बहूको इस प्रकार दौड़ते देखकर उन्होंने जल्दीसे पूछा—'क्यों, क्यों क्या हुआ?'

विष्णुप्रिया मुँहमें वस्त्र देकर हँसने लगीं। माताने समझा निमाईने जरूर कुछ कौतूहल किया है। अतः वे पूछने लगीं—'निमाई यहीं है या बाहर चला गया?'

अपनी हँसीको रोकते हुए हाँफते-हाँफते विष्णुप्रियाजीने कहा—'अपने बड़े बेटेको तो देखो, आज तो वे सचमुच ही अवधूत बन आये हैं।' यह सुनकर माता बाहर गयीं और निताईकी इस प्रकारकी बाल-क्रीड़ाको देखकर हँसने लगीं।'

इसके अनन्तर प्रभुने निताईके पादपद्मोंमें स्वयं ही सुगन्धित चन्दनका लेप किया, पुष्प चढ़ाये और उनके चरणोंको अपने हाथोंसे पखारा। निताईका पादोदक सभी भक्तोंको वितरित किया गया। सभीने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ उसका पान किया। शेष जो बचा उस सबको प्रभु पान कर गये और पान करते हुए बोले—'आज हम कृतकृत्य हुए। आज हमारा जन्म सफल हुआ। आज हमें यथार्थ श्रीकृष्ण-भक्तिकी प्राप्ति हुई। श्रीपादके चरणामृतपानसे आज हम धन्य हुए।'

इस प्रकार सभी भक्तोंने अपने-अपने भाग्यकी सराहना की। भाग्यकी सराहना तो करनी ही चाहिये, भगवान्‌की यथार्थ पूजा तो आज ही हुई। भगवान् अपनी पूजासे उतने सन्तुष्ट नहीं होते, जितने अपने भक्तोंकी पूजासे सन्तुष्ट होते हैं। उनका तो कथन है, जो केवल मेरे ही भक्त हैं, वे तो भक्त ही नहीं, यथार्थ भक्त तो वही है जो मेरे भक्तोंका भक्त हो। भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥*

(आदिपुराण)

क्योंकि भगवान्‌को तो भक्त ही अत्यन्त प्रिय हैं। जो

* भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं—'हे पार्थ! जो मनुष्य मेरे ही भक्त हैं वे भक्त नहीं हैं। सर्वोत्तम भक्त तो वे ही हैं जो मेरे भक्तों-के भक्त हैं।

प्रभुने नित्यानन्दजीसे पूछा—'श्रीपाद ! आज तुमने यह क्या स्वांग बना लिया है ? बहुत चञ्चलता अच्छी नहीं। जल्दीसे लँगोटी बाँधो ।' किन्तु किसीको लँगोटीकी सुधि हो तब तो उसे बाँधे। उन्हें पता ही नहीं कि लँगोटी कहाँ है और उसे बाँधना कहाँ होगा ? प्रभुने इनकी ऐसी दशा देखकर जल्दीसे अपना पट-वस्त्र इनकी कमरमें स्वयं ही बाँध दिया और हाथ पकड़कर अपने पास बिठाकर धीरे-धीरे पूछने लगे—'श्रीपाद ! कहाँसे आ रहे हो ? तुम्हें हो क्या गया है ? यह धूलि सम्पूर्ण शरीरमें क्यों लगा ली है ?'

श्रीपाद तो मर्क थे, उन्हें शरीरका होश कहाँ, चारों ओर देखते हुए पागलोंकी तरह 'हुँ-हुँ' करने लगे। प्रभु इनकी प्रेमकी इतनी ऊँची अवस्थाको देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उसी समय उन्होंने सभी भक्तोंको बुला लिया। भक्त आ-आकर नित्यानन्दजीके चारों ओर बैठने लगे। प्रभुने नित्यानन्दजीसे प्रार्थना की—'श्रीपाद ! अपनी प्रसादी लँगोटी कृपा करके हमें प्रदान कीजिये ।' नित्यानन्दजीने जल्दीसे सिरपरसे लँगोटी खोलकर फेंक दी। प्रभुने वह लँगोटी अत्यन्त ही भक्तिभावके साथ सिरपर चढ़ायी और फिर उसके छोटे-छोटे बहुत-से टुकड़े किये। सभी भक्तोंको एक-एक टुकड़ा देते हुए प्रभुने कहा—'इस प्रसादी चीरको आप सभी लोग खूब सुरक्षित रखना।' प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके सभीने उस प्रसादी चीरको गलेमें बाँध लिया, किसी-किसीने उसे मस्तकपर रख लिया।

इसके अनन्तर प्रभुने निताईके पादपद्मोंमें स्वयं ही सुगन्धित चन्दनका लेप किया, पुष्प चढ़ाये और उनके चरणोंको अपने हाथोंसे पखारा। निताईका पादोदक सभी भक्तोंको वितरित किया गया। सभीने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ उसका पान किया। शेष जो बचा उस सबको प्रभु पान कर गये और पान करते हुए बोले—'आज हम कृतकृत्य हुए। आज हमारा जन्म सफल हुआ। आज हमें यथार्थ श्रीकृष्ण-भक्तिकी प्राप्ति हुई। श्रीपादके चरणामृतपानसे आज हम धन्य हुए।'

इस प्रकार सभी भक्तोंने अपने-अपने भाग्यकी सराहना की। भाग्यकी सराहना तो करनी ही चाहिये, भगवान्‌की यथार्थ पूजा तो आज ही हुई। भगवान् अपनी पूजासे उतने सन्तुष्ट नहीं होते, जितने अपने भक्तोंकी पूजासे सन्तुष्ट होते हैं। उनका तो कथन है, जो केवल मेरे ही भक्त हैं, वे तो भक्त ही नहीं, यथार्थ भक्त तो वही है जो मेरे भक्तोंका भक्त हो। भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥*

(आदिपुराण)

क्योंकि भगवान्‌को तो भक्त ही अत्यन्त प्रिय हैं। जो

* भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं—'हे पार्थ! जो मनुष्य मेरे ही भक्त हैं वे भक्त नहीं हैं। सर्वोत्तम भक्त तो वे ही हैं जो मेरे भक्तों-के भक्त हैं।

उनके प्रियजनोंकी अवहेलना करके केवल उन्हींका पूजन करो वे उन्हें प्रिय किस प्रकार हो सकेंगे ? इसलिये सब प्रकारके आराधनोंसे विष्णु भगवान्‌का आराधन श्रेष्ठ जरूर है, किन्तु विष्णु भगवान्‌के आराधनसे भी श्रेष्ठ विष्णु-भक्तोंका आराधन है।*

भगवत्-भक्तोंकी महिमा प्रकाशित करनेके निमित्त ही प्रभुने यह लीला की थी। सभी भक्तोंको निताईके पादोदक-पानसे एक प्रकारकी आन्तरिक शान्ति-सी प्रतीत हुई।

अब निताईको कुछ-कुछ होश हुआ। वे बालकोंकी भाँति चारों ओर देखते हुए शचीमातासे दीनताके साथ बच्चोंकी तरह कहने लगे—'अम्मा! बड़ी भूख लगी है, कुछ खानेके लिये दो।' माता यह सुनकर जल्दीसे भीतर गयी और घरकी बनी हुई सुन्दर मिठाई लाकर इनके हाथोंपर रख दी। ये बालकोंकी भाँति जल्दी-जल्दी कुछ खाने लगे, कुछ पृथ्वीपर फेंकने लगे। खाते-खाते ही ये माताके चरण छूनेको दौड़े। माता डरकर जल्दीसे घरमें घुस गयी। इस प्रकार उस दिन निताईने अपनी अद्भुत लीलासे सभीको आनन्दित किया।

---

* आरा

घर-घरमें हरिनामका प्रचार

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥*

(बृहन्नारदीय पु० ३८। १२६)

सत्ययुगमें प्रायः सभी धर्मात्मा पुरुष होते थे। धर्मके कारण ठीक समयपर वर्षा होती थी, योगक्षेमकी किसीको भी चिन्ता नहीं होती थी। देश, काल तथा खाद्य पदार्थोंमें पूर्णरूपसे विशुद्धता विराजमान थी। उस समयके लोग ध्यान-प्रधान होते थे। सत्ययुगमें प्रभु-प्राप्तिका मुख्य साधन ध्यान ही समझा जाता था। त्रेतायुगमें भोग-सामग्रियोंकी प्रचुरता थी, इसलिये खूब द्रव्य लगाकर उस समय बड़े-बड़े यज्ञ-याग करनेकी ही प्रथा थी। उस समय भगवत्-प्राप्तिका मुख्य साधन यज्ञ करना ही समझा जाता था। सकाम तथा निष्काम दोनों ही भावोंसे द्विजातिगण यथाशक्ति यज्ञ-याग करते थे। द्वापरमें भोग-सामग्रियोंकी न्यूनता हो गयी। लोगोंके भाव उतने विशुद्ध नहीं रहे। देश, काल तथा खाद्य पदार्थोंकी सामग्रियोंमें भी पवित्रताका सन्देह होने लगा, इसलिये

---

* कलियुगमें हरिनाम, हाँ, केवल हरिनाम, अजी, यह बिलकुल ठीक है एकमात्र हरिनाम ही संसार-सागरसे पार होनेका सर्वोत्तम साधन है। इसके सिवाय कलिकालमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है; अजी, प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, दूसरी कोई गति है ही नहीं।

उस समयका प्रधान साधन भगवत्-पूजन तथा आचार-विचार ही माना गया। कलियुगमें न तो पर्याप्तरूपसे सबके लिये सामग्री ही है और न अन्य युगोंकी भाँति खाद्य पदार्थोंकी प्रचुरता ही। पवित्र स्थान बुरे लोगोंके निवाससे दूषित हो गये, धर्मस्थान कलहके घर बन गये, लोगोंके हृदयोंमेंसे धर्मके प्रति आस्था जाती रही। लोगोंके अधर्मभावसे वायुमण्डल दूषित बन गया। वायुमण्डलके दूषित हो जानेसे देशोंमेंसे पवित्रता चली गयी। काल विपरीत हो गया। सत्पुरुष, सत्‌शास्त्र तथा सत्सङ्गका सर्वत्र अभाव-सा ही हो गया। ऐसे घोर समयमें भली भाँति ध्यान, यज्ञ-याग, तथा पूजा-पाठका होना भी सबके लिये कठिन हो गया है। इस युगमें तो एक भगवन्नाम ही मुख्य है।* उक्त धार्मिक कृत्योंको जो लोग पवित्रता और सन्निष्ठाके साथ कर सकें वे भले ही करें, किन्तु सर्वसाधारणके लिये सुलभ, सरल और सर्वश्रेष्ठ साधन भगवन्नाम ही है। भगवन्नामकी ही शरण लेकर कलिकालमें मनुष्य सुगमताके साथ भगवत्-प्राप्तिकी ओर अग्रसर हो सकता है। इसीलिये कलियुगके सभी सन्त-महात्माओंने नामके ऊपर बहुत जोर दिया है। महाप्रभु तो नामावतार ही थे। अबतक वे भक्तोंके ही साथ एकान्त

---

* कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५२)

श्रीनिताई और हरिदासका नाम-प्रचार

भावसे श्रीवासके घर संकीर्तन करते थे, अब इन्होंने सभी प्राणियोंको हरिनाम-वितरण करनेका निश्चय किया ।

प्रचारका कार्य त्यागी महानुभाव ही कर सकते हैं। भक्ति-भाव और भजन-पूजनमें सभीको अधिकार है, किन्तु लोगोंको करनेके लिये शिक्षा देना तो त्यागियोंका ही काम है। उपदेशक या नेता तो त्यागी ही बन सकते हैं। भगवान् बुद्ध राजा बनकर भी धर्मका सङ्गठन कर सकते थे, शंकराचार्य-जैसे परम ज्ञानी महापुरुषको लिंगसंन्यास और दण्डधारणकी क्या आवश्यकता थी? गौरांग महाप्रभु गृहस्थी होते हुए भी संकीर्तनका प्रचार कर सकते थे, किन्तु इन सभी महानुभावोंने लोगोंको उपदेश करनेके ही निमित्त संन्यासधर्मको स्वीकार किया । बिना संन्यासी बने लोक-शिक्षणका कार्य भलीभाँति हो भी तो नहीं सकता ।

प्रभुके भक्तोंमें दो संन्यासी थे, एक तो अवधूत नित्यानन्द और दूसरे महात्मा हरिदासजी । अवधूत नित्यानन्दजी तो लिंग-संन्यासी थे और महात्मा हरिदासजी अलिंगसंन्यासी । ब्राह्मणेतर वर्णके लिये संन्यासकी विधि तो है, किन्तु शास्त्रोंमें उनके लिये संन्यासके चिह्नोंका विधान नहीं है, वे विदुरकी भाँति अलिंग-संन्यासी बन सकते हैं, या वनमें वास करके वाणप्रस्थ-धर्मका आचरण कर सकते हैं, इसीलिये हरिदासजीने किसी भी प्रकार-का साधुओंका-सा वेश नहीं बनाया था । प्रभु-प्राप्तिके लिये किसी प्रकारका बाह्य वेश बनानेकी आवश्यकता भी नहीं है ।

श्रीनिताई और हरिदासका नाम-प्रचार

भावसे श्रीवासके घर संकीर्तन करते थे, अब उन्होंने सभी प्राणियोंको हरिनाम-वितरण करनेका निश्चय किया।

प्रचारका कार्य त्यागी महानुभाव ही कर सकते हैं। भक्ति-भाव और भजन-पूजनमें सभीको अधिकार है, किन्तु लोगोंको करनेके लिये शिक्षा देना तो त्यागियोंका ही काम है। उपदेशक या नेता तो त्यागी ही बन सकते हैं। भगवान् बुद्ध राजा बनकर भी धर्मका सङ्गठन कर सकते थे, शंकराचार्य-जैसे परम ज्ञानी महापुरुषको लिंगसंन्यास और दण्डधारणकी क्या आवश्यकता थी? गौरांग महाप्रभु गृहस्थी होते हुए भी संकीर्तनका प्रचार कर सकते थे, किन्तु इन सभी महानुभावोंने लोगोंको उपदेश करनेके ही निमित्त संन्यासधर्मको स्वीकार किया। बिना संन्यासी बने लोक-शिक्षणका कार्य भलीभाँति हो भी तो नहीं सकता।

प्रभुके भक्तोंमें दो संन्यासी थे, एक तो अवधूत नित्यानन्द और दूसरे महात्मा हरिदासजी। अवधूत नित्यानन्दजी तो लिंग-संन्यासी थे और महात्मा हरिदासजी अलिंगसंन्यासी। ब्राह्मणेतर वर्णके लिये संन्यासकी विधि तो है, किन्तु शास्त्रोंमें उनके लिये संन्यासके चिह्नोंका विधान नहीं है, वे विदुरकी भाँति अलिंग-संन्यासी बन सकते हैं, या वनमें वास करके वाणप्रस्थ-धर्मका आचरण कर सकते हैं, इसीलिये हरिदासजीने किसी भी प्रकार-का साधुओंका-सा वेश नहीं बनाया था। प्रभु-प्राप्तिके लिये किसी प्रकारका बाह्य वेश बनानेकी आवश्यकता भी नहीं है।

प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, उनसे न तो भीतरके भाव ही छिपे हुए हैं और न वे बाहरी चिह्नोंको ही देखकर धोखा खा सकते हैं। चिह्न धारण करना तो एक प्रकारकी लोक-परम्परा है।

प्रभुने नित्यानन्द और हरिदासजीको बुलाकर कहा—'अब इस प्रकार एकान्तमें ही संकीर्तन करते रहनेसे काम नहीं चलेगा। अब हमें नगर-नगर और घर-घरमें हरिनामका प्रचार करना होगा। यह काम आप लोगोंके सुपुर्द किया जाता है। आप दोनों ही नवद्वीपके मुहल्ले-मुहल्ले और घर-घरमें जाकर हरिनामका प्रचार करें। लोगोंसे विनय करके, हाथ जोड़ तथा पैर छूकर आपलोग हरिनामकी भिक्षा माँगें। आपलोग हरिनाम-वितरण करते समय पात्रापात्र अथवा छोटे-बड़ेका कुछ भी खयाल न करें। ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालपर्यन्त, पण्डितसे लेकर मूर्ख-तक सबको समान-भावसे हरिनामका उपदेश करें। हरिनामके सभी प्राणी अधिकारी हैं। जो भी जिज्ञासा करे अथवा न भी करे उसीके सामने आपलोग भगवान्‌के सुमधुर नामोंका संकीर्तन करें, उससे भी संकीर्तन करनेकी प्रार्थना करें। जाइये, श्रीकृष्ण भगवान् आपके इस कार्यमें सहायक होंगे।'

प्रभुका आदेश पाकर दोनों ही अवधूत परम उल्लासके सहित नवद्वीपमें हरिनाम-वितरण करनेके लिये चले। दोनों एक ही उद्देश्यसे तथा एक ही कामके लिये साथ-ही-साथ चले थे, किन्तु दोनोंके स्वभावमें आकाश-पातालका अन्तर था। नित्यानन्द-

का रङ्ग गोरा था, हरिदास कुछ काले थे। नित्यानन्द लम्बे और कुछ पतले थे, हरिदासजीका शरीर कुछ स्थूल और ठिगना-सा था। हरिदास गम्भीर प्रकृतिके शान्त पुरुष थे और नित्यानन्द परम उद्दण्ड और चञ्चल-प्रकृतिके। हरिदासकी अवस्था कुछ ढलने लगी थी, नित्यानन्द अभी पूर्ण युवक थे। हरिदासजी नम्रतासे काम लेनेवाले थे, नित्यानन्दजी किसीके बिना छेड़े बात ही नहीं करते थे। इस प्रकार यह भिन्न प्रकृतिका जोड़ा नवद्वीपमें नाम-वितरण करने चला। ये दोनों घर-घर जाते और वहाँ जोरोंसे कहते—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

लोग इन्हें भिखारी समझकर भाँति-भाँतिकी भिक्षा लेकर इनके समीप आते। ये कहते हम अन्नके भिखारी नहीं हैं, हम तो भगवन्नामके भिखारी हैं। आपलोग एक बार अपने मुखसे श्रीहरिके—

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे! हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

इन सुमधुर नामोंका उच्चारण करके हमारे हृदयोंको शीतल कीजिये, यही हमारे लिये परम भिक्षा है। लोग इनके इस प्रकारके मार्मिक वाक्योंको सुनकर प्रभावान्वित हो जाते और उच्च स्वरसे सभी मिलकर हरिनामोंका संकीर्तन करने लगते। इस प्रकार ये एक द्वारसे दूसरे द्वारपर जाने लगे। ये जहाँ भी जाते, लोगोंकी एक बड़ी भीड़ इनके साथ हो लेती और ये सभीसे उच्च

स्वरसे हरिकीर्तन करनेको कहते । सभी लोग मिलकर इनके पीछे नाम-संकीर्तन करते जाते । इस प्रकार मुहल्ले-मुहल्ले और बाजार-बाजारमें चारों ओर भगवान्‌के सुमधुर नामोंकी ही गूँज सुनायी देने लगी ।

नित्यानन्द रास्ते चलते-चलते भी अपनी चञ्चलताको नहीं छोड़ते थे । कभी रास्तेमें साथ चलनेवाले किसी लड़केको धीरेसे नोंच लेते, वह चौंककर चारों ओर देखने लगता, तब ये हँसने लगते । कभी दो लड़कोंके सिरोंको सहसा पकड़कर जल्दीसे उन्हें लड़ा देते । कभी बच्चोंके साथ मिलकर नाचने ही लगते । छोटे-छोटे बच्चोंको द्वारपर जहाँ भी खड़ा देखते, उनकी ओर बन्दरका-सा मुख बनाकर बन्दरकी तरह 'खौं-खौं' करके घुड़की देने लगते । बच्चा रोता हुआ अपनी माताकी गोदीमें दौड़ा जाता और ये आगे बढ़ जाते । कोई-कोई आकर इन्हें डाँटता, किन्तु इनके लिये डाँटना और प्यार करना दोनों समान ही था । उसे गुस्सेमें देखकर आप उपेक्षाके भावसे कहते 'कृष्ण-कृष्ण कहो कृष्ण-कृष्ण' व्यर्थमें जिह्वाको क्यों कष्ट देते हो । यह कहकर अपने कोकिल-कूजित कमनीय कण्ठसे गायन करने लगते—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

गुस्सा करनेवालोंका सभी रोष काफूर हो जाता और वे भी इनके साथ मिलकर तन्मयताके साथ श्रीकृष्ण-कीर्तन करने

लगते। ये निर्भीकभावसे स्त्रियोंमें घुस जाते और उनसे कहते—'माताओ! मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, पुत्रकी इस प्रार्थनाको स्वीकार कर लो। तुम एक बार भगवान्‌का नाम-संकीर्तन करके मेरे हृदयको आनन्दित कर दो।' इनकी इस प्रकार सरल, सरस और निष्कपट प्रार्थनासे सभी माताओंका हृदय पसीज जाता और वे सभी मिलकर श्रीकृष्ण-कीर्तनमें निमग्न हो जातीं। इस प्रकार ये प्रातःसे लेकर सायंकालपर्यन्त द्वार-द्वार घूमते और संकीर्तनका शुभ सन्देश सभी लोगोंको सुनाते। शामको आकर प्रचारका सभी वृत्तान्त प्रभुको सुनाते। इनकी सफलताकी बातें सुनकर प्रभु इनके साहसकी सराहना करते और इन्हें विविध भाँतिसे प्रोत्साहित करते। इन दोनोंको ही नामके प्रचारमें बड़ा ही अधिक आनन्द आता। उसके पीछे ये खाना-पीना सभी कुछ भूल जाते।

अब तो प्रभुका यश चारों ओर फैलने लगा। दूर-दूरसे लोग प्रभुके दर्शनको आते। भक्त तो इन्हें साक्षात् भगवान्‌का अवतार ही बताते, कुछ लोग इन्हें परम भागवत समझकर ही इनका आदर करते। कुछ लोग विद्वान् भक्त समझते और कुछ वैसे ही इनके प्रभावसे प्रभावान्वित होकर स्तुति-पूजा करते। इस प्रकार अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार लोग विविध प्रकारसे इनकी पूजा करने लगे। लोग भाँति-भाँतिके उपहार तथा भेंट प्रभुके लिये लाते। प्रभु उन सबकी प्रसन्नताके निमित्त उन्हें ग्रहण कर लेते। ये घाटमें, बाजारमें जिधर भी निकल जाते

उधरके ही लोग खड़े हो जाते और इन्हें विविध प्रकारसे दण्ड-प्रणाम करने लगते। इस प्रकार ज्यों-ज्यों संकीर्तनका प्रचार होने लगा, त्यों-ही-त्यों प्रभुका यशः-सौरभ चारों ओर व्याप्त होता हुआ दृष्टिगोचर होने लगा। प्रभु सभीसे नम्रतापूर्वक मिलते। बड़ोंको भक्तिभावसे प्रणाम करते, छोटोंसे कुशल-क्षेम पूछते और बराबर-वालोंको गलेसे लगाते। मूर्ख-पण्डित, धनी-दरिद्र, ऊँच-नीच तथा छोटे-बड़े सभी प्रकारके लोग प्रभुको आदरकी दृष्टिसे देखने लगे। इधर भक्तोंका उत्साह भी अब अधिकाधिक बढ़ने लगा।

नित्यानन्दजी और हरिदासजीके प्रतिदिनके प्रचारका प्रभाव प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होने लगा। पाठशाला जाते हुए बच्चे उच्च स्वरसे हरि-कीर्तन करते हुए जाने लगे। गाय-भैंसोंको ले जाते हुए ग्वाले महामन्त्रको गुनगुनाते जाते थे। गङ्गा-स्नानको जाते हुए यात्री हरि-कीर्तन करते हुए जाते थे। उत्सव तथा पर्वोंमें स्त्रियाँ मिलकर हरि-नामका ही गायन करती हुई निकलती थीं। लोगोंने पुरुषोंकी तो बात ही क्या, स्त्रियोंतकको बाजारोंमें हरि-नाम-संकीर्तन करते तथा ऊपर हाथ उठाकर प्रेमसे नृत्य करते हुए देखा। चारों ओर ये ही शब्द सुनायी देने लगे—

कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्।
राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे! हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

जगाई-मधाईकी क्रूरता,

नित्यानन्दकी उनके उद्धारके निमित्त प्रार्थना

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥*

(श्रीमद्भा० १०। १।५८)

यदि इस स्वार्थपूर्ण संसारमें साधु पुरुषोंका अस्तित्व न होता, यदि इस पृथ्वीको परमार्थी महापुरुष अपनी पद-धूलिसे पावन न बनाते, यदि इस संसारमें सभी लोग अपने-अपने स्वार्थकी ही बात सोचनेवाले होते तो यह पृथ्वी रौरव-नरकके समान बन जाती। इस दुःखमय जगत्‌को परमार्थी साधुओंने ही सुखमय बना रखा है, इस निरानन्द जगत्‌को अपने निःस्वार्थ भावसे महात्माओंने ही आनन्दका स्वरूप बना रखा है। स्वार्थमें चिन्ता है, परमार्थमें उल्लास। स्वार्थमें सदा भय ही बना रहता है, परमार्थ-सेवनसे प्रतिदिन अधिकाधिक धैर्य बढ़ता जाता है।

---

* साधु पुरुषोंके लिये कौन-सी बात दुःसह है? विद्वानोंको किस वस्तुकी अपेक्षा है, नीच पुरुष क्या नहीं कर सकते और धैर्यवान् पुरुषोंके लिये कौन-सा काम कठिन है? अर्थात् महात्मा सब कुछ सहन कर सकते हैं, असली विद्वान्‌को किसी वस्तुकी आवश्यकता ही नहीं रहती, नीच पुरुष अत्यन्त निन्द्य-से-निन्द्य क्रूर कर्म भी कर सकते हैं और धैर्यवानोंके लिये कोई भी काम कठिन नहीं है।

स्वार्थमें सने रहनेसे ही दीनता आती है, परमार्थी निर्भीक और निडर होता है। इतना सब होनेपर भी क्रूर पुरुषोंका अस्तित्व रहता ही है। यदि अविचारी पाप कर्म करनेवाले क्रूर पुरुष न हों, तो महात्माओंकी दया, सहनशीलता, नम्रता, सहिष्णुता, सरलता, परोपकारिता तथा जीवमात्रके प्रति अहैतुकी करुणाका प्रकाश किस प्रकार हो ? क्रूर पुरुष अपनी क्रूरता करके महापुरुषोंको अवसर देते हैं, कि वे अपनी सद्वृत्तियोंको लोगोंके सम्मुख प्रकट करें, जिनका अनुसरण करके दुखी और चिन्तित पुरुष अपने जीवनको सुखमय और आनन्दमय बना सकें। इसीलिये तो सृष्टिके आदिमें ही मधु-कैटभ नामके दो राक्षस ही पहिले-पहिल उत्पन्न हुए। उन्हें मारनेपर ही तो भगवान् मधुकैटभारि बन सके। रावण न होता तो रामजीके पराक्रमको कौन पहिचानता ? पूतना न होती तो प्रभुकी असीम दयालुताका परिचय कैसे मिलता ? शिशुपाल यदि गाली देकर भगवान्के हाथसे मरकर मुक्ति-लाभ न करता तो *'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'* (अर्थात् भगवान्का क्रोध भी वरदानके ही समान है) इस महामन्त्रका प्रचार कैसे होता ? अजामिल-जैसा नीच कर्म करनेवाला पापी पुत्रके बहाने 'नारायण' नाम लेकर सद्गति प्राप्त न करता तो भगवन्नामकी इतनी अधिक महिमा किस प्रकार प्रकट होती ? अतः जिस प्रकार संसारको महात्मा और सत्पुरुषोंकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दुष्टोंकी क्रूरतासे भी उसका बहुत कुछ काम चलता है। भगवान् तो अवतार तब

धारण करते हैं जब पृथ्वीपर बहुत-से क्रूर कर्म करनेवाले पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं। क्रूरकर्मा पुरुष अपनी क्रूरता करनेमें पीछे नहीं हटते और महात्मा अपने परमार्थ और परोपकारके धर्मको नहीं छोड़ते। अन्तमें विजय धर्मकी ही होती है क्योंकि *'यतो धर्मस्ततो जयः।'*

महाप्रभु गौराङ्गदेवके समयमें भी नवद्वीपमें जगाई-मधाई (जगन्नाथ-माधव) नामके दो क्रूरकर्मा ब्राह्मण-कुमार निवास करते थे। *'राक्षसाः कलिमाश्रित्य जायते ब्रह्मयोनिषु'* अर्थात् 'कलियुग आनेपर राक्षस लोग ब्राह्मणोंके रूपमें पृथ्वीपर उत्पन्न हो जायँगे।' शास्त्रके इस वाक्यका प्रत्यक्ष प्रमाण जगाई-मधाई दोनों भाइयोंके जीवनमें दृष्टिगोचर होता था। वे उस समय गौड़ेश्वरकी ओरसे नदियाके कोतवाल बनाये गये थे। कोतवाल क्या थे, प्रजाका संहार करनेवाले एक प्रकारसे नवद्वीपके बिना छत्रके बादशाह ही थे। इनसे ऐसा कोई भी दुष्कर्म नहीं बचा था, जिसे ये न करते हों। मनुष्यके विनाशके जितने लक्षण बताये हैं, वे सब इनके नित्य-नैमित्तिक कर्म थे। भगवान्‌ने विनाशके लक्षणोंका स्वयं वर्णन किया है—

> यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु।
> धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति॥
> (श्रीमद्भा० ७। ४। २८)

भगवान् कहते हैं—'जिस समय मनुष्य देवताओंसे, वैदिक कर्मोंसे, गौओंसे, ब्राह्मणोंसे, साधु-महात्माओंसे, धार्मिक

कृत्योंसे और मुझसे विद्वेष करने लगता है, तो उसका शीघ्र ही नाश हो जाता है।' इनसे कोई भी बात नहीं बची थी। देवताओंके मन्दिरोंमें जाना तो इन्होंने जन्मसे ही नहीं सीखा था, ब्राह्मण होनेपर भी ये वेदका नामतक नहीं जानते थे। मांस तो इनका नित्यप्रतिका भोजन ही था, साधु-ब्राह्मणोंकी अवज्ञा कर देना तो इनके लिये साधारण-सी बात थी। जिसे भी चाहते बाजारमें खड़ा करके जूतोंसे पिटवा देते। किसीका सम्मान करना तो ये जानते ही नहीं थे। अच्छे-अच्छे कर्मकाण्डी और विद्वान् ब्राह्मण इनके नामसे थर-थर काँपने लगते थे। किसीको इनके सामनेतक जानेकी हिम्मत नहीं होती थी। धर्म किस चिड़ियाका नाम है और वह कहाँ रहती है, इसका तो इन्हें पता ही नहीं था। धनिकोंके यहाँ डाका डलवा देना, लोगोंको कत्ल करा देना, पतिव्रताओंके सतीत्वको नष्ट करा देना, यह तो इनके लिये साधारण-से कार्य थे। न किसीसे सीधी बात करना और न किसीके पास बैठना बस, खूब मदिरा-पान करके उसीके मदमें मतवाले हुए ये सदा पाप-कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहते थे। ये नगरके काजीको खूब धन दे देते, इसलिये वह भी इनके विरुद्ध कुछ नहीं कहता था। वैसे इनका घर तो भगवती भागीरथीके तटपर ही था, किन्तु ये घरमें नहीं रहते थे, सदा डेरा-तम्बू लेकर एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेमें दौरा करते। अबके इस मुहल्लेमें इनका डेरा पड़ा है तो अबके उसमें। इसी प्रकार ये मुहल्ले-मुहल्लेमें दस-दस, बीस-बीस दिन रहते। जिस मुहल्लेमें इनका डेरा पड़ जाता, उस मुहल्लेके लोगों-

के प्राण सूख जाते। कोई भी इनके सामने होकर नहीं निकलता था, सभी आँख बचाकर निकल जाते। इस प्रकार इनके पाप पराकाष्ठापर पहुँच गये थे। उस समय ये नवद्वीप-में अत्याचारोंके लिये रावण-कंसकी तरह, वक्रदन्त-शिशुपालकी तरह, नादिरशाह-गज़नीकी तरह, तथा डायर-ओडायरकी तरह प्रसिद्ध हो चुके थे।

एक दिन ये मदिराके मदमें उन्मत्त हुए पागलोंकी भाँति प्रलाप-सा करते हुए लाल-लाल आँखें किये कहीं जा रहे थे। रास्तेमें नित्यानन्दजी और हरिदासजीने इन्हें देखा। इनकी ऐसी शोचनीय और विचित्र दशा देखकर नवद्वीपमें नये ही आये हुए नित्यानन्दजी लोगोंसे पूछने लगे—'क्यों जी, ये लोग कौन हैं और इस प्रकार पागलोंकी तरह क्यों बकते जा रहे हैं? वेष-भूषासे तो ये कोई सभ्य पुरुष-से जान पड़ते हैं!'

लोगोंने कुछ सूखी हँसी हँसते हुए उत्तर दिया—'मालूम पड़ता है अभी आपको इनसे पाला नहीं पड़ा है। तभी ऐसी बातें पूछ रहे हैं। ये यहाँके साक्षात् यमराज हैं। पापियोंको भी सम्भवतया यमराजसे इतना डर न लगता होगा जितना कि नवद्वीपके नर-नारियोंको इन नराधमोंसे लगता है। इन्होंने जन्म तो ब्राह्मणके घरमें लिया है, किन्तु ये काम चाण्डालोंसे भी बढ़कर करते हैं। देखना, आप कभी इनके सामने होकर नहीं निकलना। इन्हें साधुओंसे बड़ी चिढ़ है। यदि इन्होंने आपलोगोंको देख

भी लिया तो खैर नहीं है । परदेशी समझकर हमने यह बात आपको समझा दी है ।'

लोगोंके मुखसे ऐसी बात सुनकर नित्यानन्दजीको इनके ऊपर दया आयी । वे सोचने लगे—'जो लोग नाममें श्रद्धा रखते हैं और सदा सत्कर्मोंको करनेकी चेष्टा करते रहते हैं, यदि ऐसे लोग हमारे कहनेसे भगवन्नामका कीर्तन करते हैं, इसमें तो हमारे प्रभुकी विशेष बड़ाई नहीं है । प्रशंसाकी बात तो यह है, कि ऐसे पापी भी पाप छोड़कर भगवन्नामका आश्रय ग्रहण करके प्रभुकी शरणमें आ जायँ । भगवन्नामका असली महत्व तो तभी प्रकट होगा । ऐसे लोग ही सबसे अधिक कृपाके पात्र हैं । ऐसे ही लोगोंके लिये तो भगवन्नाम-उपदेशकी परम आवश्यकता है । किसी प्रकार इन लोगोंका उद्धार होना चाहिये ।' इस प्रकार नित्यानन्दजी मन-ही-मन विचार करने लगे । जिस प्राणीके लिये महात्माओंके हृदयमें शुभकामना उत्पन्न हो जाय, महात्मा जिसके भलेके लिये विचारने लगें, समझना चाहिये उसका तो कल्याण हो चुका । फिर उसके उद्धारमें देरी नहीं हो सकती। महात्माओंकी यथार्थ इच्छा अथवा सत्संकल्प होते ही पापी-से-पापी प्राणी भी परम पावन और पुण्यवान् बन सकता है । जब निताईके हृदयमें इन दोनों भाइयोंके उद्धारके निमित्त चिन्ता होने लगी, तभी समझना चाहिये, इनके पापोंके क्षय होनेका समय अत्यन्त ही समीप आ पहुँचा । मानों अब इनका सौभाग्य-सूर्य कुछ ही कालमें उदय होनेवाला हो ।

नित्यानन्दजीने अपने मनोगत विचार हरिदासजीपर प्रकट किये। हरिदासजीने कहा—'आप तो विना सोचे ही वरोंके छत्तेमें हाथ डालना चाहते हैं। अभी सुना नहीं, लोगोंने क्या कहा था?'

नित्यानन्दजीने कुछ गम्भीरताके साथ कहा—'सुना तो सब कुछ, किन्तु इतनेसे ही हमें डर जाना तो न चाहिये। हमें तो भगवन्नामका प्रचार करना है!'

हरिदासजीने कहा—'मैं यह कब कहता हूँ, कि भगवन्नाम-का प्रचार बन्द कर दीजिये? चलिये, जैसे कर रहे हैं दूसरी ओर चलकर नामका प्रचार करें। इन सोते सिंहोंको जगानेसे क्या लाभ?'

नित्यानन्दजीने कहा—'आपकी बात तो ठीक है, किन्तु प्रभुकी तो आज्ञा है, कि भगवन्नाम-वितरणमें पात्रापात्रका ध्यान मत रखना, सभीको समानभावसे उपदेश करना। पापी हो या पुण्यात्मा, भगवन्नाम ग्रहण करनेके तो सभी अधिकारी हैं। इसलिये इन्हें भगवन्नामका उपदेश क्यों न किया जावे?'

हरिदासजीने कुछ नम्रताके स्वरमें कहा—'यह तो ठीक है। आपके सामने जो भी पड़े उसे ही भगवन्नामका उपदेश करो, किन्तु इन्हींको विशेषरूपसे उद्देश्य करके इनके पास चलना ठीक नहीं। इन्हींके पास हठपूर्वक क्यों चला जाय? भगवन्नामका उपदेश करनेके लिये और भी बहुत-से मनुष्य पड़े हैं। उन्हें चलकर उपदेश कीजिये।'

नित्यानन्दजीने कुछ दृढ़ताके साथ कहा—'देखिये, जो अधिक बीमार होता है, जिसे अन्य रोगियोंकी अपेक्षा ओषधिकी अधिक आवश्यकता होती है, बुद्धिमान् वैद्य सबसे पहिले उसी रोगीकी चिकित्सा करता है और उसे ओषधि देकर तब दूसरे रोगीकी नाड़ी देखता है। अन्य लोगोंकी अपेक्षा भगवन्नामकी इन्हीं लोगोंको अधिक आवश्यकता है। इनके इतने क्रूर कर्मोंका भगवन्नामसे ही प्रायश्चित्त हो सकता है। इनकी निष्कृतिका दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं। क्यों ठीक है न! आप मेरी बातसे सहमत हैं न!'

हरिदासजीने कहा—'जैसी आपकी इच्छा, यदि आप इन्हें ही सबसे अधिक भगवन्नामका अधिकारी समझते हैं तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं। मैं भी आपके साथ चलनेको तैयार हूँ।' यह कहकर हरिदासजी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका अपने सुमधुर कण्ठसे गान करते हुए जगाई-मधाईके डेरेकी ओर चले। इन दोनोंको बादशाहकी ओरसे थोड़ी-सी फौज भी मिली हुई थी। उसे ये सदा साथ रखते थे। ये दोनों संन्यासी निर्भीक होकर भगवन्नामका गान करते हुए इनके निवास-स्थानके समीप पहुँचे। दैव-योगसे ये दोनों भाई सामने ही सुराके मदमें चूर हुए पलँगोंपर बैठे थे। इन दोनोंको अपने सामने गायन करते देखकर इनकी ओर

लाल-लाल आँखोंसे देखते हुए वे लोग बोले—'तुम लोग कौन हो और क्या चाहते हो ?'

नित्यानन्दजीने बड़े मधुर स्वरमें कहा—

'कृष्ण कहो, कृष्ण भजो, लेहु कृष्ण नाम।
कृष्ण माता, कृष्ण पिता, कृष्ण धन प्राण॥'

इसके अनन्तर वे कहने लगे—'हम भिक्षुक हैं, आपसे भिक्षा माँगने आये हैं, आप अपने मुखसे—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव॥

—भगवान्‌के इन मधुर नामोंका उच्चारण करें, यही हमलोगोंकी भिक्षा है।' इतना सुनते ही ये दोनों भाई मारे क्रोधके लाल हो गये और जल्दीसे उठकर इनकी ओर झपटे। झपटते हुए उन्होंने कहा—'कोई है नहीं, इन दोनों बदमाशोंको पकड़ तो लो।' बस, इतना सुनना था, कि नित्यानन्दजीने वहाँसे दौड़ लगायी। हरिदासजी भी हाँफते हुए उनके पीछे दौड़ने लगे, किन्तु शरीरसे स्थूल और अधिक अवस्था होनेके कारण वे दुबले-पतले चञ्चल युवक निताईके साथ कैसे दौड़ सकते थे ? नित्यानन्दजीने उनकी बाँहको कसकर पकड़ लिया और उन्हें घसीटते हुए दौड़ने लगे। हरिदासजी घिसटते हुए नित्यानन्दजी-के साथ जा रहे थे। जगाई-मधाईके नौकर कुछ दूर तो इन्हें पकड़नेके लिये दौड़े, फिर वे यह सोचकर लौट गये, कि ये तो नशेमें ऐसे बकते ही रहते हैं, हम इन साधुओंको

पकड़कर क्या पावेंगे ? उन्होंने इन दोनोंका बहुत दूरतक पीछा नहीं किया ।

हरिदासजी हाँफ रहे थे, वे बार-बार पीछे देखते जाते थे। अन्तमें वे बहुत ही अधिक थक गये । झुँझलाकर नित्यानन्दजीसे बोले—'अजी, अब तो छोड़ दो, दम तो निकला जाता है, क्या प्राण लेकर ही छोड़ोगे ? आपने तो मेरी कलाई इतनी कसकर पकड़ ली है कि दर्दके मारे मरा जाता हूँ । अब तो कोई पीछे भी नहीं आ रहा है ।'

नित्यानन्दजीने भागते-भागते कहा—'थोड़ी-सी हिम्मत और करो । बस, इस अगले तालाबतककी ही तो बात है ।'

हरिदासजीने कुछ क्षोभके साथ कहा—'भाड़में गया आपका तालाब ! यहाँ तो प्राणोंपर बीत रही है, आपको तालाब सूझ रहा है । छोड़ो मेरा हाथ !' यह कहकर बूढ़े हरिदासजीने जोरसे एक झटका दिया, किन्तु भला निताईसे वे बाँह कैसे छुड़ा सकते थे ? तब तो नित्यानन्दजी हँसकर खड़े हो गये। हरिदासजी बेहोश होकर जमीनपर गिर पड़े । जोरोंसे साँस लेते हुए कहने लगे—'रहने भी दीजिये, आप तो सदा चञ्चलता ही करते रहते हैं । मैंने पहिले ही मना किया था । आप माने ही नहीं । एक तो जिद करके वहाँ गये और दूसरे मुझे खींच-खींचकर अधमरा कर दिया ।'

हँसते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'आपकी ही सम्मतिसे

तो हम गये थे। यदि आप सम्मति न देते तो हम क्यों जाते ? आप ही तो हम दोनोंमें बुजुर्ग हैं।'

हरिदासजीने कुछ रोषमें आकर कहा—'बुजुर्ग हैं पत्थर ! मेरी सम्मतिसे गये थे तो वहाँसे भाग क्यों आये ? तब मेरी सम्मति क्यों नहीं ली ?'

जोरोंसे हँसते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'यदि उस समय आपकी सम्मतिकी प्रतीक्षा करता, तो सब मामला साफ ही हो जाता।' इस प्रकार आपसमें एक-दूसरेको प्रेमके साथ ताने देते हुए ये दोनों प्रभुके निकट पहुँचे। उस समय प्रभु भक्तोंके साथ बैठे श्रीकृष्ण-कथा कह रहे थे। इन दोनों प्रचारक तपस्वियोंको देखकर वे प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—'लो, भाई ! युगल-जोड़ी आ गयी। प्रचारक-मण्डलके मुखिया आ गये। अब आपलोग इनके मुखसे नगर-प्रचारका वृत्तान्त सुनिये।'

प्रभुके ऐसा कहनेपर हरिदासजीने कहा—'प्रभो ! श्रीपाद नित्यानन्दजी बड़ी चञ्चलता करते हैं, इन्हें आप समझा दीजिये कि थोड़ी कम चञ्चलता किया करें।'

प्रभुने पूछा—'क्यों-क्यों ? बात क्या है, क्या हुआ ? आज कोई नयी चञ्चलता कर डाली क्या ? हाँ, आज आपलोग दोनों ही बहुत थके हुए-से मालूम पड़ते हैं। सब सुनाइये ?'

प्रभुके पूछनेपर हरिदासजीने सब वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—'लोगोंने बार-बार उन दोनों भाइयोंके पास जानेसे मना

किया था, किन्तु ये माने ही नहीं। जब उन्होंने डाँट लगायी तब वहाँसे बालकोंकी भाँति भाग छूटे। लोग कह रहे थे, अब कीर्तनवालोंकी खैर नहीं। ये राक्षस-भाई सभी कीर्तनवालोंको बँधवा मँगावेंगे। लोग परस्परमें ऐसी ही बातें कह रहे थे।'

हरिदासजीकी बात सुनकर हँसते हुए प्रभुने नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद ! उन लोगोंके समीप जानेकी आपको क्या आवश्यकता थी? थोड़ी कम चञ्चलता किया कीजिये। ऐसा चाञ्चल्य किस कामका !

कुछ बनावटी प्रेम-कोप प्रदर्शित करते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'इस प्रकार मुझसे आपका यह काम नहीं होनेका। आप तो घरमें बैठे रहते हैं, आपको नगर-प्रचारकी कठिनाइयों-का क्या पता ! एक बार तो कहते हैं सभीको नामका प्रचार करो। ब्राह्मणसे चाण्डालपर्यन्त और पापीसे लेकर पुण्यात्मातक सभी भगवन्नामके अधिकारी हैं और अब कहते हैं, उनके पास क्यों गये ! सबसे बड़े अधिकारी तो वही हैं। हम तो जन्मसे ही घर-बार छोड़कर टुकड़े माँगते फिरते हैं, हमारा उद्धार करनेमें आपकी कौन-सी बड़ाई है ! आपका पतित-पावन नाम तो तभी सार्थक हो सकता है, जब ऐसे-ऐसे भयङ्कर क्रूर कर्म करनेवाले पापियोंका उद्धार करें। अब यों घरमें बैठे रहनेसे काम न चलेगा। ऐसे घोर पापियोंको जबतक हरि-नामकी शरणमें लाकर भक्त न बनावेंगे, तबतक लोग हरि-नामका महत्त्व ही कैसे समझ सकेंगे !'

कुछ हँसते हुए प्रभु भक्तोंसे कहने लगे—'श्रीपादको जिनके उद्धारकी इतनी भारी चिन्ता है, वे महाभागवत पुरुष कौन हैं ?'

पासहीमें बैठे हुए श्रीवास और गङ्गादास भक्तोंने कहा—'प्रभो ! वे महाभागवत नहीं हैं, वे तो ब्राह्मण-कुल-कण्टक अत्यन्त ही क्रूर प्रकृतिके राक्षस हैं । सम्पूर्ण नगरमें उनका आतंक छाया हुआ है ।' यह कहकर उन लोगोंने जगाई-मधाईकी बहुत-सी क्रूरताओंका वर्णन किया ।

प्रभुने हँसते हुए कहा—'अब वे कितने दिनोंतक क्रूरता कर सकते हैं ? श्रीपादके जिन्हें दर्शन हो चुके और इनके मनमें जिनके उद्धारका विचार आ चुका, वे क्या फिर पापी ही बने रह सकते हैं ? श्रीपाद जिसे चाहें उसे भक्त बना सकते हैं, फिर चाहे वह कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो !'

इस प्रकार निताईने संकेतसे ही प्रभुके समीप जगाई-मधाई-के उद्धारकी प्रार्थना कर दी और प्रभुने भी संकेतद्वारा ही उन्हें उन दोनों भाइयोंके उद्धारका आश्वासन दिला दिया । सचमुच महात्माओंके हृदयोंमें दूसरोंके प्रति स्वाभाविक ही दया उत्पन्न हो जाती है । उनके समीप आकर कोई दयाकी प्रार्थना करे तभी वे दया करें यह बात नहीं है, किन्तु उनका स्वभाव ही ऐसा होता है, कि बिना कहे ही वे दीन-दुखियोंपर दया करते रहते हैं । बिना दया किये वे रह ही नहीं सकते । जैसे कि नीतिकारोंने कहा है—

पद्माकरं दिनकरो विकचं करोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः॥
(भर्तृहरि० नी० श० ७४)

रात्रिके दुःखसे सिकुड़े हुए कमल मरीचिमाली भगवान् भुवनभास्करके समीप अपना दुखड़ा रोनेके लिये नहीं जाते, बिना कहे ही कमल-बन्धु भगवान् दिवाकर उनके दुःखोंको दूर करके उन्हें विकसित कर देते हैं। कुमुदिनीकी लज्जासे अवगुण्ठित कलिकाको कलानाथ भगवान् शशधर स्वयं ही प्रस्फुटित कर देते हैं। बिना याचनाके ही जलसे भरे हुए मेघ अपने सम्पूर्ण जलको वर्षाकर प्राणियोंके दुःखको दूर करते हैं। इसी प्रकार महान् सन्तगण भी स्वयं ही दूसरोंके उपकारके निमित्त सदा कुछ-न-कुछ उद्योग करते ही रहते हैं। परोपकार करना उनका स्वभाव ही बन जाता है। जैसे सभी प्राणी जानमें, अनजानमें स्वाँस लेते ही रहते हैं, उसी प्रकार सन्त-महात्मा जो-जो भी चेष्टा करते हैं, वे सभी लोक-कल्याणकारी ही होती हैं।

जगाई-मधाईका उद्धार

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ॥*
(सु० र० भां० १० । ७)

सचमुचमें जिसका हृदय कोमल है, जो सभी प्राणियों-को प्रेमकी दृष्टिसे देखता है, जिसकी बुद्धि घृणा और द्वेषके कारण मलिन नहीं हो गयी है, परोपकार करना जिसका व्यसन ही बन गया है, ऐसा साधु पुरुष यदि सच्चे हृदयसे किसी घोर पापी-से-पापीका भी कल्याण चाहे तो उसके धर्मात्मा बननेमें सन्देह ही नहीं। महात्माओंकी स्वाभाविक इच्छा अमोघ होती है, यदि वे प्रसन्नतापूर्वक किसीकी ओर देखभर लें, बस, उसी समय उसका बेड़ा पार है। साधुओंके साथ खोटी बुद्धिसे किया हुआ संग भी व्यर्थ नहीं जाता। साधुओंसे द्वेष रखनेवालोंका भी कल्याण ही होते देखा गया है, यदि पापीके ऊपर किसी अपराधके कारण कभी क्रोध न करनेवाले महात्माओंको दैवात् क्रोध आ गया तब तो उसका सर्वस्व ही नाश हो जाता है, किन्तु प्रायः महात्माओंको क्रोध कभी नाममात्रको ही आता है, वे अपने अहित करनेवालेका भी सदा हित ही करते हैं।

* साधुओंका शरीर ही तीर्थस्वरूप है, उनके दर्शनोंसे ही पुण्य होता है। साधुओंमें और तीर्थोंमें एक बड़ा भारी अन्तर है, तीर्थोंमें जानेका फल तो कालान्तरमें मिलता है, किन्तु साधुओंके समागमका फल तत्काल ही मिल जाता है। अतः सच्चे साधुओंका सत्संग तो बहुत दूरकी बात है, उनका दर्शन ही कोटि तीर्थोंसे अधिक होता है।

मिलकर घाटपर स्नान करने जाते । रात्रिमें तो कोई अपने घरके बाहर निकलता ही नहीं था, कारण कि ये दोनों भाई नशेमें उन्मत्त होकर इधर-उधर घूमते और जिसे भी पाते, उसीपर प्रहार कर बैठते । इसलिये शाम होते ही जैसे पक्षी अपने-अपने घोंसलोंमें घुस जाते हैं और फिर प्रातःकाल ही उसमेंसे निकलते हैं, उसी प्रकार उस मुहल्लेके लोग सूर्यास्तके बाद भूलकर भी घरसे बाहर नहीं होते । क्योंकि इनकी क्रूरता और नृशंसतासे सभी लोग परिचित थे ।

शामको नियमितरूपसे भक्त संकीर्तन करते थे और कभी-कभी तो रात्रिभर संकीर्तन होता रहता था । इन दोनोंके डेरा डालनेपर भी संकीर्तन ज्यों-का-त्यों ही होता रहा । रात्रिमें सभी भक्त एकत्रित हुए और उसी प्रकार लय एवं ध्वनिके साथ खोल, मृदङ्ग, करताल और मजीरा आदि वाद्योंसहित भगवान्‌के सुमधुर नामोंका संकीर्तन होने लगा ।

संकीर्तनकी त्रितापहारी, अनन्त अघसंहारी, सुमधुर ध्वनि इन दोनों भाइयोंके कानोंमें भी पड़ी । ये दोनों शराबके मदमें तो चूर थे ही, उस कर्णप्रिय ध्वनिके श्रवणमात्रसे और अधिक उन्मत्त हो गये । गर्मियोंके दिन थे, बाहर अपने पलँगोंपर पड़े हुए ये कीर्तनके जगत्-पावन-कारी रसामृतका पान करने लगे । कभी तो ये बेसुध होकर हुंकार मारने लगते, कभी पड़े-पड़े ही 'अहा-अहा' इस प्रकार कहने लगते । कभी भावावेशमें आकर कीर्तनकी लयके साथ उठकर नृत्य करने लगते । इस

प्रकार ये संकीर्तनके माहात्म्यको बिना जाने ही केवल उसके श्रवणमात्रसे ही पागल-से हो गये। एक दिन दूरसे कीर्तनकी ध्वनि सुनकर ही इनके हृदयकी कठोरता बहुत कुछ जाती रही भला जिस हृदयमें कर्णोंके द्वारा भगवन्नामका प्रवेश हो चुका है वहाँ पर कठोरता रह ही कैसे सकती है? संकीर्तन श्रवण करते-करते ही ये दोनों भाई सो गये। प्रातःकाल जब जगे तो इन्होंने भक्तोंको घाटकी ओर गङ्गास्नानके निमित्त जाते हुए देखा। महाप्रभु भी उधरसे ही जा रहे थे। इन्होंने यह सब तो पहिले ही सुन रखा था कि प्रभु ही संकीर्तनके जीवनदाता हैं। अतः प्रभुको देखते ही इन्होंने कुछ गर्वित स्वरमें प्रसन्नताके साथ कहा— 'निमाई पण्डित! रात्रिमें तो बड़ा सुन्दर गाना गा रहे थे, क्या 'मंगलचण्डी' के गीत थे? एक दिन अपने सभी साथियोंके सहित हमारे यहाँ भी गान करो। तुम जो-जो सामग्री बताओगे वह सब हम मँगा देंगे। एक दिन जरूर हमारे यहाँ चण्डी-मंगल होना चाहिये। हमें तुम्हारे गीत बहुत भले मालूम पड़ते हैं।' भगवन्नाम-संकीर्तनका कैसा विलक्षण प्रभाव है! केवल अनिच्छापूर्वक श्रवण करनेका यह फल है, कि जो दोनों भाई किसीसे सीधे बातें ही करना नहीं जानते थे, वे ही महाप्रभुसे अपने यहाँ गायन करनेकी प्रार्थना करने लगे। प्रभुने इनकी बातोंका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे उपेक्षा करके आगे चले गये।

तीसरे पहर सभी भक्त प्रभुके घर एकत्रित हुए। सभीने प्रभुसे प्रार्थना की—'प्रभो! इन दोनों भाइयोंका अब अवश्य ही

उद्धार होना चाहिये । अब यही इनके उद्धारके निमित्त सुअवसर है । तभी लोगोंको संकीर्तनका महत्व जान पड़ेगा एवं आपका पतितपावन और दीनबन्धु नाम सार्थक हो सकेगा।'

प्रभुने मुस्कराते हुए कहा—'भक्तवृन्द ! जिनके उद्धारके निमित्त आप सब लोग इतने चिन्तित हैं, जिनकी मंगल-कामनाके लिये आप सभीके हृदयोंमें इतनी अधिक इच्छा है, उनका तो उद्धार अब हुआ ही समझो । अब उनके उद्धारमें क्या देरी है ? जिन्हें श्रीपादके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हो चुका, वे पापी रह ही कैसे सकते हैं ? श्रीपादके दर्शन व्यर्थ कभी नहीं जाते । ये उनका कल्याण अवश्य करेंगे।' प्रभुके ऐसे आश्वासन-वाक्य सुनकर भक्त अपने-अपने स्थानोंको चले गये।

एक दिन रात्रिके समय नित्यानन्दजी महाप्रभुके घरकी ओर आ रहे थे। निताईने जान-बूझकर, केवल उन दोनों भाइयोंके उद्धारके निमित्त ही रात्रिमें उधरसे आनेकी बात सोची थी। ये धीरे-धीरे भगवन्नामका उच्चारण करते हुए इनके डेरेके सामने होकर ही निकले। उस समय ये दोनों शराबके नशेमें चूर हुए बैठे थे। नित्यानन्दको रात्रिमें उधरसे जाते देखकर लाल आँखें किये हुए मदिराकी बेहोशीमें मधाईने पूछा—'कौन जा रहा है ?' नित्यानन्दजी भला क्यों उत्तर देनेवाले थे, वे चुप ही रहे, इसपर उसने डाँटकर जोरोंसे कहा—'अरे, कौन जा रहा है ! बोलता क्यों नहीं ?'

इसपर नित्यानन्दजीने निर्भीक भावसे कहा—'क्यों, हम हैं, क्या कहते हो ?' मधाईने कहा—'तुम कौन हो ? अपना नाम बताओ और इस समय रात्रिमें कहाँ जा रहे हो ?' नित्यानन्द-जीने सरलताके साथ कुछ विनोदके लहजेमें कहा—'प्रभुके यहाँ संकीर्तन करने जा रहे हैं, हमारा नाम है 'अवधूत' ।'

अवधूत नामको सुनकर ही मधाई चिढ़ गया। उसने कहा—'अवधूत, अवधूत, बड़ा विचित्र नाम है। अवधूत तो नाम नहीं होता, क्यों बे बदमाश ! हमसे दिल्लगी करता है !' यह कहकर उस अविचारी मदोन्मत्तने पासमें पड़े हुए एक घड़ेके टुकड़ेको उठाकर नित्यानन्दजीके सिरमें जोरोंसे मारा। वह खपड़ा इतने जोरसे निताईके सिरमें लगा कि सिरमें लगते ही उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। एक टुकड़ा निताईके माथेमें भी गड़ गया। खपड़ेके गड़ जानेसे मस्तकसे रक्तकी धारा-सी बहने लगी। नित्यानन्दजीका सम्पूर्ण शरीर रक्तसे लथपथ हो गया। उनके सभी वस्त्र रक्तरञ्जित हो गये। इसपर भी नित्यानन्दजीको उसके ऊपर क्रोध नहीं आया और वे आनन्दके साथ नृत्य करते हुए भगवन्नामका गान करने लगे। वे इनके ऊपर दया दर्शाते हुए रो-रोकर प्रभुसे प्रार्थना करने लगे—'प्रभो ! इस शरीरमें जो आघात हुआ, उसकी मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं, किन्तु इन ब्राह्मण-कुमारोंकी ऐसी दुर्दशा अब मुझसे नहीं देखी जाती। इनकी इस शोचनीय अवस्थाके स्मरणमात्रसे मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है, हे दयालो ! अब

तो इनकी रक्षा करो। अब तो इनकी निष्कृतिका उपाय बता दो।'

नित्यानन्दजीको इस प्रकार प्रेममें नृत्य करते देखकर मधाई और अधिक चिढ़ गया। इसपर वह इनके ऊपर दूसरी बार प्रहार करनेको उद्यत हुआ। इसपर जगाईने उसे बीचमें ही रोक दिया। मधाईकी अपेक्षा जगाई कुछ कोमल प्रकृतिका और दयावान् था, उसे नित्यानन्दजीकी इस दशापर बड़ी दया आयी। प्रहार करनेवालेपर भी क्रोध न करके वे आनन्दके सहित नृत्य कर रहे हैं और उलटे अपने अपराधीके कल्याणके निमित्त प्रभु-से प्रार्थना कर रहे हैं, इस बातसे जगाईका हृदय पसीज उठा। उसने मधाईको रोकते हुए कहा—'तुम यह क्या कर रहे हो? एक संन्यासीको बिना जाने-पूछे मार रहे हो। यह अच्छी बात नहीं है।'

लाल-लाल आँखोंसे चारों ओर देखते हुए मधाईने कहा—'यह अपना सीधी तरह नाम-गाँव ही नहीं बताता।'

सरलताके स्वरमें जगाईने कहा—'यह परदेशी संन्यासी अपना नाम-गाँव क्या बतावे? देखते नहीं अवधूत है। माँगकर खाता होगा, इधर-उधर पड़ रहता होगा।' जगाईके इस प्रकार निवारण करनेपर मधाई शान्त हुआ। उसने दूसरी बार नित्यानन्द-जीपर प्रहार नहीं किया। नित्यानन्दजी आनन्दमें उन्मत्त हुए नृत्य कर रहे थे। माथेसे रक्तका पनाला-सा बह रहा था। वहाँ-की सम्पूर्ण पृथ्वी रक्तसे भीग गयी थी। लोगोंने जल्दीसे जाकर

यह संवाद महाप्रभुको दिया। उस समय महाप्रभु भक्तोंके सहित कीर्तन आरम्भ करनेहीवाले थे। नित्यानन्दजीके प्रहार की बात सुनकर अब इनसे नहीं रहा गया। ये नित्यानन्दजी को प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे। नित्यानन्दजीकी विपत्ति का समाचार सुनकर ये एकदम उठ पड़े और दौड़ते हुए घटनास्थलपर आये। इनके पीछे सभी भक्त भी ज्यों-के-त्यों ही उठे हुए चले आये। किसीके गलेमें ढोलकी लटक रही थी, किसीकी कमरसे मृदंग बँधा था, कोई पखावज लिये था, किसीके दोनों हाथोंमें करताल थी और बहुतोंके हाथोंमें मजीरा ही थे। प्रभुने देखा नित्यानन्दजी आनन्दके उद्रेकमें प्रेमसे उन्मत्तकी भाँति नृत्य कर रहे हैं। उनके मस्तकसे रक्तकी धार बह रही है, उनका सम्पूर्ण शरीर रक्त-रञ्जित हो रहा है। शरीरमेंसे रक्त टप-टप नीचे टपक रहा है, उनके नीचेकी सम्पूर्ण पृथ्वी रक्तके कारण लाल हो गयी है। ऐसी दशामें भी भगवान्‌के मधुर नामोंका कीर्तन कर रहे हैं! नित्यानन्दजीके रक्तप्रवाहको देख-कर प्रभुका खून उबलने लगा, उस समय वे अपनी सब प्रतिज्ञा भूल गये और आकाशकी ओर देखकर जोरोंसे हुंकार मारते हुए 'चक्र-चक्र' इस प्रकार कहने लगे। मानों इन दोनों पापियोंके संहारके निमित्त वे सुदर्शनचक्रका आह्वान कर रहे हैं। प्रभुको इस प्रकार क्रोधाविष्ट देखकर नित्यानन्दजीने उनसे विनीत भावसे कहा—'प्रभो! अपनी प्रतिज्ञा स्मरण कीजिये, इन पापियोंके प्रति जो आपके हृदयमें क्रोध उत्पन्न हो आया है,

उसे दूर कीजिये। जब आप ही पापियोंके ऊपर दया न करके क्रोध करेंगे तो इनका उद्धार कैसे होगा ? आप तो पापसंहारी हैं, आपका नाम तो पतितपावन है। आप तो दीनानाथ हैं। इनकी बराबर दीन, हीन, पतित आपको उद्धारके निमित्त कहाँ मिलेगा ? प्रभो! ये पापी आपकी कृपाके पात्र हैं, ये गौरकी दयाके अधिकारी हैं। इनके ऊपर अनुग्रह होना चाहिये। अपने जगत्वन्द्य चरणोंको इनके मस्तकोंपर रखकर इनका उद्धार कीजिये।' निताईके ऐसी प्रार्थना करनेपर भी प्रभुका क्रोध शान्त नहीं हुआ। इधर प्रभुको क्रुद्ध देखकर सभी भक्त विस्मित-से हो गये। सभी आश्चर्यके साथ प्रभुके कुपित मुखकी ओर संभ्रमभावसे देखने लगे। सभीको प्रतीत होने लगा, कि आज संसारमें महाप्रलय हो जायगी। सम्पूर्ण संसार प्रभुके प्रकोपसे भस्मीभूत हो जायगा। प्रभुकी ऐसी दशा देखकर कुछ भक्त अपने आपको न रोक सके। मुरारीगुप्त आदि वीर भक्त महावीर-के आवेशमें आकर उन दोनों पापी भाइयोंके संहारके निमित्त स्वयं उद्यत हो गये। उस समय भक्तोंके हृदयोंमें एक प्रकारकी भारी खलबली-सी मची हुई थी। उत्तेजित भक्तमण्डलीको देख-कर जगाई-मधाईके सभी सेवक डरके कारण थर-थर काँपने लगे। हजारों नर-नारी घटनास्थलपर आ-आकर एकत्रित हो गये। सम्पूर्ण नगरमें एक प्रकारका कोलाहल-सा मच गया। नित्यानन्दजी उत्तेजित हुए मुरारीगुप्त आदि भक्तोंके पैरोंमें गिर-गिरकर उनसे शान्त होनेके लिये कह रहे थे। प्रभुसे भी वे

बार-बार शान्त होनेकी प्रार्थना कर रहे थे। वे दोनों भाई डरे हुए-से चुपचाप खड़े थे। उन्हें कुछ सूझता ही नहीं था, कि अब क्या करना चाहिये। इतनेहीमें उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानो, आकाशमेंसे सुदर्शनचक्र उनके संहारके निमित्त उतर रहा है। सुदर्शन चक्रके दर्शनसे वे बहुत ही अधिक भयभीत हुए और डरके कारण थर-थर काँपने लगे। नित्यानन्द-जीने इनकी मनोगत अवस्थाको समझकर चक्रसे आकाशमें ही रुके रहनेकी प्रार्थना की और दीनभावसे पुनः प्रभुसे प्रार्थना करने लगे—'प्रभो! यदि आप ही इस युगमें पापियोंको दण्ड देंगे, तो फिर पापियोंका उद्धार कहाँ हुआ? यह तो संहार ही हुआ। हरिदासजीको आपने आश्वासन दिया था, कि हम पतितों-का संहार न करके उद्धार करेंगे। सामने खड़े हुए इन दोनों पतित पातकियोंका उद्धार करके आप अपने पतितपावन नामको सार्थक क्यों नहीं करते? फिर दण्ड ही देना है, तो एक मधाईको ही दीजिये। जगाईने तो आपका कोई अपराध नहीं किया है। इसने तो उलटे मधाईको प्रहार करनेसे निवा-रण किया है। दूसरी बार प्रहार करनेसे जगाईने ही मधाईको रोका है। प्रभो! जगाई तो मेरी रक्षा करनेवाला है, वह तो सर्वथा निर्दोष है।'

'जगाईने श्रीपादकी रक्षा की है, उन्हें मधाईके द्वितीय प्रहारसे बचाया है।' इस बातको सुनते ही प्रभुकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। उनका सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो उठा।

प्रेमके कारण जगाईको प्रभुने गलेसे लगा लिया और वे गद्गद-कण्ठसे कहने लगे—'तुमने मेरे भाईको बचाया है, तुम मेरे भाईके रक्षक हो। तुमसे बढ़कर मेरा प्यारा और कौन हो सकता है ? आओ मेरे गले लगकर मेरे अनुतप्त हृदयको शीतलता प्रदान करो।' प्रभुका प्रेमालिङ्गन पाते ही जगाई मूर्छित हो गया, वह अचेत होकर प्रभुके चरणोंमें लोटने लगा। आज उस भाग्य-वान् ब्राह्मण-बन्धुका जन्म सफल हो गया। उसके सभी पाप क्षय हो गये। उसके हृदयमें पाप-पुञ्जोंका समूह जमे हुए हिमके समान प्रेमरूपी अग्निकी आँच पानेसे पिघल-पिघलकर आँखोंके द्वारा बहने लगा। प्रभुके चरणोंमें पड़ा हुआ जगाई जोरोंके साथ फूट-फूटकर रोने लगा।

अपने भाईको इस प्रकार प्रेममें अधीर होकर रुदन करते देखकर मधाईके हृदयमें भी पश्चात्तापकी ज्वाला जलने लगी। उसे भी अपने कुकृत्यपर लज्जा आने लगी। अब वह अधिक कालतक स्थिर न रह सका। आँखोंमें आँसू भरकर गद्गदकण्ठ-से उसने कहा—'प्रभो! हम दोनों ही भाइयोंने मिलकर समान-रूपसे पाप किये हैं। हम दोनों ही लोकनिन्दित पातकी हैं। आपने एक भाईको ही अपने चरणोंकी शरण प्रदान की है। नाथ! हम दोनोंको ही अपनाइये, हम दोनोंकी ही रक्षा कीजिये।' यह कहते-कहते मधाई भी प्रभुके चरणोंमें लोटने लगा। अश्रुओंके वेगसे वहाँकी सब धूलि कीचड़ बन गयी थी, वह कीचड़ दोनों भाइयोंके अंगोंमें लिपटा हुआ था। सम्पूर्ण शरीर

धूलि और कीचमें सना हुआ था। नदियाके बिना तिलकके राजाओंको इस प्रकार धूलिमें लोटते देखकर सभी नर-नारी अवाक् रह गये। सभी लोग उन पापियोंके पापोंको भुलाकर उनके ऊपर दयाके भाव प्रदर्शित करने लगे। अहा! नम्रतामें कितना भारी आकर्षण होता है!

मधाईके ऊपरसे प्रभुका रोष अभी भी नहीं गया था। उन्होंने गम्भीर स्वरमें कहा—'मधाई! मैं तुम्हें क्षमा नहीं कर सकता। मैं अपने अपराध करनेवालेके प्रति तो कभी क्रोध नहीं करता, किन्तु तुमने श्रीपाद नित्यानन्दजीका अपराध किया है, यदि वे तुम्हें क्षमा कर दें, तब तो तुम मेरे प्रिय हो सकते हो। जबतक वे तुम्हें क्षमा नहीं करते, तबतक तुम मेरे सामने दोषी ही हो, जाओ, नित्यानन्दजीकी शरण लो।'

प्रभुकी ऐसी आज्ञा सुनकर मधाई अस्तव्यस्तभावसे प्रभुके चरणोंको छोड़कर नित्यानन्दजीके चरणोंमें जाकर गिर गया और फूट-फूटकर रोने लगा। उसे अपने कुकृत्यपर बड़ी भारी लज्जा आ रही थी। उसीकी ग्लानिके कारण वह अधीर होकर दहाड़ मारकर रो रहा था। उसके रुदनकी ध्वनिको सुनकर पत्थर भी पसीज उठता था। चारों दिशाओंमें सन्नाटा छा गया, मानों मधाईके रुदनसे द्रवीभूत होकर सभी दिशाएँ रो रही हों, सभी लोग उन पापियोंकी ऐसी दशा देखकर अपने आपेको भूल गये। उन्हें उस क्षण कुछ पता ही नहीं चला, कि हम स्वर्गमें हैं या मर्त्यलोकमें। सभी गौराङ्गके प्रेम-प्रभावके वशवर्ती होकर उस अभूतपूर्व दृश्यको देख रहे थे।

मधाईको नित्यानन्दजीके पैरोंके नीचे पड़ा देखकर नित्यानन्दजीसे प्रभु कहने लगे—'श्रीपाद ! इस मधाईने आपका अपराध किया है, आप ही इसे क्षमा कर सकते हैं, मुझमें इतनी क्षमता नहीं, कि मैं आपका अपराध करनेवालेको अभय प्रदान कर सकूँ। बोलो क्या कहते हो !'

अत्यन्त ही दीन-भावसे नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो ! यह तो आपकी सदासे ही रीति रही आयी है। आप अपने सेवकोंके सिर सदासे सुयशका सेहरा बाँधते आये हैं। आप इनके उद्धारका श्रेय मेरे सिरपर लादना चाहते हैं। किन्तु इस बातको तो सभी जानते हैं, कि पतितपावन गौरमें ही ऐसे पापियोंको उबारनेकी सामर्थ्य है। प्रभो ! मैं हृदयसे कहता हूँ, मेरे हृदयमें मधाईके प्रति अणुमात्र भी विद्वेषके भाव नहीं हैं। यदि मैंने जन्म-जन्मान्तरोंमें कभी भी कोई सुकृत किया हो, तो उन सबका पुण्य मैं इन दोनों भाइयोंको प्रदान करता हूँ।'

इतना सुनते ही प्रभुने दौड़कर मधाईको अंगमें उठा लिया और जोरोंसे उसका आलिङ्गन करते हुए कहने लगे—'मधाई ! अब तुम मेरे अत्यन्त ही प्रिय हो गये। श्रीपादने तुम्हें क्षमा कर दिया। उन्होंने अपने सभी पुण्य प्रदान करके तुम्हें परम भागवत वैष्णव बना दिया। तुम आजसे मेरे अन्तरङ्ग भक्त हुए। श्रीपादकी कृपासे तुम पापरहित बन गये।' प्रभुका प्रेमालिङ्गन और आश्वासन पानेसे मधाईके आनन्दकी सीमा न रही, वह उसी क्षण मूर्छित होकर प्रभुके पादपद्मोंमें पड़ गया। प्रभुके दोनों पैरोंको पकड़े हुए नवद्वीपके सर्वेसर्वा और एकमात्र शासनकर्ता

वे दोनों भाई धूलिमें लोटे हुए रुदन कर रहे थे, भक्त तथा नगरके अन्य नर-नारी मन्त्रमुग्धकी भाँति खड़े हुए इस पतितोद्धारके दृश्यको देख रहे थे। इस हृदयको हिला देनेवाले दृश्यसे उनकी तृप्ति ही नहीं होती थी। उसी समय प्रभुने अपने पैरोंमें पड़े हुए धूलिधूसरित दोनों भाइयोंको उठाया और भक्तोंको संकीर्तन करनेकी आज्ञा दी।

इन दोनों पापी भाइयोंकी ऐसी दीनता देखकर भक्तोंके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। वे अलग-अलग सम्प्रदाय बना-बनाकर प्रेममें उन्मत्त हुए हरिध्वनि करने लगे और जोरों-से ताल और स्वर सहित कीर्तन करने लगे। नगरके सभी नर-नारी कीर्तनमें सम्मिलित हुए। आज उनके लिये संकीर्तन देखनेका यह प्रथम ही अवसर था। सभी भक्तोंके सहित—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका उच्चारण करने लगे। झाँझ, मृदंग और मजीरा बजने लगे, भक्त उन्मत्त होकर कीर्तन करने लगे। बीच-बीचमें गौरहरिके जयजयकारोंकी ध्वनिसे आकाश-मण्डल गूँजने लगता। कीर्तनकी ध्वनिसे सभीको स्वेद, कम्प, अश्रु आदि सात्त्विक भाव होने लगे। उस समयके संकीर्तनमें एक प्रकारकी अद्भुत छटा दिखायी देने लगी। सभी प्रेममें पागल-से बने हुए थे। संकीर्तन करते हुए भक्तगण उन दोनों भाइयोंको साथ लिये हुए प्रभुके घरपर पहुँचे।

जगाई और मधाईकी प्रपन्नता

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥ *

वृन्दावनमें एक परम भगवद्भक्त माताने हमें यह कथा सुनायी थी—'भक्त-भयभञ्जन भगवान् द्वारकाके भव्य भोजन-भवनमें बैठे हुए सत्यभामा आदि भामिनियोंसे घिरे हुए भोजन कर रहे थे। भगवान् एक बहुत ही सुन्दर सुवर्ण-चौकीपर विराजमान थे। सुवर्णके बहुमूल्य थालोंमें भाँति-भाँतिके स्वादिष्ट व्यञ्जन सजे हुए थे। बहुमूल्य रत्नजड़ित कटोरियोंमें विविध प्रकारके पेय पदार्थ रखे हुए थे। सामने रुक्मिणीजी बैठी हुई पंखा डुला रही थीं। इधर-उधर अन्य पटरानियाँ बैठी हुई थीं। सहसा भगवान् भोजन करते-करते एकदम रुक गये, उनके मुखका ग्रास मुखमें था और हाथका हाथमें, वे निर्जीव मूर्तिकी भाँति ज्यों-के-त्यों ही स्तम्भित-से रह गये। उनका कमलके समान प्रफुल्लित मुख एकदम कुम्हला गया। आँखोंमें आँसू भरकर वे रुक्मिणीजीकी ओर देखने लगे। सभी पटरानियाँ भगवान्के ऐसे भावको देखकर भयभीत हो गयीं। वे किसी भावी

---

* भगवान् विभीषणके आनेपर वानरोंसे कह रहे हैं—'एकबार भी जो प्रपन्न होकर 'मैं तेरा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे कृपाकी याचना करते हैं, उसे मैं सर्व भूतोंसे अभय प्रदान करता हूँ, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।'

आशंकाके भयसे भयभीत-सी हुई प्रभुके मुखकी ओर निहारने लगीं। कुछ कम्पित स्वरमें भयभीत होकर रुक्मिणीजीने पूछा-'प्रभो! आपकी एक साथ ही ऐसी दशा क्यों हो गयी! माल्म पड़ता है, कहीं आपके परम प्रिय किसी भक्तपर भारी संकट पड़ा है, उसीके कारण आप इतने खिन्न हो गये हैं। क्या मेरा यह अनुमान ठीक है?'

रुक्मिणीकी ओर देखते हुए प्रभुने कहा-'तुम्हारा अनुमान असत्य नहीं है?'

अधीरता प्रकट करते हुए रुक्मिणीजीने कहा-'प्राणेश्वर! मैं उन महाभाग भक्तका और उनकी विपत्तिका हाल जानना चाहती हूँ।'

विषण्ण स्वरमें भगवान्‌ने कहा—'दुष्ट दुःशासन भरी सभामें द्रुपदसुताके चीरको खींच रहा है। गुरुजनोंके सामने उस पतिव्रताको नग्न करना चाहता है।'

द्रुपदसुताके दुःखकी बात सुनकर नारी-सुलभ भीरुता और कातरताके साथ जल्दीसे रुक्मिणीजीने कहा—'तब आप सोच क्या रहे हैं, जल्दीसे उसकी सहायता क्यों नहीं करते, जिससे उसकी लाज बच सके? प्रभो! उस दीन-हीन अबलाकी रक्षा करो। नाथ! उसके दुःखसे मेरा दिल धड़कने लगा है।'

गद्गदकण्ठसे भगवान्‌ने कहा—'सहायता कैसे करूँ! उसने तो अपने वस्त्रका एक-छोर दाँतोंसे दाब रक्खा है। वह

सर्वतोभावेन मेरा सहारा न लेकर दाँतोंका सहारा ले रही है। जबतक वह सब आशाओंको छोड़कर पूर्णरूपसे मेरे ही ऊपर निर्भर नहीं हो जाती, तबतक मैं उसकी सहायता कर ही कैसे सकता हूँ ?'

भगवान् द्वारकामें इतना कह ही रहे थे, कि द्रौपदीने सब ओरसे अपनेको निस्सहाय समझकर भगवान्का ही आश्रय लेनेका निश्चय किया। उसके मुखमेंसे 'कृष्' इतना ही निकला था, कि दाँतोंमेंसे वस्त्र छूट गया। दाँतोंका आश्रय छोड़ना था और कृष्के आगे 'ण' भी नहीं निकलने पाया कि तभी भगवान् वहाँ आ उपस्थित हुए और द्रौपदीके चीरको अक्षय बना दिया। इसीका वर्णन करते हुए सूरदासजी कहते हैं—

द्रुपद-सुता निर्बल भइ ता दिन, गहि लाये निज धाम।
दुःशासनकी भुजा थकित भई, बसनरूप भये श्याम॥
सुने री मैंने निर्बलके बल राम।

क्योंकि जबतक मनुष्यको अपने बलका आश्रय है, जबतक वह अपनेको ही बली और समर्थ माने बैठा है, तबतक भगवान् सहायता क्यों करने लगे ? वे तो निर्बलोंके सहायक हैं— निष्किञ्चनोंके रक्षक हैं—इसीलिये आगे सूर कहते हैं—

अप-बल तप-बल और बाहु बल चौथा है बल दाम।
सूर किसोर-कृपातें सब बल, हारेको हरि नाम॥
सुने री मैंने निर्बलके बल राम।

जगाई-मधाईके पास अन्यायसे उपार्जित यथेष्ट धन था, शरीर उन दोनोंका पुष्ट था, शासककी ओरसे उन्हें अधिकार

मिला हुआ था। धन, जन, सेना तथा अधिकार सभीके मदमें वे अपनेको ही कर्ता समझे बैठे थे, इसलिये प्रभु भी इनसे दूर ही रहे आते थे। जिस क्षण ये अपने सभी प्रकारके अधिकार और बलोंको भुलाकर निर्बल और निष्किञ्चन बन गये उसी समय प्रभुने इन्हें अपनी शरणमें ले लिया। उस क्षणभरके ही उपशमसे वे उम्रभरके पुराने पापी सभी वैष्णवोंके कृपाभाजन बन गये। प्रपन्नता और शरणागतिमें ऐसा ही जादू है। जिस क्षण 'तेरा हूँ' कहकर सच्चे दिलसे उनसे प्रार्थना करो उसी क्षण वे अपना लेते हैं, वे तो भक्तोंके लिये भूखे-से बैठे रहते हैं। लोगोंके मुखकी ओर ताकते रहते हैं, कि कोई अब कहे कि मैं 'तुम्हारा हूँ', यहाँतक कि अजामिलने झूठे ही पुत्रके बहाने 'नारायण' शब्द कह दिया, बस, इतनेसे ही उसकी रक्षा की और उसके जन्मभरके पाप क्षमा कर दिये।

भक्तगण जगाई-मधाई दोनों भाइयोंको साथ लेकर प्रभुके यहाँ आये। सभी भक्त यथास्थान बैठ गये। एक उच्चासनपर प्रभु विराजमान हुए उनके दायें बायें गदाधर और नित्यानन्दजी बैठे। सामने वृद्ध आचार्य अद्वैत विराजमान थे। इनके अतिरिक्त पुण्डरीक विद्यानिधि, हरिदास, गरुड़, रमाई पण्डित, श्रीनिवास, गंगादास, वक्रेश्वर, चन्द्रशेखर, आदि अनेकों भक्त प्रभुके चारों ओर बैठे हुए थे। बीचमें ये दोनों भाई—जगाई और मधाई नीचा सिर किये आँखोंमेंसे अश्रु बहा रहे थे, इनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे विषण्णता और पश्चात्तापकी ज्वाला-सी निकलती हुई दिखायी दे

रही थी। दोनोंका शरीर पुलकित हो रहा था, दोनों ही नित्यानन्द और प्रभुकी भारी कृपाके बोझसे दबे-से जा रहे थे। उन्हें अपने शरीरका होश नहीं था। प्रभुने उन्हें इस प्रकार विषादयुक्त देखकर उनसे कहा—'भाइयो! तुमपर श्रीपाद नित्यानन्दजीने कृपा कर दी, अब तुम लोग शोक-मोह छोड़ दो। अब तुम निष्पाप बन गये। भगवान्‌ने तुम्हारे ऊपर बड़ी कृपा की है।'

प्रभुकी बात सुनकर गद्गदकण्ठसे रोते हुए दोनों भाई बोले—'प्रभो! हम पापियोंका उद्धार करके आज आपने अपने 'पतितपावन' नामको यथार्थमें ही सार्थक कर दिया। आपका पतितपावन नाम तो आज ही सार्थक हुआ। अजामिलको तारनेमें आपकी कोई प्रशंसा नहीं थी, क्योंकि उसने सब पापोंको क्षय करनेवाला चार अक्षरोंका 'नारायण' नाम तो लिया था। गणिका सूआ पढ़ाते-पढ़ाते ही रामनामका उच्चारण करती थी, कैसे भी सही, भगवन्नामका उच्चारण तो उसकी जिह्वासे होता था। वाल्मीकिजीने सहस्रों वर्षोंतक उलटा ही सही, नाम-जप तो किया था। खेतमें उलटा-सीधा कैसे भी बीज पड़ना चाहिये, वह जम अवश्य आवेगा। दन्तवक्र, शिशुपाल, रावण, कुम्भकरण, शकटासुर, सम्बरासुर, अघासुर, बकासुर, कंस आदि सभी असुर और राक्षसोंने द्वेषबुद्धिसे ही सही, आपके रूपका चिन्तन तो किया था। वे उठते-बैठते, सोते-जागते सदा आपका ध्यान तो करते रहते थे। इन सबकी तो मुक्ति होनी ही चाहिये, ये लोग

तो भगवत्-सम्बन्धी होनेके कारण मुक्तिके अधिकारी ही थे, किन्तु हे दीनानाथ ! हे अशरण-शरण ! हे पतितोंके एकमात्र आधार ! हे कृपाके सागर ! हे पापियोंके पतवार ! हे अनाथ-रक्षक ! हम पापियोंने तो कभी भूलसे भी आपका नाम ग्रहण नहीं किया था। हम तो सदा मदोन्मत्त हुए पापकर्मोंमें ही प्रवृत्त रहते थे। हमें तो आपके सम्बन्धमें कुछ ज्ञान भी नहीं था। हमारे ऊपर कृपा करके आपने संसारको प्रत्यक्ष ही यह दिखला दिया कि चाहे कोई भजन करे या न करे, कोई कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो, प्रभु उसके ऊपर भी एक-न-एक दिन अवश्य ही कृपा करेंगे। हे प्रभो ! हमें अपने पापोंका फल भोगने दीजिये। हमें अरबों, खरबों और असंख्यों वर्षोंतक नरकोंकी भयङ्कर यातनाओंको भोगने दीजिये। प्रभो ! हम आपकी इस अहैतुकी कृपाको सहन न कर सकेंगे। नाथ ! हमारा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है। हम प्रभुके इतने बड़े कृपापात्र बननेके योग्य कोटि जन्मोंमें भी न बन सकेंगे, जितनी कृपा प्रभु हमारे ऊपर प्रदर्शित कर रहे हैं।'

कलतक जो मद्यपानके अतिरिक्त कुछ जानते-समझते ही नहीं थे, उन्हींके मुखसे ऐसी अपूर्व स्तुति सुनकर सभी भक्त चकित रह गये। वे एक दूसरेकी ओर देखकर आश्चर्य प्रकट करने लगे। अद्वैताचार्यने उसी समय इस श्लोकको पढ़कर प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया।

मूकं करोति वाचालं पंगुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥*
(श्रीधरस्वामी भा० टी०)

जगाई-मधाईकी ऐसी स्तुति सुनकर प्रभुने उनसे कहा—'तुम दोनों भाई सभी भक्तोंकी चरण-वन्दना करो। भक्तोंकी पद-धूलिसे पापी-से-पापी पुरुष भी परम पावन और पुण्यात्मा बन सकता है।' प्रभुकी आज्ञा पाकर दोनों भाई अपने अश्रुओं-से भक्तोंके चरणोंको भिगोते हुए उनकी चरण-वन्दना करने लगे। सभी भक्तोंने उन्हें हृदयसे परम भागवत होनेका सर्वोत्तम आशीर्वाद दिया।

अब महाप्रभुने उनकी शान्तिके लिये दूसरा उपाय सोचा। भगवती भागीरथी सभीके पापोंको जड़-मूलसे उखाड़कर फेंक देनेवाली हैं, अतः आपने भक्तोंसे जाह्नवीके तटपर चलनेके लिये कहा। चाँदनी रात्रि थी, गर्मीके दिन थे, लोग कुछ तो सो गये थे, कुछ सोनेकी तैयारी कर रहे थे। उसी समय सभी भक्त इन दोनों भाइयोंको आगे करके संकीर्तन करते हुए और प्रेममें नाचते-गाते गङ्गा-स्नानके निमित्त चले। संकीर्तन और जय-जयकारोंकी तुमुल ध्वनि सुनकर सहस्रों नर-नारी गङ्गाजीके घाटपर एकत्रित हो गये। बहुत-से तो खाटपरसे वैसे ही बिना

* जिसकी कृपासे गूँगा भी वक्तृता दे सकता है और लँगड़ा भी बिना किसीके सहारेके पहाड़की चोटीपर चढ़ सकता है, उन परम आनन्द-स्वरूप प्रभुके पादपद्मोंमें हम प्रणाम करते हैं।

वस्त्र पहिने उठकर चले आये, कोई भोजन करतेसे ही दौड़े आये। पत्नी पतियोंको छोड़ करके, माता पुत्रोंको परित्याग करके तथा बहुएँ अपनी सास-ननदोंकी कुछ भी परवा न करके संकीर्तन देखनेके निमित्त दौड़ी आयीं। सभी आ-आकर भक्तोंके साथ संकीर्तन करनेमें निमग्न हो गये। सभी एक प्रकारके अपूर्व आकर्षणके वशीभूत होकर अपने आपेको भूल गये। महाप्रभुने संकीर्तन बन्द करनेकी आज्ञा दी और इन दोनों भाइयोंको साथ लेकर वे स्वयं जलमें घुसे। उनके साथ नित्यानन्द, अद्वैताचार्य, श्रीवास तथा गदाधर आदि सभी भक्तोंने भी जलमें प्रवेश किया। जलमें पहुँचकर प्रभुने दोनों भाइयोंसे कहा—'जगन्नाथ (जगाई) और माधव (मधाई)! तुम दोनों अपने-अपने हाथोंमें जल लो।' प्रभुकी आज्ञा पाते ही दोनोंने अपने-अपने हाथोंमें जल लिया। तब प्रभुने गम्भीरताके स्वरमें अत्यन्त ही स्नेहके साथ दयार्द्र होकर कहा—'आजतक तुम दोनों भाइयोंने जितने पाप किये हों, इस जन्ममें या पिछले कोटि जन्मोंमें, उन सभीको मुझे दान कर दो।'

हाथके जलको जल्दीसे फेंकते हुए अत्यन्त ही दीनताके साथ कातरस्वरमें उन दोनों भाइयोंने कहा—'प्रभो! हमारा हृदय फट जायगा! भगवन्! हम मर जायँगे। हमें ऐसा घोर कर्म करनेकी आज्ञा अब न प्रदान कीजिये। प्रभो! हम आपकी इतनी कृपाको कभी सहन नहीं कर सकते। हे दीनों-

के दयाल ! जिन चरणोंमें भक्तगण नित्य प्रति भाँति-भाँतिके सुगन्धित चन्दन और विविध प्रकारके पत्र-पुष्प चढ़ाते हैं, उनमें हमें अपने असंख्यों पापोंको चढ़ानेकी आज्ञा न दीजिये। संसार हमें धिक्कारेगा कि प्रभुके पावन पादपद्मोंमें इन पापी पामर प्राणियोंने अपने पाप-पुञ्जोंको अर्पण किया। प्रभो! हम दब जायँगे। यह काम हमसे कभी नहीं होनेका !'

प्रभुने इन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—'भाइयो! तुम घबड़ाओ नहीं। तुम्हारे पापोंको ग्रहण करके मैं पावन हो जाऊँगा। मेरा जन्म धारण करना सार्थक हो जायगा। तुम लोग संकोच न करो।' प्रभुकी इस बातको सुनकर नित्यानन्दजीने उन दोनों भाइयोंसे कहा—'तुम लोग इतना सङ्कोच मत करो। ये तो जगत्को पावन बनानेवाले हैं। पाप इनका क्या बिगाड़ सकते हैं? ये तो त्रिभुवनपापहारी हैं। तुम अपने पापोंका संकल्प कर दो।'

नित्यानन्दजीकी बात सुनकर रोते-रोते इन दोनों भाइयोंने हाथमें जल लिया। नित्यानन्दजीने संकल्प पढ़ा और प्रभुने दोनों हाथ फैलाकर उन दोनों भाइयोंके सम्पूर्ण पापोंको ग्रहण कर लिया। अहा! कैसा अपूर्व आदर्श है? दूसरोंके पाप ग्रहण करनेसे ही तो गौराङ्ग पतित-पावन कहा सके। उनके पापोंको ग्रहण करके प्रभु बोले—'अब तुम दोनों निष्पाप हो गये। अब तुम मेरे अत्यन्त ही प्रिय परम भागवत वैष्णव बन गये। आजसे जो कोई तुम्हारे पुराने पापोंको स्मरण करके तुम्हारे

प्रति घृणा प्रकट करेगा, वह वैष्णवद्रोही समझा जायगा। उसे घोर वैष्णवापराधका पातक लगेगा।' यह कहते-कहते प्रभुने फिर दोनोंको गलेसे लगा लिया। वे भी प्रभुका प्रेमालिङ्गन पाकर मूर्छित होकर जलमें गिर पड़े। उस समय प्रभुके अत्यन्त ही अन्तरङ्ग भक्तोंको तपाये हुए सुवर्णके समान रंगवाला प्रभुका शरीर किञ्चित् कृष्णवर्णका प्रतीत होने लगा। पाप ग्रहण करनेसे वह काला हो गया। इसके अनन्तर सभी भक्तोंने आनन्द और उल्लासके सहित खूब स्नान किया। मारे प्रेमके सभी भक्त पागल-से हो गये थे। स्नान करते-करते वे आपसमें एक-दूसरेके ऊपर जल उलीचने लगे। इस प्रकार बहुत देर-तक सभी गङ्गाजीके त्रिभुवनपावन पयमें प्रसन्नतासहित क्रीड़ा करते रहे। अर्द्धरात्रिसे अधिक बीतनेपर सभी अपने-अपने घरोंको चले गये, किन्तु जगाई-मधाई दोनों भाई उस दिनसे अपने घर नहीं गये। वे श्रीवास पण्डितके ही घर रहने लगे।

जगाई-मधाईका पश्चात्ताप

न चाराधि राधाधवो माधवो वा,
न वा पूजि पुष्पादिभिश्चन्द्रचूडः।
परेषां धने धन्धने नीतकालो,
दयालो ! यमालोकने कः प्रकारः ॥*
(सु० र० भां० ३६१ । २११)

जो हृदय पाप करते-करते मलिन हो जाता है, उसमें पश्चात्तापकी लपट कुछ असर नहीं करती। जिस प्रकार अत्यन्त काले वस्त्रमें स्याहीका दाग प्रतीत नहीं होता। जो वस्त्र जितना ही स्वच्छ होगा, उसमें मैलका दाग भी उतना ही अधिक प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगा। इसी प्रकार पश्चात्तापकी ज्वाला स्वच्छ और सरल हृदयोंमें ही अधिक उठा करती है। जो जितना ही अधिक निष्पाप होगा, जिसने अपने पापोंको समझकर उनसे सदाके लिये मुँह मोड़ लिया होगा, उसे अपने पूर्वकृत कुकर्मोंपर उतना ही अधिक पश्चात्ताप होगा और वह पश्चात्ताप ही उसे

---

* हा ! मैंने न तो अपने जीवनमें श्रीराधारमणके चरणोंकी शरण ली और न भगवान् पार्वतीपतिके पादपद्मोंकी प्रेमके साथ पुष्पादिसे पूजा ही की। बस, दूसरोंकी विषयसामग्रियोंके अपहरणमें ही कालयापन किया। हे दयालो प्रभो ! जब मेरा परलोकमें यमराजसे साक्षात्कार होगा तब मैं क्या कह सकूँगा ? वहाँ मेरी गुजर कैसे होगी ? हा ! मैंने अबतकका समय व्यर्थ ही बरबाद कर दिया !

प्रभुके पादपद्मोंतक पहुँचानेमें सहायक बन सकेगा। पाप करनेके पश्चात् जो उसके स्मरणसे हृदयमें एक प्रकारका ताप या दुःख होता है, उसे ही पश्चात्ताप कहते हैं। जिसे अपने कुकृत्योंपर दुःख नहीं, जिसे अपने झूठे और अनर्थ वचनोंका पश्चात्ताप नहीं, वह सदा इन्द्रियलोलुप संसारी योनियोंमें घूमनेवाला नारकीय जीव ही बना रहेगा। उसकी निष्कृतिका उपाय प्रभु कृपा करें तब भले ही हो सकता है। पश्चात्ताप हृदयके मलको धोकर उसे स्वच्छ बना देता है। पश्चात्ताप दुष्कर्मोंकी सर्वोत्तम ओषधि है, पश्चात्ताप प्राणियोंको परम पावन बनानेके लिये रसायन है। पश्चात्ताप संसार-सागरमें डूबते हुए पुरुषका एकमात्र सहारा है। वे पुरुष धन्य हैं, जिन्हें अपने पापों और दुष्कर्मोंके लिये पश्चात्ताप हुआ करता है।

जगाई-मधाई दोनों भाइयोंकी निताई और निमाई इन दोनों भाइयोंकी अहैतुकी कृपासे ऐसी कायापलट हुई, कि इन्हें घर-बार, कुटुम्ब-परिवार कुछ भी अच्छा नहीं लगता। ये सब कुछ छोड़कर सदा श्रीवास पण्डितके ही घरमें रहकर श्रीकृष्ण-कीर्तन और भगवन्नामका जप करने लगे। ये नित्यप्रति चार बजे उषाकालमें उठकर गंगा-स्नान करने जाते और नियमसे रोज दो लाख हरिनामका जाप करते। इनकी आँखें सदा अश्रुओंसे भीगी ही रहतीं। पुरानी बातोंको याद कर-करके ये दोनों भाई सदा अधीर-से ही बने रहते। इन्हें खाना-पीना या किसीसे बातें करना विषके समान जान पड़ता। ये न तो किसीसे बोलते

और न कुछ खाते ही थे, दिन-रात्रि आँखोंसे आँसू ही बहाते रहते। श्रीवास इनसे खानेके लिये बहुत अधिक आग्रह करते, किन्तु इनके गलेके नीचे ग्रास उतरता ही नहीं। नित्यानन्दजी समझा-समझाकर हार गये, किन्तु इन्होंने कुछ खाना स्वीकार ही नहीं किया। तब नित्यानन्दजी प्रभुको बुला लाये। प्रभुने अपना कोमल कर इन दोनोंकी पीठपर फेरते हुए कहा—'भाइयो! तुम्हारे सब पाप तो मैंने ले लिये। अब तुम निष्पाप होकर भी भोजन क्यों नहीं करते? क्या तुमने मुझे सचमुचमें अपने पाप नहीं दिये या मेरे ही ऊपर तुम्हारा विश्वास नहीं है।'

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त दीनताके साथ इन दोनोंने कहा—'प्रभो! हमें आपके ऊपर पूर्ण विश्वास है, हम अपने पापोंके लिये नहीं रो रहे हैं, यदि हमें पापोंका फल भोगना होता, तब तो परम प्रसन्नता होती। हमें तो आपकी अहैतुकी कृपाके ऊपर रुदन आता है। आपने हम जैसे पतित और नीचोंके ऊपर जो इतनी अपूर्व कृपा की है, उसका रह-रहकर स्मरण होता है और रोकनेपर भी हमारे अश्रु नहीं रुकते।' प्रभुने इन्हें भाँति-भाँतिसे आश्वासन दिलाया। जगाई तो प्रभुके आश्वासनसे थोड़ा-बहुत शान्त भी हुआ, किन्तु मधाईका पश्चात्ताप कम न हुआ। उसे रह-रहकर वह घटना याद आने लगी, जब उसने निरपराध नित्यानन्दजीके मस्तकपर निर्दयताके साथ प्रहार किया था। इसके स्मरणमात्रसे उसके रोंगटे खड़े हो जाते और वह जोरोंके साथ रुदन करने लगता। 'हाय! मैंने कितनी बड़ी नीचता की थी। एक महापुरुषको अकारण ही इतना भारी कष्ट पहुँ-

चाया। यदि उस समय भगवान्का सुदर्शनचक्र आकर मेरा सिर काट लेता या नित्यानन्दजी ही मेरा बध कर डालते तो मैं कृतकृत्य हो जाता। बध करना या कटुवाक्य कहना तो अलग रहा वे महामहिम अवधूत तो उलटे मेरे कल्याणके निमित्त प्रभुसे प्रार्थना ही करते रहे और प्रसन्नचित्तसे भगवन्नामका कीर्तन करते हुए हमारा भला ही चाहते रहे।' इस प्रकार वह सदा इसी सोचमें रहता।

एक दिन एकान्तमें मधाईने जाकर श्रीपाद नित्यानन्दजीके चरण पकड़ लिये और रोते-रोते प्रार्थना की—'प्रभो! मैं अत्यन्त ही नीच और पामर हूँ। मैंने घोर पाप किये हैं। उन सब पापोंको तो भुला भी सकता हूँ, किन्तु आपके ऊपर जो प्रहार किया था वह तो भुलानेसे भी नहीं भूलता। जितना ही उसे भुलानेकी चेष्टा करता हूँ, उतना ही वह मेरे हृदयमें और अधिक भीतर गड़ता जाता है। इसकी निष्कृतिका मुझे कोई उपाय बताइये। जबतक आप इसके लिये मुझे कोई उपाय न बतावेंगे, तबतक मुझे आन्तरिक शान्ति कभी भी प्राप्त न हो सकेगी।'

मधाईकी बात सुनकर नित्यानन्दजीने कहा—'भाई! मैं तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ, मेरे मनमें तुम्हारे प्रति लेशमात्र भी किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं। मैंने तो तुम्हारे ऊपर उस समय भी क्रोध नहीं किया था। यदि तुम्हारे हृदयमें दुःख है तो उसके लिये तप करो। तपसे ही सब प्रकारके सन्ताप नष्ट हो जाते हैं और

तपसे ही दुःख, भय, शोक तथा मनःक्षोभ आदि सभी विकार दूर हो जाते हैं। तपस्वी भक्त ही यथार्थमें भगवन्नामका अधिकारी होता है। तुम गंगाजीका एक सुन्दर घाट बनवा दो, जिसपर सभी नर-नारी स्नान किया करें और तुम्हें शुभाशीर्वाद दिया करें। तुम वहीं रहकर अमानी तथा नम्र बनकर तप करते हुए निवास करो।'

नित्यानन्द प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके मधाईने स्वयं अपने हाथोंसे परिश्रम करके गंगाजीका एक सुन्दर घाट बनाया। उसीपर एक कुटी बनाकर वह रहने लगा। वहाँ घाटपर स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, मूर्ख-पण्डित, चाण्डाल-पतित जो भी स्नान करने आता, मधाई उसीके चरण पकड़कर अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करता। वह रोते-रोते कहता—'हमने जानमें, अनजानमें आपका कोई भी अपराध किया हो, हमारे द्वारा आपको कभी भी कैसा भी कष्ट हुआ हो, उसके लिये हम आपके चरणोंमें नम्र होकर क्षमा-याचना करते हैं।' सभी उसकी इस नम्रताको देखकर रोने लगते और उसे गलेसे लगाकर भाँति-भाँतिके आशीर्वाद देते।

शास्त्रोंमें बताया है, जिसे अपने पापोंपर हृदयसे पश्चात्ताप होता है, उसके चौथाई पाप तो पश्चात्ताप करते ही नष्ट हो जाते हैं। यदि अपने पाप-कर्मोंको लोगोंके सामने खूब प्रकट कर दे तो आधे पाप प्रकाशित करनेसे नष्ट हो जाते हैं और जो पापियोंके पापोंको अपने मनकी प्रसन्नताके लिये कथन करते हैं

चौथाई पाप उनके ऊपर चले जाते हैं। इस प्रकार पाप करनेवाला पश्चात्तापसे तथा लोगोंके सामने अमानी बनकर सत्यताके साथ पाप प्रकट करनेसे निष्पाप बन जाता है।

इस प्रकार मधाईमें दीनता और महापुरुषोंकी अहैतुकी कृपासे भगवद्भक्तोंके सभी गुण आ गये। भगवद्भक्त शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेवाले, सभी प्राणियोंके ऊपर करुणाके भाव रखनेवाले, सभी जीवोंके सुहृद्, किसीसे शत्रुता न करनेवाले, शान्त तथा सत्कर्मोंको सदा करते रहनेवाले होते हैं।* वे विषयभोगोंकी इच्छा भूलकर भी कभी नहीं करते। उनमें सभी गुण आप-से-आप ही आ जाते हैं। क्यों न आवें, भगवद्भक्तिका प्रभाव ही ऐसा है। हृदयमें भगवद्भक्तिका सञ्चार होते ही सम्पूर्ण सद्गुण आप-से-आप ही भगवद्भक्तके पास आने लगते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥ †
(श्रीमद्भा० ५ । १८ । १२)

---

* तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २१)

† हे देवताओ! जिस भक्तकी विष्णु भगवान्‌के चरण-कमलोंमें अहैतुकी भक्ति है उस भक्तके हृदयमें सम्पूर्ण दिव्य-दिव्य गुण आप-से-आप ही आ-आकर अपना घर बना लेते हैं। जो अनित्य सांसारिक विषय-

इस प्रकार थोड़े ही दिनोंमें मधाईकी भगवद्भक्तिकी दूर-दूर-तक ख्याति हो गयी। लोग उसके पुराने पापोंको ही नहीं भूल गये, किन्तु उसके पुराने मधाई नामका भी लोगोंको स्मरण नहीं रहा। मधाई अब 'ब्रह्मचारी' के नामसे प्रसिद्ध हो गये। अहा, भगवद्भक्तिमें कितनी भारी अमरता है! भगवन्नाम पापोंके क्षय करनेकी कैसी अचूक ओषधि है? इस रसायनके पान करनेसे पापी-से-पापी भी पुण्यात्मा बन सकता है। नवद्वीपमें 'मधाई-घाट' आजतक भी उस महामहिम परम भागवत मधाईके नामको अमर बनाता हुआ भगवान्के इस आश्वासन-वाक्यका उच्च स्वरसे निर्घोष कर रहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(श्रीगीता ९। ३०)

चाहे कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो, उसने चाहे सभी पापोंका अन्त ही क्यों न कर डाला हो, वह भी यदि अनन्य होकर—और सभी आश्रय छोड़कर एकमात्र मेरेमें ही मन लगाकर मेरा ही स्मरण-ध्यान करता है तो उसे सर्वश्रेष्ठ साधु ही समझना चाहिये। क्योंकि उसकी भलीभाँति मुझमें ही स्थिति हो चुकी है।

सुखोंमें ही निमग्न रहकर मनके रथपर सवार होकर विषय-बाजारमें विहार करता रहता है, ऐसे अभक्तके समीप महत्पुरुषोंके-से गुण कहाँ रह सकते हैं?

सज्जन-भाव

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम्।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान्गुणान्
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम्॥*

(भर्तृहरि० नी० श० ७८)

महाप्रभु गौराङ्गदेवमें भगवत्-भावकी भावना तो उनके कतिपय अन्तरङ्ग भक्त ही रखते थे, किन्तु उन्हें परम भागवत वैष्णव विद्वान् और गुणवान् सज्जन पुरुष तो सभी लोग समझते थे। उनके सद्गुणोंके सभी प्रशंसक थे। जिन लोगोंका अकारण ईर्ष्या करना ही स्वभाव होता है, ऐसे खल पुरुष तो ब्रह्माजीकी भी बुराई करनेसे नहीं चूकते। ऐसे मलिन-प्रकृतिके निन्दक खलोंको छोड़कर अन्य सभी प्रकारके लोग प्रभुके उत्तम गुणोंके ही कारण उनपर आसक्त थे। उन्होंने अपने जीवनमें

---

* तृष्णाका छेदन करो, क्षमाको धारण करो, मदका परित्याग करो, पापोंमें प्रीति कभी मत करो, सत्य भाषण करो, साधु पुरुषोंकी मर्यादाका पालन करो, ज्ञानी और क्रियावान् पुरुषोंका सदा सत्सङ्ग करो, मान्य पुरुषोंका आदर करो, जो तुम्हारे साथ विद्वेष करें उनके साथ भी सद्व्यवहार ही करो। अपने सद्आचरणोंद्वारा लोगोंके प्रेमके भाजन बनो, अपनी कीर्तिकी सदा रक्षा करो और दीन-दुखियोंपर दया करो—बस, ये ही सज्जन पुरुषोंके लक्षण हैं। अर्थात् जिनके जीवनमें ये ११ गुण पाये जायँ, वे ही सज्जन हैं।

किसी भी शास्त्र-मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं किया। सर्वसमर्थ होनेपर भी वे सभी लौकिक तथा वैदिक क्रियाओंको स्वयं करते थे और लोगोंको भी उनके लिये प्रोत्साहित करते थे, किन्तु वे कलिकालमें श्रीभगवन्नामको ही मुख्य समझते थे और सभी कर्मोंको गौण मानते हुए भी उन्होंने गार्हस्थ्य-जीवनमें न तो स्वयं ही उन सबका परित्याग किया और न कभी उनका खण्डन ही किया। वे स्वयं दोनों कालोंकी सन्ध्या, तर्पण, पितृश्राद्ध, पर्व, उत्सव, तीर्थ, व्रत एवं वैदिक संस्कारोंको करते तथा मानते थे, उन्होंने अपने आचरणों और चेष्टाओंद्वारा भी इन सबकी कहीं उपेक्षा नहीं की। श्रीवास, अद्वैताचार्य, मुरारी गुप्त, रमाई पण्डित, चन्द्रशेखर आचार्य आदि उनके सभी अन्तरङ्ग भक्त भी परम भागवत होते हुए इन सभी मर्यादाओंका पालन करते थे।

भावावेशके समयको छोड़कर वे कभी भी किसीके सामने अपनी बड़ाईकी कोई बात नहीं कहते थे। अपनेसे बड़ोंके सामने वे सदा नम्र ही बने रहते। श्रीवास, नन्दनाचार्य, चन्द्र-शेखराचार्य, अद्वैताचार्य आदि अपने सभी भक्तोंको वे वृद्ध समझकर पहिलेसे प्रणाम करते थे।

संसारका एक नियम होता है, कि किसी एक ही वस्तुके जब बहुत-से इच्छुक होते हैं, तो वे परस्परमें विद्वेष करने लगते हैं। हमें उस अपनी इष्ट वस्तुके प्राप्त होनेकी तनिक भी आशा चाहे न हो तो भी हम उसके दूसरे इच्छुकोंसे अकारण द्वेष करने लगेंगे, ऐसा स्वाभाविक नियम है। संसारमें इन्द्रियोंके

भोग्य-पदार्थोंकी और कीर्तिकी सभीको इच्छा रहती है। इसीलिये जिनके पास इन्द्रियोंके भोग्य-पदार्थोंकी प्रचुरता होती है और जिनकी संसारमें कीर्ति होने लगती है, उनसे लोग स्वाभाविक ही द्वेष-सा करने लगते हैं। सज्जन पुरुष तो सुखी लोगोंके प्रति मैत्री, दुखियोंके प्रति करुणा, पुण्यवानोंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उपेक्षाके भाव रखते हैं, सर्वसाधारण लोग धनिकों और प्रतिष्ठितोंके प्रति उदासीन-से बने रहते हैं और अधिकांश दुष्ट-प्रकृतिके लोग तो सदा धनी-मानी सज्जनोंकी निन्दा ही करते रहते हैं। जहाँ चार लोगोंने किसीकी प्रशंसा की, बस, उसी समय उनकी अन्दर छिपी हुई ईर्ष्या भभक उठती है और वे झूठी-सच्ची बातोंको फैलाकर जनतामें उनकी निन्दा करना आरम्भ कर देते हैं। ऐसे निन्दकोंके दलसे अवतारी पुरुष भी नहीं बचने पाये हैं। गौराङ्ग महाप्रभुकी भी बढ़ती हुई कीर्ति और उनके चारों ओर जनतामें फैले हुए यशःसौरभसे क्षुभित होकर निन्दक लोग उनकी भाँति-भाँतिसे निन्दा करने लगे। कोई तो उन्हें वाममार्गी बताता, कोई उन्हें ढोंगी कहकर अपने हृदयकी कालिमाको प्रकट करता और कोई-कोई तो उन्हें धूर्त और बाजीगरतक कह देता। प्रभु सबकी सुनते और हँस देते। उन्होंने कभी अपने निन्दकोंकी किसी बातका विरोध नहीं किया। उलटे वे स्वयं निन्दकोंकी प्रशंसा ही करते रहते। उनकी सहनशीलता और विद्वेष करनेवालोंके प्रति भी करुणाके भावोंका पता नीचेकी दो घटनाओंसे भलीभाँति पाठकोंको लग जायगा।

यह तो पाठकोंको पता ही है, कि श्रीवास पण्डितके घर संकीर्तन सदा किवाड़ बन्द करके ही होता था। सालभरतक सदा इसी तरह संकीर्तन होता रहा। बहुत-से विद्वेषी और तमासबीन देखने आते और किवाड़ोंको बन्द देखकर संकीर्तनकी निन्दा करते हुए लौट जाते। उन्हीं ईर्ष्या रखनेवाले विद्वेषियोंमें गोपाल चापाल नामका एक क्षुद्र प्रकृतिका ब्राह्मण था। वह प्रभुकी बढ़ती हुई कीर्तिसे क्षुभित-सा हो उठा, उसने संकीर्तनको बदनाम करनेका अपने मनमें निश्चय किया। एक दिन रात्रिमें वह श्रीवास पण्डितके द्वारपर पहुँचा। उस समय द्वार बन्द था और भीतर संकीर्तन हो रहा था। चापालने द्वारके सामने थोड़ी-सी जगह लीपकर वहाँ चण्डीकी पूजाकी सभी सामग्री रख दी। एक हाँडीमें लाल, पीली, काली बिन्दी लगाकर उसको सामग्रीके समीप रख दिया। एक शराबका पात्र तथा एक पात्रमें मांस भी रख दिया। यह सब रखकर वह चला गया। दूसरे दिन जब संकीर्तन करके भक्त निकले तो उन्होंने चण्डीपूजनकी सभी सामग्री देखी। लोगोंका भी दल आकर एकत्रित हो गया और एक दूसरेको सुनाकर कहने लगे—'हम तो पहिले ही जानते थे, ये रात्रिमें किवाड़ बन्द करके और स्त्रियोंको साथ लेकर जोर-जोरसे तो हरिध्वनि करते हैं और भीतर-ही-भीतर वाममार्गकी पद्धतिसे भैरवी-चक्रका पूजन करते हैं। ये सामने कालीकी पूजाकी सामग्री प्रत्यक्ष ही देख लो। जो लोग सज्जन थे, वे समझ गये, कि यह किसी धूर्तका कर्तव्य है। सभी एक स्वरसे ऐसा करनेवाले धूर्तकी निन्दा करने लगे। श्रीवास ताली पीट-पीटकर हँसने

लगे और लोगोंसे कहने लगे—'देखो भाई, हम रात्रिमें ऐसे ही चण्डी-पूजा किया करते हैं। भद्रपुरुषोंको आज स्पष्ट ही ज्ञात हो गया।' भक्तोंने उस सभी सामानको उठाकर दूर फेंक दिया और उस स्थानको गोमयसे लीपकर और गङ्गाजल छिड़कर शुद्ध किया।

दूसरे ही दिन लोगोंने देखा गोपाल चापालके सम्पूर्ण शरीरमें गलित कुष्ठ हो गया है। उसके सम्पूर्ण शरीरमेंसे पीब बहने लगा। इतनेपर भी घाव खुजाते थे, खुजलीके कारण वह हाय-हा करके सदा चिल्लाता रहता था। नगरके लोगोंने उसे मुहल्लेमें निकाल दिया, क्योंकि कुष्ठ छूतकी बीमारी होती है, वह बेचारा गङ्गाजीके किनारे एक नीमके पेड़के नीचे पड़ा रहता था। एक दिन प्रभुको देखकर उसने दीन-भावसे कहा—'प्रभो! मुझसे बड़ा अपराध हो गया है। क्या मेरे इस अपराधको तुम क्षमा नहीं कर सकते? तुम जगत्‌का उद्धार कर रहे हो, इस पापीका भी उद्धार करो। गाँव-नातेसे तुम मेरे भानजे लगते हो, अपने इस दीन-हीन मामाके ऊपर तुम कृपा क्यों नहीं करते? मैं बहुत दुखी हूँ। प्रभो! मेरा दुःख दूर करो।

प्रभुने कहा—'कुछ भी हो, मैं अपने अपराधीको तो क्षमा कर सकता हूँ, किन्तु तुमने श्रीवास पण्डितका अपराध किया है। इसलिये तुम्हें क्षमा करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है।' बेचारा चुप हो गया और अपनी नीचता तथा दुष्टताका फल कुष्ठके दुःखसे दुखी होकर वेदनाके सहित भोगता रहा।

थोड़े दिनोंके पश्चात् जब प्रभु संन्यास लेकर कुलियामें आये और यह कुष्ठी फिर इनके शरणापन्न हुआ तब इन्होंने उसे श्रीवास पण्डितके पास भेज दिया। श्रीवास पण्डितने कहा—'मुझे तो इनसे पहिले भी कभी द्वेष नहीं था और अब भी नहीं है, यदि प्रभुने इन्हें क्षमा कर दिया है, तो ये अब दुःखसे मुक्त हो ही गये।' देखते-ही-देखते उसका सम्पूर्ण शरीर नीरोग हो गया।

इसी प्रकार एक दिन एक और ब्राह्मण संकीर्तन देखनेके लिये आया। जब उसने किवाड़ोंको भीतरसे बन्द देखा तब तो वह क्रोधके मारे आगबबूला हो गया और कीर्तनवालोंको खरी-खोटी सुनाता हुआ अपने घर लौट गया। दूसरे दिन गङ्गा-जीके घाटपर जब उसने प्रभुको भक्तोंके सहित स्नान करते देखा तब तो उसने क्रोधमें भरकर प्रभुसे कहा—'तुम्हें अपने कीर्तन-का बड़ा अभिमान है। दस-बीस भोले-भाले लोगोंको कठपुतलियों-की तरह हाथके इशारेसे नचाते रहते हो। लोग तुम्हारी पूजा करते हैं इससे तुम्हें बड़ा अहंकार हो गया है। जाओ, मैं तुम्हें शाप देता हूँ, कि जिस संसारी सुखके मदमें तुम इतने भूले हुए हो, वह तुम्हारा संसारी सुख शीघ्र ही नष्ट हो जाय।' ब्राह्मणके ऐसे वाक्योंको सुनकर सभी भक्त आश्चर्यके साथ उस ब्राह्मणके मुख-की ओर देखने लगे। कुछ लोगोंको थोड़ा क्रोध भी आ गया, प्रभुने उन सबको रोकते हुए हँसकर उन ब्राह्मण देवतासे कहा—'विप्रदेव! आपके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ। आपका शाप मुझे सहर्ष स्वीकार है।'

कुछ देरके पश्चात् ब्राह्मणका क्रोध शान्त हो गया। त उसने अपने वाक्योंपर पश्चात्ताप प्रकट करते हुए विनीत भाव कहा—'प्रभो! मैंने क्रोधके वशीभूत होकर आपसे ऐसे कुवाक्य कह दिये। आप मेरे अपराधको क्षमा करें।'

प्रभुने उसे आश्वासन देते हुए कहा—'विप्रवर! आपने मेरा कुछ भी अपकार नहीं किया और न आपने मुझसे कोई कुवाक्य ही कहा। आपने शाप न देकर यह तो मुझे वरदान ही दिया है। श्रीकृष्ण-प्राप्तिमें संसारी-सुख ही तो बन्धनके प्रधान कारण हैं। आपने मुझे उनसे मुक्त होनेका जो वरदान प्रदान कर दिया, इससे मेरा कल्याण ही होगा। आप इसके लिये कुछ भी चिन्ता न करें।' ऐसा कहकर प्रभुने उस ब्राह्मणको प्रेम-पूर्वक आलिंगन किया और वे भक्तोंके सहित अपने स्थानको चले आये। इसीका नाम है विद्वेष करनेवालोंके प्रति भी शुद्ध भाव रखना। ऐसा व्यवहार महाप्रभु-जैसे महापुरुषोंके ही द्वारा सम्भव भी हो सकता है।

महाप्रभुकी नम्रता बड़ी ही अलौकिक थी। वे रास्तेमें कैसे भी चलें, स्त्रियोंसे कभी दृष्टि भी नहीं मिलाते थे। बड़े लोगोंसे सदा दीनता और सम्मानके सहित भाषण करते थे। भावावेशके समय तो वे अपने स्वरूपको ही भूल जाते थे। भावावेशके अतिरिक्त समयमें यदि उनकी कोई पूजा या चरण-वन्दना करता तो वे उससे बहुत अधिक असन्तुष्ट होते। भावावेशके अनन्तर यदि कोई कहता कि हमें आपके दुर्गारूपमें, कृष्णरूपमें,

ामरूपमें अथवा बलदेव, वामन, नृसिंहके रूपमें दर्शन क्यों हुए ? तो आप कह देते—'तुम सदा उसी रूपका चिन्तन करते हते हो। तुम्हारे इष्टदेवमें सभी सामर्थ्य है, वह जिसके शरीरमें ी चाहें प्रवेश होकर तुम्हें दर्शन दे जायँ। इसमें तुम्हारी भावना ही प्रधान कारण है। तुम्हें अपनी शुद्ध भावनासे ही ऐसे रूपोंके र्शन होते हैं।'

एक बार ये भक्तोंके सहित लेटे हुए थे कि एक ब्राह्मणीने आकर इनके चरणोंमें अपना मस्तक रखकर इन्हें भक्ति-भावसे प्रणाम किया। ब्राह्मणीको अपने चरणोंमें मस्तक रखते देखकर इन्हें बड़ा दुःख हुआ और उसी समय दौड़कर गङ्गाजीमें कूद पड़े। सभी भक्त इन्हें इस प्रकार गङ्गाजीमें कूदते देखकर हाहाकार करने लगे। शचीमाता छाती पीट-पीटकर रुदन करने लगीं। उसी समय नित्यानन्दजी और हरिदास भी प्रभुके साथ गङ्गाजीमें कूद पड़े और इन्हें निकालकर किनारेपर लाये।

इस प्रकार ये अपने जीवनको रागद्वेषादिसे बचाते हुए क्षमा-को धारण करते हुए, अभिमानसे रहित होकर, पापियोंके साथ भी प्रेमका बर्ताव करते हुए तथा विद्वेषियोंसे भी सुन्दर व्यवहार करते हुए अपनी सज्जनता, सहृदयता, सहनशीलता और सच्चरित्रतासे भक्तोंके लिये एक उच्चादर्शका पाठ पढ़ाते हुए अपने आचरणोंद्वारा सबको आनन्दित करने लगे।

श्रीकृष्ण-लीलाभिनय

क्वचिद् रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद् हसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित् तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥*

(श्रीमद्भा० ७।४।३९-४०)

यदि एक शब्दमें कोई हमसे भक्तकी परिभाषा पूछे तो ह
उसके सामने 'लोकबाह्य' इसी शब्दको उपस्थित कर देंगे। ह
एक ही शब्दमें भक्त-जीवनकी, भक्ति-मार्गके पवित्र पथके पथि-
की पूरी परिभाषा परिलक्षित हो जाती है। भक्तोंके स
कार्य अनोखे ही होते हैं। उन्हें लोककी परवा नहीं। बालकों
की भाँति वे सदा आनन्दमें मस्त रहते हैं, उन्हें रोनेमें भी
मजा आता है और हँसनेमें भी आनन्द आता है। ये स

* भगवत्-प्रेममें पागल हुए भक्तकी दशाका वर्णन करते हैं—कभी तो भगवत्-चिन्तनसे उसका हृदय क्षुब्ध-सा हो उठता है और भगवान्के वियोग-जन्य दुःखके कारणसे वह रोने लगता है। कभी भगवत्-चिन्तनमें मग्न होकर उनके रूप-सुधाका पान करते-करते हँसने लगता है, कभी जोरोंसे भावनाओं और गुणोंका गान करने लगता है। कभी उत्कण्ठा सहित हुंकार मारने लगता है, कभी निर्लज्ज होकर नृत्य करने लगता है और कभी-कभी वह ईश्वर-चिन्तनमें तन्मय ही तल्लीन होकर तन्मय होकर अपने आप भी भगवान्की लीलाओंका अनुकरण करने लगता है।

प्रियतमकी स्मृतिमें सदा वेसुध-से बने रहते हैं। जिस समय उन्हें कोई उनके प्यारे प्रीतमकी दो-चार उलटी-सीधी बातें सुना दे, अहा, तब तो उनके आनन्दका कहना ही क्या है ? उस समय तो उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें सभी सात्त्विक भावोंका उदय हो जाता है। यथार्थ स्थितिका पता तो उसी समय लगता है। आइये प्रेमावतार श्रीचैतन्यके शरीरमें सभी भक्तोंके लक्षणोंका दर्शन करें।

एक दिन श्रीवास पण्डितके घरमें प्रभुने भावावेशमें आकर 'वंशी वंशी' कहकर अपनी वही पुरानी बाँसकी बाँसुरी माँगी। कुछ हँसते हुए श्रीवास पण्डितने कहा—'यहाँ बाँसुरी कहाँ ? आपकी बाँसुरीको तो गोपिकाएँ हर ले गयीं।' बस इतना सुनना था, कि प्रभु प्रेममें विह्वल हो गये, उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें सात्त्विक भावोंका उद्दीपन होने लगा। वे गद्गद कण्ठसे बार-बार श्रीवास पण्डितसे कहते—'हाँ,सुनाओ। कुछ सुनाओ। वंशीकी लीला सुनाते क्यों नहीं ? उस वेचारी पोले बाँसकी बाँसुरीने उन गोपिकाओंका क्या विगाड़ा था, जिससे वे उसे हर ले गयीं। पण्डित! तुम मुझे उस कथा-प्रसङ्गको सुनाओ।' प्रभुको इस प्रकार आग्रह करते देखकर श्रीवास कहने लगे—'आश्विनका महीना था, शरद्-ऋतु थी। भगवान् निशानाथ अपने सम्पूर्ण कलाओंसे उदित होकर आकाश-मण्डलको आलोकमय बना रहे थे। प्रकृति शान्त थी, विहँगवृन्द अपने-अपने घोंसलोंमें पड़े शयन कर रहे थे। वृन्दावनकी निकुञ्जोंमें स्तब्धता छायी हुई थी। रजनीकी नीरवताका नाश करती हुई यमुना अपने नीले रंगके जलके साथ हुंकार करती हुई धीरे-धीरे

बह रही थी। उसी समय मोहनकी मनोहर मुरलीकी सुरीली तान गोपिकाओंके कानोंमें पड़ी।'

बस, इतना सुनना था, कि प्रभु पछाड़ खाकर भूमिपर गिर पड़े और आँखोंसे अविरल अश्रु बहाते हुए श्रीवास पण्डितसे कहने लगे—'हाँ फिर! फिर क्या हुआ? आगे कहो! कहते क्यों नहीं? मेरे तो प्राण उस मुरलीकी सुरीली तानको सुननेके लिये लालायित हो रहे हैं।'

श्रीवास फिर कहने लगे—'उस मुरलीकी ध्वनि जिसके कानोंमें पड़ी, जिसने वह मनमोहनी तान सुनी, वही बेसुध हो गयी। सभी थकी-सी, जकी-सी, भूली-सी, भटकी-सी हो गयीं। उन्हें तन-वदनकी तनिक भी सुधि न रही। उस समय—

निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योऽन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।४)

उस अनङ्गवर्धन करनेवाले मुरलीके मनोहर गानको सुनकर, जिनके मनको श्रीकृष्णने अपनी ओर खींच लिया है, ऐसी उन गोकुलकी गोपियोंने सापत्न्य-भावसे अपने आनेके उद्योगको एक दूसरीपर प्रकट नहीं किया। वे श्रीकृष्णकी उस जगत्-मोहन तानके अधीन हुई जिधरसे वह ध्वनि सुनायी पड़ी थी उसीको लक्ष्य करके जैसे बैठी हुई थीं वैसे ही उठकर चल दीं।

उस समय जानेकी शीघ्रताके कारण उनके कानोंके हिलते हुए कमनीय कुण्डल बड़े ही सुन्दर मालूम पड़ते थे।

'जो गौ दुह रही थी वह दुहनीको वहीं पटककर चल दी, जिन्होंने दुहनेके लिये बछड़ा छोड़ दिया था, उन्हें उसे बाँधने-तककी भी सुध न रही। जो दूध औटा रही थीं वे उसे उफनता हुआ ही छोड़कर चल दीं। माता पुत्रोंको फेंककर, पत्नी पतियों-की गोदमेंसे निकलकर, बहनें भाइयोंको खिलाते छोड़कर उसी ओरको दौड़ने लगीं।' श्रीवास कहते जाते थे, प्रभु भावावेशमें सुनते जाते थे। दोनों ही बेसुध थे। इस प्रकार श्रीकृष्ण-कथा कहते-कहते ही सम्पूर्ण रात्रि बीत गयी। भगवान् भुवनभास्कर भी घरके दूसरी ओर छिपकर इन लीलाओंका आस्वादन करने लगे। सूर्यके प्रकाशको देखकर प्रभुको कुछ बाह्य-ज्ञान हुआ। उन्होंने प्रेमपूर्वक श्रीवास पण्डितका जोरोंसे आलिंगन करते हुए कहा—'पण्डितजी! आज आपने हमें देवदुर्लभ रसका आस्वादन कराया। आज आपके श्रीमुखसे श्रीकृष्ण-लीलाओंके श्रवणसे मैं कृतकृत्य हो गया।' इतना कहकर प्रभु नित्यकर्म-से निवृत्त होनेके लिये चले गये।

दूसरे दिन प्रभुने सभी भक्तोंके सहित परामर्श किया कि सभी भक्त मिलकर श्रीकृष्ण-लीलाका अभिनय करें। स्थानका प्रश्न उठनेपर प्रभुने स्वयं अपने मौसा पं० चन्द्रशेखर आचार्य-रत्नका घर बता दिया। सभी भक्तोंको वह स्थान बहुत ही

अनुकूल प्रतीत हुआ। वह घर भी बड़ा था और वहाँपर सभी भक्तोंकी स्त्रियाँ भी बिना किसी सङ्कोचके जा-आ सकती थीं। भक्तोंके यह पूछनेपर कि कौन-सी लीला होगी और किस-किस को किस-किस पात्रका अभिनय करना होगा, इसके उत्तरमें प्रभु ने कहा—'इसका अभीसे कोई निश्चय नहीं। बस, यही निश्चय है, कि लीला होगी और पात्रोंके लिये आपसमें चुन लो। पात्रोंके पाठका कोई निश्चय नहीं है। उस समय जिसे जिसका भाव आ जाय, वह उसी भावमें अपने विचारोंको प्रकट करे। अभीसे निश्चय करनेपर तो बनावटी लीला हो जायगी। उस समय जैसी भी जिसे स्वाभाविक स्फुरणा हो। यह सुनकर सभी भक्त बड़े प्रसन्न हुए। प्रभुके अन्तरङ्ग भक्तोंको तो अनुभव होने लगा मानो कल वे प्रत्यक्ष वृन्दावन-लीलाके दर्शन करेंगे।

प्रभुने उसी समय पात्रोंका निर्णय किया। पात्रोंके चुनने में भक्तोंमें खूब हँसी-दिल्लगी होती रही। सबसे पहिले नाटक करानेवाले सूत्रधारका प्रश्न उठा। एक भक्तने कहा—'सूत्रधार तो कोई ऐसा मोटा-ताजा होना चाहिये जो जरूरत पड़नेपर मार भी सह सके। क्योंकि सूत्रधारको ही सबकी देख-रेख रखनी होती है।' यह सुनकर नित्यानन्दजी बोल उठे—'तो इस कामको हरिदासजीके सुपर्द किया जावे। ये मार खानेमें भी खूब प्रवीण हैं।' सभी भक्त हँसने लगे, प्रभुने भी नित्यानन्दजी की बातका समर्थन किया। फिर प्रभु स्वयं ही कहने लगे—'नारदजीके लिये तो किसी दूसरेकी जरूरत ही नहीं। साक्षात्

नारदावतार श्रीवास पण्डित उपस्थित हैं ही।' इसी समय एक भक्त धीरेसे बोल उठा—'*नारदो कलहप्रियः*' 'नारदजी तो लड़ाई-झगड़ा पसन्द करनेवाले हैं।' इसपर हँसते हुए अद्वैताचार्यने कहा—'ये नारद भगवान् इससे अधिक और कलह क्या करावें? आज नवद्वीपमें जो इतना कोलाहल और हो-हल्ला मच रहा है, इसके आदिकारण तो ये नारदावतार श्रीवास महाराज ही हैं।' इतनेमें ही मुरारी बोल उठे—'अजी, नारदजीको एक चेला भी तो चाहिये, यदि नारदजी पसन्द करें तो मैं इनका चेला बन जाऊँ।'

यह सुनकर गदाधर बोले—'नारदजीके पेटमें कुछ दर्द तो हो ही नहीं गया है, जो हिंगाष्टक-चूर्णके लिये वैद्यको चेला बनावें। उन्हें तो एक ब्रह्मचारी शिष्य चाहिये। तुम ठहरे गृहस्थी। तुम्हें लेकर नारदजी क्या करेंगे? उनके चेला तो नीलाम्बर ब्रह्मचारी बने ही बनाये हैं।'

प्रभुने मुस्कराते हुए कहा—'भुवनमोहिनी लक्ष्मीदेवीका अभिनय हम करेंगे। किन्तु हमारी सखी ललिता कौन बनेगी?' इसपर पुण्डरीक विद्यानिधि बोल उठे—'प्रभुकी ललिता तो सदा प्रभुके साथ छायाकी तरह रहती ही हैं। ये गदाधरीजी ही तो ललिता सखी हैं।' इसपर सभी भक्तोंने एक स्वरमें कहा—'ठीक है, जैसी अँगूठी वैसा ही उसमें नग जड़ा गया है।' इसपर प्रभु हँसकर कहने लगे—'तब बस ठीक है, एक बड़ी बूढ़ी बड़ाई-की भी हमें जरूरत थी सो उसके लिये श्रीपाद नित्यानन्दजी हैं ही।' इतनेमें ही अधीर होकर अद्वैताचार्य बोल उठे—'प्रभो! हमें

एकदम भुला ही दिया क्या ? अभिनयमें क्या बूढ़े कुछ न कर सकेंगे ।'

हँसते हुए प्रभुने कहा—'आपको जो बूढ़ा बताता है, उसकी बुद्धि स्वयं बूढ़ी हो गयी है । आप तो भक्तोंके सिरमौर हैं । दान लेनेवाले वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण तो आप ही बनेंगे।' यह सुनकर सभी भक्त बड़े प्रसन्न हुए । सभीने अपना-अपना कार्य प्रभुसे पूछा । बुद्धिमन्तखाँ और सदाशिवके जिम्मे रङ्ग-मञ्च तैयार करनेका काम सौंपा गया । बुद्धिमन्तखाँ जमींदार और धनवान् थे, वे भाँति-भाँतिके साज-बाजके सामान आचार्य-रत्नके घर ले आये । एक ऊँचे चबूतरापर रङ्ग-मञ्च बनाया गया। दायीं ओर स्त्रियोंके बैठनेकी जगह बनायी गयी और सामने पुरुषोंके लिये । नियत समयपर सभी भक्तोंकी स्त्रियाँ आचार्यरत्नके घर आ गयीं । मालिनीदेवी और श्रीविष्णुप्रियाके सहित शचीमाता भी नाट्याभिनयको देखनेके लिये आ गयीं । सभी भक्त क्रमशः इकट्ठे हो गये । सभी भक्तोंके आ जानेपर किवाड़ बन्द कर दिये गये और लीला-अभिनय आरम्भ हुआ ।

भीतर बैठे हुए आचार्य वासुदेव पात्रोंको रङ्ग-मञ्चपर भेजनेके लिये सजा रहे थे । इधर पर्दा गिरा । सबसे पहिले मङ्गला-चरण हुआ । अभिनयमें गायन करनेके लिये पाँच आदमी नियुक्त थे । पुण्डरीक विद्यानिधि, चन्द्रशेखर आचार्यरत्न और श्रीवास पण्डितके रमाई आदि तीनों भाई । विद्यानिधिका कण्ठ बड़ा ही मधुर था । वे पहिले गाते थे उनके स्वरमें ये चारों अपना

स्वर मिलाते थे। विद्यानिधिने सर्वप्रथम अपने कोमल कण्ठसे इस श्लोकका गायन किया—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितः श्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ॥ *
(श्रीमद्भा० १०।९०।४८)

इसके अनन्तर एक और श्लोक मङ्गलाचरणमें गाया गया, तब सूत्रधार रङ्ग-मञ्चपर आया। नाटकके पूर्व सूत्रधार आकर पहिले नाटकको प्रस्तावना करता है, वह अपने किसी साथीसे बातों-ही-बातोंमें अपना अभिप्राय प्रकट कर देता है, जिसपर वह अपना अभिप्राय प्रकट करता है, उसे परिपार्श्वक कहते हैं। सूत्रधार (हरिदास) ने अपने परिपार्श्वक (मुकुन्द) के सहित रङ्ग-मञ्चपर प्रवेश किया। उस समय दर्शकोंमें कोई भी हरिदास-जीको नहीं पहिचान सकते थे। उनकी छोटी-छोटी दाढ़ीके ऊपर सुन्दर पाग बँधी हुई थी, वे एक बहुत लम्बा-सा अंगरखा पहिने हुए थे और कन्धेपर बहुत लम्बी छड़ी रखी हुई थी।

* जो सब जीवोंका आश्रय हैं, जिन्होंने कहनेमात्रको देवकीके गर्भसे जन्म लिया, जिन्होंने सेवकसमान आज्ञाकारी बड़े-बड़े यदुश्रेष्ठोंके साथ अपने बाहुबलसे अधर्मका संहार किया, जो चराचर जगत्‌के दुःखको दूर करनेवाले हैं, जिनके सुन्दर हास्य-शोभित श्रीमुखको देखकर व्रज-बालाओंके हृदयमें कामोद्दीपन हुआ करता था, उन श्रीकृष्णकी जय हो।

आते ही उन्होंने अपनी आजीविका प्रदान करनेवाली रंगभूमि प्रणाम किया और दो सुन्दर पुष्पोंसे उसकी पूजा करते हु प्रार्थना करने लगे—'हे रंगभूमि ! तुम आज साक्षात् वृन्दाव ही बन जाओ ।' इसके अनन्तर चारों ओर देखते हुए दर्शकों की ओर हाथ मटकाते हुए वे कहने लगे—'बड़ी आपत्ति है, यह नाटक करनेका काम भी कितना खराब है । सभीके मनको प्रसन्न करना होता है । कोई कैसी भी इच्छा प्रकट कर दें, उसकी पूर्ति करनी ही होगी । आज ब्रह्माबाबाकी सभामें उन्हें प्रणाम करने गया था । रास्तेमें नारदबाबा ही मिल गये । मुझसे कहने लगे—भाई ! तुम खूब मिले । हमारी बहुत दिनोंसे प्रबल इच्छा थी, कि कभी वृन्दावनकी श्रीकृष्णकी लीलाको देखें । कल तुम हमें श्रीकृष्णलीला दिखाओ ।' नारदबाबा भी अजीब हैं । भला मैं वृन्दावनकी परम गोप्य रहस्यलीलाओंका प्रत्यक्ष अभिनय कैसे कर सकता हूँ ? परिपार्श्वक इस बातको सुनकर (आश्चर्य प्रकट करते हुए) कहने लगा—'महाशय ! आप आज कुछ नशा-पत्ता तो करके नहीं आ रहे हैं ? मालूम पड़ता है, मीठी विजया कुछ अधिक चढ़ा गये हो । तभी तो ऐसी भूली-भूली बातें कर रहे हो! भला, नारद-जैसे ब्रह्मज्ञानी, जितेन्द्रिय और आत्माराम मुनि श्रीकृष्णकी श्रृंगारी लीलाओंके देखनेकी इच्छा प्रकट करें यह तो आप एकदम असम्भव बात कह रहे हैं ।'

सूत्रधार (हरिदास)—'वाह साहब ! मालूम पड़ता है, आप शास्त्रोंके ज्ञानसे एकदम कोरे ही हैं । श्रीमद्भागवतमें क्या

लिखा है, कुछ खबर भी है ? भगवान्‌के लीलागुणोंमें यही तो एक भारी विशेषता है, कि मोक्ष-पदवीपर पहुँचे हुए आत्माराम मुनितक उनमें भक्ति करते हैं। *

परिपार्श्वक—अच्छे आत्माराम हैं, मायासे रहित होनेपर भी मायिक लीलाओंके देखनेकी इच्छा करते रहते हैं।

सू०—तुम तो निरे घोंघाबसन्त हो। भला, भगवान्‌की लीलाएँ मायिक कैसे हो सकती हैं ? वे तो अप्राकृतिक हैं। उनमें तो मायाका लेश भी नहीं।

परि०—क्यों जी, मायाके बिना तो कोई क्रिया हो ही नहीं सकती, ऐसा हमने शास्त्रज्ञोंके मुखसे सुना है।

सू०—'बस, सुना ही है, विचारा नहीं। विचारते तो इस प्रकार गुड़-गोबरको मिलाकर एक न कर देते। यह बात मनुष्योंकी क्रियाके सम्बन्धमें है, जो मायाबद्ध जीव हैं। भगवान् तो मायापति हैं। माया तो उनकी दासी है। वह उनके इशारेसे नाचती है। उनकी सभी लीलाएँ अप्राकृतिक, बिना प्रयोजनके केवल भक्तोंके आनन्दके ही निमित्त होती हैं।'

परि०—(कुछ विस्मयके साथ) हाँ, ऐसी बात है ? तब तो नारदजी भले ही देखें। खूब ठाठसे दिखाओ। सालभरतक ऐसी तैयारी करो, कि नारदजी भी खुश हो जायँ। उन्हें ब्रह्मलोकसे आनेमें अभी दस-बीस वर्ष तो लग ही जायँगे।

---

* आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

सू०—तुम तो एकदम अकलके पीछे डंडा लिये ही फिरते रहते हो। वे देवर्षि ठहरे, संकल्प करते ही जिस लोकमें चाहें पहुँच सकते हैं !

परि०—मुझे इस बातका क्या पता था, यदि ऐसी बात है, तो अभी लीलाकी तैयारी करता हूँ। हाँ यह तो बताओ किस लीलाका अभिनय करोगे ?

सू०—मुझे तो दानलीला ही सर्वोत्तम जँचती है, तुम्हारी क्या सम्मति है ?

परि०—लीला तो बड़ी सुन्दर है, मुझे भी उसका अभिनय पसन्द है, किन्तु एक बड़ा भारी द्वन्द्व है। अभिनय करनेवाली बालिकाएँ लापता हैं।

सू०—(कुछ विस्मयके साथ) 'वे कहाँ गयीं ?'

परि०—वे गोपेश्वर शिवका पूजन करने वृन्दावन चली गयी हैं ?

सू०—तुमने यह एक नयी आफतकी बात सुना दी। अब कैसे काम चलेगा ?

परि०—(जल्दीसे) आफत काहेकी, मैं अभी जाता हूँ, बात-की-बातमें आता हूँ और उन्हें साथ-ही-साथ लिवाकर लाता हूँ।

सू०—(अन्यमनस्कभावसे) वे सब अभी हैं बची, उनकी उम्र है कची, वैसे ही बिना कहे चली गयीं, न किसीसे

कह गयीं, न सुन गयीं। वहाँका पथ है दुर्गम भारी, कहीं फिरैंगी मारी-मारी। साथमें कोई बड़ी-बूढ़ी भी नहीं है।

परि०—'है क्यों नहीं बड़ाई बूढ़ी कैसी है?'

सू०—(हँसकर) बूढ़ीको भी पूजनकी खूब सूझी, आँखोंसे दीखता नहीं। कोई धीरेसे धक्का मार दे तो तीन जगह गिरेगी, उसे रास्तेका क्या होस?

इतनेहीमें नैपथ्यसे वीणाकी आवाज सुनायी दी और बड़े स्वरके सहित—'*श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव*' यह पद सुनायी दिया। सूत्रधार यह समझकर कि नारदजी आ गये, जल्दीसे अपने परिपार्श्वक (मुकुन्द) के साथ कन्याओंको बुलानेके लिये दौड़े गये। इतनेमें ही क्या देखते हैं, कि हाथमें वीणा लिये हुए पीले वस्त्र पहिने सफेद दाढ़ीवाले नारदजी अपने शिष्यके सहित रंग-मञ्च-पर '*श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव*' इस पदको गाते हुए धीरे-धीरे घूम रहे हैं। उस समय श्रीवास नारद-वेशमें इतने भले माळूम पड़ते थे कि कोई उन्हें पहिचान ही नहीं सकता था कि ये श्रीवास पण्डित हैं। शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी रामनामी दुपट्टा ओढ़े कमण्डलु हाथमें लिये नारदजीके पीछे-पीछे घूम रहे थे।

स्त्रियाँ श्रीवासके इस रूपको देखकर विस्मित हो गयीं। शचीमाताने हँसकर मालिनीदेवीसे पूछा—'क्यों! यही तुम्हारे

पति हैं न !' मालिनीदेवीने कुछ मुस्कराते हुए कहा—'क्या पता, तुम ही जानो ।'

श्रीवास पण्डितने वेश ही नारदका नहीं बना रखा था, सचमुच उन्हें उस समय नारदमुनिका वास्तविक आवेश हो आया था । उसी आवेशमें आपने अपने साथके शिष्यसे कहा—'ब्रह्मचारी ! क्या बात है ? यहाँ तो नाटकका कोई रंग ढंग दिखायी नहीं पड़ता !' उसी समय सूत्रधारके साथ सुप्रभाके सहित गोपीवेशमें गदाधरने प्रवेश किया ।

इन्हें देखकर नारदजीने पूछा—'तुम कौन हो ?'

सुप्रभा (ब्रह्मानन्द) ने कहा—भगवन् ! हम ग्वालिनी हैं, वृन्दावनमें गोपेश्वर भगवान्‌के दर्शनके निमित्त जा रही हैं। आप महाराज ! कौन हैं और कहाँ जा रहे हैं ?

नारदजीने कहा—मैं श्रीकृष्णका एक अत्यन्त ही अकिञ्चन किंकर हूँ, मेरा नाम नारद है !

'नारद, इतना सुनते ही सुप्रभाके साथ सखीने तथा अन्य सभीने देवर्षि नारदको साष्टाङ्ग प्रणाम किया । गोपी (गदाधर) नारदजीके चरणोंको पकड़कर रोते-रोते कहने लगी—'हे भक्त-भयहारी भगवन् ! जिस श्रीकृष्णने अपना काला रंग छिपाकर गौर वर्ण धारण कर लिया है, उन अपने प्राणप्यारे प्रियतमके प्रेमकी अधिकारिणी मैं कैसे बन सकूँगी ? यह कहते-कहते गोपी (गदाधर) नारदके पैरोंको पकड़कर जोरोंके साथ रुदन

करने लगी। उसके कोमल गोल कपोलोंपरसे अश्रुओंकी धाराओंको बहते देखकर सभी भक्त दर्शक रुदन करने लगे।'

नारदजी गोपीको आश्वासन देते हुए कहने लगे—'तुम तो श्रीकृष्णकी प्राणोंसे भी प्यारी सहचरी हो। तुम व्रजमण्डलके घनश्यामकी मनमोहिनी मयूरी हो। तुम्हारे नृत्यको देखकर वे ऊपर रह ही नहीं सकते। उसी क्षण नीचे उतर आवेंगे। तुम अपने मनोहर सुखमय नृत्यसे मेरे संतप्त हृदयको शीतलता प्रदान करो।'

गोपी इतना सुननेपर भी रुदन ही करती रही। दूसरी ओर सुप्रभा अपने नृत्यके भावोंसे नारदके मनको मुदित करने लगी। उधर सूत्रधार (हरिदास) भी सुप्रभाके ताल-स्वरमें ताल-स्वर मिलाते हुए कन्धेपर लट्ठ रखकर नृत्य करने लगे। वे सम्पूर्ण आँगनमें पागलकी तरह घूम-घूमकर *'कृष्ण भज कृष्ण भज कृष्ण भज बावरे। कृष्णके भजन बिनु खाउगे क्या पामरे?'* इस पदको गा-गाकर जोरोंसे नाचने लगे। पद गाते-गाते आप बीचमें रुककर इस दोहेको कहते जाते—

> रैनि गँवाई सोइके, दिवस गँवाया खाय।
> हीरा जन्म अमोल था कौड़ी बदले जाय॥
> कृष्ण भज कृष्ण भज कृष्ण भज बावरे!
> कृष्णके भजन बिनु खाउगे क्या पामरे?

गोपी नारदके चरणोंको छोड़ती ही नहीं थी, सुप्रभा (ब्रह्मानन्द) ने गोपी (गदाधर) से आग्रहपूर्वक कहा—

'सखि ! पूजनके लिये बड़ी वेला हो गयी है। सभी हमारी प्रतीक्षा में होंगी, चलो चलें।'

सुप्रभाकी ऐसी बात सुनकर सखीने नारदजीकी चरण-वन्दना की और उनसे जानेकी अनुमति माँगकर सुप्रभाके सहित दूसरी ओर चली गयी। उनके दूसरी ओर चले जानेपर नारदजी अपने ब्रह्मचारीजीसे कहने लगे—'ब्रह्मचारी ! चलो हम भी वृन्दावनकी ही ओर चलें। वहीं चलकर श्रीकृष्ण भगवान्‌की मनोहर लीलाओंके दर्शनसे अपने जन्मको सफल करें।'

'जो आज्ञा' कहकर ब्रह्मचारी नारदजीके पीछे-पीछे चलने लगा।

घरके भीतर महाप्रभु भुवनमोहिनी लक्ष्मीदेवीका वेष धारण कर रहे थे। उन्होंने अपने सुन्दर कमलके समान कोमल-युगल चरणोंमें महावर लगाया। उन अरुण रंगके तलुओंमें महावरकी लालिमा फीकी-फीकी-सी प्रतीत होने लगी। पैरोंकी उँगलियोंमें आपने छल्ली और छल्ला पहिने, खडूला, छड़े और झाँझनोंके नीचे सुन्दर घुँघरू बाँधे। कमरमें करधनी बाँधी। एक बहुत ही बढ़िया लहँगा पहिना। हाथोंकी उँगलियोंमें छोटी-छोटी छल्ली और अँगूठेमें बड़ी-सी आरसी पहिनी। गलेमें मोहनमाला, पच-मनिया, हार, हमेल तथा अन्य बहुत-सी जड़ाऊ और कीमती मालाएँ धारण की। कानोंमें कर्णफूल और बाजुओंमें सोनेकी पहुँची पहिनी।

आचार्य वासुदेवने बड़ी ही उत्तमतासे प्रभुके लम्बे-लम्बे घुँघराले बालोंमें सीधी माँग निकाली और पीछेसे बालोंका जूड़ा बाँध दिया। बालोंके जूड़ेमें मालती, चम्पा और चमेली आदिके बड़ी ही सजावटके साथ फूल गूँथ दिये। एक सुन्दर-सी माला जूड़ेमें खोंस दी। माँगमें बहुत ही बारीकीसे सिन्दूर भर दिया। माथेपर बहुत छोटी-सी रोलीकी एक गोल बिन्दी रख दी। सुगन्धित पान प्रभुके श्रीमुखमें दे दिया। एक बहुत ही पतली कामदार ओढ़नी प्रभुको उढ़ा दी गयी। शृंगार करते-करते ही प्रभुको रुक्मिणीका आवेश हो आया। वे श्रीकृष्णके विरहमें रुक्मिणी-भावसे अधीर हो उठे।

रुक्मिणीके पिताकी इच्छा थी कि वे अपनी प्यारी पुत्रीका विवाह श्रीकृष्णचन्द्रजीके साथ करें, किन्तु उनके बड़े पुत्र रुक्मीने रुक्मिणीका विवाह शिशुपालके साथ करनेका निश्चय किया था। इससे रुक्मिणी अधीर हो उठी। वह मन-ही-मन श्रीकृष्णचन्द्रजीको अपना पति बना चुकी थी। उसने मनसे अपना सर्वस्व भगवान् वासुदेवके चरणोंमें समर्पित कर दिया था। वह सोचने लगी—'हाय, वह नराधम शिशुपाल कल बारात सजाकर मेरे पिताकी राजधानीमें आ जायगा। क्या मैं अपने प्राणप्यारे पतिदेवको नहीं पा सकूँगी? मैंने तो अपना सर्वस्व उन्हींके श्रीचरणोंमें समर्पण कर दिया है। वे दीनवत्सल हैं, अशरणशरण हैं, घट-घटकी जाननेवाले हैं। क्या उनसे मेरा भाव छिपा होगा? वे अवश्य ही जानते होंगे। फिर भी उन्हें स्मरण

दिलानेको एक विनयकी पाती तो पठा ही दूँ। फिर आना-न-आना उनके अधीन रहा। या तो इस प्राणहीन शरीरको शिशुपाल ले जायगा, या उसे खाली हाथों ही लौटना पड़ेगा। प्राण रहते तो मैं उस दुष्टके साथ कभी न जाऊँगी। इस शरीरप तो उन भगवान् वासुदेवका ही अधिकार है। जीवित शरीरका वे ही उपभोग कर सकते हैं।' यह सोचकर वह अपने प्राणनाथ के लिये प्रेम-पाती लिखनेको बैठी—

> श्रुत्वा गुणान्भुवनसुन्दर श्रृण्वतां ते
> निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
> रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
> त्वय्यच्युताऽऽविशति चित्तमपत्रपं मे ॥*
>
> (श्रीमद्भा० १० । ५२ । ३७)

इस प्रकार सात श्लोक लिखकर एक ब्राह्मणके हाथ उसने अपनी वह प्रणयरससे पूर्ण पाती द्वारिकाको भगवान्‌के पास भिजवायी। महाप्रभु भी उसी तरहसे हाथके नखोंके द्वारा रुक्मिणी-के भावावेशमें अपने प्यारे श्रीकृष्णको प्रेम-पाती-सी लिखने लगे। वे उसी भावसे विलख-विलखकर रुदन करने लगे और रोते-रोते

---

* हे अच्युत! तुम्हारे त्रिभुवन-सुन्दर स्वरूपकी ख्याति मेरे कर्ण-कुहरोंद्वारा हृदयमें पहुँच गयी है, उसने पहुँचते ही मेरे हृदयके सभी प्रकारके तापोंको शान्त कर दिया है। क्योंकि तुम्हारे जगन्मोहन रूप और आपके अचिन्त्य गुणोंमें प्रभाव ही ऐसा है, कि वह देखनेवालों तथा सुननेवालोंके सभी मनोरथोंको पूर्ण कर देते हैं। हे प्रणतपाल! उस ख्यातिके ही सुननेसे मेरा निर्लज्ज मन तुम्हारेमें आसक्त हो गया है।

उन्हीं भावोंको प्रकट भी करने लगे। कुछ कालके अनन्तर वह भाव शान्त हुआ। बाहर रङ्ग-मञ्चपर अद्वैताचार्य सुप्रभा और गोपीके साथ मधुर भावकी बातें कर रहे थे। हरिदास कन्धेपर लट्ठ रखकर 'जागो-जागो' कहकर घूम रहे थे। सभी भक्त प्रेममें विभोर होकर रुदन कर रहे थे। इतनेमें ही जगन्मोहिनी रूपको धारण किये हुए प्रभुने रङ्ग-मञ्चपर प्रवेश किया। प्रभुके आगे बड़ाई-वेशमें नित्यानन्दजी थे। नित्यानन्दजीके कन्धेपर हाथ रखे हुए धीरे-धीरे प्रभु आ रहे थे। प्रभुके उस अद्भुत रूप-लावण्य-युक्त स्वरूपको देखकर सभी भक्त चकित हो गये। उस समयके प्रभुके रूपका वर्णन करना कविकी प्रतिभाके बाहरकी बात है। सभी इस बातको भूल गये कि, प्रभुने ऐसा रूप बनाया है। भक्त अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उस रूपमें पार्वती, सीता, लक्ष्मी, महाकाली तथा रासविहारिणी रसविस्तारिणी श्रीराधिकाजीके दर्शन करने लगे। जिस प्रकार समुद्र-मन्थनके पश्चात् भगवान्‌के भुवनमोहिनी रूपको देखकर देव, दानव, यक्ष, राक्षस सबके सभी उस रूपके अधीन हो गये थे और देवाधिदेव महादेवजी तक कामासक्त होकर उसके पीछे दौड़े थे। उसी प्रकार यहाँ भी सभी भक्त विमुग्ध-से तो हो गये थे किन्तु प्रभुके आशीर्वादसे किसीके हृदयमें कामके भाव उत्पन्न नहीं हुए। सभीने उस रूपमें मातृस्नेहका अनुभव किया। प्रभु लक्ष्मीके भावमें आकर भावमय सुन्दर पद गा-गाकर मधुर नृत्य करने लगे। उस समय प्रभुकी आकृति-प्रकृति, हाव-भाव, चेष्टा तथा वाणी सभी स्त्रियोंकी-

सी ही हो गयी थी। वे कोकिलकूजित कमनीय कण्ठसे बड़े ही
भावमय पदोंका गान कर रहे थे। उनकी भाव-भङ्गीमें जादू
भरा हुआ था, सभी भक्त उस अनिर्वचनीय अलौकिक और अपूर्व
नृत्यको देखकर चित्रके लिखे-से स्तम्भित भावसे बैठे हुए थे।
प्रभु भावावेशमें आकर नृत्य कर रहे थे। उनके नृत्यकी मधुरिमा
अधिकाधिक बढ़ती ही जाती थी, दोनों आँखोंसे अश्रुओंकी दो
अविच्छिन्न धारा-सी बह रही थी, मानो गंगा-यमुनाका प्रवाह
सजीव होकर बह रहा हो। दोनों भृकुटिएँ ऊपर चढ़ी हुई थीं।
कड़े, छड़े, झाँझन और नूपुरोंकी झनकारसे सम्पूर्ण रंग-मञ्च
झंकृत-सा हो रहा था। प्रकृति स्तब्ध थी मानो वायु भी प्रभुके
इस अपूर्व नृत्यको देखनेके लालचसे रुक गयी हो। भीतर बैठी
हुई सभी स्त्रियाँ विस्मयसे आँखें फाड़-फाड़कर प्रभुके अद्भुत
रूप-लावण्यकी शोभा निहार रही थीं।

उसी समय नित्यानन्दजी बड़ाईके भावको परित्याग करके
श्रीकृष्णभावसे क्रन्दन करने लगे। उनके क्रन्दनको सुनकर सभी
भक्त व्याकुल हो उठे और लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ते हुए सब-के-
सब उच्चस्वरसे हा गौर, हा कृष्ण! कहकर रुदन करने लगे।
सभीकी रोदनध्वनिसे चन्द्रशेखरका घर गूँजने लगा। सम्पूर्ण
दिशाएँ रोती हुई-सी मालूम पड़ने लगीं। भक्तोंको व्याकुल देख-
कर प्रभु भक्तोंके ऊपर वात्सल्यभाव प्रकट करनेके निमित्त भग-
वान्‌के सिंहासनपर जा बैठे। सिंहासनपर बैठते ही सम्पूर्ण घर
प्रकाशमय बन गया। मानो हजारों सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र एक हुए

ही आकाशमें उदय हो उठे हों। भक्तोंकी आँखोंके सामने उस दिव्यालोकके प्रकाशको सहन न करनेके कारण चकाचौंध-सा छा गया।

प्रभुने भगवान्‌के सिंहासनपर बैठे-ही-बैठे हरिदासजीको बुलाया। हरिदासजी लट्ठ फेंककर जल्दीसे जगन्माताकी गोदीके लिये दौड़े। प्रभुने उन्हें उठाकर गोदमें बैठा लिया। हरिदास महामाया आदिशक्तिकी क्रोड़में बैठकर अपूर्व वात्सल्यसुखका अनुभव करने लगे। इसके अनन्तर क्रमशः सभी भक्तोंकी बारी आयी। प्रभुने भगवतीके भावमें सभीको वात्सल्यसुखका रसास्वादन कराया और सभीको अपना अप्राप्य स्तन पान कराकर आनन्दित और पुलकित कराया। इसी प्रकार भक्तोंको स्तन-पान कराते-कराते प्रातःकाल हो गया। उस समय भक्तोंको सूर्यदेवका उदय होना अरुचिकर-सा प्रतीत हुआ। प्रातःकाल होते ही प्रभुने भगवती-भावका संवरण किया। वे थोड़ी देरमें प्रकृतिस्थ हुए और उस वेषको बदलकर भक्तोंके सहित नित्य-कर्मसे निवृत्त होनेके लिये गंगा-किनारेकी ओर चले गये। चन्द्रशेखरका घर प्रभुके चले जानेपर भी तेजोमय ही बना रहा और वह तेज धीरे-धीरे सात दिनमें जाकर बिल्कुल समाप्त हुआ।

इस प्रकार प्रभुने भक्तोंके सहित श्रीमद्भागवतकी प्रायः सभी लीलाओंका अभिनय किया।

भक्तोंके साथ प्रेम-रसास्वादन

सर्वथैव दुरुहोऽयमभक्तैर्भगवद्रसः ।
तत्पादाम्बुजसर्वस्वैर्भक्तैरेवानुरस्यते ॥*

प्रेमकी उपमा किससे दें ? प्रेम तो एक अनुपमेय वस्तु है। स्थावर, जङ्गम, चर, अचर, सजीव तथा निर्जीव सभीमें प्रेम समानरूपसे व्याप्त हो रहा है। संसारमें प्रेम ही तो ओत-प्रोत-भावसे भरा हुआ है। जो लोग आकाशको पोला समझते हैं, वे भूले हुए हैं। आकाश तो लोहेसे भी कहीं अधिक ठोस है। उसमें तो एक परमाणु भी और नहीं समा सकता, वह सद्वृत्ति और दुर्वृत्तियोंके भावोंसे ठूँस-ठूँसकर भरा हुआ है। प्रेम उन सभीमें समानरूपसे व्याप्त है। प्रेमको चूना-मसाला या जोड़नेवाला द्राविक पदार्थ समझना चाहिये। प्रेमके ही कारण ये सभी भाव टिके हुए हैं। किन्तु प्रेमकी उपलब्धि सर्वत्र नहीं होती। वह तो भक्तोंके ही शरीरोंमें पूर्णरूपसे प्रकट होता है। भक्त ही परस्परमें प्रेमरूपी रसायनका निरन्तर पान करते रहते हैं। उनकी

---

* जिन्होंने सांसारिक भोगोंको ही सब कुछ समझ रखा है, जो विषय-भोगोंमें ही आबद्ध हैं, ऐसे अभक्तोंको भगवद्रसका आस्वादन करना सर्वथा दुर्लभ है। जिन्होंने अपना सर्वस्व उस साँवलेके कोमल अरुण चरणोंमें समर्पित कर दिया है, जो सर्वतोभावेन उसीके बन गये हैं ऐसे ऐकान्तिक भक्त ही उस रसका आस्वादन कर सकते हैं।

प्रत्येक चेष्टामें प्रेम-ही-प्रेम होता है। वे सदा प्रेम-वारुणी पान करके लोकबाह्य उन्मत्त-से बने रहते हैं और अपने प्रेमी बन्धुओं तथा भक्तोंको भी उस वारुणीको भर-भर प्याले पिलाते रहते हैं। उस अपूर्व आसवका पान करके वे भी मस्त हो जाते हैं, निहाल हो जाते हैं, धन्य हो जाते हैं, लज्जा, घृणा तथा भयसे रहित होकर वे भी पागलोंकी भाँति प्रलाप करने लगते हैं। उन पागलोंके चरित्रमें कितना आनन्द है, कैसा अपूर्व रस है। उनकी मार-पीट, गाली-गलौज, स्तुति-प्रार्थना, भोजन तथा शयन सभी कामोंमें प्रेमका सम्पुट लगा होनेसे ये सभी काम दिव्य और अलौकिक-से प्रतीत होते हैं। उनके श्रवणसे सहृदय पुरुषोंको सुख होता है, वे भी उस प्रेमासवके लिये छटपटाने लगते हैं और उसी छटपटाहटके कारण वे अन्तमें प्रभु-प्रेमके अधिकारी बनते हैं।

महाप्रभु अब भक्तोंको साथ लेकर नित्यप्रति बड़ी ही मधुर-मधुर लीलाएँ करने लगे। जबसे जगाई-मधाईका उद्धार हुआ और वे अपना सर्वस्व त्यागकर जबसे श्रीवास पण्डितके यहाँ रहने लगे, तबसे भक्तोंका उत्साह अत्यधिक बढ़ गया है। अन्य लोग भी संकीर्तनके महत्वको समझने लगे हैं। अब संकीर्तनकी चर्चा नवद्वीपमें पहिलेसे भी अधिक होने लगी है। निन्दक अब भाँति-भाँतिसे कीर्तनको बदनाम करनेकी चेष्टा करने लगे हैं। पाठक! उन निन्दकोंको निन्दा करने दें। आप तो अब गौरकी भक्तोंके साथ की हुई अद्भुत लीलाओंका ही रसास्वादन करें।

मुरारी गुप्त प्रभुके सहपाठी थे, वे प्रभुसे अवस्थामें भी बड़े थे। प्रभु उन्हें अत्यधिक प्यार करते और उन्हें अपना बहुत ही अन्तरंग भक्त समझते। मुरारीका भी प्रभुके चरणोंमें पूर्णरीत्या अनुराग था। वे रामोपासक थे, अपनेको हनूमान् समझकर कभी-कभी भावावेशमें आकर हनूमान्‌जीकी भाँति हुंकार भी मारने लगते। वे सदा अपनेको प्रभुका सेवक ही समझते। एक दिन प्रभुने विष्णु-भावमें 'गरुड़'-'गरुड़' कहकर पुकारा। बस, उसी समय मुरारीने अपने वस्त्रको दोनों ओर पंखोंकी तरह फैलाकर प्रभुको जल्दीसे अपने कन्धेपर चढ़ा लिया और आनन्दसे इधर-उधर आँगनमें घूमने लगे। यह देखकर भक्तोंके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उन्हें प्रभु साक्षात् चतुर्भुज नारायणकी भाँति गरुड़पर चढ़े हुए और चारों हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म इन चारों वस्तुओंको लिये हुए-से प्रतीत होने लगे। भक्त आनन्दके सहित नृत्य करने लगे। मालतीदेवी तथा शचीमाता आदि अन्य स्त्रियाँ प्रभुको मुरारीके कन्धेपर चढ़ा हुआ देखकर भयभीत होने लगीं। कुछ कालके अनन्तर प्रभुको बाह्य ज्ञान हुआ और वे मुरारीके कन्धेसे नीचे उतरे।

मुरारी रामोपासक थे। प्रभु उनकी ऐकान्तिकी निष्ठासे पूर्णरीत्या परिचित थे। भक्तोंको उनका प्रभाव जतानेके निमित्त प्रभुने एक दिन उनसे एकान्तमें कहा—'मुरारी! यह बात बिल्कुल ठीक है, कि श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों एक ही हैं। उन्हीं भगवान्‌के अनन्त रूपोंमेंसे ये भी हैं। भगवान्‌के किसी भी नाम

तथा रूपकी उपासना करो अन्तमें सबका फल प्रभु-प्राप्ति ही है, किन्तु श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाओंकी अपेक्षा श्रीकृष्ण-लीलाओंमें अधिक रस भरा हुआ है। तुम श्रीरामरूपकी लीलाओंकी अपेक्षा श्रीकृष्ण-लीलाओंका आश्रय ग्रहण क्यों नहीं करते? हमारी हार्दिक इच्छा है, कि तुम निरन्तर श्रीकृष्ण-लीलाओंका ही रसास्वादन किया करो। आजसे श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व समझकर उन्हींकी अर्चा-पूजा तथा भजन-ध्यान किया करो।'

प्रभुकी आज्ञा मुरारीने शिरोधार्य कर ली। पर उनके हृदयमें खलबली-सी मच गयी। वे जन्मसे ही रामोपासक थे। उनका चित्त तो रामरूपमें रमा हुआ था, प्रभु उन्हें कृष्णोपासना करनेके लिये आज्ञा देते हैं। इसी असमञ्जसमें पड़े हुए वे रात्रिभर आँसू बहाते रहे। उन्हें क्षणभरके लिये भी नींद नहीं आयी। पूरी रात्रि रोते-रोते ही बितायी। दूसरे दिन उन्होंने प्रभुके समीप जाकर दीनता और नम्रताके साथ निवेदन किया—'प्रभो! यह मस्तक तो मैंने रामको बेच दिया है। जो माथा श्रीरामके चरणोंमें बिक चुका है, वह दूसरे किसीके सामने कैसे नत हो सकता है? नाथ! मैं आत्मघात कर लूंगा, मुझसे न तो रामोपासनाका परित्याग होगा और न आपकी आज्ञाका ही उल्लंघन करनेकी मुझमें सामर्थ्य है।' इतना कहकर मुरारी फूट-फूटकर रुदन करने लगे। प्रभु इनकी ऐसी इष्टनिष्ठा देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और जल्दीसे इनका गाढ़ आलिंगन करते हुए गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'मुरारी! तुम धन्य हो, तुम्हें अपने

इष्टमें इतनी अधिक निष्ठा है, हमें भी ऐसा ही आशीर्वाद दो कि हमारी भी श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें ऐसी ही ऐकान्तिक दृढ़ निष्ठा हो

एक दिन प्रभुने मुरारीसे किसी स्तोत्रका पाठ करनेके लिये कहा। मुरारीने बड़ी ही लय और स्वरके साथ स्वरचित रघुवीराष्टकको सुनाया। उसके दो श्लोक यहाँ दिये जाते हैं—

राजत्किरीटमणिदीधितिदीपिताश-
मुद्यद्बृहस्पतिकविप्रतिमे वहन्तम्।
द्वे कुण्डलेऽङ्करहितेन्दुसमानवक्त्रं
रामं जगत्त्रयगुरुं सततं भजामि॥
उद्यद्विभाकरमरीचिविरोधिताब्ज-
नेत्रं सुबिम्बदशनच्छदचारुनासम्।
शुभ्रांशुरश्मिपरिनिर्जितचारुहासं
रामं जगत्त्रयगुरुं सततं भजामि॥*

(मुरारीकृ० चैतन्यच०

* जिनके दीप्तिमान मुकुटमें स्थित मणियोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ उद्भासित हो रही हैं, जिनके कानोंमें बृहस्पति और शुक्राचार्यके समान दो कुण्डल शोभा दे रहे हैं एवं जिनका मुखमण्डल कलंकरहित चन्द्रमाके समान शीतलता और सुख प्रदान करनेवाला है, ऐसे तीनों लोकोंके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीका हम भक्तिभावसे स्मरण करते हैं।

उदीयमान सूर्यकी किरणोंसे विकसित हुए कमलके समान जिनके आनन्ददायक बड़े-बड़े सुन्दर नेत्रयुगल हैं, बिम्बाफलके समान जिनके मनोहर अरुण रङ्गके ओष्ठद्वय हैं एवं मनको हरनेवाली जिनकी सुडौल नासिका है। जिनके मनोहर हास्यके सम्मुख चन्द्रमाकी किरणें भी लज्जित हो जाती हैं, ऐसे त्रिभुवनके गुरु श्रीरामचन्द्रजीका भक्तिभावसे हम भजन करते हैं।

प्रभु इनके इस स्तोत्र-पाठसे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और इनके मस्तकपर 'रामदास' शब्द लिख दिया। निम्न श्लोकमें इस घटनाका कैसा सुन्दर और सजीव वर्णन है—

इत्थं निशम्य रघुनन्दनराजसिंह-
श्लोकाष्टकं स भगवान् चरणं मुरारेः।
वैद्यस्य मूर्ध्नि विनिधाय लिलेख भाले
त्वं 'रामदास' इति भो भव मत्प्रसादात्॥

वे प्रभु राजसिंह श्रीरामचन्द्रजीके इन आठ श्लोकोंको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और वैद्यवर मुरारी गुप्तके मस्तकपर अपने श्रीचरणोंको रखकर उससे कहने लगे—'तुम्हें मेरी कृपासे श्रीरामचन्द्रजीकी अविरल भक्ति प्राप्त हो। ऐसा कहकर प्रभुने उनके मस्तकपर 'रामदास' ऐसा लिख दिया।

इस प्रकार प्रभुका असीम अनुग्रह प्राप्त करके आनन्दमें विभोर हुए मुरारी घर आये। आते ही इन्होंने भावावेशमें अपनी स्त्रीसे खानेके लिये दाल-भात माँगा। पतिव्रता साध्वी पत्नीने उसी समय दाल-भात परोसकर इनके सामने रख दिया। अब तो ये ग्रासोंमें घी मिला-मिलाकर जो भी सामने बाल-बच्चा अथवा कोई भी दीखता, उसे ही प्रेमपूर्वक खिलाते जाते और स्वयं भी खाते जाते। बहुत-सा अन्न पृथ्वीपर भी गिरता जाता। इस प्रकार ये कितना खा गये, इसका इन्हें कुछ भी पता नहीं। इनकी स्त्रीने जब इनकी ऐसी दशा देखी तब वह चकित रह गयी, किन्तु उस पतिप्राणा नारीने इनके काममें कुछ हस्तक्षेप

नहीं किया। इसी प्रकार खा-पीकर सो गये। प्रातःकाल जब उठे तो क्या देखते हैं, महाप्रभु इनके सामने उपस्थित हैं। इन्होंने जल्दीसे उठकर प्रभुकी चरण-वन्दना की और उन्हें बैठनेके लिये एक सुन्दर आसन दिया। प्रभुके बैठ जानेपर मुरारीने विनीत भावसे इस प्रकार असमयमें पधारनेका कारण जानना चाहा। प्रभुने कुछ हँसते हुए कहा—'तुम्हीं तो वैद्य होकर आफत कर देते हो। लाओ कुछ ओषधि तो दो।'

आश्चर्य प्रकट करते हुए मुरारीने पूछा—'प्रभो! ओषधि कैसी? किस रोगकी ओषधि चाहिये? रातभरमें ही क्या विकार हो गया?'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'तुम्हें मालूम नहीं है क्या विकार हो गया। अपनी स्त्रीसे तो पूछो। रातको तुमने मुझे कितना घृत-मिश्रित दाल-भात खिला दिया। तुम प्रेमसे खिलाते जाते थे, मैं भला तुम्हारे प्रेमकी उपेक्षा कैसे कर सकता था! जितना तुमने खिलाया, खाता गया। अब अजीर्ण हो गया है और उसकी ओषधि भी तुम्हारे पास ही रखी है। यह देखो, यही इस अजीर्णकी ओषधि है, यह कहते हुए प्रभु वैद्यकी खाटके समीप रखे हुए उनके उच्छिष्ट पात्रका जल पान करने लगे। मुरारी यह देखकर जल्दीसे प्रभुको ऐसा करनेसे निवारण करने लगे। किन्तु तबतक प्रभु आधेसे अधिक जल पी गये। यह देखकर मुरारी मारे प्रेमके रोते-रोते प्रभुके पादपद्मोंमें लोटने लगे।

एक दिन प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहके सहित मुरारी गुप्तसे कहा—'मुरारे! तुमने अपनी अहैतुकी भक्तिद्वारा श्रीकृष्णको अपने वशमें कर लिया है। अपनी प्रेमरूपी डोरीसे श्रीकृष्णको इस प्रकार कसकर बाँध लिया है, कि यदि वे उससे छूटनेकी भी इच्छा करें तो नहीं छूट सकते।' इतना सुनते ही कवि-हृदय रखनेवाले मुरारी गुप्तने अपनी प्रत्युत्पन्न-मतिसे उसी समय यह श्लोक पढ़कर प्रभुको सुनाया—

> काहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
> ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः॥
> (श्रीमद्भा० १० । ८१ । १६)

सुदामाकी उक्ति है। सुदामा भगवान्‌की दयालुता और असीम कृपाका वर्णन करते हुए कह रहे हैं—'भगवान्‌की दयालुता तो देखिये—कहाँ तो मैं सदा पाप-कर्मोंमें रत रहनेवाला दरिद्र ब्राह्मण और कहाँ सम्पूर्ण ऐश्वर्यके मूलभूत निखिल पुण्याश्रय श्रीकृष्ण भगवान्! तो भी उन्होंने केवल ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न हुए मुझ जातिमात्रके ब्राह्मणको अपनी बाहुओंसे आलिङ्गन किया। इसमें मेरा कुछ पुरुषार्थ नहीं है। कृपालु कृष्णकी अहैतुकी कृपा ही इसका एकमात्र कारण है।' इस प्रकार प्रभु त्रिविध प्रकारसे मुरारीके सहित प्रेम प्रदर्शित करते हुए अपना मनोविनोद करते रहते थे और मुरारीको उसके द्वारा अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करते रहते थे। अब अद्वैताचार्यके सम्बन्धकी भी बातें सुनिये।

अद्वैताचार्य प्रभुसे ही अवस्थामें बड़े नहीं थे, किन्तु सम्भवतया प्रभुके पूज्य पिता श्रीजगन्नाथ मिश्रसे भी कुछ बड़े होंगे। विद्यामें तो ये सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। प्रभुने जिनसे मन्त्रदीक्षा ली थी वे ईश्वरपुरी आचार्यके गुरुभाई थे। इस कारण वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध, कुलवृद्ध और सम्बन्धवृद्ध होनेके कारण प्रभु इनका गुरुकी ही तरह आदर-सत्कार किया करते थे। यह बात आचार्यके लिये असह्य थी। वे प्रभुको अपने चरणोंमें नत होकर प्रणाम करते देखकर बड़े लज्जित होते और अपनेको बार-बार धिक्कारते। वे प्रभुसे दास्य-भावके इच्छुक थे। प्रभु उनके ऊपर दास्य-भाव न रखकर गुरु-भाव प्रदर्शित किया करते थे, इसी कारण वे दुखी होकर हरिदासजीके साथ शान्तिपुर चले गये और वहीं जाकर विद्यार्थियोंको अद्वैत-वेदान्त पढ़ाने लगे और भक्ति-शास्त्रका अभ्यास छोड़कर ज्ञानचर्चा करने लगे।

प्रभु इनके मनोगत भावोंको समझ गये। एक दिन आपने नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! आचार्य इधर बहुत दिनोंसे नवद्वीप नहीं पधारे, चलो शान्तिपुर चलकर ही उनके दर्शन कर आवें।' नित्यानन्दजीको भला इसमें क्या आपत्ति होनी थी! दोनों ही शान्तिपुरकी ओर चल पड़े। दोनों ही एक-से मतवाले थे, जिन्हें शरीरकी सुधि नहीं, उन्हें भला रास्तेका क्या पता रहेगा! चलते-चलते दोनों ही रास्ता भूल गये। भूलते-भूलते दोनों गङ्गाजीके किनारे ललितपुरमें पहुँचे। ललितपुरमें [illegible] गङ्गाजीके किनारे इन्हें एक घर दिखायी दिया। लोगोंसे पूछा—'क्योंजी,

यह किसका घर है ?' लोगोंने कहा—'यह घर गृहस्थी-संन्यासीका है।' यह उत्तर सुनकर प्रभु बड़े जोरोंसे खिलखिलाकर हँस पड़े और नित्यानन्दजीसे कहने लगे—'श्रीपाद ! यह कैसे आश्चर्यकी बात ! गृहस्थी भी और फिर संन्यासी भी। गृहस्थी-संन्यासी तो हमने आजतक कभी नहीं देखा। चलो देखें तो सही, गृहस्थी-संन्यासी कैसे होते हैं !' नित्यानन्दजी यह सुनकर उसी घरकी ओर चल पड़े। प्रभु भी उनके पीछे-पीछे चलने लगे। उस घरके द्वारपर पहुँचकर दोनोंने काषाय-वस्त्र पहिने संन्यासी-वेष-धारी पुरुषको देखा। नित्यानन्दजीने उन्हें नमस्कार किया। प्रभुने संन्यासी समझकर उन्हें श्रद्धा-सहित प्रणाम किया। संन्यासीके सहित एक परम सुन्दर तेजस्वी तेईस वर्षके ब्राह्मण-कुमारको अपने घरपर आते देखकर संन्यासीजीने उनकी यथायोग्य अभ्यर्चना की और बैठनेको आसन दिया। परस्परमें बहुत-सी बातें होती रहीं। प्रभु तो सदा प्रेमके भूखे ही बने रहते थे। उन्होंने चारों ओर देखते हुए संन्यासीजीसे कहा—'संन्यासी महाराज ! कुछ कुटियामें हो तो जलपान कराइये। संन्यासीजीके घरमें दो स्त्रियाँ थीं। उनसे संन्यासीजीने जलपान लानेके लिये कहा। तबतक नित्यानन्दजीके सहित प्रभु जल्दीसे गंगा-स्नान करके आ गये और अपने-अपने आसनोंपर दोनों ही बैठ गये। आषाढ़-का महीना था [illegible] की स्त्री सुन्दर-सुन्दर आम और छिले हुए कटहल [illegible] सजाकर लायीं। दो कटोरोंमें सुन्दर दुग्ध भी थी। प्रभु जल्दी-जल्दी कटहल और आमोंको खाने

लगे । ये संन्यासी महाशय वाममार्गी थे । यह हम पहिले ही बता चुके हैं, उस समय बङ्गालमें वाममार्ग-पन्थका प्राबल्य था। स्त्रीने पूछा—'क्या 'आनन्द' भी थोड़ी-सी लाऊँ ?' संन्यासीजीने सङ्केतद्वारा उसे मना कर दिया । स्त्री भीतर चली गयी । एक बड़े आमको खाते हुए प्रभुने नित्यानन्दजीसे पूछा—'श्रीपाद ! 'आनन्द' क्या वस्तु होती है ? क्या संन्यासियोंकी भाषा भी पृथक् होती है ? या गृहस्थी-संन्यासियोंकी यह भाषा है ? तुम तो गृहस्थी-संन्यासी नहीं हो । फिर भी जानते ही होगे।'

प्रभुके इस प्रश्नसे नित्यानन्दजी हँसने लगे । प्रभुने फिर पूछा—'श्रीपाद ! हँसते क्यों हो, ठीक-ठीक बताओ ? आनन्द क्या ? है कोई मीठी चीज? हो तो मँगाओ, दूधके पश्चात् मीठा मुँह होगा ।'

आमके रसको चूसते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो ! ये लोग वाममार्गी हैं । मदिराको 'आनन्द' कहकर पुकारते हैं ।' यह सुनकर प्रभुको बड़ा दुःख हुआ । वे चारों ओर घिरे हुए सिंहकी भाँति देखने लगे । इतनेमें ही स्त्रीके बुलानेपर संन्यासी महाशय भीतर चले गये । उसी समय प्रभु जलपानके बीचमेंसे ही उठकर दौड़ पड़े । नित्यानन्दजी भी पीछे-पीछे दौड़े । इन दोनोंको जलपानके बीचमेंसे ही भागते देखकर संन्यासीजी भी इन्हें लौटानेके लिये चले । प्रभु जल्दीसे गङ्गाजीमें कूद पड़े और तैरते हुए शान्तिपुरकी ओर चलने लगे । नित्यानन्दजी तो तैरनेके आचार्य ही थे, वे भी प्रभुके पीछे-पीछे तैरने लगे ।

गङ्गाजीके बीचमें ही प्रभुको आवेश आ गया। दो कोसके लगभग तैरकर ये शान्तिपुरके घाटपर पहुँचे और घाटसे सीधे ही आचार्यके घर पहुँचे। दूरसे ही हरिदासजीने प्रभुको देखकर उनकी चरण-वन्दना की, किन्तु प्रभुको कुछ होश नहीं था, वे सीधे अद्वैताचार्यके ही समीप पहुँचे। उन्हें देखते ही प्रभुने कहा—'क्यों! फिर सूखा ज्ञान बघारने लगे।' आचार्यने कहा—'सूखा ज्ञान कैसे है? ज्ञान तो सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति तो स्त्रियोंके लिये है।' इतना सुनते ही प्रभु जोरोंसे अद्वैताचार्यजीको पीटने लगे। सभी लोग आश्चर्यके साथ इस अद्भुत लीलाको देख रहे थे। किसीकी भी हिम्मत नहीं होती थी, कि प्रभुको इस कामसे निवारण करे। प्रभु भी बिना कुछ सोचे-विचारे बूढ़े आचार्यकी पीठपर थप्पड़-घूसे मार रहे थे। ज्यों-ज्यों मार पड़ती, त्यों-ही-त्यों अद्वैत और अधिक प्रसन्न होते। मानो प्रभु अपने प्रेमकी मारद्वारा ही अद्वैताचार्यके शरीरमें प्रेमका सञ्चार कर रहे हैं। अद्वैताचार्यके चेहरेपर दुःख, शोक या विषण्णता अणुमात्र भी नहीं दिखायी देती थी। उलटे वे अधिकाधिक हर्षोन्मत्त-से होते जाते थे।

खटपट और मारकी आवाज सुनकर भीतरसे आचार्यकी धर्मपत्नी सीतादेवी भी निकल आयीं। उन्होंने जब प्रभुको आचार्यके शरीरपर प्रहार करते देखा तो वे घबड़ा गयीं और अधीर होकर कहने लगीं—'हैं, हैं, प्रभु! आप यह क्या कर रहे हैं। बूढ़े आचार्यके ऊपर आपको दया नहीं आती!' किन्तु

प्रभु किसीकी कुछ सुनते ही न थे। आचार्य भी प्रेममें विभोर हुए मार खाते जाते और नाचते-नाचते गौर-गुण-गान करते जाते। इस प्रकार थोड़ी देरके पश्चात् प्रभुको मूर्छा आ गयी और वे बेहोश होकर गिर पड़े। बाह्य ज्ञान होनेपर उन्होंने आचार्यको हर्षके सहित नृत्य करते और अपने चरणोंमें लोटते हुए देखा, तब आप जल्दीसे उठकर कहने लगे—'श्रीहरि, श्रीहरि, मुझसे कोई अपराध तो नहीं हो गया? मैंने अचेतनावस्थामें कोई चञ्चलता तो नहीं कर डाली? आप तो मेरे पितृ-तुल्य हैं। मैं तो भाई अच्युतके समान आपका पुत्र हूँ। अचेतनावस्थामें यदि कोई चञ्चलता मुझसे हो गयी हो, तो उसे आप क्षमा कर दें।' इतना कहकर ये चारों ओर देखने लगे। सामने सीतादेवीको खड़ी हुई देखकर आप उनसे कहने लगे—'माताजी! बड़ी जोरकी भूख लग रही है। जल्दीसे भोजन बनाओ।' यह कहकर आप नित्यानन्दजीसे कहने लगे—'श्रीपाद! चलो, जबतक हम जल्दीसे गङ्गा-स्नान कर आवें और तबतक माताजी भात बना रक्खेंगी।' इनकी बात सुनकर आचार्य, हरिदास तथा नित्यानन्दजी इनके साथ गङ्गाजीकी ओर चल पड़े। चारोंने मिलकर खूब प्रेमपूर्वक स्नान किया। स्नान करनेके अनन्तर सभी लौटकर आचार्यके घर आ गये। आचार्यके पूजा-गृहमें जाकर प्रभुने भगवान्‌के लिये साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उसी समय आचार्य प्रभुके चरणोंमें लोट गये। आचार्यके चरणोंमें हरिदासजी लोटे। इस प्रकार आचार्यको अपने चरणोंमें देखकर प्रभु जल्दीसे कानों-

पर हाथ रखते हुए उठे और अपने दाँतोंसे जीभ काटते हुए कहने लगे—'श्रीहरि, श्रीहरि, आप यह हमारे ऊपर कैसा अपराध चढ़ा रहे हैं ? हम तो आपके पुत्रके समान हैं।'

भोजन तैयार था, सभीने साथ बैठकर बड़े ही प्रेमके साथ भोजन किया। रात्रिभर नित्यानन्दजीके सहित प्रभुने आचार्यके घरपर ही निवास किया। दूसरे दिन आप गङ्गाको पार करके उस पार कालना नामक स्थानमें पहुँचे। वहाँपर परम वैष्णव गौरीदासजी घर-बार छोड़कर एकान्तमें गङ्गाजीके किनारे रहकर भजन-भाव करते थे। प्रभु विचित्र वेशसे उनके पास पहुँचे। प्रभुके कन्धेपर नाव खेनेका एक डाँड़ रखा हुआ था, वे मल्लाहोंकी तरह हिलते-हिलते गौरीदासजीके समीप पहुँचे। गौरीदासजीने प्रभुकी प्रशंसा तो बहुत दिनोंसे सुन रखी थी, किन्तु उन्हें प्रभुके दर्शनोंका सौभाग्य अभीतक नहीं प्राप्त हुआ था। प्रभुका परिचय पाकर उन्होंने इनकी पूजा की और वन्य सामग्रियोंसे उनका सत्कार किया। प्रभुने उन्हें वह डाँड़ देते हुए कहा—'आप इसके द्वारा संसार-सागरमें डूबे हुए लोगोंका उद्धार कीजिये और उन्हें संसार-सागरसे पार उतारिये।' उसे प्रभुकी प्रसादी समझकर उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार किया। उनके परलोक-गमनके अनन्तर उस डाँड़के अधिपति उनके पट्टशिष्य—श्रीहृदय चैतन्य महाराज हुए। उन्होंने उस डाँड़की बड़ी महिमा बढ़ायी। उनके उत्तराधिकारी महात्मा श्रीश्यामानन्दजीने तो सम्पूर्ण उड़ीसा-प्रान्तमें ही गौर-धर्मका बड़ा भारी प्रचार किया। सम्पूर्ण

उड़ीसा-देशमें जो आज गौर-धर्मका इतना अधिक प्रचार है, उसका सब श्रेय महात्मा श्यामानन्दजीको ही है। उन्होंने लाखों उड़ीसा-प्रान्त-निवासियोंको गौर-भक्त बनाकर उन्हें भगवन्नामोपदेश किया। सचमुच प्रभु-प्रदत्त वह डाँड़ लोगोंको संसार-सागरसे पार उतारनेका एक प्रधान कारण बन सका। कालनासे चलकर प्रभु फिर नवद्वीपमें ही आकर रहने लगे। आचार्य भी बीच-बीचमें प्रभुके दर्शनोंको नवद्वीप आते थे।

इसी प्रकार एक दिन श्रीवास पण्डित अपने घरमें पितृ-श्राद्ध करके पितरोंकी प्रसन्नताके निमित्त विष्णुसहस्रनामका पाठ कर रहे थे। उसी समय प्रभु वहाँ आ उपस्थित हुए। पाठ सुनते-सुनते ही प्रभुको वहाँ फिर नृसिंहावेश हो आया और वे नृसिंहावेशमें आकर हुंकार देने लगे और चारों ओर इधर-उधर दौड़ने लगे। प्रभुकी हुंकार और गर्जनाको सुनकर सभी लोग भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। लोगोंको भयभीत देखकर श्रीवास पण्डितने प्रभुसे भाव-संवरण करनेकी प्रार्थना की। श्रीवासकी प्रार्थनापर प्रभु मूर्छित होकर गिर पड़े और थोड़ी देरमें प्रकृतिस्थ हो गये।

एकबार वनमाली आचार्य नामका एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण अपने पुत्रसहित प्रभुके पास आया और उनके पाद-पद्मोंमें प्रणाम करके उसने अपनी निष्कृतिका उपाय पूछा। प्रभुने उसके ऊपर कृपा प्रदर्शित करते हुए कहा—'इस कलिकालमें कर्मकाण्डकी क्रियाओंका सांगोपांग होना बड़ा दुस्साध्य है। अन्य युगोंकी

भाँति इस युगमें द्रव्य-शुद्धि, शरीर-शुद्धि बन ही नहीं सकती। इसलिये इस युगमें तो बस, एकमात्र भगवन्नाम ही आधार है।' जैसा कि सभी शास्त्रोंमें बताया गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

प्रभुके उपदेशानुसार वह कर्मकाण्डी ब्राह्मण परम भागवत वैष्णव बन गया।

एक दिन प्रभु विष्णु-मण्डपपर बैठकर बलदेवजीके आवेशमें आकर 'मधु लाओ' 'मधु लाओ' इस प्रकार कहने लगे। नित्यानन्दजी समझ गये कि प्रभुको बलदेवजीका आवेश हो आया है, इसलिये उन्होंने एक घड़ा गङ्गा-जल लाकर प्रभुके सम्मुख रख दिया। जल पीकर प्रभु जोरोंके साथ नृत्य करने लगे और जिस प्रकार बलदेवजीने यमुनाकर्षण-लीला की थी, उसीका अभिनय करने लगे। उस समय वनमाली आचार्यको प्रभुके हाथमें सोनेके हल और लांगल दिखायी देने लगे। चन्द्रशेखर आचार्यको प्रभु बलरामके रूपमें दीखने लगे।

इस प्रकार प्रभु अपने अन्तरङ्ग भक्तोंको भाँति-भाँतिकी अलौकिक और प्रेममय लीलाएँ दिखाने लगे।

डीसा-देशमें जो आज गौर-धर्मका इतना अधिक प्रचार है, सका सब श्रेय महात्मा श्यामानन्दजीको ही है। उन्होंने खों उड़ीसा-प्रान्त-निवासियोंको गौर-भक्त बनाकर उन्हें ावन्नामोपदेश किया। सचमुच प्रभु-प्रदत्त वह डाँड़ लोगोंको सार-सागरसे पार उतारनेका एक प्रधान कारण बन सका। लनासे चलकर प्रभु फिर नवद्वीपमें ही आकर रहने लगे। चार्य भी बीच-बीचमें प्रभुके दर्शनोंको नवद्वीप आते थे।

इसी प्रकार एक दिन श्रीवास पण्डित अपने घरमें पितृ-द्ध करके पितरोंकी प्रसन्नताके निमित्त विष्णुसहस्रनामका पाठ र रहे थे। उसी समय प्रभु वहाँ आ उपस्थित हुए। पाठ नते-सुनते ही प्रभुको वहाँ फिर नृसिंहावेश हो आया और नृसिंहावेशमें आकर हुंकार देने लगे और चारों ओर इधर-उधर ड़ने लगे। प्रभुकी हुंकार और गर्जनाको सुनकर सभी ग भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। लोगोंको भयभीत खकर श्रीवास पण्डितने प्रभुसे भाव-संवरण करनेकी प्रार्थना । श्रीवासकी प्रार्थनापर प्रभु मूर्छित होकर गिर पड़े और ड़ी देरमें प्रकृतिस्थ हो गये।

एकबार वनमाली आचार्य नामका एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण अपने ासहित प्रभुके पास आया और उनके पाद-पद्मोंमें प्रणाम करके ने अपनी निष्कृतिका उपाय पूछा। प्रभुने उसके ऊपर कृपा र्शित करते हुए कहा—'इस कलिकालमें कर्मकाण्डकी याओंका सांगोपांग होना बड़ा दुस्साध्य है। अन्य युगोंकी

भाँति इस युगमें द्रव्य-शुद्धि, शरीर-शुद्धि बन ही नहीं सकती। इसलिये इस युगमें तो बस, एकमात्र भगवन्नाम ही आधार है।' जैसा कि सभी शास्त्रोंमें बताया गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

प्रभुके उपदेशानुसार वह कर्मकाण्डी ब्राह्मण परम भागवत वैष्णव बन गया।

एक दिन प्रभु विष्णु-मण्डपपर बैठकर बलदेवजीके आवेशमें आकर 'मधु लाओ' 'मधु लाओ' इस प्रकार कहने लगे। नित्यानन्दजी समझ गये कि प्रभुको बलदेवजीका आवेश हो आया है, इसलिये उन्होंने एक घड़ा गङ्गा-जल लाकर प्रभुके सम्मुख रख दिया। जल पीकर प्रभु जोरोंके साथ नृत्य करने लगे और जिस प्रकार बलदेवजीने यमुनाकर्षण-लीला की थी, उसीका अभिनय करने लगे। उस समय वनमाली आचार्यको प्रभुके हाथमें सोनेके हल और लांगल दिखायी देने लगे। चन्द्रशेखर आचार्यको प्रभु बलरामके रूपमें दीखने लगे।

इस प्रकार प्रभु अपने अन्तरङ्ग भक्तोंको भाँति-भाँतिकी अलौकिक और प्रेममय लीलाएँ दिखाने लगे।

भगवत्-भजनमें बाधक भाव

भगवन्नाम सभी प्रकारके सुखोंको देनेवाला है। इसमें अधिकारी-अनधिकारीका कोई भी भेद-भाव नहीं। सभी वर्णके, सभी जातिके, सभी प्रकारके स्त्री-पुरुष भगवन्नामका सहारा लेकर भगवान्‌के पाद-पद्मोंतक पहुँच सकते हैं। देश, काल, स्थान, विधि तथा पात्रापात्रका भगवन्नाममें कोई नियम नहीं। सभी देशोंमें, सभी समयमें, सभी स्थानोंमें, शुद्ध-अशुद्ध कैसी भी अवस्थामें हो चाहे भले ही जप करनेवाला बड़ा भारी दुराचारी ही क्यों न हो, भगवन्नाममें इन बातोंका भेदभाव नहीं। नाम-जप तो सभीको, सभी अवस्थाओंमें कल्याणकारी ही है। फिर भी भगवन्नाममें दश बड़े भारी अपराध* बताये गये हैं। पूर्वजन्मोंके शुभकर्मोंसे, महात्माओंके सत्सङ्गसे अथवा भगवत्-कृपासे जिसकी भगवन्नाममें निष्ठा जम गयी हो, उसे बड़ी सावधानीके साथ इन दश अपराधोंसे बचे रहना चाहिये। महाप्रभु अपने

---

* (१) सत्पुरुषोंकी निन्दा (२) भगवन्नामोंमें भेद-भाव (३) गुरुका अपमान (४) शास्त्र-निन्दा (५) भगवन्नामोंमें अर्थवाद (६) नामका आश्रय ग्रहण करके पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त होना (७) धर्म, व्रत, जप आदिके साथ भगवन्नामकी तुलना करना। (८) जो भगवन्नामको सुनना न चाहते हों उन्हें नामका उपदेश करना (९) नामका माहात्म्य श्रवण करके नाममें प्रेम न होना। (१०) अहंता-ममता तथा विषय-भोगोंमें लगे रहना। ये दश नामापराध हैं।

सभी भक्तोंको नामापराधसे बचे रहनेका सदा उपदेश करते रहते थे। वे भक्तोंकी सदा देख-रेख रखते। किसी भी भक्तको किसीकी निन्दा करते देखते, तभी उसे सचेत करके कहने लगते—'देखो, तुम भूल कर रहे हो।' भगवत्-भजनमें दूसरोंकी निन्दा करना तथा भक्तोंके प्रति द्वेपके भाव रखना महान् पाप है। जो अभक्त हैं, उनकी उपेक्षा करो, उनके सम्बन्धमें कुछ सोचो ही नहीं। उनसे अपना सम्बन्ध ही मत रखो और जो भगवत्-भक्त हैं, उनकी चरण-रजको सदा अपने सिरका आभूषण समझो। उसे अपने शरीरका सुन्दर सुगन्धित अङ्गराग समझकर सदा भक्तिपूर्वक शरीरमें मला करो।' इसीलिये प्रभुके भक्तोंमें आपसमें बड़ा ही भारी स्नेह था। भक्त एक दूसरेको देखते ही आपसमें लिपट जाते। कोई किसीके पैरोंको ही पकड़ लेता, कोई किसीकी चरण-धूलिको ही अपने मस्तकपर मलने लगता और कोई भक्तको दूरसे ही देखकर धूलिमें लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम ही करने लगता। भक्तोंकी शिक्षाके निमित्त वे भगवन्नामापराधीकी बड़ी भारी भर्त्सना करते और जबतक जिसके समीप वह अपराध हुआ है, उसके समीप क्षमा न करा लेते तबतक उस अपराधीके अपराधको क्षमा हुआ ही नहीं समझते थे। गोपाल चापालने श्रीवास पण्डितका अपराध किया था, इसी कारण उसके सम्पूर्ण शरीरमें गलित कुष्ठ हो गया था, वह अपने दुःखसे दुखी होकर प्रभुके शरणापन्न हुआ और अपने अपराधको स्वीकार करते हुए उसने क्षमा-

याचनाके लिये प्रार्थना की। प्रभुने स्पष्ट कह दिया—'इसकी एक ही ओषधि है, जिन श्रीवास पण्डितका तुमने अपराध किया है, उन्हींके चरणोदकका पान करो तो तुम्हारा अपराध क्षमा हो सकता है। मुझमें वैष्णवापराधीको क्षमा करनेकी सामर्थ्य नहीं है।' गोपाल चापालने ऐसा ही किया। श्रीवासके चरणोदकको निष्कपट भावसे प्रेमपूर्वक पीनेहीसे उसका कुष्ठ चला गया।

नामापराधी चाहे कोई भी हो प्रभु उसीको यथोचित दण्ड देते और अधिकारी हुआ तो उसका प्रायश्चित्त भी बताते थे। यहाँतक कि अपनी जननी श्रीशचीदेवीके अपराधको भी उन्होंने क्षमा नहीं किया और जबतक जिनका अपराध हुआ था, उनसे क्षमा नहीं करा ली तबतक उनपर कृपा ही नहीं की।

बात यह थी, कि महाप्रभुके ज्येष्ठ भ्राता विश्वरूपजी अद्वैताचार्यजीके ही पास पढ़ा करते थे। वे आचार्यको ही अपना सर्वस्व समझते और सदा उनके ही समीप बने रहते थे। केवल रोटी खानेभरके लिये घर जाते थे। अद्वैताचार्य उन्हें 'योगवाशिष्ठ' पढ़ाया करते थे। वे बाल्यकालसे ही सुशील, सदाचारी, मेधावी तथा संसारी विषयोंसे एकदम विरक्त थे। योगवाशिष्ठके श्रवणमात्रसे उनके हृदयका छिपा हुआ त्याग-वैराग्य एकदम उमड़ पड़ा और वे सर्वस्व त्यागकर परिव्राजक बन गये। अपने सर्वगुणसम्पन्न प्रिय पुत्रको असमयमें गृह त्यागकर सदाके लिये चले जानेके कारण माताको अपार दुःख हुआ और उसने विश्वरूपके वैराग्यका मूलकारण अद्वैताचार्यको

ही समझा। वात्सल्यप्रेमके कारण भूली हुई भोली-भाली माताने सोचा—'अद्वैताचार्यने ही ज्ञानकी पोथी पढ़ा-पढ़ाकर मेरे प्राणप्यारे पुत्रको परिव्राजक बना दिया।' जब माता बहुत रुदन करने लगी और अद्वैताचार्यजीके समीप भाँति-भाँतिका विलाप करने लगी तब अद्वैताचार्यजीने यों ही बातों-ही-बातोंमें समझाते हुए कह दिया था—'शोक करनेकी क्या बात है। विश्वरूपने कोई बुरा काम थोड़े ही किया है, उसने तो अपने इस शुभ कामसे अपने कुलकी आगे-पीछेकी २१ पीढ़ियोंको तार दिया। हम तो समझते हैं पढ़ना-लिखना उसीका सार्थक हुआ। जिन्हें पोथी पढ़ लेनेपर भी ज्ञान नहीं होता, वे पठित-मूर्ख हैं। ऐसे पुस्तकके कीड़े बने हुए पुरुष पुस्तक पढ़ लेनेपर भी उसके असली मर्मसे वञ्चित ही रहते हैं।' बेचारी माताके तो कलेजेका टुकड़ा निकल गया था, उसे ऐसे समयमें ये इतनी ऊँची ज्ञानकी बातें कैसे प्रिय लग सकती थीं। इन बातोंसे उसके मनमें इन्हीं भावोंका दृढ़ निश्चय हो गया कि विश्वरूपके गृहत्यागमें आचार्यकी जरूर सम्मति है। वह आचार्यसे अत्यधिक स्नेह करता था, इनकी आज्ञाके बिना वह जा ही नहीं सकता। इन भावोंको माताने मनमें ही छिपाये रखा। किसीके सामने इन्हें प्रकट नहीं किया।

अब जब निमाई भी आचार्यके संसर्गमें अधिक रहने लगे और आचार्य ही सबसे अधिक भगवद्भावसे इनकी पूजा-स्तुति करने लगे, तो बेचारी दुःखिनी मातासे अब नहीं रहा गया।

कहावत है—'दूधका जला छाछको भी फूँक-फूँक कर पीता है।' माताका हृदय पहिलेसे ही घायल बना हुआ था। विश्वरूप उसके हृदयमें पहिले ही एक बड़ा भारी घाव कर गये थे, वह अभी पुरने भी नहीं पाया था कि निमाई भी उसीके पथका अनुसरण करते हुए दिखायी देने लगे। निमाई अब भक्तोंको छोड़कर एक क्षणभरके लिये भी संसारी कामोंको करना पसन्द नहीं करते। वे विष्णुप्रियाजीसे अब बातें ही नहीं करते हैं, सदा भक्तमण्डली-में बैठे हुए श्रीकृष्ण-कथा ही कहते-सुनते रहते हैं, नातीका मुख देखनेके लिये उतावली बैठी हुई माताको अपने पुत्रका ऐसा बर्ताव रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। इसके मूलमें भी उसे आचार्य अद्वैतका ही हाथ दीखने लगा। माता अब अपने मनोगत भावों-को अधिक न छिपा सकीं। उनकी मनोव्यथा लोगोंसे बातें करते-करते आपसे आप ही हृदयको फोड़कर बाहर निकल पड़ती। वे आँसू बहाते-बहाते अधीर होकर कहने लगतीं—'इन वृद्ध आचार्यको मुझ दुःखिनी विधवाके ऊपर दया भी नहीं आती। मेरे एक पुत्रको तो इन्होंने संन्यासी बना दिया। मेरे पति मुझे बीचमें ही धोखा देकर सदाके लिये चल बसे। मुझ बिलखती हुई दुःखिनीके ऊपर उन्हें तनिक भी दया नहीं आई। अब मेरे जीवनका सहारा, मुझ अन्धीकी एकमात्र आधार लकड़ी यह निमाई ही है। इसे छोड़कर मेरे लिये सभी संसार सूना-ही-सूना है। मेरे आगे-पीछे बस यही एक आश्रय है, इसे भी आचार्य संन्यासी बनाना चाहते हैं। सदा इसे लेकर

कीर्तन ही करते रहते हैं। मेरा निमाई कितना सीधा है। अद्वैताचार्यने और उनके साथी भक्तोंने उसे ईश्वर बता-बताकर विरक्त बना दिया है, वह घरकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं देता। सदा भक्तोंके ही साथ घूमा करता है।'

माताकी इन बातोंसे श्रीवास आदि भक्तोंको तथा अद्वैताचार्यजीको मन-ही-मन कुछ दुःख होता था। प्रभु भी भक्तोंके मनोभावोंको ताड़ गये। भक्तोंको शिक्षा देनेके निमित्त प्रभुने माताके ऊपर कुछ क्रोध प्रकट करते हुए उस वैष्णव-निन्दारूपी पापका प्रायश्चित्त कराया।

एक दिन प्रभु भगवदावेशमें भगवत्-मूर्तियोंको एक ओर हटाकर भगवान्‌के सिंहासनपर आरूढ़ हुए और उपस्थित सभी भक्तोंसे वरदान माँगनेके लिये कहा। भक्तोंने अपनी-अपनी इच्छानुसार किसीने अपने पिताकी दुष्टता छुड़ानेका, किसीने स्त्रीकी बुद्धि शुद्ध हो जानेका, किसीने पुत्रका और किसीने भगवत्-भक्तिका वर माँगा। प्रभुने आवेशमें ही आकर सभीको उन-उनका अभीष्ट वरदान दिया। उसी समय श्रीवास पण्डितने अति दीन भावसे कहा—'प्रभो! ये शचीमाता सदा दुःखिनी ही बनी रहती हैं। ये दुःखके कारण सदा अश्रु ही बहाती रहती हैं। भगवन्! इनके ऊपर भी ऐसी कृपा होनी चाहिये कि इनका शोक-सन्ताप सब दूर हो जाय।'

प्रभुने उसी प्रकार सिंहासनपर बैठे-ही-बैठे भगवदावेशमें ही कहा—'शचीमातापर कृपा कभी नहीं हो सकती। इसने

वैष्णवापराध किया है। अपने अपराध करनेवालेको तो मैं क्षमा कर भी सकता हूँ, किन्तु वैष्णवोंका अपराध करनेवालेको क्षमा करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं।'

श्रीवास पण्डितने अत्यन्त दीन भावसे कहा—'प्रभो! भला यह भी कभी हो सकता है कि जिस माताने आपको गर्भमें धारण किया है, उसका अपराध ही क्षमा न हो सके। आपको गर्भमें धारण करनेसे तो ये जगज्जननी बन गयीं। इनके लिये क्या अपना और क्या पराया? सभी तो इनके पुत्र हैं। जिसे चाहें जो कुछ ये कह सकती हैं।'

प्रभुने कहा—'कुछ भी हो, वैष्णवोंका अपराध करनेवाला चाहे कोई भी हो, उसकी निष्कृति नहीं हो सकती। साक्षात् देवाधिदेव महादेवजी भी वैष्णवोंका अपराध करनेपर तत्क्षण ही नष्ट हो सकते हैं।'

श्रीवास पण्डितने कहा—'प्रभो! कुछ भी तो इनके अपराध-विमोचनका उपाय होना चाहिये।'

प्रभुने कहा—'शचीमाताका अपराध अद्वैताचार्यके प्रति है। यदि आचार्यकी चरण-धूलि माता सिरपर चढ़ावे और आचार्य ही इसे हृदयसे क्षमा कर दें तब यह कृपाकी अधिकारिणी बन सकती है।'

उस समय आचार्य दूसरे स्थानमें थे, सभी भक्त आचार्यके समीप गये और वहाँ जाकर उन्होंने सभी वृत्तान्त कहा।

प्रभुकी बातें सुनकर आचार्य प्रेममें विभोर होकर अश्रु-विमोचन करने लगे। वे रोते-रोते कहने लगे—'यही तो प्रभुकी भक्त-वत्सलता है। भला, जगन्माता शचीदेवीका अपराध हो ही क्या सकता है! यह तो प्रभु हमलोगोंको शिक्षा देनेके लिये इस लीलाका अभिनय करा रहे हैं। यदि प्रभुकी ऐसी ही इच्छा है और इस उपदेशप्रद अभिनयका प्रधान पात्र प्रभु मुझे ही बनाना चाहते हैं, तो मैं हृदयसे कहता हूँ, माताके प्रति मेरे मनमें किसी प्रकारका बुरा भाव नहीं है। यदि आप मुझे प्रभु-की आज्ञासे 'क्षमा कर दी' ऐसा कहनेके लिये ही विवश करते हैं तो मैं कहे देता हूँ। वैसे तो माताने मेरा कोई अपराध किया ही नहीं है, यदि प्रभुकी दृष्टिमें यह अपराध है तो मैं उसे हृदयसे क्षमा करता हूँ। रही चरण-धूलिकी बात सो शचीमाता तो जगद्-वन्द्य हैं। उनकी चरण-धूलि ही भक्तोंके शरीरका अङ्ग-राग है। भला, माताको मैं अपने पैर कैसे छुआ सकता हूँ।' इस प्रकार भक्तोंमें झगड़ा हो ही रहा था, कि इतनेमें ही शचीदेवी भी वहाँ आ पहुँचीं और उन्होंने जल्दीसे अद्वैताचार्यकी चरण-धूलि अपने मस्तकपर चढ़ा ली। इस बातसे भक्तोंकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वे आनन्दके साथ नृत्य करने लगे। भक्तोंमें एक दूसरेके प्रति जो कुछ थोड़ा-बहुत मनोमालिन्य था, वह इस घटनासे एकदम समूल नष्ट हो गया और भक्त परस्पर एक दूसरेको प्रेमसे गले लगा-लगाकर आलिंगन करने लगे।

इसी प्रकार नवद्वीपमें एक देवानन्द पण्डित थे। वे वैसे तो बड़े भारी पण्डित थे, शास्त्रोंका ज्ञान उन्हें यथावत् था।

श्रीमद्भागवतके पढ़ानेके लिये दूर-दूरतक इनकी ख्याति थी। बहुत दूर-दूरसे विद्यार्थी इनके पास श्रीमद्भागवत और गीता पढ़नेके लिये आते थे। ये स्वभावके बुरे नहीं थे, संसारी सुखोंसे उदासीन और विरक्त थे। किन्तु अभीतक इनके हृदयमें प्रेमका अंकुर उदित नहीं था। हृदयमें प्रेमका बीज तो पड़ा हुआ था, किन्तु श्रद्धा और साधु-कृपारूपी जलके बिना क्षेत्र शुष्क ही पड़ा था। सूखे खेतमें बीज अंकुरित कैसे हो सकता है, जबतक कि वह सुन्दर वारिसे सींचा न जाय? दयार्द्र-हृदय गौराङ्गने एक दिन नगर भ्रमण करते समय उनके ऊपर भी कृपा की। उनके ऊपर वाक्-प्रहार करके उनके सूखे और जमे हुए हृदय-रूपी क्षेत्रको पहिले तो जोत दिया, फिर कृपारूपी जलसे सींच-कर उसे स्निग्ध और अंकुर उत्पन्न होने योग्य बना दिया।

देवानन्दको श्रीमद्भागवत पढ़ाते देखकर प्रभु क्रोधित भावसे कहने लगे—'ओ पण्डित! श्रीमद्भागवतके अर्थोंका अनर्थ क्यों किया करता है? तू भागवतके अर्थोंको क्या जाने? श्री-मद्भागवत तो साक्षात् श्रीकृष्णका विग्रह ही है। जिनके हृदय-में प्रेम नहीं, भक्ति नहीं, साधु-महात्मा और ब्राह्मण-वैष्णवोंके प्रति श्रद्धा नहीं, वह श्रीमद्भागवतकी पुस्तकके छूनेका अधिकारी ही नहीं। भागवत, गङ्गाजी, तुलसी और भगवद्भक्त ये भगवान्‌के रूप ही हैं। जो शुष्क हृदयके हैं, जिनके अन्तःकरणमें भक्ति नहीं, वे इनके द्वारा क्या लाभ उठा सकते हैं? वैसे ही ज्ञानकी बातें बघारता रहता है, या कुछ समझता भी है? ऐसे पढ़नेसे क्या लाभ? ला तेरी पुस्तकको फाड़कर श्रीगङ्गाजीके प्रवाहमें

प्रवाहित कर दूँ।' इतना कहकर प्रभु भावावेशमें उनकी पुस्तक फाड़नेके लिये दौड़े। भक्तोंने यह देखकर प्रभुको पकड़ लिया और शान्त किया। प्रभुको भावावेशमें देखकर भक्त उन्हें आगे ले गये। लौटते हुए प्रभु फिर देवानन्दके स्थानपर आये। उस समय प्रभु भावावेशमें नहीं थे, उन्होंने देवानन्दजीको वह बात याद दिलायी, जब वे एक बार श्रीमद्भागवतका पाठ पढ़ा रहे थे और श्रीवास पण्डित भी पाठ सुनने आये थे। जिस श्रीमद्भागवतके अक्षर-अक्षरमें ठूँस-ठूँसकर प्रेम-रस भरा हुआ है, ऐसी भागवतका जब श्रीवासजीने पाठ सुना तो वे प्रेममें वेहोश होकर मूर्छित हो गये, आपके भक्तोंने उन्हें उठाकर वाहर डाल दिया था और आपने इसमें कुछ भी आपत्ति नहीं की। महाभागवत श्रीवास पण्डितके भावोंको जब आपने ही नहीं समझा तब आपके शिष्य तो समझते ही क्या? आपने उस समय एक भगवत्-भक्तका बुरी तरहसे तिरस्कार कराया, यह आपके ऊपर अपराध चढ़ा।'

देवानन्द विरक्त थे, विद्वान् थे, शास्त्रज्ञ थे, फिर भी उन्होंने प्रभुके क्रोधयुक्त वचनोंका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। भगवत्-कृपासे उनकी बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्हें अपनी भूलका अनुभव होने लगा। वे प्रभुके शरणापन्न हुए और उन्होंने अपने पूर्वके भूल तथा अज्ञानमें किये जानेवाले अपराधके लिये श्रीवास पण्डितसे क्षमा-याचना की। जब प्रभुकी उनके ऊपर कृपा हो गयी, तब उनके भगवत्-भक्त होनेमें क्या देर थी? वे उस दिनसे परमभक्त बन गये।

प्रभु अपने भक्तोंको भजनकी प्रणाली और भजन कि प्रकारके बनकर करना चाहिये इसकी शिक्षा सदा दिया करते थे एक दिन आप भक्तोंको भगवन्नामका माहात्म्य बता रहे थे माहात्म्य बताते हुए उन्होंने कहा—'भक्तको अपने लिये तृणसे भी नीचा समझना चाहिये और वृक्षोंसे भी अधिक सहनशील। स्वयं तो कभी मानकी इच्छा करे नहीं, किन्तु दूसरोंको सदा सम्मान प्रदान करते रहना चाहिये। इस प्रकार होकर निरन्तर भगवन्नामों-का ही चिन्तन-स्मरण करते रहना चाहिये। सबसे अधिक सहनशीलतापर ध्यान देना चाहिये। जिसमें सहनशीलता नहीं, वह चाहे कितना भी बड़ा विद्वान्, तपस्वी और पण्डित ही क्यों न हो, कभी भी भगवत्-कृपाका अधिकारी नहीं बन सकता। सहनशीलताका पाठ वृक्षोंसे लेना चाहिये। वृक्ष किसी-से कटु वचन नहीं बोलते, उन्हें जो ईंट-पत्थर मारता है तो उसपर रोष न करके उलटे प्रहार करनेवालेको पके हुए फल ही देते हैं। भूख-प्यास लगनेपर भोजन तथा जलकी याचना नहीं करते। सदा एकान्तमें ही रहते हैं। इसी प्रकार भक्तको जनसंसदिसे पृथक् रहकर किसीसे किसी बातकी याचना न करते हुए अमानी और सहनशील बनकर भगवत्-चिन्तन करते रहना चाहिये।'

इसके अनन्तर आपने—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥[*]

---

[*] कलियुगमें केवल हरिनाम ही सार है। जीवोंके उद्धारके निमित्त भगवन्नामको छोड़कर कलिकालमें दूसरा कोई और सुगम उपाय है ही नहीं।

इस श्लोककी व्याख्या भक्तोंको बतायी। तीन बार मना करनेसे यह अभिप्राय है, कि कलियुगमें इससे सरल और सुगम उपाय कोई दूसरा है ही नहीं।'

एक हृदयहीन जड-बुद्धिवाला विद्यार्थी भी प्रभुकी इस व्याख्याको सुन रहा था। उसने कहा—'यह तो सब शास्त्रोंमें अर्थवाद है। नामकी प्रशंसामें वैसे ही बहुत-सी चढ़ा-बढ़ाकर बातें कह दी हैं। वास्तवमें कोरे नामसे कुछ नहीं होता। लोगोंकी नाममें प्रवृत्ति हो, इसलिये ऐसे वाक्य कह दिये हैं।' इतना सुनते ही प्रभुने अपने दोनों कान बन्द कर लिये और 'श्रीहरि' 'श्रीहरि' कहकर वे सभी भक्तोंसे कहने लगे—'भगवन्नाममें अर्थवाद कहनेवालेको तो पातक लगता ही है, सुननेवालेको भी पाप होता है। इसलिये चलो हम सभी गंगाजीमें सचैल स्नान करें। तभी इस भगवन्नाममें अर्थवाद सुननेवाले पापसे मुक्त हो सकेंगे।' यह कहकर प्रभु भक्तोंके सहित गंगास्नानके लिये चले गये। सभी भक्तोंने श्रद्धा-भक्तिके सहित सुरसरिके सुन्दर-सुशीतल नीरमें स्नान किया। स्नान कर लेनेके अनन्तर प्रभुने सभी भक्तोंके सम्मुख भक्तिकी महिमाका वर्णन किया। प्रभु भक्तोंको लक्ष्य करके उन्हें समझाते हुए कहने लगे—'भाई, तुम्हीं सोचो, जो अखिलकोटि ब्रह्माण्डनायक हैं, जिनके एक-एक रोमकूपमें असंख्यों ब्रह्माण्ड समा सकते हैं, उन्हें कोई योगके ही द्वारा प्राप्त करना चाहे तो, वे उसके वशमें केवल श्वास रोकनेसे ही कैसे आ सकते हैं? कोई कहे कि हम तत्त्वोंकी संख्या

कर-करके उनका पता लगा लेंगे, तो यह उसकी कोरी मूर्खता है। भला, जो बुद्धिसे अतीत हैं, जिनके लिये चारों वेद नेति-नेति कहकर कथन कर रहे हैं उनका ज्ञान सांख्यके द्वारा हो ही कैसे सकता है? अब रही धर्मकी बात, सो धर्म तो उलटा बन्धनका ही हेतु है। धर्मसे तो तीनों लोकोंके विषय-सुखोंकी ही प्राप्ति हो सकती है। वह भी एक प्रकारसे सुवर्णकी बेड़ी ही है। कोई जपसे अथवा केवल त्यागसे ही उन्हें प्रसन्न करना चाहे तो वे कैसे प्रसन्न हो सकते हैं? त्याग कोई कर ही क्या सकता है? उनकी कृपाके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। भक्तिसे हीन होकर जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, दान, अनुष्ठान आदि कैसे भी सत्कर्म क्यों न किये जायँ, सभी व्यर्थ हैं। इस बातको भगवान्‌ने उद्धवसे स्वयं ही कहा है—

> न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
> न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥*
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।२०)

इस प्रकार भक्तोंको भगवत्-भक्तिकी शिक्षा देते हुए प्रभु सभीको अपूर्व सुख और आनन्द पहुँचाते हुए नवद्वीपमें भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करने लगे।

---

* हे उद्धव! जिस प्रकार मेरे प्रति बढ़ी हुई भक्ति मुझे वशमें कर सकती है उस प्रकार अष्टांगयोग, सांख्य-शास्त्रोंका अध्ययन, धर्म, स्वाध्याय तथा तप आदि क्रियाएँ मुझे वश करनेमें समर्थ नहीं हो सकतीं।

नदियामें प्रेम-प्रवाह और काजीका अत्याचार

नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा
शुद्धं वा शुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यम्।
तच्चेद्देहद्रविणजनतालोभपाखण्डमध्ये
निक्षिप्तं स्यान्नफलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र ॥*

(पद्मपुराण)

प्रेम ही 'जीवन' है। जिस जीवनमें प्रेम नहीं, वह जीवन नहीं जंजाल है। जहाँ प्रेम है, वहीं वास्तविक प्रेमकी छटा दृष्टि-गोचर होती है। कहीं प्रेमियोंका सम्मिलन देखिये, प्रेमियोंकी वार्ता सुनिये अथवा प्रेमियोंके हास-परिहास, खान-पान अथवा उनके मेलों-उत्सवोंमें सम्मिलित हूजिये, तब आपको पता चलेगा कि वास्तविक जीवन कैसा होता है और उसमें कितना मजा है, कितना मिठास है। उस मिठासके सामने संसारके जितने मीठे

---

* जिसकी जिह्वासे एक बार भगवान्‌के मधुर नामका उच्चार हो गया है, या स्मरणके द्वारा हृदयमें स्फुरित हो गया है अथवा कानसे सुन ही लिया है, फिर चाहे उस नामका उच्चारण शुद्ध हुआ हो या अशुद्ध अथवा व्यवधानसहित हो तो भी उस नामके उच्चारण, स्मरण अथवा श्रवणसे मनुष्य अवश्य ही तर जाता है। किन्तु उस नामका व्यवहार शुद्ध भावनासे होना चाहिये। यदि शरीर, धन, स्त्री, लोभ अथवा पाखण्डके लिये नामका आश्रय लिया जायगा तो (नाम लेना व्यर्थ तो जायगा नहीं उससे फल तो अवश्य ही होगा किन्तु) वह शीघ्र फल देनेवाला न हो सकेगा।

कहे जानेवाले पदार्थ हैं, सभी फीके-फीके-से प्रतीत होने लगते हैं। किसी भाग्यवान् पुरुषके शरीरमें ही प्रेम प्रकट होता है और उसकी छत्रछायामें जितने भी प्राणी आकर आश्रय ग्रहण करते हैं, वे सभी पावन बन जाते हैं, उन्हें भी वास्तविक जीवनका सुख मिल जाता है। प्रेमी जिस स्थानमें निवास करता है, वह भूमि पावन बन जाती है, जिस स्थानमें वह क्रीड़ा करता है, वह स्थान तीर्थ बन जाता है और जिन पुरुषोंके साथ वह लीला करता है, वे बड़भागी पुरुष भी सदाके लिये अमर बन जाते हैं। जिस नवद्वीपमें प्रेमावतार गौरचन्द्र उदित होकर अपनी सुखद शीतल किरणोंके प्रकाशसे संसारी तापोंसे आक्रान्त प्राणियोंको शीतलता प्रदान कर रहे हों उस भाग्यवती नगरीके उस समयके आनन्दका वर्णन कर ही कौन सकता है? महाप्रभुके कीर्तनारम्भसे सम्पूर्ण नवद्वीप एक प्रकारसे आनन्दका घर ही बन गया था। वहाँ हर समय श्रीकृष्ण-कीर्तनकी सुमधुर ध्वनि ही सुनायी पड़ती थी।

जगाई-मधाईके उद्धारसे लोग संकीर्तनका महत्त्व समझने लगे। हजारों लोग सदा प्रभुके दर्शनोंके लिये आते। वे प्रभुके लिये भाँति-भाँतिकी भेंटें लाते। कोई तो सुन्दर पुष्पोंकी मालाएँ लाकर प्रभुके गलेमें पहिनाता, कोई स्वादिष्ट फलोंको ही उपहार-स्वरूप प्रभुके सामने रखता। बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पकवान अपने घरोंसे लाकर प्रभुको भेंट करते। प्रभु उनमेंसे थोड़ा-सा लेकर सभीके मनको प्रसन्न कर देते। सभी आकर पूछते—

'प्रभो ! हमलोग भी कुछ कर सकते हैं ? क्या हमलोगोंको भी कृष्ण-कीर्तनका अधिकार है ?'

प्रभु कहते– 'कृष्ण-कीर्तन सब कोई कर सकता है। इसमें तो अधिकारी-अनधिकारीका प्रश्न ही नहीं। भगवन्नामके सभी अधिकारी हैं। नाममें विधि-निषेध अथवा ऊँच-नीचका विचार ही नहीं। आपलोग प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण-कीर्तन कर सकते हैं।'

इसपर लोग पूछते– 'प्रभो ! हमलोग तो जानते भी नहीं कीर्तन कैसे किया जाता है। हमें आजतक संकीर्तनकी शिक्षा ही नहीं मिली और न हमने इसकी पद्धति किसी पुस्तक-में ही पढ़ी।'

प्रभु हँसकर कहने लगते-- 'नाम-संकीर्तनमें सीखना ही क्या है, यह तो बड़ा सरल मार्ग है। इसके लिये विज्ञता अथवा बहुज्ञताकी आवश्यकता नहीं। सभी कोई इसे कर सकते हैं। देखो, इस प्रकार ताली बजाकर--

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

इस मन्त्रको या और किसी मन्त्रको जिसमें भगवान्‌के नामों-का ही कीर्तन हो, गाते गये, दस-पाँच अपने साथी इकट्ठे कर लिये और सभी मिलकर नाम-संकीर्तन करने लगे। तुम-लोग नियमपूर्वक महीनेभरतक करो तो सही, फिर देखना कितना आनन्द आता है।' लोग प्रभुके मुखसे भगवन्नाम-

माहात्म्य और कीर्तनकी महिमा सुनते और वहीं उन्हें दिखा-दिखाकर संकीर्तन करने लगते। जहाँ वे भूल करते प्रभु उन्हें फौरन बता देते। इस प्रकार उनसे जो भी पूछने आते, उन सभीको भगवन्नाम-संकीर्तनका ही उपदेश करते। लोग महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके अपने-अपने घरोंको चले आते और दूसरे ही दिनसे संकीर्तन आरम्भ कर देते। पहिले तो लोग ताली बजा-बजाकर ही कीर्तन करते थे, किन्तु ज्यों-ज्यों उन्हें आनन्द आने लगा, त्यों-ही-त्यों उनके संकीर्तनके साथ खोल-करताल तथा झाँझ-मृदंग आदि वाद्योंका भी समावेश होने लगा। एकको कीर्तन करते देखकर दूसरेको भी उत्साह होने लगा और उसने भी दस-पाँच लोगोंको इकट्ठा करके अपनी एक छोटी संकीर्तन-मण्डली बना ली और दोनों समय नियमसे संकीर्तन करने लगे। इस प्रकार प्रत्येक मुहल्लेमें बहुत-सी संकीर्तन-मण्डलियाँ स्थापित हो गयीं। अच्छे-अच्छे घरोंके लोग सन्ध्या-समय अपने सभी परिवारवालोंको साथ लेकर संकीर्तन करते। जिसमें स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े सभी सम्मिलित होते।

भक्त सदा आनन्दमें छके-से रहते। परस्पर एक दूसरेका आलिंगन करते। दो भक्त जहाँ भी रास्तेमें मिलते, वहीं एक दूसरेसे लिपट जाते। कोई दूसरेको साष्टाङ्ग प्रणाम ही करते, वह जल्दीसे उनकी चरण-रज लेनेको दौड़ता। कभी दस-बीस भक्त मिलकर संकीर्तनके पदोंका ही गायन करने लगते। कोई

बाजारमें सबके सामने नृत्य करते ही निकलते। इस प्रकार भक्तिरूपी नदियामें सदा प्रेमकी तरङ्गें ही उठती रहतीं। रात्रि-दिन शंख, घड़ियाल, तुरही, खोल, करताल, झाँझ, मृदंग तथा अन्यान्य प्रकारके वाद्योंसे सम्पूर्ण नवद्वीप नगर गूँजता ही रहता।

महाप्रभु भक्तोंको साथ लेकर रात्रिभर संकीर्तन ही करते रहते। प्रातःकाल घण्टे-दो-घण्टेके लिये सोते। उठते ही भक्तोंको साथ लेकर गङ्गा-स्नान करनेके लिये चले जाते। भक्तोंको तो लोगोंने सदासे ही 'बावले' की उपाधि दे रखी है। इन बावले भक्तोंका स्नान भी विचित्र प्रकारका होता। ये लोग सदा अफीमचीकी तरह पिनकमें ही बने रहते। मद्यपके समान नशेमें ही झूमते रहते और पागलोंके समान ही बड़बड़ाया करते। स्नान करते-करते किसीने किसीकी धोती ही फेंक दी है, तो कोई किसीके ऊपर जल ही उलीच रहा है। कोई तैरकर उस पार जा रहा है, तो कोई प्रवाहके विरुद्ध ही तैरनेका दुस्साहस कर रहा है। इस प्रकार घण्टोंमें इनका स्नान समाप्त होता। तब प्रभु सब भक्तोंके सहित घर आते। देवपूजन, तुलसीपूजन आदि कर्मोंको करते। तबतक विष्णुप्रिया भोजन बनाकर तैयार कर लेतीं। जल्दीसे आप भोजनोंपर बैठ जाते। भक्तोंको बिना साथ लिये इन्हें भोजन अच्छा ही नहीं लगता था, इसलिये दस-पाँच भक्त सदा इनके साथ ही भोजन करते। भोजन करते-करते कभी तो मातासे कहते—'अम्मा, तेरी बहूके हाथमें जाने क्या जादू है, सभी चीजोंमें बड़ी भारी मिठास आ

जाती है। और तो और साग भी तो मीठा लगता है!' पास बैठे हुए भक्तसे कहने लगते—'क्योंजी, ठीक है न, तुम्हें सागमें भी मिठास माळ्म पड़ती है।' यह सुनकर सभी भक्त हँसने लगते। विष्णुप्रियाजी भी मन-ही-मन मुस्कराने लगतीं।

भोजनके अनन्तर आप थोड़ी देर विश्राम करते। तीसरे पहर फिर धीरे-धीरे सभी भक्त प्रभुके घरपर आकर एकत्रित हो जाते। तब प्रभु उनके साथ श्रीकृष्ण-कथाएँ कहने लगते। कभी कोई श्रीमद्भागवतका ही प्रकरण छिड़ गया है। कभी कोई 'गीतगोविन्द' के पदकी ही व्याख्या कर रहा है। किसी दिन पद्मपुराणकी ही कथा हो रही है, इस प्रकार नाना शास्त्रोंकी चर्चा प्रभुके यहाँ होती रहती। सायंकालके समय भक्तोंको साथ लेकर प्रभु नगर-भ्रमण करनेके लिये निकलते। इसप्रकार इनका सभी समय भक्तोंके सहवासमें ही व्यतीत होता। क्षणभर भी भक्तोंका पृथक् होना इन्हें असह्य-सा प्रतीत होता। भक्तोंकी भी प्रभुके चरणोंमें अहैतुकी भक्ति थी। वे प्रभुके संकेतके ही अनुसार चेष्टाएँ करते। वे सदा प्रभुके मुखकी ही ओर देखते रहते, कि किस समय प्रभुके मुखपर कैसे भावोंके लक्षण प्रतीत होते हैं। उन्हीं भावोंके अनुसार वे क्रियाएँ करने लगते। इस कारण ईर्ष्या करना ही जिनका स्वभाव है, जो दूसरेके अभ्युदय तथा गौरवको देख ही नहीं सकते, ऐसे खल पुरुष सदा प्रभुकी निन्दा किया करते। प्रभु उन लोगोंकी बातों-के ऊपर ध्यान ही नहीं देते थे। जब कोई भक्त किसीके

सम्बन्धकी ऐसी बातें छेड़ भी देता तो आप उसी समय उसे डाँटकर कह देते। *'अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु त्यक्त्वा सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्'* दूसरोंकी निन्दा-स्तुति करना छोड़कर तुम निरन्तर श्रीकृष्ण-कीर्तनमें ही अपने मनको क्यों नहीं लगाते। इस कारण प्रभुके सम्मुख किसीकी निन्दा-स्तुति करनेकी भक्तोंको हिम्मत ही नहीं होती थी।

प्रभुके बढ़ते हुए प्रभावको देखकर द्वेषी लोगोंने मुसल्मानोंको भड़काया। वे जानते थे, कि हम निमाई पण्डितका वैसे तो कुछ बिगाड़ नहीं सकते। उनके कहनेमें हजारों आदमी हैं। हाँ, यदि शासकोंकी ओरसे इन्हें पीड़ा पहुँचायी जावेगी, तब तो इनका सभी गौरहरिपना ठीक हो जायगा। उस समय मुसल्मानोंका शासन था। इसलिये मुसल्मानोंकी शिकायतोंपर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसलिये खलोंने मुसल्मानोंको ही बहकाना शुरू किया—'निमाई पण्डित अशास्त्रीय काम करता है। उसकी देखादेखी सम्पूर्ण नगरमें कीर्तन होने लगा है। दिन-रात्रि कीर्तनकी ही ध्वनि सुनायी पड़ती है। इस कोलाहलके कारण रात्रिमें लोगोंको निद्रा भी तो नहीं आने पाती। काजीसे कहकर इन लोगोंको दण्ड दिलाना चाहिये। न जाने ये सब मिलकर क्या कर बैठें ?' मुसल्मानोंको भी यह बात जँच गयी। वे भला हिन्दू-धर्मका अभ्युदय कब देख सकते थे ? इसलिये सभीने मिलकर काजीके यहाँ संकीर्तनके विरुद्ध अभियोग चलाया।

उस समय बंगाल-सूबेमें अभियोगोंके निर्णय करनेका काम काजियोंके ही अधीन था। जमींदार, राजा अथवा मण्डलेश्वर कुछ गाँवोंका बादशाहसे नियत समयके लिये ठेका ले लेते और जितनेमें ठेका लेते उतने रुपये तो कर उगाहकर बादशाहको दे देते, जो बचते उसे अपने पास रख लेते। दीवानी और फौजदारीके जितने मामले होते उनका फैसला काजी किया करते। बादशाहकी ओरसे स्थान-स्थानपर काजी नियुक्त थे। उस समय बङ्गालके नवाब हुसेनशाह थे। वे बङ्गालके स्वतन्त्र शासक थे। उनकी ओरसे फौजदार चाँदखाँ नामके काजी नवद्वीपमें भी नियुक्त थे। बादशाहके दरबारमें इनका बड़ा सम्मान था। कुछ लोगोंका कहना है, ये हुसेनशाहके विद्यागुरु थे। कुछ भी हो, चाँदखाँ सहृदय, समझदार और शान्तिप्रिय मनुष्य थे। हिन्दुओंसे वे अकारण नहीं चिढ़ते थे। नीलाम्बर चक्रवर्तीके दौहित्र होनेके नातेसे वे महाप्रभुसे भी परिचित थे। इसलिये लोगोंके बार-बार शिकायत करनेपर भी उन्होंने महाप्रभुके विरुद्ध कोई कार्रवाई करनी नहीं चाही। जब लोगोंने नित्यप्रति उनसे संकीर्तनकी शिकायत करनी आरम्भ कर दी और उनपर अत्यधिक जोर डाला गया। तब उनकी भी समझमें यह बात आ गयी, कि 'हाँ, ये लोग दिन-रात्रि बाजे बजा-बजाकर शोर मचाते रहते हैं। ऐसा भी क्या भजन-कीर्तन! यदि भजन ही करना है, तो धीरे-धीरे करें।' यही सोचकर वे एक दिन अपने दल-बलके सहित कीर्तनवालोंको रोकनेके लिये चले। बहुत-से लोग प्रेममें उन्मत्त होकर संकीर्तन कर रहे थे। इनके आदमियोंने उनसे

कीर्तन बन्द कर देनेके लिये कहा। किन्तु वे भला किसकी सुननेवाले थे ! मना करनेपर भी वे बराबर कीर्तन करते ही रहे। इसपर काजीको गुस्सा आ गया और उसने घुसकर कीर्तन करनेवालोंके खोल फोड़ दिये और भक्तोंसे डाँटकर कहने लगे—'खबरदार, आजसे किसीने इस तरह शोर मचाया तो सभीको जेलखाने भेज दूँगा।' बेचारे भक्त डर गये। उन्होंने संकीर्तन बन्द कर दिया। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ भी संकीर्तन हो रहा था, काजीके आदमी वहाँ-वहाँ जाकर संकीर्तनको बन्द कराने लगे। सम्पूर्ण नगरमें हाहाकार मच गया। लोग संकीर्तनके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिकी बातें कहने लगे। कोई तो कहता—'भाई! यहाँ मुसलमानी शासनमें संकीर्तन हो ही नहीं सकता। हम तो इस देशको परित्याग करके किसी ऐसे देशमें जाकर रहेंगे, जहाँ सुविधापूर्वक संकीर्तन कर सकें। कोई कहते—'अजी, जोर-जोरसे नाम लेनेमें ही क्या लाभ ? यदि काजी मना करता है, तो धीरे-धीरे ही नाम-जप कर लिया करेंगे। किसी प्रकार भगवन्नाम-जप होना चाहिये।' इस प्रकार भयभीत होकर लोग भाँति-भाँतिकी बातें कहने लगे।

दूसरे दिन सभी मिलकर महाप्रभुके निकट आये और उन्होंने रात्रिमें जो-जो घटनाएँ हुईं सब कह सुनायीं और अन्तमें कहा—'प्रभो ! आप तो हमसे संकीर्तन करनेके लिये कहते हैं, किन्तु हमारे ऊपर संकीर्तन करनेसे ऐसी-ऐसी विपत्तियाँ आती हैं। अब हमारे लिये क्या आज्ञा होती है ? आपकी आज्ञा हो तो हम इस देशको छोड़कर किसी ऐसे देशमें चले जायँ, जहाँ सुविधापूर्वक संकीर्तन कर सकें। या आज्ञा हो तो संकीर्तन

करना ही बन्द कर दें। बहुत-से लोग तो डरके कारण भागे भी जा रहे हैं।'

प्रभुने कुछ दृढ़ताके साथ रोषमें आकर कहा—'तुम-लोगोंको न तो देशका ही परित्याग करना होगा और न संकीर्तन-को ही बन्द करना। तुम लोग जैसे करते रहे हो, उसी तरह संकीर्तन करते रहो। मैं उस काजीको और उसके साथियोंको देख लूँगा, वे कैसे संकीर्तनको रोकते हैं? तुमलोग तनिक भी न घबड़ाओ।' प्रभुके ऐसे आश्वासनको सुनकर सभी भक्त अपने-अपने घरोंको चले गये। बहुत-से तो प्रभुकी आज्ञानुसार पूर्ववत् ही संकीर्तन करते रहे। किन्तु उनके मनमें सदा डर ही बना रहता था। बहुतोंने उसी दिनसे संकीर्तन करना बन्द ही कर दिया।

लोगोंको डरा हुआ देखकर प्रभुने सोचा कि इस प्रकार काम नहीं चलनेका। लोग काजीके डरसे भयभीत हो गये हैं। जबतक मैं काजीका दमन न करूँगा, तबतक लोगोंका भय दूर न होगा। यह सुनकर पाठक आश्चर्य करेंगे, कि काजीके पास अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित बहुत-सी सेना है, बादशाहकी ओरसे उसे अधिकार प्राप्त है। उसके पास राजबल, धनबल, सैन्यबल तथा अधिकार-बल आदि सभी बल मौजूद हैं। उसका दमन अहिंसाप्रिय शान्त स्वभाववाले, अस्त्र-शस्त्रहीन, खोल-करतालकी लयके साथ नृत्य करनेवाले निमाई पण्डित कैसे कर सकेंगे? इस प्रश्नका उत्तर पाठकोंको अगले अध्यायमें आप-से-आप ही मिल जायगा।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका हरि-नाम-संकीर्तन-दल

काजीकी शरणापत्ति

वन्दे स्वैराद्भुतेऽहं तं चैतन्यं यत् प्रसादतः।
यवनाः सुमनायन्ते कृष्णनामप्रजल्पकाः॥ *

(चै० च० आ० १०।१)

बिना मुकुटके राजा भी होते हैं और बिना शस्त्रके सेना भी लड़ सकती है। जो मुकुटधारी राजा अथवा महाराजा होते हैं, उनका तो प्राय: जनताके ऊपर भयसे आधिपत्य होता है, वे भीतरसे उससे द्वेष भी रख सकते हैं और जनता कभी-कभी उनके विरुद्ध बलवा भी कर सकती है, किन्तु जो बिना मुकुटके राजा होते हैं उनका तो जनताके हृदयोंपर आधिपत्य होता है वे तो प्रेमसे ही सभी लोगोंको अपने वशमें कर सकते हैं। चाहे मुकुटधारी राजाकी सेना रणक्षेत्रसे भयके कारण भाग आवे, चाहे उसकी पराजय ही हो जाय, किन्तु जिनका जनताके हृदयोंके ऊपर आधिपत्य है, जनताके अन्त:करणपर जिनके शासनकी प्रेम-मुहर लगी हुई है उनके सैनिक चाहे शस्त्रधारी हों अथवा बिना शस्त्रके, बिना जय प्राप्त किये मैदानसे भागते ही नहीं। क्योंकि वे अपने प्राणोंकी कुछ भी परवा नहीं करते।

* जिनकी अनुकम्पासे यवन भी प्रहर्षित होकर श्रीकृष्णके सुमधुर नामोंका जप करनेवाले बन जाते हैं, उन स्वच्छन्द अद्भुत चेष्टाएँ करनेवाले श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवके चरणकमलोंमें हम प्रणाम करते हैं।

जिसे अपने प्राणोंकी कुछ भी परवा नहीं, जो मृत्युका नाम सुनकर तनिक भी विचलित न होकर उसका सर्वदा स्वागत करनेके लिये प्रस्तुत रहता है, उसके लिये संसारमें कोई काम दुरूह नहीं। उसे इन बाह्य शस्त्रोंकी उतनी अधिक अपेक्षा नहीं, उसका तो साहस ही शस्त्र है। वह निर्भीक होकर अपने साहस-रूपी शस्त्रके सहारे अन्यायके पक्ष लेनेवालेका पराभव कर सकता है। फिर भी वह अपने विरोधीके प्रति किसी प्रकारके बुरे विचार नहीं रखता। वह सदा उसके हितकी ही बात सोचता रहता है, अन्तमें उसका भी कल्याण हो जाता है। प्रेममें यही तो विशेषता है। प्रेममार्गमें कोई शत्रु ही नहीं। घृणा, द्वेष, कपट, हिंसा अथवा अकारण कष्ट पहुँचानेके विचारतक उस मार्गमें नहीं उठते, वहाँ तो ये ही भाव रहते हैं—

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाक् भवेत्॥*

(श्रीवाल्मीकि माहात्म्य)

इसीका नाम 'निष्क्रिय प्रतिरोध' 'सविनय अवज्ञा' अथवा 'सत्याग्रह' है। महाप्रभु गौराङ्गदेवने संकीर्तन रोकनेके विरोधमें इसी मार्गका अनुसरण करना चाहा। काजीकी नीच प्रवृत्तियोंके दमन करनेके निमित्त उन्होंने इसी उपायका अवलम्बन किया। सब लोगोंसे उन्होंने कह दिया—'आप लोग घबड़ायँ नहीं,

* सभी सुखी हों, सब स्वस्थ हों, सभी कल्याणमार्गके पथिक बन सकें, कोई भी दुखी न हो।

मैं स्वयं काजीके सामने संकीर्तन करता हुआ निकलूँगा, देखें वह मुझे संकीर्तनसे किसप्रकार रोकता है !' प्रभुके ऐसे आश्वासनसे सभीको परम प्रसन्नता हुई और सभी अपने-अपने घरोंको चले गये।

दूसरे दिन महाप्रभुने नित्यानन्दजीको आज्ञा दी कि सम्पूर्ण नगरमें इस संवादको सुना आओ कि 'हम आज सायंकालके समय काजीकी आज्ञाके विरुद्ध नगरमें संकीर्तन करते हुए निकलेंगे। सन्ध्याके समय सभी लोग हमारे घरपर एकत्रित हों और प्रकाशके लिये एक-एक मशाल भी साथ लेते आवें।' नित्यानन्दजी तो बहुत दिनसे यही बात चाहते भी थे। उनकी इच्छा थी, कि 'एक दिन महाप्रभु सम्पूर्ण नगरमें संकीर्तन करते हुए निकलें तो लोगोंको पता चल जाय, कि संकीर्तनमें कितना माधुर्य है। उन्हें विश्वास था कि जो लोग संकीर्तनका विरोध करते हैं, यदि वे लोग एक दिन भी गौराङ्गके प्रेम-नृत्यको देख लेंगे, तो वे सदाके लिये गौराङ्गके तथा उनके संकीर्तनके भक्त बन जायँगे। महाप्रभुके खुलकर कीर्तन करनेसे भयभीत भक्तोंका भय भी दूर भाग जायगा और अन्य लोगोंको भी फिर संकीर्तन करनेका साहस होगा। बहुत-से लोग हृदयसे संकीर्तनके समर्थक हैं, किन्तु काजी-के भयसे उनकी कीर्तन करनेकी हिम्मत नहीं होती। प्रभुके प्रोत्साहनकी ही आवश्यकता है।' इन बातोंको नित्यानन्दजी मन-ही-मनमें बहुत दिनोंसे सोच रहे थे। किन्तु उन्होंने किसीपर अपने इन भावोंको प्रकट नहीं किया। आज स्वयं महाप्रभुको

नगर-कीर्तन करनेके लिये उद्यत देखकर उनके आनन्दका पारावार नहीं रहा। वे हाथमें घण्टा लेकर नगरके मुहल्ले-मुहल्ले और गली-गलीमें घर-घर घूम-घूमकर इस शुभ संवादको सुनाने लगे। पहिले वे घण्टेको जोरोंसे बजा देते। घण्टेकी ध्वनि सुनकर बहुत-से स्त्री-पुरुष वहाँ एकत्रित हो जाते तब नित्यानन्दजी हाथ उठाकर कहते—'भाइयो! आज शामको श्रीगौरहरि अपने सुमधुर संकीर्तनसे सम्पूर्ण नगरके लोगोंको पावन बनावेंगे। नगरवासी नर-नारियोंकी चिरकालकी मनोवाञ्छा आज पूरी होगी। सभी लोगोंको आज प्रभुके अद्भुत और अलौकिक नृत्यके रसास्वादनका सौभाग्य प्राप्त होगा। सभी भाई संकीर्तनकारी भक्तोंके स्वागतके निमित्त अपने-अपने घरोंको सुन्दरताके साथ सजावें और शामको सभी एक-एक मशाल लेकर प्रभुके घरपर आवें। वहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल न मचावें। बस, संकीर्तनका सुख लूटते हुए अपने जीवनको कृतकृत्य बनावें।'

सभी लोग इस मुनादीको सुनते और आनन्दसे उछलने लगते। सामूहिक कार्योंमें एक प्रकारका स्वाभाविक जोश आ जाता है। उस जोशमें सभी प्रकारके लोग एक अज्ञात शक्तिके कारण खिंचे-से चले आते हैं, जिनसे कभी किसी शुभकामकी आशा नहीं की जाती वे भी जोशमें आकर अपनी शक्तिसे बहुत अधिक कार्य कर जाते हैं, इसीलिये तो कलिकालमें सभी कार्योंके लिये संघशक्तिको ही प्रधानता दी गयी है।

नवद्वीपमें ऐसा नगर-कीर्तन पहिले कभी हुआ ही नहीं था। वहाँके नर-नारियोंके लिये यह एक नूतन ही वस्तु थी।

लोग बहुत दिनोंसे निमाईके नृत्य और कीर्तनकी बातें तो सुनते थे, किन्तु उन्होंने आजतक कभी निमाईका नृत्य तथा कीर्तन देखा नहीं था। श्रीवास पण्डितके घरके भीतर संकीर्तन होता था और उसमें खास-खास भक्तोंके अतिरिक्त और कोई जा ही नहीं सकता था, इसीलिये नगरवासियोंकी कीर्तनानन्द देखनेकी इच्छा मन-ही-मनमें दब-सी जाती। आज नगर-कीर्तनकी बात सुनकर सभीकी दबी हुई इच्छाएँ उभड़ पड़ीं। लोग अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार संकीर्तनके स्वागतके निमित्त भाँति-भाँतिकी तैयारियाँ करने लगे। कहावत है 'खरबूजेको देखकर खरबूजा रंग बदलने लगता है।' जब भगवत्-भक्त अपने-अपने घरोंको बन्दनवार, कदली-स्तम्भ और ध्वजा-पताकाओंसे सजाने लगे, तब उनके समीप रहनेवाले शाक्त अथवा विभिन्न पन्थवाले लोग भी शोभाके लिये अपने-अपने दरवाजोंके सामने झण्डियाँ लगाने लगे, जिससे हमारे घरके कारण नगरकी सजावटमें बाधा न पड़े। किसी जोशीले नये कामके लिये सभी लोगोंके हृदयोंमें स्वाभाविक ही सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। उस कार्यकी धूमधामसे तैयारियाँ होते देखकर विपक्षी भी उसमें सहयोग देने लगते हैं। उस समय उनके विरोधी भाव दूर हो जाते हैं, कारण कि उग्र विचारोंका प्रभाव तो सभी प्रकारके लोगोंके ऊपर पड़ता है। इसलिये जो लोग अपनी नीच प्रकृतिके कारण संकीर्तन तथा श्रीगौराङ्गसे अत्यन्त ही द्वेष मानते थे, उन अकारण जलनेवाले खल पुरुषोंके घरोंको छोड़कर सभी प्रकारके लोगोंने अपने-

अपने घरोंको भलीभाँति सजाया। नगरकी सुन्दर सड़कों-पर छिड़काव किया गया। स्थान-स्थानपर धूप, गुग्गुल आदि सुगन्धित वस्तुएँ जलायी गयीं। सड़कके दोनों ओर भाँति-भाँतिकी ध्वजाएँ फहरायी गयीं। स्थान-स्थानपर पताकाएँ लटक रही थीं। सड़कके किनारेके दुमंजले-तिमंजले मकान लाल, पीली, हरी, नीली आदि विविध प्रकारकी रंगीन साड़ियोंसे सजाये गये थे। कहीं कागजकी पताकाएँ फहरा रहीं तो कहीं रंगीन कपड़ोंकी ही झण्डियाँ शोभा दे रही हैं। भक्तोंने अपने-अपने द्वारोंपर मंगल-सूचक कोरे घड़े जलसे भर-भरकर रख दिये हैं। द्वारोंपर गहरोंके सहित केलेके वृक्ष बड़े ही सुन्दर तथा सुहावने दिखायी देते थे। लोगोंका उत्साह इतना अधिक बढ़ गया था कि वे बार-बार यही सोचते थे कि हम संकीर्तनके स्वागतके निमित्त क्या-क्या कर डालें। संकीर्तन-मण्डल किधर होकर निकलेगा और कहाँ जाकर उसका अन्त होगा, इसके लिये कोई पथ तो निश्चित हुआ ही नहीं था। सभी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार यही समझते थे, कि हमारे द्वारकी ओर होकर संकीर्तन-मण्डल जरूर आवेगा। सभीका अनुमान था, हमें संकीर्तनकारी भक्तोंके स्वागत-सत्कार करनेका सौभाग्य अवश्य प्राप्त हो सकेगा। इसलिये वे महाप्रभुके सभी साथियोंके स्वागतार्थ भाँति-भाँतिकी सामग्रियाँ सजा-सजाकर रखने लगे। इस प्रकार सम्पूर्ण नवद्वीपमें चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द छा गया। इतनी सजावट—तैयारियाँ किसी महोत्सवपर अथवा किसी

महाराजके आनेपर भी नगरमें नहीं होती थीं। चारों ओर धूम-धाम मची हुई थी। भक्तोंके हृदय मारे प्रेमके बाँसों उछल रहे थे। तैयारियाँ करते-करते ही बात-की-बातमें सन्ध्या हो गयी।

महाप्रभु भी घरके भीतर संकीर्तनकी तैयारियाँ कर रहे थे। उन्होंने विशेष-विशेष भक्तोंको बुलाकर नगर-कीर्तनकी सभी व्यवस्था समझा दी। कौन आगे रहेगा, कौन उसके पीछे रहेगा और कौन सबसे पीछे रहेगा, ये सभी बातें बता दीं। किस सम्प्रदायमें कौन प्रधान नृत्यकारी होगा, इसकी भी व्यवस्था कर दी।

अब प्रभुके अन्तरङ्ग भक्त गदाधरने महाप्रभुका शृंगार किया। प्रभुके घुँघराले काले-काले बालोंमें भाँति-भाँतिके सुगन्धित तैल डालकर उसका जूरा बाँधा गया, उसमें मालती, चम्पा आदिके सुगन्धित पुष्प गूँथे गये। नासिकापर ऊर्ध्व-पुण्ड्र लगाया गया। केसर-कुंकुमकी महीन बिन्दियोंसे मस्तक तथा दोनों कपोलोंके ऊपर पत्रावली बनायी गयी। उनके अंग-प्रत्यंगकी सजावट इस प्रकार की गयी कि एक बार कामदेव भी देखकर लज्जित हो उठता। महाप्रभुने एक बहुत ही बढ़िया पीताम्बर अपने शरीरपर धारण किया। नीचेतक लटकती हुई थोड़ी किनारीदार चुनी हुई पीले रंगकी धोती बड़ी ही भली मालूम होती थी। गदाधरने घुटनोंतक लटकनेवाला एक बहुत ही बढ़िया हार प्रभुके गलेमें पहिना दिया। उस हारके कारण प्रभुका तपाये हुए सुवर्णके समान शरीर अत्यन्त ही शोभित होने लगा। मुखमें

सुन्दर पानकी बीरी लगी हुई थी इससे बायीं तरफका कपोल थोड़ा उठा हुआ-सा दीखता था। दोनों अरुण अधर पानकी लालिमासे और भी रक्तवर्णके बन गये थे। उन्हें बिम्बा-फलकी उपमा देनेमें भी संकोच होता था। कमानके समान दोनों कुटिल भ्रकुटियोंके मध्यमें चारों ओर केसर लगाकर बीचमें एक बहुत ही छोटी कुंकुमकी बिन्दी लगा दी थी। पीतवर्णके शरीरमें वह लाल बिन्दी लालरंगके हीरेकी कनीकी भाँति दूरसे ही चमक रही थी। इस प्रकार भली भाँति शृंगार करके प्रभु घरसे बाहर निकले। प्रभुके बाहर निकलते ही द्वारपर जो अपार भीड़ खड़ी प्रभुकी प्रतीक्षा कर रही थी, उसमें एकदम कोलाहल होने लगा। मानो समुद्रमें ज्वार आ गया हो। सभी जोरोंसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहकर दिशा-विदिशाओंको गुँजाने लगे। लोग प्रभुके दर्शनोंके लिये उतावले हो उठे। एक-दूसरेको धक्का देकर सभी पहिले प्रभुके पाद-पद्मोंके निकट पहुँचना चाहते थे। प्रभुने अपने दोनों हाथ उठाकर भीड़को शान्त हो जानेका संकेत किया। देखते-ही-देखते सर्वत्र सन्नाटा छा गया। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा मानो यहाँ कोई है ही नहीं। गदाधरने प्रभुके दोनों चरणोंमें नूपुर बाँध दिये। फिर क्रमशः सभी भक्तोंने अपने-अपने पैरोंमें नूपुर पहिन लिये। बायें पैरको ठमकाकर प्रभुने नूपुरोंकी ध्वनि की। प्रभुके ध्वनि करते ही एक साथ ही सहस्रों भक्तोंने अपने-अपने नूपुरोंको बजाया। भीड़में आनन्दकी तरङ्गें उठने लगीं।

भीड़में स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध तथा युवा सभी प्रकारके पुरुष थे। जाति-पाँतिका कोई भी भेद-भाव नहीं था। जो भी चाहे आकर संकीर्तन-समाजमें सम्मिलित हो सकता था। किसीके लिये किसी प्रकारकी रोक-टोक नहीं थी। भीड़में जितने भी आदमी थे, प्रायः सभीके हाथोंमें एक-एक मशाल थी। लोगोंकी सूझ ही तो ठहरी। प्रकाशके लिये मशाल न लेकर उस दिन मशाल ले चलनेका एक प्रकारसे माहात्म्य ही बन गया था मानो सभी लोग मिलकर अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार छोटे-बड़े आलोकके द्वारा नवद्वीपके चिरकालके छिपे हुए अज्ञानान्धकारको खोज-खोजकर भगा देनेके ही लिये कटिबद्ध होकर आये हैं। किसीके हाथमें बड़ी मशाल थी, किसीके छोटी। किसी-किसीने तो दोनों हाथोंमें दो-दो मशालें ले रखी थीं। छोटे-छोटे बच्चे छोटी-छोटी मशालें लिये हुए 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहकर उछल रहे थे।

गो-धूलिका सुखमय समय था। आकाश-मण्डलमें स्थित भगवान् दिवानाथ गौरचन्द्रके असह्य रूप-लावण्यसे पराभव पाकर अस्ताचलमें मुँह छिपानेके लिये उद्योग कर रहे थे। लज्जाके कारण उनका सम्पूर्ण मुख-मण्डल रक्तवर्णका हो गया था। इधर आकाशमें अर्धचन्द्र उदित होकर पूर्णचन्द्रके पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेकी घोषणा करने लगे। शुक्लपक्ष था, चाँदनी रात्रि थी, ग्रीष्मकालका सुखद समय था। सभी प्रेममें उन्मत्त हुए 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहकर चिल्ला रहे थे। प्रभुने भक्तों-

को नियमपूर्वक खड़े हो जानेका संकेत किया। सभी लोग पीछे हट गये। संकीर्तन करनेवाले भक्त आगे खड़े हुए। प्रभुने भक्त-मण्डलीको चार सम्प्रदायोंमें विभक्त किया। सबसे आगे वृद्ध सेनापति भक्ति-सेनाके महारथी भीष्मपितामहके तुल्य श्री-अद्वैताचार्यका सम्प्रदाय था। उस सम्प्रदायके वे ही अग्रणी थे। इनके पीछे श्रीवास पण्डित अपने दलबलके सहित डटे हुए थे। श्रीवास पण्डितके सम्प्रदायमें छटे हुए कीर्तनकलामें कुशल सैकड़ों भक्त थे। इनके पीछे महात्मा हरिदासका सम्प्रदाय था। सबसे पीछे महाप्रभु अपने प्रधान-प्रधान भक्तोंके सहित खड़े हुए। प्रभुके दायीं ओर नित्यानन्दजी और बायीं ओर गदाधर पण्डित शोभायमान थे।

सब लोगोंके यथायोग्य खड़े हो जानेपर प्रभुने नूपुर बजाकर इशारा किया। बस, प्रभुका संकेत पाना था, कि खोल-करतालोंकी मधुर ध्वनिसे आकाशमण्डल गूँजने लगा। प्रेम-वारुणीमें पागल-से बने हुए भक्त ताल-स्वरके सहित गा-गाकर नृत्य करने लगे। उस समय किसीको न तो अपने शरीरकी सुधि रही और न बाह्य जगत्का ही ज्ञान रहा। जिसप्रकार भूत-पिशाचसे पकड़े जानेवाले मनुष्य होश-हवास भुलाकर नाचने-कूदने लगते हैं, उसी प्रकार भक्तगण प्रेममें विभोर होकर नृत्य करने लगे, किन्तु कोई भी ताल-स्वरके विपरीत नहीं जाता था। इतने भारी कोलाहलमें भी सभी ताल-स्वरके नियमोंका भलीभाँति पालन कर रहे थे। सभीके पैर एक साथ ही उठते थे। घुँघरुओंकी रुनझुन-

रुनझुन ध्वनिके साथ खोल-करताल और झाँझ-मजीरोंकी आवाजें मिलकर एक विचित्र प्रकारका ही स्वर-लहरीकी सृष्टि कर रही थीं। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायसे बिल्कुल पृथक् ही पदोंका गायन करता था। वाद्य बजानेवाले भक्त नृत्य करते-करते वाद्य बजा रहे थे। खोल बजानेवाले बजाते-बजाते दोहरे हो जाते और पृथ्वीपर लेट-लेटकर खोल बजाने लगते। करताल बजानेवाले चारों ओर हाथ फेंक-फेंककर जोरोंसे करताल बजाते। झाँझ और मजीराकी मीठी-मीठी ध्वनि सभीके हृदयोंमें खलबली-सी उत्पन्न कर रही थी। नृत्य करनेवालेको चारों ओरसे घेरकर भक्त खड़े हो जाते और वह स्वच्छन्द रीतिसे अनेक प्रकारके कीर्तनके भावोंको दर्शाता हुआ नृत्य करने लगता। उसके सम्प्रदायके सभी भक्त उसके पैरोंके साथ पैर उठाते और उसकी नूपुर-ध्वनिके सहित अपनी नूपुर-ध्वनिको मिला देते। बीच-बीचमें सम्पूर्ण लोग एक साथ जोरोंसे बोल उठते 'हरि बोल' 'हरि बोल' 'गौरहरि बोल।' अपार भीड़मेंसे उठी हुई यह आकाश-मण्डलको कँपा देनेवाली ध्वनि बहुत देरतक अन्तरिक्षमें गूँजती रहती। भक्त फिर उसी प्रकार संकीर्तनमें मग्न हो जाते।

सबसे पीछे नित्यानन्द और गदाधरके साथ प्रभु नृत्य कर रहे थे। महाप्रभुका आजका नृत्य देखने ही योग्य था। मानो आकाश-मण्डलमें देवगण अपने-अपने विमानोंमें बैठे हुए प्रभुका नृत्य देख रहे हों। प्रभु उस समय भावावेशमें आकर [illegible]

कर रहे थे। घुँटुओंतक लटकी हुई उनकी मनोहर माला पृथ्वीको स्पर्श करने लगती। कमरको लचाकर, हाथोंको उठाकर, ऊर्ध्व-दृष्टि किये हुए प्रभु नृत्य कर रहे थे। उनके दोनों कमल-नयनोंसे प्रेमाश्रु बह-बहकर कपोलोंके ऊपरसे लुढ़क रहे थे। तिरछी आँखोंकी कोरोंमेंसे शीतल अश्रुओंके कण बह बहकर जब कपोलों-पर कढ़ी हुई पत्रावलीके ऊपर होकर नीचे गिरते तब उस समय-के मुख-मण्डलकी शोभा देखते ही बनती थी। वे गद्गद-कण्ठसे गा रहे थे '*तुहार चरणे मन लागुरे, हे सारंगधर*'—सारङ्गधर कहते-कहते प्रभुका गला भर आता और सभी भक्त एक स्वरमें बोल उठते 'हरि बोल' 'गौरहरि बोल' प्रभु फिर सम्हल जाते और फिर उसी प्रकार कोकिल-कण्ठसे गान करने लगते। वे हाथ फैलाकर, कमर लचाकर, भौंहें मरोड़कर, सिरको नीचा-ऊँचा करके भाँति-भाँतिसे अलौकिक भावोंको प्रदर्शित करते। सभी दर्शक काठकी पुतलियोंके समान प्रभुके मुखकी ओर देखते-के-देखते ही रह जाते। प्रभुके आजके नृत्यसे कठोर-से-कठोर हृदय-में भी प्रेमका सञ्चार होने लगा। कीर्तनके महाविरोधियोंके मुखों-मेंसे भी हठात् निकल पड़ने लगा—'धन्य है, प्रेम हो तो ऐसा हो!' कोई कहता—'इतनी तन्मयता तो मनुष्य-शरीरमें सम्भव नहीं।' दूसरा बोल उठता—'निमाई तो साक्षात् नारायण है।' कोई कहता—'हमने तो ऐसा सुख अपने जीवनमें आजतक कभी पाया नहीं।' दूसरा जल्दीसे बोल उठता—'तुमने क्या किसीने भी ऐसा सुख आजतक कभी नहीं पाया। यह सुख तो देवताओं-

को भी दुर्लभ है। वे भी इसके लिये सदा लालायित बने रहते हैं।'

प्रभु संकीर्तन करते हुए गंगाजीके घाटकी ओर जा रहे थे। रास्तेमें मनुष्योंकी अपार भीड़ थी। उस भीड़मेंसे चींटीका भी निकल जाना सम्भव नहीं था। भगवत्-भक्त सद्-गृहस्थ अपने-अपने दरवाजोंपर आरती लिये हुए खड़े थे। कोई प्रभुके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा करता, कोई भक्तोंको माला पहिनाता, कोई बहुमूल्य इत्र-फुलेलकी शीशी-की-शीशी प्रभुके ऊपर उड़ेल देता। कोई इत्रदानमेंसे इत्र छिड़क-छिड़ककर भक्तोंको तराबोर कर देता। अटा, अटारी और छज्जे तथा द्वारोंपर खड़ी हुई स्त्रियाँ प्रभुके ऊपर वहींसे पुष्पोंकी वृष्टि करतीं। कुमारी कन्याएँ अपने आँचलोंमें भर-भरकर धानके लावा भक्तोंके ऊपर बखेरतीं। कोई सुन्दर सुगन्धित चन्दन ही छिड़क देती, कोई अक्षत, दूब तथा पुष्पोंको ही फेंककर भक्तोंका स्वागत करतीं। इस प्रकार सम्पूर्ण पथ पुष्पमय हो गया। लावा, अक्षत, पुष्प और फलोंसे रास्ता पट-सा गया। प्रभु उन्मत्त हुए नृत्य कर रहे थे। उन्हें बाह्य जगत्का कुछ पता ही नहीं था। सभी संसारी विषयोंका चिन्तन छोड़कर संकीर्तनकी प्रेम-धारामें वे बहने लगे। उन्हें न तो काजीका पता रहा और न उसके अत्याचारोंका ही। सभी प्रभुके नृत्यको देखकर आपा भूले हुए थे। इस प्रकारका नगर-कीर्तन यह सबसे पहिला ही था। सभीके लिये एक नयी बात थी, फिर मुसल्मान शासकके शासनमें ऐसा करनेकी

हिम्मत ही किसकी हो सकती थी ? किन्तु आज तो प्रभुके प्रभावसे सभी अपनेको खतन्त्र समझने लगे थे। उनके हृदयों-पर तो एकमात्र प्रभुका साम्राज्य था, वे उनके तनिक-से इशारे-पर सिर कटानेतकको तैयार थे। इसप्रकार संकीर्तन-समाज अपने नृत्य-गान तथा जय-जयकारोंसे नगर-वासियोंके हृदयमें एक प्रकारके नवजीवनका सञ्चार करता हुआ गंगाजीके उस घाटपर पहुँचा, जहाँ प्रभु नित्यप्रति स्नान करते थे। वहाँसे प्रभु भक्तमण्डलीके सहित मधाई-घाटपर गये। मधाई-घाटसे सीधे ही बेलपुखरा—जहाँ काजी रहता था उसकी ओर चले। अब सभीको स्मरण हो उठा कि प्रभुको आज काजीका भी उद्धार करना है। सभीके अत्याचारों-को स्मरण करने लगे। कुछ लोग तो यहाँतक आवेशमें आ गये कि खूब जोरोंके साथ चिल्लाने लगे—'इस काजीको पकड़ लो।' 'जानसे मार डालो' 'इसने हिन्दू-धर्मपर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं।' प्रभुको इन बातोंका कुछ भी पता नहीं था। उन्हें किसी मनुष्यसे या किसी सम्प्रदाय-विशेषसे रत्तीभर भी द्वेष नहीं था। वे तो अन्यायके द्वेषी थे, सो भी अन्यायीके साथ वे लड़ना नहीं चाहते थे। वे तो प्रेमास्त्रद्वारा ही उसका पराभव करना चाहते थे। वे संहारके पक्षपाती न होकर उद्धारके पक्षमें थे। इसलिये मार-काटका नाम लेनेवाले पुरुष उनके अभिप्रायको न समझनेवाले अभक्त पुरुष ही थे। उन उत्तेजनाप्रिय अज्ञानी मनुष्योंने तो यहाँतक किया, कि वृक्षोंकी शाखाएँ तोड़-तोड़कर वे काजीके घरमें घुस गये और उसकी फुलवारी तथा बागके

फल-फूलोंको नष्ट-भ्रष्ट करने लगे। काजीके आदमियोंने पहिलेसे ही काजीको डरा दिया था। उससे कह दिया था—'निमाई पण्डित हजारों मनुष्योंको साथ लिये हुए तुम्हें पकड़नेके लिये आ रहा है। वे लोग तुम्हें जानसे मार डालेंगे।' कमजोर हृदयवाला काजी अपार लोगोंके कोलाहलसे डर गया। उसकी फौजने भी डरकर जवाब दे दिया। बेचारा चारों ओरसे अपनेको असहाय समझकर घरके भीतर जा छिपा।

जब प्रभुको इस बातका पता चला कि कुछ उपद्रवी लोग जनताको भड़काकर उसमें उत्तेजना पैदा कर रहे हैं और काजीको क्षति पहुँचानेका उद्योग कर रहे थे, तो उन्होंने उसी समय संकीर्तन बन्द कर देनेकी आज्ञा दे दी। प्रभुकी आज्ञा पाते ही सभी भक्तोंने अपने-अपने वाद्य नीचे उतारकर रख दिये। नृत्य करनेवाले रुक गये। पद गानेवालोंने पद बन्द कर दिये। क्षण-भरमें ही वहाँ सन्नाटा-सा छा गया। प्रभुने दिशाओंको गुँजाते हुए मेघ-गम्भीर स्वरमें कहा—'खबरदार, किसीने काजीको तनिक भी क्षति पहुँचानेका उद्योग किया तो उससे अधिक अप्रिय मेरा और कोई न होगा। सभी एकदम शान्त हो जाओ।'

प्रभुका इतना कहना था, कि सभी उपद्रवी अपने-अपने हाथोंसे शाखा तथा ईंट-पत्थर फेंककर चुपचाप प्रभुके समीप आ बैठे। सबको शान्तभावसे बैठे देखकर प्रभुने काजीके नौकरोंसे कहा—'काजीसे हमारा नाम लेना और कहना कि आपको उन्होंने

बुलाया है आपके साथ कोई भी अभद्र व्यवहार नहीं कर सकता, आप थोड़ी देरको बाहर चलें।'

प्रभुकी बात सुनकर काजीके सेवक घरमें छिपे हुए काजीके पास गये और प्रभुने जो-जो बातें कही थीं वे सभी जाकर काजीसे कह दीं। प्रभुके ऐसे आश्वासनको सुनकर और इतनी अपार भीड़को चुपचाप शान्त देखकर काजी बाहर निकला। प्रभुने भक्तोंके सहित काजीकी अभ्यर्थना की और प्रेमपूर्वक उसे अपने पास बिठाया। प्रभुने कुछ हँसते हुए प्रेमके स्वरमें कहा—'क्यों जी, यह कहाँकी रीति है, कि हम तो आपके द्वारपर अतिथि होकर आये हैं और आप हमें देखकर घरमें जा छिपे।'

काजीने कुछ लज्जित होकर विनीतभावसे प्रेमके स्वरमें कहा—'मेरा सौभाग्य, जो आप मेरे घरपर पधारे। मैंने समझा था, आप क्रोधित होकर मेरे यहाँ आ रहे हैं, इसलिये क्रोधित अवस्थामें आपके सम्मुख होना ठीक नहीं समझा।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'क्रोध करनेकी क्या बात थी! आप तो यहाँके शासक हैं, मैं आपके ऊपर क्रोध क्यों करने लगा!'

यह बात हम पहिले ही बता चुके हैं, कि शचीदेवीके पूज्य पिता तथा महाप्रभुके नाना नीलाम्बर चक्रवर्तीका घर इसी बेड़-पुखरिया मुहल्लेमें काजीके पास ही था। काजी चक्रवर्ती महाशयसे बड़ा स्नेह रखते थे। इसीलिये काजीने कहा—'देखो निमाई, गाँव-नातेसे चक्रवर्ती मेरे चाचा लगते हैं, इसलिये तुम मेरे

काजी-उद्धार

मानने लगे। मैं तुम्हारा मामा हूँ, मामाके ऊपर भानजा यदि अकारण क्रोध भी करे तो मामाको सहना पड़ता है। मैं तुम्हारे क्रोधको सह लूँगा। तुम जितना चाहो, मेरे ऊपर क्रोध कर लो।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'मामाजी, मैं इस सम्बन्धको कब अस्वीकार करता हूँ? आप तो मेरे बड़े हैं। आपने तो मुझे गोदमें खिलाया है। मैं तो आपके सामने बच्चा हूँ, मैं आपपर क्रोध क्यों करूँगा?'

काजीने कुछ लजाते हुए कहा—'शायद इसीलिये कि मैंने तुम्हारे संकीर्तनका विरोध किया है?'

प्रभुने कुछ मुस्कराकर कहा—'इससे मैं क्यों क्रोध करने लगा? आप भी तो स्वतन्त्र नहीं हैं, आपको बादशाहकी जैसी आज्ञा मिली होगी या आपके अधीनस्थ कर्मचारियोंने जैसा कहा होगा वैसा ही आपने किया होगा। यदि कीर्तन करनेवालोंको दण्ड ही देना आपने निश्चय किया हो, तो हम सभी उसी अपराधको कर रहे हैं, हमें भी खुशीसे दण्ड दीजिये। हम इसीलिये तैयार होकर आये हैं।'

काजीने कहा—'बादशाहकी तो ऐसी कोई आज्ञा नहीं थी, किन्तु तुम्हारे बहुत-से पण्डितोंने ही आकर मुझसे शिकायत की थी, कि यह अशास्त्रीय काम है। पहिले 'मङ्गलचण्डी' के गीत गाये जाते थे। अब निमाई पण्डित भगवन्नामके गोप्य मन्त्रोंको खुल्लमखुल्ला गाता फिरता है और सभी वर्णोंको उपदेश करता है। ऐसा करनेसे देशमें दुर्भिक्ष पड़ेगा इसीलिये मैंने

संकीर्तनके विरोधमें आज्ञा प्रकाशित की थी। कुछ मुल्ला और काजी भी इसे बुरा समझते थे।'

प्रभुने यह सुनकर पूछा—'अच्छा, तो आप अब लोगोंको संकीर्तनसे क्यों नहीं रोकते ?'

काजी इस प्रश्नको सुनकर चुप हो गया। थोड़ी देर सोचते रहनेके बाद बोला—'यह बड़ी गुप्त बात है, तुम एकान्तमें चलो तो कहूँ ?'

प्रभुने कहा—'यहाँ सब अपने ही आदमी हैं। इन्हें आप मेरा अन्तरङ्ग ही समझिये। इनके सामने आप संकोच न करें। कहिये, क्या बात है ?'

प्रभुके ऐसा कहनेपर काजीने कहा—'गौरहरि ! मुझे तुम्हें गौरहरि कहनेमें अब संकोच नहीं होता। भक्त तुम्हें गौरहरि कहते हैं इसलिये तुम सचमुचमें हरि हो। तुम जब कृष्ण-कीर्तन करते थे, तब कुछ मुल्लाओंने मुझसे शिकायत की थी, कि यह निमाई 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर सभीको बरबाद करता है। इसका कोई उपाय कीजिये। तब मैंने विवश होकर उस दिन एक भक्तके घरमें जाकर खोल फोड़ा था और संकीर्तनके विरुद्ध लोगोंको नियुक्त किया था, उसी दिन रातको मैंने एक बड़ा भयंकर स्वप्न देखा। मानो एक बड़ा भारी सिंह मेरे समीप आकर कह रहा है कि यदि आजसे तुमने संकीर्तनका विरोध किया तो उस खोलकी तरह ही मैं तुम्हारा पेट फोड़ दूँगा। यह कहकर वह अपने तीक्ष्ण पंजोंसे मेरे पेटको विदारण

करने लगा। इतनेमें ही मेरी आँखें खुल गयीं। मेरी देहपर उन नखोंके चिह्न अभीतक प्रत्यक्ष बने हुए हैं।' यह कहकर काजीने अपने शरीरका वस्त्र उठाकर सभी भक्तोंके सामने वे चिह्न दिखा दिये।

काजीके मुखसे ऐसी बात सुनकर प्रभुने काजीका जोरोंसे आलिंगन किया और उसके ऊपर अनन्त कृपा प्रदर्शित करते हुए बोले—'मामाजी! आप तो परम वैष्णव बन गये। हमारे शास्त्रोंमें लिखा है, कि जो किसी भी बहानेसे, हँसीमें, दुःखमें अथवा वैसे ही भगवान्‌के नामोंका उच्चारण कर लेता है उसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं *। आपने तो कई बार 'हरि' 'कृष्ण' इन सुमधुर नामोंका उच्चारण किया है। इन नामोंके उच्चारणके ही कारण आपकी बुद्धि इतनी निर्मल हो गयी है।'

प्रभुका प्रेमालिंगन पाकर काजीका रोम-रोम खिल उठा। उसे अपने शरीरमें एक प्रकारके नवजीवनका-सा सञ्चार होता हुआ दिखायी देने लगा। वह अपनेमें अधिकाधिक स्निग्धता, कोमलता और पवित्रताका अनुभव करने लगा। तब प्रभुने कहा—'अच्छा तो मामाजी, आपसे मुझे यही बात कहनी है, कि अब आप संकीर्तनका विरोध कभी न करें।'

गद्‌गद-कण्ठसे काजी कहने लगा—'गौरहरि! तुम साक्षात् नारायणस्वरूप हो, तुम्हारे सामने मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, कि मैं अपने कुल-परिवारको छोड़ सकता हूँ, कुटुम्बी

---

* साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
(श्रीमद्भा० ६।२।१४)

तथा जातिवालोंका परित्याग कर सकता हूँ, किन्तु आजसे संकीर्तनका कभी भी विरोध नहीं करूँगा। तुम लोगोंसे कह दो, वे बे-खटके कीर्तन करें।'

काजीकी ऐसी बात सुनकर उपस्थित सभी भक्त मारे प्रसन्नताके उछलने लगे। प्रभुने एक बार फिर काजीको गाढालिंगन प्रदान किया और आप भक्तोंके सहित फिर उसी प्रकार आगे चलने लगे। प्रभुके पीछे-पीछे प्रेमके अश्रु बहाते हुए काजी भी चलने लगा और लोगोंके 'हरि बोल' कहनेपर वह भी 'हरि बोल' की उच्चध्वनि करने लगा। इस प्रकार संकीर्तन करते हुए प्रभु केलाखोलवाले श्रीधर भक्तके घरके सामने पहुँचे। भक्त-वत्सल प्रभु उस अकिञ्चन दीन-हीन भक्तके घरमें घुस गये। गरीब भक्त एक ओर बैठा हुआ भगवान्‌के सुमधुर नामोंका उच्च-स्वरसे गायन कर रहा था। प्रभुको देखते ही वह मारे प्रेमके पुलकित हो उठा और जल्दीसे प्रभुके पाद-पद्मोंमें गिर पड़ा। श्रीधरको अपने पैरोंके पास पड़ा देखकर प्रभु उससे प्रेमपूर्वक कहने लगे—'श्रीवास! हम तुम्हारे घर आये हैं, कुछ खिलाओगे नहीं?' बेचारा गरीब-कंगाल सोचने लगा—'हाय, प्रभु तो ऐसे असमयमें पधारे, कि इस दीन-हीन कंगालके घरमें दो मुट्ठी चबेना भी नहीं। अब प्रभुको क्या खिलाऊँ।' भक्त यह सोच ही रहा था, कि उसके पासके ही फूटे लोहेके पात्रमें रखे हुए पानीको उठाकर प्रभु कहने लगे—'श्रीधर! तुम सोच क्या रहे हो? देखते नहीं हो, अमृत भरकर तो तुमने इस पात्रमें ही रख रखा है।' यह कहते-कहते प्रभु उस समस्त जलको पान कर गये। श्रीधर रो-रोकर कह रहा था—'प्रभो! यह जल

आपके योग्य नहीं है, नाथ ! इस फूटे पात्रका जल अशुद्ध है ।' किन्तु प्रभु कब सुननेवाले थे । उनके लिये भक्तकी सभी वस्तुएँ शुद्ध और परम प्रिय हैं । उनमें योग्यायोग्य और अच्छी-बुरीका भेद-भाव नहीं । सभी भक्त श्रीधरके भाग्यकी सराहना करने लगे और प्रभुकी भक्त-वत्सलताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे । श्रीधर भी प्रेममें विह्वल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ।

काजी यहाँतक प्रभुके साथ-ही-साथ आया था । अब प्रभुने उससे लौट जानेके लिये कहा । वह प्रभुके प्रति नम्रतापूर्वक प्रणाम करके लौट गया । उस दिनसे उसने ही नहीं, किन्तु उसके सभी वंशके लोगोंने संकीर्तनका विरोध करना छोड़ दिया । नवद्वीपमें अद्यावधि चाँदखाँ काजीका वंश विद्यमान है । काजीके वंशके लोग अभीतक श्रीकृष्ण-संकीर्तनमें योगदान देते हैं । वेलपुकर या ब्राह्मण-पुकर-स्थानमें अभीतक चाँदखाँ काजीकी समाधि बनी हुई है । उस महाभागवत सौभाग्यशाली काजीकी समाधिके निकट अब भी जाकर वैष्णवगण वहाँकी धूलिको अपने मस्तकपर चढ़ाकर अपनेको कृतार्थ मानते हैं । वह प्रेम-दृश्य उसकी समाधिके समीप जाते ही, भावुक भक्तोंके हृदयोंमें सजीव होकर ज्यों-का-त्यों ही नृत्य करने लगता है । धन्य है महाप्रभु गौराङ्गदेवके ऐसे प्रेमको, जिसके सामने विरोधी भी नतमस्तक होकर उसकी छत्र-छायामें अपनेको सुखी बनाते हैं और धन्य है ऐसे महाभाग काजीको जिसे मामा कहकर महाप्रभु प्रेमपूर्वक गाढालिंगन प्रदान करते हैं ।

भक्तोंकी लीलाएँ

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥*

प्रकृतिसे परे जो भाव हैं, उन्हें शास्त्रोंमें अचिन्त्य बताया गया है। वहाँ जीवोंकी साधारण प्राकृतिक बुद्धिसे काम नहीं चलता, उन भावोंमें अपनी युक्ति लड़ाना व्यर्थ-सा ही है। यह तो प्रकृतिके परेके भावोंकी बात है। बहुत-सी प्राकृतिक घटनाएँ भी ऐसी होती हैं, जिनके सम्बन्धमें मनुष्य ठीक-ठीक कुछ कह ही नहीं सकता। क्योंकि कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है। पूर्ण तो वही एकमात्र परमात्मा है। मनुष्यकी बुद्धि सीमित और संकुचित है। जितनी ही जिसकी बुद्धि होगी, वह उतना ही अधिक सोच सकेगा। तर्ककी कसौटीपर कसकर किसी बातकी सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती। किसी बातको किसीने तर्कसे सत्य सिद्ध कर दिया, किन्तु उसीको उससे बड़ा तार्किक एकदम खण्डन कर सकता है। अतः इसमें श्रद्धा ही मुख्य कारण है। जिस स्थान-पर जिसकी जैसी भी श्रद्धा जम गयी, उसे वहाँ वही सत्य और

---

* भक्तोंके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन रसोंके आश्रित माधुर्यके श्रवणसे जिनकी बुद्धि शास्त्रोंकी और युक्तियोंकी अपेक्षा नहीं रखती, वहाँ समझना चाहिये कि भक्तको भगवान्‌की लीलाओंके प्रति लोभ उत्पन्न होने लगा। अर्थात् रागानुगा भक्तिकी उत्पत्ति हो जानेपर शास्त्रवाक्योंकी तथा युक्तियोंकी अपेक्षा नहीं रहती।

ठीक मालूम पड़ने लगेगा। रागानुगा भक्तिकी उत्पत्ति हो जाने-पर मनुष्यको अपने इष्टकी लीलाओंके प्रति लोभ उत्पन्न हो जाता है। लोभी अपने कार्यके सामने विघ्न-बाधाओंकी परवा ही नहीं करता। वह तो आँख मूँदे चुपचाप बढ़ा ही चलता है। भक्तोंकी श्रद्धामें और साधारण लोगोंकी श्रद्धामें आकाश-पाताल-का अन्तर है, भक्तोंको जिन बातोंमें कभी शंकाका ध्यानतक भी नहीं होता, उन्हीं बातोंको साधारण लोग ढोंग, पाखण्ड, झूठ अथवा अर्थवाद कहकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं। वे करते रहें, भक्तोंको इससे क्या? जब वे शास्त्र और युक्तियोंतककी अपेक्षा नहीं रखते तब साधारण लोगोंकी उपेक्षाकी ही परवा क्यों करने लगे! महाप्रभुके संकीर्तनके समय भी भक्तोंको बहुत-सी अद्भुत घटनाएँ दिखायी देती थीं, जिनमेंसे दो-चार नीचे दी जाती हैं।

एक दिन प्रभुने श्रीवासके घर संकीर्तनके पश्चात् आमकी एक गुठलीको लेकर आँगनमें गाड़ दिया। देखते-ही-देखते उसमेंसे अंकुर उत्पन्न हो गया और कुछ ही क्षणमें वह अंकुर बढ़कर पूरा वृक्ष बन गया। भक्तोंने आश्चर्यके सहित उस वृक्ष-को देखा, उसी समय उसपर फल भी दीखने लगे और वे बात-की-बातमें पके हुए-से दीखने लगे। प्रभुने उन सभी फलोंको तोड़ लिया और सभी भक्तोंको एक-एक बाँट दिया। आमों-को देखनेसे ही तबियत प्रसन्न होती थी, बड़े-बड़े सिंदूरिया-रंगके वे आम भक्तोंके चित्तोंको स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। उनमेंसे दिव्य गन्ध निकल रही थी। भक्तोंने उनको प्रभु-

का प्रसाद समझकर प्रेमसे पाया । उन आमोंमें न तो गुठली थी, न छिल्का । बस, चारों ओर ओतप्रोतभावसे अद्भुत माधुर्यमय रस-ही-रस भरा था । एक आमके खानेसे ही पेट भर जाता, फिर भक्तोंको अन्य कोई वस्तु खानेकी अपेक्षा नहीं रहती । रहनी भी न चाहिये, जब प्रेम-वाटिकाके सुचतुर माली महाप्रभु गौराङ्गके हाथसे लगाये हुए वृक्षका भक्ति-रससे भरा हुआ आम खा लिया तब इन सांसारिक खाद्य-पदार्थोंकी आवश्यकता ही क्या रहती है ? इस प्रकार यह आम्र-महोत्सव श्रीवासके घर बारहों महीने होता था, किन्तु जिसे इस बातका विश्वास नहीं होता, ऐसे अभक्तको उस आम्रके दर्शन भी नहीं होते थे, मिलना तो दूर रहा । आजतक भी नवद्वीपमें एक स्थान आम्रघट्ट या आम्रघाटा नामसे प्रसिद्ध होकर उन आमोंका स्मरण दिला रहा है । उन सुन्दर, सुस्वादु और दर्शनीय तथा बिना गुठली-छिल्काके आमोंके स्मरणसे हमारे तो मुँहमें सचमुचमें पानी भर आया ।

एक दिन संकीर्तनके समय मेघ आने लगे । आकाशमें बड़े-बड़े बादल आकर चारों ओर घिर गये । असमयमें आकाश-को मेघाच्छन्न देखकर भक्त कुछ भयभीत-से हुए । उन्होंने समझा सम्भव है, मेघ हमारे इस संकीर्तनके आनन्दमें विघ्न उपस्थित करें । प्रभुने भक्तोंके भावोंको समझकर उसी समय एक हुंकार मारी । प्रभुकी हुंकार सुनते ही मेघ इधर-उधर हट गये और आकाश बिल्कुल साफ हो गया ।

अब एक घटना ऐसी है, जिसे सुनकर सभी संसारी प्राणी क्या अच्छे-अच्छे परमार्थ-मार्गके पथिक भी आश्चर्यचकित हो जायँगे। इस घटनासे पाठकोंको पता चल जायगा कि भगवत्-भक्तिमें कितना माधुर्य है। जिसे भगवत्-कृपाका अनुभव होने लगा है, ऐसे अनन्य भक्तके लिये माता-पिता, दारा-पुत्र तथा अन्यान्य सभी बन्धु-बान्धवके प्रति तनिक भी मोह नहीं रह जाता। वह अपने इष्टदेवको ही सर्वस्व समझता है। इष्टदेवकी प्रसन्नतामें ही उसे प्रसन्नता है, वह अपने आराध्यदेवकी प्रसन्नताके निमित्त सबका त्याग कर सकता है। दुष्कर-से-दुष्कर समझे जानेवाले कार्यको प्रसन्नतापूर्वक कर सकता है।

एक दिन सभी भक्त मिलकर श्रीवासके आँगनमें प्रेमके सहित संकीर्तन कर रहे थे। उस दिन न जाने क्यों, सभी भक्त संकीर्तनमें एक प्रकारके अलौकिक आनन्दका अनुभव करने लगे। सभी भक्त नाना वाद्योंके सहित प्रेममें विभोर हुए शरीरकी सुधि भुलाकर नृत्य कर रहे थे। इतनेहीमें प्रभु भी संकीर्तनमें आकर सम्मिलित हो गये। प्रभुके संकीर्तनमें आ जानेसे भक्तोंका आनन्द और भी अधिक बढ़ने लगा। प्रभु भी सब कुछ भूलकर भक्तोंके सहित नृत्य करने लगे। प्रभुके पीछे-पीछे श्रीवास भी नृत्य कर रहे थे। इतनेमें ही एक दासीने धीरेसे आकर श्रीवास-को भीतर चलनेका संकेत किया। दासीके संकेतको समझकर श्रीवास भीतर चले गये। भीतर उनका बच्चा बीमार पड़ा हुआ था। उनकी स्त्री बच्चेकी सेवा-शुश्रूषामें लगी हुई थी। शचीमाता भी

वहाँ उपस्थित थीं। बच्चेकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी। श्रीवासने बच्चेकी छातीपर हाथ रखा, फिर उसकी नाड़ी देखी और अन्तमें उस बच्चेके मुँहकी ओर देखने लगे। श्रीवासको पता चल गया कि बच्चा अन्तिम साँस ले रहा है। बच्चेकी ऐसी दशा देखकर घरकी सभी स्त्रियाँ घबड़ाने लगीं। श्रीवासजीने उन सबको धैर्य बँधाया और वे उसी तरह बच्चेके सिरहाने बैठकर उसके सिरपर हाथ फेरने लगे। थोड़ी ही देरमें श्रीवासने देखा, बच्चा अब साँस नहीं ले रहा है। उसके प्राण-पखेरू इस नश्वर शरीरको त्यागकर किसी अज्ञात लोकमें चले गये हैं। यह देखकर बच्चेकी माँ और उसकी सभी चाची रुदन करने लगीं। हाय! इकलौते पुत्रकी मृत्युपर माताको कितना भारी शोक होता है, इसका अनुभव कोई मनुष्य कर ही कैसे सकता है! माताका हृदय फटने लगता है। उसका शरीर नहीं रोता है, किन्तु उसका अन्तःकरण पिघलने लगता है, वही पिघल-पिघलकर आँसुओंके रूपमें स्वतः ही बहने लगता है। उस समय उसे रोनेसे कौन रोक सकता है? वह बाहरी रुदन तो होता ही नहीं, वह तो अन्तर्ज्वालाकी भभक होती है, जिससे उसका नवनीतके समान स्निग्ध हृदय स्वतः ही पिघल उठता है। मरे हुए अपने इकलौते पुत्रको शय्यापर पड़े देखकर माताका हृदय फटने लगा, वह जोरसे चीत्कार मारकर पृथ्वीपर मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। अपनी पत्नीको इस प्रकार पछाड़ खाते देखकर तथा घरकी अन्य सभी स्त्रियोंको रुदन करते देखकर श्रीवासजी

दृढ़ताके साथ उन सबको समझाते हुए कहने लगे—'देखना, खबरदार किसीने साँस भी निकाली तो फिर खैर नहीं है। देखती नहीं हो, आँगनमें प्रभु नृत्य कर रहे हैं। उनके आनन्द-में भङ्ग न होना चाहिये। मुझे पुत्रके मर जानेका उतना शोक कभी नहीं हो सकता, जितना प्रभुके आनन्दमें विघ्न पड़नेसे होगा। यदि संकीर्तनके बीचमें कोई भी रोयी तो मैं अभी गङ्गा-जीमें कूदकर प्राण दे दूँगा। मेरी इस बातको बिल्कुल ठीक समझो।'

हाय! कितनी भारी कठोरता है! भक्तिदेवी! तेरे चरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार है। जिस प्रेम और भक्तिमें इतनी भारी स्निग्धता और सरसता है, उसमें क्या इतनी भारी कठोरता भी रह सकती है! जिसका एकमात्र प्राणोंसे भी प्यारा, नयनोंका तारा, सम्पूर्ण घरको प्रकाशित करनेवाला इकलौता पुत्र मर गया हो और उसका मृत देह माताके सम्मुख ही पड़ा हो, उस मातासे कहा जाता है कि तू आँसू भी नहीं बहा सकती। जोरसे रोकर अपने हृदयकी ज्वालाको भी कम नहीं कर सकती। कितना भारी अन्याय है, कैसी निर्दय आज्ञा है! कितनी भारी कठोरता है! किन्तु भक्तको अपने इष्टदेवकी प्रसन्नताके निमित्त सब कुछ करना पड़ता है। पति-परायणा बेचारी मालिनीदेवी मन मसोसकर चुप हो गयी। उसने अपनी छातीपर पत्थर रखकर कलेजेको कड़ा किया। भीतरकी ज्वालाको भीतर ही रोका और आँसुओंको पोंछकर चुप हो गयी।

पत्नीके चुप हो जानेपर श्रीवास धीरे-धीरे उसे समझाने लगे—'इस बच्चेका इससे बढ़कर और बड़ा भारी सौभाग्य क्या हो सकता है, जो साक्षात् गौराङ्ग जब आँगनमें नृत्य कर रहे हैं, तब इसने शरीर-त्याग किया है। महाप्रभु ही तो सबके स्वामी हैं। उनकी उपस्थितिमें शरीर-त्याग करना क्या कम सौभाग्यकी बात है !'

मालिनीदेवी चुपचाप बैठी हुई पतिकी बातें सुन रही थीं। उसका हृदय फटा-सा जा रहा था। श्रीवासजीने फिर एक बार दृढ़ताके साथ कहा—'सबको समझा देना। प्रभु जबतक नृत्य करते रहें तबतक कोई भी रोने न पावे। प्रभुके आनन्द-रसमें तनिक भी विघ्न पड़ा तो इस लड़केके साथ ही मेरे इस शरीरका भी अन्त ही समझना।' इतना कहकर श्रीवासजी फिर बाहर आँगनमें आ गये और भक्तोंके साथ मिलकर उसी प्रकार दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर संकीर्तन और नृत्य करने लगे।

चार घड़ी रात्रि बीतनेपर बच्चेकी मृत्यु हुई थी। आधी रात्रिसे कुछ अधिक समयतक भक्तगण उसी प्रकार कीर्तन करते रहे, किन्तु इतनी बड़ी बात और कितनी देरतक छिपी रह सकती है। धीरे-धीरे भक्तोंमें यह बात फैलने लगी। एकसे दूसरेके कानमें पहुँचती, जो भी सुनता, वही कीर्तन बन्द करके चुप हो जाता। इस प्रकार धीरे-धीरे सभी भक्त चुप हो गये। खोल-करताल आदि सभी वाद्य भी आप-से-आप ही बन्द हो गये। प्रभुने भी नृत्य बन्द कर दिया। इस प्रकार कीर्तनको आप-से-

आप ही बन्द होते देखकर प्रभु श्रीवासकी ओर देखते हुए कहने लगे–'पण्डितजी ! आपके घरमें कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी है ? न जाने क्यों हमारा मन संकीर्तनमें नहीं लग रहा है। हृदयमें एक प्रकारकी खलबली-सी हो रही है।'

अत्यन्त ही दीन-भावसे श्रीवास पण्डितने कहा—'प्रभो ! जहाँ आप संकीर्तन कर रहे हों, वहाँ कोई दुर्घटना हो ही कैसे सकती है ? सम्पूर्ण दुर्घटनाओंके निवारणकर्ता तो आप ही हैं। आपके सम्मुख भला दुर्घटना आ ही कैसे सकती है ? आप तो मंगलस्वरूप हैं। आपकी उपस्थितिमें तो परम मंगल-ही-मंगल होने चाहिये।'

प्रभुने दृढ़ताके साथ कहा—'नहीं, ठीक बताइये। मेरा मन व्याकुल हो रहा है। हृदय आप-से-आप ही निकल पड़ना चाहता है। अवश्य ही कोई दुर्घटना घटित हो गयी है।'

प्रभुके इस प्रकार दृढ़ताके साथ पूछनेपर श्रीवास चुप हो गये, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब धीरेसे एक भक्तने कहा–'प्रभो ! श्रीवासका इकलौता पुत्र परलोकवासी हो गया है।'

संभ्रमके साथ श्रीवासके मुखकी ओर देखते हुए प्रभुने चौंककर कहा—'हैं ! क्या कहा ? श्रीवासके पुत्रका परलोक-वास ? कब हुआ ? पण्डितजी आप बतलाते क्यों नहीं ? असली बात क्या है ?'

श्रीवास फिर भी चुप ही रहे, तब उसी भक्तने फिर कहा—'प्रभो ! इस बातको तो ढाई प्रहर होनेको आया।

आपके आनन्दमें विघ्न होगा, इसीलिये श्रीवास पण्डितने यह बात किसीपर प्रकट नहीं की।'

इतना सुनते ही प्रभुकी दोनों आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगी। गद्‌गद-कण्ठसे प्रभुने कहा—'श्रीवास! आपने आज श्रीकृष्णको खरीद लिया। ओहो! इतनी भारी दृढ़ता! इकलौते मरे पुत्रको भीतर छोड़कर आप उसी प्रेमसे कीर्तन कर रहे हैं। धन्य है आपकी भक्तिको और बलिहारी है आपके कृष्ण-प्रेमको। सचमुच आप-जैसे भक्तोंके दर्शनोंसे ही कोटि जन्मोंके पापोंका क्षय हो जाता है।' यह कहकर प्रभु फूट-फूटकर रोने लगे।

प्रभुको इस प्रकार रोते देखकर गद्गद-कण्ठसे श्रीवास पण्डितने कहा—'प्रभो! मैं पुत्र-शोकको तो सहन करनेमें समर्थ हो सकता हूँ, किन्तु आपके रुदनको नहीं सह सकता। हे सम्पूर्ण प्राणियोंके एकमात्र आश्रयदाता! आप अपने कमल-नयनोंसे अश्रु बहाकर मेरे हृदयको दुखी न बनाइये। नाथ! मैं आपको रोते हुए नहीं देख सकता।'

इतनेमें ही कुछ भक्त भीतर जाकर श्रीवास पण्डितके मृत पुत्रके शरीरको आँगनमें उठा लाये। प्रभु उसके सिरहाने बैठ गये और अपने कोमल करसे उसका स्पर्श करते हुए जीवित मनुष्यसे जिस प्रकार पूछते हैं उसी प्रकार पूछने लगे—'क्यों जीव! तुम कहाँ हो? इस शरीरको परित्याग करके क्यों चले गये?' उस समय प्रभुके अन्तरङ्ग भक्तोंको मानो स्पष्ट

सुनायी देने लगा, कि वह मृत शरीर जीवित पुरुषकी भाँति उत्तर दे रहा है। उसने कहा—'प्रभो! हम तो कर्माधीन हैं। हमारा इस शरीरमें इतने ही दिनका संस्कार था। अब हम बहुत उत्तम स्थानमें हैं और खूब प्रसन्न हैं।'

प्रभुने कहा—'कुछ काल इस शरीरमें और क्यों नहीं रहते?'

मानो जीवने उत्तर दिया—'प्रभो! आप सर्वसमर्थ हैं। आप प्रारब्धको भी मेट सकते हैं, किन्तु हमारा इस शरीरमें इतने ही दिनका भोग था। अब हमारी इस शरीरमें रहनेकी इच्छा भी नहीं है, क्योंकि अब हम जहाँ हैं वहाँ यहाँसे अधिक सुखी हैं।'

जीवका ऐसा उत्तर सुनकर सभी लोगोंका शोक-मोह दूर हो गया। तब प्रभुने श्रीवास पण्डितको सान्त्वना देते हुए कहा—'पण्डितजी! आप तो स्वयं सब कुछ जानते हैं। आपका इस पुत्रके साथ इतने ही दिनोंका संस्कार था। अबतक आप इस एकको ही अपना पुत्र समझते थे। अब हम और श्रीपाद नित्यानन्द आपके दोनों ही पुत्र हुए। आजसे हम दोनोंको आप अपने सगे पुत्र ही समझें।' प्रभुकी ऐसी बात सुनकर श्रीवास प्रेमके कारण विह्वल हो गये और उनकी आँखोंमेंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। इसके अनन्तर भक्तोंने उस मृत शरीरका विधिवत् संस्कार किया।

ओहो! कितना ऊँचा आदर्श है! इकलौते पुत्रके मर

जानेपर भी जिनके शरीरको संताप—पीड़ा नहीं हो सकती, क्या वे संसारी मनुष्य कहे जा सकते हैं ? क्या उनकी तुलना मायाबद्ध जीवके साथ की जा सकती है ? सचमुचमें वे श्याम-सुन्दरके सदाके सुहृद् और सखा हैं। ऐसे भगवान्‌के प्राणप्यारे भक्तोंको संताप कहाँ ! जिनका मन-मधुप उस मुरलीमनोहरके मुखरूपी कमलकी मकरन्द-मधुरिमाका पान कर चुका है उसे फिर संसारी संतापरूपी वन-वीथियोंमें व्यर्थ घूमनेसे क्या लाभ ! वह तो उस अपने प्यारेकी प्रेम-वाटिकामें विचरण करता हुआ सदा आनन्दका रसास्वादन करनेमें ही मस्त बना रहेगा। श्रीमद्भागवतमें हरि नामक योगेश्वरने ठीक ही कहा है—

> भगवत उरुविक्रमांघ्रिशाखा-
> नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
> हृदि कथमुपसीदतां पुनः
> स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥
> (११।२।५४)

अर्थात् भगवत्-सेवासे परम सुख मिलनेके कारण, उन भगवान्‌के अरुण कोमल चरणारविन्दोंके मणियोंके समान चमकीले नखोंकी चन्द्रमाके समान शीतल किरणोंकी कान्तिसे एक बार जिसके हृदयके सम्पूर्ण संताप नष्ट हो चुके हों, ऐसे भक्तके हृदयमें संसारी सुखोंके वियोगजन्य दुःख-संतापकी स्थिति हो ही कैसे सकती है ? जिस प्रकार रात्रिमें चन्द्रमाके उदय होनेपर सूर्यका ताप किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहता, उसी प्रकार भगवद्-कृपाके होनेपर संसारी तापोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है।

इस प्रकार भक्तोंकी सभी लीलाएँ अचिन्त्य हैं, वे मनुष्यकी बुद्धिके बाहरकी बातें हैं। जिनके ऊपर भगवत्-कृपा होती है, जिन्हें भगवान् ही अपना कहकर वरण कर लेते हैं, उन्हींकी किसी महापुरुषके प्रति भगवत्-भावना होती है और वे ही उस अनिर्वचनीय आनन्दके रसास्वादनके अधिकारी भी बन सकते हैं। प्रभुकी सभी लीलामें प्रेम-ही-प्रेम भरा रहता था, क्योंकि वे प्रेमकी सजीव-साकार मूर्ति ही थे।

शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी प्रभुके अनन्य भक्तोंमेंसे थे। वे कभी-कभी ऐसा अनुभव करते थे, कि प्रभुकी हमारे ऊपर जैसी होनी चाहिये वैसी कृपा नहीं है। उनके मनोगत भावको समझकर प्रभुने एक दिन उनसे कहा—'ब्रह्मचारीजी! कल हम तुम्हारे ही यहाँ भोजन करेंगे, हमारे लिये और श्रीपाद नित्यानन्दके लिये तुम ही कल भोजन बना रखना।' ब्रह्मचारीजीको इस बातसे हर्ष भी अत्यधिक हुआ और साथ ही दुःख भी। हर्ष तो इसलिये हुआ कि प्रभुने हमें भी अपनी सेवाके योग्य समझा और दुःख इसलिये हुआ कि प्रभु कुलीन ब्राह्मण हैं, वे हमारे भिक्षुकके हाथका भात कैसे खायँगे? इसीलिये उन्होंने दीनभावसे कहा—'प्रभो! हम तो भिक्षुक हैं, आपको भोजन करानेके योग्य नहीं हैं। नाथ! हम इतनी कृपाके सर्वथा अयोग्य हैं।'

प्रभुने आग्रहके साथ कहा—'तुम चाहे मानो, चाहे मत मानो, हम तो कल तुम्हारे ही यहाँ खायँगे। वैसे न दोगे, तो तुम्हारी थालीमेंसे छीनकर खायँगे।' यह सुनकर ब्रह्मचारीजी बड़े

असमञ्जसमें पड़े। उन्होंने और भी दो-चार अन्तरङ्ग भक्तोंसे इस सम्बन्धमें पूछा। भक्तोंने कहा—'प्रेममें नेम कैसा? प्रभुके लिये कोई नियम नहीं है। वे अनन्य भक्तोंके तो जूँठे अन्नको खाकर भी बड़े प्रसन्न होते हैं, आप प्रेमपूर्वक भात बनाकर प्रभुको खिलाइये।'

भक्तोंकी सम्मति मानकर दूसरे दिन ब्रह्मचारीजीने बड़ी पवित्रताके साथ स्नान-सन्ध्या-वन्दनादि करके प्रभुके लिये भोजन बनाया। इतनेमें ही नित्यानन्दजीके साथ गंगास्नान करके प्रभु आ गये। प्रभुने नित्यानन्दजीके साथ बड़े ही प्रेमसे भोजन पाया। भोजन करते-करते आप कहते जाते थे—इतने दिनोंसे दाल, भात और शाक खाते रहे हैं, किन्तु आजके-जैसा स्वादिष्ट भोजन हमने जीवनभरमें कभी नहीं पाया। चावल कितने स्वादिष्ट हैं। कड़ाखोल कितना बढ़िया बना है। इस प्रकार प्रशंसा करते-करते दोनोंने भोजन समाप्त किया। ब्रह्मचारीजीने भक्ति-भावसे दोनोंके हाथ धुलाये। खा-पीकर दोनों ही ब्रह्मचारीजीकी कुटियाकी छत-पर सो गये।

ब्रह्मचारीजीकी कुटिया बिल्कुल गंगाजीके तटपर ही थी। छतपर गंगाजीके शीतल कणोंसे मिली हुई ठण्डी-ठण्डी वायु आ रही थी। नित्यानन्दजीके सहित प्रभु वहाँ आसन बिछाकर लेट गये।

विजय आखरिया नामका एक भक्त प्रभुके समीप ही लेटे हुए थे। विजयकृष्ण जातिके कायस्थ थे। वे पुस्तकें लिखनेका

काम करते थे। उस समय छापेखाने तो थे ही नहीं। सभी पुस्तकें हाथसे ही लिखी जाती थीं। जिनका लेख सुन्दर होता, वे पुस्तकें लिखकर ही अपना जीवन-निर्वाह करते थे। विजय भी पुस्तकें ही लिखा करते थे। प्रभुके प्रति इनके हृदयमें बड़ी भक्ति थी। प्रभु भी अत्यधिक प्यार करते थे। इन्होंने प्रभुकी बहुत-सी पुस्तकें लिखी थीं। सोते-ही-सोते इन्हें एक दिव्य हाथ दिखायी देने लगा। वह हाथ चिन्मय था, उसकी उँगलियोंमें भाँति-भाँतिके दिव्य रत्न दिखायी दे रहे थे। आखरियाको उस चिन्मय हस्तके दर्शनसे परम कुतूहल हुआ। वह उठकर चारों ओर देखने लगे। तब भी उन्हें वह हाथ ज्यों-का-त्यों ही प्रतीत होने लगा। वह उस अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त दिव्य हस्तके दर्शनसे पागल-से हो गये। प्रभुने हँसकर पूछा—'विजय! क्या बात है? क्यों इधर-उधर देख रहे हो? कोई अद्भुत वस्तु दिखायी दे रही है क्या? शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी बड़े भगवत्-भक्त हैं, इनके यहाँ श्रीकृष्ण सदा सशरीर विराजते हैं। तुम्हें उन्हींके तो दर्शन नहीं हो रहे हैं?' प्रभुकी बात सुनकर विजयने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उत्तर दें भी तो कहाँसे? उन्हें तो अपने शरीरतकका होश नहीं था, प्रभुकी बातें सुनकर वह पागलोंकी भाँति कभी तो हँसते, कभी रोते और कभी आप ही बड़बड़ाने लगते। ब्रह्मचारीजी तथा नित्यानन्दजीने भी उठकर उनकी ऐसी दशा देखी। वे समझ गये, प्रभुकी इनके ऊपर कृपा हो गयी है। इस प्रकार विजय सात दिनतक इसी तरह पागलोंकी-सी चेष्टाएँ करते

रहे । उन्हें शरीरका कुछ भी ज्ञान नहीं था । न तो कुछ खाते-पीते ही थे और न रात्रिमें सोते ही थे । पागलोंकी तरह सदा रोते ही रहते और कभी-कभी जोरोंसे हँसने भी लगते । सात दिनके बाद उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ । तब उन्होंने अन्तरङ्ग भक्तों-पर यह बात प्रकट की ।

इसी प्रकार श्रीवास पण्डितके घर एक दर्जी रहता था । नित्यप्रति कीर्तन सुनते-सुनते उसकी कीर्तनमें तथा महाप्रभुके चरणोंमें प्रगाढ़ भक्ति हो गयी । प्रभु जब भी उधरसे निकलते तभी वह भक्ति-भाव-सहित उन्हें प्रणाम करता । एक दिन उसे भी प्रभुके दिव्य-रूपके दर्शन हुए । उस अलौकिक रूपके दर्शन करके वह मुसलमान दर्जी कृतकृत्य हो गया और पागलोंकी तरह बाजारमें कई दिनतक 'देखा है' 'देखा है' कहकर चिल्लाता फिरा ।

इस प्रकार प्रभु अपने अन्तरङ्ग भक्तोंमें भाँति-भाँतिकी प्रेम-लीलाएँ करते रहे । उनके शरणापन्न भक्तोंको ही उनके ऐसे-ऐसे रूपोंके दर्शन होते थे । अन्य साधारण लोगोंकी दृष्टिमें तो वे निमाई पण्डित ही थे । बहुतोंकी दृष्टिमें तो ढोंगी भी थे । यद्यपि उनका न तो किसीसे विशेष राग था, न द्वेष । तो भी जो एकदम उन्हींके बन जाते, उन्हें उनके दिव्य-दिव्य रूपोंके दर्शन होने लगते । भगवान्के सम्बन्धमें भी यही बात कही जाती है, कि भगवान्के लिये सभी समान हैं, प्राणीमात्रपर वे कृपा करते हैं, किन्तु जो सबका आश्रय त्यागकर एकदम उन्हीं-

का पल्ला पकड़ लेते हैं, उनकी वे सम्पूर्ण मनोकामनाओंको पूर्ण कर देते हैं। जैसे कल्पवृक्ष सबके लिये समानरूपसे सुख देनेवाला होता है, किन्तु मनोवाञ्छित फल तो वह उन्हीं लोगोंको प्रदान करता है, जो उसके नीचे बैठकर उन फलोंका चिन्तन करते हैं। चाहे उसके निकट ही घर बनाकर क्यों न रहो, जबतक उसकी छत्र-छायामें प्रवेश न करोगे, जबतक उसके मूलमें बैठकर चिन्तन न करोगे, तबतक अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। प्रभुके पाद-पद्मोंका आश्रय लेनेपर ही उसकी कृपाके हम अधिकारी बन सकते हैं। *

* न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥
(श्रीमद्भा० पू० १०। ३८। २२)

नवानुराग और गोपी-भाव

क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥
आसीनः पर्यटन्नश्नञ्छयानः प्रपिबन् ब्रुवन् ।
नानुसंधत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥*

(श्रीमद्भा० ७ । ४ । ४३, ४०)

महाप्रभु जबसे गयासे लौटकर आये थे, तभीसे सदा प्रेममें छके-से, बाह्य ज्ञानशून्य-से तथा बेसुधि-से बने रहते थे, किन्तु भक्तोंके साथ संकीर्तन करनेमें उन्हें अत्यधिक आनन्द आता। कीर्तनमें वे सब कुछ भूल जाते। जहाँ उनके कानोंमें संकीर्तन-की सुमधुर ध्वनि सुनायी पड़ी कि उनका मन उन्मत्त होकर नृत्य करने लगता। संकीर्तनके वाद्योंको सुनते ही उनके रोम-

---

* भगवद्-अनुरागमें विभोर हुए प्रह्लादजीकी अवस्थाका वर्णन करते हैं—'वे कभी-कभी भगवद्-स्वरूपमें तन्मय हो जानेके कारण उसी भावमें निमग्न-से हो जाते थे, उनका सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो उठता था। अचल प्रेमके कारण उत्पन्न हुए प्रेमाश्रुओंके कारण उनके नेत्र कुछ मुँद-से जाते थे, ऐसी अवस्थामें वे किसीसे भी कुछ न बोलकर एकान्तमें चुपचाप बैठे रहते थे। बैठते हुए, खाते हुए, घूमते हुए, सोते हुए, जल पीते हुए और संलाप तथा भाषण करते हुए, भोजन और आसनादि भोग्य पदार्थोंके उपभोगके समय उन्हें अपने गुण-दोषोंका भी ध्यान नहीं रहता था, क्योंकि गोविन्दने उन्हें अपनेमें अत्यन्त ही तल्लीन कर लिया था।

रोम खिल जाते और वे भावावेशमें आकर रात्रिभर अखण्ड नृत्य करते रहते। न शरीरकी सुधि और न बाहरी जगत्का बोध; बस, उनका शरीर यन्त्रकी तरह घूमता रहता। इससे भक्तोंके भी आनन्दका पारावार नहीं रहता। वे भी प्रभुके सुखकारी मधुर नृत्यके साथ नाचने लगते। इस प्रकार बारह-तेरह महीने-तक प्रभु बराबर भक्तोंको लेकर कथा-कीर्तनमें कालयापन करते रहे।

काजीके उद्धारके अनन्तर प्रभुकी प्रकृतिमें एकदम परिवर्तन दिखायी देने लगा। अब उनका चित्त संकीर्तनमें नहीं लगता था। भक्त ही मिलकर कीर्तन किया करते थे। प्रभु संकीर्तनमें सम्मिलित भी नहीं होते थे। कभी-कभी वैसे ही संकीर्तनके बीचमें चले आते और कभी-कभी भक्तोंके आग्रहसे कीर्तन करने भी लगते, किन्तु अब उनका मन किसी दूसरी ही वस्तुके लिये तड़पता रहता था। उस तड़पनके सम्मुख उनका मन संकीर्तनकी ताल-स्वरके सहित नृत्य करनेके लिये साफ इन्कार कर देता था।

अब प्रभु पहिलेकी तरह भक्तोंके साथ घुल-घुलकर प्रेमकी बातें नहीं किया करते। अब तो उनकी विचित्र दशा थी। कभी तो वे अपने आप ही रुदन करने लगते और कभी स्वयं ही खिलखिलाकर हँस पड़ते। कभी रोते-रोते कहने लगते—

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवे॥
(श्रीमद्भा० १०)

हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे गोविन्द ! दुःख-सागरमें डूबे हुए इस व्रजका तुम्हीं उद्धार करो। हे दीनानाथ ! हे दुःखितोंके एकमात्र आश्रय ! हमारी रक्षा करो।

कभी राधा-भावमें भावित होकर रुदन करने लगते। कभी एकान्तमें अपने कोमल कपोलको हथेलीपर रखकर अन्यमनस्क भावसे अश्रु ही बहाते रहते। कभी राधा-भावमें आप कहने लगते—'हे कृष्ण ! तुम इतने निष्ठुर हो, मैं नहीं जानती थी। मैं रासमें तुम्हारी मीठी-मीठी बातोंसे छली गयी। मुझ भोली-भाली अबलाको तुम इस प्रकार धोखा दोगे, इसका मुझे क्या पता था? हाय ! मेरी बुद्धिपर तब न जाने क्यों पत्थर पड़ गये कि मैं तुम्हारी उन मीठी-मीठी बातोंमें आ गयी। कहाँ तुम अखिल ऐश्वर्यके स्वामी और कहाँ मैं एक वनमें रहनेवाले ग्वालकी लड़की। तुमसे अनजानमें स्नेह किया। हा प्राणनाथ ! ये प्राण तो तुम्हारे ही अर्पण हो चुके हैं। ये तो सदा तुम्हारे ही साथ रहेंगे, फिर यह शरीर चाहे कहीं भी पड़ा रहे। प्यारे ! तुम कोमल हृदयके हो, सरस हो, सरल हो, सुन्दर हो, फिर तुम मेरे लिये कठोर हृदयके निष्ठुर और वक्र स्वभाववाले क्यों बन गये हो ! मुझे इस प्रकारकी विरह-वेदना पहुँचानेमें तुम्हें क्या मजा मिलता है !' इस प्रकार घण्टों प्रलाप करते रहते।

कभी अक्रूर वृन्दावनमें श्रीकृष्णको लेनेके लिये आये हैं और गोपियाँ भगवान्‌के विरहमें रुदन कर रही हैं। इसी भावको स्मरण करके आप गोपी-भावसे कहने लगते—'हा देव ! तूने क्या

किया ! हमारे प्राणप्यारे, हमारे सम्पूर्ण व्रजके दुलारे मनमोहनको तू हमसे पृथक् क्यों कर रहा है ? ओ निर्दयी विधाता ! तेरी इस खोटी बुद्धिको बार-बार धिक्कार है, जो तू इस प्रकार प्रेमियोंको मिलाकर फिर उन्हें विरह-सागरमें डुबा-डुबाकर बुरी तरहसे तड़पाता रहता है। हाय ! प्यारे कृष्ण ! अब चले ही जायँगे क्या ? क्या अब वह मुरलीकी मनोहर तान सुननेको न मिलेगी ? क्या अब उस पीताम्बरकी छटा दिखायी न पड़ेगी ? क्या अब मोहनके मनोहर मुखको देखकर हम सम्पूर्ण दिनके दुःख-सन्तापोंको न भुला सकेंगी ? क्या अब कृष्ण हमारे घरमें माखन खाने न आवेंगे ? क्या अब साँवरेकी सलोनी सूरतको देखकर सुखके सागरमें आनन्दकी डुबकियाँ न लगा सकेंगी ? यह क्रूरकर्मा अक्रूर कहाँसे आ गया ? इसका ऐसा उलटा नाम किसने रख दिया। जो हमसे हमारे प्राणप्यारेको अलग करेगा, उसे अक्रूर कौन कह सकता है ? वह तो महाक्रूर है। या यह सब विधाताकी ही क्रूरता है। बेचारे अक्रूरका इसमें क्या दोष !' ऐसा कह-कहकर वे जोरोंसे चिल्लाने लगते।

कभी श्रीकृष्णके भावमें होकर गोपोंके साथ व्रजकी लीलाओं-का अनुकरण करने लगते। कभी प्रह्लादके आवेशमें आकर दैत्य-बालकोंको शिक्षा देनेका अनुकरण करके पासमें बैठे हुए भक्तोंको भगवन्नाम-स्मरण और कीर्तनका उपदेश करने लगते। कभी ध्रुवका स्मरण करके उन्हींके भावमें एक पैरसे खड़े होकर तपस्या-सी करने लगते। फिर कभी विरहिणीकी दशाका अभिनय

करने लगते। एकदम उदास बन जाते। हाथोंके नखोंसे पृथिवीको कुरेदने लगते। शचीमाता इनकी ऐसी दशा देखकर बड़ी दुखी होतीं। वे पुत्रकी मङ्गलकामनाके निमित्त सभी देवी-देवताओंकी पूजा करतीं। इसे कोई रोग समझकर वैद्योंसे परामर्श करतीं। भक्तोंसे अत्यन्त ही दीन-भावसे कहतीं—'न जाने निमाईको क्या हो गया है, अब वह पहिलेकी भाँति कीर्तन भी नहीं करता और न किसीसे हँसता-बोलता ही है। उसे हो क्या गया? तुम लोग उसका इलाज क्यों नहीं कराते। किसी वैद्यको दिखाओ।'

बेचारे भक्त भोली-भाली माताकी इन सीधी-सरल मातृ-स्नेहसे सनी हुई बातोंको सुनकर हँसने लगते। वे मन-ही-मन कहते—'जगत्‌की चिकित्सा तो ये करते हैं। इनकी चिकित्सा कौन कर सकता है? इनके रोगकी दवा तो आजतक किसी वैद्यने बनायी ही नहीं और न कोई संसारी वैद्य बना ही सकता है। इनकी ये ही जानते हैं। साँवलिया ही इनकी नाड़ी पकड़ेगा तब ये हँसने लगेंगे।' वे माताको भाँति-भाँतिसे समझाते, किन्तु माताकी समझमें एक भी बात नहीं आती। वह सदा अधीर-सी ही बनी रहतीं।

एक दिन महाप्रभु भावावेशमें जोरोंसे 'गोपी' 'गोपी' कह-कर रुदन कर रहे थे। वे गोपी-भावमें ऐसे विभोर हुए कि उनके मुखसे 'गोपी' 'गोपी' इस शब्दके अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द निकलता ही नहीं था। उसी समय एक प्रतिष्ठित छात्र इनके

समीप इनके दर्शनके लिये आये। वे महाप्रभुके साथ कुछ कालतक पढ़े भी थे। वैसे तो शास्त्रीय विचारमें पूर्ण पारंगत पण्डित समझे जाते थे, किन्तु भक्ति-भावमें कोरे थे। प्रेम-मार्गका उन्हें पता नहीं था। प्रभु तो उस समय बाह्य-ज्ञान-शून्य थे, उन्हें भावावेशमें पता ही नहीं था, कि कौन हमारे पास आया और हमारे पाससे उठ गया। उन विद्याभिमानी छात्रने महाप्रभुकी ऐसी अवस्था देखकर कुछ गर्वित भावसे कहा—'पण्डित होकर आप यह क्या अशास्त्रीय व्यवहार कर रहे हैं? 'गोपी-गोपी' कहनेसे क्या लाभ? कृष्ण-कृष्ण कहो, जिससे उद्धार हो और शास्त्रकी मर्यादा भी भंग न हो।'

महाप्रभुको उस समय कुछ भी पता नहीं था, कि यह कौन है। भावावेशमें उन्होंने यही समझा कि यह भी कोई उद्धवके समान श्यामसुन्दरका सखा है और हमें धोखेमें डालनेके लिये आया है। इससे प्रभुको उसके ऊपर क्रोध आ गया और एक बड़ा-सा बाँस लेकर उसके पीछे मारनेके लिये दौड़े। विद्याभिमानी छात्र महाशय अपना सभी शास्त्रीय-ज्ञान भूल गये और अपनी जान बचाकर वहाँसे भागे। महाप्रभु भी उनके पीछे-ही-पीछे उन्हें पकड़नेके लिये दौड़े। प्रहारके भयसे छात्र महोदय मुट्ठी बाँधकर भागे। कन्धेपरका दुपट्टा गिर गया। बगलमेंसे पोथी निकल पड़ी। हाँपते और चिल्लाते हुए वे जोरोंसे भागे जा रहे थे। लोग उन्हें इस प्रकार भागते देखकर आश्चर्यके साथ उनसे भागनेका कारण पूछते, कोई इनकी ऐसी दशा देखकर ठहाका

मारकर हँसने लगते, किन्तु ये किसीकी कुछ सुनते ही नहीं थे। इन्हें अपनी जानके लाले पड़े हुए थे। 'जान बची लाखों पाये, मियाँ बुद्धू अपने घर आये।'

प्रभुको इस प्रकार इन छात्र महाशयके पीछे दौड़ते देखकर भक्तोंने उन्हें पकड़ लिया। प्रभु उसी भावमें मूर्छित होकर गिर पड़े। विद्यार्थी महोदयने बहुत दूर भागनेके अनन्तर पीछे फिरकर देखा। जब उन्होंने प्रभुको अपने पीछे आते हुए नहीं देखा तब वे खड़े हो गये। उनकी साँसें जोरोंसे चल रही थीं। सम्पूर्ण शरीर पसीनेसे लथपथ हो रहा था। अंग-प्रत्यंगसे पसीनेकी धारें-सी बह रही थीं, लोगोंने उनकी ऐसी दशा देखकर उनसे भाँति-भाँतिके प्रश्न करने आरम्भ कर दिये। किन्तु ये प्रश्नोंका उत्तर क्या देते! इनकी तो साँस फूली हुई थी। मुखमेंसे बात ही नहीं निकल सकती थी। कुछ लोगोंने दयार्द्र होकर इन्हें पंखा झला और थोड़ा ठण्डा पानी पिलाया। पानी पीनेपर इन्हें कुछ होश हुआ। साँसें भी ठीक-ठीक चलने लगीं। तब एकने पूछा—'महाशय! आपकी ऐसी दशा क्यों हुई! किसने आपको ऐसी ताड़ना दी!'

उन्होंने अपने हृदयकी द्वेषाग्निको उगलते हुए कहा—'अजी, क्या बताऊँ! हमने सुना था, कि जगन्नाथ मिश्रका लड़का निमाई बड़ा भक्त बन गया है। वह पहिले हमारे साथ पढ़ता था। हमने सोचा—'चलो, वह भक्त बन गया है, तो उसके दर्शन ही कर आवें। इसीलिये हम उसके दर्शन करने गये थे, किन्तु

वह भक्ति क्या जाने ? हमने देखा वह अशास्त्रीय पद्धतिसे 'गोपी-गोपी' चिल्ला रहा है।' हमने कहा—'भाई, तुम पढ़े-लिखे होकर ऐसा शास्त्रविरुद्ध काम क्यों कर रहे हो।' बस, इतनेपर ही उसने आव गिना न ताव लट्ठ लेकर जंगलियोंकी तरह हमारे ऊपर टूट पड़ा। यदि हम जान लेकर वहाँसे भागते नहीं, तो वह तो हमारा वहीं काम तमाम कर डालता। इसीका नाम भक्ति है ? इसका नाम तो क्रूरता है। क्रूर हिंसक व्याध ही ऐसा व्यवहार करते हैं। भक्त तो अहिंसाप्रिय, शान्त और प्राणीमात्रपर दया करनेवाले होते हैं।'

उनके मुखसे ऐसी बातें सुनकर कुछ हँसनेवाले तो धीरेसे कहने लगे—'पण्डितजी, थोड़ा-सा और भी उपदेश क्यों नहीं किया ?' कुछ हँसते हुए कहते—'पण्डितजी, उपदेशकी दक्षिणा तो बड़ी सख्त मिली। घाटेमें रहे। क्यों ठीक है न ? चलो, खैर हुई बच आये। अब सवा रुपयेका प्रसाद जरूर बाँटना।'

कुछ ईर्ष्या रखनेवाले खल पुरुष अपनी छिपी हुई ईर्ष्याको प्रकट करते हुए कहने लगे—'ये दुष्ट और कोई भला काम थोड़े ही करेंगे ? बस, साधु-ब्राह्मणोंपर प्रहार करना ही तो इन्होंने सीखा है। रात्रिमें तो छिप-छिपकर न जाने क्या-क्या करते रहते हैं और दिनमें साधु-ब्राह्मणोंको त्रास पहुँचाते हैं। यही इनकी भक्ति है। पण्डितजी ! तुम्हारे हाथ नहीं हैं क्या ? उनके साथ दस-बीस बुद्धिहीन भक्त हैं तो तुम्हारे कहनेमें हजारों विद्यार्थी हैं। एक बार इन सबकी अच्छी

तरहसे मरम्मत क्यों नहीं करा देते । बस, तब ये सब कीर्तन-फीर्तन भूल जायँगे । जबतक इनकी नसें ढीली न होंगी तबतक ये होशमें नहीं आवेंगे ।'

गुस्सेमें दुर्वासा बने हुए उन विद्याभिमानी छात्र महाशयने गर्जकर कहा—'मेरे कहनेमें हजारों छात्र हैं । मेरे आँखके इशारेसे ही इन भक्तोंमेंसे किसीकी भी हड्डीतक देखनेको न मिलेगी । आपलोग कल ही देखें, इसका परिणाम क्या होता है । कल बच्चुओंको माल्म पड़ जायगा, कि ब्राह्मणके ऊपर प्रहार करनेवालेकी क्या दशा होती है !'

इस प्रकार वे महाशय बड़बड़ाते हुए अपनी छात्र-मण्डलीमें पहुँचे । छात्र तो पहिलेसे ही महाप्रभुके उत्कर्षको न सह सकनेके कारण उनसे जले-भुने बैठे थे । उनके लिये महाप्रभुका इतना बढ़ता हुआ यश असहनीय था । उनके हृदयमें महाप्रभुकी देशव्यापी कीर्तिके कारण डाह उत्पन्न हो गयी थी । अब इतने बड़े योग्य विद्यार्थीके ऊपर प्रहारकी बात सुनकर प्रायः दुष्ट स्वभावके बहुतसे छात्र एकदम उत्तेजित हो उठे और उसी समय महाप्रभुके ऊपर प्रहार करने जानेके लिये उद्यत हो गये । कुछ समझदार छात्रोंने कहा—'भाई, इतनी जल्दी करनेकी कौन-सी बात है, इनपर प्रहार भी नहीं हुआ है । दो-चार दिन और देख लो । यदि उनका सचमुचमें ऐसा ही व्यवहार रहा और अबसे आगे किसी अन्य छात्रपर इस प्रकार प्रहार किया तब तुमलोगोंको प्रहारका उत्तर प्रहारसे देना चाहिये । अभी इतनी

शीघ्रता नहीं करनी चाहिये।' इस प्रकार उस समय तो छात्र शान्त हो गये। किन्तु उनके प्रभुके प्रति विद्वेषके भाव बढ़ते ही गये। कुछ दुष्टबुद्धिके मायापुर-निवासी ब्राह्मण भी छात्रोंके साथ मिल गये। इस प्रकार प्रभुके विरुद्ध एक प्रकारका बड़ा भारी दल ही बन गया।

भावावेशके अनन्तर प्रभुको सभी बातें मालूम हुईं। इससे उन्हें अपार दुःख हुआ। वे घर-बार तथा इष्ट-मित्र और अपने साथी भक्तोंसे पहिलेसे ही उदासीन थे। इस घटनासे उनकी उदासी और भी अधिक बढ़ गयी। अब उन्हें संकीर्तनके कारण फैली हुई अपनी देशव्यापी कीर्ति काटनेके लिये दौड़ती हुई-सी दिखायी देने लगी। उन्हें घर-बार, कुटुम्ब-परिवार तथा धर्मपत्नी और मातासे एकदम विराग हो गया। उनका मन-मधुप अब घिरी हुई सुगन्धित वाटिकाको छोड़कर खुली वायुमें स्वच्छन्दताके साथ जंगलोंकी कँटीली झाड़ियोंके ऊपर विचरण करनेके लिये उत्सुकता प्रकट करने लगा। वे जीवोंके कल्याणके निमित्त घर-बारको छोड़कर संन्यासी बननेकी बात सोचने लगे।

संन्याससे पूर्व

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद् हरिमाश्रयेत॥*
(श्रीमद्भा० ७।५।५)

महाप्रभुका मन अब महान् त्यागके लिये तड़पने लगा। उनके हृदयमें वैराग्यकी हिलोरें-सी मारने लगीं। यद्यपि महाप्रभुको घरमें भी कोई बन्धन नहीं था, यहाँ रहकर वे लाखों नर-नारियोंका कल्याण कर रहे थे। किन्तु इतनेसे ही वे सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। उन्हें तो भगवन्नामको विश्वव्यापी बनाना था, फिर वे अपनेको नवद्वीपका ही बनाकर और किसी एक पत्नीका ही पति बनाकर कैसे रख सकते थे ! वे तो सम्पूर्ण विश्वकी विभूति थे।

---

* हिरण्यकशिपुके यह पूछनेपर कि बेटा, तुम्हारे मतमें सबसे श्रेष्ठ कार्य कौन-सा है, प्रह्लादजी कहते हैं—'हे असुरोंके अधीश्वर पूज्य पिताजी ! मैं तो इसे ही सबसे अधिक श्रेष्ठ समझता हूँ कि 'अहंता और ममता' अर्थात् मैं ऐसा हूँ, यह चीजें मेरी हैं इस मिथ्याभिमानके कारण जिनकी बुद्धि सदा उद्विग्न रहती है और जिस घरमें रहकर सदा प्राणी मोहमें ही फँसा रहता है, उस अन्धकूपके समान गृहको त्यागकर एकान्तमें जाकर श्रीहरिके चरणोंका चिन्तन किया जाय। मेरे मतमें तो इससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है।'

भगवद्भक्तमात्रके वे पूजनीय तथा वन्दनीय थे। ऐसी दशामें उनका नवद्वीपमें ही रहना असम्भव था।

संसारी सुख, धन-सम्पत्ति और कीर्ति ये पूर्वजन्मके भाग्यसे ही मिलते हैं। जिसके भाग्यमें धन अथवा कीर्ति नहीं होती, वह चाहे कितना भी परिश्रम क्यों न करे, कितने भी अच्छे-अच्छे भावोंका प्रचार उसके द्वारा क्यों न हो उसे धन या कीर्ति मिल ही नहीं सकती। राजा युद्धमें शायद ही कभी लड़ने जाता है, नहीं तो घरमें ही बैठा रहता है। सेनामें बड़े-बड़े वीर योद्धा साहस और शूरवीरताके साथ युद्ध करते हैं। प्राणोंकी बाजी लगाकर लाखों एक-से-एक बढ़कर पराक्रम दिखाते हुए शत्रुके दाँतोंको खट्टा करते हैं, किन्तु उनकी शूरवीरताका किसीको पता ही नहीं लगता। विजयका सुयश घरमें बैठे हुए राजाको ही प्राप्त होता है। एक चर्मकारका परिवार दिनभर काम करता है। उसके छोटे-से बच्चेसे लेकर बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुष दिन-रात्रि काममें ही जुटे रहते हैं, फिर भी उन्हें खानेको पूरा नहीं पड़ता। इसके विपरीत दूसरा महाजन पलंगसे नीचे भी जब उतरता है, तो बहुत-से सेवक उसके आगे-आगे बिछौना बिछाते हुए चलते हैं। उसके मुनीम दिन-रात्रि परिश्रम करते हैं, उन्हींके द्वारा उसे हजारों रुपये रोजकी आमदनी है। किन्तु उन मुनीमोंको महीनेमें गिने हुए पन्द्रह-बीस रुपये ही मिलते हैं। उस सब आमदनीका स्वामी वह कुछ न करनेवाला महाजन ही समझा जाता है। इसलिये किसीके धन अथवा बढ़ती हुई

कीर्तिको देखकर कभी इस प्रकारका द्वेष नहीं करना चाहिये कि हम इससे बढ़कर काम करते हैं तब भी हमारा इतना नाम क्यों नहीं होता ! यह तो अपने-अपने भाग्यकी बात है। तुम्हारे भाग्यमें उतनी कीर्ति है ही नहीं, फिर तुम कितने भी बड़े काम क्यों न करो, कीर्ति उसीकी अधिक होगी जो तुम्हारी दृष्टिमें तुमसे कम काम करता है। तुम उसके भाग्यकी रेखाको तो नहीं मेट सकते। श्रीरामानुजाचार्यसे भी पूर्व बहुत-से श्रीसम्प्रदायके त्यागी और विरक्त संन्यासी हुए किन्तु श्रीसम्प्रदायके प्रधान आचार्यका पद रामानुज भगवान्‌के ही भाग्यमें था। इसी प्रकार चाहे कोई कितना भी बड़ा महापुरुष हो, या महात्मा क्यों न हो, उन सबके भोग प्रारब्धके ही अनुसार होंगे। प्रारब्धका सम्बन्ध शरीरसे है, जिसने शरीर धारण किया है, उसे प्रारब्धके भोग भोगने ही पड़ेंगे। यह दूसरी बात है कि महापुरुषोंकी उन भोगोंमें तनिक भी आसक्ति नहीं होती। वे शरीरको और प्रारब्धको देहका वस्त्र और मैल समझकर उसीके अनुसार व्यवहार करते हैं। असली बात तो यह है, कि उनका अपना प्रारब्ध तो कुछ होता ही नहीं, वे जगत्‌के कल्याणके निमित्त ही प्रारब्धका बहाना बनाकर लीलाएँ करते हैं।

कीर्ति भी संसारके सुखोंमेंसे एक बड़ा भारी सुख है। लोकमें जिसकी अधिक कीर्ति होने लगती है, उसीसे कीर्ति-लोलुप संसारी लोग डाह करने लगते हैं। इसका एकमात्र उपाय है अपनी ओरसे कीर्ति-लाभका तनिक भी प्रयत्न न करना।

'हमारी कीर्ति हो' ये भाव भी जहाँतक हो, हृदयमें आने ही न चाहिये और आयी हुई कीर्तिका त्याग भी करते रहना चाहिये। त्यागसे कीर्ति और निर्मल हो जाती है और डाह करनेवाले भी त्यागके प्रभावसे उसके चरणोंमें सिर झुकाते हैं।

यह तो संसारी भोगोंके विषयमें बात रही। त्यागका इतना ही फल नहीं कि उससे कीर्ति निर्मल बने और विद्वेषी भी उसका लोहा मानने लगें, किन्तु त्यागका सर्वोत्तम फल तो भगवत्-प्राप्ति ही है। त्यागके बिना भगवत्-प्राप्ति हो ही नहीं सकती। भगवत्-प्राप्तिका प्रधान कारण है सर्वस्वका त्याग कर देना। जो लोग यह कहते हैं, कि 'संन्यास-धर्म तो भक्ति-मार्गका विरोधी है।' वे अज्ञानी हैं, उन्हें भक्ति-मार्गका पता ही नहीं। हम दृढ़ताके साथ कहते हैं, बिना संन्यासी बने कोई भी मनुष्य भक्ति-मार्गका अनुसरण कर ही नहीं सकता। हम शास्त्रोंकी दुहाई देकर यहाँतक कहनेके लिये तैयार हैं, कि कोई बिना संन्यासी हुए ज्ञान-लाभ भले ही कर ले, किन्तु सर्वस्व त्याग किये बिना भक्ति तो प्राप्त हो ही नहीं सकती। मनसे त्याग करनेका बहाना बनाकर जो विषयोंके सेवनमें लगे रहनेपर भी अपनेको पूर्ण भगवत्-भक्त कहनेका दावा करते हैं, उनसे हमें कुछ कहना नहीं है। हम तो उन लोगोंसे निवेदन करना चाहते हैं जो यथार्थमें भक्ति-पथका अनुसरण करनेके इच्छुक हैं। उनसे हम दृढ़ताके साथ कहते हैं, अपने पूर्व-जन्मके प्रारब्धानुसार आप सर्वस्व त्यागकर संन्यासी न हो सकें, यह आपकी कमजोरी है। जैसी भी दशामें रहें, भक्तितक

पहुँचनेके लिये प्रयत्न तो प्रत्येक दशामें कर सकते हैं, किन्तु पूर्ण भक्त बननेके लिये मनसे नहीं स्वरूपसे भी त्याग करना ही होगा। सर्व-कर्म-फल-त्यागके साथ सर्व सांसारिक भोगोंका त्याग भी अनिवार्य ही है। किन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे भी भगवत्-भक्त देखे गये हैं जो प्रवृत्ति-मार्गमें रहते हुए भी पूर्ण भक्त हुए हैं। उन्हें अपवाद ही समझना चाहिये। सिद्धान्त तो यही है कि भगवत्-भक्तिके लिये रूप, सनातन और रघुनाथदासकी तरह अकिञ्चन बनकर घर-घरके टुकड़ोंपर ही निर्वाह करके अहर्निश कृष्ण-कीर्तन करते रहना चाहिये। इसीलिये लोकमान्य तिलकने भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनोंको ही त्याग-मार्ग बताकर एक नये ही कर्मयोग-मार्गकी कल्पना की है।

यों गृहस्थमें रहकर भी भगवत्-भक्ति की जा सकती है, किन्तु वह ऐसी ही बात है जैसे किसी साँसके रोगीके लिये दही सर्वथा निषेध है। यदि वह साँसकी बीमारीमें दहीसे एकदम बचा रहे तब तो सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु वह अपने पूर्व-जन्मके संस्कारोंके अनुसार दहीकी प्रबल वासनाके कारण उसे एकदम नहीं छोड़ सकता, तो वैद्य उसमें एक ऐसी दवाई मिला देते हैं, कि फिर वह दही बीमारीको हानिप्रद नहीं होता। इसी प्रकार जो एकदम स्वरूपतः त्याग नहीं कर सकते उनके लिये भगवान्ने बताया है, वे सम्पूर्ण संसारी कामोंको भगवत्-सेवा ही समझकर निष्काम-भावसे फलकी इच्छासे रहित होकर करते रहेंगे और निरन्तर हरि-स्मरणमें ही लगे रहेंगे तो उन्हें संसारी काम बाधा न

पहुँचा सकेंगे। किन्तु जो लोग हठपूर्वक इस बातका आग्रह ही करते हैं कि भक्ति-मार्गके पथिकको किसी भी दशामें संसारी कर्मोंको त्यागकर संन्यास धर्मका अनुसरण न करना चाहिये उनसे अब हम क्या कहें। वे थोड़ी ऊँची दृष्टि करके देखें तो पता चलेगा कि सभी भक्ति-मार्गके प्रधान पुरुष घर-बार-त्यागी संन्यासी ही हुए हैं।

भक्तिके अथवा सभी मार्गोंके प्रवर्तक भगवान् ब्रह्माजी हैं। वे तो प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनोंके ही जनक हैं इसलिये उन्हें किसी एक मार्गका कहना ठीक नहीं। उनके पुत्र अथवा शिष्य भगवान् नारद ही भक्ति-मार्गके प्रधान आचार्य समझे जाते हैं। वे घर-बार-त्यागी आजन्म ब्रह्मचारी संन्यासी ही थे। उन्होंने एक-दोको ही घर-बार-विहीन नहीं बनाया किन्तु लाखोंको उनकी पूर्वप्रकृतिके अनुसार संसार-त्यागी विरागी बना दिया। महाराज दक्षप्रजापतिके ग्यारह-बारह हजार शबलाश्व और हरिताश्व नामक पुत्रोंको सदाके लिये संन्यासी बना दिया। भक्ति-मार्गकी एक प्रधान शाखाके प्रवर्तक सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन ये चारों-के-चारों संन्यासी ही थे। भगवान्के ब्राह्मण-शरीरोंमें परशुराम, वामन, नारद, सनत्कुमार, कपिल, नर-नारायण जितने भी अवतार हुए हैं सभी गृह-त्यागी संन्यासी ही थे। और तो क्या भक्ति-मार्गके चारों सम्प्रदायोंके माधवाचार्य, (आनन्दतीर्थ) - निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य—ये सब-के-सब संन्यासी ही थे। यद्यपि भगवान् वल्लभाचार्यकी पूजा-पद्धतिमें संन्यास-धर्मकी

उतनी आवश्यकता नहीं । यथार्थमें उन्होंने प्रवृत्ति-मार्गवाले धनवान् पुरुषोंके ही निमित्त इस प्रकारकी पूजा-अर्चाकी पद्धतिकी परिपाटी चलायी और स्वयं भी गृहस्थी रहते हुए सदा वात्सल्यभावसे बालकृष्णकी सेवा-पूजा करके ही भक्तोंके सामने आदर्श उपस्थित करते रहे, किन्तु फिर भी उन्होंने अन्तमें श्रीवाराणसीधाममें जाकर भागवत-धर्मके अनुसार सर्वस्व त्यागकर संन्यास-धर्मको ग्रहण किया । जिस संन्यास-धर्मकी इतनी महिमा है उसकी निन्दा संसारी विषयोंमें आबद्ध जीवोंके अतिरिक्त कोई कर ही नहीं सकता । बुद्ध, ईसा और चैतन्य यदि संन्यासी न होते तो ये महापुरुष संसारमें आज त्यागका इतना ऊँचा भाव कैसे भर सकते थे ?

महाप्रभु गौराङ्गदेव तो त्यागकी मूर्ति ही थे। वे तो यहाँतक कहते हैं—

संदर्शनं विषयिणामथ योषितां च
हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु ॥
(महाप्रभु-वाक्य)

अर्थात् 'विषयी लोगोंका तथा कामिनियोंका दर्शन भी विष-भक्षणसे बढ़कर है ।' अहा ! ऐसा त्यागका सजीव उदाहरण और कहाँ मिल सकता है ? महाप्रभुने सचमुचमें महान् त्यागकी पराकाष्ठा करके दिखा दी । उनके पथके अनुयायी अन्तरङ्ग भक्त जीव, सनातन, रूप, रघुनाथदास, प्रबोधानन्द, स्वरूप, दामोदर, हरिदास, गोपाल भट्ट, लोकनाथ गोस्वामी एक-से-

एक बढ़कर परम त्यागी संन्यासी थे। इनका त्याग और वैराग्य महाप्रभुके परम त्यागमय भावोंका एक उज्ज्वल आदर्श है। रूप स्वामीके लिये तो यहाँतक सुना जाता है, कि वे एक दिनसे अधिक एक वृक्षके नीचे भी नहीं ठहरते थे। व्रजवासियोंके घरसे टुकड़े माँग लाना और रोज किसी नये वृक्षके नीचे पड़ रहना। धन्य है उनके त्यागको और उनकी भक्तिको!

भगवान्के अन्तरङ्ग भक्त उद्धव, विदुर दोनों ही संन्यासी हुए। परम संन्यासिनी गोपिकाओंसे बढ़कर त्यागका आदर्श कहाँ मिल सकता है? उद्धव, विदुर और गोपिकाओंने यद्यपि लिङ्ग-संन्यास नहीं लिया था, क्योंकि लिङ्ग-संन्यासका विधान शास्त्रोंमें प्रायः ब्राह्मणके लिये ही पाया जाता है, किन्तु तो भी ये घर-बारको छोड़कर अलिङ्ग-संन्यासी ही थे।

महाप्रभु भला घरमें कैसे रह सकते थे? उनके मनमें संन्यास लेनेके भाव प्रबलताके साथ उठने लगे। वे मन-ही-मन सोचने लगे कि—'अब हम जबतक संन्यासी बनकर और मूँड़ मुड़ाकर घर-घर भिक्षा नहीं माँगेंगे तबतक न तो हमारी आत्माको पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी और न हमारे इन विरोधियोंका ही उद्धार होगा। हम इन विरोधियोंका उद्धार अपने महान् त्यागद्वारा ही कर सकेंगे। ये हमारी बढ़ती हुई कीर्तिसे डाह करके ऐसे भाव रखने लगे हैं।' प्रभु इन्हीं भावोंमें मग्न थे, कि इतनेमें ही कटवामें रहनेवाले दण्डी स्वामी, केशव भारती महाराज नवद्वीप पधारे। समयके प्रभावसे आजकल तो

सभी प्राचीन व्यवस्था नष्ट हो गयी। किन्तु हम जबकी बात कह रहे हैं उस समय ऐसी परिपाटी थी, कि दण्डी संन्यासी किसी भी गृहस्थके द्वारपर पहुँच जाय, वही गृहस्थ उठकर उनका सत्कार करता और उनसे श्रद्धा-भक्तिके सहित भिक्षा कर लेनेके लिये प्रार्थना करता।

दस नामी संन्यासियोंमें तीर्थ, सरस्वती और आश्रम इन तीनोंको दण्ड धारण करनेका अधिकार है। भारतीयोंको भी दण्डका अधिकार है, किन्तु दण्डी-सम्प्रदायमें उनका आधा दण्ड समझा जाता है। शेष गिरी, पुरी, वन, अरण्य तथा पर्वत आदि छः प्रकारके संन्यासियोंको दण्डका अधिकार नहीं है।* दण्ड ब्राह्मण ही ले सकता है। इसलिये दण्डी संन्यासी ब्राह्मण ही होते हैं। केशव भारती दण्डी ही संन्यासी थे। पीछे इनकी शिष्य-परम्परामें इनके उत्तराधिकारी गृहस्थी बन गये जो कटवाके समीप अब भी विद्यमान हैं।

भारतीको देखते ही प्रभुने उठकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। भारती इनके शरीरमें ऐसे अपूर्व प्रेमके लक्षणोंको देखकर एकदम भौचक्के-से रह गये। इनकी नम्रता, शालीनता और सुशीलतासे प्रसन्न होकर भारती प्रेममें विभोर हुए कहने लगे—'आप या तो नारद हैं या प्रह्लाद, आप तो मूर्तिमान् प्रेम ही दिखायी पड़ते हैं।

---

* तीर्थाश्रमवनारण्यगिरिपर्वतसागराः।
पुरी सरस्वती चैव भारती च दश क्रमात्॥

भारतीके मुखसे ऐसी बात सुनकर प्रभु प्रेममें विभोर हो गये और भारतीके पैरोंको पकड़कर गद्गद-कण्ठसे कहने लगे—'आप साक्षात् ईश्वर हैं, आप नररूपमें नारायण हैं। आज मुझ गृहस्थीके घरको पावन बनाइये और मेरे ऊपर कृपा कीजिये, जिससे मैं संसार-बन्धनसे मुक्त हो सकूँ।'

भारतीने कहा—'आपके सम्पूर्ण शरीरमें भगवत्ताके चिह्न हैं। आप प्रेमके अवतार हैं, मुझे तो आपके दर्शनसे भगवान्‌के दर्शनका-सा सुख अनुभव हो रहा है।'

प्रभुने भारतीकी स्तुति करते हुए कहा—'आप तो भगवान्‌के प्यारे हैं, आपके हृदयमें सदा भगवान् निवास करते हैं। आपके नेत्रोंमें श्रीकृष्णकी छाया सदा छायी रहती है। इसीलिये चराचर विश्वमें आप भगवान्‌के ही दर्शन करते हैं।'

इस प्रकार इन दोनों महापुरुषोंमें बहुत देरतक प्रेमकी बातें होती रहीं। एक-दूसरेके गुणोंपर आसक्त होकर एक दूसरेकी स्तुति कर रहे थे। अनन्तर शचीमाताने भोजन तैयार किया। प्रभुने श्रद्धापूर्वक भारतीजीको भिक्षा करायी। दूसरे दिन भारतीजी गङ्गा-किनारे अपने आश्रमको ही फिर लौट गये। मानो वे प्रभुको संन्यासका स्मरण दिलानेके ही लिये आये हों।

भारतीजीके चले जानेपर प्रभुका मन अब और भी अधिकाधिक अधीर होने लगा। अब वे महात्यागकी तैयारियाँ करने लगे। पूर्ण सुख जिसका नाम है, जिससे आगे दूसरा सुख

हो ही नहीं सकता, यह तो त्यागसे ही मिलता है। धर्म, तप, ज्ञान और त्याग ये ही भक्तिके परम साधन हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें बताया है—

सत्यान्नास्ति परो धर्मः मौनान्नास्ति परंतपः।
विचारान्न परं ज्ञानं त्यागान्नास्ति परं सुखम्॥

अर्थात् जिसने एक सत्यका अवलम्बन कर लिया उसने सभी धर्मोंका पालन कर लिया। जिसने मौन रहकर वाणीका पूर्णरीत्या संयम कर लिया, उसे सभी तपोंका फल प्राप्त हो गया। जो सदा सत्-असत्का विचार करता रहता है, उसके लिये इससे बढ़कर और ज्ञान हो ही क्या सकता है और जिसने सर्वस्व-त्याग कर दिया, उसने सबसे श्रेष्ठ परम सुखको प्राप्त कर लिया।

अब पाठक आगे कलेजेको खूब कसकर पकड़ लीजिये। दिलको थामकर उन महान् त्यागी महाप्रभुके महात्यागकी तैयारीकी बात सुनिये।

भक्तवृन्द और गौरहरि

> निवारयामः समुपेत्य माधवं
> किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः ।
> मुकुन्दसंगान्निमिषार्द्धदुस्त्यजाद्
> दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥*
> (श्रीमद्भा० १० । ३९ । २८)

महाप्रभुका वैराग्य दिनोंदिन बढ़ता ही जाता था, उधर विरोधियोंके भाव भी महाप्रभुके प्रति अधिकाधिक उत्तेजनापूर्ण होते जाते थे। दुष्ट-प्रकृतिके कुछ पुरुष प्रभुके ऊपर प्रहार करनेका सुयोग ढूँढ़ने लगे। महाप्रभुने ये बातें सुनीं और उनके हृदयमें उन भाइयोंके प्रति महान् दया आयी। वे सोचने लगे—'ये इतने भूले हुए जीव किस प्रकार रास्तेपर आ सकेंगे?

---

* भगवान्‌के मथुरा जानेके समय वियोग-दुःखसे दुखी हुई गोपिकाएँ परस्पर कह रही हैं—'अरी सखियो! न हो तो चलो हम सब भगवान्‌के रथके सामने लेटकर या और किसी भाँतिसे उन्हें मथुरा जानेसे रोकें। यदि यह कहो कि कुलके बड़े-बूढ़ोंके सामने ऐसा साहस हम कर ही कैसे सकती हैं, सो इसकी बात तो यह है कि जिन मुकुन्दके मुख-कमलको देखे बिना हम क्षणभर भी नहीं रह सकतीं, उन्हींका आज दैवयोगसे असह्य वियोगजन्य दुःख आकर उपस्थित हो गया है, ऐसी दीन-चित्तवाली हम दुःखिनियोंका कुलके बड़े-बूढ़े कर ही क्या सकते हैं? उनका हमें क्या भय?'

इनके उद्धारका उपाय क्या है, ये लोग किस भाँति श्रीहरिकी शरणमें आ सकेंगे !'

एक दिन महाप्रभु भक्तोंके सहित गङ्गा-स्नानके निमित्त जा रहे थे। रास्तेमें प्रभुने दो-चार विरोधियोंको अपने ऊपर ताने कसते हुए देखा। तब आप हँसते हुए कहने लगे—'पिप्पलीके टुकड़े इसलिये किये थे, कि उससे कफकी निवृत्ति हो, किन्तु उसका प्रभाव उलटा ही हुआ। उससे कफकी निवृत्ति न होकर और अधिक बढ़ने ही लगा।' इतना कहकर प्रभु फिर जोरोंके साथ हँसने लगे। भक्तोंमेंसे किसीने भी इस गूढ़ वचनका रहस्य नहीं समझा। केवल नित्यानन्दजी प्रभुकी मनोदशा देखकर ताड़ गये कि जरूर प्रभु हम सबको छोड़कर कहीं अन्यत्र जानेकी बात सोच रहे हैं। इसीलिये उन्होंने एकान्तमें प्रभुसे पूछा—'प्रभो ! आप हमसे अपने मनकी कोई बात नहीं छिपाते। आजकल आपकी दशा कुछ विचित्र ही हो रही है। हम जानना चाहते हैं, इसका क्या कारण है ?'

नित्यानन्दजीकी ऐसी बात सुनकर गद्गद-कण्ठसे प्रभु कहने लगे—'श्रीपाद ! तुमसे छिपाव ही क्या है ? तुम तो मेरे बाहर चलनेवाले प्राण ही हो। मैं अपने मनकी दशा तुमसे छिपा नहीं सकता। मुझे कहनेमें दुःख हो रहा है। अब मेरा मन यहाँ नहीं लग रहा है। मैं अब अपने अधीन नहीं हूँ। जीवोंका दुःख अब मुझसे देखा नहीं जाता। मैं जीवोंके कल्याणके निमित्त अपने सभी संसारी सुखोंका परित्याग करूँगा। मेरा

मन अब गृहस्थमें नहीं लगता है । अब मैं परिव्राजक-धर्मका पालन करूँगा । जो लोग मेरी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कीर्तिसे डाह करने लगे हैं, जो मुझे भक्तोंके सहित आनन्द-विहार करते देखकर जलते हैं, जो मेरी भक्तोंके द्वारा की हुई पूजाको देखकर मन-ही-मन हमसे विद्वेष करते हैं, वे जब मुझे मूँड़ मुड़ाकर घर-घर भिक्षाके टुकड़े माँगते देखेंगे, तो उन्हें अपने बुरे भावोंके लिये पश्चात्ताप होगा । उसी पश्चात्तापके कारण वे कल्याण-पथके पथिक बन सकेंगे । इन मेरे घुँघराले काले-काले बालोंने ही लोगोंके विद्वेषपूर्ण हृदयको क्षुभित बना रखा है । भक्तों-द्वारा आँवलेके जलसे धोये हुए और सुगन्धित तैलोंसे तर हुए ये बाल ही भूले-भटके अज्ञानी पुरुषोंके हृदयोंमें विद्वेषकी अग्नि भभकाते हैं । मैं इन घुँघराले बालोंको नष्ट कर दूँगा । शिखा-सूत्रका त्याग करके मैं वीतराग संन्यासी बनूँगा । मेरा हृदय अब संन्यासी होनेके लिये तड़प रहा है । मुझे वर्तमान दशामें शान्ति नहीं, सच्चा सुख नहीं । मैं अब पूर्ण शान्ति और सच्चे सुखकी खोजमें संन्यासी बनकर द्वार-द्वारपर भटकूँगा । मैं अपरिग्रही संन्यासी बनकर सभी प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करूँगा । श्रीपाद ! तुम स्वयं त्यागी हो, मेरे पूज्य हो, बड़े हो, मेरे इस काममें रोड़े मत अटकाना ।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनते ही नित्यानन्दजी अधीर हो गये । उन्हें शरीरका भी होश नहीं रहा । प्रेमके कारण उनके नेत्रोंमेंसे अश्रु बहने लगे । उनका गला भर आया । रुँधे हुए कण्ठसे

उन्होंने रोते-रोते कहा—'प्रभो! आप सर्वसमर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं। मेरी क्या शक्ति है, जो आपके काममें रोड़े अटका सकूँ? किन्तु प्रभो! ये भक्त आपके बिना कैसे जीवित रह सकेंगे? हाय! विष्णुप्रियाकी क्या दशा होगी? बूढ़ी माता जीवित न रहेंगी। आपके पीछे वह प्राणोंका परित्याग कर देंगी। प्रभो! उनकी अन्तिम अभिलाषा भी पूर्ण न हो सकेगी। अपने प्रिय पुत्रसे उन्हें अपने शरीरके दाह-कर्मका भी सौभाग्य प्राप्त न हो सकेगा। प्रभो! निश्चय समझिये माता आपके बिना जीवित न रहेंगी।'

प्रभुने कुछ गम्भीरताके स्वरमें नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! आप तो ज्ञानी हैं, सब कुछ समझते हैं। सभी प्राणी अपने-अपने कर्मोंके अधीन हैं। जितने दिनोंतक जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है वह उतने ही दिनोंतक उसके साथ रह सकता है। सभी अपने-अपने प्रारब्ध-कर्मोंसे विवश हैं।'

प्रभुकी बातें सुनकर नित्यानन्दजी चुप रहे। प्रभु उठकर मुकुन्दके समीप चले आये। मुकुन्ददत्तका गला बड़ा ही सुरीला था। प्रभुको उनके पद बहुत पसन्द थे। वे बहुधा मुकुन्ददत्तसे भक्तिरसके अपूर्व-अपूर्व पद गवा-गवाकर अपने मनको सन्तुष्ट किया करते थे। प्रभुको अपने यहाँ आते हुए देखकर मुकुन्दने जल्दीसे उठकर प्रभुकी चरण-वन्दना की और बैठनेके लिये सुन्दर आसन दिया। प्रभुने बैठते ही मुकुन्ददत्तसे कोई पद

गानेके लिये कहा । मुकुन्द बड़े स्वरके साथ गाने लगे । मुकुन्दके पदको सुनकर प्रभु प्रेममें गद्गद हो उठे । फिर प्रेमसे मुकुन्ददत्तका आलिंगन करते हुए बोले—'मुकुन्द ! अब देखें तुम्हारे पद कब सुननेको मिलेंगे !'

आश्चर्यचकित होकर सम्भ्रमके सहित मुकुन्द कहने लगे—'क्यों-क्यों प्रभो ! मैं तो आपका सेवक हूँ, जब भी आज्ञा होगी तभी गाऊँगा !'

आँखोंमें आँसू भरे हुए प्रभुने कहा—'मुकुन्द ! अब हम इस नवद्वीपको त्याग देंगे, सिर मुड़ा लेंगे । काषाय वस्त्र धारण करेंगे । द्वार-द्वारसे टुकड़े माँगकर अपनी भूखको शान्त करेंगे और नगरके बाहर सूने मकानोंमें, टूटी कुटियाओंमें तथा देवताओंके स्थानोंमें निवास करेंगे । अब हम गृह-त्यागी वैरागी बनेंगे ।'

मानो मुकुन्दके ऊपर वज्राघात हुआ हो । उस हृदयको बेधनेवाली बातको सुनते ही मुकुन्द मूर्छित-से हो गये । उनका शरीर पसीनेसे तर हो गया । बड़े ही दुःखसे कातर स्वरमें वे विलख-विलखकर कहने लगे—'प्रभो ! हृदयको फाड़ देनेवाली आप यह कैसी बात कह रहे हैं ? हाय ! इसीलिये आपने इतना स्नेह बढ़ाया था क्या ? नाथ ! यदि ऐसा ही करना था, तो हम लोगोंको इस प्रकार आलिंगन करके, पासमें बैठाके, प्रेमसे भोजन कराके, एकान्तमें रहस्यकी बातें कर-करके इस तरहसे अपने प्रेमपाशमें बाँध ही क्यों लिया था ? हे हमारे जीवनके एकमात्र आधार !

आपके बिना हम नवद्वीपमें किसके बनकर रह सकेंगे ? हमें कौन प्रेमकी बातें सुनावेगा ? हमें कौन संकीर्तनकी पद्धति सिखावेगा ? हम सबको कौन भगवन्नामका पाठ पढ़ावेगा ? प्रभो ! आपके कमलमुखके बिना देखे हम जीवित न रह सकेंगे। यह आपने क्या निश्चय किया है ? हे हमारे जीवनदाता ! हमारे ऊपर दया करो ।'

प्रभुने रोते हुए मुकुन्दको अपने गलेसे लगाया। अपने कोमल करोंसे उनके गरम-गरम आँसुओंको पोंछते हुए कहने लगे—'मुकुन्द ! तुम इतने अधीर मत हो। तुम्हारे रुदनको देखकर हमारा हृदय फटा जाता है। हम तुमसे कभी पृथक् न होंगे। तुम सदा हमारे हृदयमें ही रहोगे।'

मुकुन्दको इस प्रकार समझाकर प्रभु गदाधरके समीप आये। महाभागवत गदाधरने प्रभुको इस प्रकार असमयमें आते देखकर कुछ आश्चर्य-सा प्रकट किया और जल्दीसे प्रभुकी चरण-वन्दना करके उन्हें बैठनेको आसन दिया। आज वे प्रभुकी ऐसी दशा देखकर कुछ भयभीत-से हो गये। उन्होंने आजतक प्रभुकी ऐसी आकृति कभी नहीं देखी थी। उस समयकी प्रभुकी चेष्टामें दृढ़ता थी, ममता थी, वेदना थी और त्याग, वैराग्य, उपरति और न जाने क्या-क्या भव्य-भावनाएँ भरी हुई थीं। गदाधर कुछ भी न बोल सके। तब प्रभु आप-से-आप ही कहने लगे—'गदाधर ! तुम्हें मैं एक बहुत ही दुःखपूर्ण बात सुनाने आया हूँ। बुरा मत मानना। क्यों बुरा तो न मानोगे ?'

मानों गदाधरके ऊपर यह दूसरा प्रहार हुआ। वे उसी भाँति चुप बैठे रहे। प्रभुकी इस बातका भी उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। तब प्रभु कहने लगे—'मैं अब तुम लोगोंसे पृथक् हो जाऊँगा। अब मैं इन संसारी भोगोंका परित्याग कर दूँगा और यति-धर्मका पालन करूँगा।'

गदाधर तो मानों काठकी मूर्ति बन गये। प्रभुकी इस बातको सुनकर भी वे उसी तरह मौन बैठे रहे। इतना अवश्य हुआ कि उनका चेतनाशून्य शरीर पीछेकी दीवालकी ओर स्वयं ही लुढ़क पड़ा। प्रभु समीप ही बैठे थे, थोड़ी ही देरमें गदाधरका सिर प्रभुके चरणोंमें लोटने लगा। उनके दोनों नेत्रोंसे दो जलकी धाराएँ निकलकर प्रभुके पाद-पद्मोंको प्रक्षालित कर रही थीं। उन गरम-गरम अश्रुओंके जलसे प्रभुके शीतल-कोमल चरणोंमें एक प्रकारकी और अधिक ठण्ढक-सी पड़ने लगी। उन्होंने गदाधरके सिरको यत्नपूर्वक उठाकर अपनी गोदीमें रख लिया और उनके आँसू पोंछते हुए कहने लगे—'गदाधर! तुम इतने अधीर होगे तो भला मैं अपने धर्मको कैसे निभा सकूँगा? मैं सब कुछ देख सकता हूँ, किन्तु तुम्हें इस प्रकार विलखता हुआ नहीं देख सकता। मैंने केवल महान् प्रेमकी उपलब्धि करनेके ही निमित्त ऐसा निश्चय किया है। यदि तुम मेरे इस शुभ संकल्पमें इस प्रकार विघ्न उपस्थित करोगे तो मैं कभी भी उस कामको न करूँगा। तुम्हें दुखी छोड़कर मैं शाश्वत सुखको भी नहीं चाहता। क्या कहते हो? बोलते क्यों नहीं?'

रुँधे हुए कण्ठसे बड़े कष्टके साथ लड़खड़ाती हुई वाणीमें गदाधरने कहा—'प्रभो ! मैं कह ही क्या सकता हूँ ? आपकी इच्छाके विरुद्ध कहनेकी किसकी सामर्थ्य है ? आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं।'

प्रभुने कहा—'मैं तुमसे आज्ञा चाहता हूँ।'

गदाधर अब अपने वेगको और अधिक न रोक सके। वे ढाह मार-मारकर जोरोंसे रुदन करने लगे। प्रभु भी अधीर हो उठे। उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणापूर्ण था। प्रभुकी प्रेममय गोदमें पड़े हुए गदाधर अबोध बालककी भाँति फूट-फूटकर रुदन कर रहे थे। प्रभु उनके सिरपर हाथ फेरते हुए उन्हें ढाढ़स बँधा रहे थे। प्रभु अपने अश्रुओंको वस्त्रके छोरसे पोंछते हुए कह रहे थे—'गदाधर ! तुम मुझसे पृथक् न रह सकोगे। मैं जहाँ भी रहूँगा तुम्हें साथ ही रक्खूँगा। तुम इतने अधीर क्यों होते हो ? तुम्हारे बिना तो मुझे वैकुण्ठका सिंहासन भी रुचिकर नहीं होगा। तुम इस प्रकारकी अधीरताको छोड़ो। मंगलमय भगवान् सब भला ही करेंगे।' यह कहते-कहते गदाधरका हाथ पकड़े हुए प्रभु श्रीवासके घर पहुँचे। गदाधरकी दोनों आँखें लाल पड़ी हुई थीं। नाकमेंसे पानी बह रहा था। शरीर लड़खड़ाया हुआ था। कहीं पैर रखते थे, कहीं जाकर पड़ते थे। सम्पूर्ण देह डगमगा रही थी। प्रभुके हाथके सहारेसे वे यन्त्रकी तरह चले जा रहे थे। प्रभु उस समय सावधान थे। श्रीवास सब कुछ समझ गये। उनसे पहिले ही नित्यानन्दजीने आकर

यह बात कह दी थी। वे प्रभुको देखते ही रुदन करने लगे। प्रभुने कहा—'आप मेरे पिताके तुल्य हैं। जब आप ही इस तरह मुझे हतोत्साहित करेंगे तो मैं अपने धर्मका पालन कैसे कर सकूँगा? मैं कोई बुरा काम करने नहीं जा रहा हूँ। केवल अपने शरीरके स्वार्थके निमित्त भी संन्यास नहीं ले रहा हूँ। आजकल मेरी दशा उस महाजन साहूकारकी-सी है, जिसका नाम तो बड़ा भारी हो, किन्तु पासमें पैसा एक भी न हो। मेरे पास प्रेमका अभाव है। आप सब लोगोंको संसारी भोग्य पदार्थोंकी न तो इच्छा ही है और न कमी ही। आप सभी भक्त प्रेमके भूखे हैं। मैं अब परदेश जा रहा हूँ। जिस प्रकार महाजन परदेशोंमें जाकर धन कमा लाता है और उस धनसे अपने कुटुम्ब-परिवारके सभी स्वजनोंका समान भावसे पालन-पोषण करता है, उसी प्रकार मैं भी प्रेमरूपी धन कमाकर आप लोगोंके लिये लाऊँगा। तब हम सभी मिलकर उसका उपभोग करेंगे।'

कुछ क्षीणस्वरमें श्रीवास पण्डितने कहा—'प्रभो! जो बड़भागी भक्त आपके लौटनेतक जीवित रह सकेंगे वे ही आपकी कमाईका उपभोग कर सकेंगे। हमलोग तो आपके बिना जीवित रह ही नहीं सकते।'

प्रभुने कहा—'पण्डितजी! आप ही हमसबके पूज्य हैं। मुझे कहनेमें लज्जा लगती है, किन्तु प्रसङ्गवश कहना ही पड़ता है, कि आपके ही द्वारा हम सभी भक्त इतने दिनोंतक प्रेमके

सहित संकीर्तन करते हुए भक्तिरसामृतका आस्वादन करते रहे। अब आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि हम अपने व्रतको पूर्ण-रीत्या पालन कर सकें।'

इतनेमें ही मुरारी गुप्त भी वहाँ आ गये। वे तो इस बातको सुनते ही एकदम बेहोश होकर गिर पड़े। बहुत देरके पश्चात् चैतन्यलाभ होनेपर कहने लगे—'प्रभो! आप सर्वसमर्थ हैं, किसीकी मानेंगे थोड़े ही। जिसमें आप जीवोंका कल्याण समझेंगे वह चाहे आपके प्रियजनोंके लिये कितनी भी अप्रिय बात क्यों न हो, उसे भी कर डालेंगे, किन्तु हे हम पतितोंके एकमात्र आधार! हमें अपने हृदयसे न भुलाइयेगा। आपके श्रीचरणोंकी स्मृति बनी रहे, ऐसा आशीर्वाद और देते जाइयेगा। आपके चरणोंका स्मरण बना रहे तो यह नीरस जीवन भी सार्थक है। आपके चरणोंकी विस्मृतिमें अन्धकार है और अन्धकार ही अज्ञानताका हेतु है।'

प्रभुने मुरारीका गाढ़ालिंगन करते हुए कहा—'तुम तो जन्म-जन्मान्तरोंके मेरे प्रिय सुहृद् हो। यदि तुम सबको ही भुला दूँगा तो फिर स्मृतिको ही रखकर क्या करूँगा? स्मृति तो केवल तुम्हीं प्रेमी बन्धुओंके चिन्तन करनेके लिये रख रक्खी है।' इस प्रकार सभी भक्तोंको समझा-बुझाकर प्रभु अपने घर-चले गये। इधर प्रभुके सभी अन्तरङ्ग भक्तोंमें यह बात बिजलीकी तरह फैल गयी। जो भी सुनता, वही हाथ मलने लगता। कोई ऊर्ध्व श्वास छोड़ता हुआ कहता—'हाय! अब यह कमलनयन फिर प्रेमभरी चितवनसे हमारी ओर न देख सकेंगे।' कोई

कहता—'क्या गौरहरिके मुनि-मन-मोहन मनोहर मुखके दर्शन अब फिर न हो सकेंगे!' कोई कहता—'हाय! इन घुँघराले केशोंको कौन निर्दयी नाई सिरसे अलग कर सकता है? बिना इन घुँघराले बालोंवाला यह घुटा सिर भक्तोंके हृदयोंमें कैसी दाह उत्पन्न करेगा!' कोई कहता—'प्रभु काषाय वस्त्रकी झोली बनाकर घर-घर टुकड़े माँगते हुए किस प्रकार फिरेंगे!' कोई कहता—'ये अरुण रंगके कोमल चरण इस कठोर पृथ्वीपर नंगे किस प्रकार देश-विदेशोंमें घूम सकेंगे?'

कोई-कोई पश्चात्ताप करता हुआ कहता—'हम अब उन घुँघराले काले-काले कन्धोंतक लटकनेवाले बालोंमें सुगन्धित तैल न मल सकेंगे क्या! क्या अब हमारे पुण्योंका अन्त हो गया! क्या अब नवद्वीपका सौभाग्य-सूर्य नष्ट होना चाहता है? क्या नदियानागर अपनी इस लीलाभूमिका परित्याग करके किसी अन्य सौभाग्यशाली प्रदेशको पावन बनावेंगे! क्या अब नवद्वीप-पर क्रूर ग्रहोंकी वक्रदृष्टि पड़ गयी? क्या अब भक्तोंका एकमात्र प्रेमदाता हम सबको विलखता हुआ ही छोड़कर चला जायगा? क्या हम सब अनाथोंकी तरह इसी तरह तड़प-तड़पकर अपने जीवनके शेष दिनोंको व्यतीत करेंगे! क्या सचमुचमें हमलोग जाग्रत-अवस्थामें ये बातें सुन रहे हैं या हमारा यह स्वप्नका भ्रम ही है! मालूम तो स्वप्न-सा ही पड़ता है!' इस प्रकार सभी भक्त प्रभुके भावी वियोगजन्य दुःखका स्मरण करते हुए भाँति-भाँतिसे प्रलाप करने लगे।

शचीमाता और गौरहरि

अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।
तांश्चाकृतार्थान्वियुनंक्ष्यपार्थकं
विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥*
(श्रीमद्भा० १०।३९।१९)

भक्तोंके मुखसे निमाईके संन्यासकी बात सुनकर माताके शोकका पारावार नहीं रहा। वह भूली-सी, भटकी-सी, किंकर्तव्य-विमूढ़ा-सी होकर चारों ओर देखने लगी। कभी आगे देखती, कभी पीछेको निहारती, कभी आकाशकी ही ओर देखने लगती।

---

*अरे ओ निर्दयी विधाता! तुझे तनिक-सी भी दया नहीं। तू बड़ी ही कठोर प्रकृतिका है। पहले तो तू सम्पूर्ण प्राणियोंको प्रेमभावसे और स्नेह-सम्बन्धमें बाँधकर एकत्रित कर देता है और जब ठीक प्रेमके उपभोगका समय आता है तभी उन्हें एक दूसरेसे पृथक् कर देता है। इससे तेरा यह व्यवहार अबोध बालकोंके समान है। (मालूम पड़ता है तूने किसीसे स्नेह करना सीखा ही नहीं।)

मानों माता दिशा-विदिशाओंसे सहायताकी भिक्षा माँग रही है। लोगोंके मुखसे इस बातको सुनकर दुःखिनी माताका धैर्य एक-दम जाता रहा। वह बिलखती हुई, रोती हुई, पुत्र-वियोगरूपी दावानलसे झुलसी हुई-सी महाप्रभुके पास पहुँची और बड़ी ही कातरताके साथ कलेजेकी कसकको अपनी मर्माहत वाणीसे प्रकट करती हुई कहने लगी—'बेटा निमाई! मैं जो कुछ सुन रही हूँ यह सब कहाँतक ठीक है?'

पुत्रके वियोगको अशुभ समझनेवाली माताके मुखसे वह दारुण बात स्वयं ही न निकली। उसने गोलमाल तरहसे ही उस बातको पूछा। कुछ अन्यमनस्क भावसे प्रभुने पूछा—'कौन-सी बात?'

हाय! उस समय माताका हृदय स्थान-स्थानसे फटने लगा। वह अपने मुखसे वह हृदयको हिला देनेवाली बात कैसे कहती? कड़ा जी करके उसने कहा—'बेटा! कैसे कहूँ, इस दुःखिनी विधवाके ही भाग्यमें न जाने विधाताने सम्पूर्ण आपत्तियाँ लिख दी हैं क्या? मेरे कलेजेका बड़ा टुकड़ा विश्वरूप घर छोड़कर चला गया और मुझे मर्माहत बनाकर आजतक नहीं लौटा। तेरे पिता बीचमें ही धोखा दे गये। उस भयंकर पति-वियोगरूपी पहाड़-से दुःखको भी मैंने केवल तेरा ही मुख देखकर सहन किया। तेरे कमलके समान खिले हुए मुखको देखकर मैं सभी विपत्तियोंको भूल जाती। मुझे जब कभी दुःख होता, तो तुझसे छिपकर रोती। तेरे सामने

इसलिये खुलकर नहीं रोती थी, कि मेरे रुदनसे तेरा चन्द्रमाके समान सुन्दर मुख कहीं म्लान न हो जाय। मैं तेरे मुखपर म्लानता नहीं देख सकती थी! दुःख-दावानलमें जलती हुई इस अनाश्रिता दुःखिनीका तेरा चन्द्रमाके समान शीतल मुख ही एकमात्र आश्रय था। उसीकी शीतलतामें मैं अपने तापोंको शान्त कर लेती। अब भक्तोंके मुखसे सुन रही हूँ, कि तू भी मुझे धोखा देकर जाना चाहता है। बेटा! क्या यह बात ठीक है?'

माताकी ऐसी करुणापूर्ण कातर वाणीको सुनकर प्रभुने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे डबडबाई आँखोंसे पृथ्वीकी ओर देखने लगे। उनके चेहरेपर म्लानता आ गयी। वे भावी-वियोग-जन्य दुःखके कारण कुछ विषण्ण-से हो गये।

माताकी अधीरता और भी अधिक बढ़ गयी। उसने भयभीत होकर बड़े ही आर्त-स्वरमें पूछा—'निमाई! बेटा, मैं सत्य-सत्य जानना चाहती हूँ। क्या यह बात ठीक है? चुप रहनेसे काम न चलेगा। मौन रहकर मुझे और अत्यधिक क्लेश मत पहुँचा, मुझे ठीक-ठीक बता दे।'

सरलताके साथ प्रभुने स्वीकार किया कि माताने जो कुछ सुना है, वह ठीक ही है।

इतना सुननेपर माताको कितना अपार दुःख हुआ होगा इसे किस कविकी निर्जीव लेखनी व्यक्त करनेमें समर्थ हो सकती है! माताके नेत्रोंसे निरन्तर अश्रु निकल रहे थे। वे उन सूखे

हुए मुखको तर करते हुए माताके वक्षोंको भिगोने लगे । रोते-रोते माताने कहा—'बेटा ! तुझको जानेके लिये मना करूँ, तो तू मानेगा नहीं । इसलिये मेरी यही प्रार्थना है कि मेरे लिये थोड़ा विष खरीदकर और रखता जा । मेरे आगे-पीछे कोई भी तो नहीं है । तेरे पीछेसे मैं मरनेके लिये विष किससे मँगाऊँगी ? बेचारी विष्णुप्रिया अभी बिल्कुल अबोध बालिका है । उसे अभी संसारका कुछ पता ही नहीं । उसने आजतक एक पैसेकी भी कोई चीज नहीं खरीदी । यदि उसे ही विष लेने भेजूँ तो हाल तो वह जा ही नहीं सकती । चली भी जाय तो कोई उसे अबोध बालिका समझकर देगा नहीं । ये जो इतने भक्त यहाँ आते हैं, ये सब तेरे ही कारण आया करते हैं । तू चला जायगा, तो फिर ये बेचारे क्यों आवेंगे ? मेरे सूने घरका तू ही एकमात्र दीपक है, तेरे रहनेसे अँधेरेमें भी मेरा घर आलोकित होता रहता है । तू अब मुझे आधी सुलगती ही हुई छोड़कर जा रहा है । जा बेटा ! खुशीसे जा । किन्तु मैंने तुझे नौ महीने गर्भमें रक्खा है इसी नातेसे मेरा इतना काम तो कर जा । मुझ दुःखिनीका विषके सिवा दूसरा कोई और आश्रय भी तो नहीं । गङ्गाजीमें कूदकर भी प्राण गँवाये जा सकते हैं । किन्तु बहुत सम्भव है कोई दयालु पुरुष मुझे उसमेंसे निकाल ले । इसलिये घरके भीतर ही रहनेवाली मुझ आश्रयहीना दुःखिनीका विष ही एकमात्र सहारा है ।' यह कहते-कहते वृद्धा माता बेहोश होकर भूमिपर गिर पड़ी ।

प्रभुने अपने हाथोंसे अपनी दुःखिनी माताको उठाया और सम्पूर्ण शरीरमें लगी हुई उसकी धूलिको अपने वस्त्रसे पोंछा और माताको धैर्य बँधाते हुए वे कहने लगे—'माता ! तुमने मुझे गर्भमें धारण किया है। मेरे मल-मूत्र साफ किये हैं। मुझे खिला-पिलाकर और पढ़ा-लिखाकर इतना बड़ा किया है। तुम्हारे ऋणसे मैं किस प्रकार उऋण हो सकता हूँ ? माता ! यदि मैं अपने जीवित शरीरपरसे खाल उतारकर तुम्हारे पैरोंके लिये जूता बनाकर पहिनाऊँ तो भी तुम्हारे इतने भारी ऋणका परिशोध नहीं कर सकता। मैं जन्म-जन्मान्तरोंसे तुम्हारा ऋणी रहा हूँ और आगे भी रहूँगा। माँ ! मैं सत्य-सत्य कह रहा हूँ, यदि मेरे वशकी बात होती, तो मैं प्राणोंको गँवाकर भी तुम्हें प्रसन्न कर सकता। किन्तु मैं करूँ क्या ? मेरा मन मेरे वशमें नहीं है ! मैं ऐसा करनेके लिये विवश हूँ।'

'तुम वीर जननी हो। विश्वरूप-जैसे महापुरुषकी माता होनेका सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। तुम्हें इस प्रकारका विलाप शोभा नहीं देता। ध्रुवकी माता सुमतिने अपने प्राणोंसे भी प्यारे पाँच वर्षकी अवस्थावाले अपने इकलौते पुत्रको तपस्या करनेके लिये जानेकी आज्ञा प्रदान कर दी थी। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी माताने पुत्र-वधू-सहित अपने इकलौते पुत्रको वन जानेकी अनुमति दे दी थी। सुमित्राने दृढ़तापूर्वक घरमें पुत्र-वधू रहते हुए भी लक्ष्मणको आग्रहपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीके साथ वनमें भेज

दिया था। मदालसाने अपने सभी पुत्रोंको संन्यास-धर्मकी दीक्षा दी थी। तुम क्या उन माताओंसे कुछ कम हो? जननि! तुम्हारे चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है। तुम मेरे काममें पुत्र-स्नेहके कारण बाधा मत पहुँचाओ। मुझे प्रसन्नतापूर्वक संन्यास ग्रहण करनेकी अनुमति दो और ऐसा आशीर्वाद दो कि मैं अपने इस व्रतको भलीभाँति निभा सकूँ।'

माताने आँसुओंको पोंछते हुए कहा—'बेटा! मैंने आजतक तेरे किसी भी काममें हस्तक्षेप नहीं किया। तू जिस काममें प्रसन्न रहा, उसीमें मैं सदा प्रसन्न बनी रही। मैं चाहे भूखी बैठी रही, किन्तु तुझे हजार जगहसे लाकर तेरी रुचिके अनुसार सुन्दर भोजन कराया। मैं तेरी इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकती। किन्तु घरमें रहकर क्या भगवत्-भजन नहीं हो सकता? यहींपर श्रीवास, गदाधर, मुकुन्द, अद्वैताचार्य इन सभी भक्तोंको लेकर दिन-रात्रि भजन-कीर्तन करता रह। मैं तुझे कभी भी न रोकूँगी। बेटा! तू सोच तो सही, इस अबोध बालिका विष्णुप्रियाकी क्या दशा होगी? इसने तो अभी संसारका कुछ भी सुख नहीं देखा। तेरे बिना यह कैसे जीवित रह सकेगी? मेरा तो विधाताने वज्रका हृदय बनाया है। विश्वरूपके जानेपर भी यह नहीं फटा और तेरे पिताके परलोक-गमन करनेपर भी यह ज्यों-का-त्यों ही बना रहा। मालूम पड़ता है, तेरे चले जानेपर भी इसके टुकड़े-टुकड़े नहीं होंगे। रोज सुनती

हूँ, अमुक मर गया, अमुक चल बसा। न जाने मेरी आयु विधाताने कितनी बड़ी बना दी है, जो अभीतक वह सुध ही नहीं लेता ! विष्णुप्रियाके आगेके लिये कोई आधार हो जाय और मैं मर जाऊँ, तब तू खुशीसे संन्यास ले लेना। मेरे रहते हुए और उस बालिकाको जीवित रहनेपर भी विधवा बनाकर तेरा घरसे जाना ठीक नहीं। मैं तेरी माता हूँ। मेरे दुःखकी ओर थोड़ा भी तो खयाल कर। तू जगत्के उद्धारके लिये काम करता है। क्या मैं जगत्में नहीं हूँ। मुझे जगत्से बाहर समझकर मेरी उपेक्षा क्यों कर रहा है ? मुझ दुःखिनीको तू इस तरह बिलखती हुई छोड़ जायगा, तो तुझे माताको दुखी करने-का पाप लगेगा।'

प्रभुने धैर्यके साथ कहा—'माता ! तुम इतनी अधीर मत हो। भाग्यको मेंटनेकी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। विधनाने मेरा-तुम्हारा संयोग इतने ही दिनका लिखा था। अब आगे लाख प्रयत्न करनेपर भी मैं नहीं रह सकता। भगवान् वासुदेव सबकी रक्षा करते हैं। उनका नाम विश्वम्भर है। जगत्के भरण-पोषणका भार उन्हींपर है। तुम हृदयसे इस अज्ञानजन्य मोहको निकाल डालो और मुझे प्रेमपूर्वक हृदयसे यति-धर्म ग्रहण करनेकी अनुमति प्रदान करो।'

रोते-रोते माताने कहा—'बेटा ! मैं बालकपनसे ही तेरे स्वभावको जानती हूँ। तू जिस बातको ठीक समझता है, उसे

ही करता है। फिर चाहे उसके विरुद्ध साक्षात् ब्रह्मा भी आकर तुझे समझावें तो भी तू उससे विचलित नहीं होता। अच्छी बात है, जिसमें तुझे प्रसन्नता हो, वही कर। तेरी प्रसन्नतामें ही मुझे प्रसन्नता है। कहीं भी रह, सुखपूर्वक रह। चाहे गृहस्थी बनकर रह या यति बनकर। मैं तो तुझे कभी भुला ही नहीं सकती। भगवान् तेरा कल्याण करें। किन्तु तुझे जाना हो तो मुझसे बिना ही कहे मत जाना। मुझे पहिलेसे सूचना दे देना।

महाप्रभुने इस प्रकार मातासे अनुमति लेकर उनकी चरण-वन्दना की और उसे आश्वासन देते हुए कहने लगे—'माता! तुमसे मैं ऐसी ही आशा करता था, तुमने योग्य माताके अनुकूल ही बर्ताव किया है। मैं इस बातका तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, कि तुमसे बिना कहे नहीं जाऊँगा। जिस दिन जाना होगा, उससे पहिले ही तुम्हें सूचित कर दूँगा।' इस प्रकार प्रभुने माताको तो समझा-बुझाकर उससे आज्ञा ले ली। विष्णुप्रियाको समझाना थोड़ा कठिन था। वह अबतक अपने पितृगृहमें थीं। इसलिये उनके सामने यह प्रश्न उठा ही नहीं था। प्रभुके संन्यास ग्रहण करनेकी बात सम्पूर्ण नवद्वीपनगरमें फैल गयी थी। विष्णुप्रियाने भी अपने पिताके घरमें ही यह बात सुनी। उसी समय वह अपने पिताके घरसे पतिदेवके यहाँ आ गयीं।

विष्णुप्रिया और गौरहरि

यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र-
लीलाऽचलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम्।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम्॥*
(भाग० १०।३९।२९)

पितृगृहसे जिस दिन विष्णुप्रिया पतिगृहमें आयी थीं उस दिन प्रभु भक्तोंके साथ कुछ देरमें गंगाजीसे लौटे थे। आते ही भक्तोंके सहित प्रभुने भोजन किया। भोजनके अनन्तर सभी भक्त अपने-अपने स्थानोंको चले गये। प्रभु भी अपने शयन-गृहमें जाकर शय्यापर लेट गये।

इधर विष्णुप्रियाका हृदय धक्-धक् कर रहा था। उनके हृदयसागरमें मानों चिन्ता और शोकका बवण्डर-सा उठ रहा था। एकके बाद एक विचार आते और उनकी स्मृतिमात्रसे विष्णुप्रिया

---

* गोपियाँ परस्परमें कह रही हैं—'हा! जिन श्रीकृष्णके स्नेहके साथ खिले हुए सुन्दर मन्द-मन्द हास्ययुक्त मनोहर मुखको देखकर और उनके सुमधुर वचनोंको सुनकर तथा लीलाके सहित कुटिल कटाक्षोंसे उनकी मन्द-मन्द चितवन और प्रेमालिङ्गनोंद्वारा रास-क्रीडामें हमने बहुत-सी बड़ी-बड़ी निशाएँ एक क्षणके समान बिता दीं, ऐसे अपने प्यारे श्रीकृष्णके बिना हम इस दुस्सह विरहजन्य दुःखको कैसे सहन कर सकेंगी? इसका सहन करना तो अत्यन्त ही कठिन है।

काँपने लगतीं। ऐसी दशामें भूख-प्यासका क्या काम ! मानों भूख-प्यास तो शोक और चिन्ताके भयसे अपना स्थान परित्याग करके भाग गयी थी। प्रातःकालसे उन्होंने कुछ भी नहीं खाया था। पतिके निकट बिना कुछ प्रसाद पाये जाना अनुचित समझकर उन्होंने प्रभुके उच्छिष्ट पात्रोंमेंसे दो-चार ग्रास अनिच्छा-पूर्वक माताके आग्रहसे खा लिये। उनके मुखमें अन्न भीतर जाता ही नहीं था। जैसे-तैसे कुछ खा-पीकर वे धीरे-धीरे पतिदेवकी शय्याके समीप पहुँचीं। उस समय प्रभुको कुछ निद्रा-सी आ गयी थी। दुग्धके स्वच्छ और सुन्दर झागोंके समान सुकोमल गद्देके ऊपर बहुत ही सफेद वस्त्र बिछा हुआ था। दो झालरदार स्वच्छ सफेद कोमल तकिये प्रभुके सिरहाने रखे हुए थे। एक बाँह तकियेके ऊपर रक्खी थी। उसपर प्रभुका सिर रक्खा हुआ था। कमलके समान दोनों बड़े-बड़े नेत्र मुँदे हुए थे। उनके मुखके ऊपर घुँघराली काली-काली लटें छिटक रही थीं। मानों मकरन्दके लालची मत्त मधुपोंकी काली-काली पंक्तियाँ एक-दूसरे-का आश्रय लेकर उस अनुपम मुख-कमलकी मन-मोहक मधुरिमा-का प्रेमपूर्वक पान कर रही हों। अर्धनिद्रित समयके प्रभुके श्रीमुखकी शोभाको देखकर विष्णुप्रियाजी ठिठक गयीं। थोड़ी देर खड़ी होकर वे उस अनिर्वचनीय अनुपम आननकी अद्भुत आभाको निहारती रहीं। उनकी अधीरता अधिकाधिक बढ़ती ही जाती थी। धीरेसे वे प्रभुके पैरोंके समीप बैठ गयीं और अपने कोमल करोंसे शनैः-शनैः प्रभुके पाद-पद्मोंके तलवों-

को सुहराने लगीं । उन चरणोंकी कोमलता, अरुणता और सुकुमारताको देखकर विष्णुप्रियाका हृदय फटने लगा। वे सोचने लगीं—'हाय! प्राणप्यारे इन सुकोमल चरणोंसे कण्टकाकीर्ण पृथ्वीपर नंगे पैरों कैसे भ्रमण कर सकेंगे? तपाये हुए सुवर्णके रंगके समान यह राजकुमारका-सा सुकुमार शरीर संन्यासके कठोर नियमोंका पालन कैसे कर सकेगा?' इन विचारोंके आते ही विष्णु-प्रियाजीके नेत्रोंसे मोतियोंके समान अश्रुविन्दु झड़ने लगे। चरणोंमें गर्म विन्दुओंके स्पर्श होनेसे प्रभु चौंक उठे और तकियेसे थोड़ा सिर उठाकर उन्होंने अपने पैरोंकी ओर निहारा। सामने विष्णुप्रियाको देखकर प्रभु थोड़े उठ-से पड़े। आधे लेटे-ही-लेटे प्रभुने कहा—'तुम रो क्यों रही हो? इतनी अधीर क्यों बनी हुई हो? तुम्हें यह हो क्या गया है?'

रोते-रोते अत्यन्त क्षीणस्वरमें सुबकियाँ भरते हुए विष्णु-प्रियाजीने कहा—'अपने भाग्यको रो रही हूँ, कि विधाताने मुझे इतनी सौभाग्यशालिनी क्यों बनाया?'

प्रभुने कुछ प्रेमविस्मित अधीरता-सी प्रकट करते हुए कहा—'बात तो बताती नहीं, वैसे ही सुबकियाँ भर रही हो। मालूम भी तो होना चाहिये क्या बात है?'

उसी प्रकार रोते-रोते विष्णुप्रियाजी बोलीं—'मैंने सुना है आप घर-बार छोड़कर संन्यासी होंगे, हम सबको छोड़कर चले जायँगे।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'तुमसे यह बे-सिर-पैरकी बात कही किसने ?'

विष्णुप्रियाजीने अपनी बातपर कुछ जोर देते हुए और अपना स्नेह-अधिकार जताते हुए कहा—'किसीने भी क्यों न कही हो। आप बतलाइये क्या यह बात ठीक नहीं है ?'

प्रभुने मुस्कराते हुए कहा—'हाँ, कुछ-कुछ ठीक है !'

विष्णुप्रियाजीपर मानों वज्र गिर पड़ा, वे अधीर होकर प्रभुके चरणोंमें गिर पड़ीं और फूट-फूटकर रोने लगीं। प्रभुने उन्हें प्रेमपूर्वक हाथका सहारा देते हुए उठाया और प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करते हुए वे बोले—'तभी तो मैं तुमसे कोई बात कहता नहीं। तुम एकदम अधीर हो जाती हो।'

हाय ! उस समयकी विष्णुप्रियाजीकी मनोवेदनाका अनुभव कौन कर सकता है ? उनके दोनों नेत्रोंसे निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे, उसी वेदनाके आवेशमें रोते-रोते उन्होंने कहा—'प्राणनाथ ! मुझ दुखियाको सर्वथा निराश्रय बनाकर आप क्या सचमुच चले जायँगे ? क्या इस भाग्यहीना अबलाको अनाथिनी ही बना जायँगे ? हाय ! मुझे अपने सौभाग्य-सुखका बड़ा भारी गर्व था। ऐसे त्रैलोक्य-सुन्दर जगद्वन्द्य अपने प्राण-प्यारे पतिको पाकर मैं अपनेको सर्वश्रेष्ठ सौभाग्यशालिनी समझती थी। जिसके रूप-लावण्यको देखकर स्वर्गकी अप्सराएँ भी मुझसे ईर्ष्या करती थीं। नवद्वीपकी नारियाँ जिस मेरे सौभाग्य-सुखकी

सदा भूरि-भूरि प्रशंसा किया करती थीं, वे ही कालान्तरमें मुझे भाग्यहीन-सी द्वार-द्वार भटकते देखकर मेरी दशापर दया प्रकट करेंगी। मैं अनाथिनी अब किसकी शरणमें जाऊँगी? मेरी जीवन-नौकाका डाँड़ अब कौन अपने हाथमें लेकर खेवेगा? पति ही स्त्रियोंका एकमात्र आश्रय-स्थान है, पतिके बिना स्त्रियोंकी और दूसरी गति हो ही क्या सकती है!'

प्रभुने विष्णुप्रियाजीको समझाते हुए कहा—'देखो, संसारमें सभी जीव प्रारब्धकर्मोंके अधीन हैं। जितने दिनतक जिसका जिसके साथ संस्कार होता है, वह उतने ही दिनतक उसके साथ रह सकता है। सबके आश्रयदाता तो वे ही श्रीहरि हैं। तुम श्रीकृष्णका सदा चिन्तन करती रहोगी तो तुम्हें मेरे जानेका तनिक भी दुःख न होगा।'

रोते-रोते विष्णुप्रियाजीने कहा—'देव! आपके अतिरिक्त कोई दूसरे श्रीकृष्ण हैं, इसे मैं आजतक जानती ही नहीं और न आगे जाननेकी ही इच्छा है। मेरे तो ईश्वर, हरि और परमात्मा जो भी कुछ हैं, आप ही हैं। आपके श्रीचरणोंके चिन्तनके अतिरिक्त दूसरा चिन्तनीय पदार्थ मेरी दृष्टिमें है ही नहीं। मैं आपकी चरण-सेवामें ही अपना जीवन बिताना चाहती हूँ और मुझे किसी प्रकारके संसारी सुखकी इच्छा नहीं है!'

प्रभुने कुछ अधीरता प्रकट करते हुए कहा—'प्रिये! मैं सदासे तुम्हारा हूँ और सदा तुम्हारा रहूँगा। तुम्हारा यह निःस्वार्थ

प्रेम कभी भुलाया जा सकता है ! कौन ऐसा भाग्यहीन होगा जो तुम-जैसी सर्वगुणसम्पन्ना जीवनकी सहचरीका परित्याग करनेकी मनमें इच्छा भी करेगा, किन्तु विष्णुप्रिये ! मैं सत्य-सत्य कहता हूँ, मेरा मन अब मेरे वशमें नहीं है। जीवोंका दुःख अब मुझसे देखा नहीं जा सकता। मैं संसारी होकर और घरमें रहकर जीवोंका उतना अधिक कल्याण नहीं कर सकता। जीवोंके लिये मुझे शरीरसे तुम्हारा त्याग करना ही होगा। मनसे तो तुम्हारा प्रेम कभी भुलाया ही नहीं जा सकता। तुम निरन्तर विष्णु-चिन्तन करती हुई अपने नामको सार्थक बनाओ और अपने जीवनको सफल करो।'

बहुत ही अधीर-स्वरमें विष्णुप्रियाजीने कहा—'मेरे देवता! यदि जीवोंके कल्याणमें मैं ही बाधकरूप हूँ तो मैं आपके श्रीचरणोंका स्पर्श करके कहती हूँ, कि मैं सदा अपने पितृगृहमें ही रहा करूँगी। जब कभी आप गंगा-स्नानको जाया करेंगे, तो कहींसे छिपकर दर्शन कर लिया करूँगी। माताको तो कम-से-कम आधार रहेगा। खैर, मैं तो अपने हृदयको वज्र बनाकर इस पहाड़-जैसे दुःखको सहन भी कर लूँ, किन्तु उन वृद्धा माताकी क्या दशा होगी! उनके तो आगे-पीछे कोई नहीं है। उनका जीवन तो एकमात्र आपके ही ऊपर निर्भर है। वे आपके बिना जीवित न रह सकेंगी। निश्चय ही वे आत्मघात करके अपने प्राणोंको गँवा देंगी।'

प्रभुने कुछ रुँधे हुए कण्ठसे रुक-रुककर कहा—'सबके आगे-पीछे वे ही श्रीहरि हैं। उनके सिवाय प्राणियोंका दूसरा आश्रय हो ही नहीं सकता। प्राणिमात्रके आश्रय वे ही हैं। उनके स्मरणसे सभीका कल्याण होगा। प्रिये! मैं विवश हूँ, मुझे नवद्वीपको परित्याग करके अन्यत्र जाना ही होगा। संन्यासके सिवाय मुझे दूसरे किसी काममें सुख नहीं। तुम सदासे मुझे सुखी बनानेकी ही चेष्टा करती रही हो। तुमने मेरी प्रसन्नताके निमित्त अपने सभी सुखोंका परित्याग किया है। जिस बातमें मैं प्रसन्न रह सकूँ, तुम सदा ऐसा ही आचरण करती रही हो। अब तुम मुझे दुखी बनाना क्यों चाहती हो? यदि तुम मुझे जबरदस्ती यहाँ रहनेका आग्रह करोगी तो मुझे सुख न मिल सकेगा। रही माताकी बात, सो उनसे तो मैं अनुमति ले भी चुका और उन्होंने मुझे संन्यासके निमित्त आज्ञा दे भी दी। अब तुमसे ही अनुमति लेनी और शेष रही है। मुझे पूर्ण आशा है, तुम भी मेरे इस शुभ काममें बाधा उपस्थित न करके प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे दोगी।'

कठोर हृदय करके और अपने दुःखके आवेगको बलपूर्वक रोकते हुए विष्णुप्रियाने कहा—'यदि माताने आपको संन्यासकी आज्ञा दे दी है, तो मैं आपके काममें रोड़ा न अटकाऊँगी। आपकी प्रसन्नतामें ही मेरी प्रसन्नता है। आप जिस दशामें भी रहकर प्रसन्न हों वही मुझे स्वीकार है, किन्तु प्राणेश्वर! मुझे हृदयसे न भुलाइयेगा। आपके श्रीचरणोंका निरन्तर ध्यान बना रहे ऐसा

आशीर्वाद मुझे और देते जाइयेगा। प्रसन्नतापूर्वक तो कैसे कहूँ, किन्तु आपकी प्रसन्नताके सम्मुख मुझे सब कुछ स्वीकार है। आप समर्थ हैं, मेरे स्वामी हैं, स्वतन्त्र हैं और पतितोंके उद्धारक हैं। मैं तो आपके चरणोंकी दासी हूँ। स्वामीके सुखके निमित्त दासी सब कुछ सहन कर सकती है। किन्तु मेरा स्मरण बना रहे, यही प्रार्थना है।'

प्रभुने प्रियाजीको प्रेमपूर्वक आलिंगन करते हुए कहा—'धन्य है, तुमने एक वीरपत्नीके समान ही यह बात कही है। इतना साहस तुम-जैसी पतिपरायणा सती-साध्वी स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। तुम सदा मेरे हृदयमें बनी रहोगी और अभी मैं जाता थोड़े ही हूँ। जब जाना होगा तब बताऊँगा।' इस प्रकार प्रेमकी बातें करते-करते ही वह सम्पूर्ण रात्रि बीत गयी। प्रातः-काल प्रभु उठकर नित्यकर्मके लिये चले गये।

परम सहृदय निमाईकी निर्दयता

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमीश्वरः ॥*
(उत्तररामच० तृतीयाङ्क २ । ७ । २३)

पता नहीं, भगवान्‌ने विषमतामें ही महानता छिपा रखी है क्या ? 'महतो महीयान्' भगवान् 'अणोरणीयान्' भी कहे जाते हैं। निराकार होनेपर भी प्रभु साकार-से दीखते हैं। अकर्ता होते हुए भी सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके एकमात्र कारण वे ही कहे जाते हैं। अजन्मा होनेपर भी उनके शास्त्रोंमें जन्म कहे और सुने जाते हैं। इस प्रकारकी विषमतामें ही तो कहीं ईश्वरता छिपी हुई नहीं रहती ? महापुरुषोंके जीवनमें भी सदा ऐसी ही विषमता देखनेमें आती है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम-के सम्पूर्ण चरित्रको पढ़ जाइये, उसमें स्थान-स्थानपर भारी विषमता ही भरी हुई मिलेगी। श्रीमद्रामायण विषमताका भारी भण्डार ही है। अत्यन्त सुकुमार होनेपर भी राम भयङ्कर राक्षसोंका बात-की-बातमें वध कर डालते हैं। तपस्वी होते हुए भी धनुष-बाणको हाथसे नहीं छोड़ते। मैत्री करनेपर भी सुग्रीवको भय दिखाते हैं।

---

* इन महात्माओंके हृदय वज्रसे भी अधिक कठोर और पुष्पोंसे भी अधिक कोमल होते हैं, ऐसे इन असाधारण लोकोत्तर महापुरुषोंके चरित्रोंको जाननेमें कौन पुरुष समर्थ हो सकता है ?

सम्पूर्ण जीवन ही उनका विषमतामय है। जो राम अपनी माताओंको प्राणोंसे भी प्यारे थे, जो पिताकी आज्ञाको कभी नहीं टालते थे, जिनका कोमलहृदय किसीको दुखी देख ही नहीं सकता था, वे ही वन जाते समय इतने कठोर हो गये, कि उनपर माताके वाक्य-बाणोंका, उनके अविरल बहते हुए अश्रुओंका, पिताकी दीनतासे की हुई प्रार्थनाका, बिलखते हुए नगरवासियोंके करुण-क्रन्दनका, तपस्वी और ऋत्विज् वृद्ध ब्राह्मणोंके हंसके समान श्वेत बालोंवाली दुहाईका, राजकर्मचारी और भगवान् वशिष्ठकी भाँति-भाँतिकी नगरमें रहनेवाली युक्तियोंका तनिक भी असर नहीं पड़ा। वे सभीको रोते-बिलखते छोड़कर, सभीको शोक-सागरमें डुबाकर अपने हृदयको वज्रसे भी अधिक कठोर बनाकर वनके लिये चले ही गये। इससे उनकी कठोरताका परिचय मिलता है।

सीतामाताके हरणके समयके उनके क्रोधको पढ़कर कलेजा काँपने लगता है, मानों वे अपनी प्राणप्यारी प्रियाके पीछे सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डको बात-की-बातमें अपने अमोघ बाणोंसे नष्ट ही कर डालेंगे। स्फटिक-शिलापर बैठकर अपनी प्रियाके लिये उनकी अधीरताको सुनकर पाषाण भी पिघल गये थे। लङ्कापर चढ़ाईके पूर्व, हनुमान्‌के आनेपर सीताजीके लिये वे कितने व्याकुल-से दिखायी पड़ते थे! उनकी छोटी-छोटी बातों-को स्मरण करके रोते रहते थे। उस समय कौन नहीं समझता था, कि सीताको पाते ही वे एकदम उन्हें गलेसे लगाकर खूब

रुदन न करेंगे और उन्हें प्रेमपूर्वक अपनी अंकमें न बिठा लेंगे। किन्तु रावणके वधके अनन्तर उनका रंग ही पलट गया। सीताके सामने आनेपर उन्होंने जैसी कठोर, कड़ी और अकथनीय बातें कह डालीं, उन्हें सुनकर कौन उन्हें सहृदय और प्रेमी कह सकता है! यथार्थमें देखा जाय तो यही उनकी महानताका द्योतक है। जिसे हम प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते हैं यदि उसके परित्याग करनेका समय दैवात् आकर उपस्थित हो जाय, तो बात-की-बातमें हँसते हुए उसे त्याग देना इसीका नाम तो यथार्थ प्रेम है। जो दृढ़ताके साथ 'स्वीकार' करनेकी सामर्थ्य रखता है उसमें त्यागकी भी उतनी ही अधिक शक्ति होनी चाहिये।

भक्तोंके साथ महाप्रभुका ऐसा अपूर्व प्रेम देखकर कोई स्वप्नमें भी इस बातका अनुमान नहीं कर सकता था, कि ये एक दिन इन सबको त्यागकर भी चले जायँगे। वे भक्तोंसे हृदय खोलकर मिलते। भक्तोंके प्राणोंके साथ अपने प्राणोंको मिला देते। उनके आलिंगनमें, नृत्यमें, नगर-भ्रमणमें, ऐश्वर्यमें, भक्तोंके साथ भोजनमें सर्वत्र ओतप्रोतभावसे प्रेम-ही-प्रेम भरा रहता। विष्णुप्रिया-जी समझती थीं पतिदेव मुझसे ही अत्यधिक स्नेह करते हैं, वे मेरे प्रेमपाशमें दृढ़तासे बँधे हुए हैं। माता समझती थीं निमाई मुझे छोड़कर कहीं जा ही नहीं सकता। उसे मेरे बिना एक दिन भी तो कहीं रहना अच्छा ही नहीं लगता। दूसरेके हाथसे भोजन करनेमें उसका पेट ही नहीं भरता। जबतक मेरे हाथसे कुछ नहीं खा लेता तबतक उसकी तृप्ति ही नहीं होती। इस प्रकार

सभी प्रभुको अपने प्रेमकी रज्जुमें दृढ़ताके साथ बँधा हुआ समझते थे। किन्तु वे महापुरुष थे। उनके लिये यह सब लीला थी। उनका कौन प्रिय और कौन अप्रिय? वे तो चराचर विश्वमें अपने प्यारे प्रेमका ही दर्शन करते थे। प्रेम ही उनका आराध्य-देव था। प्राणियोंकी सकल-सूरतसे उनका अनुराग नहीं था, वे तो प्रेमके पुजारी थे। पुजारी क्या थे, प्रेमस्वरूप ही थे। उन्होंने एकदम संन्यास लेनेका निश्चय कर लिया। सभीको अपनी-अपनी भूलका अनुभव होने लगा। आजतक जिसे हम केवल अपना ही समझते थे, वह तो प्राणिमात्रका प्रिय निकला। उसपर हमारे ही समान सभी प्राणियोंका समानभावसे अधिकार है, सभी उसके द्वारा प्रेमपीयूष पाकर प्रसन्न हो सकते हैं।

महाप्रभुके संन्यास लेनेका समाचार सम्पूर्ण नवद्वीप-नगरमें फैल गया। बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगे। महाप्रभु अब भक्तोंके सहित संकीर्तनमें सम्मिलित नहीं होते थे। भक्तगण स्वयं ही मिलकर संकीर्तन करते और प्रातः-सायं प्रभुके दर्शनोंके लिये उनके घरपर आया करते थे।

जिस दिन महामहिम श्रीस्वामी केशव भारती प्रभुके घर आये थे उसी दिन प्रभुने संन्यास लेनेकी तिथि निश्चित कर ली थी। उस समय सूर्य दक्षिणायन थे। दक्षिणायन-सूर्यमें शुभ संस्कार और इस प्रकारके वैदिक कृत्य और अनुष्ठान नहीं किये जाते इसलिये प्रभु उत्तरायण-सूर्य होनेकी प्रतीक्षा करने लगे। समय बीतते कुछ देर नहीं लगती। धीरे-धीरे भक्तोंको

तथा प्रभुके सम्बन्धियोंको शोक-सागरमें डुबा देनेवाला वह समय सन्निकट आ पहुँचा। प्रभुने नित्यानन्दजीको गृह-परित्याग करनेवाली तिथिकी सूचना दे दी और उनसे आग्रहपूर्वक कह दिया—'हमारी माता, हमारे मौसा चन्द्रशेखर आचार्य, गदाधर, मुकुन्द और ब्रह्मानन्द इन पाँचोंको छोड़कर आप और किसीको भी इस बातको न बतावें।' नित्यानन्दजी तो इनके स्वरूप ही थे। उन्होंने इनकी आज्ञा शिरोधार्य की और दुखी होकर उस भाग्यहीन दिनकी प्रतीक्षा करने लगे।

महाप्रभुके लिये आजका ही दिन नवद्वीपमें अन्तिम दिन है। कल अब गौरहरि न तो निमाई पण्डित रहेंगे और न शची-पुत्र। वे अकेली विष्णुप्रियाके पति न रहकर प्राणिमात्रके प्रिय हो जायँगे। कल वे भक्तोंके ही वन्दनीय न होकर जगत्-वन्दनीय बन जायँगे। किसीको क्या पता था, कि अब नवद्वीप नदियानागरसे शून्य बन जायगा?

प्रातःकाल हुआ, प्रभु नित्यकर्मसे निवृत्त होकर भक्तोंके साथ श्रीवास पण्डितके घर चले गये। वहाँ सभी भक्त आकर एकत्रित हुए। सभीने प्रभुके साथ मिलकर संकीर्तन किया। फिर भक्तोंको साथ लेकर प्रभु गंगाकिनारे चले गये और वहाँ बहुत देरतक श्रीकृष्ण-कथाका रसास्वादन करते रहे। अनन्तर सभी भक्तों-के समूहके सहित अपने घरपर आये। न जाने उस दिन सभीके हृदयोंमें कैसी एक अपूर्व-सी प्रेरणा हुई कि उस रात्रिमें प्रभुके प्रायः सभी अन्तरंग भक्त आकर एकत्रित हो गये। खोल बेचने-

वाले श्रीधर कहींसे थोड़ा चिउरा लेकर आये और बड़े ही प्रेमसे आकर प्रभुके चरणोंमें उसे भेंट किया। अपने अकिञ्चन भक्तका अन्तिम समयमें ऐसा अपूर्व उपहार पाकर प्रभु परम प्रसन्न हुए और हँसते हुए कहने लगे—'श्रीधर! ये ऐसे सुन्दर चिउरा तुम कहाँसे ले आये?' इतना कहकर प्रभुने उन्हें माताको दिया। उसी समय एक भक्त बहुत-सा दूध ले आया। प्रभु दूधको देखते ही खिलखिलाकर हँस पड़े और प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—'श्रीधर! तुम बड़े शुभ मुहूर्तमें चिउरा लेकर चले थे, लो दूध भी आ गया।' यह कहकर प्रभुने माताको चिउराकी खीर बनानेको कहा। माताने जल्दीसे भोजन बनाया, प्रभुने भक्तोंके सहित महाभागवत श्रीधरके लाये हुए चिउरेकी खीर खायी। वही उनका नवद्वीपमें शचीमाताके हाथका अन्तिम भोजन था। भोजनके अनन्तर सभी भक्त अपने-अपने घरोंको चले गये। महाप्रभुजी भी अपने शयन-गृहमें जाकर लेट गये।

वियोगजन्य दुःखकी आशंकासे भयभीता हिरणीकी भाँति डरते-डरते विष्णुप्रियाने प्रभुके शयन-गृहमें प्रवेश किया। उनकी आँखोंमेंसे निरन्तर अश्रु बह रहे थे।

प्रभुने हँसते हुए कहा—'प्रिये! मैं तुम्हारे हँसते हुए मुख-कमलको एक बार देखना चाहता हूँ। तुम एक बार प्रसन्न होकर मेरी ओर देखो।'

विष्णुप्रियाजी चुप ही रहीं, उन्होंने प्रभुकी बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब प्रभु आग्रहके स्वरमें कहने लगे—'विष्णु-प्रिये! तुम बोलती क्यों नहीं, क्या सोच रही हो?'

आँसू पोंछते हुए विष्णुप्रियाने कहा—'प्रभो! न जाने क्यों आज मेरा दिल धड़क रहा है। मेरा हृदय आप-से-आप ही फटा-सा जाता है? पता नहीं क्या बात है?'

प्रभुने बातको टालते हुए कहा—'तुम सदा सोच करती रहती हो, उसीका यह परिणाम है। अच्छा, तुम हँस दो, देखो, अभी तुम्हारा सभी शोक-मोह दूर होता है या नहीं?'

विष्णुप्रियाजीने प्रेमपूर्ण कुछ रोषके स्वरमें कहा—'रहने भी दो! तुम तो ऐसे ही मुझे बनाया करते हो। ऐसे समयमें तो तुम्हें ही हँसी आ सकती है। मेरा तो हृदय रुदन कर रहा है। फिर कैसे हँसूँ? हँसी तो भीतरकी प्रसन्नतासे आती है।'

विष्णुप्रियाजीको पता चल गया, कि अवश्य ही पतिदेव आज ही मुझे अनाथिनी बनाकर गृह-त्याग करेंगे किन्तु उन्होंने प्रभुके सम्मुख इस बातको प्रकट नहीं किया। वे रात्रिभर प्रभुके चरणोंको दबाती रहीं। प्रभुने भी आज उन्हें बड़े ही प्रेमके साथ अनेकों बार गाढ़ालिंगन कर करके परम सुखी बना दिया। किन्तु विष्णुप्रियाको पतिके आजके इन आलिंगनोंमें विशेष सुखका अनुभव नहीं हुआ। जिस प्रकार सूलीपर चढ़नेवालेको उस समय भाँति-भाँतिकी स्वादिष्ट मिठाइयाँ रुचिकर प्रतीत नहीं होतीं,

उसी प्रकार विष्णुप्रियाको वह पतिका इतना अधिक स्नेह और अधिक पीड़ा पहुँचाने लगा ।

माताको तो पहिलेसे ही पता था, कि निमाई आज घर छोड़-कर चला जायगा, वे दरवाजेकी चौखटपर पड़ी हुई रात्रिभर आह भरती रहीं । विष्णुप्रिया भी प्रभुके पैरोंको पकड़े रात्रिभर ज्यों-की-त्यों बैठी रहीं ।

माघका महीना था, शुक्लपक्षका चन्द्रमा अस्त हो चुका था । दो घड़ी रजनी शेष थी । सम्पूर्ण नगरके नर-नारी सुखकी निद्रामें सोये हुए थे, किन्तु महाप्रभुको नींद कहाँ, वे तो संन्यास-की उमंगमें भूख-प्यास, सुख-निद्रा आदिको एकदम भुलाये हुए थे । विष्णुप्रिया उनके पैरोंको पकड़े बैठी हुई थीं । प्रभु उनसे छूटकर भाग निकलनेका सुअवसर ढूँढ़ रहे थे । भावी बड़ी प्रबल है, जो होनहार होता है, वैसे ही उसके लिये साधन भी जुट जाते हैं । रात्रिभरकी जागी हुई विष्णुप्रियाको नींद आ गयी । वह प्रभुकी शय्यापर ही उनके चरणोंमें पड़कर सो गयी । रात्रिभरकी जागी हुई थी इसलिये पड़ते ही गाढ़ निद्राने आकर उनके ऊपर अपना अधिकार जमा लिया ।

प्रभुने इसे ही बड़ा अच्छा सुअवसर समझा । बहुत ही धीरेसे प्रभुने अपने चरणोंको विष्णुप्रियाजीकी गोदमेंसे उठाया । पैरके उठाते ही विष्णुप्रियाजी कुछ हिलीं । उसी समय प्रभुने दूसरे पैरको ज्यों-का-त्यों ही उनके छातीपर रक्खा रहने दिया । थोड़ी देरमें फिर धीरे-धीरे दूसरे भी पैरको उठाया । अबके विष्णुप्रिया-

जीको कुछ भी पता नहीं चला। प्रभु बहुत ही धीरेसे शय्यापरसे नीचे उतरे। पासमें खूँटीपर टँगे हुए अपने वस्त्र पहिने और एक बार फिर अपनी प्राणप्यारीकी ओर दृष्टिपात किया। सामने एक क्षीण ज्योतिका दीपक टिमटिमा रहा था। मानों वह भी प्रभुके वियोगजन्य दुःखके कारण दुखी होकर रो रहा है। दीपका मन्द-मन्द प्रकाश विष्णुप्रियाजीके मुखपर पड़ रहा था, इससे उनके मुखकी कान्ति और भी अधिक शोभायमान हो रही थी। प्रभु इस प्रकार गाढ़ निद्रामें पड़ी हुई अपनी प्राणप्यारीके चन्द्रमाके समान खिले हुए मुखको देखकर एक बार कुछ झिझके।

वे सोचने लगे—'मैं इस अबोध बालिकाके ऊपर यह कैसा अनर्थ कर रहा हूँ। इसे बिना सूचित किये हुए, इसकी बेहोशीमें मैं इसे सदाके लिये त्याग रहा हूँ। यह मेरा काम बड़ा ही कठोर और निन्दनीय है।' फिर अपनेको सावधान करके वे सोचने लगे—'जीवोंके कल्याणके निमित्त ऐसी कठोरता मुझे करनी ही पड़ेगी। जब एक ओरसे कठोर न बनूँगा तो संसारका कल्याण कैसे होगा? मायामें बँधे हुए जीवोंको त्याग-वैराग्यका पाठ कैसे पढ़ा सकूँगा? लोग मेरे इसी कार्यसे तो त्याग-वैराग्यकी शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे।' इतना सोचकर वे मन-ही-मन विष्णुप्रियाजीको आशीर्वाद देते हुए शयन-घरसे बाहर हुए। दरवाजेपर शचीमाता बेहोश-सी पड़ी रुदन कर रही थीं। उनकी आँखोंमें भला नींद कहाँ! वे तो पुत्र-विछोहरूपी शोक-सागरमें डुबकियाँ लगा रही थीं। कभी ऊपर उछल आतीं और कभी फिर

जलमें डुबकियाँ लगाने लगतीं । प्रभुने बेहोश पड़ी हुई दुःखिनी माताके चरणोंमें मन-ही-मन प्रणाम किया । धीरेसे उनकी चरण-धूलि उठाकर मस्तकपर चढ़ायी, फिर उनकी प्रदक्षिणा की और मन-ही-मन प्रार्थना की—'हे माता ! तुमने मेरे लिये बड़े-बड़े कष्ट उठाये । मुझे खिला-पिलाकर, पढ़ा-लिखाकर इतना बड़ा किया । फिर भी मैं तेरी कुछ भी सेवा नहीं कर सका । माता ! मैं तुम्हारा जन्म-जन्मान्तरोंतक ऋणी रहूँगा, तुम्हारे ऋणसे कभी भी मुक्त न हो सकूँगा ।' इतना कहकर वे जल्दीसे दरवाजेके बाहर हुए और दौड़कर गङ्गा-किनारे पहुँचे ।

वे ही जाड़ेके दिन थे, जिन दिनों प्रभुके अग्रज विश्वरूप घर छोड़कर गये थे । वही समय था और वही घाट । उस समय नाव कहाँ मिलती । विश्वरूपजीने भी हाथोंसे तैरकर ही गङ्गाजीको पार किया था । प्रभुने भी अपने बड़े भाईके ही पथका अनुसरण करना निश्चय किया ।

उन्होंने घाटपर खड़े होकर पीछे फिरकर एक बार नवद्वीप-नगरीके अन्तिम दर्शन किये । वे हाथ जोड़कर गद्गद-कण्ठसे कहने लगे—'हे ताराओंसे भरी हुई रात्रि ! तू मेरे गृह-त्यागकी साक्षी है । ओ दशों दिशाओ ! तुम मुझे घरसे बाहर होता हुआ देख रही हो । हे धर्म ! तुम मेरी सभी चेष्टाओंको समझनेवाले हो । मैं जीवोंके कल्याणके निमित्त घर-बार छोड़ रहा हूँ । हे विश्व-ब्रह्माण्डके पालनकर्ता ! मैं अपनी वृद्धा माता और युवती पत्नीको

तुम्हारे ही सहारेपर छोड़ रहा हूँ। तुम्हारा नाम विश्वम्भर है। तुम सभी प्राणियोंका पालन करते हो और करते रहोगे। इसलिये मैं निश्चिन्त होकर जा रहा हूँ।' यह कहकर प्रभुने एक बार नवद्वीप-नगरीको और फिर भगवती भागीरथीको प्रणाम किया और जल्दीसे गङ्गाजीके शीतल जलके बहते हुए प्रवाहमें कूद पड़े और तैरकर उस पार हुए। उसी प्रकार वे गीले वस्त्रोंसे ही कटवा (कण्टक-नगर) केशव भारतीके गङ्गा-तटवाले आश्रमपर पहुँच गये।

जिस निर्दय घाटने विश्वरूप और विश्वम्भर दोनों भाइयोंको पार करके सदाके लिये नवद्वीपके नर-नारियोंसे पृथक् कर दिया वह आजतक भी नवद्वीपमें 'निर्दय घाट' के नामसे प्रसिद्ध होकर अपनी लोक-प्रसिद्ध निर्दयताका परिचय दे रहा है।

हाहाकार

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥*
(श्रीमद्भा० १० । ३० । ३९)

निद्रामें पड़ी हुई विष्णुप्रियाजीने करवट बदली । सहसा वे चौंक पड़ीं और जल्दीसे उठकर बैठ गयीं । मानों उनके ऊपर चौड़े मैदानमें बिजली गिर पड़ी हो, अथवा सोते समय किसीने उनका सर्वस्व हरण कर लिया हो । वे भूली-सी, पगली-सी, बेसुधि-सी आँखोंको मलती हुई चारों ओर देखने लगीं। उन्हें जागते हुए भी स्वप्नका-सा अनुभव होने लगा । वे अपने हाथोंसे प्रभुकी शय्याको टटोलने लगीं, किन्तु अब वहाँ था ही क्या ? शुक तो पिंजड़ा परित्याग करके वनवासी बन गया । अपने प्राणनाथको पलंगपर न पाकर विष्णुप्रियाजीने जोरोंके साथ चीत्कार मारी और 'हा नाथ ! हा प्राणप्यारे ! मुझ दुःखिनीको इस प्रकार धोखा देकर चले गये ।' यह कहते-कहते जोरोंसे नीचे

---

* भगवान्‌के रासमें सहसा अन्तर्धान हो जानेपर वियोग-दुखसे व्याकुल हुई गोपिकाएँ रुदन कर रही हैं—

हा नाथ ! हा रमण करनेवाले ! ओ हमारे प्राणोंसे भी प्यारे ! ओ महापराक्रमी ! प्यारे ! तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? तुम्हारे वियोगसे हम अत्यन्त ही दीन हैं । हम आपकी दासी हैं, हमें अपने दर्शन दो !

गिर पड़ीं और ऊपरसे गिरते ही बेसुधि हो गयीं। उनके क्रन्दन-की ध्वनि शचीमाताके कानोंमें पड़ी। उनकी उस करुण-क्रन्दनसे बेहोशी दूर हुई। वहीं पड़े-पड़े उन्होंने कहा—'बेटी! बेटी! क्या मैं सचमुच लुट गयी? क्या मेरा इकलौता बेटा मुझे धोखा देकर चला गया? क्या वह मेरी आँखोंका तारा निकलकर मुझ विधवाको इस वृद्धावस्थामें अन्धी बना गया? मेरी आँखोंके दो तारे थे। एकके निकल जानेपर सोचती थी, एक आँखसे ही काम चला लूँगी। आज तो दूसरा भी निकल गया। अब मुझ अन्धीको संसार सूना-ही-सूना दिखायी पड़ेगा। अब मुझ अन्धी-की लाठी कौन पकड़ेगा? बेटी! विष्णुप्रिया! बोलती क्यों नहीं! क्या निमाई सचमुच चला गया? विष्णुप्रिया बेहोश थीं, उनके मुखमें-से आवाज ही नहीं निकलती थी। वे सासकी बातोंको न सुनती हुई जोरोंसे रुदन करने लगीं। दुःखिनी माता उठी और लड़खड़ाती हुई प्रभुके शयन-भवनमें पहुँची। वहाँ उसने प्रभुके पलंगको सूना देखा। विष्णुप्रिया नीचे पड़ी हुई रुदन कर रही थीं। माताकी अधीरताका ठिकाना नहीं रहा। वे जोरोंसे रुदन करने लगीं—'बेटा निमाई! तू कहाँ चला गया? अरे, अपनी इस बूढ़ी माताको इस तरह धोखा मत दे। बेटा! तू कहाँ छिप गया है? मुझे अपनी सूरत तो दिखा जा। बेटा! तू रोज प्रातःकाल मुझे उठकर प्रणाम किया करता था। आज मैं कितनी देरसे खड़ी हूँ, उठकर प्रणाम क्यों नहीं करता?' इतना कहकर माता दीपकको उठाकर घरके चारों ओर देखने लगी। मानों मेरा

निमाई यहीं कहीं छिपा बैठा होगा। माता पलंगके नीचे देख रही थी। बिछौनाको बार-बार टटोलती, मानों निमाई इसीमें छिप गया। वृद्धा माताके दुःखके कारण काँपते हुए हाथोंसे दीपक नीचे गिर पड़ा और वे भी विष्णुप्रियाके पास ही बेहोश होकर गिर पड़ीं और फिर उठकर चलनेको तैयार हुईं और कहती जाती थीं—'मैं तो वहीं जाऊँगी जहाँ मेरा निमाई होगा। मैं तो अपने निमाईको ढूँढ़ूँगी वह यदि मिल गया तो उसके साथ रहूँगी, नहीं तो गङ्गाजीमें कूदकर प्राण दे दूँगी।' यह कहकर वे दरवाजेकी ओर जाने लगीं। विष्णुप्रियाजी भी अब होशमें आ गयीं और वे भी माताके वस्त्रको पकड़कर जिस प्रकार गौके पीछे बसकी बछिया चलती है, उसी प्रकार चलने लगी। वृद्धा माता द्वारपर भी नहीं पहुँचने पायी, कि बीचमें ही मूर्छित होकर गिर पड़ी।

इतनेमें ही कुछ भक्त उषा-स्नान करके प्रभुके दर्शनोंके लिये आ गये। द्वारपर माताको बेहोश पड़े देखकर भक्त समझ गये कि महाप्रभु आज जरूर चले गये। इतनेमें ही नित्यानन्द, गदाधर, मुकुन्द, चन्द्रशेखर आचार्य तथा श्रीवास आदि सभी भक्त वहाँ आ गये। माताको और विष्णुप्रियाको इस प्रकार विलाप करते देखकर भक्त उन्हें भाँति-भाँतिसे समझा-समझाकर आश्वासन देने लगे।

श्रीवासने मातासे कहा—'माता! तुम सोच मत करो। तुम्हारा निमाई तुमसे जरूर मिलेगा। तुम्हारा पुत्र इतना कठोर नहीं है।'

माता संज्ञा-शून्य-सी पड़ी हुई थी। नित्यानन्दजीने माताको अपने हाथोंसे उठाया। उनके सम्पूर्ण शरीरमें लगी हुई धूलिको अपने वस्त्रसे पोंछा और उसे धैर्य दिलाते हुए वे कहने लगे—'माता! तुम इतना शोक मत करो। हमारा हृदय फटा जाता है। हम तुम्हारे दूसरे पुत्र हैं। हम तुमसे शपथपूर्वक कहते हैं। तुम्हारा निमाई जहाँ भी कहीं होगा, वहींसे लाकर हम उसे तुमसे मिला देंगे। हम अभी जाते हैं।' नित्यानन्दजीकी बात सुनकर माताने कुछ धैर्य धारण किया। उन्होंने रोते-रोते कहा—'बेटा! मैं निमाईके बिना जीवित न रह सकूँगी। तू कहींसे भी उसे ढूँढ़कर ले आ। नहीं तो मैं विष खाकर या गङ्गाजीमें कूदकर अपने प्राणोंको परित्याग कर दूँगी।'

नित्यानन्दजीने कहा—'माँ! इस प्रकारके तुम्हारे रुदनको देखकर हमारी छाती फटती है। तुम धैर्य धरो। हम अभी जाते हैं।' यह कहकर नित्यानन्दजीने श्रीवास पण्डितको तो, माता तथा विष्णुप्रियाजीकी देख-रेखके लिये वहीं छोड़ा। वे जानते थे कि प्रभु कटवा (कण्टक-नगर) में स्वामी केशव भारतीसे संन्यास लेनेकी बात कह रहे थे, अतः नित्यानन्दजी अपने साथ वक्रेश्वर, गदाधर, मुकुन्द और चन्द्रशेखर आचार्यको लेकर गङ्गा-पार करके कटवाकी ही ओर चल पड़े*।

* आगेकी सुखद लीलाओंके लिये तीसरा खण्ड देखनेकी प्रार्थना है।

श्रीहरिः

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

(तृतीय खण्ड)

रथारूढस्याराद्धिपदवि नीलाचलपते-
रदभ्रप्रेमोर्मिस्फुरितनटनोल्लासविवशः
सहर्षं गायद्भिः परिवृततनुर्वैष्णवजनैः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ॥

लेखक—

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत् १९६१ प्रथम संस्करण ३२५०

मूल्य १) एक रुपया

सजिल्द १।) सवा रुपया

श्रीहरिः

विषय-सूची

श्रीहरिः

चित्र-सूची

श्रीहरिः

समर्पण

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

प्यारे ! इतना मुझे पता है कि सब प्रकारके परिग्रहोंका परित्याग करके एकान्त-हृदयसे तुम्हारा आराधन करते रहना ही धर्म है और संसारी वस्तुओंमें आसक्ति-बुद्धि रखकर उनका संग्रह करना ही अधर्म है, किन्तु नाथ ! मैं धर्मका पालन नहीं कर सकता, क्योंकि तुम्हारा गुलाम जो हूँ। गुलामोंका तो आजतक कोई भी धर्म नहीं सुना गया। उनका भी कोई-न-कोई धर्म अवश्य ही होता होगा, किन्तु मुझे उसका भी पता नहीं। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि जिस काममें तुमने लगा दिया उसीमें लग गया। पिछला काम अधूरा पड़ा रह गया, तो मैं क्या करूँ। तुम जानो तुम्हारा काम जाने। लो यह भी तुम्हारा काम हो गया। इसे स्वीकार करोगे ही, क्योंकि मैंने स्वेच्छासे थोड़े ही किया है। तुमने कराया, कर दिया।

श्रीहरिबाबाका बाँध
गँवा (बदायूँ)
सं० १९८९ का नव संवत्सर
बुधवार

तुम्हारा ही
प्रभुदत्त

प्राक्कथन

ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुञ्चन्त्युपभोगकाञ्चनधनान्येकान्ततो निःस्पृहाः ।
न प्राप्तानि पुरा न सम्प्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्ययः
वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम् ॥*

(श्रीभर्तृहरि० वैरा० १०८)

---

* सचमुच ब्रह्मज्ञानके कारण जिनकी बुद्धि स्वच्छ और निर्मल बन गयी है, ऐसे वैराग्यवान् विवेकी पुरुष बड़े साहसका, सबसे न किये जानेवाला कठिन काम करते हैं, जो संसारमें सर्वश्रेष्ठ समझे जानेवाले और इन्द्रियोंको अत्यन्त ही प्रिय प्रतीत होनेवाले कामिनी-काञ्चन आदि भोग्य पदार्थोंका परित्याग कर देते हैं और त्याग कर देनेपर फिर मनसे भी उनकी इच्छा नहीं करते । यथार्थमें तो वे ही धन्य हैं । अब हमारी सुनिये । पूर्व-जन्ममें कङ्गाल थे, तभी तो अबके कङ्गाल-घरमें जन्म लिया, इसलिये न तो पूर्वमें ही कुछ हमारे पास था, न अब है और न आगे ही कुछ होनेकी आशा है। क्योंकि कुछ करें तब तो आगे कुछ प्राप्तिकी आशा हो, सो करते-धरते कुछ भी नहीं । हाँ, हमारे पास एक धन है 'केवल विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छा है' आशा लगी रहती है कि सम्भव है आगे कुछ प्राप्त हो जाय । गाँठमें तो कुछ है नहीं, कोरी वाञ्छा-ही-वाञ्छा है । उस वाञ्छाको भी हम परित्याग करनेमें असमर्थ हैं। कैसी हमारी विवशता है।

गौराङ्ग महाप्रभुका जन्म, उनका बाल्य-काल, अध्ययन, अध्यापन और अध्यापकीका अन्त ये इस ग्रन्थके प्रथम भागमें वर्णित हैं। द्वितीय भागमें उनकी भक्तोंके साथ नवद्वीपमें की जानेवाली सम्पूर्ण लीलाओंका वर्णन किया गया है। नवद्वीपमें संकीर्तन करते-करते और अपनी कीर्तिके कारण लोगोंके हृदयोंको क्षुभित देखकर महाप्रभुको इन सभी बातोंसे वैराग्य हुआ। संकीर्तन कोई सांसारिक कार्य नहीं था, किन्तु फिर भी महाप्रभु अपने हृदयको विशाल बनानेके लिये नवद्वीपको तथा अपने सभी प्रिय बन्धुओंको परित्याग करनेकी बात सोचने लगे। वे जीवोंको त्यागका पाठ पढ़ाना चाहते थे। वे दिखा देना चाहते थे कि प्रभु-प्राप्तिके लिये प्यारी-से-प्यारी वस्तुका भी परित्याग करना आवश्यक है। नहीं तो उन्हें स्वयं संन्यासका क्या प्रयोजन था। अद्वैताचार्यके पूछनेपर आपने स्पष्ट ही कह दिया था—

विना सर्वत्यागं भवति भजनं नह्यसुपते-
रिति त्यागोऽस्माभिः कृत इह किमद्वैतकथया।
अयं दण्डो भूयान् प्रबलतरसो मानसपशो-
रितीवाहं दण्डग्रहणमविशेषादकरवम्॥

(चैत० च० नाट०)

आचार्यने पूछा था—'आपने यह अद्वैत-वेदान्तियोंकी भाँति संन्यास लेकर दण्ड-धारण क्यों किया है?' इसपर महाप्रभु कहते हैं—'आचार्य! संन्यास धारण करनेमें द्वैत-अद्वैतकी कौन-सी बात है। मुख्य बात तो है, अपने प्यारेके पादपद्मोंतक पहुँचना, सो यह बिना सर्वस्व त्याग किये होनेका नहीं। यही सोचकर मैं संन्यास-धर्ममें दीक्षित

हुआ हूँ। यह जो तुम दण्ड देख रहे हो, सो तो मेरी साधनावस्थाका द्योतक है। यह मन बड़ा ही चञ्चल है, जबतक साधन और नियमरूपी डण्डेसे इसे हाँकते न रहोगे, तबतक यह अपनी बदमाशियोंको नहीं छोड़नेका। इसीलिये इसे वशमें करनेके निमित्त मैंने यह दण्ड धारण किया है। दण्डके भयसे यह इधर-उधर न भाग सकेगा।'

सचमुच उन महाभागका त्याग बड़ा ही अलौकिक कार्य था। मुँहसे ऐसी बातें बक देना कि, आसक्ति छोड़कर कर्म करते जाओ, स्त्री-पुत्रोंका पालन भगवत्-सेवा समझकर करते रहो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे सदा कर्म करते रहनेकी अपेक्षा कर्मोंका त्याग करना अत्यन्त हेय है। त्याग करनेमें कौन-सी बहादुरी है 'नारि मुई घर संपत्ति नासी। मूँड़ मुँड़ाइ भये संन्यासी॥' ये बड़ी ही आसान बातें हैं। टकेभरकी जिह्वा हिलानेमें किसीका लगता ही क्या है। जिसे देखो वही जनकका दृष्टान्त देने लगता है। इन विषयोंमें आसक्त हुए महानुभावोंकी जनक महाराजकी आड़ लेकर कही हुई बातोंका उत्तर देना व्यर्थ ही है, वे तो जागते हुए भी सोनेका बहाना कर रहे हं। उन्हें जगा ही कौन सकता है। नहीं तो आसक्तिका त्याग होनेपर सांसारिक कर्म अपने-आप ही छूट जाते हैं। अच्छा, छोड़िये इस नीरस प्रसङ्गको। हमारी तो प्रार्थना परमार्थ-पथके पथिकोंसे ही है, यथार्थमें जिनका लक्ष्य शुद्ध परमार्थ है, जो त्यागी कहलाकर विषयोंके सेवन करनेके इच्छुक नहीं हैं, उन्हींसे हमारा विनय है कि आप त्याग, वैराग्य और प्रेमकी सजीव मूर्ति महाप्रभु गौराङ्गके संन्यास-धर्मपर मनोयोगके साथ विचार करें, तब आपको पता चलेगा कि परमार्थकी ओर बढ़नेवालेको कितने भारी-भारी बलिदान करने पड़ते हैं। थोड़ी देर समाहित चित्तसे महाप्रभुके त्यागकी कल्पना तो कीजिये। संसार जिसके लिये

पागल हो रहा है, ऐसी देशव्यापी प्रतिष्ठा हो, भक्तगण जिन्हें साक्षात् भगवान् मानकर पूजा-अर्चा करते हों, जिनके भोजनके लिये भाँति-भाँतिकी नित्य-नूतन वस्तुएँ बनती हों, जिनके घरमें प्रेममयी वृद्धा माता हो। त्रैलोक्यसुन्दरी, सर्वगुणसम्पन्ना, पतिको ही सर्वस्व समझनेवाली नव-यौवना पत्नी हो, इन सबका तृणकी भाँति परित्याग करके द्वार-द्वारके भिखारी बन जाना, कितना भारी त्याग है, कैसा घोर दुष्कर कर्म है। इसीसे पाठकोंको पता चलेगा कि भगवत्-प्रेममें कितना अधिक सुख होगा, जिसकी उपलब्धिके लिये इतने बड़े-बड़े सुखोंका बात-की-बातमें त्याग करके महापुरुष गृहत्यागी वनवासी बन जाते हैं। इसीलिये संन्यास-धर्मके उपासक संन्यासिचूडामणि महात्मा भर्तृहरिने रोते-रोते कहा है—

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतटे
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते॥

(भर्तृहरि० वैराग्य० १०३)

'अहा! पर्वतकी कन्दराओंमें निवास करनेवाले वे महानुभाव मनस्वी, तपस्वी, यशस्वी, त्यागी पुरुष धन्य हैं जो निरन्तर परब्रह्मकी प्रकाशमय, प्रेममय, आनन्दमय और चैतन्यमय ज्योतिका ध्यान करते रहते हैं। जिनसे किसी भी प्राणीको भय तथा संकोच नहीं होता और जो प्रभुकी स्मृतिमें सदा प्रेमाश्रु ही बहाते रहते हैं उनके उन प्रेममय अश्रुओंको भीरु हृदयवाले पक्षी निःशङ्क होकर उनकी गोदीमें बैठे हुए ऊपर चोंच करके पान करते रहते हैं और अपनी सभी प्रकारकी पिपासाको शान्त करते हैं। यथार्थ जीवन तो उन्हीं महात्माओंका बीतता है। 'हमारा जीवन कैसे बीतता है?' इस बातको न पूछिये। हम तो

पहले अपने मनोरथोंके द्वारा एक सुन्दर-सा मन्दिर बनाते हैं, फिर उस मन्दिरके समीपमें ही, मनोहर-सी एक बावड़ी खोदते हैं और बावड़ीके पासमें ही एक क्रीडा-काननकी रचना करते हैं। बस, उस कल्पनाके क्रीडा-काननमें ही कुतूहल करते-करते हमारी सम्पूर्ण आयु क्षीण हो जाती है। सारांश यही है कि भाँति-भाँतिकी मिथ्या कल्पनाओंमें ही हमारा अमूल्य समय नष्ट हो जाता है। सच्चा मनोरथ कभी भी सिद्ध नहीं होता।'

रजनीका अन्त होनेको है, सूर्यदेवके पादहीन सारथी अरुणदेव पूर्व-दिशामें उदित होकर भगवान् भुवन-भास्करके आगमनका सुखद समाचार सुना रहे हैं। पतिवियोगरूपी दुःखके स्मरणके कारण निशादेवी-का मुखमण्डल कुछ म्लान-सा होता जा रहा है। आकाशमें स्थित तारागण अपने पराभवका स्मरण करके मन-ही-मन दुखी-से हो रहे हैं। पक्षियोंके अबोध बच्चे अरुणोदयको ही सूर्योदयका समय समझकर कभी-कभी शब्द करने लगते हैं। इसपर उनके सयाने माता-पिता उन्हें फिर धीरेसे सोनेके लिये कह देते हैं। कर्मकाण्डी पण्डित नित्यकर्मोंसे शीघ्र ही निवृत्त हो जानेके लोभसे उठकर स्नान करनेकी तैयारियाँ कर रहे हैं। विषयी लोग उस सुहावने समयको ही सुखकारी समझकर सोनेका उद्योग कर रहे हैं। उसी समय महाप्रभु अपनी प्रियतमा प्यारी पत्नीके वक्षःस्थलपरसे अपने पैरोंको धीरे-धीरे उठाकर महाप्रस्थानका निश्चय करते हैं। वे एक बार अपने धर्मको स्मरण करके चलनेको तैयार हो जाते हैं, फिर सामने ही बेसुध पड़ी हुई अपनी प्यारीके भोले-भाले मुख-कमलको देखकर प्रेमके कारण खड़े हो जाते हैं। उस समयके उनके हृदयगत भावोंको व्यक्त करनेकी इस निर्जीव लेखनीमें शक्ति ही कहाँ है? यदि इन पंक्तियोंका लेखक कहीं सुचतुर चितेरा होता तो भाषाकी अपेक्षा चित्रमें उस भावको कुछ सुन्दरताके साथ व्यक्त कर सकता था।

पत्नीको सोती छोड़कर, माताको दुखी और बेसुध बनाकर, भक्तोंके ममत्वको भुलाकर महाप्रभु गङ्गाजी पार करके कटवामें श्रीकेशव भारतीके आश्रमपर पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने क्या किया इसे पाठक इस पुस्तकके प्रथम अध्यायमें ही पढ़ेंगे। यहाँ फिरसे उसे दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। उन मुरलीमनोहर मुकुन्दके चरणारविन्दोंमें इस साधनहीन मतिमन्दकी यही प्रार्थना है कि महाप्रभु गौराङ्गदेवके पद-चिह्नोंका अनुसरण करते हुए हम भी त्याग-पथके पथिक इस जीवनमें न सही तो अन्य किसी जन्ममें ही बन सकें। भगवान् वासुदेवके चरणोंमें महारानी कुन्तीके स्वरमें स्वर मिलाते हुए और इस प्रार्थनाको करते हुए हम अपने इस क्षुद्र वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥*

(महाभारत)

श्रीहरिबाबाका बाँध
गँवा (बदायूँ)
चैत्र शुक्ला १, १९८९वि०.

भक्तोंका दासानुदास—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

---

* हे नाथ! हे अच्युत! हजारों योनियोंमेंसे कर्माधीन होकर किसी भी योनिमें क्यों न जाऊँ, आपके चरणोंमें अचला भक्ति तो सदा बनी ही रहे। (यथार्थ प्रार्थना तो भक्तिकी है, हृदयमें तुम्हारी दृढ़ भक्ति होनेपर फिर योनियोंमें भ्रमण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती, किन्तु मैं योनियोंके भयसे भयभीत होकर आपके चरणोंकी शरण नहीं लेता। हृदयमें तुम्हारी भक्ति हो तो मुझे किसी भी योनिसे भय नहीं।)

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

प्यारे ! तुम्हारे चतुर्भुज, षड्भुज, अष्टभुज और सहस्रभुज आदि रूप भी होंगे, उन्हें मैं अस्वीकार नहीं करता । अस्वीकार करूँ तो तुम्हारी स्वतन्त्रतामें बाधा डालनेका एक नया अपराध मेरे ऊपर लग जायगा । इसलिये वे रूप हों या न भी हों उनसे मुझे कोई विशेष प्रयोजन नहीं । मुझे तो तुम्हारा वही किशोरावस्थाका काला कमनीय रूप, वही मन्द-मन्द मुसकानवाला मनोहर मुख, वही अरविन्दके समान खिले हुए नेत्र, वही मुरलीकी पञ्चम स्वरवाली मधुर तान और वही पीताम्बरका लटकता हुआ छोर ही अत्यन्त प्रिय है । प्यारे ! अपने इसी रूपसे तुम इस दासके मन-मन्दिरमें सदा निवास करते रहो, यही इस दीनकी एकमात्र प्रार्थना है ।

श्रीहरिः

गौरहरिका संन्यासके लिये आग्रह

कुलं च मानं च मनोरमांश्च
दारांश्च भक्तान् रुदतीं च मातरम्।
त्यक्त्वा गतः प्रेमप्रकाशनार्थं
स मे सदा गौरहरिः प्रसीदतु॥*

(प्र० द० ब्र०)

गंगापार करके प्रभु मत्त गजेन्द्रकी भाँति द्रुतगतिसे महामहिम केशव भारतीकी कुटियाके लिये कटवा-ग्रामकी ओर चले। कटवा या कण्टक-नगर गंगाजीके उस पार एक छोटा-सा ग्राम था। ग्रामसे थोड़ी दूरपर श्री-गंगाजीके ठीक किनारेपर एक बड़ा भारी वटवृक्ष था। उस वटवृक्षके ही नीचे एक कुटिया बनाकर संन्यासीप्रवर स्वामी केशव भारती निवास करते थे। भारती महाराज विरक्त और भगवद्भक्त थे। ग्रामके सभी स्त्री-

---

* जो अपने कुलको, मान-सम्मानको, सुन्दर पत्नीको, भक्तोंको और रोती हुई माताको छोड़कर संसारमें प्रेमको प्रकट करके उसके प्रकाशनके निमित्त वनवासी वैरागी बन गये ऐसे गौरहरि भगवान् हमपर प्रसन्न हों।

पुरुष उनका अत्यधिक आदर करते थे। उनकी कुटियाके नीचे ही गंगाजी-का सुन्दर घाट था। ग्रामवासी उसी घाटपर स्नान करने और जल भरने आया करते थे। भारतीकी कुटियाके चारों ओर बड़ा ही सुन्दर आमके वृक्षोंका बगीचा था।

भारतीजी अपने लिपे-पुते स्वच्छ आश्रमके चबूतरेपर धूपमें आसन बिछाये बैठे थे। चारों ओरसे आमोंके मौरकी भीनी-भीनी गन्ध आ रही थी। दूरसे ही उन्होंने प्रभुको अपने आश्रमकी ओर आते देखा। वे प्रभुकी उस उन्मत्त चालको देखकर विस्मित-से हो गये और मन-ही-मन सोचने लगे—'यह अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त युवक कौन है? इसके मुख-मण्डलपर दिव्य प्रकाश आलोकित हो रहा है। मालूम पड़ता है साक्षात् देवराज इन्द्र युवकका रूप धारण करके मेरे पास आये हैं, या ये दोनों अश्विनीकुमारोंमेंसे कोई एक हैं, अपने भाईको अपनेसे बिछुड़ा देखकर ये उन्हें ढूँढ़नेके निमित्त मेरे आश्रमकी ओर आ रहे हैं। या ये साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं, जो मुझे कृतार्थ करने और दर्शन देने इधर आ रहे हैं।' भारतीजी मन-ही-मन यह सोच ही रहे थे, कि इतनेमें ही गीले वस्त्रोंके सहित प्रभुने भूमिपर पड़कर भारतीके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। भारतीजी सम्भ्रमके साथ 'नारायण नारायण' कहने लगे।

प्रभु बहुत देरतक भारतीजीके चरणोंमें पड़े ही रहे। प्रेमके कारण उनके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो रहे थे। दोनों नेत्रोंमेंसे अश्रु बह रहे थे। लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ते हुए प्रभु जोरोंसे उसास ले रहे थे। भारतीजी-ने उन्हें उठाते हुए पूछा—'भाई, तुम कौन हो? कहाँसे आये हो? इतने व्याकुल क्यों हो रहे हो? अपने दुःखका कारण बताओ?'

भारतीजीके प्रश्नोंको सुनकर प्रभु उठकर बैठ गये और धीरे-धीरे कहने लगे—'भगवन्! आपने मुझे पहचाना नहीं? मेरा नाम

निमाई पण्डित है। मैं नवद्वीपमें रहता हूँ, आपने एक बार नवद्वीप पधारकर मेरे ऊपर कृपा की थी और मेरे यहाँ भिक्षा पाकर मुझे कृतार्थ किया था। मेरी प्रार्थनापर आपने मुझे संन्यास-दीक्षा देनेका भी वचन दिया था, अब मैं इसीलिये आपके शरणापन्न हुआ हूँ। मुझे संसार-दुःखोंसे मुक्त कीजिये। मेरा संसारी-बन्धन छिन्न-भिन्न करके मुझे संन्यासी बना दीजिये। यही मेरी आपके श्रीचरणोंमें विनम्र प्रार्थना है।'

भारतीजीको पिछली बातें स्मरण हो आयीं। निमाईका नाम सुनकर उन्होंने उनका आलिंगन किया और मन-ही-मन सोचने लगे—'हाय, इन पण्डितका कैसा सुवर्णके समान सुन्दर शरीर, कैसा अलौकिक रूप-लावण्य, प्रभुके प्रति कितना प्रगाढ़ प्रेम और कितनी भारी विद्वत्ता है, फिर भी ये मेरे पास संन्यास-दीक्षा लेने आये हैं! इन्हें मैं संन्यासी कैसे बना सकूँगा? घरमें असहाया वृद्धा माता है, उसकी यही एकमात्र सन्तान है। परम रूपवती युवती स्त्री इनके घरमें है, उसके कोई सन्तान भी नहीं, जिससे आगेके लिये वंश चल सके। ऐसी दशामें भी ये संन्यास लेने आये हैं क्या इन्हें संन्यासकी दीक्षा देकर मैं पापका भागी न बनूँगा?' यह सोचकर भारतीजी कहने लगे—'निमाई पण्डित! तुम स्वयं बुद्धिमान् हो, शास्त्रोंका मर्म तुमसे अविदित नहीं है। युवावस्थामें विषय-भोगोंसे भलीभाँति उपरति नहीं होती इसलिये इस अवस्थामें संन्यास-धर्म ग्रहण करना निषेध है। पचास वर्षकी अवस्थाके पश्चात् जब विषय-भोगोंसे विराग हो जाय तब संन्यास-आश्रमका विधान है। अतः अभी तुम्हारी संन्यास-ग्रहण करने योग्य अवस्था नहीं है। अभी तुम घरमें ही रहकर भगवत्-भजन करो। घरमें रहकर क्या भगवान्‌का भजन नहीं हो सकता। हमारा तो ऐसा विचार है, कि द्वार-द्वारसे टुकड़े माँगनेकी अपेक्षा तो घरमें ही निर्विघ्नतापूर्वक भजन हो सकता है। पेट तो कहीं

भी भरना ही होगा। रहनेको स्थान भी कहीं खोजना ही होगा। इसलिये बने-बनाये घरको ही क्यों छोड़ा जाय। न दस-बीस घरोंसे भिक्षा माँगी, एक ही जगह कर ली। इसलिये हमारी सम्मतिमें तो तुम अपने घर लौट जाओ।'

अत्यन्त ही करुणस्वरसे प्रभुने कहा—'भगवन्! आप साक्षात् ईश्वर हैं। आप शरीरधारी नारायण हैं, मुझ संसारी-गर्तमें फँसे हुए जीवका उद्धार कीजिये। आप मुझे इस तरहसे न बहकाइये। आप मुझे वचन दे चुके हैं, उस वचनका पालन कीजिये। मनुष्यकी आयु क्षणभंगुर है। पचास वर्ष किसने देखे हैं। आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, आप मुझे संसार-बन्धनसे मुक्त कर दीजिये।'

भारतीजी प्रभुकी बातका कुछ भी उत्तर न दे सके। वे थोड़ी देरके लिये चुप हो गये। इतनेमें ही नित्यानन्दजी भी चन्द्रशेखर आचार्य आदि भक्तोंके सहित भारतीजीके आश्रमपर आ पहुँचे। उन्होंने एक ओर घुटनोंमें सिर दिये हुए प्रभुको बैठे देखा। प्रभुको देखते ही वे लोग प्रेमके कारण अधीर हो उठे। सभीने भारतीजीको तथा प्रभुको श्रद्धा-भक्ति-सहित प्रणाम किया और वे भी प्रभुके पीछे एक ओर बैठ गये। श्रीपाद नित्यानन्दजीको देखकर प्रभु कहने लगे—'श्रीपाद! आप अच्छे आ गये। आचार्यके बिना संस्कारोंके कार्योंको कौन कराता। आपके आनेसे ही सम्पूर्ण कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो सकेंगे।' नित्यानन्दजीने प्रभुकी बातका कुछ उत्तर नहीं दिया। वे नीचेको दृष्टि किये चुपचाप बैठे रहे।

इतनेमें ही ग्रामके दश-पाँच आदमी भारतीजीके आश्रममें आ गये। उन्होंने देखा एक देव-तुल्य परम सुकुमार युवक एक ओर संन्यासी बननेके लिये बैठा है, उसके आसपास कई भद्रपुरुष बैठे हुए आँसू बहा रहे हैं, सामने शोकसागरमें डूबे हुए-से भारती कुछ सोच रहे हैं।

महाप्रभुके उस अद्भुत रूप-लावण्यको देखकर ग्रामवासी भौचक्के-से रह गये। उन्होंने मनुष्य-शरीरमें ऐसा अलौकिक रूप और इतना भारी तेज आजतक देखा ही नहीं था। बात-की-बातमें यह बात आसपासके सभी ग्रामोंमें फैल गयी। प्रभुके रूप, लावण्य और तेजकी ख्याति सुनकर दूर-दूरसे लोग उनके दर्शनोंके लिये आने लगे। कटवा-ग्रामके तो स्त्री-पुरुष, बूढ़े-जवान तथा बाल-बच्चे सभी भारतीके आश्रमपर आकर एकत्रित हो गये। जो स्त्रियाँ कभी भी घरसे बाहर नहीं निकलती थीं वे भी प्रभुके देवदुर्लभ दर्शनोंकी अभिलाषासे सब कुछ छोड़छाड़कर भारतीजीके आश्रमपर आ गयीं।

प्रभु एक ओर चुपचाप बैठे हुए थे। उनके काले-काले घुँघराले बाल बिना किसी नियमके स्वाभाविक रूपसे इधर-उधर छिटके हुए थे। वे अपनी स्वाभाविक दशामें प्रभुके मुखकी शोभाको और भी अत्यधिक आलोकमय बना रहे थे। प्रभुकी दोनों आँखें ऊपर चढ़ी हुई थीं। शरीरके गीले वस्त्र शरीरपर ही सूख गये थे। वे अपने एक घोंटूपर सिर रखे ऊर्ध्व-दृष्टिसे आकाशकी ओर निहार रहे थे। उनकी दोनों आँखोंकी कोरोंमेंसे निरन्तर अश्रु बह रहे थे। पीछे नित्यानन्द आदि भक्त भी चुपचाप बैठे हुए अश्रु विमोचन कर रहे थे।

नगरकी स्त्रियोंने महाप्रभुके रूपको देखा। वे उनके रूप-लावण्यको देखते ही बावली-सी हो गयीं और परस्परमें शोक प्रकट करते हुए कहने लगीं—'हाय! इनकी माता कैसे जीवित रही होगी। जिसका सर्वगुण-सम्पन्न इतना सुन्दर और सुशील इकलौता पुत्र घरसे संन्यासी होनेके लिये चला आया हो वह जननी किस प्रकार प्राण धारण कर सकती है। जब अपरिचित होनेपर हमारा ही हृदय फटा जा रहा है, तब जिसने इन्हें नौ महीने गर्भमें धारण किया होगा, उसकी तो वेदनाका अनुमान

लगाया ही नहीं जा सकता। हाय! विधाताको धिक्कार है, जो ऐसा अद्भुत रूप देकर इनकी ऐसी मति बना दी। हाय! इनकी युवती स्त्रीकी क्या दशा हुई होगी।'

वृद्धा स्त्रियाँ इनको इस प्रकार आँसू बहाते देखकर इनके समीप जाकर कहतीं—'बेटा, तुझे यह क्या सूझी है, तेरी माँकी क्या दशा होगी। तेरी दशा देखकर हमारा हृदय फटा जाता है। तू अपने घरको लौट जा। संन्यासी होनेमें क्या रखा है। जाकर माता-पिताकी सेवा कर।'

युवती स्त्रियाँ रोते-रोते कहतीं—'हाय, इनकी स्त्रीके ऊपर तो आज वज्र ही टूट पड़ा होगा। जिसका त्रैलोक्य-सुन्दर पति युवावस्थामें उसे छोड़कर संन्यासी बननेके लिये चला आया हो उस दुःखिनी नारी-के दुःखको कौन समझ सकता है। पति ही कुलवती स्त्रियोंके लिये एकमात्र आधार और आश्रय है। वह निराधार और निराश्रया युवती क्या सोच रही होगी। क्या कह-कहकर रुदन कर रही होगी।' कोई-कोई साहस करके कहतीं—'अजी, तुम अपने घरको चले जाओ, हम तुम्हारे पैर छूती हैं। तुम्हारी घरवालीकी दशाका अनुमान करके हमारी छाती फटी जाती है। तुम अभी चले जाओ।'

प्रभु उन स्त्रियोंकी बातें सुनते मुखमें तृण दबाकर तथा हाथ जोड़कर अत्यन्त ही दीन-भावसे कहते—'माताओ! तुम मुझे ऐसा आशीर्वाद दो कि मुझे कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो जाय। यह मनुष्य-जीवन क्षणभङ्गुर है। उसमें श्रीकृष्ण-भक्ति बड़ी दुर्लभ है। उससे भी दुर्लभ महात्मा और सत्पुरुषोंकी संगति है। महापुरुषोंकी संगतिसे ही जीवन सफल हो सकता है। मैं संन्यास ग्रहण करके वृन्दावनमें जाकर अपने प्यारे श्रीकृष्णको पा सकूँ, ऐसा आशीर्वाद दो।'

स्त्रियाँ इनकी ऐसी दृढ़तापूर्ण बातोंको सुनकर रोने लगतीं और इन्हें अपने निश्चयसे तनिक भी विचलित हुआ न देखकर मन-ही-मन पश्चात्ताप करती हुई अपने-अपने घरोंको लौट जातीं।

इसी प्रकार प्रभुको बैठे-ही-बैठे शाम हो गयी। किसीने भी अन्नका दाना मुखमें नहीं दिया था। सभी उसी तरह चुपचाप बैठे थे। भारती किंकर्तव्यविमूढ-से बने बैठे हुए थे। उन्हें प्रभुको संन्याससे निषेध करनेके लिये कोई युक्ति सूझती ही नहीं थी। बहुत देरतक सोचनेके पश्चात् एक बात उनकी समझमें आयी। उन्होंने सोचा—'इनके घरमें अकेली वृद्धा माता है, युवती स्त्री है, अवश्य ही ये उनसे बिना ही पूछे रात्रिमें उठकर चले आये हैं। इसलिये मैं इनसे कह दूँ, कि जबतक तुम अपने घरवालों-से अनुमति न ले आओगे, तबतक मैं संन्यास न दूँगा। इनकी माता तथा पत्नी संन्यासके लिये इन्हें अनुमति देने ही क्यों लगीं। सम्भव है इनके बहुत आग्रहपर वे सम्मति दे भी दें, तो जबतक ये सम्मति लेने घर जायँगे, तबतक मैं यहाँसे उठकर कहीं अन्यत्र चला जाऊँगा। भला, इतने सुकुमार शरीरवाले युवकोंको संन्यासकी दीक्षा देकर कौन संन्यासी लोगोंकी अप-कीर्तिका भाजन बन सकता है। इन काले-काले घुँघराले बालोंको कटवाते समय किस वीतरागी त्यागी संन्यासीका हृदय विदीर्ण न हो जायगा।' यह सब सोचकर भारतीजीने कहा—'पण्डित! मालूम पड़ता है, तुम अपनी माता तथा पत्नीसे बिना ही कहे रात्रिमें उठकर भाग आये हो। जबतक तुम उनसे आज्ञा लेकर न आओगे तबतक मैं तुम्हें संन्यास-दीक्षा नहीं दे सकता।'

प्रभुने कहा—'भगवन्! मैं माता तथा पत्नीकी अनुमति प्राप्त कर चुका हूँ।'

भारतीजीने कुछ विस्मयके साथ पूछा—'कब प्राप्त कर चुके हो?'

प्रभुने कहा—'बहुत दिन हुए तभी मैंने इस सम्बन्धकी सभी बातें बताकर उन्हें राजी कर लिया था और उनकी सम्मति लेकर ही मैं संन्यास ले रहा हूँ।'

भारतीजीने कहा—'इस तरहसे नहीं, बहुत दिनकी बातें तो भूलमें पड़ गयीं। आज तो तुम उनकी बिना ही सम्मतिके आये हो। उनकी सम्मतिके बिना मैं तुम्हें कभी भी संन्यासकी दीक्षा नहीं दूँगा।'

इतनी बातके सुनते ही प्रभु एकदम उठकर खड़े हो गये और यह कहते हुए कि—'अच्छा, लीजिये, मैं अभी उनकी सम्मति लेकर आता हूँ।' वे नवद्वीपकी ओर द्रुतगतिके साथ दौड़ने लगे। जब वे आश्रमसे थोड़ी दूर निकल गये तब भारतीजीने सोचा—'इनकी इच्छाके विरुद्ध करनेकी किसमें सामर्थ्य है। यदि इनकी ऐसी ही इच्छा है कि यह निर्दय काम मेरे ही द्वारा हो। यदि ये अपने लोक-विख्यात गुरुपदका सौभाग्य मुझे ही प्रदान करना चाहते हैं, तो मैं लाख बहाने बनाऊँ तो भी मुझे यह कार्य करना ही होगा। अच्छा जैसी नारायणकी इच्छा।' यह सोचकर उन्होंने प्रभुको आवाज दी—'पण्डित! पण्डित! लौट आओ। जैसा तुम कहोगे वैसा ही किया जायगा। तुम्हारी बातको टालनेकी किसमें सामर्थ्य है।'

इतना सुनते ही प्रभु उसी प्रकार जल्दीसे लौट आये। आकर उन्होंने भारतीजीके चरणोंमें फिरसे प्रणाम किया और मुकुन्दको कोई पद गानेके लिये कहा। मुकुन्द रुँधे हुए कण्ठसे बड़े ही करुणाके भावसे रोते-रोते पद गाने लगे। मुकुन्दके पदोंको सुनकर प्रभु श्रीकृष्ण-प्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे और मुकुन्द दत्तसे बार-बार कहने लगे—'हाँ, गाओ, गाओ। फिर क्या हुआ! अहा, राधिकाजीका वह अनुराग धन्य है।' इस प्रकार गायनके पश्चात् संकीर्तन आरम्भ हुआ। गाँवके

सैकड़ों मनुष्य आ-आकर संकीर्तनमें सम्मिलित होने लगे। गाँवसे मनुष्य खोल-करताल तथा झाँझ-मजीरा आदि बहुत-से वाद्योंको साथ ले आये थे। एक साथ बहुत-से वाद्य बजने लगे और सभी मिलकर—

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

—इस पदका कीर्तन करने लगे। प्रभु भावावेशमें आकर संकीर्तनके मध्यमें दोनों हाथ ऊपर उठाकर नृत्य करने लगे। सभी ग्रामवासी प्रभुके उस अद्भुत नृत्यको देखकर मन्त्रमुग्ध-से हो गये। भारतीजीके शरीरमें भी प्रेमके सभी सात्त्विक भावोंका उदय होने लगा और वे भी आत्म-विस्मृत होकर पागलकी भाँति संकीर्तनमें नृत्य करने लगे। तब उन्हें प्रभुकी महिमाका पता चला। वे प्रेममें छक-से गये। इस प्रकार सम्पूर्ण रात्रि इसी प्रकार कथा-कीर्तन और भगवत्-चर्चामें ही व्यतीत हुई।

संन्यास-दीक्षा

> देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
> जायासुतादिषु सदा ममतां
> पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
> वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥*
>
> (श्री० भाग० माहा० ४ । ७९)

वैराग्यमें कितना मजा है, इसे वही पुरुष जान सकता है, जिसके हृदयमें प्रभुके पादपद्मोंमें प्रीति होनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी हो, जिसे संसारी विषय-भोग काटनेके लिये दौड़ते हों और वही वैराग्यमें महान् सुखका अनुभव कर सकता है। जिसकी इन्द्रियाँ सदा विषय-भोगोंकी ही इच्छा करती रहती हों, जिसका मन सदा संसारी पदार्थोंका ही चिन्तन करता रहता हो, वह भला वैराग्यके सुखको समझ ही क्या सकता है। मन जब संसारी भोगोंसे विरक्त होकर सदा महान् त्यागके लिये तड़पता रहे, जिसका वैराग्य पानीके बुद्‌बुदोंके समान क्षणिक न होकर स्थायी हो वही त्यागके असली सुखका अनुभव करनेका सर्वोत्तम अधिकारी है। जो जोशमें आकर क्षणिक वैराग्यके कारण त्याग-पथका अनुसरण करने लगते हैं, उनका अन्तमें पतन हो जाता है, इसीलिये तो कहा है—'त्याग वैराग्यके बिना टिक ही नहीं सकता। इसलिये जो वैराग्य-राग-रसिक नहीं बना वह

---

* अस्थि, मांस और रुधिर आदि पदार्थोंसे बने हुए इस शरीरके प्रति अहंताको त्याग दो, स्त्री-पुत्र तथा कुटुम्ब-परिवारवालोंमें ममता मत रक्खो। इस क्षणभङ्गुर असार संसारकी वास्तविक स्थितिको समझते हुए वैराग्यसे प्रेम करनेवाले बन सदा भक्तिनिष्ठ होकर ही जीवनको बिताओ।

भगवत्-राग-रसका पूर्ण रसिया भक्तिनिष्ठ भागवत बन ही नहीं सकता। हृदय त्यागके लिये इस प्रकार अकुलाता रहे, जिस प्रकार जलमें बहुत देर डुबकी लगाये रहनेपर प्राण श्वास लेनेके लिये अकुलाने लगते हैं।

महाप्रभुको संन्यास-दीक्षा देनेके लिये भारती महाराज राजी हो गये। यह देखकर प्रभुकी प्रसन्नताका पारावार नहीं रहा। वे प्रेममें बेसुध बने हुए सम्पूर्ण रात्रि भगवन्नामका कीर्तन करते रहे और आनन्दके उल्लासमें आसनसे उठ-उठकर पागलकी तरह नृत्य करते रहे। जिस प्रकार नवागत वधूसे मिलनेके लिये अनुरागी युवक बेचैनीके साथ रात्रि होनेकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार महाप्रभु संन्यास-धर्ममें दीक्षित होनेके लिये उस रात्रिके अन्त होनेकी प्रतीक्षा करते रहे। उस रात्रिमें प्रभुको क्षणभरके लिये भी निद्रा नहीं आयी। निरन्तर संकीर्तन करते रहनेके कारण प्रभुके नेत्र कुछ आप-से-आप ही मुँदने-से लगे, इतनेमें ही आम्रकी डालोंपर बैठे हुए पक्षियोंने अपने कोमल कण्ठोंसे भाँति-भाँतिके स्वरोंमें गायन आरम्भ किया। मानो वे महाप्रभुके संन्यास ग्रहण करनेके उपलक्ष्यमें पहलेसे ही मंगलाचरण कर रहे हों।

पक्षियोंके कलरवको सुनकर प्रभुकी तन्द्रा दूर हुई और वे आसनपरसे उठकर बैठ गये। पासमें ही बेसुध पड़े हुए आचार्यरत्न, नित्यानन्द आदिको प्रभुने जगाया। सबके जग जानेपर प्रभु नित्यकर्मोंसे निवृत्त हुए। गंगाजीमें स्नान करनेके निमित्त अपने सभी साथियोंके सहित प्रभुने अपने भावी गुरुदेवके चरण-कमलोंमें प्रणाम किया और बड़ी ही नम्रतासे दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए उनसे निवेदन किया—'भगवन्! मैं उपस्थित हूँ, अब आज्ञा दीजिये मुझे क्या-क्या करना होगा।'

कुछ विवशता-सी प्रकट करते हुए भारतीजीने कहा—'अब संन्यास-दीक्षाके निमित्त जिन-जिन सामग्रियोंकी आवश्यकता हो, उन्हें

एकत्रित करना चाहिये। इसका प्रबन्ध मैं अभी किये देता हूँ।' यह कहकर उन्होंने एक आदमीको सब सामान लानेके निमित्त कटवा-के लिये भेजा।

कण्टक-नगर-निवासी नर-नारियोंको कलतक यही पता था कि भारतीजी उस युवकको संन्यास-दीक्षा देनेके लिये कभी सहमत न होंगे, किन्तु आज जब प्रातः ही उन लोगोंने यह समाचार सुना कि भारती तो उस ब्राह्मण युवकको संन्यासी बनानेके लिये राजी हो गये और आज ही उसे शिखा-सूत्रसे रहित करके द्वार-द्वारसे भिक्षा माँगनेवाला गृह-त्यागी विरागी बना देंगे, तब तो उनके दुःखका ठिकाना नहीं रहा। न जाने उन ग्राम-वासियोंको प्रभुके प्रति दर्शनमात्रसे ही क्यों ममता हो गयी थी। वे सभी प्रभुको अपना घरका-सा सगा सम्बन्धी ही समझने लगे। बात-की-बातमें बहुत-से स्त्री-पुरुष आश्रममें आकर एकत्रित हो गये। स्त्रियाँ एक ओर खड़ी होकर आँसू बहा रही थीं। पुरुष आपसमें मिलकर भाँति-भाँतिकी बातें कर रहे थे।

कोई तो कहता—'अजी, इस युवकको ही समझाना चाहिये। जैसे बने, समझा-बुझाकर इसे इसकी माताके समीप पहुँचा आना चाहिये।' इसपर दूसरा कहता—'वह समझे तब तो समझावें। जब उसके सगे-सम्बन्धी ही उसे नहीं समझा सके, तो हम-तुम तो भला समझा ही क्या सकते हैं।'

इतनेहीमें एक बूढ़ा बोल उठा—'अजी, हम सब इतने आदमी हैं, संन्यासका कार्य ही न होने देंगे, बस निबट गया किस्सा।'

इसपर किसी विचारवान्ने कहा—'भाई! यह कैसे हो सकता है। हम ऐसे शुभ काममें जबरदस्ती कैसे कर सकते हैं। ऐसे पुण्य-कामोंमें

यदि कुछ सहायता न बन सके तो इस तरह विघ्न करना तो ठीक नहीं है। हमलोग मुँहसे ही समझा सकते हैं। जबरदस्ती करना हमारा धर्म नहीं।'

इसपर एक उद्धत स्वभावका युवक जोरोंसे बोल उठा—'अजी, धर्म गया ऐसी-तैसीमें। ऐसे धर्ममें तो तेल डालकर आग लगा देनी चाहिये। बने हैं, कहींके धर्मात्मा। यदि ऐसी ही बात है, तो तुम ही क्यों नहीं संन्यास ले लेते। क्यों दिनभर यह ला, वह ला, इसे रख उसे उठा करते रहते हो।'

'औरोंको बुढ़िया सिख-बुधि देय, अपनी खाट भीतरी लेय।'

'तुम अपने बेटा-बेटियोंको छोड़कर संन्यासी हो जाओ तब तो हम भी जानें।' इतना कहकर वह लोगोंकी ओर देखता हुआ उसी आवेशके साथ कहने लगा—'देखो भाई, इन्हें बकने दो, इनकी तो बुद्धि सठिया गयी है। भला, जिसके घरमें युवती स्त्री हो, दूसरी सन्तानसे रहित बूढ़ी विधवा माता हो, ऐसे चौबीस वर्षके नवयुवकको घर-घरका भिखारी बना देना किस धर्म-शास्त्रमें लिखा होगा। यदि किसीमें लिखा भी हो तो बाबा! हम ऐसे धर्म-शास्त्रको दूरसे ही दण्डवत् करते हैं। ऐसा धर्म-शास्त्र इन बाबाको ही मुबारक हो। ये अपने बड़े लड़केको संन्यासी बना दें या इनकी अवस्था है, ये ही बन जायँ। हम अपनी आँखोंके सामने तो इस ब्राह्मण-कुमारको शिखा-सूत्र त्यागकर गेरुए रंगके वस्त्र न पहनने देंगे। भारती महाराज यदि सीधी तरह मान जायँ तब तो ठीक ही है, नहीं तो भारतीजीका गला दबाकर तो मैं इन्हें गाँवसे बाहर कर आऊँगा और आपलोग नावमें बिठाकर इस युवकको इसके घरपर पहुँचा आवें। भारतीको मना लेनेका ठेका तो मैं अपने जिम्मे लेता हूँ।'

उस युवककी ऐसी जोशपूर्ण बातें सुनकर सुननेवालोंमेंसे बहुतोंको जोश आ गया और वे 'ठीक है, ठीक है, ऐसा ही करना चाहिये।' ऐसा

कह-कहकर उसकी बातोंका समर्थन करने लगे। इसपर उसी विचारवान् वृद्धने कहा—'भाई, ऐसा करनेसे काम न चलेगा। यदि हम अपनी कमजोरीसे धर्म न कर सकें तो क्या उसे दूसरोंको भी न करने दें। यदि अपने भाग्य-दोषसे हम नकटे हों तो दूसरेकी नाकको भी न देख सकें। ये सब जोशकी बातें हैं। हमलोग इतना ही कर सकते हैं कि भारतीजीको समझा-बुझाकर दीक्षा देनेसे रोक दें।' वृद्धकी यह बात सबको पसन्द आयी और सभी मिलकर भारतीजीके पास पहुँचे। सभी भारतीजीको प्रणाम करके बैठ गये। दूसरी ओर महाप्रभु नीचेको सिर किये हुए बैठे थे, उनके समीपमें ही चन्द्रशेखर आचार्य तथा नित्यानन्द-जी आदि एक पुरानी-सी फटी चटाईपर बैठे थे। भारतीके समीप बैठकर लोग परस्पर एक-दूसरेके मुखकी ओर देखने लगे। सब लोगोंके अभिप्रायको जानकर उसी विचारवान् वृद्ध पुरुषने हाथ जोड़े हुए कहा—'स्वामीजी महाराज! हमलोग आपसे कुछ निवेदन करना चाहते हैं।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए जल्दीसे भारतीजी महाराज बोल उठे—'हाँ, हाँ, कहो, जरूर कहो। जो कहना चाहते हो, निस्संकोच-भावसे कह डालो।'

वृद्धने कहा—'महाराज, आप सब कुछ जानते हैं, आपसे कोई बात छिपी थोड़े ही है। हमें इन ब्राह्मण-कुमारके ऊपर बड़ी दया आ रही है। इनकी घरमें वृद्धा माता है, युवती स्त्री है, घरपर दूसरा कोई आदमी नहीं। उनके निर्वाहके लिये कोई बँधी हुई वृत्ति नहीं। इनकी स्त्रीके अभीतक कोई सन्तान नहीं। ऐसी अवस्थामें भी ये आवेशमें आकर संन्यास ले रहे हैं, इससे हम सबोंको बड़ा दुःख हो रहा है। ये सभी बातें हमने इनके सम्बन्धियोंके ही मुखसे सुनी हैं। आपसे भी ये

बातें छिपी न होंगी। इसलिये हमारी यही प्रार्थना है, कि ये चाहे कितना भी आग्रह करें आप इन्हें संन्यास-दीक्षा कभी न दें।'

उन सब लोगोंकी बातें सुनकर भारतीजीने बड़े ही दुःखके साथ विवशता-सी प्रकट करते हुए कहा—'भाइयो! तुमने जितनी बातें कही हैं, वे सब मुझे पहलेसे ही मालूम हैं। मैं स्वयं इन्हें संन्यास देनेके पक्षमें नहीं हूँ और न मैं अपनी राजीसे इन्हें दीक्षा दे रहा हूँ। एक तो इनकी इच्छाको टाल देनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं। दूसरे इन्हें कोई धर्मका तत्त्व समझा ही नहीं सकता। ये स्वयं बड़े भारी पण्डित हैं, यदि कोई मूर्ख होता, तो आपलोग सन्देह भी कर सकते थे कि मैंने बहका दिया हो। ये धर्माधर्मके तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं। गृहस्थीमें रहते हुए भी वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए ये वेदोंमें बताये हुए कर्मोंके द्वारा अपने धर्मका आचरण कर सकते हैं। किन्तु अब तो ये महात्यागकी दीक्षाके ही लिये तुले हुए हैं। मेरी शक्तिके बाहरकी बात है। हाँ, आपलोग स्वयं इन्हें समझावें, यदि ये आपलोगोंकी बात मानकर घर लौटनेको राजी हो जायँगे तो मुझे बड़ी भारी प्रसन्नता होगी। आपलोग इस बातको तो हृदयसे निकाल ही दीजिये कि मैं स्वयं इन्हें दीक्षा दे रहा हूँ। यह देखो, इनके सामने जो ये आचार्य बैठे हुए हैं ये इनके पिताके समान सगे मौसा होते हैं, जब ये ही इन्हें न समझा सके और उलटे इनकी आज्ञानुसार सभी संन्यासके कर्मोंको करानेके लिये तैयार बैठे हैं, तो फिर मेरी-तुम्हारी तो सामर्थ्य ही क्या है?'

भारतीजीके मुखसे ऐसी युक्तियुक्त बातें सुनकर सभी प्रभुके मुखकी ओर कातर-दृष्टिसे निहारने लगे। बहुत-से पुरुष तो प्रभुकी ऐसी दशा देखकर रो रहे थे। प्रभुने उन सभी ग्राम-वासियोंको अपने स्नेहके कारण दुखी देखकर बड़ी ही कातर-वाणीमें कहा—'भाइयो, आप मेरे आत्मीय हैं,

सखा हैं, बन्धु हैं। आपका मेरे ऊपर इतना अधिक स्नेह है, यह सोचकर मेरा हृदय गद्‌गद हो उठा है। आपलोग जो कह रहे हैं, उन सभी बातोंको मैं स्वयं समझ रहा हूँ, किन्तु भाइयो! मैं मजबूर हूँ, मैं अब अपने वशमें नहीं हूँ। श्रीकृष्ण मुझे पकड़कर ले आये हैं। आप सभी भाई ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने प्यारे श्रीकृष्णको पा सकूँ। मैं वृन्दावनमें जाऊँगा, व्रज-वासियोंके घरोंसे टुकड़े माँगकर खाऊँगा। वृन्दावनके बाहर कदम्बके वृक्षोंके नीचे वास करूँगा। यमुनाजीका सुन्दर श्याम रंगवाला स्वच्छ जल पीऊँगा और अहर्निश श्रीकृष्णके सुमधुर नामोंका संकीर्तन करूँगा। जबतक मेरे प्राणप्यारे श्रीकृष्ण न मिलेंगे तबतक मैं सुखी नहीं हो सकता। मुझे शान्ति नहीं मिल सकती। श्रीकृष्ण-विरहमें मेरा हृदय जल रहा है, वह श्रीकृष्णके सुन्दर, शीतल सम्मिलन-सुखसे ही शान्त हो सकेगा। आप सभी एक बार हृदयसे मुझे आशीर्वाद दें।' यह कहते-कहते प्रभु जोरोंसे भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करते-करते बड़े ही करुण स्वरसे क्रन्दन करने लगे। सभी मनुष्य मन्त्रमुग्ध-से बन गये। आगे और किसीको कुछ कहनेका साहस ही नहीं हुआ।

जब लोगोंने देखा कि महाप्रभु किसी प्रकार भी बिना संन्यास लिये नहीं मानेंगे, तो सभीने उनके इस शुभ काममें सहायता करनेका निश्चय किया। भारतीजीसे पूछकर कोई तो आस-पासके संन्यासियोंको बुलाने चला गया। कोई पूजनकी सामग्रीके ही लिये दौड़ा गया। कोई जल्दीसे केला और आम्र-पल्लव ही ले आया। कोई दूधकी हाँडी ही उठा लाया। कोई बहुत-सी मिठाई ही ले आया। इस प्रकार बात-की-बातमें ही भारतीजीका सम्पूर्ण आश्रम खाद्य पदार्थोंसे तथा पूजनकी सामग्रीसे भर गया। जिसके घरमें जो भी चीज थी, वह उसीको लेकर आश्रमपर आ पहुँचा। एक ओर हलवाई भण्डारेके लिये भोज्य पदार्थ बनाने लगा और दूसरी ओर
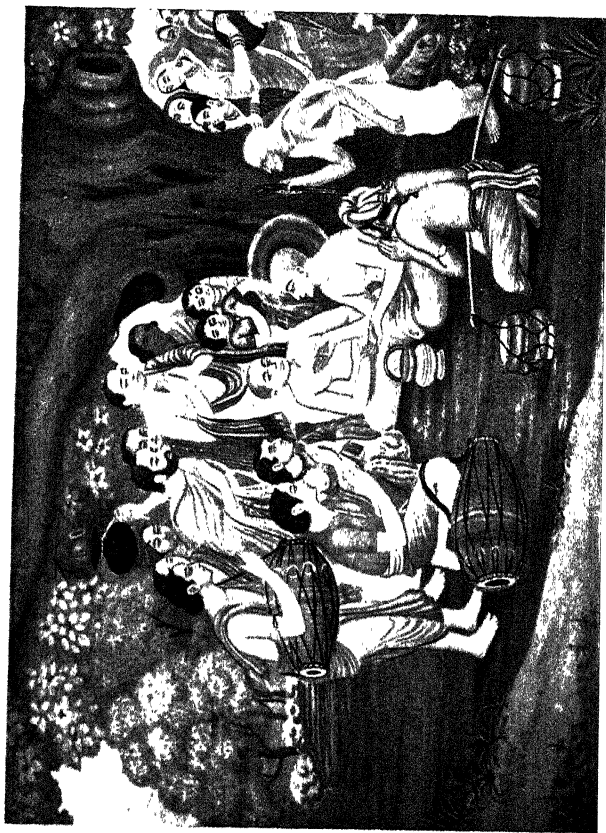
संन्यासी और पण्डित मिलकर संन्यासकी दीक्षाके निमित्त वेदी आदि बनाने लगे।

आश्रमके सामने आम्रके सुन्दर बगीचेमें हवनकी वेदियाँ बनायी गयीं। वे रोली, हल्दी, चूना तथा लाल, पीले, हरे आदि विविध प्रकारके रंगोंसे चित्रित की गयीं। स्थान-स्थानपर कदली-स्तम्भ गाड़े गये। प्रभुने सभी कर्म करनेके निमित्त पं० चन्द्रशेखर आचार्यरत्नको अपना प्रतिनिधि बनाया। आचार्यरत्नने डबडबाई आँखोंसे बड़े ही कष्टके साथ विवश होकर प्रभुकी इस कठोर आज्ञाका भी पालन किया। महाप्रभुने गंगाजीमें स्नान करके पहले देवता और ऋषियोंको तृप्त किया फिर अपने पितरोंको शास्त्र-मर्यादाके अनुसार श्राद्ध-तर्पणद्वारा सन्तुष्ट किया। प्रभुने प्रत्यक्ष देखा कि पितृलोकसे उनके पिता-पितामह आदि पूर्वजोंने स्वयं आकर उनके दिये हुए पिण्डोंको ग्रहण किया और प्रसन्नता प्रकट करते हुए उन्हें आशीर्वाद दिया।

वेदीके चारों ओर सुन्दर-सुन्दर अनेकों याग-वृक्षोंकी समिधाएँ, भाँति-भाँतिके सुगन्धित पुष्प, मालाएँ, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, पुङ्गीफल, नारिकेल, ताम्बूल, कई प्रकारके मेवे, तिल, जौ, चावल, घृत आदि हवनकी सामग्री, कुश, दूर्वा, घट, सकोरे आदि सभी सामान फैले हुए रखे थे। वेदीको घेरे हुए बहुत-से ऋत्विज् ब्राह्मण और संन्यासी बैठे हुए थे। इतनेमें ही एक आदमी हरिदास नामके नापितको साथ लिये हुए आश्रमपर आ पहुँचा। हरिदासको देखते ही भारतीजी जल्दीसे कहने लगे—'बड़ा अतिकाल हो गया है, अभी बहुत-सा कृत्य शेष है, आप जल्दीसे क्षौर करा लीजिये।'

प्रभु वेदीके निकटसे उठकर एक ओर चटाईपर क्षौर करानेके लिये बैठे। हरिदास नापित भी पासमें ही अपनी पेटीको रखकर बैठ गया। हरिदास वैसे तो जातिका नापित था, किन्तु उसका कटवा ग्राममें बड़ा

भारी प्रभाव था। वह पहलेसे ही भगवत्-भक्त था और सभी नाइयोंका पञ्च था। नाइयोंकी बड़ी-बड़ी पञ्चायतोंमें उसे ही निर्णय करनेके लिये बुलाया जाता और सभी लोग उसकी बातोंको मानते थे।

नापितने पहले तो एक बार सजे हुए सम्पूर्ण आश्रमकी ओर देखा। फिर संन्यासी और ब्राह्मणोंसे घिरी हुई वेदीकी ओर उसने दृष्टि डाली और फिर बड़े ही ध्यानसे महाप्रभुके मुख-कमलकी ओर निहारने लगा। महाप्रभुके दर्शनसे उसकी तृप्ति ही नहीं होती थी, वह ज्यों-ज्यों प्रभुकी मनोहर मूर्तिको देखता त्यों-ही-त्यों उसका हृदय प्रभुकी ओर अत्यधिक आकर्षित होता जाता था। थोड़ी देरतक वह इसी प्रकार टकटकी लगाये अविचलभावसे प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारता रहा। जब प्रभुने देखा यह तो काठकी मूर्ति ही बन गया तब आप उसे सम्बोधन करके बोले—'भाई, देर क्यों करते हो? विलम्ब हो रहा है। जल्दी कार्य करो।'

नापितने कुछ अन्यमनस्क भावसे कहा—'क्या करूँ महाराज?'

प्रभुने कहा—'क्षौर करो और क्या करते, इसीलिये तो तुम्हें बुलाया है?'

नापितने कहा—'आपके बाल तो बहुत बड़े-बड़े हैं; मालूम पड़ता है आप तो बालोंको बनवाते ही नहीं?'

प्रभुने कहा—'यह तो ठीक है, किन्तु संन्यासके समय सम्पूर्ण बालोंको बनवानेका शास्त्रीय विधान है?'

नापितने कहा—'तो महाराजजी! साफ बात है, आप चाहे बुरा मानिये या भला। मुझसे यह निर्दय काम कभी न होगा। आप आज्ञा करें तो मैं अपने छुरेसे अपने प्रिय पुत्रका वध कर सकता हूँ किन्तु इन काले-काले, घुँघराले बालोंको काटनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं। प्रभो! इन रेशमके-से लच्छेदार केशोंके ऊपर मेरा छुरा नहीं चलेगा। वह फिसल जायगा। यह काम मेरी शक्तिसे बाहर है। कटवा ग्राममें और भी

बहुत-से नाई रहते हैं उनमेंसे किसीको बुला लीजिये । मुझसे इस काम-की स्वप्नमें भी आशा न रखिये ।'

प्रभुने अधीरता प्रकट करते हुए कहा—'हरिदास ! तुम मेरे इस शुभ कार्यमें रोड़े मत अटकाओ । मैं श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये व्याकुल हो रहा हूँ, तुम मेरे इस काममें सहायक बनकर अक्षय सुखके भागी बनो । मेरे इस काममें सहायता करनेसे तुम्हारा कल्याण होगा । भगवान् तुम्हें यथेच्छ धन-सम्पत्ति प्रदान करेंगे और मेरे आशीर्वादसे तुम सदा सुखी बने रहोगे ।'

हरिदास नापितने सूखी हँसी हँसकर कहा—'धन तो मेरे है नहीं, सन्तान चाहे मेरी आज ही मर जायँ और मेरे सम्पूर्ण शरीरमें चाहे गलित कुष्ठ ही क्यों न हो जाय । प्रभो ! मुझसे यह काम नहीं होनेका । धन, सम्पत्ति और स्वर्गका लोभ देकर आप किसी औरको बहका सकते हैं, मुझे इनकी इच्छा नहीं । आप नगरसे दूसरा नापित बुला क्यों नहीं लेते ?'

प्रभुने कहा—'हरिदास ! बिना मुण्डन-संस्कारके संन्यास-कर्म सम्पन्न ही नहीं हो सकता । संन्यास-कर्ममें तुम्हीं तो एक प्रधान साक्षी हो । तुम मुझ दीन-हीन दुखी कंगालपर दया क्यों नहीं करते ? मेरे प्राण श्री-कृष्णके लिये तड़प रहे हैं । तुम इस प्रकार मुझे निराश कर रहे हो । भैया ! देखो, मैं अपनी धर्मपत्नीसे अनुमति ले आया हूँ, मेरी माताने मुझे संन्यासी होनेकी आज्ञा दे दी है । मेरे पितृतुल्य पूज्य मौसा आचार्यरत्न स्वयं अपने हाथोंसे संन्यासके कृत्य करा रहे हैं । पूज्यपाद गुरुवर भारतीजीने भी मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली है । अब तुम क्यों मेरे इस शुभ कार्यमें विघ्न उपस्थित करते हो ? तुम मुझे संन्यासी होनेसे क्यों रोकते हो ?'

नापितने कहा—'प्रभो ! मैं आपको कब रोकता हूँ । आप भले ही संन्यासी बन जाइये, किन्तु मेरा कथन इतना ही है, कि मुझसे यह पाप-कर्म नहीं हो सकता । किसी दूसरे नापितसे आप करा सकते हैं ।'

प्रभुने कहा—'यह बात नहीं है। हरिदास ! यह काम तुम्हारे ही द्वारा होगा। तुम्हें जो भय हो उसे मुझसे कहो।'

आँखोंमें आँसू भरे हुए नापितने कहा—'सबसे बड़ा भय तो मुझे इन इतने सुन्दर घुँघराले बालोंको सिरसे पृथक् करनेमें ही हो रहा है। दूसरे मैं इसमें अपने धर्मकी भी प्रत्यक्ष क्षति देख रहा हूँ। जिस छुरेसे आपके पवित्र बालोंका मुण्डन करूँगा, उसे ही फिर सर्वसाधारण लोगों-के सिरोंसे कैसे छुवाऊँगा ? जिस हाथसे आपके सिरका स्पर्श करूँगा, उससे फिर सब किसीकी खोपड़ी नहीं छू सकता। बाल बनाकर ही मैं अपने परिवारका भरण-पोषण करता हूँ, फिर मेरा काम किस प्रकार चलेगा ?'

प्रभुने कहा—'हरिदास ! तुम आजसे इस नापितपनेके कार्यको छोड़कर और कोई दूसरा छोटा-मोटा रोजगार कर लेना। मेरे इस संन्यासके प्रधान कार्यमें तुम्हें ही सहायक बनना पड़ेगा।'

अबतक तो नापित अपने आपको रोके हुए था, किन्तु अब उससे नहीं रहा गया। वह जोरोंके साथ रुदन करने लगा। रोते-रोते वह कहने लगा—'प्रभो ! आप यह तो मेरी गर्दनपर छुरी चला रहे हैं। हाय ! इन सुन्दर केशोंको मैं आपके सिरसे किस प्रकार अलग कर सकूँगा। प्रभो ! मुझे क्षमा कीजिये, मैं इस कामको करनेमें एकदम असमर्थ हूँ।'

प्रभुने जब देखा कि यह तो किसी भी तरहसे राजी नहीं होता, तब उन्होंने अपने ऐश्वर्यसे काम लिया और उसे क्षौर करनेके लिये आज्ञा देते हुए कहा—'हरिदास ! अब देर करनेका काम नहीं है, जल्दीसे क्षौर करो।'

हरिदास अब विवश था, उसने काँपते हुए हाथोंसे प्रभुके चिकने और घुँघराले बालोंको स्पर्श किया। वह अश्रु बहाता जाता था और क्षौर करता जाता था। कभी क्षौर करते-करते ही रुक जाता और जोरोंसे भगवन्-

नामोंको उच्चारण करता हुआ रोने लगता। जब प्रभु आग्रहपूर्वक उसे समझाते तब फिर करने लगता। थोड़ी देरके पश्चात् फिर उठकर नृत्य करने लगता। इस प्रकार क्षौर करते-करते कभी गाता, कभी नाचता, कभी रोता और कभी हँसता। इस प्रकार कहीं सायंकालतक वह महाप्रभुके क्षौर-कर्मको कर सका।

क्षौर-कर्म समाप्त हो जानेपर प्रभुने हरिदास नापितका प्रेमके सहित गाढालिंगन किया। प्रभुका आलिंगन पाते ही वह एकदम बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और बहुत देरतक वह चेतनाशून्य पुरुषकी भाँति पड़ा रहा। थोड़ी देरमें होश आनेपर वह उठा और उसने क्षौर करनेका अपना सभी सामान उसी समय कलिमलहारिणी भगवती भागीरथीके प्रवाहमें प्रवाहित कर दिया और जोरोंके साथ हरिध्वनि करने लगा। इस प्रकार थोड़ी देर ही प्रभुका संसर्ग होनेसे वह महाभागवत नापित सदाके लिये अमर बन गया। आज भी कटवाके निकट 'मधुमोदक' नामसे उन मुँड़े हुए केशोंकी और उस परम भाग्यशाली नापितकी समाधियाँ लोगों-को त्याग, वैराग्य और प्रेमका पाठ पढ़ाती हुई उस हरिदासके अपूर्व अनुरागकी घोषणा कर रही हैं। गौर-भक्त उन समाधियोंके दर्शनोंसे अपने नेत्रोंको सफल करते हैं और वहाँकी पावन धूलिको अपने मस्तकपर चढ़ाते हुए उस घटनाके स्मरणसे रोते-रोते पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं। धन्य हैं। तभी तो कहा है—

पारसमें अरु संतमें, संत अधिक कर मान।
यह लोहा सुबरन करे, वह करे आप समान॥

महाप्रभु गौराङ्गके गुणोंके साथ हरिदासकी अहैतुकी भक्ति भी अमर हो गयी। गौर-भक्तोंमें हरिदास भी पूज्य बन गया।

श्रीकृष्ण-चैतन्य

वैराग्यविद्यानिजभक्तियोग-
शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी
कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये ॥*
(चै० चन्द्रो० ना० ६।७४)

संन्यासके मानी हैं अग्निमय जीवन। पिछले जीवनकी सभी बातोंको ज्ञानाग्निमें जलाकर स्वयं अग्निमय बन जाना—यही इस महान् व्रतका आदर्श है। संसारकी एकदम उपेक्षा कर दो, जीवमात्रमें मैत्रीके भाव रखो और सम्पूर्ण संसारी सम्बन्धों और परिग्रहोंका परित्याग करके भगवन्नाम-निष्ठ होकर वैराग्यरागरसिक बन जाओ। संसारी सभी बातोंको हृदयसे निकालकर फेंक दो। सत्त्वगुणके स्वरूप सफेद वस्त्रोंका भी परित्याग कर दो और रज, तम, सत्त्वसे भी ऊपर उठकर त्रिगुणातीत बनकर महान्

* जिस पुराणपुरुषने जीवोंको अपनी अहैतुकी भक्ति और वैराग्य-विद्या आदि सिखानेके निमित्त 'श्रीकृष्ण-चैतन्य' नामवाला शरीर धारण किया है उन कृपाके सागर श्रीचैतन्यदेवकी हम शरणमें जाते हैं।

सत्त्वमें सदा स्थिर रहो। इसीलिये संन्यासीके वस्त्र अग्निवर्णके होते हैं। क्योंकि उसने जीवित रहनेपर भी यह शरीर अग्निको सौंप दिया है। वह 'नारायण' के अतिरिक्त किसी दूसरेको देखता ही नहीं है। इसीलिये संन्यासके समय पूर्वाश्रमके नामको भी त्याग देते हैं और गुरुदत्त महा-प्रकाशरूपी नवीन नामसे इस शरीरका संकेत करते हैं। वास्तवमें तो संन्यासी नामरूपसे रहित ही बन जाता है।

महाप्रभुका क्षौर-कर्म समाप्त हुआ। अब वे शिखासूत्रहीन हो गये। क्षौर हो जानेके पश्चात् प्रभुने सुरसरिके शीतल जलमें घुसकर स्नान किया और वस्त्र बदले हुए वे वेदीके समीप आ गये। हाथ जोड़े हुए अति दीनभावसे वे भारतीजीके सम्मुख बैठ गये। भारतीजीने विजयाहवन आदि सभी संन्यासोचित कर्म कराकर प्रभुको मन्त्र-दीक्षा देनेका विचार किया। हाथ जोड़े हुए विनीतभावसे प्रभुने संन्यास-मन्त्र ग्रहण करनेकी जिज्ञासा की। भारतीजीने इन्हें अपने समीप बैठ जानेके लिये कहा। गुरुदेवकी आज्ञानुसार प्रभु उनके समीप बैठ गये।

मन्त्र देनेमें भारतीजी कुछ आगा-पीछा-सा करने लगे। तब महाप्रभुने उत्सुकता प्रकट करते हुए पूछा—'भगवन्! मैंने ऐसा सुना है, कि संन्यासके मन्त्रको किसीके सामने कहना न चाहिये।'

भारतीजीने कहा—'हाँ, संन्यास-मन्त्रको शास्त्रोंमें परम गोप्य बताया गया है। गुरुजनोंके अतिरिक्त उसे हर-किसीके सामने प्रकाशित नहीं करते हैं।'

यह सुनकर प्रभुने कहा—'मुझे आपसे एक बात निवेदन करनी है, किन्तु वह गुप्त बात है, कानमें ही कह सकूँगा।'

भारतीजीने अपना दायाँ कान प्रभुकी ओर बढ़ाते हुए कहा—'हाँ हाँ, जरूर कहो। कौन-सी बात है?'

प्रभु अपना मुख भारतीजीके कानके समीप ले गये और धीरे-धीरे कहने लगे—'एक दिन मैंने स्वप्नमें एक ब्राह्मणको देखा था। वह भी संन्यासी ही थे और उनका रूप-रंग आपसे बहुत कुछ मिलता-जुलता था। स्वप्नमें ही उन्होंने मुझे संन्यासी बननेका आदेश दिया और स्वयं उन्होंने मेरे कानमें संन्यास-मन्त्र दिया। वह मन्त्र मुझे अभीतक ज्यों-का-त्यों याद है, आप उसे पहले सुन लें कि वह गलत है या ठीक।' यह कहकर प्रभुने भारतीजीके कानमें वही स्वप्नमें प्राप्त मन्त्र पढ़ दिया। मानो उन्होंने प्रकारान्तरसे भारतीजीको पहले स्वयं अपना शिष्य बना लिया हो। प्रभुके मुखसे यथावत् शुद्ध-शुद्ध संन्यास-मन्त्रको सुनकर भारतीजी कुछ आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए प्रेममें गद्गद-कण्ठसे कहने लगे—'जब तुम्हें श्री-कृष्ण-प्रेम प्राप्त है, तब फिर तुम्हारे लिये अगम्य विषय ही कौन-सा रह जाता है? कृष्ण-प्रेम ही तो सार है, जप-तप, पूजा-पाठ, वानप्रस्थ-संन्यस्त आदि धर्म सभी उसीकी प्राप्तिके लिये होते हैं। जिसे कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो चुकी उसके लिये मन्त्र ग्रहण करना, दीक्षा आदि लेना केवल लोकशिक्षणार्थ है। तुम तो मर्यादा-रक्षाके लिये संन्यास ले रहे हो। इस बातको मैं खूब जानता हूँ। कृष्ण-कीर्तन तो तुम घरमें भी रहकर कर सकते थे, किन्तु यह दिखानेके लिये कि गृहस्थमें रहते हुए लौकिक तथा वैदिक कर्मोंको जिनका कि वेद-शास्त्रोंमें गृहस्थीके लिये विधान बताया गया है, अवश्य ही करते रहना चाहिये। तुम्हारे द्वारा अब वे स्मृतियोंमें कहे हुए धर्म नहीं हो सकते इसीलिये तुम संन्यास-धर्मका अनुसरण कर रहे हो। 'जबतक ज्ञानमें पूर्ण निष्ठा न हो, जबतक भगवत्-गुणोंमें भलीभाँति रति न हो तबतक स्मृतियोंमें ऋषियोंके बताये हुए धर्मोंका अवश्य ही पालन करते रहना चाहिये।' इसीलिये गृहस्थीमें रहकर तुमने वैदिक कर्मोंका यथावत् पालन किया और अब कर्म-परित्यागके साथ ही पूर्व आश्रमका

परित्याग कर रहे हो और संन्यास-धर्मके अनुसार सदा दण्ड धारण करके संन्यास-धर्मकी कठोरताको प्रदर्शित करोगे, तुम्हारे ये सभी काम लोक-शिक्षार्थ ही हैं।' इस प्रकार प्रभुकी भाँति-भाँतिसे स्तुति करके भारतीजी उन्हें मन्त्र-दीक्षा देनेके लिये तैयार हुए।

एक छोटे-से वस्त्रकी आड़ करके भारतीजीने प्रभुके कानमें संन्यास-मन्त्र कह दिया। बस, उस मन्त्रके सुनते ही प्रभु बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और हा कृष्ण! हा कृष्ण!! इस प्रकार जोरोंसे चिल्ला-चिल्लाकर क्रन्दन करने लगे। पासहीमें बैठे हुए नित्यानन्दजीने उन्हें सम्हाला और होशमें लानेकी चेष्टा की।

भारतीजीने प्रभुके सभी पुराने श्वेत वस्त्र उतरवा दिये थे और उन्हें अग्नि-वर्णके काषाय-वस्त्र पहननेके लिये दिये। एक बहिर्वास (ओढ़नेका वस्त्र), दो कौपीनें, एक भिक्षा माँगनेको वस्त्र, एक कन्था और एक कटि-वस्त्र—इतने कपड़े भारतीजीने प्रभुके लिये दिये। रक्त-वर्णके उन चमकीले वस्त्रोंको पहनकर प्रभुकी उस समय ऐसी शोभा हुई मानो शरद्कालमें सबके मनको हरनेवाले, शीतसे दुखी हुए लोगोंके दुखको दूर करते हुए अरुण रङ्गके बाल-सूर्य आकाशमें उदित हुए हों।

सुवर्ण-वर्णके उनके शरीरपर काषाय-रङ्गके वस्त्र बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। कन्धेपर कन्था पड़ा हुआ था, छोटा वस्त्र सिरसे बँधा हुआ था। एक हाथमें काठका कमण्डलु शोभा दे रहा था, दूसरे हाथसे अपने संन्यास-दण्डको लिये हुए थे और मुखसे 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' इस प्रकार कहते हुए अश्रु बहाते हुए खड़े थे। प्रभुके इस त्रैलोक्य-पावन सुन्दर स्वरूपको देखकर सभी उपस्थित दर्शकवृन्द अवाक्-से हो गये। उस समय सब-के-सब काठकी मूर्ति बने हुए बैठे थे। प्रभुके अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त श्रीविग्रहको देखकर सबका मन अपने-आप ही

प्रेमानन्दमें विभोर होकर नृत्य कर रहा था। सभीकी आँखोंसे प्रेमके अश्रु निकल रहे थे। प्रभु कुछ थोड़े झुककर खड़े हुए थे। भारतीजी सामने ही एक उच्चासनपर स्थिरभावसे गम्भीरतापूर्वक बैठे हुए थे।

उस समय यदि कोई जोरोंसे साँस भी लेता तो वह भी सुनायी पड़ता। मानो उस समय पक्षियोंने भी बोलना बन्द कर दिया हो और पवन भी रुककर प्रभुकी अद्भुत शोभाके वशीभूत होकर उनके रूप-लावण्यरूपी रसका पान कर रहा हो।

उस समय भारतीजी महाप्रभुके संन्यासके नामके सम्बन्धमें सोच रहे थे। वे प्रभुकी प्रकृतिके अनुसार अपने परमप्रिय शिष्यका सार्थक नाम रखना चाहते थे। उन्हें कोई सुन्दर-सा नाम सूझता ही नहीं था। उसी समय मानो साक्षात् सरस्वतीदेवीने उन्हें उनके इस काममें सहायता दी। सरस्वतीने उन्हें सुझाया कि इन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति-विहीन जीवोंको चैतन्यता प्रदान की है। जिस जीवनमें श्रीकृष्ण-भक्ति नहीं वह जीवन अचेतन है। इन्होंने भगवन्नामद्वारा अचेतन प्राणियोंको चेतन बनाया है, अतः इनका नाम 'श्रीकृष्ण-चैतन्य भारती' ठीक रहेगा।

भारतीजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उस नीरवताको भंग करते हुए सब लोगोंको सुनाकर कहने लगे—'इन्होंने श्रीकृष्णके सुमधुर नामोंद्वारा लोगोंमें चैतन्यताका सञ्चार किया है और आगे भी करेंगे, अतः आजसे इनका नाम 'श्रीकृष्ण-चैतन्य' हुआ। भारती हमारी गुरुपरम्पराकी संज्ञा है, अतः संन्यासियोंमें ये दण्डी स्वामी श्रीकृष्णचैतन्य भारती कहे जायँगे। इतना सुनते ही प्रभु भावावेशमें आकर यह कहते हुए कि 'मैं तो अपने प्यारे श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये वृन्दावन जाऊँगा' दूसरी ओर भागने लगे। उस समय भागनेके कारण हिलता हुआ काषाय-वस्त्रकी ध्वजावाला दण्ड और काले रंगका कमण्डलु प्रभुके हाथोंमें बड़ा ही भला मालूम पड़ता था।

प्रभु जोरोंसे हरि-हरि पुकारते हुए भागने लगे। यह देखकर बहुत-से लोगों-ने आगे जाकर प्रभुका मार्ग रोक लिया। सामने अपने रास्तेमें लोगोंको खड़ा हुआ देखकर प्रभु रोते-रोते कहने लगे—'भाइयो! तुम मुझे श्रीवृन्दावनका रास्ता बता दो। मैं अपने प्यारे श्रीकृष्णके दर्शनोंके लिये बहुत ही अधिक व्याकुल हो रहा हूँ। मुझे जबतक श्रीकृष्णके दर्शन न होंगे, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी। तुम सभी भाई मेरा रास्ता छोड़ दो और मुझे ऐसा आशीर्वाद दो कि मैं अपने प्राणप्यारे प्रियतमको पा सकूँ।'

नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो! आप पहले अपने पूज्य गुरुदेवके चरणोंमें प्रणाम तो कर आइये। फिर वे जिस प्रकारकी आज्ञा करें वही कीजियेगा। बिना गुरुकी आज्ञा लिये कहीं जाना ठीक नहीं है।' इतना सुनते ही प्रभु कुछ सोचने लगे और बिना ही कुछ उत्तर दिये चुपचाप आश्रमकी ओर लौट पड़े। और सब लोग भी प्रभुके पीछे-पीछे चले। आश्रममें पहुँचकर प्रभुने दण्डी संन्यासीकी विधिके अनुसार अपने गुरुदेव-के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भारती महाराजका आदेश पाकर उन्होंने उस रात्रिमें वहीं गुरु-सेवा करते हुए निवास किया। संकीर्तनका रङ्ग आज कलसे भी बढ़कर रहा। इस प्रकार प्रभु संन्यास ग्रहण करके लोकशिक्षाके निमित्त गुरु-सेवाका माहात्म्य दिखाने लगे। प्रभुकी वह रात्रि भी श्रीकृष्ण-कीर्तन और भगवत्-चरित्रोंके चिन्तनमें ही व्यतीत हुई।

राढ़-देशमें उन्मत्त-भ्रमण

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥ *
(श्रीमद्भा० ११। २३। ५८)

निशाका अन्त हुआ, पूर्व-दिशामें अरुणोदयकी लालिमा छा गयी, मानो प्रभुके लाल वस्त्रोंका प्रतिविम्ब पूर्व-दिशामें पड़ गया हो। भगवान् भुवनभास्कर नवीन संन्यासी श्रीकृष्ण-चैतन्यके दर्शनोंको उतावले-से प्रतीत होने लगे। वे आकाशमें द्रुतगतिसे गमन कर रहे थे। नित्य-कर्मसे निवृत्त होकर प्रभुने अपने गुरुदेवके चरणोंमें प्रणाम किया और उनसे वृन्दावन जानेकी आज्ञा माँगी। प्रेममें पागल हुए संन्यासीप्रवर भारती महाराज अपने नवीन शिष्यके वियोग-दुःखको स्मरण करके बड़े ही दुखी हुए, उनकी दोनों आँखोंमें आँसू भर आये। आँसुओंको पोंछते हुए भारतीजीने कहा—'कृष्ण-चैतन्य ! मैं समझता था, कुछ काल तुम्हारी संगतिमें रहकर मैं भी श्रीकृष्ण-प्रेम-रसामृतका पान कर सकूँगा, किन्तु तुम आज ही अन्यत्र जानेकी तैयारियाँ कर रहे हो, इससे मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। यद्यपि मैं गृहत्यागी वीतरागी संन्यासी कहलाता हूँ, तो भी न जाने क्यों तुम्हारे विछोहसे मेरा दिल धड़क रहा है और स्वाभाविक ही हृदयमें एक प्रकारकी बेचैनी-सी उत्पन्न हो

* पूर्वकालके बड़े-बड़े ऋषियोंद्वारा स्वीकार की हुई इस परात्मनिष्ठाको स्वीकार करके मैं मोक्षदाता श्रीहरिके चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा जिसका कि अन्त पाना अत्यन्त ही दुष्कर है, उस संसार-रूपी अन्धकारको भी मैं बात-की-बातमें तर जाऊँगा।

रही है। भैया ! तुम कुछ काल मेरे आश्रमपर रहो। फिर जहाँ भी कहीं चलना हो दोनों साथ-ही-साथ चलेंगे।'

दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए चैतन्यदेवने कहा—'गुरुदेव ! आपकी आज्ञा पालन करना तो मेरा सर्वप्रधान कर्तव्य है, किन्तु मैं करूँ क्या, मेरा मन श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये व्याकुल हो रहा है। अब मुझे श्रीकृष्णके बिना देखे चैन नहीं। आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने प्यारे श्रीकृष्णको पा सकूँ और आपके चरण-कमलोंका सदा स्मरण करता रहूँ। अब तो मैं आज्ञा ही चाहता हूँ।'

प्रभुके प्रेम-पाशमें बँधे हुए भारतीजी कहने लगे—'यदि तुम नहीं मानते हो और जानेके ही लिये तुले हुए हो, तो चलो मैं भी तुम्हारे साथ कुछ दूरतक चलता हूँ।' यह कहकर भारतीजी भी अपना दण्ड-कमण्डलु लेकर साथ चलनेके लिये तैयार हो गये। प्रभु अपने गुरुदेव भारती महाराजको आगे करके पश्चिम-दिशाकी ओर चलने लगे और उनके पीछे चन्द्रशेखर आचार्यरत्न, नित्यानन्द, गदाधर और मुकुन्द आदि भक्त भी चलने लगे। आचार्यरत्नको अपने पीछे आते देखकर प्रभु अत्यन्त ही दीनभावसे उनसे कहने लगे—'आचार्यदेव ! आपने मेरे पीछे सदासे कष्ट ही उठाये हैं। मेरी प्रसन्नताके लिये आपने अपनी इच्छाके विरुद्ध भी बहुत-से कार्य किये हैं, मैं आपके ऋणसे जन्म-जन्मान्तरोंपर्यन्त उऋण नहीं हो सकता। आपसे मेरी यही प्रार्थना है, कि अब आप घरके लिये लौट जायँ।'

लौटनेका नाम सुनते ही आचार्यरत्न मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और रोते-रोते कहने लगे—'आपकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य करनेकी शक्ति ही किसमें है ! आप जिसे जो आज्ञा करेंगे, उसे वही करना होगा, किन्तु मेरी हार्दिक इच्छा थी, कि कुछ काल और प्रभुके सहवास-सुखसे अपने जीवनको कृतार्थ कर सकूँ।'

प्रभुने स्नेहके साथ बहुत ही सरलतापूर्वक कहा—'न, यह ठीक नहीं है। आज आपको घर छोड़े तीन-चार दिन होते हैं। घरपर बाल-बच्चे न जाने क्या सोच रहे होंगे, आप अब जायँ ही।'

अश्रु-विमोचन करते हुए प्रभुके पैरोंको पकड़कर आचार्य कहने लगे—'प्रभो! मुझे भुलाइयेगा नहीं। नवद्वीपके नर-नारियोंको भी बड़ा सन्ताप है, उन्हें भी अपने दर्शनोंसे सुखी बनाइयेगा। मैं ऐसा भाग्यहीन निकला कि प्रभुकी कुछ भी सेवा न कर सका। नवद्वीपमें भी मैं सदा सेवासे वञ्चित ही रहा।'

अबतक प्रभु अपने अश्रुओंको बलपूर्वक रोके हुए थे। अब उनसे नहीं रहा गया। वे जोरोंसे रोते हुए कहने लगे—'आचार्यदेव! आप सदासे पिताकी भाँति मेरी रेख-देख करते रहे हैं। मुझे अपने पिताका ठीक-ठीक होश नहीं। आपके ही द्वारा मैं सदा पितृ-सुखका अनुभव करता रहा हूँ। आप मेरे पितृ-तुल्य क्या पिता ही हैं। आप तो सदा ही मुझपर सगे पुत्रकी भाँति वात्सल्य-स्नेह रखते रहे हैं, किन्तु मैं ही ऐसा भाग्यहीन निकला, कि आपकी कुछ भी सेवा न कर सका। अब ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र अपने प्राणप्यारे श्रीकृष्णको पा सकूँ। आप अब जायँ और अधिक देरी न करें।' यह कहकर प्रभुने अपने हाथोंसे भूमिमें पड़े हुए आचार्यको उठाया और उनका गाढालिंगन करते हुए प्रभु कहने लगे—'आप जाइये और माता तथा मेरे दुःखसे दुखी हुए सभी भक्तोंको सान्त्वना प्रदान कीजिये। मातासे कह दीजियेगा, मैं शीघ्र ही उनके चरणोंके दर्शन करूँगा।' प्रभुकी बात सुनकर दुखी मनसे आचार्यरत्नने प्रभुकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और वे नवद्वीपके लिये लौट गये। और लोगोंने बहुत आग्रह करनेपर भी लौटना स्वीकार नहीं किया।

सबसे आगे भारतीजी चल रहे थे, उनके पीछे दण्ड-कमण्डलु धारण किये हुए महाप्रभु प्रेममें विभोर हुए नृत्य करते हुए जा रहे थे। उनके पीछे नित्यानन्द, गदाधर और मुकुन्द दत्त थे। प्रभु प्रेममें बेसुध होकर कभी तो हँसने लगते थे, कभी रुदन करने लगते थे और कभी-कभी जोरोंसे 'हा कृष्ण! ओ प्यारे!! रक्षा करो!!! कहाँ चले गये? मुझे विरह-सागरसे उबारो। मैं तुम्हारे लिये व्याकुल हो रहा हूँ।' इस प्रकार जोरोंसे चिल्लाकर क्रन्दन करने लगते थे। उनकी वाणीमें अत्यधिक करुणा थी। उनके रुदनको सुनकर पाषाणहृदय भी पसीज जाते थे। उन्हें अपने शरीरका कुछ भी होश नहीं था। बिना कुछ सोचे-विचारे अलक्षित पथकी ओर वैसे ही चले जा रहे थे। इस प्रकार भारतीजीके पीछे-पीछे उन्होंने राढ़-देशमें प्रवेश किया और सायंकाल होनेके समय सभीने एक छोटे-से ग्राममें किसी भाग्यशाली कुलीन ब्राह्मणके यहाँ निवास किया। उस अतिथिप्रिय श्रद्धालु ब्राह्मणने अपने भाग्यकी सराहना करते हुए आगत सभी महात्माओंका यथाशक्ति खूब सत्कार किया और उन सभी-को श्रद्धाभक्तिके सहित भिक्षा करायी। भिक्षा करके प्रभु पृथ्वीपर आसन बिछाकर सोये। भारतीजीका आसन ऊपरकी ओर लगाया गया और गदाधर, मुकुन्द तथा नित्यानन्दजी प्रभुको चारों ओरसे घेरकर सोये।

दिनभर रास्ता चलनेसे सब-के-सब पड़ते ही सो गये, किन्तु प्रभुकी आँखोंमें नींद कहाँ? वे तो श्रीकृष्णके लिये व्याकुल हो रहे थे। सबको गहरी निद्रामें देखकर प्रभु धीरेसे उठे। पासमें रखे हुए अपने दण्ड-कमण्डलुको उठाया और भक्तोंको सोते ही छोड़कर रात्रिमें ही पश्चिम-दिशाको लक्ष्य करके चलने लगे। वे प्रेममें विभोर होकर—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका उच्चारण करते जाते थे। कभी अधीर होकर कातरवाणीसे—

राम राघव ! राम राघव ! राम राघव ! रक्ष माम्।

कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव पाहि माम्॥

—इन नामोंको लेते हुए जोरोंसे रुदन करते जाते थे।

इधर नित्यानन्दजीकी आँखें खुलीं। उन्होंने सम्भ्रमके सहित चारों ओर प्रभुको देखा, किन्तु अब प्रभु कहाँ ? वे सर्वस्व हरण हुए व्यापारीकी भाँति यह कहते हुए 'हाय ! प्रभो ! हम अभागियोंको आप सोते हुए छोड़कर कहाँ चले गये ?' जोरोंके साथ रुदन करने लगे। नित्यानन्दजी-के रुदनको सुनकर सब-के-सब मनुष्य जाग पड़े और एक दूसरेको दोष देते हुए कहने लगे—'हमने पहले ही कहा था, कि बारी-बारीसे एक-एक आदमी पहरा दो,किन्तु किसीने मानी ही नहीं।' कोई अपनी निद्राको ही धिक्कार देने लगे। इस प्रकार सब भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे।

अब नित्यानन्दजीने भारती महाराजसे प्रार्थना की—'भगवन् ! आप अब अपने आश्रमको लौट जायँ। आप हमलोगोंके साथ कहाँ भटकते फिरेंगे। हम तो जहाँ भी मिलेंगे, वहीं जाकर प्रभुकी खोज करेंगे।'

भारतीजी अब करते ही क्या, अन्तमें उन्होंने दुःखित होकर आश्रम-को लौट जानेका ही निश्चय किया और नित्यानन्दजी गदाधर तथा मुकुन्द-को साथ लेकर पश्चिम-दिशाकी ओर प्रभुको खोजनेके लिये चले।

प्रभु बहुत दूर निकल गये थे। वे प्रेममें बेसुध होकर कभी गिर पड़ते, कभी लोट-पोट हो जाते और कभी घण्टों मूर्च्छित होकर ही पड़े रहते। कृष्ण-प्रेममें अधीर होकर वे इतने जोरोंसे रुदन करते, कि उनकी क्रन्दन-ध्वनि कोसभरसे सुनायी देती थी। रात्रिके समय वैसे भी आवाज दूरतक सुनायी देती है। भक्तोंने प्रभुके करुण-क्रन्दनकी ध्वनि दूरसे ही

अः

सुनी। उस ध्वनिके श्रवणमात्रसे ही सभीके शरीर पुलकित हो उठे। सभी आनन्दमें उन्मत्त होकर एक दूसरेका आलिङ्गन करते हुए, नृत्य करते हुए और उसी ध्वनिका अनुगमन करते हुए प्रभुके पास पहुँचे। चार-पाँच कोसपर वक्रेश्वर भी आ मिले। मुकुन्द दत्तने बड़े ही सुरीले स्वरसे—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव!

—इन भगवन्नामोंका संकीर्तन आरम्भ कर दिया। संकीर्तनको सुनते ही प्रभु आनन्दके सहित नृत्य करने लगे। सभी भक्त प्रभुके दर्शनोंसे परम प्रसन्न हुए, मानो किसीकी चोरी गयी हुई सम्पूर्ण सम्पत्ति फिरसे प्राप्त हो गयी हो। प्रभु भी भक्तोंको देखकर सुखी हुए।

कुछ कालके अनन्तर प्रभु प्रकृतिस्थ हुए। उन्हें अब बाह्य ज्ञान होने लगा। वे नित्यानन्दजी, वक्रेश्वर आदि भक्तोंको देखकर कहने लगे—'आपलोग खूब आ गये। मैं आपलोगोंसे एक बात कहना चाहता हूँ।'

सभी भक्त उत्सुकताके साथ प्रभुके मुखकी ओर देखने लगे। तब प्रभुने कहा—'मुझे भगवान्का आदेश हुआ है, कि तुम जगन्नाथपुरी जाओ। पुरीमें अच्युत भगवान्ने मुझे शीघ्र ही बुलाया है। इसलिये अब मैं नीलाचलकी ओर जाऊँगा। अब मुझे शीघ्र ही जाकर पुरीमें अपने स्वामीके दर्शन करने हैं।'

प्रभुकी इस बातको सुनकर सभीको परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। प्रभुके मनकी बात जान ही कौन सकता है, कि वे भक्तोंकी प्रसन्नताके निमित्त क्या-क्या करना चाहते हैं। इस प्रकार अब प्रभु पश्चिमकी ओर न जाकर फिर पूर्वकी ही ओर चलने लगे।

उस समयतक राढ़-देशमें भगवन्नामसंकीर्तनका प्रचार नहीं हुआ था, इसलिये उस देशकी ऐसी दशा देखकर प्रभुको अत्यन्त ही दुःख हुआ। वे विकलता प्रकट करते हुए नित्यानन्दजीसे कहने लगे—'श्रीपाद!

इस देशमें कहीं भी संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनि सुनायी नहीं पड़ती है और न यहाँ किसीके मुखसे भगवन्नामोंका ही उच्चारण सुना है। सचमुच यह देश भक्तिशून्य है। भगवन्नामको बिना सुने, मेरा जीवन व्यर्थ है, मेरे इस व्यर्थके भ्रमणको धिक्कार है। इतनेहीमें प्रभुको जंगलमें बहुत-सी गौएँ चरती हुई दिखायी दीं। उनमेंसे बहुत-सी तो हरी-हरी दूबको चर रही थीं, बहुत-सी प्रभुके मुखकी ओर निहार रही थीं, बहुत-सी पूँछोंको उठा-उठाकर इधर-से-उधर प्रभुके चारों ओर भाग रही थीं—मानो वे प्रभुकी परिक्रमा कर रही हों। उनके चरानेवाले ग्वाले कम्बलकी घौंघी (खोइया) ओढ़े हुए हाथमें लाठी लिये प्रभुकी ओर देख रहे थे। प्रभुको देखते ही वे जोरोंसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहकर चिल्लाने लगे। उन छोटे-छोटे बालगोपालोंके मुखसे श्रीहरिका कर्णप्रिय सुमधुर नाम सुनकर प्रभु अधीर हो उठे। उन्हें उस समय एकदम वृन्दावनका स्मरण हो आया और वे बालगोपालोंके समीप जाकर उनके सिरोंपर हाथ रखते हुए कहने लगे—'हाँ, और कहो, बोलो हरि हरि कहो।' बच्चे आनन्दमें आकर और जोरोंके साथ हरिध्वनि करने लगे। प्रभुकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे उन बालकोंके पास बैठ गये और बालकोंकी-सी क्रीड़ाएँ करने लगे। उनसे बहुत-सी बातें पूछने लगे। बातों-ही-बातोंमें प्रभुने उन लोगोंसे पूछा—'यहाँसे गंगाजी कितनी दूर हैं।'

एक चुलबुले स्वभाववाले बालकने कहा—'महाराजजी, गंगाजी दूर कहाँ है, बस, अपनेको गंगाजीके किनारे ही समझो। हमारा गाँव गंगाजीके खादरमें तो है ही। दो-तीन घण्टेमें आप धाराके समीप पहुँच जायँगे।' प्रभुने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'धन्य है, गंगा माताका ही ऐसा प्रभाव है, कि यहाँके छोटे-छोटे बच्चे भी भगवन्नामोंका उच्चारण करते हैं। जगन्माता भगवती भागीरथीका प्रभाव ही ऐसा है, कि उसके

किनारेपर रहनेवाले कूकर-शूकर भी भगवान्‌के प्रिय बन सकते हैं।' इस प्रकार बहुत देरतक बालकोंसे बातें करनेके अनन्तर प्रभु भक्तोंके सहित सायंकालके समय पुण्यतोया सुरसरि माँ जाह्नवीके किनारे पहुँचे। गंगा-माताके दर्शनोंसे ही प्रभु गद्‌गद हो उठे और दोनों हाथोंको जोड़कर स्तुति करने लगे—'गंगा मैया! तुम सचमुच संसारके सभी प्रकारके पाप-तापोंको मेटनेवाली हो। माता, सहस्रवदन शेषजी भी तुम्हारे यशका गायन नहीं कर सकते। माता! तुम्हीं आदि-शक्ति हो, तुम्हीं ब्रह्माणी हो, तुम्हीं रुद्राणी हो और तुम्हीं साक्षात् लक्ष्मी हो। देवाधिदेव महादेवने तुम्हें अपने सिरपर धारण किया है, तुम भगवान्‌के चरणकमलोंसे उत्पन्न हुई हो। जननी! तुम्हारे चरणोंमें हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है। मंगल-मयी माता! हमारा कल्याण करो।' इस प्रकार प्रभुने गंगाजीकी स्तुति करके उनकी रेणुको सिरपर चढ़ाया और माताके पावन जलसे आचमन किया। सभीने आनन्दके सहित गंगाजीमें घुसकर स्नान किया और रात्रिमें पासके एक छोटे-से गाँवमें किसी ब्राह्मणके यहाँ निवास किया।

प्रातःकाल प्रभुने नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! आप नवद्वीपमें जाकर शचीमाताको और अन्यान्य भक्तोंको सूचित कर दें, कि मैं यहाँ आ गया हूँ। आप नवद्वीप जायँ, तबतक हम अद्वैताचार्यजीके दर्शनोंके लिये शान्तिपुर चलते हैं। वहीं सबसे भेंट करेंगे। आप शीघ्र जाइये। विलम्ब करनेसे काम न चलेगा।' प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके नित्यानन्दजी तो गंगापार करके नवद्वीपकी ओर गये और प्रभु गंगाजीके किनारे-किनारे शान्तिपुरके इस पार हरिदासजीके आश्रममें फुलियानामक ग्राममें आकर ठहर गये।

शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर

न्यासं विधायोत्प्रणयोऽथ गौरो
वृन्दावनं गन्तुमना भ्रमाद् यः।
राढ़े भ्रमन् शान्तिपुरीमयित्वा
ललास भक्तैरिह तं नतोऽस्मि ॥*

(चै० चरि० म० ली० ३।१)

इधर महाप्रभुसे विदा होकर दुःखित हुए चन्द्रशे आचार्य नवद्वीपकी ओर चले। उनके पैर आगे नहीं पड़ते थे, कभी तो वे रोने लगते, कभी पीछे फिरकर देखने लगते, कि सम्भव है, प्रभु दया करके हमारे पीछे-पीछे आ रहे हों। कभी भ्रमवश होकर आप-ही-आप कहने लगते—'प्रभो! आप आ गये, अच्छा हुआ।' फिर थोड़ी देरमें अपने भ्रमको दूर करनेके निमित्त चारों ओर देखने लगते। थोड़ी दूर चलकर बैठ जाते और सोचने लगते—'अब मेरे जीवनको धिक्कार है। प्रभुके बिना अब मैं नवद्वीपमें कैसे रह सकूँगा? अब मैं अकेला ही लौटकर नवद्वीप कैसे जाऊँ? पुत्र-वियोगसे दुखी वृद्धा शचीमाता जब मुझसे आकर पूछेगी कि मेरे लालको, मेरे प्राणप्यारे पुत्रको, मेरी वृद्धावस्थाके एकमात्र सहारेको, मेरी आँखके तारेको, मेरे दुलारे निमाईको तुम कहाँ छोड़ आये?' तब मैं उस दुःखिनी माताको क्या उत्तर दूँगा? जब भक्त

* जो संन्यास धारण करके प्रेममें बेसुध हुए वृन्दावन जानेकी इच्छासे भ्रान्तचित्त होकर राढ़-देशमें भ्रमण करते हुए शान्तिपुरमें (अद्वैताचार्यके घर) पहुँच गये और वहाँ अपने सभी भक्तोंके सहित उल्लास प्राप्त किया, उन श्रीगौरचन्द्रके चरणोंमें हम प्रणाम करते हैं।

चारों ओरसे मुझे घेरकर पूछेंगे—'प्रभु कहाँ हैं ? वे कितनी दूर हैं, कब-तक आ जायँगे ?' तब इन हृदयको विदीर्ण करनेवाले प्रश्नोंका मैं क्या उत्तर दूँगा। क्या मैं उनसे यह कह दूँगा कि 'प्रभु अब लौटकर नहीं आवेंगे, वे तो वृन्दावनको चले गये ?' हाय ! ऐसी कठिन बात मेरे मुखसे किस प्रकार निकल सकेगी ? यदि वज्रका हृदय बनाकर मैं इस बातको प्रकट भी कर दूँ, तो निश्चय ही बहुत-से भक्तोंके प्राणपखेरू तो उसी समय प्रभुके समीप ही प्रस्थान कर जायँगे। भक्तोंके बहुत-से प्राणरहित शरीर ही मेरे सामने पड़े रह जायँगे। उस समय मेरे प्राण किस प्रकार शरीरमें रह सकते हैं ? खैर, इन सब बातोंको तो मेरा वज्र हृदय सहन भी कर सकता है, किन्तु उस पतिपरायणा पतिव्रता विष्णुप्रियाके करुण-क्रन्दन-से तो पत्थर भी पिघलने लगेंगे। जब वह मेरे लौट आनेका समाचार सुनेगी, तो अपने हृदयविदारक रुदनसे दिशा-विदिशाओंको व्याकुल करती हुई, पतिके सम्बन्धमें जिज्ञासा करती हुई एक ओर खड़ी होकर रुदन करने लगेगी तब तो निश्चय ही मैं अपनेको सम्हालनेमें समर्थ न हो सकूँगा। सभी लोग मुझे धिक्कार देंगे, सभी मेरे कामकी निन्दा करेंगे। जब उन्हें पता चलेगा, कि प्रभुके संन्यास-सम्बन्धी सभी कृत्य मैंने ही अपने हाथसे कराये हैं, जब उन्हें यह बात विदित होगी, कि मैंने ही प्रभुको संन्यासी बनाया है, तो वे सभी मिलकर मुझे भाँति-भाँतिसे धिक्कारेंगे। उन सभी प्रभुके भक्तोंके दिये हुए अभिशापको मैं किस प्रकार सहन कर सकूँगा। इससे तो यही उत्तम है, कि मैं गङ्गाजीमें कूदकर अपने प्राणोंको गँवा दूँ। यह सोचकर वे जल्दीसे गङ्गा-किनारे पहुँचे और गङ्गा-जीमें कूदनेके लिये उद्यत हुए। उसी समय उन्हें प्रभुकी बातोंका स्मरण हो आया। 'प्रभुने माताके लिये और भक्तोंके लिये बहुत-बहुत करके प्रेम-सन्देश भेजा है, उनके सन्देशको न पहुँचानेसे मुझे पाप लगेगा। मैं

प्रभुके सम्मुख कृतघ्न कहलाऊँगा। कौन जाने प्रभु लौटकर आते ही हों। मेरी दायीं भुजा फड़क रही है। दायीं आँख लहक रही है, इससे मेरे हृदयमें इस बातका विश्वास-सा हो रहा है, कि प्रभु अवश्य लौटकर आवेंगे और वे भक्तोंसे मिलकर ही जहाँ जाना चाहेंगे जायँगे।' इन विचारोंके मनमें आते ही उन्होंने गङ्गाजीमें कूदकर आत्मघात करनेका अपना विचार त्याग दिया और वहीं गङ्गाजीकी रेतीमें प्रभुका चिन्तन करते हुए बैठ गये। उन्होंने मनमें स्थिर किया कि 'खूब रात्रि होनेपर घर जाऊँगा। तबतक सबलोग सो जायँगे और मैं चुपकेसे अपने घरमें जाकर छिप रहूँगा। मेरे नवद्वीप आनेका किसीको पता ही न चलेगा।' इसीलिये गङ्गाजीकी बालुकामें अकेले बैठे-ही-बैठे उन्होंने सम्पूर्ण दिन बिता दिया। खूब अन्धकार होनेपर वे गङ्गाजीके पार हुए और लोगोंसे आँख बचाकर अपने घर पहुँचे। घर पहुँचते ही नगरभरमें इनके लौट आनेका समाचार बात-की-बातमें बिजलीकी तरह फैल गया। जो भी सुनता वही इनके पास दौड़ा आता और आते ही प्रभुके सम्बन्धमें पूछता। ये सबको धैर्य बँधाते हुए कहते—'हाँ, प्रभु शीघ्र ही लौटकर आवेंगे। इतनेमें ही पुत्रके समाचारोंके लिये उत्सुक हुई वृद्धा माता अपनी पुत्रवधूको साथ लिये हुए आचार्यरत्नके घर आ पहुँची। जिस दिनसे उसका प्यारा निमाई घर छोड़कर गया है, उसी दिनसे माताने अपने मुखमें अन्नका दानातक नहीं दिया है! उसकी दोनों आँखें निरन्तर रोते रहनेके कारण सूज गयी हैं, गला बैठ गया है, सम्पूर्ण शरीर शक्तिहीन हो गया है, उठकर बैठनेकी भी शक्ति नहीं रही है, किन्तु चन्द्रशेखर आचार्यके आगमनका समाचार सुनते ही न जाने माताके शरीरमें कहाँसे बल आ गया, वह दौड़ी हुई आचार्यके घर आयी। विष्णुप्रियाजी भी उसका वस्त्र पकड़े पीछे-पीछे रोती हुई आ रही थीं।

माताको आते देखकर आचार्य सम्भ्रमके सहित एकदम खड़े हो गये। चारों ओरसे भक्तोंने आप-से-आप माताके लिये रास्ता छोड़ दिया। माताने आते ही चन्द्रशेखरको स्पर्श करना चाहा, किन्तु अपने शोकके आवेगको न सह सकनेके कारण बीचमें ही हा ! निमाई, ऐसा कहती हुई, पृथ्वीपर गिर पड़ी। जल्दीसे आचार्यरत्नने बढ़कर वृद्धा माताको सम्हाला, विष्णुप्रियाजी भी सासके चरणोंके समीप बैठकर रुदन करने लगीं।

उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणापूर्ण था। माताकी ऐसी दशा देखकर सभी उपस्थित भक्त ढाह मार-मारकर रोने लगे। चन्द्रशेखर आचार्यका घर क्रन्दनकी वेदनापूर्ण ध्वनिसे गूँजने लगा। माताके मुखमेंसे दूसरा कोई शब्द ही नहीं निकलता था, 'हा निमाई ! मेरे निमाई !' बस, यही कहकर वह रुदन कर रही थी। बहुत देर इसी प्रकार रुदन करते रहनेके अनन्तर भर्रायी हुई आवाजसे माताने रोते-रोते पूछा—'आचार्य ! मेरे निमाईको कहाँ छोड़ आये ? क्या वह सचमुच संन्यासी बन गया ? आचार्य ! तुम मुझे सच-सच बता दो, क्या उस मेरे दुलारेके वे कन्धोंतक लटकनेवाले काले-काले सुन्दर घुँघराले बाल सिरसे पृथक् हो गये ? क्या किसी निर्दयी नापितने उन्हें छुरेकी तीक्ष्ण धारसे काट दिया ? क्या मेरा सुकुमार निमाई भिखारी बन गया ? क्या वह अब माँगकर खाने लगा ? आचार्य ! मुझ दुःखिनी अबलापर दया करके बता दो, मेरा निमाई क्या अब न आवेगा ? क्या अब मैं अपने हाथसे दाल-भात बनाकर उसे न खिला सकूँगी ? क्या अब भूख लगनेपर वह मुझसे बालकोंकी भाँति भोजनके लिये आग्रह न करेगा ? क्या अब वह मेरे कलेजेका टुकड़ा मुझसे अलग ही रहेगा ? क्या अब मैं उसे अपनी छातीसे चिपटाकर अपने तनकी तपन न मिटा सकूँगी ? क्या अब मैं उसके सुगन्धित बालों-वाले मस्तकको सूँघकर सुखी न बन सकूँगी ? आचार्य ! तुम बताते क्यों

नहीं ? तुम्हें मुझ कंगालिनीपर दया क्यों नहीं आती ? तुम मौन क्यों हो रहे हो ? मेरे प्रश्नोंका उत्तर क्यों नहीं देते ?'

आचार्य माताके इतने प्रश्नोंको भी सुनकर मौन ही बने बैठे रहे। केवल वे आँखोंसे अश्रु बहा रहे थे। आचार्यको इस प्रकार रोते देखकर माता समझ गयी, कि मेरे निमाईने जरूर संन्यास ले लिया। इसलिये वह अधीरता प्रकट करती हुई कहने लगी—'आचार्य ! तुम मेरे निमाईका पता मुझे बता दो। वह जहाँ भी कहीं होगा, वहीं मैं जाऊँगी। वह चाहे कैसा भी संन्यासी क्यों न बन गया हो, है तो मेरा पुत्र ही ! मैं उसके साथ-ही-साथ रहूँगी, जिस प्रकार अपने बछड़ेके पीछे-पीछे दुबली और वृद्धा गौ रँभाती हुई चलती है, उसी प्रकार मैं निमाईके पीछे-पीछे चलूँगी। आचार्य ! मैं निमाईके बिना जीवित नहीं रह सकती। तुम मेरे ऊपर इतनी कृपा करो, मेरा निमाई जहाँ भी हो, वहीं मुझे ले जाकर उसके पास पहुँचा दो। आह ! अब वह घर-घरसे भातके दाने माँगकर खाता होगा ! कोई मेरी-जैसी ही वृद्धा दया करके थोड़ा भात दे देती होगी। कोई-कोई दुत्कार भी देती होगी। कोई-कोई बासी और सूखा भात ही उसकी झोलीमें डाल देती होगी। यहाँ तो जबतक वह दो-चार साग मेरे हाथके बने नहीं खा लेता था, तबतक उसका पेट ही नहीं भरता था। अब उस सूखे और बासी भातको वह किस प्रकार खा सकेगा ? वह भूखका बड़ा कच्चा है। तीसरे पहरके जलपानमें थोड़ी भी देर हो जाती या कभी घरकी बनी मिठाई चुक जाती तो जमीन-आसमान एक कर डालता था। पकौड़ी बनाते-बनाते ही खानेको आ बैठता था, अब उसे तीसरे पहर कौन जलपान करावेगा ? हा ! मेरे ऐसे जीवनको धिक्कार है ? हा ! मेरा सर्व-गुण-सम्पन्न पुत्र ! जिसकी भक्त राजासे भी बढ़कर पूजा और प्रतिष्ठा करते थे। वह द्वार-द्वार एक मुट्ठी चावलके लिये घूम रहा होगा। विधाता ! तेरे ऐसे

कठोर हृदयके लिये तुझे बार-बार धिक्कार है, जो इतना रूप, लावण्य, सौन्दर्य, पाण्डित्य और मान-सम्मान देनेपर भी तैंने निमाईको घर-घरका भिखारी बना दिया।'

बड़ी देरतक माता इसी प्रकार प्रलाप करती रही। कुछ धैर्य धारण करके आचार्यने संन्यासकी सभी बातें बता दीं। उनके सुनते ही माता फिर बेहोश हो गयी और विष्णुप्रिया भी अचेतन होकर शचीदेवीके चरणोंमें गिर पड़ी। इस प्रकार रुदन करते-करते आधीसे अधिक रात्रि बीत गयी। शचीमाताकी बहिनने खानेके लिये बहुत अधिक आग्रह किया, किन्तु माताने कुछ भी नहीं खाया। उसी हालतमें वह विष्णुप्रियाको लिये हुए रात्रिभर पड़ी रोती रही। प्रातःकाल आचार्य उन्हें घर पहुँचा आये। इस प्रकार श्रीवास, वासुदेव, नन्दनाचार्य, गंगादास आदि सभी भक्त बिना कुछ खाये-पीये प्रभुके ही लिये अधीर होकर विलाप करते रहते थे। इस प्रकार तीसरे ही दिन नित्यानन्दजी भी नवद्वीप आ पहुँचे।

नित्यानन्दजीके आगमनका समाचार सुनकर बात-की-बातमें सम्पूर्ण नगरके नर-नारी, बालक-वृद्ध तथा सभी श्रेणीके पुरुष उनके पास आ-आकर प्रभुका समाचार पूछने लगे। कोई पूछता—'प्रभु कहाँ हैं?' कोई कहता—'यहाँ कब आवेंगे?' कोई कहता—'हमें स्थान बता दो हम अभी जाकर उनके दर्शन कर आवें।' जो लोग महाप्रभुसे द्वेषभाव रखते थे, वे भी अपने कुकृत्यपर पश्चात्ताप करते हुए नित्यानन्दजीसे रोते-रोते अत्यन्त ही दीनभावसे सरलतापूर्वक कहने लगे—'श्रीपाद! हम दुष्टोंने ही मिलकर प्रभुको गृहत्यागी विरागी बनाया। हमारे ही कारण प्रभु संन्यासी हुए! हमींलोग प्रभुको नवद्वीपसे निर्वासित करनेमें कारण हैं। प्रभो! हमारी निष्कृतिका भी कोई उपाय हो सकता है? दयालु गौराङ्ग क्या हम-जैसे पापियोंको भी क्षमा प्रदान कर सकते हैं। वे क्षमा चाहे न

करें, हम अपने पापोंका फल भोगनेके लिये तैयार हैं, किन्तु वे एक बार कृपाकी दृष्टिसे हमारी ओर देखभर लें। क्या प्रभुके दर्शन हमलोगोंको कभी हो सकेंगे? क्या इस जीवनमें गौरचन्द्रके सुन्दर तेजयुक्त श्रीमुखके दर्शनोंका सौभाग्य हमलोगोंको कभी प्राप्त हो सकता है?'

लोगोंके मुखसे ऐसी बातें सुनकर नित्यानन्दजी सभीसे कहते—'महाप्रभु बड़े दयालु हैं, उनके हृदयमें प्राणिमात्रके प्रति दयाके भाव हैं, उनका शत्रु या अप्रिय कोई भी नहीं। वे अपने अपकार करनेवालेके प्रति भी प्रेम प्रदर्शित करते हैं। वे तुमलोगोंके ही प्रेमके वशीभूत होकर फुलिया होते हुए शान्तिपुर जा रहे हैं। शान्तिपुरमें वे आचार्य अद्वैतके घर ठहरेंगे। तुम सभी लोग वहीं जाकर प्रभुके दर्शन कर सकते हो।'

नित्यानन्दजीके मुखसे यह बात सुनकर कि 'प्रभु इस समय फुलियामें हैं, हरिदासजीके आश्रमपर होंगे और वहाँसे शान्तिपुर जायँगे' बस, इस बातके सुनते ही लोग फुलियाकी ओर दौड़ने लगे। कोई तो नावपर पार होने लगे। कोई अपनी डोंगीको आप ही खेकर ले जाने लगे। कोई घड़ोंके द्वारा ही गंगाजीको पार करने लगे। बहुत-से उतावले भक्तोंने तो नाव, डोंगी तथा घड़ोंकी भी परवा नहीं की। वे वैसे ही गङ्गाजीमें कूद पड़े और हाथोंसे तैरकर ही उस पार पहुँच गये। हजारों आदमी बात-की-बातमें गङ्गाजीको पार करके फुलिया ग्राममें पहुँच गये। प्रेममें उन्मत्त हुए पुरुष जोरोंसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' की गगनभेदी ध्वनि करने लगे। उस महान् कोलाहलको सुनकर प्रभु आश्रममेंसे बाहर निकल आये। संन्यासी-वेषधारी प्रभुके दर्शनोंसे वह प्रेममें उन्मत्त हुई अपार जनता जोरोंसे हरिध्वनि करने लगी। सभीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धाराएँ बह रही थीं। कोई-कोई तो प्रभुके मुँडे हुए सिरको और उनके गेरुए रङ्गके वस्त्रोंको

देखकर जोरोंसे 'हा प्रभु ! हा हरि' कहकर रुदन करने लगे। प्रभुने सभीको कृपाकी दृष्टिसे देखा और सभीको लौट जानेके लिये कहकर आप शान्तिपुरकी ओर चलने लगे। बहुत-से भक्त उनके साथ-ही-साथ शान्ति-पुरको चले। कुछ लौटकर नवद्वीपको आ गये।

इधर नित्यानन्दजी लोगोंको प्रभुके आनेका समाचार सुनाते हुए शचीमाताके समीप पहुँचे। उस समय माता पुत्रविछोहरूपी रोगसे आक्रान्त हुई बेहोशीके सहित आहें भर रही थी। नित्यानन्दजीने माताके चरण स्पर्श किये। माताने चौंककर देखा कि सामने नित्यानन्द खड़े हैं। अत्यन्त ही अधीरताके साथ माता कहने लगी—'बेटा निताई ! तू अपने भाई निमाईको कहाँ छोड़ आया ? तू तो मुझसे प्रतिज्ञा करके गया था कि मैं निमाईको साथ लेकर आऊँगा ? वह कितनी दूर है ? उसे तू पीछे क्यों छोड़ आया। तू तो सङ्ग लानेके लिये कह गया था। मेरा निमाई कहाँ है ? बेटा ! मुझे जल्दीसे बता दे। तेरे ही कहनेसे मैंने अबतक प्राण रखे हैं। अब तू मुझे जल्दी बता दे। कहीं तू भी तो मुझे निमाईकी तरह धोखा नहीं देता ? तू सच-सच बता दे निमाई कहाँ है। मैं वहीं जाऊँगी, तू मुझे अभी उसी देशमें ले चल, जहाँ मेरा निमाई हो।'

उपवासोंसे क्षीण हुई दुःखिनी माताको धैर्य बँधाते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'माता ! तुम इतनी अधीर मत हो। मैं तुम्हारे निमाईको साथ ही लेकर आया हूँ। वे शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घरपर हैं। उन्होंने तुम्हें वहीं बुलाया है, मैं तुम्हें वहीं ले चलूँगा।'

'निमाई शान्तिपुर है' इतना सुनते ही मानो माताके गये हुए प्राण फिरसे शरीरमें लौट आये। वह अधीर होकर कहने लगी—'बेटा ! मुझे शान्तिपुर ले चल ! मैं जबतक निमाईको देख न लूँगी, तबतक मुझे शान्ति न होगी।'

नित्यानन्दजीने देखा कि माता चिरकालके उपवासोंसे अत्यन्त ही क्षीण हो गयी हैं। उन्होंने निमाईके जानेके दिनसे आजतक अन्नका दर्शन-तक नहीं किया है। ऐसी दशामें यदि इन्हें प्रभुके समीप ले चलेंगे तो इन्हें महान् दुःख होगा; इसलिये इन्हें जैसे भी बने तैसे आग्रहपूर्वक थोड़ा-बहुत भोजन कराना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने कहा—'माता! मैं तो भूखके मारे मरा जा रहा हूँ। जबतक तुम्हारे हाथका बना हुआ भोजन न पाऊँगा, तबतक मेरी तृप्ति न होगी। इसलिये जल्दीसे दाल-भात बनाकर मुझे खिला दो, तब प्रभुके समीप चलेंगे। मुझसे तो भूखके कारण चला भी नहीं जाता।'

नित्यानन्दजीकी ऐसी बात सुनकर कुछ शंकित-चित्तसे माताने कहा—'निताई! तू मुझे छल तो नहीं रहा है? मुझे भोजन करानेके निमित्त ही तो, निमाईके शान्तिपुर आनेका बहाना नहीं कर रहा है? तू मुझे सत्य-सत्य बता दे निमाई कहाँ है?'

नित्यानन्दजीने माताके चरणोंको स्पर्श करते हुए कहा—'माता! मैं तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करके कहता हूँ, कि मैं तुम्हें ठग नहीं रहा हूँ। प्रभु फुलिया होकर शान्तिपुर मेरे सामने गये हैं और मुझे तुम्हें लानेके लिये ही नवद्वीप भेजा है।'

नित्यानन्दजीकी इस बातसे माताको सन्तोष हुआ, वह बड़े कष्टके साथ उठीं और उठकर स्नान किया। फिर विधिवत् भोजन बनाया। भोजन बनाकर भगवान्‌का भोग लगाया और नित्यानन्दजीके लिये परोस-कर उनसे भोजन करनेके लिये कहा।

नित्यानन्दजीने आग्रहके साथ दृढ़ता दिखाते हुए कहा—'पहले माता कर लेंगी तब मैं भोजन करूँगा।'

माताने कहा—'बेटा ! मेरे भोजनको तो निमाई साथ ले गया। अब वही जब करावेगा तब भोजन करूँगी, उसके बिना देखे मुझे भोजन भावेगा ही नहीं।'

नित्यानन्दजीने कहा—'तुम्हारा एक बेटा निमाई तो शान्तिपुर है, दूसरा बेटा तुम्हारे सामने है। तुम अब भी भोजन न करोगी, तो मैं भी नहीं करता। मैं माताको बिना खिलाये भोजन कर ही नहीं सकता।'

माताने कुछ आग्रहके स्वरमें कहा—'पहले तू कर तो ले, तब मैं भी करूँगी। बिना तुझे खिलाये मैं कैसे खा सकती हूँ ?'

नित्यानन्दजीने प्रेमपूर्वक बच्चोंकी भाँति कहा—'हाँ, यह बात नहीं है, मैं तो तुम्हें कराके ही भोजन करूँगा। अच्छा, तुम मेरी शपथ खाकर कह दो, कि मेरे कर लेनेके पश्चात् तू भी भोजन कर लोगी।'

नित्यानन्दजीके अत्यन्त आग्रह करनेपर माताने भोजन करना स्वीकार कर लिया। तब नित्यानन्दजीने प्रेमपूर्वक माताके हाथका बना हुआ प्रसाद पाया। उनके भोजन कर लेनेके उपरान्त माताने विष्णुप्रियाजीको भी आग्रहपूर्वक भोजन कराया और स्वयं भी दो-चार ग्रास खाये। किन्तु उनके मुखमें अन्न जाता ही नहीं था। जैसे-तैसे करके उन्होंने थोड़ा भोजन किया।

माताके भोजन कर लेनेके अनन्तर नित्यानन्दजीने चन्द्रशेखर तथा श्रीवास आदि भक्तोंसे कहा—'आपलोग पालकीका प्रबन्ध करके माताको साथ लेकर अद्वैताचार्यके घर शान्तिपुर आवें। तबतक मैं आगे चलकर देखता हूँ कि प्रभु पहुँचे या नहीं।' भक्तोंने नित्यानन्दजीकी बातको स्वीकार किया। वे शान्तिपुरकी तैयारियाँ करने लगे। इधर उतावले अवधूत नित्यानन्दजी जल्दीसे दौड़ते हुए शान्तिपुर पहुँचे।

अद्वैताचार्यके घर पहुँचकर नित्यानन्दजीने देखा प्रभु अभीतक वहाँ नहीं पहुँचे तब उन्होंने आचार्यसे पूछा—'क्या प्रभु यहाँ नहीं आये ?' प्रभुके आगमनकी बात सुनकर अद्वैताचार्य प्रेममें गद्गद हो उठे। रुँधे हुए कण्ठसे उन्होंने कहा—'क्या प्रभु इस दीन-हीन कङ्गालके ऊपर कृपा करेंगे ? क्या प्रभु अपनी चरण-धूलिसे इस अकिञ्चनके घरको पावन बनावेंगे ?'

नित्यानन्दजीने कहा—'मुझे वे नवद्वीप भेजकर स्वयं फुलिया होते हुए आपके यहाँ आनेवाले थे। यहींपर माता तथा भक्तोंको भी बुलाया है। आते ही होंगे।' इतना सुनते ही वृद्ध आचार्य आनन्दमें विभोर होकर उछल-उछलकर नृत्य करने लगे। उस समय उनकी दशा विचित्र थी, वे हर्ष और शोक दोनोंके बीचमें पड़े हुए थे। वे प्रभुके संन्यासका स्मरण करके तो दुःखित-भावसे रुदन कर रहे थे और प्रभुके पधारने और उनके दर्शन पानेके सुखके कारण भीतर-ही-भीतर परम प्रसन्न हो रहे थे। उसी समय उन्होंने अपनी धर्मपत्नी सीतादेवीसे प्रभुके लिये भाँति-भाँतिके भोजन बनानेको कहा। आचार्यपत्नी सीतादेवी तो उसी समय नाना प्रकारके व्यञ्जनोंके बनानेमें लग गयी और आचार्य देव अपने पुत्र, हरिदास, नित्यानन्द तथा अन्य भक्तोंके सहित प्रभुको देखनेके लिये गङ्गा-किनारे पहुँचे।

गंगा-किनारे पहुँचकर दूरसे ही आचार्यने देखा बहुत-से भक्तोंसे घिरे हुए, हाथमें दण्ड-कमण्डलु धारण किये गेरुए रङ्गके वस्त्र पहने प्रभु जल्दी-जल्दी शान्तिपुरकी ओर आ रहे हैं। दूरसे देखते ही आचार्यने पृथ्वीपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। जल्दीसे आकर प्रभु भी दण्ड-कमण्डलुके सहित आचार्यके चरणोंमें गिर पड़े। उनके चरणोंमें हरिदासजी पड़े और इसी प्रकार एक-दूसरेके चरणोंको पकड़कर भक्त जोरोंके सहित क्रन्दन करने लगे।

घाटपरके स्त्री-पुरुष इस प्रेमदृश्यको देखकर आश्चर्यचकित हो गये। सभी इस अपूर्व प्रेमकी प्रशंसा करने लगे। बहुत देरके अनन्तर प्रभु स्वयं उठे। उन्होंने अद्वैताचार्यको अपने हाथोंसे उठाया और अपने चरणोंके समीप पड़े हुए आचार्य अद्वैतके पुत्र अच्युतको प्रभुने गोदीमें उठा लिया। और अपने रँगे वस्त्रसे उसके शरीरकी धूलि पोंछते हुए कहने लगे—'आचार्य तो हमारे पिता हैं, तुम्हारे भी वे ही पिता हैं क्या? तब तो हम तुम दोनों भाई-भाई ही हुए ? क्यों ठीक है न ? बताओ हम तुम्हारे भाई नहीं हैं ? हमें पहचानते हो ?'

बालक अच्युतने उत्तर दिया—'प्रभो! आप चराचर जीवोंके पिता हैं। आपके पिता कौन हो सकते हैं ? आप तो वैसे ही मुझसे हँसी कर रहे हैं।'

बालकके ऐसे अद्भुत उत्तरको सुनकर अद्वैताचार्य आदि सभी भक्त प्रसन्न होकर उस बालककी बुद्धिकी सराहना करने लगे। प्रभुने भी कई बार अच्युतके मुँहको चूमा और आप सभी भक्तोंके सहित आचार्यके घर पहुँचे। घर पहुँचनेपर आचार्यने प्रभुके चरणोंको धोया और अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, चन्दन, पुष्पमाला आदि पूजनकी सामग्रियोंसे विधिवत् उनकी पूजा की। फिर प्रभुके पादोदकका स्वयं पान किया, भक्तोंको बाँटा और अपने सम्पूर्ण घरमें उसे छिड़का। प्रभुके पधारनेके कारण आचार्यके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा, वे बार-बार अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे।

माताको संन्यासी पुत्रके दर्शन

यस्यास्ति वैष्णवः पुत्रः पुत्रिणी साभिधीयते।
अवैष्णवपुत्रशता जननी शूकरीसमा ॥*

उस शचीदेवीके सौभाग्यकी सराहना करनेकी सामर्थ्य भला किस पुरुषमें हो सकती है, जिसके गर्भसे दो संसार-त्यागी, विरागी संन्यासी महापुरुष उत्पन्न हुए ? जगन्माता शचीदेवीकी कोख ही मातृकोख कही जा सकती है। सौ पुत्रोंको जननेवाली शूकरी माताओंकी इस संसारमें कुछ कमी नहीं है, किन्तु उनका गाँव-से-गाँवमें और मुहल्ले-से-मुहल्लेमें भी कोई नाम नहीं जानता, पर गौराङ्गको उत्पन्न करके शचीमाता जगज्जननी बन गयीं। गौर-भक्त संकीर्तनके समय—

जय शचीनन्दन गौर गुणाकर। प्रेम परशमणि भाव रससागर॥

—आदि संकीर्तनके पदोंको गा-गाकर आज भी जगन्माता शचीदेवीके सौभाग्यकी सराहना करते हुए उन्हें भगवान्‌की माता कह-कहकर रुदन करते हैं।

पुत्रोंके संन्यासी होनेपर स्वाभाविक मातृस्नेहके कारण जगन्माता शचीदेवीको अपार दुःख हुआ था। उस दुःखने ही उन्हें जगन्माताके दुर्लभ पदतक पहुँचा दिया। उस महान् दुःखको उन्होंने धैर्यके साथ सहन किया। सच है भगवान् जिसे जितना ही भारी दुःख देते हैं, उसे

* जिसका पुत्र वैष्णव है, असलमें तो वही माता पुत्रिणी कहलानेके योग्य है। यदि अवैष्णव सौ पुत्रोंको जननेवाली माता क्यों न हो, वह माता शूकरीके समान है। शूकरी तीसरे ही महीने बहुत-से बच्चे पैदा कर देती है।

उतनी ही अधिक सहनशक्ति भी प्रदान कर देते हैं। जिसका एक युवावस्थापन्न पुत्र अविवाहित-दशामें ही घर-बार छोड़कर चला गया हो, पति परलोकवासी हो गये हों, जिस पुत्रके ऊपर जीवनकी सम्पूर्ण आशाएँ लगी हुई थीं, वही वृद्धावस्थाका एकमात्र सहारा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्र घरमें सन्तानहीन युवती स्त्रीको छोड़कर सदाके लिये संन्यासी बन गया हो, उस माताका हृदय बिना फटे कैसे रह सकता था? किन्तु जिसके गर्भमें प्रेमावतार गौराङ्गने नौ महीने नहीं, तेरह महीने निवास किया हो, उस वीरप्रसविनी माताके लिये इतनी अधीरताका अनुमान कर ही कौन सकता है? फिर भी मातृस्नेह बड़ा ही अद्भुत होता है, पुत्रवियोगरूपी दुःखको हँसते हुए सहन करनेवाली माता पृथ्वीपर पैदा ही नहीं हुई। मदालसा आदि तो अपवादस्वरूप हैं। देवकी, यशोदा, कौशल्या, देवहूति आदि सभी अवतारजननी माताओंको पुत्रवियोगसे विलखना पड़ा। सभीने अपने करुण-क्रन्दनसे स्वाभाविक और सहज मातृस्नेहका परिचय देते हुए सर्वसमर्थ पुत्रोंके लिये आँसू बहाये। फिर शचीदेवी किस प्रकार बच सकती थी? वह भी चन्द्रशेखर आचार्य तथा श्रीधर आदि भक्तोंसे जल्दी ही शान्तिपुरको चलनेका आग्रह करने लगी। आचार्यने उसी समय एक पालकीका प्रबन्ध किया और उसपर माताको चढ़ाकर शान्तिपुरकी ओर चलने लगे। माता तो पालकीपर चढ़कर संन्यासी पुत्रको देखनेके लिये चल दी, किन्तु पतिप्राणा बेचारी विष्णुप्रिया क्या करती। उसे तो अपने संन्यासी पतिके दूरसे दर्शन करनेतककी भी आज्ञा नहीं थी। वह तो गेरुआ वस्त्र पहने अपने प्राणनाथको आँख भरकर देख भी नहीं सकती थी। उसके लिये तो उसके जीवन-सर्वस्व अन्य लोगोंकी भी अपेक्षा बिराने बन गये, किन्तु यह बात नहीं थी। लोकदृष्टिसे उसके पति चाहे संन्यासी भले ही

बन गये हों, शिष्टाचारकी रक्षाके निमित्त चाहे वह अपने प्राणनाथके इस स्थूल शरीरके दर्शन न कर सकें, किन्तु उसके आराध्यदेव तो सदा उसके हृदय-मन्दिरमें निवास कर रहे थे। वहींपर वह उनकी पूजा करती और अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाकर भक्तिभावसे सदा उन्हें प्रणाम करती रहती। उसने वीरपत्नीकी भाँति अपनी साससे कहा—'माताजी! आप जायँ और उन्हें देख आवें। मेरे भाग्यमें उनके दर्शन नहीं बदे हैं तो नहीं। मेरा इससे बढ़कर और क्या सौभाग्य होगा, कि जो सदा हमारे रहे हैं और आगे भी जो सर्वदा हमारे ही रहेंगे, उनके दर्शनके लिये आज शत्रु-मित्र सभी जा रहे हैं। मैं तो उन्हींकी हूँ और उन्हींकी रहूँगी, चाहे वे संन्यासवेशमें रहें या गृहस्थी-वेशमें! मेरे हृदयमें इन बाह्य चिह्नोंसे भेदभाव नहीं हो सकता। मेरे तो वे एक ही हैं, चाहे जिस अवस्थामें रहें।' अपनी पुत्रवधूकी ऐसी बात सुनकर माता मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करती हुई पालकीपर चढ़कर भक्तोंसे घिरी हुई शान्तिपुरकी ओर चली।

इधर महाप्रभुके घर पहुँचते ही अद्वैताचार्यकी धर्मपत्नी सीतादेवीने बात-की-बातमें ही भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनाकर तैयार कर लिये। जितने व्यञ्जन उसने बनाये थे, उतने व्यञ्जनोंको अनेकों स्त्रियाँ मिलकर कई दिनोंमें भी नहीं बना सकती थीं। खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन तथा भाँति-भाँतिके अनेक पदार्थ बनाये गये, बीसों प्रकारके साग थे, एक केलेके ही साग कई प्रकारसे बनाये गये। चावलकी, मखानोंकी, रामतोरईकी, केलेकी तथा तीकुरकी कई प्रकारकी खीरें थीं। मूँगके, उड़दके, छुहियोंके और भी कई प्रकारके बड़े थे। कद्दूका, बथुएका, पोदीनेका, धनियेका और निकुतियोंका अलग-अलग पात्रोंमें रायता रखा हुआ था। भाँति-भाँतिकी मिठाइयाँ थीं। विविध प्रकारके अचार तथा मुरब्बे थे। बहुत बढ़िया

चावल बनाये गये थे। मूँग, उड़द, अरहर, मोंठ, चना आदि कई प्रकार-की अलग-अलग दालें बनायी गयी थीं। दही-चूरा, दूध-चूरा, नारिकेल, दूध आदि विभिन्न प्रकारके द्रव्य तैयार किये गये। आचार्यने तीन स्थानोंमें सभी पदार्थ सजाये और भगवान्‌का भोग लगाकर प्रभुसे भोजन करनेकी प्रार्थना की।

प्रभुके बैठनेके लिये आचार्यने दो आसन दिये और उन्हें हाथ पकड़कर भोजनके लिये बिठाया। भाँति-भाँतिकी इतनी सामग्रियोंको देखकर प्रभु कहने लगे—'धन्य है, जिनके घरमें इतने सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंका नित्यप्रति भगवान्‌को भोग लगता हो, उनकी चरण-धूलिसे पापी-से-पापी पुरुष भी पावन बन सकते हैं। सीतामाता तो साक्षात् अन्नपूर्णा मातेश्वरी हैं, जिनके द्वारपर सदाशिव सदा अपना खप्पर फैलाये भिक्षाके निमित्त खड़े रहते हैं, उनके लिये इतने व्यञ्जनोंका बनाना कौन कठिन है?'

आचार्यदेवने कहा—'शिवजी भी विष्णुकी शरणमें गये बिना अन्नपूर्णाको अगस्त्यके शापसे छुटानेमें समर्थ नहीं हैं, फिर चाहे वे कितने भी अधिक व्यञ्जन बनाना क्यों न जानती हों।'*

*** इस सम्बन्धमें एक कथा है। एक दिन अन्नपूर्णामाता पार्वतीजीने किसी व्रतका पारायण किया। इसके उपलक्ष्यमें वे एक योग्य-तपस्वी ब्राह्मणको भोजन कराना चाहती थीं। उन्होंने अगस्त्यजीको भोजन करानेका विचार किया और अपनी इच्छा देवाधिदेव महादेव-जीके सम्मुख प्रकट की। महादेवजीने सुनते ही कानोंपर हाथ रखते हुए और अपने दाँतोंसे जीभ काटते हुए कहा—'पप्पा रे पप्पा! अगस्त्य-जीका पेट कौन भर सकेगा? देवि! तुम इस विचारको छोड़ दो, किसी दूसरे ब्राह्मणको भोजन करा दो।' जगन्माता पार्वतीदेवीको अपनी शक्तिका गर्व था। उन्होंने कुछ अभिमानके स्वरमें कहा—'क्या**

आचार्यकी ऐसी गूढ़ बातको सुनकर प्रभु मन-ही-मन मुस्कराये और नित्यानन्दजीकी ओर देखने लगे। नित्यानन्दजी बालकोंकी तरह कहने लगे—'इधर आठ-दस दिनसे ठीक-ठीक भोजन ही नहीं मिला। व्रत-सा ही हुआ है, आज व्रतका खूब पारायण होगा। आचार्य महाराज जल्दीसे क्यों नहीं लाते?'

आचार्यने कुछ हँसते हुए भाँति-भाँतिके पदार्थोंको दोनों भाइयोंके सामने रखा। प्रभु उनमें खट्टे, मीठे, चरपरे और अनेक प्रकारके मीठे और घृतमें सने हुए पदार्थोंको देखकर कहने लगे—'आचार्यदेव! आप ही तो

मैं एक अगस्त्यजीका भी पेट न भर सकूँगी। वे कितना भी खायँ, मैं सब प्रबन्ध कर लूँगी।' शिवजीने कहा—'देवि! तुम अपना हठ छोड़ दो। अगस्त्यजी तो बडवानलके साक्षात् अवतार हैं, उन्हें तृप्त करना कोई हँसी-खेल नहीं है। और भी तो ज्ञानी-तपस्वी, ऋषि-महर्षि बहुतेरे हैं।' बाल-हठ और त्रिया-हठ ये ही तो दो प्रसिद्ध हठ हैं। पार्वतीजी अगस्त्यजीके ही निमन्त्रणपर अड़ गयीं। शिवने कहा—'अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा, किन्तु तुम्हीं सब करना-धरना। मैं इस चक्करमें न पड़ूँगा। तुम्हारे कहनेसे उन्हें निमन्त्रण दिये आता हूँ।' इतना कहकर शिवजी अगस्त्य-मुनिको निमन्त्रित कर आये। ठीक समयपर अगस्त्य भगवान् पधारे। पार्वतीजीने हजारों यक्ष, किन्नर तथा देवताओंकी स्त्रियाँ भाँति-भाँतिकी भोज्य-सामग्रियाँ बनानेके लिये बुला ली थीं। उन्होंने बहुत-से सामान बनाये। अगस्त्यजी भोजन करने बैठे। वे खट्टे, मीठे, नमकीन आदि किसी प्रकारके पदार्थका स्वाद नहीं देखते। जो सामने आया 'स्वाहा'। इस प्रकार सभी सामानको चट कर गये। जो सामने आता जाय उसे ही उड़ाते जायँ। अब तो पार्वतीजी घबड़ायीं। वे लज्जाके कारण शिवजीसे भी नहीं कहती थीं, किन्तु दूसरा कोई उपाय ही नहीं था। अन्तमें ये कालकूटके भक्षण करनेवाले शिवजीकी

सोचें इतने सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंको खाकर संन्यासी अपने धर्मकी रक्षा किस प्रकार कर सकता है? क्या इन पदार्थोंको खाकर संन्यासी अपनी इन्द्रियों-का संयम कर सकेगा? आपने इतने पदार्थ क्यों बनवाये।'

ही शरणमें गयीं। हँसकर शिवजीने कहा—'देवि! मैंने पहले ही कहा था। तुम कितना भी खिलाती रहो, ये महात्मा तृप्त न होंगे और बिना तृप्त हुए ये उठेंगे नहीं। इन्हें तो कोई छलसे ही उठा सकता है और छलकी विद्या विष्णुके सिवा कोई दूसरा जानता नहीं इसलिये मैं उन्हींके पास जाता हूँ।' यह कहकर शिवजी विष्णुभगवान्के पास पहुँचे। सब वृत्तान्त सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—'पार्वतीजीने हमारा तो कभी निमन्त्रण किया नहीं, अब आपत्तिके समय हमें बुलाया है। हमें भी भोजन करावें, तो चलें।' शिवजीने अपनी जटाओंपर हाथ फेरते हुए कहा—'महाराज, एक ब्राह्मणसे तो निबट लें, तब आपकी देखी जायगी। चलो जैसे हो वैसे उनके इस सङ्कटको छुड़ाओ।' शिवजीकी प्रार्थनापर भगवान् आकर अगस्त्यजी-के साथ भोजन करने लगे। भोजन करते-करते ही बीचमें विष्णु-भगवान् झटसे उठ पड़े। नीतिका वचन है कि पंक्तिमें एकके उठ जानेपर दूसरेको भोजन नहीं करना चाहिये। विवश होकर अगस्त्यजी भी उठ पड़े। वे भगवान्के ऊपर बड़े नाराज हुए। क्रुद्ध होकर कहने लगे 'आपने बीचमें उठकर यह अच्छा काम नहीं किया। मेरा पेट भी नहीं भरा, अब मुझे जल तो पी लेने दो।' हाथ जोड़कर भगवान्ने कहा—'दया करो महाराज, भोजन तो आपको थोड़ा-बहुत करा भी दिया। आपको जल पिलानेकी सामर्थ्य नहीं है। मैं इकट्ठा ही कभी आपको जल पिलाऊँगा।' उस वादेको भगवान्ने समुद्रका सम्पूर्ण जल पिलाकर पूरा किया। यहाँपर सीतादेवी तो पार्वती हैं, आचार्य शिवस्वरूप हैं, नित्यानन्दको अगस्त्य बताकर आचार्य विनोद कर रहे हैं। महाप्रभुको विष्णु बताकर नित्यानन्दजीके भयसे बचना चाहते हैं।

हँसते हुए आचार्यने कहा—'आप जैसे संन्यासी हैं, उसे तो मैं खूब जानता हूँ। मेरे सामने बहुत मत बनिये। चुपचाप जैसा मेरे घरमें रूखा-सूखा मुट्ठीभर अन्न है, उसे ही ग्रहण कर लीजिये।'

प्रभुने कहा—'तब फिर आप भी हमारे साथ बैठकर भोजन कीजिये। और आपने यह दस-दस आदमियोंके खानेयोग्य पदार्थ हमलोगोंके सामने क्यों परोस दिये हैं, इन्हें कौन खायँगे ?'

हँसकर आचार्यने कहा—'जगन्नाथजीमें तो भक्तोंके अर्पण किये हुए भाँति-भाँतिके कई मन पदार्थोंको अनेकों बार उड़ा जाते हो, यहाँ इतना अन्न भी न खा सकोगे; जगन्नाथजीकी अपेक्षा तो ये दो ग्रास भी नहीं हैं।'

प्रभु आचार्यकी इस अत्युक्तिसे कुछ लज्जित-से हुए और कहने लगे—'नहीं, सचमुच पदार्थ बहुत अधिक हैं, थोड़े निकाल लीजिये। संन्यासीको उच्छिष्ट छोड़नेका विधान नहीं है, यदि मुझे और आवश्यकता होगी तो फिर ले लूँगा।'

प्रभुके अत्यन्त आग्रह करनेपर आचार्य उस आहारमेंसे कुछ कम करने लगे। इतनेमें ही नित्यानन्दजी बोल उठे—'आप दोनों झगड़ा करते रहें। मेरी तो इन इतने सुन्दर-सुन्दर व्यञ्जनोंको देखकर लार टपकी पड़ती है, मैं तो खाता हूँ। यह देखो, यह लड्डू गपक्क! यह देखो, यह रबड़ी साड़ सड़ाबड़ सड़बड़ सड़बड़ सूँ। ऐसा कहते-कहते और हँसते-हँसते वे रबड़ी और खीरको सबड़ने लगे। प्रभुने भी भोजन करना आरम्भ किया। प्रभुके पात्रोंसे जो वस्तु चुक जाती उसे उसी समय आचार्य उतनी ही मात्रामें फिर परोस देते। प्रभु बहुत मना करते, किन्तु आचार्य उनकी एक भी नहीं सुनते थे। इस प्रकार उनके सामने सब पदार्थ ज्यों-के-त्यों ही बने रहते और आचार्य उनसे पुनः खानेके लिये आग्रह करते।'

बीच-बीचमें आचार्यदेव नित्यानन्दजीसे विनोद भी करते जाते थे। आचार्यदेव कहने लगे—'अवधूत महाराज, आपका पेट भर देना तो अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि आप अगस्त्यजीसे कुछ कम नहीं हैं, किन्तु देखना उच्छिष्ट न रहने पावे।'

नित्यानन्दजी कहते—'उच्छिष्ट क्यों रहेगा, परोसते जाओ, आज ही तो बहुत दिनोंमें भोजनोंका सुयोग प्राप्त हुआ है। आज ऐसे ही थोड़े उठकर जाऊँगा। आज तो खूब भरपेट भोजन करूँगा।'

आचार्य बनावटी दीनता दिखाकर हाथ जोड़े हुए बोले—'दया करो बाबा! आपका पेट भरना सहज काम नहीं है। मैं ठहरा गरीब ब्राह्मण! मैं कहाँसे आपके लिये इतना अन्न लाऊँगा? मुठ्ठी-दो-मुठ्ठी जो कुछ रूखा-सूखा अन्न है उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो रहो।'

इस प्रकार आचार्य और नित्यानन्दजीमें परस्पर विनोदकी बातें होती जाती थीं। प्रभु दोनोंके प्रेम-कलहको देखकर खूब हँसते जाते थे। इस प्रकार आचार्यदेवकी इच्छाके अनुसार प्रभुने खूब पेटभर भोजन किया। नित्यानन्दजीने भी अन्य दिनोंकी अपेक्षा दुगुना-तिगुना भोजन किया और अन्तमें एक मुट्ठी चावल अपनी थालीमेंसे लेकर आचार्यके ऊपर फेंकते हुए कहने लगे—'लो, अब आपके ऊपर दया करके उठ पड़ता हूँ, वैसे पेट तो मेरा अभी भरा नहीं है।'

आचार्यने कुछ बनावटी क्रोध प्रकट करते हुए कहा—'श्रीविष्णु! श्रीविष्णु!! यह आपने क्या किया? मेरा सभी धर्म-कर्म नष्ट कर दिया। भला जिसके जाति-कुलका कुछ भी पता न हो, ऐसे. घर-घरसे माँगकर खानेवाले अवधूतके उच्छिष्ट अन्नका शरीरसे स्पर्श हो गया, अब इसका क्या प्रायश्चित्त किया जाय?'

नित्यानन्दजीने कहा— उच्छिष्ट-स्पर्शसे पाप नहीं हुआ है, विष्णु-भगवान्‌के प्रसादमें उच्छिष्ट-भावना रखनेका पाप हुआ है। सो इसका यही प्रायश्चित्त है कि पचास संन्यासी महात्माओंको भोजन कराइये और उनमें मैं अवश्य रहूँ।'

आचार्य बनावटी आश्चर्य प्रकट करते हुए कहने लगे—'ना बाबा! संन्यासियोंसे भगवान् दूर ही रखे। ये सबका धर्म-कर्म नष्ट करके अपना-सा ही बनाना चाहते हैं। अपने घरसे जो बढ़ती हो यह संन्यासियोंको भोजन करावे, मैं तो अपने घरमें अकेला ही हूँ।' इस प्रकार हास-परिहासमें ही भोजन समाप्त हुआ। आचार्यने दोनों संन्यासी भाइयोंके हाथ धुलाये और उन्हें लवंग इलाइची आदि खानेके लिये दीं। प्रभु तीन-चार दिनके थके हुए थे, अतः वे भोजन करके विश्राम करनेके लिये बाहर-वाले मकानमें चले गये। एक सुन्दर तख्तपर आचार्यने शीतलपाटी बिछा दी, उसीके ऊपर अपना काषाय वस्त्र बिछाकर प्रभु आराम करने लगे। आचार्यदेव उनके चरणोंको दबानेके लिये बढ़े। आचार्यके हाथोंसे बल-पूर्वक अपने चरणोंको छुड़ाते हुए प्रभु कहने लगे—'आप मुझे इस प्रकार लज्जित करेंगे, तो मुझे बड़ा भारी दुःख होगा। मैं तो आपके पुत्र अच्युतके समान हूँ। मुझे स्वयं आपके चरण दबाने चाहिये, अब आप हरिदास और मुकुन्द दत्त आदि भक्तोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन कीजिये।'

प्रभुकी ऐसी आज्ञा पाकर आचार्य घरके भीतर गये और सभी भक्तोंको भोजन करानेके अनन्तर उन्होंने स्वयं भी प्रसाद पाया, और फिर प्रभुके ही समीप आकर बैठ गये।

तीसरे पहर अत्यधिक थक जानेके कारण प्रभुकी कुछ-कुछ आँखें झपने लगीं, उन्हें थोड़ी-थोड़ी नींद आ गयी थी, सहसा उनके कानोंमें

गगनभेदी हरिध्वनि सुनायी पड़ी। उस तुमुल ध्वनिके सुनते ही प्रभु चौंक पड़े और उठकर बैठे हो गये।

अपने चारों ओर देखते हुए प्रभु आचार्यसे पूछने लगे—'आचार्य-देव ! यह इतनी भारी हरिध्वनि कहाँसे सुनायी पड़ रही है ?'

आचार्यने कहा—'मालूम पड़ता है, नवद्वीपसे बहुत-से भक्त प्रभुके दर्शनोंके लिये आ रहे हैं।' यह कहते-कहते आचार्य बाहर निकलकर देखने लगे। थोड़ी देरमें उन्हें सामनेसे श्रीवास, रमाई, पुण्डरीक विद्यानिधि, गंगादास, मुरारी गुप्त, शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी, बुद्धिमन्त खाँ, नन्दनाचार्य, श्रीधर, विजयकृष्ण, वासुदेव घोष, दामोदर, मुकुन्द, संजय आदि बहुत-से भक्त खोल, करताल लिये हुए और हरिध्वनि करते हुए आते हुए दिखायी देने लगे। उन्होंने उल्लासके साथ जोरोंसे चिल्लाकर कहा—'प्रभो ! सबके सब आ रहे हैं। कोई भी बाकी नहीं बचा। बाकी कैसे बचे, जहाँ राजा वहाँ ही प्रजा। भक्त भगवान्‌से पृथक् रह ही कैसे सकते हैं।' आचार्यकी ऐसी बात सुनकर प्रभु जल्दीसे जैसे बैठे थे, वैसे ही बाहर निकल आये। भक्तोंको सामनेसे आते हुए देखकर प्रभु उनकी ओर दौड़े। उस समय प्रभु प्रेममें ऐसे विभोर हो रहे थे कि उन्हें सामनेके ऊँचे चबूतरेका ध्यान ही नहीं रहा। वे ऊपरसे एकदम कूद पड़े। प्रभुको अपनी ओर आते देखकर भक्त वहींसे प्रभुके लिये साष्टाङ्ग करने लगे। बहुत दूरतक भक्तोंकी लम्बी पड़ी हुई पंक्ति-ही-पंक्ति दिखायी देती थी। प्रभुने जल्दीसे जाकर सबको उठाया। किसीको गलेसे लगाया, किसीको स्पर्श किया, किसीका हाथ पकड़ा, किसीको स्वयं प्रणाम किया और किसीकी ओर खाली देख ही भर दिया। इस प्रकार विविध प्रकारसे प्रभुने सभीको सन्तुष्ट कर दिया। प्रभुको संन्यासी-वेषमें सामने खड़े देखकर भक्त आनन्द और दुःखके कारण रुदन कर रहे थे। वे प्रभुके केशशून्य

मस्तकको देखकर पछाड़ खा-खाकर गिरने लगे। प्रभु श्रीवास पण्डितका हाथ पकड़े हुए आगे-आगे चलने लगे। अद्वैताचार्य भी उनके पीछे थे। उनके पीछे सभी नवद्वीपके भक्त चल रहे थे। प्रभुको आगे जाते देखकर चन्द्रशेखर आचार्यरत्नने आगे बढ़कर कहा—'प्रभो! शचीमाता भी आयी हुई हैं!'

इतना सुनते ही प्रभु चौंककर खड़े हो गये और सम्भ्रमके सहित पूछने लगे—'कहाँ हैं?'

आचार्यरत्नने धीरेसे कहा—'इस पासके नीमके समीप ही उनकी पालकी रखी हुई है।' इस बातको सुनते ही प्रभु जल्दीसे पीछे लौट पड़े। अद्वैताचार्य तथा अन्य भक्त भी प्रभुके पीछे-पीछे चले। दूरसे ही पालकीमें बैठी हुई माताको देखकर प्रभुने भूमिमें लोटकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। पुत्रवियोगसे दुखी हुई वृद्धा माताने पालकीमेंसे उतरकर अपने संन्यासी पुत्रका आलिंगन किया और उनके केशशून्य मस्तकपर हाथ फिराती हुई कहने लगीं—'निमाई! संन्यासी होकर तू मुझे प्रणाम करके और अधिक पापका भागी क्यों बनाता है? तैंने जो किया सो तो अच्छा ही किया। अब तू मेरे घर रहनेयोग्य तो रहा ही नहीं, किन्तु बेटा! इस अपनी दुःखिनी बूढ़ी माताको एकदम भूल मत जाना। तू भी विश्वरूपकी तरह निष्ठुर मत बन जाना। उसने तो जिस दिनसे घर छोड़ा है, आजतक सूरत ही नहीं दिखायी। तू ऐसा मत करना।' इतना कहते-कहते माता अधीर होकर गिर पड़ी। प्रभु भी अचेत होकर माताकी गोदीमें पड़ गये और छोटे बालककी भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। रोते-रोते वे कहने लगे—'माँ, मैं चाहे कैसा भी संन्यासी क्यों न हो जाऊँ, तुम मेरी माता हो और मैं तुम्हारा सदा पुत्र ही बना रहूँगा। जननी! मैं तुम्हारे ऋणसे कभी भी उऋण नहीं हो सकता। माता!

मातृ-दर्शन

मैंने जल्दीमें बिना सोचे-समझे ही संन्यास ग्रहण कर लिया है, फिर भी मैं तुमसे पृथक् नहीं होऊँगा, जहाँ तुम्हारी आज्ञा होगी, वहीं रहूँगा।'

प्रभुके ऐसे सान्त्वनापूर्ण प्रेम-वचनोंको सुनकर माताको कुछ सन्तोष हुआ, उन्होंने अपने अञ्चलसे प्रभुके अश्रुओंको पोंछा और उन्हें छोटे बच्चेकी भाँति पुचकारने लगीं।

अद्वैताचार्यने प्रभुसे घरपर चलनेकी प्रार्थना की। प्रभु खड़े हो गये और कहार पालकी उठाकर आचार्यके घरकी ओर चलने लगे। महाप्रभु पालकीके पीछे-पीछे चलने लगे। उनके पीछे बहुत-से भक्त जोरोंसे संकीर्तन करते हुए चल रहे थे। द्वारपर पहुँचकर आचार्यदेवकी धर्मपत्नी सीतादेवीने आगे बढ़कर शचीमाताको पालकीसे नीचे उतारा और अपने साथ उन्हें भीतर घरमें ले गयीं। भक्तवृन्द बाहर खड़े होकर संकीर्तन करने लगे।

शचीमाताका संन्यासी पुत्रके प्रति मातृ-स्नेह

शीलानि ते चन्दनशीतलानि
श्रुतानि भूमीतलविश्रुतानि।
तथापि जीर्णौ पितरावतस्मिन्
विहाय हा वत्स! कथं प्रयासि ॥*

(सु० र० भां० ३७८ । १२)

पुत्र ही माताकी आत्मा है। पुत्र माताके शरीरका एक प्रधान भाग है। पुत्रकी सन्तुष्टिमें माताको सन्तोष होता है। पुत्रकी प्रसन्नतामें

* हे पुत्र! तेरा स्वभाव चन्दनसे भी अधिक शीतल है, तेरे शास्त्रज्ञानकी सम्पूर्ण पृथिवीपर ख्याति हो रही है। इतना कोमल हृदय और ज्ञानी होनेपर भी हाय! बेटा! तू अपनी वृद्धा माता आदिको परित्याग करके वनके लिये क्यों जा रहा है?

माताको प्रसन्नता होती और पुत्रकी तुष्टिमें माता स्वयं अपने तन-मनकी तुष्टिका अनुभव करती है। माताकी एक ही सबसे बड़ी साध होती है, वह अपने प्रिय पुत्रको अपने सामने खाते हुए देखना चाहती है। अपनी शक्तिके अनुसार जितने अच्छे-अच्छे पदार्थ वह अपने पुत्रको खिला सकती है, उतने पदार्थोंको उसे खिलाकर वह इतनी प्रसन्न होती है, जितनी प्रसन्नता उसे स्वयं खानेसे प्राप्त नहीं होती। पुत्र चाहे बूढ़ा भी क्यों न हो जाय, उसके पाण्डित्यका, उसकी बुद्धिका, उसके ऐश्वर्यका चाहे सम्पूर्ण संसार ही लोहा क्यों न मान ले किन्तु माताके लिये वह पुत्र सदा छोटा बालक ही बना रहता है, वह आते ही उसके पेटको देखने लगती है कि कहीं भूखा तो नहीं है। जाते समय वह उससे वस्त्रोंको ठीक तौरसे सम्हालकर रखनेका आदेश करती है। छोटी-छोटी बातोंको वह इस तरहसे बताती है, मानो उसे मार्गके सम्बन्धमें कुछ बोध ही न हो। पुत्रके लिये जलपानका सामान बाँधना वह नहीं भूलती। इसीलिये नीतिकारोंने कहा है—

मात्रा समानं न शरीरपोषणम्।

अर्थात् माताके समान शरीरका पोषण करनेवाला दूसरा व्यक्ति नहीं है।

शचीमाताने अपने निमाईको संन्यासी-वेषमें देखा। यद्यपि अब प्रभु पहलेकी भाँति श्वेत वस्त्र धारण नहीं कर सकते थे। उनके सिरके सुन्दर बाल अब सुगन्धित तैलोंसे नहीं सींचे जाते थे, अब वे धातुके पात्रोंमें भोजन नहीं कर सकते थे, अब उनके लिये एकका ही अन्न खाते रहना निषेध है, तब भी इन बाहरी बातोंसे क्या होता है? माताके लिये तो उसका पुत्र वही पुराना निमाई ही है। सिर मुँड़ाने और कपड़े

रँग लेनेसे उसके निमाईमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। माता उसी तरह प्रभुके ऊपर प्यार करती।

वह स्वयं अपने हाथोंसे प्रभुके भोजनके लिये भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनाती। वह प्रभुके स्वभावसे पूर्णरीत्या परिचित थी। उसे इस बातका पता था, कि निमाई किन-किन पदार्थोंको खूब प्रेमपूर्वक खाता है, उन्हीं सब पदार्थोंको माता खूब सावधानीके साथ बनाती और अपने हाथसे परोसकर प्रभुको खिलाती। प्रभु भी माताके सन्तोषके निमित्त सभी पदार्थोंको खूब रुचिपूर्वक खाते और भोजन करते-करते पदार्थोंकी प्रशंसा भी करते जाते थे। प्रभुके भोजन कर लेनेके अनन्तर शचीमाता और सीतादेवी दोनों मिलकर अन्य सभी भक्तोंको प्रेमके सहित भोजन करातीं। सबको भोजन करानेके पश्चात् स्वयं भोजन करतीं। इस प्रकार आचार्यदेवका घर उस समय उत्सव-मण्डप बना हुआ था। प्रातःकाल सभी भक्त उठकर संकीर्तन करने लगते, इसके अनन्तर सभी प्रभुको साथ लेकर नित्य-कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये गंगा-किनारे जाते, सभी भक्त मिलकर गंगाजीकी सुन्दर बालुकामें भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते रहते। अनन्तर संकीर्तन करते हुए आचार्यके घरपर आ जाते। तबतक शचीमाता भोजन बनाकर तैयार कर रखती। प्रभुके भोजनके अनन्तर सभी भक्त प्रसाद पाते। फिर तीसरे पहरसे श्रीकृष्ण-कथा छिड़ जाती। सभी भगवान्के गुणोंका वर्णन करते तथा श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करके अपने कर्णोंको धन्य करते। सायंकालको फिर गंगा-किनारे चले जाते और प्रभुके साथ अनेक भक्ति-सम्बन्धी गूढ़ विषयोंपर बातें करते रहते। प्रभु अपने सभी अन्तरङ्ग भक्तोंको भक्ति-तत्त्वका रहस्य समझाते, उन्हें उपासनाकी पद्धति बताते और संकीर्तनकी अपेक्षा जप करनेपर अधिक जोर देते। भगवन्नामका जप किसी भी तरहसे किया

जाय, वही कल्याणप्रद होता है। उसमें संकीर्तनके समान दस-पाँच आदमियोंकी तथा खोल-करताल आदि वाद्योंकी भी अपेक्षा नहीं रहती। मनुष्य हर समय, हर स्थानमें, हर अवस्थामें भगवन्नामका जप कर सकता है। वे शिवजीके इस वाक्यको बार-बार दुहराते—

'जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिर्वरानने !'

'अर्थात् हे पार्वतीजी ! मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ, कि जपसे ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।' किसी भक्तको कोई शंका होती तो उसका समाधान प्रभु स्वयं करते। गंगाजीसे लौटनेपर संकीर्तन आरम्भ हो जाता। उन दिनों संकीर्तनमें बड़ा ही अधिक आनन्द आता था। सभी भक्त आनन्दमें बेसुध होकर नृत्य करने लगते। अद्वैताचार्य-की तो प्रसन्नताका ठिकाना नहीं था। वे अपने सौभाग्यकी सराहना करते-करते अपने आपेको भूल जाते। अपने घरमें नित्य प्रति ऐसे समारोहके उत्सवको देखकर उनकी अन्तरात्मा बड़ी ही प्रसन्न होती। कीर्तनके समय वे जोरोंसे भावावेशमें आकर नृत्य करने लगते। नृत्य करते-करते वृद्ध आचार्य अपनी अवस्थाको एकदम भूल जाते और युवकोंकी तरह उछल-उछलकर कूद-कूदकर नाचने लगते। नाचते-नाचते बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ते। घण्टों इसी प्रकार बेहोश हुए पड़े रहते। भक्तोंके उठानेपर बड़ी कठिनतासे उठते।

महाप्रभु अब संकीर्तनमें बहुत कम नृत्य करते थे किन्तु जिस दिन भावावेशमें आकर नृत्य करने लगते, उस दिन उनकी दशा बहुत ही विचित्र हो जाती। उनके सम्पूर्ण शरीरके रोम बिल्कुल सीधे खड़े हो जाते, नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगती, मुँहसे झाग निकलने लगते और 'हरि-हरि' बोलकर इतने जोरोंसे नृत्य करते थे, कि देखने-वालोंको यही प्रतीत होता था, कि प्रभु आकाशमें स्थित होकर नृत्य कर

रहे हैं। भक्तगण आनन्दमें विह्वल होकर प्रभुके चरणोंके नीचेकी धूलिको उठाकर अपने सम्पूर्ण शरीरमें मल लेते और अपने जीवनको सफल हुआ समझते। इस प्रकार दस दिनोंतक प्रभुने अद्वैताचार्यके घरपर निवास किया।

नवद्वीप तथा शान्तिपुरके सभी भक्तोंकी यह इच्छा होती कि प्रभुको एक-एक दिन हम भी भिक्षा करावें, किन्तु माता उन सबसे दीनतापूर्वक कहती—'तुम सब मुझ अभागिनीके ऊपर कृपा करो। तुम सब तो जहाँ भी निमाई रहेगा वहीं जाकर इसे भिक्षा करा आओगे। मुझ दुःखिनीको अब न जाने कब ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा। मेरे लिये तो यही समय है। मैं तुम सभीसे इस बातकी भीख माँगती हूँ, कि जबतक निमाई शान्तिपुर रहे तबतक वह मेरे ही हाथका बना हुआ भोजन पावे। अब उसके ऊपर मेरे ही समान तुम सब लोगोंका अधिकार है किन्तु मेरी ऐसी ही इच्छा है।' माताकी ऐसी बात सुनकर सभी चुप हो जाते और फिर प्रभुके निमन्त्रणके लिये आग्रह न करते। इस प्रकार अपनी जननीके हाथकी भिक्षाको पाते हुए और सभी भक्तोंके आनन्दको बढ़ाते हुए श्रीअद्वैताचार्यके आग्रहसे प्रभु शान्तिपुरमें निवास करने लगे। प्रभु शान्तिपुरमें ठहरे हुए हैं, इस बातका समाचार सुनकर लोग बहुत-बहुत दूरसे प्रभुके दर्शनोंको आया करते। इस प्रकार शान्तिपुरमें प्रभुके रहनेसे एक प्रकारका मेला-सा ही लग गया।

प्रेमावतार चैतन्यदेव मातृस्नेह और अद्वैताचार्यके प्रेमाग्रहके ही कारण दश दिनोंतक शान्तिपुरमें ठहरे रहे।

पुरी-गमनके पूर्व

श्रीकृष्णचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्।
जगत् सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम ॥*
(श्रीधरस्वामी)

भगवान्का स्वरूप निर्गुण है या सगुण ? जगत् मिथ्या है या सत्य ? हृदयमें ऐसी शंकाओंके उत्पन्न होनेसे ही पता चल जाता है, कि अभी हम भगवत्कृपा प्राप्त करनेके पूर्ण अधिकारी नहीं बन सके। जिनके ऊपर भगवान्की पूर्ण कृपा हो चुकी है, उनके मस्तिष्कमें ऐसे प्रश्न उठकर उनके चित्तमें विक्षेप उत्पन्न नहीं करते। भगवान् सगुण हों या निर्गुण, साकार हों या निराकार; यह जगत् सत्य हो अथवा त्रिकालमें भी उत्पन्न न हुआ हो, उच्च साधकोंको इन बातोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं, वे तो यथाशक्ति सभी संसारी परिग्रहोंका परित्याग करके प्रभुके पादपद्मोंमें प्रेम करनेके निमित्त पागल-से बन जाते हैं। वे जगत्की सत्यता और मिथ्यात्वकी उलझनोंको सुलझानेमें अपना अमूल्य समय बरबाद नहीं करते। क्या घटघटव्यापी भगवान् हमारे हृदयकी बातको जानते नहीं ?

* जिन्होंने श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंको ही सत्य मान लिया है, उनके लिये चाहे संसार सत्य हो अथवा असत्य, इस बातकी ओर वे ध्यान नहीं देते। जगत्के सत्यत्व अथवा मिथ्यात्वके कारण उनकी बुद्धि विभ्रममें नहीं पड़ती।

क्या वे सर्वशक्तिमान् नहीं हैं? क्या उनका चित्त दयाभावसे भरा हुआ नहीं है? यदि हाँ, तो वे हमारे हृदयकी सच्ची लगनको समझ दयाके वशीभूत होकर जैसे भी निराकार अथवा साकार होंगे, हमारे सामने प्रकट हो जायँगे। हम द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैतके झमेलेमें क्यों पड़ें? किन्तु ऐसी भावना सबको नहीं हो सकती। जो मस्तिष्कप्रधान हैं वे बिना सोचे रह ही नहीं सकते, उन्हें समझाकर ही श्रद्धा उत्पन्न करानी होगी और उस श्रद्धाके सहारे ही उन्हें सत्यतक पहुँचाना होगा, इसीलिये महर्षियोंने वेदान्तशास्त्रका उपदेश किया है। वेदके अन्तिम भागको वेदान्त कहते हैं। उसका सम्बन्ध विचारसे है। किन्तु हृदयप्रधान तो विचारकी इतनी अधिक परवा नहीं करते, वे तो 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' कहते-कहते ही अपने प्यारेके पादपद्मोंतक पहुँचकर सदा उन्हींके हो रहते हैं। उन्हींके क्या, तद्रूपही-से बन जाते हैं, किन्तु सबको ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकता। जिनके ऊपर उनका अनुग्रह हो वही इस पथका पथिक बन सकता है।

इसपर यह भी शंका हो सकती है, कि फिर 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' कहनेवाला अज्ञानी ही बना रहेगा और बिना ज्ञानके संसार-बन्धनसे मुक्ति नहीं हो सकती 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', तब फिर वह मूर्ख भक्त प्रभुके पादपद्मोंतक कैसे पहुँच सकता है? इसका सीधा उत्तर यही है, कि जो सर्वस्व त्याग करके भगवान्की ही शरणमें अनन्यभावसे आ गया हो, सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्, जिनका स्वरूप ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' है उसे ज्ञानहीन कैसे बना रहने देंगे? उनकी शरणमें आते ही हृदयकी ग्रन्थियाँ आप-से-आप ही खुल जायँगी, बिना प्रयासके ही उसके सभी संशय दूर हो जायँगे, कर्म-अकर्मकी जटिल समस्याओंको बिना सुलझाये ही उसके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जायँगे। भगवत्-शरणागतिमें यही तो

सुलभता, सरलता और सरसता है। आकाश-पाताल एक भी न करना पड़े और आनन्द भी सदा बना रहे, सदा उस अद्भुत रसका पान ही करते रहें। किन्तु इस अनन्य उपासना और भगवत्-प्रपन्नताके लिये सभी संसारी-परिग्रहोंका पूर्ण त्याग करना होगा। तभी उस अद्भुत आशवकी प्राप्ति हो सकती है। खाली ढोंग बना लेने और भेदभावके संकुचित क्षेत्रमें ही बँधे रहनेसे काम न चलेगा।

महाप्रभुको अद्वैतवादी संन्यासियोंकी पद्धतिसे दीक्षा लेने और दण्ड धारण करनेसे अद्वैताचार्यजीको शंका हुई। उन्होंने प्रभुसे पूछा—'प्रभो! आपने अद्वैतवादियोंकी भाँति यह संन्यास-धर्म क्यों ग्रहण किया? आपके सभी कार्य अलौकिक हैं, आपकी लीला जानी नहीं जा सकती। *

इस प्रश्नको सुनकर कुछ मुस्कराते हुए प्रभुने कहा—'आचार्यदेव! आप तो स्वयं विद्वान् हैं। आप विचारकर स्वयं ही देखें, क्या मैं अद्वैतके सिद्धान्तको नहीं मानता? आप ही सोचें, आपमें और ईश्वरमें चिह्नादि-मात्रका ही प्रभेद दिखायी देता है। वस्तुतः तो दूसरा कोई अन्य भेद प्रतीत ही नहीं होता। †

इस उत्तरको सुनकर हँसते हुए अद्वैताचार्य कहने लगे—'धन्य हैं भगवन्! आप तो वाणीके स्वामी हैं, आपके सामने तो कुछ कहते ही नहीं बनता।' ‡

* अद्वैतः—केयं लीला व्यरचि भवता योऽयमद्वैतभाजा-
मत्यन्तेष्टस्तमधृत भवानाश्रमं यत्तुरीयम्।

† भगवान् विहस्य—भो अद्वैत स्मर किमु वयं हन्त नाद्वैतभाजो
भेदस्तस्मिंस्त्वयि च यदि वा रूपतो लिङ्गतश्च॥
(चै० चं० नाटक)

‡ अद्वैतः—वाणीश्वरेण किमुचितं वचनानुवचनम्।
(चै० चं० ना०)

तब प्रभुने बहुत ही गम्भीरताके साथ कहा—

विना सर्वत्यागं भवति भजनं नह्यसुपते-
रिति त्यागोऽस्माभिः कृत इह किमद्वैतकथया।
अयं दण्डो भूयान् प्रबलतरसो मानसपशो-
रितीवाहं दण्डग्रहणमविशेषादकरवम्॥

(चै० चं० ना०)

'आचार्यदेव ! इसमें द्वैत-अद्वैतकी कौन-सी बात है? असली बात तो यह है, कि बिना सर्वस्व त्याग किये हृदयवल्लभ प्राणरमण उन श्रीकृष्णका भजन हो ही नहीं सकता। इसीलिये मैंने सर्वस्व त्यागकर संन्यास ग्रहण किया है। यह मन तो अत्यन्त ही चञ्चल पशुके समान है, यह सदा स्थिर-भावसे श्रीकृष्ण-चरणोंकी सुखमय शीतल छायामें बैठकर विश्राम ही नहीं करता, सदा इधर-उधर भटकता ही रहता है। इसीको ताड़न करनेके निमित्त मैंने यह दण्ड धारण किया है।'

प्रभुकी ऐसी गूढ रहस्यपूर्ण बात सुनकर अद्वैताचार्यको मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई। इसके अनन्तर अन्य बहुत-से भक्त प्रभुके संन्यासके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिकी बातें करने लगे। कोई कहता—'प्रभु ! आपने संन्यास लेकर भक्तोंके साथ बड़ा भारी अन्याय किया है। पहले तो आपने अपने हाथोंसे प्रेमतरुकी स्थापना की, उसे संकीर्तनके सुन्दर सलिलसे सींचा और बढ़ाया। जब उसपर फल लगे और उनके पकनेका समय आया, तभी आपने उसे जड़से काट दिया। लोग अपने हाथसे लगाये हुए विष-वृक्षका भी उच्छेद नहीं करते। आपके बिना भक्त कैसे जीवेंगे ? कौन उनकी करुण कहानियोंको सुनेगा ? विपत्ति पड़नेपर भक्त किसकी शरणमें जायँगे ? संकीर्तनमें अपने अद्भुत और अलौकिक नृत्यसे अब उन्हें कौन

आह्लादित करेगा ? कौन अब भक्तोंके सहित गङ्गातटपर जलविहार करावेगा ? कौन हमें निरन्तर कृष्ण-कथा सुनाकर सुखी और प्रमुदित बनावेगा ? प्रभो ! भक्त आपके वियोग-दुःखको सहन करनेमें समर्थ न हो सकेंगे।'

प्रभु भक्तोंको ढाँढस बँधाते हुए कहते—'देखो भाई ! घबड़ानेसे काम न चलेगा। अब जो होना था, सो तो हो ही गया। अब संन्यास छोड़कर गृहस्थी बननेकी सम्मति तो तुमलोग भी मुझे न दोगे। हम तुम सभी लोगोंके स्वामी अद्वैताचार्यजी यहाँ रहेंगे ही। मैं भी जगन्नाथपुरीमें निवास करूँगा। कभी-कभी तुमलोग मेरे पास आते-जाते ही रहोगे। मैं भी कभी-कभी गङ्गास्नानके निमित्त यहाँ आया करूँगा। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेसे भेट होती ही रहेगी।'

इतनेमें ही चन्द्रशेखर आचार्यरत्न बोल उठे—'हम सबलोगोंको तो आप जैसे-तैसे समझा भी देंगे, किन्तु शचीमातासे क्या कहते हैं, वह तो आपके बिना जीना ही नहीं चाहतीं।'

प्रभुने कातर-भावसे कहा—'माताको मैं समझा ही क्या सकता हूँ ? आपलोग ही उसे समझावेंगे तो समझेगी। फिर माता जैसी आज्ञा देगी मैं वैसा ही करूँगा। यदि वह मुझसे घर रहनेके लिये कहेगी तो मैं वैसा भी कर सकता हूँ ?'

इतनेमें ही अश्रु-विमोचन करती हुई माता भी आ पहुँची। उन्होंने गद्गद कण्ठसे कहा—'निमाई ! क्या सचमुचमें तू हमें छोड़कर यहाँसे भी कहीं अन्यत्र जानेका विचार कर रहा है ?'

प्रभुने माताको समझाते हुए करुण स्वरमें कहा—'माता ! मैं तुम्हारी आज्ञाको उल्लंघन नहीं कर सकता। तुम जैसा कहोगी वैसा ही करूँगा। संन्यासीके लिये अपने घरके समीप तथा अपने सम्बन्धियोंके यहाँ इतने दिन रहनेका विधान ही नहीं है। अधिक दिनोंतक एकका अन्न

खाते रहना भी संन्यासीके लिये निषेध है, किन्तु मैंने तुम्हारी और आचार्यकी प्रसन्नताके निमित्त इतने दिनोंतक यहाँ रहकर तुम्हारे ही हाथकी भिक्षा की। अब मुझे कहीं अन्यत्र जाकर रहना चाहिये। मेरी इच्छा तो श्रीवृन्दावन जानेकी थी, किन्तु तुम सबका स्नेह मुझे बलपूर्वक यहाँ खींच लाया। अब तुम जहाँके लिये आज्ञा करोगी, वहीं रहूँगा। तुम्हारी आज्ञाके प्रतिकूल आचरण करनेकी मुझमें क्षमता नहीं है। माता! मैं सदा तुम्हारा रहा हूँ और रहूँगा।

अपने संन्यासी पुत्रके ऐसे प्रेमपूर्ण वचन सुनकर माताका हृदय भी पलट गया। इन प्रेमवाक्योंने मानो अधीर हुई माताके हृदयमें साहसका सञ्चार किया। माताने दृढ़ताके स्वरमें कहा—'बेटा! मेरे भाग्य-में जैसा बदा होगा, उसे मैं भोगूँगी। मुझे अपना इतना खयाल नहीं था, जितना कि विष्णुप्रियाका। वह अभी निरी अबोध बालिका है, संसारी बातोंसे वह एकदम अपरिचित है। किन्तु भावी प्रबल होती है, अब हो ही क्या सकता है? संन्यास त्यागकर फिर गृहस्थमें प्रवेश करनेकी पापवार्ता-को अपने मुखसे निकालकर मैं पापकी भागिनी नहीं बनूँगी। संन्यासी अवस्थामें घरपर रहनेसे सभी लोग तेरी अवश्य ही निन्दा करेंगे। तेरे वियोग-दुःखको तो जिस किसी प्रकार मैं सहन भी कर सकती हूँ, किन्तु लोगोंके मुखसे तेरी निन्दा मैं सहन न कर सकूँगी। इसलिये मैं तुझसे घरपर रहनेका भी आग्रह नहीं करती। वृन्दावन बहुत दूर है, तेरे वहाँ रहनेसे भक्तोंको भी क्लेश होगा और मुझे भी तेरे समाचार जल्दी-जल्दी प्राप्त न हो सकेंगे। यदि तेरी इच्छा हो और अनुकूल पड़े, तो तू जगन्नाथ-पुरीमें निवास कर।

पुरीकी यात्राके लिये यहाँसे प्रतिवर्ष हजारों यात्री जाते हैं, भक्त भी रथयात्राके समय जाकर तुझसे भेंट कर आया करेंगे और मुझे भी

तेरी राजी-खुशीका समाचार मिलता रहेगा। हमसे मिलनेके निमित्त नहीं, गङ्गास्नानके निमित्त तू भी कभी-कभी यहाँ हो जाया करना। इस प्रकार नीलाचलमें रहनेसे हम सभीको तेरा वियोग-दुःख इतना अधिक न अखरेगा। आगे जहाँ तुझे अनुकूल पड़े।'

प्रभुने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'जननी! तुम धन्य हो! विश्वरूपकी माताको ऐसे ही वचन शोभा देते हैं। तुमने संन्यासीकी माता-के अनुरूप ही वाक्य कहे हैं। मुझे तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं अब पुरीमें ही जाकर रहूँगा और वहींसे कभी-कभी गङ्गा-स्नानके निमित्त यहाँ भी आता-जाता रहूँगा।'

इस प्रकार माताने भी प्रभुको नीलाचलमें ही रहनेकी अनुमति दे दी और भक्तोंने भी रोते-रोते विषण्णवदन होकर यह बात स्वीकार कर ली। प्रभुका नीलाचल जानेका निश्चय हो गया। बहुत-से भक्त प्रभुके साथ चलनेके लिये उद्यत हो गये, किन्तु प्रभुने सबको रोक दिया और सबसे अपने-अपने घरोंको लौट जानेका आग्रह करने लगे। भक्त प्रभुको छोड़ना नहीं चाहते थे, वे प्रभुके प्रेमपाशमें ऐसे बँधे हुए थे, कि घर जानेका नाम सुनते ही घबड़ाते थे।

प्रभुके बहुत आग्रह करनेपर भी जब भक्त प्रभुसे पहले अपने-अपने घरोंको जानेके लिये राजी नहीं हुए, तब प्रभुने पहले स्वयं ही नीलाचल-के लिये प्रस्थान करनेका विचार किया। इतने दिनोंतक अद्वैताचार्यके आग्रहसे टिके हुए थे, अब रोते-रोते अद्वैताचार्यने भी सम्मति दे दी। प्रभुके साथ नित्यानन्दजी, जगदानन्द पण्डित, दामोदर पण्डित और मुकुन्द दत्त ये चार भक्त जानेके लिये तैयार हुए। आचार्यदेवके आग्रहसे प्रभुने भी इन्हें साथ चलनेकी अनुमति प्रदान कर दी।

पुरीके पथमें

मा याहीत्यपमङ्गलं व्रज सखे स्नेहेन हीनं वच-
स्तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वैषाऽप्युदासीनता।
नो जीवामि विना त्वयेति वचनं सम्भाव्यते वा न वा
तन्मां शिक्षय नाथ यत्समुचितं वक्तुं त्वयि प्रस्थिते ॥*

---

* अपने प्राणप्यारेके परदेश प्रयाण करते समय उसके वियोगसे उत्पन्न हुई वेदनाको व्यक्त करती हुई नायिका पतिसे कह रही है, विदाके अन्तिम समयका वर्णन है। प्रियतम पूछते हैं—'अच्छा, जाऊँ ?' उत्तर देती—'मत जाओ' इस अमङ्गलसूचक शब्दको यात्राके शुभ मुहूर्तमें कैसे मुखसे निकालूँ ?' यह कहूँ कि 'अच्छा जाओ' तो यह स्नेहहीन शब्द है। यदि कहूँ 'रुक जाओ' तो इसमें प्रभुता प्रदर्शित होती है। और यह कह दूँ कि 'जैसी आपकी इच्छा हो वैसा करें' तो इससे उदासीनता प्रकट होती है। यदि यह कह दूँ कि 'तुम्हारे बिना मैं जीवित न रह सकूँगी' तो पता नहीं तुमको इस बातपर विश्वास हो अथवा न हो। इसलिये मेरे प्राणनाथ! तुम्हीं मुझे शिक्षा दो, कि तुम्हारे प्रस्थानके समय क्या कहना उपयुक्त होगा, इस समय मैं किस वाक्यका प्रयोग करूँ ?

गोस्वामी तुलसीदासजीने सज्जन और दुर्जनके समागमकी तुलना करते हुए कहा है—

'मिलत एक दारुन दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं ॥'

सचमुच अपने प्रियजनके विछोहके समय तो सहृदय पुरुषोंको मरण-समान ही दुःख होता है। जिसके साथ इतने दिनोंतक हास-परिहास, भोजन-पान आदि किया, जो निरन्तर अपने सहवास-सुखका आनन्द पहुँचाता रहा, वही अपना प्यारा प्रियतम आज सहसा हमसे न जाने कबतकके लिये पृथक् हो रहा है, इस बातके स्मरणमात्रसे सहृदय सज्जनोंके हृदयमें भारी क्षोभ उत्पन्न होने लगता है। किन्तु उस दुःखमें भी मीठा-मीठा मजा है, उसका आस्वादन भावुक प्रेमी पुरुष ही कर सकते हैं। संसारी स्वार्थपूर्ण पुरुषोंके भाग्यमें वह सुख नहीं बदा है।

दस दिनोंतक भक्तोंके चित्तको आनन्दित कराते रहनेके अनन्तर आज प्रभु शान्तिपुरको परित्याग करके पुरीके पथके पथिक बन जायँगे, इस बातके स्मरणमात्रसे सभी परिजन और पुरजनोंके हृदयमें प्रभुके वियोगजन्य दुःखकी पीड़ा-सी होने लगी। सभीके चेहरोंपर विषण्णता छायी हुई थी। प्रभुने कुछ अन्यमनस्कभावसे अपने ओढ़नेका रँगा वस्त्र उठाया, लँगोटीको कमरसे बाँध लिया और छोटी-सी साफी सिरसे लपेट ली। एक हाथमें दण्ड लिया और दूसरेमें कमण्डलु लेकर प्रभु उस बैठकसे बाहर हुए। प्रभुको यात्रीके वेशमें देखकर उपस्थित सभी भक्त फूट-फूटकर रोने लगे। वृद्धा शचीमाताका तो दिल ही धड़कने लगा।

जगदानन्दने प्रभुके हाथसे दण्ड ले लिया और दामोदर पण्डितने कमण्डलु। अब प्रभुके दोनों हाथ खाली हो गये। उन दोनों हाथोंसे वृद्धा माताके चरणोंको स्पर्श करते हुए प्रभुने गद्गद-कण्ठसे कहा—'माता! मुझे ऐसा आशीर्वाद दो, कि मैं अपने संन्यास-धर्मका विधिवत् पालन

कर सकूँ ।' पता नहीं, उस समय पुत्र-स्नेहसे दुखी हुई माताको इतना साहस कहाँसे आ गया ? उसने अपने प्यारे पुत्रके सिरपर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटा ! तुम्हारा पथ मङ्गलमय हो, वायु तुम्हारे अनुकूल रहे, तुम अपने धर्मका विधिवत् पालन कर सको ।' इतना कहते-कहते ही माताका गला भर आया, आगे वह और कुछ न कह सकी । उसी अवस्थामें रोती हुई अपनी माताकी प्रभुने प्रदक्षिणा की और दोनों हाथोंको जोड़कर वे निःस्पृहभावसे गंगाजीके किनारे-किनारे पुरीकी ओर चल पड़े । सैकड़ों भक्त आँसू बहाते हुए और आर्त-नाद करते हुए प्रभुके पीछे-पीछे चले । शचीमाता भी लोक-लाजकी कुछ भी परवा न कर रोती हुई पैदल ही अपने प्राणप्यारे पुत्रके पीछे-पीछे चलीं । जिस प्रकार निस्पृह बछड़ा माताको छोड़कर दूसरी ओर जा रहा हो और उसकी माता वृद्धा गाय रम्हाती हुई उसके पीछे-पीछे दौड़ रही हो, इसी प्रकार शरीरकी सुधि भुलाकर शचीमाता प्रभुके पीछे क्रन्दन करती हुई भक्तोंके आगे-आगे चल रही थीं । उनके क्रन्दनसे कलेजा फटने लगता था । उनके सफेद बाल बिखरे हुए थे, आँसुओंसे वक्षःस्थल भीगा हुआ था । वे पछाड़ खाती हुई प्रभुके पीछे-पीछे चल रही थीं । प्रभु माताको देखते हुए भी संकोचवश उनसे आँखें नहीं मिलाते थे । बूढ़े अद्वैताचार्य भी जोरोंसे बच्चोंकी भाँति रुदन कर रहे थे । इस प्रकारके रुदनको सुनकर प्रभु अधीर हो उठे । वे चलते-चलते ठहर गये और आँखोंसे आँसू बहाते हुए अद्वैताचार्यजीसे कहने लगे—'आचार्यदेव ! इतने वृद्ध होकर जब आप ही इस प्रकार बालकोंकी तरह रुदन कर रहे हैं तो फिर भक्तोंको और कौन धैर्य बँधावेगा ? आपका मुझपर सदा पुत्रकी भाँति स्नेह रहा है । यह मैं जानता हूँ, कि मेरे वियोगसे आपको अपार दुःख हुआ है, किन्तु आप तो सर्वसमर्थ हैं । आपके साहसके सामने मेरा वियोगजन्य दुःख कुछ भी नहीं है ।

आप अब मेरे कहनेसे शान्तिपुर लौट जायँ। आप यदि मेरे साथ चलेंगे तो यहाँ माताकी तथा भक्तोंकी देख-रेख कौन करेगा? आप मेरे कामके लिये शान्तिपुरमें रह जाइये। मैं माताको तथा भक्तोंको आपके हाथों सौंपता हूँ। आप ही सदासे इनके रक्षक रहे हैं और अब भी इन सबका भार आपके ही ऊपर है। यह करुणापूर्ण दृश्य अब और अधिक मुझसे नहीं देखा जाता। अब आप इन सभी भक्तोंके सहित लौट जायँ।'

आचार्यने प्रभुकी आज्ञाका पालन किया। वे वहीं ठहर गये। उन्होंने भूमिमें लोटकर प्रभुके लिये प्रणाम किया। प्रभुने उनकी चरण-धूलि अपने मस्तकपर चढ़ायी और माताके चरणोंकी जल्दीसे वन्दना करते हुए वे उन सबको पृथ्वीपर ही पड़ा छोड़कर जल्दीसे आगेके लिये दौड़ गये। नित्यानन्द, दामोदर, जगदानन्द और मुकुन्द दत्त भी सभी लोगोंसे विदा होकर प्रभुके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। और सब लोग वहीं पड़े-के-पड़े ही रह गये। जब भक्तोंने देखा, कि प्रभु तो हमें छोड़कर चले ही गये तब उन्होंने और अधिक प्रभुका पीछा नहीं किया। वे खड़े होकर गंगाजीकी ओर देखते रहे। जबतक उन्हें प्रभुके पैरोंसे उड़ी हुई धूलि और जगदानन्दके हाथ प्रभुका दण्ड दिखायी देता रहा, तबतक तो वे एकटकभावसे देखते रहे, अन्तमें जब प्रभु अपने साथियोंके सहित एकदम अदृश्य हो गये, तब खिन्न मनसे माताको आगे करके भक्तोंके सहित अद्वैताचार्य अपने घरकी ओर लौट आये और श्रीवास आदि भक्त उसी समय माताको साथ लेकर नवद्वीपके लिये चले गये।

इधर महाप्रभु बन्धनसे छूटे हुए मत्त गजेन्द्रकी भाँति द्रुत गतिसे गंगाजीके किनारे-किनारे चले जा रहे थे। उनके पीछे नित्यानन्दजी आदि भक्त भी प्रभुका अनुसरण कर रहे थे। सब-के-सब गृहत्यागी, विरागी और अल्प-वयस्क युवक ही थे। सभीके हृदयमें त्याग-वैराग्यकी अग्नि

प्रज्वलित हो रही थी। प्रभुने उन सबके त्याग-वैराग्यकी परीक्षा करनेके निमित्त सभीसे पूछा—'तुमलोग मुझसे सच-सच बताओ, तुमने अपने साथ क्या-क्या सामान बाँधा है और किस-किसने तुम्हें मार्ग-व्ययके लिये कितना-कितना द्रव्य दिया है ?'

प्रभुके ऐसे प्रश्नको सुनकर सभीने दीनभावसे कहा—'प्रभो ! हम भला आपकी आज्ञाके बिना कोई वस्तु साथ कैसे ले सकते थे और किसीके द्रव्यको आपके बिना पूछे कैसे स्वीकार कर सकते थे ? आप हमारे सम्पूर्ण शरीरको देख लें, हमारे पास कुछ भी नहीं है और न हममेंसे किसीने द्रव्य ही साथमें बाँधा।'

महाप्रभु उनके ऐसे निष्कपट, सरल और निःस्पृहतापूर्ण उत्तरको सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'मैं तुमलोगोंसे अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। तुमने साथमें द्रव्य न बाँधकर अपनी निस्पृहताका परिचय दिया है। निस्पृहता ही तो त्यागीका भूषण है। जो किसीसे धनकी इच्छा करके संग्रह करता है, वह कभी त्यागी हो ही नहीं सकता। त्यागीके लिये तो भोजनकी चिन्ता करनी ही न चाहिये। उसे तो प्रारब्धके ऊपर छोड़ देना चाहिये। जो प्रारब्धमें होगा, वह अवश्य मिलेगा, फिर चाहे तुम मरुभूमिके घोर बालुकामय प्रदेशमें ही जाकर क्यों न बैठ जाओ। और भाग्यमें नहीं है, तो भोगोंके बीचमें रहते हुए भी तुम्हें उनसे वञ्चित रहना पड़ेगा। चाहे जितना धनी क्यों न हो, उसके पास कितनी भी भोज्य-सामग्री क्यों न हो, जिस दिन उसके भाग्यमें न होगी, उस दिन वह पासमें रखी रहनेपर भी उन्हें नहीं खा सकता। या तो बीमार हो जायगा या किसीपर नाराज होकर खाना छोड़ देगा, अथवा दूसरा आदमी आकर उसे खा जायगा। सारांश यह है कि हमें भोग भाग्यके ही अनुसार प्राप्त हो सकेंगे। फिर किसीसे माँगकर संग्रह क्यों

करना चाहिये । भूख लगनेपर घर-घरसे मधुकरी कर ली । यही त्यागीका परम धर्म है ।' इस प्रकार अपने साथियोंको त्याग, वैराग्य और भक्तिका तत्त्व समझाते हुए सायंकालके समय आठिसारा नामक ग्राममें पहुँचे और वहाँ परम भाग्यवान् अनन्त पण्डित नामके एक ब्राह्मणके घर ठहरे । प्रभुके दर्शनसे वह कृतार्थ हो गया और उसने प्रभुको साथियोंसहित भिक्षा आदि कराके उनकी विधिवत् सेवा-पूजा की ।

प्रातःकाल वहाँसे चलकर खाड़ी नामक ग्रामके समीप छत्रभोग-तीर्थमें पहुँचे । यहाँपर गंगाजीके किनारे एक अम्बुलिङ्ग नामक जलमग्न शिव हैं । आजकल तो छत्रभोग और अम्बुलिङ्ग शिवजी गंगाजीसे दूर पड़ गये हैं, उस समय गंगाजीकी शेष सीमा यहींपर थी । यहींपर त्रिलोकपावनी भगवती भागीरथी सहस्र धाराओंका रूप धारण करके समुद्रमें मिलती थीं । गंगाजीके इस पार छत्रभोग, पीठस्थान और सुन्दरनगर था । यहीं गौड़-देशकी सीमा समाप्त होती थी । गङ्गाजीके उस पार उड़ीसा-देशकी सरहद थी और उसीपर जयपुर-माजिलपुर उड़ीसाके महाराजकी अन्तिम सीमाके नगर थे । इन दोनों स्थानोंमें तीन-चार कोसका अन्तर था । गौड़-देश और उड़ीसा-देशकी सीमाको भगवती भागीरथी ही पृथक् करती थीं ।

यह हम पहले ही बता चुके हैं, कि वह युद्धका समय था । जिधर देखो उधर ही युद्ध छिड़ा हुआ है । गौड़-देशके बादशाह और उड़ीसाके तत्कालीन महाराज प्रतापरुद्रके बीचमें भी लड़ाई-झगड़ा होता रहता था । इसी कारण जगन्नाथजी जानेवाले यात्रियोंको गंगा-पार होनेमें बड़ा कष्ट होता था । गौड़-देशके अधिपतिकी आज्ञा थी कि उधरसे कोई भी पुरुष इधर न आने पावे । उधर उड़ीसाके शासक बङ्गालियोंपर सन्देह करते । जो भी पार आता उसीकी तलाशी लेते । कुछ ऐसा-वैसा

सामान होता तो उसे लूट भी लेते। और भी भाँति-भाँतिकी असुविधाएँ थीं। युद्धके समय सब जगह एक राज्यकी सीमासे दूसरे राज्यकी सीमामें जानेपर सभी लोगोंको बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। दोनों देशोंके शासक सदा शत्रुओंके मनुष्योंसे शंकित रहते हैं।

इसके अतिरिक्त पार उतारनेवाले बिना उतराई लिये लोगोंको पार उतारते ही नहीं थे। बहुत-से पुरीके यात्री उस पार जानेके लिये पड़े हुए थे। प्रभु भी अपने साथियोंके सहित वहाँ पहुँच गये। मुकुन्द दत्त अपने सुरीले कण्ठसे कृष्ण-कीर्तन कर रहे थे। प्रभु उनके मुखसे भगवान्‌के मधुर नामोंको सुनकर आनन्दमें विह्वल हो नृत्य कर रहे थे, उनके दोनों नेत्रोंमेंसे दो धाराएँ निकलकर समुद्रमें लीन होनेवाली गंगाजीके वेगको और अधिक बढ़ा रही थीं। प्रभुकी ऐसी अद्भुत अवस्था देखकर घाटपरके बहुत-से आदमी वहाँ आकर एकत्रित हो गये। सभी प्रभुके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ मानने लगे।

इस प्रकार अम्बुलिङ्ग-घाटपर पहुँचकर प्रभुने साथियोंसहित स्नान किया और भक्तोंको अम्बुलिङ्ग-शिवजीके सम्बन्धमें कथा सुनाने लगे। प्रभुने कहा—'जब महाराज भगीरथ स्वर्गसे गंगाजीको ले आये, तब उनके शोकमें विकल होकर शिवजी यहाँ जलमें गिर पड़े। गंगाजी शिवजीके प्रेमको जानती थीं, उन्होंने यहीं आकर शिवजीकी पूजा की और जलमें ही रहनेकी प्रार्थना की। गंगाजीके प्रेमके कारण यहाँ शिवजी जलमें ही निवास करते हैं, इसीलिये ये अम्बुलिङ्ग कहाते हैं, इनके दर्शनसे कोटि जन्मोंके पापोंका क्षय हो जाता है।' इस प्रकार शिवजीका माहात्म्य सुनाकर प्रभु फिर प्रेममें विह्वल होकर नृत्य करने लगे। उसी समय उस प्रान्तके शासक राजा रामचन्द्र खाँ भी वहाँ आ पहुँचे।

इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं, कि गौड़ाधिपतिकी ओरसे बड़े-बड़े लोगोंको बहुत-से गाँवोंका ठेका दिया जाता था और उन्हें बादशाहकी ओरसे मजूमदार, खान् अथवा राजाकी उपाधि भी दी जाती थी। रामचन्द्र खाँ गौड़ाधिपके अधीनस्थ गौड़देशीय सीमाप्रान्तके ऐसे ही राजा थे। रामचन्द्र खाँ जातिके कायस्थ थे और शाक्त-धर्मको माननेवाले थे। उनका जीवन जिस प्रकार साधारण विषयी-धनी पुरुषोंका होता है, उसी प्रकारका था, किन्तु वे भाग्यशाली थे, जिन्हें महाप्रभुकी थोड़ी-बहुत सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

प्रभुके घाटपर पधारनेका समाचार सुनकर रामचन्द्र खाँ पालकीसे उतरकर उनके दर्शनके लिये गये। उस समय आनन्दमें विभोर हुए महाप्रभु गद्गद कण्ठसे कृष्णकीर्तन करते हुए रुदन कर रहे थे। रामचन्द्र खाँ प्रभुके तेज और प्रभावसे प्रभावान्वित हो गये और उन्होंने दूरसे ही प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया। किन्तु प्रभु तो बाह्यज्ञानशून्य हो रहे थे। वे तो चक्षुओंको आवृत्त करके प्रेमामृतका पान कर रहे थे। उन्हें किसीके नमस्कार-प्रणामका क्या पता! प्रभुके साथियोंने प्रभुको सचेत करते हुए राजा रामचन्द्र खाँका परिचय दिया। प्रभुने उनका परिचय पाकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'ओः! आपका ही नाम राजा रामचन्द्र खाँ है, आपके अकस्मात् खूब दर्शन हुए!'

दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए रामचन्द्र खाँने कहा—'प्रभो! इस विषयी-कामी पुरुषको ही रामचन्द्र खाँके नामसे पुकारते हैं। आज मैं अपने सौभाग्यकी सराहना नहीं कर सकता, जो मुझ-जैसे संसारी गर्तमें सने हुए विषयी पामरको आपके दर्शन हुए। आपके दर्शनसे मेरे सब पाप क्षय हो गये। अब आप मेरे योग्य जो भी आज्ञा हो, उसे बताइये।'

प्रभुने कहा—रामचन्द्र ! हम अपने प्राणवल्लभसे मिलनेके लिये व्याकुल हो रहे हैं। पुरीमें जाकर हम अपने हृदयरमणके दर्शन करके जीवनको सफल बना सकें तुम वैसा ही उद्योग करो। हमें घाटसे उस पार पहुँचानेका प्रबन्ध करो। जिस प्रकार हम गंगाजीको पार कर सकें वही काम तुम्हें इस समय करना चाहिये।

हाथ जोड़े हुए रामचन्द्र खाँने कहा—'प्रभो ! इस युद्धकालमें गौड़देशीय लोगोंको उस पार उतारना बड़ा ही कठिन कार्य है। बादशाह-की ओरसे मुझे कठिन आज्ञा है, कि जिस किसी पुरुषको वैसे ही पार न उतारा जाय। फिर भी मैं अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर भी आपको पार उतारूँगा। आज आप कृपा करके यहीं निवास कीजिये, कल प्रातः मैं आपके पार होनेका यथाशक्ति अवश्य ही प्रबन्ध कर दूँगा।' रामचन्द्र खाँकी बातको प्रभुने स्वीकार कर लिया और छत्रभोग-नगरमें जाकर प्रभुने एक भाग्यवान् ब्राह्मणके यहाँ निवास किया। रात्रिभर प्रभु अपने साथियोंके सहित संकीर्तन करते रहे। संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनिसे वह सम्पूर्ण स्थान परमपावन बन गया। वहाँपर चारों ओर भगवन्नामकी ही गूँज सुनायी देने लगी। प्रभुके संकीर्तनको सुननेके लिये छत्रभोगके बहुत-से नर-नारी एकत्रित हो गये और वे भी प्रभुके साथ ताली बजा-बजाकर कीर्तन करने लगे। रामचन्द्र खाँने भी उस संकीर्तनरसामृतका आस्वादन करके अपने जीवनको धन्य किया। इस तरह रात्रिभर संकीर्तनके प्रमोदमें ही प्रभुने वह रात्रि बितायी।

महाप्रभुका प्रेमोन्माद और नित्यानन्दजीद्वारा दण्ड-भङ्ग

पातालं व्रज याहि वासवपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्परास्तर तथाप्याशा न शान्तास्तव।
आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेमं निजं वाञ्छसि
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः किमन्यैः श्रमैः॥ *

छत्रभोगमें उस रात्रिको बिताकर प्रभु प्रातःकाल अपने नित्यकर्मसे निवृत्त हुए। उसी समय रामचन्द्र खाँने समाचार भेजा कि प्रभुको पार करनेके लिये घाटपर नाव तैयार है। इस समाचारको पाते ही प्रभु अपने साथियोंके सहित नावपर जाकर बैठ गये। मल्लाहोंने नाव खोल दी, महाप्रभु आनन्दके सहित हरिध्वनि करने लगे। भक्तोंने भी प्रभुकी ध्वनिमें अपनी ध्वनि मिलायी। उस गगनभेदी ध्वनिकी प्रतिध्वनि जलमें सुनायी देने लगी। दसों दिशाओंमेंसे वही ध्वनि सुनायी देने लगी। तब प्रभुने मुकुन्द दत्तसे संकीर्तनका पद गानेके लिये कहा। मुकुन्द अपने मधुर स्वरसे गाने लगे—

---

* चाहे तो पातालमें चला जा, चाहे स्वर्गमें जाकर निवास कर, चाहे सुमेरुके शिखरपर चढ़कर वहाँ बैठ जा अथवा समुद्रसे पार होकर किसी अपरिचित देशमें चला जा। यह सब करनेपर भी तेरी आशा शान्त न होगी। यदि तू सचमुच अपना कल्याण चाहता है, यदि वास्तवमें तेरी आधि-व्याधि और जरा-मृत्युके भयसे बचनेकी इच्छा है, तो 'श्रीकृष्ण' रूपी रसायनका सेवन कर। उसीसे तेरे सम्पूर्ण रोग दूर हो जायँगे। अन्य व्यर्थके उपायोंमें लगे रहनेसे क्या लाभ?

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन ॥

अन्य भक्त भी मुकुन्दकी तालमें ताल मिलाकर इसी पदका संकीर्तन करने लगे। महाप्रभु आवेशमें आकर नावमें ही खड़े होकर नृत्य करने लगे। नौका नृत्यके वेगको न सह सकनेके कारण डगमग-डगमग करने लगी। सभी मल्लाह घबड़ाने लगे, कि हमारी नाव इस प्रकारके नृत्यसे तो डूब ही जायगी। उन्होंने कहा 'संन्यासी बाबा! हमारे ऊपर दया करो, उस पार पहुँचकर जी चाहे जितना नृत्य कर लेना। हमारी नावको पार भी लगने दोगे या बीचमें ही डुबा दोगे?'

इस प्रकार मल्लाह कुछ क्षोभके साथ दीन वचनोंमें प्रार्थना कर रहे थे, किन्तु महाप्रभु किसकी सुननेवाले थे। वे उनकी बातोंको अनसुनी करके निरन्तर श्रीकृष्ण-कीर्तन करते ही रहे। तब तो नाविकोंको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ, कि यह संन्यासी हमारी बाततक नहीं सुनता और उसी प्रकार प्रेममें विह्वल होकर नृत्य कर रहा है। उन्होंने कुछ भय दिखाते हुए विवशता और कातरताके स्वरमें कहा—'महाराज! आप हमारी बातको मान जाइये। नावमें इस प्रकार उछल-उछलकर नृत्य करना ठीक नहीं है। आप देखते नहीं, उस पार घोर जङ्गल है, उसमें बड़े-बड़े खूँखार भेड़िये तथा जंगली सूअर रहते हैं। आपकी आवाजको सुनकर वे दौड़े आवेंगे, जलके भीतर मगर और घड़ियाल हैं, नदीमें चारों ओर नावोंपर चढ़कर डाकू चक्कर लगाते रहते हैं, वे जिसे भी पार होते देखते हैं, उसे ही लूट लेते हैं। कृपा करके आप बैठ जाइये और अपने साथ हमें भी विपत्तिके गालमें न डालिये।'

उनकी ऐसी कातर वाणीको सुनकर मुकुन्द दत्त आदि तो कीर्तन करनेसे बन्द हो गये, किन्तु भला प्रभु कब बन्द होनेवाले थे। वे उसी प्रकार

कीर्तन करते ही रहे और अन्य साथियोंको भी कीर्तन करनेके लिये उत्साहित करने लगे। प्रभुके उत्साहपूर्ण वाक्योंको सुनकर फिर सब-के-सब कीर्तन करने लगे। धन्य है, ऐसे श्रीकृष्ण-प्रेमको, जिसके आनन्दमें प्राणोंतककी भी परवा न हो। अमृतके सागरमें डूबनेका भय कैसा? श्रीकृष्ण-नाम तो जीवोंको आधि-व्याधि तथा सम्पूर्ण भयोंसे मुक्त करनेवाला है। उसके सामने मगर, घड़ियाल, भेड़िया तथा डाकुओंका भय कैसा? राम-नामके प्रभावसे तो विष भी अमृत बन जाता है। हिंसक जन्तु भी अपना स्वभाव छोड़कर प्रेम करने लगते हैं। प्रभुको इस प्रकार कीर्तनमें संलग्न देखकर नाविक समझ गये, कि ये कोई असाधारण महापुरुष हैं, इन्हें कीर्तनसे रोकना व्यर्थ है, जहाँपर ये विराजमान हैं, वहाँ किसी प्रकारका अमङ्गल हो ही नहीं सकता। यही सोचकर वे चुप हो गये। फिर उन्होंने प्रभुसे कीर्तन करनेके लिये मना नहीं किया। प्रभु उसी प्रकार अपने अश्रुओंकी धाराओंको गंगाजीके प्रवाहमें मिलाते हुए कीर्तन करते रहे। उसी कीर्तनके समारोहमें नाव प्रयागघाटपर आ लगी। प्रभुने अपने साथियोंके सहित नावसे उतरकर प्रयागघाटपर स्नान किया और फिर आगे बढ़े। अब उन्होंने गौड़-देशको छोड़कर उड़ीसा-देशकी सीमामें प्रवेश किया। आज प्रभुने अपने साथियोंसे कहा—'तुमलोग सब यहीं बैठो, आज मैं अकेला ही भिक्षा करने जाऊँगा।' प्रभुकी बातको टाल ही कौन सकता था? सबने इस बातको स्वीकार किया। प्रभु अपने रँगे वस्त्रकी झोली बनाकर भिक्षा माँगनेके लिये चले।

यह हम पहले ही बता चुके हैं, कि उड़ीसा तथा बंगालमें बने-बनाये अन्नकी भिक्षा देनेकी परिपाटी नहीं है। अब तो कुछ-कुछ लोग सीखने भी लगे हैं। भट्टाचार्य ब्राह्मण संन्यासीको बने-बनाये सिद्ध अन्नकी भिक्षा देने लगे हैं। पहले तो लोग सूखा ही अन्न भिक्षामें देते थे। ग्रामवासी

स्त्री-पुरुष प्रभुकी झोलीमें चावल, दाल और चिउरा आदि डालने लगे। प्रभु जिसके भी द्वारपर जाकर 'नारायण-हरि' कहकर आवाज लगाते वही बहुत-सा अन्न लेकर उन्हें देनेके लिये दौड़ा आता। उनके अद्भुत रूप-लावण्यको देखकर सभी स्त्री-पुरुष चकित रह जाते और एकटक भावसे प्रभुको ही निहारते रहते। उनके चेहरेमें इतना अधिक आकर्षण था कि जो भी एक बार उनके दर्शन कर लेता, वही अपना सर्वस्व प्रभुके ऊपर निछावर कर देनेकी इच्छा करता। जिसके घरमें जो भी उत्तम पदार्थ होता, वही लाकर प्रभुकी झोलीमें डाल देता। इस प्रकार थोड़ी ही देरमें प्रभुकी झोली भर गयी। विवश होकर कई आदमियोंकी भिक्षा लौटानी पड़ी। इससे प्रभुको भी कुछ दुःख-सा हुआ। वे अपनी भरी हुई झोलीको लेकर बाहर बैठे हुए अपने भक्तोंके समीप आये। नित्यानन्दजी भरी हुई झोलीको देखकर हँसने लगे। अन्तमें जगदानन्दजीने प्रभुसे झोली लेकर भोजन बनाया और सभीने साथ बैठकर बड़े ही आनन्दके सहित उस महाप्रसादको पाया।

भोजन करके आगे बढ़े। आगे चलकर पुरी जानेवाली सड़कपर उन्होंने कर-गृह देखा। वहाँपर राजाकी ओरसे प्रत्येक यात्रीपर कुछ नियमित शुल्क लगता था, तब यात्री आगे जा सकते थे। उस समय शुल्क लेनेवाले अधिकारी यात्रियोंसे शुल्क लेनेमें इतनी अधिक कठोरता करते थे कि बिना नियमित द्रव्य लिये वे किसीको भी आगे नहीं जाने देते थे। यहाँतक कि वे साधु-संन्यासियोंतकसे भी कर वसूल करते थे। प्रभुको भी उन लोगोंने आगे जानेसे रोका और कहने लगे—'बिना नियमित द्रव्य दिये तुम आगे नहीं जा सकते।' प्रभु इस बातको सुनते ही रुदन करने लगे। उनकी आँखोंमेंसे निरन्तर अश्रु निकल-निकलकर पृथ्वीको गीली कर रहे थे। वे 'हा प्रभो! हे मेरे जगन्नाथदेव! क्या मैं तुम्हारे

शीघ्र दर्शन न कर सकूँगा ? क्या नाथ ! मुझे तुम्हारे दर्शन होंगे ?' ऐसे आर्त्त वचनोंको कह-कहकर रुदन करने लगे । इनके इस हृदयविदारक करुण-क्रन्दनको सुनकर पाषाण-हृदय अधिकारीका भी कठोर हृदय पसीज उठा । उसने सोचा—'क्या साधारण मनुष्यकी आँखोंसे इतने अश्रुओंका निकलना सम्भव हो सकता है ? अवश्य ही ये कोई महापुरुष हैं । इन्हें जगन्नाथजी जानेसे नहीं रोकना चाहिये ।' यह सोचकर शुल्क एकत्रित करनेवाला अधिकारी प्रभुके समीप जाकर पूछने लगा—'संन्यासी बाबा ! तुम इतने अधीर क्यों होते हो ? तुम्हारे साथ कितने आदमी हैं ? तुम सब साथी कितने हो ?

प्रभुने रोते-रोते अत्यन्त ही दीनभाव प्रदर्शित करते हुए कहा—'हमारा इस संसारमें साथी ही कौन हो सकता है ? हम तो घर-बार-त्यागी विरागी संन्यासी हैं, हम तो अकेले ही हैं । हमारा दूसरा कोई साथी नहीं है ।' प्रभुकी ऐसी बात सुनकर अधिकारीने कहा—'अच्छा तो आप जायँ ।'

उसकी बात सुनकर प्रभु आगे चलने लगे । थोड़ी दूर चलकर प्रभु अपने घुटनोंमें सिर देकर रुदन करने लगे । इनके रुदनको सुनकर अधिकारियोंने नित्यानन्दजी आदि भक्तोंसे इसके कारणकी जिज्ञासा की । तब नित्यानन्दजीने सब हाल बता दिया और कहा—'हम चारों प्रभुके साथी हैं, वे हमारे बिना अकेले न जायँगे तब अधिकारियोंने इन सबको भी जाने दिया ।

इस प्रकार उन शुल्क एकत्रित करनेवाले अधिकारियोंके हृदयमें अपने प्रेम-प्रभावको जताते हुए प्रभु अपने साथियोंके सहित स्वर्णरेखा-नदीके तटपर पहुँचे । वहाँ पहुँचकर प्रभु तो नित्यानन्दजीकी प्रतीक्षामें थोड़ी दूर-पर जाकर बैठ गये । जगदानन्द-दामोदर आदि पीछे-पीछे आ रहे थे ।

जगदानन्दजीके हाथमें प्रभुका दण्ड था। उन्होंने नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद ! यदि आप महाप्रभुके इस दण्डको भली भाँति पकड़े रहें तो मैं गाँवमेंसे भिक्षा कर लाऊँ।'

नित्यानन्दजीने कहा—'अच्छी बात है, मैं दण्डको खूब सावधानीसे रखूँगा, तुम आनन्दके साथ जाकर भिक्षा कर लाओ।' यह कहकर नित्यानन्दजीने जगदानन्द पण्डितके हाथमेंसे दण्ड ले लिया। जगदानन्द भिक्षा करने चले गये।

इधर नित्यानन्दजीने सोचा—'यह दण्ड तो प्रभुके लिये एक जंजाल ही है। जिन्हें प्रेममें अपने शरीरतकका होश नहीं रहता उन्हें दण्डकी भला क्या अपेक्षा हो सकती है ? इसकी देख-रेखको एक और आदमी चाहिये। दण्डका विधान तो साधारण अवस्थावाले संन्यासीके लिये है। महाप्रभु तो प्रेमके अवतार ही हैं, ये तो विधि-निषेध दोनोंसे ही परे हैं। इसलिये इनके लिये इस दण्डका रखना व्यर्थ है।' ऐसा सोच-कर नित्यानन्दजीने उस दण्डके बीचमेंसे तीन टुकड़े कर दिये और उसे तोड़-ताड़कर वहीं फेंक दिया।

भिक्षा करके जगदानन्द पण्डित लौटे, उन्होंने नित्यानन्दजीके पास दण्ड न देखकर आश्चर्यके साथ पूछा—'श्रीपाद ! आपने दण्ड कहाँ रख दिया ?' कुछ गम्भीरताके साथ इधर-उधर देखते हुए धीरेसे नित्या-नन्दजीने उत्तर दिया—'यहीं कहीं पड़ा होगा, देख लो।'

जगदानन्दजीने देखा दण्ड एक ओर टूटा हुआ पड़ा है। टूटे हुए दण्डको देखकर डरते हुए जगदानन्दजीने कहा—'श्रीपाद ! यह आपने क्या किया ? महाप्रभुके दण्डको तोड़ दिया। उन्होंने तो मुझे सावधानीसे रखनेके लिये दिया था, आपने प्रभुके दण्डको तोड़कर अच्छा काम नहीं किया, अब मैं उनसे जाकर क्या कहूँगा ?' यह कहकर जगदा-

नन्दजी बहुत ही दुखी-से होकर उस टूटे हुए दण्डको लेकर प्रभुके समीप पहुँचे और अत्यन्त क्षीणस्वरमें दुःख प्रकट करते हुए कहने लगे—'प्रभो! नित्यानन्दजीको दण्ड देकर मैं भिक्षा करनेके निमित्त समीपके ग्राममें गया था, तबतक उन्होंने दण्डको तोड़ डाला। इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं है, यदि मुझे इस बातका पता होता, तो कभी उन्हें देकर नहीं जाता।'

इतनेमें ही नित्यानन्दजी भी मुकुन्द आदि सहित वहाँ आ पहुँचे। तब प्रभुने प्रेमका रोष प्रकट करते हुए नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! आपके सभी काम बड़े ही चपलतापूर्ण होते हैं, भला दण्ड-भङ्ग करके आपको क्या मिल गया? आप तो मुझे अपने धर्मसे भ्रष्ट करना चाहते हैं। संन्यासीके पास एक दण्ड ही तो परमधन है, उसे आपने अपने उद्धत स्वभावसे भङ्ग कर दिया। अब बताइये, कैसे मैं आपके साथ रह-कर अपने धर्मका पालन कर सकूँगा?'

नित्यानन्दजीने बातको टालते हुए कुछ हँसीके भावमें कहा—'वह तो बाँसका ही दण्ड था, उसके बदलेमें आप मुझे अपना दण्डपात्र बना लीजिये और जो भी उचित दण्ड समझें दे लीजिये।'

महाप्रभुने कहा—'वह बाँसका दण्ड कैसे था, उसमें सभी देव-ताओंका अधिष्ठान था। आप तो मुझे न जाने क्या समझते हैं, अपनी दशाका पता मुझे ही लग सकता है। आपके साथमें रहनेका मुझे यही फल मिला। एक दण्ड था, वह भी आपने नष्ट कर दिया, अब न जाने क्या करेंगे! इसलिये मैं अब आपलोगोंके साथ न जाऊँगा। या तो आप-लोग आगे जायँ या मुझे आगे जाने दें।'

इसपर मुकुन्द दत्तने कहा—'प्रभो! आप ही आगे चलें।' बस, इतना सुनना था, कि प्रभु दौड़ मारकर आगे चलने लगे और दौड़ते-दौड़ते जलेश्वर नामक स्थानमें पहुँचे। वहाँ जलेश्वर नामक

शिवजीका एक बड़ा भारी मन्दिर है, उस समय बहुत-से वेदज्ञ श्रद्धालु ब्राह्मण उस मन्दिरमें धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजनकी सामग्रियोंसे शिवजीकी पूजा कर रहे थे। कोई उच्च स्वरसे स्तोत्र-पाठ कर रहा था। कोई अभिषेक कर रहा था। कोई शिवजीकी स्तुति ही कर रहा था। भाँति-भाँतिके बाजे बज रहे थे। प्रभु उस पूजन-कृत्यको देखकर बड़े ही सन्तुष्ट हुए। दण्ड-भङ्ग कर देनेके कारण नित्यानन्दजीके प्रति जो थोड़ा-सा क्रोध किया था, वह शिवजीके दर्शनमात्रसे ही जाता रहा। वे आनन्दमें निमग्न होकर जोरसे शिवजीका कीर्तन करने लगे। भावावेशमें आकर वे—'शिव-शिव शम्भो, हर-हर महादेव' इस पदको गा-गाकर नाचने-कूदने लगे। इनके नृत्यको देखकर सभी दर्शक आश्चर्यके सहित इन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। उस समय सभीको इस बातका भान हुआ कि मानो साक्षात् भोलेबाबा ही संन्यासीवेशसे ताण्डव-नृत्य कर रहे हैं। प्रभुके दोनों हाथ ऊपर उठे हुए थे, वे मस्त होकर पागलकी भाँति प्रेमोन्मादमें जोरोंसे उछल-उछलकर नाच रहे थे। उनके सम्पूर्ण शरीरसे पसीनोंकी धाराएँ बह रही थीं। नेत्रोंमेंसे श्रावण-भादोंकी तरह अश्रुओंकी वर्षा हो रही थी। वे शरीरकी सुध भुलाकर यन्त्रकी भाँति घूम रहे थे। उसी समय पीछेसे नित्यानन्दजी आदि भक्त भी मन्दिरमें आ पहुँचे और प्रभु-को नृत्य करते देखकर वे भी प्रभुके ताल-स्वरमें ताल-स्वर मिलाकर नाचने-गाने लगे। इससे प्रभुका आनन्द और भी कई गुणा अधिक हो गया, उनके सुखकी सीमा नहीं रही। सभी दर्शक प्रभुकी ऐसी अपूर्व अवस्था देखकर अवाक् रह गये। इस प्रकार संकीर्तन कर लेनेके अनन्तर प्रभुने प्रेमपूर्वक नित्यानन्दजीका आलिंगन किया और उनपर स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहने लगे—'श्रीपाद! आप तो मेरे अभिन्न-हृदय हैं। आप जो भी करेंगे, मेरे कल्याणके ही निमित्त करेंगे। मैंने उस

समय भावावेशमें आकर जो कुछ कह दिया हो, उसका आप बुरा न मानें। संसारमें आपसे बढ़कर मेरा प्रिय और हो ही कौन सकता है ? आप मेरे गुरु, माता, पिता तथा सखा हैं। जो आपका प्रिय है वही मेरा भी प्रिय है। आप मेरी बातोंका कुछ बुरा न मानें।'

प्रभुके मुखसे अपने लिये ऐसे स्तुति-वाक्य सुनकर नित्यानन्दजी कुछ लज्जित-से हुए और संकोचके स्वरमें कहने लगे—'प्रभो ! आप सर्व-समर्थ हैं, जिसे जो चाहें सो कहें, जिसे जितना ऊँचा चढ़ाना चाहें चढ़ा दें। आप तो अपने सेवकोंको सदासे ही अपनेसे अधिक सम्मान प्रदान करते रहे हैं। यह तो आपकी सनातन-रीति है।' इस प्रकार प्रेमकी बातें होनेपर सभीने विश्राम किया और उस रात्रिमें वहीं निवास किया।

प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होकर प्रभु आगे चलने लगे। मत्त गजेन्द्रकी भाँति प्रेम-वारुणीके मदमें चूर हुए नाचते, कूदते और भक्तोंके साथ कुतूहल करते हुए प्रभु आगे चले जा रहे थे, कि इतनेमें ही इन्हें एक वाममार्गी शाक्त-पन्थी साधु मिला। प्रभुकी ऐसी प्रेमकी उच्चावस्था देखकर उसने समझा ये भी कोई वाममार्गी साधु हैं, अतः प्रभुसे वाममार्गीय पद्धतिसे प्रणाम करके कहने लगा—'कहो किधर-किधरसे आ रहे हो ? आज तो बहुत दिनमें दर्शन हुए ?

प्रभुने विनोदके साथ कहा—'इधरसे ही चले आ रहे हैं, आपका आना किधरसे हुआ ? कुछ हाल-चाल तो सुनाओ। भैरवीचक्रमें खूब आनन्द उड़ता है न ?'

प्रभुकी बातें सुनकर और 'भैरवीचक्र' तथा 'आनन्द' आदि वाम-मार्गियोंके सांकेतिक शब्दोंको सुनकर वह सब स्थानोंके शाक्तोंका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाने लगा। प्रभु उसकी बातोंको सुनते जाते थे और साथियोंकी

ओर देखकर हँसते जाते थे। अन्तमें उसने कहा—'चलिये, आज हमारे मठपर ही निवास कीजिये। वहीं सब मिलकर खूब 'आनन्द' उड़ावेंगे!'

प्रभु हँसते हुए नित्यानन्दजीसे कहने लगे—'श्रीपाद! 'आनन्द' उड़ानेकी इच्छा है? ये महात्मा तो शान्तिपुरके रास्तेमें जैसे आनन्दी संन्यासी मिले थे, उसी प्रकारके जन्तु हैं। आपके पास आनन्दकी कमी हो तो कहिये।'

नित्यानन्दजीने प्रभुकी बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे जोरोंसे हँसने लगे। तब उस वाममार्गी साधुने कहा—'नहीं, आप-लोग कुछ और न समझें। मेरे मठमें 'आनन्द' की कुछ कमी नहीं है। आपलोग जितना भी उड़ाना चाहें उड़ावें। चलिये, आपलोग आज मेरे मठको ही कृतार्थ कीजिये।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'हाँ हाँ, ठीक तो है, आप आगे चलकर सब ठीक-ठाक करें, हम पीछेसे आते हैं।' यह सुनकर वह साधु आगेको चला गया। प्रभुकी प्रेममयी अवस्था देखकर उसने समझा, ये भी कोई हमारी तरह संसारी नशीली चीजोंका सेवन करके पागल बननेवाले साधु होंगे। उसे पता नहीं था, कि इन्होंने ऐसे प्यालेको पी लिया, जिसे पीकर फिर दूसरे अमलकी जरूरत ही नहीं पड़ती। उसीके नशेमें सदा झूमते रहते हैं। कबीरदासजीने इसी प्यालेको तो लक्ष्य करके कहा है—

कबीर प्याला प्रेमका, अन्तर लिया लगाय।
रोम रोममें रमि रहा, और अमल का खाय?॥

धन्य है, ऐसे अमलियोंको! ऐसे नशेखोरोंके सामने ये संसारी सभी नशे तुच्छ और हेय हैं। इस प्रकार अपने सभी साथियोंको आनन्दित और सुखी बनाते हुए प्रभु पुरीके पथको तै करने लगे।

श्रीगोपीनाथ क्षीरचोर

> यस्मै दातुं चोरयन् क्षीरभाण्डं
> गोपीनाथः क्षीरचोराभिधोऽभूत्।
> श्रीगोपालः प्रादुरासीद् वशः सन्
> यत्प्रेम्णा तं माधवेन्द्रं नतोऽस्मि॥ *
>
> (चै० च० म० ली० ४। १)

भक्तोंके सहित आनन्द-विहार करते-करते, जलेश्वर, ब्रह्मकुण्ड मन्दार आदि तीर्थोंमें दर्शन-स्नान करते हुए महाप्रभु रेमुणाय नामक तीर्थमें पहुँचे। वहाँ जाकर क्षीरचोर गोपीनाथ भगवान्‌के मन्दिरमें जाकर प्रभुने भगवान्‌के दर्शन किये। प्रभु आनन्दमें विभोर होकर गोपीनाथ भगवान्‌की बड़े ही करुण-स्वरमें स्तुति करने लगे। स्तुति करते-करते वे प्रेममें बेसुध हो गये। अन्तमें उन्होंने भगवान्‌के चरण-कमलोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उसी समय भगवान्‌के शरीरमेंसे एक पुष्पोंका बड़ा भारी गुच्छा निकलकर ठीक प्रभुके मस्तकके ऊपर गिर पड़ा। सभी दर्शनार्थी तथा पुजारी प्रभुके ऐसे भक्तिभावको देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और महाप्रभुके प्रेमकी सराहना करने लगे। प्रभुने उस पुष्प-गुच्छको भगवान्‌की प्रसादी समझकर भक्तिभावसे सिरपर धारण कर लिया और बहुत देरतक भक्तोंके सहित मन्दिरमें संकीर्तन करते रहे। अन्तमें वहींपर रात्रिमें विश्राम भी किया।

* जिन्हें चोरीसे क्षीरका पात्र देनेसे साक्षात् गोपीनाथ भगवान् क्षीरचोर कहलाये, जिनके प्रेमके प्रभावसे साक्षात् श्रीगोपालजी प्रकट हुए उन महामान्य श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजीके चरणोंमें हम प्रणाम करते हैं।

नित्यानन्दजीने पूछा—'प्रभो ! इन श्रीगोपीनाथ भगवान्‌का नाम 'क्षीरचोर' क्यों पड़ा ?'

प्रभुने हँसकर उत्तर दिया—'आपसे क्या छिपा होगा ? गोपीनाथ भगवान्‌को क्षीरचोर बनानेवाले आपके पूज्यपाद गुरुदेव और मेरे गुरुके भी गुरु श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजी महाराज ही हैं। उनके मुखसे आपने 'क्षीर-चोर' भगवान्‌की कथा अवश्य ही सुनी होगी, किन्तु फिर भी आप अन्य भक्तोंके कल्याणके निमित्त मेरे मुखसे इस कथाको सुनना चाहते हैं तो जिस प्रकार मैंने अपने पूज्यपाद गुरुदेव श्रीईश्वरपुरीके मुखसे सुनी है, उसे आपको सुनाता हूँ। ऐसी कथाओंको तो बार-बार सुनना चाहिये। इन कथाओंके श्रवणसे भगवान्‌के पादपद्मोंमें प्रीति उत्पन्न होती है और भगवान्‌की भक्तवत्सलताके विषयमें दृढ़ भावना होती है, कि वे अपने भक्तोंकी इच्छा-पूर्तिके निमित्त सब कुछ कर सकते हैं। ऐसी कथाओंके सम्बन्धमें यह कभी भी न कहना चाहिये कि यह तो हमारी सुनी हुई है, इसे फिर क्या सुनें। जैसे एक दिन भरपेट भोजन कर लेनेपर दूसरे दिन फिर उसी प्रकारके भोजन करनेकी इच्छा होती है, इसी प्रकार भक्तोंको भगवान्‌के सम्बन्धकी कथाएँ सुननेमें कभी उपेक्षा न करनी चाहिये, वे जितनी भी बार सुननेको मिल सकें, सुननी चाहिये। भक्त और भगवत्-सम्बन्धी कथाओंके सम्बन्धमें सदा अतृप्त ही बने रहना चाहिये।

अच्छा, तो मैं क्षीरचोर श्रीगोपीनाथके उस पुण्य आख्यानको आपलोगोंके सामने कहता हूँ, आप सभी लोग ध्यानपूर्वक सुनें। प्रभुकी ऐसी बात सुनकर सभी भक्त उत्सुकतापूर्वक प्रभुके मुखकी ओर देखने लगे। और भी दस-बीस भद्र पुरुष वहाँ आ गये थे, वे भी प्रभुके मुखसे क्षीरचोर भगवान्‌की कथा सुननेके निमित्त बैठ गये।

सबको उत्सुकतापूर्वक अपनी ओर टकटकी लगाये देखकर प्रभु बड़े ही मधुर स्वरसे कहने लगे—'मेरे गुरुके भी गुरु वैकुण्ठवासी भगवान् माधवेन्द्रपुरीकी कृष्ण-भक्ति अलौकिक थी, वे अहर्निश श्रीकृष्ण-कीर्तनमें ही लगे रहते थे, सोते-जागते वे सदा श्रीहरिके ही रूपका चिन्तन करते रहते। उनकी जिह्वाको भगवन्नामका ऐसा चस्का लग गया था, कि वह कभी भी ठाली नहीं रहती, सदा उन जगत्पतिके मंगलमय मञ्जुल नामोंका ही बखान करती रहती। उनकी इस उत्कट भक्तिके ही कारण भगवान्‌को खीरकी चोरी करनी पड़ी।

भगवान् माधवेन्द्रपुरी एक बार व्रजकी यात्रा करते-करते गिरिराज गोवर्धन पर्वतके समीप पहुँचे। वहाँपर गिरि-काननकी कमनीय छटाको देखकर वे मन्त्रमुग्ध-से बन गये और वहीं गिरिवरके समीप विचरण करने लगे। एक दिन उन्होंने गोवर्धनके निकट जङ्गलमें एक वृक्षके नीचे निवास किया। पुरी महाराजकी अयाचित वृत्ति थी। वे भोजनके लिये भी किसीसे याचना नहीं करते थे। प्रारब्धवशात् जो भी कुछ मिल जाता उसे ही सन्तोषपूर्वक पाकर कालयापन करते थे। उस दिन उन्हें दिनभर कुछ भी आहार नहीं मिला। शामके समय वे उसी वृक्षके नीचे बैठे भगवन्नामोंका उच्चारण कर रहे थे, कि उन्हें किसीके पैरोंकी आवाज सुनायी दी। वे चौंककर पीछेकी ओर देखने लगे। उन्होंने क्या देखा कि एक काले रंगका ग्यारह-बारह वर्षकी अवस्थावाला बालक हाथमें दूधका पात्र लिये उनकी ओर आ रहा है। शरीरका रंग काला होनेपर भी बालकके चेहरेपर एक अद्भुत तेज प्रकाशित हो रहा था, उसके सभी अङ्ग सुडौल-सुन्दर और चित्ताकर्षक थे। उसने बड़े ही कोमल स्वरमें कुछ हँसते हुए कहा—'महात्माजी! भूखे क्यों बैठे हो? लो, इस दूधको पी लो।'

पुरीने पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हें इस बातका कैसे पता चला, कि मैं यहाँ जङ्गलमें भूखा बैठा हूँ?'

बालकने हँसते हुए कहा—'मैं जातिका ग्वाला हूँ, मेरा घर इसी झाड़ीके समीपके ग्राममें है। मेरी माता अभी जल भरने यहाँ आयी थी, उसीने आपको यहाँ बैठे देखा था और घर जाकर उसीने मुझसे दूध दे आनेको कह दिया था। इसीलिये मैं जल्दीसे गौको दुहकर आपके लिये दूध ले आया हूँ। हमारे यहाँका यह नियम है, कि हमारे ग्रामके समीप कोई भूखा नहीं सोने पाता। जो माँगकर खाते हैं, उन्हें हम रोटी दे देते हैं और जिनका अयाचित व्रत है, उन्हें उनकी इच्छाके अनुसार दूध, फल अथवा अन्नके बने पदार्थ दे जाते हैं। आप इस दूधको पी लें, मैं फिर आकर इस पात्रको ले जाऊँगा।' इतना कहकर वह बालक चला गया।

पुरी महाशयने उस दूधको पीया। इतना स्वादिष्ट दूध उन्होंने अपने जीवनमें कभी नहीं पीया था, वे मनमें अत्यन्त ही प्रसन्न होते हुए उस दूधको पीने लगे। उनके हृदयमें उस साँवले ग्वालेके लड़केकी सूरत गड़-सी गयी थी, वे बार-बार उसका चिन्तन करने लगे। दूध पीकर पात्रको पृथिवीपर रख दिया और उस ग्वाल-कुमारकी प्रतीक्षामें बैठे रहे। आधी रात्रि बैठे-ही-बैठे बीत गयी, किन्तु वह ग्वाल-कुमार नहीं लौटा। अब तो पुरी महाराजकी उत्सुकता उस लड़केको देखनेकी अधिकाधिक बढ़ने लगी। उसी स्थितिमें उन्हें कुछ तन्द्रा-सी आ गयी। उसी समय सामने वही बालक खड़ा हुआ दिखायी देने लगा। उसने हँसते-हँसते कहा—'पुरी! मैं बहुत दिन-से तुम्हारे आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था। तुम आ गये, यह अच्छा ही हुआ। ग्वालेके लड़केके वेशमें मैं ही तुम्हें दुग्ध दे गया था, अब तुम मेरी फिरसे यहाँ प्रतिष्ठा करो। मैं यहाँ इस पासकी झाड़ीके नीचे दबा हुआ हूँ। पहले

मेरा यहाँ मन्दिर था, मेरा पुजारी म्लेच्छोंके भयसे मुझे इस झाड़ीके नीचे गाड़कर भाग गया। तबसे मैं इस झाड़खण्डमें ही दबा हुआ पड़ा हूँ। अब तुम मुझे यहाँसे निकालकर मेरी विधिवत् पूजा करो। मेरा नाम 'श्रीगोपाल' है, मैंने ही इस गोवर्धनको धारण किया था, तुम इसी नामसे मेरी प्रतिष्ठा करना।' इतना कहकर वह बालक पुरीका हाथ पकड़कर उस कुञ्जके समीप ले गया और उन्हें वह स्थान दिखा दिया।

आँखें खुलनेपर पुरी महाराज चारों ओर देखने लगे, किन्तु वहाँ कोई नहीं था। प्रातःकाल उन्होंने ग्रामके लोगोंको बुलाकर सब वृत्तान्त कहा और श्रीगोपालके बताये हुए स्थानको उन्होंने खुदवाया। बहुत दूर खुदनेपर उसमेंसे एक बहुत ही सुन्दर श्यामवर्णकी सुन्दर-सी मनको मोहने-वाली मूर्ति निकली। पुरीने उसी समय ग्रामवासियोंसे एक छप्पर छवाकर उसमें एक ऊँचा-सा आसन बनाया और उसके ऊपर उस श्रीगोपालकी मूर्तिको स्थापित किया। मूर्तिको स्थापित करके उन्होंने विधिवत् भगवान्को पञ्चामृतसे स्नान कराया, फिर शीतल जलसे भगवान्के श्रीविग्रहको खूब मल-मलकर धोया। सुगन्धित चन्दन घिसकर सम्पूर्ण शरीरपर लेपन किया और धूप, दीप, नैवेद्य तथा वन्य फल-फूलोंसे उनकी यथाविधि पूजा की।

अब पुरी महाराजने अन्नकूट-उत्सव करनेका निश्चय किया। उस ग्राममें जितने ब्राह्मणोंके घर थे, सभीसे कह दिया कि वे यथाशक्ति अपने घरसे भोजनकी सामग्री लेकर अपनी-अपनी स्त्रियोंके सहित यहाँ अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनावें। सभी ब्राह्मणोंने प्रसन्नतापूर्वक पुरीकी आज्ञाका पालन किया। वे अपने-अपने घरोंसे बड़े-बड़े घड़ोंमें दूध, दही तथा घृत भर-भरकर पुरीकी कुटियाके समीप लाने लगे। ग्वालोंने अपने घरका सम्पूर्ण दूध दे दिया। दूकान करनेवाले

बनियोंने चावल, बूरा तथा घृत आदि बहुत-सी भोजनकी सामग्री भगवान्के भोगके लिये प्रदान की। सुपात्र ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ आ-आकर अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार सुन्दर-सुन्दर पदार्थ भगवान्के भोगके लिये तैयार करने लगीं। पदार्थोंमें कच्चे-पक्केका भेद-भाव नहीं था, जिसे जो भी बनाना आता था और जिसे जो भी अधिक प्रिय था, वही अपनी शुद्ध भावनाके अनुसार उसी पदार्थको भक्ति-भावसे बनाने लगी।

कोई तो फिलौरीदार बढ़िया कढ़ी ही बना रही है, कोई मूँगके-उड़दके बड़े ही बनाती है, कोई दही-बड़े, काँजीके बड़े, सौंठके बड़े बना-बनाकर रख रही है, कोई पूड़ी, कचौरी, मालपुआ, मीठे पुआ, बेसनके पुआ, बाजरेकी टिकियाँ ही बना रही है, कोई बेसनके लड्डू, मूँगके लड्डू, निकुतीके लड्डू, सूजीके लड्डू, चूरमाके लड्डू, काँगनीके लड्डू आदि भाँति-भाँतिके लड्डुओंको ही भोगके लिये तैयार कर रही है, कोई भाँति-भाँतिके साग, खट्टे, मीठे विविध प्रकारके रायते ही बना-बनाकर एक ओर रखती जाती है, कोई छोटी-छोटी बाटियाँ ही बनाकर उन्हें घीके पात्रमें डुबो-डुबोकर रखती जा रही है, कोई उन्हें हाथसे मींजकर चूरमा बना रही है, कोई पतली-पतली फुलकियाँ पका रही है, कोई-कोई मोटे-मोटे रोट ही बनाकर भगवान्को खिलाना चाहती है, कोई काँगनीका भात बना रही है, तो कोई बाजरेका भात उबाल रही है। कोई रमासोंको उबालकर ही छौंक रही है। कोई चनोंको फुलाकर उन्हें घीमें तल रही है। कोई अमचूरकी, पोदीनाकी, मेवाओंकी, इमलीकी तथा और भी कई प्रकारकी चटनियोंको पीस-पीसकर पत्थरकी कटोरियोंमें रखती जाती है। कोई मखानोंकी, चावलोंकी तथा और भी भाँति-भाँतिकी खीर ही बना रही है, कोई दूधका खोआ बनाकर पेड़ा, बरफी, खोआके लड्डू, गुलाबजामुन आदि फलाहारी मिठाइयाँ बना रही है, कोई दूधकी

खड़ी बना रही है, कोई खुरचन तैयार करके दूसरी ओर रखती जाती है, कोई मट्ठाकी महेरी ही भगवान्‌को भोग लगाना चाहती है। कोई सुन्दर-सुन्दर भाँति-भाँतिके चावलोंको ही कई प्रकारसे राँध रही है। कोई रोटियोंको दूधमें मींजकर उन्हें दूधमें फुला रही है। कोई लपसी बना रही है। कोई हलुआ, मोहनभोग, दुधलपसी आदि पदार्थोंको बनानेमें लगी हुई है। इस प्रकार सभीने अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार सैकड़ों प्रकारके षट्‌रसयुक्त भोजन बनाये। उन्होंने क्या बनाये, श्रीगोपाल भगवान्‌ने स्वयं उनके हृदयमें प्रेरणा करके बनवाये, नहीं तो भला गाँवकी रहनेवाली वे गँवारोंकी स्त्रियाँ ऐसे पदार्थोंका बनाना क्या जानें! भगवान् तो सर्व-समर्थ हैं, वे जिसके हाथसे जो भी चाहें, करा सकते हैं।

इस प्रकार सब सामान तैयार होनेपर पुरी महाराजने भगवान्‌का भोग लगाया। पता नहीं भगवान् कितने दिनोंके भूखे थे, देखते-ही-देखते वे उन सभी पदार्थोंको चट कर गये। पुरी महाशयको बड़ा विस्मय हुआ। तब भगवान्‌ने हँसकर अपने हाथोंसे उन पात्रोंको छू दिया। भगवान्‌के स्पर्शमात्रसे ही वे सभी पदार्थ फिर ज्यों-के-त्यों ही हो गये। पुरी महाराजने प्रसन्नता प्रकट करते हुए सभी व्रजवासी स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध तथा युवकोंको वह प्रसाद बाँटा। पुरी महाराजने भगवान् श्रीगोपालको प्रकट किया है, यह समाचार दूर-दूरतक फैल गया था। हजारों स्त्री-पुरुष भगवान्‌के दर्शनके लिये आने लगे। उस दिन भगवान्‌के दर्शनको जो भी आता, उसे ही पेट भरकर प्रसाद मिलता। रात्रिपर्यन्त हजारों आदमी आते-जाते रहे, किन्तु अन्ततक सभीको यथेष्ट प्रसाद मिला, कोई भी प्रसादसे विमुख होकर नहीं गया। इस प्रकार उस दिनका अन्नकूट-उत्सव बड़ा ही अद्भुत रहा।

इसके पश्चात् अन्य ग्रामोंके भी पुरुष बारी-बारीसे श्रीगोपाल भगवान्‌का अन्नकूट करने लगे। इस प्रकार रोज ही पुरी महाराजकी

कुटियामें अन्नकूटकी धूम रहने लगी। यह समाचार दूर-दूरतक फैल गया। मथुराके बड़े-बड़े सेठ श्रीगोपाल भगवान्‌के दर्शनको आने लगे और वे सोना, चाँदी, हीरा जवाहिरात तथा भाँति-भाँतिके वस्त्राभूषण भगवान्‌की भेंट करने लगे। किसी पुण्यवान् पुरुषने श्रीगोपाल भगवान्‌का बड़ा भारी विशाल मन्दिर बनवा दिया। सभी व्रजवासियोंने एक-एक, दो-दो गाय मन्दिरके लिये भेंट दी। इससे हजारों गौएँ मन्दिरकी हो गयीं। पुरी महाराज बड़े ही भक्तिभावसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करने लगे। उनका शरीर कुछ क्षीण-सा हो गया था, वे सेवा-पूजाके लिये कोई योग्य शिष्य चाहते थे, उसी समय गौड़-देशसे दो सुन्दर युवक आकर पुरी महाराजके शरणापन्न हुए। पुरीने उन्हें योग्य समझकर दीक्षित किया और उन्हें श्रीगोपाल भगवान्‌की पूजाका काम सौंपा। इस प्रकार दो वर्षोंतक पुरी महाराज श्रीगोपाल भगवान्‌की पूजा करते रहे।

एक दिन स्वप्नमें भगवान्‌ने पुरी महाराजसे कहा—'माधवेन्द्र! बहुत दिनोंतक पृथिवीके अन्दर रहनेके कारण हमारे सम्पूर्ण शरीरमें दाह होती है, यदि तू जगन्नाथपुरीसे मलयागिर-चन्दन लाकर हमारे शरीरमें लेपन करे तो हमारी यह गर्मी शान्त हो।' भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्य करके दूसरे दिन शिष्योंको पूजाका सभी काम सौंपकर और भगवान्‌से आज्ञा प्राप्त करके पुरी महाराजने नीलाचलके लिये प्रस्थान किया। इसी यात्रामें वे नवद्वीप पधारे और अद्वैताचार्यके घरपर आकर ठहरे। आचार्य उनके अद्भुत भक्ति-भावको देखकर उनके भगवत्-प्रेमपर आसक्त हो गये और उन्होंने पुरी महाराजसे मन्त्रदीक्षा लेकर उन्हें अपना गुरु बनाया।

कुछ दिन शान्तिपुरमें रहकर और अद्वैताचार्यको दीक्षा देकर पुरी महाराज नीलाचलके लिये चले। चलते-चलते वे यहाँ रेमुणायमें आये और उन्होंने श्रीगोपीनाथजीके दर्शन किये। गोपीनाथ भगवान्‌के दर्शनसे पुरीको अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। यहाँपर भगवान्‌का साज-शृंगार

तथा भोग-राग बड़ी ही भावमय पद्धतिसे किया जाता था, पुरी महाराज वहाँकी पूजा-पद्धतिको खूब ध्यानपूर्वक देखते रहे। अन्तमें उन्होंने पुजारियोंसे पूछा—'यहाँपर भगवान्‌का मुख्य भोग किस वस्तुका लगता है ?' पुजारियोंने उत्तर दिया—'यहाँ श्रीगोपीनाथ भगवान्‌का क्षीर-भोग ही सर्वोत्तम प्रधान भोग है। गोपीनाथजीकी क्षीरको 'अमृतकेलि' नामसे पुकारते हैं। गोपीनाथजीकी प्रसादी खीर सर्वत्र प्रसिद्ध है। बारह पात्रोंमें शामको खीरका भोग लगता है।'

पुरी महाराजकी इच्छा थी, कि मैंने पूजाकी पद्धति तो समझ ली, किन्तु खीर कैसी होती है, इसे मैं ठीक-ठीक नहीं समझ सका। यदि भगवान्‌की प्रसादी थोड़ी-सी खीर मिल जाती, तो उसका स्वाद देखकर मैं भी अपने श्रीगोपालको ऐसी ही खीर अर्पण करता। इस विचारके मनमें आते ही उन्हें भय प्रतीत हुआ, कि यह मेरी जिह्वा-लोलुपता तो नहीं है! ऐसे भाव रसनास्वादके निमित्त तो मेरे हृदयमें उत्पन्न नहीं हो गये! फिर उन्होंने सोचा—'भगवान्‌के प्रसादमें क्या इन्द्रिय-लोलुपता ? मैं जिह्वा-स्वादके लिये तो इच्छा कर ही नहीं रहा हूँ, अपने भगवान्‌को भी ऐसी ही खीर खिलानेकी मेरी इच्छा थी।' इन विचारोंसे उन्हें कुछ-कुछ सन्तोष हुआ, किन्तु वे किसीसे प्रसाद माँग तो सकते ही नहीं थे, कारण कि, उनका तो अयाचित व्रत था। बिना माँगे जो भी कोई कुछ दे देता, उसीसे जीवन-निर्वाह करते, इसलिये प्रसादको चखनेकी उनकी इच्छा मन-की-मनमें ही रह गयी। उन्होंने किसीके सामने अपनी इच्छा प्रकट नहीं की। सन्ध्याको भोग लगकर शयन-आरती हो गयी। भगवान्‌के कपाट बन्द कर दिये गये। सभी लोग अपने-अपने घरोंको चले गये। पुरी महाशय भी गाँवसे थोड़ी दूरपर एक कुटियामें जाकर पड़ रहे।

आधीरात्रिके समय पुजारीने स्वप्न देखा—मानो साक्षात् गोपीनाथ भगवान् उसके सामने खड़े होकर कह रहे हैं—'पुजारी! पुजारी!! तुम

अभी उठकर मेरा एक जरूरी काम करो। मेरा एक परम भक्त माधवेन्द्रपुरी-नामका महाभागवत संन्यासी ग्रामके बाहर ठहरा हुआ है, उसकी इच्छा मेरे 'क्षीर-प्रसाद' को पानेकी है। अपने भक्तकी मनोवाञ्छाको पूर्ण करनेके निमित्त मैंने अपने भोगके बारह पात्रोंमेंसे एकको चुराकर अपने वस्त्रोंमें छिपा लिया है, तुम उसे ले जाकर अभी माधवेन्द्रको दे आओ।' इतना सुनते ही पुजारी चौंककर उठ पड़ा। उसने भगवान्‌के पट खोलकर उनके वस्त्रोंको देखा। सचमुच उनमें एक क्षीरसे भरा पात्र छिपा हुआ रखा है। पुजारी उस पात्रको लेकर नगरके चारों ओर चिल्लाता फिर रहा था—'माधवेन्द्रपुरी किनका नाम है? जो माधवेन्द्रपुरी-नामके साधु हों, वे इस क्षीरके पात्रको ले लें। भगवान्‌ने उनके निमित्त क्षीरकी चोरी की है।'

इस प्रकार चिल्लाते-चिल्लाते पुजारी उसी स्थानपर पहुँचा जहाँ पुरी महाराज ठहरे हुए थे। भगवान्‌के पुजारीके मुखसे अपना नाम सुनकर पुरी महाराज बाहर निकल आये और कहने लगे—'महाराज! मेरा ही नाम माधवेन्द्रपुरी है, कहिये क्या आज्ञा है?'

पुरी महाराजका परिचय पाकर पुजारी उनके पादपद्मोंमें प्रणत हुआ और बड़े ही विनीत वचनोंसे कहने लगा—'महाभाग! आप धन्य हैं! आपकी इस अलौकिक भक्तिको भी कोटि-कोटि धन्यवाद है!! आज हम आपके दर्शनसे कृतार्थ हुए। इतने दिनकी भगवान्‌की पूजाका फल आज प्राप्त हो गया। हम-जैसे पैसोंके गुलामोंको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन तो हो ही कैसे सकते हैं? किन्तु हम अपना इसीमें अहोभाग्य समझते हैं, कि भगवान्‌की पूजा करनेके प्रभावसे आप-जैसे भगवान्‌के परम प्रिय भक्तके दर्शन हो गये। हम तो आपको साक्षात् भगवान् ही समझते हैं, जिनकी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेके निमित्त चराचर विश्वके एक-मात्र अधिपति भगवान्‌ने भी क्षीरकी चोरी की, वे भी चोर बने, वे महा-

भागवत तो भगवान्से भी बढ़कर हैं। यह लीजिये, भगवान्ने यह क्षीर आपके लिये चुराकर रख छोड़ी थी। उन्हींकी आज्ञासे मैं इसे आपके पास लाया हूँ।' पुजारीके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर पुरी महाराज कुछ लज्जित हुए। वे भगवान्की कृपालुता, भक्तवत्सलता और अपने भक्तोंके प्रति अपार ममताके भावोंको स्मरण करके प्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे। रोते-रोते उन्होंने भगवान्का दिया हुआ वह महाप्रसाद दोनों हाथ फैलाकर अत्यन्त ही दीन-भावसे भिखारीकी भाँति ग्रहण किया। एकान्तमें प्रेममें पागल हुए उस महाप्रसादको वे पाने लगे। उस समयके उनके अनिर्वचनीय आनन्दका अनुमान लगा ही कौन सकता है? एक तो भगवान्का महाप्रसाद और दूसरे साक्षात् भगवान्ने अपने हाथसे चोरी करके दिया। पुरी रोते जाते थे और उस प्रसादको पाते जाते थे। चारों ओरसे पात्रको खूब चाट-चाटकर पुरीने प्रसाद पाया। फिर जल डालकर उसे धोकर पी गये और उस मिट्टीके पात्रके टुकड़े कर करके उन्हें अपने वस्त्रमें बाँध लिया। भला भगवान्के दिये हुए पात्रको वे फेंक कैसे सकते थे? उस टुकड़ेको रोज नियमसे एक-एक करके खा लेते थे।

जब रेमुणायके लोगोंको भगवान्की क्षीर-चोरीकी बात मालूम पड़ी, तब तो हजारों नर-नारी पुरी महाराजके दर्शनके लिये आने लगे। चारों ओर पुरी महाराजके प्रभुप्रेमकी प्रशंसा होने लगी। सभीके मुखों-पर वही पुरी महाराजकी अलौकिक भक्तिकी बात थी, सभी उनके भगवत्-प्रेमकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। प्रतिष्ठाको शूकरीविष्ठा और गौरवको रौरव-नरकके समान दुखदायी समझनेवाले पुरी महाराज अब अधिक कालतक वहाँ न ठहर सके, वे श्रीगोपीनाथ भगवान्के चरणोंको वन्दना करके जगन्नाथपुरीके लिये चले गये।

जगन्नाथजीमें पहुँचते ही पुरी महाराजके आगमनका समाचार चारों ओर फैल गया। दूर-दूरसे लोग पुरी महाराजके दर्शनके लिये आने लगे। सचमुच मान-प्रतिष्ठा तथा कीर्तिकी गति अपनी शरीरकी छायाके समान ही है, तुम यदि स्वयं छायाको पकड़ने दौड़ोगे, तो वह तुमसे आगे-ही-आगे भागती जायगी। तुम कितना भी प्रयत्न करो, वह तुम्हारे हाथ न आवेगी। उसीकी तुम उपेक्षा करके उससे पीछा छुड़ाकर दूसरी ओर भागो, तुम चाहे उससे कितना भी पीछा छुड़ाना चाहो, किन्तु वह तुम्हारा पीछा न छोड़ेगी। तुम जिधर भी जाओगे उधर ही वह तुम्हारे पीछे-पीछे लगी डोलेगी। जो लोग प्रतिष्ठा चाहते हैं, प्रतिष्ठाके लिये सब कुछ करनेको तैयार हैं, उनकी प्रतिष्ठा नहीं होती और जो संसारसे पृथक् होकर एकदम प्रतिष्ठासे दूर भागते हैं, संसार उनकी प्रतिष्ठा करता है। इसीलिये तो संसारकी गतिको उलटी बताते हैं। गोपीनाथ भगवान्के दरबारमेंसे पुरी महाराज प्रतिष्ठाके ही भयसे भाग आये थे, उसने यहाँ भी पिण्ड नहीं छोड़ा। अस्तु। कुछ कालतक जगन्नाथपुरीमें निवास करके ब्राह्मणोंके सम्मुख अपने श्रीगोपालकी इच्छा कह सुनायी। भगवान्की इच्छाको समझकर पुरीनिवासी ब्राह्मण परम प्रसन्न हुए और उन्होंने पुरी महाराजके लिये बहुत-से मलयागिर-चन्दनकी व्यवस्था कर दी। राजासे कहकर उन्होंने चन्दनके लिये यथेष्ट कर्पूर तथा केसर-कस्तूरीका भी प्रबन्ध कर दिया। उन्हें व्रजतक पहुँचानेके लिये दो सेवक भी पुरी महाराजके साथ कर दिये और राजाज्ञा दिलाकर उन्हें प्रेम-पूर्वक विदा कर दिया।

चन्दन, कर्पूर आदिको लिये हुए पुरी महाराज फिर रेमुणायमें पधारे और श्रीगोपीनाथ भगवान्के दर्शनके निमित्त वहाँ दो-चार दिन-के लिये ठहर गये।

भगवान् तो भावके भूखे हैं, उन्हें किसी संसारी भोगकी वाञ्छा नहीं, वे तो भक्तका भक्ति-भाव ही देखना चाहते हैं। पुरी महाराजकी अलौकिक श्रद्धा तो देखिये, भगवान्‌की आज्ञा पाते ही चन्दन लेनेके लिये भारतके एक छोरसे समुद्रके किनारे दूसरे छोरपर आपत्ति-विपत्तियोंकी कुछ भी परवा न करते हुए प्रेमसहित चल दिये। अब भक्तकी अग्नि-परीक्षा हो चुकी वे उसमें खरे सोनेके समान निर्मल होकर चमकते हुए ज्यों-के-त्यों ही निकल आये। अब भगवान्‌ने भक्तको और अधिक क्लेशमें डालना उचित नहीं समझा। उस समय मुसलमानी शासनमें इतनी दूरतक चन्दन आदिका ले जाना बड़ा कठिन था। फिर स्थान-स्थानपर घोर युद्ध हो रहे थे, कहीं भी निर्विघ्न पथ नहीं था। इसीलिये भगवान्‌ने पुरी महाराजको स्वप्नमें आज्ञा दी—'श्रीगोपीनाथ और मैं एक ही हूँ। तुम हमारे दोनों विग्रहोंमें किसी प्रकारकी भेद-बुद्धि मत रखो। तुम इस चन्दनका लेप श्रीगोपीनाथके ही विग्रहमें करो। इसीसे हमारा ताप दूर हो जायगा। हमारे वचनोंपर विश्वास करके तुम निःसंकोच-भावसे इस चन्दनको यहीं-पर घिसवाकर हमारे अभिन्न विग्रहमें लगवा दो।'

पुरी महाराजको पहले जो स्वप्नमें आदेश हुआ था, उसकी लिये तो वे जगन्नाथजी चन्दन लेनेके लिये दौड़े आये थे, अब जो भग-वान्‌ने स्वप्नमें आज्ञा दी उसे वे कैसे टाल सकते थे, इसीलिये भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्य करके वे वहीं ठहर गये और चन्दन घिसवानेके लिये दो आदमी नौकर और रख लिये। ग्रीष्म-कालके चार महीनोंतक वहीं रह-कर पुरी महाराज भगवान्‌के अङ्गपर कर्पूर, चन्दन आदिका लेप कराते रहे और जब भगवान्‌का ताप दूर हो गया, तो वे चतुर्मास बितानेके निमित्त पुरी चले गये और वहाँ चार महीने निवास करके फिर अपने श्रीगोपालके समीप लौट आये।

इस प्रकार सभी भक्तोंको श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीकी उत्कट भक्ति और अलौकिक प्रेमकी कहानी कहते-कहते, प्रभुका गला भर आया। प्रभुके दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा निकल-निकलकर उनके वक्षःस्थलको भिगोने लगी। पुरीके माहात्म्यका वर्णन करते-करते अन्तमें उन्हें उस श्लोकका स्मरण हो आया जिसे पढ़ते-पढ़ते पुरी महाराजने इस पाञ्चभौतिक शरीरका परित्याग किया था। वे रुँधे हुए कण्ठसे उस श्लोकको बार-बार पढ़ने लगे—श्लोक पढ़ते-पढ़ते वे बेहोश होकर नित्यानन्दजीकी गोदमें गिर पड़े। अन्य उपस्थित भक्त भी प्रभुको रुदन करते देखकर जोरोंसे क्रन्दन करने लगे। उसी समय भगवान्‌का भोग लगकर शयन-आरती हुई। प्रभुने सभी भक्तोंके सहित शयन-आरतीके दर्शन किये और फिर वहीं मन्दिरके समीप ही एक स्थानमें रात्रि बितानेका निश्चय किया। पुजारियोंने लाकर भगवान्‌के क्षीरभोगके बारह पात्र प्रभुके सामने रख दिये। प्रभु भगवान्‌के उस महाप्रसादके दर्शन-मात्रसे ही परम प्रसन्न हो उठे। प्रसन्नता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—आज हमारा जन्म सफल हुआ, जो हम गोपीनाथ भगवान्‌के क्षीरके अधिकारी समझे गये। भगवान्‌के प्रसादके सम्बन्धमें लोभ-वृत्ति करना ठीक नहीं है। हम पाँच ही आदमी हैं, अतः आप हमें पाँच पात्र देकर सात पात्रोंको उठा ले जाइये। भगवान्‌के प्रसादके अधिकारी सभी हैं। उसे अकेले-ही-अकेले पा लेना ठीक नहीं है। यह कहकर प्रभुने पाँच पात्रोंको ग्रहण करके शेष सात पात्रोंको लौटा दिया।

भगवान्‌के उस अद्भुत महाप्रसादको प्रभुने अपने भक्तोंके साथ श्रद्धासहित पाया और वह रात्रि वहीं भगवान्‌के चरणोंके समीप बितायी।

श्रीसाक्षिगोपाल

पद्भ्यां चलन् यः प्रतिमास्वरूपो
ब्रह्मण्यदेवो हि शताहगम्यम्।
देशं ययौ विप्रकृतेऽद्भुतोऽयं
तं साक्षिगोपालमहं नतोऽस्मि ॥*
(चै० च० म० ली० ५ । १)

प्रातःकाल उठकर प्रभु नित्यकर्मसे निवृत्त हुए और भगवान् श्रीगोपीनाथजीकी मंगल आरतीके दर्शन करके उन्होंने भक्तोंके सहित आगेके लिये प्रस्थान किया। रास्तेमें उन्हें वैतरणी-नदी मिली। उसमें स्नान करके प्रभु राजपुरमें पहुँचे। वहाँ वराह भगवान्‌का स्थान है। वराह भगवान्‌के दर्शन करनेके अनन्तर याजपुरमें होते हुए और शिवलिंग, विरजादर्शन तथा ब्रह्मकुण्डमें स्नान करते हुए नाभिगयामें पहुँचे। वहाँ दशाश्वमेध-घाटपर स्नान करके कण्टकनगरमें पहुँचकर भगवान् साक्षिगोपालके दर्शन किये। साक्षिगोपालजीके मन्दिरमें बहुत देरतक कृष्णकीर्तन होता रहा। नगरके बहुत-से नर-नारी प्रभुके कीर्तन और नृत्यको देखनेके लिये

* जो ब्रह्मण्यदेव प्रतिमास्वरूपसे पैरों चलकर सैकड़ों दिनमें जाने योग्य होनेपर भी ब्राह्मणके ऊपर कृपा करके इस (विद्यानगर नामक) देशमें पधारे, ऐसे अद्भुत साक्षीका काम करनेवाले उन साक्षिगोपाल भगवान्‌के चरणोंमें हम बार-बार नमस्कार करते हैं।

एकत्रित हो गये। प्रभुको नृत्य करते देखकर ग्रामवासी स्त्री-पुरुष भी आनन्दमें उन्मत्त होकर कठपुतलियोंकी तरह नाचने-कूदने लगे। बहुत देरतक संकीर्तन-आनन्द होता रहा। तब प्रभुने अपने भक्तोंके सहित साक्षि-गोपालके मन्दिरमें विश्राम किया।

रात्रिमें भक्तोंके साथ कथोपकथन करते-करते प्रभुने नित्यानन्दजीसे पूछा—'श्रीपाद ! आपने तो प्रायः भारतवर्षके सभी मुख्य-मुख्य तीर्थोंमें भ्रमण किया है। आपसे तो सम्भवतया कोई प्रसिद्ध तीर्थ न बचा हो, जहाँ जाकर आपने दर्शन-स्नानादि न किया हो ?'

कुछ धीरेसे नित्यानन्दजीने कहा—'हाँ, प्रभो ! बारह वर्ष मेरे इसी प्रकार तीर्थोंके भ्रमणमें ही व्यतीत हुए ?'

प्रभुने पूछा—'यहाँ भी पहले आये थे ?'

नित्यानन्दजीने उत्तर दिया—'पुरीसे लौटते हुए मैंने साक्षिगोपाल भगवान्‌के दर्शन किये थे।'

प्रभुने कहा—'तीर्थमें जाकर उस तीर्थका माहात्म्य अवश्य सुनना चाहिये। बिना माहात्म्य सुने तीर्थका फल आधा ही होता है। आप मुझे साक्षिगोपालका माहात्म्य सुनाइये। इनका नाम साक्षिगोपाल क्यों पड़ा ? इन्होंने किसकी साक्षी दी थी ?'

प्रभुकी ऐसी आज्ञा सुनकर धीरे-धीरे नित्यानन्दजी कहने लगे—'मैंने किसी पुराणमेंसे तो साक्षिगोपाल भगवान्‌की कथा नहीं सुनी, क्योंकि यह बहुत प्राचीन तीर्थ नहीं है। अभी थोड़े ही दिनोंसे साक्षि-गोपाल भगवान् विद्यानगरसे यहाँ पधारे हैं। लोगोंके मुखसे मैंने जिस प्रकार साक्षिगोपालकी कथा सुनी है, उसे सुनाता हूँ।'

तैलङ्ग-देशमें गोदावरी-नदीके तटपर 'विद्यानगर' नामकी कोट-देशकी प्राचीन राजधानी थी। वह नगर बड़ा ही समृद्धिशाली तथा

समुद्रके समीप होनेके कारण वाणिज्य-व्यापारका केन्द्र था। उसी नगरमें एक समृद्धिशाली कुलीन ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण भगवत्-भक्त था। वह गौ, ब्राह्मण तथा देवप्रतिमाओंमें भक्ति रखता था। घरमें खाने-पीनेकी कमी नहीं थी। लड़के बड़े हो गये थे, इसलिये घरके सम्पूर्ण कामोंको वे ही करते थे। यह वृद्ध ब्राह्मण तो माला लेकर भजन किया करता था। घरमें पुत्र, पुत्रवधू, स्त्री तथा एक अविवाहिता छोटी कन्या थी। ब्राह्मणकी इच्छा तीर्थयात्रा करनेकी हुई। उस वृद्ध ब्राह्मणके समीप ही एक गरीब ब्राह्मणका लड़का रहता था। उसके माता-पिता उसे छोटा ही छोड़कर परलोकवासी हो गये थे। जिस किसी प्रकार मेहनत-मजूरी करके वह अपना निर्वाह करता था। किन्तु उसके हृदयमें भगवान्के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी। वह एकान्तमें सदा भगवान्का भजन किया करता था। इस कारण उसपर भगवान्की कृपा थी। भगवान्की कृपाकी सबसे मोटी पहचान यही है कि जिसे ब्राह्मणोंमें, तीर्थोंमें, भगवत्-चरित्रोंमें, देवस्थानोंमें, भगवत्-प्रतिमाओंमें, गौओंमें, तुलसी-पीपल आदि पवित्र वृक्षोंमें श्रद्धा हो, इन सबके प्रति हार्दिक अनुराग हो, उसे ही समझना चाहिये कि यह भगवत्-कृपाका पात्र बन चुका है। उस ब्राह्मण-कुमारका इन सबके प्रति अनुराग था। इसीलिये वह वृद्ध ब्राह्मण इस लड़केपर स्नेह करता था।

एक दिन उस वृद्ध ब्राह्मणने इस युवकसे कहा—'भाई! यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो चलो तीर्थयात्रा कर आवें। गृहस्थीके जंजालसे कुछ दिनके लिये तो छूट जायँ।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए उस युवकने कहा—'इससे बढ़कर उत्तम बात और हो ही क्या सकती है? तीर्थयात्राका सुयोग तो किसी भाग्यवान् पुरुषको ही प्राप्त हो सकता है। मैं आपके साथ चलनेके लिये तैयार हूँ।'

अपने मनके योग्य साथी पाकर वह वृद्ध ब्राह्मण बहुत ही प्रसन्न हुआ और उस युवकको साथ लेकर तीर्थयात्राके लिये घरसे निकल पड़ा। दोनों ही गया, काशी, प्रयाग, अयोध्या, नैमिषारण्य, ब्रह्मावर्त आदि तीर्थ-स्थानोंके दर्शन करते हुए व्रजमण्डलमें पहुँचे। वहाँपर इन्होंने भद्रवन, बिल्ववन, लोहवन, भाण्डीरवन, महावन, मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, काम्यवन, खदिरवन और श्रीवृन्दावन आदि बारह वनों तथा उपवनोंकी यात्रा की। व्रजके नन्दगाँव, बरसाना, गोवर्धन आदि सभी तीर्थोंके दर्शन करते हुए इन लोगोंने वृन्दावनमें आकर कुछ दिन विश्राम किया। उस छोटे ब्राह्मणकुमारने सम्पूर्ण यात्रामें उस वृद्ध ब्राह्मणकी बड़े ही निःस्वार्थभावसे सब प्रकारकी सेवा-शुश्रूषा की। वह वृद्ध ब्राह्मण इस युवककी सेवा-शुश्रूषासे बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हुआ। उसने गोपालजीके मन्दिरमें कृतज्ञता प्रकट करते हुए उस ब्राह्मणकुमारसे कहा—'भाई! तुमने हमारी ऐसी अद्भुत सेवा की है, कि ऐसी सेवा पुत्र अपने पिताकी भी नहीं कर सकता। मैं इस कृतज्ञताके बोझसे दबा-सा जा रहा हूँ। मैं सोच रहा हूँ, इसके बदलेमें मैं तुम्हारा क्या उपकार करूँ?'

ब्राह्मणकुमारने कहा—'आप तो मेरे वैसे ही पूज्य हैं, फिर वृद्ध हैं, भगवत्भक्त हैं, पड़ोसी हैं, मेरे पिताके तुल्य हैं और आजकल तीर्थयात्री हैं, आपकी सेवा करना तो मेरा हर प्रकारसे धर्म है। इसमें मैंने प्रशंसाके योग्य कौन-सा काम किया है। यह तो मैंने अपने मनुष्योचित कर्तव्यका ही पालन किया है। मैंने किसी इच्छासे आपकी सेवा नहीं की, इसलिये इसका बदला चुकानेकी क्या जरूरत है?'

वृद्ध ब्राह्मणने कहा—'तुम तो बदला नहीं चाहते, किन्तु मेरा भी तो कुछ कर्तव्य है, जबतक मैं तुम्हारे इस महान् उपकारका कुछ थोड़ा-

बहुत प्रत्युपकार न कर सकूँगा, तबतक मुझे शान्ति न होगी। मेरी इच्छा है कि मैं अपनी पुत्रीका विवाह तुम्हारे साथ कर दूँ ?'

आश्चर्य प्रकट करते हुए उस युवकने कहा—'यह आप कैसी बातें कर रहे हैं, कहाँ आप इतने भारी कुलीन, धनी-मानी, बड़े परिवारवाले गृहस्थ, कहाँ मैं माता-पिता-हीन अकुलीन, अनाथ ब्राह्मणकुमार ! मेरा-आपका सम्बन्ध कैसा ? सम्बन्ध तो सदा समान शील-गुणवाले पुरुषोंमें होता है ?'

वृद्धने कहा—'पिताका कर्तव्य है, कि वह कन्याके लिये योग्य पतिकी खोज करे। उसके धन, परिवार और वैभवकी ओर विशेष ध्यान न दे। तुम्हारे-जैसे शील-स्वभावका वर अपनी कन्याके लिये और कहाँ मिलेगा ? इसलिये मैं तुम्हें ही अपनी कन्या दूँगा। तुम्हें मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ेगी ?'

उस युवकने कहा—'आप तो खैर राजी भी हो जायँगे, किन्तु आपकी स्त्री, आपका पुत्र तथा जाति-परिवारवाले इस सम्बन्धको कब स्वीकार करने लगे ? वे तो इस बातके सुनते ही आग-बबूला हो जायँगे ?'

वृद्ध ब्राह्मणने दृढ़ताके साथ कहा—'हो जाने दो सबको आग-बबूला। किसीका इसमें क्या साँझा है ? लड़की मेरी है, मैं जिसे चाहूँगा, दूँगा। कोई इसमें कह ही क्या सकता है ? तुम स्वीकार कर लो।'

युवकने कहा—'मुझे स्वीकार करनेमें तो कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु आप घर जाकर यहाँकी सब बातें भूल जायँगे, स्त्री, पुत्र तथा परिवारवालोंके आग्रहके सामने वहाँ आपकी कुछ भी न चल सकेगी।'

वृद्ध ब्राह्मणने जोशमें आकर कहा—'मैं गोपाल भगवान्को साक्षी करके कहता हूँ, कि मैं तुम्हारे साथ अपनी पुत्रीका विवाह अवश्य करूँगा। बस, अब तो विश्वास करोगे ?'

कुछ धीरेसे ब्राह्मणकुमारने कहा—'अच्छी बात है, वहाँ चलनेसे सब पता चल जायगा।' इस प्रकार गोपालके सामने पुत्री देनेकी प्रतिज्ञा करके वह वृद्ध ब्राह्मण थोड़े दिनोंके बाद उस युवकके ही साथ लौटकर विद्यानगरमें आ गया।

वहाँ आवेशमें आकर तो ब्राह्मण कन्यादानका वचन दे आया, किन्तु स्त्री, पुत्र आदिके सामने उसकी इस बातको कहनेकी हिम्मत नहीं पड़ी। एक दिन उसने एकान्तमें अपने पुत्रपर यह बात प्रकट की। इस बातके सुनते ही सम्पूर्ण घरमें द्वन्द्व मच गया। लड़का आपेसे बाहर हो गया, स्त्री अलग विष खानेके लिये तैयार हो गयी। परिवारवाले मिलकर जातिसे अलग कर देनेकी धमकी देने लगे। वृद्ध ब्राह्मण किंकर्तव्यविमूढ-सा बन गया। उसे कुछ सूझता ही नहीं था, कि ऐसी स्थितिमें क्या करूँ? अब वह उस युवकसे आँखें मिलानेमें भी डरता था।

उस युवकने कुछ कालतक तो प्रतीक्षा की कि ब्राह्मण स्वयं ही अपने वचनोंके अनुसार कार्य करे, किन्तु जब बहुत दिन हो गये, तो उस युवकने सोचा—'सम्भव है, बूढ़े बाबा अपने वचनोंको भूल गये हों, इसलिये एक बार उन्हें स्मरण तो दिला देना चाहिये। फिर उसके अनुसार काम करना-न-करना उनके अधीन है?'

यह सोचकर वह युवक उन वृद्ध ब्राह्मणके यहाँ गया। उस युवकको देखते ही वृद्ध ब्राह्मणका चेहरा उतर गया। उसने सूखे मुखसे कहा—'आओ भाई! आज तो बहुत दिनोंमें दिखायी पड़े।'

थोड़ी देरतक इधर-उधरकी बातें होनेके अनन्तर उस युवकने कहा—'बाबा! आपने वृन्दावनमें गोपालजीके सामने मुझे अपनी कन्या देनेका वचन दिया था, याद है?'

वृद्ध ब्राह्मण इस बातका जबतक कुछ उत्तर भी न देने पाया था, तबतक उसका पुत्र डण्डा लेकर उसके ऊपर दौड़ा और कहने लगा—'क्यों रे नीच ! तेरा इतना बड़ा साहस ? मेरा बहनोई बनना चाहता है ? अभी इसी समय मेरे घरमेंसे निकल जा नहीं तो ऐसा लट्ठ मारूँगा, कि खोपड़ी बीचमेंसे खुल जायगी ।'

इस बातको सुनकर उस युवकको बड़ा क्षोभ हुआ । उसे विवाह न होनेका दुःख नहीं था, वह अपने अपमानके कारण जलने लगा । उसे अपनी स्थितिके ऊपर बड़ा दुःख होने लगा । वह सोचने लगा—'आज मेरे माता-पिता होते और चार पैसे मेरे पास होते तो इसकी क्या हिम्मत थी, जो मेरा यह इस प्रकारसे अपमान कर सकता ? अच्छा, चाहे कुछ भी क्यों न हो, इस अपमानका बदला तो मैं इससे अवश्य लूँगा । या तो मैं इसकी बहिनके साथ विवाह ही करूँगा या जीवित ही न रहूँगा ।' यह सोचकर उसने पञ्चोंको इकट्ठा किया । पञ्चोंके इकट्ठे हो जानेपर उसने आदिसे अन्ततक सभी कथा कह सुनायी और अन्तमें कहा—'मैं और कुछ नहीं चाहता । ये बूढ़े बाबा ही अपने धर्मसे पञ्चोंके सामने कह दें, कि इन्होंने गोपालजीके मन्दिरमें उन्हींकी साक्षी देते हुए मुझे कन्यादान करनेका वचन नहीं दिया था ?'

ब्राह्मणको तो उसके पुत्रने पहले ही सिखा-पढ़ाकर ठीक कर रखा था । उसने पिताको समझा रखा था, आप झूठ-सत्य कुछ भी न कहें । केवल इतना ही कह दें—'मुझे उस समयका कुछ पता नहीं । इसमें झूठ भी नहीं । आप ही बतावें किस दिनकी बात है ?' दुःखके सहित पुत्र-स्नेहके कारण पिताने पञ्चोंके सामने ऐसा कहना स्वीकार कर लिया । पञ्चोंके पूछनेपर ब्राह्मणने धीरेसे कह दिया—'मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है, यह कबकी बात है ।' बस, इतनेपर ही उसके पुत्रने बीचमें ही कहा—

'यह अकुलीन ब्राह्मण युवक झूठा है। मेरे पिताके साथ कोई दूसरा पुरुष तो था ही नहीं, यही अकेला था, इसने मेरे पितासे धन अपहरण करनेके लिये उन्हें धतूरा खिला दिया और सब धन ले लिया। अब ऐसी बातें बनाता है। भला, मेरे पिता ऐसे अकुलीन घरबारहीन कङ्गालको अपनी पुत्री देनेका वचन कभी दे सकते हैं?'

पञ्चोंने उस युवकसे कहा—'क्यों भाई! यह क्या कह रहा है? वृद्धने जब तुम्हें पुत्री देनेका वचन दिया, उस समय वहाँ कोई और भी पुरुष था, तुम किसीकी साक्षी दे सकते हो?'

युवकने गम्भीरताके साथ कहा—'गोपालजीके ही सामने इन्होंने कहा था और गोपालजीको छोड़कर और मेरा कोई दूसरा साक्षी नहीं है।'

एक वृद्ध-से पञ्चने इस बातको सुनकर हँसीके स्वरमें कहा—'तो क्या तुम गोपालको यहाँ साक्षी देनेके लिये ला सकते हो?'

आवेशमें आकर जोरसे उस युवकने कहा 'हाँ, ला सकता हूँ।'

इस बातको सुनते ही सभी अवाक् रह गये और आश्चर्य प्रकट करते हुए एक स्वरमें सब-के-सब कहने लगे—'हाँ, हाँ, यदि तुम साक्षीके लिये गोपालजीको ले आओ और सब पञ्चोंके सामने गोपालजी तुम्हारी साक्षी दे दें तो हम जबरदस्ती लड़कीका विवाह तुम्हारे साथ करवा सकते हैं।'

इस बातसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए वृद्ध ब्राह्मणने कहा—'हाँ, यही ठीक है, यदि यह साक्षीके लिये गोपालजीको ले आवे तो मैं अपनी कन्याका विवाह इसके साथ जरूर कर दूँगा।' वृद्धको विश्वास था, कि भक्तवत्सल भगवान् मेरी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके निमित्त और इस ब्राह्मण-कुमारकी लाज बचानेके निमित्त अवश्य ही साक्षी देनेके लिये आ जायँगे। किन्तु उसके उस उद्दण्ड पुत्रको इस बातका विश्वास कब हो सकता था, कि पाषाणकी मूर्ति भी साक्षी देनेके लिये कभी आ सकती है क्या? उसने

सोचा, यह अपने आप ही बहुत अच्छा उपाय निकल आया। न तो पत्थरकी प्रतिमा साक्षी देनेके लिये यहाँ आवेगी और न मुझे अपनी बहिनका विवाह इसके साथ करना होगा।' यह सोचकर वह जल्दीसे बोल उठा—'यह बात मुझे भी मंजूर है, यदि गोपालजी आकर सबके सामने इस बातकी साक्षी दे जायँ तो मैं अवश्य ही इन्हें अपना बहनोई बना लूँगा।'

विश्वासी युवकने सभी पञ्चोंसे इस बातपर हस्ताक्षर करा लिये तथा पुत्रसहित उस वृद्ध ब्राह्मणके भी हस्ताक्षर ले लिये कि यदि गोपाल साक्षी देने आ जायँगे, तो हम अवश्य इनका विवाह कर देंगे। सबसे लिखवाकर वह सीधा वृन्दावन पहुँचा और वहाँ जाकर उसने बड़ी ही दीनताके साथ कातरवाणीमें गोपालजीसे प्रार्थना की। भक्तके आर्त्तनादको सुनकर भगवान् प्रकट हुए और उससे कहा—'तुम चलो, मैं वहीं प्रकट होकर तुम्हारी साक्षी दूँगा।'

युवकने कहा—'भगवन्! ऐसे काम नहीं चलेगा। पता नहीं, आप किस रूपसे प्रकट हों और उन लोगोंको उसपर विश्वास हो या न हो। इसलिये आप इसी प्रतिमाके रूपसे मेरे साथ चलें।'

भगवान्‌ने हँसकर कहा—'कहीं पत्थरकी प्रतिमा भी चलती है? यह एकदम असम्भव बात है।'

युवक भक्तने कहा—'प्रभो! आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं! आपको इसी रूपसे मेरे साथ चलना होगा।'

भगवान् तो भक्तोंके अधीन हैं, उन्होंने स्वीकार कर लिया और कहने लगे—'तुम आगे-आगे चलो, मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगा। तुम पीछे फिरकर मेरी ओर न देखना। जहाँ तुम पीछे फिरकर देखोगे, मैं वहीं स्थिर हो जाऊँगा?'

भक्तने कुछ जोर देकर कहा—'तब मुझे कैसे पता चलेगा, कि आप मेरे पीछे आ ही रहे हैं ? कहीं बीचमेंसे ही लौट पड़े तब ?'

भगवान्‌ने हँसकर कहा—'तुम्हें पीछेसे बजती हुई मेरे पैरोंकी पैजनीकी आवाज सुनायी देती रहेगी, उसीसे तुम समझ लेना कि मैं तुम्हारे साथ आ रहा हूँ।'

भक्तने इस बातको स्वीकार किया और वह आगे-आगे चलने लगा, पीछेसे उसे भगवान्‌के पैरोंमें बजते हुए नूपुरोंकी ध्वनि सुनायी देती थी, इसीसे उसे पता रहता था, कि भगवान् मेरे पीछे-पीछे आ रहे हैं। रास्तेमें विविध प्रकारके भोजन बनाकर भगवान्‌का भोग लगाता हुआ वह विद्यानगरके समीप आ गया। नगरके समीप आनेपर उससे न रहा गया। उसने सोचा—'एक बार देख तो लूँ भगवान् मेरे पीछे हैं या नहीं।' यह सोचकर उसने पीछेको दृष्टि फिरायी। वहीं हँसकर भगवान् खड़े हो गये और प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—'अब मैं यहीं रहूँगा। यहींसे तुम्हारी साक्षी दूँगा। तुम उन लोगोंको यहीं बुला लाओ।'

भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर वह ब्राह्मणकुमार गाँवमें गया और लोगोंसे उसने गोपाल भगवान्‌के आनेका वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही गाँवके सभी नर-नारी, बालक-वृद्ध तथा युवा पुरुष भगवान्‌के दर्शनके लिये दौड़े आये। सभी भूमिमें लोटकर भगवान्‌के सामने साष्टांग प्रणाम करने लगे। कोई मेवा लाकर भगवान्‌पर चढ़ाता, कोई फल-फूलोंसे ही गोपाल भगवान्‌की पूजा करता। इस प्रकार भगवान्‌के सामने विविध प्रकारकी भेंटें चढ़ने लगीं और हर समय उनकी पूजा होने लगी। फिर भगवान्‌की साक्षी लेनेकी किसीकी हिम्मत ही नहीं पड़ी। ब्राह्मणके लड़केने बड़ी ही प्रसन्नताके साथ अपनी बहिनका विवाह उस युवकके साथ कर दिया और वह वृद्ध ब्राह्मण तथा युवक दोनों मिलकर सदा

भगवान्‌की सेवा-पूजामें ही रहने लगे। दूर-दूरतक भगवान्‌के आनेका समाचार फैल गया। नित्यप्रति हजारों आदमी गोपाल भगवान्‌के दर्शनके लिये आने लगे। जब यह समाचार उस देशके राजाको विदित हुआ तो उसने एक बड़ा भारी मन्दिर गोपाल भगवान्‌के लिये बनवा दिया और तभीसे वे साक्षिगोपालके नामसे प्रसिद्ध हुए।

नित्यानन्दजी भक्तोंसहित बैठे हुए महाप्रभुसे इस कथाको कह रहे थे। प्रभु एकटक होकर इस परम पावन उपाख्यानको सुन रहे थे। नित्यानन्दजीके चुप हो जानेपर प्रभुने पूछा—'फिर विद्यानगरसे साक्षिगोपाल यहाँ क्यों पधारे? इस बातको हमें और सुनाओ।'

नित्यानन्दजी क्षणभर चुप रहनेके अनन्तर कहने लगे—'उस समय उड़ीसा-देशमें परम भागवत महाराजा पुरुषोत्तमदेव राज्य करते थे। उन्होंने विद्यानगरके राजाकी राजकुमारीके साथ विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की। इसपर विद्यानगरके राजाने अपनी कन्या महाराज पुरुषोत्तमदेवको नहीं दी और अस्वीकार करते हुए कहा—'मैं अपनी कन्याको मन्दिरके झाड़ूदारके लिये नहीं दूँगा।'

इसपर क्रुद्ध होकर महाराज पुरुषोत्तमदेवने विद्यानगरपर चढ़ायी की और भगवान् जगन्नाथजीकी कृपासे विजयनगरको जीतकर उसे अपने राज्यमें मिला लिया और राजकन्याका विवाह अपने साथ कर लिया। तभी महाराजने साक्षिगोपालसे पुरी पधारनेके लिये प्रार्थना की। महाराजके भक्तिभावसे प्रसन्न होकर साक्षिगोपाल भगवान् पुरी पधारे और कुछ कालतक जगन्नाथजीके मन्दिरमें ही माणिक्य-सिंहासनपर विराजे। जगन्नाथजी पुराने थे, ये बेचारे नये ही आये थे, इसलिये दोनोंमें कुछ प्रेम-कलह उत्पन्न हो गया। महाराज पुरुषोत्तमदेवने दोनोंको एक स्थानपर रखना उचित न समझकर अन्तमें पुरीसे तीन कोसकी दूरीपर

'सत्यवादी' नामक ग्रामके समीप साक्षिगोपाल भगवान्‌का मन्दिर बनवा दिया। तबसे ये यहीं विराजमान हैं।

इनकी महिमा बड़ी अपार है, एक बार उड़ीसा-देशकी महारानी इनके दर्शनके लिये पधारीं। इनकी मनमोहिनी बाँकी झाँकी करके महारानी मुग्ध हो गयीं। उनकी इच्छा हुई कि 'यदि भगवान्‌की नाक छिदी हुई होती तो मैं अपने नाकका बहुमूल्य मोती भगवान्‌को पहनाती।'

दूसरे ही दिन महारानीको स्वप्न हुआ मानो साक्षिगोपाल भगवान् सामने खड़े हुए कह रहे हैं—'महारानी! हम तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करेंगे। पुजारियोंको पता नहीं कि हमारी नाक छिदी हुई है। कल तुम ध्यानपूर्वक दिखवाना, हमारी नाकमें छिद्र है। तुम सहर्ष अपना मोती पहनाकर अपनी इच्छा पूर्ण कर सकती हो।'

प्रातःकाल उठते ही महारानीने यह वृत्तान्त महाराजसे कहा। महाराजने उसी समय पुजारियोंसे भगवान्‌की नाक दिखवायी। सचमुच उसमें छिद्र था। तब महारानीने बड़े ही प्रेमसे अपना बहुमूल्य मोती भगवान्‌की नाकमें पहनाया।

इतना कहकर नित्यानन्दजी चुप हो गये। इस कथाको सुनकर प्रभु प्रेममें गद्गद हो गये और साक्षिगोपालकी मनमोहिनी मूर्तिका ध्यान करते-करते ही वह रात्रि प्रभुने वहीं बितायी।

श्रीभुवनेश्वर महादेव

यौ तौ शङ्खकपालभूषितकरौ मालास्थिमालाधरौ
देवौ द्वारवतीश्मशाननिलयौ नागारिगोवाहनौ।
द्वित्र्यक्षौ बलिदक्षयज्ञमथनौ श्रीशैलजावल्लभौ
पापं वो हरतां सदा हरिहरौ श्रीवत्सगङ्गाधरौ॥*

(सु० र० भां० १४। ८)

प्रातःकाल साक्षिगोपाल भगवान्‌की मंगल आरतीके दर्शन करके महाप्रभु आगेके लिये चलने लगे। महाप्रभुके हृदयमें जगन्नाथजीके दर्शनकी इच्छा अधिकाधिक उत्कट होती जाती थी। ज्यों-ज्यों वे आगे

---

* भगवान् हरि और भगवान् भोलेश्वर सदा हमारे पापोंको हरण करते रहें। वे हरि-हर भगवान् कैसे हैं? एकने तो हाथमें शंख धारण कर रखा है, दूसरेने कपाल ही ले रखा है। एकने गलेमें सुन्दर वैजयन्ती माला धारण कर रखी है तो दूसरे नरमुण्डोंकी ही माला पहने हुए हैं। एक द्वारकामें निवास करते हैं, तो दूसरे श्मशानमें ही पड़ रहते हैं। एक गरुडपर सवारी करते हैं, तो दूसरे बूढ़े बैलपर ही चढ़कर घूमते रहते हैं। एकके दो नेत्र हैं तो दूसरेके तीन हैं, एकने बलिका यज्ञ विध्वंस किया है, तो दूसरेने अपने गणोंसे दक्षप्रजापतिके यज्ञमण्डपको चौपट कराया है। एककी प्राणप्रिया समुद्रतनया लक्ष्मी हैं तो दूसरे शैलसुता पार्वतीको ही प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते हैं।

बढ़ते थे त्यों-ही-त्यों प्रभुकी भगवान्‌के दर्शनकी इच्छा पूर्वापेक्षा प्रबल होती जा रही थी। रास्तेमें चलते-चलते ही मुकुन्द दत्तने अपने कोकिल-कूजित कमनीय कण्ठसे संकीर्तनका यह पद आरम्भ कर दिया—

राम राघव! राम राघव! राम राघव! रक्ष माम्।
कृष्ण केशव! कृष्ण केशव! कृष्ण केशव! पाहि माम्॥

सभीने मुकुन्द दत्तके स्वरमें स्वर मिलाया। संकीर्तनकी सुरीली तानसे उस जनशून्य नीरव पथमें चारों ओर इसी संकीर्तन-पदकी गूँज सुनायी देने लगी। महाप्रभु भावावेशमें आकर नृत्य करने लगे। किसीको कुछ खबर ही नहीं थी, कि हमलोग किधर चल रहे हैं, मन्त्रसे कीले हुए मनुष्यकी भाँति उन सबके शरीर अपने-आप ही आगेकी ओर चले जा रहे थे। रास्ता किधरसे है और हम कहाँ पहुँचेंगे, इस बातका किसीको ध्यान ही नहीं था।

इस प्रकार प्रेममें विभोर होकर आनन्दनृत्य करते हुए प्रभु अपने साथियोंके सहित भुवनेश्वर नामक तीर्थमें पहुँचे। वहाँपर 'बिन्दुसर' नामका एक पवित्र सरोवर है। इस सरोवरके सम्बन्धमें ऐसी कथा है, कि शिवजीने सम्पूर्ण तीर्थोंका बिन्दु-बिन्दुभर जल लाकर इस सरोवरकी प्रतिष्ठा की, इसीलिये इसका नाम 'बिन्दुसर' अथवा 'बिन्दुसागर' हुआ। महाप्रभुने सभी भक्तोंके सहित बिन्दुसागर-तीर्थमें स्नान किया और स्नानके अनन्तर आप भुवनेश्वर महादेवजीके मन्दिरमें गये। भगवान् भुवनेश्वरकी भुवनमोहिनी मञ्जुल मूर्तिके दर्शनसे प्रभु मूर्च्छित हो गये, थोड़ी देरके पश्चात् बाह्य ज्ञान होनेपर आपने संकीर्तन आरम्भ कर दिया। भक्तोंके सहित प्रभु दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर 'शिव-शिव शम्भो, हरहर महादेव' इस पदको गा-गाकर जोरोंसे नृत्य कर रहे थे। सैकड़ों मनुष्य प्रभुको चारों ओरसे घेरे हुए खड़े थे।

भुवनेश्वर महादेवजीका मन्दिर बहुत प्राचीन है और ये शिवजी बहुत पुराने हैं। भुवनेश्वरको गुप्तकाशी भी कहते हैं। हजारों यात्री दूर-दूरसे भगवान् भुवनेश्वरके दर्शनके लिये आते हैं और इनके मन्दिरमें सदा पूजा ही होती रहती है। महाप्रभु चारों ओर जलते हुए दीपकोंको देखकर प्रेममें उन्मत्त-से हो गये। चारों ओर छिटकी हुई पूजनकी सामग्रीसे वह स्थान बड़ा ही मनोहर मालूम पड़ता था। महाप्रभु बहुत देरतक मन्दिरमें कीर्तन करते रहे और वहीं उस दिन उन्होंने विश्राम किया।

रात्रिमें जब प्रभु सब कर्मोंसे निवृत्त होकर भक्तोंके सहित कथोप-कथन करनेके निमित्त बैठे, तब मुकुन्द दत्तने प्रभुके पादपद्मोंको धीरे-धीरे दबाते हुए कहा—'प्रभो! आपने ही बताया था, कि जिस तीर्थमें जाय, उस तीर्थका माहात्म्य अवश्य सुनना चाहिये। बिना माहात्म्य सुने तीर्थका फल आधा होता है, सो हमलोग भगवान् भुवनेश्वरका माहात्म्य सुनना चाहते हैं। एकान्तप्रिय और शैलकाननोंमें विहार करनेवाले ये भोलेबाबा इस उत्कल-देशमें आकर क्यों विराजमान हुए, काशी छोड़कर इन्होंने यहाँ यह नयी गुप्तकाशी क्यों बनायी—इस बातको जाननेकी हम-लोगोंकी बड़ी इच्छा है। कृपा करके हमें भुवनेश्वर भगवान्की पापहारिणी कथा सुनाकर हमारे कर्णोंको पवित्र कीजिये। भगवत्-सम्बन्धी कथाओंके श्रवणमात्रसे ही अन्तःकरणकी मलिनता मिट जाती है और हृदयमें पवित्रताका सञ्चार होने लगता है।'

मुकुन्द दत्तके ऐसे प्रश्नको सुनकर कुछ मुस्कराते हुए प्रभुने कहा—'मुकुन्द! तुमने यह बहुत ही उत्तम प्रश्न पूछा। इन भगवान् भूतनाथके यहाँ पधारनेकी बड़ी ही अद्भुत कथा है। स्कन्दपुराणमें इसका विस्तारसे वर्णन किया गया है, उसीको मैं संक्षेपमें तुमलोगोंको सुनाता हूँ। इस हरि-हर-महिमावाली पुण्य-कथाको तुमलोग ध्यानपूर्वक सुनो।

पूर्वकालमें शिवजी काशीवासीके ही नामसे प्रसिद्ध थे। वाराणसीको ही उन्होंने अपनी लीलास्थली बनाया। शिवजीके सभी काम विचित्र ही होते हैं, इसीलिये लोग इन्हें औघड़नाथ कहते हैं। औघड़-नाथबाबाको काशीजीमें भी कुछ गर्मी-सी प्रतीत होने लगी। इसलिये आप काशीको छोड़कर कैलास-पर्वतके शिखरपर जाकर रहने लगे। इधर काशी सूनी हो गयी। वहाँ एक राजाने अपनी राजधानी बना ली और वह बड़े ही भक्ति-भावसे भगवान् भूतनाथकी पूजा करने लगा। राजाने हजारों वर्षतक शिवजीकी घोर आराधना की। उसके उग्र तपसे प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् प्रसन्न हुए और उसके सामने प्रकट होकर उससे वरदान माँगनेको कहा।

राजाने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए विनीतभावसे करुण स्वरमें कहा—'प्रभो! मैं अब आपसे क्या माँगूँ? आपके अनुग्रहसे मेरे धन-धान्य, राज-पाट, पुत्र-परिवार आदि सभी संसारकी उत्तम समझी जाने-वाली वस्तुएँ मौजूद हैं। मेरी एक ही बड़ी उत्कट इच्छा है, उसे सम्भवतया आप पूरी न कर सकेंगे।'

शिवजीने प्रसन्नताके वेगमें कहा—'राजन्! मेरे लिये प्रसन्न होनेपर त्रिलोकीमें कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। तुम्हारी जो इच्छा हो, उसे ही निःसंकोचभावसे माँग लो।'

राजाने अत्यन्त ही दीनता प्रकट करते हुए सरलतासे कहा—'हे वरद! यदि आप प्रसन्न होकर मुझे वर ही देना चाहते हैं, तो मुझे यही वरदान दीजिये, कि युद्धमें मैं श्रीकृष्णचन्द्रजीको परास्त कर सकूँ।'

सदा आक-धतूरेके नशेमें मस्त रहनेवाले औघड़ दानी सदाशिव वरदान देनेमें आगा-पीछा नहीं सोचते। कोई चाहे भी जैसा वर क्यों न माँगे; उससे इन्हें स्वयं भी चाहे क्लेश क्यों न उठाना पड़े, ये वरदान देते

समय 'ना' करना तो सीखे ही नहीं हैं। राजाकी बात सुनकर आप कहने लगे—'राजन्! तुम घबड़ाओ मत, मैं तुम्हें अवश्य ही युद्धमें श्रीकृष्ण-भगवान्से विजय प्राप्त कराऊँगा। तुम अपनी सेना सजाकर समरके लिये चलो। तुम्हारे पीछे-पीछे अपने सभी भूत, पिशाच, वैतालादि गणोंके साथ युद्धक्षेत्रमें तुम्हारी रक्षाके निमित्त मैं चलूँगा। यह लो, मेरा पाशुपतास्त्र, इससे तुम श्रीकृष्णभगवान्की सम्पूर्ण सेनाको विध्वंस कर सकते हो।' यह कहकर शिवजीने बड़े हर्षके साथ राजाको पाशुपतास्त्र दिया। शिवजीसे दिव्य अस्त्र पाकर राजा परम प्रसन्न हुआ और उसने भगवान्के ऊपर धावा बोल दिया।

अन्तर्यामी भगवान् तो घट-घटकी जाननेवाले हैं। उन्हें सब बातोंका पता चल गया। उन्होंने सोचा—'शिवजी मेरे भक्त हैं, तपस्याके अभिमानी उस राजाके साथ इन्हें भी अभिमान हो आया। इसलिये मुझे दोनोंके अभिमानको चूर करना चाहिये। शिवजीका जो प्रिय है, वह मेरा भी प्रिय है, इसलिये दोनों ही मेरे भक्त हैं, इन दोनोंके मदको नष्ट करना मेरा कर्तव्य है, तभी मेरा 'मदहारी' नाम सार्थक हो सकता है।' यह सोचकर भगवान्ने राजाकी सेनाके ऊपर सुदर्शनचक्र छोड़ा। उस सुदर्शनचक्रने सर्वप्रथम तो राजाके सिरको ही धड़से अलग करके उसे भगवान्की विष्णुपुरीमें भेज दिया। क्योंकि भगवान्का क्रोध भी वरदानके ही तुल्य होता है। *

---

* ये ये हताश्चक्रधरेण राजन्!
त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन।
ते ते मृता विष्णुपुरीं प्रयाताः
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः॥

इसके अनन्तर राजाकी सम्पूर्ण सेनाको छिन्न-भिन्न करके सुदर्शन-चक्र शिवजीकी ओर झपटा। शिवजी अपने अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़ मुट्ठी बाँधकर भागे, किन्तु जगत्‌के बाहर जा ही कहाँ सकते थे ? जहाँ कहीं भी भागकर जाते, वहीं सुदर्शनचक्र उनके पीछे पहुँच जाता। त्रिलोकीमें कहीं भी अपनी रक्षाका आश्रय न देखकर शिवजी फिर लौटकर भगवान्‌की ही शरणमें आये और पृथिवीमें लोटकर करुण स्वरसे स्तुति करने लगे—

'हे जगत्पते ! इस अमोघ अस्त्रसे हमारी रक्षा करो। प्रभो ! आपकी मायाके वशीभूत होकर हम आपके प्रभावको भूल जाते हैं। प्रभो ! यह घोर अपराध हमने अज्ञानके ही कारण किया है। आप ही सम्पूर्ण जगत्‌के एकमात्र आधार हैं। ब्रह्मा, विष्णु और हम तो आपकी एक कलाके करोड़वें अंशके बराबर भी नहीं हो सकते। हे विश्वपते ! आपके एक-एक रोमकूपमें करोड़ों ब्रह्माण्ड समा सकते हैं। नाथ ! हम तो मायाके अधीन हैं। माया आपकी दासी है। वह हमें जैसे नचाती है, वैसे ही नाचते हैं। इसमें हमारा अपराध ही क्या है ? हम स्वाधीन तो हैं ही नहीं।'

शिवजीकी ऐसी कातर-वाणी सुनकर भगवान्‌ने अपने चक्रका तेज संवरण कर लिया और हँसते हुए कहने लगे—'शूलपाणिन् ! मैंने केवल आपके मदको चूर्ण करनेके ही निमित्त सुदर्शनचक्रका प्रयोग किया था, जिससे आपको मेरे प्रभावका स्मरण हो जाय। मेरी इच्छा आपके ऊपर प्रहार करनेकी नहीं थी। आप तो साक्षात् मेरे स्वरूप ही हैं। जो आपका प्रिय है, वह मेरा भी प्रिय है, जो आपकी भक्ति करता है, उसपर मैं सन्तुष्ट होता हूँ। जो मूर्ख मेरी तो पूजा करता है और आपकी उपेक्षा करता है, उसपर मैं कभी भी प्रसन्न नहीं हो सकता।

बिना आपकी सेवा किये, कोई मेरे प्रसादका भागी बन ही नहीं सकता। अब मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूँ। आप कोई वरदान माँगिये।'

शिवजीने विनीतभावसे कहा—स्वामिन्! अपराधियोंके ऊपर भी दयाके भाव प्रदर्शित करते रहना यह तो आपका सनातन-स्वभाव है। प्रभो! मैं आपके श्रीचरणोंमें अब क्या निवेदन करूँ? मेरी यही प्रार्थना है, कि आप मुझे अपने चरणोंकी शरणमें ही रखिये। आपके चरणोंका सदा चिन्तन बना रहे और आपके अमित प्रभावकी कभी विस्मृति न हो, ऐसा ही आशीर्वाद दीजिये।'

शिवजीके ऐसे वचनोंको सुनकर भगवान्ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'वृषभध्वज! मैं आपपर बहुत ही प्रसन्न हूँ। आप तो सदासे मेरे ही रहे हैं और सदा मेरे ही रहेंगे। आपको मेरे एक बहुत गोप्य और परम पावन जगन्नाथक्षेत्रका तो पता होगा ही। वह क्षेत्र मुझे अत्यन्त ही प्रिय है। उसके चारों ओर बीस योजनतककी भूमि बड़ी ही पवित्र है। उसमें जो भी जीव रहता है वह मेरा सबसे श्रेष्ठ भक्त है। वह चाहे जिस योनिमें क्यों न हो, अन्तमें मेरे ही धामको प्राप्त होता है। आप वहीं जाकर निवास करें। आपका क्षेत्र गुप्तकाशीके नामसे प्रसिद्ध होगा और उस क्षेत्रमें जाकर जो आपका दर्शन करेंगे, उनके जन्म-जन्मान्तरोंके पाप क्षय हो जायँगे।'

भगवान्की ऐसी आज्ञा पाकर उस दिनसे शिवजी यहीं आकर रहने लगे हैं। जो इस क्षेत्रमें आकर भक्तिभावसे स्थिर-चित्त होकर भुवनेश्वर महादेवजीके दर्शन करता है और दत्तचित्त होकर इस पुण्याख्यानका श्रवण करता है, वह निश्चय ही पापोंसे मुक्त होकर अक्षय सुखका भागी बनता है।

प्रभुके मुखसे शिवजीके इस पवित्र आख्यानको सुनकर सभी भक्त प्रसन्न हुए और प्रभुकी आज्ञा प्राप्त करके वह रात्रि उन्होंने वहीं सुखपूर्वक बितायी।

प्रातःकाल नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर और भुवनेश्वर भगवान्‌के दर्शन करके प्रभु अपने भक्तोंके सहित कमलपुरमें पहुँचे और वहाँ जाकर पुण्यतोया भार्गी-नदीमें सभीने सुखपूर्वक स्नान किया। वहाँ कपोतेश्वर भगवान्‌के मन्दिरमें जाकर शिवजीकी स्तुति की और भक्तोंसहित प्रभु दक्षिण-दिशाकी ओर देखने लगे। यहाँसे श्रीजगन्नाथपुरी तीन ही कोस रह जाती है। भगवान् जगन्नाथजीके मन्दिरकी विशाल ध्वजा और चक्र यहाँसे स्पष्ट दीखने लगते हैं।

प्रभुने दूरसे जगन्नाथजीके मन्दिरकी फहराती हुई विशाल ध्वजा देखी। उस ध्वजाके दर्शनमात्रसे ही प्रभु पछाड़ खाकर पृथिवीपर गिर पड़े। वे प्रेममें उन्मत्त होकर कभी तो हँसते थे, कभी रोते थे, कभी आगेको दौड़ते थे और कभी संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ते थे। चेतना होनेपर फिर उठते और फिर गिर पड़ते। कभी लम्बे लेटकर ध्वजाके प्रति साष्टाङ्ग प्रणाम करते और फिर प्रणाम करते-करते ही आगे चलते। एक बार भूमिपर लोटकर प्रणाम करते, फिर खड़े हो जाते और फिर प्रणाम करते। इस प्रकार आँखोंसे अश्रु बहाते हुए, धूलिमें लोट-पोट होते हुए दर्शनकी उत्कट इच्छासे गिरते-पड़ते तीसरे पहर अठारहनालाके समीप पहुँचे। भक्त भी प्रभुके पीछे-पीछे संकीर्तन करते हुए आ रहे थे।

अठारहनाला पुरीके समीप एक सेतु है। इसी सेतुसे जगन्नाथपुरीमें प्रवेश करते हैं। प्रभु उस स्थानपर जाकर बेहोश होकर गिर पड़े। पीछेसे भक्त भी वहाँ पहुँच गये।

श्रीजगन्नाथजीके दर्शनसे मूर्च्छा

तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन्।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः॥*

(वैष्णवतन्त्र)

अठारहनाला पहुँचनेपर प्रभुको कुछ-कुछ बाह्य ज्ञान हुआ। आप वहीं कुछ चिन्तित-से होकर बैठ गये। दोनों आँखें रोते-रोते लाल पड़ गयी थीं, भृकुटी चढ़ी हुई थीं। शरीरमें सभी सात्त्विक भावोंका उद्दीपन हो रहा था। कुछ प्रकृतिस्थ थे, कुछ भावावेशमें बेसुध-से थे। उसी मध्यकी अवस्थामें आपने भक्तोंसे बहुत ही नम्रताके साथ कहा—'भाइयो! आपलोगोंने मेरे साथ बहुत बड़ा उपकार किया है। इससे बढ़कर और उपकार हो ही क्या सकता है। आपलोगोंने मुझे रास्तेकी भाँति-भाँतिकी विपत्तिसे बचाकर यहाँतक पहुँचा दिया। आपलोग मेरे साथ न होते, तो न जाने मैं कहाँ-कहाँ भटकता फिरता, इस बातका भी निश्चय नहीं था, कि मैं यहाँतक आ भी सकता या नहीं। आपलोगोंने कृपा करके मुझे श्रीजगन्नाथपुरीके दर्शन करा दिये। मैं कृतार्थ हो गया। मैंने आपलोगोंको यहींतक साथ रखनेका विचार किया था। अब आपलोगोंकी जहाँ इच्छा हो, वहीं जाइये। अब मैं आपलोगोंके साथ न रहूँगा।'

* शरणागत भक्त वाणीसे तो आर्तस्वरमें कहता जाता है—'प्रभो! मै तुम्हारा हूँ' और मनमें भगवान्‌की भक्तवत्सलताका विश्वास बनाये रखता है तथा भगवान्‌के पूजा-स्थानमें अपने शरीरको लोट-पोट करता हुआ वहीं पड़ा रहता है। इस प्रकारके कर्मोंद्वारा वह आनन्दको प्राप्त करता है।

नित्यानन्दजीने अपनी हँसी रोकते हुए कहा—'न रखियेगा हमलोगोंको साथ, हम साथ रहनेको कह ही कब रहे हैं ? जब यहाँतक आये हैं, तो जगन्नाथजीके दर्शन करने तो चलने देंगे ?'

प्रभुने सिर हिलाते हुए गम्भीर स्वरमें कहा—'यह नहीं हो सकता। आपलोग मेरे साथ न चलें। यदि आपलोगोंको दर्शन करनेकी इच्छा है, तो या तो मुझसे पीछे जायँ या आगे चले जायँ। मेरे साथ नहीं जा सकते। बोलो, आगे जाते हो या पीछे रहते हो ?'

कुछ मुस्कराते हुए मुकुन्द दत्तने कहा—'प्रभो! आप ही आगे चलें, हम तो आपके पीछे ही आये हैं और सब जगह आपके पीछे ही जायँगे।'

बस, इतना सुनना था, कि महाप्रभु श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरकी ओर बड़े ही वेगके साथ दौड़े। मानो किसी अरण्यके मत्त गजेन्द्रने अपनी उन्मादी अवस्थामें किसी ग्राममें प्रवेश किया हो और उसे देखकर मारे भयके ग्राम्य पशु इधर-उधर भागने लगे हों, उसी प्रकार प्रभुको इस उन्मत्तावस्थामें मन्दिरकी ओर दौड़ते देखकर रास्तेमें चलनेवाले सभी पथिक इधर-उधर भागने लगे। बहुत-से तो चौंककर दूसरी ओर हट गये। बहुत-से रास्ता छोड़कर एक ओर हट गये और बहुत-से मतिभ्रम हो जानेके कारण पीछेकी ही ओर दौड़ने लगे।

महाप्रभु किसीकी भी कुछ परवा न करते हुए सीधे मन्दिरकी ओर दौड़ते गये। मन्दिरके सिंहद्वारमें प्रवेश करके आप सीधे जगमोहनमें चले गये और एकदम छलाँग मारकर बात-की-बातमें ठीक भगवान्‌के सामने पहुँच गये। सुभद्रा और बलरामके सहित श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते ही प्रभुका उन्माद पराकाष्ठाको भी पार कर गया। वे महान् आवेशमें आकर भगवान्‌के श्रीविग्रहका आलिङ्गन करनेके लिये भीतर मन्दिरकी ओर दौड़े। इतनेमें ही मन्दिरके पहरेदारोंने प्रभुको बीचमें ही रोक दिया।

प्रहरियोंके बीचमें आ जानेसे प्रभु मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पड़े। उन्हें अपने शरीरका कुछ भी होश नहीं था। चेतनाशून्य मनुष्यकी भाँति वे निर्जीव-से हुए जगमोहनमें पड़े थे। हजारों दर्शनार्थी जगन्नाथजीके दर्शनको भूलकर इनके दर्शन करने लगे। मन्दिरके बहुत-से यात्री तथा कर्मचारीगण प्रभुको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। प्रभु अपनी उसी अवस्थामें बेहोश पड़े रहे।

उसी समय उड़ीसाके महाराजकी पाठशालाके प्रधानाध्यापक आचार्य वासुदेव सार्वभौम भगवान्‌के दर्शनके लिये मन्दिरमें पधारे थे। भगवान्‌के दर्शन करते-करते ही उनकी दृष्टि महाप्रभुके ऊपर पड़ी। वे महाप्रभुके अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त तेजस्वी विग्रहके दर्शनमात्रसे ही उनकी ओर अपने-आप ही आकर्षित हो गये। प्रभुकी ऐसी उच्चावस्था देखकर वे जल्दीसे महाप्रभुके पास जाकर खड़े हो गये। बड़ी देरतक एकटक भावसे वे प्रभुकी ओर निहारते रहे। सार्वभौम महाशय न्याय तथा वेदान्त-शास्त्रके तो प्रकाण्ड पण्डित थे ही, अलंकार-ग्रन्थोंका भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। वे विकार, भाव, अनुभाव तथा नायिका आदिके भेद-प्रभेदोंसे भी परिचित थे। वे शास्त्रदृष्टिसे प्रभुकी दशाका मिलान करने लगे।

वे खड़े-ही-खड़े मनमें सोच रहे थे, कि 'प्रणय' के इतने उच्च भावोंका मनुष्य-शरीरमें प्रकट होना तो सम्भव नहीं। इनमें सभी सात्त्विक विकार एक साथ ही उद्दीप्त हो उठे हैं और उन्हें संवरण करनेमें भी ये समर्थ नहीं हैं, इसलिये इनके इस समयका यह सुदीप्त सात्त्विक भाव एकदम अलौकिक है। प्रणयके उद्रेकमें जो अवस्था श्रीराधिकाजीकी हो जाती थी और शास्त्रोंमें जो 'अधिरूढ़ महाभाव' के नामसे वर्णित की गयी है, ठीक वही दशा इस समय इन संन्यासी युवककी है। भगवान्‌के प्रति इतने प्रगाढ़ प्रणयके भाव तो मैंने आजतक शास्त्रोंमें केवल पढ़ा ही था, अभीतक

उनका किसी पुरुषके शरीरमें उदय होते हुए नहीं देखा था। आज प्रत्यक्ष मैंने उस महाभावके दर्शन कर लिये। अवश्य ही ये संन्यासी-वेशधारी युवक कोई अलौकिक दिव्य महापुरुष हैं। देखनेसे तो ये गौड़देशीय ही मालूम पड़ते हैं।'

सार्वभौम महाशय खड़े-खड़े इस प्रकार सोच ही रहे थे कि मध्याह्नके भोगका समय समीप आ पहुँचा। प्रभुकी मूर्च्छा अभीतक भङ्ग नहीं हुई थी, इसलिये भट्टाचार्य महाशय मन्दिरके सेवकोंकी सहायतासे प्रभुको उसी बेहोशीकी दशामें अपने घरके लिये उठवा ले गये और उन्हें एक स्वच्छ सुन्दर लिपे-पुते स्थानमें ले जाकर लिटा दिया। सार्वभौम महाशयका घर श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके दक्षिण बालुखण्डमें मार्कण्डेयसरके समीप था। आजकल जो 'गंगामाताका मठ' के नामसे प्रसिद्ध उसी अपने सुन्दर घरमें प्रभुको रखकर वे उनके शरीरकी देख-रेख करने लगे। उन्होंने अपना हाथ प्रभुकी नासिकाके आगे रखा। बहुत ही धीरे-धीरे प्राणोंकी गति चलती हुई प्रतीत हुई। इससे भट्टाचार्य सार्वभौम महाशयको प्रसन्नता हुई और वे अपने परिवारसहित प्रभुकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे।

इधर प्रभुके साथी चारों भक्त पीछे-पीछे आ रहे थे। मन्दिरके दरवाजेपर ही उन्होंने पहरेवालोंसे पूछा—'क्यों भाई! तुम्हें पता है, एक गोरे-से गौड़देशीय युवक संन्यासी अभी थोड़ी ही देर पहले यहाँ दर्शन करने आये थे?'

पहरेवालोंने जल्दीसे कहा—'हाँ, हाँ, उन संन्यासी महाराजके तो हमने दर्शन किये थे। बड़े ही सुन्दर हैं, न जाने उन्हें क्या हो गया, वे भगवान्‌के दर्शन करते ही एकदम बेहोश होकर जगमोहनमें गिर पड़े। अभी थोड़ी ही देर पहले आचार्य सार्वभौम उन्हें अपने घर ले गये हैं। क्या आपलोग उन्हींके साथी हैं?'
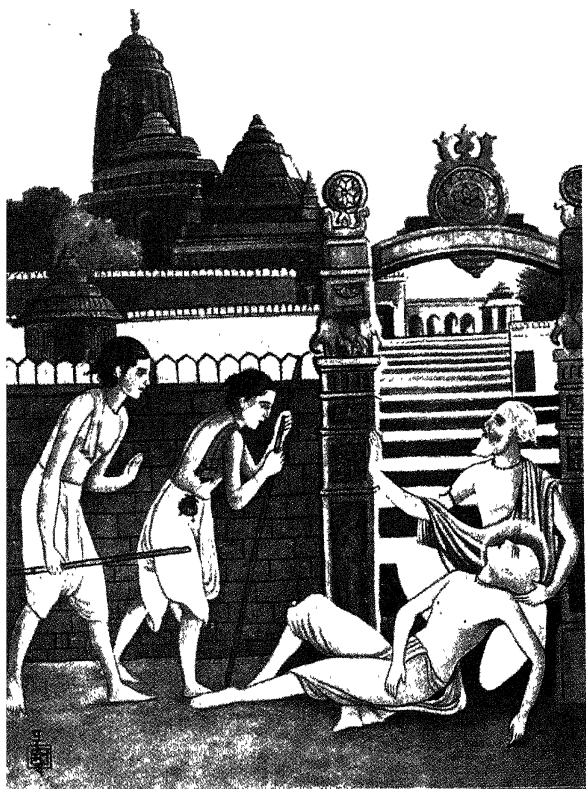
महाप्रभु और सार्वभौम

नित्यानन्दजीने कहा—'हाँ, हम सब उन्हींके सेवक हैं। तुमलोग हमें भट्टाचार्य सार्वभौम पण्डितके घरका रास्ता बता सकते हो?'

पहरेवालोंने कहा—'अभी हाल ही तो गये हैं, जल्दीसे जाओगे तो सम्भव है, तुम्हें वे रास्तेमें ही मिल जायँ। इधर सामने जाकर दक्षिण-की ओर चले जाना। वहीं मार्कण्डेयसरके समीप सार्वभौम पण्डितका ऊँचा-सा बड़ा मकान है। जिससे भी पूछोगे, वही बता देगा। बहुत सम्भव है, वे तुम्हें रास्तेमें ही मिल जायँ।'

पहरेवालोंके मुखसे ऐसी बात सुनकर सभी लोग उसी ओर चलने लगे। उसी समय रास्तेमें भट्टाचार्य सार्वभौमके बहनोई गोपीनाथाचार्य इन लोगोंको मन्दिरसे निकलते हुए मिल गये। आचार्य गोपीनाथ नवद्वीपनिवासी ही थे, मुकुन्द दत्तसे उनका पुराना परिचय था और वे महाप्रभुके प्रति भी श्रद्धाभाव रखते थे। मुकुन्द दत्तने देखते ही आचार्यको झुककर प्रणाम किया। आचार्यने मुकुन्द दत्तका बड़े जोरोंसे आलिंगन करते हुए प्रसन्नताके साथ कहा—'अहा! गायनाचार्य महाशय यहाँ कहाँ? आप यहाँ कब आये? महाप्रभुका समाचार सुनाइये। महाप्रभु तथा उनके सभी भक्त कुशलपूर्वक तो हैं?'

मुकुन्द दत्तने कहा—'हम बस इसी समय चले ही आ रहे हैं। महाप्रभुने गृहस्थाश्रमका परित्याग करके संन्यास ग्रहण कर लिया है और हम उन्हींके साथ-ही-साथ यहाँ आये हैं। अठारहनालासे वे हमसे पृथक् होकर एकाकी ही भगवान्‌के दर्शनोंके लिये दौड़ आये थे। यहाँ आकर पता चला, कि सार्वभौम महाशय उन्हें अपने घर ले गये हैं। हम सार्व-भौम महाशयके ही घरकी ओर जा रहे थे, सौभाग्यसे आपके ही दर्शन हो गये। हमारी यात्रा सफल हो गयी।'

आचार्य गोपीनाथने कहा—'ठीक है, मैं आप सबको सार्वभौमके घर ले चलूँगा । चलिये, पहले भगवान्के दर्शन तो कर आइये ।'

मुकुन्द दत्तने कहा—'पहले हम महाप्रभुका पूर्णरीत्या समाचार जान लें, तब स्वस्थ होकर निश्चिन्ततापूर्वक दर्शन करेंगे । पहले आप हमें सार्वभौम महाशयके ही यहाँ ले चलिये ।'

मुकुन्द दत्तके मुखसे ऐसी बात सुनकर आचार्य गोपीनाथजी बड़े प्रसन्न हुए और उनके साथ सार्वभौमके घरकी ओर चलने लगे । नित्यानन्दजीका परिचय पाकर आचार्यने अवधूत समझकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और प्रभुके सम्बन्धकी ही बातें करते हुए वे पाँचों ही सार्वभौमके घर पहुँचे ।

इन सब लोगोंने जाकर प्रभुको चेतनाशून्य-अवस्थामें ही पाया । भक्तोंने चारों ओरसे प्रभुको घेरकर संकीर्तन आरम्भ कर दिया । संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनि कानोंमें पड़ते ही प्रभु हुंकार मारकर बैठे हो गये । भक्तिभावसे पुत्र तथा स्त्रीके सहित समीपमें बैठकर शुश्रूषा करनेवाले सार्वभौम तथा अन्य सभी उपस्थित पुरुषोंको प्रभुके उठनेसे बड़ी भारी प्रसन्नता हुई । सभीके मुरझाये हुए चेहरोंपर हलकी-सी प्रसन्नताकी लालिमा दिखायी देने लगी । संकीर्तनकी ध्वनिसे सार्वभौमका वह भव्य भवन गूँजने लगा । प्रभुके कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ होनेपर सार्वभौमकी सम्मतिसे उनके पुत्र चन्दनेश्वरके साथ नित्यानन्द प्रभृति सभी भक्त श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंको चले गये । वहाँ जाकर उन्होंने भक्तिभावसहित श्रीसुभद्रा तथा बलदेवजीके सहित जगन्नाथ भगवान्के दर्शन किये । पुजारीने प्रसादी, चन्दन तथा माला इन सभी भक्तोंके लिये दिया । उसे ग्रहण करके ये लोग अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे ।

पाठकोंने सार्वभौम भट्टाचार्यका नाम तो पहले ही सुन लिया है, अब उनका संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। सार्वभौम महाशय अपने समयके उस प्रान्तमें अद्वितीय विद्वान् तथा नैयायिक समझे जाते थे। उनके शास्त्रज्ञानकी चारों ओर ख्याति थी, इतना सब होनेपर भी प्रभुके समागमके पूर्व उनका जीवन भक्तिविहीन ही था। उनकी अन्दर छिपी हुई महान् भावुकता तबतक प्रस्फुटित नहीं हुई थी, वह चन्द्रकान्तमणिमें छिपे हुए जलकी भाँति अव्यक्तभावसे ही स्थित थी। गौरचन्द्रकी सुखद शीतल किरणोंका संसर्ग पाते ही, वह सहसा द्रवित होकर बाहर टपकने लगी और उसीके कारण भट्टाचार्य सार्वभौमका नीरस जीवन सरस बन गया और वे महानन्दसागरमें सदा किलोलें करते हुए अलौकिक रसका सुखास्वादन करते हुए अपने जीवनको बिताने लगे।

आचार्य वासुदेव सार्वभौम

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥*

(विवेकचूडामणि)

शास्त्रोंमें बुद्धि दो प्रकारकी बतायी गयी है। एक तो लौकिकी बुद्धि और दूसरी परमार्थ-सम्बन्धिनी बुद्धि। लौकिकी बुद्धिसे परमार्थके पथमें काम नहीं चलनेका। चाहे आप कितने भी बड़े विद्वान् क्यों न हों, और आपको चाहे जितनी ऊँची-ऊँची बातें सूझती हों, पर उस इतनी ऊँची प्रखर बुद्धिका अन्तिम फल सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिमात्र ही है। जबतक उस बुद्धिको आप परमार्थकी ओर नहीं झुकाते, तबतक आपमें और लकड़ी बेचकर पेट भरनेवाले जड पुरुषमें कुछ भी अन्तर नहीं। वह दिनभर परिश्रम

---

* खूब बोलना यहाँतक कि बोलते-बोलते शब्दोंकी झड़ी लगा देना तथा भाँति-भाँतिके व्याख्यान देनेकी कुशलता और उसी प्रकार विद्वानोंकी अनेक शास्त्रोंकी विद्वत्ता ये सब संसारी भोग्य पदार्थोंको ही देनेवाली हैं, मुक्तिको नहीं।

करके चार पैसे ही रोज पैदा करता है और उसीसे जैसे-तैसे अपने परिवारका भरण-पोषण करता है, और आप अपनी प्रखर प्रतिभाके प्रभावसे हजारों-लाखों रुपये रोज पैदा करते हैं। उनसे भी आपकी पूर्णरीत्या सन्तुष्टि नहीं होती और अधिकाधिक धन प्राप्त करनेकी इच्छा बनी ही रहती है। धनकी प्राप्तिमें दोनों ही उद्योग करते हैं और दोनोंको जो भी प्राप्त होता है उसमें अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार दोनों ही असन्तुष्ट बने रहते हैं। तब केवल शास्त्रोंकी बातें पढ़ाकर पैसा पैदा करनेवाले पण्डितमें और लकड़ी बेचकर जीवन-निर्वाह करनेवाले मूर्खमें अन्तर ही क्या रहा? तभी तो तुलसी-दासजीने कहा है—

काम, क्रोध, मद, लोभकी, जबलग मनमें खान।
तबलग पंडित मूरखा, दोनों एक समान॥

जिनका उल्लेख पहले हो चुका है, वे सर्वविद्याविशारद अपने समयके अद्वितीय नैयायिक पण्डितप्रवर आचार्य वासुदेव सार्वभौम प्रभुके दर्शनोंके पूर्व उसी प्रकारके पोथीके पण्डित थे। उनकी बुद्धि तबतक परमार्थ-पथमें विचरण करनेवाली नहीं बनी थी। तबतक उनकी सम्पूर्ण शक्ति पुस्तकी विद्याकी ही पर्यालोचनामें नष्ट होती थी।

आचार्य वासुदेव सार्वभौमका घर नवद्वीपके 'विद्यानगर' नामक स्थानमें था। इनके पिताका नाम महेश्वर विशारद था। विशारद महाशय शास्त्रज्ञ और कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। महाप्रभुके मातामह श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीके साथ पढ़े थे। सार्वभौम दो भाई थे। इनके दूसरे भाई श्रीमधुसूदन वाचस्पति बहुत प्रसिद्ध विद्वान् तथा नामी पण्डित थे। इनकी एक बहिन थी जिसका विवाह श्रीगोपीनाथाचार्यके साथ हुआ था।

सार्वभौम महाशयकी बुद्धि बाल्यकालसे ही अत्यन्त तीव्र थी। पाठशालामें ये जिस पाठको एक बार सुन लेते फिर उसे दूसरी बार याद करनेकी इन्हें आवश्यकता नहीं होती थी। पढ़नेमें प्रमाद करना तो ये जानते ही नहीं थे। किसी बातको भूलना तो इन्होंने सीखा ही नहीं था। एक बार इन्हें जो भी सूत्र या श्लोक कण्ठस्थ हो गया मानो वह लोहेकी लकीरकी भाँति स्थायी हो गया।

जिस समय ये नवद्वीपमें विद्यार्थी बनकर विद्याध्ययन करते थे उस समय नवद्वीप संस्कृत-विद्याका एक प्रधान पीठ बना हुआ था। गौड़, उत्कल और बिहार आदि सभी देशोंके छात्र वहाँ आ-आकर संस्कृत-विद्याका अध्ययन करते थे। नवद्वीपमें व्याकरण, काव्य, अलङ्कार, ज्योतिष, दर्शन तथा वेदान्तादि शास्त्रोंकी समुचितरूपसे शिक्षा दी जाती थी, किन्तु तबतक नव्य-न्यायका इतना अधिक प्रचार नहीं था। या यों कह सकते हैं कि तबतक गौड़-देशमें नव्य-न्याय था ही नहीं। गौड़-देशके सभी छात्र न्याय पढ़नेके निमित्त मिथिला जाया करते थे। उन दिनों मिथिला ही न्यायका प्रधान केन्द्र समझा जाता था। मैथिल पण्डित वैसे तो जो भी उनके पास न्याय पढ़ने आता उसे ही प्रेमपूर्वक न्यायकी शिक्षा देते, किन्तु वे न्यायकी पुस्तकोंको साथ नहीं ले जाने देते थे। विशेषकर बंगदेशीय छात्रोंकी तो वे खूब ही देख-रेख रखते। उस समय आजकी भाँति छापनेके यन्त्रालय तो थे ही नहीं। पण्डितोंके ही पास हाथकी लिखी हुई पुस्तकें होती थीं, वही उनका सर्वस्व था। उनकी प्रतिलिपि भी वे सर्वसाधारणको नहीं करने देते थे। जब किसीकी वर्षों परीक्षा करके उसे योग्य अधिकारी समझते तब बड़ी कठिनतासे पुस्तककी प्रतिलिपि करने देते। पुस्तकोंके अभावसे नवद्वीपमें कोई न्यायकी पाठशाला ही स्थापित न हो सकी थी। सर्वप्रथम रामभद्र

भट्टाचार्यने न्यायकी एक छोटी-सी पाठशाला खोली। वे भी मिथिलासे न्याय पढ़कर आये थे, किन्तु पुस्तकके अभावसे वे छात्रोंकी शंकाओंका ठीक-ठीक समाधान नहीं कर सकते थे।

विद्यार्थी वासुदेव भी अपने भाई मधुसूदनके साथ रामभद्र भट्टाचार्यकी पाठशालामें न्याय पढ़ने लगे। कुशाग्रबुद्धि वासुदेव अपने न्यायके अध्यापकके सम्मुख जो शंका उठाते, उसका यथावत् उत्तर न पाकर वे असन्तुष्ट होते। इनके अध्यापक इनकी प्रत्युत्पन्न प्रखर बुद्धिको समझ गये और इनसे एक दिन एकान्तमें बोले—'भैया! तुम सचमुचमें नैयायिक बननेयोग्य हो, तुम्हारी बुद्धि बड़ी ही कुशाग्र है। मैं तुम्हारी शंकाओंका ठीक-ठीक समाधान करनेमें असमर्थ हूँ। इसका प्रधान कारण यह है, कि हमारे यहाँ तो कोई न्यायका पण्डित है नहीं। हम सबको न्याय पढ़नेके लिये मिथिला जाना पड़ता है। मिथिला ही आज-कल भारतवर्षमें न्यायका प्रधान केन्द्र माना जाता है। मैथिल पण्डित पढ़ानेके लिये तो किसीको इन्कार नहीं करते, जो भी उनके पास पढ़नेकी इच्छासे जाता है, उसे प्रेमपूर्वक पढ़ाते हैं, किन्तु पुस्तक वे किसीको साथ नहीं ले जाने देते। ऐसी स्थितिमें बिना पुस्तक जितना हम पढ़ा सकते हैं, उतना पढ़ाते हैं।'

अपने न्यायके अध्यापकके मुखसे ऐसी बात सुनकर आत्माभिमानी वासुदेव विद्यार्थीको इससे बहुत ही दुःख हुआ। उन्हें अध्यापककी विवशतापर दया आयी, उसी समय उन्होंने निश्चय कर लिया, कि बंग-देशमें न्यायके पुस्तकोंके अभावको मैं दूर करूँगा। उन्हें अपनी बुद्धि, स्मरणशक्ति और अद्भुत धारणाका विश्वास था। उसी दृढ़ विश्वासके वशीभूत होकर वे मिथिला पहुँचे और वहाँ जाकर उन्होंने विधिवत् न्यायका पाठ समाप्त किया। अपने पुराने अध्यापकके मुखसे उन्होंने जो

बात सुनी थी, वह बिल्कुल सच निकली। उन्हें इस बातका स्वयं अनुभव हो गया, कि यहाँसे न्यायकी पुस्तकें ले जाना सामान्य काम नहीं है। इसलिये उन्होंने न्यायके एक बड़े प्रामाणिक ग्रन्थको आद्योपान्त कण्ठस्थ कर लिया। इस प्रकार वे कागजकी पुस्तकको तो साथ न ला सके; किन्तु अपने हृदयके स्वच्छ पृष्ठोंपर स्मरणशक्तिकी सहायतासे बुद्धि-द्वारा लिखकर वे न्यायकी पूरी पुस्तकको अपने साथ ले आये। आते ही इन्होंने नवद्वीपमें अपनी न्यायकी पाठशाला स्थापित कर दी। भला, जो इतने बड़े भारी प्रामाणिक ग्रन्थको यथाविधि अक्षरशः कण्ठस्थ करके अपने देशके विद्यार्थियोंके कल्याणके निमित्त ला सकता है, वह पुरुष कितना भारी बुद्धिमान्, कितना बड़ा देशभक्त, कितनी उच्च श्रेणीका विद्याव्यासङ्गी तथा शास्त्रप्रेमी होगा, इसका पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं।

सार्वभौमकी विद्वत्ता, छात्रप्रियता, गम्भीरता तथा पढ़ानेकी सुन्दर और सरल शैलीकी थोड़े ही दिनोंमें दूर-दूरतक ख्याति फैल गयी। विभिन्न प्रान्तोंसे न्याय पढ़नेवाले बहुत-से छात्र इनके पास आ-आकर अपनी न्यायशास्त्रकी पिपासाको इनके सुन्दर, सरल और प्रेमपूर्वक पढ़ाये हुए पाठके द्वारा शान्त करने लगे। इनके विद्यार्थी लोकप्रसिद्ध नैयायिक हुए। जिनके बनाये हुए ग्रन्थ नव्यन्यायमें बहुत ही प्रामाणिक समझे जाते हैं। 'दीधिति' के रचयिता रघुनाथ पण्डित इन्हीं सार्वभौम महाशयके शिष्य थे।

उत्कल (उड़ीसा) प्रान्तके महाराजा प्रतापरुद्रजी संस्कृत-विद्याके बड़े ही प्रेमी थे, उन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यकी विद्वत्ताकी प्रशंसा सुनकर उन्हें अपनी पाठशालामें पढ़ानेके लिये बुला लिया। सार्वभौम आचार्य राजाके सम्मानपूर्वक आमन्त्रणकी अवहेलना नहीं कर सके, वे अपनी

छात्रमण्डलीके सहित जगन्नाथपुरीमें महाराजकी पाठशालामें पहुँच गये और वहीं वे विद्यार्थियोंको विविध शास्त्रोंकी शिक्षा देने लगे ।

इसी बीचमें इन्हें एक दिन सहसा महाप्रभुके दर्शन हो गये और उन्हें मूर्छित दशामें ही उठाकर अपने घर ले आये । पीछेसे नित्यानन्द आदि प्रभुके चारों साथी भी वहाँ आ पहुँचे । तीसरे पहर प्रभुको जब बाह्यज्ञान हुआ, तब वे समुद्रस्नान करनेके लिये गये और सार्वभौमके आग्रहसे भोजन करनेके लिये बैठे । सार्वभौम महाशय महाप्रभुके अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त तेजस्वी मुखमण्डलको देखकर स्वयं ही उनकी ओर खिंचे-से जाते थे । प्रभुके दर्शनसे ही वे अपने इतने बड़े शास्त्राभिमानको भूल गये और मन-ही-मन उनके चरणोंमें भक्ति करने लगे । महाप्रभुको संन्यासी समझकर ही सार्व-भौम महाशयने पूर्ण भक्ति-भावके साथ उन्हें भोजन कराया था । अन्तमें उन्होंने महाप्रभुके चरणोंमें गृहस्थ-धर्मके अनुसार संन्यासीको पूज्य समझकर प्रणाम किया । संन्यासी जगत्को नारायणका ही रूप देखता है । उसकी दृष्टिमें 'नारायण' से पृथक् किसी अन्य पदार्थकी सत्ता ही नहीं । इसीलिये संसारी लोग संन्यासीको 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर ही प्रणाम करते हैं । संन्यासी उसके उत्तरमें 'नारायण' ऐसा कह देते हैं । अर्थात् वह इन्हें नारायण समझकर प्रणाम करता है, उनकी दृष्टिमें भी प्रणाम करने-वाला नारायणसे भिन्न नहीं है, इसलिये वे भी कह देते हैं 'नारायण' अर्थात् तुम भी नारायणके स्वरूप हो ।

भट्टाचार्य सार्वभौमने भी 'ॐ नमो नारायणाय' ही कहकर प्रभुको प्रणाम किया । प्रभुने इसके उत्तरमें कहा—'आपकी श्रीकृष्णभगवान्के पादपद्मोंमें प्रगाढ़ प्रीति हो ।'

इस आशीर्वादको सुनकर सार्वभौम महाशयको प्रसन्नता हुई और वे मन-ही-मन सोचने लगे कि ये कोई भगवत्-भक्त वैष्णव संन्यासी हैं,

इसीलिये भट्टाचार्यके हृदयमें इनका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई। प्रभुसे तो इस बातको पूछते ही कैसे ? शास्त्रज्ञ विद्वान् होकर वे संन्यासीसे उसके पूर्वाश्रमका ग्राम-नाम पूछते ही क्यों ? संन्यासीसे उसके पूर्वाश्रमकी बातें करना निषिद्ध माना गया है, इसलिये प्रभुसे न पूछकर अपने बहनोई गोपीनाथाचार्यसे पूछा—'आचार्य ! आप इन संन्यासी महात्माके पूर्वाश्रमका कुछ समाचार जानते हैं ?'

कुछ हँसकर आचार्यने कहा—'आप इन्हें नहीं पहचान सके। नवद्वीप ही तो इनकी जन्मभूमि है। ये पं० जगन्नाथ मिश्र पुरन्दरके पुत्र और श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीके दौहित्र हैं।'

सार्वभौमको प्रभुका परिचय पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। नीलाम्बर चक्रवर्ती इनके पिताके सहाध्यायी थे और पुरन्दर पण्डित इनके साथ कुछ दिन पढ़े थे। सार्वभौमके पितामें और नीलाम्बर चक्रवर्तीमें बड़ी प्रगाढ़ता थी। इसी सम्बन्धसे सार्वभौमके पिता पं० जगन्नाथ मिश्रको अपना मान्य समझते थे। अबतक सार्वभौम महाशय इन्हें एक कृष्णप्रेमी वैरागी संन्यासी समझकर ही मन-ही-मन भक्ति कर रहे थे। गोपीनाथजीसे प्रभुका परिचय पाते ही इनका भाव-परिवर्तन हो गया। अबतक वे तटस्थभावसे एक सद्‌गृहस्थकी भाँति संन्यासीके प्रति जैसा शिष्टाचार बर्तना चाहिये वैसा बरत रहे थे। अब उनका प्रभुके प्रति कुछ ममत्व-सा हो गया और उनकी वह भक्ति भी वात्सल्यभावमें परिणत हो गयी। कुछ अपनापन प्रकट करते हुए सार्वभौम कहने लगे—'मुझे क्या पता था, कि ये अपने घरके ही हैं। नीलाम्बर चक्रवर्तीके सम्बन्धसे एक तो ये हमारे वैसे ही मान्य तथा पूज्य हैं, तिसपर संन्यासी। इसलिये हमारे तो ये पूजनीय सम्बन्धी और अत्यन्त ही आदरणीय हैं।'

प्रभुने अत्यन्त ही नम्रता प्रकट करते हुए लज्जित भावसे कहा—'आप यह कैसी बातें कर रहे हैं, मैं तो आपके लड़केके समान हूँ। आप ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध तथा अधिकारवृद्ध हैं। बड़े-बड़े संन्यासियोंको आप शास्त्रोंकी शिक्षा देते हैं। आपके सामने मैं कह ही क्या सकता हूँ ? मैं तो आपके शिष्योंके शिष्य होनेयोग्य भी नहीं हूँ। अभी मेरी अवस्था भी बहुत छोटी है, मुझे संसारका कुछ भी ज्ञान नहीं है ?'

सार्वभौमने कहा—'ये वचन तो आपके शील-स्वभावके द्योतक हैं। हमारे लिये तो संन्यासी होनेके कारण आप पूज्य ही हैं।'

प्रभुने फिर उसी प्रकार लजाते हुए धीरे-धीरे नीची दृष्टि करके कहा—'मैं तो अभी बच्चा हूँ, संन्यासके मर्मको क्या जानूँ ? वैसे ही भावुकताके वशीभूत होकर मैंने रंगीन कपड़े पहन लिये हैं। संन्यासीका क्या कर्तव्य है, इस बातका मुझे कुछ भी पता नहीं। आप लोकशिक्षक हैं अतः गुरु मानकर मैंने आपके ही चरणोंका आश्रय लिया है। आप मेरा उद्धार कीजिये और मुझे संन्यासीके करनेयोग्य कामोंकी शिक्षा दीजिये। आज ही आपने मुझे इतनी घोर विपत्तिसे बचा लिया। इसी प्रकार आगे भी आप मेरी रक्षा करते रहेंगे ?'

सार्वभौमने प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—'देखना, अब कभी अकेले दर्शन करने मत जाना। जब भी दर्शन करने जाना तभी या तो चन्दनेश्वरको साथ ले जाना या किसी दूसरे मनुष्यको। तुम्हारा अकेले ही मन्दिरमें दर्शनके लिये जाना ठीक नहीं है।'

प्रभुने विनीत भावसे कहा—'अब मैं कभी मन्दिरमें भीतर दर्शन करने जाया ही न करूँगा। भगवान् गरुड़के ही सामनेसे दर्शन कर लिया करूँगा।'

सार्वभौमने कहा—'नहीं, गरुड़के समीपसे क्यों दर्शन करो ? मन्दिर-में सब आदमी अपने ही हैं, जहाँसे इच्छा हो, दर्शन करो। मैंने तो सावधानीके खयालसे यह बात कही है।'

इतनी बातें करनेके अनन्तर सार्वभौमने अपने बहनोई गोपीनाथा-चार्यसे कहा—'आचार्य महाशय ! आपने इनसे हमारा परिचय कराकर बड़ा ही उत्तम कार्य किया। आपकी ही कृपासे हम इन्हें पहचान सके। अब इनके ठहरनेका कहीं एकान्त स्थानमें प्रबन्ध करना चाहिये ! हमारी मौसीका वह दूसरा घर खाली भी है और एकान्त भी है, वह इनके लिये कैसा रहेगा ?'

आचार्यने कहा—'स्थान तो बहुत सुन्दर है, ये लोग उसे अवश्य ही पसन्द करेंगे। उसीमें सबका आसन लगवा दें।'

सार्वभौमने कहा—'हाँ हाँ, यही ठीक रहेगा। आप इन सबको वहीं ले जायँ।'

सार्वभौमकी सम्मतिसे गोपीनाथाचार्य प्रभुको उनके साथियोंके सहित सार्वभौमके मौसाके घर ले गये। प्रभुने उस एकान्त स्थानको बहुत पसन्द किया और वे अपने साथियोंके सहित उसीमें रहने लगे।

सार्वभौम और गोपीनाथाचार्य

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥*

(बृ० स्तो० २०)

इस संसार-सागरमें डूबते हुए निराश्रित जीवोंके गुरुदेव ही एकमात्र आश्रय हैं। गुरुदेव ही बहते हुए, डूबते हुए, बिलखते हुए, अकुलाते हुए, बिलबिलाते हुए, अचेतन हुए जीवोंको भव-वारिधिसे बाँह पकड़कर बाहर निकाल सकनेमें समर्थ हो सकते हैं। त्रैलोक्यपावन गुरुदेवकी कृपाके बिना जीव इस अपार दुर्गम पयोधिके पार जा ही नहीं सकता।

---

* गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महेश्वर हैं और गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं। ऐसे गुरुदेवको बार-बार प्रणाम है।

वे अखिल विश्व-ब्रह्माण्डोंके विधाता विश्वम्भर ही भाँति-भाँतिके रूप धारण करके गुरुरूपसे जीवोंको प्राप्त होते हैं और उन्हींके पादपद्मोंका आश्रय ग्रहण करके मुमुक्षु जीव बात-की-बातमें इस अपार उदधिको तर जाते हैं। किसी मनुष्यकी सामर्थ्य ही क्या है, जो एक भी जीवका वह निस्तार कर सके ? जीवोंका कल्याण तो वे ही परमगुरु श्रीहरि ही कर सकते हैं। इसीलिये मनुष्य गुरु हो ही नहीं सकता। जगत्-गुरु तो वे ही श्रीमन्नारायण हैं, वे ही जिस जीवको संसार-बन्धनसे छुड़ाना चाहते हैं, उसे गुरुरूपसे प्राप्त होते हैं। अन्य साधारण बद्ध जीवोंकी दृष्टिमें तो वह रूप साधारण जीवोंकी ही भाँति प्रतीत होता है, किन्तु जो अनुग्रह-सृष्टिके जीव हैं, जिन्हें वे श्रीहरि स्वयं ही कृपापूर्वक वरण करना चाहते हैं उन्हें उस रूपमें साक्षात् श्रीसनातन पूर्ण ब्रह्मके दर्शन होते हैं। इसीलिये गुरु, भक्त और भगवान् ये मूलमें एक ही पदार्थके लोकभावनाके अनुसार तीन नाम रख दिये गये हैं। वास्तवमें इन तीनोंमें कोई अन्तर नहीं। इस भावको अनुग्रह-सृष्टिके ही जीव समझ सकते हैं। अन्य जीवोंके वशकी यह बात नहीं है।

गोपीनाथाचार्य हृदय-प्रधान पुरुष थे। उनके ऊपर भगवान्‌की यथेच्छ कृपा थी, उनका हृदय अत्यधिक कोमल था, भावुकताकी मात्रा उनमें कुछ अधिक थी, महाप्रभुके पादपद्मोंमें उनकी अहैतुकी प्रीति थी। वे महाप्रभुके श्रीविग्रहमें अपने श्रीमन्नारायणके दर्शन करते थे। उनके लिये प्रभुका पाञ्चभौतिक नश्वर शरीर नहींके बराबर था। वे उसमें सनातन सत्य, सगुण परब्रह्मका अविनाशी आलोक देखते थे और उसी भावसे उनकी पूजा-अर्चा करते थे, वे अनुग्रह-सृष्टिके जीव थे, भगवान्‌के अपने जन थे, उनके नित्यपार्षद थे।

एक दिन गोपीनाथाचार्य प्रभुको जगन्नाथजीके शयनोत्थानके दर्शन कराकर लौटे। लौटते समय वे मुकुन्द दत्तके साथ सार्वभौम महाशयके घर चले गये। सार्वभौम भट्टाचार्यने अपने बहनोईका यथोचित सत्कार किया और मुकुन्द दत्तके सहित उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया। आचार्यके बैठ जानेपर इधर-उधरकी बातें होती रहीं। अन्तमें महाप्रभुजीका प्रसङ्ग छिड़ गया।

सार्वभौमने पूछा—'इन निमाई पण्डितने किनसे संन्यास लिया है और इनका संन्यासाश्रमका नाम क्या है?'

गोपीनाथाचार्यने कहा—इनका नाम है—'श्रीकृष्णचैतन्य।' कटवाके समीप जो केशव भारती महाराज रहते हैं, वे ही महाभाग संन्यासीप्रवर न्यासीचूड़ामणि महापुरुष इनके संन्यासाश्रमके गुरु हैं।'

सार्वभौम समझ गये कि केशव भारती कोई विद्वान् और नामी संन्यासी तो हैं नहीं। ऐसे ही साधारण संन्यासी होंगे। फिर दण्डी-संन्यासियोंमें भारतीयोंको कुछ हेय समझते हैं। आश्रम, तीर्थ और सरस्वती इन तीन दण्डी संन्यासियोंमें भारतीयोंकी गणना नहीं। उनके लिये दण्ड धारण करनेका विधान तो है, किन्तु उनका दण्ड आधा समझा जाता है, यही सब विचारकर वे आचार्यसे कुछ मुँह सिकोड़कर कहने लगे—'नाम तो बड़ा सुन्दर है, रूप-लावण्य भी इनका अद्वितीय है, कुछ शास्त्रज्ञ भी मालूम पड़ते हैं। उच्च ब्राह्मण-कुलमें इनका जन्म हुआ है, फिर इन्होंने इस प्रकार हेय-सम्प्रदायवाले संन्यासीसे दीक्षा क्यों ली? मालूम होता है, बिना सोचे-समझे आवेशमें आकर इन्होंने मूँड़ मुँड़ा लिया। यदि आप सब लोगोंकी इच्छा हो, तो हम किसी योग्य प्रतिष्ठित दण्डी स्वामीको बुलाकर फिरसे इनका संस्कार करा दें।'

इस बातको सुनकर कुछ दुःख प्रकट करते हुए आचार्यने कहा—'आपकी बुद्धि तो निरन्तर शास्त्रोंमें शंका करते-करते शंकित-सी बन गयी है। आपकी दृष्टिमें घट-पट आदि बाह्य वस्तुओंके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। ये साक्षात् भगवान् हैं, इन्हें बाह्य उपकरणोंकी क्या अपेक्षा ? ये तो स्वयंसिद्ध त्यागी, संन्यासी, वैरागी और प्रेमी हैं, इन्हें आपकी सिफ़ारिशकी आवश्यकता न पड़ेगी।'

सार्वभौमने कहा—'आपकी ये ही भावुकताकी बातें तो अच्छी नहीं लगतीं। हम तो उन बेचारोंके हितकी बातें कह रहे हैं। अभी उनकी नयी अवस्था है, संसारी सुखोंसे अभी एकदम वञ्चित-से ही रहे हैं, ऐसी अवस्थामें ये संन्यासधर्मके कठोर नियमोंका पालन कैसे कर सकेंगे ?'

आचार्यने कहा—'ये नियमोंके भी नियामक हैं। इनका संन्यास ही क्या ? यह तो लोक-शिक्षाके निमित्त इन्होंने ऐसा किया है।'

हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'यह खूब रही, युवावस्थामें इन्हें यह लोक-शिक्षाकी खूब सूझी। महाराज ! आप कहीं लोक-शिक्षाके निमित्त ऐसा मत कर डालना।'

आचार्यने कहा—'लोक-शिक्षा मनुष्य कर ही क्या सकता है, यह तो भगवान्का ही कार्य है और वे ही विविध वेष धारण करके लोक-शिक्षणका कार्य किया करते हैं।'

जोरोंसे हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'बाबा ! दया करो, उस बेचारे संन्यासीको आकाशपर चढ़ाकर उसके सर्वनाशकी बातें क्यों सोच रहे हो ? पुराने लोगोंने ठीक ही कहा है—'आचार्यमें उड़नेकी शक्ति नहीं होती, पीछेसे शिष्यगण ही उसके पंख लगाकर उन्हें आकाशमें

उड़ा देते हैं' मालूम पड़ता है आप इस युवक संन्यासीके अभीसे पर लगाना चाहते हैं। आपकी दृष्टिमें ये ईश्वर हैं?

आवेशके साथ आचार्यने कहा—'हाँ ईश्वर हैं, ईश्वर हैं; ईश्वर हैं। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ ये साधारण जीव नहीं हैं।'

आचार्यकी आवेशपूर्ण बातोंको सुनकर सार्वभौमके आस-पासमें बैठे हुए सभी शिष्य एकदम चौंक-से पड़े। सार्वभौम भी कुछ विस्मित-से होकर आचार्यके मुखकी ओर देखने लगे। थोड़ी देरके पश्चात् हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'मुँह आपके घरका है, जीभ उधार लेने किसीके पास जाना नहीं पड़ता, जो आपके मनमें आवे वह अनाप-शनाप बकते रहें। किन्तु आपने तो शास्त्रोंका अध्ययन किया है, भगवान्के अवतार तीनों ही युगोंमें होते हैं। कलिकालमें इस प्रकारके अवतारोंकी बात कहीं भी नहीं सुनी जाती। फिर अवतार तो सब गिने-गिनाये हैं। उनमें तो हमने ऐसा अवतार कहीं नहीं सुना। वैसे तो जीवमात्रको ही भगवान्का अंश होनेसे अवतार कहा जा सकता है। अथवा—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाऽविनाशिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥*

(श्रीमद्भा० १। ३। २६)

श्रीमद्भागवतके इस श्लोकके अनुसार असंख्य अवतार भी माने जा सकते हैं और वे आवश्यकता पड़नेपर सब युगोंमें उत्पन्न हो सकते

* सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—

हे ब्राह्मणो! जिस प्रकार अक्षय सरोवरमेंसे सहस्रों छोटी-छोटी नदियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्त्वगुणके समुद्र श्रीहरिसे भी असंख्य अवतार होते हैं।

हैं, किन्तु उनकी गणना अंशांश-अवतारोंमें भी की गयी है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥*

(१०।४१)

इस दृष्टिसे आप इन संन्यासीको अवतार कहते हैं, तो हमें भी कोई आपत्ति नहीं, किन्तु ये ही साक्षात् सनातन परब्रह्म हैं, सो कैसे हो सकता है? भगवान् श्रीकृष्ण ही सनातन पूर्ण ब्रह्म हैं, उनका अवतार युगोंमें नहीं होता, कल्पोंमें भी नहीं होता, कभी सैकड़ों-हजारों युगोंके पश्चात् वे अवतीर्ण होते हैं। इसलिये आप कोरी भावुकताकी बातें कर रहे हैं।

आचार्यने कहा—'मालूम पड़ता है, बहुत शास्त्रोंकी आलोचना करनेसे शास्त्रोंके वाक्योंको भी आप भूल गये हैं। आप जानते हैं, नित्य-अवतारके लिये कोई नियम नहीं। उसका रहस्य शास्त्र क्या समझ सकें? यह तो शास्त्रातीत विषय है। नित्य-अवतारका कभी तिरोभाव नहीं होता, वह तो एकरस होकर सदा संसारमें व्याप्त रहता है। किसी भाग्यवान्को ही वह गुरुरूपसे प्राप्त होते हैं और जिसपर उनका अनुग्रह होता है, वही उनका कृपापात्र बन सकता है।'

हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'यह नित्यावतार कौन-सी नयी वस्तु निकल आयी?'

* कान्ति, लक्ष्मी और प्रभावादिसे युक्त जो भी विभूतिमान् प्राणी दृष्टिगोचर हों उन सभीको मेरे तेजका अंशावतार ही समझ।

आचार्यने कुछ क्षोभके स्वरमें कहा—'आपको तो समझाना इसी प्रकार है जैसे ऊसर भूमिमें बीज बोना। परिश्रम तो व्यर्थ जाता ही है, साथ ही बीजका भी नाश होता है।'

कुछ विनोदके स्वरमें सार्वभौमने कहा—'उपजाऊ भूमिके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ और उससे प्रार्थना करता हूँ, कि हमारे ऊपर भी कृपा करे। आप आपेसे बाहर क्यों हुए जाते हैं, हमें समझाइए, आप किस प्रकार इन्हें साक्षात् ईश्वर कहते हैं।'

आचार्यने कहा—'सोतेको तो जगाया भी जा सकता है, किन्तु जो जागता हुआ भी सोनेका बहाना करता है, उसे भला कौन जगा सकता है? आप जान-बूझकर भी अनजानोंकी-सी बातें कर रहे हैं, अब आपकी बुद्धिको क्या कहूँ? आप जानते नहीं—'गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।' इसमें गुरुको साक्षात् परब्रह्म बताया गया है। क्या गुरु साक्षात् परब्रह्म नहीं हैं जिनकी संगतिसे श्रीकृष्णपदारविन्दोंमें अनुराग हो। उनमें और श्रीकृष्णमें मैं कुछ भी भेद नहीं समझता। जो भी कुछ भेद प्रतीत होता है, वह व्यवहार चलानेके लिये है। वास्तवमें तो गुरु और श्रीकृष्ण एक ही हैं। वे अपने आप ही कृपा करके अपने चरणोंमें प्रीति प्रदान करते हैं। वे जबतक किसी रूपसे कृपा नहीं करते तबतक उनके चरणोंमें प्रेम होना असम्भव है।'

वासुदेव सार्वभौमने कहा—'आचार्य महाशय! यह तो कुछ भी बात नहीं हुई। इसका तो सम्बन्ध भावनासे है। और अपनी-अपनी भावना पृथक्-पृथक् होती है। यह बात तो सचमुच शास्त्रोंसे परेकी है। दृढ़ और शुद्ध भावनाके सामने तो कोई भी बात असम्भव नहीं। किन्तु आप इसका प्रचार नहीं कर सकते। दूसरेको आप अपनी भावनाके अनुसार माननेके लिये मजबूर नहीं कर सकते। आपकी उन संन्यासी युवकमें गुरु-

भावना या परब्रह्मकी भावना है, तो ठीक है। किन्तु हम भी आपकी बातोंसे सहमत हों, इस बातका आग्रह करना आपकी अनधिकार चेष्टा है। हम उन्हें एक साधारण संन्यासी ही समझते हैं। वैसे वे बेचारे बड़े सरल हैं, भगवान्‌की उनके ऊपर कृपा है, इस अल्पावस्थामें भगवान्‌के पादपद्मोंमें इतना अनुराग, ऐसा अलौकिक त्याग, इतना अद्भुत वैराग्य सब साधुओंमें नहीं मिलनेका। बहुत खोजनेपर लाखों, करोड़ोंमें ऐसा अनुराग मिलेगा। हम उनके त्याग, वैराग्य और भगवत्-प्रेमके कायल हैं, किन्तु उन्हें आपकी तरह ईश्वर मानकर लोगोंमें अवतारपनेका प्रचार करें, यह हमारी शक्तिके बाहरकी बात है।'

आचार्यने कुछ दृढ़ताके स्वरमें कहा—'अच्छी बात है, देख लिया जायगा। कबतक आपके ये भाव रहते हैं।'

इस प्रसंगको समाप्त करनेकी इच्छासे बातके प्रवाहको बदलते हुए सार्वभौमने कहा—'आप तो हमारे जो कुछ हो सो हो ही, हमारी किसी बातको बुरा न मानना। हमारा-आपका तो सम्बन्ध ही ऐसा है, कोई अनुचित बात मुँहसे निकल गयी हो तो क्षमा कीजियेगा।'

आचार्यने कुछ उपेक्षा-सी करते हुए कहा—'क्षमाकी इसमें कौन-सी बात है! मैं भगवान्‌से प्रार्थना करूँगा, कि आपके इन नास्तिकोंके-से विचारोंमें वे परिवर्तन करें और आपको अपना कृपापात्र बना लें।'

हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'आपपर ही भगवान्‌की अनन्त कृपा बहुत है। उसीमेंसे थोड़ा हिस्सा हमें भी दे देना। हाँ, उन संन्यासी महाराजको कल हमारी ओरसे भोजनका निमन्त्रण दे देना। कल हमारी इच्छा उन्हें यहीं अपने घरमें भिक्षा करानेकी है।'

इसके अनन्तर कुछ और इधर-उधरकी दो-चार बातें हुईं और अन्तमें मुकुन्द दत्तके साथ गोपीनाथाचार्य प्रभुके स्थानके

लिये चले। सार्वभौमकी शुष्क तर्कोंसे मुकुन्द दत्तको मन-ही-मन बहुत दुःख हो रहा था। आचार्य भी कुछ उदास थे।

प्रभुके समीप पहुँचकर गोपीनाथाचार्यने सार्वभौमसे जो-जो बातें हुई थीं उन्हें संक्षेपमें सुनाते हुए कहा—'प्रभो! मुझे और किसी बातसे दुःख नहीं है। दुःखका प्रधान कारण यह है, कि सार्वभौम अपने आदमी होकर भी इस प्रकारके विचार रखते हैं। प्रभो! उनके ऊपर कृपा होनी चाहिये। उनके जीवनमेंसे नीरसताको निकालकर सरसताका सञ्चार कीजिये। यही मेरी श्रीचरणोंमें विनीत प्रार्थना है।'

प्रभुने कुछ संकोचके साथ अपनी दीनता दिखाते हुए कहा—'आचार्य महाशय! यह आप कैसी भूली-भूली-सी बातें कह रहे हैं। सार्वभौम तो हमारे पूज्य हैं—मान्य हैं। वे मुझपर पुत्रकी भाँति स्नेह करते हैं, उनसे बढ़कर पुरीमें मेरा दूसरा शुभचिन्तक कौन होगा? उन्हींके पादपद्मोंकी छाया लेकर तो मैं यहाँ पड़ा हुआ हूँ। वे मेरे लिये जो भी कुछ सोचेंगे, उसीमें मेरा कल्याण होगा। जिस बातसे उन्हें मेरे अमंगलकी सम्भावना होगी उसे वे अवश्य ही बता देंगे। इसी बातमें तो मेरी भलाई है। यदि गुरुजन होकर वे भी मेरी प्रशंसा ही करते रहेंगे, तो मैं इस कच्ची अवस्थामें संन्यास-धर्मका पालन कैसे कर सकूँगा? आप उनकी किसी भी बातका बुरा न मानें और सदा उनके प्रति पूज्य-भाव रक्खें। वे मेरे-आपके सबके पूज्य हैं। वे शिक्षक उपदेष्टा आचार्य तथा हमारे हितचिन्तक हैं।' इस प्रकार नम्रतापूर्वक आचार्यको समझाकर प्रभुने उन्हें विदा किया और आप भक्तोंके सहित श्रीकृष्ण-कीर्तन करने लगे।

सार्वभौम भक्त बन गये

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥*
(श्रीमद्भा० १०।५१।५४)

पूर्वजन्मोंके पापोंका सञ्चय विशेष न हो, भगवत्-कृपा हो और किसी भी प्रकारसे सही, हृदयमें श्रद्धाके भाव हों, तो ऐसे पुरुषके उद्धारमें देर नहीं लगती। साधु-समागम होते ही बड़े-बड़े दुराचारी दुष्कर्मोंका परित्याग करके परम भागवत बन गये हैं। सत्संगकी महिमा ही ऐसी अपार है। तभी तो भर्तृहरिजीने कहा है—

'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्?'

---

* हे अच्युत! संसारकी नाना योनियोंमें घूमनेवाले पुरुषके बन्धनका जब तुम्हारे अनुग्रहसे नाश होनेका समय आता है, तब ही उसे सत्संग प्राप्त होता है। और जब साधु-समागम होता है, तभी साधुओंके शरण्य, कार्य-कारणोंके नियन्ता आप परमेश्वरमें मति स्थिर होती है।

अर्थात् 'सत्संगतिसे मनुष्यकी कौन-सी भलाई नहीं हो सकती ?' सारांश यही है, कि सत्संगतिसे सभी प्रकारके बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, किन्तु सबको सत्संगति प्राप्त करनेका सौभाग्य नहीं होता। जिसके संसारी-बन्धनोंके छूटनेका समय समीप आ चुका है, जिसके ऊपर आदिपुरुष अच्युतका पूर्ण अनुग्रह है, उसे ही साधुपुरुषोंकी सत्संगति प्राप्त हो सकती है।

सार्वभौम भट्टाचार्य विद्वान् थे, पण्डित थे, शास्त्रज्ञ थे और वर्णाश्रम-धर्ममें श्रद्धा रखते थे। शास्त्रोक्त वैदिक कर्मोंको भी वे यथाशक्ति करते थे और घरपर आये हुए साधु-अभ्यागतोंका प्रेमपूर्वक सत्कार करते थे तथा अन्दर-ही-अन्दर प्रभु-प्राप्तिके लिये छटपटाते भी थे। ऐसी दशामें वे भगवत्-कृपाके सर्वथा योग्य थे। उन्हें साधु-समागम मिलना ही चाहिये। इसीलिये मानो सार्वभौमका ही उद्धार करनेके निमित्त प्रभु वृन्दावन न जाकर पुरी पधारे और सबसे पहले सार्वभौमके घरको ही अपनी पद-धूलिसे परम पावन बनाया। उन भक्ताग्रगण्य सार्वभौम महाशयके चरणोंमें हमारे कोटि-कोटि नमस्कार है।

सार्वभौमके निमन्त्रणको स्वीकार करके प्रभु उनके घर भिक्षा करनेके लिये पधारे। सार्वभौमने उन्हें श्रद्धापूर्वक भिक्षा करवायी और उनका संन्यासीके योग्य सत्कार किया। अन्तमें वात्सल्यभाव प्रकट करते हुए उन्होंने अत्यन्त ही स्नेहके साथ कहा—'स्वामीजी! हमारी एक प्रार्थना है, अभी आपकी अवस्था बहुत कम है, इस अवस्थाका वैराग्य प्रायः स्थायी नहीं होता। अधिकतर इस अवस्थावाले त्यागियोंका कुछ कालमें वैराग्य मन्द ही पड़ जाता है। और वैराग्यके बिना त्याग टिक नहीं सकता। इसीलिये थोड़ी अवस्थाके अधिकांश साधु अपने धर्मसे पतित हो जाते हैं। अतएव आपको निरन्तर ऐसे कार्योंमें लगे

रहना चाहिये, जिनसे संसारी विषयोंके प्रति अधिकाधिक वैराग्यके भाव उत्पन्न होते रहें। हमारे यहाँ वेदान्तदर्शनके कई पाठ होते हैं, आपकी इच्छा हो, तो यहाँ आकर सुना करें। बेकार रहनेसे ही मनमें बुरे-बुरे विचार उत्पन्न होते हैं। जो निरन्तर शुभ कर्मोंमें आत्म-शुद्धिकी इच्छासे लगा रहता है, उसके मनमें बुरे विचार उठ ही नहीं सकते। इसलिये आप पाठशालामें आकर वेदान्त-सूत्रोंकी व्याख्या सुना करें। यही साधक-संन्यासियोंका परम धर्म है।'

हाथ जोड़े हुए विनीतभावसे महाप्रभुने कहा—'यह मेरा सौभाग्य है, जो आप-जैसे गुरुजन स्वयं ही मेरे कल्याणकी बातें सोचा करते हैं। जिसके भलेके लिये गुरुजनोंके हृदयमें चिन्ता है, वह कभी पतित हो ही नहीं सकता। मेरी भी इच्छा थी, कि आपके चरणोंमें कुछ उपदेश सुननेकी प्रार्थना करूँ, किन्तु संकोचवश मैं अपने मनोभावको व्यक्त नहीं कर सका। आपने मेरे मनकी बात बिना कहे ही समझ ली। मैं अवश्य ही कलसे वेदान्त-सूत्रोंकी व्याख्या सुना करूँगा।'

प्रभुकी इस बातसे सार्वभौम महाशयको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। योग्य अध्यापकको यदि समझदार और अधिकारी छात्र पढ़ानेके लिये मिल जाय, तो इससे अधिक प्रसन्नता उसे दूसरी किसी भी वस्तुसे नहीं हो सकती। गुरुका हृदय योग्य शिष्यकी निरन्तर खोज करता रहता है और अपने योग्य शिष्य पाकर वह उसे सर्वस्व समर्पण करनेके लिये लालायित बना रहता है।

दूसरे दिनसे महाप्रभु वेदान्त-सूत्रोंका शारीरकभाष्य सुनने लगे। सार्वभौम महाशय बड़े ही उत्साहसे उल्लासके सहित शारीरकभाष्यका प्रवचन करने लगे। पाठ पढ़ाते-पढ़ाते आनन्दके कारण उनका चेहरा दमकने लगता और वे अपने सम्पूर्ण पाण्डित्यको प्रदर्शित करते हुए विस्तार-

के सहित पाठको सुनाते। महाप्रभु चुपचाप एकाग्र दृष्टिसे अधोमुख किये हुए पाठ सुनते रहते। बीचमें वे एक भी शब्द नहीं बोलते। इस प्रकार लगातार सात दिनोंतक बराबर वे पाठ सुनते रहे। जब भट्टाचार्यने देखा, ये तो बोलते ही नहीं, पता नहीं इनकी समझमें यह व्याख्या आती भी है या नहीं। विषय बहुत ही गूढ़ है, बहुत सम्भव है ये उसे न समझ सकते हों। इसीलिये उन्होंने पूछा—'स्वामीजी! आप तो चुपचाप बैठकर सुनते ही रहते हैं। पाठ अच्छा हुआ या बुरा—यह सब आप कुछ नहीं बताते।'

महाप्रभुने विनीतभावसे कहा—'आपने मुझे पाठ सुननेकी ही आज्ञा तो दी थी, इसीलिये आपकी आज्ञाको शिरोधार्य करके पाठ सुना करता हूँ।'

कुछ हँसकर प्रेमपूर्वक सार्वभौम भट्टाचार्यने कहा—'सुननेके यह मानी थोड़े ही हैं कि पत्थरकी मूर्तिकी भाँति मूक बनकर सुनते ही रहना। जहाँ जो बात समझमें न आवे, उसे फिरसे पूछना चाहिये। कोई शंका उत्पन्न हो तो उसे पूछकर उसका समाधान करा लेना चाहिये। पाठ सुननेके मानी हैं उस विषयमें निःशंक हो जाना। पाठका विषय इस प्रकार हृदयंगम हो जाय, कि फिर कोई शंका उठ ही न सके। कहिये, आपकी समझमें तो सब कुछ आता है न?'

कुछ लज्जितभावसे प्रभुने कहा—'भला, मैं मूर्ख इस गहन विषयको समझ ही क्या सकता हूँ और थोड़ा-बहुत समझ भी लूँ तो आपके सामने शंका करनेका साहस ही कैसे कर सकता हूँ।'

सरलताके साथ भट्टाचार्यने कहा—'यह बात नहीं, जो समझमें न आवे उसे पूछना चाहिये। संकोच करनेसे कैसे काम चलेगा?'

प्रभुने कुछ लज्जाके कारण सिकुड़ते हुए धीरेसे कहा—'भगवान् व्यासदेवके सरल सूत्रोंका शब्दार्थ तो बड़ी सुगमतासे मेरी समझमें आ जाता है, किन्तु भाष्य सुनते ही सारा मामला गड़बड़ हो जाता है। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता है, कि भगवान् भाष्यकारोंने अपने एकदेशीय अर्थके लिये शब्दोंकी खूब खींचतान की है और जो अर्थ सूत्रमेंसे लक्षित ही नहीं होता, उसकी जबरदस्ती ऊपरसे आवृत्ति की है।'

महाप्रभुकी इस बातको सुनते ही भट्टाचार्य तथा पाठ सुननेवाले सभी विद्यार्थियोंके कान खड़े हो गये। वे आश्चर्यकी दृष्टिसे प्रभुके मुख-की ओर निहारने लगे। भट्टाचार्यने कुछ आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'आप यह कैसी बात कह रहे हैं। श्रुतिका मुख्य प्रतिपाद्य विषय निर्गुण निराकार अद्वितीय ब्रह्मकी सिद्धि करना ही है। शारीरकभाष्यमें उसी नाम-रूपसे रहित अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है।'

प्रभुने धीरेसे कहा—'मुझे निराकार निर्गुण रूपका वर्णन स्वीकार है। मैं यह कब कहता हूँ कि श्रुतियोंमें निराकार ब्रह्मका वर्णन है ही नहीं। किन्तु भाष्यकारने सगुण साकार रूपको जो एकदम गौण और उपेक्षणीय ठहरा दिया है इसे मैं नहीं मानता। यह तो एकपक्षीय सिद्धान्त हो गया। भगवान्‌के तो सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार दोनों ही रूप मुख्य और आदरणीय हैं। श्रुति जहाँ 'एकमेवाद्वितीयम्' * 'नेह नानास्ति किञ्चन' † 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ‡ आदि कह-कहकर सर्व-व्यापी निर्गुण-निराकार रूपका वर्णन करती है वहाँ—

* वह ब्रह्म एक अद्वितीय ही है।

† संसारमें जो यह नानात्व दृष्टिगोचर हो रहा है वह

‡ यह जो सब दीख रहा है सब-का-सब ब्रह्म ही है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥*
(श्वेता० उप० ३ । १९)

'बहु स्याम्'† 'स ईक्षते'‡ इत्यादि श्रुतियोंमें प्रत्यक्ष रीतिसे भगवान्के सगुण साकार रूपका वर्णन है तथा उनकी दिव्यलीला और कर्मोंका भी वर्णन है। उन्हें गौण कहकर छोड़ देना केवल बुद्धिवैलक्षण्यका ही द्योतक है। मेरी समझमें तो भगवान् भाष्यकारने केवल बुद्धिको तीक्ष्ण करनेके अभिप्रायसे ही ऐसी व्याख्या की होगी। जो केवल मस्तिष्क-प्रधान है, उनके लिये विचारकी पराकाष्ठा की गयी होगी। सचमुच भाष्यकारने अपनी प्रत्युत्पन्न मतिका बड़ा ही अद्भुत परिचय दिया है। जो विचारको ही प्रधान मानते हैं वे इससे अधिक और विचार कर ही नहीं सकते, किन्तु हृदय-प्रधान सरस भावुक भक्तोंको इस खींचातानीकी व्याख्यासे सन्तोष नहीं होनेका।'

सार्वभौम भट्टाचार्यने कहा—'भाई! यह अपने घरकी बात थोड़े ही है। भगवान् व्यासदेवजीके अभिप्रायको ही भाष्यकारने स्पष्ट किया है, उन्होंने अपनी तरफसे कुछ थोड़े ही कहा है!'

---

* उसके प्राकृतिक हाथ-पैर नहीं हैं, किन्तु वह ग्रहण करता और जोरोंसे चलता है। चक्षु न रहनेपर भी देखता है। कानोंके बिना भी शब्दोंको सुनता है। वह सम्पूर्ण जाननेयोग्य विषयोंको भलीभाँति जानता है, किन्तु उसे कोई नहीं जानता। उसे ही आदि महान् पुरुष कहते हैं।

† मैं एकसे बहुत होता हूँ।

‡ वह देखता है।

कुछ मुस्कराते हुए प्रभुने कहा—'आपके सामने अधिक बोलना तो धृष्टता होगी, किन्तु प्रसंगवश कहना ही पड़ता है। भगवान् व्यासदेवके अभिप्रायको ठीक-ठीक इन्होंने ही व्यक्त किया है, इसे हम कैसे कह सकते हैं। इन्हीं सूत्रोंका भाष्य भगवान् रामानुजने विशिष्टाद्वैतपरक किया है और भगवान् माध्वाचार्यने शारीरकभाष्यके ठीक प्रतिकूल इन्हीं सूत्रोंसे द्वैतमतका प्रतिपादन किया है। ये सभी-के-सभी पूज्य, मान्य और आदरणीय महापुरुष हैं। इनमेंसे किसकी बातको झूठ समझें। इसलिये यही कहना पड़ता है, कि इन तीनोंने ही अपने-अपने दृष्टिकोणसे ठीक ही व्याख्या की है। इन सभीने किसी एक विषयका प्रतिपादन किया है। इनमेंसे यही व्याख्या सर्वमान्य हो सकती है, इसे मैं नहीं मानता। ये सभी व्याख्याएँ एकदेशीय हैं। आप ही सोचिये, जिन्होंने छः शास्त्र और अठारह पुराण तथा पञ्चम वेद महाभारतको बनाकर भी शान्ति प्राप्त नहीं की और पूर्ण शान्ति लाभ करनेके ही निमित्त जिन्होंने सभी वेद-शास्त्रोंका सार संग्रह करके श्रीमद्भागवतकी रचना की और उसे रचकर ही अनन्त शान्ति प्राप्त की वे ही भगवान् व्यासदेव श्रीमद्भागवतमें क्या कहते हैं—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(१०।१४।३२)

अर्थात् 'व्रजमें रहनेवाले नन्द आदि ग्वालबालोंके भाग्यकी सराहना कौन कर सकता है, जिनके मित्र परम आनन्दस्वरूप साक्षात् सनातन पूर्ण ब्रह्म हैं।' इस प्रकारके उद्गारोंको व्यक्त करनेवाले व्यासदेव इस बातका आग्रह करें कि 'नहीं, ब्रह्मका निर्गुण-निराकाररूप ही यथार्थ है, शेष सभी कल्पित और मिथ्या हैं।' तो यह बात कुछ समझमें नहीं आती। जो श्रीकृष्णको सनातन पूर्ण ब्रह्म बताकर गाँवके गँवार गोप-ग्वालोंके भाग्यकी

भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे हैं, वे इस प्रकारका हठ करेंगे, यह कुछ विचारणीय विषय है।

कुछ निरुत्तर-से होकर सार्वभौमने क्षणभर सोचकर कहा—'तब तो भगवान् शंकरके सारे सिद्धान्तका खण्डन हो जाता है। उन्होंने तो अपने सभी ग्रन्थोंमें निर्विशेष ब्रह्मका ही भाँति-भाँतिसे प्रतिपादन किया है और इस नाम-रूपात्मक दृश्य जगत्को मिथ्या बताकर अपने आपको ही ब्रह्म माननेके लिये कहा है।'

प्रभुने कुछ जल्दीसे कहा—'इसमें खण्डन-मण्डनकी कौन-सी बात है? बुद्धि भी तो भगवद्दत्त ही है। ये सब बुद्धिके चमत्कार हैं। भगवान् शंकरने अद्वैत-सिद्धान्तका प्रतिपादन करके सचमुच विचारोंका अन्त ही करके दिखा दिया है! तर्कशक्ति और विचारशक्तिको पराकाष्ठापर पहुँचा दिया है। जीव ही ब्रह्म है, यह उनके मस्तिष्कके सर्वोच्च विचारोंका सर्वोत्कृष्ट एक भाव ही है। उनके हृदयसे तो पूछिये यथार्थ बात क्या है? जो आयुभर 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ' इसी सिद्धान्तका प्रचार करते हुए अभेदभावका प्रचार करते रहे उन्हींके मुखसे एकान्तमें सुरसरिके तीरपर अश्रु बहाते हुए जो उद्गार आप-से-आप ही निकल पड़े हैं, उनकी ओर भी तो ध्यान दीजिये। देखिये, वे कितने करुणस्वरसे अश्रु बहाते हुए गद्गदकण्ठसे प्रभुके सम्मुख प्रार्थना कर रहे हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

(भ० शङ्कराचार्यकी ष० प०)

'हे नाथ! चाहे तुममें और जगत्में भेद न हो, तो भी मेरे स्वामी! मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो। यद्यपि समुद्र तथा तरङ्गमें भेद न हो तो भी लोग 'समुद्रकी तरङ्ग' ऐसा ही कहते हैं, 'तरङ्गका समुद्र' ऐसा कोई नहीं

कहता ।' यह उन महापुरुषका वाक्य है, जो जगत्‌को त्रिकालमें भी कुछ नहीं मानते । जिनकी दृष्टिमें मैं-मेरा तथा जन्म-मृत्यु सब कोरी कल्पना ही हैं, किन्तु ये बातें उनके मस्तिष्ककी थीं । यह उनके सरस और निष्कपट शुद्ध हृदयके उद्‌गार हैं । तभी तो भगवान् व्यासदेवने कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ *

(श्रीमद्भा० १ । ७ । १०)

प्रभुके मुखसे इस बातको सुनकर और अपनी झेंप मिटानेके निमित्त सार्वभौमने कहा—'हाँ हाँ, इस श्लोकका आप क्या अर्थ करते हैं, हमें भी तो सुनाइये ?'

प्रभुने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'भला, मैं आपके सामने श्लोककी व्याख्या करनेयोग्य हूँ ? यह काम तो आपका ही है । आप मुझे इसकी व्याख्या करके सुनाइये, जहाँ मेरी समझमें न आवेगी वहाँ पूछ लूँगा ।'

अबतक तो सार्वभौम कुछ उत्तर देनेमें असमर्थ थे, इसलिये वे एकटक भावसे प्रभुके मुखकी ओर देखते हुए उनकी बातें सुन रहे थे । अब उन्हें अपने पाण्डित्य प्रदर्शन करनेका कुछ अवसर प्राप्त हुआ । इसलिये बड़े हर्षके साथ नाना भाँतिकी शंकाओंको उठाते हुए और शास्त्रीय प्रमाण देते हुए उन्होंने इस एक ही छोटे-से श्लोककी नौ प्रकारसे व्याख्या की और पृथक्-पृथक् नौ भाँतिके अर्थ करके बताये । अपनी व्याख्याको समाप्त

* जो शास्त्रीय ज्ञानसे परे पहुँच गये हैं । जिनकी अहंता-ममता-रूपी हृदय-ग्रन्थि खुल गयी है और जो मौन रहकर सदा आत्मामें ही रमण करते रहते हैं ऐसे ज्ञानी पुरुष भी भगवान् उरुक्रमके विषयमें अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि उन श्रीहरिके गुण ही ऐसे अद्भुत हैं कि समझदार पुरुष उनमें भक्ति किये बिना रह ही नहीं सकते ।

करते हुए अपने पाण्डित्यकी प्रशंसा सुननेकी उत्सुकतासे वे प्रभुके मुखकी ओर निहारने लगे।

प्रभुने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—'धन्य है, आपके पाण्डित्यकी मैंने जैसी प्रशंसा सुनी थी, उसका परिचय मैंने यहाँ आकर प्रत्यक्ष ही पा लिया। इतनी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या आप ही कर सकते हैं, दूसरे पण्डितका काम नहीं, कि इतनी सरलतासे नौ प्रकारके अर्थोंको बिना खींचातानीके सरलतापूर्वक कह सके, किन्तु इन नौ अर्थोंके अतिरिक्त और भी तो कई प्रकारसे इस श्लोकके अर्थ हो सकते हैं।'

अत्यन्त ही आश्चर्य प्रकट करते हुए सम्भ्रमके साथ भट्टाचार्य सार्वभौम कहने लगे—'क्या कहा, मेरे अर्थोंके सिवा और भी इसके अर्थ हो सकते हैं? यदि आप कर सकते हों तो सुनाइये।'

प्रभुने बड़ी ही सरलताके साथ विनीत स्वरमें कहा—'मैं क्या कर सकता हूँ। ऐसे ही आप गुरुजनोंके मुखसे मैंने इसकी कुछ थोड़ी-बहुत व्याख्या सुनी है, उसमेंसे जो कुछ थोड़ी-बहुत याद है, उसे आपकी आज्ञासे सुनाता हूँ।' यह कहकर महाप्रभुने अठारह प्रकारसे इस श्लोककी व्याख्या की

महाप्रभुके मुखसे इस प्रकारकी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या सुनकर सार्वभौम भट्टाचार्यके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। वे अपने आपेको भूल गये और जिस प्रकार स्वप्नमें कोई अद्भुत घटनाको देखकर आश्चर्यके सहित उसकी ओर देखता रहता है, उसी प्रकार वे प्रभुकी ओर देखते रहे। अब उन्हें प्रभुकी महिमाका पता चला, अब उनके हृदयमें छिपी हुई भक्ति जाग्रत् हुई। मानो इस श्लोककी व्याख्याने ही इनकी अव्यक्त भक्तिको व्यक्त बना दिया। वे अपने पद, मान, प्रतिष्ठा और सम्मान आदिके अभिमानको भुलाकर एक छोटे बालककी भाँति सरलतापूर्वक

प्रभुके पादपद्मोंमें गिर पड़े। उन्होंने अपने हाथोंकी लाल रंगवाली मोटी-मोटी उँगलियोंसे प्रभुके दोनों अरुण चरण पकड़ लिये और रोते-रोते 'पाहि माम्' 'रक्ष माम्' कहकर स्तुति करने लगे—

संसारकूपे पतितो ह्यगाधे
मोहान्धपूर्णे विषयातिसक्तः।
करावलम्बं मम देहि नाथ
गोविन्द दामोदर माधवेति!!

इस संसाररूपी अगाध समुद्रमें डूबते हुए विषयासक्त मुझ अधमको अपने हाथोंका सहारा देकर हे नाथ! आप उबार लीजिये। हे गोविन्द! हे दामोदर!! हे माधव!!! मैं आपकी शरण हूँ।

इस प्रकार वे प्रभुकी भाँति-भाँतिसे स्तुति करने लगे। उसी समय उन्हें प्रभुके शरीरमें अद्भुत षड्भुजी मूर्तिके दर्शन हुए। उन दर्शनोंसे उनके सभी पुराने पाप क्षय हो गये और वे घोर तार्किक पण्डितसे आज परम भागवत वैष्णव बन गये।

प्रभुने उन्हें प्रेमपूर्वक उठाकर आलिङ्गन किया। प्रभुका आलिङ्गन पाते ही वे फिर मूर्छित होकर गिर पड़े। बहुत देरतक यह करुणापूर्ण दृश्य ज्यों-का-त्यों बना रहा। सभी विद्यार्थी महान् आश्चर्य और कुतूहलके सहित इस दृश्यको देखते रहे!

सार्वभौमका भगवत्-प्रसादमें विश्वास

महाप्रसादे गोविन्दे नाम्नि ब्रह्मणि वैष्णवे।
स्वल्पपुण्यवतां राजन्! विश्वासो नैव जायते॥*

(व्यास० वा०)

अविश्वासका मुख्य कारण है अप्रेम। जहाँ प्रेम नहीं वहाँ विश्वास भी नहीं और जहाँ प्रेम है वहीं विश्वास भी है। अद्वैतवेदान्तके अनुसार इस सम्पूर्ण दृश्य जगत्का अस्तित्व हमारे मनके विश्वासपर ही है। जिस समय हमारे मनसे इस जगत्की सत्यतापरसे विश्वास उठ जायगा, उस दिन यह जगत् रहेगा ही नहीं। इसीलिये वेदान्ती कहते हैं 'तुम इस बातका विश्वास करो कि 'सोऽहं' 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्' अर्थात् 'मैं वही हूँ' 'मैं चिदानन्दरूपी शिव ही हूँ।'

हमारी वृत्ति बहिर्मुखी है, क्योंकि हमारी इन्द्रियोंके द्वार बाहरकी ही ओर हैं, इसलिये हम बाहरी वस्तुओंपर तो विश्वास करते हैं, किन्तु उनमें जो भीतर छिपा हुआ रहस्य है, उसे हम नहीं समझ सकते। जिसने उस भीतर छिपे हुए रहस्यको समझ लिया वह सचमुचमें सब बन्धनोंसे मुक्त हो गया। भगवान्के प्रसादके बहानेसे कितने लोग अपनी विषय-वासनाओंको पूर्ण करते हैं! नामका आश्रय ग्रहण करके लोग इस प्रकारके पापकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। वास्तवमें उन्हें प्रसादका और भगवन्नामका माहात्म्य नहीं मालूम है, तभी तो वे चमकते हुए काँचके

---

* शुकदेवजी राजा परीक्षितसे कह रहे हैं—

भगवान्के महाप्रसादमें, भगवान्में, भगवन्नाममें, ब्रह्म अथवा ब्रह्मवेत्तामें और वैष्णव पुरुषोंमें थोड़े पुण्यवालोंका विश्वास नहीं होता।

बदलेमें हीरा दे देते हैं। जो भगवन्नाम सभी प्रकारके पापोंको नष्ट करनेमें समर्थ है, उसे सोने-चाँदीके ठीकराओंके ऊपर बेचनेवालोंके हाथ-में वे ठीकरा ही रह जाते हैं। भगवन्नामके असली सुस्वादु मधुरातिमधुर फलसे वे लोग वञ्चित रह जाते हैं। विश्वाससे जिसने एक बार महाप्रसाद पा लिया, फिर उसकी जिह्वा खट्टे-मीठेके भेद-भावको भूल जायगी। जिसने श्रद्धा-विश्वासके सहित एक बार भगवन्नामका उच्चारण कर लिया, फिर उसे संसारी किसी पदार्थकी वाञ्छा नहीं रह सकती। एक बड़े भारी महात्माने हमें एक कहानी सुनायी थी—

एक सरल-हृदया स्त्री थी। उसने कभी भी भगवान्‌का नाम नहीं लिया। किन्तु जीवनमें कभी कोई खोटा काम भी नहीं किया। उसके द्वारा किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं होता था। एक दिन उसने एक बड़े भारी भक्तके मुखसे यह श्लोक सुना—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महाभारतस्य)

अर्थात् जिसने एक बार भी कृष्णके पादपद्मोंमें श्रद्धा-भक्तिके सहित प्रणाम कर लिया उसे उतना ही फल हो जाता है जितना कि दस अश्वमेधादि यज्ञ करनेवाले पुरुषको होता है। किन्तु इन दोनोंके फलमें एक बड़ा भारी भेद होता है। अश्वमेध-यज्ञ करनेवाला तो लौटकर फिर संसारमें आता है, किन्तु श्रीकृष्णको श्रद्धासहित प्रणाम करनेवाला, फिर संसार-चक्रमें नहीं घूमता। वह तो इस चक्रसे मुक्त होकर निरन्तर प्रभुके पादपद्मोंमें लोट लगाता रहता है। इस श्लोकके भावको सुनते

ही वह सरल-हृदया नारी विकल हो उठी। उसके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो गया। आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगी। गद्गद-कण्ठसे लड़खड़ाती हुई वाणीमें उसने बड़े ही पश्चात्तापके स्वरमें कहा—'हाय! मैंने अभीतक एक दिन भी भगवान्के चरण-कमलोंमें प्रणाम नहीं किया।' इतना कहकर ज्यों ही वह प्रणाम करनेको बढ़ी त्यों ही इस नश्वर शरीरको परित्याग करके श्रीहरिके अनन्त धामके लिये चली गयी। इसका नाम श्रद्धा या विश्वास है। ऐसे ही विश्वाससे प्रभुके पादपद्मोंकी प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

गाया तिन पाया नहीं, अनगाये ते दूर।
जिन गाया विस्वास गहि, तिनके सदा हुजूर॥

सार्वभौम भट्टाचार्यको प्रभुके पादपद्मोंमें पूर्ण श्रद्धा हो गयी थी। शास्त्रका वचन है, कि हृदयमें भगवान्की भक्ति उत्पन्न होनेसे सभी सद्गुण अपने-आप ही बिना बुलाये हृदयमें आकर निवास करने लगते हैं। सद्गुण तो भगवत्-भक्तिकी छाया हैं। छाया शरीरको छोड़कर दूसरी जगह रह नहीं सकती। किसी एकमें विश्वास होनेपर सभी सत्कर्मोंमें स्वतः ही श्रद्धा हो सकती है

एक दिन महाप्रभु अरुणोदयके समय श्रीजगन्नाथजीके शयनोत्थानके दर्शनके लिये गये। प्रभुके दर्शन कर लेनेपर पुजारीने उन्हें प्रसादी माला और प्रसादी अन्न दिया। प्रभुने बड़े आदरके सहित उस महाप्रसादको दोनों हाथ फैलाकर ग्रहण किया और अपने वस्त्रमें बाँधकर वे सार्वभौम भट्टाचार्यके घरकी ओर चले। प्रभु बिना सूचना दिये ही भीतर चले गये। सार्वभौम उसी समय निद्रासे जगकर भगवन्नामोंका उच्चारण करते हुए शय्यापरसे उठने ही वाले थे, कि तबतक महाप्रभु पहुँच गये। प्रभुको देखते ही सार्वभौम अस्त-व्यस्तभावसे जल्दी-जल्दी शय्यापरसे उठे और प्रभुके चरण-कमलोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया तथा उन्हें बैठनेके लिये सुन्दर

आसन दिया। आसनपर बैठते ही प्रभुने अपने वस्त्रोंमेंसे भगवान्‌का प्रसाद खोलकर सार्वभौमको दिया। महाप्रभु आज कृपा करके अपने हाथसे महाप्रसाद दे रहे हैं, यह सोचकर सार्वभौमकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने दीन-हीन अभ्यागतकी भाँति उस महाप्रसादको ग्रहण किया और हाथपर आते ही बिना शौचादिसे निवृत्त हुए वैसे ही बासी-मुखसे वे प्रसादको पाने लगे। प्रसादको पाते जाते थे और आनन्दके सहित पद्मपुराणके इन श्लोकोंको पढ़ते जाते थे—

शुष्कं पर्युषितं वाऽपि नीतं वा दूरदेशतः।
प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्यं नात्र कालविचारणा॥
न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
प्राप्तमन्नं द्रुतं शिष्टैर्भोक्तव्यं हरिरब्रवीत्॥*

इस प्रकार सार्वभौमको विश्वासके साथ आनन्दपूर्वक प्रसाद पाते देखकर महाप्रभुके आनन्दकी सीमा नहीं रही। वे भट्टाचार्य सार्वभौमका हाथ पकड़कर नृत्य करने लगे। भट्टाचार्य महाशय भी बेसुध होकर प्रभुके साथ पागलकी भाँति नाच रहे थे। सार्वभौमकी स्त्री तथा उनके शिष्य और पुत्र इस अपूर्व दृश्यको देखकर इसका कुछ भी कारण न समझ सके। महाप्रभु बार-बार सार्वभौमका आलिंगन करते और गद्‌गद कण्ठसे बार-बार कहते—'आज सार्वभौम कृतार्थ हो गये,

* महाप्रसाद चाहे सूखा हो, बासी हो अथवा दूर-देशसे लाया हुआ हो, उसे पाते ही खा लेना चाहिये। उसमें कालके विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। महाप्रसादमें देश अथवा कालका नियम नहीं है। शिष्ट पुरुषोंको चाहिये कि जहाँ भी जिस समय भी महाप्रसाद मिल जायँ उसे वहीं उसी समय पाते ही जल्दीसे खा लें। ऐसा भगवान्‌ने साक्षात् अपने श्रीमुखसे कहा है।

आज वासुदेव सार्वभौमको भगवान् वासुदेवने अपनी शरणमें ले लिया। आज भट्टाचार्य महाशयके सभी संसारी-बन्धन छिन्न-भिन्न हो गये। आज मुझे सार्वभौमने खरीद लिया। इतने भारी शास्त्रज्ञ और शौचाचार-को जाननेवाले सार्वभौम महाशयका जब महाप्रसादके प्रति इतना अधिक दृढ़ विश्वास हो गया, तो मैं समझता हूँ, इनसे बढ़कर संसारमें कोई दूसरा भक्त होगा ही नहीं। भट्टाचार्य महोदयने आज मुझे कृतकृत्य कर दिया। आज मेरा पुरीमें आना सफल हो गया।' प्रभुके मुखसे ऐसी बातें सुनकर भट्टाचार्य सार्वभौम कुछ लज्जित-से हुए और बार-बार प्रभुके चरणोंकी धूलिको अपने सम्पूर्ण शरीरपर मलते हुए कहने लगे—'यह सब प्रभुके चरणोंकी कृपा है। मुझ अधमके ऊपर कृपा करके ही आपने संसार-सागरमें डूबते हुएको हाथ पकड़कर उबारा है। अब तो मैं आपका दासानुदास हूँ, जब जैसी भी आज्ञा होगी, उसीका पालन करूँगा।' भट्टाचार्यके मुखसे ऐसी बात सुनकर प्रभु कुछ लज्जाका भाव प्रदर्शित करते हुए वहाँसे चले गये। जब गोपीनाथाचार्यने यह समाचार सुना तब तो वे बड़े प्रसन्न हुए।

शामको भट्टाचार्य सार्वभौम प्रभुके दर्शनके लिये आये। उसी समय गोपीनाथाचार्य भी वहाँ आ पहुँचे। प्रभुको प्रणाम करके मुस्कराते हुए गोपीनाथाचार्यने कहा—'कहो भट्टाचार्य महाशय! हमारी बात ठीक निकली न? अब बोलो, भागकर कहाँ जाओगे?'

पृथिवीमें सिर टेककर और गोपीनाथाचार्यको प्रणाम करते हुए सार्वभौमने कहा—'यह सब आपके चरणोंकी कृपा है, नहीं तो मुझ-जैसे संसारी मनुष्यके ऊपर प्रभु कृपा कब कर सकते हैं? आपके ही अनुग्रहसे मुझे प्रभुके चरण-कमलोंकी प्राप्ति हो सकी है।' इस प्रकार शिष्टाचारकी बहुत-सी बातें होनेपर सार्वभौम अपने घरको चले आये।

सार्वभौमका भक्तिभाव

नौमि तं गौरचन्द्रं यः कुतर्ककर्कशाशयम्।
सार्वभौमं सर्वभूमा भक्तिभूमानमाचरत्॥ *
(चैतन्यचरितामृत म० ली० ६ । १)

एक दिन भट्टाचार्य महाशय महाप्रभुके वासस्थानपर प्रभुके दर्शनके निमित्त गये। प्रभुने बड़े ही प्रेमसे उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया। महाप्रभुकी आज्ञासे आसनपर बैठनेके अनन्तर हाथ जोड़े हुए सार्वभौमने कहा—'प्रभो ! एक बातका स्मरण करके मुझे अपने ऊपर बड़ी भारी ग्लानि हो रही है। मैंने अपने शास्त्रीय ज्ञानके अभिमानमें आपको साधारण संन्यासी समझकर उपदेश देनेका मिथ्या अभिमान किया था, इससे मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। आचार्य गोपीनाथजीके साथ आपकी कड़ी आलोचना भी की थी, इसलिये अब अपने उन पुराने कृत्योंपर बड़ी लज्जा आ रही है।'

महाप्रभुने अत्यन्त ही स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा—'आचार्य ! यह आप कैसी भूली-भूली-सी बातें कर रहे हैं ? हाल तो जहाँतक मैं समझता हूँ, आपने मेरे सम्बन्धमें न तो कोई अनुचित बात ही कही और न कभी अशिष्ट व्यवहार ही किया। आप-जैसे श्रद्धालु, शास्त्रज्ञ विद्वान्से कोई भी इस प्रकारके व्यवहारकी आशा नहीं कर सकता। थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि आपने कोई अनुचित बर्ताव किया भी

* जिन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यके कुतर्क-कर्कश हृदयको भक्ति-भावपूर्ण बना दिया, उन सर्वभूमा श्रीगौरचन्द्रको हम प्रणाम करते हैं।

तो, वह तभीतक था, जबतक कि मेरा-आपका प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध नहीं हुआ था। प्रेम-सम्बन्ध हो जानेपर तो पुरानी सभी बातें भुला दी जाती हैं। प्रेम होनेपर तो एक प्रकारके नूतन जीवनका आरम्भ होता है, जिस प्रकार जन्म होनेपर पिछले सभी जन्मोंकी बातें भूल जाती हैं, उसी प्रकार प्रेम हो जानेपर तो पिछली बातोंका ध्यान ही नहीं रहता। प्रेममें लज्जा, भय, संकोच, शिष्टाचार, क्षमा, अपराध आदि द्वैधी भावको प्रकट करनेवाली वृत्तियाँ रहती ही नहीं। वहाँ तो नित्य नूतन रसका आस्वादन करते रहना ही शेष रह जाता है। क्यों ठीक है न?'

सार्वभौमने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे क्षणभर चुपचाप ही बैठे रहे। थोड़ी देरके अनन्तर उन्होंने पूछा—'प्रभो! भगवान्‌के चरण-कमलोंमें अहैतुकी अनन्यभक्ति उत्पन्न हो सके, ऐसा सर्वोत्तम साधन कौन-सा है?'

महाप्रभुने कहा—'सबके लिये एक ही रोगमें एक ही ओषधि नहीं दी जाती। बुद्धिमान् वैद्य प्रकृति देखकर ओषधि तथा अनुपानमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर देता है। भोजनसे शरीरकी पुष्टि, चित्तकी तुष्टि और क्षुधाकी निवृत्ति—ये तीनों काम होते हैं, किन्तु पुष्टि, तुष्टि और क्षुधा-निवृत्तिके लिये एक-सा ही भोजन सबको नहीं दिया जाता। जिसे जो अनुकूल पड़े उसीका सेवन करना उसके लिये लाभप्रद है। शास्त्रोंमें भगवत्-प्राप्तिके अनेक साधन तथा उपाय बताये हैं, किन्तु इस कलिकालमें तो हरि-नाम-स्मरणके अतिरिक्त कोई भी दूसरा साधन सुगमतापूर्वक नहीं हो सकता। वर्तमान समयमें तो भगवन्नाम ही सर्वोत्तम साधन है।'

सार्वभौमने पूछा—'प्रभो! भगवन्नामस्मरणकी प्रक्रिया क्या है?'

प्रभुने कहा—'प्रक्रिया क्या? भगवन्नामकी कुछ भी प्रक्रिया नहीं। जब भी समय मिले, जहाँ भी हो, जिस दशामें भी हो, भगवन्नामोंका

मुखसे उच्चारण करते रहना चाहिये। भगवन्नामका नियत संख्यामें जप करो, जो भी अपनेको अत्यन्त प्रिय हो ऐसे भगवान्‌के रूपका ध्यान करो, भगवन्नामोंका संकीर्तन करो, भगवान्‌के गुणानुवादोंका गायन करो, भगवान्‌की लीलाओंका परस्परमें कथन और श्रवण करो, सारांश यह है, कि जिस किसी भाँति भी हो सके अपने शरीर, प्राण, मन तथा इन्द्रियोंको भगवत्परायण ही बनाये रखनेकी चेष्टा करो।'

सार्वभौमने पूछा—'प्रभो! ध्यान कैसे किया जाय?'

प्रभुने कहा—'अपनी वृत्तिको बाहरी विषयोंकी ओर मत जाने दो। काम करते-करते जब भी भगवान्‌का रूप हमारी दृष्टिसे ओझल हो जाय तो ऊर्ध्व दृष्टि करके (आँखोंकी पुतलियोंको ऊपर चढ़ाकर) उस मनमोहिनी मूर्तिका ध्यान कर लेना चाहिये।'

इस प्रकार भगवन्नामके सम्बन्धमें और भी बहुत-सी बातें होती रहीं। अन्तमें जगदानन्द और दामोदर पण्डितको साथ लेकर सार्वभौम अपने घर चले गये। घर जाकर उन्होंने जगन्नाथजीके प्रसादके भाँति-भाँतिके बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदार्थ सजाकर इन दोनों पण्डितोंके हाथों प्रभुके लिये भेजे और साथ ही अपनी श्रद्धाञ्जलिस्वरूप नीचेके दो श्लोक भी बनाकर प्रभुकी सेवामें समर्पित करनेके लिये दिये। वे श्लोक ये हैं—

वैराग्यविद्यानिजभक्तियोग-
शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी
कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये॥
कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः
प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा।

आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे
गाढं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥*
(चैतन्यचन्द्रोदयनाटक अङ्क ६ । ४३-४४)

जगदानन्द और दामोदर पण्डित प्रभुके स्वभावसे पूर्णरीत्या परिचित थे। वे जानते थे, कि महाप्रभु अपनी प्रशंसा सुन ही नहीं सकते। प्रशंसा सुनकर प्रसन्नता प्रकट करना तो दूर रहा उलटे वे प्रशंसा करनेवालेपर नाराज़ होते हैं, इसलिये उन्होंने इन दोनों सुन्दर श्लोकोंको बाहर दीवालपर पहिले लिख लिया। तब जाकर भोजनसामग्रीके सहित वह पत्र प्रभुके हाथमें दिया। प्रभुने उसे पढ़ते ही एकदम टुकड़े-टुकड़े करके बाहर फेंक दिया। किन्तु भक्तोंने तो पहलेसे ही उन्हें लिख रक्खा था। उसी समय मुकुन्द उन्हें कण्ठस्थ करके बड़े ही सुन्दर स्वरसे गाने लगे। सभी भक्तोंको बड़ा आनन्द रहा। थोड़े ही दिनोंमें ये श्लोक सभी गौर-भक्तोंकी वाणीके बहुमूल्य भूषण बन गये।

एक दिन सार्वभौम प्रभुके समीप बैठकर कुछ भक्तिविषयक बातें कर रहे थे। बातों-ही-बातोंमें सार्वभौम श्रीमद्भागवतके इस श्लोकको पढ़ने लगे—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

---

* जो दयासागर पुराणपुरुष अपने ज्ञान, वैराग्य और भक्तियोगकी शिक्षा देनेके निमित्त श्रीकृष्णचैतन्य नामवाले शरीरको धारण करके प्रकट हुआ है, मैं उसकी शरणमें प्राप्त होता हूँ॥ ४३॥

समयके हेर-फेरसे नष्ट हुए अपने भक्तियोगको फिरसे प्रचार करनेके निमित्त श्रीकृष्णचैतन्य नामसे जो अवनिपर अवतरित हुए हैं, उन श्रीचैतन्य-चरण-कमलोंमें मेरा चित्तरूपी भौंरा अत्यन्त लीन हो जाय॥ ४४॥

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥*
(१० । १४ । ८)

सार्वभौम भट्टाचार्यने इस श्लोकके अन्तिम चरणमें मुक्तिके स्थानमें 'भक्ति' पाठ पढ़कर यह अर्थ किया कि वह भक्तिका अधिकारी होता है ।

महाप्रभुने हँसते हुए कहा—'भट्टाचार्य महाशय ! आपको अपने मनोनुकूल अर्थ करनेमें भगवान् व्यासदेवके श्लोकमें पाठ-परिवर्तन करनेकी आवश्यकता न पड़ेगी । आप समझते होंगे, इस श्लोकसे मुक्तिको ही सर्वश्रेष्ठता प्राप्त हो जाती है ।' यह बात नहीं है । भगवान् व्यासदेव स्वयं ही भगवत्-पादसेवनको मुक्तिसे भी बढ़कर बताते हैं । जैसा कि इस श्लोकमें कहा है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥†
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३)

* ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—

हे भगवन् ! जो पुरुष तुम्हारी कृपाकी बाट जोहता हुआ अनासक्तभावसे अपने कर्मोंका जैसा भी प्राप्त हो वैसा फल भोगता हुआ तथा शरीर, वाणी और मनसे तुम्हारी वन्दनादि भक्ति करता हुआ जीवन बिताता है । अन्तमें [जिस प्रकार पिताकी कृपासे पुत्र उसके धनका स्वामी होता है, उसी प्रकार] वह पुरुष मुक्तिफलका भागी होता है ।

† भगवान्‌में भक्ति करनेवाले भक्तजन सालोक्य (मेरे साथ मेरे लोकमें रहना), सार्ष्टि (मेरे समान ऐश्वर्य भोगना), सामीप्य (मेरी सन्निधिमें

यानी भक्त तो भगवत्-सेवाके सामने मुक्तितककी उपेक्षा कर देते हैं। इस सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेवाले भगवान् व्यासदेव समस्त साधकोंकी स्थितिका नाम 'मुक्ति' कैसे कथन कर सकते हैं।

इस श्लोकमें 'मुक्ति-पद' ऐसा पाठ है। इसका अर्थ हुआ 'मुक्तिः पदे यस्य स मुक्तिपदः' अर्थात् मुक्ति है पैरमें जिसके ऐसे श्रीकृष्ण भगवान्को प्राप्त होता है। अर्थात् मुक्ति है पूर्वपदमें जिनके ऐसे नौवें पदार्थसे आगे दशवें पदार्थ अर्थात् श्रीकृष्णको प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें दस पदार्थोंका वर्णन है जैसा कि निम्न श्लोकोंमें वर्णन है—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥
दशमस्य विशुद्धार्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥

(२।१०।१-२)

अर्थात् श्रीमद्भागवतमें सर्ग, विसर्ग, स्थिति, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईश-कथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दसोंका वर्णन है। इनमें दसवाँ विषय जो सबके आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण हैं उन्हींके तत्त्वज्ञानके निमित्त महात्मा पुरुष यहाँ इन सर्गादि नौ लक्षणोंका स्वरूप वर्णन करते हैं। जिनमें श्रुतिके द्वारा स्तुति आदिसे प्रत्यक्ष वर्णन करते हैं और भाँति-भाँतिके आख्यान कहकर अन्तमें तात्पर्यरूपसे भी उसीका वर्णन करते हैं। सारांश यही कि चाहे तो देवता आदिके द्वारा 'तू ही सबका आश्रय है,' यह कहकर उनका वर्णन किया हो, या अम्बरीष

रहना), सारूप्य (मेरे समान रूप होना) और एकत्व (मेरेमें ही मिल जाना) ये पाँच प्रकारकी मुक्ति मैं उन्हें दूँ, तो भी मेरी सेवाको छोड़कर इनकी इच्छा नहीं करते।

आदिकी कथा कहकर अन्तमें यह तात्पर्य निकालो, कि बिना भगवत्-शरण प्राप्त किये कल्याण नहीं। कैसे भी कहा जाय। सर्वत्र उसी दसवें 'आश्रयभूत' श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रीति होनेके ही निमित्त श्रीमद्भागवतकी रचना हुई है। इसलिये 'मुक्तिपद' वे ही श्रीकृष्ण भगवान् हो सकते हैं। यहाँ सार्ष्टि, सामीप्यादि मुक्तिसे तात्पर्य नहीं है।

सार्वभौमने कहा—'प्रभो ! मुझे तो आपकी इस व्याख्यासे सन्तोष हो गया और यही यहाँ मुक्तिपद शब्दका भाव होगा। किन्तु सब लोग तो प्रचलित अर्थमें ही मुक्तिपदका अर्थ करेंगे। इसलिये मुझे भक्तिपाठ ही सुन्दर प्रतीत होता है।

प्रभुने हँसकर कहा—'यह तो मैंने वैसे ही वाग्विनोदके निमित्त पदोंकी खींचा-तानी करके ऐसा अर्थ किया है। वास्तवमें तो मुक्तिपदका अर्थ संसारी सभी बन्धनोंसे मुक्त होना ही है। संसारके बन्धनोंसे मुक्त होनेपर प्रभुपदके अतिरिक्त उसे दूसरा कोई आश्रय ही नहीं। बन्धन छूटना चाहिये फिर चाहे उसीके बनकर उसके पादपद्मोंमें लोट लगाते रहो या उसीमें घुलमिल जाओ। सब एक ही बात है। उनके चरणोंका आश्रय पकड़ना ही मुख्य है। इस प्रकारकी शब्दोंकी खींचा-तानीमें क्या रक्खा है ? ऐसी खींचा-तानी तो पक्षपाती पुरुष अपने पक्षको सिद्ध करनेके निमित्त किया करते हैं। जिसे श्रीकृष्णके चरणोंसे ही प्रेम करना है उसे पक्षपातसे क्या प्रयोजन ?'

प्रभुके ऐसे उपदेशको सुनकर सार्वभौम भट्टाचार्यको बड़ी शान्ति हुई और वे प्रभुको प्रणाम करके अपने घरको चले गये।

दक्षिण-यात्राका विचार

कति न विहितं स्तोत्रं काकुः कतीह न कल्पिता
कति न रचितं प्राणत्यागादिकं भयदर्शनम्।
कति न रुदितं धृत्वा पादौ तथापि स जग्मिवान्
प्रकृतिमहतां तुल्यौ स्यातामनुग्रहनिग्रहौ॥*

(चैतन्यचन्द्रोदयनाटक अङ्क ७।२)

सचमुच महापुरुषोंका स्वभाव बड़ा ही विलक्षण होता है। इनके सभी काम, सभी चेष्टाएँ, सभी व्यवहार लोकोत्तर ही होते हैं। इनमें सभी वैषम्य गुणोंका समावेश पाया जाता है। इनका हृदय अत्यन्त ही प्रेममय होता है। एक बार जिसके ऊपर इनकी कृपा हो गयी, जिसने एक क्षणको भी इनकी प्रसन्नता प्राप्त कर ली, बस, समझो कि सम्पूर्ण जीवनपर्यन्त उसके लिये इन महापुरुषोंके हृदयमें स्थान हो गया। इनका प्रणय स्थायी होता है। और कभी किसीपर दैववशात् इन्हें क्रोध भी आ गया तो वह पानीकी लकीरके समान होता है, जिस समय आया उसी समय नष्ट हो गया। इतनेपर भी ये अपने जीवनको संगसे रहित

* महाराज प्रतापरुद्रसे सार्वभौम भट्टाचार्य कह रहे हैं—
मैंने कितनी स्तुति न की, कितना व्यंग न बोला, कितनी बार प्राण छोड़नेकी धमकी न दी और उनके चरण धरकर कितना नहीं रोया; परन्तु फिर भी वे चले ही गये। इसलिये महाराज! मेरी तो समझमें यह बात आयी है, कि जो स्वभावसे ही महान् पुरुष हैं उनके निग्रह और अनुग्रह दोनों ही समान हैं।

बनाये रहते हैं और त्यागकी मात्रा इनमें इतनी अधिक होती है, कि प्यारे-से-प्यारेको भी क्षणभरमें शरीरसे परित्याग कर सकते हैं। †

इन्हीं सब बातोंको तो देखकर महाकवि भवभूतिने कहा है— 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' अर्थात् ये पुष्पसे भी अधिक मुलायम होते हैं, भक्तोंकी तनिक-सी प्रार्थनापर पिघल जाते हैं और समय पड़नेपर कठोर भी इतने हो जाते हैं, कि वज्र भी इनके सामने अपनी कठोरतामें कम ठहरता है। ऐसे महापुरुषोंका जो अनुकरण करना चाहते हैं, उनके पीछे दौड़ना चाहते हैं, उनके व्यवहारोंकी नकल करना चाहते हैं वे पुरुष धन्यवादके पात्र तो अवश्य हैं, किन्तु ऐसे विरले ही होते हैं। इन स्वेच्छाचारी स्वच्छन्दगति महानुभावोंका अनुकरण या अनुसरण करना हँसी-खेल नहीं है। ये अपने निश्चयके सामने किसीके आग्रहकी, किसीकी अनुनय-विनयकी, किसीकी प्रार्थनाकी परवाह ही नहीं करते। जो निश्चय हो चुका सो हो चुका। साधारण लोगोंके स्वभावमें और महापुरुषोंके स्वभावमें यही तो अन्तर है, यही तो उनकी महानता है। इसीसे तो वे जगत्-वन्द्य बन सकते हैं।

महाप्रभुका हृदय जितना ही कोमलातिकोमल और प्रेमपूर्ण था उनका निश्चय उतना ही अधिक दृढ़, अटल और असन्दिग्ध होता था। वे अपने सत्यसंकल्पके सामने किसीकी परवाह नहीं करते थे। माघ मासके शुक्लपक्षमें कटवासे संन्यास-दीक्षा लेकर महाप्रभु श्रीअद्वैताचार्यके घर शान्तिपुर आये थे। वहाँ आठ या दस दिन रहकर फिर आपने पुरीके लिये प्रस्थान किया और मार्गके सभी पुण्य-तीर्थोंको पावन बनाते हुए

† आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः।
परित्यागाश्च निसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम्॥
(सु० र० भा० ४८। ४९)

फाल्गुन मासमें श्रीनीलाचलमें पहुँचे। वहाँपर फाल्गुन और चैत्र मासमें सार्वभौम भट्टाचार्यकी मौसीके घरमें भक्तोंके सहित प्रभुने निवास किया। उस समयतक पुरीमें प्रभुकी इतनी अधिक ख्याति नहीं हुई थी। नीलाचल बड़ा तीर्थक्षेत्र है, नित्यप्रति सैकड़ों साधु-महात्मा वहाँ आते-जाते रहते हैं, वहाँ कौन किसकी परवाह करता है। जब सार्वभौम भट्टाचार्य-जैसे प्रकाण्ड पण्डित प्रभुके पादपद्मोंके शरणापन्न हुए तब तो लोगोंका झुकाव कुछ-कुछ प्रभुकी ओर हुआ। वे परस्पर एक दूसरेसे प्रभुके सम्बन्धमें आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। संसारी लोगोंका स्वभाव होता है, कि वे जहाँतक हो सकता है किसीको बढ़ने नहीं देते, उसकी निन्दा करके, उसे चिढ़ाके अथवा संसारी प्रलोभन देकर शक्तिभर नीचे ही गिरानेका प्रयत्न करते हैं। वे जबतक पूर्णरीत्या विवश नहीं हो जाते तबतक किसीकी मान-प्रतिष्ठा अथवा पूजा-अर्चा नहीं करते। जब उसके असह्य तेजको सहन करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तो अन्तमें उन्हें उसकी प्रतिष्ठा करनेके लिये विवश हो जाना पड़ता है और फिर वे उसकी पूजा-प्रतिष्ठा और प्रशंसा किये बिना रह ही नहीं सकते। महाप्रभु जनसंसदिसे पृथक्, एकान्तमें, बिना किसी प्रदर्शनके गोप्य भावसे भक्तोंके सहित रहते थे। किन्तु कूड़ेके अन्दर छिपी हुई अग्नि कबतक अप्रकट रह सकती है? धीरे-धीरे लोग महाप्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगे। तभी महाप्रभुने दक्षिण देशके तीर्थोंमें परिभ्रमण करनेका विचार किया। उनकी इच्छा थी, कि संन्यासीके धर्मके अनुसार हमें कुछ कालतक देश-विदेशोंमें भ्रमण करना चाहिये। यही प्राचीन ऋषि-महर्षियोंका सनातन-आचार है। यह सोचकर प्रभुने अपनी इच्छा भक्तोंपर प्रकट की। सभी प्रभुके इस निश्चयको सुनकर अवाक् रह गये। उनमेंसे नित्यानन्दजी बोल उठे—'प्रभो! आप तो यह निश्चय करके आये थे, कि हम नीलाचलमें ही

सभी भक्तोंको भी आप इसी प्रकारका आश्वासन दे आये थे, किन्तु अब आप यह कैसी बातें कर रहे हैं ? आपके सभी कार्य अलौकिक होते हैं। आप क्या करना चाहते हैं, इसे कोई नहीं जान सकता ! आपके मनोगत भावोंको समझ लेना मानवीय-बुद्धिके परेकी बात है। आप सर्वसमर्थ हैं, जो चाहे सो करें, किन्तु पुरी-जैसे परमपावन क्षेत्रको परित्याग करके आप दक्षिणकी ओर क्यों जाना चाहते हैं ?'

महाप्रभुने कुछ सोचकर कहा—'हमारे ज्येष्ठ बन्धु महामहिम विश्वरूपजी दक्षिण-देशकी ही ओर गये थे, मैं उधर जाकर उनकी खोज करूँगा। संन्यास लेकर उनकी खोज करना मेरा सर्वप्रधान कर्तव्य है।'

कुछ दुःखकी सूखी हँसी हँसते हुए दामोदर पण्डितने कहा— 'भाईको खोजनेके लिये जा रहे हैं, इसे तो हम खूब जानते हैं, यह तो आपका बहानामात्र है। यथार्थ बात तो कुछ और ही है। मालूम होता है, दक्षिण-देशको पावन करनेकी इच्छा है सो हम मना थोड़े ही करते हैं। और मना करें भी तो आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, किसीकी मानेंगे थोड़े ही।'

दामोदर पण्डितकी बात ठीक ही थी। महाप्रभुके अग्रज विश्वरूपने संन्यास ग्रहण करनेके दो वर्ष बाद पूनाके पास पण्ढरपुरमें इस शरीरको त्याग दिया था, यह बात भक्तोंको विदित थी। प्रसिद्ध पद-कर्त्ता वासुदेव घोष उस समय वहीं पण्ढरपुरमें ही उपस्थित थे। उन्होंने भक्तोंको आकर यह समाचार सुनाया भी था। महाप्रभुने आजतक यह समाचार न सुना हो, यह सम्भव नहीं। कुछ भी हो, विश्वरूपके ढूँढ़नेको उपलक्ष्य बनाकर वे दक्षिण-देशको अपनी पद-धूलिसे पावन करना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने ऐसा निश्चय किया। नित्यानन्दजीने कुछ रुँधे हुए कण्ठसे कहा—'प्रभो !

हम आपकी इच्छाके विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं कर सकते। किन्तु हमारी यही प्रार्थना है कि हमलोगोंको अपने साथ ही ले चलें। हमारा परित्याग न करें।'

प्रभुने गम्भीरतापूर्वक कहा—'मेरे साथ कोई नहीं चल सकता। मैं भीड़-भाड़के साथ यात्रामें न जा सकूँगा। अकेले ही तीर्थ-भ्रमण करूँगा।'

अत्यन्त ही दीनभावसे नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो! हम आपके किसी कार्यमें हस्तक्षेप नहीं करते। हमारे साथ रहनेसे आपको क्या असुविधा हो सकती है? यदि सबको साथ ले चलना आप उचित न समझते हों, तो मुझे तो साथ लेते ही चलिये। मैंने दक्षिणके सभी तीर्थोंकी यात्रा की है। सभी स्थान, सभी रास्ते, सभी तीर्थ और देवालय मेरे देखे हुए हैं। मेरे साथ रहनेसे आपको किसी भी प्रकारका विक्षेप न होगा।'

महाप्रभुने कुछ बनावटी उदासीनता-सी प्रकट करते हुए व्यंगके साथ कहा—'श्रीपाद! आप मेरे ऊपर वैसे ही कृपा बनाये रखें। आपको साथ लेकर तो मैं यात्रा कर चुका। आपका प्रगाढ़ स्नेह मुझे आगे बढ़ने ही न देगा। आप मुझे जो समझते हैं, वास्तवमें वह मैं हूँ नहीं। इसीलिये मेरे और आपके बीचमें यह बड़ा भारी मतभेद है। शान्तिपुरसे यहाँतक आनेमें ही आपने मुझे तंग कर दिया। मेरे दण्डको आपने तोड़कर फेंक दिया, मुझे धर्म-भ्रष्ट करनेमें ही आपको मजा मिलता है, इसलिये आपको साथ ले जाना मेरी शक्तिसे बाहरकी बात है।'

इतनेमें ही दामोदर पण्डित बोल उठे—'अच्छा, प्रभो! मैं तो कुछ नहीं कहता। मुझे ही साथ ले चलिये। शेष इन तीनोंको लौटा दीजिये।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'गुरु महाराज! आपकी तो दूरसे ही चरणवन्दना करनी चाहिये। अभीतक मैं आपके कठोर नियमवाले स्वभावसे एकदम अपरिचित था। वैसे कहनेके लिये तो मैंने संन्यास धारण कर लिया है, किन्तु भगवत्-भक्त प्रेमियोंकी उपेक्षा मुझसे अब भी

नहीं की जाती। उनके प्रेमके पीछे मैं नियम-उपनियमोंको अपने-आप ही भूल-सा जाता हूँ। आप इससे समझते हैं कि मैं धर्म-विरुद्ध काम करता हूँ। आप कठोर नियमोंके बन्धनमें ही मुझे जकड़े रहनेका उपदेश किया करते हैं। मुझे शरीरका भी तो होश नहीं रहता, फिर आपके कर्कश और कठोर नियमोंका पालन मैं किस प्रकार कर सकूँगा। इसलिये आप मेरे स्वतन्त्र व्यवहारको देखकर सदा मुझे टोकते रहेंगे—यह मेरे लिये असह्य होगा। इसलिये मैं अकेला ही जाऊँगा।'

धीरे-से डरते-डरते जगदानन्दजीने पूछा—'प्रभो! यह तो हम आपकी बातोंके ढंगसे ही समझ गये कि आप किसीको भी साथ न ले जायँगे। किन्तु जब प्रसङ्ग छिड़ ही गया है, तो मैं भी जानना चाहता हूँ कि मेरा परित्याग किस दोषके कारण किया जा रहा है?'

प्रभुने जोरोंसे हँसते हुए कहा—'और किसीको तो साथ ले भी जा सकता हूँ, किन्तु जगदानन्दजीको साथ ले जाना तो मैं कभी भी पसन्द न करूँगा। जबतक इनकी इच्छाके अनुसार मैं व्यवहार करता रहूँ, तबतक तो ये प्रसन्न रहते हैं, जहाँ इनके मनोभावोंमें तनिक-सी भी ठेस लगी कि ये फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। इनकी मनोवाञ्छाको पूर्ण करना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है। इनके मनोनुकूल बर्ताव करनेसे तो मैं संन्यासधर्मका पालन कर ही नहीं सकता। ये मुझे खूब बढ़िया पदार्थ खाते देखकर सुखी होते हैं, मुझे अच्छे वस्त्रोंमें देखना चाहते हैं। मैं खूब सुन्दर शय्यापर शयन करूँ तब ये प्रसन्न होते हैं। मैं संन्यासधर्मके विरुद्ध संसारी विषयोंका उपभोग कभी कर नहीं सकता। इसलिये इनके साथसे तो मैं अकेला ही अच्छा हूँ।'

इतना कहकर प्रभु मुकुन्दके मुखकी ओर देखने लगे। मुकुन्द चुपचाप बैठे थे, उनकी आँखोंमें लबालब जल भरा हुआ था, किन्तु वह

बाहर नहीं निकलता था। प्रभुकी ममताभरी चितवनसे वह जल अपने-आप ही आँखोंकी कोरोंद्वारा बहने लगा। प्रभुने ममत्व प्रदर्शित करते हुए कहा—'कहो, तुम भी अपना दोष सुनना चाहते हो?'

महाप्रभुके पूछनेपर भी मुकुन्द चुपचाप ही अश्रु बहाते रहे, उन्होंने प्रभुकी बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब नित्यानन्दजीकी ओर देखते हुए प्रभु कहने लगे—'मुकुन्दका स्वभाव बड़ा ही कोमल है, स्वयं तो ये भारी कष्टसहिष्णु हैं, किन्तु दूसरोंके कष्टको नहीं देख सकते। विशेषकर मेरे शरीरके कष्टसे तो ये क्षुभित हो उठते हैं। इन्हें मेरे संन्यासके नियमोंकी कठोरता असह्य मालूम पड़ती है। ये मेरे पैदल भ्रमण, कम वस्त्रोंमें निर्वाह, त्रिकाल-स्नान, भिक्षान्नसे उदरपूर्ति और जहाँ स्थान मिल गया वहीं पड़ रहनेवाले नियमोंसे मन-ही-मन दुखी रहते हैं। यद्यपि ये मुखसे कुछ भी नहीं कहते, किन्तु इनके मनोगत भाव मुझसे छिपे नहीं रहते। इनके मानसिक दुःखसे मुझे भी क्लेश होता है। मैं अपने नियमोंको छोड़ न सकूँगा, ये अपने कोमल स्वभावको कठोर बना न सकेंगे, इसलिये इन्हें साथ ले जाना मेरे लिये असम्भव है।'

इन सब बातोंको सुनकर नित्यानन्दजीने कुछ खिन्न मनसे कहा—'प्रभो! आपकी इच्छाके विरुद्ध करनेकी सामर्थ्य ही किसमें है, किन्तु मेरी एक अन्तिम प्रार्थना है, इसके लिये मैं बार-बार चरणोंमें प्रार्थना करता हूँ कि इसे आप अवश्य स्वीकार करेंगे।'

प्रभुने अत्यन्त ही ममता प्रदर्शित करते हुए कहा—'श्रीपाद! आप यह कैसी बात कह रहे हैं। आप तो मेरे पूज्यमान और गुरुतुल्य हैं। आपकी आज्ञाका मैं कभी उल्लंघन कर सकता हूँ? आप सूत्रधार हैं, मैं तो आपका नृत्य करनेवाला पात्र हूँ, जैसे नचाना चाहेंगे, वैसे ही नाचूँगा। बताइये, क्या कहते हैं?'

नित्यानन्दजीने अत्यन्त ही करुण स्वरमें कहा—'आप अकेले ही यात्रामें जायँगे, इससे हमें असह्य दुःख होगा। हममेंसे किसीको आप साथ ले जाना न चाहें तो ये कृष्णदास नामके ब्राह्मण हैं, कटवाके समीप ही इनका जन्म-स्थान है। ये स्वभावके बड़े ही सरल हैं। सेवा करनेमें बड़े ही प्रवीण हैं। प्रभुके पादपद्मोंमें इनका दृढ़ अनुराग है। ये साथमें रहकर प्रभुकी सब प्रकारकी सेवा करेंगे। आप जब भावावेशमें आकर नृत्य करने लगेंगे तो वस्त्रोंको कौन सम्हालेगा। दोनों हाथोंसे ताली बजा-बजाकर तो आप रास्तेमें कीर्तन करते हुए चलेंगे, फिर जलपात्र, कथरी और लँगोटियोंको कौन सम्हालेगा? अतः हमारी यही प्रार्थना है कि कृष्णदासको साथ चलनेकी अवश्य अनुमति प्रदान कर दीजिये।'

नित्यानन्दजीके इस अन्तिम आग्रहको प्रभु टाल न सके। उन्होंने कृष्णदासको साथ चलनेकी अनुमति दे दी। इस कारण भक्तोंको कुछ-कुछ सन्तोष हुआ। सभीकी इच्छा थी कि प्रभु कुछ काल पुरीमें और निवास करें। किन्तु उनसे आग्रह करनेकी किसीमें हिम्मत नहीं थी। सभीने सोचा—'यदि सार्वभौम प्रभुके पैर पकड़कर प्रार्थना करेंगे, तो अवश्य ही कुछ दिन और रह जायँगे। इसलिये प्रभुको सार्वभौमके समीप ले चलना चाहिये।' यही सोचकर नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो! भट्टाचार्य सार्वभौमसे भी तो इस सम्बन्धमें परामर्श कर लेनी चाहिये, देखें वे क्या कहते हैं।' यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए प्रभुने कहा—'अच्छी बात है, चलिये, सार्वभौमसे भी इस सम्बन्धमें पूछ लें।' इतना कहकर प्रभु भक्तोंके सहित सार्वभौमके घरकी ओर चले।

दक्षिण-यात्राके लिये प्रस्थान

कथं ममाभून्न हि पुत्रशोकः
कथं ममाभून्न हि देहपातः।
विलोक्य युष्मच्चरणाब्जयुग्मं
सोढुं न शक्तोऽस्मि भवद्वियोगम्॥*
(चै० चरि०)

प्रभुने दक्षिण-यात्राका निश्चय कर लिया है और इस निश्चयमें किसी प्रकारका भी उलट-फेर न होगा, इसी बातको सोचते हुए भक्तवृन्द प्रभुके साथ-साथ सार्वभौम भट्टाचार्यके गृहपर पहुँचे। भक्तोंके सहित प्रभुको आते देखकर जल्दीसे उठकर भट्टाचार्यने प्रभुकी चरणवन्दना की,

---

* प्रभुके वियोग-दुःखको स्मरण करके सार्वभौम भट्टाचार्य कह रहे हैं—

हाय! मुझे पुत्रशोक प्राप्त क्यों नहीं हुआ? मेरा यह शरीर नष्ट क्यों नहीं हो गया? प्रभुके युगल पादपद्मोंका दर्शन करके अब इनके वियोगजन्य दुःखको सहन करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है।

सभी भक्तोंको प्रेमाभिवाद किया और सभीके बैठनेके लिये यथायोग्य आसन देकर धूप, दीप, नैवेद्यादि पूजनकी सामग्रीसे उन्होंने प्रभुकी पूजा की ।

कुछ समयतक तो भगवत्-सम्बन्धी कथा-वार्ता होती रही । अन्तमें प्रभुने कहा—'भट्टाचार्य महाशय ! मेरे ये धर्मबन्धु मुझे शान्तिपुरसे यहाँतक ले आये और इन्हींकी कृपासे मुझे पुरुषोत्तम भगवान्‌के दर्शन हुए । सुनते हैं तीर्थोंका फल कहीं कालान्तरमें मिलता है, किन्तु मुझे तो जगन्नाथजीके दर्शनोंका फल दर्शन करते ही प्राप्त हो गया । आप-जैसे महानुभावोंसे प्रेम होना कोटि तीर्थोंके फलस्वरूप ही है । आपसे साक्षात्कार होना मैं भगवान् पुरुषोत्तमके दर्शनोंका ही महाफल समझता हूँ । आपके सत्संगसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मेरा इतना समय खूब आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ । सम्भवतया आपको पता होगा कि मेरे एक ज्येष्ठ भ्राता विश्वरूप १६ वर्षकी ही अवस्थामें गृह-त्यागकर संन्यासी हो गये थे । ऐसा सुना जाता है कि वे दक्षिणकी ओर गये थे । मेरी इच्छा है कि मैं भी उनके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करके दक्षिण-देशकी यात्रा करूँ । इससे एक पन्थ दो काज होंगे । इसी बहानेसे दक्षिणके सभी तीर्थोंके दर्शन हो जायँगे और सम्भवतया विश्वरूपजीसे भी किसी-न-किसी तीर्थमें भेंट हो जायगी । अब आप मुझे दक्षिण जानेकी अनुमति प्रदान कीजिये ।'

इतना सुनते ही भट्टाचार्य सार्वभौम तो मर्माहत होकर कटे वृक्षकी भाँति बेहोश होकर भूमिपर गिर पड़े । उनकी दोनों आँखोंसे अश्रु बहने लगे । कुछ क्षणके पश्चात् सम्हलकर वे बड़े ही करुणस्वरमें कहने लगे—'प्रभो ! मैं समझता था कि मेरा सौभाग्यसूर्य अब उदय हो गया । अब मैं बड़भागी बन चुका । अब मुझे प्रभुकी संगतिका निरन्तर

ही सौभाग्य प्राप्त होता रहेगा, किन्तु हृदयको बेधनेवाली इस विचित्र बातको सुनकर तो मेरे दुःखका पारावार नहीं रहा। अत्यन्त दरिद्रावस्थासे जिस प्रकार कोई राजा बन गया हो और थोड़े ही दिनोंमें उसे राज्य-सिंहासनसे गिराकर फिर दीनहीन कंगाल बना दिया जाय। ठीक वही दशा आज मेरी हो गयी। प्रभो! आप मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र न जायँ। यदि कहीं जाना ही हो, तो मुझे भी साथ लेते चलें। मैं आपके पीछे, अपने कुटुम्ब, परिवार तथा पदप्रतिष्ठा सभीको छोड़नेके लिये तैयार हूँ।'

प्रभुने सार्वभौमको धैर्य बँधाते हुए कहा—'भट्टाचार्य महाशय! जब आप इतने विद्वान् और समझदार होकर इस प्रकारकी भूली-भूली-सी बातें करेंगे, तो फिर अन्य लोगोंकी तो बात ही क्या है? आप धैर्य धारण करें। मैं शीघ्र ही यात्रा समाप्त करके यहीं लौटकर आ जाऊँगा।'

भट्टाचार्यने कहा—'प्रभो! आपके लौटनेतक क्या हो, इस बातका किसे पता है। यह जीवन क्षणभंगुर है। आप मुझे निराश्रित छोड़कर अकेले न जाइये।'

प्रभुने प्रेमपूर्वक कहा—'ये भक्त मेरी अनुपस्थितिमें यहीं रहेंगे। आप सब मिलकर कृष्णकीर्तन करते रहिये। मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा। आप प्रसन्न होकर मुझे अनुमति प्रदान कीजिये।'

कुछ विवशता प्रकट करते हुए शोकके स्वरमें भट्टाचार्यने कहा—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, आपकी इच्छाके विरुद्ध बर्ताव करनेकी शक्ति ही किसमें है? आप दक्षिण-देशके तीर्थोंकी यात्रा करनेके निमित्त अवश्य ही जायँगे, किन्तु मेरी हार्दिक इच्छा है कि कुछ काल यहाँ और रहकर मेरी सेवा स्वीकार कीजिये।'

भक्तवत्सल गौराङ्ग अपने परमप्रिय कृपापात्र सार्वभौम भट्टाचार्यके इस अनुरोधकी उपेक्षा न कर सके। वे पाँच दिनोंतक भट्टाचार्यकी सेवाको स्वीकार करके पुरीमें ही रहे और नित्यप्रति भट्टाचार्यके ही घर उनकी प्रसन्नताके निमित्त भिक्षा करते रहे। भट्टाचार्यकी पत्नी भाँति-भाँतिके सुस्वादु पदार्थ बना-बनाकर प्रभुको भिक्षा कराती थीं। इस प्रकार पाँच दिनोंतक भट्टाचार्यके घर भिक्षा करके और उनके चित्तको सन्तुष्ट बनाकर प्रभुने दक्षिण-यात्राकी तैयारियाँ कीं।

प्रातःकाल प्रभु भक्तोंके सहित उठकर नित्य-कर्मसे निवृत्त हुए। उसी समय अपने दो-चार प्रधान शिष्योंके सहित सार्वभौम भट्टाचार्य प्रभुके स्थानपर आ पहुँचे। प्रभु उन अपने सभी भक्तोंके सहित श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये गये। मन्दिरमें जाकर प्रभुने श्रद्धा-भक्तिके सहित भगवान्के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनसे दक्षिण-यात्राकी अनुमति माँगी। उसी समय पुजारीने भगवान्की प्रसाद-माला और प्रसादान्न लाकर प्रभुको दिया। प्रभुने इसे ही भगवत्-आज्ञा समझकर प्रसादको शिरोधार्य किया और मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हुए प्रभु सभी भक्तोंके सहित समुद्र-तटपर पहुँचे। प्रभु भट्टाचार्यसे बार-बार लौट जानेका आग्रह कर रहे थे, किन्तु भट्टाचार्य लौटते ही नहीं थे। तब तो प्रभु अत्यन्त ही दुःखित होकर वहाँ बैठ गये और सार्वभौमको भाँति-भाँतिसे समझाने लगे। सार्वभौम चुपचाप बैठे प्रभुकी बातें सुन रहे थे।

रोते-रोते भट्टाचार्यने कहा—'प्रभो! आप दक्षिणकी ओर तो जा ही रहे हैं। रास्तेमें गोदावरीके तटपर विद्यानगर नामकी एक बड़ी राजधानी पड़ेगी। वह राज्य उत्कल-राज्यके ही अन्तर्गत है। वहाँका राज्यशासन यहींके राजा रामानन्दराय करते हैं। वे वैसे जातिके तो

कायस्थ हैं, किन्तु हैं बड़े भगवत्-भक्त। उनकी वैष्णवता श्लाघनीय ही नहीं, साधारण लोगोंके लिये अनुकरणीय भी है। उन्हें आप अपने दर्शन देकर अवश्य कृतार्थ करते जायँ। सांसारिक विषयी पुरुष समझकर उनकी उपेक्षा न करें।'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे स्नेहके स्वरमें कहा—'भट्टाचार्य महोदय! भला, जिनके लिये आपके हृदयमें इतना स्थान है, वे महाभाग चाहे चाण्डाल ही क्यों न हों, मेरे वन्दनीय हैं। आपकी जिनके ऊपर इतनी कृपा है वे अवश्य ही कोई परमभागवत भगवद्भक्त वैष्णव होंगे। मैं उनके दर्शन करके अपनेको अवश्य ही कृतार्थ करूँगा। अब आप अपने घरको लौट जायँ।'

लौटनेका नाम सुनते ही फिर भट्टाचार्य विकल हो गये, उन्होंने रोते-रोते प्रभुके पैर पकड़ लिये और अपने मस्तकको उनसे रगड़ते हुए कहने लगे—'पता नहीं, अब कब इन अरुण चरणोंके दर्शन होंगे।' प्रभुने दुःखित मनसे भट्टाचार्यका आलिङ्गन किया। प्रभुके कमलनयन भी सजल बने हुए थे। भट्टाचार्य प्रभुका प्रेमालिङ्गन पाते ही मूर्छित हो गये, प्रभु उन्हें ऐसी ही अवस्थामें छोड़कर जल्दीसे आगे चले गये और भट्टाचार्य दुःखित मनसे सर्वस्व गँवाये हुए व्यापारीकी भाँति अपने घर लौट आये।

इधर प्रभु जल्दी-जल्दी समुद्रके किनारे-किनारे आगेकी ओर बढ़ रहे थे, वे भक्तोंसे बार-बार लौटनेका आग्रह कर रहे थे, किन्तु भक्त लौटते ही नहीं थे, इसी प्रकार 'अब लौटेंगे, अब लौटेंगे' कहते हुए नित्यानन्द प्रभृति भक्तोंके सहित प्रभु अलालनाथ पहुँचे।

अलालनाथ पहुँचनेपर बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंके लिये वहाँ आकर एकत्रित हो गये। इतनेमें ही गोपीनाथाचार्य प्रभुके लिये चार

कौपीन, एक काषाय रंगका बहिर्वास (ओढ़नेका वस्त्र) और भगवान्‌का महाप्रसाद लेकर अलालनाथमें आ पहुँचे। नित्यानन्दजी प्रभुको लोगोंसे दूर हटाकर समुद्र-किनारे ले गये और वहाँसे स्नान कराकर मन्दिरमें ले आये। मन्दिरमें आकर भक्तोंने प्रभुको प्रसादान्नका भोजन कराया। प्रभुने बड़े ही स्नेहके साथ गोपीनाथाचार्यके लाये हुए महाप्रसादान्नका भोजन किया। प्रभुके भोजन कर लेनेके अनन्तर सब भक्तोंने भी भोजन किया और वह रात्रि प्रभुने वहीं कथा-कीर्तन और भगवत्-चिन्तन करते हुए भक्तोंके साथ बितायी।

प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होकर प्रभुने आगे चलनेका विचार किया। भक्तोंसे अब प्रभुने आग्रहपूर्वक लौट जानेके लिये कहा। प्रभुके वियोगका स्मरण करके सभीका हृदय फटने लगा। सभी प्रेममें बेसुध होकर रुदन करने लगे। प्रभुने उन रोते हुए भक्तोंको एक-एक करके आलिङ्गन किया। सभी मूर्छित होकर प्रभुके पैरोंमें लोटने लगे। प्रभु उन सबको रोते ही छोड़कर आगेको चले गये। पीछे-पीछे काला कृष्णदास प्रभुके कमण्डलु तथा वस्त्रोंको लेकर चल रहे थे। आगे-आगे भक्त गजेन्द्रकी भाँति श्रीकृष्ण-प्रेममें छके हुए प्रभु निर्भयभावसे चले जा रहे थे। रास्तेमें वे भगवान्‌के इन नामोंका कीर्तन करते जाते थे—

कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! हे।
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! हे॥
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! रक्ष माम्।
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! पाहि माम्॥
राम राघव! राम राघव! राम राघव! रक्ष माम्।
कृष्ण केशव! कृष्ण केशव! कृष्ण केशव! पाहि माम्॥

वासुदेव कुष्ठीका उद्धार

धन्यं तं नौमि चैतन्यं वासुदेवं दयार्द्रधीः ।
नष्टकुष्ठं रूपपुष्टं भक्तितुष्टं चकार यः ॥*

(श्रीचैत० चरिता० म० ली० ७ । १)

जीवनमें मस्ती हो, संसारी लोगोंके मानापमानकी परवा न हो, किसी नियत स्थानमें नियत समयपर पहुँचनेका दृढ़ संकल्प न हो और किसी विशेष स्थानमें ममत्व न हो; बस, तभी तो यात्रामें मजा मिलता है। ऐसे यात्रीका जीवन स्वाभाविक ही तपोमय जीवन होगा

---

* जिन्होंने दयार्द्र होकर वासुदेव नामक भक्तके गलित कुष्ठको नष्ट करके उसे सुन्दर रूप प्रदान किया और भगवद्भक्तिसे तुष्ट बना दिया ऐसे स्वनामधन्य श्रीचैतन्यदेवको हम प्रणाम करते हैं ।

और प्राणिमात्रके प्रति उसके हृदयमें प्रेम तथा ममताके भाव होंगे। असलमें तो ऐसे ही लोगोंकी यात्रा सफल-यात्रा कही जा सकती है। ऐसे यात्री नरदेहधारी नारायण हैं, उनकी पदधूलिसे देश पावन बन जाते हैं। पृथिवी पवित्र हो जाती है। तीर्थोंकी कालिमा धुल जाती है और रास्तेके किनारेके नगरवासी स्त्री-पुरुष कृतार्थ हो जाते हैं। माँ वसुन्धरे! अनेक रत्नोंको दबाये रहनेसे तुझे इतना सुख कभी न मिलता होगा जितना कि इन सर्वसमर्थ ईश्वरोंके पदाघातसे। तीर्थोंका तीर्थत्व जो अभी-तक ज्यों-का-त्यों ही अक्षुण्ण बना हुआ है, इसका सर्वप्रधान कारण यही है कि ऐसे महानुभाव तीर्थोंमें आकर अपने पादस्पर्शसे तीर्थोंमें एकत्रित हुए पापोंको भस्म कर देते हैं, जिससे तीर्थ फिर ज्यों-के-त्यों ही निर्मल हो जाते हैं।

महाप्रभु चैतन्यदेव दक्षिणकी ओर यात्रा कर रहे थे। वे जिस ग्राममें होकर निकलते उसीमें उच्च स्वरसे भगवन्नामोंका घोष करते। उन हृदयग्राही सुमधुर भगवन्नामोंको प्रभुकी चित्ताकर्षक मनोहर वाणी-द्वारा सुनकर ग्रामोंके झुण्ड-के-झुण्ड स्त्री-पुरुष आ-आकर प्रभुको घेर लेते। महाप्रभु उनके बीचमें खड़े होकर कहते—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल।
मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

प्रभुके स्वरमें स्वर मिलाकर छोटे-छोटे बच्चे ताली बजा-बजाकर जोरोंके साथ नाचते हुए कहने लगते—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल।
मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

बच्चोंके साथ बड़े भी गाने लगते और बहुत-से तो पागलोंकी तरह नृत्य ही करने लगते। इस प्रकार प्रभु जिधर होकर निकलते उधर

ही श्रीहरिनामकी गूँज होने लगती। इस प्रकार पथके असंख्य स्त्री-पुरुषोंको पावन करते हुए प्रभु कूर्माचल या कूर्मम् स्थानमें पहुँचे। यह तीर्थस्थान आन्ध्रदेशके अन्तर्गत गञ्जाम-जिलेमें अवस्थित है। कहते हैं कि पूर्वकालमें जगन्नाथजी जाते हुए भगवान् रामानुजाचार्य यहाँ ठहरे थे। पहले तो उन्हें कूर्मभगवान्की मूर्ति शिवरूपसे प्रतीत हुई और पीछे उन्होंने विष्णुरूप समझकर कूर्मभगवान्की सेवा की। पीछेसे यह स्थान माध्वसम्प्रदायवाले महात्माओंके अधिकारमें आ गया। दक्षिण-देशमें इस तीर्थकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा है। प्रभुने मन्दिरमें पहुँचकर कूर्मभगवान्के दर्शन किये और वे आनन्दमें विह्वल होकर नृत्य करने लगे। प्रभुके अलौकिक नृत्यको देखकर कूर्मनिवासी बहुत-से नर-नारी वहाँ एकत्रित होकर प्रभुके देवदुर्लभ दर्शनोंसे अपने नेत्रोंको सार्थक करने लगे। प्रभु बहुत देरतक भावावेशमें आकर नृत्य और कीर्तन करते रहे।

जब बहुत देरके अनन्तर प्रभु वहीं नृत्य करते-करते बैठ गये तब उन दर्शकोंमेंसे 'कूर्म'नामका एक सदाचारी वैष्णव ब्राह्मण प्रभुके समीप आया और प्रभुको प्रणाम करके उसने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए निवेदन किया—'भगवन्! आपके दर्शनोंसे आज हम सभी पुरवासी कृतार्थ हुए। आप-जैसे महापुरुष यदा-कदा ही ऐसे तीर्थोंको अपनी पदधूलिसे पावन बनानेके लिये पधारते हैं। लोकके कल्याणके ही निमित्त आप-जैसे सन्त-महात्माओंका देशाटन होता है। गृहस्थियोंके घरोंको पावन करना ही आपकी यात्राका प्रधान उद्देश्य है। मैं अत्यन्त ही निर्धन, दीन-हीन-कंगाल ब्राह्मण बन्धु हूँ। भगवन्! यदि अपनी चरणरजसे मेरे घरको पावन बना सकें, तो मेरे ऊपर अत्यन्त ही अनुग्रह हो! नाथ! मैं आपके चरणोंमें सिरसे प्रणाम करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरी इस प्रार्थनाको अवश्य ही स्वीकार करें।'

प्रभुने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'विप्रवर! आप कैसी बातें कह रहे हैं। ब्राह्मण तो साक्षात् श्रीहरिके मुख हैं, आप-जैसे विनयी वैष्णव ब्राह्मणका आतिथ्य ग्रहण करनेमें तो मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। जो भगवत्-भक्त हैं, साधु-सन्तोंमें श्रद्धा रखते हैं, जिन्हें अतिथियोंकी सेवा करनेमें सुख प्रतीत होता है, ऐसे भक्तोंके घरका प्रसादान्न ग्रहण करनेसे अतिथि भी पवित्र बन जाता है। ऐसे आतिथ्यसे अतिथि और आतिथ्य करनेवाला दोनों ही धन्य हो जाते हैं। इसलिये मैं आपका आतिथ्य अवश्य ही ग्रहण करूँगा।'

प्रभुके मुखसे निमन्त्रणकी स्वीकृति सुनकर वह ब्राह्मण आनन्दके कारण व्याकुल-सा हो उठा। वह उसी समय अस्तव्यस्तभावसे अपने घर गया और अपनी ब्राह्मणीसे कहकर उसने महाप्रभुके लिये भाँति-भाँतिके उत्तमोत्तम पदार्थ बनवाये। पतिप्राणा सती-साध्वी ब्राह्मणीने बात-की-बातमें नाना भाँतिके व्यञ्जन बनाकर पतिसे प्रभुको बुला लानेका अनुरोध किया। भोजनोंको तैयार देखकर ब्राह्मण जल्दीसे प्रभुको बुला लाया। घरपर आते ही उसने अपने हाथोंसे प्रभुके पादपद्मोंको पखारा और उस पादोदकको स्वयं पान किया तथा परिवारभरको पिलाया। इसके अनन्तर सुन्दर-से आसनपर प्रभुको बिठाकर धीरे-धीरे भगवान्का प्रसाद ला-लाकर प्रभुके सामने रखने लगा। उन प्रेममें पगे हुए भाँति-भाँतिके सुन्दर, सुस्वादु पदार्थोंको देखकर और उनके ऊपर सुन्दर तुलसीमञ्जरीको अवलोकन करके प्रभु अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और श्रीहरिका स्मरण करते हुए उन्होंने प्रसाद पाया।

प्रभुके प्रसाद पा लेनेपर ब्राह्मणने दूसरी ओर प्रभुके विश्रामकी व्यवस्था कर दी और प्रभुके अवशेष अन्नको प्रसाद समझकर ब्राह्मणने अपने सम्पूर्ण परिवारके सहित उस अन्नको ग्रहण किया। महाप्रभु एक

ओर विश्राम कर रहे थे, कूर्म ब्राह्मण धीरे-धीरे प्रभुके पैरोंको दबाने लगा। पैरोंको दबाते-दबाते उसने कहा—'प्रभो! यह गृहस्थका जंजाल तो बड़ा ही बुरा है। इसमें रहकर भगवत्-चिन्तन हो ही नहीं सकता। अब तो मैं इस मायाजालसे बहुत ही ऊब गया हूँ। अब मेरा जैसे भी समझें, उद्धार कीजिये और अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये, यही श्रीचरणोंमें विनम्र प्रार्थना है।'

प्रभुने ब्राह्मणके प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—'विप्रवर! भगवत्-सेवा समझकर ही तुम घरके सभी कामोंको करते रहो। घरमें रहकर ही कृष्णकीर्तन करो और अन्य लोगोंको भी इसका उपदेश करो। मैं दक्षिणकी यात्रा समाप्त करके जबतक पुरीकी ओर लौटकर न आऊँ, तबतक तुम यहीं रहकर भगवन्नामोंका संकीर्तन और प्रचार करते रहो।'

प्रभुकी इन बातोंसे ब्राह्मणको कुछ-कुछ सन्तोष हुआ और उसने उसी समय भगवन्नामसंकीर्तन करनेका निश्चय कर लिया। उस रात्रि प्रभु उस महाभाग कूर्म ब्राह्मणके ही घरमें रहे। प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होकर प्रभुने आगेके लिये प्रस्थान किया। कूर्म बहुत दूरतक प्रभुको पहुँचानेके लिये उनके साथ-ही-साथ ग्रामसे बाहरतक गया। जब प्रभुने बार-बार उससे लौट जानेका आग्रह किया, तब वह अत्यन्त ही दुःखित-चित्तसे रुदन करता हुआ ग्रामकी ओर लौट आया।

उसी ग्राममें वासुदेव नामक एक परम वैष्णव ब्राह्मण रहता था। उसकी साधु-महात्माओंके चरणोंमें अत्यधिक प्रीति थी। जहाँ भी किसी साधु-महात्माके आगमनका समाचार पाता, वहीं आकर वह उनकी दूरसे चरणवन्दना करता। प्रारब्ध-कर्मोंसे उस परमभागवत वैष्णवके सम्पूर्ण अंगमें गलित कुष्ठ हो गया था, इससे उसे तनिक भी क्लेश नहीं

होता था। वह इसे प्रारब्ध-कर्मोंका भोग समझकर प्रसन्नतापूर्वक सहन करता था। उसके सम्पूर्ण अंगोंमें घाव हो गये थे और उनमें कीड़े पड़ गये थे। वासुदेव उन कीड़ोंको निकालनेकी कोशिश नहीं करता। यही नहीं, किन्तु जो कीड़ा आप-से आप ही निकलकर पृथिवीपर गिर पड़ता, उसे उठाकर वह फिर ज्यों-का-त्यों ही अपने शरीरके घावोंमें रख लेता और पुचकारता हुआ कहता—'भैया, तुम पृथिवीपर कहाँ जाओगे, किसीके पैरोंके नीचे कुचल जाओगे, इसलिये यहीं रहो, यहाँ खानेको भी आहार मिलता रहेगा।' संसारी लोग उसके इस व्यवहारको देखकर हँसते और उसे पागल बताते, किन्तु उसे संसारी लोगोंकी परवा ही नहीं थी। वह तो अपने प्यारेको प्रसन्न करना चाहता था, संसार यदि बकता है तो उसे बकने दो। उसकी दृष्टिमें संसार पागल है और संसारकी दृष्टिमें वह पागल है।

उसने प्रातःकाल सुना कि 'कूर्मदेव ब्राह्मणके घरमें परम तेजस्वी अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त नूतन अवस्थाके एक भगवद्भक्त विरक्त संन्यासी आये हैं, उनके दर्शनमात्रसे ही हृदयमें पवित्र भावोंका सञ्चार होने लगता है और जिह्वा आप-से-आप ही 'हरि हरि' पुकारने लगती है।' इतना सुनते ही वासुदेव उसी समय महाप्रभुके दर्शनोंके लिये कूर्म ब्राह्मणके घर दौड़ा आया। वहाँ आकर उसे पता चला कि प्रभु तो अभी थोड़ी ही देर पहले यहाँसे आगेके लिये चले गये हैं। इतना सुनते ही वह कुष्ठी ब्राह्मण भक्त मूर्छित होकर भूमिपर गिर पड़ा और करुण स्वरमें रुदन करते हुए विलाप करने लगा—'हाय! मैं ऐसा हतभागी निकला कि प्रभुके दर्शनोंसे भी वञ्चित रह गया। हे जगत्पते! मेरी रक्षा करो। हे अशरणशरण! इस लोकनिन्दित दीन-हीन कंगालके ऊपर कृपा करके अपने दर्शनोंसे इस अधमको कृतार्थ करो। हे अन्तर्यामिन्!

आप तो घट-घटकी जाननेवाले हैं। आप ही साधु, सन्त, भक्त और संन्यासी आदि वेशोंसे पृथिवीपर पर्यटन करते हुए संसारी कीचड़में सने निराश्रित जीवोंका उद्धार करते फिरते हैं। भगवन्! मेरा तो कोई दूसरा आश्रय ही नहीं। कुटुम्ब-परिवारवालोंने मेरा परित्याग कर दिया, समाजमें मैं अस्पृश्य समझा जाता हूँ, कोई भी मुझसे बात नहीं करता। बस, केवल आप ही मेरे आश्रयस्थान हैं। मुझे दर्शनोंसे वञ्चित रखकर आप आगे क्यों चले गये?'

मानो वासुदेवकी करुण-ध्वनि दूरसे ही प्रभुने सुन ली। वे सहसा रास्तेसे ही लौट पड़े और कूर्मके घर आकर रोते हुए वासुदेवको बड़े प्रेमसे उन्होंने हृदयसे लगा लिया। भयके कारण काँपता हुआ और जोरोंसे पीछेकी ओर हटता हुआ वासुदेव कहने लगा—'भगवन्! आप मेरा स्पर्श न करें। मेरे शरीरमें गलित कुष्ठ है। नाथ! आपके सुवर्ण-जैसे सुन्दर शरीरमे यह अपवित्र पीव लग जायगा। प्रभो! इस पापीका स्पर्श न कीजिये।' किन्तु प्रभु कब सुननेवाले थे, वे तो भक्तवत्सल हैं। उन्होंने वासुदेवका दृढ़ आलिंगन करते हुए कहा—'वासुदेव! तुम-जैसे भगवद्भक्तोंका स्पर्श करके मैं स्वयं अपनेको पावन करना चाहता हूँ।'

प्रभुका आलिंगन पाते ही, पता नहीं, वासुदेवके सम्पूर्ण शरीरका कुष्ठ कहाँ चला गया, वह बात-की-बातमें एकदम स्वस्थ हो गया और उसका सम्पूर्ण शरीर सुन्दर सुवर्णके समान चमकने लगा! प्रभुकी ऐसी कृपालुता देखकर आँखोंमेंसे प्रेमाश्रु बहाता हुआ गद्गद कण्ठसे वासुदेव कहने लगा—'प्रभो! मुझ-जैसे पापीका उद्धार करके आपने अपने पतित-पावन नामको ही सार्थक किया है। पतितोंको पावन करना तो आपका विरद ही है। मैं मायामोहमें फँसा हुआ अल्पज्ञ प्राणी आपकी स्तुति कर ही क्या सकता हूँ? आपकी विशद विरदावली-

का बखान करना मनुष्य-शक्तिक बात है। आप नररूप साक्षात् नारायण हैं, आप प्रच्छन्नवेषधारी श्रीहरि आपकी महिमा अपार है, शेषनागजी सहस्र फणोंसे सृष्टिके अन्ततक भी आपके गुणोंका बखान नहीं कर सकते।' इतना कहते-कहते उसका कण्ठ भर आया, आगे वह कुछ भी नहीं कह सका और मूर्च्छित होकर प्रभुके पैरोंके समीप गिर पड़ा। प्रभुने उसे अपने हाथसे उठाया और भगवन्नामका उपदेश करते हुए नित्यप्रति कृष्ण-कीर्तन करते रहनेकी शिक्षा दी। इस प्रकार दोनों ब्राह्मणोंको प्रेमसे आलिंगन करके प्रभु फिर वहाँसे आगेकी ओर चल दिये।

कूर्माचल-तीर्थसे चलकर प्रभु नाना ग्रामोंमें होते हुए 'जियड़नृसिंह' नामक तीर्थमें पहुँचे। वहाँ नृसिंहभगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करके बहुत देरतक संकीर्तन करते रहे और पूर्वकी ही भाँति रास्तेके समी लोगोंको भगवन्नामका उपदेश करते हुए महाप्रभु पुण्यतोया गोदावरी नदीके तटपर पहुँचे। उस स्थानकी प्राकृतिक छटा देखकर प्रभुका मन नृत्य करने लगा। उन्हें एकदम वृन्दावनका भान होने लगा। वे सोचने लगे—सार्वभौम भट्टाचार्यने यहींपर रामानन्द रायसे मिलनेके लिये कहा था। वे यहाँके शासनकर्ता राजा हैं। उनसे किस प्रकार भेंट हो सकेगी। यही सोचते-विचारते प्रभु गोदावरीके बिल्कुल तटपर पहुँच गये और वहाँ आकर एक स्थानपर बैठ गये।

राजा रामानन्द राय

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥*

(श्रीभर्तृ० श० नी० ६२)

यौवन, धन, सम्पत्ति और प्रभुत्व—इन चारोंको नीतिकारोंने अविवेकके संसर्गसे नाशका हेतु बताया है। सचमुच इन चारोंको पाकर मनुष्य पागल-सा हो जाता है। धन-मद, जन-मद, तप-मद, विद्या-मद, अधिकार-मद और यौवन-मद आदि अनेक प्रकारके मदोंमें अधिकार-मद और धन-मद—ये ही दो सर्वश्रेष्ठ मद माने गये हैं। जो अधिकार पाकर प्रमाद नहीं करता और धन पाकर जिसे अभिमान नहीं होता, वह साधारण मनुष्य नहीं है। वह तो कोई अलौकिक महापुरुष ही है। ऐसे महापुरुषकी चरणवन्दना करनेसे अक्षय सुखकी प्राप्ति हो सकती है। महाभागवत राय रामानन्दजी ऐसे ही वन्दनीय महानुभावोंमेंसे थे।

राय रामानन्दजीके पिताका नाम राजा भवानन्दजी था। राजा भवानन्दजी जगन्नाथपुरीसे तीन कोस दूर अलालनाथके समीप रहते थे। ये जातिके करणवंशी कायस्थ थे। इनके राय रामानन्द, गोपीनाथ पट्टनायक,

---

* सज्जनोंके संसर्गकी हृदयमें निरन्तर इच्छा, दूसरोंके गुणोंमें अनुराग होना, अपनेसे श्रेष्ठ और बड़े पुरुषोंके सम्मुख नम्रता, विद्यामें व्यसन, अपनी ही स्त्रीमें प्रीतिका होना, लोकनिन्दासे सदा सचेष्ट होकर भयभीत बने रहना, देवोंके भी देव महादेवके चरणोंमें भक्ति होना, अपने अन्तःकरणको दमन करनेकी शक्ति होना और दुष्टोंके संसर्गसे सदा दूर ही बने रहना—ये निर्मल गुण जिन महापुरुषोंमें विद्यमान हैं, उन्हें हमारा प्रणाम है।

कलानिधि, सुधानिधि और वाणीनाथनायक—ये पाँच पुत्र थे। ये उड़ीसाके महाराज प्रतापरुद्रके राजदरबारमें एक प्रधान कर्मचारी थे। इनके तीन लड़के भी महाराजके दरबारमें ही ऊँचे-ऊँचे अधिकारोंपर आसीन होकर राज-काज करते थे। गोपीनाथ कटक-दरबारकी ओरसे मालजेठा-प्रदेशके शासक थे। वाणीनाथ दरबारमें ही किसी उच्च पदपर प्रतिष्ठित थे और राय रामानन्द उत्कल-देशके अन्तर्गत विद्यानगर-राज्यके शासक थे।

इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि उस समय भारतवर्षमें छोटे-छोटे सैकड़ों स्वतन्त्र राज्य थे। उस अपने छोटे-से प्रदेशके शासक नृपतिगण सनातन-परिपाटीके अनुसार धर्मको प्रधान मानकर प्रजाका पालन करते थे और क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध भी करते थे। तैलंग-देशमें भी बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे। उनमेंसे 'कोट-देश' नामका एक छोटा-सा राज्य था, जिसकी राजधानी विद्यानगरमें थी। वर्तमान समयमें गोदावरीके उत्तर तटपर स्थित राजमहेन्द्रीको ही उस प्रदेशकी प्रधान नगरी समझना चाहिये, किन्तु पुराना विद्यानगर तो गोदावरीके दक्षिण तीरपर अवस्थित था और वह वर्तमान राजमहेन्द्रीसे दस-बारह कोसकी दूरीपर था। बहुत-से लोग विजयनगरको ही विद्यानगर समझते हैं, किन्तु नामके साम्य होनेके कारण केवल भ्रम ही है।

इसे तो पाठक पहले ही पढ़ चुके हैं कि उत्कल-देशके तत्कालीन महाराज पुरुषोत्तमदेवने विद्यानगरके राजाको युद्धमें परास्त करके उसके देशको अपने राज्यमें मिला लिया था। रामानन्द राय उत्कल-राज्यकी ही ओरसे उस राज्यके शासक होकर वहाँ रहते थे। महाराजकी ही ओरसे उन्हें 'राजा' और 'राय' की उपाधियाँ मिली हुई थीं।

राय महाशय राज-काजमें प्रवीण, देश-कालके जाननेवाले, विनयी, शूर तथा सदाचारी पुरुष थे। फारसीके पण्डित होनेके साथ-ही-साथ उन्हें संस्कृतका भी भलीभाँति ज्ञान था। संस्कृत-साहित्यका उन्होंने खूब अनुशीलन किया था, सभी शास्त्रोंमें उनकी प्रगति थी। विद्या-व्यासंगी होनेके कारण उनका सार्वभौम भट्टाचार्यसे अत्यधिक स्नेह था। ये जब भी राज-काजसे उड़ीसा जाते तभी पुरीमें जाकर सार्वभौमसे मिलते और उनके साथ शास्त्रालोचना किया करते। सार्वभौम भी इन्हें हृदयसे चाहते थे, दोनोंका हृदय कविताप्रिय था। दोनों ही सरस, सरल, विद्वान् और शास्त्राभ्यासी थे, इसीलिये इन दोनोंकी परस्पर खूब पटती थी। महाराज प्रतापरुद्रजी भी काव्य-रसिक थे, इसीलिये वे भी सार्वभौम भट्टाचार्य तथा रामानन्द राय—इन दोनोंहीका बहुत अधिक आदर करते थे। राय महाशयने अपने 'जगन्नाथवल्लभ' नामक नाटकमें महाराज प्रतापरुद्रकी बहुत अधिक प्रशंसा की है।

राय रामानन्द करणवंशी कायस्थ थे, फिर भी उनका आचार-विचार बड़ा ही शुद्ध तथा पवित्र था। वे देवता और ब्राह्मणोंके चरणोंमें अत्यधिक श्रद्धा रखते थे। वैदिक श्रौत-स्मार्त आदि कर्मोंका वे विधिवत् अनुष्ठान करते थे और धर्मपूर्वक शासनका कार्य करते हुए सदा श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंमें अपने मनको लगाये रहते थे।

एक दिन वे प्रातःकाल बहुत-से वैदिक ब्राह्मणोंके सहित नित्यकी भाँति पतितपावनी पुण्यतोया गोदावरीमें स्नान करनेके निमित्त आये। बहुत-से वेदज्ञ ब्राह्मण उनके साथ-साथ स्तोत्रपाठ करते हुए आ रहे थे। आगे-आगे बहुत-से वाद्य बजानेवाले पुरुष भाँति-भाँतिके वाद्योंको बजाते हुए चल रहे थे। इस प्रकार बहुत-से आदमियोंसे घिरे हुए वे गोदावरीके तटपर पहुँचे। तटपर पहुँचते ही, वाद्यवालोंने अपने-अपने वाद्य बन्द

कर दिये। ब्राह्मणगण वस्त्र उतार-उतारकर गोदावरीके स्वच्छ, शीतल जलमें स्नान करने लगे। बहुत-से स्नानके समय पढ़े जानेवाले स्तोत्रोंको पढ़कर राय रामानन्दजीने स्नान किया और फिर देवता, ऋषि तथा पितरोंको जलसे सन्तुष्ट करके उन्होंने ब्राह्मणोंको यथेष्ट दक्षिणा दी और फिर वे अपनी राजधानीकी ओर चलने लगे।

उसी समय दूरहीसे उन्होंने अकेले वृक्षके नीचे बैठे हुए एक नवीन अवस्थावाले काषाय-वस्त्रधारी परमरूपलावण्ययुक्त युवक संन्यासीको देखा। पता नहीं, उस युवक संन्यासीकी चितवनमें क्या जादू भरा हुआ था, उसे देखते ही राय रामानन्द मन्त्रमुग्ध-से बन गये। उन्होंने देखा, संन्यासीके अंग-प्रत्यंगसे मधुरिमा निकल-निकलकर उस निर्जन प्रदेशको मधुमय, आनन्दमय और उल्लासमय बना रही है। गोदावरीका वह शान्त एकान्त स्थान उस नवीन संन्यासीकी प्रभासे प्रकाशित-सा हो रहा है, संन्यासी अपने एक पैरके ऊपर दूसरे पैरको रखे हुए एकटक-भावसे रामानन्द रायकी ओर ही निहार रहा है, उसके चेहरेपर प्रसन्नता है, उत्सुकता है, उन्मत्तता है और है किसीसे तन्मयता प्राप्त करनेकी उत्कट इच्छा। संन्यासी कुछ मुस्करा रहा है और उसके बिम्बा-फलके समान दोनों अरुण ओष्ठ अपने-आप ही हिल जाते हैं। पता नहीं, वह अपने-आप ही क्या कहने लग जाता है। राय महाशय अपने-को सम्हाल नहीं सके। उस संन्यासीने दूरसे ही ऐसा कोई मोहिनी मन्त्र पढ़ दिया कि उसके प्रभावसे वे राजापनके अभिमानको छोड़कर पालकीकी ओर जाते-जाते ही सीधे उस संन्यासीकी ओर जाने लगे। अपने प्रभुको संन्यासीकी ओर जाते देखकर सेवक भी उनके पीछे-पीछे हो लिये।

पाठक समझ ही गये होंगे कि ये नवीन संन्यासी हमारे प्रेम-पारस-मणि श्रीचैतन्य महाप्रभु ही हैं। महाप्रभु गोदावरीके किनारे

एकान्तमें स्नानादिसे निवृत्त होकर यही सोच रहे थे कि राय रामानन्दसे किस प्रकार भेंट हो, उसी समय उन्हें बजते हुए बाजोंकी ध्वनि सुनायी दी। महाप्रभु उन बाजेवालोंकी ही ओर देखने लगे। उन्होंने देखा कि बाजेवालोंके पीछे एक सुन्दर-सी पालकीमें एक परम तेजस्वी पुरुष बैठा हुआ आ रहा है। उसके चारों ओर बहुत-से आदमियोंकी भीड़ चल रही है। बस, उसे देखते ही महाप्रभु समझ गये कि हो न हो, ये ही राजा रामानन्द राय हैं। जब उन्होंने देखा वह ऐश्वर्यवान् महापुरुष पालकीपर न चढ़कर मेरी ही ओर आ रहा है, तब तो उनके हृदय-सागरमें प्रेमकी हिलोरें मारने लगीं, उन्हें निश्चय हो गया कि राय रामानन्द ये ही हैं। उनका हृदय राय महाशयको आलिंगन-दान देनेके लिये तड़फने लगा। उनकी बार-बार इच्छा होती थी कि जल्दीसे दौड़कर इस महापुरुषको गलेसे लगा लूँ, किन्तु कई कारणोंसे उन्होंने अपने इस भावको संवरण किया। इतनेमें ही उस समृद्धिशाली पुरुषने भूमिष्ठ होकर महाप्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया। उस पुरुषको प्रणाम करते देखकर प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे एक अपरिचित पुरुषकी भाँति पूछा—'क्या आपका ही नाम राजा रामानन्द राय है ?'

दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए अत्यन्त ही विनीतभावसे राय महाशयने उत्तर दिया—'भगवन्! इस दीन-हीन, भक्ति-विहीन शूद्राधमको ही रामानन्द कहते हैं ?'

इतना सुनते ही प्रभुने उठकर रामानन्द रायका आलिंगन किया और बड़े ही स्नेहके साथ कहने लगे—'राय महाशय! मुझे सार्वभौम भट्टाचार्यने आपका परिचय दिया था, उन्हींकी आज्ञा शिरोधार्य करके, केवल आपके ही दर्शनोंकी इच्छासे मैं विद्यानगरमें आया हूँ। मैं सोच रहा था कि आपसे भेंट किस प्रकार हो सकेगी, सो कृपा-सागर

प्रभुका अनुग्रह तो देखिये, अकस्मात् ही आपके दर्शन हो गये। आज आपके दर्शनोंसे मैं कृतार्थ हो गया। मेरी सम्पूर्ण यात्रा सफल हो गयी। मेरा संन्यास लेना सार्थक हो गया, जो आप-जैसे परम भागवत भक्तके मुझे स्वतः ही दर्शन हो गये।'

हाथ जोड़े हुए दीनतापूर्वक रामानन्दजीने कहा—'भगवन्! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज मेरे अनन्त जन्मोंका पुण्योदय हुआ है, जो साक्षात् नारायणस्वरूप आप संन्यासीका वेष धारण करके मुझे पावन बनानेके लिये यहाँ पधारे हैं। भट्टाचार्य सार्वभौमकी मेरे ऊपर सदासे अहैतुकी कृपा रही है; वे पुत्रकी तरह, शिष्यकी तरह, सेवक और सम्बन्धीकी तरह सदा मेरे ऊपर अनुग्रह बनाये रखते हैं। प्रतीत होता है, उनके ऊपर आपकी असीम कृपा है, तभी तो उनके आग्रहको स्वीकार करके आपने मुझे अपने दर्शनोंसे कृतार्थ किया। वे एकान्तमें भी मेरे कल्याणकी ही बातें सोचा करते हैं, उसीके फल-स्वरूप आपके अपूर्व दर्शनोंका सौभाग्य मुझ-जैसे अधमको भी हो सका। मेरा जन्म छोटी जातिमें हुआ है, मैं दिन-रात्रि लोकनिन्दित राज-काजमें लगा रहता हूँ, विषयोंके सेवनमें ही मेरा समय व्यतीत होता है, ऐसे विषयी और परमार्थ-पथसे विमुख अधमको भी आपने आलिंगन प्रदान किया है, यह आपकी दीनवत्सलता ही है, इसमें मेरा अपना कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है। मुझसे बढ़कर भाग्यवान् आज संसारमें कौन होगा, अब मैं अपने भाग्यकी क्या प्रशंसा करूँ। प्रभुने इस अधमकी इतनी स्मृति रखी, इसे मैं किन पुण्योंका फल समझूँ।'

महाप्रभुने कहा—'राय महाशय! मैं आपके मुखसे श्रीकृष्ण-कथा सुननेके निमित्त ही यहाँ आया हूँ, कृपा करके मुझे श्रीकृष्ण-कथा सुनाकर कृतार्थ कीजिये।'

रामानन्दजीने कहा—'भगवन् ! संसारी कीचड़में फँसा हुआ मैं मायाबद्ध जीव भला श्रीकृष्ण-कथाका आपके सम्मुख कथन ही क्या कर सकता हूँ ? आप तो साक्षात् श्रीहरिके स्वरूप हैं ।'

प्रभुने कहा—'संन्यासी समझकर आप मेरी प्रवञ्चना मत करें । सार्वभौम महाशयने मेरे शुष्क हृदयको सरस बनानेके निमित्त ही यहाँ भेजा है । आप मुझे भक्तितत्त्व बताकर मेरे मलिन मनको विशुद्ध बनाइये ।'

महाप्रभु और रामानन्दके बीचमें इस प्रकारकी बातें हो ही रही थीं कि उसी समय एक वैदिक ब्राह्मणने आकर प्रभुको भोजनोंके लिये निमन्त्रित किया । राय महाशयने भी समझा कि यहाँ इतनी भीड़-भाड़में इन महापुरुषसे आन्तरिक बातें करना ठीक नहीं है । अतः 'फिर आकर दर्शन करूँगा' ऐसा कहकर रामानन्दजीने प्रभुसे अपने स्थानमें जानेकी आज्ञा माँगी । प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—'भूलियेगा नहीं । अवश्य पधारियेगा । आपसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है । आपके मुखसे श्रीकृष्ण-कथा सुननेकी बड़ी उत्कट इच्छा हो रही है । क्यों आवेंगे न ?'

रामानन्दजीने सिर नीचा करके धीरेसे कहा—'अवश्य आऊँगा, शीघ्र ही श्रीचरणोंके दर्शन करके अपनेको कृतार्थ बनाऊँगा । प्रभो ! जब आपने इस अधमपर इतना अपार अनुग्रह किया है, तब कुछ कालतक तो यहाँ निवास करके मुझे सङ्गति-सुख दीजिये ही । मैं इतना अधिक पापी हूँ कि आपके केवल दर्शनोंसे ही मेरा उद्धार न हो सकेगा ।' इतना कहकर राय महाशयने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया । और वे अपने सेवकोंके सहित राजधानीकी ओर चले गये । इधर महाप्रभु भी उस ब्राह्मणके साथ उसके घर भिक्षा करनेके लिये गये ।

राय रामानन्दद्वारा साध्यतत्त्वप्रकाश

उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम्।
विभावयन् समृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहम् ॥*

(सु० र० भां० ९२ । १५)

सन्ध्याका सुहावना समय है, सूर्यदेव अपनी समस्त रश्मियोंके सहित अस्ताचलकी लाल गुहामें घुस गये हैं। भगवान् अंशुमालीका अनुसरण करते हुए पक्षिवृन्द भी अपने-अपने कोटरोंमें घुसकर चुपचाप शयन कर रहे हैं। मधुर रतिके उपासक अपनी प्रिय वस्तुके मिलनके लिये उत्कण्ठित होकर भगवती निशादेवीके साथ आराधनामें लगे हुए हैं। संसारी लोग सो रहे हैं, विषयी लोग विषय-चिन्तनमें निमग्न हैं और संयमी जागरण करके उस अखण्ड ज्योतिका ध्यान कर रहे हैं, महाप्रभु भी एकान्तमें बैठे हुए राय महाशयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

प्रेममें कितना अधिक आकर्षण है, वह प्रेमपात्रके दूर रहनेपर भी उसे समीपमें ले आता है, बाहर रहनेपर भी भीतर खींच लाता है और बीचमें आये हुए अन्तरायोंको तोड़-फोड़ करके रास्तेको साफ भी कर देता है। राय महाशय शरीरसे तो चले आये थे, किन्तु उनका मन प्रभुके पादपद्मोंमें ही फँसा रह गया। वे शरीरसे यन्त्रकी भाँति बे मन राजकाज करते रहे। सायंकाल होते ही उनका शरीर अपने मनकी खोजमें अपने-आप ही उधरकी ओर चलने लगा। वे राज-पाट, पद-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान किसीकी भी परवा न करके एक साधारण सेवकको साथ लेकर

---

* अपने मित्रजनोंपर अनुग्रह करना ही समृद्धिका फल है—इस भावको व्यक्त करते हुए भगवान् भुवनभास्कर उदय होते ही अपनी श्रीको कमलके लिये समर्पित कर देते हैं।

दीनभावसे प्रभुके निवासस्थानकी ओर चले। दूरसे ही देखकर उन्होंने प्रभुके युगल चरणोंमें प्रणाम किया, प्रभुने भी उन्हें उठाकर गलेसे लगा लिया। इसके अनन्तर थोड़ी देरतक दोनों ही मौन बने रहे। कुछ कालके पश्चात् प्रभुने कहा—'राय महाशय ! मैं आपके मुखसे कुछ श्रीकृष्ण-कथा सुनना चाहता हूँ। आप मुझे बताइये, कि इस संसारमें मनुष्यका मुख्य कर्तव्य क्या है? आप ज्ञानी हैं, भगवद्भक्त हैं, इसलिये मुझे साध्य-साधनका तत्त्व समझाइये?'

रामानन्दजीने विनीतभावसे कहा—'आप मेरेद्वारा अपने मनोगत भावोंको प्रकट कराना चाहते हैं। अच्छी बात है, जो मेरे अन्तःकरणमें प्रेरणा हो रही है, उसे मैं आपकी ही कृपासे आपके सामने प्रकट करता हूँ। पहले क्या कहूँ, सो बताइये?'

प्रभुने कहा—'मनुष्यका जो कर्तव्य है, उसका कथन करिये।'

राय महाशयने कहा—प्रभो ! मैं समझता हूँ—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८।४५)

अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुकूल कर्म करते रहनेसे मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो सकते हैं अतः जो जिस वर्णमें हो वह उसीके कर्मोंको करता हुआ उन्हींके द्वारा विष्णुभगवान्‌की आराधना कर सकता है। वर्णाश्रमधर्मको छोड़कर भगवान्‌के प्रसन्न करनेका और तो मुझे कोई सरल, सुगम और सुकर उपाय सूझता नहीं।* शास्त्रोंमें भी

* **वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।**
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

(वि० पु०)

स्थान-स्थानपर वर्णाश्रमधर्मपर ही अत्यधिक जोर दिया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो स्थान-स्थानपर जोरोंके साथ वर्णाश्रमधर्मके अनुसार कर्म करनेके ही लिये आग्रह किया गया है और उसीके द्वारा सिद्धि मानी गयी है। (गीता १८ । ४६)

महाप्रभु राय महाशयके मुखसे वर्णाश्रमधर्मकी बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—'राय महाशय! यह आपने बहुत सुन्दर बात कही। सचमुच संसारमें सभी मनुष्योंके लिये वर्णाश्रमधर्म-का पालन करना अत्यन्त ही श्रेयस्कर है। इसीलिये सभी शास्त्र जोरोंसे चिल्ला-चिल्लाकर वर्णाश्रमधर्मकी दुहाई दे रहे हैं। जीव पाप-पुण्य दोनोंके मिश्रणसे मनुष्य-शरीर पाता है, इसलिये जिनकी वासनाएँ विषयभोगोंमें फँसी हुई हैं उनके निमित्त धर्म, अर्थ और कामरूपी त्रिपुरुषार्थयुक्त धर्मका विधान है। यदि मनुष्य स्वेच्छासे विषय-भोगोंमें प्रवृत्त हो जाय तो पतित हो जायगा, इसीलिये धर्मकी आड़की आवश्यकता है। धर्म-पूर्वक बर्ताव करनेसे मनुष्यको स्वर्गसुखकी प्राप्ति होती है। किन्तु स्वर्ग-सुख अस्थायी होनेसे पुण्य क्षीण होनेपर फिर उसे गिरना पड़ता है, इसलिये कोई ऐसा उपाय बताइये कि कभी गिरना न पड़े।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर रामानन्दजीने कहा—'प्रभो! इसका तो यही उपाय है कि कर्मोंमें आसक्ति न रखी जाय। निष्कामभावसे कर्म किये जायँ। सकाम कर्म करनेसे तो वे फलको देनेवाले होते हैं, किन्तु भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेसे वे किसी प्रकारके भी फलको उत्पन्न नहीं करते।'

महाप्रभुने कहा—'यह आपने बड़ी सुन्दर बात बतायी। सचमुच यदि निष्काम भावसे कर्म किये जायँ तो वे त्रिलोकीके सुखसे ऊँचेकी ओर ले जाते हैं, किन्तु उनके द्वारा तो आत्मशुद्धि ही होती है, वे मुक्ति-

में प्रधान हेतु न होकर गौण हेतु हैं, उनका फल ज्ञान न होकर आत्मशुद्धि है।'* इससे भी बढ़कर कुछ और बताइये ?

रामानन्दजीने कहा—'प्रभो ! जब आप निष्काम कर्मको भी श्रेष्ठ नहीं समझते, तो सभी प्रकारके कर्मोंका स्वरूपतः परित्याग करके निरन्तर श्रीभगवान्‌का भजन ही करते रहना चाहिये। सचमुच कर्म कैसे भी किये जायँ उनसे त्रितापोंकी निवृत्ति नहीं होती, इसलिये तापोंसे सन्तप्त प्राणियोंके लिये सर्व धर्मोंका परित्याग करके प्रभुके पादपद्मोंकी शरण जाना ही मैं मनुष्यका मुख्य कर्तव्य समझता हूँ। भगवान्‌ने भी गीतामें अर्जुनको यही उपदेश दिया है कि 'हे अर्जुन ! तू सब धर्मोंको परित्याग करके मेरी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू सोच मत कर।''†

प्रभुने हँसते हुए कहा—'राय महाशय ! मालूम पड़ता है, आपसे कोई भी शास्त्र छूटा नहीं है। आपने शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन किया है। यह शरणापत्ति-धर्म जो आपने बताया है, सर्वश्रेष्ठ धर्म है, किन्तु यह तो संसारी तापोंसे तपे हुए साधकोंके लिये है, जो तापोंका अत्यन्ताभाव ही करनेके इच्छुक हैं। जो साधक इससे भी उच्च कोटिका है और उसे संसारी तापोंका भान ही नहीं होता, उसके लिये कोई और उपाय बताइये।'

तब तो रामानन्दजी कुछ सोचने लगे और थोड़ी देरके पश्चात् कहने लगे—'प्रभो ! मैं समझता हूँ समभावसे अवस्थित रहकर और

* योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।

(गीता ५। ११)

† सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

सत्-असत्का विचार करते हुए भगवान्की निरन्तर भक्ति करते रहना ही मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।'

प्रभुने कहा—'यह तो बहुत ही सुन्दर है, किन्तु जिसे असली आनन्दकी इच्छा है, उससे दो चीजोंका विचार कैसे हो सकता है? द्वैधीभाव ही तो भयका कारण है। सत्-असत्का विचार बहुत उत्तम है, किन्तु इसमें मुझे सरसता नहीं दीखती। कोई सरस-सा उपाय बताइये।'

तब भक्ताग्रगण्य रामानन्दजीने गर्जकर कहा—'प्रभो! भगवान्की विशुद्ध भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ और मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।' जैसा कि ब्रह्माजीने श्रीमद्भागवतमें भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(१०।१४।३)

अर्थात् 'हे अजित! जो मनुष्य ज्ञानमें कुछ भी प्रयत्न न करके केवल साधु-सन्तोंके स्थानपर अवस्थित रहकर उनके मुखसे आपके गुणानुवादोंको ही श्रवण करते रहते हैं और मन, वचन तथा कर्मसे आपको नमस्कार करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं वे ही त्रिलोकीमें आपको प्राप्त हो सकते हैं।'

रामानन्दजीके मुखसे इस श्लोकको सुनकर प्रभु अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'सचमुच भट्टाचार्य सार्वभौमने आपके शास्त्रज्ञानकी मुझसे जैसी प्रशंसा की थी, यहाँ आकर मैंने आपको वैसा ही पाया। मनुष्यका परम पुरुषार्थ और सर्वश्रेष्ठ धर्म

भगवान् मधुसूदनकी अहैतुकी भक्ति करना ही है। इसलिये यह तो मैं स्वीकार करता हूँ; किन्तु भक्ति किस प्रकारसे की जाय, यह और बताइये ?'

रामानन्दजीने कहा—'प्रभो ! मैं समझता हूँ, प्रेमपूर्वक भक्ति करनेसे ही इष्टसिद्धि हो सकती है। भगवान् प्रेममय हैं, प्रेम ही उनका स्वरूप है, वे रसराज हैं, इसलिये जैसे भी हो सके उस रसार्णवमें घुसकर खूब गोते लगाना चाहिये, क्योंकि—

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः
क्रियतां यदि कुतोऽपि लभ्यते ।
तत्र लौल्यमपि मूल्यकेवलं
जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते ॥

(रामानन्द राय)

अर्थात् मनुष्यको श्रीकृष्ण-भक्ति-रससे भावित-मति होकर जैसे भी प्राप्त हो सके वैसे ही प्राप्त करनी चाहिये। उसे प्राप्त करनेका मूल्य क्या है ? उसके प्रति लोलुपता, लोभी भाव, सदा हृदयमें उसीकी इच्छा बनी रहना, उसे मनुष्य कोटि जन्मके सुकृतसे भी प्राप्त नहीं कर सकता।'

महाप्रभुने कहा—'धन्य है, सच्ची बात तो यह है कि 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तैत्ति० उ०) अर्थात् वे भगवान् स्वयं रस-स्वरूप हैं। उस रसको प्राप्त करके जीव आनन्दमय हो जाता है। किन्तु एक बात अभी शेष रह गयी। उस रसका आस्वादन किसी-न-किसी प्रकारके सम्बन्धसे ही किया जा सकता है, इसलिये भगवान्‌के साथ किस सम्बन्धसे उस रसका आस्वादन किया जाय, इसे जाननेकी मेरी बड़ी इच्छा है, कृपा करके इसे और बताइये ?'

यह सुनकर राय महाशय कहने लगे—प्रभो ! मैं समझता हूँ, भगवान्‌के प्रति दास्य-भाव रखना ही सर्वश्रेष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि बिना

दास्य-भाव हुए प्रेम हो ही नहीं सकता। शान्त, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन सभी रसोंमें छिपा हुआ दास्य-भाव अवश्य रहता है। वह अत्यन्त पीड़ाके समयमें व्यक्त भी हो जाता है। नन्दजीका भगवान्‌के प्रति वात्सल्य-स्नेह था किन्तु मथुरासे जाकर जब भगवान्‌का सन्देश उद्धवजीने नन्दबाबा आदि गोपोंको सुनाया और कुछ दिन व्रजमें रहकर जब वे लौटने लगे तब अत्यन्त ही कातर-भावसे दुखी होकर नन्दबाबाने कहा था—'मनसो वृत्तयो न स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः' अर्थात् हे कृष्ण! हमारे मनकी वृत्ति सदा श्रीकृष्णके चरणोंका आश्रय करनेवाली हो। पुत्रकी तरह स्नेह करनेवाले पिताका दास्य-भाव घोर दुःखके समय अपने-आप ही उमड़ पड़ा। इसी प्रकार जब ब्रह्माजी गौओंके बछड़ोंको चुरा ले गये और भगवान्‌ने वैसे ही बछड़े बनाकर व्रजमें रख दिये और सालभरके पश्चात् जब उन बछड़ोंको ब्रह्माजीने छोड़ा तब बलरामजीको पता चला और छोटे भाईके प्रति विस्मयके कारण उनका दास्य-भाव व्यक्त हो उठा। वे भगवान्‌की महिमाको स्मरण करके कहने लगे—

प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी।

(श्रीमद्भा० १०।१३।३७)

अर्थात् यह सब मेरे प्रभुकी लीला है।

राधिकाजीका भगवान्‌के प्रति कान्तभाव था। वे स्वाधीनपतिका थीं, किन्तु जब रासमें सहसा भगवान् अन्तर्धान हो गये तो उनका दास्य-भाव प्रस्फुटित हो उठा और वे रोती हुई कहने लगीं—'दास्यास्ते कृपणाया मे सखे! दर्शय सन्निधिम्' अर्थात् 'हे सखे! तुम हमें अपने दर्शन दो। हम तुम्हारी दासी हैं।' भला जो दिन-रात्रि प्यारेसे मान ही करती रहें, उनके मुखसे ऐसे दास्य-भावके वचन शोभा देते हैं? किन्तु करें क्या, दास्य-भाव तो स्नेहका स्वामी है। इसलिये प्रभो! दास्य-भावको मैं सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।

प्रभुने हँसकर कहा—'हाँ, ठीक है, होगा, मैं इसे अस्वीकार नहीं करता, किन्तु फिर भी दास्य-भावमें कुछ संकोच अवश्य रहता है। सेवकको अपने स्वामीके ऐश्वर्य, बड़प्पन और मान-सम्मानका सदा ध्यान रहता है। इसलिये निर्भय होकर आनन्द-रसका पान करनेमें कुछ संकोच होता है, ऐसा कोई सम्बन्ध बताइये जिसमें संकोचका लेश भी न हो।'

तब तो अत्यन्त ही उल्लासके साथ रामानन्द रायने कहा—'तब तो प्रभो ! मैं सख्य-सम्बन्धको सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। सख्य-प्रेममें ऐश्वर्य, धन, मान, सम्मान किसीकी भी परवा नहीं रहती। ग्वाल-बाल भगवान्‌से नाराज होते थे, उनसे गौओंको घिरवाकर लाते थे। उनके कन्धेपर चढ़कर चड्डी लेते थे। उन्हें अखिल विश्वके एकमात्र आधार भगवान् वासुदेवसे किसी प्रकारका संकोच नहीं था। यथार्थ रसास्वाद तो सख्य-प्रेममें ही होता है।'

महाप्रभुने कहा—'सख्य-प्रेमका क्या कहना है? सख्य-प्रेम ही तो यथार्थमें प्रेम है। किन्तु सख्य-प्रेम सबको प्राप्त नहीं होता। उसमें दूसरेके प्रेमकी अपेक्षा रहती है, यदि अज्ञानवश भ्रम हो जाय कि हमारा प्रेमी हमसे उतना प्रेम नहीं करता, जितना हम उससे करते हैं तब स्वाभाविक ही हमारे प्रेममें कुछ न्यूनता आ जायगी। इसलिये प्रेमका ऐसा कोई सम्बन्ध बतलाइये जो निरपेक्ष और हर हालतमें एकरस बना रहे।'

इसपर जल्दीसे रामानन्दजीने कहा—'प्रभो ! यह बात तो वात्सल्य-प्रेममें नहीं है। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' सन्तान चाहे प्रेम करे या न करे, माता-पिताका प्रेम उसपर वैसा ही बना रहता है। इसीलिये तो भगवान् व्यासदेवजीने कहा है—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ॥

(श्रीमद्भा० १०।९।२०)

अर्थात् 'प्रेमदाता श्रीहरिकी जैसी कृपा यशोदाजीपर हुई थी, वैसी कृपा ब्रह्मा, शिवकी तो बात ही क्या, भगवान्‌के सदा हृदयमें निवास करनेवाली लक्ष्मीपर भी नहीं हुई।' इसलिये वात्सल्य-भाव ही सर्वोत्तम ठहरता है।

प्रभुने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'राय महाशय, आप तो रसराज हैं, आपसे कोई बात अविदित नहीं है, वात्सल्य-रसकी तो भगवान् व्यासदेवने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। फिर भी वात्सल्य-रसमें मुझे पूर्ण निर्भरता प्रतीत नहीं होती। उसमें छोटे और बड़ेपनका कुछ अंशोंमें तो भाव रहता ही है। इससे आगे भी आप कोई ऐसा भाव बता सकें जिसमें इन विचारोंका अत्यन्ताभाव हो, तो उसे मुझसे कहिये?'

राय महाशयने कहा—'प्रभो! इससे आगे और क्या कहूँ, वह तो कहनेका विषय नहीं। सचमुचमें एक ही भाव अवशेष है और उसे ही अन्तिम कहा जा सकता है—वह है 'कान्ताभाव' बस, इसीमें जाकर सभी रसोंकी, सभी भावोंकी और सभी सम्बन्धोंकी परिसमाप्ति हो जाती है।'

राय रामानन्दके मुखसे इस बातको सुनकर प्रभुने उनका गाढ़ालिंगन किया और प्रेममें विह्वल होकर गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'राय महाशय, आप धन्य हैं, आपका कुल धन्य है, आपकी ही जननी वास्तवमें जननी कही जा सकती हैं, आपका शास्त्रीय ज्ञान सार्थक है। इतने बड़े रहस्य-ज्ञानको मुझे बताकर आपने मेरा उद्धार कर दिया, किन्तु इससे भी ऊँचा कोई भाव जानते हों तो कहिये!'

महाप्रभुके इससे भी आगे पूछनेपर राय चकित होकर प्रभुकी ओर देखने लगे और बहुत देरके अनन्तर धीरे-धीरे कहने लगे—'प्रभो! इससे आगे मैं और कुछ नहीं जानता।'

प्रभुने मधुर स्वरमें कहा—'राय महाशय! आपसे कोई बात छिपी नहीं है। आप मुझे शुष्कहृदय, गृहत्यागी वनवासी संन्यासी समझकर भुलावा देना चाहते हैं। अन्तिम साध्यतत्त्वका अनधिकारी समझकर आप मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। आप तो सब कुछ जानते हैं। कान्तास्नेहसे भी बढ़कर जो कुछ हो उसे कृपया बता दीजिये।'

रायने प्रभुके पादपद्मोंको पकड़े हुए कहा—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥*

(श्रीमद्भा० १० । ३० । २८)

'बस, प्रभो! इससे आगे स्पष्ट नहीं कह सकता। क्योंकि यह विषय अत्यन्त ही गोप्य है। भगवान् व्यासदेवने भी इसे परम गुह्य समझकर अप्रकट ही रखा है। केवल संकेतसे बहुत ही थोड़ा-सा लक्ष्य किया है—बस, इससे आगे मैं और कुछ न कह सकूँगा।'

इतना सुनते ही प्रभु एकदम उठकर खड़े हो गये और राय महाशय-

* रासमें सहसा भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर गोपिकाएँ श्रीमती राधिकाजीके भाग्यकी सराहना करती हुई कह रही हैं—

निश्चय ही इन्हीं (श्रीराधिकाजी) ने भगवान् श्रीहरिका आराधन किया है, क्योंकि जिनके प्रेमके पीछे भगवान् हम सबको परित्याग करके उनके संग एकान्तमें चले गये।

का गाढ़ आलिंगन करते हुए कहा—'धन्य है, धन्य है। आपने तो प्रेमकी पराकाष्ठा ही कर डाली। आपने तो साध्यतत्त्वको परिसीमापर पहुँचा दिया। भला, श्रीराधिकाजीके प्रेमकी प्रशंसा कर ही कौन सकता है? उनका ही प्रेम तो सर्वश्रेष्ठ है।

अब आप मुझे उन दोनोंके विलासकी पूर्ण महिमा सुनाइये।'

इतना सुनते ही राय महाशय अपने कोकिलकूजित कमनीय कण्ठसे इस श्लोकको बड़ी ही लयके साथ पढ़ने लगे।

वाचासूचितशर्वरीरतिकलाप्रागल्भ्यया राधिकां
व्रीडाकुञ्चितलोचनां विरचयन्नग्रे सखीमानसौ।
तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपाण्डित्यपारङ्गतः
कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः॥

बस, यही रास-विलासकी पराकाष्ठा है।

प्रभु इसको सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए। प्रभुने राय महाशयका जोरसे आलिंगन किया और दोनों प्रेममें प्रमत्त होकर पृथिवीपर गिर पड़े।

राय रामानन्दसे साधन-सम्बन्धी प्रश्न

सञ्चार्य रामाभिधभक्तमेघे
स्वभक्तिसिद्धान्तचयामृतानि ।
गौराब्धिरेतैरमुना वितीर्णै-
स्तज्ज्ञत्वरत्नालयतां प्रयाति ॥*

(चैत० चरिता० म० ली० ८ । १)

दोनों ही पागल हों, दोनोंकी दृष्टिमें संसारी पदार्थ निस्सार हों, दोनों ही किसी एक ही मार्गके पथिक हों और फिर उन दोनोंका एकान्तमें समागम हो, तो फिर उस आनन्दका तो कहना ही क्या ? उसे ही अनिर्वचनीय आनन्द कहते हैं । उस आनन्द-रसका आस्वादन करना सब किसीके भाग्यमें नहीं बदा है, जिसके ऊपर उनकी कृपा हो, वही इस आनन्दका अधिकारी हो सकता है ।

राय रामानन्दजीके मुखसे परम साध्यतत्त्वकी बात सुनकर प्रभु कहने लगे—'राय महाशय, आपकी असीम अनुकम्पासे मैंने परम साध्यतत्त्व जान लिया । अब यह बताइये कि उसकी उपलब्धि कैसे हो ? बिना साधन जाने हुए साध्यका ज्ञान व्यर्थ है, इसलिये जिस प्रकार इस महाभावकी प्राप्ति हो सके कृपा करके उस उपायको और बताइये ?'

राय महाशयने अत्यन्त ही अधीरताके साथ कहा—'प्रभो ! आप सर्वसमर्थ हैं । मैं संसारी पङ्कमें फँसा हुआ विषयी जीव भला साध्य-

---

* समुद्र-समान गौर महाप्रभु अपने भक्तिसिद्धान्तरूप जलराशिको भक्तवर रामानन्दरूप मेघमें सञ्चारित करके पुनः उनसे उस सिद्धान्त-सलिलको विभाजित कराकर स्वयं ही उसके ज्ञानरत्नका आकर बन उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं अर्थात् स्वयं ही तो रामानन्दके हृदयमें स्फुरणा कराते हैं और स्वयं ही उसका फिर रसास्वादन करते हैं ।

साधन-तत्त्वको समझ ही क्या सकता हूँ ? किन्तु आप अपने भावोंको मेरे ही द्वारा प्रकट कराना चाहते हैं, तो आपकी इच्छाके विरुद्ध कर ही कौन सकता है । इसलिये आप मेरे हृदयमें जो प्रेरणा करते जायँगे मैं वही कहता जाऊँगा ।'

प्रभो ! श्रीराधिकाजीका प्रेम सामान्य नहीं है । संसारी सुखोंमें आनन्दका अनुभव करनेवाले पुरुष तो इसके श्रवणके भी अधिकारी नहीं हैं, इसीलिये इसे परम गोप्य कहा गया है । इसे तो व्रजकी गोपिकाएँ ही जान सकती हैं । गोपिकाओंके अतिरिक्त किसी दूसरेका इस रसमें प्रवेश नहीं । गोपिकाएँ इन्द्रिय-सुखकी अभिलाषिणी नहीं,उन्हें तो श्रीराधिका-के साथ कुञ्जोंमें केलि करते हुए श्रीकृष्णकी वह कमनीय प्रेमलीला ही अत्यन्त प्रिय है । अपने लिये वे कुछ नहीं चाहतीं, उनकी सम्पूर्ण इच्छाएँ, सम्पूर्ण भावनाएँ, सम्पूर्ण चेष्टाएँ और मन, वाणी तथा इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाएँ उन प्यारी-प्यारेके विहारके ही निमित्त होती हैं । जो उस अनिर्वचनीय रसका आस्वादन करना चाहते हैं, उन्हें अपनी सम्पूर्ण भावनाएँ इसी प्रकार त्यागमय और निःस्वार्थ बना लेनी चाहिये । गोपीभावको धारण किये बिना कोई उस आनन्दामृतका पान ही नहीं कर सकता । गोपियोंके प्रेममें सांसारिकता नहीं है । वह विशुद्ध है, निर्मल है, वासनारहित और इच्छारहित है । गोपियोंके विशुद्ध प्रेमका ही नाम 'काम' है । इस संसारी 'काम' को काम नहीं कहते । उस दिव्य प्रेमभावका ही नाम यथार्थमें काम है जिसकी इच्छा उद्धव आदि भक्त-गण भी निरन्तररूपसे किया करते हैं ।*

* प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः ॥
(गौतमीतन्त्र)

कोई चाहे कि जपसे, तपसे, वेदाभ्यास अथवा यज्ञ-यागद्वारा हम उस रस-सागरमें प्रविष्ट होनेके अधिकारी बन जायँगे तो यह उनकी भूल है। उस अमृतरूपी महारससागरके समीप पहुँचनेके लिये तो भक्ति ही एकमात्र साधन है, जैसा कि भगवान् व्यासदेवने कहा है—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २१)

अर्थात् 'नन्दनन्दन भगवान् वासुदेव जिस प्रकार भक्तको भक्तिसे सहजमें प्राप्त हो सकते हैं, उस प्रकार देहाभिमानी कर्मकाण्डी तथा ज्ञानाभिमानी पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकते।' इसीलिये तो गोपियोंके प्रेमको सर्वोत्तम कहा है—

यदपि जसोदा नन्द अरु ग्वालबाल सब धन्य।
पै या रसकूँ चाखिके गोपी भईं अनन्य॥

गोपियोंके प्रेमकी बराबरी कौन कर सकता है। रास-विलासके समय जिनके भुजदण्डोंका आश्रय ग्रहण करके जो गोपिकाएँ धन्य बन चुकी हैं, उनकी पदधूलिके बिना कोई प्रेमका अधिकारी बन ही नहीं सकता।'

प्रभुने राय महाशयकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसी प्रकार रातभर दोनोंमें बातें होती रहीं। रोज प्रातःकाल रात्रि समझकर चकवा-चकवीकी भाँति दोनों ही पृथक् हो जाते थे और रात्रिको दिन मानकर दोनों ही फिर उस प्रेम-सरोवरके समीप एकत्रित हो जाते थे। इस प्रकार कई दिनोंतक सत्संग और साध्य-साधन-निर्णय होता रहा। एक दिन प्रभुने राय महाशयसे कुछ अत्यन्त ही रहस्यमय गूढ़ प्रश्न पूछे। जिनका उत्तर रायने भगवत्-प्रेरणासे जैसा मनमें उठा वैसा यथातथ्य दिया। प्रभुने पूछा—'राय

महाशय ! मुझे सम्पूर्ण विद्याओंमें श्रेष्ठ पराविद्या बताइये, जिससे बढ़कर दूसरी कोई विद्या ही न हो ?'

रायने कुछ लज्जित-भावसे कहा—'प्रभो ! मैं क्या बताऊँ, श्रीकृष्ण-भक्तिके अतिरिक्त और सर्वोत्तम विद्या हो ही कौन सकती है ? उसीके लिये परिश्रम करना सार्थक है, शेष सभी व्यर्थ है।'

'श्रीकृष्णेति रसायनं रस परं शून्यैः किमन्यैः श्रमैः'

प्रभुने पूछा—'सर्वश्रेष्ठ कीर्ति कौन-सी कही जा सकती है ?'

रायने कहा—'प्रभो ! श्रीकृष्णके सम्बन्धसे लोगोंमें परिचय होना यही सर्वोत्तम कीर्ति है ।'

प्रभुने पूछा—'अच्छा, ऐसी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति कौन-सी है, जिसके सामने सभी सम्पत्तियाँ तुच्छ समझी जा सकें ?'

रायने उत्तर दिया—श्रीनिकुञ्जविहारी राधावल्लभकी अविरल भक्ति जिसके हृदयमें विद्यमान है वही सर्वश्रेष्ठ सम्पत्तिशाली पुरुष है । उसकी समताका पुरुष त्रिभुवनमें कोई नहीं हो सकता ।'

प्रभुने पूछा—'मुझे यह बताइये कि सबसे बड़ा दुःख कौन-सा है ?'

रुँधे हुए कण्ठसे अश्रु विमोचन करते हुए राय महाशयने कहा—'प्रभो ! जिस क्षण श्रीहरिका हृदयमें स्मरण न रहे, जिस समय विषय-भोगोंकी बातें सूझने लगें, वही सबसे बड़ा दुःख है ।* इसके अतिरिक्त भगवत्-भक्तोंसे वियोग होना भी एक दारुण दुःख है ।'

प्रभुने पूछा—'आप मुक्त जीवोंमें सर्वश्रेष्ठ किसे समझते हैं ?'

---

* **सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता ।**
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत् ॥

(महाभारत)

रायने कहा—'प्रभो ! जिसकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ श्रीकृष्णके प्रेम-प्राप्तिके ही निमित्त हों, जो सतत श्रीकृष्णके ही मधुर नामोंका उच्चारण करता हुआ उन्हें ही पानेका प्रयत्न करता रहता है, वही सर्वश्रेष्ठ मुक्त पुरुष है।'

प्रभुने पूछा—'आप किस गानको सर्वश्रेष्ठ गान समझते हैं?'

रायने कहा—

'श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !'

'इन सुमधुर नामोंके गानको ही मैं सर्वश्रेष्ठ गायन समझता हूँ।'

प्रभुने पूछा—'आप जीवोंके कल्याणके निमित्त सर्वश्रेष्ठ कार्य किसे समझते हैं?'

रायने कहा—'प्रभो ! महत् पुरुषोंके पादपद्मोंकी पावन परागसे अपने मस्तकको अलंकृत बनाये रहना और उनके मुख-निःसृत अमृत-वचनोंका कर्णरन्ध्रोंसे निरन्तर पान करते रहना—इसे ही मैं जीवोंके कल्याणका मुख्य हेतु समझता हूँ।'

प्रभुने पूछा—'प्राणिमात्रके लिये सर्वश्रेष्ठ स्मरणीय क्या वस्तु है?'

रायने कहा—

'श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !'

बस 'यही सर्वश्रेष्ठ स्मरणीय है।'

प्रभुने पूछा—'आप ध्यानोंमें सर्वश्रेष्ठ ध्यान किसे समझते हैं?'

रायने कहा—'श्रीवृन्दावनविहारीकी बाँकी झाँकीका ही निरन्तर ध्यान बना रहे—बस, यही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है।'

प्रभुने पूछा—'आप जीवोंके लिये ऐसा सर्वोत्तम निवास-स्थान कौन-सा समझते हैं, जहाँ सर्वस्वके मुखमें धूलि देकर निवास किया जाय ?'

रायने कहा—'प्रभो !

'सरबसुके मुख धूरि दै सरबसु कै ब्रज-धूरि'

बस, सब कुछ छोड़कर वृन्दावन वास करना ही जीवका अन्तिम निवासस्थान है। वृन्दावनको परित्याग करके एक पैर भी कहीं अन्यत्र न जाना चाहिये'—

'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।'

—बस, राधा-मुरलीधरका ध्यान करते रहना चाहिये और वृन्दावनको न छोड़ना चाहिये—

'श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे! वृन्दावनं मा त्यज।'

प्रभुने पूछा—'आप श्रवणोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रवणीय क्या समझते हैं ?'

रायने कहा—

'श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!
हे नाथ! नारायण! वासुदेव!'

—'यह सम्पूर्ण श्रवणोंका सार है। जिसने इसे यथावत् रीतिसे सुन लिया फिर उसके लिये कुछ श्रवण करना शेष नहीं रह जाता।'

प्रभुने पूछा—'आप उपासनाओंमें सर्वश्रेष्ठ उपासना किसे समझते हैं ?'

रायने कहा—'युगल सरकारके सिवा और उपासना की ही किसकी जा सकती है। असलमें तो वृन्दावनविहारी ही परम उपास्य हैं। शक्तिसे वे पृथक् हो ही नहीं सकते।'

प्रभुने पूछा—'आप भक्ति और मुक्तिमें किसे अधिक पसन्द करते हैं ?'

रायने कहा—'प्रभो! मुक्तिके नीरस फलको तो कोई विचारप्रधान दार्शनिक पुरुष ही पसन्द करेगा। मुझे तो प्रभुके पाद-पद्मोंमें निरन्तर

लोट लगाते रहना ही सबसे अधिक पसन्द है। मैं अमृतके सागरमें जाकर अमृत बनना नहीं चाहता। मैं तो उसके समीप बैठकर उसकी मधुरिमाके रसास्वादन करनेको ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।'

इस प्रकारके प्रश्नोत्तरोंमें ही वह रात शेष हो गयी और दोनों फिर एक दूसरेसे पृथक् हो गये।

राय महाशयका अनुराग प्रभुके पाद-पद्मोंमें उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता था। वे उनमें साक्षात् श्रीकृष्णके रूपका अनुभव करने लगे। उनके नेत्रोंके सामनेसे प्रभुका वह प्राकृत रूप एकदम ओझल हो गया और वे अपने इष्टदेव श्रीराधा-कृष्णके स्वरूपका दर्शन करने लगे। इसीलिये उन्होंने एक दिन प्रभुसे पूछा—'प्रभो! मैं आपके श्रीविग्रहमें अपने इष्टदेवके दर्शन करता हूँ। मुझे ऐसा भान होने लगा है कि आप साक्षात् श्रीमन्नारायण ही हैं। लोगोंको भ्रममें डालनेके लिये आपने यह छद्म-वेष धारण कर लिया है।'

हँसते हुए प्रभुने उत्तर दिया—'राय महाशय! आपको भी मेरे शरीरमें अपने इष्टदेवके दर्शन न होंगे, तो और किसे होंगे? आपकी दृष्टिमें तो जितने संसारके दृश्य पदार्थ हैं सब-के-सब इष्टमय ही होने चाहिये। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि 'सर्वश्रेष्ठ भगवत्-भक्त सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंमें भगवान्के ही दर्शन करता है, उसकी दृष्टिमें भगवान्से पृथक् कोई वस्तु है ही नहीं।'* आप सर्वश्रेष्ठ भागवतोत्तम हैं, फिर आपको मेरे शरीरमें अपने इष्टदेवके दर्शन होते हैं, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है?'

---

* **सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।**
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४५)

प्रभुके ऐसे उत्तरको सुनकर राय कहने लगे—'प्रभो ! आप मेरी प्रवञ्चना न कीजिये। मुझे अपने यथार्थ रूपके दर्शन दीजिये। मुझे शूद्राधम समझकर अपने यथार्थ स्वरूपसे वञ्चित न कीजिये।' यह कहते-कहते राय महाशय प्रेमके आवेशमें आकर मूर्छित होकर प्रभुके पैरोंमें गिर पड़े। उसी समय उन्हें प्रभुके शरीरमें श्रीराधा और श्रीकृष्णके सम्मिलित दर्शन हुए। प्रभुके शरीरमें उस अद्भुत रूपके दर्शन करके राय महाशयने अपनेको कृतकृत्य समझा और वे अपने भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

सावधान होनेपर प्रभुने राय रामानन्दजीका दृढ़ आलिङ्गन किया और उनसे कहने लगे—'राय महाशय, मेरे ये दस दिन आपके साथ श्रीकृष्णकथा सुनते-सुनते बहुत ही आनन्दपूर्वक व्यतीत हुए। इतना अपूर्व रस पहले मुझे कभी भी प्राप्त नहीं हुआ था। आपकी कृपासे इस अत्यन्त ही दुर्लभ प्रेमरसका मैं यह किञ्चित् रसास्वादन कर सका। अब मेरी इच्छा है कि आप शीघ्र ही इस राज-काजको छोड़कर पुरी आ जाइये। वहाँ हम दोनों साथ रहकर निरन्तर इस आनन्द-रसका पान करते रहेंगे, आपकी संगतिसे मेरा भी कल्याण हो जायगा।'

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही विनीतभावसे राय रामानन्दने कहा—'प्रभो ! यह तो सब आपके ही हाथमें है। जब इस भव-जञ्जालसे छुड़ाकर अपने चरणोंकी शरण प्रदान करेंगे, तभी चरणोंके समीप रहनेका सुयोग प्राप्त हो सकेगा। मेरे सामर्थ्यके बाहरकी बात है। आप ही अनुग्रह करके मुझे ऐसा धन्य-जीवन दान कर सकते हैं।'

प्रभुने कहा—'अच्छा, अब जाइये। दक्षिणसे लौटकर एक बार मैं आपसे फिर मिलूँगा। तभी आप मेरे साथ पुरी चलियेगा।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके राय रामानन्दजी अपने स्थानको चले गये और प्रभुने भी प्रातःकाल आगेकी यात्राका विचार किया।

दक्षिणके तीर्थोंका भ्रमण

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥*
(श्रीमद्भा० १ । १३ । ९)

महापुरुषोंका तीर्थ-भ्रमण लोक-कल्याणके ही निमित्त होता है। उनके लिये स्वयं कोई कर्तव्य नहीं होता, किन्तु फिर भी लोकशिक्षणके लिये, गृहस्थियोंको पावन बनानेके लिये, भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये, तीर्थोंको निष्पाप बनानेके लिये तथा पृथिवीको पवित्र करनेके लिये वे नाना तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए देखे गये हैं। इसीसे अबतक ये तीर्थ अपनी पावनताकी रक्षा करते हुए संसारी लोगोंके पाप-तापोंको शमन करनेमें समर्थ बने हुए हैं।

महाप्रभु प्रातःकाल गोदावरीमें स्नान करके विद्यानगरसे आगेके लिये चल दिये। वे गौतमी गङ्गा, मल्लिकार्जुन, अहोबलनृसिंह, सिद्धवट,

---

* हे प्रभो! आप-जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप होते हैं और अपने चित्तमें विराजमान गदाधारी श्रीकृष्णके प्रभावसे सकल तीर्थोंको भी [पातकी पुरुषोंके संसर्गके कारण लगे हुए पापोंको दूर करके] पवित्र तीर्थ कर देते हैं।

स्कन्धक्षेत्र, त्रिपठ, वृद्धकाशी, बौद्धस्थान, त्रिपती, त्रिमल्ल, पानानृसिंह, शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची, त्रिकालहस्ती, वृद्धकोल, शियालीभैरवी, कावेरीतीर, कुम्भकर्ण-कपाल आदि पुण्य-तीर्थोंमें दर्शन-स्नान आदि करते हुए और अपने दर्शनोंसे नर-नारियोंको कृतार्थ करते हुए श्रीरङ्गक्षेत्रपर्यन्त पहुँचे। रास्तेमें महाप्रभु सर्वत्र श्रीहरिनामोंका प्रचार करते जाते थे। लाखों मनुष्य प्रभुके दर्शनमात्रसे ही भगवत्-भक्त बन गये। प्रभु रास्तेमें चलते-चलते इस मन्त्रको उच्चारण करते जाते थे—

राम राघव ! राम राघव ! राम राघव ! रक्ष माम् ।
कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! पाहि माम् ॥

महाप्रभुके मुखसे निःसृत इस मन्त्रको सुनते ही चारों ओरसे स्त्री-पुरुष इन्हें घेरकर खड़े हो जाते और फिर ये उनके बीचमें खड़े होकर नृत्य करने लगते। इसी प्रकार अपने संकीर्तन, नृत्य और दर्शनोंसे लोगोंको सुख पहुँचाते हुए आषाढ़ मासमें ये श्रीरङ्गक्षेत्रमें पहुँचे। वहाँ परम भाग्यवान् श्रीवेङ्कट भट्ट नामक एक वैष्णव ब्राह्मणके अनुरोधसे प्रभुने चातुर्मास व्यतीत किया। वेङ्कट भट्टके पुत्र श्रीगोपाल भट्टने महाप्रभुकी रूप-माधुरीसे विमुग्ध होकर उन्हें आत्मसमर्पण कर दिया। वेङ्कट भट्टका सम्पूर्ण परिवार श्रीकृष्ण-भक्त बन गया। सभीको महाप्रभुकी संगतिसे अत्यधिक आनन्द हुआ।

महाप्रभु सायंकालके समय जङ्गलोंमें घूमने जाया करते थे। एक दिन वे एक बगीचेमें गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा, एक ब्राह्मण आसन लगाये बड़े ही प्रेमके साथ गद्गद कण्ठसे गीताका पाठ कर रहा है। यद्यपि वह श्लोकोंका उच्चारण अशुद्ध कर रहा था किन्तु पाठ करते समय वह ध्यानमें ऐसा तन्मय था कि उसे बाह्य संसारका पता ही नहीं रहा। वह भावमें मग्न होकर श्लोकोंको बोलता था, उसका सम्पूर्ण शरीर

रोमाञ्चित हो रहा था, नेत्रोंसे जल बह रहा था। महाप्रभु बहुत देरतक खड़े-खड़े उसका पाठ सुनते रहे। जब वह पाठ करके उठा तब महाप्रभुने उससे अत्यन्त ही स्नेहके साथ पूछा—'क्यों भाई, तुम्हें इस पाठमें ऐसा क्या आनन्द मिलता है, जिसके कारण तुम्हारी ऐसी अद्भुत दशा हो जाती है। इतने ऊँचे प्रेमके भाव तो अच्छे-अच्छे भक्तोंके शरीरमें प्रकट नहीं होते, तुम अपनी प्रसन्नताका मुझसे ठीक-ठीक कारण बताओ?'

उस पुरुषने कहा—'भगवन्! मैं एक अपठित बुद्धिहीन ब्राह्मणवंशमें उत्पन्न हुआ निरक्षर और मूर्ख ब्राह्मणबन्धु हूँ। मुझे शुद्धाशुद्धका कुछ भी बोध नहीं है। मेरे गुरुदेवने मुझे आदेश दिया था कि तू गीताका नित्यप्रति पाठ किया कर। भगवन्! मैं गीताका अर्थ क्या जानूँ। मैं तो पाठ करते समय इसी बातका ध्यान करता हूँ कि सफेद रंगके चार घोड़ोंसे जुता हुआ एक बहुत सुन्दर रथ खड़ा हुआ है। उसकी विशाल ध्वजापर हनुमान्‌जी विराजमान हैं, खुले हुए रथमें अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित अर्जुन कुछ शोकके भावसे धनुषको नीचे रखे हुए बैठा है। भगवान् अच्युत सारथीके स्थानपर बैठे हुए कुछ मन्द मुसुकानके साथ अर्जुनको गीताका उपदेश कर रहे हैं। बस, भगवान्‌की इसी रूप-माधुरीका पान करते-करते मैं अपने आपेको भूल जाता हूँ। भगवान्‌की वह त्रिलोकपावनी मूर्ति मेरे नेत्रोंके सामने नृत्य करने लगती है, उसीके दर्शनोंसे मैं पागल-सा बन जाता हूँ। लोग मेरे पाठको सुनकर पहले बहुत हँसते थे। बहुत-से तो मुझे बुरा-भला भी कहते थे। अब कहते हैं या नहीं—इस बातका तो मुझे पता नहीं है, किन्तु मैंने किसीकी हँसीकी कुछ परवा नहीं की। मैं इसी भावसे पाठ करता ही रहा। अब मुझे इस पाठमें इतना रस आने लगा है कि मैं एकदम संसारको भूल-सा जाता हूँ। आज ही आकर आपने मुझसे दो मीठी बातें की हैं, नहीं तो

लोग सदा मेरी हँसी ही उड़ाते रहते हैं। मालूम पड़ता है, आप साक्षात् श्रीनारायण हैं, जो मेरे पाठका फल देनेके लिये यहाँ पधारे हैं। आप चाहे कोई भी क्यों न हों, हैं तो कोई अलौकिक दिव्य पुरुष। आपके चरणकमलोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।' इतना कहकर वह प्रभुके चरणोंमें गिर पड़ा।

प्रभुने उसे बड़े स्नेहसे उठाकर छातीसे लगाया और बड़े ही मीठे स्वरसे कहने लगे, 'विप्रवर! तुम धन्य हो, यथार्थमें गीताका असली अर्थ तो तुमने ही समझा है। भगवान् शुद्ध अथवा अशुद्ध पाठसे प्रसन्न या असन्तुष्ट नहीं होते। वे तो भावके भूखे हैं। भावग्राही भगवान्से किसीके घटकी बात छिपी नहीं है। लाखों शुद्ध पाठ करो और भाव अशुद्ध हैं, तो उनका फल अशुद्ध ही होगा। यदि भाव शुद्ध हैं और अक्षर चाहे अशुद्ध भी उच्चारण हो जायँ तो उसका फल शुद्ध ही होगा। भावोंकी शुद्धिकी ही अत्यन्त आवश्यकता है। भाव शुद्ध होनेपर पाठ शुद्ध हो तब तो बहुत ही अच्छा है। सोनेमें सुगन्ध है और यदि पाठ शुद्ध न भी हो तो भी कोई हानि नहीं। जैसा कि कहा है—

मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे।
तयोः फलं तु तुल्यं हि भावग्राही जनार्दनः॥

अर्थात् 'मूर्ख कहता है 'विष्णाय नमः' और पण्डित कहता है 'विष्णवे नमः' भाव शुद्ध होनेसे इन दोनोंका फल समान ही होगा। कारण कि भगवान् जनार्दन भावग्राही हैं।'

महाप्रभुके मुखसे इस बातको सुनकर उस ब्राह्मणको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने उसी समय प्रभुको आत्मसमर्पण कर दिया। जबतक प्रभु श्रीरङ्गक्षेत्रमें रहे, तबतक वह महाप्रभुके साथ ही रहा।

धनी तीर्थरामको प्रेमदान और वेश्याओंका उद्धार

रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितैः
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि ।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ॥*

(भर्तृ० वै० श० ९८)

जिसने प्रेमासवका पान कर लिया है, जो उसकी मस्तीमें संसारके सभी पदार्थोंको भूला हुआ है, उसके सामने ये संसारके सभी सुन्दर,

---

* ओ कामदेव ! धनुषकी टङ्कारोंसे तू अपने हाथोंको क्यों कष्ट दे रहा है ? अरी कोयल ! तू भी अपने कोमल कलनादोंसे क्यों व्यर्थ कोलाहल मचा रही है ? ऐ भोली-भाली रमणी ! तुम्हारे इन स्नेहयुक्त, चतुर, मोहन, मधुर एवं चञ्चल कटाक्षोंसे भी अब कुछ नहीं हो सकता । मेरे चित्तने तो चन्द्रचूडके चरणोंका ध्यानरूपी अमृत-पान कर लिया है ।

सुखद और चमकीले पदार्थ तुच्छ हैं। वह उन पदार्थोंकी ओर दृष्टितक नहीं डालता, जिनके लिये विषयी मनुष्य अपना सर्वस्व अर्पण करनेके लिये तत्पर रहते हैं। जिस हृदयमें कामारिके भी पूजनीय प्रभु निवास करते हैं, उस हृदयमें कामके लिये स्थान कहाँ ? क्या रवि और रजनी एक स्थानपर रह सकते हैं। दीपक लेकर यदि आप अन्धकारको खोजने चलें तो उसका पता कहीं मिल सकता है ? इसीलिये कहा है—'जहाँ काम है, वहाँ राम नहीं। और जहाँ राम है वहाँ काम नहीं।'

जो जाड़ेसे ठिठुरा हो उसके सम्मुख उसकी इच्छाके विरुद्ध भी धधकती हुई अग्नि पहुँच जाय तो उद्योग न करनेपर भी उसका जाड़ा छूट जायगा। साँभरकी झीलमें कंकड़ी, पत्थर, हड्डी जो भी वस्तु गिर जायगी वह नमक बन जायगी। प्रेमीसे चाहे प्रेमसे सम्बन्ध करो या ईर्ष्या-द्वेषसे, कल्याण आपका अवश्य ही होगा। भूलसे भी, लोहा पारस-से छुआ दिया जाय तो उसके सुवर्ण होनेमें कोई सन्देह नहीं।

महाप्रभु जब दक्षिणके समस्त तीर्थोंमें भ्रमण करते-करते श्रीरङ्गम् आ रहे थे, तब रास्तेमें अक्षयवट नामक तीर्थमें ठहरे। रास्तेमें महाप्रभुका जीवन-निर्वाह भिक्षापर ही होता था। किसी दिन भिक्षा मिल जाती थी, किसी दिन नहीं भी मिलती थी, कृष्णदास भट्टाचार्य प्रभुको भिक्षा बनाकर खिलाते थे। एक दिन भिक्षाका कहीं संयोग ही न लगा। तीर्थमें उपोषणका भी विधान है, अतः उस दिन महाप्रभुने कुछ भी नहीं लिया, एक निर्जन स्थानमें शिवजीके समीप वे कीर्तनानन्दमें मग्न हुए—

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे॥
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण रक्ष माम्।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण पाहि माम्॥

—इस महामन्त्रको जोर-जोरसे उच्चारण कर रहे थे। रास्तेके श्रमसे उनके श्रीमुखपर कुछ श्रमजन्य थकावटके चिह्न प्रतीत होते थे। उनके समस्त अंगोंसे एक प्रकारका तेज-सा निकल रहा था। वे प्रेमानन्दमें मग्न हुए उच्चस्वरसे नाम-संकीर्तनमें मग्न थे। इतनेमें ही तीर्थराम नामका एक बहुत बड़ा धनी वहाँ सहसा आ पहुँचा। उसे अपने धनका गर्व था, युवावस्थाने उसे कर्तव्यशून्य बना दिया था, यौवनके मदमें वह अपने धर्मको तिलाञ्जलि दे चुका था। खाना-पीना और मौज उड़ाना यही उसने अपने जीवनका ध्येय बना रखा था। सुन्दर-से-सुन्दर भोज्य पदार्थोंको खाना और मनोरम-से-मनोरम ललनाओंके साथ समय बिताना यही उसने जीवनका चरम सुख समझ लिया था। उसके साथ दो अत्यन्त सुन्दरी वेश्याएँ थीं। उनमेंसे एकका नाम सत्याबाई और दूसरीका नाम लक्ष्मीबाई था। उनके साथ हास-परिहास करते-करते वह शिवालयके समीप आ पहुँचा। वहाँ उसने अपनी कान्तिसे दिशाओंको आलोकित करते हुए प्रेमावतार श्रीचैतन्यको देखा। सुवर्णके समान शरीरका रंग था, कमलके समान विकसित मुखारविन्दपर हठात् चित्तको अपनी ओर आकर्षित करनेवाली दो बड़ी-बड़ी आँखें थीं। उसकी समझमें ही नहीं आया कि इतनी अतुलनीय रूपराशिसे युक्त यह पुरुष यहाँ जङ्गलमें अकेला एक कपड़ा ओढ़े क्यों पड़ा है? अपने सन्देहको मिटानेके लिये उसने धीरेसे कहा—'कौन है?'

किन्तु महाप्रभु तो अपने कीर्तनानन्दमें मग्न थे, उन्हें किसीका क्या पता, वे पूर्ववत् जोरोंसे कीर्तन करते रहे। उसकी उत्सुकता और भी बढ़ी। उसने अबके जरा जोरसे कहा—'आप कौन हैं और यहाँ एकान्तमें क्यों पड़े हैं?'

कृपामय श्रीचैतन्यने अबके उसकी बातका उत्तर दिया—'भाई! हम गृहत्यागी संन्यासी हैं, अपने प्यारेकी तलाशमें घरसे निकले हैं। एकान्त ही हमारा आश्रय है, वैराग्य ही हमारा बन्धु है, संकीर्तन ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है, इसीलिये हम यहाँ एकान्तमें पड़े अपने प्यारेके नामोंका उच्चारण कर रहे हैं।' इतना कहकर महाप्रभु फिर पूर्ववत् कीर्तन करने लगे।

इस उत्तरको पाकर तीर्थरामको सन्तुष्ट हो जाना चाहिये था और महाप्रभुको छोड़कर वेश्याओंके साथ अन्यत्र चले जाना चाहिये था, किन्तु उसका तो प्रभुके द्वारा उद्धार होना था, उसके मनमें ईर्ष्याका अङ्कुर उत्पन्न हुआ, वह सोचने लगा—'यह भी कोई अजीब आदमी है, विधाताने इसे इतना सौन्दर्य दिया है, चढ़ती जवानी है, किसी उच्च कुलका प्रतीत होता है, फिर भी ऐसी वैराग्यकी बातें कर रहा है। मालूम होता है, इसे सत्याबाई और लक्ष्मीबाईके समान रूपलावण्ययुक्त कोई ललना नहीं मिली है, यदि एक बार भी इसने ऐसी अनुपम सुन्दरीके दर्शन किये होते तो यह संन्यास और वैराग्य सभीको भूल जाता।'

इन बातोंको सोचते-सोचते वह अपनी दोनों संगिनियोंसे बोला—'मालूम होता है, इसने अभी संसारका सुख नहीं भोगा है, तभी यह ऐसी बढ़-बढ़कर बातें करता है?'

एक साथ ही दोनों जल्दीसे बोल उठीं—'अजी, चलो भी, किसकी बातें करने लगे। ये सब कामदेवके दण्डित व्यक्ति हैं, जहाँ इन्होंने ललनाओंके रूपकी निन्दा की, वहीं कामदेवने खप्पर हाथमें देकर इन्हें द्वार-द्वारका भिखारी बना दिया।'

तीर्थरामने कहा—'नहीं, ऐसी बात नहीं। इसके चेहरेमें आकर्षण है। कोई वैराग्यवान् साधु मालूम पड़ता है।'

इसपर उसकी बातका प्रतिवाद करती हुई लक्ष्मीबाई बोली—'हाँ, बिना मिलेके तो सभी त्यागी-वैरागी हैं। खानेको न मिला तो कह दिया एकादशी व्रत है। 'नारि मुई घर-संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ भये संन्यासी ॥' मुझ-जैसी कोई इनके पल्ले पड़ जाय तब हम देखें कि कैसे त्यागी बने रहते हैं ?'

तीर्थरामने उन दोनोंको उत्तेजना देते हुए कहा—'अच्छा, देखें तुम्हारी बात। यदि इसे अपने चंगुलमें फँसा लो तो जो चाहो वह इनाम तुम्हें दें।'

उन दोनोंको अपने रूप-लावण्यका गर्व था। वे मत्त सिंहिनीकी भाँति महाप्रभुकी ओर चलीं। तीर्थराम पास ही छिपकर उनकी सब बातोंको देखता रहा।

महाप्रभु एक करवटसे लेटे हुए श्रीकृष्ण-कीर्तन कर रहे थे। गोविन्द और कृष्णदास कुछ दूरीपर थे। वे वेश्याएँ वहाँ जाकर बैठ गयीं और अपने हाव-भाव-कटाक्षोंसे प्रभुकी अनन्यताको भङ्ग करनेकी चेष्टा करने लगीं। किन्तु प्रभुको पता भी नहीं कि कौन आया है, वे अपने नशेमें चूर थे, उन्हें दीन-दुनिया किसीका भी होश नहीं था। उन्हें वहाँ बैठे जब बहुत देर हो गयी तब लक्ष्मीबाईने सम्पूर्ण साहसको इकट्ठा करके कहा—'साधुबाबा ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ।'

पतित-पावन प्रभु तो इसके लिये तैयार ही बैठे थे। वे जल्दीसे उठ बैठे और उनपर करुणाभरी विकार-नाशिनी दृष्टि डालकर बड़े ही मधुर स्वरसे प्रेमके साथ बोले—'माताजी, इस दीन-हीन सन्तानके लिये क्या आज्ञा है, मैं आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ ?' उनकी दृष्टिमें और उनके इन शब्दोंमें पता नहीं क्या जादू था, वे दोनों अवाक् रह गयीं। काटो तो बदनमें लोहू नहीं। उनकी वाणी बन्द हो गयी, धैर्य छूट गया, और पश्चात्तापकी

अग्निने उनके हृदयमें एक प्रकारकी ज्वाला पैदा कर दी। वे आत्मग्लानिसे अभिभूत होकर जल्दीसे वहाँसे उठ खड़ी हुईं। तीर्थराम इन बातोंको सुन रहा था। प्रभुके संकीर्तनके श्रवणमात्रसे ही उसका धैर्य टूट गया था। अब रहा-सहा धैर्य इस असम्भव घटनाने तोड़ दिया। परमसुन्दरी दो युवती एकान्तमें जिससे प्रेमालाप करनेकी प्रार्थना करें और वह उन्हें माता कहकर सम्बोधन करे, यह कोई मनुष्य नहीं, ईश्वर है। यह संसारी प्राणीका काम नहीं, ये तो देवताओंके भी देवताओंका काम है। यह सोचते-सोचते वह महाप्रभुके पादपद्मोंमें जाकर गिर पड़ा और बड़े ही जोरसे चीत्कार मारकर कहने लगा—'हा प्रभो! मुझ पापीका भी उद्धार करो, प्रभो! मुझे अपने चरणोंकी शरण दो।'

महाप्रभुने उसे उठाकर छातीसे लगाया और प्रेममें विह्वल होकर जोर-जोरसे नृत्य करते हुए संकीर्तन करने लगे। वे अविरलभावसे प्रेमाश्रु विमोचन करते हुए नृत्य करने लगे। भावावेशमें उनके शरीरका वस्त्र जमीनपर गिर पड़ा। इससे उनके दीप्तिमान् श्रीअंगोंसे तेजकी किरणें फूट-फूटकर उस नीरव स्थानको आलोकित करने लगीं। वे वेश्याएँ भी इस अद्भुत चमत्कारको देखकर भावावेशमें अपनेको भूल गयीं और भगवान्के नामका कीर्तन करती हुई नृत्य करने लगीं।

तीर्थरामने प्रभुके श्रीचरणोंको जोरसे पकड़ लिया और बार-बार चिल्ला-चिल्लाकर वह कहने लगा—'प्रभो! मुझ पापीका भी किसी प्रकार उद्धार हो सकेगा? दयामय! मेरे पापोंका प्रायश्चित्त किसी तरह हो सकता है क्या?'

पतितपावन प्रभुने उसे उठाकर अपने गलेसे लगाया और कहा—'तीर्थराम! तुम पापी नहीं, पुण्यात्मा हो, तुम्हारे श्रीअङ्गके स्पर्शसे मैं पावन हुआ। तुम भाग्यवान् हो, प्रभुके कृपापात्र हो, अपने मनसे ग्लानि निकाल दो। करुणामय श्रीहरि सबका भला करते हैं। जो उनकी शरणमें

पहुँच जाता है, उसके पाप रहते ही नहीं। रुईके ढेरमें जैसे अग्नि पड़नेसे भस्म हो जाती है उसी प्रकार वे भस्म हो जाते हैं।'

महाप्रभुके इन आदेशमय वाक्योंको सुनकर तीर्थरामको कुछ धैर्य हुआ। उसने अपनेको महाप्रभुके श्रीचरणोंमें सर्वतोभावेन समर्पित कर दिया। महाप्रभुने उसे हरि-नाम-मन्त्रका उपदेश दिया और वह भी तिलक-कण्ठी धारण करके शुद्ध वैष्णव बन गया। दोनों वेश्याओंने भी अपने पापोंका प्रायश्चित्त किया और वे निरन्तर हरि-नाम-स्मरण करने लगीं।

तीर्थरामकी स्त्रीका नाम कमलकुमारीदेवी था, अपने पतिकी ऐसी दशा देखकर उसे परमानन्द हुआ। वह सती-साध्वी पतिव्रता पत्नी अपने पति-चरणोंका अनुगमन करनेवाली थी। उसने अत्यन्त ही दीन-भावसे प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और गद्गद कण्ठसे प्रार्थना की—'प्रभो! इस पापिनीका भी उद्धार कीजिये। मुझे भी अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये जिससे संसारसागरसे मैं भी पतिके चरणोंका अनुगमन कर सकूँ!'

महाप्रभुकी आज्ञासे तीर्थरामने अपनी पत्नीको हरि-नाम-मन्त्रका उपदेश दिया। वह भी अपना सारा धन कङ्गालोंको बाँटकर तीर्थरामके साथ हरि-नाम-संकीर्तन करने लगी।

महाप्रभु सात दिनतक वटेश्वरमें ठहरे। वहाँ रहकर वे धनीरामको उपदेश देते थे। प्रभुने उससे कहा—'बहुत ग्रन्थोंके मायाजालमें मत पड़ना। भगवान् केवल विश्वाससे ही प्राप्त हो सकते हैं। सम्पूर्ण जगत्के वैभवको तृणसमान समझना और निरन्तर भगवन्नाम-संकीर्तनमें लगे रहना। यही वेदशास्त्रोंका सार है।' इस प्रकार तीर्थराम और उन दो सुन्दरी वेश्याओंको प्रेम-दान करके महाप्रभु श्रीरंगम् चले गये थे और श्रीरंगम्में ही चतुर्मास किया। जब वर्षा समाप्त हो गयी, तब प्रभुने श्रीरंगम्से आगे चलनेका विचार किया

दक्षिणके तीर्थोंका भ्रमण (२)

परोपकृतिकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः ।
गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत् ॥*

साधारण मनुष्य जिन कामोंको करते हैं, उन्हींको महापुरुष भी किया करते हैं । किन्तु साधारण लोगोंके कार्य अपने सुखके लिये होते हैं और महापुरुषोंके काम समस्त जीवोंके कल्याणके निमित्त होते हैं । महात्मा तो स्वयं तीर्थस्वरूप हैं, उन्हें तीर्थ-यात्राकी आवश्यकता ही क्या ? उन्हें न तो स्वर्गकी ही इच्छा है और न पवित्र होनेकी । करोड़ों स्वर्ग उनके संकल्पसे उत्पन्न हो सकते हैं । और जगत्‌को पवित्र करनेकी शक्ति उनमें स्वयं ही मौजूद है । ऐसी स्थितिमें उनका तीर्थ-भ्रमण केवल-मात्र परोपकार और जीवोंके उद्धारके ही निमित्त होता है, इसीलिये महाप्रभु श्रीनीलाचलको छोड़कर सुदूर दक्षिण-प्रान्तके तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे । वे जहाँ भी पधारें, वही तीर्थ धन्य हो गये और वहाँके नर-नारी कृतकृत्य हो गये ।

* जनार्दन भगवान्‌ने परोपकार और मोक्षको लेकर तराजूमें तोला । इससे परोपकारका पलड़ा भारी जानकर ही उन्होंने परोपकार करनेके निमित्त (अजन्मा होकर भी) दश अवतार धारण किये ।

चातुर्मास बिताकर महाप्रभु वेङ्कट भट्टसे विदा लेकर श्रीरङ्गम् होते हुए ऋषभ-पर्वतपर गये। वहाँपर उन्होंने सुना कि स्वामी परमानन्द-पुरीमहाराज यहीं ठहरे हुए हैं। इस संवादको सुनकर प्रभु पुरी-महाराजके दर्शनोंके लिये उनके निवास-स्थानपर गये और वहाँ जाकर उनकी चरण-वन्दना की। पुरीमहाराजने प्रभुको प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया और तीन दिनतक दोनों साथ ही रहकर कृष्ण-कथा, कृष्ण-कीर्तन करते रहे। पुरीमहाराजने कहा—'मेरी इच्छा है कि मैं श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌के दर्शन करके गङ्गा-स्नानके निमित्त नवद्वीप जाऊँ।'

महाप्रभुजीने कहा—'आप तबतक चलें, नवद्वीपसे लौटकर आप फिर पुरी ही आवें। मैं भी सेतुबन्ध रामेश्वरके दर्शन करता हुआ शीघ्र ही पुरी आनेका विचार कर रहा हूँ, यदि भगवत्-कृपा हुई तो हम दोनों साथ-ही-साथ नीलाचलमें रहेंगे।' यह कहकर प्रभु तो सेतुबन्ध रामेश्वरकी ओर चले और पुरीमहाराजने जगन्नाथपुरीका रास्ता पकड़ा।

महाप्रभु अनेक वन, पर्वत और ग्रामोंमें होते हुए शैलपर्वतपर पहुँचे। वहाँ ब्राह्मण-ब्राह्मणीका वेष धारण किये हुए शिव-पार्वतीजीका प्रभुने आतिथ्य ग्रहण किया, वहाँसे कामकोष्ठीपुरी होते हुए वे दक्षिण मथुरा पहुँचे।

वहाँपर एक ब्राह्मणने प्रभुको निमन्त्रित किया। वह ब्राह्मण प्रतिक्षण रोता-रोता 'सीताराम, सीताराम' रटता रहता था। प्रभुने उसका निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया और मध्याह्न-स्नान करके उसके घर भिक्षा करने पहुँचे। महाप्रभुने जाकर देखा उसने कुछ भी भोजन नहीं बनाया है। उदासभावसे चुपचाप बैठा है।

महाप्रभुने हँसकर पूछा—'विप्रवर! आपने अभीतक भोजन क्यों नहीं बनाया है?'

अत्यन्त ही सरलताके साथ ब्राह्मणने कहा—'प्रभो ! यहाँ अयोध्यापुरीकी तरह वैभव थोड़ा ही है, जो दास-दासी सब काम क्षणभरमें कर दें। यहाँ तो अरण्यवास है, लक्ष्मणजी जंगलोंसे फल-फूल लावेंगे, तब कहीं सीता माता रन्धन करेंगी, तब मेरे सरकार प्रसाद पावेंगे।'

महाप्रभु उस भक्त ब्राह्मणके ऐसे विशुद्ध भावको देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए प्रेममें उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे। अब वह ब्राह्मण उठा और अस्त-व्यस्त भावसे भोजन बनाने लगा। तीसरे पहर जाकर कहीं भोजन बना। उसने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके सहित प्रभुको भिक्षा करायी। प्रभुको भिक्षा कराके वह निराहार ही बना रहा। उसने कुछ भी प्रसाद नहीं पाया।

तब प्रभुने पूछा—'विप्रवर ! आपने प्रसाद नहीं पाया, यह क्या बात है ? आप इतने दुःखी क्यों हैं ? अपने दुखका मुझे ठीक-ठीक कारण बताइये ?'

उस ब्राह्मणने रोते-रोते कहा—'प्रभो ! जगज्जननी सीतामाताको दुष्ट रावण अपने पापी हाथोंसे पकड़ ले गया। उस दुष्ट राक्षसने माताका स्पर्श किया, इससे बढ़कर मेरे लिये और दुःख हो ही क्या सकता है, मैं अब जीवन धारण न करूँगा। जब मुझे यह बात स्मरण होती है तभी मेरा कलेजा फटने लगता है।'

महाप्रभु उसके ऐसे दृढ़ अनुरागको देखकर मुग्ध हो गये। ओहो ! कितना ऊँचा भाव है, इसे महापुरुषके सिवा और कोई समझ ही क्या सकते हैं ? प्रभुने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा—'विप्रवर ! आप इतने भारी विद्वान् होकर भी ऐसी भूली-भूली बातें करते हैं। भला, जगज्जननी-सीतामाताको चुरा ले जानेकी शक्ति किसीमें हो ही कैसे सकती है !

यह तो भगवान्‌की एक लीला थी। आप भोजन करें और इस बातको मनमेंसे निकाल दें।'

महाप्रभुके आग्रहसे उसने थोड़ा-बहुत प्रसाद पा लिया, किन्तु उसे पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें तो स्पष्ट सीता-माताका हरण लिखा हुआ है। इसीलिये वह ब्राह्मण चिन्तित ही बना रहा। महाप्रभु भी दूसरे दिन आगेको चल दिये।

दक्षिण मथुरासे चलकर महाप्रभुने कृतमाला-तीर्थमें स्नान किया और महेन्द्र-पर्वतपर जाकर परशुराम भगवान्‌के दर्शन किये। वहाँसे सेतुबन्ध रामेश्वरके दर्शन करते हुए वे धनुस्तीर्थमें पहुँचे और उस तीर्थमें स्नान करके श्रीरामेश्वरमें पहुँचे। वहाँ शिवजीके दर्शन करके प्रभु लौट ही रहे थे कि कुछ ब्राह्मणोंको वहाँ बैठे हुए देखा। वहाँपर कूर्मपुराणकी कथा हो रही थी। प्रभु भी कथा सुननेके लिये बैठ गये। दैवयोगसे उस समय सीताजीके हरणका ही प्रसंग हो रहा था। प्रभुने कूर्मपुराणमें सुना—'जिस समय जनकनन्दिनी सीताजीने दशग्रीव रावणको देखा, तब उन्होंने अग्निकी आराधना की। उसी समय अग्निने सीताको अपने पुरमें रख लिया और उसकी छायाको बाहर रहने दिया। राक्षसराज रावण सीताजीकी उस छायाको ही हरकर ले गया था। जब रावणको मारकर भगवान्‌ने सीताजीकी अग्नि-परीक्षा की तब अग्निने असली सीताजीको निकालकर दे दिया। वास्तवमें रावण सीताजीकी छायाको ही हरकर ले गया था। असली सीताजीका तो उसने स्पर्शतक नहीं किया।'

भक्तवत्सल महाप्रभु इस प्रसंगको सुनकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा—'इसकी प्रतिलिपि करके उस परमभक्त रामदासको दिखानी चाहिये।' फिर प्रभुने सोचा—'यदि मैं नवीन पत्रपर

प्रतिलिपि करके ले गया तो बहुत सम्भव है, नूतन श्लोक समझकर उसे विश्वास न हो।' इसलिये प्रभुने उस कथा कहनेवाले ब्राह्मणसे कहा—'हम इस पृष्ठकी नकल करके आपको दे देंगे। इस पुराने पृष्ठको आप हमें दे दें।' कथावाचकने प्रभुकी इस बातको स्वीकार कर लिया और प्रभुने उसकी नूतन प्रतिलिपि करके तो उस कथावाचकको दे दी और वह पुराना पृष्ठ अपने पास रख लिया।

उस पृष्ठको लेकर दयालु गौराङ्ग फिर दक्षिण मथुरामें रामभक्त ब्राह्मणके घर आये और उसे कूर्मपुराणके पुराने पृष्ठको दिखाते हुए प्रभुने कहा—'लीजिये, अब तो आपका सन्तोष होगा। यह तो कूर्म-पुराणमें ही लिखा है कि रावण सीताजीकी छायाको हरकर ले गया था।'

महाप्रभुकी दयालुताको देखकर वह ब्राह्मण प्रेममें व्याकुल होकर रुदन करने लगा। प्रभुके पैरोंको पकड़कर उसने रोते-रोते कहा—'आज आपने मेरे दुःखको दूर किया। आप मेरे इष्टदेव श्रीरघुनाथजी ही हैं। मेरे इष्टदेवके सिवा ऐसी असीम कृपा दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। आज आपके अमोघ दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया। आपने अनुग्रह करके शोकसागरमें डूबते हुए मुझ निराश्रयका उद्धार कर दिया। प्रभो! मैं आपकी स्तुति ही क्या कर सकता हूँ?'

उस ब्राह्मणकी ऐसी स्तुति सुनकर प्रभुने कहा—'विप्रवर! मैं आपकी भक्ति देखकर बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हुआ हूँ। ऐसा सच्चा भक्त मुझे और कहीं नहीं मिला।' इस प्रकार उस ब्राह्मणको सन्तुष्ट और कृतार्थ करके महाप्रभु आगेके तीर्थोंमें जानेका विचार करने लगे।

दक्षिणके शेष तीर्थोंमें भ्रमण

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥*

(श्रीमद्भा० १०।८।४)

दक्षिण मथुरासे चलकर महाप्रभु पाण्डुदेशमें ताम्रपर्णी, नयत्रिपदी, चियड़तला, तिलकाञ्ची, गजेन्द्रमोक्षण, पानागड़ि, चामतापुर, श्रीवैकुण्ठ, मलयपर्वत, धनुस्तीर्थ, कन्याकुमारी आदि तीर्थोंमें होते हुए और अपने अमोघ-दर्शनोंसे लोगोंको कृतार्थ करते हुए मल्लारदेशमें पहुँचे। उधर भट्टथारी नामसे साधुवेषधारी लोगोंका एक दल होता है। वे लोग एक स्थानपर नहीं रहते हैं। उनका वेष साधुओंका-सा होता है, किन्तु उनका व्यवहार अच्छा नहीं होता। जिस प्रकार भूमरिया या बंजारे अपने डेरा-तम्बू लादकर घूमते रहते हैं, उसी प्रकार वे लोग भी एक स्थानसे दूसरे स्थानोंमें घूमा करते हैं। उनमेंसे बहुत-से तो रात्रिमें चोरी भी कर लेते हैं। भूली-भटकी स्त्रियोंको वे बहकाकर अपने साथ रख लेते हैं। इस प्रकार वे अपने दलको बढ़ाया करते हैं। महाप्रभु रात्रिमें उनके समीप ही ठहरे थे। उन लोगोंने महाप्रभुके सेवक कृष्णदासको बहका लिया। उसे सुन्दर स्त्री और धनका लोभ दिया। उन्होंने उसे भाँति-भाँतिसे समझाया—'तू इस विरक्त साधुके पीछे-पीछे क्यों मारा-मारा फिरता है, न भोजनका ठिकाना और न रहनेकी ही सुविधा। हमारा चेला बन जा। हमारे यहाँ अनेकों सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ हैं, जिसे

* हे भगवन्! आप-जैसे महानुभावोंका जाना यदि कहीं होता भी है, तो केवल दीन-हीन गृहस्थियोंके कल्याणके ही निमित्त होता है, इसके सिवा आप-जैसे महापुरुष अपने स्वार्थके निमित्त कदापि कहीं नहीं जाते।

चाहे रखना, खाने-पीनेकी हमारे यहाँ कमी ही नहीं। रोज हलुआ, मोहन-भोग घुटता है।' बेचारा अनपढ़ सीधा-सादा गरीब ब्राह्मण उनकी बातोंमें आ गया। वह महाप्रभुको छोड़कर धीरेसे उठकर उन लोगोंके साथ चला गया। जब महाप्रभुको यह बात मालूम हुई तो वे उन लोगोंके पास गये और उनसे सरलतापूर्वक कहने लगे—'भाइयो! आपने यह अच्छा काम नहीं किया है। मेरे साथीको आपने बहकाकर अपने यहाँ रख लिया है, ऐसा करना आपलोगोंके लिये उचित नहीं है, आप भी संन्यासी हैं और मैं भी संन्यासी हूँ। आपके साथ बहुत-से आदमी हैं, मेरे पास तो यह अकेला ही है, इसलिये मेरे आदमीको कृपा करके आप दे दें नहीं तो इसका परिणाम अच्छा न होगा।'

महाप्रभुकी ऐसी बात सुनकर वे वेषधारी संन्यासी प्रभुके ऊपर प्रहार करनेको उद्यत हो गये, किन्तु प्रभुके प्रभावसे प्रभावान्वित होकर वे भाग गये और महाप्रभु कृष्णदासको उन लोगोंसे छुड़ाकर आगेके लिये चले। वहाँसे चलकर महाप्रभु पयस्विनी नामक नदीके तटपर पहुँचे। वहाँ उन्हें प्राचीन लिखी हुई ब्रह्मसंहिता मिल गयी, उस अद्भुत ग्रन्थको लेकर प्रभु शृंगेरीमठमें पहुँचे। यह भगवान् शंकराचार्यका दक्षिण दिशाका प्रधान मठ है। भगवान् शंकराचार्यने वेद-शास्त्रोंकी रक्षा और धर्म-प्रचारके निमित्त भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें चार मठ स्थापित किये। उत्तर दिशामें बदरिकाश्रमके समीप जोशीमठ, पूर्वमें जगन्नाथ-पुरीमें गोवर्द्धनमठ, द्वारकापुरीमें शारदामठ और दक्षिणमें शृंगेरीमठ। इनमेंसे जोशीमठको छोड़कर शेष तीनों मठोंके मठाधीश आजतक शंकराचार्यके ही नामसे पुकारे जाते हैं। महाप्रभुका सम्बन्ध भी दशनामी सम्प्रदायके संन्यासियोंसे ही था।

शृंगेरीमठसे चलकर महाप्रभु मत्स्यतीर्थ होते हुए उडूपी स्थानमें मध्वाचार्यके मठपर पहुँचे और वहाँ गोपाल भगवान्के दर्शन

किये। वहाँके तत्त्ववादियोंके साथ प्रभु शास्त्रविचार करते हुए दो-तीन दिनतक रहे। वहाँसे फल्गुतीर्थ, त्रिकूप, पम्पापुर, सूर्पारक, कोल्हापुर आदि तीर्थ-स्थानोंमें होते हुए पण्ढरपुरमें आये। यहाँपर एक ब्राह्मणने महाप्रभुका निमन्त्रण किया। महाप्रभु उसका निमन्त्रण स्वीकार करके उसके यहाँ भिक्षा करने गये। उसने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे प्रभुको भिक्षा करायी। बातों-ही-बातोंमें उसने कहा—'यहाँपर एक बड़े ही योग्य और भगवद्भक्त महात्मा ठहरे हुए हैं। सम्भवतया आपने श्रीमन्माधवेन्द्र-पुरीमहाराजका नाम तो सुना ही होगा, वे महात्मा उन्हींके शिष्य हैं, उनका नाम श्रीरङ्गपुरी है।' इतना सुनते ही प्रभु प्रेममें विभोर हो गये। उन्होंने जल्दीसे कहा—'विप्रवर! आप मुझे जल्दीसे श्रीरङ्गपुरी महाराजके समीप ले चलें।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह ब्राह्मण प्रभुको साथ लेकर रङ्गपुरीमहाराजके समीप पहुँचा। प्रभुने दूरसे ही पुरीमहाराजको देखकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। पुरीमहाराजने प्रणत हुए प्रभुको उठाकर गलेसे लगाया और उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'आपकी आकृतिसे ही प्रतीत हो रहा है कि आप कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। संन्यासी होकर भी इतनी नम्रता, यह तो महान् आश्चर्यकी बात है। इतनी सरलता, इतनी भक्ति और ऐसे प्रेमके सात्त्विक विकार मेरे गुरुदेवके कृपापात्र संन्यासियोंको छोड़कर और किसी संन्यासीमें नहीं पाये जाते। आप अपना परिचय मुझे दीजिये।'

प्रभुने अत्यन्त ही विनीत भावसे कहा—'संन्यासियोंमें भक्तिभावके प्रवर्तक भगवान् माधवेन्द्रपुरीके प्रधान शिष्य श्रीमत् ईश्वरपुरीमहाराज मेरे मन्त्र-दीक्षा-गुरु हैं। संन्यासके गुरु मेरे श्रीमत् केशव भारती महाराज हैं।'

श्रीरङ्गपुरीमहाराजने पूछा—'आपकी पूर्वाश्रमकी जन्म-भूमि कहाँ है?'

प्रभुने सरलताके साथ कहा—'इस शरीरका जन्म गौड़देशमें भगवती भागीरथीके तटपर नवद्वीप नामक नगरमें हुआ है।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए पुरीमहाराज कहने लगे—'ओहो! तब तो आप अपने बड़े ही निकट सम्बन्धी हैं। श्रीअद्वैताचार्यको तो आप जानते ही होंगे, मैं अपने गुरुदेवके साथ पहले नवद्वीप गया था। वहाँपर जगन्नाथ मिश्र नामके एक बड़े श्रद्धालु ब्राह्मण हैं, उनकी पत्नी तो साक्षात् अन्नपूर्णादवी ही है। मैंने एक दिन उनके घर भिक्षा की थी। उस ब्राह्मणीने मुझे बड़ी ही श्रद्धाके सहित भिक्षा करायी थी। उनका एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्र संन्यासी हो गया था। वह तो बड़ा ही होनहार था। किन्तु दैवकी गति बड़ी विचित्र होती है, संन्यास लेनेके दो वर्ष बाद, उसने यहींपर शरीर त्याग दिया। उसका संन्यासका नाम शंकरारण्य था।'

इस बातको सुनकर प्रभु कुछ विस्मित-से हो गये। उनके दोनों स्वच्छ और बड़े-बड़े कमलके समान नेत्रोंमें आप-से-आप ही जल भर आया। रुँधे हुए कण्ठसे उन्होंने कहा—'भगवन्! वे महाभाग शङ्करारण्य स्वामी मेरे पूर्वाश्रमके अग्रज थे।'

इस बातको सुनते ही पुरीमहाराजने प्रभुका फिर आलिंगन किया और कहने लगे—'क्या आप सब-के-सब संन्यासी ही हो गये या घरपर कोई और भी भाई है?'

प्रभुने नीचेको सिर करके धीरेसे कहा—'घरपर तो वे ही श्रीहरि हैं, जिनका आपने पहले नाम लिया। मेरे पूर्वाश्रमके पिता तो परलोकवासी हो गये। हम दो ही भाई थे, सो दोनों ही आपके चरणोंकी शरणमें आ गये। अब घरपर वृद्धा माता ही हैं।'

पुरीने कहा—'भाई! आपका ही कुल धन्य है, आपके ही माता-पिताका पुत्र उत्पन्न करना सार्थक हुआ।' इस प्रकार दोनोंमें और भी परमार्थ-सम्बन्धी बहुत-सी बातें होती रहीं। दो-तीन दिनतक दोनों ही साथ-साथ रहे। अन्तमें पुरीमहाराज तो द्वारकाके लिये चले गये और महाप्रभु श्रीविट्ठलनाथजीके दर्शन करके आगे बढ़े।

पण्ढरपुरमें भीमानदीमें स्नान करके महाप्रभु कृष्णवीणा-नदीके किनारे आये। वहाँ ब्राह्मणोंके समीपसे प्रभुने श्रीबिल्वमङ्गलकृत 'कृष्णकर्णामृत' नामक अपूर्व रसमय ग्रन्थका संग्रह किया। ब्रह्मसंहिता और कृष्णकर्णामृत—इन दोनों पुस्तकोंको यत्नपूर्वक साथ लिये हुए प्रभु तासीनदीके निकट आये। वहाँ पुण्यतोया तासीनदीमें स्नान करके महिष्मतीपुर होते हुए वे नर्मदाजीके किनारे आये, वहाँ ऋष्यमूक-पर्वतको देखते हुए, दण्डकारण्यके समस्त तीर्थोंको पावन करते हुए सप्तताल-तीर्थका उद्धार किया। महाप्रभुने नीलगिरि-प्रदेशमें भ्रमण करते समय असंख्य लोगोंको श्रीकृष्ण-प्रेममें उन्मत्त बनाया। इसी प्रकार भ्रमण करते हुए गुर्जरी नगरमें आकर उपस्थित हुए। यहाँपर एक अर्जुन नामके शुष्क वेदान्ती पण्डितको प्रभुने श्रीकृष्ण-तत्त्व समझाया और उसे प्रेम-प्रदान किया।

गुर्जरी नगरसे महाप्रभु बीजापुरके पार्वत्य-प्रदेशमें भ्रमण करते हुए और अनेक पुण्य-तीर्थोंमें दर्शन, स्नान, मार्जन और आचमन करते हुए पूर्ण-नगरमें पहुँचे। वहाँ एक सरोवरके निकट प्रभुने वास किया। वह नगर बड़ा ही समृद्धिशाली था, उसमें संस्कृतके बहुत-से विद्वान् पण्डित थे और अनेक पाठशालाएँ थीं। महाप्रभुको उन दिनों श्रीकृष्ण-विरहका अत्यन्त ही प्राबल्य था, वे सरोवरके तीरपर बैठे हुए बड़े जोरोंसे रोते हुए चिल्ला रहे थे 'हा प्राणनाथ! हा हृदयेश्वर! तुम कहाँ हो, नाथ! दर्शन दो। प्राण-वल्लभ शीघ्र आओ, तुम कहाँ छिपे हो।' प्रभुके करुण-क्रन्दनको सुनकर बहुत-से नर-नारी वहाँ एकत्रित हो गये। उनमें कुछ अपनेको

तत्त्वज्ञानी माननेवाले शुष्क तार्किक भी थे। प्रभु अत्यन्त ही दीनभावसे उनसे पूछने लगे—'आप कृपा करके मेरे प्राणनाथका पता जानते हों, तो बताइये। वे कहाँ हैं, मुझे छोड़कर वे कहाँ छिप गये ?'

उन पण्डितोंमेंसे एक अत्यन्त ही शुष्क हृदयवाला पण्डित बोल उठा—'तेरे कृष्ण इस जलमें छिपे हैं।' बस, इतना सुनना था कि महाप्रभु उसी क्षण छलाँग मारकर जलमें कूद पड़े। लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। सर्वत्र हाहाकार मच गया। बहुत-से पुरुष उसी क्षण सरोवरमें कूद पड़े और प्रभुको जलसे बाहर निकाला। इसपर सभी लोग उस पण्डितको धिक्कार देने लगे। वह भी अपना-सा मुँह लेकर मारे शर्मके उसी क्षण चला गया।

यहाँसे चलकर प्रभु भोलेश्वर होते हुए जिजूरी-नगरमें पहुँचे। यहाँपर खाण्डवादेवका बड़ा भारी मन्दिर है। यहाँ एक बड़ी ही बुरी प्रथा है। जिस कन्याका विवाह नहीं होता उसे माता-पिता देवताके अर्पण कर देते हैं और उसे 'देव-दासी' कहते हैं। उनमें अधिकांश दुश्चरित्रा और व्यभिचारिणी होती हैं। महाप्रभुने जब यह बात सुनी तब वे स्वयं इन अभागी पतिता नारियोंको देखनेके लिये खाण्डवादेवके मन्दिरमें गये। प्रभुने अपनी आँखोंसे उन अभागिनियोंकी दुर्दशा देखी। उनकी दयनीय दशा देखकर दयामय श्रीचैतन्य उनसे बोले—'देवियो! तुम धन्य हो, तुम्हारा ही जीवन सार्थक है, अन्य स्त्रियोंके पति तो हाड़-मांसके पुतले नश्वर शरीरवाले मनुष्य होते हैं, किन्तु तुम्हारे पति तो साक्षात् श्रीहरि हैं। गोपिकाओंने श्रीहरिको पति बनानेके लिये असंख्यों वर्ष तप किया था। असलमें सच्चे पति तो वे ही नन्द-नन्दन हैं, इसलिये तुम सब प्रकारसे मन लगाकर श्रीकृष्ण-नामका ही कीर्तन किया करो। श्रीहरिके ही नामका सदा स्मरण किया करो। उनका नाम

पतितपावन हैं, सच्चे हृदयसे जो एक बार भी यह कह देता है, कि मैं तुम्हारी शरण हूँ, तो वे सभी पापोंको क्षमा कर देते हैं। श्रीभगवन्नाम-संकीर्तनमें अनन्त शक्ति है।' यह कहकर महाप्रभु स्वयं अपने दोनों बाहुओंको उठाकर उच्चस्वरसे हरि-नाम-संकीर्तन करने लगे। उस समय प्रेमके भावावेशमें उनके दोनों नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही थी, शरीरके रोम खड़े हुए थे, रोम-कूपोंमेंसे पसीना फव्वारेकी तरह निकल रहा था। उनकी ऐसी दशा देखकर सभी देव-दासियाँ अपने नारी सुलभ कमनीय कण्ठसे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस महामन्त्रका उच्चस्वरसे कीर्तन करने लगीं। सम्पूर्ण देवालय महामन्त्रकी ध्वनिसे गूँजने लगा। उस संकीर्तनकी बाढ़में उन देव-दासियोंके समस्त पाप धुलकर बह गये, वे भगवन्नामके प्रभावसे निष्पाप बन गयीं। उनमेंसे जो प्रधान देव-दासी थी, उसका नाम इन्दिरा था, वह आकर प्रभुके चरणोंमें गिर पड़ी और अत्यन्त ही दीन-भावसे कहने लगी—'प्रभो! व्यभिचार करते-करते मेरी यह अवस्था हो गयी। अब ऐसी कृपा कीजिये कि श्रीहरिके चरणोंमें भक्ति हो।' प्रभुने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा—'देवि! श्रीकृष्ण दयामय हैं, वे दीनोंपर अत्यन्त ही शीघ्र कृपा करते हैं। तुम उनका ही भजन करो, उन्हींकी शरणमें जाओ तुम्हारा कल्याण होगा।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके उसने अपना सर्वस्व दीन-हीन-गरीबोंको बाँट दिया और स्वयं भिखारिणीका वेष बनाकर मन्दिरके द्वारपर भिक्षान्नसे निर्वाह करती हुई, अहर्निश श्रीकृष्ण-कीर्तनमें मग्न रहने लगी। और भी कई देव-दासियोंने उसके पथका अनुसरण किया।

नौरोजी डाकूका उद्धार

> संसारसिन्धुतरणे हृदयं यदि स्यात्
> सङ्कीर्तनामृतरसे रमते मनश्चेत्।
> प्रेमाम्बुधौ विहरणे यदि चित्तवृत्ति-
> श्चैतन्यचन्द्रचरणं शरणं प्रयातु॥*
>
> (प्रबोधानन्द सरस्वती)

प्रेममें न भय है, न द्वेष। जिसने प्रेमका प्याला पी लिया है, उसे संसारमें सर्वत्र उसी एक परम प्रेमास्पद प्रभुका ही रूप दिखायी देता है, जब सभी अपने प्रेमास्पद हैं तो भय किसका। भय तो दूसरेसे होता है।

---

* संसार-सागरको पार करनेकी यदि तुम्हारे हृदयमें प्रबल इच्छा है, यदि संकीर्तनामृतरसपान करनेके लिये तुम्हारा मन चाहता है, यदि प्रेम-पयोधिमें प्रेमपूर्वक विहार करनेके लिये तुम्हारे चित्तकी वृत्तियाँ छटपटाती हैं तो तुम श्रीचैतन्य-चरणोंकी शरण लो (तुम्हारा मङ्गल होगा)।

नौरोजी डाकूको प्रेमदान

अपने आपसे किसीको भय नहीं। द्वेष गैरसे किया जाता है, जब सभी श्यामसुन्दरके हैं तब द्वेष किससे करें और क्यों करें ?

महाप्रभु गौराङ्गदेव इस प्रकार खाण्डयादेवमें देव-दासियोंको श्रीकृष्ण-कीर्तनका उपदेश देकर आगेको चले। वहाँसे थोड़ी दूरपर एक चोरानन्दी वन था, इस वनमें बहुत-से डाकू बसते थे। उन सब डाकुओं-का दलपति नौरोजी डाकू था, वह बड़ा ही क्रूर और हिंसक था। सभी लोग उसके नामसे थर्राते थे, उस प्रदेशमें उसके नामका आतंक था। जब प्रभुने उस वनमें प्रवेश करनेका विचार किया तो लोगोंने उन्हें वहाँ जानेसे मना किया और कहा कि 'वे डाकू बड़े हिंसक हैं, आपका उधरसे जाना ठीक नहीं है।' किन्तु महाप्रभु उनकी बातको क्यों मानने लगे। उन्होंने कहा—'भाई, डाकू लोग तो रुपये-पैसेके लिये लोगोंको मारते हैं। हम घर-घरके भिखारी-संन्यासी हैं, हमें मारकर वे क्या लेंगे ? वे यदि हमारी जान ही लेना चाहते हों तो भले ही ले लें। इस शरीरसे यदि किसीका भी काम चल जाय तो बड़ा उत्तम है।' ऐसा कहकर प्रभु उस वनमें घुस गये। वहाँ एक वृक्षके नीचे प्रभु पड़ रहे और शनैः शनैः सुमधुर हरि-नाम-संकीर्तन करने लगे। दलपति नौरोजीने सुना कि कोई संन्यासी यहाँ हमारे जङ्गलमें आया है, वह अपने दलके अनेक पुरुषोंके साथ प्रभुके पास आया और प्रभुको भोजनके लिये निमन्त्रित किया तथा अपने स्थानपर चलनेका आग्रह किया। प्रभुने कहा—'हम तो संन्यासी हैं, वृक्षतले ही हमारा आसन ठीक है, रही भोजनकी बात, सो भिक्षा ही हमारा एकमात्र आधार है, आप जो भिक्षा ले आवेंगे उसे हम सहर्ष स्वीकार करेंगे।'

प्रभुकी ऐसी आज्ञा पाकर उसने अपने दलके आदमियोंको आज्ञा दी; वे बात-की-बातमें भाँति-भाँतिकी खानेकी सामग्री ले आये। महाप्रभु श्रीकृष्ण-प्रेममें विभोर थे, उन्हें शरीरका ज्ञान ही नहीं था, वे प्रेममें

गद्‌गद कण्ठसे उन्मत्तकी तरह कीर्तन कर रहे थे, कभी-कभी नाचने भी लगते थे। नौरोजी अपने दल-बल-सहित प्रभुको घेरे बैठा था। महाप्रभुके इस अभूतपूर्व अलौकिक प्रभु-प्रेमको देखकर उसका भी पत्थर-जैसा हृदय पसीज गया। उसने जीवनभर लोगोंकी हिंसा की थी और डाके ही डाले थे। इस समय उसकी अवस्था साठ वर्षके लगभग थी। महाप्रभुके अलौकिक प्रेमने उस साठ वर्षके बूढ़े डाकूके ऊपर भी अपना जादू डाल दिया। वह धीरे-धीरे प्रभुके पाद-पद्मोंको पकड़कर कहने लगा—'स्वामीजी! आप यह कौन-सा मन्त्र उच्चारण कर रहे हैं, मुझे भी इस मन्त्रका उपदेश दीजिये। पता नहीं आपने मेरे ऊपर क्या जादू डाल दिया है कि अब मेरा मन हिंसा और डकैतीसे बिल्कुल हट गया है। अब मैं भी आपके चरणोंकी शरणमें रहकर निरन्तर श्रीकृष्ण-कीर्तन करना चाहता हूँ। आप मुझे इस मन्त्रका उपदेश दीजिये। भगवन्! मेरा जन्म वैसे तो ब्राह्मण-वंशमें ही हुआ है, किन्तु बाल्यकालसे ही मैंने हिंसा और डकैतीका काम किया है, आजतक कभी भी मेरे मनमें इन कामोंसे वैराग्य नहीं हुआ, किन्तु न जाने आज आपके दर्शनसे मुझे क्या हो गया कि अब कुछ अच्छा ही नहीं लगता। अब मैं आपके चरणोंको नहीं छोड़ूँगा। आप मुझे अपनी पदधूलि प्रदान करके कृतार्थ कीजिये और जिस मन्त्रके संकीर्तनसे आप इतने आनन्दमग्न हो रहे हैं, उसका उपदेश मुझे भी कीजिये।'

प्रभुने उसकी ऐसी आर्तवाणी सुनकर कहा—'नौरोजी! तुम बड़े ही भाग्यशाली हो, जो इस वृद्धावस्थामें तुमको ऐसा निर्वेद हुआ। श्रीकृष्ण-कीर्तन ही संसारमें सार है। ये धन-रत्न तो सभी नश्वर और क्षणभङ्गुर हैं। तुम घबड़ाओ मत, भगवान् तो प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि चाहे कोई कितना भी बड़ा दुराचारी क्यों न हो, यदि वह अनन्यभावसे मुझे भजता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिये। दयालु श्रीहरिने तुम्हारे

ऊपर परम कृपा की जो तुम्हें सद्बुद्धि प्रदान की, अब तुम निरन्तर हरि-नाम-कीर्तन ही किया करो।' ऐसा उपदेश करके प्रभुने उसे महामन्त्रकी दीक्षा दी।

प्रातःकाल उठकर प्रभु चलनेको तैयार हुए तो नौरोजीने भी अपने सभी अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये और अपने दलके सब आदमियोंको बुलाकर वह गद्गद कण्ठसे कहने लगा—'भाइयो! हम सब इतने दिन साथ रहे, तुम्हें मैं समय-समयपर उचित-अनुचित आज्ञा देता रहा और तुमने भी प्राणोंकी कुछ भी परवा न करके मेरी समस्त आज्ञाओंका पालन किया। साथमें रहनेसे और नित्यके व्यवहारोंसे गलती और अपराधोंका होना स्वाभाविक ही है; इसलिये भाई! मुझसे जिसका भी कोई अपकार हुआ हो, वह मुझे सच्चे हृदयसे क्षमा कर दे। अब मैं अपने भगवान्‌की शरणमें जा रहा हूँ जिनकी शरणमें जानेसे पापी-से-पापी भी सुखी और निर्भय हो जाता है। अब मैं किसी जीवकी हिंसा न करूँगा। आजसे मेरे लिये सभी प्राणी उस परमपिता परमात्माके पुत्र हैं। जान-बूझकर अब मैं एक चींटीकी भी हिंसा न करूँगा। बाल्यकालसे अबतक मैंने धनके लिये न जाने कितने पाप किये हैं, कितनी हिंसाएँ की हैं। अरबों-करोड़ों रुपये इन हाथोंसे लूटे हैं और खर्च किये हैं। अब मैं द्रव्यको अपने हाथोंसे स्पर्श भी न करूँगा। अबतक हजारों आदमियोंका मेरे द्वारा प्रतिपालन होता था, आजसे मैं स्वयं भिखारी बन गया हूँ, अब पेटकी ज्वालाको बुझानेके लिये मैं द्वार-द्वारपर मधुकरी भिक्षा करूँगा। तुम लोग मुझे क्षमा करो और ऐसा आशीर्वाद दो कि मैं अपने शेष जीवनको इसी प्रकार श्रीकृष्ण-प्रेममें पागल बनकर बिताऊँ।'

नौरोजीकी ऐसी बात सुनकर उसके दलके सभी डाकू रोने लगे। उसका दल छिन्न-भिन्न हो गया, बहुतोंने डाका डालनेका काम छोड़ दिया। नौरोजी प्रभुके साथ चल दिया।

आजतक बहुत-से आदमियोंने प्रभुसे साथ चलनेकी प्रार्थना की थी, किन्तु प्रभुने किसीको भी साथ नहीं लिया। परम भाग्यवान् नौरोजीके भाग्यकी कोई कहाँतक प्रशंसा करे, जिसे प्रभुने प्रसन्नतापूर्वक साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

आगे-आगे महाप्रभु उनके पीछे गोविन्ददास और सबसे पीछे नौरोजी संन्यासी चलते थे। इस प्रकार चलते-चलते खण्डलामें पहुँचे। वहाँपर लोगों-ने महाप्रभुका खूब सत्कार किया, वहाँसे चलकर प्रभु नासिक आये और वहाँ पञ्चवटीमें नृत्य-कीर्तन करते हुए आनन्दमें मग्न हो गये। नौरोजी महाप्रभुके श्रीअङ्गके पसीनेको बार-बार पोंछते रहते थे। उस समयके बड़ौदाके महाराजा बड़े ही भक्त थे। उन्होंने बहुत द्रव्य लगाकर भगवान्का एक मन्दिर बनवाया था, उसमें स्वयं ही भगवान्की पूजा तथा साधु-महात्माओंका सत्कार करते थे। महाप्रभु श्रीकृष्णकी मूर्तिके दर्शन करके प्रेमानन्दमें मग्न होकर नृत्य करने लगे। महाराज उनके अद्भुत नृत्य और अलौकिक प्रेमके भावोंको देखकर मुग्ध हो गये। उन्होंने महाप्रभुका बहुत सत्कार किया। बहुत-कुछ भेंट करनेकी इच्छा की, किन्तु महाप्रभुने संन्यास-धर्मके अनुसार मुष्टि-भिक्षाके अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं किया। बड़ौदामें ही आकर नौरोजीने महाप्रभुके सामने अपने इस नश्वर शरीरका त्याग किया। महाप्रभुने रोते-रोते आत्मीय पुरुषकी तरह एक भक्त वैष्णवकी भाँति उसे अपने करकमलोंसे समाधिमें सुला दिया। इस प्रकार जन्मसे हिंसा और धन-अपहरण करनेवाला एक डाकू महा-प्रभुकी शरण आनेसे अमर हो गया।

नीलाचलमें प्रभुका प्रत्यागमन

उद्दामदामनकदामगणाभिराम-
मारामराममविरामगृहीतनाम।
कारुण्यधाम कनकोज्ज्वलगौरधाम
चैतन्यनाम परमं कलयाम धाम॥*

बड़ौदासे चलकर महाप्रभु अहमदाबाद आये, वहाँपर दो बंगाली वैष्णवोंसे प्रभुकी भेंट हुई। उनसे नवद्वीपका समाचार पाकर प्रभुकी पूर्वस्मृति पुनः जाग्रत हो उठी। उनसे कुशलक्षेम पूछकर प्रभुने द्वारकाके लिये प्रस्थान किया। द्वारकाजीके मन्दिरमें जाकर प्रभु आनन्दमें मग्न होकर नृत्य-कीर्तन करने लगे। वहाँसे समुद्र-किनारे होते हुए सोमनाथ शिवजीके दर्शनोंके लिये प्रभासक्षेत्रमें आये, जहाँपर प्रची सरस्वती हैं। इस प्रकार समस्त तीर्थोंमें भ्रमण करके अब प्रभुकी इच्छा पुनः नीलाचल लौटनेकी हुई। इसलिये गोदावरीनदीके किनारे-किनारे होते हुए पुनः विद्यानगरमें पहुँच गये।

महाप्रभुके आनेका समाचार पाते ही राय रामानन्दजी उसी समय प्रभुके दर्शनोंके निमित्त दौड़े आये। प्रभुने उनका गाढ़ालिंगन किया। रायने विनीतभावसे कहा—'प्रभो! इस अधमको आप भूले नहीं हैं और इसकी स्मृति अभीतक आपके हृदयमें बनी हुई है, इस बातको स्मरण करके मैं प्रसन्नताके कारण अपने अंगोंमें फूला नहीं समाता। आज आपने पुनः दर्शन देकर मुझे अपनी परम कृपाका यथार्थमें ही पात्र बना लिया।'

प्रभुने कहा—'राय महाशय, यथार्थमें तो आपके ही दर्शनसे मेरे

---

* श्रीकृष्ण-कीर्तनमें उन्मत्त हुए भक्तोंके समूहसे जो शोभित है और निरन्तर जिसके श्रीमुखसे राम-राम ऐसा शब्द उच्चारण होता रहता है, जो करुणाका धाम तथा सुवर्णके समान निर्मल एवं गौर कान्तिवाला है उस चैतन्य नामक परम धामका हम आश्रय लेते हैं।

सब तीर्थ सफल हो गये थे। फिर भी मैं और तीर्थोंमें वैसे ही चला गया। जितना सुख मुझे यहाँ आपके साथ मिला था, उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला। अब फिर मैं उसी आनन्दको प्राप्त करने आपके पास आया हूँ। कहावत है—'लाभाल्लोभः प्रजायते।' अर्थात् जितना ही लाभ होता है, उतना ही अधिक लोभ बढ़ता जाता है। इसलिये अब तो यही सोचकर आया हूँ कि आपके ही साथ निरन्तर वास करके उस आनन्द-रसका आस्वादन करता रहूँ।'

रामानन्दजीने अत्यन्त ही संकोचके साथ कहा—'प्रभो! मैंने आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके महाराजको राज-काजसे अवकाश देनेकी प्रार्थना की थी। उन्होंने मेरी प्रार्थनाको स्वीकार करके बुलाया है। अब तो आपके चरणोंमें रहनेका सम्भवतया सौभाग्य प्राप्त हो सके।'

प्रभुने कहा—'इसीलिये तो मैं आया ही हूँ; अब आपको साथ लेकर ही पुरी चलूँगा।'

राय महाशयने कुछ विवशता-सी दिखाते हुए कहा—'प्रभो! मेरे साथ चलनेमें आपको कष्ट होगा। अभी मुझे बहुत-से राजकाज करने शेष हैं, फिर मेरे साथ हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर बहुत-से चलेंगे। उन सबके साथ आपको कष्ट होगा। इसलिये आप पहले अकेले ही पुरी पधारें, फिर मैं भी पीछेसे आ जाऊँगा।'

प्रभुने राय रामानन्दजीकी इस बातको स्वीकार किया और वे तीन-चार दिन विद्यानगरमें रहकर जिस रास्तेसे आये थे, उसीसे अलालनाथ पहुँच गये। अलालनाथ पहुँचनेपर प्रभुने कृष्णदासके द्वारा नित्यानन्द आदिके समीप अपने आनेका समाचार भेजा। ये लोग प्रभुकी प्रतीक्षामें उसी प्रकार बैठे हुए थे जिस प्रकार अङ्गदादि वानर समुद्रको पार करके सीताजीकी खोजके लिये गये हुए हनुमान्जीकी प्रतीक्षामें समुद्रके किनारे बैठे थे। प्रभुका समाचार पाते ही नित्यानन्दादि सभी भक्त प्रभुसे मिलनेके लिये दौड़े आये। रास्तेमें दूरसे ही आते हुए

उन्होंने प्रभुको देखा। प्रभुको देखते ही सभीने भूमिपर लोटकर प्रभुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभुने उन सबको क्रमशः अपने हाथोंसे उठा-उठाकर प्रेमालिङ्गन दान दिया। आज दो वर्षोंके पश्चात् प्रभुका प्रेमालिङ्गन पाकर सभी प्रेममें बेसुध हो गये और प्रेमके अश्रु बहाते हुए प्रभुके पीछे-पीछे चले।

इतनेमें ही सामनेसे सार्वभौम भट्टाचार्य तथा गोपीनाथाचार्य प्रभुको आते हुए दिखायी दिये। प्रभुने अस्त-व्यस्तभावसे दौड़कर उनका जल्दीसे आलिङ्गन करना चाहा, किन्तु वे इससे पहले ही प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े। प्रभुने उनको स्वयं उठाया, उनका आलिङ्गन किया और उनके वस्त्रोंमें लगी हुई धूलिको अपने हाथोंसे पोंछा। सभी लोग प्रभुके पीछे-पीछे चले। सबसे पहले महाप्रभु जगन्नाथजीके दर्शनके लिये गये। वहाँके कर्मचारी प्रभुकी प्रतीक्षामें सदा चिन्तित-से बने रहते थे। सहसा प्रभुके आगमनका समाचार सुनकर सभी आनन्दके सहित नृत्य करने लगे। प्रभुने भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भाँति-भाँतिसे स्तुति करने लगे। पुजारीने आकर माला और प्रसाद प्रभुकी भेंट किया। बहुत दिनोंके पश्चात् पुरुषोत्तम भगवान्‌का महाप्रसाद पाकर प्रभु परम प्रसन्न हुए और प्रसादको उसी समय उन्होंने पा लिया। फिर भक्तोंके सहित मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हुए प्रभु भट्टाचार्य सार्वभौमके घर आये। सार्वभौमने प्रभुको भिक्षाके लिये निमन्त्रित किया और सभी भक्तोंके सहित उन्होंने प्रभुको भिक्षा करायी।

प्रभुके रहनेके लिये भट्टाचार्यने महाराज प्रतापरुद्रजीसे परामर्श करके महाराजके पुरोहित काशी मिश्रके एकान्त-निर्जन स्थानमें पहलेसे ही प्रबन्ध कर रक्खा था। प्रभुको वह स्थान बहुत पसन्द आया और प्रभु उसीमें रहने लगे।

प्रेम-रस-लोलुप भ्रमर-भक्तोंका आगमन

क्वचित् क्वचिदयं यातु स्थातुं प्रेमवशंवदः ।
न विस्मरति तत्रापि राजीवं भ्रमरो हृदि ॥*
(सु० र० भां० २३२ । ४४)

कस्तूरीको कितना भी छिपाकर रखो, उसकी गन्ध फैल ही जाती है और उसके प्रभावको जाननेवाले पुरुष दूरसे ही जान जाते हैं कि यहाँपर कीमती कस्तूरी विद्यमान है । प्रेम छिपानेसे नहीं छिपता । प्रेमको विज्ञापनकी आवश्यकता नहीं । कमलके खिलते ही मधु-लोलुप भ्रमर अपने-आप ही उसके ऊपर टूट पड़ते हैं । रस होना चाहिये । भ्रमरोंकी क्या कमी । सर्दीके दिनोंमें आग जलाकर स्वतन्त्र स्थानमें बैठ जाओ, तापनेवाले अपने-आप ही एकत्रित हो जायँगे—उन्हें बुलानेकी आवश्यकता न पड़ेगी ।

प्रेमार्णव गौराङ्गदेवके संसर्गमें रहकर जो पहले प्रेम-रसका पान कर चुके थे, उन्हें भला उनके सिवा दूसरी जगह वह रस कहाँ मिल सकता था ? जिनके कर्णोंमें उस अद्वितीय रसकी प्रशंसा भी पड़ गयी थी वे उस रसराज महासागरके दर्शनके ही लिये लालायित बने हुए थे । सार्वभौम भट्टाचार्यके मुखसे प्रभुकी प्रशंसा सुनकर कटकाधिपति महाराज प्रतापरुद्रदेवजी भी प्रभुके दर्शनोंके लिये अत्यन्त ही उत्कण्ठित बने हुए थे । श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके सभी कर्मचारी, पुरीके बहुत-से गण्यमान पुरुष तथा अनेक साधु-सन्त प्रभुके दर्शनकी इच्छा रखते थे । प्रभुके

---

* प्रेम-परतन्त्र भ्रमर चाहे कहीं भी रहनेके लिये क्यों न चला जाय, किन्तु वहाँ भी वह हृदयसे कमलको नहीं भूल सकता ।

पुरी पधारनेका समाचार सुनकर भट्टाचार्य सार्वभौमके सहित बहुत-से प्रेमी पुरुष प्रभुसे मिलनेके लिये आये। प्रभुने सभीको प्रेमपूर्वक बैठनेके लिये कहा। सभी प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके बैठ गये। सार्वभौम भट्टाचार्य प्रभुको सबका पृथक्-पृथक् परिचय कराने लगे। सबसे पहले उन्होंने काशी मिश्रका परिचय दिया—'ये महाराजके कुलगुरु और राज्यपुरोहित श्रीकाशी मिश्र हैं। प्रभुके चरणोंमें इनका दृढ़ अनुराग है। आपके चले जानेपर ये दर्शनके लिये बड़े ही उत्कण्ठित-से बने रहे। यह घर जिसमें प्रभु ठहरे हुए हैं, इन्हींका है।'

प्रभुने मिश्रजीकी ओर प्रेमभरी चितवनसे देखते हुए कहा—'मिश्रजी, मैं आज आपके दर्शनोंसे कृतार्थ हुआ। आप तो मेरे पिताके समान हैं। आपके घरमें रहकर मैं भक्तोंके सहित कृष्ण-कीर्तन करता हुआ कालयापन करूँगा। और नित्य आपके दर्शन पाता रहूँगा। इससे बढ़कर मेरे लिये और कौन-सी सौभाग्यकी बात हो सकती है?'

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही विनीत-भावसे काशी मिश्रने कहा—'प्रभो! यह घर आपका ही है और सेवा करनेके लिये यह दास भी सदा आपके चरणोंके समीप ही बना रहेगा। आप इसे अपना निजी सेवक समझकर जो भी आज्ञा हो, निःसंकोचभावसे कर दिया करें।'

इसके अनन्तर सार्वभौम भट्टाचार्यने जगन्नाथजीके अन्तरङ्ग-सेवक जनार्दन भगवान्के स्वर्णबेंतधारी कृष्णदास, प्रधान लिखिया शिखी माइती, उनके भाई मुरारी तथा बहिन माध्वी और महापात्र प्रहरिराज, प्रद्युम्न मिश्र आदि जगन्नाथजीके सेवकोंका प्रभुको परिचय कराया। प्रभु इन सबका परिचय पाकर इनकी बड़ाई करने लगे—'आपलोग ही धन्य हैं, जो निरन्तर श्रीभगवान्की सेवापूजामें लगे रहते हैं। मनुष्यका

मुख्य कर्तव्य यही है कि वह भगवत्सेवा-पूजाके अतिरिक्त मनसे भी किसी दूसरे संसारी कामोंका चिन्तन न करे।'

सभी भक्तोंने प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और महाप्रभुकी आज्ञा पाकर वे अपने-अपने स्थानोंके लिये चले गये। इसके अनन्तर महाप्रभुने अपने साथ जानेवाले सेवक कृष्णदासको बुलाया। उसके आ जानेपर उसे लक्ष्य करके प्रभु भट्टाचार्य सार्वभौमसे कहने लगे—'भट्टाचार्य, आपलोगोंने इसे मेरे साथ इसलिये भेजा था कि अचेतनावस्थामें यह मेरे शरीरकी देख-रेख करे, इसने यथाशक्ति मेरी खूब सेवा-शुश्रूषा की किन्तु यह एक स्थानमें कुछ दम्भी साधुओंके बहकानेसे कामिनी-काञ्चनके लोभमें फँस गया। यह मुझे छोड़कर उनके साथ चला गया। जिसे कामिनी-काञ्चनका लोभ है, जो अपनी इन्द्रियोंपर इतना भी निग्रह नहीं कर सकता, उसे अपने पास रखना मैं उचित नहीं समझता। इसलिये आप इससे कह दें कि जहाँ इसकी इच्छा हो चला जावे। अब यह मेरे साथ नहीं रह सकता।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर (काला) कृष्णदास बड़े ही ज़ोरोंके साथ रुदन करने लगा। किन्तु प्रभुने उसे फिर किसी भी प्रकार अपने साथ रखना स्वीकार नहीं किया। तब तो वह निराश होकर नित्या-नन्दजीकी शरणमें गया और उनके चरण पकड़कर रोने लगा। नित्यानन्द आदि सभी भक्त इस बातको सोच रहे थे कि 'नवद्वीपमें प्रभुके प्रत्यागमनका समाचार किस प्रकार पहुँचे। नवद्वीपके सभी भक्त प्रभुके वियोगदुःखमें व्याकुल बने हुए हैं, शचीमाता अपने प्यारे पुत्रका कुछ भी समाचार न पानेके कारण अधीर हो रही होगी, विष्णुप्रियाजीका तो एक-एक दिन युगकी भाँति कटता होगा, इसलिये कृष्णदासको ही नवद्वीप क्यों न भेज दें। इससे प्रभुकी आज्ञाका भी पालन हो जायगा

और शोकसागरमें डूबे हुए सभी भक्तोंको भी परम आनन्द हो जायगा।' यह सोचकर उन्होंने अपने मनोगत भावोंको प्रभुके सम्मुख प्रकट किया। प्रभुने उत्तर दिया—'श्रीपाद ! मैं तो आपका नर्तक हूँ, जैसे नचायँगे वैसे ही नाचूँगा। आपकी इच्छाके विरुद्ध मैं कुछ नहीं कर सकता। जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये।'

नित्यानन्दजीने दीनभावसे कहा—'प्रभो ! हम आपकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहते। आप जिस प्रकारकी आज्ञा करेंगे, उसीका हम सहर्ष पालन करेंगे। आपकी अनुमति हो, तभी हम इसे नवद्वीप भेज सकते हैं अन्यथा नहीं।'

प्रभुने कहा—'जब आपकी इच्छा है तब मेरी अनुमति ही समझें। आपकी इच्छाके विरुद्ध मेरी अनुमति हो ही नहीं सकती।'

प्रभुकी आज्ञा पाकर नित्यानन्दजीने कृष्णदासको जगन्नाथजीका प्रसाद देकर नवद्वीपके लिये भेज दिया। कृष्णदास नित्यानन्दजीकी आज्ञा पाकर और प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम करके नवद्वीपके लिये चल दिया। इधर महाप्रभु पुरीमें भक्तोंके साथ रहकर नियमितरूपसे भजन-कीर्तन करने लगे। बहुत-से पुरीके भक्त आ-आकर प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ करने लगे। राय रामानन्दजीके पिता राजा भवानन्दजीने जब प्रभुके आगमनका समाचार सुना तब वे अपने चारों पुत्रोंके सहित महाप्रभुके दर्शनके लिये आये। प्रभु उनका परिचय पाकर अत्यन्त ही आनन्दित हुए और प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—'जिनके रामानन्द-जैसे भगवद्भक्त पुत्र हों, वे महापुरुष तो देवताओंके भी वन्दनीय हैं, सचमुच आप धन्य हैं, आप तो साक्षात् महाराज पाण्डुके समान हैं, पाँचों पुत्र ही आपके पाँचों पाण्डव हैं। राय रामानन्द युधिष्ठिरके समान सत्यप्रतिज्ञ, धर्मात्मा और भगवत्-भक्त हैं। आपकी गृहिणी

साक्षात् कुन्ती देवीके समान हैं। आपसे मिलकर मुझे बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। आप मुझे रामानन्दजीकी ही भाँति अपना पुत्र समझें।'

हाथ जोड़े हुए भवानन्दजीने कहा—'मैं शूद्राधम, प्रभुकी इस असीम कृपाका अपनेको कभी भी अधिकारी नहीं समझता। आप भक्त-वत्सल हैं, पतितपावन आपका प्रसिद्ध नाम है, उसी अपने नामको सार्थक कर दिखानेके लिये आप मुझ-जैसे संसारी विषयी पुरुषपर अपनी अहैतुकी कृपा कर रहे हैं। प्रभो! आपके श्रीचरणोंमें मेरी यही बारम्बार प्रार्थना है कि इस अधमको अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये। मैं अपने परिवारके सहित आपके चरणोंका दास हूँ। जिस समय जो भी आज्ञा हो उसे निःसङ्कोचभावसे कह दें।' यह कहकर राजा भवानन्दजीने अपने कनिष्ठ पुत्र श्रीवाणीनाथजीको सदा प्रभुकी सेवा करनेके लिये नियुक्त किया। प्रभुने वाणीनाथको स्वीकार कर लिया और वाणीनाथजी अधिकतर प्रभुकी ही सेवामें रहने लगे।

इधर महाप्रसादके साथ (काला) कृष्णदास नवद्वीपमें शचीमाताके समीप पहुँचा। पुत्रका ही सदा चिन्तन करती रहनेवाली माता अपने प्यारे दुलारे सुतका समाचार पाकर आनन्दमें विभोर होकर अश्रुविमोचन करने लगी। विष्णुप्रियाजी भी अपनी सासके समीप आ बैठीं। माता एक-एक करके पुत्रकी सभी बातोंको पूछने लगी। यह समाचार क्षणभरमें ही सम्पूर्ण नगरमें फैल गया। चारों ओरसे भक्त आ-आकर शचीमाताके आँगनमें संकीर्तन करने लगे। बात-की-बातमें ही शचीमाताका घर आनन्द-भवन बन गया। हजारों भक्त 'हरि हरि' की गगनभेदी आनन्द-ध्वनिसे दिशा-विदिशाओंको गुँजाने लगे। कृष्णदाससे कोई प्रभुके शरीरका समाचार पूछता, कोई यात्राका वृत्तान्त सुनना चाहता, कोई नवद्वीप कब पधारेंगे, इसी बातको बीसों बार दुहराने

लगता। इस प्रकार कृष्णदाससे सभी लोग विविध भाँतिके एक साथ ही प्रश्न पूछने लगे। कृष्णदास यथाशक्ति सबका उत्तर देता। प्रभुके कुशल-समाचार सुनाता, उनकी यात्राकी दो-चार बातें बताकर कह देता—'अब सब बातें फुरसतमें सुनाऊँगा।' सभी भक्त बड़े ही मनोयोगके साथ कृष्णदासकी बातोंको सुनते। इस प्रकार वह दिन बात-की-बातमें ही प्रभुका समाचार पूछते-पूछते ही व्यतीत हो गया।

दूसरे दिन श्रीवास आदि भक्तवृन्द कृष्णदासको साथ लेकर शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर गये और उन्होंने बड़े ही उल्लासके सहित प्रभुके पुरीमें लौट आनेका समाचार सुनाया और प्रभुका भेजा हुआ महाप्रसाद भी उन्हें दिया। प्रभुके समाचार और महाप्रसादको पाते ही बूढ़े आचार्यके सभी अंग-प्रत्यंग मारे प्रेमके फड़कने लगे, वे लम्बी-लम्बी साँसें खींचते हुए हा गौर! हा गौर! कहकर प्रेममें निमग्न हो गये और उठकर जोरोंसे संकीर्तन करने लगे। कुछ समयके पश्चात् प्रेमका तूफान समाप्त हुआ, तब अद्वैताचार्य अन्य सभी भक्तोंके साथ पुरी चलकर प्रभुके दर्शन करनेके सम्बन्धमें परामर्श करने लगे। सभीने निश्चय किया कि शीघ्र ही प्रभुके दर्शनोंके लिये चलना चाहिये।

पाठक! श्रीपरमानन्द पुरी महाराजका नाम न भूले होंगे। ये महाप्रभुको दक्षिण-यात्राके समय मिले थे और गंगास्नानकी इच्छासे प्रभुसे विदा होकर नवद्वीपकी ओर आये थे। प्रभुने इनसे पुरीमें आकर एक साथ रहनेकी प्रार्थना की थी और इन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार भी कर लिया था। प्रभुसे विदा होकर वे गंगाजीके दक्षिण किनारे-किनारे नवद्वीप आये थे और यहाँ आकर उन्होंने शचीमाताको प्रभुका संवाद सुनाया। संन्यासीके मुखसे प्रभुका समाचार सुनकर माताको अत्यधिक आनन्द हुआ और उसने पुरीमहाराजका यथोचित खूब सत्कार किया।

पुरीमहाराज भक्तोंके आग्रहसे कुछ काल नवद्वीपमें ठहर गये थे। जब कृष्णदास प्रभुका समाचार लेकर नवद्वीप आया, तब आप वहीं थे, दूतके मुखसे प्रभुके पुरी पधारनेका समाचार पाकर परमानन्दपुरी सचमुच परमानन्दमें निमग्न हो गये और जल्दी-से-जल्दी वे प्रभुके समीप पहुँचनेका उद्योग करने लगे। उन्होंने सोचा 'हमें भक्तोंके चलनेकी प्रतीक्षा न करनी चाहिये। ये सब घर-गृहस्थीके काम करनेवाले हैं। तैयारियाँ करते-करते इन्हें महीनों लग जायँगे। इसलिये हमें इनसे पहले ही पहुँचकर प्रभुके दर्शन करने चाहिये।' यह सोचकर वे कमलाकान्त नामक महाप्रभुके एक ब्राह्मण भक्तको साथ लेकर पुरीके लिये चल दिये और रास्तेके सभी तीर्थोंके दर्शन करते हुए पुरी पहुँच गये।

पुरी पहुँचकर परमानन्दजी महाराज प्रभुकी खोज करने लगे। फिर उन्होंने सोचा 'पहले जगन्नाथजीके मन्दिरमें चलकर भगवान्‌के दर्शन कर लें, वहीं प्रभुका पता भी मिल जायगा।' यह सोचकर वे सीधे श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरकी ओर चले। मन्दिरमें प्रवेश करते ही उन्हें अनेक लोगोंसे घिरे हुए प्रभु दिखायी दिये। पुरीमहाराज उसी ओर बढ़े। दूरसे ही पुरीको आते देखकर प्रभुने उठकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और पुरीने उन्हें प्रेमपूर्वक गलेसे लगाया। दोनों ही महापुरुष एक दूसरेसे मिलकर परम प्रसन्न हुए और आनन्दमें विभोर होकर एक दूसरेकी स्तुति करने लगे। प्रभुने कहा—'भगवन्! अब आपको यहीं रहकर हमें अपनी संगतिसे आनन्दित करते रहना चाहिये।'

पुरीमहाराजने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'यहाँ आनेका हमारा और प्रयोजन ही क्या है, हम तो यहाँ केवल आपकी संगतिसे लाभ उठानेके ही निमित्त आये हैं।' यह सुनकर महाप्रभु पुरीमहाराजको साथ लिये हुए भीतर मन्दिरमें श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये गये और

दर्शन करके प्रदक्षिणा करते हुए अपने निवास-स्थानपर आये। वहाँ आकर प्रभुने अपने समीप ही एक स्वतन्त्र कुटिया श्रीपरमानन्दजी महाराजके रहनेके लिये दी और उनकी सेवा-शुश्रूषाके लिये एक स्वतन्त्र सेवक भी दिया।

प्रभुके आगमनका समाचार काशीतक पहुँच गया था। प्रभुके जो अत्यन्त ही अन्तरंग भक्त थे, वे प्रभुका समाचार पाते ही उनकी सेवामें उपस्थित होनेके लिये पुरी आने लगे। नवद्वीपके एक पुरुषोत्तमाचार्य नामक प्रभुके अत्यन्त ही प्रिय भक्त और विद्वान् ब्राह्मण थे। महाप्रभुके चरणोंमें उनकी बहुत ही अधिक प्रीति थी। जब महाप्रभुने संन्यास लिया, तब उन्हें अत्यन्त ही दुःख हुआ। वे अपने दुःखके आवेशको रोक नहीं सके। प्रभुके बिना उन्हें सम्पूर्ण नदिया-नगरी सूनी-सूनी-सी दिखायी देने लगी। घर-बार, तथा संसारी सभी वस्तुएँ उन्हें काटनेके लिये दौड़ती-सी दिखायी देने लगीं। वे प्रभुके वियोगसे दुखी होकर श्रीकाशीधाममें चले गये और वहाँ-पर स्वामी चैतन्यानन्दजी महाराजसे उन्होंने संन्यासकी दीक्षा ले ली। इनके गुरुने इनका संन्यासका नाम रखा 'स्वरूप' प्रभुने उसमें पीछेसे दामोदर और मिला दिया था, इसलिये भक्तोंमें स्वरूपदामोदरके नामसे इनकी ख्याति है।

स्वामी चैतन्यानन्दजी जिस प्रकार मस्तिष्कप्रधान विचारवान् संन्यासी हुआ करते हैं, उसी प्रकारके थे, किन्तु उनके शिष्य स्वरूपदामोदर परम सहृदय, हृदय-प्रधान और भक्त-हृदयके पुरुष थे। इसीलिये वे गुरुके पथका अनुसरण नहीं कर सके। गुरुदेवने जैसा कि शिष्यको उपदेश करना चाहिये वैसा ही अद्वैतवेदान्तके विचार और प्रचारका उपदेश किया किन्तु उनका हृदय तो साकार प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णकी भक्तिके लिये

तड़प रहा था, इसीलिये वे अपने गुरुदेवकी आज्ञाका पालन न कर सके। जब उन्होंने सुना कि दक्षिणकी यात्रा समाप्त करके प्रभु पुनः पुरीमें आकर निवास करने लगे हैं, तब तो उनसे वाराणसीमें नहीं रहा गया और वे अपने गुरुदेवसे आज्ञा लेकर पुरीके लिये चल दिये। काशीसे पैदल चलकर वे सीधे प्रभुके समीप पहुँचे। इन्हें देखते ही प्रभुके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। महाप्रभु इनसे लिपट गये और अत्यन्त ही स्नेहके साथ इनका बार-बार आलिङ्गन करने लगे। तबसे ये प्रभुके सदा साथ ही रहे।

स्वरूपदामोदरकी प्रभुके चरणोंमें अलौकिक भक्ति थी। इन्हें गौरभक्त महाप्रभुका दूसरा विग्रह ही मानते हैं। सचमुच इनमें सभी गुण महाप्रभुके ही अनुरूप थे। इनके शरीरका वर्ण भी महाप्रभुकी भाँति गौर था। शरीर इकहरा और मनको स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित करनेवाला था। ये बड़े ही विनयी, सदाचारी और सरस हृदयके थे। विशेष भीड़भाड़ इन्हें पसन्द नहीं थी। एकान्तवास इन्हें बहुत प्रिय था। किन्तु प्रभुको छोड़कर ये एक क्षणके लिये भी कहीं नहीं जा सकते थे। ये किसीसे भी विशेष बातचीत नहीं करते थे। विद्वान् होनेके साथ ही ये महान् गम्भीर थे। महाप्रभुके ही साथ खाते, उन्हींके पास बैठते और उन्हींकी सेवामें अपना सभी समय व्यतीत करते। १२ वर्ष जब महाप्रभु सदा विरहावस्थामें बेसुध बने रहे, तब ये सदा महाप्रभुके सिरको गोदमें रखकर सोते थे। महाप्रभु जब राधाभावमें विरह-वेदनासे व्याकुल होकर रुदन करने लगते तब उन्हें ललिता-भावसे मानते और इनके गलेमें अपनी भुजाओंको डालकर रात-रातभर प्रलाप करते रहते। सचमुच गौरभक्तोंमें स्वरूपदामोदरका जीवन बड़ा ही भावमय, प्रेममय और प्रणयमय था। यदि निरन्तररूपसे छायाकी तरह ये महाप्रभुके साथ न रहते, तो महाप्रभुकी बारह वर्षकी गम्भीरा लीला आज संसारमें अप्रकट ही बनी रहती। ये महाप्रभुकी नित्यकी अवस्थाको अपने कड़चा (दैनन्दिनी)

में लिखते गये। वही आज भक्तोंको परम सुखकारी और मधुरभावकी पराकाष्ठा समझानेवाला ग्रन्थ स्वरूपदामोदरके कड़चाके नामसे प्रसिद्ध है।

महाप्रभुका इनके प्रति अत्यधिक स्नेह था। महाप्रभुके मनोगत भावोंको जिस उत्तमताके साथ ये समझ लेते थे, उस प्रकार कोई भी उनके भावोंको नहीं समझ सकता था। 'अमुक विषयमें महाप्रभुकी क्या सम्मति होगी।' इसे ये यों ही सरलतापूर्वक बता देते थे और इसमें प्रायः भूल होती ही नहीं थी। महाप्रभुको भक्तिविहीन भजन, काव्य अथवा पद सुननेसे घृणा थी, इसलिये महाप्रभुको कुछ सुनानेके पूर्व वह स्वरूपदामोदरको पहले सुना दिया जाता। उनकी आज्ञा प्राप्त होनेपर ही वह पीछेसे प्रभुको सुनाया जाता। जैसे ये गम्भीर प्रकृति, शान्त और एकान्तप्रिय थे वैसे ही इनका कण्ठ भी बड़ा मधुर और सुरीला था। ये महाप्रभुको विद्यापति ठाकुर, महाकवि चण्डीदासके पद तथा गीत-गोविन्द आदि भक्तिसम्बन्धी ग्रन्थोंके श्लोक गा-गाकर सुनाया करते थे। प्रभु जबतक इनके पदोंको नहीं सुन लेते थे, तबतक उनको तृप्ति नहीं होती थी। इनके गुण अनन्त हैं। उन्हें महाप्रभु ही जान सकते थे। इसीलिये महाप्रभुको इनके आगमनसे सबसे अधिक प्रसन्नता हुई। प्रभु कहने लगे—'तुम आ गये, इससे मुझे कितनी प्रसन्नता हुई, उसे व्यक्त करनेमें मैं असमर्थ हूँ, सचमुच तुम्हारे बिना मैं अन्धा था। तुमने आकर ही मुझे आलोक प्रदान किया है। मैं सदा तुम्हारे विषयमें सोचा करता था। कल ही मैंने स्वप्नमें देखा था कि तुम आ गये हो और खड़े-खड़े मुस्करा रहे हो, सो सचमुच ही आज तुम आ गये। तुमने यह बड़ा ही उत्तम कार्य किया जो यहाँ चले आये। अब मुझे छोड़कर मत चले जाना।'

प्रेमपूर्ण स्वरमें धीरे-धीरे स्वरूपदामोदरने कहा—'प्रभो! मैं स्वयं आपके चरणोंमें आ ही कैसे सकता हूँ। जब मेरे पाप उदय हुए,

तभी तो आपके चरणोंसे पृथक् होकर मैं अन्यत्र चला गया। अब जब आपने अनुग्रह करके बुलाया है, तो बरवश आपके प्रेमपाशमें बँधा हुआ चला आया हूँ और जबतक चरणोंमें रखेंगे, तबतक मैं कहीं अन्यत्र जा ही कैसे सकता हूँ ?' यह कहकर स्वरूप प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े। महाप्रभु उन्हें उठाकर उनकी पीठपर धीरे-धीरे हाथ फेरते रहे। उस दिनसे स्वरूपदामोदर सदा प्रभुके समीप ही बने रहे।

एक दिन एक सरल-से पुरुषने आकर प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और वह हटकर हाथ जोड़े हुए खड़ा हो गया। महाप्रभुके समीप उस समय सार्वभौम भट्टाचार्य, नित्यानन्द आदि बहुत-से भक्त बैठे हुए थे। महाप्रभुने उस विनयी पुरुषसे पूछा—'भाई ! तुम कौन हो और कहाँसे आये हो ?'

उस पुरुषने बड़ी ही सरलताके साथ धीरे-धीरे उत्तर दिया—'प्रभो ! मैं पूज्य श्रीईश्वरपुरी महाराजका भृत्य हूँ। पुरीमहाराज मुझे 'गोविन्द' के नामसे पुकारते थे। सिद्धि-लाभ करते समय मैंने उनसे प्रार्थना की कि मेरे लिये क्या आज्ञा होती है। तब उन्होंने मुझे आपकी सेवामें रहनेकी आज्ञा दी। उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं आपके श्रीचरणोंमें उपस्थित हुआ हूँ। मेरे एक दूसरे गुरुभाई काशीश्वर और हैं। वे तीर्थयात्रा करनेके निमित्त चले गये हैं। तीर्थयात्रा करके वे भी श्रीचरणोंके समीप ही आकर रहेंगे। अब मुझे जैसी आज्ञा हो।'

इतना सुनते ही प्रभुका गला भर आया। उनकी आँखोंकी कोर अश्रुओंसे भीग गयी। पुरीमहाराजके प्रेमका स्मरण करके वे कहने लगे—'पुरीमहाराजका मेरे ऊपर सदा वात्सल्य-स्नेह रहा है। यद्यपि मुझे मन्त्र-दीक्षा देकर न जाने वे कहाँ चले गये, तबसे उनके फिर मुझे दर्शन ही नहीं हुए। फिर भी वे मुझे भूले नहीं। मेरा स्मरण उन्हें अन्ततक बना रहा।

अहा ! अन्तसमयमें उन महापुरुषने मेरा स्मरण किया, इससे अधिक मेरे ऊपर उनकी और कृपा हो ही क्या सकती है ? मैं अपने भाग्यकी कहाँतक प्रशंसा करूँ, मैं अपने सौभाग्यकी किस प्रकार सराहना करूँ जो अन्तर्यामी गुरुदेवने शरीर त्यागते समय भी अपनी वाणीसे मेरा नामोच्चार किया। सार्वभौम महाशय ! आप ही मुझे सम्मति दें कि मैं इनके बारेमें क्या करूँ। ये मेरे गुरु महाराजके सेवक रहे हैं, इसलिये मेरे भी पूज्य हैं, इनसे मैं अपने शरीरकी सेवा कैसे करवा सकता हूँ। और यदि इन्हें अपने समीप नहीं रखता हूँ, तो गुरु-आज्ञाका भंग होता है। अब आप ही बताइये मुझे ऐसी दशामें क्या करना चाहिये।'

सार्वभौमने कहा—'प्रभो ! 'गुरोराज्ञा गरीयसी' गुरुकी आज्ञा ही श्रेष्ठ है। गोविन्द सुशील हैं, नम्र हैं, आपके चरणोंमें इनका स्वाभाविक अनुराग है। सेवाकार्यमें ये प्रवीण हैं। इसलिये इन्हें अपनी शरीरकी सेवाका अप्राप्य सुख प्रदान करके अपने गुरु महाराजकी भी इच्छा-पूर्ति कीजिये और इन्हें भी आनन्द दीजिये।'

भट्टाचार्यकी इस सम्मतिको प्रभुने स्वीकार कर लिया और गोविन्द-को अपने शरीरकी सेवाका कार्य सौंपा। उसी दिनसे गोविन्द सदा प्रभुकी सब प्रकारकी सेवा करते रहते थे। वे प्रभुसे कभी भी पृथक् नहीं हुए। बारह वर्षतक जब प्रभुको शरीरका बिल्कुल भी होश नहीं रहा, तब गोविन्द जिस प्रकार माता छोटे पुत्रकी सब प्रकारकी सेवा करती है, उसी प्रकारकी सभी सेवा गोविन्द किया करते थे। इनका प्रभुके प्रति वात्सल्य और दास्य दोनों ही प्रकारका स्नेह था। ये सदा प्रभुके पैरोंको अपनी छाती-पर रखकर सोया करते थे। गौड़-देशसे भक्त नाना प्रकारकी बढ़िया-बढ़िया वस्तुएँ प्रभुके लिये बनाकर लाते थे। वे सब गोविन्दको ही देते थे और उन्हींकी सिफारिशसे वे प्रभुके पासतक पहुँचती थीं। वे सब

चीजोंको बता-बताकर और यह कहते हुए कि अमुक वस्तु अमुकने भेजी है, प्रभुको आग्रहपूर्वक खिलाते थे। इनके-जैसा सच्चा सेवक त्रिलोकीमें बहुत ही दुर्लभ है।

एक दिन प्रभु भीतर बैठे हुए थे। उसी समय मुकुन्दने आकर धीरेसे कहा—'प्रभो! श्रीमत् केशव भारतीजी महाराजके गुरुभाई श्रीब्रह्मानन्दजी भारती महाराज आपसे मिलनेके लिये बाहर खड़े हैं, आज्ञा हो तो उन्हें यहाँ ले आऊँ।'

प्रभुने जल्दीसे कहा—'वे हमारे गुरुतुल्य हैं, उन्हें लेनेके लिये हम स्वयं ही बाहर जायँगे।' यह कहकर प्रभु अस्त-व्यस्तभावसे जल्दी-जल्दी बाहर आये। वहाँ उन्होंने मृगचर्म ओढ़े हुए ब्रह्मानन्दजी भारतीको देखा। महाप्रभु चारों ओर देखते हुए जल्दी-जल्दी मुकुन्दसे पूछने लगे—'मुकुन्द, मुकुन्द! भारती महाराज कहाँ हैं? तुम कहते थे, भारती-महाराज पधारे हैं, जल्दीसे मुझे उनके दर्शन कराओ।'

मुकुन्द इस बातको सुनकर आश्चर्यचकित हो गये। भारती महाप्रभुके सामने ही खड़े हैं, फिर भी महाप्रभु भारतीजीके सम्बन्धमें पूछ रहे हैं। इसलिये उन्होंने कहा—'प्रभो! ये भारतीमहाराज आपके सामने ही तो खड़े हैं?'

महाप्रभुने कुछ दृढ़ताके स्वरमें कहा—'नहीं, कभी नहीं, तुम झूठ कह रहे हो। भला, भारतीमहाराज इस प्रकार मृगचर्म ओढ़कर दिखावा कर सकते हैं।' प्रभुकी इस बातको सुनकर सभी चकितभावसे प्रभुकी ओर निहारने लगे। भारतीमहाराज समझ गये कि प्रभुको मेरा यह मृगचर्माम्बर रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ है, इसीलिये उन्होंने उसे उसी समय फेंक दिया। प्रभुने उसी समय उनके चरणोंमें प्रणाम किया। वे

लज्जितभावसे कहने लगे—'आप हमें प्रणाम न करें। आप तो साक्षात् ईश्वर हैं।'

प्रभुने कहा—'आप हमारे गुरु हैं, आपको भी प्रणाम न करेंगे तो और किसे करेंगे। हमारे तो साकार भगवान् आप ही हैं।'

भारतीजीने कहा—'विधि-निषेध तो साधारण लोगोंके लिये हैं। आपका गुरु हो ही कौन सकता है? आप स्वयं ही जगत्के गुरु हैं।' इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेकी स्तुति करने लगे। भारतीजी वहीं महाप्रभुके समीप ही रहने लगे। प्रभुने उनकी भिक्षा आदिकी सभी व्यवस्था कर दी।

इसके थोड़े ही दिनों बाद श्रीईश्वरपुरीजीके शिष्य काशीश्वर गोस्वामी भी तीर्थ-यात्रा करके महाप्रभुके समीप आ गये। वे शरीरसे खूब हृष्ट-पुष्ट तथा बलवान् थे। प्रभुके प्रति उनका अत्यधिक स्नेह था। उनको भी प्रभुने अपने समीप ही रखा। इस प्रकार चारों ओरसे भक्त आ-आकर प्रभुकी सेवामें उपस्थित होने लगे।

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें नित्यप्रति हजारों आदमियोंकी भीड़ लगी रहती है। पर्वके दिनोंमें तो लोगोंको दर्शन मिलने दुर्लभ हो जाते हैं। महाप्रभु जब दर्शनोंके लिये जाते थे, तब काशीश्वर आगे-आगे चलकर भीड़को हटाते जाते। महाप्रभु ब्रह्मानन्द भारती, परमानन्दपुरी, नित्यानन्दजी, जगदानन्दजी, स्वरूपदामोदर तथा अन्य सभी भक्तोंको साथ लेकर दर्शनोंके लिये जाया करते थे। उस समयकी उनकी शोभा अपूर्व ही होती थी। प्रभु अपने सम्पूर्ण परिकरके मध्यमें नृत्य करते हुए बड़े ही सुन्दर मालूम होते थे। दर्शनार्थी श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंको भूलकर इन्हींके दर्शन करते रह जाते थे।

महाराज प्रतापरुद्रको प्रभु-दर्शनके लिये आतुरता

हेलोद्धूलितखेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया
शाम्यच्छास्त्रविवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया।
शश्वद्भक्तिविनोदया शमदया माधुर्यमर्यादया
श्रीचैतन्य दयानिधे तव दया भूयादमन्दोदया ॥*
(चै० चन्द्रो० ना० अं० ८।१०)

---

* हे दयानिधे श्रीचैतन्य ! आपकी जो दया लीलासे ही दुःखोंको नष्ट कर देनेवाली, निर्मल तथा परमानन्दको प्रकाशित करनेवाली है, जिससे शास्त्रीय विवाद शान्त हो जाते हैं, जो रस-प्रदान करके चित्तको उन्मादी बना डालती है, जिसका निरन्तर भक्तिसे ही विनोद होता है, जो शान्तिदायिनी और मधुरिमाकी चरम सीमा है उस (दया) का अमन्द आविर्भाव हो ।

हम पहले ही बता चुके हैं कि सार्वभौम भट्टाचार्यके द्वारा महाप्रभुका परिचय पाकर कटकाधिपति महाराज प्रतापरुद्रजीके हृदयमें प्रभुके प्रति प्रगाढ़ भक्ति उत्पन्न हो गयी थी। महाराज वैसे धर्मात्मा थे, विद्याव्यासङ्गी थे और साधु-ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति भी रखते थे, किन्तु कैसे भी सही, थे तो राजा ही। संसारी विषय-भोगोंमें फँसे रहना तो उनके लिये एक साधारण-सी बात थी। किन्तु ज्यों-ज्यों उनकी महाप्रभुके चरणोंमें भक्ति बढ़ने लगी, त्यों-ही-त्यों उनकी संसारी विषय-भोगोंकी लालसा कम होती गयी। हृदयकी कोठरी बहुत ही छोटी है, जहाँ विषयोंकी भक्ति है, वहाँ साधु-महात्माओंके प्रति भक्ति रह ही नहीं सकती, और जिनके हृदयमें साधु-महात्मा तथा भगवद्भक्तोंके लिये श्रद्धा है, वहाँ काम रह ही नहीं सकता। तभी तो तुलसीदासजीने कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कैसे रहि सकैं, रवि-रजनी इक ठाम॥

साधु-चरणोंमें ज्यों-ज्यों प्रीति बढ़ती जायगी, त्यों-ही-त्यों अभिमान, बड़प्पन और अपनेको सर्वश्रेष्ठ समझनेके भाव कम होते जायँगे। महाराजके पास बहुत-से साधु, पण्डित तथा विद्वान् स्वयं ही दर्शन देने और उन्हें आशीर्वाद प्रदान करनेके लिये उनके दरबारमें आते थे, इसीलिये उनकी इच्छा थी कि महाप्रभु भी आकर उन्हें दर्शन दे जायँ किन्तु महाप्रभुको न तो स्वादिष्ट पदार्थ खानेकी इच्छा थी, न वे अपना सम्मान ही चाहते थे और न उन्हें रुपये-पैसेकी अभिलाषा थी। फिर वे राजदरबारमें क्यों जाते। प्रायः लोग इन्हीं तीन कामोंसे राजाके यहाँ जाते हैं। महाप्रभु इन तीनों विषयोंको त्यागकर वीतरागी संन्यासी बन चुके थे। संन्यासीके लिये शास्त्रोंमें राजदर्शनतक निषेध बताया गया है। हाँ, कोई राजा भक्तिभावसे आकर संन्यासियोंके दर्शन

कर ले यह दूसरी बात है, उस समय उसकी स्थिति राजाकी न होकर श्रद्धालु भक्तकी ही होगी। स्वयं त्यागी संन्यासी राजासे उसकी राजापनेकी स्थितिमें मिलने न जायगा। महाराजको इस बातका क्या पता था। अभीतक उन्हें ऐसा सच्चा संन्यासी कभी मिला ही नहीं था। इसीलिये प्रभुके पुरीमें पधारनेका समाचार पाकर महाराजने सार्वभौम भट्टाचार्यके समीप पत्र भिजवाया और उसमें उन्होंने महाप्रभुके दर्शनकी इच्छा प्रकट की।

महाराजके आदेशानुसार भट्टाचार्य महाप्रभुके समीप गये और कुछ डरते हुए-से कहने लगे—'प्रभो! मैं एक निवेदन करना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो कहूँ? आप अभय-दान देंगे तभी कह सकूँगा।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'ऐसी कौन-सी बात है, कहिये, आप कोई मेरे अहितकी बात थोड़े ही कह सकते हैं? जिसमें मेरा लाभ होगा उसे ही आप कहेंगे।'

भट्टाचार्यने कुछ प्रेमपूर्वक आग्रहके साथ कहा—'आपको मेरी प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ेगी।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'वाह, यह खूब रही, अभीसे वचनबद्ध कराये लेते हैं, माननेयोग्य होगी तो मानूँगा, नहीं तो 'ना' कर दूँगा और फिर आप 'ना' करनेयोग्य बात कहेंगे ही क्यों?'

प्रभुके इस प्रकारके चातुर्ययुक्त उत्तरको सुनकर कुछ सहमत हुए भट्टाचार्य महाशय कहने लगे—'प्रभो! महाराज प्रतापरुद्र आपके दर्शनके लिये बड़े ही उत्कण्ठित हैं, उन्हें दर्शन देकर अवश्य कृतार्थ कीजिये।'

प्रभुने कानोंपर हाथ रखते हुए कहा—'श्रीविष्णु श्रीविष्णु' आप शास्त्रज्ञ पण्डित होकर भी ऐसी धर्मविहीन बात कैसे कह रहे हैं? राजाके

दर्शन करना तो संन्यासीके लिये पाप बताया है। जब आप अपने होकर भी मुझे इस प्रकार धर्मच्युत होनेके लिये सम्मति देंगे, तब मैं यहाँ अपने धर्मकी रक्षा कैसे कर सकूँगा? तब तो मुझे पुरीका परित्याग ही करना पड़ेगा। भला, संसारी विषयोंमें फँसे हुए राजाके दर्शन! कैसी दुःखकी बात है? सुनिये—

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
संदर्शनं विषयिणामथ योषिताञ्च
हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु॥

(चै० चन्द्रो० ना० अं० ८। ८२)

अर्थात् 'जो भगवद्भजनके लिये उत्सुक और अकिञ्चन होकर इस अपार भवसागरको सम्पूर्णरूपसे पार करना चाहते हैं ऐसे भगवान्की ओर बढ़नेवाले भक्तोंके लिये विषय-भोगोंमें फँसे हुए लोगोंका और स्त्रियोंका दर्शन, हाय! हाय! विषभक्षणसे भी अधिक असाधु है।' विषभक्षण करनेपर तो मनुष्यका इहलोक ही नष्ट होता है, किन्तु इन दोनोंके संसर्गसे तो लोक-परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये भट्टाचार्य महाशय आप मुझे क्षमा करें।

अत्यन्त ही विनीतभावसे भट्टाचार्य सार्वभौमने कहा—'प्रभो! आपका यह वचन शास्त्रानुकूल ही है। किन्तु महाराज परमभक्त हैं। जगन्नाथजीके सेवक हैं, आपके चरणोंमें उनका दृढ़ अनुराग है। इन सभी कारणोंसे वे प्रभुके कृपापात्र बननेके योग्य हैं। आप उनसे राजापनेके भावसे न मिलिये। मान लीजिये, वे विषयी ही हैं, तो आपकी तो वे कुछ हानि नहीं कर सकते। उलटे उनका ही उद्धार हो जायगा। आपकी कृपासे संसारी लोगोंका संसार-बन्धन छूट जाता है।

महाप्रभुने कहा—'भट्टाचार्य महाशय! यह बात नहीं है—

आकारादपि भेतव्यं स्त्रीणां विषयिणामपि ।
यथाऽहेर्मनसः क्षोभस्तथा तस्याकृतेरपि ॥

(चै० चन्द्रो० ना० अं० ८ । २४)

'(त्यागी पुरुषको) स्त्रियोंकी और विषयी पुरुषोंकी आकृतिसे भी डरना चाहिये; क्योंकि साँपसे जिस प्रकार चित्तमें क्षोभ होता है उसी प्रकार उसकी आकृतिसे भी होता है ।' फिर उनके साथ वार्तालाप और संसर्ग करना तो दूर रहा ।

इस उत्तरको सुनकर भट्टाचार्य चुप हो गये, फिर उन्होंने प्रभुसे इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा । वे विषण्ण मनसे अपने घर लौट गये और सोचने लगे राजाको क्या उत्तर लिखूँ । इसी सोच-विचारमें वे दो-तीन दिन पड़े रहे । उन्होंने राजाको कुछ भी उत्तर नहीं लिखा ।

इसी बीचमें राय रामानन्दजी विद्यानगरसे कटक होते हुए पुरीमें प्रभुके दर्शनके निमित्त आये । प्रभु उन्हें देखते ही एकदम खिल उठे और भूमिमें पड़े हुए राय रामानन्दजीको उठाकर उनका गाढ़ालिङ्गन किया । बार-बार छातीसे लगाते हुए प्रभु कहने लगे—'मुझे राम ही नहीं मिले आनन्दके सहित राम मिले हैं । अब मेरे आनन्दकी सीमा नहीं रही । अब मैं निरन्तर आनन्द-सागरमें ही गोते लगाता रहूँगा ।'

रामानन्दके प्रति प्रभुके ऐसे प्रगाढ़ प्रेमको देखकर सभी भक्त विस्मित हो गये, वे रामानन्दके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे । स्वस्थ होकर बैठ जानेपर राय महाशयने कहा—'प्रभो ! आपके आज्ञानुसार राजकाजसे अवकाश ग्रहण करनेके निमित्त मैंने महाराजसे निवेदन किया था । मैंने स्पष्ट कह दिया कि मुझे अब इस कार्यसे छुट्टी मिलनी चाहिये । अब मैं पुरीमें निवास करके श्रीचैतन्य-चरणोंका सेवन करूँगा ।'

मेरे मुखसे आपका नाम सुनकर महाराज परम प्रसन्न हुए। उन्होंने उठकर मेरा आलिङ्गन किया और समीपमें बैठाकर आपके सम्बन्धमें वे बहुत-सी बातें पूछते रहे। आपके चरणोंमें उनके ऐसे दृढ़ अनुरागको देखकर मैं विस्मित हो गया। जो पहले मुझसे सीधी तरहसे बोलते भी नहीं थे, वे ही आपके सेवक होनेके नाते मुझसे बराबरके मित्रकी भाँति मिले और मेरा इतना अधिक सत्कार किया।

प्रभुने कहा—'राय महाशय, आपके ऊपर भगवान्‌की कृपा है, आप श्रीकृष्णके किङ्कर हैं, भगवत्-अनुचरोंका सभी लोग आदर करते हैं।' इस प्रकार परस्परमें बहुत देरतक इसी प्रकारकी प्रेमवार्ता होती रही। राय महाशयने पुरी, भारती, नित्यानन्दजी आदि उपस्थित सभी साधु-महात्माओंकी चरण-वन्दना की और फिर वे प्रभुसे आज्ञा लेकर भगवान्‌के दर्शन करनेके लिये चले गये।

उसी समय कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्र भगवान्‌की रथयात्राके निमित्तसे पुरी पधारे। उन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यको बुलवाकर उनसे पूछा—'भट्टाचार्य महाशय! आपने महाप्रभुसे मेरे सम्बन्धमें पूछा था?'

भट्टाचार्यने कहा—'मैंने बार-बार प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने आपसे मिलना स्वीकार ही नहीं किया।'

महाराजने कहा—'जब वे सर्वसमर्थ होकर मुझ-जैसे पापियोंसे इतनी घृणा करते हैं, तो मुझ-ऐसे अधमोंका उद्धार कैसे होगा?'

भट्टाचार्यने कहा—'उनकी तो ऐसी प्रतिज्ञा है कि वे राजाके दर्शन नहीं करते।'

महाराजने अत्यन्त ही वेदनाके स्वरमें कहा—'यदि उनकी ऐसी प्रतिज्ञा है, तो मेरी भी यह प्रतिज्ञा है कि या तो प्रभुकी पूर्णकृपा प्राप्त करूँगा या इस शरीरका ही परित्याग कर दूँगा।'

महाराजके ऐसे दृढ़ अनुरागको देखकर सार्वभौम भट्टाचार्य बहुत ही विस्मित हुए और महाराजको सान्त्वना देते हुए कहने लगे—'महाराज, आप इतने अधीर न हों। मेरा हृदय कह रहा है कि प्रभु आपके ऊपर अवश्य कृपा करेंगे। कल राय रामानन्दजीने प्रभुके सम्मुख आपकी बहुत ही अधिक प्रशंसा की थी, उसका प्रभाव मुझे प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हुआ। प्रभुका मन आपकी ओरसे बहुत ही अधिक कोमल हो गया है। अब आप एक काम कीजिये। राजवेषसे तो उनसे मिलना ठीक नहीं है। रथयात्राके समय जब प्रभु भक्तोंके सहित श्रीजगन्नाथजीके रथके आगे-आगे नृत्य करते हुए चलेंगे, तब आप साधारण वेषमें जाकर उनके सामने कोई भक्तिपूर्ण श्लोक पढ़ने लगियेगा। प्रभु भक्त समझकर आपका दृढ़ आलिङ्गन करेंगे। तभी आपकी सभी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जायँगी।'

सार्वभौम भट्टाचार्यका बताया हुआ यह उपाय महाराजको पसन्द आया और उन्होंने भट्टाचार्यसे पूछा—'रथयात्रा किस दिन होगी?' भट्टाचार्यने हिसाब करके बताया—'आजसे तीसरे दिन रथयात्रा होगी। तभी हम सब मिलकर उद्योग करेंगे।' यह सुननेसे महाराजको सन्तोष हुआ और भट्टाचार्य महाराजकी अनुमति लेकर अपने स्थानको चले आये।

गौर-भक्तोंका पुरीमें अपूर्व सम्मिलन

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥*

(चैत० म० भा०)

अहा ! कितना सुखद संवाद है, हृदयको प्रफुल्लित कर देनेवाला यह कैसा मनोहारी वृत्तान्त है !! अपने प्रियके सम्मिलन-सुखको सुनकर

---

* कामनाओंके कल्पवृक्ष, करुणाके सागर और पतितोंको पवित्र करनेवाले विष्णुभक्तोंको नमस्कार है ।

ऐसा कौन हृदयहीन जड़-बुद्धि पुरुष होगा, जिसका मन-कमल खिल न उठता हो। नीतिकारोंने ठीक ही कहा है 'अमृतं प्रियदर्शनम्।'

इस संसारमें अपने प्यारेसे भेंट होना ही सर्वोत्तम अमृत है। जो इस अमृतका निरन्तर पान करते रहते हैं, ऐसे भक्तोंके चरणोंमें हमारा बारम्बार प्रणाम है।

महाप्रभुके पुरी पधारनेका समाचार सुनते ही गौर-भक्तोंके आनन्द-की सीमा नहीं रही। बहुत-से भक्त तो प्रभुके साथ संकीर्तन-सुखका आनन्द अनुभव कर चुके थे। बहुत-से ऐसे भी थे, जिन्होंने अभीतक महाप्रभुके प्रत्यक्ष दर्शन ही नहीं किये थे। उन्होंने प्रभुके बिना दर्शन किये ही, उन्हें आत्मसमर्पण कर दिया था। आज उनके आनन्दका कहना ही क्या है, सभी भक्त प्रभुके दर्शनकी खुशीमें अपने आपेको भूले हुए हैं। सभीने पुरीमें चलकर प्रभुके दर्शनोंका निश्चय किया। सभी भक्तों-के अग्रणी आचार्य अद्वैत ही थे। उनकी सम्मति हुई कि हमलोगोंको पुरीके लिये शीघ्र ही प्रस्थान कर देना चाहिये, जिससे आषाढ़में होनेवाली भगवान्‌की रथयात्रामें भी सम्मिलित हो सकें और बरसातके चार महीने प्रभुके समीप ही बितावें।

यह सम्मति सबको पसन्द आयी, सभी अपने-अपने घरोंका चार महीनेका प्रबन्ध करके पुरी जानेके लिये तैयार हो गये। श्रीवास आदि सभी भक्तोंने शची मातासे प्रभुके समीप जानेके लिये विदा माँगी। वात्सल्य-मयी जननीने अपने संन्यासी पुत्रके लिये भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ भेजीं। भक्तोंने उन सभी वस्तुओंको सावधानीपूर्वक अपने साथ रख लिया और वे माताकी चरण-वन्दना करके पुरीके लिये चल दिये। लगभग २०० भक्त गौरगुण गाते हुए और खोल-करतालके साथ संकीर्तन करते हुए पैदल ही चले। आगे-आगे वृद्ध अद्वैताचार्य युवा पुरुषकी भाँति

प्रभुके दर्शनकी उत्सुकताके कारण जल्दी-जल्दी चल रहे थे, उनके पीछे सभी भक्त नवीन उत्साहके साथ—

> **हरिहरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।**
> **गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥**

इस पदका संकीर्तन करते हुए चल रहे थे। इस प्रकार चलते-चलते २० दिनमें वे पुरीके निकट पहुँच गये।

इधर भगवान्‌की स्नान-यात्राका समय समीप आ पहुँचा। महाप्रभु बड़ी ही उत्सुकतासे स्नान-यात्राकी प्रतीक्षा करने लगे। स्नान-यात्राके दिन महाप्रभु अपने भक्तों सहित मन्दिरमें दर्शन करनेके लिये गये। उस दिनके उनके आनन्दका वर्णन कौन कर सकता है। महाप्रभु प्रेममें बेसुध होकर उन्मत्त पुरुषकी भाँति मन्दिरमें ही कीर्तन करने लगे। लोगोंकी अपार भीड़ महाप्रभुके चारों ओर एकत्रित हो गयी। जैसे-तैसे भक्त उन्हें स्थानपर लाये।

स्नान-यात्राके अनन्तर १५ दिनतक भगवान् अन्तःपुरमें रहते हैं, इसलिये १५ दिनोंतक मन्दिरके फाटक एकदम बन्द रहते हैं, किसीको भी भगवान्‌के दर्शन नहीं हो सकते। महाप्रभुके लिये यह बात असह्य थी, वे भगवान्‌के दर्शनके लोभसे ही तो पुरीमें निवास करते हैं, जब भगवान्‌के दर्शन ही न होंगे, तो वे फिर पुरीमें किसके आश्रयसे ठहर सकते हैं। फाटक बन्द होते ही महाप्रभुकी वियोग-वेदना बढ़ने लगी और वह इतनी बढ़ी कि फिर उनके लिये पुरीमें रहना असह्य हो गया, वे गोपियोंकी भाँति विरहके भावावेशमें पुरीको छोड़कर अकेले ही अलालनाथ चले गये। वे अपने प्यारेके दर्शन न पानेसे इतने दुखी हुए कि उन्होंने भक्तोंकी अनुनय-विनयकी कुछ भी परवा न की। प्रभुके पुरी-परित्यागके कारण सभी भक्तोंको अपार दुःख हुआ। महाराज प्रतापरुद्रजीने भी

प्रभुके अलालनाथ चले जानेका समाचार सुना। उन्होंने भट्टाचार्य सार्वभौमसे प्रभुको लौटा लानेके लिये भी कहा। उसी समय गौड़ीय भक्तोंके आगमनका समाचार सुना। इस संवादको सुनकर सभीको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। सार्वभौम भट्टाचार्य नित्यानन्दजी आदि भक्तोंको साथ लेकर प्रभुको लौटा लानेके लिये अलालनाथ गये। वहाँ जाकर इन लोगोंने प्रभुसे प्रार्थना की कि पुरीके भक्त तो आपके दर्शनके लिये व्याकुल हैं ही। गौड़-देशसे भी बहुत-से भक्त केवल प्रभुके ही दर्शनके निमित्त आये हैं यदि वे प्रभुके पुरीमें दर्शन न पावेंगे, तो उन्हें अपार दुःख होगा; इसलिये भक्तोंके ऊपर कृपा करके आप पुरी लौट चलें।

प्रभुने भक्तोंकी विनयको स्वीकार कर लिया। गौड़ीय भक्तोंके आगमन-संवादसे उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता हुई और वे उसी समय भक्तोंके साथ पुरी लौट आये। 'महाप्रभु पुरी लौट आये हैं' इस संवादको सुनानेके निमित्त सार्वभौम भट्टाचार्य महाराज प्रतापरुद्रदेवजीके समीप गये। उसी समय पुरुषोत्तमाचार्यजी भी महाराजके समीप पहुँच गये। आचार्यने कहा—'महाराज, गौड़-देशसे लगभग २०० गौर-भक्त पुरी आये हुए हैं। उनके ठहरनेकी और महाप्रसादकी व्यवस्था करनी चाहिये, क्योंकि वे सब-के-सब महाप्रभुके चरणोंमें अत्यधिक अनुराग रखते हैं और इसीलिये वे आये भी हैं।'

महाराजने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'इसमें मुझसे पूछनेकी क्या बात है? आप स्वयं ही सबका प्रबन्ध कर दें। मन्दिरके प्रबन्धकको मेरे पास बुलाइये। मैं उनसे सबके महाप्रसादकी व्यवस्था करनेके लिये कह दूँगा। जितने भी भक्त हों उन सबके प्रसादका प्रबन्ध जबतक वे रहें मन्दिरकी ही ओरसे होगा। आप काशी मिश्रजीसे कह दें, वे ही सब भक्तोंके ठहरनेकी व्यवस्था कर दें।' इतना कहकर महाराजने उसी समय सेवकोंद्वारा सभी व्यवस्था करा दी।

महाराजने भट्टाचार्यसे कहा—'भट्टाचार्य महाशय ! मैं महाप्रभुके सभी भक्तोंके दर्शन करना चाहता हूँ, आप उन सबका मुझे परिचय करा दीजिये !'

भट्टाचार्यने कहा—'महाराज ! मैं स्वयं सब भक्तोंसे परिचित नहीं। नवद्वीपमें मेरा बहुत ही कम रहना हुआ है। हाँ, ये आचार्य गोपीनाथजी प्रायः सभी भक्तोंसे परिचित हैं, ये आपको सभी भक्तोंका भलीभाँति परिचय करा देंगे। आप एक काम कीजिये अट्टालिकापर चलिये, वहींसे सबके दर्शन भी हो जायँगे और आचार्य सबको बताते भी जायँगे।'

भट्टाचार्य सार्वभौमकी यह सम्मति महाराजको बहुत पसन्द आयी, वे उसी समय अट्टालिकापर चढ़कर कृष्ण-प्रेममें विभोर होकर सङ्कीर्तन और नृत्य करते-करते आती हुई गौर-भक्त-मण्डलीको देखने लगे। सभी भक्त प्रेममें पागल बने हुए थे। सभीके कन्धोंपर उनके ओढ़ने-बिछानेके वस्त्र थे। किसीके गलेमें खोल लटक रही है, तो किसीके हाथमें करतालें ही हैं। कोई झाँझोंको ही बजा रहा है, तो कोई ऊपर हाथ उठा-उठाकर नृत्य ही कर रहा है। इस प्रकार भक्तोंकी पृथक्-पृथक् १४ मण्डलियाँ बनी हुई हैं। चौदहों खोल जब एक साथ बजते हैं तब उनकी गगनभेदी ध्वनिसे दिशायें गूँजने लगती हैं। महाराज अनिमेष दृष्टिसे उस गौर-भक्त-मण्डलीकी छवि निहारने लगे।

गौड़ीय भक्तोंके आगमनका संवाद सुनकर महाप्रभुने स्वरूप-दामोदर और गोविन्दको चन्दन-माला लेकर भक्तोंके स्वागतके निमित्त पहलेसे ही भेज दिया था। उन लोगोंने जाकर भक्ताग्रणी श्रीअद्वैताचार्य-का सबसे पहले स्वागत किया। पहले श्रीस्वरूपदामोदरने आचार्यके गलेमें माला पहनायी और फिर गोविन्दने भी श्रद्धापूर्वक आचार्यको माला

पहनाकर उनकी चरण-वन्दना की। आचार्यने गोविन्दको पहले कभी नहीं देखा था, इसलिये वे स्वरूप गोस्वामीसे पूछने लगे—'स्वरूप गोस्वामी, ये महाभाग भक्त कौन हैं, इन्हें तो मैंने पहले कभी नहीं देखा। क्या ये पुरीके ही कोई भक्त हैं?'

स्वरूप गोस्वामीने कहा—'नहीं, ये पुरीके नहीं हैं। श्रीईश्वरपुरी महाराजके सेवक हैं, जब वे सिद्धि प्राप्त करने लगे तो उन्होंने इन्हें प्रभुकी सेवामें रहनेकी आज्ञा दी थी। उनकी आज्ञा शिरोधार्य्य करके ये प्रभुके समीप आ गये और सदा उनकी सेवामें ही लगे रहते हैं। इनका नाम गोविन्द है। बड़े ही विनयी, सुशील और सरल हैं।' गोविन्दका परिचय पाकर आचार्यने उनका आलिङ्गन किया और सभीको साथ लेकर वे सिंहद्वारकी ओर चलने लगे।

महाराज प्रतापरुद्रजीने आचार्य गोपीनाथजीसे भक्तोंका परिचय करानेके लिये कहा। आचार्य सभी भक्तोंका परिचय कराने लगे। वे अँगुलीके संकेतसे बताने लगे—'जिन्होंने इन तेजस्वी वृद्ध भक्तको माला पहनायी है, ये महाप्रभुके दूसरे स्वरूप श्रीस्वरूपदामोदर गोस्वामी हैं, इनके साथ यह महाप्रभुके सेवक गोविन्द हैं। ये आगे-आगे जो उत्साहके साथ नृत्य कर रहे हैं, ये परम भागवत अद्वैताचार्य हैं। इनके पीछे जो ये चार गौर-वर्णके सुन्दर-से पण्डित हैं वे श्रीवास, वक्रेश्वर विद्यानिधि और गदाधर हैं। ये चन्द्रशेखर आचार्य हैं, महाप्रभुके पूर्वाश्रमके ये मौसा होते हैं। महाप्रभुके चरणोंमें इनका दृढ़ अनुराग है। ये शिवानन्द, वासुदेव दत्त, राघव, नन्दन, श्रीमान और श्रीकान्तपण्डित हैं।' इस प्रकार एक-एक करके आचार्य सभी भक्तोंका परिचय कराने लगे। भक्तोंका परिचय पाकर महाराजको बड़ी प्रसन्नता हुई।

उसी समय उन्होंने देखा गौड़ीय भक्त श्रीमन्दिरकी ओर न जाकर प्रभुके वासस्थानकी ओर जा रहे हैं और भवानन्दके पुत्र वाणीनाथ बहुत-सा प्रसाद लिये हुए जल्दी-जल्दी भक्तोंसे पहले प्रभुके पास पहुँचनेका प्रयत्न कर रहे हैं। यह देखकर महाराजने पूछा—'आचार्य महाशय! इन लोगोंका प्रभुके प्रति कितना अधिक स्नेह है। बिना प्रभुको साथ लिये ये लोग अकेले भगवान्के दर्शनके लिये भी नहीं जाते हैं। हाँ, ये वाणीनाथ इतना प्रसाद क्यों लिये जा रहे हैं?'

आचार्यने कहा—'महाप्रभु प्रसादद्वारा स्वयं इन सबका स्वागत करेंगे।'

महाराजने कहा—'तीर्थमें आकर सबसे प्रथम क्षौर और उपवासका विधान है, क्या उसे ये लोग न करेंगे?'

आचार्यने कहा—'करेंगे क्यों नहीं, किन्तु प्रभुके प्रेमके कारण उनका सबसे पहले क्षौर ही हो तब प्रसाद पावें ऐसा आग्रह नहीं है। महाप्रभुके हाथके प्रसादसे ये लोग अपना उपवास भङ्ग नहीं समझते।'

महाराजने कहा—'आप ठीक कहते हैं, प्रेममें नेम नहीं होता।'

इतना कहकर महाराज अट्टालिकासे नीचे उतर आये और मन्दिरके प्रबन्धकसे बहुत-सा प्रसाद जल्दीसे प्रभुके पास और पहुँचानेके लिये कहा। उन लोगोंने तो पहलेसे ही सब प्रबन्ध कर रखा था। महाराजकी आज्ञा पाते ही उन्होंने और भी प्रसाद पहुँचा दिया।

भक्तोंके साथ महाप्रभुकी भेंट

यस्यैव पादाम्बुजभक्तिलभ्यः
प्रेमाभिधानः परमः पुमर्थः।
तस्मै जगन्मङ्गलमङ्गलाय
चैतन्यचन्द्राय नमो नमस्ते ॥*

महाप्रभु अपने भक्तोंसे मिलनेके लिये व्याकुल हो रहे थे, आज दो वर्षके पश्चात् वे अपने सभी प्राणोंसे भी प्यारे भक्तोंसे पुनः मिलेंगे, इस बातका स्मरण आते ही प्रभु प्रेमसागरमें डुबकियाँ लगाने लगे।

* जिनके ही चरण-कमलोंकी भक्तिद्वारा 'प्रेम' नामक परम पुरुषार्थ सुलभ है उन जगत्के मङ्गलोंके भी मङ्गलस्वरूप श्रीचैतन्यदेवको बार-बार प्रणाम है।

इतनेमें ही उनके कानोंमें सङ्कीर्तनकी सुमधुर ध्वनि सुनायी पड़ी। उस नवद्वीपी ध्वनिको सुनते ही, प्रभुको श्रीवास पण्डितके घरकी एक-एक करके सभी बातें स्मरण होने लगीं। प्रभुके हृदयमें उस समय भाँति-भाँतिके विचार उठ रहे थे, उसी समय उन्हें सामनेसे आते हुए अद्वैताचार्यजी दिखायी दिये। प्रभुने अपने परिकरके सहित आगे बढ़कर भक्तोंका स्वागत किया। आचार्यने प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया, प्रभुने उनका गाढ़ालिङ्गन किया और बड़े ही प्रेमसे अश्रु-विमोचन करते हुए वे आचार्यसे लिपट गये। उस समय उन दोनोंके सम्मिलन-सुखका उनके सिवा दूसरा अनुभव ही कौन कर सकता है?

इसके अनन्तर श्रीवास, मुकुन्द दत्त, वासुदेव तथा अन्य सभी भक्तोंने प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया। प्रभु सभीको यथायोग्य प्रेमालिङ्गन प्रदान करते हुए सभीकी प्रशंसा करने लगे। इसके अनन्तर आप वासुदेवजीसे कहने लगे—'वसु महाशय! आपलोगोंके लिये मैं बड़े ही परिश्रमके साथ दक्षिण देशसे दो बहुत ही अद्भुत पुस्तकें लाया हूँ। उनमें भक्तितत्त्वका सम्पूर्ण रहस्य भरा पड़ा है।' इस बातसे सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई और सभीने उन दोनों पुस्तकोंकी प्रतिलिपि कर ली। तभीसे गौरभक्तोंमें उन पुस्तकोंका अत्यधिक प्रचार होने लगा।

महाप्रभु सभी भक्तोंको बार-बार निहार रहे थे, उनकी आँखें उस भक्त-मण्डलीमें किसी एक अपने अत्यन्त ही प्रिय पात्रकी खोज कर रही थीं। जब कई बार देखनेपर भी अपने प्रिय पात्रको न पा सकीं तब तो आप भक्तोंसे पूछने लगे—'हरिदासजी दिखायी नहीं पड़ते, क्या वे नहीं आये हैं?'

प्रभुके इस प्रकार पूछनेपर भक्तोंने कहा—'वे हमलोगोंके साथ आये तो थे, किन्तु पता नहीं बीचमें कहाँ रह गये।' इतना सुनते ही

दो-चार भक्त हरिदासजीकी खोज करने चले। उन लोगोंने देखा, महात्मा हरिदासजी राजपथसे हटकर एक एकान्त स्थानमें वैसे ही जमीनपर पड़े हुए हैं। भक्तोंने जाकर कहा—'हरिदास! चलिये, आपको महाप्रभुने याद किया है।'

अत्यन्त ही दीनताके साथ कातर स्वरमें हरिदासजीने कहा—'मैं नीच पतित भला मन्दिरके समीप किस प्रकार जा सकता हूँ? मेरे अपवित्र अङ्गसे सेवा-पूजा करनेवाले महानुभावोंका कदाचित् स्पर्श हो जायगा, तो यह मेरे लिये असह्य बात होगी। मैं भगवान्‌के राजपथपर पैर कैसे रख सकता हूँ? महाप्रभुके चरणोंमें मेरा बार-बार प्रणाम कहियेगा और उनसे मेरी ओरसे निवेदन कर दीजियेगा कि मैं मन्दिरके समीप न आ सकूँगा, यहीं कहीं टोटाके समीप पड़ा रहूँगा।'

भक्तोंने जाकर यह समाचार महाप्रभुको सुनाया। इस बातको सुनते ही महाप्रभुके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। वे बार-बार महात्मा हरिदासजीके शील, चरित्र तथा अमानी स्वभावकी प्रशंसा करने लगे। वे भक्तोंसे कहने लगे—'सुन लिया आपलोगोंने, जो इस प्रकार अपनेको तृणसे भी अधिक नीचा समझेगा, वही कृष्णकीर्तनका अधिकारी बन सकेगा।' इतना कहकर महाप्रभु हरिदासजीके ही सम्बन्धमें सोचने लगे। उसी समय मन्दिरके प्रबन्धकके साथ काशी मिश्र भी वहाँ आ पहुँचे। मिश्रको देखते ही प्रभुने कहा 'मिश्रजी! इस घरके समीप जो पुष्पोद्यान है उसमें एक एकान्त कुटिया आप हमें दे सकते हैं?'

हाथ जोड़े हुए काशी मिश्रने कहा—'प्रभो! यह आप कैसी बात कह रहे हैं। सब आपका ही तो है, देना कैसा? आप जिसे जहाँ चाहें ठहरा सकते हैं। जिसे निकलनेकी आज्ञा दें वह उसी समय निकल सकता है। हम तो आपके दास हैं, जैसी आज्ञा हमें आप देंगे उसीका पालन हम करेंगे।'

यह कह काशी मिश्रने पुष्पोद्यानमें एक सुन्दर-सी एकान्त कुटिया साफ करा दी। गोपीनाथाचार्य सभी भक्तोंके निवास-स्थानकी व्यवस्था करने लगे। वाणीनाथ, काशी मिश्र तथा अन्यान्य मन्दिरके कर्मचारी भक्तोंके लिये भाँति-भाँतिका बहुत-सा प्रसाद लदवाकर लाने लगे। महाप्रभु जल्दीसे उठकर हरिदासजीके समीप आये।

हरिदास जमीनपर पड़े हुए भगवन्नामोंका उच्चारण कर रहे थे। दूरसे ही प्रभुको अपनी ओर आते देखकर हरिदासजीने भूमिपर लटकर प्रभुके लिये साष्टांग प्रणाम किया। महाप्रभुने जल्दीसे हरिदासजीको अपने हाथोंसे उठाकर गलेसे लगा लिया।

हरिदासजी बड़ी ही कातर वाणीमें विनय करने लगे—'प्रभो! इस नीच अधमको आप स्पर्श न कीजिये। दयालो! इसीलिये तो मैं वहाँ आता नहीं था। मेरा अशुद्ध अङ्ग आपके परम पवित्र श्रीविग्रहके स्पर्श करने योग्य नहीं है।'

महाप्रभुने अत्यन्त ही स्नेहके साथ कहा—'हरिदास! आपका ही अङ्ग परम पावन है, आपके स्पर्श करनेसे करोड़ों यज्ञोंका फल मिल जाता है। मैं अपनेको पावन करनेके निमित्त ही आपका स्पर्श कर रहा हूँ। आपके अङ्ग-स्पर्शसे मेरे कोटि जन्मोंके पापोंका क्षय हो जायगा। आप-जैसे भागवत वैष्णवका अङ्ग-स्पर्श देवताओंके लिये भी दुर्लभ है।' इतना कहकर प्रभु हरिदासजीको अपने साथ लेकर उद्यानवाटिकामें पहुँचे और उन्हें एकान्त कुटिया दिखाते हुए कहने लगे—'यहीं एकान्तमें रहकर निरन्तर भगवन्नामका जप किया करें। अब आप सदा मेरे ही समीप रहें। यहीं आपके लिये महाप्रसाद आ जाया करेगा। दूरसे भगवान्‌के चक्रके दर्शन करके मनमें जगन्नाथजीके

दर्शनका ध्यान कर लिया करें । मैं नित्यप्रति समुद्र-स्नान करके आपके दर्शन करने यहाँ आया करूँगा ।'

महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके हरिदासजी उस निर्जन एकान्त शान्त स्थानमें रहने लगे । महाप्रभु जगदानन्द, नित्यानन्द आदि भक्तोंको साथ लेकर समुद्र-स्नान करनेके निमित्त गये । प्रभुके स्नान कर लेनेके अनन्तर सभी भक्तोंने समुद्रस्नान किया और सभी मिलकर भगवान्‌के चूड़ा-दर्शन करने गये । दर्शनोंसे लौटकर सभी भक्त महाप्रभुके समीप आ गये । तबतक मन्दिरसे भक्तोंके लिये प्रसाद भी आ गया था । महाप्रभुने सभीको एक साथ प्रसाद पानेके लिये बैठाया और स्वयं अपने हाथोंसे भक्तोंको परोसने लगे । महाप्रभुके परोसनेका ढंग अलौकिक ही था । एक-एक भक्तके सम्मुख दो-दो चार-चार मनुष्योंके खाने योग्य प्रसाद परोस देते । प्रभुके परोसे हुए प्रसादके लिये मनाही कौन कर सकता था, इसलिये प्रभु अपनी इच्छानुसार सबको यथेष्ट प्रसाद परोसने लगे । परोसनेके अनन्तर प्रभुने प्रसाद पानेकी आज्ञा दी, किन्तु प्रभुके बिना किसीने पहले प्रसाद पाना स्वीकार ही नहीं किया । तब तो महाप्रभु पुरी, भारती तथा अन्य महात्माओंको साथ लेकर प्रसाद पानेके लिये बैठे । जगदानन्द, दामोदर, नित्यानन्दजी तथा गोपीनाथाचार्य आदि बहुत-से भक्त सब लोगोंको परोसने लगे । प्रभुने आज अन्य दिनोंकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रसाद पाया तथा भक्तोंको भी आग्रहपूर्वक खिलाते रहे ।

प्रसाद पा लेनेके अनन्तर सभीने थोड़ा-थोड़ा विश्राम किया, फिर राय रामानन्दजी तथा सार्वभौम भट्टाचार्य आकर भक्तोंसे मिले । प्रभुने परस्पर एक दूसरेका परिचय कराया । भक्त एक दूसरेका परिचय पाकर परम प्रसन्न हुए । फिर महाप्रभु सभी भक्तोंको साथ लेकर

जगन्नाथजीके मन्दिरके लिये गये। मन्दिरमें पहुँचते ही महाप्रभुने सङ्कीर्तन आरम्भ कर दिया। पृथक्-पृथक् चार सम्प्रदाय बनाकर भक्तवृन्द प्रभुको घेरकर सङ्कीर्तन करने लगे। महाप्रभु प्रेममें विभोर होकर सङ्कीर्तन-के मध्यमें नृत्य करने लगे। आज महाप्रभुको सङ्कीर्तनमें बहुत ही अधिक आनन्द आया। उनके शरीरमें प्रेमके सभी सात्त्विक विकार उदय होने लगे। भक्तवृन्द आनन्दमें मग्न होकर सङ्कीर्तन करने लगे। पुरी-निवासियोंने आजसे पूर्व ऐसा सङ्कीर्तन कभी नहीं देखा था। सभी आश्चर्यके साथ भक्तोंका नाचना, एक दूसरेको आलिङ्गन करना, मूर्छित होकर गिर पड़ना तथा भाँति-भाँतिके सात्त्विक विकारोंका उदय होना आदि अपूर्व दृश्योंको देखने लगे। महाराज प्रतापरुद्रजी भी अट्टालिकापर चढ़कर प्रभुका नृत्य-सङ्कीर्तन देख रहे थे। प्रभुके उस अलौकिक नृत्यको देखकर महाराजकी प्रभुसे मिलनेकी इच्छा और अधिकाधिक बढ़ने लगी।

महाप्रभुने कीर्तन करते-करते ही भक्तोंके सहित मन्दिरकी प्रदक्षिणा की और फिर शामको आकर भगवान्‌की पुष्पाञ्जलिके दर्शन किये। सभी भक्त एक स्वरमें भगवान्‌के स्तोत्रोंका पाठ करने लगे। पुजारी-ने सभी भक्तोंको प्रसादी, माला, चन्दन तथा प्रसादान्न दिया। भगवान्‌की प्रसादी पाकर प्रभु भक्तोंके सहित अपने स्थानपर आये। काशी मिश्रने सायंकालके प्रसादका पहलेसे ही प्रबन्ध कर रखा था, इसलिये प्रभुने सभी भक्तोंको साथ लेकर प्रसाद पाया और फिर सभी भक्त प्रभुकी अनुमति लेकर अपने-अपने ठहरनेके स्थानोंमें सोनेके लिये चले गये। इस प्रकार गौड़ीय भक्त जितने दिनों तक पुरीमें रहे, महाप्रभु इसी प्रकार सदा उनके साथ आनन्द-विहार और कथा-कीर्तन करते रहे।

राजपुत्रको प्रेम-दान

कटकाधिपस्य तनयं गौरवर्णं मनोहरम् ।
आलिङ्गते सुप्रेम्णा तं गौरचन्द्रं नमाम्यहम् ॥*
(प्र० द० ब्र०)

मनुष्यका एक स्वभाव होता है कि वह रहस्यकी बातें जाननेके लिये बड़ा उत्कण्ठित रहता है। जो बात सर्वसाधारणको सुलभ है, उसके लिये किसीकी उत्कण्ठा नहीं होती किन्तु यदि वही एकान्तमें रखकर सर्वसाधारणकी दृष्टिसे हटा दी जाय, तो लोगोंकी उसके प्रति जिज्ञासा बढ़ती ही जायगी। एक बात और है, जो वस्तु जितने ही अधिक परिश्रमसे जितनी ही अधिक प्रतीक्षाके पश्चात् प्राप्त होती है उसके प्रति उतनी ही अधिक प्रीति भी होती है। वस्तुएँ स्वयं मूल्यवान् या अमूल्य-

* कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्रके गौर वर्णवाले सुन्दर पुत्रको जिन्होंने प्रेमपूर्वक गले लगाया उन श्रीगौरचन्द्रको मैं प्रणाम करता हूँ।

वान् नहीं हैं। उनकी प्राप्तिकी सुलभता-दुर्लभता देखकर ही लोगोंने उसका मूल्य स्थापित कर दिया है। यदि हीरा-मोती कंकड़-पत्थरोंकी भाँति सर्वत्र मिलने लगें, यदि सुवर्ण मिट्टीकी भाँति वैसे ही बिना परिश्रमके खोदनेसे मिल जाया करे तो न तो जनतामें इन वस्तुओंका इतना अधिक आदर होगा और न ये बहुमूल्य ही समझी जायँगी। इसीलिये मैं बार-बार लोगोंसे कहता हूँ, अपनेको मूल्यवान् बनाना चाहते हो, तो किसी भी काममें घोर परिश्रम करो, सर्वसाधारण लोगोंसे अपनेको ऊँचा उठा लो, विश्वसे प्रेम करना सीखो, तुम मूल्यवान् हो जाओगे। संसारमें सर्वश्रेष्ठ समझे जानेवाले राजे-महाराजे तुम्हारे चरणोंमें लोटेंगे और तुम उनके मान-सम्मानकी कुछ भी परवा न करोगे।

महाप्रभु ज्यों-ज्यों राजासे न मिलनेकी इच्छा प्रकट करने लगे त्यों-ही-त्यों कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्रजीकी प्रभु-दर्शनकी उत्सुकता अधिकाधिक बढ़ती गयी। अब वे सोते-जागते प्रभुके ही सम्बन्धमें सोचने लगे। जब सार्वभौम भट्टाचार्यने कह दिया कि प्रभु स्वयं मिलनेके लिये सहमत नहीं हैं, तब महाराजने सार्वभौमके द्वारा प्रभुके अन्तरङ्ग भक्तोंके समीप प्रार्थना की कि वे प्रभुके चित्तको हमारी ओर आकर्षित करें। इसीलिये उन्होंने अत्यन्त स्नेह प्रकट करके राय रामानन्दजीको प्रभुके पास भेजा था। राय महाशय प्रभुके परम अन्तरङ्ग भक्त बन चुके थे। उन्होंने प्रभुसे कई बार निवेदन किया, किन्तु प्रभुने राजासे मिलनेकी कभी सम्मति नहीं दी।

तब एक दिन नित्यानन्दजी, सार्वभौम, राय रामानन्द तथा अन्य कई अत्यन्त ही समीपी भक्त प्रभुके समीप पहुँचे। प्रभुके पास पहुँचकर किसीको भी साहस नहीं हुआ कि वे महाराजको दर्शन देनेकी सिफारिश कर सकें। एक-दूसरेकी ओर आँखों-ही-आँखोंमें सङ्केत करने लगे। तब

कुछ साहस करके नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो! हम कुछ निवेदन करना चाहते हैं। वैसे तो कहनेमें सङ्कोच होता है, किन्तु जब आपसे ही अपने मनोगत भावोंको न कहेंगे तो फिर और किससे कहेंगे, इसलिये आज्ञा हो तो कहें?'

प्रभुने कहा—'श्रीपाद! आपको सङ्कोच करनेकी कौन-सी बात है, आप जो कहना चाहते हों, निर्भय होकर कहिये।'

नित्यानन्दजीने धीरेसे कहा—'महाराज प्रतापरुद्रजी आपके दर्शनके लिये बड़े ही उत्कण्ठित हो रहे हैं, उन्हें आप दर्शन देनेसे क्यों मना करते हैं। वे जगन्नाथजीके भक्त हैं, उनके ऊपर कृपा होनी चाहिये।'

महाप्रभुने कुछ गम्भीरताके साथ कहा—'श्रीपाद! आपकी तो न जाने मेरे प्रति कैसी धारणा हो गयी है। आप चाहते हैं मैं जैसे भी हो, खूब ख्याति लाभ करूँ। कटक जाकर महाराजसे मिलूँ। मुझसे यह नहीं होनेका।'

नित्यानन्दजीने कहा—'आपसे कटक जानेको कौन कहता है? यहीं महाराज ठहरे हुए हैं, मन्दिरमें ही उन्हें दर्शन दीजिये या वे यहाँ भी आ सकते हैं।'

महाप्रभुने स्नेह प्रकट करते हुए कहा—'मुझे ऐसी आवश्यकता ही क्या है कि उन्हें यहाँ बुलाऊँ। मैं ठहरा भिक्षुक संन्यासी। वे ठहरे महाराजा। मेरा उनका सम्बन्ध ही क्या?'

नित्यानन्दजीने कहा—'वे राजापनेसे मिलना नहीं चाहते हैं, वे तो आपके भक्त हैं। जैसे सब दर्शन करते हैं उसी प्रकार उन्हें भी आज्ञा दे दीजिये।'

महाप्रभुने कुछ हँसकर कहा—'आप यह सब कैसी बातें कह रहे हैं। पता नहीं, आपको यह क्या नयी बात सूझी है। सचमुच वे बड़े महाभाग हैं। जिनके कल्याणके लिये आप सभी इतने अधिक चिन्तित हैं। किन्तु मैं संन्यासधर्मके विरुद्ध आचरण कैसे करूँ? लोग चाहे दिन-भर असंख्यों बुरे-बुरे काम करते रहें, किन्तु संन्यासी होकर कोई एक भी बुरा काम करता है तो लोग उसकी बड़ी भारी आलोचना करते हैं। स्वच्छ वस्त्रपर छोटा-सा दाग़ भी स्पष्ट दीखने लगता है। राज-दर्शनसे लोक-परलोक दोनोंकी ही हानि होती है। लोग भाँति-भाँति-की आलोचना करने लगेंगे। और लोगोंकी बात तो जाने दीजिये, ये हमारे गुरु महाराज दामोदर पण्डित ही हमें खूब डाँटेंगे। अच्छा, जाने दीजिये सब बातोंको, दामोदर पण्डित आज्ञा दे दें तो मैं राजासे मिल सकता हूँ।' इतना कहकर महाप्रभु मन्द मुसकानके साथ दामोदर पण्डितकी ओर देखने लगे। दामोदर पण्डितने अपनी दृष्टि नीची कर ली और वे कुछ भी नहीं बोले। तब महाप्रभुने कहा—'दामोदरजी! बोलिये, क्या कहते हैं?'

नीची दृष्टि किये हुए धीरे-धीरे दामोदर पण्डित कहने लगे—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, जो चाहें सो करें, मुझसे इस विषयमें पूछनेकी क्या बात है। मैं आपको सम्मति ही क्या दे सकता हूँ।'

महाप्रभुने बातको टालते हुए कहा—'भाई! जाने दीजिये, इनकी सम्मति नहीं है।' नित्यानन्दजी तथा अन्य सभी भक्त समझ तो गये कि प्रभुका हृदय महाराजके गुणोंसे पिघल गया है और अब उनका महाराजके प्रति स्नेह भी हो गया है, किन्तु बातको यहीं समाप्त होते देखकर नित्यानन्दजी कहने लगे—'अच्छा, यदि उन्हें दर्शनकी आज्ञा आप नहीं देते हैं, तो अपने शरीरका स्पर्श किया हुआ एक वस्त्र ही उन्हें देकर कृतार्थ कीजिये। उसीसे उन्हें सन्तोष हो जायगा।'

महाप्रभुने स्नेहके स्वरमें कहा—'बाबा ! आपको जो अच्छा लगे वही करें। मैं तो आपके हाथकी कठपुतली हूँ, जैसे नचायेंगे नाचूँगा। आपकी इच्छाके विरुद्ध कर ही क्या सकता हूँ ?'

महाप्रभुकी इस प्रकार अनुमति पाकर नित्यानन्दजीने गोविन्दसे प्रभुके ओढ़नेका एक बहिर्वास लेकर सार्वभौम भट्टाचार्यके हाथों महाराज-के पास पहुँचा दिया। प्रभुके अंगके वस्त्रको पाकर महाराजको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे उसे बड़े ही सम्मानके साथ अपने पास रखने लगे।

एक दिन रामानन्द रायने कहा—'प्रभो ! राजपुत्र तो आकर आपके दर्शन कर सकते हैं ?'

प्रभुने कहा—'जैसी आपकी इच्छा, मैं इस सम्बन्धमें आपसे क्या कहूँ, आप स्वतन्त्र हैं जो चाहें सो करें। दोष तो किसीके भी आनेमें नहीं है; किन्तु अभिमानीके सामने स्वयं भी अभिमानके भाव जाग्रत् हो उठते हैं। इसीलिये संन्यासीको राज-दरबारमें जाना निषेध बताया है। कैसी भी प्रकृति क्यों न हो, मान-सम्मानकी जगह जानेसे कुछ-न-कुछ तमोगुण आ ही जाता है। बच्चे तो सरल होते हैं, उन्हें मान-सम्मान या आदर-शिष्टाचारका ध्यान ही नहीं होता। इसीलिये उनसे मिलनेमें किसीको उद्वेग नहीं होता। यदि राजपुत्र आना चाहें तो उसे आप प्रसन्नतापूर्वक ला सकते हैं।'

प्रभुकी आज्ञा पाकर रामानन्दजी उसी समय महाराजके निवासस्थानमें गये। उस समय महाराज सपरिवार पुरीमें ही ठहरे हुए थे। स्नानयात्राके तीन दिन पूर्व महाराजको पुरी आ जाना पड़ता है और रथयात्रापर्यन्त वे वहीं रहते हैं, इसीलिये महाराज आये हुए थे। राय रामानन्दजीकी कहीं भी जानेकी रोक-टोक नहीं थी, वे भीतर चले गये और राजपुत्रसे प्रभुके दर्शनोंके लिये कहा। राजपुत्रकी पहलेसे ही

इच्छा थी । महाराज तथा महारानीकी भी आन्तरिक इच्छा थी । इस-लिये रामानन्दजीने राजपुत्रको खूब सजाया । राजपुत्र एक तो वैसे ही बहुत अधिक सुन्दर था । फिर कविहृदय रामानन्दजीने अपने हाथोंसे उसका श्रृङ्गार किया । राजपुत्रके कमलके समान सुन्दर बड़े-बड़े नेत्र थे, माथा चौड़ा था और दोनों भ्रुकुटियाँ कमानके समान चढ़ाव-उतार-की थीं । रामानन्दजीने राजपुत्रके दोनों कानोंमें मोतियोंसे युक्त बड़े-बड़े कुण्डल पहनाये । गलेमें मोतियोंका हार पहनाया तथा शरीरपर बहुत ही बढ़िया पीले रङ्गके वस्त्र पहनाये । कामदारी बहुमूल्य पीताम्बर-को ओढ़कर राजपुत्रकी अपूर्व ही शोभा बन गयी । रायने राजपुत्रके घुँघराले काले-काले बालोंको अपने हाथोंसे व्यवस्थित करके उनके ऊपर एक छोटा-सा मुकुट बाँध दिया । इस प्रकार उसे खूब सजाकर वे अपने साथ प्रभुके दर्शनके लिये ले गये ।

महाप्रभु राजपुत्रको देखते ही प्रेममें अधीर हो उठे । उन्हें भान होने लगा, मानों साक्षात् श्रीकृष्ण ही उनके समीप आ गये हैं । प्रभु राजपुत्रको देखते ही जल्दीसे उठे और श्रीकृष्णके सखाके भावावेशमें उन्होंने जोरोंसे राजपुत्रका आलिङ्गन किया । महाप्रभुका प्रेमालिङ्गन पाते ही, राजपुत्र आनन्दमें विभोर होकर 'श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण' कहकर जोरोंसे नृत्य करने लगा । उसके सम्पूर्ण शरीरमें प्रेमके सभी सात्त्विक भाव एक साथ ही उदित हो उठे । रामानन्दजीने उसे सम्हाला । महा-प्रभु उससे बहुत देरतक बालकोंकी भाँति बातें करते रहे । अन्तमें फिर आनेके लिये बार-बार कहकर प्रभुने उसे विदा किया । महाराज तथा महारानीने पुत्रको गोदमें बिठाकर स्वयं महाप्रभुके स्नेहका अनुभव किया । उस दिनसे राजपुत्र प्रायः प्रभुके दर्शनोंके लिये रोज ही आता था । उसकी गणना प्रभुके अन्तरङ्ग भक्तोंमें होने लगी ।

गुण्डिचा (उद्यान-मन्दिर) मार्जन

श्रीगुण्डिचामन्दिरमात्मवृन्दैः
सम्मार्जयन् क्षालनतः स गौरः।
स्वचित्तवच्छीतलमुज्ज्वलञ्च
कृष्णोपवेशोपयिकं चकार ॥*

(चैत० चरि० म० ली० १२ । १)

संसारमें असंख्यों घटनाएँ रोज घटित होती हैं। मातासे छिपकर मिट्टी प्रायः सभी बच्चे खाते हैं, सभी गोपालोंके बालक गौएँ चराने जाते हैं और अपने हाथोंमें दही-भात और टैंटी (कैर) का अचार रखकर वहीं खाते हैं। गोपियोंकी भाँति न जाने कितनी प्रेमिकाएँ अपने प्रियतमोंके लिये रोती रहती होंगी। सुदामाके समान धनहीन बहुत-से मित्र अपने धनिक मित्रोंसे मान-सम्मान तथा धन पाते होंगे; किन्तु उनका नाम कोई भी नहीं जानता। कारण उनमें प्रेमकी वह पराकाष्ठा नहीं है। भगवान् तो प्रेमके सजीव विग्रह थे। प्रेमके संसर्ग होनेसे ये सभी घटनाएँ अमर हो गयीं और प्रेमी भक्तोंके प्रेमवर्धन करनेकी सर्वोत्तम सामग्री बन गयीं। असलमें प्रेम ही सत्य है, प्रेमपूर्वक किये जानेवाले सभी काम प्रेमकी ही भाँति अजर-अमर और अमिट होते हैं। प्रेमके साथ प्राणोंका भी परित्याग करना पड़े तो वह भी सुखकर

---

* 'श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने अपने आत्मीय भक्तोंके सहित श्रीगुण्डिचा भवनका मार्जन तथा क्षालन करके उसे अपने शीतल और निर्मल चित्तकी भाँति खूब स्वच्छ और पवित्र बनाकर श्रीकृष्णके बैठनेयोग्य बना दिया।' काम-क्रोधादिसे मलिन हुए मनमें श्रीकृष्ण बैठ ही कैसे सकते हैं? चैतन्यकी ही कृपा हो तो यह वाटिका परिष्कृत हो सकती है।

प्रतीत होता है। अपने प्रेमीके साथ मरनेमें भी मीठा-मीठा मजा आता है। प्रेमके सामने दुःख कैसा ? सन्तापका वहाँ नाम नहीं; थकान, आलस्य या विषण्णताका एकदम अभाव होता है। यदि एक ही उद्देश्यके एक-से ही मनवाले दस-बीस पचास प्रेमी बन्धु हों तो फिर वैकुण्ठके सुखका अनुभव करनेके लिये अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं होती। वैकुण्ठका सुख उनकी संगतिमें ही मिल जाता है। उनके साथ प्रेमपूर्वक मिलकर जो भी कार्य किया जाता है, वही प्रेममय होनेके कारण आनन्दमय और हर्षमय ही होता है।

महाप्रभु गौड़ीय भक्तोंके साथ नित्य नयी-नयी क्रीडाएँ करते थे; उनका भोजन, भजन, स्नान, सङ्कीर्तन तथा हास-परिहास सभी प्रेममय ही होता था। सभी भक्त क्रमशः नित्यप्रति महाप्रभुको अपने-अपने यहाँ भिक्षा कराते। महाप्रभु भी एक-एक दिनमें भक्तोंकी प्रसन्नताके निमित्त तीन-तीन चार-चार स्थानोंमें थोड़ा-थोड़ा भोजन कर लेते। वे भक्तोंको साथ लेकर ही मन्दिरमें जाते, उनके साथ ही स्नान करते और सबको पास बिठाकर ही प्रसाद पाते।

इस प्रकार धीरे-धीरे रथ-यात्राका समय समीप आने लगा। पन्द्रह दिनोंतक एकान्तमें महालक्ष्मीके साथ एकान्तवास करनेके अनन्तर जगन्नाथजीके पट खुलनेका समय भी सन्निकट ही आ पहुँचा। नेत्रोत्सवके एक दिन पूर्व महाप्रभुने एक प्रेमकुतूहल करनेका निश्चय किया।

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरसे एक कोसकी दूरीपर गुण्टिचा नामका एक उद्यान-मन्दिर है। रथ-यात्राके समय भगवान्‌की सवारी यहीं आकर ठहरती है और एक सप्ताहके लगभग भगवान् यहीं निवास करते हैं, फिर लौटकर मन्दिरमें आ जाते हैं, इसीका नाम रथ-यात्रा है। रथ-यात्राके पूर्व नेत्रोत्सव होता है, उस दिन पन्द्रह दिनोंके पश्चात् कमलनयन

भगवान्‌के लोगोंको दर्शन होते हैं। नेत्रोत्सवके एक दिन पूर्व ही प्रभुने गुण्टिचाभवनको मार्जन करनेका विचार किया। गुण्टिचा-उद्यान-मन्दिरका आँगन लगभग डेढ़ सौ गज लम्बा है। उसमें मूल मन्दिरके अतिरिक्त एक दूसरा नृसिंहभगवान्‌का मन्दिर भी है। दोनों लगभग पन्द्रह-पन्द्रह सोलह-सोलह गज लम्बे-चौड़े होंगे। महाप्रभुने काशी मिश्र तथा सार्वभौम भट्टाचार्यको बुलाकर उनपर अपना मनोगत भाव प्रकट किया। सभी-को सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। काशी मिश्रने कहा—'प्रभो! गुण्टिचा-भवन तो साफ होता ही है, उस कामको करके आप क्या करेंगे, आप तो सङ्कीर्तन ही करें।'

प्रभुने कहा—'मिश्रजी! आप विद्वान् भक्त और जगन्नाथजीके भक्त होकर ऐसी बात कहते हैं? भगवान्‌की सेवामें कोई भी काम छोटा नहीं है। इन हाथोंसे भगवान्‌की तुच्छ-से-तुच्छ सेवाका भी सौभाग्य प्राप्त हो सके तो हम अपने जीवनको धन्य समझेंगे। भगवान्‌की सेवामें छोटे-बड़ेका ध्यान ही न आना चाहिये। जो भी काम मिल जाय, उसे ही श्रद्धा-भक्तिके साथ करना चाहिये। हमारी ऐसी ही इच्छा है, आप जल्दीसे इसका प्रबन्ध करें।'

महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके काशी मिश्रने उद्यानके मार्जनके निमित्त झाड़ू, टोकरी तथा और भी आवश्यकीय वस्तुओंका प्रबन्ध कर दिया। अब महाप्रभु अपने सभी भक्तोंके सहित गुण्टिचा-मार्जनके लिये चले। सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानन्द तथा वाणीनाथ-जैसे प्रमुख-प्रमुख गण्य-मान्य पुरुष भी प्रभुके साथ हाथमें झाड़ू तथा खुरपियोंको लेकर चले। सबसे पहले तो महाप्रभुने वहाँ इधर-उधर जमी हुई घासको छिलवाया फिर आपने सभी भक्तोंसे कहा—'सभी एक-एक झाड़ू ले लीजिये और झाड़कर अपना-अपना कूड़ा अलग एकत्रित करते

आइये। कूड़ेको देखकर ही सबको पुरस्कार अथवा तिरस्कार मिलेगा।' बस, इतना सुनते ही सभी भक्त उद्यानको साफ करनेमें जुट गये। सभी एक-दूसरेसे प्रतिस्पर्धा कर रहे थे, सभी चाहते थे कि मेरा ही नम्बर सर्वश्रेष्ठ रहे। सभी भक्तोंके शरीरोंसे पसीना बह रहा था। महाप्रभु तो यन्त्रकी भाँति काममें लगे हुए थे। उनके गौरवर्णके अरुण कपोल गर्मी और परिश्रमके कारण और भी अधिक अरुण हो गये थे। उनमेंसे स्वेदबिन्दु निकल-निकलकर प्रभुके सम्पूर्ण शरीरको भिगो रहे थे। महाप्रभु झाड़ू हाथमें लिये कूड़ेको इकट्ठा करनेमें लगे हुए थे। कोई भक्त सफाई करनेमें प्रमाद करता या सुस्ती दिखाता तो प्रभु उसे मीठा-मीठा उलाहना देते। एक पत्तेको भी वे पड़ा हुआ नहीं देख सकते थे। बीच-बीचमें प्रभु भक्तोंको प्रोत्साहित भी करते जाते थे। महाप्रभुके प्रोत्साहनको पाकर सभी भक्त दूने उत्साहसे काम करने लगते। इस प्रकार बात-की-बातमें उद्यान तथा मन्दिरका सभी कूड़ा साफ हो गया। सबके कूड़ेका महाप्रभुने भक्तोंके साथ निरीक्षण किया। हिसाब लगानेपर महाप्रभु-का ही कूड़ा सबसे अधिक निकला और सबसे कम अद्वैताचार्यका। इसपर हँसी होने लगी। महाप्रभु कहने लगे—'ये तो भोलेबाबा हैं। इन्हें एकत्रित करनेसे प्रयोजन ही क्या? ये तो संहारकारी हैं।'

इसपर खूब हँसी हुई। और भी भाँति-भाँतिके विनोद होते रहे।

उद्यान तथा मन्दिरोंका मार्जन होनेके अनन्तर अब धोनेकी बारी आयी। बहुत-से नये घड़े मन्दिरको धोनेके लिये मँगाये गये। सभी भक्त जलसे भरे हुए घड़ोंको लिये महाप्रभुके पास लाने लगे। महाप्रभु अपने हाथोंसे मन्दिरको धोने लगे। उस समयका दृश्य बड़ा ही चित्ताकर्षक और मनोहर था। बंगाली भक्त वैसे ही शरीरसे दुबले-पतले थे, तिसपर भी झाड़ू देते-देते थक गये थे। वे अपनी ढीली धोती-

को सँभालते हुए एक हाथसे घड़ेको लेकर आते। किसीके हाथमेंसे घड़ा गिर पड़ता, वह फूट जाता और जल फैल जाता, उसी समय दूसरा भक्त उसे फौरन नया घड़ा दे देता। कोई-कोई जल लाते समय गिरे हुए जलमें फिसलकर धड़ामसे गिर पड़ते। सभी भक्त उन्हें देखकर ताली बजा-बजाकर हँसने लगते। बहुत-से केवल तालाबमेंसे जल ही भरकर लाते थे। बहुत-से खाली घड़ोंको देनेपर ही नियुक्त थे। बहुत-से महाप्रभुके साथ नीचे-ऊपर तथा पक्की दीवालोंको वस्त्रोंसे धो रहे थे। सभी भक्त हुंकार-के साथ हरि-हरि पुकारते हुए जल भरकर लाते और जल्दीसे नीचे उड़ेल देते। बहुत-से जान-बूझकर प्रभुके पैरोंपर ही जल डाल देते और उसे पान कर जाते। महाप्रभुका इसकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं था, वे अपने ओढ़नेके वस्त्रसे भगवान्‌के सिंहासनको धो रहे थे। उसी समय एक सरल-से भक्तने एक घड़ा जल लाकर प्रभुके पैरोंपर डाल दिया और सबोंके देखते-ही-देखते उस पादोदकका पान करने लगा। महाप्रभुकी भी दृष्टि पड़ी। उन्होंने उसपर क्रोध प्रकट करते हुए कहा—'यह मेरे साथ कैसा अन्याय कर रहे हैं। मुझे पतित करना चाहते हैं।' इतना कहकर आपने अत्यन्त ही दुखी होकर स्वरूपदामोदरको बुलाया और उनसे कहने लगे—'देखो, तुम्हारे भक्तने मेरे साथ कैसा घोर अन्याय किया है। मेरे ऊपर भगवत्-अपराध चढ़ा दिया है। भगवान्‌के मन्दिरमें मेरा पादोदक पीया है।' स्वरूपदामोदर इसे अपराध ही नहीं समझते थे। उनकी दृष्टिमें जगन्नाथजीमें और महाप्रभुमें किसी प्रकारका अन्तर ही नहीं था, फिर भी प्रभुको शान्त करनेके निमित्त उन्होंने उस भक्तपर बनावटी क्रोध प्रकट करते हुए उसे डाँटा और उसका गला पकड़कर बाहर निकाल दिया। इसपर उस भक्तको बड़ी प्रसन्नता हुई।

पीछेसे भक्तोंके कहनेपर उसने प्रभुके पैरोंमें पड़कर क्षमा-याचना

की। महाप्रभुने हँसकर उसके गालपर धीरेसे एक चपत जमा दिया। प्रेमके उस चपतको पाकर वह अपने भाग्यकी सराहना करने लगा। इस प्रकार दोनों मन्दिरोंको तथा मन्दिरके आँगनोंको भलीभाँति साफ किया। जब सफाई हो गयी तब प्रभुने सङ्कीर्तन करनेकी आज्ञा दी। सभी भक्त अपने-अपने खोल-करतालोंको लेकर सङ्कीर्तन करने लगे। सभी भक्त कीर्तनके वाद्योंके साथ उद्दण्ड नृत्य करने लगे। भक्त-वृन्द अपने आपेको भूलकर सङ्कीर्तनके साथ नृत्य कर रहे थे। नृत्य करते-करते अद्वैताचार्यके पुत्र गोविन्द मूर्छित होकर गिर पड़े। उन्हें मूर्छित देखकर महाप्रभुने सङ्कीर्तनको बन्द कर देनेकी आज्ञा दी। सभी भक्त गोविन्दको सावधान करनेके लिये भाँति-भाँतिके उपचार करने लगे। किन्तु गोविन्दकी मूर्छा भङ्ग ही नहीं होती थी। सभीने समझा कि गोविन्दका शरीर अब नहीं रह सकता। अद्वैताचार्य भी पुत्रको मूर्छित देखकर अत्यन्त दुखी हुए। तब महाप्रभुने उसकी छातीपर हाथ रखकर कहा—'गोविन्द! उठते क्यों नहीं? बहुत देर हो गयी, चलो स्नानके लिये चलें।'

बस, महाप्रभुके इतना कहते ही गोविन्द हरि-हरि करके उठ पड़े और फिर सभी भक्तोंको साथ लेकर प्रभु स्नान करनेके लिये गये। घण्टों सरोवरमें सभी भक्त जलक्रीड़ा करते रहे। महाप्रभु भक्तोंके ऊपर जल उलीचते थे और सभी भक्त साथ ही मिलकर प्रभुके ऊपर जलकी वर्षा करते। इस प्रकार स्नान कर लेनेके अनन्तर सभीने आकर नृसिंह भगवान्‌को प्रणाम किया और मन्दिरके जगमोहनमें बैठ गये।

उसी समय महाराजने चार-पाँच सौ आदमियोंके लिये जगन्नाथजीका महाप्रसाद भिजवाया। महाप्रभु सभी भक्तोंके सहित प्रसाद पाने लगे। महाप्रसादमें छूतछातका तो विचार ही नहीं था, सभी एक पंक्तिमें

बैठकर साथ-ही-साथ प्रसाद पाने लगे। सार्वभौम भट्टाचार्य भी अपने आचार-विचार और पण्डितपनेके अभिमानको भुलाकर भक्तोंके साथ बैठकर प्रसाद पा रहे थे। इसपर उनके बहनोई गोपीनाथाचार्यने कहा—'कहो, भट्टाचार्य महाशय! आपका आचार-विचार और चौका-चूल्हा कहाँ गया?'

भट्टाचार्यने प्रसन्नताके स्वरमें कहा—'आचार्य महाशय, आपकी कृपासे मेरे चौके-चूल्हेपर चौका फिर गया। आपने मेरे सभी पापोंको धुला दिया।'

इतनेमें ही महाप्रभु कहने लगे—'भट्टाचार्यके ऊपर अब भगवान्‌की अनन्त कृपा हो गयी है और इनकी सङ्गतिसे हमलोगोंके हृदयमें भी कुछ-कुछ भक्तिका सञ्चार होने लगा है।'

इतना सुनते ही भट्टाचार्य जल्दीसे कहने लगे—'भगवत्-कृपा न होती तो, भगवान् इस अभिमानीको अपनी चरणसेवाका सौभाग्य ही कैसे प्रदान करते? भगवत्-कृपाका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि साक्षात् भगवान् अपने समीप बिठाकर भोजन करा रहे हैं।' इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेकी गुप्त प्रशंसा करने लगे। भोजनके अनन्तर सभी हरिध्वनि करते हुए उठे। महाप्रभुका उच्छिष्ट प्रसाद गोविन्दने हरिदासजी-को दिया और भक्तोंने भी थोड़ा-थोड़ा बाँट लिया। इसके अनन्तर महाप्रभुने स्वयं अपने करकमलोंसे सभी भक्तोंको माला प्रदान की और उनके मस्तकोंपर चन्दन लगाया। इस प्रकार उस दिन इस अद्भुत लीलाको करके भक्तोंके सहित प्रभु अपने स्थानपर आ गये।

श्रीजगन्नाथजीकी रथ-यात्रा

स जीयात् कृष्णचैतन्यः श्रीरथाग्रे ननर्त यः ।
येनासीज्जगतां चित्रं जगन्नाथोऽपि विस्मितः ॥*

(चैत० चरि० म० ली० १३ । १)

गुण्टिचा (उद्यान-मन्दिर) के मार्जनके दूसरे दिन नेत्रोत्सव था। महाप्रभु अपने सभी भक्तोंको साथ लेकर जगन्नाथजीके दर्शनके लिये गये। पन्द्रह दिनोंके अनवसरके अनन्तर आज भगवान्‌के दर्शन हुए हैं, इससे महाप्रभुको बड़ा ही हर्ष हुआ। वे एकटक लगाये श्रीजगन्नाथ-जीके मुखारविन्दकी ओर निहार रहे थे। उनकी दोनों आँखोंमेंसे अश्रुओंकी दो धाराएँ बह रही थीं। उनके दोनों अरुण ओष्ठ नवपल्लवों-की भाँति हिल रहे थे और वे धीरे-धीरे जगन्नाथजीसे कुछ कह रहे थे, मानों इतने दिनके वियोगके लिये प्रेमपूर्वक उलाहना दे रहे हों। दोपहर-तक महाप्रभु अनिमेष-भावसे भगवान्‌के दर्शन करते रहे। फिर भक्तोंके सहित आप अपने स्थानपर आये और महाप्रसाद पाकर फिर कथा-कीर्तनमें लग गये।

दूसरे दिन जगन्नाथजीकी रथ-यात्राका दिवस था। प्रभुके आनन्द-की सीमा नहीं थी। वे प्रातःकाल होनेके लिये बड़े ही आकुल बने हुए थे। मारे हर्षके उन्हें रात्रिभर नींद ही नहीं आयी। रातभर वे प्रेममें बेसुध हुए जागरण ही करते रहे। दो घड़ी रात्रि रहते ही आप उठकर बैठे हो गये और सभी भक्तोंको भी जगा दिया। शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर सबके साथ महाप्रभु 'पाण्डुविजय' के दर्शनके लिये चले।

---

* जिन्होंने रथके आगे ऐसा नृत्य किया जिससे समस्त जगत् तथा साक्षात् जगन्नाथजी भी विस्मित हो गये, उन श्रीकृष्णचैतन्य भगवान्‌की जय हो।

ज्येष्ठकी पूर्णिमासे लेकर आषाढ़की अमावस्यातक भगवान् महालक्ष्मीके साथ एकान्तमें वास करते है। प्रतिपदाके दिन नेत्रोत्सव होता है। तभी जगन्नाथजीके दर्शन होते हैं, द्वितीया या तृतीयाको रथपर चढ़कर भगवान् श्रीराधिकाजीके साथ एक सप्ताहसे अधिक निवास करनेके लिये सुन्दराचलको प्रस्थान करते हैं। वही रथ-यात्रा कहलाती है। जिस समय रथ जाता है, उसे 'रथ-यात्रा' कहते हैं और विश्रामके पश्चात् जब रथ लौटकर मन्दिरकी ओर आता है उसे 'उलटी रथ-यात्रा' कहते हैं।

रथ-यात्राके समय तीन रथ होते हैं। सबसे आगे जगन्नाथजीका रथ होता है, उनके पीछे बलरामजी तथा सुभद्राजीके रथ होते हैं। भगवान्‌का रथ बहुत ही विशाल होता है, मानों छोटा-मोटा पर्वत ही हो। सम्पूर्ण रथ सुवर्णमण्डित होता है। उसमें हजारों घण्टा, टाल, किंकिणी तथा घागर बँधे रहते हैं। उसकी छतरी बहुत ऊँची और विशाल होती है, उसमें भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाएँ फहराती रहती हैं। वह एक छोटे-मोटे नगरके ही समान होता है। सैकड़ों आदमी उसमें खड़े हो सकते हैं। चारों ओर बड़े-बड़े शीशे लटकते रहते हैं। सैकड़ों मनुष्य स्वच्छ सफेद चँवरोंको डुलाते रहते हैं। उसके चँदवे मूल्यवान् रेशमी वस्त्रोंके होते हैं तथा सम्पूर्ण रथ विविध प्रकारके चित्रपटोंसे बहुत ही अच्छी तरहसे सजाया जाता है। उसमें आगे बहुत ही लम्बे और मज़बूत रस्से बँधे होते हैं, जिन्हें मनुष्य ही खींचते हैं। भगवान्‌के रथको गुण्टिचा भवनतक मनुष्य ही खींचकर ले जाते हैं। उस समयका दृश्य बड़ा ही अपूर्व होता है।

प्रातःकाल रथ सिंहद्वारपर खड़ा होता है, उसमें 'दयितागण' भगवान्‌को लाकर पधराते हैं, जिस समय सिंहासनसे उठाकर भगवान् रथमें पधराये जाते हैं, उसे ही 'पाण्डु-विजय' कहते हैं। 'दयिता'

जगन्नाथजीके सेवक होते हैं। 'दयिता' वैसे तो एक निम्न श्रेणीकी जाति है, किन्तु भगवान्‌की सेवाके अधिकारी होनेके कारण सभी लोग उनका विशेष सम्मान करते हैं। उनमें दो श्रेणी हैं, साधारण दयिता तो शूद्रतुल्य ही होते हैं, किन्तु उनमें जो ब्राह्मण होते हैं, वे 'दयितापति' कहलाते हैं। अनवसरके दिनोंमें वे ही भगवान्‌को बाल-भोगमें मिष्टान्न अर्पण करते हैं और भगवान्‌की तबियत खराब बताकर ओषधि भी अर्पण करते हैं। स्नान-दिनसे लेकर रथके लौटनेके दिनतक उनका श्री-जगन्नाथजीकी सेवामें विशेष अधिकार होता है। वे ही किसी प्रकार रस्सियोंद्वारा भगवान्‌को सिंहासनसे रथपर पधराते हैं। उस समय कटक-के महाराजा वहाँ स्वयं उपस्थित रहते हैं।

महाप्रभु अपने भक्तोंके सहित 'पाण्डुविजय' के दर्शनके लिये पहुँचे। महाराजने प्रभुके दर्शनकी अच्छी व्यवस्था कर दी थी, इसलिये प्रभुने भलीभाँति सुविधापूर्वक भगवान्‌के दर्शन किये। दर्शनके अनन्तर अब रथ चलनेके लिये तैयार हुआ। भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंके लाखों नर-नारी रथ-यात्रा देखनेके लिये उपस्थित थे। चारों ओर गगनभेदी जय-ध्वनि ही सुनायी देती थी।

भगवान्‌के रथपर विराजमान होनेके अनन्तर महाराज प्रतापरुद्र-जीने सुवर्णकी बुहारीसे पथको परिष्कृत किया और अपने हाथसे चन्दन-मिश्रित जल छिड़का। असंख्यों इन्द्र, मनु, प्रजापति तथा ब्रह्मा जिनकी सेवामें सदा उपस्थित रहते हैं, उनकी यदि नीच सेवाको करके महाराज अपने यश और प्रतापको बढ़ाते हैं, तो इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है? उनके सामने राजा-महाराजाओंकी तो बात ही क्या है, ब्रह्माजी भी एक साधारण जीव हैं। मान-सम्मानके सहित उनकी सेवा कोई कर ही क्या सकता है, क्योंकि संसारभरकी सभी

प्रतिष्ठा उनके सामने तुच्छसे भी तुच्छ है। मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति और यश-के वे ही तो उद्गम-स्थान हैं। ऐश्वर्यसे, पदार्थोंसे तथा अन्य प्रकारकी वस्तुओंसे कोई उनकी पूजा कर ही कैसे सकता है? वे तो केवल भावके

महाराजके पूजा-अर्चा तथा पथ-परिष्कार कर लेनेपर गौड़देशीय भक्तोंने तथा भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंसे आये हुए नर-नारियोंने भगवान्के रथकी रज्जु पकड़ी। सभीने मिलकर जोरोंसे 'जगन्नाथजीकी जय' बोली। जय-घोषके साथ ही असंख्यों घण्टा-किंकिणियों तथा टालों-को एक साथ ही बजाता हुआ और घर-घर शब्द करता हुआ भगवान्-का रथ चला। उनके पीछे बलभद्रजी तथा सुभद्राजीके भी रथ चले। चारों ओर जयघोष हो रहा था। सम्पूर्ण पथ सुन्दर बालुकामय बना हुआ था। राजपथके दोनों पार्श्वोंमें नारियलके सुन्दर-सुन्दर वृक्ष बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। सुन्दराचल जाते हुए भगवान्के रथकी छटा उस समय अपूर्व ही थी। रथ कभी तो जोरोंसे चलता, कभी धीरे-धीरे चलता, कभी एकदम ठहर जाता और लाख प्रयत्न करनेपर भी फिर आगे नहीं बढ़ता। भला, जिनके पेटमें करोड़-दो-करोड़ नहीं, असंख्यों ब्रह्माण्ड भरे हुए हैं, उन्हें ये कीट-पतङ्गकी तरह बल रखनेवाले पुरुष खींच ही क्या सकते हैं? भगवान् स्वयं इच्छामय हैं, जब उनकी मौज होती है तो चलते हैं, नहीं तो जहाँ-के-तहाँ ही खड़े रहते हैं। लोग कितना भी ज़ोर लगावें, रथ आगेको चलता ही नहीं, तब उड़िया भक्त भगवान्को लाखों गालियाँ देते हैं। पता नहीं गालियोंसे भगवान् क्यों प्रसन्न हो जाते हैं, गाली सुनते ही रथ चलने लगता है।

महाप्रभु रथके आगे-आगे नृत्य करते हुए चल रहे थे। रथ चलनेके पूर्व उन्होंने अपने हाथोंसे सभी भक्तोंको मालाएँ पहनायीं तथा

उनके मस्तकोंपर चन्दन लगाया। इसके अनन्तर प्रभुने सङ्कीर्तन-मण्डलियोंको सात भागोंमें बाँट दिया।

पहली मण्डलीके प्रधान गायक महाप्रभुके दूसरे स्वरूप स्वनाम-धन्य श्रीस्वरूपदामोदरजी थे, उनके दामोदर (दूसरे), नारायण, गोविन्द दत्त, राघव पण्डित और गोविन्दानन्द—ये पाँच सहायक महाप्रभुने बनाये। उस मण्डलीके मुख्य नृत्यकारी महामहिम श्रीअद्वैताचार्य थे। बूढ़े होनेपर भी सङ्कीर्तनके नृत्यमें वे अच्छे-अच्छे युवक भक्तोंसे बहुत अधिक बढ़ जाते। उनका नृत्य बड़ा ही मधुर होता और वे अपने श्वेत बालोंको हिलाते हुए मण्डलीके आगे-आगे श्रीशङ्करजीका-सा ताण्डव-नृत्य करते जाते।

दूसरी मण्डलीके प्रधान गायक थे श्रीवास पण्डित। उनका शरीर स्थूल था, चेहरेपरसे रोब टपकता था और वाणीमें गम्भीरता, तथा सरसता थी। वे हाथमें मंजीरा लिये हुए सिंहके समान खड़े थे। महाप्रभुने उनके गंगादास, हरिदास (दूसरे), श्रीमान् पण्डित, शुभानन्द और श्रीराम पण्डित—ये पाँच सहायक बनाये। उस मण्डलीके प्रधान नर्तक थे श्रीपाद नित्यानन्दजी। अवधूत नित्यानन्दजी अपने लम्बे इकहरे शरीरसे नृत्य करते हुए बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। काषाय-वस्त्रको ऊपर उठा-उठाकर वे मधुर नृत्य कर रहे थे।

तीसरी मण्डलीके प्रधान गायक थे गन्धर्वावतार श्रीमुकुन्द दत्त पण्डित। उनके सहायक थे वासुदेव, गोपीनाथ, मुरारी गुप्त, श्रीकान्त और वल्लभ सेन। इस मण्डलीमें महामहिम महात्मा हरिदासजी प्रधान नृत्यकारी थे। वे अपनी छोटी-सी दाढ़ीको हिलाते हुए कूद-कूदकर मनोहर नृत्य कर रहे थे। उनका गोल-गोल स्थूल शरीर नृत्यमें गेंदकी भाँति उछल रहा था। वे सिर हिला-हिलाकर 'हरि हरि' कहते जाते थे।

चौथी मण्डलीके प्रधान गायक थे श्रीगोविन्द घोष। हरिदास, विष्णुदास, राघव, माधव और वासुदेव उनके सहायक थे। इस मण्डली-को नृत्यसे टेढ़ी बनानेवाले श्रीवक्रेश्वर पण्डित थे। इनका नृत्य तो अपूर्व ही होता था। ये नृत्य करते-करते जमीनमें लोट-पोट हो जाते। इस प्रकार चार मण्डलियोंका तो महाप्रभुने उसी समयसे संगठन किया। तीन मण्डलियाँ पहलेसे ही बनी हुई थीं। एक तो कुलीन ग्रामकी मण्डली थी, जिसके प्रधान गायक थे रामानन्दजी और वे सत्यराजजीके सहित नृत्य भी करते थे। उनके सहायक कुलीनग्रामवासी सभी भक्त थे। दूसरी शान्तिपुरकी एक मण्डली थी, जिसके प्रधान थे श्रीअद्वैताचार्यके स्वनाम-धन्य पुत्र श्रीअच्युतानन्दजी। वे ही उसमें नृत्यकारी भी थे और शान्तिपुरके सभी भक्त उनके सहायक थे। तीसरे सम्प्रदायके प्रधान गायक और नर्तक थे श्रीनरहरि और रघुनन्दन। खण्डवासी सभी उनके अनुगत थे। इस प्रकार सात सम्प्रदायोंका सम्मिलित संकीर्तन हो रहा था। चार मण्डलियाँ तो भगवान्के रथके आगे-आगे संकीर्तन कर रही थीं। एक दायीं ओर, एक बायीं ओर और एक रथके पीछे-पीछे अपनी तुमुल ध्वनिसे रथको आगे बढ़ानेमें सहायक हो रही थी।

सातों सम्प्रदायोंमें साथ ही चौदह खोल या मादल बजने लगे! असंख्यों मंजीरोंकी मीठी-मीठी ध्वनि उन खोल-करतालोंकी ध्वनिमें मिल-मिलकर एक प्रकारका विचित्र रस पैदा करने लगी। खोल बजाने-वाले भक्त खोलोंको बजाते-बजाते दुहरे हो जाते थे। उनके पैर पृथिवीपर टिके रहते और खोलोंको बजाते-बजाते पीछेकी ओर झुक जाते। नृत्य करनेवाले भक्त उछल-उछलकर, कूद-कूदकर, भावोंको दिखा-दिखाकर भाँति-भाँतिसे नृत्य करने लगे। महाप्रभु सभी मण्डलियोंमें नृत्य करते। वे बात-की-बातमें एक मण्डलीसे दूसरी मण्डलीमें आ जाते और

वहाँ नृत्य करने लगते। वे किस समय दूसरी मण्डलीमें जाकर नृत्य करने लगे, इसका किसीको भी पता नहीं होता। सभी समझते महाप्रभु हमारी ही मण्डलीमें नृत्य कर रहे हैं। यात्रीगण आश्चर्यके सहित प्रभुके नृत्यको देखते। जो भी देखता, वही देखता-का-देखता ही रह जाता। महाप्रभुकी ओरसे नेत्र हटानेको किसीका जी ही नहीं चाहता। मनुष्योंकी तो बात ही क्या, साक्षात् जगन्नाथजी भी प्रभुके नृत्यको देखकर चकित हो गये और वे रथको खड़ा करके प्रभुकी नृत्यकारी छबिको निहारने लगे। मानों वे प्रभुके नृत्यसे आश्चर्यचकित होकर चलना भूल ही गये हों।

महाराज प्रतापरुद्र भी अपने परिकरके साथ महाप्रभुके इस अद्भुत नृत्यको देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे। महाप्रभुका ऐसा अद्भुत नृत्य किसीने आजतक कभी देखा नहीं था। जो लोग अबतक महाप्रभुकी प्रशंसा ही सुनते थे, वे नर्तनकारी गौराङ्गको देखकर उनके ऊपर मुग्ध हो गये और जोरोंसे 'हरि बोल, हरि बोल' कह-कहकर चिल्लाने लगे। इस प्रकार जगन्नाथजीका रथ धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा और गौर-भक्त प्रेममें उन्मत्त होकर उसके पीछे-पीछे कीर्तन करते हुए चले।

फिर महाप्रभुने अपना एक स्वतन्त्र ही सम्प्रदाय बना लिया। उन सातों सम्प्रदायोंको एकत्रित कर लिया। श्रीवास पण्डित, रमाई पण्डित, रघुनाथ, गोविन्ददास, मुकुन्द, हरिदास, गोविन्दानन्द, माधव और गोविन्द—ये प्रधान गायक हुए और नृत्यकारी स्वयं महाप्रभु हुए। चौदह खोलोंकी गगनभेदी ध्वनि साथ ही भक्तोंके हृदय-सागरको उद्वेलित करने लगी। महाप्रभुके उन्मादी नृत्यसे सभी दर्शक चकित रह गये। वे चित्रके लिखे-से चुपचाप एकटक होकर प्रभुके अलौकिक नृत्यको देख रहे थे। आकाशमें भी कोलाहल-सा सुनायी देने लगा। मानों देवता भी अपने-अपने विमानोंपर चढ़कर प्रभुके नृत्यको देखनेके लिये आकाशमें खड़े हों। सभी भक्त

महाप्रभुको घेरकर नृत्य करने लगे। महाप्रभुने थोड़ी देरमें नृत्य बन्द कर दिया। सभी बाजे बन्द हो गये। चारों ओर बिल्कुल सन्नाटा छा गया। तब महाप्रभु अपने कोकिलकूजित कण्ठसे बड़ी ही करुणाके साथ जगन्नाथजीकी स्तुति करने लगे। भक्तोंने भी प्रभुके स्वरमें स्वर मिलाया।

जयति जयति देवो देवकीनन्दनोऽसौ
जयति जयति कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः।
जयति जयति मेघश्यामलः कोमलाङ्गो
जयति जयति पृथ्वीभारहारो मुकुन्दः॥*

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥†

'दासानुदासः' यह पद समाप्त हुआ कि फिर झाँझ, मृदंग और खोल स्वतः ही बजने लगे। रथ घर-घर शब्द करके फिर चलने लगा। महाप्रभु फिर उसी भाँति उद्दाम नृत्य करने लगे। उनके सम्पूर्ण शरीरमें स्तम्भ, स्वेद, पुलक, अश्रु, कम्प, वैवर्ण, स्वरविकृति आदि सभी सात्त्विक

---

* देवकीनन्दन भगवान्‌की जय हो, जय हो। वृष्णिवंशावतंस श्रीकृष्णकी जय हो, जय हो। मेघके समान श्यामवर्णवाले सुन्दर सलोने श्यामकी जय हो, जय हो। पृथ्वीका भार हरण करनेवाले भगवान् मुकुन्दकी जय हो, जय हो।

† न तो मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र। मैं न तो ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ, न वानप्रस्थ और न संन्यासी, तब हूँ कौन? स्वतः प्रकाशस्वरूप निखिल परमानन्दपूर्ण, अमृत-समुद्ररूप गोपीवल्लभ श्रीकृष्णके पदकमलोंके दासानुदासोंका दास हूँ।

विकारोंका उदय होने लगा। उनके शरीरके सम्पूर्ण रोम एकदम खड़े हो गये, दाँत कड़ाकड़ बजने लगे। स्वर-भंग एकदम हो गया, चेष्टा करनेपर ठीक-ठीक शब्द मुखसे नहीं निकलते थे। आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगी। पसीनेका तो कुछ पूछना ही नहीं। मानों सुवर्णके सुमेरु-पर्वतसे असंख्य नदियाँ निकल रही हों। मुखमेंसे झाग निकल रहे थे। कभी-कभी लेट जाते, फिर उठ पड़ते और आलात चक्रकी भाँति चारों ओर घूमने लगते।

प्रभुके उद्दण्ड नृत्यसे रथका चलना फिर बन्द हो गया। भक्तगण महाप्रभुकी ऐसी विचित्र अवस्था देखकर भयके कारण काँपने लगे। दर्शनार्थी महाप्रभुके नृत्यको देखनेके लिये टूटे ही पड़ते थे। नित्यानन्द-जीको बड़ी घबड़ाहट होने लगी। लोगोंकी भीड़ प्रभुके ऊपरको ही चली आ रही थी। तब नित्यानन्दजीने अपने भक्तोंकी एक गोल मण्डली बना ली और उसके भीतर प्रभुको ले लिया। महाराजने भी उसी समय अपने नौकरोंको फौरन आज्ञा दी कि इस भक्तमण्डलीके गोलको तुम लोग चारों ओरसे घेर लो, जिससे और लोग इस मण्डलीको धक्का न दे सकें। महाराज-की आज्ञा उसी समय पालन की गयी और भक्तमण्डलीकी रक्षाका प्रबन्ध राजकर्मचारियोंने उसी समय कर दिया।

महाराज प्रतापरुद्रजी भी अपने प्रधान मन्त्री श्रीहरिचन्दनेश्वरके कन्धेपर हाथ रखे हुए महाप्रभुके उद्दण्ड नृत्यको देख रहे थे। महाराज-के सामने ही दीर्घकाय श्रीवास पण्डित भावमें विभोर हुए खड़े थे। महाराज प्रभुके नृत्यको एकटक होकर देख रहे थे। किन्तु सामने खड़े हुए श्रीवास पण्डित बार-बार झूम-झूमकर महाराजके देखनेमें विघ्न डालते। राजमन्त्री हरिचन्दनेश्वर उन्हें बार-बार टोंचते और वहाँसे हट जानेका संकेत करते। किन्तु हरिरसमदिरामें मत्त हुए भक्त श्रीवास किसकी सुननेवाले थे। मन्त्रीजी बड़े आदमी होंगे, तो अपने राज्यके होंगे,

भक्तोंके लिये तो यहाँ सभी समान ही थे। बार-बार टोंचनेपर भावावेशमें भरे हुए श्रीवास पण्डितको एकदम क्षोभ हो उठा। उन्होंने आव गिना न ताव, बड़े जोरोंसे कसकर एक झापड़ राजमन्त्री चन्दनेश्वरके सुन्दर लाल कपोलपर जमा दिया। उस जोरके चपतके लगते ही मन्त्री महोदय अपना सभी मन्त्रीपन भूल गये। गाल एकदम और अधिक लाल पड़ गया। सम्पूर्ण शरीरमें झनझनी फैल गयी। राजमन्त्री हक्के-बक्के-से होकर चारों ओर देखने लगे। उस समय बेहोशीमें उन्हें मान-अपमानका कुछ भी ध्यान नहीं हुआ। गहरी चोट लगनेपर जैसे रक्त-को देखकर पीछेसे दुख होता है, उसी प्रकार झापड़ खाकर जब राज-मन्त्रीने अपने चारों ओर देखा तब उन्हें अपने अपमानका भान हुआ। उसी समय उन्होंने अपने मन्त्रीपनेकी तेजस्विता दिखायी। श्रीवास पण्डितको उसी समय इसका मजा चखानेके लिये वे कर्मचारियोंको कठोर आज्ञा देने लगे। परन्तु बुद्धिमान् महाराजने उन्हें शान्त करते हुए कहा—'आप यह कैसी बात कर रहे हैं? देखते नहीं, ये भावमें विभोर हैं। आपका परम सौभाग्य है जो ऐसे भगवद्-भक्तने भगवान्‌के भावमें आपके कपोलका स्पर्श किया। यह इनकी आपके ऊपर असीम कृपा ही है। यदि हमें इनके इस झापड़का सौभाग्य प्राप्त होता, तो हम आज अपनेको सबसे बड़ा सौभाग्यशाली समझते। आप अपने रोषको शान्त कीजिये और महाप्रभुके कीर्तन-रसका आस्वादन कीजिये।'

इस प्रकार महाराजके समझानेपर हरिचन्दनेश्वर राजमन्त्री शान्त हुए। नहीं तो उसी समय रङ्गमें भङ्ग हो जाता। मालूम पड़नेपर श्रीवास पण्डित बहुत ही अधिक लज्जित हुए। महाप्रभुको इन बातोंका कुछ भी पता नहीं था, वे उसी भावसे उद्दण्ड नृत्य कर रहे थे। न उन्हें लोगोंका पता था, न राजा तथा राजमन्त्रीका। वे जोरोंसे नृत्य करते, कभी किसीका आलिङ्गन कर लेते, कभी किसीका चुम्बन करते,

कभी किसीका हाथ पकड़कर ही नृत्य करने लगते। दर्शनार्थी प्रभुके चरणोंके नीचेकी धूलि उठा-उठाकर सिरपर चढ़ाते। भक्तवृन्द उस चरणरेणुको अपने-अपने शरीरोंमें मलते। इस प्रकार बड़ी देरतक महाप्रभु नृत्य करते रहे। नृत्य करते-करते प्रभु थककर बैठ गये और स्वरूपको आज्ञा दी कि किसी पदका गायन करो। गायनाचार्य दूसरे गौरचन्द्र श्रीस्वरूपदामोदर गोस्वामी गाने लगे—

सेई त परान-नाथ पाइनू।
याहा लागि मदन-दहन झूरि गेनू॥

पदके साथ-ही-साथ वाद्य बजने लगे। हरि-हरि करके भक्त नाचने लगे। जगन्नाथजीका रथ आगे बढ़ा और महाप्रभु भी नृत्य करते-करते उसके आगे चले।

अब प्रभु राधाभावसे भावान्वित हो गये। उन्हें भान होने लगा मानों श्रीश्यामसुन्दर बहुत दिनोंके विछोहके बाद मिलनेके लिये आये हैं। इसी भावसे वे जगन्नाथजीकी ओर भाँति-भाँतिके प्रेम-भावोंको हाथोंद्वारा प्रदर्शित करते हुए नृत्य करने लगे। अब उन्हें प्रतीत होने लगा मानों श्रीकृष्ण आकर मिल गये हैं, किन्तु इस मिलनमें वह सुख नहीं है, जो वृन्दावनके पुलिन-कुञ्जोंमें आता था। इसी भावमें विभोर होकर वे इस श्लोकको पढ़ने लगे—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

(काव्यप्रकाश १।४)

नायिका पुनर्मिलनके समय कह रही है, 'जिस कौमार-कालमें रेवानदीके तटपर जिन्होंने हमारे चित्तको हरण किया था, वे ही इस समय हमारे पति हैं। वही मधु-मासकी मनोहारिणी रजनी है, वही उन्मीलित मालती-पुष्पकी मनको मस्त कर देनेवाली भीनी-भीनी सुगन्ध आ रही है, वही कदम्ब-काननसे स्पर्श की हुई शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु बह रही है, पतिके साथ सुरत-व्यापार-लीला करनेवाली नायिका भी मैं वही हूँ और मनको हरण करनेवाले नायक भी ये वे ही हैं, तो भी मेरा चञ्चरीकके समान चञ्चल चित्त सन्तुष्ट नहीं हो रहा है, यह तो उसी रेवाके रमणीक तटके लिये उत्कण्ठित हो रहा है।' हाय रे! विरह! बलिहारी है तेरे पुनर्मिलनकी। इस श्लोकको महाप्रभु किस भावसे कह रहे हैं इसे स्वरूपदामोदरके सिवा और कोई समझ ही न सका। सबोंके समझनेकी बात भी नहीं थी, उनके बाहर चलनेवाले प्राण श्रीस्वरूपदामोदर ही समझ भी सकते थे। इस भावको एक दिन श्लोकबद्ध करके महाप्रभुके सम्मुख भी उपस्थित किया था। महाप्रभु उस श्लोकको सुनकर बड़े ही चकित हुए और बड़े ही स्नेहके साथ स्वरूप-दामोदरकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहने लगे—'स्वरूप! श्रीजगन्नाथजीके रथके सम्मुख नृत्य करते समयके हमारे भावको तुम कैसे जान गये? यह श्लोक तो तुमने मेरे मनोभावोंका एकदम प्रतिबिम्ब ही बनाकर रख दिया है। कुछ लज्जित स्वरमें धीरेसे स्वरूपदामोदरने कहा—'प्रभो! आपकी कृपाके बिना कोई आपके मनोगत भावको समझ ही कैसे सकता है?'

महाप्रभु उस श्लोककी बार-बार प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'अहा, कितने सुन्दर भाव हैं, सचमुच कवित्वकी, भाव-प्रदर्शनकी पराकाष्ठा ही कर दी है।' वाह—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलत-
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम्।

तथाप्यन्तःखेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥

कुरुक्षेत्रमें पुनः मिलनेपर राधिकाजी कह रही हैं—'हे सहचरि ! मेरे वे ही प्राणनाथ हृदयरमण श्रीकृष्ण मुझे कुरुक्षेत्रमें मिले हैं, मैं भी वही वृषभानुनन्दिनी कीर्तिसुता राधा हूँ और दोनोंके परस्पर मिलनेसे सङ्गमसुख भी प्राप्त हुआ । किन्तु प्यारी सखी ! हृदयकी सच्ची बात कहती हूँ, जिस वनमें मुरलीमनोहरकी पञ्चम स्वरमें बजती हुई मुरलीकी मनमोहक तान सुनी थी उस कालिन्दीकूलवाले वनके लिये मेरा मनमधुप अत्यन्त ही लालायित हो रहा है ।' यह भाव प्रभुके मनोगत भावके एकदम अनुरूप ही था ।

इस प्रकार श्रीराधिकाजीके अनेक भावोंको प्रकट करते हुए प्रभु रथके आगे-आगे नृत्य करते हुए चलने लगे । उनके आजके नृत्यमें जगत्को मोहित करनेवाली शक्ति थी । नृत्य करते-करते एक बार महाप्रभु महाराज प्रतापरुद्रके बिल्कुल ही समीप पहुँच गये । महाराज-ने इस सुअवसरको पाकर प्रभुके चरण पकड़ लिये । उसी समय प्रभुको बाह्यज्ञान हुआ । और यह कहते हुए कि 'राजाने मेरा स्पर्श कर लिया, मेरे जीवनको धिक्कार है ।' वे वहाँसे आगे चले गये । इससे राजाको बड़ा क्षोभ हुआ । सार्वभौम भट्टाचार्यने कहा—'आप क्षोभ न करें । यह तो प्रभुकी आपके ऊपर असीम कृपा ही है, प्रभु आपको कृतार्थ करने ही यहाँतक आये थे ।' इस बातसे महाराजको सन्तोष हो गया ।

महाप्रभु अब रथके चारों ओर परिक्रमा करने लगे । वे स्वयं ही अपने हाथोंसे रथको ढकेलने लगे । रथ घर-घर, हड़हड़ शब्द करता हुआ जोरोंसे आगे बढ़ने लगा । महाप्रभु कभी बलभद्रजीके रथके सम्मुख

नृत्य करते, कभी सुभद्राजीके रथके सामने और कभी फिर जगन्नाथजीके रथके सम्मुख आ जाते। इस प्रकार रथके साथ नृत्य करते बलगण्डि पहुँच गये। बलगण्डि जाकर रथ खड़ा हो गया। अब भगवान्के भोगकी तैयारियाँ होने लगीं।

श्रद्धावालू और अर्धासनी देवीके बीचमें बलगण्डि नामक एक स्थान है। वहाँपर भोग लगनेका नियम है। उस स्थानपर जगन्नाथजी करोड़ों प्रकारकी वस्तुओंका रसास्वाद लेते हैं। राजा-प्रजा, धनी-गरीब, स्त्री-पुरुष जो भी वहाँ होते हैं सभी अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार भगवान्का भोग लगाते हैं। जैसी जिसकी इच्छा हो, जो जिस चीजका भी भोग लगा सकता है उसी चीजका लगाता है। मन्दिरकी भाँति सिद्ध अन्नका भोग नहीं लगता। रास्तेके दायें, बायें, आगे, पीछे, वाटिकामें जहाँ भी जिसे स्थान मिलता है वहीं भोग रख देता है। उस समय लोगोंकी बड़ी भारी भीड़ हो जाती है। उसे नियन्त्रणमें रखना महा कठिन हो जाता है।

महाप्रभु भीड़को देखकर समीपके ही बगीचेमें विश्राम करनेके लिये चले गये। भक्तवृन्द भी प्रभुके पीछे-पीछे चले। वाटिकामें जाकर प्रभु एक सुन्दर-से वृक्षकी शीतल छायामें पृथ्वीपर ही लेट गये। मन्द-सुगन्धित-शीतल पवनके स्पर्शसे प्रभुको अत्यन्त ही आनन्द हुआ। वे सुखपूर्वक एक पैरपर दूसरे पैरको रखे हुए लेटे थे। उस समय थकानके कारण अपनी कोमल भुजापर सिर रखकर लेटे हुए महाप्रभु बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। वाटिकाके प्रत्येक वृक्षके नीचे एक-एक, दो-दो भक्त पड़े हुए सङ्कीर्तनकी थकानको मिटा रहे थे।

महाराज प्रतापरुद्रको प्रेम-दान

राज्यातिमानं सुकुलाभिमानं
श्रीकृष्णचैतन्यमयीदयार्थम् ।
सर्वं त्यजेद्भक्तवरः स राजा
प्रतापरुद्रो मम मान्यपूज्यः ॥*

(प्र० द० ब्र०)

कबीरबाबाने सच कहा है—

पियका मिलना सुगम है, तेरा चलन न वैसा।
नाचन निकली बापुरी, फिर घूँघट कैसा॥

सचमुच जहाँ पर्दा है वहाँ मिलन कैसा? जहाँ बीचमें दीवार खड़ी है वहाँ दर्शन-सुख कहाँ? जहाँ अन्तराय है वहाँ सच्चा सुख हो ही नहीं सकता। जबतक पद-प्रतिष्ठा, पैसा-परिवार, पाण्डित्य और पुरुषार्थका अभिमान है तबतक प्यारेके पास पहुँचना अत्यन्त ही कठिन है। जबतक अहंकृतिकी गहरी खाई बीचमें खुदी हुई है, तबतक प्यारेके महलतक पहुँचना टेढ़ी खीर है। जबतक सभी अभिमानोंको त्यागकर निष्किञ्चन बनकर प्यारेके पादपद्मोंके समीप नहीं जाता, तबतक उसके प्रसादको प्राप्त करनेमें कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिये महात्मा कबीरदासजीने कहा है—

चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान।
एक म्यानमें दो खडग, देखी सुनी न कान॥

---

* श्रीकृष्णचैतन्यमयी दयाके निमित्त जिन्होंने राज्यके इतने बड़े भारी मान और उच्च कुलके अभिमानका (तथा छत्र-चामर आदि चिह्नोंका) परित्याग कर दिया, वे भक्तवर महाराज प्रतापरुद्रजी हमारे पूजनीय तथा माननीय हैं।

महाराज प्रतापरुद्रजी जबतक राज्य-सम्मानके अभिमानमें बने रहे और दूसरे-दूसरे आदमियोंसे सन्देश भिजवाते रहे, तबतक वे महाप्रभु-की कृपासे वञ्चित ही रहे। जब उन्होंने सब कुछ छोड़-छाड़कर निष्किञ्चन भक्तकी भाँति प्रभु-पादपद्मोंका आश्रय ग्रहण किया तब वे महाभाग परमभागवत बन गये और उनकी गणना परमवैष्णव भक्तोंमें होने लगी।

महाप्रभु बलगण्डिकी पुष्प-वाटिकामें सुखपूर्वक विश्राम कर रहे थे। सङ्कीर्तन और नृत्यकी थकानके कारण प्रभुके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो रहे थे। उनके कमलके समान नेत्र कुछ खुले हुए थे और कुछ मुँदे हुए थे। प्रभु अर्धनिद्रित अवस्थामें पड़े हुए शीतल वायुके स्पर्शसे परमानन्दका-सा अनुभव कर रहे थे कि इतनेमें ही सार्वभौम भट्टाचार्यका संकेत पाकर कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्रजी प्रभुके दर्शनोंके लिये चले। महाराजने अपने राजसी वस्त्र उतार दिये थे; छत्र, चँवर तथा मुकुट आदि राज्य-चिह्नोंका भी उन्होंने परित्याग कर दिया था। एक साधारण-से वस्त्रको ओढ़े हुए नंगे पैरों ही वे प्रभुके दर्शनोंके लिये चले। महाराजके पीछे-पीछे नियमके अनुसार उनके शरीररक्षक भी चले, किन्तु महाराजने उन सबको साथ आनेसे निवारण कर दिया। वे एकाकी ही प्रभुके निकट जाने लगे।

महाराजने देखा, सभी भक्त आनन्दमें विभोर हुए पेड़ोंकी सुखद शीतल छायामें पड़े हुए विश्राम कर रहे हैं। महाराजकी दृष्टि जिन वैष्णवोंपर पड़ी, उन सबको ही उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। थोड़ी दूरपर अर्धोन्मीलित दृष्टिसे लेटे हुए प्रभुको उन्होंने देखा। महा-प्रभु सुखपूर्वक लेटे हुए थे। महाराज पहले तो कुछ सहमे, फिर धीरे-धीरे जाकर उन्होंने प्रभुके पैर पकड़ लिये और उन्हें अपने अरुण रंगके कोमल करोंसे धीरे-धीरे दबाने लगे। पैर दबाते-दबाते वे श्रीमद्भागवत-के दशम स्कन्धके गोपीगीतका गायन करने लगे।

रास-मण्डलमेंसे रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णजी सहसा अन्तर्द्धान हो गये हैं। उनके वियोग-दुःखसे दुखी हुई गोपिकाएँ पशु-पक्षी तथा लता-कुञ्जोंसे प्रभुके सम्बन्धमें पूछती हुई विलाप कर रही हैं। उसी विरहका वर्णन गोपिका-गीतका 'जयति तेऽधिकम्' आदि १९ श्लोकोंमें किया गया है। महाराज बड़े ही मधुर स्वरसे उन श्लोकोंका गान कर रहे थे। श्लोकोंके सुनते-सुनते ही महाप्रभुकी प्रेमसमाधि लग गयी। उन्हें प्रेमके आवेशमें कुछ ध्यान ही न रहा कि हमारे पैरोंको कौन दबा रहा है और कौन यह हमारे हृदयको परमशान्ति देनेवाला अमृतरस पिला रहा है। प्रभु अर्धमूर्छित अवस्थामें वाह-वाह, हाँ-हाँ, फिर-फिर, आगे कहो, आगे कहो, ऐसे शब्द कहते जाते थे। महाराज जब अन्य श्लोकोंका गायन करते-करते इस श्लोकको गाने लगे—

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥*
(श्रीमद्भा० १०।३१।९)

तब महाप्रभु एकदम उठकर बैठे हो गये और महाराजका जोरोंसे आलिङ्गन करते हुए कहने लगे—'अहा, महाभाग, आप धन्य हैं। मैं आपके इस ऋणसे कभी उऋण नहीं हो सकता। आज आपने मुझे प्रेमामृत पान कराकर कृतकृत्य कर दिया। आपने मुझे अमूल्य रत्न

* तुम्हारा कथामृत त्रितापोंसे तपे हुए प्राणियोंको जीवनदान देनेवाला, ब्रह्मादिद्वारा गाया जानेवाला, पापोंको अपहरण करनेवाला, सुननेमात्रसे ही मंगल प्रदान करनेवाला, सर्वोत्कृष्ट और सर्वव्यापक है। उस तुम्हारे ऐसे कमनीय कथामृतका जो इस पृथ्वीपर कथन करते हैं, वे ही बड़े उदार पुरुष हैं, (फिर जो उसका निरन्तर पान ही करते रहते हैं, उनके तो भाग्यका कहना ही क्या?)

प्रदान किया, इसके बदलेमें मैं आपको क्या दूँ ? मेरे पास तो यही प्रेमालिङ्गन है, इसे ही आपको प्रदान करता हूँ। आप अपना परिचय हमें दीजिये। आप कौन हैं ? आपने ऐसी अहैतुकी कृपा मुझपर क्यों की है ?'

अत्यन्त ही विनीत भावसे महाराजने कहा—'प्रभो ! मैं आपके दासोंका दास बननेकी इच्छा करनेवाला एक अकिञ्चन सेवक हूँ। आज मैंने क्या नहीं पा लिया। प्रभुके प्रेमालिङ्गनको पानेपर फिर मेरे लिये संसारमें प्राप्य वस्तु ही क्या रह गयी ? आज मैं धन्य हो गया। मेरा मनुष्य-जन्म लेना सफल हो गया। इतने दिनकी जगन्नाथजीकी सेवाका पुरस्कार प्राप्त हो गया। आपके श्रीचरणोंमें मेरा अक्षुण्ण स्नेह बना रहे और आपके हृदयके किसी छोटे-से कोनेमें मेरी स्मृति बनी रहे, यही मैं आपके चरणोंमें पड़कर भीख माँगता हूँ।'

इस प्रकार महाप्रभुके प्रेमालिङ्गनको पाकर और महाप्रभुकी प्रसन्नताको लाभ करके महाराज प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके चले गये। भक्तवृन्द महाराजके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

उसी समय जाकर महाराजने वाणीनाथके हाथों बलगण्डिका भगवान्‌का बहुत-सा प्रसाद प्रभुके समीप भिजवा दिया। प्रसादमें सैकड़ों वस्तुएँ थीं। पचासों प्रकारके छोटे-बड़े अलग-अलग जातिके आम थे; केला, सन्तरा, नारियल, नारङ्गी तथा और भी भाँति-भाँतिके फल थे। किसमिस, बादाम, अखरोट, अञ्जीर, काजू, छुहारे, पिस्ता, चिरौंजी, दाख, मखाने तथा और भी पचासों प्रकारके मेवे थे। भाँति-भाँतिकी मिठाइयाँ थीं। अनेक प्रकारके पेय पदार्थ थे। उन नाना भाँतिके पदार्थोंसे वह वाटिका-भवन भर गया। भगवान्‌के ऐसे प्रसादको देखकर प्रभुको परम प्रसन्नता हुई। वे अपने हाथोंसे ही भक्तोंको प्रसाद वितरण करने लगे। एक-एक भक्तको दस-दस, बीस-बीस दोने देते तो भी सब चीजें थोड़ी-थोड़ी उनमें नहीं आतीं। महाप्रभु भक्तोंको

सङ्कीर्तनसे थका हुआ समझकर यथेष्ट प्रसाद दे रहे थे। सभीको प्रसाद वितरण करके प्रभुने उसे पानेकी आज्ञा दी, किन्तु प्रभुके पहले प्रसादको पा ही कौन सकता था, इसलिये प्रभु अपने मुख्य-मुख्य भक्तोंको साथ लेकर प्रसाद पाने बैठ गये। सभीने खूब डटकर प्रसाद पाया। महाप्रभु आग्रहपूर्वक उन सबको खिला रहे थे। भक्तोंसे जो शेष प्रसाद बचा वह अभ्यागतोंको बाँट दिया गया। प्रसाद पा लेनेके अनन्तर सभी भक्त विश्राम करने लगे।

इतनेमें ही रथके चलनेका समय आ पहुँचा। महाराजने रथको चलानेकी आज्ञा दी। लाखों आदमी एक साथ मिलकर रथको खींचने लगे, किन्तु रथ टस-से-मस नहीं हुआ, तब तो महाराज बड़े ही चिन्तित हुए। इतनेमें ही महाप्रभु अपने भक्तोंके साथ रथके समीप पहुँच गये। महाप्रभुने 'हरि हरि' शब्द करते हुए जोरोंके साथ रथमें धक्का दिया और रथ उसी समय घर-घर शब्द करता हुआ जोरोंसे चलने लगा। सभीको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। गौड़ीय भक्त 'जगन्नाथजीकी जय' 'गौरचन्द्रकी जय' 'श्रीकृष्णचैतन्यकी जय' आदि जय-जयकारोंसे आकाशको गुँजाने लगे। इस प्रकार बात-की-बातमें रथ गुण्टिचा-भवनके समीप पहुँच गया। वहाँ जाकर भगवान्‌को मन्दिरमें पधराया गया। भगवान्‌के पुजारियोंने जगन्नाथजीकी आरति आदि की। महाप्रभुने मन्दिरके सामने ही कीर्तन आरम्भ कर दिया। बड़ी देरतक सङ्कीर्तन होता रहा। फिर महाप्रभु सभी भक्तोंके सहित भगवान्‌की सन्ध्याकालीन भोग-आरतिमें सम्मिलित हुए। सभीने भगवान्‌की वन्दना और स्तुति की। तदनन्तर भक्तोंके सहित महाप्रभुने गुण्टिचा-उद्यान-मन्दिरके समीप आईटोटा नामक एक बागमें रात्रिभर निवास किया। गुण्टिचा-मन्दिरमें नौ दिनोंतक उत्सव होता है, महाप्रभु भी तबतक भक्तोंके सहित यहीं रहे।

पुरीमें भक्तोंके साथ आनन्द-विहार

परिवदतु जनो यथा तथा वा
ननु मुखरो न वयं विचारयामः।
हरिरसमदिरामदातिमत्ता
भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः॥*

(चैत० चरि०)

आनन्द और उल्लासको विध्वंस करनेवाली राक्षसी चिन्ता ही है। संसार चिन्ताका घर है। संसारी लोगोंको धनकी, मान-प्रतिष्ठाकी, स्त्री-बच्चोंकी तथा और हजारों प्रकारकी चिन्ताएँ लगी रहती हैं। उन चिन्ताओं-के ही कारण उनका आनन्द एकदम नष्ट हो जाता है और वे सदा अपनेको विपद्ग्रस्त-सा ही अनुभव करते रहते हैं। जिन्हें संसारी भोगों-को संग्रह करनेकी चिन्ता है, उन्हें सुख कहाँ? वे बेचारे आनन्दका स्वाद क्या जानें। आनन्दकी मिठास तो भोगोंकी इच्छाओंसे रहित वीतरागी प्रभुप्रेमी ही जान सकते हैं। आनन्द भोगोंमें न होकर उनकी हृदयसे

* बकवादी लोग जैसा चाहें वैसा अपवाद किया करें, हम उसपर ध्यान नहीं देंगे, हम तो बस हरिनाम-रसकी मदिराके नशेमें मस्त हो भूमिपर नाचेंगे, लोटेंगे और लोटते-लोटते बेसुध हो जायँगे।

इच्छा न करनेमें ही है। इसीलिये परमार्थके पथिक विषय-भोगोंका परित्याग करके पुण्य-तीर्थोंमें या वनोंमें जाकर निवास करते हैं।

संसारी लोगोंपर भी इन पुण्य-स्थानोंका प्रभाव पड़ता है। किसी धनिकके घर जाकर हम मिलते हैं, तो उसे मान-अपमान, स्त्री-पुत्र तथा परिवारके चिन्ताजनक वायुमण्डलमें घिरा हुआ देखते हैं, वहाँ वह हमसे न तो खूब प्रेमपूर्वक मिलता ही है और न खुलकर बातें ही करता है। उसीसे जब किसी विरक्त साधु-महात्माके स्थानपर किसी पवित्र देवस्थान अथवा जगन्मान्य पुण्य-तीर्थपर मिलते हैं तो वह बड़ी ही सरलतासे मिलता है, हँसता है, खेलता है और बच्चोंकी तरह निष्कपट बातें करता है। इसका कारण यह है कि उसके हृदयमें आनन्दका अंश भी है और चिन्ताका भी। घरपर चिन्ताके परमाणुओंका प्राबल्य होनेसे वह उन्हींके वशीभूत रहता है। आनन्दकी पवित्र इच्छा यदि उसके हृदयमें होती ही नहीं, तो वह सदाचारी एकान्तप्रिय महात्माओंके पास जाने ही क्यों लगा? उनके पास जानेसे प्रतीत होता है कि वह सच्चे आनन्दका भी उत्सुक है और उसके आनन्दमय भाव महापुरुषकी सङ्गतिमें ही आकर पूर्णरीत्या परिस्फुट होते हैं, इसीलिये तो कहा है—सदाचारी और कल्याण-मार्गके जानेवाले सद्गृहस्थको भी सालभरमें दो-एक महीनोंके लिये किसी पवित्र स्थानमें या किसी महापुरुषके संसर्गमें रहना चाहिये। इससे उसे परमार्थके पथमें बहुत अधिक सहायता मिल सकती है और इन स्थानोंके सेवनसे उसे सच्चे आनन्दका भी कुछ-कुछ अनुभव हो सकता है।

गौड़ीय भक्त घर-बारकी चिन्ता छोड़कर चार महीने प्रभुके चरणोंमें रहनेके लिये आये थे। एक तो वे वैसे ही भगवद्-भक्त थे, उसपर भी महाप्रभुके परम कृपा-पात्र थे और संसारी भोगोंसे एकदम

उदासीन थे। तभी तो उन्हें पुरुषोत्तम-जैसे परम पावन पुण्यक्षेत्रमें प्रेमावतार श्रीचैतन्यदेवकी संगतिमें इतने दिनोंतक निवास करनेका सौभाग्य प्राप्त हो सका। महाप्रभु तो आनन्दकी मूर्ति ही थे, उनकी संगतिमें परम आनन्दका अनुभव होना अनिवार्य ही था इसीलिये चार महीनोंतक भक्तोंको प्रभुके साथ बड़ा ही आनन्द रहा। महाप्रभु भी उनके साथ नित्य भाँति-भाँतिकी नयी-नयी क्रीडाएँ किया करते थे।

रथ-यात्राके पश्चात् जो पञ्चमी आती है, उसे 'हेरापञ्चमी' कहते हैं। उस दिन महालक्ष्मी भगवान्‌को हेरती अर्थात् खोजती हैं। इसीलिये उसका नाम हेरापञ्चमी है। जगन्नाथजीमें हेरापञ्चमीका उत्सव भी खूब धूम-धामसे होता है। जिस प्रकार जगन्नाथजीके मन्दिर-को नीलाचल कहते हैं उसी प्रकार गुण्टिचा उद्यानके मन्दिरको सुन्दरा-चल कहते हैं। भगवान् तो उस दिन सुन्दराचलमें ही विराजते हैं, किन्तु हेरापञ्चमीका उत्सव यहाँ नीलाचलमें ही होता है। अबके महाराजने अपने कुलपुरोहित श्रीकाशी मिश्रको हेरापञ्चमी-उत्सवको खूब धूम-धामके साथ करनेकी आज्ञा दी। महाराजकी आज्ञानुसार भगवान्‌का मन्दिर विविध भाँतिसे सजाया गया। महाराजने स्वयं अपने घरका सामान उत्सवकी सजावटके लिये दिया और महाप्रभुके दर्शनके लिये विशेष रीतिसे प्रबन्ध किया गया। प्रातःकाल सभी भक्तोंको साथ लेकर महाप्रभु हेरापञ्चमीके लक्ष्मी-विजयोत्सवको देखनेके लिये सुन्दरा-चलसे नीलाचल पधारे। महाराजने उनके बैठनेका पहलेसे ही सुन्दर प्रबन्ध कर रखा था। महाप्रभु अपने सभी भक्तोंके सहित वहाँ बैठ गये। इतनेमें ही एक बहुत बढ़िया सुन्दर डोलामें बैठकर भगवान्‌को खोजती हुई लक्ष्मीजी अपनी सभी दासियोंके सहित पधारीं। उस समय लक्ष्मीजी-की शोभा अपूर्व ही थी। उनके सम्पूर्ण अंगोंमें भाँति-भाँतिके बहुमूल्य

अलंकार शोभायमान थे, आगे-आगे देव-दासियाँ नृत्य करती आ रही थीं और अनेक प्रकारके वाद्य उनके आगे बज रहे थे। आते ही श्रीलक्ष्मीजीकी दासियोंने जगन्नाथजीके मुख्य-मुख्य सेवकोंको बाँध लिया और बाँधकर उन्हें लक्ष्मीजीके सम्मुख उपस्थित किया। दासियाँ उन सेवकोंको मारती भी जाती थीं। महाप्रभुने स्वरूपदामोदरसे पूछा—'स्वरूप ! यह क्या बात है, लक्ष्मीजी इतनी कुपित क्यों है ?'

स्वरूपदामोदरने कहा—'प्रभो ! क्रोधकी बात है। अपने प्राण-प्यारेसे पृथक् होनेपर किसे अपार दुःख न होगा।'

महाप्रभुने पूछा—'मैं यह जानना चाहता हूँ कि भगवान् अकेले ही चुपकेसे चोरकी भाँति वृन्दावन क्यों चले गये, लक्ष्मीजीको वे साथ क्यों नहीं ले गये ?'

स्वरूपदामोदरने कहा—'प्रभो ! रासलीलामें व्रजकी गोपिकाओं-का ही अधिकार है, लक्ष्मीजीके भाग्यमें यह सौभाग्य-सुख नहीं है।'

इस प्रकार महाप्रभुजी इसी सम्बन्धमें श्रीवास पण्डित तथा स्वरूप-दामोदरसे बहुत देरतक बातें करते रहे। श्रीवास पण्डित लक्ष्मीजीका पक्ष लेकर स्वरूपदामोदरकी बातोंका चातुरीपूर्वक खण्डन करते थे। इस प्रकार यह प्रेमयुक्त विवाद कुछ देर और चलता रहा। इतनेमें ही सेवकोंके यह वचन देनेपर कि हम आपके स्वामीको शीघ्र ही लाकर आपसे भेंट करा देंगे, लक्ष्मीजीने उनके बन्धन खुलवा दिये और वे अपने स्थानको लौट आयीं। महाप्रभुजी भी लक्ष्मीजीका प्रसाद लेकर सुन्दराचल लौट आये। वहाँ भक्तोंके सहित उन्होंने सन्ध्या-आरतीके दर्शन किये और बहुत रात्रितक सङ्कीर्तन होता रहा।

इस प्रकार आठ दिनोंतक महाप्रभु सुन्दराचलमें भक्तोंके साथ आनन्द-विहार करते रहे। वे नित्यप्रति इन्द्रद्युम्न-सरोवरमें भक्तोंके साथ

जल-क्रीडा करते। कोई किसीके ऊपर जल उलीच रहा है, तो कोई किसीके ऊपर सवारी ही कर रहा है। झुण्ड-के-झुण्ड भक्त टोली बना-बनाकर एक-दूसरेके ऊपर जलकी वर्षा करते, फुहारे छोड़ते और डुबकी लगाकर एक-दूसरेके पैर पकड़ते। फिर दो-दो मिलकर परस्परमें जलयुद्ध करते। गौड़ीय भक्तोंके सहित सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानन्द, गोपीनाथाचार्य तथा और भी राज्यके बहुत-से प्रतिष्ठित पुरुष प्रभुकी जल-क्रीडामें सम्मिलित होते। राय महाशय और सार्वभौमका जोड़-तोड़ था। वे परस्पर विविध प्रकारसे जलयुद्ध करते। महाप्रभु इन दोनोंके कुतूहलको देखकर एक ओर खड़े-खड़े हँसते रहते। कभी-कभी गोपीनाथाचार्यसे कहते—'आचार्य! आप इन दोनोंको बरजते क्यों नहीं। इस प्रकार बच्चोंकी तरह क्रीडा करते देखकर लोग इन्हें क्या कहेंगे, ये दोनों ही महान् प्रतिष्ठित और सम्माननीय पुरुष हैं।'

आचार्य हँसकर कहते—'जब आपका इन दोनोंके ऊपर इतना असीम अनुग्रह है, तब ये क्या सदा अपने बड़प्पनको साथ ही बाँधे फिरेंगे? यह सब आपकी कृपाका ही फल है।'

आचार्य सार्वभौम जोरोंसे जल उलीचते हुए कहते—'हरिरस-मदिरामदेन मत्ता भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः' 'हम पागल हो गये हैं पागल।' इतनेमें ही प्रभु उन्हें नीचे करके उनके ऊपर सवार हो जाते, वे भी शेषनागकी तरह प्रभुको अपने शरीरपर शयन करा लेते। इस प्रकार यह आनन्द प्रायः रोज ही होता था। शामको महाप्रभु आईटोटा बागमें नित्यप्रति श्रीकृष्ण-लीलाओंका अभिनय करते, जिससे भक्तोंको अत्यन्त ही सुख मिलता। इस प्रकार आनन्द-विहार करते-करते आठ दिन बात-की-बातमें निकल गये, किसीको पता ही न लगा कि कब हम सुन्दराचल आये और कब आठ दिन व्यतीत हो गये। सुखका समय इसी प्रकार सहजमें ही बीत जाता है।

इस प्रकार आठ दिनोंतक आनन्दके साथ निवास करनेके अनन्तर अब जगन्नाथकी 'उलटी रथ-यात्रा' का समय आया। भगवान् अब सुन्दराचलको छोड़कर नीलाचल पधारेंगे। इसलिये सेवकवृन्द भगवान्‌को रथपर चढ़ानेका प्रयत्न करने लगे। भगवान्‌को दयितागण पट्टडोरियोंमें बाँधकर रथपर चढ़ाते हैं। उस समय भगवान्‌को रथपर चढ़ाते समय उनकी एक 'पट्टडोरी' टूट गयी। इसपर प्रभुको बड़ा दुःख हुआ और कुलीनग्रामनिवासी श्रीरामानन्द और सत्यराजखाँसे आप कहने लगे—'आपलोग समर्थ हो, धनी हो। धनका सर्वोत्तम उपयोग यही है कि वह भगवान्‌की सेवा-पूजामें व्यय हो। इस कामको आप अपने जिम्मे ले लें। प्रतिवर्ष अपने यहाँसे भगवान्‌की सुन्दर-सी मजबूत पट्टडोरी बनाकर रथोत्सवके समय साथ लाया करें।'

इन दोनों धनी भक्तोंने प्रभुकी इस आज्ञाको शिरोधार्य किया और अपने भाग्यकी सराहना की। उसके दूसरे सालसे वे प्रतिवर्ष भगवान्‌की पट्टडोरी बनवाकर अपने साथ लाते थे।

भगवान्‌की 'पाण्डुविजय' अर्थात् रथारोहणपूजा हो जानेपर रथ श्रीजगन्नाथजीकी ओर चला, महाप्रभु भी भक्तोंके सहित सङ्कीर्तन करते हुए रथके आगे-आगे चले। भगवान्‌के मन्दिरमें विराजमान होने-पर और उनके दर्शन करके महाप्रभु अपने स्थानपर आ गये और भक्तोंके सहित प्रसाद पाकर उन्होंने विश्राम किया।

गौड़ीय भक्त बारी-बारीसे नित्यप्रति प्रभुको अपने यहाँ भिक्षा कराते थे। महाप्रभु भी प्रेमके साथ सभी भक्तोंके यहाँ भिक्षा करते और उनसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवारके सम्बन्धमें विविध प्रकारके प्रश्न पूछते। इसी प्रकार श्रावण बीतनेपर जन्माष्टमी आयी। महाप्रभुने भक्तोंके सहित खूब धूमधामसे जन्माष्टमीका महोत्सव मनाया। नन्दोत्सवके दिन आपने गौड़ीय भक्तरूपी ग्वालबालोंको साथ लेकर नन्दोत्सव-लीला की। उसमें

उत्कल-देशीय भक्त तथा मन्दिरके कर्मचारी भी सम्मिलित थे। कानाई खूटिया और जगन्नाथ माइति क्रमशः नन्द-यशोदा बने। महाप्रभु स्वयं युवक गोपके वेशमें लाठी हाथमें लेकर नृत्य करने लगे। महाप्रभुकी लाठी फिरानेकी चातुरीको देखकर सभी दर्शक विस्मित हो गये। महाराज प्रतापरुद्रजीने उसी समय प्रभुकी भावावेशावस्थामें ही उनके सिरपर एक बहुमूल्य वस्त्र और जगन्नाथजीका प्रसाद बाँध दिया। प्रभुके सभी साथी ग्वाल-बाल किलकारियाँ मारकर नृत्य करने लगे। जो भक्त नन्द-यशोदा बने थे, उन्होंने सचमुच अपने-अपने घरोंमें घुसकर अपना सब धन ब्राह्मण तथा अभ्यागतोंको लुटा दिया इससे महाप्रभुको परम प्रसन्नता हुई। इस प्रकार उस दिनकी वह लीला बड़े ही आनन्दके साथ समाप्त हुई।

जन्माष्टमी बीतनेपर विजयादशमीका उत्सव आया। उसमें महाप्रभु स्वयं महावीर हनुमान् बने और भक्तोंको रीछ-बानर बनाकर रावणपर विजय-लाभ करने चले। उस समय महाप्रभुको सचमुच वातात्मज श्रीहनुमान्‌जीका भावावेश हो आया था, वे हाथमें वृक्षकी शाखा लिये हुए किलकारियाँ मारने लगे। सभी महाप्रभुके इस अद्भुत भावको देखकर विस्मित हो गये और जयजयकारी तुमुल ध्वनियोंसे आकाशको गुँजाने लगे। इस प्रकार महाप्रभुने भक्तोंके साथ मिलकर रासयात्राके दीपावली, देवोत्थान आदि सभी पर्वोंकी लीलाएँ कीं। महाप्रभुके सहवासका समय किसीको भी मालूम न पड़ा कि वह कब समाप्त हो गया। सभी अपने-अपने घर तथा परिवारवालोंको एकदम भूल गये थे। उन सबका चित्त श्रीजगन्नाथजीमें तथा महाप्रभुके चरणोंमें लगा रहता था। अब महाप्रभुने भक्तोंको अपने-अपने घर लौट जानेकी आज्ञा दी। इस बातको सुनते ही मानों छोटे-छोटे कोमल वृक्षोंपर तुषार गिर पड़ा हो, उसी प्रकारका दुःख उन सब भक्तोंको हुआ।

भक्तोंकी विदाई

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठस्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषं चिन्ताजडं दर्शनम्
मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥*

(शकुन्तलानाटक)

भक्तोंकी विदाईका समय समीप आ गया । महाप्रभु अत्यन्त ही स्नेहसे, बड़े ही ममत्वसे सभी भक्तोंसे पृथक्-पृथक् एकान्तमें मिलने लगे । उनसे उनके मनकी बात पूछते, आप अपने मनकी बात बताते,

* शकुन्तलाकी विदाईके समय भगवान् कण्व ऋषि कहते हैं—'आज शकुन्तला चली जायगी' इस कारण हृदय उत्कण्ठित हो गया है, गलेमें रुँधे हुए अश्रुवेगसे डबडबायी हुई मेरी आँखें चिन्तासे स्तब्ध हो रही हैं। यदि स्नेहवश मुझ [वीतराग] वनवासीको ऐसी विकलता है तो भला गृहस्थजन पुत्रीके नूतन वियोगजन्य शोकोंसे कैसे नहीं पीड़ित होते होंगे (अपने प्यारेके वियोगमें जिसे दुःखका अनुभव नहीं होता, वह या तो पशु है या इन्द्रियोंको बलपूर्वक रोकनेवाला महान् योगी) ।

उनका आलिङ्गन करते, उनके हाथसे थोड़ा प्रसाद पा लेते, स्वयं उन्हें अपने हाथसे प्रसाद देते, इस प्रकार भाँति-भाँतिसे प्रेम प्रदर्शित करके वे सभी भक्तोंको सन्तुष्ट करने लगे। सभी भक्तोंको यह अनुभव होने लगा कि महाप्रभु जितना अधिक स्नेह हमसे करते हैं, उतना शायद ही किसी दूसरेसे करते हों। सभीको इस बातका गर्व-सा था कि प्रभुका सर्वापेक्षा हमारे ही ऊपर अत्यधिक अनुराग है। यही तो उनकी महत्ता थी। जिस समय सभी प्राणियोंमें आत्मभावना हो जाती है, जब सभी अपने प्यारेके स्वरूप दीखने लगते हैं, तब सबको ही हृदयसे चिपटा लेनेकी इच्छा होती है। सभी हृदयवान् भावुक भक्त उसे हृदयसे प्यार करने लगते हैं, सभी उसे अपना ही आत्मा समझते हैं। उस अवस्थामें मोह कहाँ? शोक कैसा? सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द! जिधर देखो उधर ही शुद्ध प्रेम ही दिखायी पड़ता है। प्रेममें सन्देह, ईर्ष्या, डाह और किसीको छोटे समझनेके भाव ही नहीं रहते। ऐसे महापुरुषके संसर्गमें रहकर सभी मनुष्य अपनी खोटी वृत्तियोंको भुला देते हैं और वे सदा प्रेमासवमें छके-से रहते हैं।

सबसे पहले प्रभुने नित्यानन्दजीको बुलाया और उनसे एकान्तमें बहुत देरतक बातें करते रहे और उन्हें गौड़-देशमें जाकर भगवन्नाम प्रचार करनेके लिये राजी किया। आपने उन्हें आज्ञा दी—'गौड़-देशमें जाकर ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालपर्यन्त सभीको भगवन्नामका उपदेश करो। ये रामदास, गदाधर आदि बहुत-से भक्त तुम्हारे इस काममें योगदान देंगे। मङ्गलमय भगवान् तुम्हारा कल्याण करें, मैं भी गुप्तरूपसे सदा तुम्हारे साथ ही रहूँगा।'

फिर आपने अद्वैताचार्यसे कहा—'आचार्य! आप ही हम सब लोगोंके श्रेष्ठ, मान्य, गुरु, पूज्य और अग्रणी हैं। आप ऐसा उद्योग सदा

करते रहें कि भक्तवृन्द सङ्कीर्तनसे विमुख न हो जायँ, इन्हें आप सङ्कीर्तनके लिये सदा प्रोत्साहित करते रहियेगा।

इसके अनन्तर श्रीवास पण्डितकी बारी आयी। प्रभुने उनसे कहा—'पण्डितजी, आपके ऋणसे तो हम कभी उऋण ही नहीं हो सकते। आपने तो हमें सचमुच खरीद लिया है, इसलिये आपके आँगनमें जब भी सङ्कीर्तन होगा, उसमें सदा हम गुप्तभावसे अवस्थित रहेंगे। और सदा आपके आँगनमें नृत्य करते रहेंगे।'

फिर आपने आँखोंमें आँसू भरकर कहा—'पण्डितजी! उन पूजनीया दुःखिता वृद्धा माताके चरणोंमें हमारा बार-बार प्रणाम कहियेगा। हमने बड़ा भारी अपराध किया है, जो उन्हें अकेली छोड़कर चले आये हैं। हमारी ओरसे आप मातासे क्षमा-याचना करें और मातासे कह दें कि हम सदा उनके बनाये हुए नैवेद्यका भोजन करते हैं। त्योहारोंके दिन जब वे हमारी स्मृति करके रोती हैं, तब हम वहाँ जाकर उनके बनाये हुए पदार्थोंको खाते हैं। आप उन्हें सान्त्वना प्रदान करें और हमारे शरीरका कुशल-समाचार उन्हें बतावें। हम शीघ्र ही आकर उनके श्रीचरणोंका दर्शन करना चाहते हैं।' यह कहकर महाप्रभुने श्रीजगन्नाथजीका वह बहुमूल्य प्रसादी वस्त्र तथा भगवान्‌का प्रसादान्न माताके लिये दिया। श्रीवास पण्डितने उन दोनों वस्तुओंको यत्नपूर्वक बाँध लिया।

फिर आपने उदारमना परमभागवत श्रीशिवानन्द सेनजीसे बड़े ही स्नेहके स्वरमें कहा—'सेन महाशय, आप गृहस्थ होकर भी गृहकी कुछ परवा नहीं करते, यह ठीक नहीं। साधु-सेवा करनी चाहिये, किन्तु थोड़ा-बहुत घरका भी ध्यान रखा करें। जो आता है उसे ही आप उसी समय उड़ा देते हैं। गृहस्थीके लिये थोड़ा धन सञ्चय करनेकी भी आवश्यकता है।'

इसके अनन्तर कुलीनग्रामवासी रामानन्द तथा सत्यराजखाँको फिर स्मरण दिलाते हुए कहा—'प्रतिवर्ष भगवान्‌की सुन्दर-सी मजबूत पट्टडोरी बनाकर लाया करें। प्रतिवर्ष रथयात्रामें भक्तोंके सहित सम्मिलित होना चाहिये।'

फिर आप मालाधर वसु (गुनराजखाँ) की ओर देखकर कहने लगे—'वसु महाशयकी प्रतिभाका तो कहना ही क्या? बड़े ही सुन्दर कवि हैं। मैंने इनका रचित 'श्रीकृष्णविजय' काव्य सुना। वैसे तो सम्पूर्ण काव्य सुन्दर है, किन्तु उसका एक पद तो बड़ा ही सुन्दर लगा। 'नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राननाथ!' अहा, कितना सुन्दर पद है।' पास बैठे हुए स्वरूपदामोदरसे पूछने लगे—'यह पूरा पद कैसे है?'

स्वरूपदामोदर धीरे-धीरे लयके साथ कहने लगे—'एकभावे बन्द हरि जोड़ करि हात। नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राणनाथ!'

कुछ देर ठहरकर प्रभु कहने लगे—'कुलीनग्रामकी तो कुछ बात ही दूसरी है, वहाँके तो सभी पुरुष भक्त हैं। सभी लोगोंके मुखसे हरिनाम-सङ्कीर्तनकी सुमधुर ध्वनि सुनायी देती है, इसलिये उस गाँवका तो कुत्ता भी मेरे लिये वन्दनीय है?'

प्रभुके ऐसा कहनेपर कुलीनग्रामनिवासी रामानन्द और सत्यराजखाँ आदि वैष्णवोंने लज्जाके कारण सिर नीचा किये हुए ही धीरे-धीरे पूछा—'प्रभो! हम गृहस्थोंका भी किसी प्रकार उद्धार हो सकता है? हमारा क्या कर्तव्य है, इसे हम जानना चाहते हैं?'

महाप्रभुने कहा—'आप सब जानते हैं, आपसे छिपी ही कौन-सी बात है, गृहस्थीमें रहकर भजन-पूजन सभी हो सकता है। गृहस्थीके लिये तीन ही बात मुख्य है—श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की सेवा-पूजा करता रहे, मुखसे सदा श्रीहरिके मधुर नामोंका सङ्कीर्तन करता रहे और अपने द्वारपर जो

आ जाय उसकी यथाशक्ति सेवा करे तथा वैष्णव और साधु-महात्माओं-के चरणोंमें श्रद्धा रक्खे।'

सत्यराजने पूछा—'प्रभो! वैष्णवकी क्या पहचान है?'

महाप्रभुने कहा—'जिसके मुखमेंसे एक बार भी श्रीकृष्णका नाम निकल जाय वही वैष्णव है। वैष्णवकी यही एक मोटी पहचान है।'

कुलीनग्रामवासियोंको सन्तुष्ट करके प्रभु खण्डग्रामवासियोंकी ओर देखने लगे। उनमें मुकुन्द दत्त, रघुनन्दन—ये दोनों पिता-पुत्र और नरहरि ये ही तीन मुख्य जन थे। मुकुन्द दत्तके पुत्र रघुनन्दनजी थे। असलमें रघुनन्दनजी ही भगवद्-भक्त थे, पुत्रके सङ्गसे पिताको भक्ति-लाभ हुई थी। इसी बातको सोचकर हँसते हुए प्रभुने उनसे जिज्ञासा की—'भाई! मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुम दोनोंमें कौन पिता है और कौन पुत्र है?'

प्रभुके ऐसे प्रश्नको सुनकर गम्भीर वाणीमें अमानी मुकुन्द दत्त कहने लगे—'प्रभो! यथार्थमें पिता तो रघुनन्दन ही हैं। इस शरीरके सम्बन्धसे मैं इनका पिता भले ही होऊँ, किन्तु मुझे श्रीकृष्ण-भक्ति तो इन्हींसे प्राप्त हुई है। इन्हींके अनुग्रहसे मेरा पुनर्जन्म हुआ है, इसलिये सच्चे पिता तो ये ही हैं।'

महाप्रभु श्रीमुकुन्द दत्तके ऐसे उत्तरको सुनकर अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए और कहने लगे—'मुकुन्द! आपने यह उत्तर अपने शील-स्वभावके अनुरूप ही दिया है। भगवद्-भक्तको भक्ति प्रदान करनेवाले महापुरुषमें ऐसी ही भावना रखनी चाहिये। फिर चाहे वह अवस्थामें, सम्बन्धमें, कुलमें, जातिमें, विद्या अथवा मानमें अपनेसे छोटा ही क्यों न हो।'

इतना कहकर महाप्रभु सभी भक्तोंको सुनाकर मुकुन्द दत्तकी भक्तिके सम्बन्धमें एक कथा कहने लगे—मुकुन्दकी प्रशंसा करनेके अनन्तर

प्रभुने कहा—"इनकी कृष्णभक्ति बड़ी ही अपूर्व है । इनके वंशज सदासे राजवैद्यपनेका कार्य करते आये है । ये भी मुसलमान बादशाहके वैद्य हैं । एक दिन ये बादशाहके समीप बैठे थे कि इतनेमें ही एक नौकर मयूरपिच्छका पंखा लेकर बादशाहको वायु करनेके लिये आया । मोरपङ्खके दर्शनोंसे ही इन्हें भगवान्‌के मुकुटका स्मरण हो उठा और ये प्रेममें बेसुध होकर वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े, बादशाह-को बड़ा विस्मय हुआ । तब उसने इनका विविध भाँतिसे उपचार कराया, होशमें आनेपर खेद प्रकट करते हुए बादशाहने कहा—'आपको बड़ा कष्ट हुआ होगा ?'

इन्होंने अन्यमनस्कभावसे कहा—'नहीं महाराज, मुझे कुछ कष्ट नहीं हुआ ।'

तब बादशाहने पूछा—'आपको यकायक यह हो क्या गया ?'

इन्होंने अपने भावको छिपाते हुए कहा—'मुझे मृगीका रोग है, सहसा उसका दौरा हो उठा था ।' बादशाह सब समझ तो गया, किन्तु उसने कुछ कहा नहीं । उसी दिनसे वह इनका बहुत अधिक आदर करने लगा ।"

प्रभुके मुखसे अपनी ऐसी प्रशंसा सुनकर मुकुन्द कुछ लज्जित-से हो गये । तब प्रभुने उनसे कहा—'आप भले ही खूब रुपये पैदा करें, किन्तु रघुनन्दनको सदा कृष्ण-भजनमें ही लगे रहने दें । यह तो जन्म-से ही भक्त हैं । घोर शीतकालमें भी यह पुष्करिणीमें स्नान करके कदम्बके फूलोंसे भगवान्‌की पूजा किया करते थे । यह आपके सम्पूर्ण कुलको तार देंगे ।'

इसके अनन्तर महाप्रभुने मुरारी गुप्तको रामोपासना ही करते रहनेका उपदेश किया और सभी भक्तोंको उनकी दृढ़ रामनिष्ठाकी कहानी कहकर सुनायी । फिर सार्वभौम तथा विद्यावाचस्पति दोनोंको कृष्णभक्ति करनेके लिये कहा ।

फिर महाप्रभु वासुदेव दत्तकी ओर देखकर कहने लगे- 'यदि ऐसे भक्त दस-बीस भी हों, तो संसारका उद्धार हो जाय।' प्रभुके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर वासुदेव दत्तने लज्जित होकर अत्यन्त ही दीनभावसे कहा—'प्रभो! मैं आपके श्रीचरणोंमें एक प्रार्थना करना चाहता हूँ। आप तो दयालु हैं। इन जीवोंको दुःखी देखकर मेरा हृदय फटा जाता है। प्रभो! मेरी यही प्रार्थना है कि सम्पूर्ण जीवोंका पाप मेरे शरीरमें आ जाय और सभीके बदलेका दुःख मैं अकेला ही भोग लूँ। यही मेरी हार्दिक इच्छा है, ऐसा ही आप आशीर्वाद दें, आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं।'

प्रभु उनके इस भूतदयाके भावसे अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। सभी भक्त चलनेके लिये उद्यत हुए। मुकुन्द प्रभुके समीप ही रहना चाहते थे इसलिये प्रभुने उन्हें यमेश्वरमें टोटा गोपीनाथकी सेवा करनेकी आज्ञा प्रदान की। वे वहीं क्षेत्रसंन्यास लेकर सेवा-पूजा और कृष्ण-कीर्तन करने लगे।

भक्त महाप्रभुको छोड़ना ही नहीं चाहते थे। उनके दिल धड़क रहे थे और वे विवश होकर जानेके लिये तैयार हो रहे थे। महाप्रभुके नेत्रोंमें जल भरा हुआ था। भक्तगण उच्चस्वरसे रुदन कर रहे थे। महाप्रभु सबका अलग-अलग आलिङ्गन करते थे। भक्त उनके पैरोंमें लोट-लोटकर अपने विरह-दुःखको कुछ कम करते थे। जैसे-तैसे अत्यन्त ही दुःखके साथ भक्तवृन्द गौड़देशके लिये चले। महाप्रभु दूरतक उन्हें पहुँचाने गये। भक्तोंको विदा करके प्रभु लौटकर अपने स्थानपर आ गये और पुरी भारती, जगदानन्द, स्वरूपदामोदर, दामोदर पण्डित, काशीश्वर और गोविन्दके साथ आप सुखपूर्वक निवास करने लगे। कुछ गौड़ीय भक्त थोड़े दिनोंके लिये प्रभुके पास और ठहर गये थे। उन्हें नित्यानन्दजीके साथ प्रभुने भगवन्नामके प्रचारार्थ गौड़-देशमें पीछेसे भेजा था।

सार्वभौमके घर भिक्षा और अमोघ-उद्धार

सार्वभौमगृहे भुञ्जन् स्वनिन्दकममोघकम् ।
अङ्गीकुर्वन् स्फुटीचक्रे गौरः स्वां भक्तवत्सताम् ॥ *

(चैत० चरि० म० ली० १५ । १)

गौड़ीय भक्तोंके चले जानेके अनन्तर सार्वभौम भट्टाचार्यने प्रभुके समीप आकर निवेदन किया—'प्रभो ! अबतक तो मैंने भक्तोंके कारण कहनेमें संकोच किया, किन्तु अब तो भक्त चले गये, अब मैं एक प्रार्थना करना चाहता हूँ, उसे आपको स्वीकार करना होगा ।'

प्रभुने कुछ प्रेमपूर्वक व्यंग करते हुए कहा—'सब बातोंको पहले ही स्वीकार करा लिया करें, तब बताया करें यह भी कोई बात हुई, बताइये क्या बात है, जो माननेयोग्य होगी तो मान लूँगा और न माननेयोग्य होगी तो ना कर दूँगा ।'

भट्टाचार्यने कहा—'नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है । मानने ही योग्य है ।'

---

* गौरमहाप्रभुने सार्वभौमके घरमें भोजन करते समय अपने निन्दक (सार्वभौमके जामाता) अमोघ भट्टाचार्यको अङ्गीकार करके अपनी भक्तवत्सलता प्रकट की ।

प्रभुने जल्दीसे कहा—'जब पहलेसे ही मालूम है कि बात माननेयोग्य है, तब सन्देह ही क्यों किया ? अच्छा, खैर सुनूँ भी तो कौन-सी बात है ।'

कुछ सोचते-सोचते धीरे-धीरे भट्टाचार्य सार्वभौमने कहा—'मेरी भी इच्छा है और षाठी (भट्टाचार्यकी छोटी पुत्री) की माता भी बहुत दिनोंसे पीछे पड़ रही है, कि प्रभुको कुछ कालतक निरन्तर ही अपने घर लाकर भिक्षा करायी जाय । आप अधिक दिनों तो हमारी भिक्षा स्वीकार ही क्यों करेंगे, किन्तु कम-से-कम एक मासपर्यन्त तो अपनी चरण-धूलिसे हमारे नये घरको पवित्र बनाइये ही । यही मेरी प्रार्थना है ।'

प्रभुने जोरोंसे हँसते हुए कहा—'आप तो कहते थे, माननेयोग्य बात है । इस बातको भला कोई संन्यासी स्वीकार कर सकता है कि एक महीनेतक निरन्तर एक ही आदमीके यहाँ भिक्षा करता रहे । संन्यासीके लिये तो घर-घरसे मधुकरी माँगकर उदरपूर्ति करनेका विधान है ।'

भट्टाचार्यने कहा—'प्रभो ! इन सब बातोंको रहने दीजिये, आप इस प्रार्थनाको स्वीकार करके हमारी तथा हमारे सब परिवारकी इच्छापूर्ति कीजिये ।'

प्रभुने आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए कहा—'आचार्य ! आप भी जब ऐसे धर्मविरुद्ध कामके लिये मुझे विवश करेंगे, तो फिर मूर्ख भक्तोंकी तो बात ही अलग रही । एक-दो दिन कहें तो भिक्षा कर भी लूँ ।' अन्तमें पाँच दिनकी भिक्षा बहुत वादविवादके पश्चात् निश्चित हुई । भट्टाचार्य प्रभुको एकान्तमें ही भोजन कराना चाहते थे । इसलिये, प्रभुके साथी अन्य साधु-महात्माओंको दूसरे-दूसरे दिनोंके निमन्त्रित किया ।

नियत समयपर महाप्रभु भट्टाचार्यके घर भिक्षा करनेके लिये पहुँचे। भट्टाचार्यके चन्दनेश्वर नामका एक लड़का और षाठी नामकी एक लड़की थी। षाठीके पति अमोघ भट्टाचार्य सार्वभौमके ही पास रहते थे। वे महाशय बड़े ही अश्रद्धालु और नास्तिक प्रकृतिके पुरुष थे, इसीलिये सार्वभौमने महाप्रभुकी भिक्षाके समय उन्हें किसी कामसे बाहर भेज दिया था। महाप्रभुको एकान्तमें बिठाकर सार्वभौम उन्हें भिक्षा कराने लगे। सार्वभौमकी गृहिणीने अनेक प्रकारकी भोज्य-सामग्रियाँ प्रभुकी भिक्षाके निमित्त बनायी थीं। बीसों प्रकारके साग, अनेकों प्रकारके खट्टे-मीठे अचार तथा मुरब्बे थे। कई प्रकारके चावल, नाना प्रकारकी मिठाइयाँ तथा और भी पचासों प्रकारकी वस्तुएँ थीं। कुछ तो षाठीकी माताने घरमें ही तैयार की थीं, कुछ भगवान्के प्रसादकी वस्तुएँ मन्दिरसे मँगवा ली थीं। सार्वभौमने पचासों पात्रोंमें पृथक्-पृथक् वे पदार्थ प्रभुके सामने परोसे। महाप्रभु उन इतने पदार्थोंको देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और आश्चर्य तथा प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—'महान् आश्चर्यकी बात है। चन्दनेश्वरकी माताने एक दिनमें ये इतनी चीजें कैसे तैयार कर लीं। इतनी वस्तुओंको तो बीसों स्त्रियाँ पृथक्-पृथक् सैकड़ों चूल्होंपर भी तैयार नहीं कर सकतीं। भट्टाचार्य सार्वभौम ही धन्य हैं, जिनके घर भगवान्को इतनी वस्तुएँ भोग लगती हैं। किन्तु इतनी चीजोंको खायेगा कौन, इनसे तो बीसों आदमियोंका पेट भर जायगा और फिर भी बच रहेंगी। आप इनमेंसे थोड़ी-थोड़ी कम कर दीजिये।'

भट्टाचार्यने कहा—'प्रभो! अधिक नहीं है। मन्दिरमें ५६ प्रकारके भोगोंसे बहुत ही कम है। फिर वहाँ तो बीसों बार भोग लगता है। यहाँ तो मैंने एक ही बार थोड़ा-थोड़ा परोसा है, इसे ही पाकर मुझे कृतार्थ कीजिये।'

महाप्रभु सार्वभौमके आग्रहसे प्रसाद पाने लगे। महाप्रभुकी जो चीज आधी निबट जाती उसे ही जल्दीसे लाकर फिर भट्टाचार्य पूरी कर देते। प्रभुको परोसते समय भी उन्हें अपने जामाता अमोघका ध्यान बना हुआ था, इसलिये वे पदार्थोंको परोसकर जल्दीसे दरवाजेपर जा बैठते, जिससे अमोघ यहाँ आकर किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न कर दे। इतनेमें ही भट्टाचार्यने अमोघको आते हुए देखा। दूरसे देखते ही उन्होंने उसे दूसरे घरमें आनेकी आज्ञा दी। उस समय तो अमोघ घरमें चला गया, किन्तु जब भट्टाचार्य प्रभुके लिये कुछ लेनेके लिये दूसरे घरमें चले तब जल्दीसे वह प्रभुके पास आ पहुँचा। महाप्रभुके सामने सैकड़ों प्रकारके व्यञ्जनोंका ढेर देखकर दाँतोंसे जीभ काटता हुआ अमोघ कहने लगा—'बाप रे बाप! यह संन्यासी है या कोई आफतका पुतला है। इतना भोजन तो बीस आदमी भी नहीं कर सकते। यह इतना भोजन कैसे कर जायगा?'

इस बातको सुनते ही सार्वभौम भट्टाचार्य वहाँ जल्दीसे आकर उपस्थित हो गये और अमोघको दस उलटी-सीधी बातें सुनाकर वे प्रभुसे इस अपराधके लिये क्षमा-याचना करने लगे।

महाप्रभुने बड़ी ही सरलताके साथ कहा—'इसमें अमोघने अपराध ही क्या किया है, उसने ठीक ही बात कही है। भला, संन्यासीको इतने पदार्थ खिलाकर उससे कोई सदाचारी बने रहनेकी कैसे आशा कर सकता है? आपने मुझे इतना अधिक भोजन करा दिया है कि जमीनसे उठना भी मेरे लिये अशक्य हो रहा है। अमोघने तो बिल्कुल सच्ची बात कही है। आप उसकी प्रतारणा न करें। मुझे उसके ऊपर जरा-सा भी क्षोभ नहीं है, आप अपने मनमें कुछ और न समझें।' महाप्रभु इतना कहकर और भिक्षा पाकर अपने स्थानको लौट आये।

सार्वभौम तथा उनकी पत्नीको इस घटनासे बड़ा दुःख हुआ। वे प्रभुके अपमानसे क्षुभित होकर अमोघको कोसने लगे। भट्टाचार्य तथा उनकी पत्नीने कुछ भी नहीं खाया। भट्टाचार्यकी लड़की षाठीदेवी अपने भाग्यको बार-बार कोसने लगी। वह भगवान्‌से कहती—'हे दयालो! ऐसे पतिसे तो मेरा पतिहीन रहना अच्छा है। या तो मेरे इस शरीरका अन्त कर दे या ऐसे साधु-द्रोही पतिको ही मुझसे पृथक् कर दे।' अमोघ अपने श्वशुरकी लाल-लाल आँखोंको देखकर बाहर चला गया और उस दिन रात्रिमें भी घर लौटकर नहीं आया। उस दिन मारे चिन्ताके भट्टाचार्यके परिवारभरमें किसीने भोजन नहीं किया।

भगवान्‌की विचित्र लीला तो देखिये, अमोघको अपनी करनीका प्रत्यक्ष फल मिल गया। दूसरे ही दिन उसे भयङ्कर विषूचिका-रोग हो गया। इस समाचारको सुनते ही कुछ प्रसन्नता प्रकट करते हुए सार्वभौमने कहा—'चलो, अच्छा ही हुआ। 'अत्युग्रपापपुण्यानामिहैव फलमश्नुते।' अत्यन्त उग्र पापपुण्योंका फल यहीं इस पृथ्वीपर मिल जाता है। अमोघने जैसा किया वैसा ही उसका प्रत्यक्ष फल पा लिया।' लोग अमोघको उठाकर सार्वभौमके घर ले आये। आचार्य गोपीनाथने यह संवाद जाकर प्रभुको सुनाया। सुनते ही महाप्रभु सार्वभौमके घर जल्दीसे दौड़े आये। उन्होंने आकर देखा, अमोघ बेसुध हुआ पलंगपर पड़ा है। उसके जीवनकी किसीको भी आशा नहीं है।

तब तो महाप्रभु उसके पलंगके पास गये और उसके हृदयपर हाथ रखकर कहने लगे—'अहा, बच्चोंका हृदय कितना कोमल होता है, फिर कुलीन ब्राह्मणोंका तो कहना ही क्या? ब्राह्मणोंका स्वच्छ निर्मल अन्तःकरण प्रभुके निवासके ही योग्य होता है। न जाने यह राक्षस मात्सर्य इस अमोघके अन्तःकरणमें कहाँसे घुस गया।' प्रभुने थोड़ी देर चुप रहकर फिर कहा—'ओ दुष्ट मात्सर्य! सार्वभौम
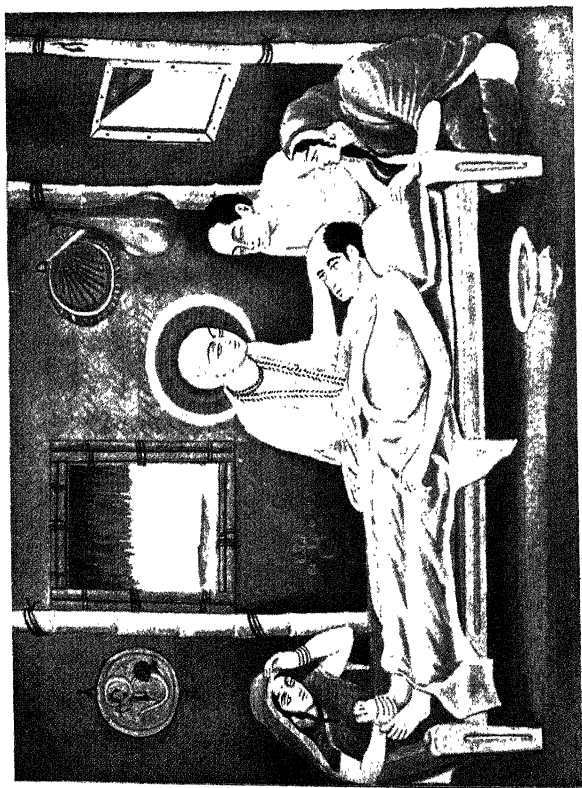
भट्टाचार्यके घरमें रहनेवाले अमोघके अन्तःकरणमें प्रवेश करनेका तुझे साहस कैसे हुआ ? सार्वभौमके भयसे तू अभी भाग जा।' इतना कहकर प्रभु फिर अमोघको सम्बोधन करके कहने लगे—'अमोघ ! तेरे हृदयमेंसे चाण्डाल मात्सर्य भाग गया, अब तू जल्दीसे उठकर श्रीकृष्ण-के मधुर नामोंका उच्चारण कर।'

इतना सुनते ही अमोघ सोते हुए मनुष्यकी भाँति जल्दीसे उठकर खड़ा हो गया और 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव ॥' आदि भगवान्‌के नामोंका जोरोंसे उच्चारण करता हुआ नृत्य करने लगा। उसकी इस अद्भुत परिवर्तित दशाको देखकर सभी आश्चर्यचकित होकर प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारने लगे और इसे महाप्रभुका ही परम प्रसाद समझने लगे।

अमोघने भी प्रभुके पैरोंमें पड़कर उनसे अपने पूर्वकृत अपराधके लिये क्षमा-याचना की। महाप्रभुने उसे गले लगाकर सान्त्वना प्रदान की। अमोघको अपने कुकृत्यपर बड़ा ही पश्चात्ताप होने लगा। वह अपने अपराधको स्मरण करके दोनों हाथोंसे अपने ही गालोंपर तमाचे मारने लगा। इससे उसके दोनों गाल सूज गये। तब आचार्य गोपीनाथने उसे इस कामसे निवारण किया। महाप्रभुने उसे कृष्ण-कीर्तनका उपदेश दिया। उसी दिनसे अमोघ परम भागवत वैष्णव बन गया और उसकी गणना प्रभुके अन्तरङ्ग भक्तोंमें होने लगी। तब महाप्रभुने गोपीनाथाचार्य-को आज्ञा दी कि तुम स्वयं जाकर भट्टाचार्य और उनकी पत्नीको भोजन कराओ। प्रभुकी आज्ञा पाकर आचार्य सार्वभौमको साथ लेकर घर गये और उन्हें भोजन कराया। प्रभुके कहनेपर सार्वभौमने अमोघको क्षमा कर दिया और उस दिनसे उसे बहुत अधिक प्यार करने लगे। अमोघ भी महाप्रभुके चरणोंमें अधिकाधिक प्रीति करने लगा।

नित्यानन्दजीका गौड़-देशमें भगवन्नाम-वितरण

नित्यानन्दमहं वन्दे कर्णे लम्बितमौक्तिकम् ।
चैतन्याग्रजरूपेण पवित्रीकृतभूतलम् ॥*

(श्रीचैतन्य महा०)

नित्यानन्दजीका स्वभाव सदासे अबोध बालकोंका-सा ही था। वे पुरीमें भी सदा बाल्य-भावमें ही बने रहते। उनमें अनन्त गुण होंगे,

* ...नके कर्णमें मुक्तामय कुण्डल लटक रहा है और जिन्होंने श्रीचैतन्यदेवके अग्रजरूपसे इस पृथ्वीको (भक्तिरससे प्लावित करके) परम पावन बना दिया है, उन नित्यानन्द प्रभुको हम प्रणाम करते हैं।

किन्तु एक गुण उनमें सर्वश्रेष्ठ था, वे महाप्रभुको अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे। प्रभुके चरणोंमें उनकी प्रगाढ़ प्रीति थी। प्रभुके अतिरिक्त वे और किसीको कुछ समझते ही न थे। उनके लिये भगवान्, परमात्मा तथा ब्रह्म जो भी कुछ थे, चैतन्य महाप्रभु ही थे। प्रभुसे वे बालकोंकी भाँति बातें करते। घूमनेका उनका पहलेसे ही स्वभाव था और बच्चोंके साथ खेलनेमें वे सबसे अधिक आनन्दका अनुभव करते थे। सदा बच्चोंके साथ खेलते रहते और उनसे जोरोंसे कहलाते—

'गौर हरि बोल, गौर हरि बोल, चैतन्यकृष्ण श्रीगौर हरि बोल।'

बच्चे इन नामोंकी धूम मचा देते तब ये उनके मुखसे इस संकीर्तनको सुनकर बड़े ही प्रसन्न होते।

एक दिन महाप्रभुने इन्हें समीप बुलाकर कहा—'श्रीपाद! मेरा आपके प्रति कितना स्नेह है, इसे मैं ही जानता हूँ। मैं आपको एक क्षण भी अपनेसे पृथक् करना नहीं चाहता, किन्तु जीवोंका दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। गौड़-देशके मनुष्य तो भगवान्‌को एकदम भूल गये हैं। जो कुछ थोड़े-बहुत पढ़े हैं, वे अपने विद्याभिमानमें सदा चूर बने रहते हैं। उन्हें न्यायकी शुष्क फक्किकाओंके घोखनेसे ही अवकाश नहीं मिलता। वे कृष्ण-कीर्तनको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। आपके सिवा गौड़-देशका उद्धार और कोई नहीं कर सकता। यह काम आपके ही द्वारा हो सकेगा। इसलिये जीवोंके कल्याणके निमित्त आपको मुझसे पृथक् होकर गौड़-देशमें भगवन्नाम-वितरण करनेके लिये जाना होगा। आप ही ऊँच-नीचका भेदभाव न रखकर सब लोगोंको भगवन्नामका उपदेश दे सकते हैं।'

प्रभुके इस मर्मबेधी वाक्यको सुनकर नित्यानन्दजीकी आँखोंमें आँसू आ गये और वे रुँधे हुए कण्ठसे कहने लगे—'प्रभो! आप सर्व-

समर्थ हैं। आपकी लीला जानी नहीं जाती। पता नहीं, किसके द्वारा आप क्या कराना चाहते हैं। भला, आपकी अनुपस्थितिमें मैं कर ही क्या सकता हूँ। प्रभो ! मैं आपके बिना कुछ भी न कर सकूँगा, मुझे अपने चरणोंसे पृथक् न कीजिये।'

महाप्रभुने कहा—'आप समय-समयपर मुझे यहाँ आकर दर्शन दे जाया करें और भगवान्‌के दर्शन कर जाया करें। अब तो आपको गौड़-देशमें जाना ही चाहिये।'

नित्यानन्दजी विवश हो गये, उन्होंने विवश होकर महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और अभिरामदास, गदाधरदास, कृष्णदास और पुरन्दर पण्डित आदि भक्तोंको साथ लेकर उन्होंने गौड़-देशके लिये प्रस्थान किया। उन्हें अब किसी बातका भय तो था ही नहीं। महाप्रभुने स्वयं कह दिया है कि मैं सदा आपके साथ रहूँगा, आप बिना किसी भेद-भावके निडर होकर सर्वत्र भगवन्नाम-वितरण करें। इस बातपर पूर्ण विश्वास करते हुए नित्यानन्दजी प्रेममें विभोर हुए आगे बढ़ने लगे। वे आनन्दमें झूमते हुए, मस्तीमें नाचते और गौरकी दयाको स्मरण करते हुए भक्तोंके साथ जा रहे थे। उन्हें अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं था, वे जीवोंके कल्याणके ही निमित्त अपने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके गौड़-देशमें आये थे।

समस्त गौड़-देश भक्तिरसामृत पान करनेके लिये पियासा-सा बैठा हुआ था। विशेषकर निम्न कहलानेवाली जातियोंके लिये भगवत्-भजनका अधिकार ही नहीं था। बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित उन्हें परमार्थका अनधि-कारी बताकर साधन-भजनका उपदेश ही नहीं करते थे। सभी एक ऐसे मार्गकी खोजमें थे, जिसके द्वारा, सभी श्रेणीके लोग प्रभुके पादपद्मोंतक पहुँचनेके अधिकारी हो सकें। ऐसे ही सुन्दर अवसरके समय नित्यानन्द-

नित्यानन्दजीकी विदाई

जीने गौड़-देशमें प्रवेश किया। इनकी वाणीमें जादू था, चेहरेपर ओज था, शरीरमें स्फूर्ति थी और था महाप्रभुके प्रेमका अनन्य दृढ़ विश्वास। इन्हीं सब बातोंसे गौड़-देशमें प्रवेश करते ही इनके उपदेसका असर जादूकी भाँति थोड़े ही दिनोंमें सर्वत्र फैल गया। ये भगवन्नामोपदेशमें किसी प्रकारका भेदभाव तो रखते ही नहीं थे, जो चाहे वही इनके पास-से आकर त्रितापहारी भगवन्नामका उपदेश ग्रहण कर सकता है। विशेष-कर ये नीची कहलानेवाली जातियोंके ऊपर ही सबसे अधिक कृपा करते थे। उच्च जातिके लोग तो अपने श्रेष्ठपनेके अभिमानमें इनकी बातोंपर ध्यान ही नहीं देते थे, निम्नश्रेणीके ही लोग इनकी बातोंको श्रद्धापूर्वक सुनते थे, इसलिये ये उन्हें ही अधिक उपदेश करते। इस प्रकार ये लोगों-में भगवन्नामकी निरन्तर वर्षा करते हुए और उस कृष्ण-संकीर्तनरूपी अपूर्व रससे लोगोंको सुखी बनाते हुए पानीहाटी ग्राममें आये और वहाँ अपने सभी भक्तोंके सहित राघव पण्डितके घर ठहरे।

राघव पण्डित स्वयं महाप्रभुके अनन्यभक्त थे, उन्होंने साथियों-सहित नित्यानन्दजीका खूब सत्कार किया और उनके साथ प्रचारके लिये भी बाहर ग्रामोंमें जाने लगे। नित्यानन्दजी वहाँ तीन महीने ठहरकर लोगोंको श्रीकृष्ण-कीर्तनका उपदेश करते रहे। वे अपने साथियोंके सहित गङ्गाजीके किनारे-किनारे गाँवोंमें जाते और वहाँ सभीसे श्रीकृष्ण-कीर्तन करनेके लिये कहते। ये विशेष पुस्तकी विद्या तो पढ़े नहीं थे, सीधी-सादी भाषामें सरलतापूर्वक ग्रामीण लोगोंको समझाते, इनके समझानेका लोगोंपर बड़ा ही अधिक असर होता और वे उसी दिनसे कीर्तन करने लग जाते। इसी बीचमें आप अम्बिकानगरमें भी संकीर्तन-का प्रचार करने गये थे, वहाँ सूर्यदास पण्डितने इनका खूब आदर-सत्कार किया। ये [illegible]के सहित उनके घरपर रहे। सूर्यदासका समस्त परिवार नित्यानन्दजीके चरणोंमें बड़ी भारी श्रद्धा रखने लगा।

इस प्रकार पानीहाटीमें भगवन्नाम और भगवद्भक्तिकी आनन्दमय और प्रेममय धारा बहाकर नित्यानन्दजी अपने परिकरके सहित एड़दह-में गदाधरदासके घर ठहरे । इसी गाँवमें एक मुसलमान काजी संकीर्तनका बड़ा भारी विरोधी था, नित्यानन्दजीके प्रभावसे वह भी स्वयं संकीर्तनमें आकर नाचने लगा । इससे इनका प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया । लोग इनके श्रीचरणोंमें अनन्य श्रद्धा रखने लगे । चारों ओर 'श्रीकृष्ण चैतन्यकी जय' 'नित्यानन्दकी जय' 'गौरनिताईकी जय' यही ध्वनि सुनायी देने लगी । एड़दहसे चलकर नित्यानन्दजी खड़दहमें पहुँचे । वहाँ चैतन्यदास और पुरन्दर पण्डित इन दोनों भक्तोंने इनका खूब आदर-सत्कार किया और इनके प्रचार-कार्यमें योगदान दिया । इसी प्रकार लोगोंको प्रभुप्रेममें प्लावित बनाते हुए महामहिम नित्यानन्दजी सप्तग्राममें पहुँचे ।

उस समय बङ्गालमें सुवर्णवणिक्-जातिके लोग अत्यन्त ही नीचे समझे जाते थे । उनके हाथका जल पीना तो दूर रहा, बड़े-बड़े पण्डित विद्वान् उन्हें स्पर्श करनेमें भी घृणा करते थे । नित्यानन्दजीने सबसे पहले इन्हीं लोगोंको अपनाया । ये लोग सम्पत्तिशाली थे, इस बातके लिये बड़े लालायित बने हुए थे, कि किसी प्रकार हमारा भी परमार्थ-पथमें प्रवेश हो सके । नित्यानन्दजीने इनके अछूतपनेको एकदम हटा दिया । वे उद्धरण दत्त नामक एक धनी स्वर्णवणिक्के घरपर जाकर ठहरे और सभी स्वर्णवणिकोंको भगवद्-भक्तिका उपदेश देने लगे । इनके प्रभावसे स्वर्णवणिकोंमें बड़ी भारी जागृति हो उठी । यह इनके लिये बड़े ही साहसका काम था । इस बातसे उच्च जातिके लोग इन्हें भाँति-भाँतिसे धिक्कारने लगे, किन्तु इन्होंने किसीकी भी परवा नहीं की । पीछे इनकी निर्भीकता और सच्ची लगनके सामने सभी लोगोंने इनके चरणोंमें सिर नवा दिया ।

स्वर्णवणिकोंके अपनानेसे इनका नाम चारों ओर फैल गया और लोग भाँति-भाँतिसे इनके सम्बन्धमें आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। सप्तग्रामके आसपासके गाँवोंमें भगवन्नामका प्रचार करते हुए ये शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर आये। आचार्य इन्हें देखते ही पुलकित हो उठे और जल्दीसे इनका दृढ़ आलिङ्गन करते हुए प्रेमके अश्रु बहाने लगे। दोनों ही महापुरुष प्रेममें विभोर हुए एक-दूसरेका जोरोंसे आलिङ्गन कर रहे थे। बहुत देरके अनन्तर प्रेमका आवेग कम होनेपर आचार्य कहने लगे—'निताई! आपने ही वास्तवमें महाप्रभुके मनोगत भावोंको समझा है, आप महाप्रभुके बाहरी प्राण हैं।' इस प्रकार नित्यानन्दजीकी स्तुति करके आचार्यने उनसे कुछ काल ठहरनेका आग्रह किया। अद्वैताचार्यके आग्रहसे नित्यानन्दजी कुछ काल शान्तिपुरमें ठहरकर भगवन्नाम और संकीर्तनका प्रचार करते रहे।

आचार्यसे विदा होकर नित्यानन्दजी नवद्वीपमें आये। नवद्वीपमें इनके प्रवेश करते ही कोलाहल-सा मच गया, चारों ओरसे भक्त आ-आकर इनके पास जुटने लगे। इन्होंने सबसे पहले प्रभुके घर जाकर शचीमाताकी चरण-वन्दना की। बहुत दिनोंके पश्चात् अपने निताईको पाकर माताके सुखकी सीमा न रही। वह इतने बड़े निताईको गोदीमें बिठाकर बच्चोंकी भाँति उनके मुखपर हाथ फेरती हुई कहने लगी—'बेटा निताई! निमाई मुझे भूल गया तो भूल गया—तैंने भी मेरी सुधि बिसार दी। बेटा! आज इतने दिनोंके पश्चात् तेरे मुखको देखकर मुझे परमानन्द हुआ है। अब मैं विश्वरूप और निमाईके संन्यासका भी दुःख भूल गयी। मेरे प्यारे बेटा! अब तू यहीं मेरे पास रहकर संकीर्तनका प्रचार कर और भक्तोंके साथ कीर्तन कर। मैं सदा तुझे अपनी आँखोंके सामने देखकर सुखी हो सकूँगी।'

नित्यानन्दजीने माताकी आज्ञाको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया और वे नवद्वीपमें ही हिरण्य पण्डितके घर रहने लगे । नित्यानन्दजीके नवद्वीपमें रहनेसे शिथिल हुई संकीर्तनकी ध्वनि फिर जोरोंसे शब्दायमान होती हुई आकाशमें गूँजने लगी । सभी लोग महाप्रभुके सामने जिस प्रकार संकीर्तनमें पागल हो जाते थे, उसी प्रकार फिर बेसुध होकर उद्दण्ड-नृत्य करने लगे ।

नित्यानन्दजीका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया । अब इनके रहन-सहनमें भी परिवर्तन हो गया ।

वे सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करने लगे । खान-पानमें भी विविध व्यञ्जन आ गये । इससे उनकी निन्दा भी हुई । इस प्रकार एक ओर जहाँ इनकी इतनी अधिक ख्याति हुई वहाँ निन्दा भी कम नहीं हुई । यह तो संसारका नियम ही है । जितने मुख होते हैं, उतने ही प्रकारकी बातें होती हैं, कार्यार्थी धीर पुरुष लोगोंकी निन्दा-स्तुतिकी परवा न करके अपने काममें ही लगे रहते हैं । पीछेसे निन्दा करनेवाले स्वयं ही निन्दा करनेसे थककर चुप होकर बैठ जाते हैं । महापुरुषोंके कामोंमें लोक-निन्दासे विघ्न न होकर उलटी सहायता ही मिलती है । यदि महापुरुषोंके कार्योंकी इस प्रकार जोरोंसे आलोचना और निन्दा न हुआ करे तो उन्हें आगे बढ़नेमें प्रोत्साहन ही न मिले । निन्दा उन्हें उन्नत बनानेके लिये एक प्रकारकी औषधि है । किन्तु जो जान-बूझकर निन्दित काम करते हैं, ऐसे दम्भी पुरुष कभी भी उन्नत नहीं हो सकते । इसलिये प्रयत्न तो ऐसा ही करते रहना चाहिये कि जहाँतक हो सके निन्दित कामोंसे बचते रहें, यदि सच्चे और श्रेष्ठ मार्गका अनुसरण करते-करते स्वतः [illegible] लोग निन्दा करने लगें, जैसा कि लोगोंका स्वभाव है तो उनकी प[illegible] करनी चाहिये । यही बड़े बननेका महान् गुरुमन्त्र है ।

नित्यानन्दजीका गृहस्थाश्रममें प्रवेश

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवागुणाम् ।
साधूनां समचित्तानां परमुपेयुषाम् ॥

(श्रीचैत० भा०)

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥*

(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३१)

महापुरुषोंके जीवनमें कहीं-कहीं धर्म-व्यतिक्रम पाया जाता है; इसका क्या कारण है? इसका ठीक-ठीक उत्तर दिया नहीं जाता है। परन्तु उनके वैसे कार्योंके अनुकरण न करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें मिलती है।

* श्रीभगवान् कहते हैं—जिनका चित्त सम हो गया है, जो बुद्धिसे परे चले गये हैं ऐसे मेरे एकान्त भक्त साधुपुरुषोंके गुण-दोषोंका विचार न करना चाहिये। उनके लिये न तो कोई गुण ही है, न दोष। परन्तु [illegible] मूर्ख पुरुष कभी [illegible] से भी उनका देखा-देखी आचरण न करे (बल्कि [illegible] उन उपदेशोंपर चलें) भगवान् शंकर जिस प्रकार समुद्रका विष पी गये वैसी प्रकार यदि कोई मूर्खतावश करे तो उसका विनाश ही होता है।

ब्रह्मतक पहुँचे हुए निर्मलचेता ऋषि-महर्षियोंने वेदमें स्पष्टरूपसे अपने अनुयायी शिष्योंसे कहा है—

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपासितव्यानि नो इतराणि।

हमारे जो अच्छे काम हों उन्हींका तुम्हें आचरण करना चाहिये। अन्य जो हमारे जीवनमें निषिद्ध आचरण दीखें उनका अनुकरण कभी भी न करना चाहिये। परन्तु ईश्वर और महापुरुषोंके कार्योंकी निन्दा भी नहीं करनी चाहिये। महर्षियोंने महापुरुषोंके कार्योंकी आलोचना और निन्दा करनेको पाप बताया है। जो महापुरुषोंके कार्योंकी निन्दा किया करते हैं वे अबोध बन्धु भूल करते हैं। साथ ही वे भी भूल करते हैं; जो निन्दकोंको सदा कोसा करते हैं। निन्दकोंका स्वभाव तो निन्दा करनेका है ही, उनकी निन्दा करके तुम अपने सिरपर दूसरा पाप क्यों लेते हो? निन्दक तो सचमुच उपकारी है। संसारमें यदि बुरे कामोंकी निन्दा होनी बन्द हो जाय, तो यह जगत् सचमुच रौरव नरक बन जाय। महापुरुष तो निन्दासे डरते नहीं, उनका तो लोकनिन्दा कुछ बिगाड़ नहीं सकती। नीच प्रकृतिके लोग लोकनिन्दाके भयसे बुरे कामोंको छिपाकर करते हैं और सर्वसाधारण लोग लोकनिन्दाके ही भयसे पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होते। इसलिये लोकनिन्दा समाजरूपी वृक्षको सुरक्षित बनाये रहनेके लिये उसके आसपासमें लगे हुए काँटों-के समान है। इससे पापरूपी पशु उस पेड़को एकदम नष्ट नहीं कर सकते। इसलिये परमार्थ-पथके पथिकको न तो महापुरुषोंके ही बुरे आचरणोंकी निन्दा करनी चाहिये और न उनकी निन्दा करनेवाले निन्दकोंकी ही निन्दा करनी चाहिये। निन्दा-स्तुतिसे एकदम उदासीन होना ही परम श्रेयस्कर है। यदि कुछ कहे बिना रहा ही न जाय, तो सदा दूसरोंके गुणोंका ही कथन करना चाहिये और लोगोंके छोटे गुणोंको भी बढ़ाकर कहना चाहिये और उसे अपने जीवनमें परिणत करना चाहिये। अस्तु।

नित्यानन्दजीके रहन-सहनकी खूब आलोचना होने लगी। लोग उनकी निन्दा करने लगे। निन्दाका विषय ही था, एक अवधूत त्यागीको ऐसा आचरण करना लोकदृष्टिमें अनुचित समझा जाता है। जब वे संन्यास छोड़कर गृहस्थी हो गये तब तो उनकी निन्दा और भी अधिक होने लगी। मालूम पड़ता है, उसी निन्दाके खण्डनमें 'चैतन्य-भागवत' की रचना हुई है। चैतन्य-भागवतमें श्रीचैतन्य-चरितको प्रधानता नहीं दी है, उसमें तो नित्यानन्दजीके ही गुणोंका विशेष रीतिसे वर्णन है और नित्यानन्दजीपर विश्वास न करनेवाले लोगोंको भर पेट कोसा गया है। चैतन्य-भागवतके रचयिता यदि इस प्रसंगकी उपेक्षा ही कर देते तो भी महापुरुष नित्यानन्दजीकी कीर्ति आज कम नहीं होती। किन्तु लेखक महाशय ऐसा करनेके लिये विवश थे। 'चैतन्य-भागवत' के रचयिता गोस्वामी श्रीवृन्दावनदासजी नित्यानन्दजीके मन्त्र-शिष्य थे। उनके लिये नित्यानन्दजी ही सर्वस्व थे। नित्यानन्दजीके आशीर्वादसे ही गोस्वामी वृन्दावनदासजीका जन्म हुआ था। ये सदा नित्यानन्दजीके ही समीप रहते थे। जिन्हें हम अपना सर्वस्व समझते हैं, उनकी साधारण लोग मनमानी निन्दा करें इसे प्रतिभावान् पुरुष बहुत कम सह सकते हैं। इसलिये इनकी इस प्रकारकी सुन्दर कवितासे इनकी अनन्य गुरु-भक्ति ही प्रकट होती है।

नित्यानन्दजीकी शिकायत महाप्रभुतक पहुँची थी। प्रभुके एक सहपाठी पण्डितने नित्यानन्दजीकी उनसे भर पेट निन्दा की किन्तु महाप्रभुने इसपर विश्वास ही नहीं किया।

गौड़-देशसे दूसरी बार भक्त भी पहलेकी ही भाँति रथयात्राके समय महाप्रभुके दर्शनोंको गये। उस समय भी नित्यानन्दजीके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें होती रहीं। श्रीवास पण्डितने चलते समय कह दिया कि

नित्यानन्दजी अबोधावस्थामें ही घरसे निकल आये थे। उन्होंने स्वेच्छासे संन्यास नहीं लिया था।

महाप्रभुने कह दिया—'उन्होंने चाहे स्वेच्छासे संन्यास लिया हो या परेच्छासे। उनके लिये कोई विधि-निषेध नहीं है।'

रोज ही लोगोंके मुखसे भाँति-भाँतिकी बातें सुनकर नित्यानन्दजीको भी कुछ क्षोभ हुआ। उन्होंने अपनी मनोव्यथा शचीमातासे कही। माताने आज्ञा दी कि तू नीलाचल जाकर निमाईसे मिल आ, वह जैसा कहे वैसा करना। माताकी अनुमतिसे नित्यानन्दजी अपने दस-पाँच अन्तरङ्ग भक्तोंको साथ लेकर नीलाचल पहुँचे। उन्हें महाप्रभुके सम्मुख जानेमें बड़ी लज्जा मालूम पड़ती थी। इसलिये संकोचवश वे महाप्रभुके स्थान-पर नहीं गये। बाहर ही एक बाग में बैठे हुए वे पश्चात्तापके आँसू बहा रहे थे, कि उसी समय समाचार पाते ही प्रभु वहाँ दौड़े आये और वे नित्यानन्द-जी की प्रशंसा करते हुए उनकी प्रदक्षिणा करने लगे।

प्रभुको प्रदक्षिणा करते देखकर नित्यानन्दजी जल्दीसे प्रभुको प्रणाम करनेके लिये उठे, किन्तु प्रेमके आवेशमें वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े। उनकी मूर्छित दशामें ही प्रभुने उनकी चरण-धूलिको अपने मस्तकपर चढ़ाया। महाप्रभुके पश्चात् सभी भक्तोंने नित्यानन्दजीकी चरणरज मस्तकपर चढ़ायी। प्रभु उनका पैर पकड़कर बैठ गये। बाह्यज्ञान होनेपर नित्यानन्दजी उठे, वे कुछ कहना ही चाहते थे, किन्तु प्रेमके आवेशमें कुछ भी न कह सके, उनका सिर आप-से-आप ही लुढ़ककर महाप्रभुकी गोदीमें गिर पड़ा। महाप्रभु उनके मस्तकको बार-बार सूँघने लगे और अपने कर-कमलोंसे उनके पुलकित हुए अंगोंपर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगे। दोनों भाई बड़ी देरतक इसी प्रकार प्रेममें बेसुध बने उसी स्थानपर बैठे रहे। फिर महाप्रभु उन्हें हाथ पकड़कर अपने यहाँ ले गये और वे अब पुरीमें ही रहने लगे।

गदाधरजी क्षेत्र-संन्यास लेकर यमेश्वरके निर्जन मन्दिरमें रहते थे। नित्यानन्दजी उन्हींके पास ठहरे। गदाधरके लिये वे गौड़-देशसे एक मन सुन्दर सुगन्धित अरवा चावल और एक बहुत बढ़िया लालवस्त्र उपहारमें देनेके लिये साथ लाये थे। गदाधरने उन सुगन्धित चावलोंको सिद्ध किया। इमलीके पत्तोंकी चटनी भी बनायी; सभी सोच रहे थे, कि इस समय महाप्रभु न हुए। किसीका इतना साहस नहीं हुआ, कि प्रभुको निमन्त्रण करें। ये लोग सोच ही रहे थे, कि इतनेमें ही किसीने द्वार खटखटाया। गदाधरने जल्दीसे किवाड़ खोले। देखा, महाप्रभु खड़े हैं, सभी महाप्रभुकी इस भक्तवत्सलताकी मन-ही-मन सराहना करने लगे। महाप्रभु जल्दीसे स्वयं ही भोजन करने बैठ गये। सभीको साथ ही बैठकर प्रसाद पानेकी आज्ञा हुई। महाप्रभुकी आज्ञा सभीने पालन की, सभी प्रभुके साथ बैठकर प्रसाद पाने लगे। प्रसाद पाते-पाते प्रभु कहते जाते थे—'अहा, हमारा कैसा सौभाग्य है, श्रीपादजीके लाये हुए चावल, गदाधरके हाथसे बनाये हुए, फिर गोपीनाथ भगवान्‌का महाप्रसाद। इस प्रसादसे श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होती है। इन चावलोंकी सुन्दर सुगन्धि ही भक्तिको बढ़ाने वाली है।' महाप्रभुके इस प्रकार प्रसाद पानेसे सभीको परम प्रसन्नता प्राप्त हुई।

रथ-यात्राके समय नियमानुसार तीसरी बार भक्तोंके आनेका समय हुआ। अबके भक्त अपनी स्त्रियोंको भी साथ लेकर आये थे, जिसका वर्णन अगले अध्यायमें होगा। भक्तोंकी विदाईके समय नित्यानन्दजीको एकान्तमें बुलाकर महाप्रभुने उनसे कहा—'श्रीपाद! आपके लिये विधि-निषेध क्यों है? आप तो वृन्दावनविहारी गोप-कृष्णके उपासक हैं। बेचारे गँवार ग्वाल बाल विधि-निषेध क्या जानें? अब आप एक काम करें, अपना विवाह कर लें और आदर्श गृहस्थ बनकर लोगोंके

सम्मुख एक सुन्दर आदर्श उपस्थित करें कि गृहस्थमें रहकर भी किस प्रकार भजन, कीर्तन और परमार्थ-चिन्तन किया जाता है ।'

गद्‌गद्‌ कण्ठसे अश्रुविमोचन करते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो ! आप तो घरमें सन्तानहीन युवती विष्णुप्रियाजीको छोड़-कर संन्यासी बन गये हैं और मुझे संन्यासीसे गृहस्थ बननेका उपदेश कर रहे हैं, आपकी लीला जानी नहीं जाती ।'

महाप्रभुने कहा—'श्रीपाद ! मैं अब गृहस्थी भोगनेके योग्य नहीं रहा । मेरी अवस्था एकदम पागलोंकी-सी हो गयी है । मुझसे अब किसी भी कामकी आशा करना व्यर्थ है । अब सम्पूर्ण गौड़-देशका भार आपके ही ऊपर है और यह काम आपके गृहस्थ बन जानेपर ही हो सकेगा ।'

नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो ! मैं आपकी आज्ञाके सम्मुख लोक-निन्दा और शास्त्र-मर्यादाकी भी परवा नहीं करता । लोग मेरी निन्दा तो खूब करेंगे, कि संन्यासीसे अब गृहस्थ बन गया, किन्तु आपकी आज्ञाके सम्मुख मैं इन निन्दा-वाक्योंको अति तुच्छ समझता हूँ । आप जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही मैं करूँगा ।'

महाप्रभु तो सबकी मनकी बातें जानते थे , किससे कौन-सा काम कराना उचित होगा, इसका उन्हें ही ज्ञान था । कहाँ तो अपने अन्तरङ्ग विरक्त भक्तोंको स्त्री-दर्शन करना भी पाप बताते थे और कहा करते थे—'हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु' 'स्त्रियोंका और स्त्रियोंसे संसर्ग रखनेवाले विषयी पुरुषोंका दर्शन भी विषभक्षणसे भी बुरा है।' और कहाँ आज वे ही अवधूत नित्यानन्दजीको गृहस्थ बननेकी आज्ञा दे रहे हैं । नित्यानन्दजीने महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और वे फिर पुरीसे लौट-कर पानीहाटीमें राघव पण्डितके ही यहाँ आकर ठहरे । इस प्रान्तमें

नित्यानन्दजीका प्रभाव पहलेसे ही अत्यधिक था। सभी लोग इन्हें श्रीगौराङ्गका दूसरा ही विग्रह समझते थे। इसलिये ये भक्तोंको साथ लेकर खूब धूमधामसे सङ्कीर्तनका प्रचार करने लगे। पाठकोंको स्मरण होगा, अम्बिकानगरके सूर्यदास पण्डितके यहाँ नित्यानन्दजी पहले भी ठहरे थे और वे इनके चरणोंमें भक्ति भी बहुत अधिक रखते थे, उन्हींके यहाँ जाकर फिर ठहरे। उन्होंने परिवारसहित इनका तथा इनके साथियोंका खूब आदर-सत्कार किया। उनकी वसुधा और जाह्नवी नामकी दो सुन्दरी और सुशीला कन्याएँ थीं। इन्हीं दोनों कन्याओंका नित्यानन्दजीके साथ विवाह हुआ।

इस प्रकार दो विवाह करके नित्यानन्दजी भगवती भागीरथीके किनारे खड़दा नामक ग्राममें रहने लगे। भक्तवृन्द इनका बहुत अधिक मान करते थे। यहीं वसुधाके गर्भसे परम तेजस्वी वैष्णव-सम्प्रदायके प्रवर्तक श्रीवीरचन्द्रजीका जन्म हुआ। उन्होंने नित्यानन्दजीके तिरोभावके अनन्तर अपना एक अलग ही वैष्णव-सम्प्रदाय बनाया। इनके पश्चात् इनकी पत्नी जाह्नवीदेवी भी भक्तिका खूब प्रचार करती रहीं। इस प्रकार नित्यानन्दजीद्वारा गुरुकुलकी स्थापना हुई, जो किसी-न-किसी रूपमें अद्यावधि विद्यमान है।

नित्यानन्दजी महाप्रभुके अनन्य उपासक थे, उन्होंने उनकी आज्ञा मानकर लोक-निन्दा सहकर भी विवाह किया और स्त्री-बच्चोंमें रहकर लोगोंको दिखा दिया, कि इस प्रकार निर्लिप्त भावसे रहकर गृहस्थीमें भगवद्-भजन किया जाता है। वे गृहस्थ होनेपर भी सदा उदासीन ही बने रहते थे। उन्होंने प्रवृत्ति-मार्गमें भी निवृत्ति-मार्गका आचरण करना बता दिया। निवृत्ति-प्रवृत्ति ये ही तो दो मार्ग हैं। निवृत्ति-मार्गका तो कोई लाखोंमेंसे एक-आध आचरण कर सकता है। इसीलिये

तो भगवान्ने 'कर्मयोगो विशिष्यते' कहकर निष्कर्म मार्गकी स्तुति की है। प्रवृत्ति-मार्ग दो प्रकारका होता है—एक सकाम, दूसरा निष्काम। आजकल इन्द्रिय-भोगोंको भोगते हुए जो गृहस्थ केवल पेट-पालनको ही मुख्य समझते हैं, उनका धर्म न निष्काम है और न सकाम। यह तो पशु-धर्म है; परस्परके संसर्गसे स्वतः ही सन्तानें बढ़ती रहती हैं।। सकाम कर्म वे हैं जो वेदोक्त रीतिसे स्वर्गादि सुखोंकी इच्छासे किये जायँ। निष्काम कर्म वे हैं, जो भगवत्-प्रीतिके ही लिये बिना किसी सांसारिक इच्छाके कर्तव्य समझकर किये जायँ, प्रभु-प्रसन्नता ही जिनका एकमात्र लक्ष्य हो। निष्काम कर्म करनेवाले कुल दो प्रकारके होते हैं—एक तो वीर्यजन्य कुल और दूसरा शब्दजन्य कुल। जो वंशपरम्परासे उत्पन्न होते हैं वे वीर्यजन्य कुल कहलाते हैं और जो शिष्यपरम्परासे शाखा चलती है, वह शब्दजन्य कुल कहाते हैं। आजकलकी महन्ती उसी कुलका विकृत और गिरा हुआ स्वरूप है। नित्यानन्दजीद्वारा इन दोनों ही कुलोंकी सृष्टि हुई। उनके वंशज भी गोस्वामी और वैष्णवोंके गुरु हुए और उनकी शिष्य-परम्परा भी अद्यावधि विद्यमान है।

प्रकाशानन्दजीके साथ पत्र-व्यवहार

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥*

(भर्तृहरि० नी० श० ७९)

महाप्रभु गौराङ्गदेवके सार्वभौम भट्टाचार्यने एक स्तोत्रमें एक सौ आठ नाम बताये हैं । उनमेंसे एक नाम मुझे अत्यन्त ही प्रिय है, वह है 'अदोष-दर्शी' । सचमुच महाप्रभु अदोष-दर्शी थे. वे

* जो मन, वाणी और शरीरमें प्रेमरूपी अमृतसे भरे हुए हैं, उपकार-परम्पराओंसे जो त्रिभुवनको प्रसन्न करते हैं और दूसरोंके छोटे-से-छोटे गुणको भी पर्वतके समान विशाल मानकर जो मन-ही-मन प्रफुल्लित होते हैं ऐसे सच्चे सन्त इस वसुधातलपर कितने हैं ? अर्थात् पृथ्वीको अपनी पद-धूलिसे पावन बनानेवाले ऐसे सन्त-महापुरुष लाखोंमें कोई विरले ही होते हैं ।

मुखसे ही दूसरोंकी बुराई न करते हों, यही नहीं, किन्तु वे लोगोंके दोषोंकी ओर ध्यान ही नहीं देते थे। उनके जीवनमें कटुता कहीं भी नहीं पायी जाती। वे बड़ोंके सामने सदा सुशील बने रहते। संन्यासी होनेपर भी उन्होंने कभी सन्यासीपनेका अभिमान नहीं किया, सदा अपनेसे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुषोंके सामने वे नम्रतापूर्वक बर्ताव करते। सदा उनके लिये सम्मानसूचक सम्बोधनका प्रयोग करते। छोटे भक्तोंसे अत्यन्त ही स्नेहके साथ और अपने बड़प्पनको भुलाकर इस प्रकार बातें करते कि उस समय अपनेमें और उसमें किसी प्रकारका भेद-भाव न रहने देते। इन्हीं सब कारणोंसे तो भक्त इन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते और अपनेको सदा प्रभुकी इतनी असीम कृपाके भारसे दबा हुआ-सा समझते।

जहाँ अत्यन्त ही प्रेम होता है, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं। भगवान्‌का न कोई एक निश्चित रूप है, न कोई एक ही नियत नाम। नाम-रूपसे परे होनेपर भी उनके असंख्यों रूप हैं और अगणित नाम हैं। जिसे जो नाम-रूप प्रिय हो उसी नाम-रूपद्वारा प्रभु प्रकट हो जाते हैं। भगवान् प्रेममय तथा भावमय हैं। जहाँ भी प्रेम हो जाय, जिसमें भी दृढ़ भावना हो जाय, उसके लिये वही सच्चा ईश्वरका स्वरूप है, तभी तो गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

जब प्रेमपात्र अपने प्यारेकी असीम अनुकम्पाके भारसे दबने लगता है, तब उसकी स्वतः ही इच्छा होती है, कि मैं अपने प्यारेके गुणोंका बखान करूँ। वह ऐसा करनेके लिये विवश हो जाता है उससे उसकी बिना प्रशंसा किये रहा ही नहीं जाता। प्रेममें यही तो एक विशेषता है। प्रेमी अपने आनन्दको सबमें बाँटना चाहता है। वह

स्वार्थी पुरुषके समान स्वयं अकेला ही उसकी मधुमय मिठाससे तृप्त होना नहीं चाहता। दूसरोंको भी उस अद्भुत रसका आस्वादन करानेके लिये व्यग्र हो उठता है। उसी व्यग्रतामें वह विवश होकर अपने उपास्य-देवके गुण गाने लगता है।

गौड़-देशके सभी गौर-भक्त प्रभुके प्रेमसे इतने छक गये थे कि वे अपनी मस्तीको रोक नहीं सके। उन दिनों श्रीकृष्णभगवान्‌के ही मधुर नामोंका कीर्तन होता था, तबतक गौर-संकीर्तन आरम्भ नहीं हुआ था। भक्त लोग महाप्रभुमें भगवत्-भावना रखते थे। इन सबके अग्रणी थे परम शास्त्रवेत्ता श्रीअद्वैताचार्य। इसलिये उन्होंने ही पहले-पहल नीलाचलमें ही गौर-संकीर्तनका श्रीगणेश किया। तबतक गौराङ्गके सम्बन्धके पदोंकी रचना नहीं हुई थी; इसलिये अद्वैताचार्यने स्वयं ही निम्न पद बनाया—

श्रीचैतन्य नारायण करुणासागर।
दुःखितेर बन्धु प्रभु मोर दयाकर॥

इस पदकी रचना करके सभी भक्तोंसे उन्होंने इसे ताल-स्वरसे गवाया। सभी भक्त प्रेममें विभोर होकर इस पदका संकीर्तन करने लगे। महाप्रभु भी कीर्तनकी उल्लासमय आनन्दमय सुमधुर ध्वनि सुनकर वहाँ आ पहुँचे। जब उन्होंने अपने नामका कीर्तन सुना, तब तो वे उलटे पैरों ही लौट पड़े। पीछे कुछ प्रेमयुक्त क्रोध प्रकट करते हुए महाप्रभु श्रीवास पण्डितसे कहने लगे—'आपलोग यह क्या अनर्थ कर रहे हैं, कीर्तनीय तो वे ही श्रीहरि हैं, उनके कीर्तनको भुलाकर अब आपलोग ऐसा आचरण करने लगे हैं, जिससे लोगोंमें मेरा अपयश हो और परलोकमें मैं पापका भागी बनूँ।' इतनेमें ही कुछ गौड़ीय भक्त संकीर्तन करते हुए जगन्नाथजीके दर्शनोंसे लौटकर प्रभुके दर्शनोंके लिये आ रहे

थे। वे जोरोंसे 'जय चैतन्यकी' 'जय सचल जगन्नाथकी' 'जय संन्यासी-वेषधारी कृष्णकी' आदि जयजयकार करते आ रहे थे। तब श्रीवासने कहा—'प्रभो! हमें तो आप जो आज्ञा देंगे वही करेंगे। किन्तु हम संसारका मुख थोड़े ही बन्द कर सकते हैं। आप ही बतावें इन्हें किसने सिखा दिया है?' इससे महाप्रभु कुछ लज्जित-से होकर चुपचाप बैठे रहे, उन्होंने इस बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। पीछे ज्यों-ज्यों लोगोंका उत्साह बढ़ता गया; त्यों-त्यों भगवान्के नामोंके साथ निताई गौरका नाम भी जुड़ता गया। पीछेसे तो निताई-गौरका ही कीर्तन प्रधान बन गया।

अधिकांश भक्तोंका भाव इनके प्रति सचमुच ईश्वरपनेका था। इतनेपर भी ये सदा सावधान ही बने रहते। अपनेको सदा दासानुदास ही समझते और कभी किसीके सामने अपनी भगवत्ता स्वीकार नहीं करते। इनके भक्त भिन्न-भिन्न प्रकृतिके थे। बहुत-से तो इन्हें वात्सल्य-भावसे ही प्यार करते, ये भी उन्हें सदा पितृभावसे पूजते तथा मानते थे। दामोदर पण्डितसे तो पाठक परिचित ही होंगे। प्रभुने उन्हें घरपर माताकी सेवा-शुश्रूषाके निमित्त नवद्वीप भेज दिया था। एक बार जब वे पुरीमें प्रभुसे मिलने आये तो वैसे ही बातों-ही-बातोंमें माताका कुशल-समाचार पूछते-पूछते प्रभुने कहा—'पण्डितजी! माता कृष्ण-भक्ति करती हैं न?' बस, फिर क्या था, दामोदर पण्डितका क्रोध आवश्यकतासे अधिक बढ़ गया। वे माताके चरणोंमें बड़ी श्रद्धा रखते थे और स्पष्ट-वक्ता ऐसे थे, कि प्रभुका जो भी कार्य उन्हें अशास्त्रीय या अनुचित प्रतीत होता उसे उसी समय सबके सामने ही कह देते। प्रभुके ऐसा पूछनेपर उन्होंने रोषके साथ कहा—'प्रभो! माताकी भक्तिके सम्बन्धमें आप पूछते हैं? तो सच्ची बात तो यह है, कि आपमें जो कुछ थोड़ी-बहुत भगवद्भक्ति दीखती है, यह सब माताकी ही कृपाका फल है।'

दामोदर पण्डितके ऐसे उत्तरको सुनकर प्रभु प्रेममें विभोर हो गये और प्रेममयी माताके स्नेहका स्मरण करते हुए गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'पण्डितजी ! आपने बिल्कुल सत्य बात कह दी। अहा, माताकी भक्तिको कोई क्या समझ सकेगा ? आपने ही यथार्थमें माताको समझा है। सचमुच मेरे हृदयमें जो भी कुछ कृष्ण-भक्ति है वह माताका ही प्रसाद है। हाय ! ऐसी प्रेममयी जननीको भी छोड़कर मैं चला आया।' इतना कहते-कहते प्रभु वस्त्रसे मुख ढककर रुदन करने लगे। यह उन महापुरुषकी दशा है, जिन्हें भक्त साक्षात् 'सचल जगन्नाथ' समझते थे। उन्होंने दामोदर पण्डितके इस रूखे उत्तरका कुछ भी बुरा न मानकर उलटी उनकी प्रशंसा ही की। तभी तो आज असंख्यों पुरुष गौर-चरणोंका आश्रय ग्रहण करके असीम आनन्दका अनुभव कर रहे हैं और अपने मनुष्य-जीवनको धन्य बना रहे हैं।

महाप्रभुकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी थी। साधारण जनतामें ही नहीं, किन्तु विद्वन्मण्डलीमें भी इनके अद्भुत प्रभावकी चर्चा होने लग गयी थी। सार्वभौम भट्टाचार्यकी विद्वत्ता, धारणा-शक्ति और पढ़ानेकी सुगम और सरल शैलीकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो चुकी थी। काशीके विद्वत्समाजमें उनका नाम गौरवके साथ लिया जाता था। उन दिनों काशीमें प्रकाशानन्द सरस्वती नामक एक दण्डी संन्यासी परम विद्वान् और वेदान्त-शास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे। वे सार्वभौमकी अलौकिक प्रतिभा और प्रचण्ड पाण्डित्यसे परिचित थे। उन्होंने जब सुना कि पुरीमें एक नवीन अवस्थाका युवक संन्यासी विराजमान है और सार्वभौम-जैसे विद्वान् अपने वेदान्त-ज्ञानको तुच्छ समझकर उसके चरणोंमें भक्ति करते हैं और उसे साक्षात् ईश्वर समझते हैं, तब तो उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ। तबतक उनकी अद्वैत-वेदान्तमें निष्ठा थी, वैसे वे सरस और

प्रेमी हृदयके थे, किन्तु अभीतक उनकी सरसता छिपी ही हुई थी, उसे किसी भारी चीजकी ठेस नहीं लगी थी जिससे वह छलककर प्रस्फुटित हो सकती। उन्होंने कौतुकवश एक श्लोक लिखकर जगन्नाथजी आनेवाले किसी गौड़ीय भक्तके हाथों प्रभुके पास भेजा। वह श्लोक यह था—

यत्रास्ते मणिकर्णिका मलहरी स्वर्दीर्घिका दीर्घिका
रत्नं तारकमोक्षदं मृततनौ शम्भुः स्वयं यच्छति।
एतस्त्वद्भुतमेव यत् सुरपुरो निर्वाणमार्गस्थितात्
मूढोऽन्यत्र मरीचिकासु पशुवत् प्रत्याशया धावति॥

इस श्लोकमें ज्ञानको प्रधानता दी गयी और मोक्षको ही परम पुरुषार्थ बताकर उसीकी प्राप्तिके लिये संकेत किया गया है। इसका भाव यह है—'जिस स्थानपर मणिकर्णिका-कुण्ड और पाप-ताप-हारिणी सुरदीर्घिका भगवती भागीरथी हैं, जहाँ मुर्देको देवाधिदेव भगवान् शूलपाणि स्वयं मोक्षको देनेवाले तारकरत्नको प्रदान करते हैं: मूर्खलोग ऐसी परम पावन मोक्षके मार्गमें स्थित सुरपुरीका परित्याग करके पृथ्वीपर पशुके समान इधर-उधर भटकते फिरते हैं, यही आश्चर्य है!'

गौड़ीय भक्तने यथासमय नीलाचल पहुँचकर पूज्यपाद प्रकाशानन्दजीका पत्र प्रभुके पादपद्मोंमें समर्पित किया। प्रभु पत्रको पाकर और प्रकाशानन्दजीका नाम सुनकर बहुत अधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने बड़े ही आदरके सहित पत्रको स्वयं खोला और खोलकर पढ़ने लगे। श्लोकको पढ़ते ही प्रभु उसका भाव समझ गये और मन्द-मन्द मुस्कराते हुए वे सार्वभौम आदि भक्तोंकी ओर देखने लगे। भक्तोंके जिज्ञासा करनेपर स्वरूपदामोदरने वह पत्र पढ़कर उपस्थित सभी भक्तोंको सुना दिया। प्रभुने श्रीपाद प्रकाशानन्दजीके पाण्डित्यकी प्रशंसा की और उनके सम्मानार्थ स्वरूप गोस्वामीसे एक श्लोक लिखवाकर उसी भक्तके हाथ उत्तरस्वरूपमें उनके पास भिजवा दिया। वह श्लोक यह है—

धर्माम्भो मणिकर्णिका भगवतः पादाम्बु भागीरथी
काशीनामपतिरर्द्धमेव भजते श्रीविश्वनाथः स्वयम्।
एतस्यैव हि नाम शम्भुनगरे निस्तारकं तारकं
तस्मात्कृष्णपदाम्बुजं भज सखे! श्रीपादनिर्वाणदम्॥

'जिनके पसीनेके जलसे मणिकर्णिकाकी उत्पत्ति हुई है, भगवती भागीरथी जिनके चरण-जलसे उत्पन्न हुई हैं, स्वयं साक्षात् काशीपति भगवान् विश्वनाथ जिनके आधे अङ्ग बने हुए हैं। और काशी-नगरीमें जिनका तारक नाम ही जीवोंको संसार-सागरसे तारनेमें समर्थ है। हे सखे! ऐसे मोक्षदायक श्रीकृष्ण-चरणोंका भजन तुम क्यों नहीं करते। अर्थात् उन्हीं चरणारविन्दोंका चिन्तन करो।' इस श्लोकमें भगवत्-भक्तिको प्रधानता दी गयी है और मुक्तिको भक्तिके सामने तुच्छ बताया है।

इस उत्तरको पाकर स्वामी प्रकाशानन्दजी महाराजकी क्या दशा हुई होगी, इसे तो वे ही जानें, किन्तु उन्होंने थोड़े दिनोंके बाद एक श्लोक प्रभुके पास और भेजा। महाप्रभुका नियम था कि वे भगवान्के प्रसाद पानेमें आगा-पीछा नहीं करते थे। मन्दिरका प्रसाद जब भी उन्हें मिल जाता तभी उसे मुँहमें डाल देते थे। भक्तवृन्द उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे, इसलिये वे इन्हें नित्य ही बहुत बढ़िया-बढ़िया विविध प्रकारके पदार्थ खिलाया करते थे। प्रभु भी उनकी प्रसन्नताके निमित्त सभी प्रकारके पदार्थोंको खा लेते और दिनमें अनेकों बार। यह संन्यासके साधारण नियमके विरुद्ध आचरण है। संन्यासीको तो एक बार ही भिक्षामें जो रूखा-सूखा अन्न मिल जाय, उसीसे उदर-पूर्ति कर लेनी चाहिये। उसे विविध प्रकारके रसोंका पृथक्-पृथक् स्वाद नहीं लेना चाहिये, किन्तु महाप्रभु तो प्रेमी थे। वे संन्यासी भी थे किन्तु

पहले प्रेमी और पीछे संन्यासी। प्रेमके सामने वे संन्यास-नियमोंको कभी-कभी स्वतः ही भूल जाते, कहावत भी है 'प्रेममें नियम नहीं।' सचमुच वे प्रेमी भक्तोंके प्रेमके वशीभूत होकर उनकी प्रसन्नताके निमित्त नियमोंकी विशेष परवा नहीं करते थे। इसे मस्तिष्कप्रधान विचारक कैसे समझ सकता है ? वह तो नियमोंको ही ईश्वर समझता है और कठोरता तथा हठके साथ नियमोंका पालन करता है। ऐसा पुरुष भी वन्दनीय और पूजनीय है, किन्तु दूसरोंको भी ऐसा ही बननेके लिये आग्रह करना ठीक नहीं। प्रेमीका तो पथ ही दूसरा है। 'गोकुल गाँवको पैंडो ही न्यारो' प्रेमियोंकी मथुरा तो तीन लोकोंसे न्यारी ही है। प्रकाशानन्दजीने नियमोंकी कठोरता दिखाते हुए भर्तृहरिशतकके शृङ्गारशतकका निम्नलिखित श्लोक लिखकर प्रभुके पास भेजा—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम् ॥

इसका भाव यह है कि विश्वामित्र, पराशर प्रभृति ऋषि-महर्षि सहस्रों वर्षपर्यन्त वायु-भक्षण करके तथा सूखे पत्ते खाकर घोर तप करते रहे, इतनेपर भी वे स्त्रीके कमलरूपी मनोहर मुखको देखकर मोहित हो गये। जब इतने-इतने बड़े संयम करनेवाले महर्षियोंकी यह दशा है, तो जो नित्यप्रति बढ़िया चावल, दूध, दही, घृत तथा इनके बने हुए भाँति-भाँतिके पदार्थोंको रोज ही खाते हैं, उनकी इन्द्रियोंका यदि वशमें रहना सम्भव है तो विन्ध्याचल-पर्वतका भी समुद्रके ऊपर तैरते रहना सम्भव हो सकता है। अर्थात् ऐसे पदार्थोंको खाकर इन्द्रियोंका संयम करना असम्भव है।

महाप्रभुने इस श्लोकको पढ़ा, पढ़ते ही उन्हें कुछ लज्जा-सी आयी और विरक्तभावसे उन्होंने यह पत्र स्वरूपदामोदरके हाथमें दे दिया। स्वरूप-दामोदरजीने कुछ रोषके स्वरमें कहा—'मैं इसका अभी उत्तर देता हूँ।'

महाप्रभुने अत्यन्त ही सरलतासे कहा—'इसका उत्तर हो ही क्या सकता है? गालीका उत्तर गाली ही हो सकती है और विवेकी पुरुष गाली देना उचित नहीं समझते इसीलिये वे दूसरोंकी गाली सुनकर मौन ही रह जाते हैं। वे कैसी भी गालीका उत्तर नहीं देते। इसलिये अब इसका उत्तर देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। बात ठीक ही है। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् होती हैं, वे विद्वानोंको भी अपनी ओर खींच लेती हैं।'

महाप्रभुकी आज्ञासे उस समय तो सभी भक्त चुप रह गये, किन्तु सभीमें महाप्रभुके समान सहनशीलता नहीं हो सकती। इसलिये भक्तोंने प्रभुके परोक्षमें नीचेका श्लोक लिखकर प्रकाशानन्दजीके पास इस श्लोकका उत्तर भेज दिया—

सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी
संवत्सरेण कुरुते रतिमेकवारम्।
पारावतस्तृणशिखाकणमात्रभोगी
कामी भवेदनुदिनं वद कोऽत्र हेतुः॥

अर्थात् 'महाबली सिंह शूकर और हाथियोंका पुष्टकारी मांस ही खाता है फिर भी वर्षभरमें केवल एक ही बार काम-क्रीडा करता है। (किसी-किसीका कथन है कि सिंह सम्पूर्ण आयुमें ही एक बार रति करता है) इसके विपरीत कपोत साधारण तृणोंके अग्रभाग तथा कंकड़ आदिको ही खाकर जीवन-निर्वाह करता है, फिर भी नित्यप्रति काम-क्रीडा करता है। (कपोतके समान कामी पक्षी दूसरा कोई है ही नहीं, वह दिनमें अनेकों बार रति करता है।) यदि भोजनके ही ऊपर कामी

होना और न होना अवलम्बित हो, तो बताओ इस वैषम्यका क्या कारण है ?' पता नहीं इस श्लोकका श्रीपाद प्रकाशानन्दजीपर क्या असर हुआ, किन्तु इसके बाद फिर पत्र-व्यवहार बन्द ही हो गया। सार्वभौम भट्टाचार्यने महाप्रभुसे आज्ञा माँगी कि हमें काशी जानेकी आज्ञा दीजिये। हम वहाँ प्रकाशानन्दजीको शास्त्रार्थमें पराजित करके, उन्हें भक्ति-तत्त्व समझा आवेंगे। महाप्रभुको शास्त्रार्थ और जय-पराजय ये सांसारिक प्रतिष्ठाके कार्य पसन्द नहीं थे। भगवद्भक्त किसे पराजित करे। सभी तो उसके इष्टदेवके स्वरूप हैं। इसलिये सभीको 'सीयराम' समझकर वह हाथ जोड़े हुए प्रणाम ही करता है—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुगपानी ॥

किन्तु सार्वभौम कैसे भी भक्त सही, उन्हें अपने शास्त्रका कुछ-न-कुछ थोड़ा-बहुत अभिमान तो था ही। भक्तोंके सामने वह दबा रहता था और अभिमानियोंके सम्मुख प्रस्फुटित हो जाता था। महाप्रभुके मने करनेपर भी उन्होंने काशी जानेके लिये प्रभुसे आग्रह किया। महाप्रभुने उनकी उत्कट इच्छा देखकर काशीजी जानेकी आज्ञा दे दी। वे काशी गये भी। किन्तु वहाँसे जैसे गये थे वैसे ही लौट आये, न तो वे महामहिम प्रकाशानन्दजीको शास्त्रार्थमें पराजित ही कर सके और न उन्हें ज्ञानीसे भक्त ही बना सके। इससे वे कुछ लज्जित भी हुए और महाप्रभुके सामने आनेमें संकोच करने लगे। तब महाप्रभु स्वयं उनसे जाकर मिले और उन्हें सान्त्वना देते हुए कहने लगे—'आपका कार्य बड़ा ही स्तुत्य था। भक्तिविहीन जीवोंको भक्ति-मार्गमें लानेकी इच्छा किसी भाग्यशाली महापुरुषके ही हृदयमें होती है।' महाप्रभुके इन सान्त्वनापूर्ण वाक्योंसे सार्वभौमकी लज्जा कुछ कम हुई। इस घटनाके अनन्तर उनका प्रेम महाप्रभुके चरणोंमें और भी अधिक बढ़ गया।

पुरीमें गौड़ीय भक्तोंका पुनरागमन

अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम् ।
अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं प्रियदर्शनम् ॥*

(सु० र० भां० १७१ । ५०८)

जो सचमुच हमारे हृदयको अत्यन्त ही प्यारा लगता हो, हृदय जिसके लिये तड़फता रहता हो, यदि ऐसे प्यारेके कहीं दर्शन मिल जायँ तो हृदयमें कितनी अधिक प्रसन्नता होती होगी, इसका अनुभव सहृदय सच्चे प्रेमी ही कर सकते हैं । अपने प्यारेके निमित्त दुःख सहनेमें भी एक प्रकारका सुख प्रतीत होता है । प्यारेके स्मरणमें आनन्द है, उसके कार्य करनेमें स्वर्गीय सुख है, उसके लिये तड़फनेमें मधुरिमा है और उसके वियोगजन्य दुःखमें भी एक प्रकारका मीठा-मीठा सुख ही है । सम्मिलनमें क्या है इसे बताना हमारी बुद्धिके बाहरकी बात है ।

रथ-यात्राको उपलक्ष्य बनाकर गौड़ीय भक्त प्रतिवर्ष नवद्वीपसे नीलाचल आते थे । वर्तमान समयके तीर्थ-यात्रीगण उस समयके तीर्थ-यात्रियोंके दुःखका अनुमान लगा ही नहीं सकते । उस समय सर्वत्र पैदल ही यात्रा की जाती थी । रास्तेमें अनेक नदी-नद पड़ते थे, उन्हें नावोंद्वारा पार करना होता था । घटवारिया यात्रियोंको भाँति-भाँतिके क्लेश देते थे

---

* संसारमें भिन्न-भिन्न प्रकृतिके पुरुष होते हैं, उन्हें जो चीजें अत्यन्त ही प्रिय प्रतीत होती हैं, उनके लिये वे ही वस्तुएँ अमृत हैं । मान-प्रतिष्ठा चाहनेवालेको 'राजसम्मान' ही अमृत है । स्वादिष्ट पदार्थ खानेवालोंके लिये क्षीरका भोजन ही अमृत है । गरीब लोगोंके लिये जाड़ेमें अग्नि ही अमृतके समान है और प्रेमियोंको अपने प्यारेका दर्शन हो जाना ही अमृत-तुल्य है । साधारणतया ये चारों बातें सभी लोगोंको प्रिय होती हैं ।

और बहुत-से लोगोंको तो दो-दो, तीन-तीन दिनतक पार होनेके लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती थी । थोड़ी-थोड़ी दूरपर राज्यसीमा बदल जाती । विधर्मी शासक तीर्थ-यात्रा करनेवाले स्त्री-पुरुषोंकी विशेष परवा ही नहीं करते थे । परस्पर एक राजासे दूसरे राजाके साथ युद्ध होता रहता । युद्धकालमें यात्रियोंको भाँति-भाँतिकी असुविधाएँ उठानी पड़तीं, अपने ओढ़ने-बिछानेके वस्त्र स्वयं लादने पड़ते और धीरे-धीरे पूरी यात्रा पैदल ही समाप्त करनी पड़ती । इन्हीं सब बातोंके कारण उस समय तीर्थ-यात्रा करना एक कठिन कार्य समझा जाता था ।

नवद्वीपसे जगन्नाथजीका बीस-पचीस दिनका पैदल रास्ता है, इतने दुःख होनेपर भी गौर-भक्त बड़े ही उल्लास और आनन्दके सहित प्रभु-दर्शनोंकी लालसासे नीलाचल प्रतिवर्ष आते । पहले तो प्रायः पुरुष ही आया करते थे और बरसातके चार मास प्रभुके साथ रहकर अपने-अपने घरोंको लौट जाते । दूसरे वर्षसे भक्तोंकी स्त्रियाँ भी आने लगीं और प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको धन्य बनाने लगीं । दूसरे वर्ष दो-चार परम भक्ता माताएँ आयी थीं, तीसरे वर्ष प्रायः सभी भक्तोंकी स्त्रियाँ अपने छोटे-छोटे बच्चोंको साथ लेकर प्रभु-दर्शनोंकी इच्छासे नीलाचल चलनेके लिये प्रस्तुत हो गयीं । उन्हें घरका, कुटुम्ब-परिवारका तथा रुपये-पैसेका कुछ भी ध्यान नहीं था । उनके लिये तो 'अवध तहाँ जहँ रामनिवासू' वाली कहावत थी । उनका सच्चा घर तो वही था जहाँ उनके प्रभु निवास करते हैं, इसलिये पतियोंके मार्गके भय दिखानेपर भी वे भयभीत न हुईं और विष्णुप्रियाजीसे पूछ-पूछकर प्रभुको जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय थे उन्हें ही बना-बनाकर प्रभुके लिये साथ ले चलने लगीं । किसीने प्रभुके लिये लड्डू ही बाँधे हैं, तो कोई भाँति-भाँतिके मुरब्बे तथा अचारोंको ही साथ ले चली है । किसीने सन्देश बनाये हैं, तो किसीने वर्षोंतक न बिगड़नेवाली विविध प्रकारकी खोयेकी मिठाइयाँ ही बनायी हैं । इस

प्रकार सभी भक्त और उनकी स्त्रियाँ प्रभुके निमित्त विविध प्रकारके उपहार और खाद्य पदार्थ लेकर नीलाचलके लिये तैयार हुए। पानीहाटी-निवासी राघव पण्डितकी भगिनी महाप्रभुके चरणोंमें बड़ी श्रद्धा रखती थी, वह प्रतिवर्ष सुन्दर-सुन्दर सैकड़ों वस्तुएँ बनाकर एक बड़ी-सी झालीमें रखकर राघव पण्डितके हाथों प्रभुके पास भेजती। उसकी चीजें कितने दिन भी क्यों न रखी रहें न तो सड़ती थीं और न खराब होती थीं। भक्तोंमें 'राघव पण्डितकी झाली' प्रसिद्ध थी। प्रभु भी राघवकी झालीकी चीजोंको बहुत दिनोंतक सुरक्षित रखते थे। नवद्वीप, पानीहाटी, कुलीन-गाँव, खण्डग्राम तथा शान्तिपुर आदि सभी स्थानोंके भक्त एकत्रित होकर सबसे पहले शचीमाताके आँगनमें एकत्रित होते और माताकी चरण-धूलि सिरपर चढ़ाकर उनकी आज्ञा लेकर ही वे प्रस्थान करते। अबके माताने देखा चन्द्रशेखर आचार्यरत्नके साथ उनकी गृहिणी अर्थात् शचीमाताकी भगिनी भी जा रही है। अपने बच्चोंके सहित आचार्यपत्नी सीतादेवी भी नीलाचल जानेको तैयार है। श्रीवास पण्डितकी पत्नी मालिनीदेवी, शिवानन्द सेनकी स्त्री तथा उनका पुत्र चैतन्यदास, सपत्नीक मुरारी गुप्त ये सभी यात्रिक वेशमें खड़े हुए हैं। डबडबायी आँखोंसे और रुँधे हुए कण्ठसे माताने सभीको जानेकी आज्ञा प्रदान की और रोते-रोते उन्होंने कहा—'तुम्हीं सब बड़े भाग्यवान् हो, जो पुरी जाकर निमाईके कमलमुखको देखोगे, न जाने मेरा भाग्योदय कब होगा, जब उस सुवर्णरङ्गवाले निमाईके सुन्दर मुखको देखकर अपने हृदयको शीतल बना सकूँगी। तुम सभी उससे कहना कि उस अपनी दुःखिनी माताको एक बार आकर दर्शन तो दे जाय। मैं उसके कमलमुखको देखनेके लिये कितनी व्याकुल हूँ।' इसी प्रकार अपनी उम्रकी स्त्रियोंसे विष्णुप्रियाजीने भी संकेतसे यही अभिप्राय प्रकट किया। सभी स्त्री-पुरुष मातृचरणोंकी वन्दना करते हुए पुरीको चल दिये।

हरि-कीर्तन करते हुए किसीको भी रास्तेका कष्ट प्रतीत नहीं हुआ। सभी जगन्नाथपुरीमें पहुँच गये।

भक्तोंका आगमन सुनकर महाप्रभुने उनके स्वागतके लिये पहलेसे ही स्वरूप गोस्वामी तथा गोविन्द आदि भक्तोंको भेज दिया था। इन सभीने जाकर भक्तोंके अग्रणी अद्वैताचार्यके चरणोंमें प्रणाम किया और उन्हें मालाएँ पहनायीं। फिर महाप्रभु भी आकर मिल गये और सभीको धूमधामके साथ अपने स्थानको ले गये। सभीके ठहरने तथा प्रसाद आदि-का पूर्वकी ही भाँति प्रबन्ध कर दिया गया। भक्तोंकी बहुत-सी स्त्रियोंने पहले ही पहल प्रभुको संन्यासी-वेशमें देखा था। वे प्रभुके ऐसे भिक्षुक वेष देखकर जोरोंसे रुदन करने लगीं। भक्तोंकी स्त्रियाँ बारी-बारीसे प्रभुको भिक्षा कराने लगीं। महाप्रभु बड़े ही प्रेमके साथ सभीके निमन्त्रणको स्वीकार करके उनके स्थानोंपर जा-जाकर भिक्षा करने लगे। पूर्वकी ही भाँति 'रथ-यात्रा, हीरापञ्चमी, जन्माष्टमी, दशहरा और दीपावली' आदिके उत्सव मनाये गये। गौड़ीय भक्त संकीर्तन करते-करते उन्मत्त हो जाते थे और बेसुध होकर कीर्तनमें लोट-पोट हो जाते। महाप्रभु सबके साथ जोरोंसे नृत्य करते। एक दिन नृत्य करते-करते महाप्रभु कुएँमें गिर पड़े। तब भक्तोंने उन्हें निकाला, महाप्रभुके शरीरमें किसी प्रकारकी चोट नहीं लगी।

महाप्रभु पुरीमें भक्तोंकी विविध प्रकारसे इच्छा पूर्ण किया करते थे। भक्त उन्हें जिस प्रकार भी खिला-पिलाकर सन्तुष्ट होना चाहते थे, प्रभु उनकी इच्छानुसार उसी प्रकार भिक्षा करके उन्हें सन्तुष्ट करते थे।

क्वारके दशहरेके पश्चात् सभी भक्त लौटनेके लिये प्रस्तुत हुए। प्रभु पहलेकी भाँति फिर एक-एकसे अलग-अलग मिले और उनसे उनकी मनकी बातें पूछीं। कुलीनग्रामनिवासी प्रभुकी आज्ञानुसार प्रतिवर्ष जगन्नाथजीके लिये पट्टडोरी लाया करते थे। वे प्रतिवर्ष महाप्रभुसे वैष्णवके लक्षण पूछते।

पहले वर्ष पूछनेपर प्रभुने बताया था-'जिसके मुखसे एक बार भी भगवन्नामका उच्चारण हो गया वही वैष्णव है।'

दूसरे वर्ष पूछनेपर आपने कहा-'जो निरन्तर भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करता रहे वही वैष्णव है।'

तीसरे बार फिर वैष्णवकी परिभाषा पूछनेपर प्रभुने कहा—'जिसे देखते ही लोगोंके मुखोंमेंसे स्वतः ही श्रीहरिके नामोंका उच्चारण होने लगे वही वैष्णव है।' इस प्रकार तीन वर्षोंमें प्रभुने वैष्णव, वैष्णवतर और तम तीन प्रकारके भक्तोंका तत्त्व बताया। महाप्रभुने सभीको उपदेश किया कि वे वैष्णवमात्रके प्रति श्रद्धाके भाव रखें। वैष्णव चाहे कैसा भी क्यों न हो, वह पूजनीय ही है।

इस प्रकार जिसने भी जो प्रश्न पूछा उसीका प्रभुने उत्तर दिया। अद्वैताचार्यको भक्तोंके देख-रेख करते रहनेके लिये प्रभुने फिरसे उन्हें सचेष्ट किया। भक्तोंको नवद्वीपसे नीलाचल लाने और रास्तेमें उनके सभी प्रकारके प्रबन्ध करनेका भार प्रभुने शिवानन्द सेनके ऊपर दिया था। उन्हें फिरसे प्रभुने समझाया कि सभीको खूब सावधानीपूर्वक लाया करें।

नित्यानन्दजीसे प्रभुने निवेदन किया—'श्रीपाद! आप प्रतिवर्ष नीलाचल न आया करें। वहीं रहकर संकीर्तनका प्रचार किया करें।' इस प्रकार सभीको समझा-बुझाकर प्रभुने विदा किया। सभी रोते-रोते प्रभुको प्रणाम करके गौड़-देशकी ओर चले गये। केवल पुण्डरीक विद्यानिधि कुछ कालतक महाप्रभुके साथ पुरीमें ही और रहना चाहते थे इसलिये प्रभु उनके साथ अपने स्थानपर लौट आये। विद्यानिधिको प्रभु प्रेमके कारण 'प्रेमनिधि' के नामसे सम्बोधन किया करते थे। उनकी स्वरूपदामोदरके साथ बहुत अधिक प्रगाढ़ता हो गयी थी। गदाधर इनके मन्त्र-शिष्य थे ही, इसलिये वे इनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे।

कारके बाद शीतकी जो पहली षष्ठी होती है, उसे 'ओढनषष्ठी' कहते हैं। उस दिन जगन्नाथजीको सर्दीके वस्त्र उढ़ाये जाते हैं। उस दिन भगवान्‌के शरीरपर बिना धुले माड़ी लगे हुए वस्त्रोंको देखकर विद्यानिधि-को बड़ी घृणा हुई। उसी दिन रात्रिमें भगवान्‌ने बलरामजीके सहित हँसते-हँसते इनके कोमल गालोंपर खूब चपतें जमायीं। जागनेपर इन्होंने देखा कि सचमुच इनके गाल फूले हुए हैं, इससे इन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। महाप्रभु इनके और स्वरूपदामोदरके साथ कृष्ण-कथा कहने-सुननेमें सबसे अधिक आनन्दका अनुभव करते थे। कुछ कालके अनन्तर महाप्रभु-की आज्ञा लेकर ये अपने स्थानके लिये लौट आये।

इसी प्रकार चार वर्षोंतक भक्त महाप्रभुके पास प्रतिवर्ष रथ-यात्राके समय बराबर आते रहे। पाँचवें वर्ष प्रभुने भक्तोंसे कह दिया कि अबके हम स्वयं ही वृन्दावन जानेकी इच्छासे गौड़-देशमें आकर जननी और जन्म-भूमिके दर्शन करेंगे। अबके आपलोग न आवें। इस बातसे सभी भक्तोंको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। महाप्रभु जबसे दक्षिणकी यात्रा समाप्त करके आये थे, तभीसे वृन्दावन जानेके लिये सोच रहे थे, किन्तु रामानन्दजी, सार्वभौम तथा महाराज प्रतापरुद्रजीके अत्यधिक आग्रहके कारण अभी-तक न जा सके। अब उनकी वृन्दावन जानेकी इच्छा प्रबल हो उठी। इससे पुरी-निवासी भक्तोंने भी उन्हें अधिक विवश करना नहीं चाहा। दुःखित मनसे उन्होंने प्रभुको वृन्दावन जानेकी सम्मति दे दी। अब महाप्रभु वृन्दावन जाकर अपने प्यारे श्रीकृष्णकी लीलास्थलीके दर्शनों-के लिये बहुत अधिक उत्सुकता प्रकट करने लगे। वे वृन्दावन जानेकी तैयारियाँ करने लगे।*

---

* आगेकी पुण्य लीलाओंके लिये चौथा खण्ड देखनेकी प्रार्थना है।

श्रीहरिः

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

(चतुर्थ खण्ड)

कृष्ण कृष्णेति भाषन्तं सुस्वरं सुमनोहरम् ।
यतिवेषधरं सौम्यं श्रीचैतन्यं नमाम्यहम् ॥

लेखक—

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्रीहरिः

विषय-सूची

श्रीहरिः

चित्र-सूची

श्रीहरिः

समर्पण

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥

क्या करना चाहते हो तुम, प्यारे ! तुम्हारी माया तुम्हीं जानो। जहाँ मैं समाप्ति करना चाहता हूँ, वहाँ तुम असमाप्ति कर देते हो और जहाँ असमाप्ति चाहता हूँ वहाँ तुम्हारे कार्यकी समाप्ति हो जाती है। फिर मुझ मूढ़मतिका चाहना ही व्यर्थ है। प्यारे ! मेरे इस चञ्चल मनको ऐसा बना दो कि मैं कुछ चाहूँ ही नहीं। तुम्हारी चाहमें ही मस्त रहूँ। तुम्हारी इच्छापर ही अवलम्बित रहूँ। क्यों ठीक है न नाथ ! क्या बना दोगे मेरे मनको ऐसा ? क्या मेरी 'अपनी चाह' को मिटा दोगे ? तुम्हारी चाह अमोघ है, उसमें न राईभर घट सकता है और न तिलभर बढ सकता है। लो, यह तुम्हारी चाह पूरी हुई। अपनी वस्तुको सम्हालो।

वैशाखी पूर्णिमाकी सन्ध्या
संवत् १९८९

तुम्हारा ही
"प्रभु"

प्राक्कथन

नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥*

(श्रीमद्भा० १० । ६४ । २९)

उस काले कृष्णकी लीलाको कौन जान सकता है ? जिस मनुष्यमें जितना ही अधिक अज्ञान होगा, वह उतना ही अधिक आगेका कार्यक्रम बनावेगा । न जाने मनुष्य निरन्तर कितनी-कितनी बातें सोचता रहता है । किन्तु 'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा' रामके रचेमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता । क्योंकि सत्यसंकल्प तो राम ही हैं, अल्पज्ञ प्राणीके संकल्प तो क्षणिक और अस्थायी होते हैं ।

पहले दो भागोंमें इस चरित्रको समाप्त करनेका विचार था, फिर सोचा, चार भागोंमें ठीक रहेगा । पहलेमें जन्मसे लेकर संकीर्तनके आरम्भतक, दूसरेमें संन्यासके लिये गृहत्यागतक, तीसरेमें वृन्दावनके गमनतक और चौथे भागमें पुरीकी स्फुट घटनाएँ और गम्भीरा-लीला लिखकर इसे

* सर्वभाव भगवान्के लिये नमस्कार है, ब्रह्मके लिये नमस्कार है, अनन्तशक्तिके लिये नमस्कार है, श्रीकृष्णके लिये नमस्कार है, वासुदेवके लिये नमस्कार है, योगियोंके अधीश्वरके लिये नमस्कार है ।

समाप्त करेंगे, किन्तु 'मेरे मन कुछ और थी, विधिनाके कुछ और' तीन खण्ड लिख जानेपर चौथा खण्ड कुछ बड़ा हो गया, फिर भी महाप्रभुकी गम्भीरा-लीला, छः गोस्वामियोंका वृत्तान्त आदि अत्यन्त आवश्यक प्रसंग रह ही गये। इसलिये चार खण्डोंमें समाप्त न होकर यह ग्रन्थ पाँच भागोंमें समाप्त हुआ और आज चौथे-पाँचवें दोनों ही खण्ड समाप्त हो गये। अब भविष्यमें क्या करायेंगे, कुछ पता नहीं। अस्तु, पाठकोंको इससे क्या, वे इस शरीरसे जो कुछ कराना चाहें करावें, किन्तु पाठक तो प्रेमसे श्रीचैतन्य-चरित्रका ही अध्ययन करें। इसलिये अब आगे अधिक बात न बढ़ाकर पाठकोंसे सविनय प्रार्थना है कि वे खूब मनोयोगके साथ शान्त, एकान्त हृदयसे दत्तचित्त होकर महाप्रभुके वृन्दावन-गमनका वृत्तान्त अगले अध्यायोंमें पढ़ना आरम्भ कर दें। इति शम्।

श्रीहरिबाबाका बाँध
वैशाखी पूर्णिमाकी अर्धरात्रि
संवत् १९८९

भक्तचरणदासानुदास—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

चाहे जान न सकूँ, यह दूसरी बात है, किन्तु बाँसकी छिद्रोंवाली पोली मुरली, आकाशके समान नीला रंग, चमकीला किनारीदार पीला पीताम्बर, अरुण रंगके पतले और गुलगुलेसे प्यारे-प्यारे ओष्ठ, मन्द-मन्द मुसकराहटयुक्त मनोहर मुख और बड़े-बड़े कटीले कटाक्षोयुक्त कमलके समान सुन्दर नेत्र, इनके अतिरिक्त जानने योग्य कोई दूसरी वस्तु ही नहीं। इसलिये जानमें या अनजानमें इन्हीं सबके लिये मैं पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ।

श्रीविष्णुप्रियाजीको पादुकादान

श्रीहरिः

प्रभुके वृन्दावन जानेसे भक्तोंको विरह

सज्जनसङ्गो माभूद् यदि सङ्गो मास्तु तत्पुनः स्नेहः।
स्नेहो यदि मा विरहो यदि विरहो मास्तु जीवितस्याशा ॥*

(सु० र० भां० ९१ । २०)

दक्षिणकी यात्रा समाप्त करनेके अनन्तर महाप्रभुको नीलाचलमें रहते हुए चार वर्ष हो गये। वृन्दावन जानेके लिये प्रभु प्रतिवर्ष सोचते थे, किन्तु रथ-यात्राके पश्चात् भक्त कहते—चातुर्मासमें यात्रा निषेध है, वे कार्तिक आनेपर दिवाली करके जानेको कहते। फिर जाड़ा आ जाता, जाड़ा समाप्त होनेपर कहते बड़ी गर्मी है, पश्चिममें तो और भी अधिक है अब कहाँ जाइयेगा। इस प्रकार आजकल करते-करते ही चार वर्ष व्यतीत हो गये। महाप्रभु राय रामानन्दजी तथा सार्वभौम भट्टाचार्य आदि भक्तोंके प्रेम-पाशमें इस प्रकार जकड़कर बँधे हुए थे कि वे स्वेच्छासे

* उत्तम बात तो यह है कि सज्जनोंका सङ्ग ही न हो, यदि कदाचित् सङ्ग हो ही जाय, तो उनसे स्नेह न हो, दैवयोगसे स्नेह भी हो जाय तो उनसे वियोग न हो और यदि वियोग हो तो फिर इस जीवनकी आशा न रहे। अर्थात् प्यारेके विरहकी अपेक्षा मर जाना अच्छा है।

जानेमें समर्थ होनेपर भी इन लोगोंकी सम्मति लिये बिना जाना नहीं चाहते थे। भक्तोंने जब देखा कि अबकी बार प्रभु वृन्दावन जानेके लिये तुले ही हुए हैं, तो उन्होंने विवशतापूर्वक अपनी स्वीकृति दे दी। अबके गौड़ीय भक्त रथ-यात्रा करके ही लौट गये थे, सदाकी भाँति उन्होंने चातुर्मास पुरीमें नहीं किया था। प्रभुने उनसे कह दिया था कि तुम चलो हम भी पीछेसे आयेंगे। इसी आनन्दमें भक्त प्रसन्नतापूर्वक चले गये थे।

वर्षाकाल समाप्त हो गया। क्वारका महीना आ गया। विजया-दशमीके दिन महाप्रभुने गौड़ होते हुए वृन्दावन जानेका निश्चय किया। प्रातःकाल उठकर वे नित्य-कर्मसे निवृत्त हुए। समुद्र-स्नान करके प्रभु लौटे भी नहीं थे कि इतनेमें ही, भक्तोंकी भीड़ लगनी आरम्भ हो गयी। धीरे-धीरे सभी मुख्य-मुख्य भक्त महाप्रभुके स्थानपर एकत्रित हुए। महाप्रभु सभी भक्तोंको साथ लेकर श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये चले। मन्दिरमें पहुँचकर प्रभुने भगवान्से आज्ञा माँगी, उसी समय पुजारीने माला और प्रसाद लाकर प्रभुको दिया। भगवान्की प्रसादी, माला और महाप्रसादान्न पाकर प्रभु अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए और इसे ही भगवान्की आज्ञा समझकर मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हुए वे कटककी ओर चलने लगे। प्रभुके पीछे-पीछे सैकड़ों गौड़देशीय तथा उड़िया-भक्त आँसू बहाते हुए चल रहे थे। महाप्रभु उनसे बार-बार लौटनेके लिये कहते, उनसे आग्रह करते, चलते-चलते खड़े हो जाते और सबको प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करते हुए कहते—'बस, अब हो गया। अब आपलोग अपने-अपने घरोंको लौट जायँ। पुरुषोत्तम भगवान्की कृपा होगी, तो मैं शीघ्र ही लौटकर आपलोगोंके दर्शन करूँगा।' इस प्रकार प्रभु भाँति-भाँतिसे उन्हें समझाते, किन्तु कोई पीछे लौटता ही नहीं था, लौटना तो अलग रहा, पीछेकी ओर देखनेमें भी भक्तोंका हृदय फटता था, वे प्रभुके वियोगजन्य दुःखका स्मरण आते ही जोरोंसे रुदन करने लगते।

इस प्रकार भक्तोंको आग्रह करते-करते ही प्रभु भवानीपुर आ पहुँचे। महाप्रभुने अब आगे और चलना उचित नहीं समझा, अतः यहीं रात्रि-निवास करनेका निश्चय किया। इतनेमें ही पालकीपर चढ़कर राय रामानन्दजी भी प्रभुकी सेवामें आ पहुँचे। उनके छोटे भाई वाणीनाथजी भी भगवान्‌का बहुत-सा प्रसाद कई आदमियोंसे साथ लिवाकर भवानीपुर आ उपस्थित हुए। महाप्रभुने अपने हाथोंसे जगन्नाथजीका महाप्रसाद सभी भक्तोंको आग्रहपूर्वक खूब ही खिलाया और आपने भी भक्तोंकी प्रसन्नताके निमित्त साथ ही प्रसाद पाया। रात्रिभर सभीने वहीं विश्राम किया।

महाप्रभुके अत्यन्त आग्रहसे कुछ भक्त तो पुरीको लौट गये, किन्तु बहुत-से प्रभुके साथ ही चलनेके लिये तुले हुए थे। उनमें मुकुन्द, गोविन्द दत्त, गदाधर, दामोदर पण्डित, वक्रेश्वर, स्वरूप गोस्वामी, गोविन्द, चन्दनेश्वर, सार्वभौम भट्टाचार्य तथा रामानन्द राय आदि मुख्य थे। महाप्रभु इन सबके साथ भुवनेश्वर आये और वहाँसे दर्शन करके कटक पहुँचे। वहाँपर सभीने गोपाल भगवान्‌के दर्शन किये और सभी मिलकर संकीर्तन करने लगे। इसी समय स्वप्नेश्वर नामक एक ब्राह्मणने प्रभुका निमन्त्रण किया, महाप्रभु उसका निमन्त्रण स्वीकार करके उसके यहाँ भिक्षा करने गये। शेष सभी भक्तोंको राय रामानन्दजीने भोजन कराया। महाप्रभुने एक सुन्दर-से बकुलवृक्षके नीचे अपना आसन लगाया।

राय रामानन्दजी उसी समय कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्रजीके समीप गये और वहाँ जाकर उन्होंने प्रभुके शुभागमनका समाचार सुनाया। इस सुखद समाचारके सुनते ही महाराजके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। वे अस्त-व्यस्त-भावसे प्रेममें विभोर हुए प्रभुके दर्शनोंके लिये चले। उनके पीछे उनके सभी मुख्य-मुख्य राज-कर्मचारी भी प्रभुकी चरण-वन्दना करनेके निमित्त चले। महाराज अति दीन-वेशसे आँखोंमें आँसू भरे हुए अत्यन्त

ही नम्रताके साथ नंगे ही पाँवों प्रभुके समीप जा रहे थे । उन्होंने दूर ही पालकी छोड़ दी थी और पैदल ही प्रभुके समीप पहुँचे । पहुँचते ही वे अधीर होकर प्रभुके पादपद्मोंमें गिर पड़े । महाराजको अपने पैरोंमें पड़े देखकर प्रभु जल्दीसे उठकर खड़े हो गये और उन्हें जोरोंसे आलिङ्गन करने लगे । महाप्रभुका प्रेमालिङ्गन पाकर महाराज बेसुध हो गये, प्रभुके नेत्रोंसे निरन्तर प्रेमाश्रु निकल रहे थे, वे अश्रु उन महाभाग महाराजके सभी वस्त्रोंको भिगो रहे थे । उन वस्त्रोंका भी सौभाग्य था । बड़ी देरतक यह करुण दृश्य ज्यों-का-त्यों ही बना रहा । फिर महाप्रभुने महाराजको प्रेमपूर्वक अपने समीप बैठाया और उनके शरीर, राज्य तथा कुटुम्ब-परिवारकी कुशल-क्षेम पूछी । बहुत देरतक महाराज प्रभुके समीप बैठे रहे ।

महाराजके प्रणाम कर लेनेके अनन्तर क्रमशः सभी बड़े-बड़े राज-कर्मचारियोंने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और प्रभु-कृपाकी याचना की । महाप्रभुने उन सभीपर कृपा की और वे सभीसे प्रेमपूर्वक कुछ-न-कुछ बातें करते रहे ।

महाराजने प्रभुकी यात्राके पथमें सर्वत्र ही उनके ठहरने तथा नियत समयपर जगन्नाथजीके प्रसाद पहुँचानेका प्रबन्ध कर दिया । बहुत-से आदमी पहलेसे ही तैयारी करनेके लिये भेजे गये कि जहाँ-जहाँ प्रभुका ठहरना हो, वहाँ वासस्थान तथा भोजनादिका सभी सुव्यवस्थित प्रबन्ध हो सके । महाप्रभुको पहुँचानेके लिये उन्होंने अपने हरिचन्दनेश्वर और मङ्गराज नामक दो राजमन्त्रियोंको राज्यकी सीमा पार करानेके निमित्त प्रभुके साथ कर दिये । महाप्रभुकी आज्ञा पाकर महाराज अपनी राजधानीको लौट गये ।

चाँदनी रात्रि थी, ऋतु बड़ी सुहावनी थी, न तो गर्मी थी न जाड़ा । महाप्रभुने रात्रिमें ही यात्रा करनेका निश्चय किया । महाराजकी रानियाँ भी

प्रभुके दर्शनोंके लिये उत्सुकता प्रकट कर रही थीं, इसलिये महाराजने हाथियोंपर जरीदार पर्दे डलवाकर उन्हें रास्तेके इधर-उधर खड़ा कर दिया, जिससे वे महाप्रभुके भलीभाँति दर्शन कर सकें। महाप्रभु प्रेममें पागल हुए मन्द-मन्द गतिसे उधर जाने लगे। उनके पीछे हाथी, घोड़े तथा बहुत-से लोगोंकी भीड़ चली। इस प्रकार सभी भक्तोंके सहित प्रभु चित्रोत्पला नदीके किनारे आये। वहाँ महाराजकी ओरसे नौका पहलेसे ही तैयार थी। महाप्रभुने भक्तोंके सहित चित्रोत्पला नदीको पार किया और चतुर्द्वारमें आकर समीने रात्रि व्यतीत की। जहाँसे प्रभुने चित्रोत्पलाको पार किया, वहाँ महाराजने प्रभुकी स्मृतिमें एक बड़ा भारी स्मृतिस्तूप बनवाया और उस घाटको तीर्थ मानकर स्नान करनेके निमित्त आने लगे।

गदाधर पण्डितका नाम तो पाठक जानते ही होंगे। ये महाप्रभुकी आज्ञासे क्षेत्र-संन्यास लेकर पुरीके निकट गोपीनाथजीके मन्दिरमें उनकी सेवा करते हुए निवास करते थे। किसी तीर्थमें घर-द्वारको छोड़कर प्रतिज्ञापूर्वक रहनेको क्षेत्र-संन्यास कहते हैं। वहाँ रहकर भगवत्-प्रीत्यर्थ ही सब कार्य किये जायँ, इसी सङ्कल्पसे पुरुषोत्तम-क्षेत्रमें गदाधरजी निवास करते थे। जब महाप्रभु गौड़-देशको चलने लगे, तब तो उन्हें पुरुषोत्तम-क्षेत्रमें रहना असह्य हो गया और वे सब कुछ छोड़-छाड़कर प्रभुके साथ हो लिये। महाप्रभुके चरणोंमें उनका दृढ़ अनुराग था, वे महाप्रभुको परित्याग करके क्षणभर भी दूसरी जगह रहना नहीं चाहते थे। महाप्रभुने इन्हें बहुत समझाया, किन्तु ये किसी प्रकार भी लौटनेको तैयार नहीं हुए। जब महाप्रभुने अत्यन्त ही आग्रह किया, तब प्रेमजन्य रोषके स्वरमें इन्होंने कहा—'आप मुझे विवश क्यों कर रहे हैं। जाइये, मैं आपके साथ नहीं जाता। मैं तो नवद्वीपमें शचीमाताके दर्शनोंके लिये जा रहा हूँ। आप मेरे रास्तेको तो रोक ही न लेंगे। बस, इतना ही है कि मैं आपके साथ नहीं चलूँगा।' इतना कहकर ये प्रभुसे

अलग-ही-अलग चलकर कटक होते हुए यहाँपर आकर मिल गये। महाप्रभुने इन्हें प्रेमपूर्वक समझाते हुए कहा—'देखो, तुम जिद करते हो और अपनी बातके सामने किसीकी बात मानते नहीं यह अच्छी बात नहीं है। तुम सोचो तो सही, तुम्हारे गौड़ चलनेसे दो महान् पाप होंगे, एक तो गोपीनाथ भगवान्‌की पूजा रह जायगी, दूसरे तुम्हारी प्रतिज्ञा भङ्ग हो जायगी। इसलिये तुम नीलाचल ही लौट जाओ, मैं शीघ्र लौट आऊँगा।'

प्रेमके अश्रु बहाते हुए गदाधर पण्डितने कहा—'प्रभो! आपके लिये मैं सर्वस्वका त्याग कर सकता हूँ। आपके सामने प्रतिज्ञा कैसी? प्रतिज्ञा आपके ही लिये तो की है, जहाँ आप हैं वहीं नीलाचल है, इसलिये मैं नीलाचलसे पृथक् कभी हो ही नहीं सकता।'

महाप्रभुने कहा—'बाबा, तुम्हारा तो कुछ बिगड़ेगा नहीं। पाप सब मेरे ही सिर चढ़ेगा। यदि तुम मुझे पापी बनाना चाहते हो, तो भले ही मेरे साथ चलो, नहीं तो पुरी लौट जाओ।'

अधीरताके साथ गदाधर गोस्वामीने कहा—'प्रभो! सभी पाप मेरे सिर हैं। मैं सभी पापोंको सह लूँगा, किन्तु आपका वियोग नहीं सह सकता।'

तब महाप्रभुने कठोरताके साथ कहा—'गदाधर! तुम मुझे प्रसन्न करना चाहते हो, तो अभी पुरीको लौट जाओ। तुम्हारे साथ चलनेसे मुझे महान् कष्ट होगा। यदि तुम मेरा कुछ भी सम्मान करते हो, तो तुम्हें मैं अपनी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम पुरी लौट जाओ।' यह कहकर प्रभुने उनका गाढ़ालिङ्गन किया। प्रभुका आलिङ्गन पाते ही गदाधर पण्डित मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। अब आगे कहनेको कोई बात ही नहीं रही। उसी समय सुयोग देखकर प्रभुने पास खड़े

हुए सार्वभौम भट्टाचार्यको देखकर उनसे कहा—'भट्टाचार्य महोदय! इन्हें अपने साथ ही पुरी ले जाइये।'

भट्टाचार्य अवाक् रह गये। उन्हें कुछ कहनेको ही अवसर नहीं मिला। उन्होंने दुःखित चित्तसे प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया। प्रभु उन्हें प्रेमपूर्वक गलेसे लगाकर आगेके लिये चल दिये और ये खड़े-खड़े प्रभुकी ओर देखते हुए रोते ही रहे।

अब महाप्रभुके साथ परमानन्दपुरी, स्वरूप गोस्वामी, जगदानन्द, मुकुन्द, गोविन्द, काशीश्वर, हरिदास आदि सभी भक्त गौड़ जानेकी इच्छासे चले। याजपुरमें पहुँचकर प्रभुने उन दोनों राजमन्त्रियोंको भी कह-सुनकर लौटा दिया। उस दिन महाप्रभु रात्रिभर रामानन्दजीसे कृष्ण-कथा-कीर्तन करते रहे। रेमुना पहुँचकर राय रामानन्दजीको भी प्रभुने लौट जानेकी आज्ञा दी। वे दुःखित मनसे रोते-रोते प्रभुकी पद-धूलिको मस्तकपर चढ़ाकर पीछेको लौटे और महाप्रभु रेमुनाको पार करके आगेके लिये चल दिये।

महाप्रभु जिस ग्राममें भी पहुँचते, वहीं महाराज प्रतापरुद्रजीकी ओरसे प्रभुके स्वागतके निमित्त बहुत-से आदमी मिलते। वे महाप्रभुका खूब सत्कार करते। स्थान-स्थानपर जगन्नाथजीके प्रसादका पहलेसे ही प्रबन्ध था। इस प्रकार रास्तेमें कृष्ण-कीर्तन करते हुए और अपने शुभ दर्शनोंसे ग्रामवासी तथा राजकर्मचारियोंको कृतार्थ करते हुए प्रभु उड़ीसा-राज्यकी सीमापर पहुँच गये।

जननीके दर्शन

जननी जन्मभूमिश्च जाह्नवी च जनार्दनः।
जनकः पञ्चमश्चैव जकाराः पञ्च दुर्लभाः ॥*

(मु० र० मां० १६१।१७०)

नीलाचलसे प्रस्थान करते समय प्रभुने सार्वभौम आदि भक्तोंसे कहा था—'गौड़देश होकर वृन्दावन जानेमें मेरे एक पन्थ दो काज हो जायँगे। प्रेममयी माताके दर्शन हो जायँगे। भागीरथी-स्नान और भक्तोंसे भेंट करता हुआ मैं रास्तेमें जन्मभूमिके भी दर्शन करता जाऊँगा।' महाप्रभु जनार्दनके हो जानेपर भी जननी, जन्मभूमि और जाह्नवीके प्रेमको नहीं भुला सके थे। उनके विशाल हृदयमें इन तीनोंहीके लिये विशेष स्थान था। इन तीनोंके दर्शनोंके लिये वे व्यग्र हो रहे थे। उड़ीसा-प्रान्तकी अन्तिम सीमापर पहुँचते ही त्रिताप-हारिणी भगवती भागीरथीके मनको परम प्रसन्नता प्रदान करनेवाले शुभ दर्शन हुए। आज चिरकालके अनन्तर जगद्वन्द्य सुरसरि भगवती जाह्नवीके दर्शनमात्रसे ही प्रभु मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और—'गङ्गे-गङ्गे' कहकर जोरोंसे रुदन करने लगे। वे गद्गद कण्ठसे गङ्गाजीकी स्तुति कर रहे थे। कुछ देरके अनन्तर प्रभु उठे और भक्तोंके सहित उन्होंने गङ्गाजीके निर्मल शीतल जलमें स्नान तथा आचमन किया। उड़ीसा-सीमा-प्रान्तके अधिकारीने प्रभुके स्वागत-सत्कारका पहलेसे ही विशेष प्रबन्ध कर रक्खा था, प्रभुके दर्शनसे अधिकारी तथा सभी राज-कर्मचारियोंको परम प्रसन्नता हुई। वे प्रभुके पैरोंमें पड़कर रुदन करने लगे। प्रभुने उन्हें छातीसे चिपटा-

---

* जननी, जन्मभूमि, जाह्नवी (गङ्गाजी), जनार्दन और जनक (पिता)—ये पाँच जकार संसारमें दुर्लभ हैं अर्थात् भाग्यशालीको ही इनके दर्शन होते हैं।

कर कृपा प्रदर्शित करते हुए उनके शरीरोंपर अपना कोमल हाथ फेरा। प्रभुका स्पर्श पाते ही वे प्रेममें उन्मत्त होकर 'हरि बोल, हरि बोल' कहकर नृत्य करने लगे। प्रभुके आगमनका समाचार सुनकर आस-पासके सभी ग्रामोंके स्त्री-पुरुष तथा बालक-बच्चे प्रभुके दर्शनोंकी लालसासे घाटपर आ-आकर एकत्रित हो गये। वे सभी ऊपरको हाथ उठा-उठाकर नृत्य करने लगे और आकाशको हिला देनेवाली हरि-ध्वनिसे दिशा-विदिशाओंको गुँजाने लगे।

उस पार गौड़-देशकी सीमा थी, गौड़-देशके सीमाधिकारी यवनने इस भारी कोलाहलको सुना। इसलिये उसने इसका असली कारण जाननेके लिये एक गुप्तचरको भेजा। उन दिनों दोनों राज्योंमें घोर तनातनी हो रही थी। यहाँसे गौड़ जानेके तीन रास्ते थे, तीनों ही युद्धके कारण बंद थे, आपसमें एक दूसरेको सदा भय ही बना रहता। यह गुप्तचर हिंदूका वेष धारण करके प्रभुके समीप आया। प्रभुके दर्शन पाते ही वह अपने आपेको भूलकर प्रेममें उन्मत्त होकर जोरोंसे नृत्य करने लगा। उसी बेहोशीकी दशामें वह अपने स्वामीके समीप पहुँचा। प्रान्ताधिपने उससे उसकी प्रसन्नताका कारण पूछा। उसने गद्गद कण्ठसे ठहर-ठहरकर कहा—'सरकार! क्या बताऊँ, जिन्हें मैं अभी देखकर आया हूँ, वे तो मानो सौन्दर्यके अवतार ही हैं। उनकी सूरत देखते ही मैं शरीरकी सुधि भूल गया। उनकी चितवनमें जादू है, मुसकानमें मादकता है और वाणीमें उन्मादकारी रस है। आप उन्हें एक बार देख भर लें, सब बातें भूल जायँगे और उनके बेदामोंके गुलाम बनकर कदमोंमें लोटपोट होने लगेंगे।'

उस गुप्तचरके मुखसे ऐसी बात सुनकर अधिकारीने अपने एक परम विश्वासी अमात्यको उड़ीसा-प्रान्तके अधिकारीके समीप भेजा और प्रभुके दर्शनकी अपनी इच्छा प्रकट की। मन्त्री महोदय भी प्रभुके

विश्वव्यापी प्रेमके प्रभावसे बचने नहीं पाये, वे भी उस अनुपम रसा-सवका पान करके छक-से गये, उन्होंने प्रेमभरे वचनोंमें अपने स्वामीके संवादको उड़िया-अधिकारीके समीप कह सुनाया। यवन अधिकारीकी ऐसी अभूतपूर्व अभिलाषाको सुनकर उड़ियाधिकारी प्रभुके त्रिलोकपावन प्रेमकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'महाप्रभु किसी एकके तो हैं ही नहीं, उनके ऊपर तो प्राणिमात्रका समानाधिकार है। आपके स्वामी यदि प्रभु-दर्शनकी इच्छा रखते हैं, तो हमारा सौभाग्य है, वे आवें और जरूर आवें। हमसे जैसा बन पड़ेगा उनका आदर-सत्कार करेंगे, किंतु वे ससैन्य न पधारें, अपने दस-पाँच विश्वासी सेवकोंके ही साथ प्रभु-दर्शनके लिये आवें।'

इस समाचारको पाते ही यवनाधिकारी अपने दस-बीस विश्वासी सेवकोंके साथ हिंदुओंकी-सी पोशाक पहनकर प्रभुके समीप आये। उन्होंने प्रभुकी चरण-वन्दना की। प्रभुने उन्हें प्रेमपूर्वक आलिङ्गन प्रदान किया। वे बहुत देरतक प्रभुकी स्तुति-विनय करते रहे। उड़ियाधिकारीने उनका यथोचित सम्मान और सत्कार किया, उन्हें बहुत-सी वस्तुएँ उपहार-स्वरूप भेंटमें दीं और उनके साथ परम मैत्रीका व्यवहार किया। प्रभु-दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ समझकर उन लोगोंने प्रभुसे जानेकी आज्ञा माँगी, तब महाप्रभुके साथी भक्तोंमेंसे मुकुन्द दत्तने यवनाधिकारीको सम्बोधन करते हुए कहा—'महाशय! हमारे प्रभु गङ्गाजीके पार होना चाहते हैं, क्या आप पार होनेका समुचित प्रबन्ध कर देंगे।' यवनाधिकारीने प्रभुको प्रातःकाल पार पहुँचानेका वचन दिया और वह प्रभुको तथा सभी भक्तोंको प्रणाम करके अपने स्थानको लौट गया।

दूसरे दिन यवनाधिकारीकी भेजी हुई बहुत-सी नौकाएँ आ पहुँचीं। अधिकारीके प्रधान मन्त्रीने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम करके प्रस्थान करनेका निवेदन किया। महाप्रभु सभी उड़ीसा-प्रान्तके कर्मचारियोंको प्रेमाश्वासन

प्रदान करके नौकापर सवार हुए। उनकी नौकाके चारों ओर सशस्त्र सैनिकोंसे युक्त बहुत-सी नावें जलदस्युओंसे किसी प्रकारका भय न हो इस कारण प्रभुकी रक्षाके निमित्त आगे-पीछे चलीं। इधर किनारेपर खड़े हुए उड़िया-अधिकारी तथा ग्रामवासी आँसू बहाते हुए हरि-ध्वनि कर रहे थे, उधर नावपर ही प्रभु भक्तोंके साथ सङ्कीर्तन कर रहे थे, इस प्रकार प्रेमके साथ सङ्कीर्तन करते हुए मन्त्रेश्वर नामक नालेको पार करके प्रभु भक्तोंके सहित पिछलदह पहुँचे। वहाँसे प्रभुने मुसलमान अधिकारीको विदा किया और उसे अपने हाथसे जगन्नाथजीका प्रसाद दिया। वह प्रभु-दत्त प्रेमप्रसादको पाकर प्रसन्नता प्रकट करता हुआ और प्रभुजन्य वियोगसे अधीर होता हुआ वहाँसे लौट गया। महाप्रभु उसी नावसे पानीहाटी पहुँचे।

पानीहाटी घाटपर प्रभुके आनेका समाचार बात-की-बातमें फैल गया। चारों ओरसे स्त्री-पुरुष आ-आकर 'गौरहरिकी जय' 'शची-नन्दनकी जय' आदि बोल-बोलकर आकाशको गुँजाने लगे। घाटपर मनुष्योंकी अपार भीड़ एकत्रित हो गयी। किसी प्रकार राघव पण्डित प्रभुको अपने घर ले गये। वहाँ एक दिन ठहरकर दूसरे दिन प्रातःकाल ही प्रभु कुमारहाटी पहुँचे। नवद्वीपके श्रीवास पण्डितका एक घर कुमारहाटी भी था। उस समय वे सपरिवार वहीं थे, प्रभुके पधारनेसे उनके परिवारभरमें प्रसन्नता छा गयी। स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चे सभी आ-आकर प्रभुके चरणोंमें लोट-पोट होने लगे। काञ्चनपाड़ाके शिवानन्द सेन प्रभुको आग्रह-पूर्वक अपने घर ले गये और वहीं महाप्रभुने मुकुन्द दत्तके भाई वासुदेवके घरको भी अपनी चरण-रजसे पावन किया। एक दिन वहाँ रहकर प्रभु दूसरे दिन शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घरके लिये चले।

शान्तिपुरमें पहुँचनेके पूर्व ही नगरभरमें प्रभुके आगमनका हल्ला हो गया। लोग दौड़-दौड़कर प्रभुके दर्शनोंके लिये जाने लगे। महाप्रभु

उस अपार भीड़के सहित अद्वैताचार्यके घर आये। आचार्य अपने पुत्र अच्युतको साथ लेकर प्रभुके पैरोंमें पड़ गये। महाप्रभुने उन्हें उठाकर छातीसे लगाया और अच्युतके सिरपर बार-बार हाथ फिराने लगे।

इधर शचीमाताको भी किसीने जाकर समाचार सुनाया कि प्रभु शान्तिपुर आये हुए हैं। छः वर्षके बिछुड़े हुए अपने संन्यासी पुत्रके मुखको देखनेके लिये माता व्यग्र हो उठी, उसने उसी समय आचार्य चन्द्रशेखरको बुलाया। सभी भक्त बात-की-बातमें शचीमाताके आँगनमें आकर एकत्रित हो गये। सभी प्रभुके दर्शनोंके लिये व्यग्रता प्रकट कर रहे थे। उसी समय शचीमाताके लिये पालकी मँगायी गयी और माता भी अपने जगन्मान्य पुत्रके मुख देखनेकी इच्छासे शान्तिपुर जानेकी शीघ्रता करने लगी।

संसारमें मनुष्य सब बातोंका थोड़ा-बहुत अनुभव कर सकता है, किन्तु सती-साध्वी आर्य-ललनाओंकी विरह-वेदनाको समझनेकी और समझकर अनुभव करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है। भक्त तो अपने प्यारे प्रभुके दर्शन करने शान्तिपुर चले जायँगे। वृद्धा माता भी भक्तोंके साथ दौलापर चढ़कर शान्तिपुरमें अपने प्यारे लालका माथा सूँघ आवेगी और अपनी चिरदिनकी साधको पूर्ण कर आवेगी, किन्तु पतिव्रता विष्णुप्रियाकी क्या दशा होगी? दो कोसपर बैठे हुए भी अपने प्राणेश्वरके दर्शनसे वह वञ्चित ही रहेंगी। उनके लिये उनके पति नीलाचल हों चाहे शान्तिपुर दोनों ही स्थान समान है। हाय रे समाज! तैंने पतिव्रताओंके लिये इतनी कठोरता क्यों स्थापित की है? रात्रि-दिन जिनकी मूरति आँखोंमें नृत्य करती रहती है, प्रतिक्षण हृदय जिनका चिन्तन करता रहता है, वे ही प्राणरमण प्रियतम इतने समीप रहनेपर भी बहुत दूर ही बने हुए हैं। विष्णुप्रिया अपनी मनोव्यथाको किसके सामने प्रकट करतीं? प्रकट करनेकी बात भी तो नहीं थी, यह तो हृदयके गहरे घावकी आन्तरिक

कसक थी, इसे तो कोई भुक्तभोगी ही समझ सकता था। बेचारी वाणीकी क्या सामर्थ्य जो उस वेदनाको व्यक्त कर सके। विष्णुप्रिया अपने पतिके शयनगृहमें जाकर चुपचाप बैठ गयीं। उस समय उनकी आँखोंमें एक भी आँसू नहीं था, उनका हृदय जल नहीं रहा था धीरे-धीरे सुलग रहा था, उसमेंसे कड़वा-कड़वा धुआँ निकलकर विष्णुप्रियाजीके कमलके समान विकसित मुखको म्लान बना रहा था। विष्णुप्रियाजी सामनेकी खूँटीकी ओर टकटकी लगाये देख रही थीं। एक-एक करके उस रात्रिकी सभी बातें आ-आकर उनकी दृष्टिके सामने प्रत्यक्ष नृत्य करने लगीं। इसी खूँटीपर महीन पीले रंगका उनके ओढ़नेका वस्त्र लटक रहा था। यहीं खाटपर मैं उनके अरुण रंगवाले कोमल चरणोंको धीरे-धीरे सुहरा रही थी। वे बार-बार मेरा आलिङ्गन करते और कहते—'तुम तो पगली हुई हो, रोती क्यों हो, हँस दो। अच्छा एक बार हँस दो' ऐसा कह-कहकर वे बार-बार मेरी ठोडीको अपनी नरम-नरम उँगलियोंसे ऊपरकी ओर उठाते थे, उसी समय मुझे नींद आ गयी। इन विचारोंके साथ-ही-साथ सचमुच विष्णुप्रियाजीको नींद आ गयी।

शचीमाता शान्तिपुर जानेके लिये तड़प रही थीं। उनका हृदय बाँसों ऊपरको उछल रहा था, वे सोचती थीं कि पंख होते तो मैं अभी उड़कर अपने निमाईके चन्द्रमाके समान शीतल मुखको चूमती और उसके सोनेके समान शरीरपर अपना हाथ फेरकर अपनी चिरदिनकी इच्छाको पूर्ण करती। वे अन्तिम समयमें विष्णुप्रियासे मिलनेके लिये उन्हें ढूँढ़ती हुई उसी घरमें जा पहुँचीं। वहाँ जाकर उन्होंने जो देखा उसे देखकर तो वे एकदम भयभीत हो उठीं। विष्णुप्रियाजीकी आँखें एकदम खुली हुई थीं, उनके पलक नहीं गिरते थे। चेहरेपर विरहजन्य वेदनाकी रेखाएँ व्यक्त होकर उनके आन्तरिक असह्य दुःखकी स्पष्ट सूचना दे रही थीं। उनका शरीर जड वस्तुके समान ज्यों-का-त्यों ही रखा था, उसमें

जीवनके कोई चिह्न नहीं थे । भयभीत होकर माताने पुकारा—'बेटी ! बेटी ! विष्णुप्रिया ! हाय ! बेटी ! तू भी मुझे धोखा दे गयी क्या ?' यह कहकर माता अपने काँपते हुए हाथोंसे उनके शरीरको झकझोरने लगीं । वह जल्दीसे उठकर इधर-उधर भौचक्की-सी देखती हुई जोरोंसे कहने लगी—'क्या सचमुच वे मुझे सोती ही छोड़कर चले गये । हाय ! मैं लुट गयी । मेरा सर्वस्व अपहरण हो गया । यह देखो, खूँटी तो खाली पड़ी है, उनका पीताम्बर भी नहीं है ।' यह कहकर विष्णुप्रिया पछाड़ खाकर फिर गिर पड़ी । माताने अपने हाथका सहारा देते हुए कहा—'बेटी ! तू क्या कह रही है ? अरी बावरी, यह तुझे हो क्या गया है, मैं शान्तिपुर जा रही हूँ । तू क्या कहती है ?'

माता अपनी बहूकी अन्तर्वेदनाको समझ गयी । नारीहृदयकी वेदना यत्किञ्चित् नारी ही समझ सकती है । विष्णुप्रियाजीको अब होश हुआ । उन्होंने अपने भावोंको छिपाते हुए कहा—'अम्माजी, मुझे नींद आ गयी थी, उसीमें न जाने मैंने कैसा स्वप्न देखा । उसीमें कुछ बकने लगी होऊँगी । हाँ, आप शान्तिपुर जाती हैं, जायँ । उन्हें देख आवें । मेरे भाग्यमें उनके दर्शन नहीं बदे हैं । न सही मेरा इतना ही सौभाग्य क्या कम है कि उनके दर्शनके लिये लाखों आदमी जाते हैं । आप जायँ मेरी चिन्ता न करें ।'

अपनी पुत्रवधूके ऐसे दृढ़तापूर्ण वचनोंको सुनकर माताका हृदय फटने लगा । उन्होंने अपनी छातीको कड़ी बनाकर उस आन्तरिक दुःखको प्रकट नहीं किया और अपनी बहूकी ओर देखती हुई वे पालकीमें जाकर बैठ गयीं । नित्यानन्द, वासुदेव, चन्द्रशेखर आचार्यरत्न तथा अन्यान्य सैकड़ों भक्त सङ्कीर्तन करते हुए शचीमाताकी पालकीके पीछे-पीछे चले ।

महाप्रभुने जब माताके आगमनका समाचार सुना तो उठकर दरवाजेपर आ गये। उन्होंने अपने हाथोंसे माताको पालकीसे उतारा और वे अबोध बालककी भाँति उनके चरणोंमें लोटने लगे। प्रभुके चरणोंमें नित्यानन्दजी लोट रहे थे और अन्यान्य भक्त एक-दूसरेके चरणोंको पकड़े हुए रुदन कर रहे थे। बहुत देरतक यह करुणापूर्ण प्रेम-दृश्य ज्यों-का-त्यों ही बना रहा। तब माताने अपने काँपते हुए हाथोंसे सेंहके समान अपने तेजस्वी संन्यासी पुत्रको उठाकर छातीसे लगाया। माताके स्तनोंसे आप-ही-आप दूध निकलने लगा और उस दूधसे पृथ्वी भीग गयी। माताने पुत्रके अङ्गमें लगी हुई धूलि अपने आँचलसे पोंछी, पुत्रके मुखको चूमा, उनके माथेको सूँघा और सम्पूर्ण शरीरपर हाथ फिराती रही। प्रेमके कारण वह कुछ कह नहीं सकी। बहुत देरके अनन्तर प्रभु माताको साथ लेकर भीतर घरमें गये। वे भाँति-भाँतिसे माताकी स्तुति करने लगे। अपने गृह-त्यागरूपी अपराधके निमित्त क्षमा माँगने लगे और माताके प्रति असीम प्रेम प्रदर्शित करने लगे। माता इतने दिनोंके पश्चात् अपने प्यारे पुत्रको पाकर परम प्रसन्न हुई और अपने आँसुओंसे उनके वस्त्रोंको भिगोती हुई भाँति-भाँतिके प्रेम-वाक्य कहने लगी। उस समय माता-पुत्रका यह सम्मिलन अपूर्व ही था। रात्रिमें सभी भक्तोंने मिल-कर सङ्कीर्तन किया। माताने अपने हाथोंसे अपने संन्यासी पुत्रको भोजन कराया। माताकी सन्तुष्टिके निमित्त उस दिन प्रभुने खूब डटकर भोजन किया। दूसरे दिन प्रभुने भक्तोंके सहित माताको विदा किया। माताने घर आनेका आग्रह किया। प्रभुने वचन दिया कि अभी तो मैं पाँच-सात दिन यहीं हूँ, हो सका तो आऊँगा। माता फिर मिलनेकी आशा रखती हुई नवद्वीपको लौट गयीं।

विष्णुप्रियाजीको संन्यासी स्वामीके दर्शन

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवितो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥*

(शु० र० भां० ३६६ । १७)

मेरा अपना ऐसा विश्वास है और शास्त्रोंका भी यही सिद्धान्त है कि यह संसार एकान्तवासी तपस्वी महापुरुषोंके पुण्यसे तथा पतिव्रताओंके पातिव्रतके प्रभावसे ही स्थित है। शास्त्रोंका भी यही अभिमत है कि संसार धर्मपर ही स्थित है और स्त्री-पुरुषोंके लिये संसारी भोग्य पदार्थोंकी आसक्ति छोड़कर प्रभुसे प्रेम करना या मन, वचन तथा कर्मसे पातिव्रत-धर्मका पालन करना यही परमधर्म बताया गया है। तपस्वीको मान-सम्मानकी पीछेसे इच्छा हो सकती है। भगवद्भक्ति भी प्रसिद्धिके लिये की जा सकती है, किन्तु पतिव्रताको तो संसारसे कुछ मतलब ही नहीं। वह तो मालती कुसुमकी भाँति निर्जन प्रदेशमें विकसित होती है और अपने प्यारेको प्रसन्न करके अन्तमें मुरझाकर वहीं जीर्ण-शीर्ण हो जाती है, उसकी गुप्त सुगन्धि संसारमें व्याप्त होकर लोगोंका कल्याण अवश्य करती है, किन्तु इसे तो कोई परम विवेकी पुरुष ही समझ सकता है। सर्वसाधारण लोगोंको तो उसके अस्तित्वका भी पता नहीं। इसीलिये कहता हूँ, पातिव्रत-

---

* सती स्त्रीका यही परमधर्म है कि (अग्निको साक्षी देकर एक बार) जिसने उसका पाणिग्रहण किया है, वह पति चाहे जीवित हो या मर गया हो, बस, उसीके साथ पतिलोकमें रहनेकी इच्छा करती हुई उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई भी आचरण न करे।

धर्म, योग, यज्ञ, तप, पाठ-पूजा और अन्य सभी साधनोंसे परमश्रेष्ठ है। एक सच्ची पतिव्रता सम्पूर्ण संसारको हिला सकती है, किन्तु ऐसी पतिव्रता बहुत थोड़ी होती हैं।

पाठकवृन्द ! विष्णुप्रियाजीकी मनोव्यथाको समझें। इस अल्प वयस् में उन्हें अपने प्राणेश्वरकी असह्य विरह-वेदना सहनी पड़ रही है। उनके प्राणेश्वर भक्तोंके लिये भगवान् हैं। वे जीवोंका उद्धार भी करते हैं। असंख्य जीव उनकी कृपासे संसार-सागरसे पार हो गये। भक्तोंके लिये वे साक्षात् नारायण हैं। हुआ करें, उनके लिये तो वे उनके पति—हृदय-रमण पति ही हैं। वे उनके पास स्थूल शरीरसे नहीं हैं तो न सही, उनके हृदयमें तो पतिकी मूर्ति सदा विराजमान है, वे पतिको छोड़कर और किसीका चिन्तन ही नहीं करतीं ! अहा, धन्य है उनकी एकनिष्ठ पतिभक्तिको।

विष्णुप्रियाजीकी आन्तरिक इच्छा थी कि एक बार इस जीवनमें अपने आराध्यदेवके प्रत्यक्ष दर्शन और हो जायँ किन्तु वे अपनी इच्छाको प्रकट किस प्रकार करतीं और किसके सामने प्रकट करतीं ? यदि किसीसे कहतीं भी तो वे स्वतन्त्र ईश्वर हैं, किसीकी बात मानने ही क्यों लगे ? इसलिये अपने मनोगत भावोंको हृदयमें ही दबाकर वे अपने इष्टदेवके चरणोंमें ही मनसे प्रार्थना करने लगीं। वे प्रेमाकर्षणपर विश्वास रखती हुई कहने लगीं—'वे तो मेरे घटकी एक-एक बातको जाननेवाले हैं, मेरा यदि सच्चा प्रेम होगा तो वे यहीं मुझे दर्शन देने आ जायँगे।' यही सोचकर वे चुपचाप बैठी रहीं। सचमुच प्रेममें बड़ा भारी आकर्षण है। हृदयमें लगन होनी चाहिये, प्यारेके प्रति पूर्ण विश्वास हो, हृदय उसके लिये छटपटाता हो और स्नेह सच्चा हो तो फिर मिलनेमें सन्देह ही क्या है ?

जापर जाको सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

मन कोई दस-बीस तो है ही नहीं। अग्निके समान सर्वत्र मन एक ही है। पात्र-भेदसे मन वैसा ही गंदा और निर्मल बन जाता है। यदि

दो मन निर्मल और पवित्र बन जायँ तो शरीर चाहे कहीं भी पड़े रहें, दोनोंके मनोगत भावोंको दोनों ही लाख कोसपर बैठे हुए भी समझनेमें समर्थ हो सकते हैं। शान्तिपुरमें बैठे हुए प्रभुको भी विष्णुप्रियाजीका बेतारका तार मिल गया। प्रभु मानो उन्हींको कृतार्थ करने नवद्वीप जानेकी इच्छासे अद्वैताचार्यसे विदा लेकर विद्यानगरकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर प्रभु सार्वभौम भट्टाचार्यके भाई वाचस्पतिके घरपर ठहरे। लोगोंकी अपार भीड़ प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगी। जो भी सुनता वही नावसे, घड़ोंसे तथा हाथोंसे तैरकर गङ्गाजीको पार करके विद्यानगर प्रभुके दर्शनोंके लिये चल देता। उस समय दोनों घाटोंपर नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखायी देते। प्रभुके वहाँ पहुँचनेसे एक प्रकारका मेला-सा लग गया। गङ्गाजीके झाउओंका जंगल मनुष्योंके पदाघातसे चूर्ण होकर सुन्दर राजपथ बन गया। लोग महाप्रभुकी जय-जयकार करते हुए महान् कोलाहल करते और प्रभु-दर्शनोंकी अपनी आकुलताको प्रकट करते।

महाप्रभु इस भीड़-भाड़ और कोलाहलसे ऊबकर अपने दो-चार भक्तोंके साथ धीरेसे मनुष्योंकी दृष्टि बचाते हुए विद्यानगरसे कुलियाके लिये चले गये। प्रभुके दर्शन न पानेसे लोग वाचस्पति पण्डितको कोसने लगे। उन्हें भाँति-भाँतिकी उलटी-सीधी बातें सुनाने लगे। अन्तमें जब उन्हें पता चला कि प्रभु तो यहाँसे चुपके ही निकल गये, तब तो उनके दुःखका ठिकाना नहीं रहा, वे सभी प्रभुके विरहमें जोरोंसे रुदन करने लगे। इतनेमें ही एक ब्राह्मणने आकर समाचार दिया कि प्रभु तो कुलिया पहुँच गये। तब वाचस्पति उस अपार भीड़के अग्रणी बनकर कुलियाकी ही ओर चले। कुलिया पहुँचकर लोगोंने प्रभुदर्शनोंकी अपनी व्यग्रता प्रकट की, तब प्रभुने छतपर चढ़कर अपने दर्शनोंसे लोगोंको कृतार्थ किया। बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको

धन्य मानते हुए अपने-अपने स्थानोंको लौट गये, किन्तु जितने लोग जाते थे, उतने ही और भी बढ़ जाते थे, सायंकालतक यही दृश्य रहा।

प्रभुके ऐसे लोकव्यापी प्रभावको देखकर पहले जिन्होंने इनसे द्वेष किया था, वे सभी अपने पूर्व-कृत्योंपर पश्चात्ताप प्रकट करते हुए प्रभुकी शरणमें आये और अपने-अपने अपराधोंके लिये उनसे क्षमा चाही। विरोधियोंके हृदय प्रभुके संन्यासको देखते ही नवनीतके समान कोमल हो गये थे। प्रेमका त्याग ही तो भूषण है, त्यागके बिना प्रेम प्रस्फुटित होता ही नहीं। संग्रही और परिग्रहीके जीवनमें प्रेम किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है, प्रभुके प्रेमके प्रभावसे उन पापकर्मवाले निन्दकोंके हृदयोंमें भी प्रेमकी तरंगें हिलोरें मारने लगीं। सबसे पहले तो विद्यानगरके परम भागवती पण्डित देवानन्दजी प्रभुके शरणापन्न हुए और उन्होंने अपने ही अपराध-भञ्जनकी याचना नहीं की, किन्तु प्रभुसे यह वचन ले लिया कि यहाँ आकर जो कोई भी आपसे अपने पूर्वकृत अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करेगा, उसे आप कृपापूर्वक क्षमा-दान दे देंगे। महाप्रभुके विशाल हृदयमें किसीके पूर्वकृत अपराधोंका स्मरण ही नहीं था, वे महापुरुष थे। वे संसारी लोगोंके स्वभावसे विवश होकर कहे हुए वचनोंका बुरा ही क्यों मानने लगे। वे तो जानते थे—'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही सभी चेष्टाएँ करता है, इसलिये किसीकी कैसी भी बातका बुरा न मानना चाहिये, फिर भी उन्होंने देवानन्दजीकी प्रसन्नताके निमित्त अपराध-भञ्जनकी स्वीकृति दे दी। सभीने प्रभुके चरणोंमें आत्म-समर्पण किया और प्रभुने उन्हें गलेसे लगाया।

प्रभुके छोटे-बड़े सभी भक्त तथा भक्तोंकी स्त्रियाँ-बच्चे यहाँ कुलियामें आकर उनके दर्शन कर गये थे। शचीमाता शान्तिपुरमें ही मिल

आयी थीं। कोई भी भक्त प्रभु-दर्शनोंसे वञ्चित नहीं रहा। महाप्रभु पाँच-सात दिन कुलियामें ठहरे। इतने दिनोंतक कुलियामें मेला-सा ही लगा रहा। इतनेपर भी एकान्तमें प्रभुका चिन्तन करती हुई विष्णुप्रियाजी अपने घरके भीतर ही बैठी रहीं। वे एक सती साध्वी कुल-वधूकी भाँति घरसे बाहर नहीं निकलीं, मानो उन्हींको अपने दर्शनोंसे कृतार्थ करनेके निमित्त प्रभुने नवद्वीप जानेकी इच्छा प्रकट की। भक्तोंके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उसी समय नौका मँगायी गयी और प्रभु अपने दस-पाँच अन्तरङ्ग भक्तोंके साथ गङ्गा पार करके नवद्वीप घाटपर पहुँचे। घाटकी सीढ़ियोंपर चढ़कर प्रभु शुक्लाम्बर ब्रह्मचारीजीकी कुटियापर पहुँचे। ब्रह्मचारीजी अपने भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए प्रभुके पैरोंमें लोट-पोट होने लगे। क्षणभरमें ही यह समाचार सम्पूर्ण नगरमें फैल गया। लोग चारों ओरसे आ-आकर प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ मानने लगे। समाचार पाते ही शचीमाता भी जैसे बैठी थीं, वैसे ही दौड़ी आयीं। प्रभुने माताकी चरण-वन्दना की। माता अपने अश्रुओंसे प्रभुके वस्त्रोंको भिगोने लगी। प्रभु चुपचाप खड़े कुछ सोच रहे थे, किसीकी कुछ कहनेकी हिम्मत नहीं हुई! तब प्रभु पैरोंमें खड़ाऊँ पहने धीरे-धीरे शचीमाताके साथ घरकी ओर चलने लगे। एक-एक करके उन्हें सभी बातें स्मरण होने लगीं। पाँच-छः वर्ष पूर्व जिस घाटपर स्नान करते थे, वह घाट इतने आदमियोंके रहनेपर भी सूना-सा प्रतीत हुआ। सभी पूर्व-परिचित वृक्ष हिल-हिलकर मानो प्रभुका स्वागत कर रहे हों। वे ही भवन, वे ही अट्टालिकाएँ, वे ही प्राचीन पथ, वे ही देवस्थान प्रभुकी स्मृतिको फिरसे नूतन बनाने लगे। महाप्रभु नीची निगाह किये हुए आगे-आगे जा रहे थे। पीछेसे लोगोंकी अपार भीड़ हरिध्वनि करती हुई आ रही थी। घरके सामने आकर प्रभु खड़े हो गये। विष्णुप्रियाजीका दिल धड़कने लगा। वे अपने प्रेमके इतने भारी वेगको सहन करनेमें समर्थ न हो सकीं।

झरोखेमेंसे उन्होंने अपने जीवनसर्वस्वकी झाँकी की । सिर मुड़े हुए और गेरुए वस्त्र धारण किये हुए प्रभुको विष्णुप्रियाजीने अभी सर्वप्रथम देखा है । उनके प्रकाशमान चेहरेको देखकर विष्णुप्रियाजी चित्रमें लिखी मूर्तिके ही समान बन गयीं । उनके नेत्रोंमेंसे निकलनेवाले निरन्तरके अश्रुकण ही उनकी सजीवताका समर्थन कर रहे थे ।

विष्णुप्रियाजीकी इच्छा अपने प्राणेशके पाद-पद्मोंमें प्रणत होकर कुछ प्रार्थना करनेकी थी, किन्तु इतनी अपार भीड़में कुल-वधू बाहर कैसे जाय, यही सोचकर वे दुविधामें पड़ गयीं । फिर उन्होंने सोचा जब वे यहाँतक आये हैं, संन्यासी होकर भी उन्होंने इतनी अनुकम्पा की है, तब मुझे बाहर जानेमें अब क्या लाज ? लोक-लाज सब इन्हींके चरणोंकी प्राप्तिके ही निमित्त तो है, जब ये चरण साक्षात् सम्मुख ही उपस्थित हैं, तब इनके स्पर्श-सुखसे अपनेको वञ्चित क्यों रखूँ ? यह सोचकर विष्णुप्रियाजी जैसे बैठी थीं वैसे ही प्रभुके पादपद्मोंका स्पर्श करने चलीं ।

उन्होंने वेणी बाँधना बंद कर दिया था, शरीरके सभी अङ्गोंके आभूषण उतार दिये थे, आहार भी बहुत ही कम कर दिया था । नित्यके कम आहारसे उनका शरीर क्षीण हो गया था । वे निरन्तर प्रभुका ही ध्यान किया करती थीं । प्रभु-दर्शनोंकी लालसासे क्षीणकाय, मलिन-वसना विष्णुप्रियाजी अपने सम्पूर्ण शरीरको सङ्कुचित बनाती हुई जल्दी-से प्रभुकी ओर चलीं । प्रभु दृष्टि उठाकर किसीकी ओर नहीं देखते थे, वे पृथिवीकी ही ओर खड़े-खड़े ताक रहे थे । इसी समय उन्होंने देखा, मलिन वस्त्र पहने एक स्त्री उनके चरणोंमें आकर गिर पड़ी । स्त्री-स्पर्श-से भयभीत होकर प्रभु दो कदम पीछे हट गये । विष्णुप्रियाजी सुबकियाँ भर-भरकर धीरे-धीरे रुदन करने लगीं । प्रभुने मर्माहत हुए आवाज़से पूछा—'तुम कौन हो ?'

हाय रे वैराग्य ! तेरी ऐसी कठोरताको बार-बार धिक्कार है, जो अपने शरीरका आधा अङ्ग कही जाती है, जिसके लिये स्वामीको छोड़कर दूसरा कोई है ही नहीं, उसीका निर्दयी स्वामी, उसके जीवनका सर्वस्व, उसका इष्टदेव उससे पूछता है—'तुम कौन हो ?' आकाश ! तू गिर क्यों नहीं पड़ता ? पृथ्वी ! तू फट क्यों नहीं जाती ? विष्णुप्रियाजी चुप रहीं, सोचा, कोई दूसरा ही मेरा परिचय करा दे, किन्तु दूसरे किसकी हिम्मत थी ? सभीकी वाणी बंद हो गयी थी । इतनी भारी भीड़ उस समय बिल्कुल शान्त हो गयी थी, चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था । विष्णुप्रियाजीने जब देखा कोई भी कुछ नहीं कहता, तब वे स्वयं ही धीरे-धीरे करुण-स्वरमें कहने लगीं—'मैं आपके चरणोंकी अत्यन्त ही क्षुद्र दासी हूँ ।'

महाप्रभुको अब चेत हुआ, उन्होंने कुछ ठहरकर कहा—'तुम क्या चाहती हो ?'

अत्यन्त ही कातरवाणीमें उन्होंने कहा—'मैं आपकी कृपा चाहती हूँ ।'

प्रभुने नीची दृष्टि किये हुए कहा—'विष्णुप्रिये ! तुम अपने नामको सार्थक करो । संसारमें विष्णु-भक्ति ही सार है, उसीको प्राप्त करके इस जीवनको सफल बनाओ ।'

रोते-रोते विष्णुप्रियाजीने कहा—'आपके अतिरिक्त कोई दूसरे विष्णु हैं, इस बातको मैं नहीं जानती, और जाननेकी इच्छा भी नहीं है । मेरे तो विष्णु, कृष्ण, शिव जो भी कुछ हैं आप ही हैं । आपके चरणोंके अतिरिक्त मुझे कोई दूसरा आश्रय नहीं ।'

इन हृदयविदारक वचनोंको सुनकर वहाँ खड़े हुए सभी स्त्री-पुरुषोंका हृदय फटने लगा । सभीके नेत्रोंसे जल-धारा बहने लगी । विष्णुप्रियाजीने फिर कहा—'प्रभो ! सुना है, आप जगत्‌का उद्धार करते हैं, फिर

अभागिनी विष्णुप्रियाको जगत्से बाहर क्यों निकाल दिया गया है, इसके उद्धारकी बारी क्यों नहीं आती ?'

प्रभुने कहा—'तुम्हारी क्या अभिलाषा है ?' सुबकियाँ भरते हुए ठहर-ठहरकर विष्णुप्रियाजीने कहा—'मुझे जीवन-यापन करनेके लिये कुछ आधार मिलना चाहिये। आपके चरणोंमें यह कङ्गालिनी भिखारिणी उसीकी भीख माँगती है।'

थोड़ी देर सोचकर प्रभुने अपने पैरोंके दोनों खड़ाउओंको उतारते हुए कहा—'देवि ! हम संन्यासियोंके पास तुम्हें देनेके लिये और है ही क्या ! यह लो, तुम इन पादुकाओंके ही सहारे अपने जीवनको बिताओ।'

इतना सुनते ही विष्णुप्रियाजीने धूलिमें सने हुए अपने मस्तकको ऊपर उठाया और काँपती हुई उँगलियोंसे उन दोनों खड़ाउओंको सिर-पर चढ़ाकर वे रुदन करने लगीं। उस समय जनसमूहमें हाहाकार मच गया, सभी चीत्कार मारकर रुदन करने लगे। प्रभु उसी समय माताको प्रणाम करके लौट पड़े। माता अपने प्यारे पुत्रको जाते देखकर मूर्च्छित हो पृथिवीपर गिर पड़ीं, प्रभु पीछेकी ओर बिना देखे हुए ही जल्दीसे भीड़को चीरते हुए आगेको चलने लगे। बहुत-से भक्त जल्दीसे आगे चलकर लोगोंको हटाने लगे। इस प्रकार थोड़ी देर ही नवद्वीपमें ठहरकर प्रभु नावसे उस पार पहुँच गये और वृन्दावन जानेकी इच्छासे गङ्गाजीके किनारे-किनारे ही आगेकी ओर चलने लगे। सैकड़ों मनुष्य घर-बारकी कुछ भी परवा न करके उसी समय प्रभुके साथ-ही-साथ वृन्दावन जानेकी इच्छासे उनके पीछे-पीछे चलने लगे। इस प्रकार तुमुल हरिध्वनि करते हुए सागरके समान वह अपार भीड़ प्रभुके पथका अनुसरण करने लगी।

वृन्दावनके पथमें

सुजनं व्यजनं मन्ये चारुवंशसमुद्भवम् ।
आत्मानं च परिभ्राम्य परतापनिवारणम् ॥*

(सु० र० भां० ४७ । १८)

पुरीसे बहुत-से भक्त प्रभुके साथ वृन्दावन जानेकी इच्छासे आये थे और बहुत-से भक्त नवद्वीपसे उनके साथ हो लिये थे इसलिये प्रभुके साथ वृन्दावन चलनेवालोंकी एक खासी भीड़ हो गयी थी । जिस प्रकार राजा, महाराजा और सामन्तगण विजयलाभ करनेके लिये दूसरे देशपर चढ़ाई करते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णप्रेममें विभोर हुए भक्त प्रभुके साथ आनन्द और उत्साहके साथ वृन्दावनकी ओर जा रहे थे । गङ्गाजीके किनारे-किनारे कार्तिक मासकी शरीरको सुहावनी लगनेवाली धूपमें सभी संकीर्तन करते हुए दौड़ लगा रहे थे । जिनके साथ साकार स्वरूप धारण करके प्रेमदेव चल रहे हों उनके आनन्दका अनुमान लगा ही कौन सकता है ? जिस गाँवमें मध्याह्न होता, वहीं पड़ाव पड़ जाता । बात-की-बातमें ग्रामवासी प्रभुके सभी साथियोंके भोजन आदिका प्रबन्ध कर देते । महाप्रभु भिक्षा करके और ग्रामवासियोंको श्रीकृष्णप्रेम प्रदान करके आगे चल देते । इस प्रकार अनेक ग्रामोंको अपनी पद-धूलिसे पावन बनाते हुए तथा ग्रामवासियोंको भगवन्नाम-सुधा पिलाते हुए अपने प्यारेकी दर्शन-लालसासे प्रभु प्रेममें उन्मत्त हुए आगे बढ़ रहे थे ।

एक दिन भिक्षा करनेके अनन्तर मुख-शुद्धिके निमित्त प्रभुने गोविन्द-घोषकी ओर हाथ बढ़ाया । घोष महाशय जानते थे, कि प्रभु भिक्षाके अनन्तर मुख-शुद्धिके निमित्त कुछ अवश्य खाते हैं, इसलिये वे गाँवसे

---

* उत्तम वंशमें उत्पन्न हो अपने शरीरको घुमाकर दूसरोंके सन्ताप दूर करनेवाले सज्जन पुरुषको मैं पंखेके समान समझता हूँ (पंखा भी अपनेको घुमाकर औरोंका ताप हरता और अच्छे बाँसका बनता है) ।

एक हरीतकी (हर्र) माँग लाये थे । उन्होंने हरीतकीका एक टुकड़ा प्रभुके हाथपर रख दिया, प्रभु उसे खा गये ।

दूसरे दिन फिर प्रभुने भिक्षाके अनन्तर हाथ बढ़ाया । घोष महोदयने दूसरे दिनकी बची हुई आधी हरीतकी अपने वस्त्रके छोरमें बाँध रखी थी, प्रभुके हाथ बढ़ाते ही उन्होंने जल्दीसे उसे वस्त्रमेंसे खोलकर उनके हाथपर रख दी । हरीतकीके टुकड़ेको देखकर प्रभु हाथको ज्यों-का-त्यों ही किये रहे । उन्होंने उसे मुँहमें नहीं डाला । थोड़ी देर सोचकर वे कहने लगे—'गोविन्द ! यह हरीतकी तुमने कहाँ पायी ?'

अत्यन्त ही नम्रताके साथ घोष महाशयने कहा—'प्रभो ! कलकी शेष बची हुई हरीतकी हमने बाँध रखी थी, वही यह है ।'

प्रभुने कुछ गम्भीरताके साथ कहा—'तुमने कलकी आजके लिये क्यों बाँध रखी ?'

गोविन्द प्रभुकी गम्भीर चेष्टाको देखकर डर गये, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वे उदास-भावसे पृथिवीकी ओर देखने लगे । तब प्रभु उसी स्वरमें धीरे-धीरे कहने लगे—'जिनकी संग्रह करनेकी आदत हो जाती है, वे साधु होनेपर भी अपनी आदतको नहीं छोड़ते । अभी तुम्हारी संग्रह करनेकी इच्छा कम नहीं हुई । साधुके लिये संग्रह करना दूषण है और गृहस्थको थोड़ा-बहुत संग्रह करना भूषण है । इसलिये अब तुम मेरे साथ नहीं रह सकते । यहीं कहीं कुटिया बनाकर रह जाओ और विवाह करके अनासक्त-भावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ कार्य करो ।'

इस बातको सुनते ही गोविन्द जोरोंसे रुदन करने लगे । प्रभुने उनकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा—'मैंने तो वैसे ही कह दिया, तुम स्वयं बड़े भागवत हो, तुमने केवल मेरे स्नेहके वशीभूत होकर ही ऐसा आचरण किया । कोई बात नहीं है, तुम यहीं रहकर भगवान् गोपीनाथजीकी सेवा-पूजा करो । भगवान्‌की सेवाके लिये विवाह किया जाय, तो

उसमें हानि ही क्या है ?' गोविन्द घोषने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और गङ्गा-किनारे कुटिया बनाकर वे रहने लगे। प्रभु-आज्ञानुसार उन्होंने विवाह भी किया। एक पुत्रको छोड़कर उनकी पतिव्रता पत्नी परलोकगामिनी बन गयी। कुछ कालके अनन्तर पुत्रने भी माताके पथका अनुसरण किया। पुत्रशोकसे दुःखी होकर भगवान्‌की सेवा-पूजा छोड़कर वे प्राण त्यागनेके लिये उद्यत हो गये। उन्होंने न तो भगवान्‌को ही भोग लगाया और न स्वयं ही कुछ खाया। तब एक दिन स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा—'तुमने हमारी सेवा व्यर्थमें ही स्वीकार की। एक पिता बहुत-से पुत्रोंसे प्यार करता है और उनका समानभावसे लालन-पालन भी करता है, किन्तु हम तो इकलखोरे पुत्र हैं। हम अपने दूसरे भाईको नहीं देख सकते। हम एक बेटेवाले बापके ही पुत्र बनकर रह सकते हैं। हमारा बाप हमारे किसी दूसरे भाईकी इच्छा करे यह हमें पसंद नहीं है। इसलिये हमारे साथ तुम्हारा दूसरा पुत्र कैसे रह सकता था ? एक पुत्र तो मर ही गया, अब हमें भी मारना चाहते हो, तो तुम्हारी इच्छा। वैसे हम तुम्हारे पिण्डदान और श्राद्धादि कर्म करनेके लिये स्वयं ही उपस्थित हैं, फिर दूसरे पुत्रका क्या करोगे ?' इस बातसे गोविन्दजीको सन्तोष हुआ और वे फिर पूर्ववत् भगवान्‌की सेवा-पूजा करने लगे। गोविन्द घोषकी मृत्युके अनन्तर भगवान्‌ने पुत्ररूपसे स्वयं उनके सभी श्राद्धादि कर्म कराकर अपनी भक्तवत्सलताको सार्थक किया। धन्य है ऐसे गोपीनाथ-को और धन्य है उन महाभाग गोविन्द घोषको जिनकी भक्तिके कारण जगत्-पिताने पुत्ररूपसे उनके श्राद्धादि कर्म किये।

महाप्रभु चलते-चलते रामकेलि नामक नगरके निकट पहुँचे। नगरमें घुसते ही भक्तोंने हरि-ध्वनिकी गूँजसे आकाशमण्डलको गुँजा दिया। दिशा-विदिशाओंमें भगवान्‌के सुमधुर नामोंकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ने लगी। भक्तोंके हृदयसे आनन्द-धारा निकल-निकलकर अपने वेगसे लोगोंको

प्लावित करने लगी। सहस्रों नर-नारियोंके झुंड-के-झुंड प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगे और सभी भूत-बाधाकी छूत लगनेके समान एक-दूसरेका हाथ पकड़-पकड़कर नृत्य करने लगे। रामकेलि-ग्राम गौड़देशकी राजधानीके समीप ही था। उसे गौड़देशके दो मन्त्री भाइयोंने अपने रहनेके लिये बसाया था। बादशाहने भी भक्तोंकी गगनभेदी तुमुल ध्वनि सुनी। सुनते ही वह अपने महलकी छतपर चढ़कर स्वयं उस ओर देखने लगा।

पापीको सदा अपने पापका भय बना रहता है, उसके हृदयमें शान्ति नहीं रहती। गौड़देशका तत्कालीन बादशाह हुसेनशाह हिन्दूराजा सुबुद्धिरायको छल-बलसे राज्यच्युत करके स्वयं ही राजा बन गया था। इसलिये वह हिन्दुओंसे बहुत शंकित रहता था। भक्तोंकी गगनभेदी हरि-ध्वनिको सुनकर उसके कान खड़े हो गये, वह सोचने लगा—'किसीने गौड़देशपर अकस्मात् चढ़ाई तो नहीं कर दी।' इसलिये उसने जल्दीसे अपने केशवसिंह नामक हिन्दू मन्त्रीको बुलाकर उसका कारण पूछा। केशवसिंहने प्रभुकी प्रशंसा पहलेसे ही सुन रखी थी। वह स्वयं हुसेनशाहसे सन्तुष्ट नहीं था; किन्तु मन्त्री होनेके कारण काम करता ही था। उसने कहा—'सरकार! भयकी कोई बात नहीं। पुरीके दस-बीस वैष्णव साधु हैं, तीर्थ-यात्रा करने वृन्दावन जा रहे हैं, कल चले ही जायँगे, वे सभी निःशस्त्र हैं और उन्हें राजनीतिसे कोई प्रयोजन नहीं। वे सब-के-सब घर-बार-त्यागी वैरागी हैं।' बादशाह उस समय तो हाँ-हूँ करके घर चला गया, किन्तु हिन्दू मन्त्रीकी बातोंसे उसे विशेष सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये उसने अपने 'दबिर खास' और 'शाकिर मल्लिक' नामक दोनों विश्वासी मन्त्रियोंको बुलाकर फिर इस सम्बन्धमें पूछ-ताछ की। इधर बादशाहसे पृथक् होते ही केशवसिंह मन्त्रीने चुपकेसे एक विश्वासी ब्राह्मण सेवकके द्वारा प्रभुके पास यह समाचार भेज दिया कि आपको यहाँसे शीघ्र ही चले जाना चाहिये। मुसलमान बादशाहकी बुद्धिका विश्वास नहीं, न जाने कब क्या सोचने लगे।

दबिर खास और शाकिर मलिक वैसे तो जन्मके हिन्दू थे, किन्तु बादशाहके विशेष कृपापात्र होनेसे वे अपने हिन्दूपनेको भूल-से गये थे। बादशाह भी इनपर हिन्दू कर्मचारियोंकी भाँति अविश्वास नहीं करते थे। बादशाहके पूछनेपर दबिर खासने प्रभुकी प्रशंसा करते हुए कहा—"ये नवद्वीपके *गौराङ्ग महाप्रभु* हैं, इन्होंने अब संन्यास ले लिया है। इन्हें राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं। ये तो धर्म-संस्थापनार्थ प्रकट हुए हैं। इन्हें आप साक्षात् नारायण ही समझें। इनके आशीर्वादसे आपका कल्याण हो जायगा। ये कृपा करनेमें किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं रखते। बादशाहको इनकी बातोंसे सन्तोष हुआ और वह महाप्रभुकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। इस प्रकार बादशाहको समझा-बुझाकर ये लोग अपने घर आये। अपने स्थानपर आकर इन दोनों भाइयोंको शंका हुई कि न जाने बादशाह फिर कुछ सोचने लगे, इसलिये चलकर प्रभुको समझा देना चाहिये, कि ऐसे लड़ाईके समयमें इस प्रकार भीड़-भाड़के साथ वृन्दावन जाना उचित नहीं है।

ये प्रभुके गुणोंपर पहले ही मोहित हो चुके थे। प्रभुके दर्शनोंकी इन्हें चिरकालसे उत्कट इच्छा थी। आज स्वाभाविक ही ऐसा सुन्दर सुयोग पाकर ये परम प्रसन्न हुए और प्रभुके दर्शनोंकी इच्छासे रात्रि होनेकी प्रतीक्षा करने लगे। पाठक जानते ही होंगे कि अत्यन्त ही एकान्त-प्रेमीसे रात्रिके समय एकान्तमें ही बातें की जाती हैं। ये दोनों भाई प्रभुके अत्यन्त ही एकान्त-प्रेमी, भक्त, सेवक, शिष्य तथा सुहृद् थे। ये ही दोनों भाई वैष्णव-समाजमें 'रूप' और 'सनातन'के नामसे परम प्रसिद्ध हैं, इसलिये प्रभुके दर्शनोंके पूर्व इनका संक्षिप्त परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है, इसलिये अगले अध्यायमें पाठक इन दोनों *परमभागवत वैष्णव*-भाइयोंका परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

श्रीरूप और सनातन

महाधीरौ भक्तिवीरौ प्रेमपीयूषभाजनौ ।
भक्तिभावेन तौ वन्दे श्रीमद्रूपसनातनौ ॥*

(प्र० द० म०)

जिस मनुष्यके हृदयमें पश्चात्ताप है, वह कैसी भी दशामें क्यों न पहुँच गया हो, वहींसे परम उन्नति कर सकता है, किन्तु जिसे अपने बुरे कर्मोपर दुःख नहीं होता, जो अपनी गिरी दशाका अनुभव नहीं करता, जिसे समयके व्यर्थ बीत जानेका पश्चात्ताप नहीं वह चाहे कितना भी बड़ा विद्वान् हो, कैसा भी ज्ञानी हो, कितना भी विवेकी हो, वह उन्नतिके सुन्दर शिखरपर कभी भी नहीं पहुँच सकता । जहाँ पूर्वकृत कर्मोपर सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप हुआ, जहाँ सर्वस्व त्यागकर प्यारेके चरणोंमें जानेकी इच्छा हुई वहीं समझ लो उसकी उन्नतिका श्रीगणेश हो गया । वह शीघ्र ही शैलशिखरपर बैठे हुए अपने प्यारेके पादपद्मोंको चूमनेमें समर्थ हो सकेगा । रूप और सनातन—इन दोनों भाइयोंका प्राथमिक जीवन विषयी पुरुषोंका-सा होनेपर भी अन्तमें ये पश्चात्तापके प्रभावसे प्रभुके पादपद्मोंतक पहुँच सके और उन्हींकी भक्तिके प्रभावसे वे जगन्मान्य महापुरुष हो गये ।

---

* महा धैर्यवान्, भक्तिके विषयमें परम शूरवीर और प्रेमरूपी पीयूषके पात्र श्रीमान् रूप और सनातनको हम प्रणाम करते हैं ।

रूप-सनातनके पूर्वज कर्नाटक देशके रहनेवाले थे। इनके प्रपितामह पद्मनाभ किसी कारणविशेषसे कर्नाटक देशको छोड़कर नवहाटी (नवहट्ट) में आकर रहने लगे। उनके पाँच लड़के और अठारह कन्याएँ हुईं। सबसे छोटे पुत्रका नाम मुकुन्ददेव था। मुकुन्ददेवके कुमारदेव नामक परमभागवत पुत्र हुए। वे प्रायः लेन-देन और वाणिज्य-व्यापार-का काम करते थे, इसीके निमित्त इन्हें यशोहर जिलेके अन्तर्गत फतेहाबाद-में जाना आना पड़ता था। परस्परमें कुछ जातीय विरोध उत्पन्न होनेपर कुमारदेव नवहट्टको छोड़कर फतेहाबादमें ही आकर रहने लगे। यहाँ आकर इन्होंने मधाईपुरके हरिनारायण विशारदकी कन्या रेवतीदेवीके साथ अपना विवाह कर लिया। रेवतीदेवीके गर्भसे तीन पुत्र हुए, वे तीनों ही परमभागवत वैष्णव-समाजके सर्वोत्कृष्ट शिरोमणिके समान हुए। माता-पिताने इनके नाम अमर, सन्तोष और अनूप रखे। पीछेसे ये ही रूप, सनातन और वल्लभ—इन नामोंसे प्रसिद्ध हुए।

पिताने अपने तीनों पुत्रोंको सुयोग्य पण्डित बनाना चाहा, इसलिये नवद्वीपके प्रसिद्ध पण्डित श्रीसर्वानन्द सिद्धान्तवाचस्पतिसे उन्होंने इन लोगोंको संस्कृतकी शिक्षा दिलायी। उन दिनों फारसी राजभाषा थी। राजकीय कामोंमें फारसीका ही बोलबाला था। फारसी पढ़ा हुआ ही सभ्य और विद्वान् समझा जाता था, उसे ही राज्यमें बड़ी-बड़ी नौकरियाँ मिल सकती थीं। फारसी पढ़ा-लिखा साधारण काम नहीं कर सकता था। मालूम पड़ता है, जब लोग बहुत अधिक संख्यामें फारसी पढ़े-लिखे हो गये और उनकी बेकदरी होने लगी तभी यह लोकोक्ति चली होगी—'पढ़े फारसी बेचे तेल। यह देखो विधनाका खेल ।।' अस्तु, रूप-सनातन-के पूज्य पिताजीने अपने पुत्रोंको संस्कृतके साथ-ही-साथ फारसीका भी पण्डित बनाना चाहा। इसलिये सप्तग्रामके भूम्यधिकारी सैयद फ़क़र-

उद्दीनसे इन लोगोंको अरबी-फारसीकी शिक्षा दिलायी। ये मेधावी और तीक्ष्णबुद्धिके तो बाल्यकालसे ही थे, इसलिये थोड़े ही दिनोंमें संस्कृत, अरबी और फारसीके अच्छे पण्डित हो गये। उन दिनों मालाधर वसु (गुणराज खाँ) गौड़के बादशाह हुसेनशाहके राजमन्त्री थे। वे गुणग्राही तथा कविहृदयके थे। उन्होंने 'श्रीकृष्णविजय' नामक एक बँगला काव्यकी भी रचना की थी जिसका 'नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राणनाथ' यह पद महाप्रभुको बहुत ही पसंद था। उनसे इन लोगोंका परिचय हो गया। वे इनकी कुशाग्रबुद्धि और प्रत्युत्पन्न मतिसे बहुत ही सन्तुष्ट हुए और इन्हें राजदरबारमें नौकर करा दिया। ये अपनी बुद्धिकी तीक्ष्णता और कार्यपटुताके कारण शीघ्र ही बादशाहके परम कृपापात्र बन गये और बादशाहने प्रसन्न होकर इन्हें अपना राजमन्त्री बनाया। पदवृद्धिके साथ इनकी वैभववृद्धि भी होने लगी, साथ ही हिन्दू-धर्मकी कट्टरता भी कम होने लगी। इन्हें मुसलमानोंसे कोई परहेज नहीं था। ब्राह्मण होनेपर भी इनका खान-पान तथा वेष-भूषा सब मुसलमान रईसोंका-सा ही था। यहाँतक कि बादशाहने इनके नाम भी मुसलमानोंके-से ही रख दिये। बादशाह सनातनको 'दबिर खास' और रूपको 'शाकिर मल्लिक' के नामसे पुकारता था। राज्यमें ये इन्हीं नामोंसे प्रसिद्ध थे। इनके पुराने नामको कोई जानता भी नहीं था। इन्होंने अपने रहनेके निमित्त गौड़के समीप ही रामकेलि नामसे एक नया नगर बसाया और उसीमें अपना सुन्दर-सा महल बनाकर खूब ठाट-बाटके साथ रहते थे। इनके आचरण चाहे कैसे भी हों, किन्तु ये संस्कृतके विद्वान् पण्डितोंका तथा साधु-वैष्णवोंका सदा सम्मान करते रहते थे। रामकेलिसे थोड़ी दूरपर इन्होंने 'कन्हाई नाटशाला' नामसे एक मूर्ति-संग्रहालय बनवाया था। उसमें श्रीकृष्णकी लीला-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी बहुत-सी मूर्तियाँ थीं। उनमेंसे कुछ तो अबतक भी विद्यमान हैं।

निरन्तरके साधु-सङ्ग तथा शास्त्र-चिन्तनसे इन लोगोंको अपने अपार वैभवसे वैराग्य होने लगा। इनका मन किसीको आत्मसमर्पण करनेके लिये अत्यन्त ही व्याकुल होने लगा। अब इनकी प्रवृत्ति धीरे-धीरे धर्मकी ओर होने लगी। उसी समय इन लोगोंने महाप्रभुकी प्रशंसा सुनी। उस समय महाप्रभुका भगवन्नाम-संकीर्तन एक नयी-ही-नयी वस्तु थी। अबतक लोगोंकी ऐसी धारणा थी कि जो समाजके बन्धनोंको *परित्याग* कर देनेके *कारण एक बार समाजसे पतित हो गया, यह सदाके* ही लिये पतित बन गया। पीछेसे उसके उद्धारका कोई उपाय नहीं है। महाप्रभुने इस मान्यताका जोरोंसे खण्डन किया। वे इस बातपर जोर देने लगे—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

चाहे कितना भी बड़ा पापी क्यों न रहा हो, जो अनन्यभावसे भगवान्‌का भजन करता है वह परम साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि अब उसने उत्तम निश्चय कर लिया। भगवान्‌में जिसका मन लग गया है, वह फिर पापी रह ही कैसे सकता है? एक बार प्रपन्न होकर प्रभुकी शरणमे जानेसे ही सम्पूर्ण पाप जलकर भस्म हो जाते हैं। भगवन्नामके प्रभावसे घोर पापी-से-पापी भी प्रभुके पादपद्मोंतक पहुँच सकते हैं। प्रभुके ऐसे उदार और *सर्वभूतहितकारी भावोंको सुनकर इन लोगोंको* भी अपने पूर्व जीवनपर पश्चात्ताप होने लगा और गौड़ेश्वरसे छिपकर इन्होंने एक पत्र प्रभुके लिये नवद्वीप पठाया। उसमें इन्होंने अपनी पतितावस्थाका वर्णन करके अपने उद्धारका उपाय जानना चाहा। प्रभुने इनके पत्रके उत्तरमें यह श्लोक लिखकर इनके पास भेज दिया—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु ।
तमेवास्वादयत्यन्तर्नवसङ्गरसायनम् ॥

अर्थात् 'पर-पुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री बाहरसे घरके कार्योंमें व्यस्त रहकर भी भीतर-ही-भीतर उस नूतन जार-सङ्गरूपी रसायनका ही आस्वादन करती रहती है।' इसी प्रकार बाहरसे तो तुम राजकार्योंको भले ही करते रहो, किन्तु हृदयसे सदा उन्हीं हृदय-रमणके साथ क्रीडा-विहार करते रहो।

प्रभुके ऐसे अनुपम उपदेशको पाकर इन लोगोंकी प्रभु-दर्शनकी लालसा और भी अधिक बढ़ने लगी। जब इन्होंने सुना कि प्रभु तो संन्यास लेकर पुरी चले गये हैं, तब तो ये और भी अधिक व्याकुल हुए। हुसेनशाह इन्हें बहुत अधिक मानता था और इनके ऊपर पूर्ण विश्वास रखता था। उन दिनों कई राज्योंसे युद्ध छिड़ा हुआ था, ऐसी दशामें ये पुरी जा ही नहीं सकते। जब वृन्दावन जानेकी इच्छासे प्रभु स्वयं ही रामकेलिमें पधारे तब तो इनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। ये मन-ही-मन प्रभुकी भक्तवत्सलताकी प्रशंसा करने लगे। सब लोगोंके समक्ष ये लोग प्रभुसे स्पष्ट तो मिल ही नहीं सकते थे इसलिये एकान्तमें प्रभुके दर्शनोंकी बात सोचने लगे।

जब सभी लोग सो गये और सम्पूर्ण नगरमें सन्नाटा छा गया तब अर्धरात्रिके समय ये अपने प्यारेके सङ्ग-सुखकी इच्छासे साधारण वेशमें चले। उस समय अत्यन्त ही दीन होकर और दाँतोंमें तृण दबाकर ये लोग प्रभुके निवासस्थानके समीप पहुँचे। उस समय सभी भक्त मार्गके परिश्रमसे थककर घोर निद्रामें पड़े सो रहे थे। इन्होंने सबसे पहले नित्यानन्दजी तथा हरिदासजीको जगाया और अपना परिचय दिया। इन दोनों भाइयोंका परिचय पाकर नित्यानन्दजी परम प्रसन्न हुए और उन्होंने

धीरेसे आकर प्रभुको जगाया और दोनों भाइयोंके आनेका संवाद दिया। प्रभुने उसी समय दोनोंको अपने समीप बुलानेकी आज्ञा दी। प्रभुकी आज्ञा पाकर पुलकित शरीरसे अत्यन्त दीनताके साथ ये लोग प्रभुके समीप पहुँचे और जाते ही व्याकुलताके साथ प्रभुके पैरोंमें गिरकर जोरोंसे रुदन करने लगे। प्रभु अपने कोमल करोंसे बार-बार इन्हें उठाते थे, किन्तु वे प्रेमके कारण प्रभुके पादपद्मोंको छोड़ना ही नहीं चाहते थे। अत्यन्त ही करुणाके स्वरमें ये प्रभुसे अपने उद्धारकी प्रार्थना करने लगे। प्रभुने इन्हें आश्वासन देते हुए कहा—'तुमलोगोंके रुदनसे मेरा हृदय फटता है, तुम दोनों ही परम भागवत हो और मेरे जन्म-जन्मान्तरोंके सुहृद् हो। मैं तुम्हारे दर्शनोंके लिये व्याकुल था। रामकेलिमें आनेका मेरा और दूसरा कोई अभिप्राय नहीं था, यहाँ तो मैं केवल तुम दोनों भाइयोंके दर्शनोंके ही लिये आया हूँ। आजसे तुम्हारा नूतन जन्म हुआ। अब इन मुसलमानी नामोंको त्याग दो, आजसे तुम्हारे नाम रूप और सनातन हुए।'

प्रभुके इन प्रेमपूर्ण वचनोंसे दोनों भाइयोंको परम सन्तोष हुआ और वे भाँति-भाँतिसे प्रभुकी स्तुति करने लगे। अन्तमें सनातनने प्रभुसे कहा—'प्रभो! इस युद्धकालमें और इतनी भीड़-भाड़के साथ वृन्दावन-यात्रा करना ठीक नहीं है। वृन्दावन तो अकेले ही जाना चाहिये। रास्तेमें इन सबका प्रबन्ध करना, देख-रेख रखना और सबकी चिन्ताका भार उठाना ठीक नहीं है। इस समय आप लौट जायँ और फिर अकेले कभी वृन्दावनकी यात्रा करें।' प्रभुने सनातनके सत्परामर्शको स्वीकार कर लिया और प्रातःकाल उन दोनों भाइयोंको प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करके विदा किया और आप सभी भक्तोंके साथ कन्हाईकी नाटशाला होते हुए फिर शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर आकर ठहर गये।

रघुनाथदासजीको प्रभुके दर्शन

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥*

(सु० र० भां० ८१ । १२)

कितनी सुन्दर कल्पना है ! उन महापुरुषोंका हृदय कितना स्वच्छ और पवित्र होगा, जिनके हृदयमेंसे काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों राक्षस निकल गये हों, मन-मन्दिरको अपवित्र बनानेवाले इन दैत्योंके निकलते ही काँचका बना हुआ यह देवालय एकदम स्वच्छ बन जाता है, विषय-विकारोंकी धूलिसे मलिन हुआ यह मन्दिर इन महापापी पेटुओंके चले जानेपर प्रेमरूपी अमृतमें अपने-आप ही धुलकर चमचमाने लगता है, तब उसमें प्राणप्यारे आकर विराजमान हो जाते हैं

* स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाण जिसके हृदयको नहीं वेधते अर्थात् जो स्त्रियोंके हाव-भाव-कटाक्षोंसे घायल नहीं होता, जिसके चित्तको क्रोधरूपी अग्नि सन्ताप नहीं पहुँचा सकती और जिसे प्रचुर विषय लोभरूपी पाशोंसे अपनी ओर नहीं खींच सकते यानी जिसकी दृष्टिमें संसारी सभी भोग तृण समान हैं, वह धीर महापुरुष इस सम्पूर्ण त्रिलोकीको बात-की-बातमें जीत सकता है ।

मन्दिरमें उनकी प्राणप्रतिष्ठा होते ही यह देहरूपी बाहरी बरामदा भी उसके दिव्य प्रकाशसे चमकने लगता है। अहा ! जिस महाभागके हृदयमें प्यारेकी त्रैलोक्यपावनी मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा हो चुकी है, उसके चरण-स्पर्शसे ही विकार एकदम भाग जाते हैं, अहा ! उन पतितपावन महानुभावोंका जीवन धन्य है।

संसारमें सुन्दर दीखनेवाले चमक-दमक-युक्त और स्वच्छ-से प्रतीत होनेवाले सभी पदार्थ कामोद्दीपन करनेवाले हैं। वे पुरुषोंको हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। उनमेंसे मादक किरणें निकलकर मनुष्योंके मनको बरबस मोहमें फँसा लेती हैं। कोई धीर पुरुष ही उनके आकर्षणसे बच सकते हैं, वे मनुष्य नहीं साक्षात् ईश्वर हैं, नररूपमें नारायण हैं, शरीरधारी भगवान् हैं, उनकी चरण-धूलि परम भाग्यवान् पुरुषोंको ही मिल सकती है। महात्मा रघुनाथदासजी उन्हीं धीर पुरुषोंमेंसे एक हैं।

महात्मा रघुनाथदासजीके पिता दो भाई थे, हिरण्य मजूमदार और गोवर्धन मजूमदार। ये दोनों ही भाई बड़े ही समझदार, कार्यकुशल और लोक-व्यवहारमें परम प्रवीण थे। हम पहले ही बता चुके हैं कि उन दिनों राजाकी ओरसे गाँवोंका ठेका दिया जाता था और ठेका लेनेवाले भूम्यधिपति या जमींदार प्रायः कायस्थ या मुसलमान ही होते थे, ये दोनों भाई भी कुलीन कायस्थ ही थे और बादशाहकी ओरसे इन्हें 'मजूमदार' की उपाधि मिली थी। ये वर्तमान *तीसबीघा* नामक नगरके समीप सप्तग्राम नामके ग्राममें रहते थे। उन दिनों सप्तग्राम गङ्गातटपर होनेके कारण वाणिज्य-व्यापारकी एक अच्छी मण्डी समझा जाता था, कारण कि उन दिनों व्यापार प्रायः नौकाओंद्वारा ही होता था। इनके इलाकेकी उस समयकी आमदनी लगभग बीस लाख रुपये सालानाकी

थी, उसमेंसे ये बारह लाख तो बादशाहको दे देते थे और शेष आठ लाख अपने पास रख लेते थे। उन दिनों आठ लाखकी आमदनी बहुत अधिक समझी जाती थी, आजकी एक करोड़की आमदनीसे भी बढ़कर उन दिनोंके आठ लाख थे। इन दोनों भाइयोंकी बादशाहके दरबारमें खूब प्रतिष्ठा थी और इनकी बातका सब कोई पूर्ण विश्वास करते थे। इतने धनिक होनेपर भी ये लोग पूरे आस्तिक थे। इनके दरबारमें विद्वान् पण्डितोंका खूब सम्मान किया जाता और बहुत-से ब्राह्मण-पण्डित इनके आश्रयसे अपनी आजीविका चलाते थे। महाप्रभुके पिता पण्डित जगन्नाथ मिश्रकी भी ये लोग कुछ-न-कुछ सेवा करते ही रहते थे तथा नवद्वीपके बहुत-से पण्डित इनके यहाँ आते-जाते रहते थे। श्रीअद्वैताचार्यके चरणोंमें इन दोनों भाइयोंकी पहलेसे ही भक्ति थी, कारण कि इनके कुलपुरोहित श्रीबलराम आचार्यके साथ अद्वैताचार्यकी बहुत अधिक प्रगाढ़ता थी इसीलिये महात्मा हरिदास कभी-कभी सप्तग्राममें जाकर बलराम आचार्यके घर ठहर जाते। आचार्य इनकी नाम-निष्ठापर मुग्ध थे, वे इन्हें पुत्रकी भाँति स्नेह करते थे, इसी कारण ये दोनों जमींदार भाई भी हरिदासजीके प्रति श्रद्धाके भाव रखने लगे।

हिरण्यदास निःसन्तान थे, केवल गोवर्धनदासके ही एक सन्तान थी और उसी सन्तानसे ये जगद्वन्द्य और अमर हो गये। महात्मा रघुनाथदासके पिता होनेका लोकविख्यात सौभाग्य इन्हीं श्रीगोवर्धनदासजीको प्राप्त हुआ था। बालक रघुनाथदास पहलेसे ही बड़े तेजस्वी और होनहार प्रतीत होते थे। अपने कुलमें अकेले ही होनेके कारण चचा तथा पिताका इनके ऊपर अत्यधिक स्नेह था। बालकपनसे ही इनके स्वभावमें गम्भीरता थी, ये बहुत ही कम बातें करते, कभी किसीसे अपशब्द

नहीं कहते, बड़ोंके सामने सदा नम्र रहते । राजपुत्र होनेके कारण वैसे ही बड़े सुन्दर और कोमलाङ्ग थे, फिर इतनी बड़ी नम्रताने तो सोनेमें सुगन्धका काम दिया । जो भी इनकी मोहिनी मूर्तिको देखता वही मुग्ध हो जाता । पिताने अपने पुत्रको प्रसिद्ध पण्डित बनानेकी इच्छासे अपने कुलगुरु बलराम आचार्यके समीप संस्कृत पढ़ने भेजा । विनयी रघुनाथ अपनी पोथियोंको स्वयं लेकर आचार्यके घर पढ़ने जाने लगे । उन दिनों महात्मा हरिदासजी आचार्यके घरपर ही रहकर अहर्निश जोर-जोरसे भगवन्नामोंका उच्चारण किया करते थे । सरल स्वभाववाले कोमल प्रकृतिके रघुनाथदासपर हरिदासजीकी धर्मनिष्ठा-का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा । वे घंटों एकटक-भावसे हरिदासजीके मुखमण्डलकी ओर निहारते रहते और उनके साथ कभी-कभी बेसुध होकर कीर्तन भी करने लगते । हरिदासजीके हृदयमें भी बालक रघुनाथदासजी-की सरलता और भावुकताने अपना घर बना लिया, वे मन-ही-मन उस जमींदारके कुमारको प्यार करने लगे ।

धीरे-धीरे रघुनाथदास बड़े हुए । उनके मनको इतना अतुल वैभव अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका । विषय-भोग उन्हें काटनेके-लिये दौड़ने लगे और उनका मन-मधुप अप्राकृतिक सजे हुए परम रमणीक उद्यानको छोड़कर खुले हुए वनोंमें स्वच्छन्दभावसे विचरण करनेके निमित्त व्याकुल होने लगा । जिन सोने-चाँदीके ठीकरोंको सर्वस्व समझकर लोग बुरे-से बुरे कामोंको करनेमें भी आगा-पीछा नहीं करते और उनकी प्राप्तिके निमित्त प्राणोंकी बाजी लगानेमें भी कमी संकोच नहीं करते; उन्हीं स्वर्णके सिक्कोंको रघुनाथदासजी अपने पथके कण्टक समझते थे । उनका मन राज-काजमें बिल्कुल नहीं लगता था, वे तो परमार्थ-पथको परिष्कृत करनेवाले सत्संगके लिये तड़पते रहते

थे। परिवारवालोंको इनका यह व्यवहार अरुचिकर प्रतीत होता था, वे इन्हें भाँति-भाँतिके संसारी प्रलोभन देते थे, अनेक-अनेक प्रकारकी भोग्य-सामग्रियोंद्वारा इनके मनको उनमें फँसाना चाहते थे, किन्तु उनके सभी प्रयत्न निष्फल हुए। जो मधुरातिमधुर मिश्रीका आस्वादन कर रहा है, उसे गुड़ देकर अपने वशमें करना मूर्खता ही है। सभीको इनकी ऐसी दशापर चिन्ता हुई। उस समय महाप्रभु संन्यास लेकर शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर ठहरे हुए थे, अपने पिताकी आज्ञा लेकर ये उस समय प्रभुके दर्शन करनेको गये थे और चार-पाँच दिन प्रभुके चरणोंके समीप रह भी गये थे। महाप्रभु तो पूरे पारखी थे, वे इनके रंगढंगसे ही ताड़ गये कि यह जन्मसिद्ध पुरुष है। संसारमें यह चिरकालतक संसारी बनकर नहीं रह सकता। फिर भी प्रभुने इन्हें समझा-बुझाकर अनासक्तभावसे गृहस्थीमें रहकर संसारी काम करते रहनेका उपदेश करके घर लौटा दिया।

पिताने जब देखा कि पुत्रका चित्त-संसारी कामोंमें नहीं लगता तब उन्होंने एक बहुत ही सुन्दरी कन्यासे इनका विवाह कर दिया। गोवर्धनदास धनी थे, राजा और प्रजा दोनोंके प्रीति-भाजन थे, सभी लोग उन्हें प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे देखते थे। राजाओंके समान उनका वैभव था। इसलिये उन्हें अपने पुत्रके लिये सुन्दर-से-सुन्दर पत्नी खोजनेमें कठिनता नहीं हुई। उनका खयाल था कि रघुनाथकी युवा अवस्था है, यह परम सुन्दरी पत्नी पाकर अपनी सारी उदासीनताको भूल जायगा और उसके प्रेमपाशमें बँधकर संसारी हो जायगा, किन्तु विषय-भोगोंको ही सर्वस्व समझनेवाले पिताको क्या पता था कि इसकी शादी तो किसी दूसरेके साथ पहले ही हो चुकी है, उसके सौन्दर्यके सामने इन संसारी सुन्दरियोंका सौन्दर्य तुच्छातितुच्छ है। पिताका यह भी प्रयत्न विफल

ही हुआ। परम सुन्दरी पत्नी रघुनाथदासको अपने प्रेमपाशमें नहीं फँसा सकी। रघुनाथदास उसी प्रकार संसारसे उदासीन ही बने रहे।

अब जब रघुनाथदासजीने सुना कि प्रभु वृन्दावन नहीं जा सके हैं, वे रामकेलिसे लौटकर अद्वैताचार्यके घर ठहरे हुए हैं, तब तो इन्होंने बड़ी ही नम्रताके साथ अपने पूज्य पिताके चरणोंमें प्रार्थना की कि मुझे महाप्रभुके दर्शनोंकी आज्ञा मिलनी चाहिये। महाप्रभुके दर्शन करके मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा।

इस बातको सुनते ही गोवर्धनदास किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, किन्तु वे अपने बराबरके युवक पुत्रको जबरदस्ती रोकना भी नहीं चाहते थे, इसलिये आँखोंमे आँसू भरकर उन्होंने कहा—'बेटा! हमारे कुलका तू ही एकमात्र दीपक है। हम सभी लोगोंको एकमात्र तेरा ही सहारा है। तू ही हमारे जीवनका आधार है। तुझे देखे बिना हम जीवित नहीं रह सकते। मैं महाप्रभुके दर्शनोंसे तुझे रोकना नहीं चाहता, किन्तु इस बूढ़ेकी यही प्रार्थना है कि तू मेरे इन सफेद बालोंकी ओर देखकर जल्दीसे लौट आना, कहीं घर छोड़कर बाहर जानेका निश्चय मत करना।'

पिताके मोहमे पगे हुए इन वचनोंको सुनकर आँखोंमें आँसू भरे हुए रघुनाथदासजीने कहा—'पिताजी! मैं क्या करूँ, न जाने क्यों मेरा संसारी कामोंमें एकदम चित्त ही नहीं लगता। मैं बहुत चाहता हूँ कि मेरे कारण आपको किसी प्रकारका कष्ट न हो, किन्तु मैं अपने वशमें नहीं हूँ। कोई बलात्कार मेरे मनको अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ, मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा।'

पुत्रके ऐसे आश्वासन देनेपर गोवर्धनदासने अपने पुत्रके लिये एक सुन्दर-सी पालकी मँगायी। दस-बीस विश्वासी नौकर उनके साथ दिये और बड़े ही ठाट-बाटके साथ राजकुमारकी भाँति बहुत-सी भेंटकी

सामग्रीके साथ उन्हें प्रभुके दर्शनोंके लिये भेजा । जहाँसे शान्तिपुर दीखने लगा, वहींसे ये पालकीपरसे उतर गये और नंगे ही पाँवों धूपमें चलकर प्रभुके समीप पहुँचे । दूरसे ही भूमिपर लोटकर इन्होंने प्रभुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया । प्रभुने जल्दीसे उठकर इन्हें छातीसे चिपटा लिया और धीरे-धीरे इनके काले घुँघराले बालोंको अपनी उँगलियोंसे सुलझाने लगे । प्रभुने इनका माथा सूँघा और अपनी गोदीमें बिठाकर बालकोंकी भाँति पूछने लगे—'तुम इतनी धूपमें अकेले कैसे आये, क्या पैदल आये हो ? साथमें नौकर नहीं लाये ? तुम्हारा मुख एकदम सूखा है, इसका क्या कारण है ?' रघुनाथदासजीने इन प्रश्नोंमेंसे किसीका भी कुछ उत्तर नहीं दिया, वे अपने अश्रुजलसे प्रभुके काषाय-वस्त्रोंको भिगो रहे थे । इतनेमें ही रघुनाथदासजीके साथी सेवकोंने प्रभुके चरणोंमें आकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भेंटकी सभी सामग्री प्रभुके सम्मुख रख दी । महाप्रभु धीरे-धीरे रघुनाथदासजीके स्वर्णके समान कान्तियुक्त शरीरपर अपना प्रेममय, सुखमय और ममत्वमय कोमल कर फिरा रहे थे । प्रभुकी ऐसी असीम कृपा पाकर रोते-रोते रघुनाथदास कहने लगे—'प्रभो ! पितृ-गृह मेरे लिये सचमुच कारावास बना हुआ है । मेरे ऊपर सदा पहरा रहता है, बिना पूछे मैं कहीं आ-जा नहीं सकता, स्वतन्त्रतासे घूम-फिर नहीं सकता । हे जग-के त्राता ! मेरे इस गृहबन्धनको छिन्न-भिन्न कर दीजिये । मुझे यातनासे छुड़ाकर अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये । आपके चरणोंका चिन्तन करता हुआ ही अपने जीवनको व्यतीत करूँ, ऐसा आशीर्वाद दीजिये ।'

प्रभुने प्रेमपूर्वक कहा—'रघुनाथ ! तुम पागल तो नहीं हो गये हो, अरे ! घर भी कहीं बन्धन हो सकता है ? उसमेंसे अपनापन निकाल दो, बस, फिर रह ही क्या जाता है । जबतक ममत्व है, तभीतक दुःख है ।

जहाँ ममत्व दूर हुआ कि सब अपना ही-अपना है। आसक्ति छोड़कर व्यवहार करो। धन, स्त्री तथा कुटुम्बियोंमें अपनेपनके भावको भुलाकर व्यवहार करो।'

रघुनाथदासजीने रोते-रोते कहा—'प्रभो! मुझे बच्चोंकी भाँति बहकाइये नहीं। यह मैं खूब जानता हूँ कि आप सबके मनके भावोंको समझकर उसे जैसा अधिकारी समझते हैं, वैसा ही उपदेश करते हैं। बाल-बच्चोंमें अनासक्त रहकर और उन्हींके साथ रहते हुए भजन करना उसी प्रकार है जिस प्रकार नदीमें घुसनेपर भी शरीर न भींगे। प्रभो! ऐसा व्यवहार तो ईश्वरके सिवा साधारण मनुष्य कभी नहीं कर सकता। आप जो उपदेश कर रहे हैं, वह उन लोगोंके लिये है, जिनकी संसारी विषयोंमें थोड़ी-बहुत वासना बनी हुई है। मैं आपके चरणोंको स्पर्श करके कहता हूँ, कि मेरी संसारी विषयोंमें बिल्कुल ही आसक्ति नहीं। मुझे घरका अपार वैभव काटनेके लिये दौड़ता है, अब मैं अधिक काल घरके बन्धनमें नहीं रह सकता।'

प्रभुने कहा—'तुमने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है, किन्तु यह मर्कट-वैराग्य ठीक नहीं। कभी-कभी मनुष्योंको क्षणिक वैराग्य होता है, जो विपत्ति पड़नेपर एकदम नष्ट हो जाता है, इसलिये कुछ दिन घरमें और रहो, तब देखा जायगा।'

अत्यन्त ही करुण-स्वरमें रघुनाथदासजीने कहा—'प्रभो! आपके चरणोंकी शरणमें आनेपर फिर वैराग्य नष्ट ही कैसे हो सकता है? क्या अमृतका पान करनेपर भी पुरुषको जरा-मृत्युका भय हो सकता है? आप अपने चरणोंमें मुझे स्थान दीजिये।'

प्रभुने धीरेसे प्रेमके स्वरमें कहा—'अच्छी बात है देखा जायगा, अब तो तुम घर जाओ, मेरा अभी वृन्दावन जानेका विचार है। यहाँसे

लौटकर पुरी जाऊँगा और वहाँसे बहुत ही शीघ्र वृन्दावन जाना चाहता हूँ। वृन्दावनसे जब लौट आऊँ, तब तुम आकर मुझे पुरीमें मिलना।' प्रभुके ऐसे आश्वासनसे रघुनाथदासजीको कुछ सन्तोष हुआ। वे सात दिनों-तक शान्तिपुरमें ही प्रभुके चरणोंमें रहे। वे इन दिनों पलभरके लिये भी प्रभुसे पृथक् नहीं होते थे। प्रभुके भिक्षा कर लेनेपर उनका उच्छिष्ट-प्रसाद पाते और प्रभुके चरणोंके नीचे ही शयन करते। इस प्रकार सात दिनोंतक रहकर प्रभुकी आज्ञा लेकर वे फिर सप्तग्रामके लिये लौट गये।

श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीकी पुण्य-तिथि समीप ही थी, इसलिये अद्वैता-चार्यके प्रार्थना करनेपर प्रभु दस दिनोंतक शान्तिपुरमें ठहरे रहे। नवद्वीप आदि स्थानोंसे बहुत से भक्त प्रभुके दर्शनोंके लिये आया करते थे। शचीमाता भी अपने पुत्रको फिरसे देखनेके लिये आ गयीं और सात दिनों-तक अपने हाथोंसे प्रभुको भिक्षा कराती रहीं। इसी बीच एक दिन महाप्रभु गङ्गा पार करके पण्डित गौरीदासजीसे मिलने गये। वे गौराङ्गके चरणोंमें बड़ी श्रद्धा रखते थे। उन्होंने प्रभुसे वरदान माँगा कि आप निताई और निमाई दोनों भाई मेरे ही यहाँ रहें। तब प्रभुने उनके यहाँ प्रतिमामें रहना स्वीकार किया। उन्होंने निमाई और निताईकी प्रतिमा स्थापित की, जिनमें उनके विश्वासके अनुसार अब भी दोनों भाई विराज-मान हैं। ये ही महाप्रभु गौराङ्गदेव और नित्यानन्दजीकी आदिमूर्ति बतायी जाती हैं। ये दोनों मूर्ति बड़ी ही दिव्य हैं।

कालनासे लौटकर प्रभु फिर शान्तिपुरमें आ गये, वहाँसे आपने सभी भक्तोंको विदा कर दिया और आप अपने अन्तरङ्ग दो-चार भक्तोंको साथ लेकर श्रीजगन्नाथपुरीके लिये चल पड़े।

और चातुर्मास बिताकर फिर जैसा भी विचार हो कीजियेगा।' राय महाशयकी इस बातका सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप गोस्वामी, गदाधर आदि सभी भक्तोंने अनुमोदन किया। प्रभुने सबकी सम्मतिके सम्मुख सिर झुका दिया और वे वर्षाकाल बिताकर ही वृन्दावन जानेके लिये राजी हो गये। शान्तिपुरसे चलते समय प्रभु भक्तोंसे कह आये थे कि 'अबके हम वृन्दावन चले जायँगे अतः रथ-यात्रामें अब पुरी आनेकी आवश्यकता नहीं है।' प्रभुकी आज्ञा मानकर इस साल गौड़ीय भक्त दल बनाकर पहलेकी भाँति रथ-यात्राके लिये नहीं आये थे। महाप्रभुने सदाकी भाँति रथयात्राका उत्सव मनाया और पुरीमें ही वर्षाके चार मास व्यतीत किये।

वर्षा बीत जानेपर शरद्के प्रारम्भमें प्रभु भक्तोंसे अनुमति लेकर वृन्दावन जानेके लिये उद्यत हुए। प्रभु एकाकी जा रहे हैं और साथमें किसी दूसरेको ले ही नहीं जाना चाहते तब गद्गद कण्ठसे स्वरूप गोस्वामीने कहा—'प्रभो! मेरी एक प्रार्थना है, उसे आप अवश्य ही स्वीकार कर लीजिये। आप एकाकी ही वृन्दावन जा रहे हैं, यह हमारे लिये असह्य है, अतः किसी औरको साथ ले जाना नहीं चाहते तो इस बलभद्र भट्टाचार्यको तो आप अवश्य ही साथ ले जायँ। यह कुलीन ब्राह्मण है, सेवा करना भलीभाँति जानता है, प्रभुके पादपद्मोंमें इसका दृढ़ अनुराग है, इसकी स्वयं भी व्रजमण्डलके सभी तीर्थोंकी यात्रा करनेकी इच्छा है, यह आपकी भिक्षा आदि बना दिया करेगा, इससे आपको भी असुविधा न रहेगी और हमलोगोंको भी सन्तोष रहा करेगा।' स्वरूपकी बात सुनकर और सभी भक्तोंकी ऐसी ही इच्छा समझकर भक्तवत्सल प्रभु बोले—'आपलोगोंकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करनेकी मेरी शक्ति नहीं है, आपलोगोंकी जिसमें प्रसन्नता होगी और आप-

लोग जैसा कहेंगे वैसा ही मुझे करना पड़ेगा । अच्छा, आपलोगोंके अनुरोधसे मैं बलभद्रको साथ ले जाऊँगा ।' प्रभुके इस निश्चयसे सभी-को प्रसन्नता हुई और सभी प्रभुके शरीरकी ओरसे कुछ-कुछ निश्चिन्त-से हो गये । किन्तु किसीको इस बातका पता नहीं था कि प्रभु कब वृन्दावन जायँगे ।

शामके समय प्रभु एकाकी भगवान्‌के दर्शन करने गये और उनसे रात्रिमें ही आज्ञा लेकर दूसरे दिन अँधेरेमें ही बलभद्र भट्टाचार्य-को साथ लेकर वृन्दावनकी ओर चल दिये । प्रातःकाल जब भक्तोंने देखा कि प्रभु नहीं हैं, तब सभी समझ गये कि प्रभु वृन्दावनको चले गये ।

इधर महाप्रभु राजपथको छोड़कर और कटकसे बचकर झाड़ीखण्डमें होकर सीधे उपपथके द्वारा वृन्दावनकी ओर चले । रास्तेमें बहुत दूरतक गाँव नहीं पड़ते थे, उन दिनों बलभद्र वन्य शाक-मूल-फलोंको ही बनाकर प्रभुको भिक्षा करा देते । कभी-कभी बलभद्र गाँवोंमेंसे तीन-तीन, चार-चार दिनके लिये इकट्ठा सामान माँग लाते, और जहाँ सामान न मिलता, वहाँ उसीमेंसे प्रभुको बनाकर भिक्षा करा देते थे । वे बड़ी सावधानीसे प्रभुकी सेवा करते थे । महाप्रभु इनकी सेवासे सदा सन्तुष्ट रहते और बार-बार इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते । प्रभुकी माया कौन जाने, कहाँ तो एक हरीतकीके टुकड़ेको दूसरे दिनके लिये रखनेसे असन्तुष्ट हो गये । और यहाँ बलभद्रके अन्न-संग्रह करनेपर भी उससे उलटे प्रसन्न ही हुए । तभी तो कहा है—

लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमीश्वरः ।

इन महापुरुषोंके चित्त कुछ संसारी लोगोंसे विलक्षण ही होते हैं, उनके मनोगत भावोंको जाननेमें कौन समर्थ हो सकता है ?

महाप्रभु अपने अनुपम प्रभावसे पथके पशु-पक्षी और हिंसक जीव-जन्तुओंको भी प्रेम-प्रदान करते हुए आगे बढ़ रहे थे। हिंसक जन्तु अपने क्रूर स्वभावको छोड़कर प्रभुके पादपद्मोंमें लोटने लगते थे। प्रभु जिस ग्रामसे होकर निकलते, उसी ग्रामके सभी पुरुष हरि-हरि कहते हुए प्रभुको चारों ओरसे घेर लेते थे। इस प्रकार पथके जीव-जन्तुओंको कृतार्थ करते हुए कुछ दिनोंमें प्रभु अविमुक्त क्षेत्र श्रीवाराणसीपुरीमें पहुँचे। विश्वनाथजीकी काशीपुरीमें पहुँचकर सर्वप्रथम महाप्रभु स्नानार्थ काशीके प्रसिद्ध मणिकर्णिकाघाटपर गये। स्नान करके प्रभु बैठे ही थे कि इतनेमें ही तपन मिश्र नामक एक बंगाली ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचे। पाठकोंको स्मरण होगा कि महाप्रभु जब पूर्व बंगालकी यात्रा करने अपनी शिष्यमण्डलीके साथ गये थे, तब उन्हें ये ही तपन मिश्र मिले थे और प्रभुने इन्हें भगवन्नामका उपदेश करके काशीजी भेजा था। आज सहसा प्रभुको संन्यासीके वेशमें देखकर तपन मिश्र प्रभुके पैरोंमें पड़कर जोरोंसे रुदन करने लगे। प्रभुने मिश्रजीको उठाकर गले लगाया और उनकी कुशल पूछते हुए उनके सिरपर हाथ फेरने लगे। मिश्रजीने गद्गद कण्ठसे कहा—'प्रभो! आपने अपना भक्तवत्सल नाम आज सार्थक कर दिया। मुझ अधमको यहाँ आकर अपने देव-दुर्लभ दर्शनोंसे कृतार्थ कर दिया। अब कृपा करके कुछ काल इस कंगालकी कुटियापर निवास करके इस दीन हीनको कृतार्थ कीजिये।' महाप्रभुने मिश्रजीकी प्रार्थना स्वीकार की और वे उन्हें साथ लेकर सबसे पहले तो भगवान् विश्वनाथजीके दर्शनोंके लिये गये, फिर बिन्दुमाधवके दर्शन करते हुए तपन मिश्रके घर पधारे। मिश्रजीने पाद्य, अर्घ्य, आचमन, धूप, दीप, नैवेद्य और फल-फूल आदिसे प्रभुकी यथोचित पूजा की। उनके चरणोंको धोकर चरणामृत लिया और उसे अपने सम्पूर्ण घरमें छिड़का।

महाप्रभु उनके घरपर सुखपूर्वक रहने लगे। उनके पुत्र रघुनाथजी प्रभुकी खूब ही मनोयोगके साथ सेवा करने लगे। वे सदा प्रभुके समीप ही रहते थे, प्रभुको छोड़कर वे कहीं भी नहीं जाते थे।

वहींपर चन्द्रशेखर नामके एक बङ्गाली वैद्य मिल गये, वे यहाँ पुस्तकें लिखकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। नवद्वीपमें एक बार इन्होंने प्रभुके दर्शन भी किये थे और मिश्रजीसे सदा प्रभुकी प्रशंसा सुनते रहते थे। प्रभुके दर्शनोंसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वे प्रभुको अपने घर भिक्षा कराने लगे। इस प्रकार इन दोनों बङ्गाली भक्तोंके आग्रहसे प्रभु दस बारह दिन काशीजीमें ठहर गये। उसी बीच एक मराठा ब्राह्मण प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगा। उसका सम्बन्ध श्रीस्वामी प्रबोधानन्दजी महाराजसे भी था। उसने जाकर महाप्रभुके प्रेमकी, उनके सङ्कीर्तन और अद्भुत नृत्यकी स्वामीजीसे प्रशंसा की। जिस प्रकार प्रायः अद्वैतवादी सभी बातोंको माया और लीला बताकर उपेक्षा कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने प्रभुके भक्ति-भावकी उपेक्षा सी कर दी और प्रभुके सम्बन्धमें भी उन्होंने उदासीनताके भाव प्रकट किये। उस मराठा भक्तको यह बात अच्छी नहीं लगी, उसने आकर प्रभुसे कहा। प्रभुने उसे समझाते हुए कहा—'संसारमें भिन्न-भिन्न प्रकृतिके पुरुष होते हैं, जिनके ऊपर भगवान्‌की पूर्ण कृपा होती है उन्हें ही प्रभु-प्रेम प्राप्त हो सकता है। आपको दूसरोंसे क्या, लोग जो चाहे सो कहते रहें, आपको प्रभु-प्रसाद प्राप्त करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये—यही परम श्रेयस्कर मार्ग है। इस प्रकार अपने इन भक्तोंको सन्तुष्ट करके प्रभु काशीजीसे चलकर तीर्थराज प्रयाग पहुँचे। वहाँ भगवती भागीरथी अपनी बहिन सूर्यनन्दिनी कालिन्दीसे आकर मिलती हैं, उस सितासितके सङ्गम और सम्मिलन-दर्शनसे सभी पुरुषोंको परमानन्द प्राप्त होता है।

महाप्रभु अपने कृष्णकी प्यारी कालिन्दीके दर्शनोंसे एकदम व्याकुल हो गये और जल्दीसे भावावेशमें आकर यमुनाजीमें कूद पड़े। बलभद्रने उन्हें पकड़कर बाहर निकाला। तीर्थराजकी अद्भुत, अपूर्व शोभाको देखकर प्रभु गद्गद कण्ठसे स्तोत्र पाठ करने लगे।

तीन दिन प्रयागराजमें ठहरकर प्रभु वृन्दावनकी ओर चले। चलते-चलते वे मथुराजीमें पहुँच गये। सबसे पहले उन्होंने विश्रामघाटपर पहुँचकर यमुनाजीमें स्नान किया। व्रजभूमिकी पवित्र रजको पाकर प्रभु फूले नहीं समाते थे। वे रजमें लोट-पोट होकर अपने आनन्दको प्रदर्शित कर रहे थे। बड़ी देरतक कालिन्दीके कमनीय श्याम कमलके समान नीले जलमें क्रीड़ा करते रहे। फिर हुंकार देकर बाहर निकले और गीले ही वस्त्रोंसे कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे। प्रभुके अद्भुत नृत्यको देखकर सभी दर्शनार्थी तथा मथुरावासी मन्त्रमुग्धकी भाँति एकटक-भावसे प्रभुकी ओर देखने लगे। जो भी आता वही प्रभुको देखते ही 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर कीर्तन करने लगता। हजारों आदमियोंकी भीड़ एकत्रित हो गयी। महाप्रभु शरीरकी सुध भुलाकर प्रेममें उन्मत्त हुए नृत्य कर रहे थे। उसी समय उन्होंने देखा कि भीड़में एक वैष्णव ब्राह्मण बड़े ही प्रेमके साथ सङ्कीर्तन कर रहा है, उसके शरीरमें सभी सात्त्विक भावोंका साथ ही उदय हो रहा है। प्रभु उसके इस अद्भुत प्रेमको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उसका हाथ पकड़कर नृत्य करने लगे।

सङ्कीर्तन समाप्त होनेपर प्रभुने उस ब्राह्मणसे पूछा—'महाभाग! आपको इस अद्भुत प्रेमनिधिकी प्राप्ति कहाँसे हुई है?'

ब्राह्मणने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'प्रभो! प्रेमावतार जगन्मान्य श्रीमाधवेन्द्रपुरी महाराजने मेरे ऊपर कृपा करके मुझे मन्त्र-दीक्षा दी है। वे ही मेरे दीक्षागुरु हैं, मुझमें जो भी कुछ यत्किञ्चित् प्रेम आपको दीखता है वह उन्हीं महापुरुषकी कृपाका फल है।'

विश्रामघाट—मथुरा
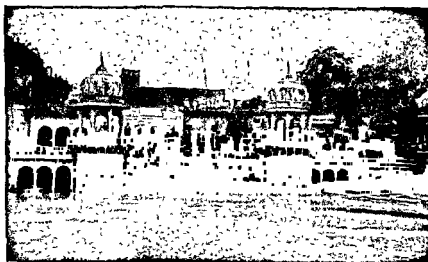
कृष्णगंगाघाट—मथुरा

वृन्दावनका एक दृश्य

श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीका नाम सुनते ही प्रभु उस ब्राह्मणके पैरोंमें गिर पड़े और उसे बार-बार प्रणाम करने लगे। उसने भयसे काँपते हुए कहा—'स्वामिन्! यह आप कैसा अनर्थ कर रहे हैं, संन्यासी होकर हमारे ऊपर पाप चढ़ा रहे हैं। आप तो हमारे पूजनीय, वन्दनीय और माननीय हैं। संन्यासी होनेके कारण आप आश्रमगुरु हैं, इसलिये मेरे पैरोंको छूकर मुझे पापका भागी न बनाइये।'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'विप्रवर! मैं समझ रहा था कि ऐसा प्रेम मेरे परमगुरु श्रीमाधवेन्द्रपुरीके जनोंमें ही सम्भव हो सकता है। भक्तिके उद्गमस्थान वे ही भगवान् माधवेन्द्रपुरी हैं, मैं उनके शिष्यका शिष्य हूँ, इसलिये आप मेरे गुरुके समान हैं।' प्रभुका परिचय पाकर उस ब्राह्मणको बड़ा सन्तोष हुआ, वह प्रभुको अपने घर ले गया और वहाँ जाकर प्रभुको भिक्षा करायी। ब्राह्मणने प्रभुका बहुत अधिक सत्कार किया। वह प्रभुकी तन, मन, धनसे यथाशक्ति सेवा करने लगा। प्रभुने ब्राह्मणको साथ लेकर (१) अविमुक्तघाट, (२) अधिरूढ़घाट, (३) गुह्यतीर्थ, (४) प्रयागतीर्थ, (५) कनखलतीर्थ, (६) तिन्दुक, (७) सूर्यतीर्थ, (८) वटस्वामी, (९) ध्रुवघाट, (१०) ऋषितीर्थ, (११) मोक्षतीर्थ, (१२) बोधतीर्थ, (१३) गोकर्णघाट, (१४) कृष्णगङ्गा, (१५) वैकुण्ठघाट, (१६) असिकुण्ड, (१७) चतुःसामुद्रिक कूप, (१८) अक्रूरतीर्थ, (१९) याज्ञिक विप्रस्थान, (२०) कुब्जाकूप, (२१) रङ्गस्थल, (२२) मञ्चस्थल, (२३) मल्लयुद्धस्थान, (२४) दशाश्वमेध आदि यमुनाजीके चौबीसों घाटोंपर स्नान किया और स्वयम्भू, विश्रामघाट, दीर्घविष्णु, भूतेश्वर, महाविद्या, गोकर्णादि तीर्थोंके दर्शन किये। अब प्रभुने व्रजमण्डलके बारहों वनोंके दर्शनोंकी इच्छा की इसलिये उस ब्राह्मणको साथ लेकर आप वनोंकी यात्राके लिये चल पड़े।

श्रीवृन्दावन आदि तीर्थोंके दर्शन

क्वचिद्भृङ्गीगीतं क्वचिदनिलभङ्गीशिशिरता
क्वचिद् वल्लीलास्यं क्वचिदमलमल्लीपरिमलः।
क्वचिद् धाराशाली करकफलपालीरसभरो
हृषीकाणां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम् ॥*

(विदग्धमाधव ना० १ । २९)

मथुरासे मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन आदि वनोंको देखते हुए और रास्तेमें अनेक तीर्थकुण्डोंमें स्नान, आचमन करते हुए प्रभु भगवान्‌की प्रधान लीलास्थली त्रैलोक्यपावन श्रीवृन्दावनकी भूमिमें पहुँचे। वृन्दावनमें प्रवेश करते ही प्रभु भावावेशमें आकर मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पड़े। वे चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर पागलकी भाँति इधर-उधर देखने लगे। उन्होंने देखा कहीं तो कदम्बके वृक्षोंकी पंक्तियाँ खड़ी हुई हैं। कहीं करीलके वृक्षोंपर टेंटियाँ और लाल-लाल फूल लगे हुए हैं। कहीं गौएँ चर रही हैं, तो कहीं व्रजके ग्वाल-बाल किलोलें कर रहे हैं। कहीं मयूर नाच रहे हैं तो

* अपने प्रिय सखा मनसुखासे भगवान् कह रहे हैं—प्रिय सखे ! यह वृन्दावन मेरी इन्द्रियोंको भाँति-भाँतिसे प्रसन्नता पहुँचा रहा है। देखते हो न, किसी स्थानपर मधुलोलुप भ्रमर अपनी सुरीली तानसे गान कर रहे हैं, कहीं मन्द-सुगन्धित पवन चलकर शीतलता प्रदान कर रहा है, कहीं-कहीं वायुके वेगसे लताएँ नाच-नाचकर अपने सौरभसे सुख पहुँचा रही हैं। कहीं मल्लिकाके पुष्पोंका अमल परिमल मनको मुग्ध कर रहा है, किसी स्थानपर अनारोंके फलोंसे धारावाही रसनिर्झर प्रवाहित हो रहे हैं [इस प्रकार वृन्दावनमें चारों ओर बहार-ही-बहार है]।

कहीं सारस, हंस, चकवा, जल-मुर्ग आदि जलके पक्षी उड़-उड़कर कालिन्दी-कूलकी ओर जा रहे हैं। प्रभु आँखें फाड़-फाड़कर सबकी ओर प्रेमभरी दृष्टिसे देखने लगते। कभी जल्दीसे उठकर वृक्षोंको आलिङ्गन करते, उनपरसे बहुत-से पुष्प गिर-गिरकर प्रभुके पादपद्मोंको ढक देते, मानो वृक्ष अपने प्यारेके पैरोंमें श्रद्धाञ्जलिस्वरूप पुष्प चढ़ा रहे हों। प्रभु गौओंकी ओर पूर्वपरिचितकी भाँति दौड़ते और उनकी पीठोंपर अपने कोमल करोंको फिराते। गौएँ रँभाती हुई पूँछ उठा-उठाकर प्रभुकी ओर दौड़तीं और उनके हाथ-पैरोंको चाटने लगतीं। ब्रजके पक्षी प्रभुके बिल्कुल निकट आ-आकर अपनी-अपनी भाषामें कुछ कहते, प्रभु उनकी प्रेमभरी वाणियोंको सुनकर सिर हिलाने लगते, मानो वे उनकी बातोंको समझकर संकेतके द्वारा उनका उत्तर दे रहे हैं। प्रभुके आनन्दकी सीमा नहीं रही, वे वृन्दावनमें आते ही सभी बातोंको भूल गये और जिस प्रकार जलसे पृथक् की हुई मछली फिर महासागरमें डाल देनेसे परमानन्दका अनुभव करती है उसी प्रकार व्रजकी पावन रजमें लोटकर प्रभु उसी परमानन्दस्वरूप सुखका अनुभव करने लगे। यहाँसे जाकर प्रभुने व्रजमण्डलके प्रायः सभी तीर्थोंके दर्शन किये। प्रभुके समयमें वृन्दावन सचमुच वन ही था। दस-बीस ब्राह्मणोंके और ग्वालोंके झोंपड़े थे, नहीं तो चारों ओर वन-ही-वन था। बहुत ही भावुक भक्त वहाँ दर्शन करने आते थे और दर्शन करके मथुरा लौट जाते थे। व्रजमण्डलके बहुत-से तीर्थ और कुण्ड लुप्तप्राय हो गये थे। लोग उनका नामतक नहीं जानते थे। जब महाप्रभु संन्यास लेनेसे पूर्व नवद्वीपमें ही रहकर भक्तोंके साथ संकीर्तन करते थे तभी उन्होंने भूगर्भ पण्डित और लोकनाथ गोस्वामीको व्रजमण्डलके लुप्त तीर्थोंको प्रकट करने और उनका जीर्णोद्धार करनेके निमित्त वृन्दावनमें भेजा था। इन लोगोंने जब प्रभुके संन्यासी होनेकी बात सुनी तो वे प्रभु-दर्शनोंकी लालसासे वृन्दावनको

छोड़कर दक्षिणकी ओर चले गये थे, इस कारण वृन्दावन आनेपर प्रभुकी इनसे भेंट नहीं हो सकी। महाप्रभुने स्वयं ही कुछ लुप्त तीर्थोंको प्रकट किया।

जिस स्थानपर भगवान्ने अरिष्टासुरका वध किया था, वहाँ 'आरिठ' नामका एक ग्राम है, महाप्रभुने वहाँ आकर लोगोंसे पूछा कि "यहाँपर राधाकुण्डका पुराणोंमें उल्लेख मिलता है, वह राधाकुण्ड कहाँ है ?' प्रभुके इस प्रश्नका उत्तर ग्रामवासी नहीं दे सके। उनमेंसे किसीको भी राधाकुण्डका पता नहीं था। प्रभुका साथी ब्राह्मण भी राधाकुण्डसे अनभिज्ञ था, तब प्रभुने स्वयं ध्यानमग्न होकर राधाकुण्ड जाना और दो खेतोंके बीचमें भरे हुए थोड़े-से जलमें स्नान करके आपने राधाकुण्डका माहात्म्य वर्णन किया। उस दिनसे वही राधाकुण्डके नामसे प्रसिद्ध हो गया। राधाकुण्डको प्रकट करके प्रभु कुसुमसरोवरपर आये। वहाँ श्रीगोवर्धन-पर्वतके दर्शन करके आप पुलकित हो उठे। भूमिमें लोटकर आपने गिरिराजको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उसकी छोटी-छोटी शिलाओंको लेकर हृदयसे चिपटाने लगे। गोवर्धन भगवान्का अभिन्न विग्रह है। शास्त्रोंमें इसे भगवान्का शरीर ही बताया गया है। गोवर्धनमें प्रभुने हरिदेवजीके दर्शन किये, फिर ब्रह्मकुण्डमें स्नान करके वहीं भिक्षा की।

गोवर्धन-पर्वतके ऊपर गोपालभगवान्का मन्दिर था, जिन्हें श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीने प्रकट किया था। उनके दर्शनोंकी प्रभुको इच्छा हुई, किन्तु प्रभु तो गिरिराजके ऊपर चढ़ना ही नहीं चाहते। वे सोचने लगे कि गोपालभगवान्के दर्शन कैसे हों। सर्वान्तर्यामी भगवान् अपने भक्तकी इच्छाको जान गये। वे तो भावके भूखे हैं, भक्तोंके हाथ तो वे बिना कौड़ी-दामके ही बिक जाते हैं, फिर पर्वतसे नीचे उतरना कौन-सी बात है। उन दिनों गोपालभगवान्की स्थिति अस्थिर थी। मुसलमानोंके उत्पातोंके कारण वे इधर-से-उधर घूमते थे। कभी किसी कुञ्जमें ही पूजा हो रही है, तो कभी किसी ग्राममें ही विराजमान हैं।

श्रीराधाकुण्ड

कुसुम-सरोवर

कालीदह—वृन्दावन

केशीघाट—वृन्दावन
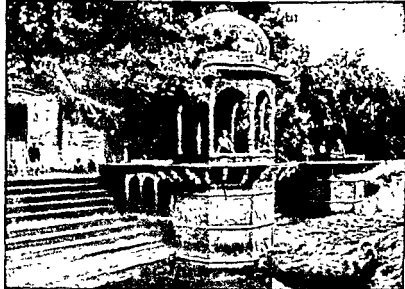
वे तो व्रजवासियोंके सखा हैं। ईश्वर या परमात्मा होंगे तो शिव, ब्रह्मा अथवा लक्ष्मीजीके लिये होंगे। व्रजमें तो वे वही पुराने 'कनुआ' हैं। जब व्रजवासियोंको यवनोंसे भय है, तो उन्हें भी होना चाहिये, इसलिये व्रजवासी ग्वाल-बाल जहाँ भी जाते वहीं गोपालको साथ ले जाते। उन दिनों एक तुर्क-सेना मूर्तियोंको विध्वंस करती हुई आ रही थी, व्रजवासी राजपूत इसी भयसे अन्नकूट नामक ग्रामसे गोपालजीको 'गाठौली' नामक ग्राममें ले आये और वहीं गुप-चुप चार-पाँच दिनोंतक उनकी सेवा-पूजा करते रहे। गाठौली ग्राम गिरिराजके नीचे है,प्रभुने जब सुना कि गोपाल-भगवान् तो मानो मुझे ही दर्शन देनेके निमित्त पर्वतसे नीचे उतरकर गाठौलीमें आ विराजे हैं, तब तो प्रभुके आनन्दकी सीमा नहीं रही। प्रातःकाल मानसी गङ्गामें स्नान करके गोवर्धन-पर्वतकी परिक्रमा प्रारम्भ कर दी। गोवर्धन-पर्वतकी परिक्रमा सात कोसकी बताते हैं, परिक्रमा जहाँसे प्रारम्भ होती है वहीं समाप्त करते हैं, बहुत-से मनुष्य तो दण्डवत् करते हुए ही सम्पूर्ण परिक्रमाको करते हैं। प्रभुने भी पूरी परिक्रमा की। महाप्रभुके साथ बलभद्र भट्टाचार्य और वह साधु ब्राह्मण ये दो सेवक और थे, सभी गोविन्दकुण्डपर पहुँचे और वहाँसे गाठौलीमें गोपालजीका आगमन सुनकर वहाँ पहुँचे। महाप्रभु गोपालजीकी मन-मोहिनी मूर्तिके दर्शनोंसे मुग्ध हो गये और वे प्रेममें बेसुध होकर गोपालजीके सामने नृत्य करने लगे। और गोपाल-स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करने लगे। तीन दिन प्रभु गाठौलीमें रहकर गोपालजीके दर्शनोंका सुख लेते रहे। इसके अनन्तर आप नन्दीश्वर, पावनसरोवर, शेषशायी, लक्ष्मी, खेलातीर्थ, भाण्डीरवन, भद्रवन, लोहवन, गोकुल, महावन आदि भगवान्की लीला-स्थलियोंके दर्शन करते हुए फिर मथुराजीमें लौट आये और उसी साधु ब्राह्मणके घरमें आकर ठहरे। ब्राह्मणने प्रभुकी खूब सेवा की थी, उसीसे संतुष्ट होकर प्रभु उसके घरमें रहने

लगे। वहाँ नगरकी भीड़-भाड़को देखकर मथुरा और वृन्दावनके बीचमें अक्रूरघाटपर एकान्त समझकर वहाँ रहने लगे। वहाँसे आपने वृन्दावनमें जाकर कालीहद, प्रस्कन्दनक्षेत्र, द्वादशादित्य, केशीतीर्थ, रासस्थली आदि पुण्य-तीर्थोंके दर्शन किये और सायंकालको फिर लौटकर अक्रूर-तीर्थमें ही आ गये। वहाँ भी बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंके निमित्त आने-जाने लगे, अतः आप वृन्दावनमें यमुनाजीके तटपर एकान्तमें रहकर भगवन्नाम-संकीर्तन करते रहे। वहींपर कृष्णदास नामका एक राजपूत क्षत्रिय प्रभुके शरणापन्न हुआ और वह घरबार छोड़कर प्रभुके ही साथ रहने लगा।

एक दिन सम्पूर्ण वृन्दावनमें हल्ला हो गया कि वृन्दावनमें फिर श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए हैं, वे कालीदहमें कालियके फणपर नृत्य करते हैं और कालियके सिरमेंकी मणि प्रत्यक्ष चमकती है। बहुत-से लोग इस बातको सुनकर प्रभुके पास पूछने आये कि क्या यह बात सत्य है। प्रभुने कहा— 'आप ही जाकर देखिये, सत्य है या असत्य।' बहुत-से लोग रात्रिमें कालीदहपर जाकर पहुँचे। सचमुच वहाँ एक काला आदमी खड़ा था और दूरसे एक मणि-सी चमक रही थी। लोग आनन्द और कुतूहलके साथ उसी ओर बढ़ने लगे। बलभद्र भट्टाचार्यने भी कालीदहपर जाकर साक्षात् श्रीकृष्णभगवान्‌के दर्शनोंकी इच्छा प्रकट की। प्रभुने प्रेमपूर्वक उसके गालपर एक हलका-सा चपत जमाते हुए कहा—'लोगोंकी गति तो भेड़ोंके समान है। एक भेड़ कुएँमें गिर पड़ती है तो सब-की-सब उसके पीछे ही कुएँमें गिर पड़ती हैं। इस कलिकालमें भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होना कोई साधारण बात थोड़े ही है कि सभीको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो जायँ। करोड़ोंमें कोई ऐसे एक-दो भाग्यवान् पुरुष होते हैं, जिन्हें भगवत्-कृपासे प्रभुके साक्षात् दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हो। यहीं बैठकर भगवन्नामका जप करो। सबेरे लोगोंसे पूछ लेना कि क्या बात थी।' भट्टाचार्यने प्रभुके समझानेपर रात्रिमें काली-

दहपर जानेका विचार छोड़ दिया, इधर लोगोंकी भीड़ वहाँ पहुँची। वहाँ उन्होंने देखा, एक काले रंगका मल्लाह डोंगीमें लालटेन रखकर मछली मार रहा है। उसके हाथमें मछली मारनेकी वंशी थी। लोगोंका भ्रम दूर हुआ। प्रातःकाल जब लोग प्रभुके दर्शनोंके लिये आये तब प्रभुने उनसे पूछा—'क्या आपलोगोंको श्रीकृष्णभगवान्‌के दर्शन हुए ?'

एक तेजस्वी वृद्ध पण्डितने प्रभुको सभी वृत्तान्त सुनाया और अन्तमें कहा—'वहाँ तो हमें दर्शन हुए सो हुए ही, यहाँ भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन अवश्य हो गये।'

प्रभुने चारों ओर देखते हुए कहा—'यहाँ कहाँ हैं भगवान् ? मुझे भी भगवान्‌के दर्शन करा दीजिये। मैं भगवान्‌के दर्शनोंके लिये बड़ा उत्सुक हूँ।'

उस ब्राह्मणने प्रभुकी ओर सङ्केत करते हुए कहा—'संन्यासीके छद्मवेशमें ये ही तो सामने श्रीहरि बैठे हैं।' इतना सुनते ही प्रभुने उस वृद्ध ब्राह्मणके पैर पकड़ लिये और रोते-रोते कहने लगे—'महानुभाव ! आपकी इस अद्भुत निष्ठाको धन्य है, आपको अवश्य ही भगवान्‌का साक्षात् हो गया है, तभी तो आप चराचर विश्वमें भगवत्-भावना रखते हैं। सच्चे भक्तको अपने भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरा कोई रूप भासता ही नहीं। उसे सर्वत्र अपने प्यारेके ही दर्शन होते हैं।' इस प्रकार उस ब्राह्मणकी भाँति-भाँतिसे स्तुति करके उसे विदा किया।

महाप्रभु दिनमें वृन्दावनमें स्नान-जपसे निवृत्त होकर भिक्षा अक्रूर-तीर्थपर ही आकर किया करते थे। ग्रामवासी ब्राह्मण तथा और द्विजाति-के लोग नित्य ही प्रभुको भिक्षा करानेका आग्रह किया करते थे। कभी-कभी तो दस-दस, पाँच-पाँच आदमियोंका साथ ही निमन्त्रण आ जाता। प्रभुकी वहाँ विचित्र दशा थी, जब भी उन्हें इस बातका स्मरण हो उठ

इसी स्थानमें डुबकी मारते हुए अक्रूरको भगवान्‌के दर्शन हुए थे, तभी आप जल्दीसे यमुनाजीमें कूद पड़ते और शरीरकी सुधि भूलकर बेहोश होकर यमुनाके तीक्ष्ण प्रवाहमें बहने लगते। इसलिये भट्टाचार्यको प्रभुकी बड़ी ही सावधानीसे सदा देख-रेख करनी पड़ती। अतएव भट्टाचार्य-ने उस ब्राह्मणसे सम्मति लेकर प्रभुको लौटा ले चलनेका निश्चय किया। उन्होंने प्रभुसे निवेदन किया—'प्रभो! यहाँ अब एकान्त विशेष नहीं रहता, निमन्त्रण भी बहुत आने लगे हैं। आपकी यहाँ दशा भी विचित्र-सी हो जाती है। इसलिये मेरी प्रार्थना है, कि अब यहाँसे चलना चाहिये। माघकी संक्रान्ति भी सन्निकट है, अभीसे चलेंगे तो प्रयाग पहुँचकर मकर-स्नान कर सकेंगे। अब जैसी आज्ञा हो!'

प्रभुने अत्यन्त ही प्रेमपूर्वक कहा—'भट्टाचार्य महाशय, तुम्हारी ही कृपासे मुझे भगवान्‌की पुण्य-लीलास्थलीके दर्शन हो सके हैं। तुमने ही मुझे वृन्दावनके दर्शन कराकर मेरे इस जन्मको सार्थक किया है। अतः यह शरीर तुम्हारा ही है। तुम इसे जहाँ ले जाना चाहो वहाँ ले जाओ, मुझे इसमें कुछ भी आपत्ति न होगी।'

प्रभुकी सम्मति पाकर सभीको अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई और वह प्रभुका कृपापात्र राजपूत ठाकुर तथा मथुराका साधु ब्राह्मण ये दोनों भी प्रभुके साथ-ही-साथ चलनेको प्रस्तुत हुए। भट्टाचार्यके सहित चारों ही मथुराजीमें आये और वहाँसे यमुना पार करके प्रयागकी ओर चलने लगे। व्रजकी पवित्र भूमिको परित्याग करते समय प्रभुको अपार दुःख हुआ। वे शोकमें विह्वल होकर भूमिपर गिर पड़े और बहुत देरतक अचेतना-वस्थामें पड़े रहे। जिस किसी भाँति तीनोंने मिलकर प्रभुको सावधान किया और उन्हें साथ लेकर आगे बढ़ने लगे।

पठानोंको प्रेम-दान और प्रयागमें प्रत्यागमन

मलयाचलगन्धेन त्विन्धनं चन्दनायते ।
तथा सज्जनसङ्गेन दुर्जनः सज्जनायते ॥*

(सु० र० भां० ९० । ४)

यमुना पार करके प्रभु अनिच्छापूर्वक चल रहे थे । वृन्दावनकी पुण्य-भूमिको छोड़नेमें उन्हें अपार कष्ट हो रहा था । भट्टाचार्य आदि

* मलयाचलकी सुगन्धसे ईंधन भी जिस प्रकार चन्दन बन जाता है वैसे ही सज्जनोंके संसर्गमात्रसे दुर्जन पुरुष भी सज्जन बन जाते हैं ।

प्रभुके साथी उन्हें पकड़कर चल रहे थे। महाप्रभु अब अधिक चलनेमें समर्थ न हुए। वे एक सुन्दर सघन वृक्षकी छायामें अपने साथियोंके सहित बैठ गये। जहाँ बैठकर प्रभु विश्राम कर रहे थे वहीं पासमें कुछ गौएँ चर रही थीं। व्रजमण्डलकी सुन्दर और सीधी गौएँ अब भी अपने गोपालकी चुलबुली और प्रेममयी मूर्तिका स्मरण दिलाती हैं। गौएँ इधर-उधर चर रही थीं। पासमें ही गौएँ चरानेवाले ग्वाल-बाल आपसमें क्रीड़ा कर रहे थे। व्रजमण्डलकी परिधि चौरासी कोसकी है। इस चौरासी कोसकी बोलीमें कितनी मिठास है, कितनी सरलता है और कितनी निश्छलता है, उसे हृदयवान् पवित्र पुरुष ही जान सकता है। व्रजमण्डलके गाँवोंमें पर्देका विशेष बन्धन नहीं है। होलीके दिनोंमें स्त्री-पुरुष निष्कपटभावसे एक दूसरेके साथ बिना जान-पहचानके होली खेलते हैं। यों निर्विकार तो पृथ्वीपर कोई है ही नहीं, किन्तु अन्य स्थानोंकी अपेक्षा व्रजमण्डलमें विकारी भाव बहुत कम है। व्रजमें 'सारे' कहना तो एक साधारण-सी बात है। सारे वहाँ गाली नहीं समझी जाती। प्रायः बच्चे बात-बातमें सारे कहते हैं। व्रजमण्डलके अनपढ़ ग्वाल-बालोंके मुखोंसे भी आप श्रीकृष्ण-लीलाके ही पद सुनेंगे। व्रजके अनपढ़ मनुष्य श्रीकृष्ण-लीला-सम्बन्धी रसिया बड़े ही स्वरसे गाते हैं। सुनते-सुनते उनमेंसे रस टपकने लगता है और सुननेवाला उस मधुर रसमें छक-सा जाता है। गौओंको एक ओर छोड़कर ग्वाल-बाल मिलकर गीत गा रहे थे—सभी मिलकर हाथ उठा-उठाकर और कमरको हिला-हिलाकर गा रहे थे—

वारो सो कन्हैया कालीदह पै खेलन आयो रे!
मारयो टोल गेंद गई दहमें—
(अरररररर) वह तो गेंदके संगई धायो रे।

कुछ ग्वाल-बाल गा रहे थे, एक उनमेंसे त्रिभङ्ग-ललित-गतिसे खड़ा होकर बाँसुरी बजा रहा था। वह अपने साथियोंकी तानके साथ ही चेष्टाको बनाता हुआ और सिरको इधर-उधर घुमाता हुआ वंशी बजा रहा था। महाप्रभुने व्रजमण्डलमें मुरलीकी मधुर तान सुनी, उनकी दृष्टि सामनेकी क्रीडा करती हुई ग्वालमण्डलीके ऊपर पड़ी। बस, फिर क्या था, वे प्रेममें गद्गद होकर अपने आपेको भूल गये और एकदम ऊपर उछलने लगे। उछलते-उछलते बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इतनेमें ही कोई मुसलमान राजकुमार अपने धर्मगुरुके साथ दस-बीस घुड़सवारोंको लिये हुए वहाँ आ निकला। उन सवारोंमेंसे किसी एकने बेहोश हुए प्रभुको देखा। महाप्रभुके मुखसे झाग निकल रहे थे और उनकी आँखें ऊपर चढ़ी हुई थीं। प्रभुकी ऐसी दशा देखकर उस सवारने अपने स्वामीसे यह बात कही। सभी सवार फौरन अपने-अपने घोड़ोंपरसे उतर पड़े। महाप्रभुके अद्भुत रूपलावण्ययुक्त दिव्य चेहरेको देखकर सभी हठात् उनकी ओर आकर्षित हो गये और उन सबके हृदयमें प्रभुके प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो गया। उन्होंने समझा कि इस संन्यासीके पास कुछ द्रव्य होगा, उसीके लालचसे इसके साथियोंने इसे धतूरा दे दिया है। यह सोचकर उन सवारोंके सरदारने प्रभुके सभी साथियोंको कसकर बाँध लिया और कहने लगे—'यहीं इनकी कत्ल कर डालो।'

कत्लका नाम सुनते ही बंगाली भट्टाचार्य महाशय तो सिटपिटा गये। बंगालियोंकी ढीली धोती वैसे ही मशहूर है, फिर परदेशमें तो अच्छे-अच्छे साहसियोंकी सिट्टी भूल जाती है। बेचारे भट्टाचार्य थर-थर काँपने लगे। इसपर उस मथुराके साधु ब्राह्मणने साहस करके कहा—'आपलोग हमारे ऊपर व्यर्थ ही सन्देह करते हैं। हम यहींके तो हैं। हमें आप यहाँके शासनकर्ताके पास ले चलिये। वहाँ हमारे

बहुत-से यजमान और शिष्य हैं। वे सब हमें जानते हैं। हम कभी ऐसा काम कर सकते हैं?' ब्राह्मणकी इस बातसे उन लोगोंको सन्तोष नहीं हुआ! प्रभुका तीसरा साथी राजपूत था। उसका नाम था कृष्णदास। इस घटनासे कृष्णदासके राजपूती खूनमें जोश आ गया। वह कड़ककर बोला—'मालूम पड़ता है, अभी तुमलोगोंने हमें पहचाना नहीं। हम राजपूत हैं राजपूत। शस्त्र लेकर युद्धमें लड़ना ही हमारा नित्यका काम है। अभी मेरे आवाज देनेपर सैकड़ों योद्धा यहाँ एकत्रित हो जायँगे और बात-की-बातमें तुम्हें अपने इन कड़े वचनोंका मजा मिल जायगा।'

इस बातसे मनमें कुछ भयभीत-से होकर वे सवार अपने पीरसाहबकी ओर देखने लगे। पीरजीने कुछ गम्भीरताके साथ शान्तस्वरमें पूछा—'हम यह जानना चाहते हैं कि ये इतने सुन्दर तेजस्वी और स्वस्थ शरीरके युवक संन्यासी बेहोश क्यों पड़े हैं?'

कृष्णदासजीने कहा—'ये हमारे गुरु हैं, इन्हें कभी-कभी मिरगीका दौरा हो जाता है, इस समय ये उसीके दौरेसे बेहोश पड़े हैं।'

कृष्णदास इतना कह ही रहे थे कि प्रभु उसी समय चैतन्यता लाभ करके उठकर खड़े हो गये। और जोरोंसे प्रेममें गद्गद होकर नृत्य करने लगे। तब राजकुमार बिजलीखाँने पूछा—'साधू बाबा! आप अबतक बेहोश क्यों पड़े थे? मालूम पड़ता है, आपके इन साथियोंने आपको भूलसे धतूरा खिला दिया है, उसीसे आप बेहोश थे। अपने रुपये-पैसे देख लीजिये। इन धतूरा खिलानेवाले साथियोंको आप जो कहेंगे, वही उचित दण्ड दिया जायगा।'

प्रभुने अत्यन्त ही सरलताके साथ कहा—'भाइयो! ये मेरे साथी मेरे दूसरे शरीर ही हैं। इन्हींकी कृपासे तो मुझे व्रजमण्डलके समस्त तीर्थोंके दर्शन हो सके हैं। मैं तो भिक्षुक संन्यासी हूँ, कामिनी-काञ्चनका

कभी स्पर्श नहीं करता। मुझे धतूरा देनेसे किसीको क्या लाभ हो सकता है? आपलोग घबड़ायें नहीं, मुझे कभी-कभी मिरगीका दौरा हो उठता है, उसीके दौरेमें मैं बेहोश हो गया था, और कोई भी कारण नहीं है।' प्रभुके ऐसा कहनेपर उन लोगोंने सभी साथियोंके बन्धन खोल दिये।

अब प्रभुकी और उस राजकुमारके धर्म-गुरु (पीरसाहब) की परस्परमें कुछ धार्मिक बातें होने लगीं। वह यवनराजकुमार बड़ा ही सहृदय, सुशील, शान्त और कोमल प्रकृतिका था, प्रभुके दर्शनोंसे ही उसपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। वह प्रभुकी सरलता, भावुकता और तन्मयताको देखकर मुग्ध हो गया और हृदयसे उन्हें प्यार करने लगा। पीरसाहब भी धर्मान्ध नहीं थे, उनके हृदयमें भी सदसद्विवेक, विचार और प्रेम-प्रसङ्गको समझनेकी शक्ति थी। प्रभुकी प्रेमभरी बातोंको सुनकर वह अपने इस्लामीपनके आग्रहको छोड़कर प्रभुके शरणापन्न हुआ। प्रभुके पैर पकड़कर वह कहने लगा—'आप सचमुच नारायण हैं, आपके दर्शनोंसे मुझे बड़ी शान्ति हुई है। अब आप मेरे उद्धारका कोई उपाय बताइये। मैं तो पीरपनके मिथ्याभिमानमें अपने स्वरूपको ही भूल गया था। आपने मुझ डूबते हुएको हाथ पकड़कर उबारा है, अब आप ही मुझे आगेका रास्ता भी कृपा करके बतावें।'

प्रभुने कहा—'आपका हृदय शुद्ध है, इसमें अभिमान रह ही नहीं सकता। यह तो रामके रहनेकी जगह है। अन्तर्यामी भगवान् सबके हृदयोंकी बातें जानते हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान् और सब कुछ करनेमे समर्थ हैं। उनसे किसीके हृदयका भाव छिपा नहीं है। उन्हें किसी भी नामसे पुकारिये, उनके किसी भी रूपका सच्चे हृदयसे ध्यान कीजिये, उसीसे वे प्रसन्न हो जायँगे, क्योंकि संसारमें जितने नाम हैं, जितने रूप हैं, वे सब उन्हींके हैं। उनके बिना किसी नाम-रूपकी प्रतीति ही नहीं हो

सकती । भगवान्‌को दास्यभावसे भजना चाहिये । अपनेको गुरु, आचार्य या शिक्षक न समझना चाहिये । आजसे अपनेको राम-दास समझिये इसी-में आपका कल्याण है ।'

बस, उसी समयसे उसने अपना नाम रामदास रख लिया और वह 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' कहकर नृत्य करने लगा । राजकुमार बिजलीखाँ तो पहलेसे ही प्रभुको आत्मसमर्पण कर चुका था, उसके कोमल हृदयमें प्रभुकी प्रेममयी मूर्ति पहलेसे ही विराजमान हो चुकी थी । किन्तु अब तो वह अपनेको नहीं रोक सका । अपने धर्मगुरुके इस परिवर्तनका उसके ऊपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा । वह भी कृष्ण-कृष्ण कहकर प्रभुके चरण-कमलोंमें लोटने लगा । प्रभुने उसे प्रेमालिङ्गन प्रदान किया । मानो उसके शुद्ध हृदयमें प्रभुने शक्तिका सञ्चार कर दिया हो । प्रभुके प्रेमालिङ्गनको पाते ही सरलहृदय राजकुमार पागलकी भाँति नृत्य करने लगा । उसी समय उसने इस्लामी धर्मकी पद्धतिको छोड़कर वैष्णव-धर्मकी शरण ली । वह अपने साथियोंके सहित सदा श्रीकृष्ण-कीर्तनमें ही मग्न रहने लगा । वे सब-के-सब 'पाठान वैष्णव' के नामसे प्रसिद्ध हुए । उनका एक अलग दल ही बन गया । बिजलीखाँ हिन्दुओंके जिस तीर्थमें भी जाता वहीं वैष्णवलोग उसके भक्ति-भावसे सन्तुष्ट होकर उसका अत्यधिक आदर करते ।

इस प्रकार पठानोंको प्रेम-दान देकर प्रभु गङ्गाजीके किनारे सोरों (सूकरक्षेत्र) में पहुँचे । सोरोंमें गङ्गा-स्नान करके प्रभु बड़े ही प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने साथी कृष्णदासको तथा उस माथुरिया साधुबाबाको यहींसे लौट जानेकी आज्ञा दी । इसपर वे प्रभुके पैर पकड़कर रोते-रोते कहने लगे—'प्रभो ! यदि आप हमें सदा अपने पास रखना नहीं चाहते तो प्रयागतक चलनेकी आज्ञा तो अवश्य ही दीजिये । मकरकी

पठानोंको प्रेमदान

संक्रान्तिका स्नान करके हम लौट आवेंगे।' प्रभुने उन देवीकी विनती स्वीकार कर ली और आप अपने सभी साथियोंके सहित गङ्गाजीके किनारे-के किनारे-किनारे प्रयागकी ओर चले। गङ्गाजीके किनारेके सभी ग्राम गङ्गामाताके प्रभावके कारण बड़े ही शुद्ध—पवित्र होते हैं। उन ग्रामोंके प्रायः सभी सद्‌गृहस्थ साधु-महात्माओंको बड़ी ही श्रद्धाके साथ भिक्षा देते हैं। इसीलिये अच्छे-अच्छे विरक्त साधु-महात्मा राजपथ (सड़क) से कभी यात्रा नहीं करते, वे निरन्तर माताका दर्शन करते हुए और माता-के अमृततुल्य जलका पान करते हुए गङ्गाजीके किनारे-किनारे ही विचरण करते हैं। गङ्गाजीके किनारे-किनारे यात्रा करनेमें [illegible] प्रयागका फल मिलता है। गङ्गाजीके किनारेको साधु-महात्माओंका राजमार्ग ही समझना चाहिये। प्रभु भी गङ्गाजीके किनारेके ग्रामोंमें हरिनाम-सङ्कीर्तनका प्रचार करते हुए और लोगोंको प्रेमानन्दमें प्लावित करते हुए प्रयाग पहुँचे, तथा वहाँपर पुनः यमुनाजीके दर्शन करके प्रेममें उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे। प्रयागराजमें सङ्गमपर वैसे ही सदा मेला-सा लगा रहता है, किन्तु प्रभुके आनेसे उस मेलेकी शोभा और भी अधिक बढ़ गयी। हजारों आदमी आ-आकर प्रेममें विभोर होकर प्रभुके साथ नाचने लगते और नाचते-नाचते बेहोश होकर भूमिपर गिर पड़ते। इस प्रकार प्रभुके प्रयागमें आनेसे वहाँपर भक्तिकी एक प्रकारसे बाढ़-सी आ गयी। सभी प्रभुप्रदत्त प्रेमासवका पान करके पागल-से बन गये और अपने आपेको भूलकर सदा—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव।

इन भगवान्‌के सुमधुर नामोंसे आकाशमण्डलको गुँजाने लगे।

श्रीरूपको प्रयागमें महाप्रभुके दर्शन

देशे देशे दुराशाकवलितहृदयो निष्कृपाणां नराणां
धावं धावं पुरस्तादतिकुमतिरहं जन्म सम्पादयामि।
आधायाधाय राधाधव तव चरणाम्भोजमन्तःसमाधा-
वन्तेऽरण्येऽतिपुण्ये पुलकितवपुषो वासरान् वाहयन्ति ॥*

(सु० र० भां० ३९२ । २३०)

गौड़ेश्वरके मन्त्री रूप और सनातन—इन दोनों भाइयोंको पाठक भूले न होंगे। रामकेलि नामक ग्राममें प्रभुके दर्शन करके और नूतन जन्म पाकर ये दोनों भाई प्रभुसे विदा हुए। प्रभुके दर्शनोंसे ही इनके भीतर छिपी हुई भावुकता और भगवद्भक्ति एकदम प्रस्फुटित हो उठी। इन्हें अपने पूर्वकृत्योंपर पश्चात्ताप होने लगा। साधु-सङ्गसे संसारमें मनुष्य-शरीरकी सार्थकताका बोध होता है और तभी अपने गतजीवनकी निरर्थकताका भान होने लगता है। उसी समय हृदयमें पश्चात्तापकी अग्नि जलने लगती है, उस अग्निमें पड़कर सुवर्णके समान मन दहकने लगता है। पश्चात्तापरूपी अग्निके उत्तापसे मनका मैल जलकर भस्म हो

* हाय! मैं ही एक ऐसा कुबुद्धि हूँ जो दुराशाग्रस्त हृदयसे देश-देशमें निर्दयी धनी मनुष्योंके आगे दौड़-दौड़कर अपना जन्म व्यर्थ गँवा रहा हूँ। हे राधाकान्त! सुबुद्धि तो वे हैं जो अत्यन्त पुनीत काननके भीतर समाधिमें तुम्हारे चरणारविन्दोंका ध्यान करते-करते रोमाञ्चित-शरीरसे दिन व्यतीत करते हैं।

जाता है, और फिर केवल शुद्ध सुवर्ण ही शेष रह जाता है। फिर उसमें मैलका नामतक नहीं रहता, वह एकदम निर्मल होकर चमकने लगता है, उसीमें होकर भगवान्‌के दर्शन होते हैं। दर्शन क्या होते हैं भगवान् उसमें आकर विराजमान हो जाते हैं और फिर उसे अपना घर ही नहीं, कलेवर बना लेते हैं। इसलिये साधु-सङ्गका प्रधान फल पूर्वकृत पापोंका पश्चात्ताप ही है। जिसे साधु-सङ्ग पाकर भी पश्चात्ताप नहीं हुआ, उसे या तो यथार्थ साधु-सङ्ग ही प्राप्त नहीं हुआ या वह पूर्वजन्मकृत पापोंके कारण इतना अपात्र है कि अभी उसे चिरकालतक साधु-सेवा करनेकी आवश्यकता है। जब भी पूर्वकृत कर्मोंके लिये हृदयमें घबड़ाहट हो और प्रभु-प्राप्तिके लिये हृदय सदा छटपटाता-सा रहे, तभी समझना चाहिये कि साधु-सङ्गतिका वास्तविक फल मिल गया।

ये दोनों ही भाई भाग्यवान् थे, भगवान्‌के निज जन थे, अनुग्रह-सृष्टिके जीव थे। प्रभुके दर्शनमात्रसे ही इनकी कायापलट हो गयी। प्रभुके दर्शन करते ही इन्हें पद, प्रतिष्ठा, परिवार, पैसा और प्रेय पदार्थोंसे एकदम घृणा हो गयी। इनका मनमधुप वृन्दावनकी कुञ्जोंमें विहार करनेके लिये छटपटाने लगा। जिस प्रतिष्ठित पदके लिये संसारी लोग सब कुछ करनेके लिये तैयार हो जाते हैं, वही राजमन्त्रीका पद उन्हें घोर बन्धन-सा प्रतीत होने लगा। रूप तो लौटकर गौड़ गये ही नहीं। वे अपनी धन-सम्पत्तिको नावपर लादकर दस-बीस नौकरोंके साथ अपनी जन्मभूमि फतेहाबादको चले गये। वहाँ जाकर अपना आधा धन तो उन्होंने ब्राह्मण और कंगालोंको बाँट दिया। कुछ परिवारके लिये रख दिया और दस हजार रुपये गौड़में एक मोदीकी दूकानपर जमा कर दिये।

इधर महाभाग सनातनकी दशा रूपसे भी अधिक विचित्र हो गयी। वे लौटकर राजधानीमें तो गये, किन्तु राजकाज करनेमें एकदम असमर्थ-से हो गये। सब काम मनसे ही होते हैं, मन तो एक ही है,

उससे चाहे इस लोकका काम करा लो या परमार्थके मार्गका शोधन करा लो। एक मन दो काम कदापि नहीं कर सकता। सनातन जानते थे कि बादशाह मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करता है, यदि मैं एकदम राजकाजसे त्यागपत्र दे दूँ, तो बादशाह उसे कदापि स्वीकार न करेगा और फिर आजकल तो उसका उड़ीसा-देशके महाराजसे युद्ध छिड़ा हुआ है। वह मेरे ऊपर सबसे अधिक विश्वास रखता है, ऐसे समयमें वह मुझे कभी भी न छोड़ेगा। यह सब सोचकर उन्होंने बादशाहको कहला भेजा—'मैं बीमार हूँ, राजकाज करनेमें एकदम असमर्थ हूँ। कुछ समयका अवकाश चाहता हूँ।'

बादशाहको इनकी बीमारीकी बड़ी चिन्ता हुई, उसने अपने दरबारके प्रधान हकीमको इनके इलाजके लिये भेजा। वैद्यने जाकर इनकी नाड़ी देखी किन्तु वह अनाड़ी इनकी नाड़ीको क्या पहचान सकता है? इनकी वेदनाको तो कोई परमार्थी वैद्य ही जान सकता था, इस लोकके वैद्योंकी पुस्तकोंमे न तो इस रोगका निदान है और न चिकित्सा। राजवैद्यने इनके सम्पूर्ण शरीरकी परीक्षा करके कहा—

'महाशय, मुझे तो आपके शरीरमें कोई रोग दीखता नहीं।' इस बातको सुनकर सनातनजी मुसकरा दिये, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

दरबारी हकीमने जाकर बादशाहसे कह दिया—'श्रीमन्! मुझे तो उनके शरीरमें कोई रोग दीखा नहीं। वे तो भले-चंगे बैठे हुए पण्डितोंसे भागवतकी कथा सुन रहे हैं। मैंने तो आजतक ऐसा रोगी कोई भी नहीं देखा।'

बादशाह इतना सुनते ही आगबबूला हो गया, वह उसी समय उठकर स्वयं सनातनजीके वासस्थानपर पहुँचा। सचमुच सनातनजी

बैठे हुए कथा सुन रहे थे। दस-बीस ब्राह्मण पण्डित उनके इधर-उधर बैठे हुए थे। बादशाहको सहसा अपने यहाँ आते देखकर सनातनजी उठकर खड़े हो गये और उनकी अभ्यर्थना करके उनके बैठनेयोग्य एक सुन्दर-सा आसन दिया। सबके बैठ जानेपर बादशाहने कुछ बनावटी व्यग्रता-सी प्रकट करते हुए कहा—'मल्लिक महाशय, तुम्हें क्या बीमारी हो गयी है?'

कुछ वैसे ही अन्यमनस्क-भावसे धीरे-धीरे सनातनजीने कहा—'वैसे ही श्रीमन्! कुछ तबीयत खराब-सी है। काम करनेमें बिल्कुल जी ही नहीं लगता।'

बादशाहने कहा—'कुछ भी तो बात होगी, मुझे ठीक-ठीक बताओ क्या रोग है, क्या बीमारी है और काममें चित्त न लगनेका कारण क्या है?'

उसी तरहसे उपेक्षाके भावसे सनातनजीने कहा—'नहीं कोई खास बात नहीं है। तबीयत ठीक नहीं है।'

अब बादशाह अपने रोषको नहीं रोक सका, उसने कड़ककर कहा—'राजकाजसे तुम्हारी यह लापरवाही ठीक नहीं। तुम जानते हो मैं तुम दोनों भाइयोंपर कितना अधिक विश्वास रखता हूँ, किन्तु देखता हूँ तुम दोनों ठीक समयपर ही मुझे धोखा देना चाहते हो। इसे विश्वासघात न कहूँ तो और क्या कहूँ। तुम्हारा भाई यहाँसे भागकर फतेहाबाद चला गया। तुम बीमार न होनेपर भी बीमारीका बहाना बनाये घरमें बैठे हो। इस धोखेबाजीके अंदर कौन-सी बात छिपी है, मुझे सच-सच बताओ। तुम्हारी लापरवाहीके कारण मेरा सभी राजकाज चौपट हो गया है। तुम्हें राजकाज करना होगा और अभी चलकर अपना काम सँभालना होगा।'

अत्यन्त ही नम्रताके साथ किन्तु निर्भीकभावसे सनातनजीने कहा—'श्रीमन् ! आप जो चाहें सो समझें । मैं सदा आपके हितकी बात सोचता रहा हूँ और अब भी आपका शुभचिन्तक हूँ, किन्तु अब मुझसे राजकाज नहीं हो सकता ।'

लाल-लाल आँखें निकालते हुए बादशाहने कहा—'क्यों नहीं हो सकता ?'

उसी प्रकार नम्रताके साथ सनातनने उत्तर दिया—'इसलिये कि श्रीमन् ! अब मेरा मन मेरे वशमें नहीं है, वह वृन्दावनकी ओर चला गया है ।'

बादशाहने झुँझलाकर कहा—'मैं यह सब सुनना नहीं चाहता । तुम एक बात बताओ । राजकाज सम्हालते हो या नहीं ?'

दृढ़ताके साथ सनातनजीने कहा—'मैंने श्रीमान्से पहले ही निवेदन कर दिया है कि मैं अब किसी प्रकार राजकाज न कर सकूँगा ।'

सनातनजीकी इस दृढ़ताको देखकर बादशाह हुसैनशाह एकदम चकित हो गया । जो आजतक सदा हाथ बाँधे हुए मेरी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहता था, वही मेरा वेतनभोगी नौकर मेरे सामने इस प्रकार निर्भीक होकर उत्तर दे रहा है । इस बातसे उसे क्रोध आया, किंतु असमयमें क्रोध प्रकट करना उचित न समझकर बादशाहने कुछ बनावटी प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—'अच्छा, जाने दो तुम यहाँका काम मत करो । मेरे साथ लड़ाई करने उड़ीसा देशको तो चलोगे ?'

सनातनजीने फिर उसी तरह कहा—'श्रीमन् ! मुझे किसी खास कामसे चिढ़ नहीं है । मुझे तो संसारी जितने काम हैं, सभी काटनेको दौड़ते हैं । मैं कुछ भी न कर सकूँगा । आप मुझसे अब किसी प्रकारके कामकी आशा न रखें ।'

अपने भीषण क्रोधको दबाते हुए और रोषसे ओठ चबाते हुए बादशाहने कहा—'शाकिर मल्लिक ! तुम होशमें होकर बातें कर रहे हो या नशेमें ? तुम्हें पता है, तुम किससे बातें कर रहे हो ? अपनी बातपर फिरसे सोच लो और खूब समझ-सोचकर उत्तर दो ।'

सनातनजीने कहा—'श्रीमन् ! मैंने कोई नशा नहीं किया है । मैं खूब होशमें होकर बातें कर रहा हूँ । मुझे पता है कि गौड़-देशके एकमात्र स्वतन्त्र शासक और बंगालके अधीश्वरसे मैं बातें कर रहा हूँ, जिनकी छोटी-सी आज्ञासे देश-के-देश नष्ट-भ्रष्ट और बरबाद हो सकते हैं । जिनकी आज्ञा निष्फल नहीं हो सकती । श्रीमन् ! मैंने खूब सोच लिया है और खूब सोचकर ही उत्तर दे रहा हूँ कि मुझसे अब राजकाज किसी भी हालतमें न हो सकेगा ।'

क्रोधके स्वरमें बादशाहने कहा—'तुम जानते हो, तुम्हारी इस धृष्टताका फल क्या होगा ?'

सिर झुकाकर सनातनजीने कहा—'मैं खूब जानता हूँ, यह सिर धड़से अलग हो जायगा, श्रीमन् ! इसकी मुझे तनिक भी परवा नहीं ।'

बादशाह आगे कुछ न कह सका । उसने उसी समय क्रोधमें भरकर कहा—'कोई है ?' फौरन दो सेवक प्रणाम करके बादशाहके सम्मुख खड़े हो गये । बादशाहने कहा—'राजके प्रधान कर्मचारीसे कहकर इसे अभी जेलखाने पहुँचाओ ।' राजाज्ञा क्षणभरमें ही पालन की गयी । सनातनजी उसी समय राजबन्दी बनाकर कारावासमें भेजे गये । इधर बादशाह ऐसी आज्ञा देकर उड़ीसा-प्रान्तमें युद्ध करनेके लिये चला गया ।

अब दूसरे भाई रूपजीकी बात सुनिये। अपने भाईके राजबन्दी होनेका समाचार सुननेके पूर्व ही उन्होंने प्रभुकी खोजके लिये दो नौकर पुरी भेजे थे। उन्होंने आकर समाचार दिया कि प्रभु तो वनके पथसे श्रीवृन्दावनकी यात्रा करने चले गये हैं। प्रभुके वृन्दावन-गमनका समाचार सुनकर रूप अपने छोटे भाई अनूप (श्रीवल्लभ) को साथ लेकर प्रभुकी खोजमें वृन्दावनकी ओर चल पड़े। चलते समय वे अपने भाई सनातनके पास एक पत्र इस आशयका भेज गये कि 'हम श्रीचैतन्यकी खोजमें वृन्दावन जा रहे हैं। हमारा मनमधुप चैतन्य-चरणारविन्दोंका मकरन्द पान करनेके निमित्त उन्मत्त-सा हो रहा है। अब हम अपनेको क्षणभर भी यहाँ नहीं रख सकते। श्रीचैतन्य-चरण जहाँ भी होंगे वहीं जाकर हम उनके शरणापन्न होंगे। आप किसी बातकी चिन्ता न करें, मङ्गलमय श्रीचैतन्य आपका भला करेंगे। वे आपको शीघ्र ही इस कारागारके बन्धनसे ही नहीं, संसारी बन्धनसे भी उन्मुक्त करेंगे। अमुक मोदीकी दूकानपर आपके निमित्त मैं दस हजार रुपये जमा कर चला हूँ। यदि कारावासमुक्तिमें उनका कुछ उपयोग हो सके तो कीजिये और शीघ्र ही कारागारसे मुक्त होकर व्रजमें आकर श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शन कीजिये। यह पत्र मैं गुप्त रीतिसे आपके पास भेज रहा हूँ। मंगलमय भगवान् आपका भला करें। गुप्त रीतिसे यह पत्र सनातनजीके पास पहुँचा। पत्रको पढ़कर उनका चित्त भी श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शनोंके लिये तड़फड़ाने लगा। वे किसी-न-किसी प्रकार जेलसे उन्मुक्त होनेका उपाय सोचने लगे। उधर रूपजी अपने भाई अनूपजीके साथ प्रभुकी खोज करते हुए काशी होकर प्रयाग पहुँचे। प्रयागमें प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के घाटसे पार होकर वे वर्तमान दारागंज-के समीप पहुँचे। वहीं उन्हें अनेक आदमियोंसे घिरे हुए महाप्रभु चैतन्य-देवजीके दर्शन हुए। प्रभु प्रेममें विभोर हुए भक्तोंके साथ सङ्कीर्तन नृत्य

करते हुए विन्दुमाधवजीके दर्शनके लिये जा रहे थे। वे दोनों भाई भी उस भीड़के साथ-ही-साथ हो लिये, महाप्रभुको जो भी नृत्य करते हुए देखता वही उनके साथ चल पड़ता। इस प्रकार विन्दुमाधवजीके दर्शन करके प्रभु लौटे। एक दक्षिणी ब्राह्मणने उस दिन महाप्रभुका निमन्त्रण किया था। महाप्रभु उसके यहाँ भिक्षा करने गये। भीड़ हट जानेपर ये दोनों भाई प्रभुके पीछे उस ब्राह्मणके घरमें घुस गये। ब्राह्मणने अपने घरके बाहर छोटे-से उद्यानमें पत्थरकी चौकीपर प्रभुके लिये आसन बिछाया था। प्रभु उसपर बैठे हुए चारों ओर वाटिकाकी शोभाको निहार रहे थे कि उसी समय रूप और अनूप इन दोनों भाइयोंने प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। रूपको अपने पैरोंमें प्रणत देखकर प्रभु जल्दीसे आसनसे उठकर खड़े हो गये, और उन्हें बलपूर्वक उठाकर छातीसे चिपटाते हुए उनके सिरपर अपने कोमल कर फिराने लगे।

महाप्रभुके बैठ जानेपर दोनों भाई प्रभुके पैरोंको पकड़े हुए बैठे। प्रभुने अनूपका परिचय पूछा और सनातनजीके समाचार जानने चाहे। श्रीरूपजीने सभी वृत्तान्त सुनाकर कहा—'प्रभो! वे श्रीचरणोंके दर्शनके लिये कारावासकी काली कोठरीमें पड़े हुए तड़प रहे होंगे।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'अब वे कारावासमें कहाँ, अब तो वे वहाँसे छूट गये होंगे। भगवान् करेंगे तो शीघ्र ही तुम दोनों भाइयोंकी भेंट होगी। अब तुम कुछ काल यहीं मेरे पास रहो, यह कहकर प्रभुने अपने पास ही इन दोनों भाइयोंको रहनेके लिये स्थान दे दिया। बलभद्र भट्टाचार्यने इन दोनों भाइयोंको भोजन कराया और प्रभुका प्रसादी-अन्न भी इन्हें दिया। इस प्रकार ये दोनों ही भाई आनन्दके साथ प्रभुकी सेवामें रहने लगे।

महाप्रभु वल्लभाचार्य

श्रीमदाचार्यचरणं पुष्टिमार्गप्रचारकम्।
वल्लभं गोपवंशाख्यं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥*
(प्र० द० म०)

हम पहले ही बता चुके हैं कि पुष्टिमार्गीय सम्प्रदायके प्रवर्तक भगवान् श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु चैतन्यदेवके समकालीन ही थे। इन दोनों महापुरुषोंके जीवनमें बहुत अधिक साम्य है। दोनों ही भगवान्के अनन्य भक्त थे। दोनों ही लोक-शिक्षक आचार्य थे, दोनों ही भक्तिमार्गके प्रवर्तक थे और दोनों ही अपने-अपने सम्प्रदायोंमें भगवान्के अवतार माने जाते हैं। दोनों ही महाप्रभु कहलाते थे। दोनोंका ही जन्म केवल छः वर्षके आगे-पीछे हुआ। भगवान् वल्लभाचार्य महाप्रभु चैतन्यदेवसे छः वर्ष पूर्व ही इस अवनिपर अवतरित हुए और दो-ढाई वर्ष पहले इस संसारसे तिरोभावको प्राप्त हुए। दोनोंके ही जीवनमें त्याग, वैराग्य और प्रेमके भाव पूर्णरीत्या विकसित हुए थे। दोनोंने ही अपने प्रचण्ड प्रेमके प्रभावसे प्रेमामृतरूपी भक्ति-रससे पृथ्वीको परिप्लावित बना दिया। दोनों ही नम्र थे, दोनों ही रसिक थे, दोनों ही गुणग्राही, शान्त, अदोषदर्शी और प्रेमोपासक थे। इन दोनों महापुरुषोंका दो बार परस्परमें समागम भी हुआ था। उसका निष्पक्ष विवरण प्राप्त नहीं होता।

* जो पुष्टिमार्गके प्रचारक हैं, जिन्होंने अपनेको गोपवंशका कहकर प्रकट किया, उन्हीं श्रीवल्लभाचार्यको हम बार-बार प्रणाम करते हैं।

फिर भी इतना जाना जाता है कि ये एक-दूसरेसे अत्यन्त ही स्नेह करते थे और दोनोंमें बहुत अधिक प्रगाढ़ता रही होगी। क्यों न रहे, जो संसारको अपने प्रेमामृतसे अमर बना सकते हैं, वे आपसमें सङ्कुचित या विद्वेषपूर्ण भाव रख ही कैसे सकते हैं ? इसलिये प्रसङ्गवश यहाँ बहुत ही संक्षेपमें भगवान् वल्लभाचार्यका परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। जिसके जीवनमें त्याग, वैराग्य और प्रेमरूपी चैतन्यता है, वही चैतन्य-चरितावलीका पात्र है, इसलिये श्रीवल्लभाचार्यका चरित्र यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा और उनके चारु चरित्रसे पाठकोंको शान्ति तथा आनन्दकी ही प्राप्ति होगी।

महाप्रभु वल्लभाचार्यका जन्म भारद्वाजगोत्रीय तैत्तिरीय शाखा-वाले यजुर्वेदीय शुद्ध और कुलीन ब्राह्मण-वंशमें हुआ। इनके पूर्वज भट्ट उपाधिधारी दक्षिणी ब्राह्मण थे। उनका कुल बेल्नाट नामसे प्रसिद्ध था। इनके पिताका नाम श्रीलक्ष्मण भट्ट और माताका नाम यल्लमागारू था। ये लोग आन्ध्रदेशमें व्योमस्तम्भ-पर्वतके पास कृष्णा-नदीके दक्षिण तटपर काकरवाड (काकुम्भकर) नामक नगरमें रहते थे। पीछेसे इनके पूज्य पिता अग्रहार नामक ग्राममें आकर रहने लगे।

श्रीलक्ष्मण भट्ट एक बार सपत्नीक तीर्थ-यात्राके निमित्त काशी आये और वहीं हनुमान-घाटके ऊपर एक घर लेकर रहने लगे। उस समय काशीमें बड़ा विद्रोह था, इसी कारण भट्ट महोदय अपनी पत्नीके सहित स्वदेशके लिये चले। इनकी पत्नी गर्भवती थी। रास्तेमें चम्पारण्यके समीप चोडानगर (चतुर्भद्रपुर) मे महाप्रभुका प्रादुर्भाव हुआ। पिताने चम्पारणसे सभी सामग्री लाकर पुत्रके यथोचित जातकर्म आदि संस्कार किये और फिर काशीमें ही आकर रहने लगे। महाप्रभुका जन्म वैशाख कृष्णपक्ष ११ संवत् १५३५ (शाके १४००) में ...

समय हुआ था। पाँच वर्षकी अवस्थामें पिताने इनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया। तभीसे ये वेदशास्त्रोंकी शिक्षा पाने लगे। जब ये ग्यारह वर्षके थे तभी इनके पूज्य पिता परलोकवासी हो गये। तब ये अपनी माता तथा कई एक शिष्योंको साथ लेकर स्वदेशको गये। इस छोटी-सी अवस्थामें ही इन्होंने विद्यानगरकी राजसभामें पण्डितोंसे शास्त्रार्थ करके विजय-लाभ किया और आचार्य-पदवी प्राप्त की। विद्यानगरके महाराजकी ओरसे आपका अत्यधिक सम्मान किया गया। इससे इनकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। फिर आपने अपने बहुत-से अनुयायियोंके साथ विद्यानगरसे कन्याकुमारी, पण्ढरपुर आदि स्थानोंकी यात्रा की। पण्ढरपुरसे आप नासिक, त्र्यम्बक, नर्मदातट, ओंकारेश्वर, माहिष्मती, उज्जैनी, सिद्धवट, चैयपुर, दतिया, ग्वालियर, धौलपुर आदि स्थानोंमें अपने प्रतिपक्षियोंको परास्त करते हुए और राजसभाओंमें सम्मान प्राप्त करते हुए मथुरा होकर गोकुल पधारे। वहाँ आपको भक्तिमार्गको प्रकट करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त हुई और स्वप्नमें भगवान्‌ने इन्हें एक गद्यात्मक मन्त्रका उपदेश किया, जिसके द्वारा जीवोंका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध किया जाता है। यहींपर कुछ शिष्य आपके शरणापन्न हुए और आप यहीं रहकर शास्त्र-प्रणयन करते रहे।

इसके अनन्तर आपने सम्पूर्ण व्रजके तीर्थोंकी यात्रा की। फिर आप भक्तिका प्रचार करनेके निमित्त दक्षिणकी ओर गये और वहाँ गुजरात, काठियावाड़ तथा सिन्धके अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरोंमें आपने जाकर पण्डितोंसे शास्त्रार्थ किया और भक्तिमार्गका जोरोंसे प्रतिपादन किया। वहाँ इनके पाण्डित्यकी सर्वत्र ख्याति हो गयी। और हजारों सुनार, भाटिया तथा धनी-मानी पुरुष इनके शिष्य हो गये। भेंट-पूजा भी यथेष्ट आने लगी और गुजरात तथा काठियावाड़के भावुक लोगोंने इनका बड़ा ही भारी सत्कार किया। दक्षिणकी यात्रा समाप्त करके

आपने उत्तर और पूर्व दिशाके तीर्थोंकी यात्रा की। कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, ऋषीकेश, टिहरी, गङ्गोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ आदि उत्तरके तीर्थोंमें होते हुए फिर लौटकर हरिद्वार आ गये और आप नैमिषारण्य आदि तीर्थोंमें दर्शन करते हुए जगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये गये। जगन्नाथजीसे दक्षिणके पथसे महेन्द्री-पर्वतपर परशुरामजीके दर्शन करते हुए फिर अपने ग्राम अग्रहारमें आ गये।

कुछ काल अग्रहारमें रहकर आचार्यने दूसरी बार भारत-यात्रा करनेका विचार किया। इसलिये आप मङ्गलप्रस्थ, विद्यानगर, लोहगढ़ होते हुए पण्ढरपुर आये। पण्ढरपुरमें आकर इन्होंने भगवान् विट्ठल-नाथजीके दर्शन किये। अबतक ये दण्ड, मेखला, जटा, कृष्णाजिन आदि सभी ब्रह्मचारियोंके चिह्नोंको धारण करते थे। और ब्रह्मचारी-वेशमें रहते थे। यहींपर भगवान्‌ने इन्हें विवाह करनेकी आज्ञा दी। इन्होंने भगवान्‌की आज्ञाको स्वीकार कर लिया। यहाँसे फिर आप गुजरात-काठियावाड़की यात्रा करते हुए और अपने शिष्य-सेवकोंको भक्तिमार्गका उपदेश करते हुए पुष्कर होते हुए व्रजमें पधारे। गोवर्धनमें गोवर्धननाथजी (गोपालजी) का प्राकट्य हुआ था। वहाँ उनकी सेवा-पूजामें इन्होंने योग दिया और श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजीको ही वहाँकी सेवाका सम्पूर्ण भार सौंपा। श्रीनाथजीकी प्रेरणासे ठाकुर पूरणमल्लने १५५६ में श्रीगोवर्धननाथजीका मन्दिर बनवाना आरम्भ किया। व्रज-मण्डलसे चलकर फिर आपने उत्तरके तीर्थोंकी यात्रा की और दूसरी बार फिर जगन्नाथजीकी यात्रा करके काशीजीमें आकर रहने लगे।

यहाँ आपने भगवत्-इच्छा समझकर अपने सजातीय देवभट्ट नामक एक दक्षिणी ब्राह्मणकी सर्वगुणसम्पन्ना लक्ष्मीदेवी नामकी कन्याके साथ विवाह किया। कुछ काल काशीमें निवास करके आप

फिर उसी प्रकार भ्रमण करते हुए गोकुलमें पधारे। तीसरी बार फिर आपने गुजरात-काठियावाड़ आदि देशोंमें भ्रमण किया। और बदरी-नारायणके तीसरी बार दर्शन करके गोकुलमें आ गये। गोकुलसे यमुना-जीके किनारे-किनारे आगरा होते हुए आप प्रयागराज पहुँचे और सङ्गमके उस पार यमुनाजीके तटपर अरैल नामक ग्राममें घर बनाकर रहने लगे। थोड़े दिन अरैलमें निवास करके आप काशी पधारे और वहाँसे आप चरणाद्रि (चुनार) में जाकर कुछ काल रहे। आचार्यके पास अब द्रव्यकी कमी नहीं रहती थी। हजारों धनी-मानी, सेठ-साहूकार इनके शिष्य हो गये थे। इसलिये ये धनको धार्मिक कार्योंमें खूब जी खोलकर खर्च करते थे। काशीमें आपने अपनी माताकी आज्ञासे तीस हजार ब्राह्मणोंको श्रद्धापूर्वक भोजन कराया था।

काशीसे फिर आपने प्रयाग होते हुए अरैलमे कुछ काल रहकर व्रजकी यात्रा की। इसी यात्रामें आगराके समीप गौघाटपर इनकी सूरदासजीसे भेंट हुई और वहीं वे इनके शरणापन्न हुए। सूरदासजीको साथ लेकर आप गोवर्धन पधारे और वहाँ गोवर्धननाथजीके नये मन्दिरकी प्रतिष्ठा करायी। उसमें बड़े-बड़े विद्वान् और साधु-महात्मा एकत्रित हुए थे। वहाँसे फिर आप अरैलमें ही आकर रहने लगे और वहीं इनके प्रथम पुत्र गो० श्रीगोपीनाथजीका जन्म हुआ। तभी आपने प्रयागमें अपने एक शिष्य पुरुषोत्तमदासको ज्योतिष्टोम-यज्ञ करनेकी आज्ञा की जो बड़ी धूमधामके साथ निर्विघ्न समाप्त हो गया।

इसके अनन्तर आप चुनारके राजाकी प्रार्थनासे वहाँ जाकर रहने लगे। वहीं इनके द्वितीय पुत्र गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराजका जन्म हुआ। अन्तमें आपने काशीमें भागवतकी रीतिसे संन्यास धारण किया। घर-बार छोड़कर और शिखा, सूत्र, दण्ड, कमण्डलुके सहित

काषायवस्त्र पहनकर ये भिक्षाके ऊपर निर्वाह करने लगे। उस समय इनका वैराग्य अपूर्व था। इतनी भारी सम्पत्ति, इतनी अधिक प्रतिष्ठा, स्त्री, बच्चे तथा शिष्य-सेवकोंसे एकदम पृथक् होकर आप निरन्तर भगवत्-अर्चा-पूजा और नाम-संकीर्तनमें ही लगे रहते थे। इस प्रकार अपने परम त्यागमय जीवनके द्वारा अपने शिष्य-प्रशिष्य तथा वंशजोंके लिये त्यागका आदर्श बताते हुए संवत् १५८७ के आषाढ़ मासकी शुक्ला तृतीयाके दिन आप इस असार संसारसे विदा होकर वैकुण्ठवासी बन गये।

महाप्रभु वल्लभाचार्य, विशेषकर गोकुल, अरैल, चुनार और काशीमें ही रहते थे। इन चारों ही स्थानोंमें इनकी बैठकें अभीतक बनी हुई हैं। और वे 'महाप्रभुकी बैठक' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इनके वंशज गोकुलिया गोसाईं कहे जाते हैं। भारतवर्षमें इसी सम्प्रदायके आचार्य सबसे अधिक धनी और वैभवशाली बताये जाते हैं। बड़े-बड़े महाजन धनी-सेठ इस कुलके सेवक तथा शिष्य हैं। आचार्यके द्वितीय पुत्र गो० श्रीविट्ठलनाथजी महाराजको इस सम्प्रदायके लोग साक्षात् श्रीकृष्णका अवतार मानते हैं। उन्होंने इस सम्प्रदायका खूब प्रचार किया। ये बड़े ही तेजस्वी, कर्मपरायण तथा धर्ममें आस्था रखनेवाले आचार्य थे। इनके गिरधरलालजी, गोविन्दलालजी, बालकृष्णजी, गोकुलेशजी, रघुनाथजी, यदुनाथजी और घनश्यामलालजी—ये सात पुत्र हुए। इनकी सात गद्दियाँ अभीतक विद्यमान हैं। पीछे इनके वंशज बहुत बढ़ गये जो बम्बई, काशी, मथुरा, गोकुल, नाथद्वारा आदि भिन्न-भिन्न स्थानोंमें अभीतक विद्यमान हैं। इनके शिष्य-सेवक गोस्वामी-बालकोंको अभी-तक भगवत्-बुद्धिसे मानते तथा पूजते हैं।

वल्लभ-सम्प्रदाय विशेषकर खण्डनपरक सम्प्रदाय नहीं है। दार्शनिक सिद्धान्तोंकी बात छोड़कर इस सम्प्रदायमें जहाँतक हमें मालूम

है, किसी सम्प्रदायकी पूजा-पद्धतिका खण्डन नहीं किया गया है। वल्लभ-सम्प्रदायमें वैदिक कर्मोंका अन्य सम्प्रदायोंकी तरह खण्डन नहीं है, किन्तु उसमें श्रीकृष्ण-सेवाको ही प्रधानता दी गयी है। ब्रह्म-सम्बन्ध-संस्कार इनके यहाँ मुख्य माना जाता है। गुरु शिष्यके कानमें मन्त्र देता है, उस मन्त्रका तात्पर्य यह है—'हमारे रक्षक श्रीकृष्ण हैं, उनसे हमारा हजारों वर्षोंसे वियोग हुआ है, इसी कारण त्रिविध तापोंके वशीभूत होकर हमारा सम्पूर्ण आनन्द तिरोहित हो गया है, ऐसी स्थितिवाला मैं श्रीगोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्णके निमित्त देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और अन्तःकरणके धर्म, स्त्री, गृह, पुत्र, कुटुम्ब, वित्त और आत्मा सबको समर्पण करता हूँ, हे कृष्ण! मैं आपका दास हूँ।' इस मन्त्रसे जीवात्माका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होना मानते हैं। ब्रह्म-सम्बन्ध हो जानेपर कोई भी स्त्री-पुरुष भगवान्‌को बिना अर्पण किये न तो अन्न-जल ग्रहण कर सकता है और न वस्त्र, आभूषण, वाहन, ~~सवारी~~ धन, स्त्री आदिका उपभोग कर सकता है। सबको कृष्णार्पणपूर्वक भगवत्-प्रसादी समझकर उपभोग करो, यही इसका तात्पर्य है। कितना ऊँचा भाव है, वास्तवमें पुरुष इस धर्मका सच्चे हृदयसे पालन कर सके तो उसका घरमें रहते हुए भी कल्याण हो सकता है।

भगवान् वल्लभाचार्यने अपने सिद्धान्तको समझानेके लिये स्वयं अनेक ग्रन्थ लिखे हैं तथा पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा और श्रीमद्भागवतपर सुन्दर भाष्य लिखे हैं। श्रीमद् आचार्य-चरणोंने अनेक ग्रन्थोंमें बड़ी ही युक्तिके साथ भक्ति-तत्त्व समझाया है। अपने सभी ग्रन्थोंका सार पाँच श्लोकोंमें वर्णन किया है। ये पाँच श्लोक ही उनके यथार्थ सिद्धान्तको स्पष्ट करते हैं। इन पाँच श्लोकोंसे पाठकोंको पता चल जायगा कि जो लोग पुष्टि-सम्प्रदायको प्रवृत्तिमार्ग बताते हैं और कहते हैं कि पुष्टि-सम्प्रदायमें सर्वकर्मत्याग

निषिद्ध बताया गया है, यह उनकी भारी भूल है । भगवान् वल्लभाचार्य दो मार्ग बताते हैं—एक निवृत्तिमार्ग दूसरा प्रवृत्तिमार्ग। निवृत्तिमार्गको वे सर्वश्रेष्ठ बताते हैं किन्तु निवृत्तिमार्गके अधिकारी विरले ही होते हैं, इसलिये जब कोई उसका अनुसरण न कर सके तो वह कृष्णार्पणबुद्धिसे अपने वर्णाश्रमके अनुसार श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही कर्म करता रहे । ब्रह्मचारीसे गृहस्थी होना, गृहस्थीसे वानप्रस्थ और वानप्रस्थसे संन्यास धारण करना—इसीका नाम प्रवृत्तिमार्ग है । लोग भूलसे सभी संन्यासियोंको निवृत्तिमार्गका ही समझ बैठते हैं । निवृत्तिमार्गका संन्यासी तो वह है कि ज्ञान होते ही चाहे वह कहीं भी कैसी भी दशामें हो, वहींसे सर्वस्व त्याग करके और विधि-निषेधके झंझटोंको छोड़कर अवधूत परमहंस बन जाय । उसकी चेष्टा बालककी-सी, जडकी-सी अथवा पागलकी-सी हो । क्रमशः ज्ञानपूर्वक एकके बाद एक आश्रममे प्रवेश करते हुए संन्यास धारण करना यह प्रवृत्तिमार्ग है । भगवान् वल्लभाचार्यने इसी प्रवृत्तिमार्गको अपने जीवनमें प्रत्यक्ष दिखाकर लोगोंको शिक्षा दी थी । वे निवृत्तिमार्गकी सर्वश्रेष्ठताको अस्वीकार नहीं करते, किन्तु उसके अधिकारी बहुत कम बताते हैं । लीजिये उनके ही शब्दोंमें सुनिये । नीचे हम उनके सारभूत सिद्धान्तके पाँच श्लोकोंको ही उद्धृत किये देते हैं । पुष्टिसम्प्रदायवाले इन्हीं पाँच श्लोकोंको भक्तिप्रकरणका सन्दोहनरूप समझते हैं । आचार्य आज्ञा करते हैं—

> गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते ।
> कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः ॥

(सर्वोत्तम सिद्धान्त तो यह है कि) घरका पूर्ण रीतिसे परित्याग ही कर देना चाहिये । (किन्तु पूर्वजन्मके संस्कारोंसे सभी गृह त्यागनेमे समर्थ नहीं हो सकते इसलिये) यदि घरको पूर्णरीत्या त्याग करनेकी

सामर्थ्य न हो तो घरमें रहकर सब कार्य श्रीकृष्णके ही निमित्त—उनके प्रीत्यर्थ ही करे। (ऐसा करनेपर कर्म करनेसे जो पाप होता है वह पाप न होगा) क्योंकि श्रीकृष्ण सभी प्रकारके अनर्थोंको मोचन करनेवाले हैं।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम्॥

(सर्वोत्तम सिद्धान्त तो यह है कि) सङ्ग किसीका करना ही न चाहिये। सभी प्रकारके सङ्गोंका एकदम परित्याग कर देना चाहिये। (किन्तु अनेक जन्मोंसे जीवका समाजमें मिलकर रहते आनेका स्वभाव पड़ गया है, इसलिये) सब प्रकारके सङ्गोंको परित्याग करनेमें समर्थ न हो सके तो सज्जन तथा सन्त-महात्माओंका ही सङ्ग करना चाहिये। क्योंकि सङ्गसे जो काम उत्पन्न हो जाता है उसकी ओषधि सन्त ही हैं।

भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाः।
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्॥
तत्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखः।

(अब बताते हैं जो गृहस्थी बन चुका है उसे कैसा व्यवहार करना चाहिये। उसके लिये बताते हैं) यदि स्त्री-आदि परिवार अपने मनके माफिक भगवद्भक्तिपरायणादि हो तो उससे भी भगवान्‌की सेवा-पूजा आदि करवावे। यदि वह इस ओरसे उदासीन हो (और आज्ञा करनेपर ही सेवा करनेको राजी हो तो) उससे न कराकर स्वयं करे। यदि वह भगवत्-सेवाके विरुद्ध हो, तो एकदम घरको त्यागकर एकान्तमें ही जाकर भगवत्-पूजा-अर्चा करनी चाहिये। (जाके प्रिय न राम बैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरीसम यद्यपि परम सनेही॥) जो विष्णुपराङ्मुख हों उनके

त्यागनेमें किसी भी प्रकारका दूषण नहीं है। (संसारी भोगोंकी इच्छासे तो किसीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना ही नहीं चाहिये ।)

अनुकूलस्य सङ्कल्पः प्रतिकूलविसर्जनम् ॥
रक्षिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं यथा।
आत्मनिवेद्यकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

भगवत्-सेवामें जो अनुकूल पड़े उसीका चिन्तन करना और जो भगवत्-सेवामें विघातक हों उनका सर्वथा त्याग करना। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्रीको इस बातका पूर्ण विश्वास होता है कि जिसने मेरा एक बार अग्निके सम्मुख पाणिग्रहण किया है वह मेरी अवश्य ही रक्षा करेगा, उसी प्रकार श्रीकृष्णपर भरोसा रखना कि वे हमारी अवश्य ही रक्षा करेंगे। भगवान्‌को आत्मनिवेदन करनेपर उनके प्रति भारी दीनता रखना यही छः प्रकारकी शरणागति है। फिरसे स्पष्ट समझिये—

१—(सर्वोत्तम) गृहत्याग, असमर्थावस्थामें कृष्णप्रीत्यर्थ घरमें ही रहकर भगवत्-सेवारूपी कर्मोंका करना।

२—सर्वसंगपरित्याग, असमर्थ होनेपर साधु-संग करना।

३—भगवत्-सेवाके अनुकूल भाव और पदार्थोंका ग्रहण, प्रतिकूलोंका परित्याग।

४—यदि परिवार अनुकूल हो तो उसमें रहकर, नहीं तो उसका परित्याग करके एकान्तभावसे भगवत्-सेवा-पूजा करना।

५—प्रभुमें दृढ़ विश्वास।

६—आत्मनिवेदनपूर्वक गुण और दीनता धारण करना।

कितने उच्च और सर्वसम्मत सिद्धान्त हैं। इतना स्पष्ट करनेपर भी कोई शंका करे और अपनी बातको ही पुष्ट करके त्यागकी आड़में उम्रभर विषयोंको भोगनेका समर्थन करे तो उसके लिये क्या उपाय है। बस, भगवान्‌के शब्दोंमें हम यही कह सकते हैं 'मम माया दुरत्यया' मेरी माया बड़ी कठिन है।

इस प्रकार श्रीचैतन्यके समकालीन ही होकर गोकुलमें रहकर भगवान् वल्लभाचार्यने बालकृष्ण भगवान्‌की पूजा-पद्धतिका प्रचार किया। इनके बालकृष्ण भगवान्‌के प्रति बड़े ही अलौकिक व्यवहार होते हैं। इनकी मूर्तियाँ बहुत ही छोटी होती हैं और दिनमें अनेकों बार भोग लगता है। जिस प्रकार उजाड़ वृन्दावनको नगर बनानेका श्रेय गौरभक्तोंको प्राप्त है उसी प्रकार उजाड़ हुई गोकुल-भूमिको फिरसे बसानेका श्रेय गोकुलिया गोसाइयोंको है। महाप्रभु वल्लभाचार्यने अरैलमें रहकर कई ग्रन्थ बनाये थे। जिन दिनों महाप्रभु गौराङ्गदेव रूप-अनूप आदिके सहित प्रयागमें ठहरे हुए थे तब भगवान् वल्लभाचार्य अरैलमें ही विराजमान थे। महाप्रभुके भक्ति-भावकी प्रशंसा सुनकर वे उनसे मिलने स्वयं आये थे, इसका वर्णन पाठक अगले अध्यायमें पढ़ेंगे।

महाप्रभु वल्लभाचार्य और महाप्रभु गौराङ्गदेव

श्रीगौरवल्लभभगवत्परायणौ
महाप्रभू भक्तप्रियौ सुनायकौ।
भक्तिपरौ कृष्णकथातिगायकौ
भक्तिविहीनस्य प्रसीदतां मे ॥*

(प्र० द० म०)

महाप्रभु गौराङ्गदेव अपने सुमधुर संकीर्तन और उद्दण्ड नृत्यसे प्रयाग-वासी नर-नारियोंको पावन और प्रसन्न बनाते हुए कुछ कालतक त्रिवेणीतटके समीप ही रहे। वहाँ जब अधिक भीड़-भाड़ होने लगी, तब आप एकान्तमें रहनेकी इच्छासे दारागंजके समीप दशाश्वमेधघाटके पास आकर रहने लगे। प्रभुकी प्रसिद्धि प्रयागके प्रायः सभी प्रतिष्ठित पण्डितों और धनी-मानी सज्जनोंके कानोंतक पहुँच गयी थी, अतः बहुत-से लोग प्रभुके दर्शन और संकीर्तन देखनेकी इच्छासे उनके समीप आने लगे। भगवान् वल्लभाचार्यने भी महाप्रभुकी प्रशंसा सुनी कि एक गौड़देशीय युवक संन्यासी अपने भक्तिभावमय संकीर्तन और नृत्यसे दर्शकोंके मनको चुम्बककी तरह अपनी ओर खींच लेते हैं, तब उनकी भी प्रभु-दर्शनोंकी इच्छा हुई। ऐसे कृष्ण-भक्त महापुरुषके दर्शनोंसे आचार्य अपनेको कब वञ्चित रखने लगे। अतः आप स्वयं ही कुछ शिष्योंके साथ प्रभुके दर्शनोंके लिये आये। आते ही उन्होंने संन्यासी समझकर महाप्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और

---

* जो दोनों ही भगवत्परायण हैं, दोनों ही अपने-अपने भक्तोंको अत्यन्त ही प्रिय हैं, दोनों श्रीआचार्य माने जाते हैं, दोनों ही भक्तिनिष्ठ हैं और दोनों ही कृष्णकथागान करनेमें अत्यन्त ही कुशल हैं—ऐसे महाप्रभु गौराङ्गदेव और महाप्रभु वल्लभाचार्य मुझ भक्तिविहीन मनुष्यके ऊपर प्रसन्न हों।

एक ओर चुपचाप बैठ गये । महाप्रभुने भी इनकी ख्याति पहलेसे ही सुन रखी थी । जब उन्हें पता चला कि ये ही आचार्यशिरोमणि श्रीमद् वल्लभ भट्ट हैं, तब तो वे इनसे लिपट गये और प्रेमालिङ्गन करते हुए इनके पाण्डित्य तथा प्रभावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ।

तब महाप्रभुने अपने पासमें ही बैठे हुए रूप और अनूप-इन दोनों भाइयोंका आचार्यसे परिचय कराया । इन दोनों भाइयोंका परिचय पाते ही आचार्य इन्हें आलिङ्गन करनेके लिये इनकी ओर बढ़े । आचार्यको अपनी ओर आते देखकर ये दोनों भाई अत्यन्त ही संकोचके साथ पीछे हटते हुए दीनताके साथ कहने लगे—'भगवन् ! आप हमें स्पर्श न कीजिये, हम ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न होनेपर भी यवनोंके संसर्गसे यवन प्रायः बन गये हैं । हमारे सभी आचार-व्यवहार अबतक यवनोंके-से ही रहे हैं । आप आचार्य हैं, कुलीन ब्राह्मण हैं, पण्डित हैं, लोकपूज्य हैं, हम आपके स्पर्श करनेयोग्य नहीं हैं'—इतना कहते-कहते ये दोनों भाई दूरसे ही लेटकर आचार्य-चरणोंमें प्रणाम करने लगे ।

आचार्य इनकी इतनी भारी शालीनता, नम्रता और दीनताको देखकर आश्चर्यचकित हो गये और उसी समय श्रीमद्भागवतके 'अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्' इस श्लोकको गायन करते हुए जल्दीसे उनकी ओर दौड़े और उनका प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करते हुए उनके भक्ति-भावकी प्रशंसा करने लगे ।

इसके अनन्तर आचार्यने महाप्रभुसे अपने घर पधारकर भिक्षा करनेकी प्रार्थना की । प्रभुने अपने सभी साथियोंके सहित आचार्यका निमन्त्रण स्वीकार किया और वे अपने सभी भक्तोंको साथ लेकर आचार्यके वासस्थान अरैलके लिये चले । यमुनाजीको पार करके अरैलके लिये जाना होता है, इसलिये श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने उसी समय एक सुन्दर-सी नौका मँगायी और उसपर प्रभुके सभी भक्तोंके सहित प्रभुको बिठाकर

आप एक ओर बैठ गये। श्रीयमुनाके मेघवर्णके श्याम रंगवाले सुन्दर सलिलको देखते ही भावविशमें आकर नौकापर ही प्रभु नृत्य करने लगे। नौका डगमग-डगमग करने लगी। सभी भक्त भयभीत हो उठे, किन्तु महाप्रभु अपने भावको संवरण करनेमें समर्थ न हो सके, वे नृत्य करते-करते प्रेम-मे उन्मत्त होकर एकदम बीच यमुनाजीकी तीक्ष्ण धारामें कूद पड़े। नावमें चारों ओरसे हाहाकार मच गया। महाप्रभुका सुवर्णके समान कान्तियुक्त शरीर यमुनाजीके नीले रंगके जलमें उछलता और डूबता बड़ा ही भला मालूम होने लगा। महाप्रभु यमुनाजीके प्रवाहमें बहने लगे। उसी समय मल्लाह जलमें कूद पड़े और प्रभुको जिस किसी भाँति पकड़कर नावपर चढ़ाया। सभी उस पार अरैल पहुँचे।

आचार्यके शिष्य, सेवक तथा ग्रामवासियोंने महाप्रभुका खूब ही स्वागत-सत्कार किया। आचार्यने एक सद्गृहस्थकी भाँति बड़ी ही श्रद्धाके साथ महाप्रभुकी अभ्यर्थना की और उन्हें प्रेमपूर्वक भिक्षा करायी। प्रभुके भिक्षा कर लेनेपर महाप्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद अन्य सभी साथी भक्तोंने पाया। सभीको भोजन करानेके अनन्तर आचार्य महाप्रभुके समीप पहुँचे और अतिथि-सेवा-महत्त्व जतानेके निमित्त वे प्रभुके पैर दबानेके लिये उद्यत हुए। महाप्रभुने अपने पैरोंको सिकोड़ते हुए अत्यन्त ही लज्जितभावसे कहा—'आचार्य! आप मुझे लज्जित क्यों कर रहे हैं? आप आचार्य हैं, पूज्य हैं, वयोवृद्ध हैं, मेरे पिताके समान हैं, आप मेरे साथ यह क्या अनर्थ कर रहे हैं?'

अत्यन्त ही सरलताके साथ आचार्यने कहा—'भगवन्! आप संन्यासी होनेके कारण आश्रमगुरु हैं, फिर मेरे सौभाग्यसे आप अतिथि होकर मेरी कुटियामें पधारे हैं। शास्त्रोंमें चाण्डाल अतिथिको भी नारायण समझकर पूजा करनेका विधान है, फिर आप तो साक्षात् नारायणके स्वरूप ही हैं। आपकी पादचर्यासे मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा।'

महाप्रभु वैसे ही बड़े सरल और संकोची स्वभावके थे, बड़ोंके सामने तो उनकी शीलता, लज्जा और सरलता अत्यन्त ही बढ़ जाती । अपनी स्वाभाविक नम्रतासे उन्होंने कहा—'आचार्यदेव ! मैं आज आपके यहाँ भगवान्का प्रसाद पाकर अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुआ । मेरा परम सौभाग्य है जो यहाँ आकर आपके आतिथ्य ग्रहण करनेका सुअवसर मुझे प्राप्त हो सका । मुझे तो तीर्थोंका फल प्रत्यक्ष मिल गया । आप-जैसे महापुरुषोंके दर्शन ही साधारण लोगोंको दुर्लभ हैं, फिर जिसे आपकी कृपाकी प्राप्ति हो गयी है, उसके सौभाग्यका तो कहना ही क्या है !' इस प्रकार दोनों ही महापुरुष परस्पर एक दूसरेकी स्तुति कर रहे थे । अनन्तर महाप्रभुकी आज्ञासे आचार्य प्रसाद पाने चले गये । प्रसाद पाकर वे फिर प्रभुके पास आकर श्रीकृष्ण-कथा आदि करने लगे ।

उसी समय तिरहुतनिवासी रघुपति उपाध्याय नामक एक मैथिल पण्डित प्रभुकी प्रशंसा सुनकर वहीं अरैलमें उनके दर्शनोंके लिये आये । वे एक अच्छे कवि थे और साधु-महात्माओंके चरणोंमें अनुराग रखते थे । प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके वे एक ओर बैठ गये । प्रभुने उनका परिचय पाकर उनसे कहा—'सुना है आप बड़े प्रसिद्ध कवि हैं, असलमें वही काव्य काव्य कहा जा सकता है, जिसमें श्रीकृष्णकी लीला और गुणोंका वर्णन हो । आप कोई स्वरचित श्रीकृष्ण-सम्बन्धी श्लोक सुनाइये ।'

दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए अत्यन्त ही दीनताके साथ उन उपाध्याय कविने कहा—'प्रभो ! कविता मैं क्या जानूँ ? वैसे ही इधर-उधरके पद जोड़ लेता हूँ । श्रीकृष्णकी लीला तो अवर्णनीय है, उनके सभी गुण अचिन्त्य हैं, उनका मैं मायामोहमें फँसा हुआ अज्ञानी जीव वर्णन ही क्या कर सकता हूँ ! एक पद है, पता नहीं वह आपको पसंद आवेगा या नहीं ।'

प्रभुने जल्दीसे कहा—'आपके ऊपर श्रीकृष्णभगवान्‌की कृपा है। तभी तो इतनी भारी प्रतिभा होते हुए भी आप इतने विनम्र हैं। सुनाइये, आप जो भी कुछ सुनावेंगे वही अमृततुल्य होगा।'

प्रभुके कहनेपर महामहिम उपाध्याय कवि अपने कोकिलकूजित कमनीय कण्ठसे श्रीकृष्णके पिता नन्दबाबाकी स्तुति-सम्बन्धी इस प्रेममय पद्यका बड़े ही स्वरके सहित गायन करने लगे—

श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥*

इस श्लोकको सुनते ही प्रभु लेटेसे एकदम उठकर बैठे हो गये और उपाध्यायका जोरोंसे आलिङ्गन करते हुए कहने लगे 'वाह! वाह! धन्य है। अहा, नन्दजीके भाग्यकी सराहना कौन कर सकता है? कैसे कहा 'अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥' सचमुच बड़ा ही सुन्दर श्लोक है। कृपा करके और भी कोई ऐसा ही सुनाइये।'

कविकी कही हुई कविताकी आप यथोचित प्रशंसाभर कर दीजिये, उसीसे उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है। यथोचित प्रशंसा ही पद्यका सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार है। उपाध्याय उसी स्वरसे गाने लगे—

कम्प्रति कथयितुमीशे सम्प्रति को वा प्रतीतिमायातु।
गोपतितनयाकुञ्जे गोपवधूटीविटं ब्रह्म॥†

---

* भवसागरसे भयभीत हुए बहुत-से पुरुष श्रुतिकी शरण लेते हैं, बहुत-से स्मृतियोंका आश्रय लेते और बहुत-से महाभारतके द्वारा ही उस भयसे बचना चाहते हैं। वे लोग ऐसा करते हैं तो करते रहें; किन्तु मैं तो उन महाभाग्यवान् श्रीनन्दबाबाके ही चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, जिनकी दिवारी (बरामदे) में साक्षात् सनातन पूर्ण ब्रह्म ही नृत्य करते हैं।

† किसके सामने जाकर कहें ? यदि किसीसे जाकर कहें भी तो इस समय कौन हमारी इस बातपर विश्वास करेगा कि तरणितनूजा-तटपर गोपाङ्गनाओंके प्रति लम्पट हुआ वही साक्षात् परब्रह्म क्रीड़ा कर रहा है।

पण्डितप्रवर श्रीरघुपति उपाध्यायके इन परम प्रेममय पदोंको सुनकर प्रभु प्रसन्नता प्रकट करते हुए उनसे कुछ प्रश्न पूछने लगे। प्रभुने कहा—'कविवर महोदय! आपकी प्रखर प्रतिभाकी प्रशंसा करना बुद्धिके परेकी बात है। मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि आप सब रूपोंमें सर्वश्रेष्ठ रूप किसे समझते हैं?'

उपाध्यायने कहा—'प्रभो! साँवरेकी श्याम रंगकी सलोनी सूरतको ही मैं सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।'

प्रभुने फिर पूछा—'अच्छा, वासस्थानोंमें सर्वश्रेष्ठ वासस्थान किसे समझते हैं?'

उपाध्यायने कहा—'मधुमयी मधुपुरीके माधुर्यके सम्मुख सभी पुरियाँ फीकी पड़ जाती हैं; अतः मधुपुरी ही सर्वश्रेष्ठ वासस्थान है।'

प्रभुने पूछा—'यह तो ठीक है, किन्तु भगवान्‌की बाल, पौगण्ड और किशोर—इन अवस्थाओंमेंसे किस अवस्थाको आप सर्वश्रेष्ठ समझते हैं?'

उपाध्यायने गद्गद कण्ठसे कहा—'प्रभो! यह भी कोई पूछनेकी बात है; उस कारेकी कमनीय कौमारावस्था ही तो परमध्येय और सर्वश्रेष्ठ है। उसीके ध्यानसे तो मन आनन्दसागरमें उन्मत्त होकर विहार कर सकता है।'

प्रभुने अत्यन्त ही प्रसन्न होकर पूछा—'बस, एक बात और बताइये। रसोंमें सर्वश्रेष्ठ रस किसे समझते हैं?'

अत्यन्त ही दीनताके साथ उपाध्याय कहने लगे—'प्रभो! यह कहनेकी बात नहीं है, यह तो अनुभवगम्य विषय है। भला, शृंगारके सामने सर्वश्रेष्ठ और सर्वसम्मत दूसरा रस हो ही कौन-सा

सकता है ? और रस तो नाममात्रके रस हैं। वास्तवमें रस जिसे कह सकते हैं, वह तो आदिरस शृंगाररस ही है।' इन उत्तरोंको सुनकर प्रभु प्रेममें उन्मत्त होकर ऊपरको उछलने लगे और उछलते-उछलते उपाध्यायका आलिङ्गन करते हुए आप श्रीमाधवेन्द्रपुरी महाराजके इस श्लोकको पढ़ने लगे—

श्याममेव परं रूपं पुरी मधुपुरी वरा।
वयः कैशोरकं ध्येयमाद्य एव परो रसः॥*

इस प्रकार प्रभु और उपाध्यायके प्रश्नोत्तरोंको सुनकर उपस्थित सभी पुरुषोंको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। सायंकालका समय सन्निकट आ पहुँचा। प्रभुने आचार्यसे लौटनेकी आज्ञा माँगी। इसपर ग्रामवासी अन्य ब्राह्मण भी प्रभुके निमन्त्रणका आग्रह करने लगे। तब आचार्यने कहा—'भाई, इन्हें यहाँ रखना मैं उचित नहीं समझता। ये प्रेममें विभोर होकर यमुनाजीमें कूद पड़ते हैं। यहाँसे यमुनाजीके सदा दर्शन होते रहते हैं, इसलिये मैं जहाँसे इन्हें लाया हूँ, वहीं पहुँचा आऊँगा, तब फिर जिसकी इच्छा हो, वह इन्हें ले आवे।'

आचार्यकी बात सुनकर सभी चुप हो गये। आचार्यने अपने स्त्री, बच्चे तथा परिवारके सभी आदमियोंके सहित प्रभुकी अभ्यर्चना की और उन्हें नावपर बिठाकर दशाश्वमेधघाटपर पहुँचा आये।

* रूपोंमें श्याम रूप ही सर्वश्रेष्ठ रूप है, पुरियोंमें मधुपुरी ही सर्वश्रेष्ठ पुरी है, ध्येयोंमें श्रीकृष्णकी किशोरावस्था ही सर्वोत्तम ध्येय है और रसोंमें शृंगाररस ही सर्वोत्कृष्ट रस है।

रूपकी विदाई और प्रभुका काशी-आगमन

यः प्रागेव प्रियगुणगणैर्गाढबद्धोऽपि मुक्तो
गेहाध्यासाद् रस इव परो मूर्त एवाप्यमूर्तः ।
प्रेमालापैर्दृढतरपरिष्वङ्गरङ्गैः प्रयागे
तं श्रीरूपं सममनुपमेनानुजग्राह देवः ॥*

(चैतन्यचन्द्रो० ना० ९ । ४२)

प्रयागमें अपने भाई अनूपके सहित श्रीरूप दस दिनोंतक प्रभुके चरणकमलोंके समीप रहे । ये विद्वान् थे, भावुक थे, मेधावी थे, आस्तिक थे और थे प्रेमावतार चैतन्यदेवके परम कृपापात्र । फिर भला, इनका कल्याण होनेमें सन्देह ही क्या था । ये तो पहलेसे ही कल्याणस्वरूप थे, एक बार जिनके ऊपर गुरुचरणोंकी कृपा हो चुकी हो, वह फिर इस नश्वर जगत्के क्षणिक और अनित्य भोगोंमें सुखानुभव कर ही कैसे सकता है ? हंस हो जानेपर फिर वह कौएके भोजनका स्पर्श क्यों करेगा ? गुरु-कृपासे क्या नहीं हो सकता ? यदि सद्गुरुकी एक बार भी कृपा हो जाय तो फिर चाहे वह पुरुष कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो उसका संसार-बन्धन बात-की-बातमें छिन्न-भिन्न हो जायगा और वह बन्धनमुक्त होकर

---

* जो पहले ही प्रभुके प्रिय गुणसमूहोंके द्वारा बँधकर भी घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवारके बन्धनोंसे मुक्त हो चुके थे उन रूप और उनके अनुज अनूपके ऊपर स्वयं रसतुल्य अमूर्त होनेपर भी उन श्रीगौराङ्गने प्रेममूर्ति धारण करके प्रयागक्षेत्रमें प्रेमालाप और दृढ़तर आलिङ्गनोंद्वारा परम अनुग्रह किया ।

गुरुकी परम कृपाका अधिकारी बन जायगा। सद्गुरु ही ईश्वर हैं, उनके साकार स्वरूपका ही नाम गुरु है। हाड़-मांसका पुतला गुरु हो ही नहीं सकता। सर्वशक्तिमान्का पद अल्पज्ञ जीवको प्राप्त हो ही कैसे सकता है? श्रीरूपकी दृष्टिमें चैतन्यदेव हाड़-मासके शरीरधारी जीव नहीं थे। वे तो उनके लिये प्रेमके साकार स्वरूप थे, सविशेष ब्रह्म थे। उन्होंने महाप्रभुको अवतारी सिद्ध करनेकी चेष्टा कहीं नहीं की है। अपने गुरुको श्रीकृष्णका विग्रह समझकर ही उन्होंने श्रीकृष्णकी लीलाओंका कथन किया है। उनकी दृष्टिमें श्रीकृष्णमें और श्रीचैतन्यमें भेद होता, तब तो वे इस बातको सिद्ध करनेकी चेष्टा करते कि श्रीचैतन्य अवतार या अवतारी हैं। लोग कुछ भी समझें, उनके लिये तो श्रीचैतन्य ही श्रीकृष्ण हैं। वास्तवमें यह बात सत्य ही है। जहाँ भेदबुद्धि है वहीं इस बातका आग्रह किया जाता है कि ये ऐसे नहीं ऐसे हैं। श्रीरूपकी दृष्टिमें भेद-भाव नहीं था तभी तो वे 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के मंगलाचरणमें लिखते हैं—

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि।
तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य ॥*

(भ० र० सिन्धु १। २)

इन दस दिनोंमें ही प्रयागमें रहकर मेधावी श्रीरूपने प्रभुसे भक्तिके अत्यन्त गूढ़ रहस्यको समझ लिया और उसीका आपने अपने अनेकों ग्रन्थोंमें वर्णन किया है।

---

* जिन्होंने सामान्य कंगालरूप मुझ रूपके हृदयमें भक्तिग्रन्थ लिखनेकी प्रेरणा की उन्हीं श्रीहरिरूप श्रीचैतन्य-चरण-कमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ।

महाप्रभु इनके हृदयकी सच्ची लगनको जानते थे, इसलिये इन्हें वैराग्यका उपदेश करते हुए कहने लगे—'रूप ! देखो, यह संसार विषयभोगोंमें कैसा पागल बना हुआ है । पद, प्रतिष्ठा, देश, पुत्र, परिवार तथा प्रेय पदार्थोंकी प्राप्तिकी चिन्तामें ही यह अमूल्य जीवन बरबाद हो जाता है । कामिनी, काञ्चन और कीर्ति इन तीन रस्सियोंने ही जीवको कसकर बाँध रखा है । इनके कारण यह तनिक भी इधर-उधर हिल-डुल नहीं सकता । भगवान्‌की प्राप्तिका मार्ग इन तीनोंसे दूसरी ही ओर है । इन तीनोंका मनसे जब पुरुष त्याग कर देता है, तब तो वह उस मार्गकी ओर जानेका अधिकारी होता है । जिन्हें इन तीनोंमें सुख-का अनुभव होता है, उन्हें भक्ति कहाँ ? प्रभु-प्रेम कैसा ? वे तो प्रभुके बारेमें बातें करनेके क्या—एक शब्द कहनेके भी अधिकारी नहीं हैं । जो स्वयं बँधा पड़ा है, उसका बिना देखे मार्गका वर्णन करना केवल विनोद ही है । बिना चाखे कोई अमृतका स्वाद बता सकता है ? चाखनेपर भी लोग ठीक कहनेमें समर्थ नहीं होते, तब सुनकर कोई कह ही क्या सकता है ?

रूप ! तुम सोचो तो सही, जिस स्त्रीके पीछे संसार पागल हो रहा है, वह वास्तवमें है क्या ? इन्हीं पञ्चभूतोंकी एक पुतली है । किसी सुन्दर-से-सुन्दर स्त्रीको एकान्तमें ऐसी हालतमें देखो जब उसे संग्रहणीका रोग हो गया हो और उसके पास सेवा करनेके लिये कोई भी मनुष्य न हो, तुम देखोगे, उसके सम्पूर्ण शरीरसे दुर्गन्ध उठ रही होगी । वस्त्रोंको छूने-की तबीयत न चाहेगी । उसकी नासिकामेंसे गाढ़ा-गाढ़ा मल निकल रहा होगा । निरन्तर शौच जानेसे उसका गुलाबके समान मुख पिचककर पीला पड़ गया होगा । आँखें भीतर धँस गयी होंगी । स्तन ढीले और बुरे हो गये होंगे । आँखोंके दोनों ओर मल भर रहा होगा । पेट सिकुड़-कर पीठमें लग गया होगा । मूत्र और पुरीषसे उसकी जाँघें सन गयी

होंगी, जिनकी ओर देखनेसे ही फुरहुरी आ जाती होगी। नख पीले पड़ गये होंगे। मुखमेंसे बदबू उठ रही होगी। और वाणीमें गहरी वेदना और करुणा आ गयी होगी। आजसे चार दिन पहले उसका पति उसे सर्वस्व समझकर उसके आलिङ्गनमें महान्-से-महान् सुखका अनुभव करता होगा, वही ऐसी दशामें उसका आलिङ्गन करना तो दूर रहा, पास भी नहीं बैठ सकता। जो रूप इतना विकृत हो सकता है, जिसका सौन्दर्य पेटमें भरे हुए दुर्गन्धयुक्त मलके ही निकल जानेसे ही क्षणभरमें नष्ट हो सकता है, उसमें सुखकी खोज करना और उसीको जीवनका परम सुख समझकर उसकी प्राप्तिके लिये पागल होना कैसी भारी मूर्खता है ? अरे, इस पञ्चभूतके बने हुए और नौ छिद्रोंवाले मलमूत्रसे भरे हुए शरीरमें सुख कहाँ, शान्ति कहाँ, सौन्दर्य और आनन्द कहाँ ? वह तो उस ब्रह्मानन्दके आनन्दकी छायामात्र थी, जो विकृति होनेसे कुरूपताको प्राप्त हो गयी। छायाको छोड़कर असली आनन्दको खोजो, तुम्हें शान्ति मिलेगी।

रूप ! यही हाल काञ्चनका है। पृथ्वीका नाम है वसुन्धरा। वसु कहते हैं रत्नोंको। इस पृथ्वीमें असंख्यों रत्न भरे पड़े हैं। इस पृथ्वीमें सात द्वीप हैं, सात समुद्र हैं। समुद्रोंमें असंख्यों रत्न पड़े हैं, परन्तु सप्तद्वीपवाली पृथ्वीका आधिपत्य पाकर भी मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती, वह तीनों लोकोंका स्वामित्व चाहता है, त्रिलोकेश होनेपर चौदह भुवनोंके आधिपत्यकी इच्छा रखता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका स्वामित्व लाभ करनेपर भी शान्ति नहीं, तब दस-बीस गाँव या हजार-पाँच-सौ गाँवोंका आधिपत्य या स्वामित्व लाभ करके जो अपनेको सुखी बनाना चाहता है वह कितना भारी मूर्ख है। तुम ध्यानपूर्वक देखो, सोनेमें और मिट्टीमें क्या भेद है, जैसे पृथ्वीमेंसे सफेद मिट्टी, पीली मिट्टी, हरी मिट्टी और काली मिट्टी स्थानभेदसे निकलती है वैसे ही सोना-चाँदी भी पीली और सफेद मिट्टी ही है।

तुमने उसमें श्रेष्ठपनाका भाव स्थापित कर रखा है तो वह श्रेष्ठ है। स्वयं ही तुमने उसे श्रेष्ठ बनाया है और फिर स्वयं ही उसकी प्राप्तिके लिये पागल बनकर प्रयास कर रहे हो। छायाका तुमसे अलग—भिन्न अस्तित्व नहीं। छाया तुम्हारे शरीरकी ही है, अब तुम भ्रमवश उस छायाको पकड़ने दौड़ो, तो कितना भी प्रयास क्यों न करो, छाया तुम्हारे हाथ कभी भी न आवेगी। भला, पीछे दौड़नेसे कहीं छाया पकड़ी जा सकती है। छायाका अस्तित्व तो तुमने पृथक् मान लिया है, जब तुम छायाको अपनी ही समझकर छोड़कर भागो, तो फिर वह तुम्हारा पीछा करेगी। तुम्हें छोड़कर वह जा ही कहाँ सकती है। मेरी बातको समझे ?'

रूपने धीरेसे कहा—'हाँ, प्रभो ! कुछ-कुछ समझा। यही कि वास्तवमें सोनेमें न तो श्रेष्ठत्व है और न मिट्टीमें कनिष्ठत्व। श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व हमारे ही हृदयमें है। जिसे जब चाहें छोटा मान लें और जब मानना चाहें तब बड़ा मान लें।'

प्रभुने कहा—'हाँ, ठीक है। अच्छा, इसे यों समझो। जैसे तुम अबतक रुपयेको ही श्रेष्ठ मानते थे। उसीकी प्राप्तिके लिये तुम हुसैनशाहके दरबारमें रहते थे। हुसैनशाह जातिका यवन था, तुम ब्राह्मण थे। वह स्वामिद्रोही कृतघ्न था, तुम धर्मपूर्वक जीवन-निर्वाह करनेवाले थे। वह मूर्ख था, तुम पण्डित थे। वह प्रमादी था, तुम जागरूक थे। वह अधर्मी था, तुम धर्मात्मा थे। सभी बातोंमें वह तुमसे हीन था, तुम उससे श्रेष्ठ थे। किन्तु तुम उसके बराबर सम्पत्तिशाली नहीं थे। तबतक तुम धन-सम्पत्तिको ही सर्वश्रेष्ठ सुखका साधन समझते थे। इसीलिये अपनी कुलीनता, विद्वत्ता, धार्मिकता, जागरूकता आदि सभीको तुच्छ समझकर उस मूर्खके सामने सदा थर-थर काँपते हुए डरे-से खड़े रहते थे। अब जब तुम्हें पता चल गया कि धन-सम्पत्तिमें सचा

सुख नहीं है, तब जो धन-सम्पत्ति तुमने पसीनेकी जगह खून बहाकर पैदा की थी, उसे भक्तिमार्गमें प्रवेश करते ही मिट्टीकी तरह लुटाकर चले आये। क्यों ठीक है न ?'

धीरेसे रूपजीने कहा—'हाँ प्रभो ! वे रुपये मुझे भार-से मालूम पड़ते थे, एक दिनमें ही जैसे-तैसे मैंने उन्हें लुटा-पुटाकर किसी तरह अपना पिण्ड छुड़ाया।'

प्रभुने उसी स्वरमें श्रीरूपजीके हाथको अपने हाथमें लेकर कहा—'अच्छा, तो अब तुम ही सोचो रुपयेमें बड़प्पन है ? हुसैनशाहसे तुम डरते नहीं थे। इस बातसे डरते थे कि कहीं हमारी रुपयोंकी प्राप्तिमें विघ्न न हो जाय। अब जब तुम्हें धन-सम्पत्तिकी तुच्छताका बोध हो गया तो एक हुसैनशाह क्या लाख हुसैनशाह आ जायँ तो भी तुम उनसे नहीं डरोगे। क्योंकि जिस कारणसे डर होता था, वह कारण तो नष्ट हो गया। जिस प्रकार विषकी बेलको उखाड़ देनेपर फिर उसपर लगनेवाले दुःखदायी फलोंसे लोगोंके मरणका भय नहीं होता, उसी प्रकार हृदयमेंसे धन-सम्पत्तिकी श्रेष्ठता निकाल देनेपर फिर किसीके सामने दीन होना या गिड़गिड़ाना नहीं पड़ता। जबतक हम लोगोंको गुणोंके कारण बड़ा न मानकर धन होनेके कारण बड़ा आदमी मानते हैं और इसी कारण धनिकोंका आदर करते हैं, तबतक समझो कि धनको ही सुख-साधन समझनेकी आसुरी वृत्ति हमारे हृदयमें विद्यमान है। जिसकी दृष्टिमें धनका कोई विशेष महत्त्व नहीं, जो धनको भी पृथ्वीका एक विकार समझता है वह किसीके सामने क्यों गिड़गिड़ाने लगा ? उसकी दृष्टिमें धनी-गरीब सभी समान हैं। धनकी तृष्णा ही गरीब-अमीरका भेदभाव पैदा कर देती है। जब हृदयमें किसीसे कुछ लेनेकी इच्छा ही नहीं तब जैसा ही धनी वैसा ही गरीब।'

'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः'

यही दशा कीर्तिकी है । कीर्ति भी धनकी तरह अनित्य और तुच्छ ही है । वास्तवमें तो इसे धनका ही एक अङ्ग समझना चाहिये । धन और कीर्ति प्रयत्न करनेसे थोड़े ही मिलते हैं, ये तो पूर्वजन्मोंके कर्मोंके अनुसार प्राप्त होते हैं । जड़भरतकी तरह असंख्यों ज्ञानी पागलोंकी तरह जीवन बिताकर मुक्त हो गये होंगे, उनका नाम कोई नहीं जानता । जड़भरतके भाग्यमें ही अवधूतपनेका आदर्श उपस्थित करनेवाली कीर्ति बदा थी । बहुत-से धनिक एकदम मूर्ख होते हैं, अच्छे-अच्छे विद्वान् धनके लिये प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें उतना धन प्राप्त ही नहीं होता । तभी तो कहा है—

भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम् ।

अर्थात् सर्वत्र भाग्य ही फलीभूत होता है । विद्या और पुरुषार्थसे ही सब कुछ नहीं हो जाता । जब धन तथा कीर्ति हमें भाग्यके ही अनुसार प्राप्त होगी, तब कीर्तिके लिये प्रयत्न करना मूर्खता है । कीर्तिकी इच्छा करके हम वासनाजन्य एक नये पापकी और सृष्टि करते हैं, इसलिये जो कीर्तिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे मूर्ख हैं । भला जिन्होंने चौदह भुवनवाले अनेक ब्रह्माण्डोंका आधिपत्य किया, ऐसे असंख्यों ब्रह्मा उत्पन्न हुए और नष्ट हुए उनका कोई नाम भी नहीं जानता, तब यह क्षुद्र प्राणी अपनी कीर्तिको अमर बनानेके लिये बाग-बगीचा और कूप-मन्दिर बनाकर ही अपने नामको अक्षुण्ण रखना चाहता है, वह कितना भारी मूर्ख है । भाई कीर्ति तो पतिव्रता है, वह पुंश्चली स्त्री नहीं है । उसने तो एक ही पुरुष श्रीहरिको वरण कर लिया है, इसलिये तुम उसकी आशाको छोड़ दो, छोड़ दो, छोड़ दो । तुम्हें कीर्ति नहीं मिल सकती, नहीं मिल सकती, नहीं मिल सकती । कीर्तिके पति वे ही श्रीहरि हैं, इसलिये

उन्हींकी कीर्तिका कथन करनेमें कल्याण है। यदि तुम्हें कीर्ति बढ़ानी ही है, तो श्रीहरिकी कीर्ति बढ़ाओ। तुम इस कीर्तिको धारण करो कि हम कीर्तिपतिके कीर्तनिया सेवक हैं। हाँ, हरिके कीर्तनिया होनेसे कीर्ति तुम्हें प्यार करने लगेगी, क्योंकि अपने पतिकी प्रशंसा सुनकर सभीको सुख होता है और प्रशंसा करनेवालेके प्रति स्वाभाविक ही अनुराग हो जाता है।

श्रीरूपने हाथ जोड़े हुए दीनभावसे कहा—'हाँ, प्रभो! श्रीचरणोंके अनुग्रहसे मैं इतना तो समझा कि भक्तिमार्गकी ओर बढ़नेवाले साधकको कामिनी-काञ्चन और कीर्तिके स्वरूप पद, प्रतिष्ठा, पैसा, पुत्र, परिवार और यावत् प्रेय पदार्थ हैं, उनका परित्याग करके तब इस पथकी ओर अग्रसर होना चाहिये। अब मैं कुछ साधन-तत्त्व समझना चाहता हूँ।'

प्रभुने कहा—'रूप! जीवका स्वरूप शास्त्रोंमें ऐसा बताया है कि बालके अग्रभागको लो, उसके सौ टुकड़े करो। उन सौमेंसे एकको लो, फिर उसके सौ टुकड़े करो। उससे भी सूक्ष्म जीवका स्वरूप है। अर्थात् जीव अति सूक्ष्म है। जीव इस चराचर विश्वमें समानरूपसे व्याप्त है, एक तिल रखनेयोग्य भी ब्रह्माण्डमें जगह नहीं है, जहाँ जीव न हो। अब जीवके दो भेद हैं—एक जड़, दूसरा चेतन अथवा स्थावर, जङ्गम। पत्थर, लकड़ी आदि स्थावर हैं और हलचल या क्रिया करनेवाले जङ्गम कहाते हैं। स्थावरसे जङ्गम श्रेष्ठ माने गये हैं। जङ्गमोंमें हाथी, घोड़ा आदि समझदार जानवर श्रेष्ठ हैं, उनमें भी मनुष्य श्रेष्ठ है, मनुष्योंमें ब्राह्मण और ब्राह्मणोंमें भी विद्वान्, विद्वानोंमें भी परिष्कृत बुद्धिवाला श्रेष्ठ है और उनमें भी सद्-आचरणोंको अपने जीवनमें परिणत करनेवाला कर्ता श्रेष्ठ है और उन कर्ताओंमेंसे भी वह श्रेष्ठ है जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया हो। ब्रह्मज्ञानियोंमें भी जो मुक्त हो गया हो वह श्रेष्ठ है और मुक्तोंमें भी सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्णभक्त है। जिसके हृदयमें सच्ची कृष्णभक्ति है उससे बढ़कर श्रेष्ठ कोई

हो ही नहीं सकता। श्रेष्ठपनेकी यही पराकाष्ठा है।' जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
> सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥*
>
> (६।१४।५)

संसारमें प्रयत्न करनेपर चाहे सब कुछ प्राप्त हो सके, किन्तु श्रीकृष्णभक्तिका प्राप्त होना अत्यन्त ही दुर्लभ है। बस, भक्तिप्राप्तिका एक ही उपाय है। सब जगह, सब अवस्थाओं और सब कालमें श्रीहरिके *ही नामोंका संकीर्तन करता रहे। श्रवण, कीर्तन ही प्रभुप्रेमप्राप्तिका मुख्य* उपाय है और सब उपाय तथा आश्रयोंका परित्याग करके श्रीहरिकी ही शरण लेनी चाहिये। सर्व धर्मोंका परित्याग करके केवल उन्हींका चिन्तन-स्मरण करते रहना चाहिये। मैं तुम्हें भगवत्-कृपा और अहैतुकी भक्तिकी एक मोटी सी पहचान बताता हूँ, उसीसे तुम समझ जाओगे कि भगवान्‌की भक्ति कैसे करनी चाहिये। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेवने स्वयं बताया है—

> मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
> मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
>
> (३।२९।११)

प्राणिमात्रकी हृदयरूपी गुहामें रहनेवाले मुझ सर्वान्तर्यामी ईश्वरके भक्तवत्सलता आदि गुणोंके श्रवणमात्रसे ही बिना किसी रोक टोकके जिस प्रकार गङ्गाजीका प्रवाह समुद्रकी ही ओर बहता रहता है उसी

---

* राजा परीक्षित् शुकदेवजीसे प्रश्न करते हुए कह रहे हैं—

'हे महामुने! मुक्त हुए सिद्धोंमें भी नारायणका भक्त दुर्लभ है और उन करोड़ों भक्तोंमें भी शान्त हृदयका भक्त तो अत्यन्त ही दुर्लभ है।'

प्रकार उनके मनकी गति मेरी ही ओर बहती रहे, तो समझना चाहिये कि उसे ऐकान्तिकी या अहैतुकी भक्ति प्राप्त हो चुकी है। उसके प्राप्त होनेपर फिर श्रीकृष्ण दूर नहीं रहते। वे तो आकर भक्तसे लिपट जाते हैं। यही तो उनकी भक्तवत्सलता है।

आरम्भमें साधन-भक्ति होती है, साधन-भक्तिसे रतिभक्ति होती है और रतिभक्तिसे शुद्धा भक्ति या प्रेमरूपा भक्ति होती है। रतिभक्तिके पाँच भेद भक्ति-शास्त्रोंमें बताये गये हैं। उनके नाम (१) शान्तरति, (२) दास्यरति, (३) सख्यरति, (४) वात्सल्यरति और (५) मधुररति इस प्रकार हैं। शान्तरसके उपासकोंमें उदाहरणस्वरूप शुकदेव और जनकजीके नाम लिये जा सकते हैं। दास्यरसके उपासक अनेक भक्त हैं, व्रजके ग्वाल-बाल तथा अर्जुनादि सख्यरतिके उदाहरण हैं। नन्द, यशोदा, देवकी और वसुदेवादिको वात्सल्यरतिके उपासक समझिये। मधुररसकी उपासनामें व्रजकी गोपियाँ ही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं, वैसे रुक्मिणी आदि हजारों रानियाँ तथा लक्ष्मी आदि इसकी उदाहरणस्वरूपा हैं। शान्तरसमें अपनेको छोटा माननेकी भावना है। दास्यमे अपनेको छोटा समझकर विविध प्रकारसे अपने सेव्यकी सेवा-चाकरी करनेकी इच्छा होती है। सख्यरतिका उपासक अपनेको छोटा भी मानता है, सेवा भी करता है, किन्तु उपास्यके सम्मुख निस्सङ्कोचभावसे बर्ताव करता है। वह शान्त और दास्यके उपासकोंकी भाँति डरता-सा नहीं रहता। वात्सल्यरूपसे उपासना करनेवाले मन-मनमें अपने प्रियको श्रेष्ठ ही समझते है। ऊपरसे व्यक्त नहीं करते। सेवा भी वे करते हैं और निस्सङ्कोच भी रहते हैं, किन्तु उनमे इन तीनों उपासकोंकी अपेक्षा अपने सेव्यके प्रति एक स्वाभाविक ममता भी होती है, यही इस रसमें विशेषता है। कान्ता-भावमें ये पाँचों ही बातें हैं। सेव्यको मनसे बड़ा भी मानते हैं, सेवा करनेकी भी उत्कट इच्छा रहती है, उसके सामने किसी प्रकारका सङ्कोच

भी नहीं होता । प्रगाढ़ ममता भी होती है और अपने शरीर तथा शरीर-की सम्पूर्ण क्रिया और चेष्टाओंको प्यारेके ही लिये समर्पित कर दिया जाता है । इसलिये यह कान्ताभाव ही सर्वश्रेष्ठ है । इस उपासनाके उपासक करोड़ोंमें क्या असंख्योंमें कोई एक होते हैं । शान्त, सख्य आदिके उपासक ही जब दुर्लभ हैं, तब कान्ताभावके उपासकोंके लिये तो कहना ही क्या ? 'यह मैंने तुमसे भक्तिका तत्त्व बहुत ही संक्षेपमें कहा है । तुम बुद्धिमान् हो, कविहृदयके हो, सरस हो, भगवत्-कृपाके अधिकारी हो, अतः इन भावोंको विस्तारके साथ वर्णन करके भक्तोंके सम्मुख रखना । अब मैं कल वाराणसी जानेके लिये सोच रहा हूँ ।'

प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करते हुए गद्गद कण्ठसे श्रीरूपने कहा—'प्रभो ! मैं कृतकृत्य हुआ, मुझे विश्वब्रह्माण्डके आधिपत्यसे भी जितनी प्रसन्नता न होती उतनी आज प्राप्त हुई है । अब मेरे लिये क्या आज्ञा होती है ? श्रीचरणोंके सन्निकट निवास करनेकी मेरी बड़ी उत्कट इच्छा है, जैसी आज्ञा हो ?'

प्रभुने कहा—'रूप ! तुम समर्थ हो, तुम्हें मेरी संगतिकी अब विशेष आवश्यकता नहीं । इस समय तुम सीधे श्रीवृन्दावन जाओ और वहाँके सभी तीर्थोंकी यात्रा करके जहाँतक बन पड़े लुप्त तीर्थोंके प्रकट करनेकी कोशिश करो । कालान्तरमें गौड़ होकर मुझसे पुरीमें आकर भेंट करना ।' इतना कहकर दूसरे दिन प्रभु तो नावपर चढ़कर उस पारको चले गये और रूप, अनूप, माथुरिया ब्राह्मण तथा कृष्णदासको प्रभु वहींसे विदा कर गये ।

महाप्रभुके चरणोंका चिन्तन करते हुए अपने भाईके सहित श्रीरूप मथुरा पहुँचे, वहाँ उन्हें गौड़के भूतपूर्व महाराजा सुबुद्धिराय मिल गये । उनके सम्बन्धमें हम पुस्तकके आदिमें ही बता चुके हैं कि वे लकड़ी बेच-

बेचकर एक पैसेके चनोंमें निर्वाह करते, शेष पैसोंसे बंगाली साधुओंकी सेवा करते। बंगालमें स्नानसे पूर्व तेल लगानेकी प्रथा है। तेलके बिना वहाँ स्नान ही ठीक नहीं समझा जाता। सुबुद्धिराय उन पैसोंसे तेल खरीदकर साधुओंको देते तथा उन्हें दही-चिउरा भी खिलाते। सहसा विश्रान्तघाटपर उनकी श्रीरूप और अनूप इन दोनों भाइयोंसे भेंट हो गयी। सुबुद्धिरायने इन दोनों भाइयोंका, जैसा वे कर सकते थे, स्वागत सत्कार किया और फिर इनके साथ वे ब्रजके बारह वन तथा उपवनोंमें भी पैदल-पैदल यात्रा करनेके लिये गये। विधिका विधान तो देखिये, कलतक जो एक महाराजा थे और एक महामन्त्री वे दोनों ही आज भिखारीके वेषमें घर-घरसे टुकड़े माँगते हुए साधुवेषमें फिर रहे हैं। जिनके आश्रयसे हजारों पण्डित और विद्वानोंका निर्वाह होता था, वे ही आज एक टुकड़ा रोटीके लिये एक कंजूस गृहस्थीके द्वारपर खड़े-खड़े प्रतीक्षा करते हैं कि सम्भव है अब कोई घरसे निकलकर टुकड़ा डाले। विधाता ! सचमुच भाग्यका खेल बड़ा ही विलक्षण है। इसी विधिकी विडम्बनाको दुर्लक्ष्य करके किसी कविने कैसा सुन्दर मार्मिक वचन कहा है—

> जातः सूर्यकुले पिता दशरथः क्षोणीभुजामग्रणीः
> सीता सत्यपरायणा प्रणयिनी यस्यानुजो लक्ष्मणः।
> दोर्दण्डेन समो न चास्ति भुवने प्रत्यक्षविष्णुः स्वयं
> रामो येन विडम्बितोऽपि विधिना चान्ये जने का कथा ॥

'सर्वश्रेष्ठ सूर्यकुलमें जिनका जन्म हुआ, महाराजाओंके भी पूजनीय चक्रवर्ती दशरथजी जिनके पिता थे, सत्यमें निष्ठा रखनेवाली त्रैलोक्यमें अद्वितीय रूपलावण्ययुक्त पतिपरायणा सीताजी जिनकी पत्नी थीं, युद्धमें यमराजके समान साहस करनेवाले शूरवीर और परमपराक्रमी लक्ष्मणजी जिनके छोटे भाई थे, जिनके समान त्रिलोकीमें कोई धनुर्धारी शूर

नहीं था ऐसे रामचन्द्रजी स्वयं साक्षात् विष्णुके ही अवतार थे। उन श्रीरामचन्द्रजीकी भी जिस विधिने वञ्चना की, जिन्हें भी चौदह वर्ष विपत्तियोंको झेलते हुए कुश-कण्टकाकीर्ण वनोंमें फिरना पड़ा, तो फिर अन्य लोगोंकी तो बात ही क्या है !' हे देव ! तुम्हारे चरणोंमें हमारा नमस्कार है। वस्तुतः भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके सम्बन्धमें यह कथन कविविनोद ही है।

इधर महाप्रभु अपने भक्तोंसे विदा होकर गङ्गाजीके किनारे-किनारे श्रीवाराणसीक्षेत्रमें पहुँचे। नगरके बाहर ही उन्हें चन्द्रशेखरजी मिल गये। प्रभुको देखते ही उन्होंने भूमिपर लोटकर प्रभुको प्रणाम किया। महाप्रभुने उनका आलिङ्गन करते हुए प्रेमपूर्वक पूछा—"चन्द्रशेखर ! तुम यहाँ कहाँ ? तुम्हें कैसे पता चला कि मैं आज आऊँगा ?'

चन्द्रशेखरजीने कहा—'प्रभो ! कल रात्रिमें मैंने स्वप्न देखा था कि आप आज काशीजीमें आ गये हैं। इसीलिये खोजमें आया था। यहाँ आते ही सहसा श्रीचरणोंके दर्शन हो गये। अब मेरी कुटियाको अपनी चरण-रजसे कृतार्थ कीजिये।'

वैद्य चन्द्रशेखरके आग्रहसे प्रभु उनके घर गये। समाचार पाते ही तपन मिश्र, उनके पुत्र रघुनाथ, वह मरहठा ब्राह्मण तथा और भी बहुत-से भक्त प्रभुके दर्शनोंके लिये आ गये। तपन मिश्रने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर प्रभुसे प्रार्थना की कि 'प्रभु जबतक काशीमें निवास करें तबतक मेरे ही घर भिक्षा करें।' प्रभुने मिश्रजीकी विनती स्वीकार कर ली और आप चन्द्रशेखर वैद्यके घरपर ही रहने लगे। रहते यहाँ थे और भिक्षा करने तपन मिश्रके यहाँ चले जाते थे। इस प्रकार महाप्रभु लगभग दो मासतक काशीजीमें ठहरे। यहीं श्रीरूपके भाई सनातनजी प्रभुसे आकर मिले, जिनका वृत्तान्त अगले अध्यायमें पाठकोंको मिलेगा।

श्रीसनातनकी कारागृहसे मुक्ति और काशीमें प्रभु-दर्शन

छिद्रान्वेषणतत्परः प्रियसखि प्रायेण लोकोऽधुना
रात्रिश्चापि घनान्धकारबहुला गन्तुं न ते युज्यते ।
मा मैवं सखि ! वल्लभः प्रियतमस्तस्योत्सुका दर्शने
युक्तायुक्तविचारणा यदि भवेत् स्नेहाय दत्तं जलम् ॥*

(सु० र० भां० १७३ । ३३)

श्रीरूप तो प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके प्रयागसे वृन्दावनको चले गये । अब उनके छोटे भाई श्रीसनातनका समाचार सुनिये । वास्तवमें सनातनजी श्रीरूपसे अवस्थामें बड़े थे, किन्तु उनसे पहले ही श्रीरूपको

---

* पतिके समीप गमन करनेवाली सखीसे दूसरी सखी कह रही है—'प्यारी सखी ! देख, संसारी लोग बड़े ही छिद्रान्वेषण करनेवाले होते हैं, वे सदा दूसरोंकी बुराइयोंको ही खोजा करते हैं और फिर दूसरे आज बड़ी अन्धकारपूर्ण रात्रि है, ऐसे समयमें बहुत दूरपर स्थित अपने प्यारेके पास तेरा जाना ठीक नहीं है ।' इसे सुनते ही चौंककर जल्दीसे उसके मुखपर हाथ रखते हुए सखी कहने लगी—बहिन ! ऐसी बात फिर कभी मुखसे मत निकालना । जो मेरे जीवनसर्वस्व है, हृदयवल्लभ हैं, मैं उनके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हूँ, इसमें यदि उचित-अनुचितका विचार हो तब तो समझ लो कि स्नेहको तिलाञ्जलि दे दी गयी अर्थात् स्नेहमें उचित-अनुचितका विचार ही नहीं होता ।' किसी तरह प्यारेसे भेंट हो यही उद्देश्य रहता है ।

प्रभुके समीप रहकर भक्तिमार्गका उपदेश प्राप्त हुआ था। भक्तिमार्गमें अवस्थासे बड़प्पन न होकर गुरुकृपासे ही बड़ेपनका विचार किया जाता है। महाप्रभुकी कृपाके पात्र प्रथम श्रीरूप ही हुए थे, अतः सनातनजी इन्हें अपनेसे श्रेष्ठ और गुरु समझते थे। सब वैष्णवोंमें भी ऐसी ही मानता थी। इसीलिये वैष्णवसमाजमें श्रीसनातन-रूप न कहे जाकर श्रीरूप-सनातन ही कहे जाते हैं। अवस्थामें छोटे होनेपर भी प्रथम गुरु-कृपा होनेके कारण श्रीरूपका ही नाम पहले लिया जाता है।

कारावासकी काली कोठरीमें पड़े हुए श्रीसनातनजी श्रीचैतन्यकी मनमोहिनी मूर्तिका ही सदा ध्यान करते रहते। उन्हें अन्न-जल कुछ भी नहीं भाता था। नेत्रोंमें नींदका नामतक नहीं। दिन-रात्रि गौराचाँद-गौराचाँद रटते-रटते ही इनके आठों प्रहर बीतते। रात्रि बीत जाती, दिन आ जाता। दिन ढलकर शाम हो जाती, फिर अन्धकार छा जाता, किन्तु इन्हें इसका कुछ भी ध्यान नहीं। ये तो चैतन्य-चिन्तनमें सभी कार्मोंको भूले हुए थे। इनका मनमधुप सदा अरुण रंगवाले श्रीचैतन्य-पदारविन्दोंमें ही गुञ्जार करता रहता। शरीर कारावासकी कालकोठरीमें पड़ा हुआ धौंकनीकी तरह साँस लेता रहता। जब इन्हें बाह्यज्ञान होता, तभी इनका दिल धड़कने लगता, इस बातके स्मरणसे कि मेरा शरीर श्री-चैतन्य-चरणोंसे पृथक् होकर कारावासमें पड़ा हुआ है, ये इन विचारोंके आते ही मूर्छित हो जाते और लंबी-लंबी साँसें छोड़ने लगते। इसी बीच गुप्त रीतिसे इन्हें अपने बड़े भाईका पत्र मिला। पत्रको पढ़कर इनकी विकलता और भी बढ़ गयी। ये चैतन्य-चरणोंके मंगलमय तलुओंमें अपने मस्तकको रगड़नेके लिये व्यग्र हो उठे। मोदीके यहाँ दस हजार रुपयोंका समाचार पाते ही इन्होंने सोचा—'इन चाँदीके ठीकरोंके द्वारा ही मेरी कारावाससे मुक्ति हो जाय और मैं चैतन्य-चरणोंके दर्शन

पा सकूँ तो यह जीवन सार्थक हो जाय ।' प्रेमके आवेशमें वे इस बातको बिल्कुल ही भूल गये कि रिश्वत देकर चोरी-चोरी जेलसे निकलना पाप है । यह नियमके विरुद्ध है, किन्तु वहाँ बेचारे नियमकी गति ही नहीं है, प्रेममें नियम कैसा ! प्रेम तो नियमके झंझटोंसे परे है । उन्होंने उसी समय कारावासके प्रधान कर्मचारीसे कहा—'भाई ! तुम मुझे जानते हो, मैं कौन हूँ ?'

जेलरने कहा—'श्रीमन् ! मैं आपको खूब जानता हूँ, आप राज्यके प्रधान मन्त्री हैं ।'

श्रीसनातनने कहा—'तुम्हे यह भी पता है कि मै क्यों जेलमें हूँ ?'

नम्रताके साथ जेलरने कहा—'श्रीमन् ! इस बातको सभी लोग जानते हैं कि आपने कोई अपराध नहीं किया है, आप अपनी नौकरीको छोड़ना चाहते थे, इसीपर बादशाहने आपको कैद कर लिया ।'

श्रीसनातनजीने स्नेहसे कहा—'तुम बता सकते हो, मैं नौकरी क्यों छोड़ना चाहता था ?'

जेलरने कहा—'श्रीमन् ! मैंने पण्डितों और समझदार आदमियोंके मुखसे ऐसा सुना है कि आप भजन करना चाहते हैं ।'

'भजन करना अच्छा काम है या बुरा, तुम्हारा इस बारेमें क्या विचार है ?' सनातनजीने पूछा ।

इसपर बड़ी ही सरलताके साथ जेलरने कहा—'श्रीमन् ! मैं इस बारेमे क्या बताऊँ ? हम तो घर-गृहस्थीकी झंझटोंके कारण पैसेके ऐसे गुलाम बन गये हैं कि जिसने हमें पैदा किया है, उसे एकदम भूल गये हैं । हम इस बारेमें कह ही क्या सकते हैं ? आप भाग्यवान् हैं जो आप

सब कुछ छोड़-छाड़कर ईश्वरका भजन करना चाहते हैं, इससे बढ़कर दूसरा कोई काम और हो ही क्या सकता है ?'

'अच्छा, तुम यह बताओ, जो लोग भजन करना चाहते हैं, उनकी मदद करना पाप है या पुण्य ?' सनातनजीने धीरेसे पूछा।

जेलरने कहा—'ऐसे आदमियोंकी जितनी भी जिससे बन सके, मदद करनी चाहिये। इससे बढ़कर पुण्यका काम दूसरा है ही नहीं।'

'तब तुम मुझे इस जेलखानेसे निकालनेमें सहायता दो।' सनातनजीने चारों ओर देखकर जेलरके कानमें कहा।

कुछ डरता हुआ और चारों ओर देखता हुआ कम्पित स्वरमें धीरे-धीरे जेलर कहने लगा—'श्रीमन् ! यह मेरी शक्तिके बाहरकी बात है। बादशाह इस बातके सुनते ही मुझे जिन्दा ही गड़वाकर कत्ल करा देगा।' सनातनजीने धीरेसे कहा—'भाई ! मैंने मन्त्रीपनेमें तुम्हारे साथ बड़े-बड़े उपकार किये हैं, तुम इतना भी नहीं कर सकते ! मेरे दस हजार रुपये अमुक मोदीके यहाँ रक्खे हैं, आज ही पत्र लिखकर मैं उन्हें मँगाकर तुम्हें दे दूँगा। तुम बाल-बच्चेदार आदमी हो, उनसे तुम्हारा काम चलेगा।'

दस हजार रुपयोंका नाम सुनते ही पैसोंको ही सर्वस्व समझनेवाला वह तीस रुपये महीनेका जेलर कर्तव्यविमूढ़ हो गया। उसने दस हजार रुपये अपने जीवनमें कभी देखे भी नहीं थे। आज थोड़ा-सा साहस करनेमें ही इकट्ठे दस हजार रुपये मिल जायँगे, इसीको सोचकर और हर्षके भावोंको दबाते हुए विवशताके स्वरमें कहने लगा—'श्रीमन् ! रुपयोंकी क्या बात है, मैं तो पहले भी आपका गुलाम था अब भी गुलाम हूँ, मगर बादशाह पूछेंगे, तो मैं क्या जवाब दूँगा ?'

सनातनजी समझ गये कि मेरा मन्त्र काम कर गया। उन्होंने दृढ़ताके स्वरमें कहा—'हम कोई चोर-डाकुओंकी तरह तो बन्दी हैं ह'

नहीं । राजा भी जानता है कि हमारे साथ राजबन्दीका-सा व्यवहार होता है । कह देना—वे गङ्गास्नान करने गये थे, वहीं गङ्गाजीमें बह गये । फिर बहुत ढुँढ़वानेपर भी उनका पता नहीं चला । मैं आज ही गौड़देशको छोड़ दूँगा और फिर इधर आऊँगा ही नहीं, तब बादशाह-को कैसे पता चल जायगा ।' यह उक्ति जेलरके मनमें बैठ गयी । बैठ क्या गयी दस हजार रुपयोंके लोभसे घबड़ायी हुई बुद्धिके बहलावका उसे एक अकाट्य बहाना मिल गया । वह सनातनजीकी बातसे सहमत हो गया और मोदीके यहाँसे रुपये मँगा लिये गये । छिपकर भागनेका सभी प्रबन्ध ठीक कर दिया गया ।

अन्धकारसे परिपूर्ण घोर रात्रि थी, सभी लोग सो रहे थे । जेलके पहरेदार कभी-कभी भर्राई हुई आवाजसे बीच-बीचमें 'ताला जंगला लालटैन सब ठीक है सा.........हबं' कह-कहकर बेमनसे चिल्ला देते थे और फिर दीवालके सहारे लुढ़क जाते । सभीपर निद्रादेवीका प्रभाव व्याप्त था, किन्तु दो ही जाग रहे थे, एक तो प्रभु-दर्शनोंके लालची श्रीसनातन और दूसरे दस हजार रुपयोंकी गर्मीसे फूले हुए गौड़देशके जेल-दरोगा । एकको प्रभुकी चिन्ता थी, दूसरेको पैसेका हर्ष था । अत्यन्त चिन्तामें और अत्यन्त हर्षमें नींद नहीं आती । धीरेसे सनातनजीकी कोठरीके किवाड़ खुले । एक विश्वासी पहरेदारके साथ जेलरने उनकी कोठरीमें प्रवेश किया । दबी हुई आवाजसे उसने कहा—'सब प्रबन्ध ठीक हो गया है श्रीमन् ! अब आपके चलनेकी ही देर है ।' जेलरकी बात सुनकर धीरेसे सनातनजीने कहा—'मैं भी बिल्कुल तैयार हूँ ।' यह कहकर पासमें पड़े हुए अपने एक *ईशान नामक विश्वासी सेवकको उन्होंने जगाया* । आँखें मलता हुआ ईशान जल्दीसे उठ पड़ा और उनके संकेतसे अपनी गुदड़ीको उठाकर *उनके पीछे-पीछे चलने लगा* । फाँसीघरके छोटे दरवाजेसे होकर सभी लोग गङ्गातटपर आये । वहाँ पहलेसे ही नाव तैयार खड़ी थी, सब

लोग चुपचाप उसमें बैठ गये। नाव चल पड़ी, सनातनजीने अन्तिम बार गौड़की राजधानीको प्रणाम किया और थोड़ी ही देरमें वे गङ्गाजीके उस पार पहुँच गये।

पार पहुँचकर सनातनजीने जेल-दरोगाकी ओर कृतज्ञताकी दृष्टिसे एक बार देखा। डरते-डरते जेलरने उन्हें प्रणाम किया। नावमें बैठकर जेलर लौट गया और सनातनजी राजपथको छोड़कर वृक्षलताओंसे घिरे हुए झाड़-खण्डके रास्तेसे आगे बढ़ने लगे। वे गौरदर्शनोंके लिये इतने उत्सुक हो रहे थे कि पैरमें गड़नेवाले कुश-कण्टक तथा कंकड़-पत्थरोंका उन्हें ध्यान ही नहीं था। वे गौर-गौर कहकर रुदन करते हुए रात्रिके घोर अन्धकारमें पश्चिमकी ओर बढ़ रहे थे। इसी प्रकार जंगल और वनोंमें होते हुए वे पातड़ा नामक पहाड़के समीप पहुँचे। स्वामि-भक्त ईशान नामक सेवक उनकी ऐसी विपत्तिकी अवस्थामें भी बराबर उनके साथ चल रहा था। पातड़ा पहाड़के समीप एक डाकुओंका सरदार रहता था। उसके पास एक ज्योतिषी था। वह ज्योतिषी गणित करके बता देता था कि अमुक पथिकके पास कितना द्रव्य है, वह डाकू अपने साथियोंके सहित पथिकोंसे धन लूट लेता और उन्हें मार डालता था। स्वामि-भक्त ईशानने भी मार्गव्ययके निमित्त आठ मुहरें अपने वस्त्रोंमें छिपा रखी थीं। ज्योतिषीने उस डाकुओंके दलपतिको बता दिया कि इस आदमीके नौकरके पास आठ मुहरें हैं। मुहरोंका नाम सुनते ही सरदारने इनकी खूब आवभगत की और इनके भोजन आदिका बहुत ही अच्छा प्रबन्ध कर दिया। आज दो दिनोंके पश्चात् भोजन पाकर श्रीसनातन सुखपूर्वक लेटे। उन्होंने सरदारसे कहा—'कृपा करके हमें पहाड़के परली पार पहुँचा दीजिये।' सरदारने उल्लासके सहित कहा—'हाँ, हाँ, अवश्य, जैसा आप कहेंगे वैसा ही प्रबन्ध कर दिया जायगा।' बुद्धिमान् राजमन्त्री सनातनजीने सोचा—'डाकू होकर यह हमारा इतना

अधिक सम्मान क्यों कर रहा है, यह इतना विनम्र क्यों बना है ! अवश्य ही इसके अंदर कोई गुप्त रहस्य है ।' सोचते-सोचते उनकी दृष्टि ईशानपर गयी, उन्होंने पूछा—'क्यों रे ! तेरे पास कुछ द्रव्य तो नहीं है, ठीक-ठीक बता दे तैंने कुछ छिपा तो नहीं रखा है ?'

गिड़गिड़ाकर नौकरने कहा—'श्रीमन् ! मेरे पास सात मुहरें हैं ।'

उसे डाँटते हुए सनातनजीने कहा—'धत्तेरे बदमाशकी; तेरा लोभ अब भी बना रहा । अभी जाकर इन सबको डाकुओंके सरदारको दे आ ।'

अपने स्वामीकी आज्ञासे ईशान सरदारके पास गया और सात मुहर रखकर कहने लगा—'मेरे स्वामीने ये मुहरें आपके पास भेजी हैं ।'

हँसकर उसने उत्तर दिया—'एक तो फिर भी छिपा ही ली, मुझे पहले ही पता चल गया था । अस्तु, मैं तुम्हारे स्वामीकी सचाईसे बहुत प्रसन्न हूँ, ये मुहरें उन्हींको दे देना ।' इतनेमें ही सनातनजी भी वहाँ आ उपस्थित हुए । सरदारको मुहरोंको लौटाते देखकर उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा—'आप इन मुहरोंको ले लें । मुझे तो कहीं-न-कहीं फेंकनी ही होंगी । मैं तो राजमन्त्री-पदको छोड़कर जेलसे भागकर आया हूँ, कृपा करके मुझे उस पार पहुँचा दीजिये ।'

सरदारने चार आदमी इनके साथ कर दिये और ये पहाड़के उस पार हो गये । आगे चलते-चलते सनातनजीने ईशानसे पूछा—'ईशान ! मालूम पड़ता है, अभी तेरे पास कुछ और द्रव्य है ?'

ईशानने लज्जितभावसे कहा—'श्रीमन् ! मेरे पास एक मुहर और है ।'

तब श्रीसनातनजीने कहा—'भैया ! मुझे अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं । मेरा तुम्हारा अब साथ ही कैसा ? तुम अपने घर लौट-जाओ ।'

रोते-रोते ईशानने अपने स्वामीके पैर पकड़ लिये और उनके बहुत कहने-पर वह लौट गया। सनातनजी उसी प्रकार झाड़-झंकाड़ोंमें होते हुए हाजीपुर पहुँचे।

हाजीपुरमें इनके बहनोई श्रीकान्तजी किसी राजकाजसे ठहरे हुए थे, उनसे अकस्मात् इनकी भेंट हो गयी। श्रीकान्त इन्हें दरवेशके वेशमें देखकर बड़े ही विस्मित हुए और कुछ काल वहाँ ठहरनेका आग्रह किया, किन्तु इन्होंने वहाँ रहना स्वीकार नहीं किया। तब श्रीकान्त इनसे मार्गव्यय ले जानेके लिये बहुत आग्रह करने लगे, किन्तु इन्होंने कुछ भी साथ लेना स्वीकार नहीं किया; बहुत कहनेपर एक भूटानी कम्बल इन्होंने ले लिया।

इनका वेष मुसलमान फकीरोंका-सा था। भिक्षा माँगते हुए और गौर-नामका जप करते हुए ये श्रीकाशीजीमें पहुँचे। वहाँ इन्हें पता चला कि महाप्रभु चन्द्रशेखरके घरपर ठहरे हुए हैं। इस समाचारको सुनते ही ये परम उल्लासके सहित चन्द्रशेखरजीके घरके पास पहुँचे और बाहर बैठकर प्रभु-दर्शनोंकी प्रतीक्षा करने लगे।

प्रेममें भी कितना अधिक आकर्षण होता है, घरके भीतर बैठे हुए महाप्रभुने सनातनजीका आगमन जान लिया और पासमें बैठे हुए चन्द्रशेखरसे उन्होंने कहा—'चन्द्रशेखर! बाहर एक वैष्णव साधु बैठे हैं, उन्हें बुला लाओ।'

बाहर जाकर चन्द्रशेखरने देखा कि यहाँ तो कोई वैष्णव साधु है नहीं। भीतर लौटकर उन्होंने प्रभुसे कहा—'प्रभो! वहाँ तो कोई वैष्णव साधु है नहीं।'

प्रभुने हँसकर कहा—'हाँ है, जरूर है,'तुम अच्छी तरहसे खोजो।'

चन्द्रशेखर फिर गये, किन्तु वहाँ एक मुसलमान दरवेशके सिवा कोई वैष्णव साधु उनके देखनेमें नहीं आया।

उन्होंने आकर हैरानीके साथ कहा—'प्रभो ! एक मुसलमान दरवेश तो द्वारपर बैठा है । उसके अतिरिक्त कोई वैष्णव साधु तो मुझे फिर भी नहीं दीखा ।'

प्रभुने मुसकराकर कहा—'जिसे तुम मुसलमान दरवेश समझते हो वही परम भागवत वैष्णव है, उसीको मेरे पास लाओ ।'

प्रभुकी आज्ञासे चन्द्रशेखर श्रीसनातनजीको साथ लेकर भीतर आये । सनातनने दूरसे ही भूमिमें लेटकर प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया । प्रभु जल्दीसे उठकर उन्हें आलिङ्गन करनेके लिये दौड़े । प्रभुको देखते ही वे सर्पको देखकर डरते हुएकी भाँति पीछे हटते हुए दीनताके साथ प्रभुसे कहने लगे—'प्रभो ! मुझको स्पर्श न कीजिये । नाथ ! मैं आपके स्पर्शके योग्य नहीं हूँ ।'

भक्तवत्सल गौराङ्ग कब सुननेवाले थे । वे जोरोंसे सनातनजीको आलिङ्गन करते हुए कहने लगे—'आज मैं पावन बन गया, जो सनातनजीकी देहसे स्पर्श हो गया । सनातनजीके अंगस्पर्शसे पापियोंको भी श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है ।'

सनातनजी प्रभुके कृपाभारसे दब-से गये । प्रभुने उन्हें अपने पास ही आसन दिया और उनके कारावासका सब वृत्तान्त पूछा; सब वृत्तान्त सुनकर प्रभुने कहा—'तुम्हारे दोनों भाई मुझे प्रयागमें मिले थे, वे वृन्दावन गये हैं । तुम कुछ काल यहीं मेरे पास रहो ।' प्रभुकी आज्ञा पाकर सनातन चुपचाप नीचेको सिर किये हुए बैठे रहे । प्रभु उनके ही सम्बन्धमें सोचते रहे ।

है, कि नहीं। यदि वैराग्य देखते तब तो उसे महान् वैराग्यका उपदेश करते और जब उन्हें वैराग्यकी कमी प्रतीत होती तो उसे श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ घरमें ही रहकर निष्कामभावसे संसारी कर्मोंको करते रहनेकी ही शिक्षा देते। वे जानते थे कि ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही व्यवहार करते हैं, इसलिये सब किसीको विषयोंसे एकदम हट जानेका आग्रह नहीं करते और त्याग न करनेवालेको वे बुरा भी नहीं बताते, क्योंकि विषयोंका त्याग सब नहीं कर सकते, त्याग करनेवाले तो कोई विरले ही होते हैं।

श्रीरूप और सनातनके व्यवहारसे ही प्रभु समझ गये कि इन लोगोंके जीवनमें महान् वैराग्य है। सचमुच ये दोनों भाई पहले जितने अधिक भोगी थे पीछे उससे भी अधिक त्यागी बन गये। श्रीसनातनजीके लिये तो सुनते हैं कि घर बनाकर या कुटियामें रहना तो अलग रहा वे एक दिनसे अधिक एक पेड़के नीचे भी वास नहीं करते थे। बारहों महीने जंगलमें किसी पेड़के नीचे पड़ रहना, दूसरे दिन उसे छोड़कर दूसरे वृक्षके नीचे चले जाना यही इनका दैनिक व्यापार था। व्रजवासियोंके घरोंसे रोटियोंके छोटे-छोटे टुकड़े माँग लाते। उन्हें यमुना-जलके साथ जिस-किसी भाँति गलेसे नीचे निगल जाते। जो बच रहते उन्हें पृथ्वीमें गाड़ देते और दूसरे दिन उन्हें जलमें भीजकर फिर खा जाते। ओढ़नेको रास्तेमें पड़े हुए चिथड़ोंकी एक गुदड़ीमात्र रखते। पात्रोंमें उनके पास मिट्टीके एक टोंटनीदार करवेके सिवा कुछ नहीं रहता। 'कर करवा गुदरी गले' यही इनका बाना था। इसी प्रकार इन्होंने बीसों वर्ष श्रीवृन्दावनकी पवित्र भूमिमें बिताये। प्रेमावतार गौराङ्ग इनके इस वैराग्यसे बड़े सन्तुष्ट होते थे और वृन्दावनसे जो भी आता उसीसे इनका समाचार पूछते। सनातनको महान् वैराग्यकी शिक्षा प्रभुने काशीधाममें ही दी थी। महाप्रभुने स्पष्ट नहीं कहा। स्पष्ट तो मूर्खों और बुद्धिहीनोंसे कहा जाता है,

श्रीसनातनका अद्भुत वैराग्य

शरीरं व्रणवद् बोध्यमन्नं च व्रणलेपनम्।
व्रणशोधनवत् स्नानं वस्त्रं च व्रणपट्टवत्॥*

महाप्रभुका सम्पूर्ण जीवन त्यागमय था, त्याग उन्हें सबसे अधिक प्रिय था, संसारी भोगोंका जब भी त्याग किया जाय, जितना भी त्याग किया जाय उतना ही अच्छा है, किन्तु त्याग वैराग्यके बिना टिकता नहीं, इसीलिये वे मरकटवैराग्यके विरुद्ध थे। अपने शरणापन्न भक्तोंको वे खूब ठोक-बजाकर देख लेते थे कि इनके जीवनमें वैराग्य

* ज्ञानीलोग इस शरीरको फोड़ेकी तरह समझते हैं, जिस प्रकार फोड़ेमें पुलटिस बाँधते हैं, उसी प्रकार वे अन्नके टुकड़े खाकर निर्वाह करते हैं, फोड़ा और अधिक न सड़ जाय, इसलिये उसे रोज धोते हैं, इसी प्रकार वे स्नान कर लेते हैं, जिस प्रकार कपड़ेसे फोड़ेको बाँधे रहते हैं उसी प्रकार वे वस्त्रोंको पहनते हैं, अर्थात् उनका भोजन, स्नान और वस्त्र इस शरीरको सजाने, पुष्ट करने या सुखी रखनेके लिये नहीं होता। वे इसे सुरक्षित रखनेको ही इन क्रियाओंको करते हैं।

है, कि नहीं। यदि वैराग्य देखते तब तो उसे महान् वैराग्यका उपदेश करते और जब उन्हें वैराग्यकी कमी प्रतीत होती तो उसे श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ घरमें ही रहकर निष्कामभावसे संसारी कर्मोंको करते रहनेकी ही शिक्षा देते। वे जानते थे कि ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही व्यवहार करते हैं, इसलिये सब किसीको विषयोंसे एकदम हट जानेका आग्रह नहीं करते और त्याग न करनेवालेको वे बुरा भी नहीं बताते, क्योंकि विषयोंका त्याग सब नहीं कर सकते, त्याग करनेवाले तो कोई विरले ही होते हैं।

श्रीरूप और सनातनके व्यवहारसे ही प्रभु समझ गये कि इन लोगोंके जीवनमें महान् वैराग्य है। सचमुच ये दोनों भाई पहले जितने अधिक भोगी थे पीछे उससे भी अधिक त्यागी बन गये। श्रीसनातनजीके लिये तो सुनते हैं कि घर बनाकर या कुटियामें रहना तो अलग रहा वे एक दिनसे अधिक एक पेड़के नीचे भी वास नहीं करते थे। बारहों महीने जंगलमें किसी पेड़के नीचे पड़ रहना, दूसरे दिन उसे छोड़कर दूसरे वृक्षके नीचे चले जाना यही इनका दैनिक व्यापार था। व्रजवासियोंके घरोंसे रोटियोंके छोटे-छोटे टुकड़े माँग लाते। उन्हें यमुना-जलके साथ जिस-किसी भाँति गलेसे नीचे निगल जाते। जो बच रहते उन्हें पृथ्वीमें गाड़ देते और दूसरे दिन उन्हें जलमें भीजकर फिर खा जाते। ओढ़नेको रास्तेमें पड़े हुए चिथड़ोंकी एक गुदड़ीमात्र रखते। पात्रोंमें उनके पास मिट्टीके एक टोंटनीदार करुवेके सिवा कुछ नहीं रहता। 'कर करुवा गुदरी गले' यही इनका बाना था। इसी प्रकार इन्होंने बीसों वर्ष श्रीवृन्दावनकी पवित्र भूमिमें बिताये। प्रेमावतार गौराङ्ग इनके इस वैराग्यसे बड़े सन्तुष्ट होते थे और वृन्दावनसे जो भी आता उसीसे इनका समाचार पूछते। सनातनको महान् वैराग्यकी शिक्षा प्रभुने काशीधाममें ही दी थी। महाप्रभुने स्पष्ट नहीं कहा। स्पष्ट तो मूर्खों और बुद्धिहीनोंसे कहा जाता है,

'बुद्धिमानोंके लिये तो इशारा ही काफी होता है ।' श्रीसनातन परम बुद्धिमान् थे, एक देशका शासन इन्हींकी कुशाग्र बुद्धिसे होता था । फिर तिसपर भी इनके ऊपर प्रभुकी पूर्ण कृपा थी, फिर वे महाप्रभुके संकेतको क्यों न समझते । पाठकोंको अगली घटनासे इसका पता चल जायगा ।

वैद्य चन्द्रशेखर महाप्रभु और श्रीसनातनजीके परस्पर मिलनको देखकर चकित हो गये । महाप्रभु इन मुसलमान साधुसे इतने प्रेमसे क्यों मिल रहे हैं, सगे भाईकी तरह घुल-घुलकर बातें क्यों कर रहे हैं, वैद्य महोदय इन्हीं विचारोंमे निमग्न थे । वे बीच-बीचमें महाप्रभुकी दृष्टि बचाकर श्रीसनातनकी ओर देख लेते थे और नीचेको मुख करके कुछ सोचने लगते । प्रभु वैद्यके मनोगत भावको ताड़ गये । इसलिये श्रीसनातनका परिचय देते हुए कहने लगे—'चन्द्रशेखर ! तुम इन्हें जानते नहीं हो, ये गौड़देशके बादशाहके प्रधान मन्त्री हैं । महान् पण्डित हैं, अद्वितीय भगवद्भक्त हैं; पद, प्रतिष्ठा, धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार सभीपर लात मार करके भगवद्भजन करनेके लिये निकल पड़े हैं, इनके दो भाई भी इसी प्रकार घर-बार छोड़कर वृन्दावन वास करने गये हैं, ये मुझे प्रयागमें मिले थे । आज इनकी पदधूलिसे तुम्हारा घर सचमुच तीर्थ बन गया ।' सनातनजी प्रभुके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जाके कारण पृथ्वीमें गड़े-से जा रहे थे, उनके मुखसे एक भी शब्द नहीं निकला । वे नीची दृष्टि किये हुए अपने नखसे पृथ्वीको कुरेद रहे थे, मानो वे देख रहे थे कि यदि इसमें कोई बिल मिल जाय तो मैं सीताजीकी तरह अंदर समा जाऊँ ।

श्रीसनातनजीका परिचय पाते ही चन्द्रशेखरजीने भूमिपर लोट-कर उन्हें प्रणाम किया । सनातनजीने रोते-रोते उनके चरण पकड़ लिये और फूट-फूटकर रोने लगे । एक दूसरेके चरणोंमें अपना माथा रगड़ने

लगे, एक दूसरेका आलिङ्गन करके अपने प्रेमके आवेशको कम करना चाहते थे, किन्तु वह वेग इतना अधिक था कि प्रेमालिङ्गन, चरणस्पर्श तथा अश्रुविमोचनसे शान्त ही नहीं होता था। महाप्रभु इन दोनोंके प्रेमको देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे। कुछ कालके अनन्तर प्रभुने कहा—'चन्द्रशेखर ! तुम सनातनको गङ्गाजीपर ले जाओ। इनकी दाढ़ी-मूँछ सभी मुड़वा दो। क्षौर कराके इनका स्वरूप विशुद्ध वैष्णवोंका-सा बना दो।' चन्द्रशेखरने प्रभुकी आज्ञा पालन की। वे गङ्गाजीपर जाकर श्रीसनातनजीका क्षौर करा लाये।

सनातनजीके पास उस भूटिया कम्बलके सिवा और कोई नूतन वस्त्र नहीं था। चन्द्रशेखरने उन्हें नूतन वस्त्र देने चाहे, किन्तु उन्होंने नूतन वस्त्र पहनना स्वीकार नहीं किया। बहुत आग्रह करनेपर भी वे राजी नहीं हुए, इस बातसे प्रभुको परम प्रसन्नता हुई। इतनेमें ही तपन मिश्रजी प्रभुको भिक्षा करानेके निमित्त लिवाने आ गये। प्रभुने हँसते हुए कहा—'मिश्र महाशय ! अब मेरा परिवार बढ़ रहा है, आज हम दो हो गये। दोनोंको भिक्षा करानी होगी।'

कुछ लज्जाके स्वरमें विनम्रभावसे नीची दृष्टि किये हुए तपन मिश्रने कहा—'प्रभो ! सम्पूर्ण वसुधा ही आपका कुटुम्ब है। मैं तो आपका वेतन-भोगी नौकर हूँ। नौकर राजाकी ही वस्तुओंको लाकर स्वामीके सम्मुख समर्पण करता है। इसलिये आपकी वस्तुको जैसे आज्ञा करेंगे, वैसे ही समर्पण कर सकूँगा। दान तो वह दे सकता है, जो स्वतन्त्र हो जिसका किसी वस्तुपर अपने-पनका अधिकार हो। जब सभी चीज स्वामीकी है, तो फिर इसमें नौकरको क्या ?' महाप्रभु उनकी इस बातसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें सनातनजीका परिचय कराया। परिचय पाते ही तपन मिश्रजी उनसे लिपट गये, सनातनजीने भी उनकी चरणवन्दना की। फिर प्रभुके पीछे-पीछे

सनातनजी भी तपन मिश्रके घर चले । प्रभु भोजनके आसनपर बैठते ही कहने लगे—'सनातनको बुलाओ, उसे भी भोजन कराओ ।' दयालु तपन मिश्र तो भाग्यवान् सनातनजीको प्रभुके अधरामृत स्पर्श किया हुआ महाप्रभुका उच्छिष्ट प्रसाद देना चाहते थे, इसलिये उन्होंने कहा—'प्रभो ! अभी सनातनजीका कुछ कृत्य शेष है, आप भिक्षा कर लें, वे मेरे साथ करना चाहते हैं ।' महाप्रभुने फिर कुछ नहीं कहा । उन्होंने भिक्षा कर ली ।

प्रभुके भिक्षा कर लेनेपर तपन मिश्रजीने प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद सनातनजीको दिया । उस महाप्रसादको पाते ही सनातनजी ऐसा अनुभव करने लगे कि हमारे सभी पाप प्रत्यक्ष रीतिसे हमारे शरीरसे निकल-निकलकर बाहर जा रहे हैं । प्रसाद पा लेनेके अनन्तर सनातनजीको एक प्रकारकी अपूर्व ही प्रसन्नता हुई । इतनी प्रसन्नता पहले उन्हें कभी भी प्राप्त नहीं हुई थी ।

सनातनजीके प्रसाद पा लेनेपर तपन मिश्र अपने घरमेंसे नूतन वस्त्र ले आये और उन्हें हठपूर्वक श्रीसनातनजीके शरीरपर पहनाने लगे । सनातनजी उनके पैर पकड़कर अत्यन्त ही करुण स्वरमें कहने लगे—'मिश्रजी ! आप मुझसे आग्रह न करें । मैं अब नूतन वस्त्र नहीं पहनूँगा । यदि आप नहीं मानते हैं, तो अपना पहना हुआ कोई पुराना एक वस्त्र मुझे दे दीजिये ।' मिश्रजी विवश हो गये, अन्तमें वे अपने घरमेंसे एक पुरानी धोती निकाल लाये । सनातनजीने उसे फाड़कर दो टुकड़े कर लिये । एकमेंसे तो साफी और लँगोटी बना ली, एक टुकड़ेको शरीरसे लपेट लिया । अब वे पूरे वैष्णव बन गये ।

वह महाराष्ट्रीय ब्राह्मण भी आ पहुँचा । श्रीसनातनजीका परिचय पाकर उसने उनका निमन्त्रण किया । इसपर सनातनजीने कहा—'मैं एकके यहाँ अब भोजन न करूँगा, ब्राह्मणोंके घरोंसे मधुकरी माँगकर ही लाया करूँगा, आपके घरसे भी ले आऊँगा, आप मुझसे विशेष आग्रह न करें ।' इसपर फिर किसीने सनातनजीसे आग्रह नहीं किया । वे

सनातन और चैतन्य

मधुकरी माँगकर उदरपूर्ति करने लगे। महाप्रभु इनके वैराग्यको देखकर मन-ही-मन बहुत सन्तुष्ट हुए। सनातनजी प्रभुके चरणोंके ही समीप रहने लगे।

सनातनजीके पास अपने बहनोईका दिया हुआ वह सफेद रंगका कम्बल अभीतक था। वह कम्बल बहुत ही बढ़िया और मुलायम था। उसकी ऊन बहुत ही चमकीली और रेशमसे भी बढ़िया थी। उसका मूल्य था तीन रुपये। उन दिनों तीन रुपयेके कम्बलको बहुत बड़े आदमी ही ओढ़ते थे। आजकल वह तीस-चालीस रुपयेका होगा। महाप्रभु बार-बार उस कम्बलकी ओर देखते।

बुद्धिमान् सनातनजी समझ गये कि महाप्रभुको मेरे पासका यह कम्बल भाता नहीं है। वे उसी समय गङ्गाजीके किनारे गये। वहाँ एक साधुने अपनी फटी-सी गुदड़ी गङ्गाजीमें धोकर सुखाने डाल दी थी। सनातनजी उसके पास पहुँचकर कहने लगे—'भाई! तुम मेरा इतना उपकार करो, मेरे इस कम्बलको ले लो और अपनी यह गुदड़ी मुझको दे दो।'

साधुने आश्चर्यचकित होकर कम्बलकी ओर देखते हुए कहा—'महाराज! आप मुझ गरीबसे हँसी क्यों करते हैं? मेरी गुदड़ी फट गयी है, कहाँसे दूसरी खोजूँगा।'

सनातनजीने बड़े ही स्नेहसे कहा—'भाई! तुम हँसी मत उड़ाओ, मैं सच-सच कहता हूँ, यदि इस कम्बलके बदलेमें तुम अपनी गुदड़ी दे दो तो मेरे ऊपर तुम्हारा बड़ा ही उपकार हो।'

साधुने कहा—'आप इस इतने कीमती कम्बलको इस बदलेमें क्यों देना चाहते हैं?'

सनातनजीने कहा—'इसमें एक रहस्य है, तुम मुझे दे दो, मुझे ऐसीही गुदड़ीकी जरूरत है।' साधुने प्रसन्नतापूर्वक गुदड़ी दे दी। उसे प्रसन्नतापूर्वक ओढ़े हुए सनातनजी चन्द्रशेखरके घर पहुँचे। सनातनजीपर कम्बल न देखकर प्रभु समझ तो गये कि ये कम्बलको फेंककर कहींसे फटी गुदड़ी ले आये हैं, किन्तु फिर भी अनजानकी भाँति पूछने लगे—'सनातन! तुम्हारा वह कम्बल नहीं दीखता, उसे कहाँ रख दिया?'

कुछ लज्जितभावसे सनातनजीने कहा—'प्रभो! जब आपकी असीम कृपा है, तब विषयरूपी यह कम्बल बच ही कैसे सकता है? वह तो आपकी कृपाके वेगमें मेरे पूर्वकृत पापोंके सहित बह गया।'

महाप्रभु बड़े सन्तुष्ट हुए और धीरे-धीरे कहने लगे—'सनातन! जो सद्वैद्य होता है, वह रोगीके अच्छा होनेपर भी कुछ दिन और ओषधि देता है, थोड़ा भी रोग शरीरमें रह जायगा, तो फिर धीरे-धीरे वह बढ़ने लगेगा। इसलिये बुद्धिमान् वैद्य रोगके अंशको भी रहने नहीं देता। तुमने सब कुछ त्यागा, तिसपर भी सुन्दर कम्बलकी क्षुद्र सी वासना बनी ही रही। भिक्षाके टुकड़े माँगकर खाना और फिर तीन रुपयेका भूटिया कम्बल ओढ़ना—यह शोभा नहीं देता।'

महाप्रभुकी अपार अनुकम्पाको स्मरण करके सनातनजी गद्गद हो उठे, उनका गला भर आया, वे प्रभुके पैर पकड़कर रुदन करने लगे। प्रभुने उन्हें उठाकर छातीसे चिपटा लिया। सभी उपस्थित भक्त श्रीसनातनजीके अद्भुत वैराग्यकी और महाप्रभुकी अपार भक्तवत्सलताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

श्रीसनातनको शास्त्रीय शिक्षा

अथ स्वस्थाय देवाय नित्याय हतपाप्मने ।
त्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः ॥*

(गु० र० भा० १ । १)

महाप्रभुकी असीम कृपा प्राप्त हो जानेपर श्रीसनातनजीको प्रभुसे कुछ शास्त्रीय प्रश्न पूछनेकी जिज्ञासा हुई । उन्होंने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए कहा—'प्रभो ! मैं साधनविहीन परमार्थ-पथसे अनभिज्ञ और संसारी विषयी लोगोंका संसर्ग करनेवाला परमार्थ-सम्बन्धी प्रश्न करना भी नहीं जानता । अतः जिस प्रकार आपने ही दया करके विषयोंमें आसक्त हुए हम पशुओंको घर जाकर सोतेसे जगा दिया, उसी प्रकार अब हमारे इस पशुपनेको मेटकर मनुष्यता प्रदान कीजिये, हमारे योग्य जो शिक्षा उचित समझें वही मुझे दीजिये । हम कौन हैं ? हमारा क्या कर्तव्य है ? भगवान्‌के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है ? भगवान्‌का क्या स्वरूप है आदि सभी बातोंको मुझे संक्षेपमें समझा दीजिये ।'

प्रभुने कहा—'सनातन ! तुमपर भगवत्-कृपा है । तुम्हें शंका ही क्या हो सकती है ? तुम जानते हुए भी लोककल्याणके निमित्त ये प्रश्न कर रहे हो । अस्तु, साधु पुरुषोंका यह स्वभाव ही होता है । उनकी सभी चेष्टाएँ जगत्-हितके ही निमित्त होती हैं, पूछो तुम क्या पूछना चाहते हो ?'

* जो सदा अपनेमें ही स्थित रहते हैं, जो नित्य हैं, जिन्होंने पापोंका नाश कर दिया है, जिनके लिये कोई विधि-निषेधका विभाग नहीं है ऐसे ज्योतिःस्वरूप श्रीचैतन्य प्रभुको हमारा प्रणाम है ।

'प्रभो ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि जीवोंमें जो यह विभिन्नता प्रतीत होती है, वह क्यों होती है ?'

प्रभुने कहा—'सनातन ! शास्त्रोंमें मुक्त, नित्य, मुमुक्षु और बद्ध—ये चार प्रकारके जीव बताये हैं। सनक-सनन्दनादि ये मुक्त जीव हैं, इन्हें संसारमें रहते हुए भी संसार-बन्धन कभी व्याप नहीं सकता। ये अहर्निश श्रीकृष्ण-संकीर्तनमें ही संलग्न रहते हैं। मनु, प्रजापति, इन्द्र और सप्तर्षि आदि सभी नित्य जीव हैं, सृष्टिके निमित्त ये सदा क्रियाशील बने रहते हैं। जो इस अनित्य संसारके नश्वर और क्षणभङ्गुर भोगोंको छोड़कर प्रभुपादपद्मोंका आश्रय ग्रहण करना चाहते हैं वे मुमुक्षु जीव हैं। उनमें प्रायः सभी परमार्थ-पथके पथिकोंकी गणना हो सकती है। इनके अतिरिक्त जो स्वभावके ही अनुसार जन्मते और मरते रहते हैं, जिन्हें कर्तव्याकर्तव्यका विवेक नहीं, वे बद्ध जीव कहाते हैं। विषयोंमें फँसे हुए अज्ञानी पुरुष, पशु, पक्षी आदि सभी जीव इसी श्रेणीमें हैं, ये साधन-भजन नहीं कर सकते। उन्हींके लिये कहा है—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

शास्त्रोंमें जीवोंकी चौरासी लाख योनियाँ बतायी गयी हैं। भगवत्-पादपद्मोंसे पृथक् होकर प्राणी इन नाना योनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है। चिरकालसे भगवत्-विच्छेद होनेके कारण इसकी वृत्ति बहिर्मुख हो गयी है, यह मायापतिको भूलकर मायाके बन्धनमें पड़ गया है और भगवान्‌की अत्यन्त ही दुरूह गुणमयी दैवी माया उसे नाना योनियोंमें घुमाती रहती है।'

सनातनजीने पूछा—'प्रभो ! इस मायासे छुटकारा कैसे हो ? जब जीव मायाके अधीन ही होकर घूमता है, तब तो उसके निस्तारका कोई उपाय ही नहीं।'

प्रभुने कहा—'हाँ, उपाय है और एक ही उपाय है। जो मायाको छोड़कर मायापतिकी शरणमें जाय उसकी माया छूट जाती है।'

सनातन—'प्रभो ! मैं यही तो पूछ रहा हूँ, मायापतिकी शरणमें कैसे जाया जाय ?'

प्रभुने कहा—'भाई ! इसमें तो कृपा ही मुख्य मानी गयी है—(१) शास्त्रकृपा, (२) गुरुकृपा और (३) परमात्मकृपा—ये तीन ही कृपा मुख्य हैं। इन तीनोंमेंसे किसीकी भी कृपा होनेसे मनुष्यके संसारी बन्धन ढीले हो सकते हैं और वह प्रभुकी ओर अग्रसर हो सकता है।'

सनातन—'प्रभो ! मैं यह जानना चाहता हूँ, यह जीव प्रभुसे विमुख होकर क्यों नाना योनियोंमें भटकता फिरता है, पृथिवीपर तो दुःख-ही-दुःख है। स्वर्गादि लोकोंमें तो सुख भी होगा, किन्तु वहाँ भी जीवको शान्ति नहीं, इसकी अन्तिम शान्ति कहाँ जाकर होती है ?'

प्रभुने कहा—'सनातन ! चींटीसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी जीव मायाके गुणोंसे आबद्ध हैं। स्वर्ग क्या, ब्रह्मलोकतक शान्ति नहीं, परम शान्ति तो प्रभुके पादपद्मोंमें पहुँचनेपर ही प्राप्त हो सकती है।'

सनातन—'प्रभो ! ब्रह्माजीको तो शान्ति होगी, वे तो चराचर जगत्के ईश्वर हैं, उनके लिये क्या दुःख ! वे तो सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करते हैं।'

प्रभुने हँसकर कहा—'सनातन ! ईश्वर तो वे ही एक श्रीकृष्ण हैं। न जाने कितने असंख्य ब्रह्मा इस विश्वमें प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं।'

आश्चर्यके साथ सनातनजीने कहा—'प्रभो ! यह आपने कैसी बात कही ! सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके ईश्वर ब्रह्माजी तो अकेले ही हैं। ब्रह्मा असंख्यों हैं, यह बात मेरी समझमें नहीं आयी। इसे समझनेकी मेरी इच्छा है।'

प्रभुने बड़े ही स्नेहसे कहा—'अच्छा, तुम यों समझो। जिस काशीपुरीमें तुम बैठे हो ऐसी पुण्य और पापनाशिनी सात पुरी इस भारतवर्षमें हैं। और लाखों नगर हैं, ऐसे-ऐसे नौ खण्डोंवाला यह जम्बूद्वीप है, उन खण्डोंके नाम—(१) भारतवर्ष, (२) किम्नरवर्ष, (३) हरिवर्ष,(४) कुरुवर्ष, (५) हिरण्मयवर्ष, (६) रम्यकवर्ष, (७) इलावृतवर्ष, (८) भद्राश्ववर्ष और (९) केतुमालवर्ष—ये हैं। इन खण्डोंवाले द्वीपको ही जम्बूद्वीप कहते हैं। जम्बूद्वीपसे दुगुना प्लक्षद्वीप है, प्लक्षद्वीपसे दुगुना शाल्मलीद्वीप और उससे दुगुना कुशद्वीप है, कुशद्वीपसे दुगुना क्रौञ्चद्वीप, क्रौञ्चद्वीपसे दुगुना शाकद्वीप और शाकद्वीपसे दुगुना पुष्करद्वीप है। इस प्रकार पृथिवीपर सात द्वीप और सात समुद्र हैं। कलियुगवाले पुरुष पूरे जम्बूद्वीपको ही समझनेमें समर्थ नहीं हो सकते। वे क्षारसागरका ही पार नहीं पाते फिर दधि, घृत, मधु, क्षीरसागरको तो वे समझ ही क्या सकते हैं। एक-एक द्वीपके बाद एक-एक समुद्र है। जम्बूद्वीप सबसे छोटा द्वीप है। पृथिवी-पर ये सात द्वीप हैं, इसीलिये पृथिवी सप्तद्वीपा कही जाती है। इसे भूलोक भी कहते हैं। इसी प्रकार भूः भुवः,स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य—ये छः लोक ऊपर हैं, और तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, पाताल और रसातल—ये सात लोक नीचे हैं। इन प्रत्येक लोकोंमें अनेक छोटे-छोटे लोक हैं। स्वर्गमें ही देख लो, असंख्यों लोक हैं। रात्रिमें ये जो असंख्य तारे चमकते हैं, ये सब स्वर्गके पृथक्-पृथक् लोक हैं। इनमें भी पृथिवीकी तरह असंख्यों जीव हैं। चन्द्रलोक, भौमलोक, बुधलोक, सूर्यलोक-जैसे असंख्यों लोक स्वर्गमें हैं। उन्हें सूर्यके प्रकाशकी भी अपेक्षा नहीं रहती। वे सब अपने-अपने प्रकाशोंसे प्रकाशित होते हैं। लाखों, करोड़ों नहीं असंख्यों लोक इतने बड़े हैं कि जिनके सामने सूर्यका प्रकाश जुगनू (पटबीजने) की भाँति प्रतीत होता है। ये सभी लोक स्वर्गमें ही बोले जाते हैं। स्वर्गलोकसे ऊपर महर्लोक है, उसमें भी असंख्यों जीव हैं।

इसी प्रकार जन, तप और सत्यलोकमें असंख्यों छोटे-छोटे स्वतन्त्र लोक हैं। नीचेके सात लोकोंमें भी स्वर्गके समान सुख है। नरकके लोक भी वहीं हैं और नरक भी लाखों प्रकारके हैं। इन चौदह लोकोंके स्वामी ब्रह्माजी हैं, ब्रह्मलोक सबसे श्रेष्ठ है। यह चौदह लोकोंवाला ब्रह्माजीका अण्ड है इसीलिये ब्रह्माण्ड कहते हैं। इस ब्रह्माण्डके स्वामी सदा एक ही ब्रह्मा नहीं होते। सौ वर्षके पश्चात् वे बदल जाते हैं। वे सौ वर्ष भी हमारे नहीं, ब्रह्माजीके अपने सौ वर्ष।'

सनातन—'प्रभो! मैं ब्रह्माजीके वर्षका परिमाण जानना चाहता हूँ। ब्रह्माजीका एक वर्ष हमारे वर्षोंसे कितने दिनका होता है?'

प्रभुने कहा—'अच्छा तुम हिसाब लगाओ। जो किसी प्रकार भी न दीखे और जिसके किसी तरह भी विभाग न हो सकें, उसे 'परम अणु' कहते हैं। दो परमाणुओंका 'एक अणु' होता है, तीन अणुओंका एक 'त्रसरेणु' होता है। हाँ, 'त्रसरेणु' दीखता है। झरोखेमेंसे सूर्यके प्रकाशके साथ जो छोटे-छोटे कण उड़ते-से दीखते हैं, वे ही त्रसरेणु हैं। वह इतना हलका होता है कि उसका पृथिवीपर गिरना असम्भव है, वह आकाशमें ही घूमा करता है और सूर्यके प्रकाशके साथ झरोखेमेंसे दीखता है। जितनी देरमें तीन 'त्रसरेणु' को उल्लंघन करके सूर्य आगे बढ़े उस कालको 'त्रुटि' कहते हैं। ऐसी-ऐसी तीन सौ त्रुटियोंका एक 'वेध' होता है। तीन वेधका एक 'लव' और तीन लवका एक 'निमेष' माना जाता है। तीन निमेषका एक क्षण और पाँच क्षणके कालको 'काष्ठा' कहते हैं। पंद्रह काष्ठाका एक 'लघु' और पंद्रह लघुकी एक 'घड़ी' होती है। दो घड़ीका एक 'मुहूर्त' और छः या सात (दिनके घटने-बढ़नेके कारण) घड़ी होनेपर मनुष्योंका एक 'पहर' होता है। चार पहरका 'दिन' और चार पहरकी 'रात्रि' होती है, इसलिये आठ पहरकी एक दिन-रात्रि मानी गयी है। ऐसे सात दिन-रात्रिका एक 'सप्ताह' और पंद्रह दिनोंका एक पक्ष होता है। शुक्ल

और कृष्ण-भेदसे 'पक्ष' दो हैं। दो पक्षका एक 'मास' होता है। दो मासकी एक 'ऋतु' और तीन ऋतुओंका एक 'अयन' होता है। उत्तरायण और दक्षिणायनके भेदसे अयन दो हैं, इसलिये दो अयनोंका मनुष्योंका एक 'वर्ष' होता है। उत्तरायणको 'देवताओंका दिन' और दक्षिणायनको 'देवताओंकी रात्रि' समझनी चाहिये। अर्थात् जिसे हम वर्ष कहते हैं, वह 'देवताओंका एक दिन' ही होता है। देवताओंके तीन सौ साठ दिनोंका एक देव-वर्ष होता है, जिसे 'दिव्य वर्ष' कहते हैं। देवताओंके वर्षोंसे चार हजार वर्षका सत्ययुग, तीन हजार वर्षका त्रेता, दो हजार वर्षका द्वापर और एक हजार वर्षका कलियुग होता है। एक युग बीतनेके पश्चात् फौरन ही दूसरा युग नहीं लग जाता, इसलिये उसके आगे-पीछेके समयको सन्धि और सन्ध्यांश कहते हैं। दिव्य वर्षोंसे सत्ययुगका आठ सौ वर्ष, त्रेताका छः सौ वर्ष, द्वापरका चार सौ वर्ष और कलियुगका दो सौ वर्ष सन्धि-सन्ध्यांश काल माना गया है। चार युगोंको मिलाकर 'चौकड़ी' कहते हैं। देवताओंके बारह हजार वर्षों (अर्थात् मनुष्योंके तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष) की एक 'चौकड़ी' होती है। ऐसी चौकड़ी जब ७१ बीत जाती हैं, तब एक 'मन्वन्तर' होता है। एक मन्वन्तरके समाप्त होते ही पिछले इन्द्र, मनु, सप्तर्षि आदि बदल जाते हैं और नये बनाये जाते हैं। ऐसे चौदह मन्वन्तर बीत जाते हैं, तब 'ब्रह्माजीका एक दिन' होता है और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। उनके एक दिनमें चौदह इन्द्र और चौदह मनु बदल जाते हैं। ब्रह्माजीके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं। दिनमें वे सृष्टिका काम करते रहते हैं, रात्रिमें सब सृष्टिका संहार करके उसे अपनेमें लीन करके सो जाते हैं, दिन होते ही फिर काममें लग जाते हैं। जिस प्रकार दूकानदार दिनमें तो बाहर भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ फैलाकर बैठता है और रात्रिमें सबको समेट करके दूकानमें बन्द कर देता है, प्रातःकाल फिर ज्यों-का-त्यों पसारा फैला देता है, इसी प्रकार ब्रह्माजी रोज व्यापार करते रहते हैं। ब्रह्माजी-

के तीन सौ साठ दिनोंका 'ब्रह्मवर्ष' होता है। ऐसे वर्षोंसे एक ब्रह्माकी आयु सौ वर्षकी होती है। कल्पमें तो तीन ही लोकोंका नाश होता है। ब्रह्माजीकी आयुके बाद इस चौदह भुवनवाले ब्रह्माण्डका ही नाश हो जाता है, इसे 'महाप्रलय' कहते हैं। तब ब्रह्माजी ब्रह्मलोकके मुक्त पुरुषोंके साथ भगवान्के शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं, फिर नये ब्रह्मा होते हैं।'

प्रभुके मुखसे ब्रह्माजीकी आयु सुनकर परम विस्मित हुए सनातनजीने पूछा—'प्रभो! यह तो महान् आश्चर्यकी बात है। इसे सुनकर तो बड़ा भारी वैराग्य होता है। इस हिसाबसे तो हमारी आयु कुछ भी नहीं, जिसे हम सौ वर्षकी परमायु मानते हैं, वह ब्रह्माजीके एक क्षण क्या 'लव' के भी करोड़वें अंशके बराबर नहीं। इसीपर यह मूर्ख प्राणी इतना गर्व करता है।'

प्रभुने उत्तेजितभावसे उल्लासके साथ उत्तर दिया। उस समय सनातनको बताते-बताते उनका चेहरा चमक रहा था, आँखोंसे प्रसन्नताकी किरणें जोरोंसे निकल-निकलकर सनातनजीके शरीरमें प्रवेश कर रही थीं। प्रभुने कहा—'सनातन! यह प्राणी जब समझता नहीं, तभी तो मायामें फँसकर अपनी क्षुद्र परिधिको ही सब कुछ समझता है। कूपका मेढक समुद्रका क्या अनुमान लगा सकता है? उसके लिये तो कुएँसे बढ़कर दूसरा कोई समुद्र ही नहीं। तुम प्रत्यक्ष देखते हो। जिसे तुम अपना एक दिन कहते हो, उसीमें लाखों ऐसे जीव हैं जो अनेकों बार मर जाते हैं और अनेकों बार नया जन्म धारण कर लेते हैं। तुम्हारा एक दिन ही हुआ, उनके अनेक जन्म बीत गये। देवता और ब्रह्माजीके सामने हमारी आयु तो भुनगोंके समान है। इस विषयमें सभी पुराणोंमें बड़ा ही सुन्दर विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। पुराणोंमें इसीके समझानेके लिये एक अत्यन्त ही मनोहर कथा आती है।

और कृष्ण-भेदसे 'पक्ष' दो हैं। दो पक्षका एक 'मास' होता है। दो मासकी एक 'ऋतु' और तीन ऋतुओंका एक 'अयन' होता है। उत्तरायण और दक्षिणायनके भेदसे अयन दो हैं, इसलिये दो अयनोंका मनुष्योंका एक 'वर्ष' होता है। उत्तरायणको 'देवताओंका दिन' और दक्षिणायनको 'देवताओंकी रात्रि' समझनी चाहिये। अर्थात् जिसे हम वर्ष कहते हैं, वह 'देवताओंका एक दिन' ही होता है। देवताओंके तीन सौ साठ दिनोंका एक देव-वर्ष होता है, जिसे 'दिव्य वर्ष' कहते हैं। देवताओंके वर्षोंसे चार हजार वर्षका सत्ययुग, तीन हजार वर्षका त्रेता, दो हजार वर्षका द्वापर और एक हजार वर्षका कलियुग होता है। एक युग बीतनेके पश्चात् फौरन ही दूसरा युग नहीं लग जाता, इसलिये उसके आगे-पीछेके समयको सन्धि और सन्ध्यांश कहते हैं। दिव्य वर्षोंसे सत्ययुगका आठ सौ वर्ष, त्रेताका छः सौ वर्ष, द्वापरका चार सौ वर्ष और कलियुगका दो सौ वर्ष सन्धि-सन्ध्यांश काल माना गया है। चार युगोंको मिलाकर 'चौकड़ी' कहते हैं। देवताओंके बारह हजार वर्षों (अर्थात् मनुष्योंके तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष) की एक 'चौकड़ी' होती है। ऐसी चौकड़ी जब ७१ बीत जाती है, तब एक 'मन्वन्तर' होता है। एक मन्वन्तरके समाप्त होते ही पिछले इन्द्र, मनु, सप्तर्षि आदि बदल जाते हैं और नये बनाये जाते हैं। ऐसे चौदह मन्वन्तर बीत जाते हैं, तब 'ब्रह्माजीका एक दिन' होता है और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि। उनके एक दिनमें चौदह इन्द्र और चौदह मनु बदल जाते हैं। ब्रह्माजीके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं। दिनमें वे सृष्टिका काम करते रहते हैं, रात्रिमें सब सृष्टिका संहार करके उसे अपनेमें लीन करके सो जाते हैं, दिन होते ही फिर काममें लग जाते हैं। जिस प्रकार दूकानदार दिनमें तो बाहर भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ फैलाकर बैठता है और रात्रिमें सबको समेट करके दूकानमें बन्द कर देता है, प्रातःकाल फिर ज्यों-का-त्यों पसारा फैला देता है, इसी प्रकार ब्रह्माजी रोज व्यापार करते रहते हैं। ब्रह्माजी-

तुम नाम ले रहे हो, वह कुल तो कबका नष्ट हो गया। तुम्हें पता नहीं इस आधी घड़ीके समयमें ही पृथ्वीपर बीसों बार सत्ययुग, त्रेता और द्वापर बीत गये। अब तो उन वंशोंका नाम-निशान भी नहीं रहा। तुम्हारी पुरीको अन्य राजाओंने अपनी राजधानी बना लिया। अब तो वहाँ कलियुग आ रहा है। तुम इसी समय जाओ, व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णजीके बड़े भाई शेषजीके अवतार बलरामजी अवतीर्ण हुए हैं, जाकर इस कन्याको उन्हें ही दे दो, वे सब ठीक कर लेंगे।' भगवान् ब्रह्मदेवजीकी आज्ञा शिरोधार्य करके और उनके चरणोंमें प्रणाम करके महाराज पृथ्वीपर आये और रेवतीजी श्रीबलरामजीको देकर वे पहाड़पर तपस्या करने चले गये। इधर बलरामजीने अपनी पत्नीको बहुत लंबी देखकर उसके गलेमें अपना हल डालकर नीचे खींचकर अपने बराबर बना लिया।

सनातनजीने कहा—'प्रभो ! बड़े आश्चर्यकी बात है। ब्रह्माजी भी स्थायी नहीं रहते। इस जगत्‌के एकमात्र स्वामीकी भी अन्तमें यह गति होती है।'

प्रभुने कहा—'जो उत्पन्न हुआ है, उसका अन्त अवश्य होगा, चाहे आज हो या कल। हाँ, मैं तुम्हें यह बता रहा था कि जैसा यह चौदह लोकवाला ब्रह्माण्ड है, वैसे असंख्य ब्रह्माण्ड इस विश्वमें हैं और उनके स्वामी असंख्य ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। जैसे गूलरके पेड़पर असंख्य गूलरके फल लगे रहते हैं, इसी प्रकार विश्वमें अनन्त गूलरके समान ब्रह्माण्ड लटके हुए हैं। ब्रह्माण्डके समस्त प्राणी गूलरके भीतरके भुनगों-के समान हैं। महाविष्णुकी नाभिकमलमेंसे ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं और वे सृष्टि करने लग जाते हैं। असंख्य ब्रह्मा गंगाजीके प्रवाहकी तरह निकल-निकलकर सृष्टिमें प्रवृत्त होते हैं। उनके नीचे साँस लेनेसे ब्रह्माण्डों-का नाश होता है, ऊपर साँस लेनेसे ब्रह्माजीके सहित ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो

सत्ययुगमें रैवत नामके एक बड़े ही पराक्रमी और सर्वशक्तिमान् राजा थे । ब्रह्माजीके वरदानसे वे सभी लोकोंमें जा-आ सकते थे । सत्ययुगके मनुष्य आजकलसे चौगुने लंबे होते हैं । उनके एक रेवती नामकी कन्या थी, वह साधारण लड़कियोंकी अपेक्षा कुछ अधिक लंबी थी । बहुत खोजनेपर भी महाराजको उसके योग्य कोई वर नहीं मिला, तब उन्होंने सोचा—'चलो, ब्रह्माजीसे ही पूछ आवें कि हम इस लड़कीका विवाह किसके साथ करें । दो-चार राजकुमार अच्छे तो हैं, उनमेंसे कौन-सा सर्वश्रेष्ठ होगा, इस बातका निर्णय ब्रह्माजीसे ही करा लावें ।' यह सोचकर वे अपनी लड़कीको साथ लेकर ब्रह्मलोकमें पहुँचे । उस समय ब्रह्माजी अनेक देवता, ऋषि और अन्य लोकोंके देवोंसे घिरे हुए 'हाहा, हूहू' का गान सुन रहे थे । महाराज रैवत भी प्रणाम करके चुपचाप एक ओर बैठ गये । आधी घड़ीके पश्चात् गायन समाप्त हो गया, तब पितामह ब्रह्माजीने हँसते हुए राजा रैवतसे पूछा—'कहो, भाई ! कैसे आना हुआ ?'

हाथ जोड़े हुए दीनभावसे महाराजने कहा—'भगवन् ! आपके श्रीचरणोंके दर्शनोंके निमित्त चला आया । सोचा था, इस लड़कीके पतिके सम्बन्धमें आपसे पूछूँगा । आप जिसके लिये आज्ञा करेंगे, उसे ही दे दूँगा ।'

मुसकराकर भगवान् ब्रह्मदेवजीने कहा—'तुम्हीं बताओ, तुम्हें कौन-सा राजकुमार बहुत पसंद है ?'

कुछ सोचकर महाराजने कहा—'प्रभो ! अमुक राजकुमार मुझे सबसे अधिक अच्छा लगता है, फिर आप जिसके लिये आज्ञा करेंगे उसे ही इसे दूँगा । आपकी आज्ञा ही लेने तो आया हूँ ।'

इतना सुनते ही भगवान् ब्रह्माजी अपनी सफेद दाढ़ीको हिलाते हुए बड़े ही जोरोंसे हँसने लगे और बोले—'राजन् ! जिस राजकुमारका

तुम नाम ले रहे हो, वह कुल तो कबका नष्ट हो गया। तुम्हें पता नहीं इस आधी घड़ीके समयमें ही पृथ्वीपर बीसों बार सत्ययुग, त्रेता और द्वापर बीत गये। अब तो उन वंशोंका नाम-निशान भी नहीं रहा। तुम्हारी पुरीको अन्य राजाओंने अपनी राजधानी बना लिया। अब तो वहाँ कलियुग आ रहा है। तुम इसी समय जाओ, व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णजीके बड़े भाई शेषजीके अवतार बलरामजी अवतीर्ण हुए हैं, जाकर इस कन्याको उन्हें ही दे दो, वे सब ठीक कर लेंगे।' भगवान् ब्रह्मदेवजीकी आज्ञा शिरोधार्य करके और उनके चरणोंमें प्रणाम करके महाराज पृथ्वीपर आये और रेवतीजी श्रीबलरामजीको देकर वे पहाड़पर तपस्या करने चले गये। इधर बलरामजीने अपनी पत्नीको बहुत लंबी देखकर उसके गलेमें अपना हल डालकर नीचे खींचकर अपने बराबर बना लिया।

सनातनजीने कहा—'प्रभो! बड़े आश्चर्यकी बात है। ब्रह्माजी भी स्थायी नहीं रहते। इस जगत्के एकमात्र स्वामीकी भी अन्तमें यह गति होती है।'

प्रभुने कहा—'जो उत्पन्न हुआ है, उसका अन्त अवश्य होगा, चाहे आज हो या कल। हाँ, मैं तुम्हें यह बता रहा था कि जैसा यह चौदह लोकवाला ब्रह्माण्ड है, वैसे असंख्य ब्रह्माण्ड इस विश्वमें हैं और उनके स्वामी असंख्य ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। जैसे गूलरके पेड़पर असंख्य गूलरके फल लगे रहते हैं, इसी प्रकार विश्वमें अनन्त गूलरके समान ब्रह्माण्ड लटके हुए हैं। ब्रह्माण्डके समस्त प्राणी गूलरके भीतरके भुनगों-के समान हैं। महाविष्णुकी नाभिकमलमेंसे ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं और वे सृष्टि करने लग जाते हैं। असंख्य ब्रह्मा गंगाजीके प्रवाहकी तरह निकल-निकलकर सृष्टिमें प्रवृत्त होते हैं। उनके नीचे साँस लेनेसे ब्रह्माण्डों-का नाश होता है, ऊपर साँस लेनेसे ब्रह्माजीके सहित ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो

जाता है। इसी व्यापारका नाम संसारचक्र है। कुम्हारके चक्रके समान यह संसारचक्र घूमता रहता है, इसीसे लोकोंकी सृष्टि होती रहती है।'

सनातनजीने परमवैराग्यके स्वरमें कहा—'प्रभो! इस चक्रसे छुटकारा पानेका उपाय बताइये?'

प्रभुने कहा—'श्रीकृष्ण इस चक्रसे एकदम पृथक् हैं। उन्हें संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयसे कुछ काम नहीं। इसे तो ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि करते रहते हैं। वे तो नित्य ही गोपियोंके साथ आनन्दमें रासक्रीड़ा करते रहते हैं। वे वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी इधर-उधर नहीं जाते। इसलिये सर्वात्मना और सर्वभावसे उन्हींकी शरण जानेसे इस चक्रसे मुक्ति हो सकती है।'

सनातन—'प्रभो! मैं उपाय जानना चाहता हूँ।'

प्रभुने कहा—'सनातन! मैंने कह तो दिया। वे तपसे, जपसे, योग-यज्ञसे तथा पाठ-पूजासे प्रसन्न नहीं होते, उनकी प्रसन्नताका एकमात्र साधन अनन्य होकर उनकी भक्ति करना ही है। बिना प्रेमाभक्तिके कोई उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता। जिसे वे अपना कहकर वरण कर लेते हैं, उसे अपनी गोपी वा सखी बनाकर अपनी लीलामें सम्मिलित कर लेते हैं। सखी बने बिना उनकी क्रीड़ाका दूसरा कोई अनुभव कर ही नहीं सकता। सखी कोई स्वयं थोड़े ही बन सकता है। जो अपने पुरुषार्थसे उनकी क्रीड़ामे सम्मिलित होनेका अभिमान करते है, वे उनतक कभी नहीं पहुँच सकते। जब अनन्य होकर, दीन होकर, निराश्रय होकर सभी प्रकारके पुरुषार्थोंका परित्याग करके केवलमात्र उन्हींका आश्रय ग्रहण किया जाय तब कहीं उस ओर पैर बढ़ानेका अधिकार प्राप्त हो सकता है।'

सनातन—'प्रभो ! अनन्यता कैसे प्राप्त हो, भक्तिका अङ्कुर कैसे हृदयमें उत्पन्न हो ?'

प्रभुने कहा—सनातन ! अनन्यता प्राप्त करनेका सर्वोत्तम एक ही उपाय है, जैसा कि परमहंसशिरोमणि जडभरतजीने राजा रहूगणसे कहा है—

> रहूगणैतत्तपसा न याति
> न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
> नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
> र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥
>
> (श्रीमद्भा० ५ । १२ । १२)

भगवान् जडभरत कहते हैं—'राजन् रहूगण ! महात्माओंकी चरणरजमें लोटे बिना भगवत्-कृपाकी प्राप्ति तपसे, यज्ञसे, दानसे, घर-द्वार छोड़ देनेसे, वेदोंके पढ़नेसे, जल, अग्नि या सूर्यके सेवन करनेसे नहीं हो सकती ।' उसकी प्राप्तिका एक ही साधन है, श्रद्धापूर्वक परम समर्थ भगवद्भक्त साधु पुरुषोंकी चरणधूलिमें लोटा जाय । उसे मस्तकपर धारण किया जाय यही एकमात्र उपाय है । साधु-सेवाके बिना जो भगवत्कृपाका अनुभव करना चाहता है, वह मानो बिना नौका या जहाजके ही अपार सागरको हाथोंसे तैरकर उस पार जाना चाहता है । इसी बातको लक्ष्य करके भक्तराज प्रह्लादजीने अपने पिता हिरण्यकशिपुसे कहा है—

> नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
> स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
> महीयसां पादरजोऽभिषेकं
> निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥
>
> (श्रीमद्भा० ७ । ५ । ३२)

हे तात ! जिनके हृदयसे विषयोंका विकार एकदम दूर हो गया है, ऐसे परमपूजनीय भगवद्भक्तोंकी चरणरजसे जबतक मनुष्य भली-भाँति सिरसे पैरतक स्नान नहीं करता तबतक वेदवाक्योंसे उत्पन्न हुई भी उसकी बुद्धि उसे प्रभुके पादपद्मोंके समीप पहुँचानेमें एकदम असमर्थ होती है। अर्थात् बिना भगवद्भक्तोंकी चरणधूलि मस्तकर धारण किये कोई भी पुरुष श्रीकृष्णपादपद्मोंके स्पर्श करनेके निमित्त आगे नहीं बढ़ सकता। तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंकी जबतक श्रद्धाके साथ, भक्तिके साथ प्रेमपूर्वक सेवा नहीं की जाती, उनके चरणोंमें जबतक स्वाभाविक स्नेह नहीं होता, तबतक वह भगवत्-कथा श्रवण करनेका भी अधिकारी नहीं होता। भगवान्ने अर्जुनको उपदेश करते हुए गीतामें स्वयं ही कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अर्थात् 'हे अर्जुन ! तू दण्डवत्-प्रणाम-सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। (विनीतभावसे पूछनेपर) वे तत्त्वदर्शी महात्मागण तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

उपदेशका वही अधिकारी है, जिसके हृदयमें देवता, द्विज, गुरुजन और भगवत्-भक्तोंके प्रति श्रद्धाके भाव हैं। जो इनमें श्रद्धाके भाव नहीं रखता, वह परमार्थकी ओर अग्रसर ही नहीं हो सकता। फिर प्रभुकृपाका अधिकारी तो बन ही कैसे सकता है ? सनातन ! बहुत बातोंमें क्या रक्खा है, मैं तुझे सारातिसार बताता हूँ। प्राणिमात्रका परमपुरुषार्थ श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति करना ही है। परम आराध्य वे ही श्रीनन्दनन्दन वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रजी हैं। अपने सभी पुरुषार्थोंका आश्रय छोड़कर अनन्यभावसे व्रजाङ्गनाओंकी भाँति संसारी सम्बन्धोंसे मुख मोड़कर पतिभावसे उनकी आराधना करना यही उपासनाकी

उत्तम-से-उत्तम प्रणाली है और पठनीय शास्त्रोंमें श्रीमद्भागवत ही सर्वोपरि शास्त्र है । क्योंकि इसे भगवान् व्यासदेवने सभी पुराणोंके अनन्तर जिस प्रकार दहीको मथकर उसमेंसे सारभूत मक्खनको निकाल लेते हैं, उसी प्रकार सर्वशास्त्रोंको मथकर उनका सार निकाला है । बस, यही कल्याणका मार्ग है । इसे तुम मेरे मतका सार समझो । इससे अधिक कोई किसी बातका आग्रह करे तो उसे तुम अन्यथा समझना* । मेरे इस ज्ञानको हृदयमें धारण करो । साधु-महात्मा-संत तथा भगवद्भक्तोंके चरणोंमें दृढ़ अनुराग रक्खो । वे कैसे भी हों उनकी निन्दा कभी मत करो । सबको ईश्वर-बुद्धिसे नम्र होकर प्रणाम करो । तुम्हारा कल्याण होगा, मैं तुम्हें हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ । मेरे इस अमल-विमल शास्त्रसम्मत ज्ञानका तुम विस्तारके साथ भक्तिके ग्रन्थोंमें वर्णन करना । मङ्गलमय भगवान् तुम्हारा मङ्गल करेंगे ।' इतना कहकर महाप्रभु चुप हो गये ।

महाप्रभुके चुप हो जानेपर सनातनजीने भक्तिभावके सहित महाप्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और महाप्रभुने उनके शरीरपर हाथ फेरते हुए उन्हें आशीर्वाद दिया । इस प्रकार दो महीनोंतक महाप्रभुके समीप काशीमें रहकर सनातन भाँति-भाँतिके शास्त्रीय प्रश्न पूछते रहे और प्रभु उन्हें प्रेमपूर्वक सभी गुप्त तत्त्व समझाते रहे । इन दो महीनोंमें ही सनातनजीने प्रभुसे बहुत-सी भक्तिमार्गकी गूढ़ातिगूढ़ बातें समझ लीं, जिनका विस्तारके साथ उन्होंने अपने अनेकों ग्रन्थोंमें वर्णन किया है ।

---

* आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नापरः ॥

स्वामी प्रकाशानन्दजी मनसे भक्त बने

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
हठेन केनापि वयं शठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन ॥*

(श्रीकृष्णकर्णामृत)

श्रीपाद प्रकाशानन्दजीके नामसे तो पाठक पूर्व ही परिचित होंगे। इनकी जन्मभूमि तैलङ्ग देशमें थी। दक्षिण देशकी यात्राके समय श्रीरङ्ग-क्षेत्रके समीप बलगण्डी नामक ग्राममें महाप्रभुने वेङ्कट भट्टके यहाँ चातुर्मास व्यतीत किया था। वेङ्कट भट्ट श्रीवैष्णवसम्प्रदायके वैष्णव थे, उनके भक्ति-भावसे प्रसन्न होकर प्रभुने उनके घर चार मास निवास किया। उन्हींके पुत्र श्रीगोपाल भट्टने प्रभुकी बड़ी भारी सेवा की थी और पिताके परलोकगमनके अनन्तर ये प्रभुके आज्ञानुसार घर-बार छोड़कर वृन्दावन वास करने चले गये थे और वहीं अन्ततक श्रीराधारमणजीकी सेवा-पूजामें लगे रहे।

श्रीगोपाल भट्टजीके पिता तीन भाई थे। सबसे बड़े तो इनके पिता श्रीवेङ्कट भट्ट, मध्यम त्रिमल्ल भट्ट और छोटे ये ही श्रीपाद प्रकाशानन्दजी

---

* अद्वैतमार्गके पथिकोंद्वारा उपास्य और आत्मानन्दसिंहासन-पर दीक्षा पाये हुए हमें गोपरमणियोंके किसी कुटिल कामुकने हठात् अपना दास बना लिया।

महाराज थे। संन्यासके पूर्व इनका घरका नाम क्या था, इसका पता अभीतक नहीं चला। ये संन्यासी हो जानेपर भी अपने भतीजे गोपाल भट्टसे अत्यधिक स्नेह रखते थे। ये जानते थे कि गोपाल एक होनहार युवक है, कालान्तरमें यह जगत्प्रसिद्ध पण्डित बन सकेगा, किन्तु जब उन्होंने सुना कि एक बङ्गाली युवक साधुके संसर्गसे गोपाल शास्त्रोंका पठन-पाठन छोड़कर 'कृष्ण-कृष्ण' रटने लगा है, तब उन्हें कुछ मानसिक दुःख भी हुआ और उनकी इच्छा उस युवक संन्यासीसे शास्त्रार्थ करनेकी हुई। प्रेमका आकर्षण कई प्रकारसे होता है। कभी तो किसीकी प्रशंसा सुनकर मन-ही-मन डाह होता है और उसके प्रति मनमें एक स्वाभाविक-सा स्नेह उत्पन्न हो जाता है। जिसके गुणोंसे हम डाह करते हैं, उसीके प्रति हृदयमें अपने-आप ही प्रेम उत्पन्न हो रहा है, इससे घबड़ाकर हम उस व्यक्तिकी खुल्लमखुल्ला निन्दा करने लगते हैं। इससे हम अपनी स्वाभाविक वृत्तिको दबाना चाहते हैं, किन्तु ऐसा करनेसे वह और भी अधिक उभरती है। द्वेषभावसे ही सही चित्त उससे मिलनेके लिये सदा व्याकुल-सा बना रहता है और उसका प्रसंग आनेपर रागवश उसके लिये दो-चार कड़वे शब्द अपने-आप ही मुँहसे निकल पड़ते हैं। प्रकाशानन्दजीका भी प्रभुके प्रति ऐसा ही अनुराग हो गया था। जब उन्होंने सुना कि जिस संन्यासीने हमारे भ्रातृपुत्र गोपालको बहकाया है, उसीने सार्वभौम भट्टाचार्य-जैसे परम विद्वान् पण्डितको अपने वशमें कर रक्खा है और वे उसे अवतार समझते हैं, इससे उनकी जिज्ञासा और बढ़ गयी। उसी जिज्ञासाके फलस्वरूप उन्होंने प्रभुके पास व्यंगपूर्ण पत्र भेजे थे, जिन्हें पाठक प्रथम ही पढ़ चुके होंगे।

अब जब उन्होंने सुना कि वही युवक संन्यासी यहाँ काशीमें आया है, तब तो वे किसी प्रकार प्रभुसे भेंट करनेकी बात सोचने लगे। किन्तु भेंट हो कैसे? प्रकाशानन्दजी काशीके प्रतिष्ठित पण्डित और

सम्माननीय संन्यासी थे। वे यहाँके मठधारी संन्यासियोंमें सर्वश्रेष्ठ संन्यासी समझे जाते थे। वे किसी अनजान संन्यासीके पास मिलने कैसे जाते? कोई वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध, प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित होते तो वे सम्भवतया चले भी जाते, परन्तु महाप्रभु युवक थे, उनकी दृष्टिमें वे भारी पण्डित भी नहीं थे, प्रसिद्धि भी उनकी इधर नहीं थी, उन्होंने हेय सम्प्रदायके भारती संन्यासीसे दीक्षा ली थी, इस कारण अपनेको प्रसिद्ध पण्डित और प्रतिष्ठित समझनेवाले दण्डी संन्यासी प्रकाशानन्दजी प्रभुसे मिलने नहीं गये। यद्यपि प्रभुके निवासस्थानसे प्रकाशानन्दजीका मठ कोई बहुत दूर नहीं था। उनका मठ भी विन्दुमाधवके समीप ही था और प्रभु भी उधर ही तपन मिश्रके यहाँ ठहरे हुए थे। प्रभुने स्वयं उनके पास जानेकी आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि महाप्रभु बड़े ही संकोची थे। बड़ोंके सामने बोलनेमें उन्हें बहुत संकोच होता था। इसलिये उन्होंने सोचा उनके पास जायँगे तो कुछ-न-कुछ वाद-विवाद छिड़ ही जायगा। इसलिये वे भी उनके पास नहीं गये और दस-बारह दिन ठहरकर श्रीवृन्दावनको चले गये।

वृन्दावनसे लौटकर प्रभु दो महीनोंतक काशीमें रहे। इस प्रवासमें प्रभु बहुत ही साधारण संन्यासीकी तरह रहते थे। वे न तो कहीं बाहर भिक्षाके लिये जाते थे और न संन्यासियोंके दर्शनोंको जाते। केवल चन्द्रशेखरके घरसे गङ्गास्नानको और विश्वनाथजीके दर्शनोंको जाते, और तपन मिश्रके घर भिक्षा करके वहीं भगवन्नाम-संकीर्तन और जप करते रहते। इसलिये उनके दो-चार अन्तरङ्ग भक्तोंको छोड़कर प्रभुकी महिमा किसीपर प्रकट नहीं हुई। प्रकाशानन्दजी मन-ही-मन सोचते—'सचमुच यह कोई अजीब ही संन्यासी है। हमारे साथ इतना परिचय होनेपर भी यह हमारे मठमें नहीं आता है और न संन्यासियोंकी सभामें सम्मिलित होता है। अवश्य ही कोई विलक्षण पुरुष है।'

जो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण प्रभुके चरणोंमे अत्यधिक अनुराग रखते थे, उनका घर श्रीप्रकाशानन्दजीके मठके समीप ही था। वे प्रायः उनके पास जाया-आया करते और उनकी यथाशक्ति द्रव्यादिसे सेवा-शुश्रूषा भी किया करते। जब-जब महाप्रभुका प्रसंग छिड़ता तभी तब प्रकाशानन्दजी प्रभुके ऊपर कटाक्ष करते और उनके लिये निन्दासूचक शब्दोंका प्रयोग भी कर बैठते। वैसे उनका हृदय सरस था। कवि-प्रकृतिके थे। भावुक थे। मिलनसार थे, प्रणयके ऐकान्तिक उपासक थे; किन्तु अभीतक उनकी भावुकताको अद्वैतवेदान्तकी प्रखर युक्तियोंने प्रच्छन्न कर रखा था। अभी-तक उनकी सरसता और प्रणयोत्सुकता प्रस्फुटित नहीं हुई थी। प्रायः देखा गया है कि ऐसे भारी विद्वानोंकी भावुकता किसी परम भावुक महापुरुषके संसर्गसे ही एकदम विकसित हो जाती है। ईसाके प्रधान शिष्य सेण्ट पाल पहले शुष्क और नास्तिक थे, जब उन्होंने ईसाको शूलीपर हँसते हुए चढ़ते देखा तब उनकी भावुकता एकदम फूट पड़ी और वे ही पीछेसे ईसाई धर्मके सर्वश्रेष्ठ प्रचारक हुए। स्वामी विवेकानन्द पहले नास्तिक प्रकृतिके घोर कुतर्की थे, परमहंस रामकृष्णदेवके हाथ फेरते ही न जाने उनकी नास्तिकता कहाँ भग गयी और अन्तमें वे ही भगवान् रामकृष्णदेवके मिशनको विश्वव्यापी बनानेवाले प्रधान पुरुष हुए। इसी प्रकार स्वामी प्रकाशानन्दजीकी भी ललित वृत्तियाँ श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शनसे ही विकसित हुईं। अन्तमे उन्होंने श्रीचैतन्यके गुणगानमें इतनी सुन्दर कविता लिखी कि जिससे कठोर-से-कठोर भी हृदय द्रवीभूत हो सकता है। इनके बनाये हुए श्रीचैतन्यचन्द्रामृत काव्यकी जितनी भी प्रशंसा की जाय उतनी ही कम है। अस्तु।

उस महाराष्ट्रीय सज्जनने एक दिन बातों-ही-बातोंमें स्वामीजीसे कहा—'स्वामिन्! उन बङ्गाली वैद्यके यहाँ जो संन्यासी ठहरे हुए हैं, उनके चेहरेमें कितना भारी आकर्षण है। जो एक बार उन्हें देख लेता है

वहीं उनका बन जाता है। उनकी वाणीमें अपार करुणा है। भगवत्-गुण-गान करते-करते वे मूर्छित हो जाते हैं। एकदम तन्मय होकर श्रीकृष्णकथा कहते हैं।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'अरे, क्या हम उन्हे जानते नहीं हैं ? खूब जानते हैं। वे कोई आकर्षण मन्त्र जानते हैं, इसीसे तो उन्होंने सार्वभौम-जैसे विद्वान्‌को बहका लिया; किन्तु यहाँ उनकी दाल नहीं गलनेकी। इस विश्वनाथजीकी पुरीमें उनकी भक्तिको कोई दो कौड़ीमें भी न पूछेगा। यहाँ स्त्रियोंकी तरह नाचनेवाले न मिलेंगे। बङ्गालियोंकी तरह यहाँ भावुक और भोले-भाले अनपढ़ आदमी नहीं हैं। यहाँके भंगी-चमारतक ब्रह्मज्ञानकी बातें जानते हैं। इस बातके सुननेसे उन महाराष्ट्रीय सज्जनको बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे—'इतने भारी विद्वान् और त्यागी पुरुषोंके हृदयमें भी डाहकी अग्नि इतनी प्रबल होती है। इतने ज्ञानी होनेपर भी लोग दूसरोंकी प्रशंसा नहीं सुन सकते। सचमुच प्रतिष्ठाकी इच्छा बड़ी ही प्रबल होती है। महान् पण्डित-से-पण्डित भी अपनी प्रतिष्ठा स्थापन करनेके निमित्त दूसरोंकी निन्दा करनेमें सङ्कोच नहीं करते। लोकैषणा कितनी प्रबल है !' दूसरे दिन दुखी चित्तसे उस भावुक सज्जनने प्रभुसे सभी बातें कहीं और वह करुणस्वरमें कहने लगा—'प्रभो ! स्वामीजी कहते थे यहाँ उनकी भक्तिको कोई दो कौड़ीमें भी न पूछेगा।'

प्रभुने कहा—'हमें दो कौड़ियोंसे करना ही क्या है ? मुफ्त तो कोई लेगा ? हम तो वैसे ही लुटा देंगे ! इसपर भी कोई न लेगा तो फेंककर चले जायँगे। कभी तो कोई उठा ही लेगा।'

प्रभुके ऐसे सरल और विद्वेषसे रहित उत्तरको सुनकर महाराष्ट्रीय सज्जनकी श्रद्धा प्रभुके चरणोंमें और भी अधिक बढ़ गयी और वे सोचने

लगे कि 'जब इनकी एक-एक बातका मेरे ऊपर इतना प्रभाव पड़ता है, तब यदि प्रकाशानन्दजीसे इनका साक्षात्कार हो जाय तब तो उनका उद्धार ही हो जाय। वे मूर्ख नहीं हैं, हठी नहीं हैं, सूखी तबीअतके नहीं हैं। प्रभुसे बातें करते ही वे पानी पानी हो जायँगे और सभी निन्दा करना भूलकर इनके सेवक बन जायँगे, किन्तु भेंट हो तो कैसे हो? वे यहाँ आवेंगे नहीं, प्रभु वहाँ जानेको राजी न होंगे।' वे सज्जन इसी चिन्तामें पड़ गये। अपने मनोगत भाव उन्होंने तपन मिश्र, चन्द्रशेखर तथा और भी दो-चार प्रभुके भक्तोंके सामने प्रकट किये। तपन मिश्रने कहा—'एक युक्ति हो सकती है। कोई सभी संन्यासियोंका निमन्त्रण करे और प्रभुसे भी वहाँ चलनेका बहुत आग्रह करे, तो प्रभु अपने प्रिय भक्तके आग्रहकी कभी अवहेलना न करेंगे, अवश्य ही चले जायँगे।'

यह सुनकर उस महाराष्ट्रीय सज्जनने जल्दीसे कहा—'इसके लिये मैं स्वयं तैयार हूँ। यह कौन-सी बड़ी बात है। किन्तु आप प्रभुको ले चलनेका जिम्मा लें।'

तपन मिश्रने कहा—'अजी हम सभी पैर पकड़ लेंगे, चलेंगे कैसे नहीं। तुम सभी ठीक करो।' वे सज्जन अच्छे धनिक थे। हजार-पाँच सौ रुपये खर्च करना उनके लिये कोई कठिन काम नहीं था, फिर ऐसे पुण्यकार्यका अवसर तो बड़े सौभाग्यसे मिलता है। इसलिये उन्होंने काशीके सभी मठोंके और विरक्त संन्यासियोंको निमन्त्रित किया। ठीक समयपर सभी संन्यासी अपने-अपने साथी और शिष्योंके सहित उस सज्जनके घरमें आ उपस्थित हुए। महाराष्ट्रीय सज्जनने सभीके बैठनेके लिये गद्दे, तकिये, गलीचे आदिका बड़ा ही सुन्दर प्रबन्ध किया था। मठधारी महन्त सभी बड़े-बड़े तकियोंके सहारे गलीचोंपर बैठ गये। उनके इधर-उधर उनके शिष्य बैठे हुए, वेदान्तविषयक बातें करने लगे। कोई 'विवेक-चूडामणि'का श्लोक बोलता, तो कोई शाङ्कर-भाष्यकी

ही पंक्तिको खोल उठता और निर्विशेष ब्रह्मकी सिद्धिमें अपने सारे पाण्डित्यको खर्च कर देता। सबके बीचमें श्रेष्ठ आसनपर श्रीमत्प्रकाशानन्दजी सरस्वती बैठे हुए थे। उस समय दण्ड धारण किये हुए वे देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माजीके समान प्रतीत होते थे अथवा ऐसे मालूम होते थे जैसे नैमिषारण्यके पुण्यतीर्थमें शौनकजी अपने अट्ठासी हजार शिष्योंके मध्यमें बैठे हुए उनकी शास्त्र-चर्चा सुन रहे हों। उसी समय वह महाराष्ट्रीय सज्जन प्रभुके समीप पहुँचे। प्रभुको निमन्त्रित तो पहलेसे ही कर रक्खा था। अब उन्होंने जाकर कहा—'प्रभो! सभी महात्मा आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

प्रभुने सङ्कोचयुक्त विवशताके स्वरमें कहा—'भैया, इतने बड़े-बड़े महात्माओंके बीचमें मुझे क्यों ले जाते हो? मैं वहाँ क्या करूँगा? तुम्हारे घर फिर किसी दिन भिक्षा कर जाऊँगा।'

पैर पकड़े हुए अत्यन्त ही कातर वाणीसे रोते-रोते उन महाराष्ट्रीय सज्जनने कहा—'प्रभो! मैंने सारा आयोजन तो केवल आपके ही लिये किया है। आप न पधारेंगे तो मेरा सभी व्यर्थ हो जायगा। आप इस दीन हीन कंगालके ऊपर कृपा अवश्य करें और अपनी पद-धूलिसे इस अधमके सदनको पावन कर इसे कृतार्थ करें। उन सज्जनकी प्रार्थनाका सभीने समर्थन किया। भक्तवत्सल प्रभु सहमत हो गये और वे चलनेके लिये तैयार हुए। प्रभु सनातनजीके कन्धेपर हाथ रक्खे हुए थे। पीछे-पीछे चन्द्रशेखर, तपन मिश्र तथा दो-चार भक्त और भी चल रहे थे। घरके दरवाजेपर पहुँचकर प्रभुने सनातनजीके कन्धेसे हाथ हटा लिया, वे नीची दृष्टि किये हुए धीरे-धीरे घरमें पहुँचे। सेवक जल लेकर फौरन प्रभुके पैरोंको धोनेके लिये बढ़ा। प्रभुने सङ्कोचसे पैरोंको खींचते हुए स्वयं ही पैर धो लिये और वहीं अस्त-व्यस्तभावसे मोरीके पास ही कीचमें बैठ गये।

संन्यासी-मण्डलीमें सन्नाटा छा गया। शास्त्रार्थ करना सब भूल गये। सभी एकटकभावसे प्रभुकी ओर देखने लगे। तीस-बत्तीस वर्षकी
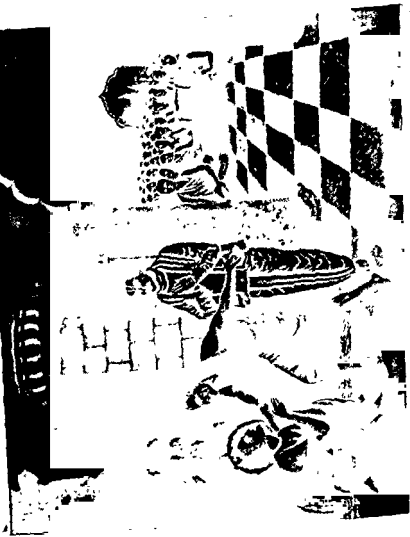
संन्यासीमण्डलीमें महाप्रभु

अवस्थाका एक परम तेजस्वी रूपलावण्ययुक्त युवक संन्यासी बिना किसी दिखावेके चुपचाप मोरीके पास बैठ गया है, इस बातसे सभीको परम आश्चर्य हुआ। प्रभुका शरीर बड़ा ही सुकुमार था, उनके दाढ़ी-मूँछें बहुत ही कम निकली थीं, वे भी एकदम मुड़ी हुई थीं, इसलिये देखनेमें वे सोलह वर्षके-से बालक प्रतीत होते थे। उनके गुलाबकी पंखड़ियोंके समान दो छोटे-छोटे अरुण रंगके समान ओष्ठ दूरसे ही अपनी गाढ़ी लालिमाके कारण चमक रहे थे। प्रभु बिना किसीकी ओर देखे चुपचाप सिर झुकाये हुए बैठे थे। उपस्थित सभी संन्यासी कोई उँगलीके इशारेसे, कोई भृकुटीके सङ्केतसे, कोई बहुत ही हल्की आवाजसे प्रभुके ही सम्बन्धमें कुछ कहने लगे। प्रकाशानन्दजी इनके तेज, रूप-लावण्य, नम्रता, शालीनता और प्रभावको ही देखकर समझ गये कि ये ही महाप्रभु चैतन्यदेव हैं। किन्तु सबके सामने अपनी प्रतिष्ठाको बनाये रखनेके निमित्त उन्होंने गृहपति उन महाराष्ट्रीय सज्जनसे पूछा—'ये स्वामीजी कहाँसे आये हैं?'

उन्होंने धीरेसे कहा—'ये वे ही बङ्गाली स्वामीजी हैं, जिनके सम्बन्धमें मैंने आपसे कहा था।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए प्रकाशानन्दजीने कहा—'ओहो! ये ही श्रीकृष्णचैतन्य भारती हैं। इनकी प्रशंसा तो हम बहुत दिनोंसे सुन रहे हैं। आज इनके खूब दर्शन हुए। (प्रभुको लक्ष्य करके) आप वहाँ क्यों बैठ गये, यहाँ आइये। आपका वहाँ बैठना शोभा नहीं देता।'

प्रभुने सिरको नीचे किये हुए धीरेसे उत्तर दिया—'भगवन्! मैं हीन सम्प्रदायवाला हूँ, भला आपके बराबर कैसे बैठ सकता हूँ। यहीं ठीक बैठा हूँ।'

प्रकाशानन्दजी प्रभुकी सरलता और नम्रताको देखकर एकदम मन्त्र-मुग्ध-से हो गये। जब दो-तीन बार कहनेपर भी प्रभु अपने स्थानसे नहीं उठे तब तो प्रकाशानन्दजी स्वयं उठकर गये और प्रभुका हाथ पकड़कर

उन्हें अपने सामने ही गद्दीपर बिठा लिया। अत्यन्त ही सङ्कोचके साथ प्रभु विवशता-सी दिखाते हुए सिकुड़कर बैठ गये। प्रभु धीरे-धीरे भगवन्नामोंको उच्चारण कर रहे थे। भगवन्नाम-उच्चारणसे जिस प्रकार वायु लगनेसे कमलकी पँखुड़ियाँ हिलती हैं, उसी प्रकार उनके बिम्बा-फलके समान दोनों अधर हिल रहे थे। कुछ बातें करनेकी इच्छासे प्रसङ्ग छेड़ते हुए प्रकाशानन्दजीने कहा—'स्वामीजी! मैं आपसे एक शिकायत करना चाहता हूँ, आप पहले आये और मुझसे बिना ही मिले चले गये। साधुओंके सम्बन्धी साधु ही होते हैं। वाराणसीमें आपका एक मठ था, उसमें न आकर आप गृहस्थियोंके यहाँ ठहरे और मुझसे मिले भी नहीं। मालूम पड़ता है आप मुझे अपना नहीं समझते।'

प्रभुने इस बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उसी समय एक चुलबुले-से युवक संन्यासीने धीरेसे कहा—'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्'।* इस बातके सुनते ही संन्यासीमण्डलीमें जोरका कहकहा मच गया। सबके चुपचाप हो जानेपर प्रभुने धीरे-धीरे लज्जाके स्वरमें कहा—'आप गुरुजनोंके सामने मैं क्या मुख लेकर आऊँ। अपनेमें इतनी योग्यता नहीं समझी कि आपके दर्शन कर सकूँ, इसी सङ्कोचसे नहीं आया।'

बातको बदलते हुए प्रकाशानन्दजीने कहा—'तुमने कटवाके केशव भारतीसे ही संन्यास लिया है न?'

प्रभुने धीरेसे कहा—'जी हाँ, वे ही मेरे दीक्षागुरु हैं।

प्रकाशानन्दजीने कुछ रुक-रुककर कहा—'एक बात पूछना चाहता हूँ, तुम बुरा न मानो तो पूछूँ?'

प्रभुने दीनताके स्वरमें कहा—'आप कैसी बात कर रहे हैं, आप तो मेरे हितकी ही बात पूछेंगे। आप तो गुरुजन हैं, सदा हमारा कल्याण ही चाहेंगे।'

---

* चुप हो जाना स्वीकृतिका लक्षण है।

प्रकाशानन्दने कहा—'हाँ, मैं यह पूछना चाहता हूँ कि संन्यासीका मुख्य धर्म है कि वह भिक्षापर निर्वाह करता हुआ, सदा वेदान्तचिन्तन करता रहे । युक्तिसे, शास्त्रप्रमाणसे, आप्त पुरुषोंके वाक्योंद्वारा इस सत्य-से प्रतीत होनेवाले जगत्‌की सदा निस्सारताहीको सोचता रहे । तुम वेदान्तका चिन्तन छोड़कर यह हरिनामस्मरण क्यों कर रहे हो !'

प्रभुने नम्रताके साथ कहा—'भगवन् ! मेरे गुरुदेवने मुझे ऐसा ही उपदेश दिया है । उन्होंने मुझे वेदान्तशास्त्रका अनधिकारी समझकर इसी मन्त्रका उपदेश दिया और आज्ञा की कि इसीका जप किया करो । उन्होंने कहा था—'कलियुगमें और कोई सुगम साधन ही नहीं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

इसीलिये मैं दिन-रात्रि इसीका जप करने लगा । निरन्तरके जपसे या इसीका ध्यान रहनेसे मेरे दिमागमें कुछ गर्मी-सी चढ़ गयी । मैं पागल-सा हो गया, घर-बार कुछ भी अच्छा नहीं लगने लगा । आँखोंमें-से आप-से-आप ही अश्रु बहने लगे । तब तो मैं घबड़ाया और मैंने गुरु महाराजसे पूछा—'भगवन् ! आपने मुझे यह कैसा मन्त्र दे दिया । इससे तो मैं पागल हो गया । तब उन गुरु महाराजने श्रीमद्भागवतके कुछ श्लोक सुनाकर मुझसे कहा—'यह स्थिति बुरी नहीं है । यह शुभ लक्षण हैं । तुम इसी प्रकार जप करते जाओ ।' अतएव भगवन् ! मैं उसी दिनसे इसीका सदा जप करता रहता हूँ । नित्य जपनेसे समझ लीजिये या अभ्यास समझ लीजिये, इस नाममें ऐसी आसक्ति-सी हो गयी है कि मैं छोड़नेकी कोशिश भी करूँ तो भी यह नहीं छूटता ।'

प्रभुकी बात सुनकर बातको टालते हुए प्रकाशानन्दजी कहने लगे—'हरिनामस्मरण बड़ा उत्तम है। कलिसन्तरण उपनिषद्में भगवन्नामकी बड़ी महिमा लिखी है, किन्तु तुम ब्रह्मसूत्रोंसे उदासीन-से क्यों हो? वेदान्तदर्शनको क्यों नहीं मानते?'

नम्रताके साथ प्रभुने कहा—'भगवन्! ऐसा कौन वेदोंको माननेवाला आस्तिक पुरुष होगा जो भगवान् व्यासदेवजीके ब्रह्मसूत्रोंको न मानता हो?' प्रकाशानन्दजीने कहा—'वेदान्तसूत्रोंमें निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है। अहंग्रह-उपासनाद्वारा निर्विशेष ब्रह्मका चिन्तन न करके नाच-गानमें रत रहना तो वेदान्तसूत्रोंके न माननेके ही बराबर है।'

प्रभुने कहा—'मैं इस बातको नहीं मानता कि ब्रह्मसूत्रोंमें भगवान् व्यासने केवल निर्विशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है। मेरा मत तो ऐसा है कि इसमें सविशेष गुणविशिष्ट ब्रह्मका ही वर्णन प्रधानताके साथ किया गया होगा।'

कुछ चौंककर और चारों ओर संन्यासियोंकी ओर देखकर प्रकाशानन्दजी कहने लगे—'यह तुम कैसी अशास्त्रीय-सी बात कह रहे हो! ब्रह्मसूत्रके प्रत्येक सूत्रमें निर्विशेष निर्गुण ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया गया है। भगवान् शङ्कराचार्यने विस्तारके सहित अपने भाष्यमें इसका वर्णन किया है। क्या तुमने शारीरक भाष्य नहीं पढ़ा है या शङ्कराचार्यको ही नहीं मानते हो?'

प्रभुने कहा—'मैंने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यसे शारीरक भाष्य सुना है और अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार कुछ समझा भी है। भला, जगद्गुरु शङ्कराचार्यको कौन नहीं मानेगा? वे ही तो दस नामी शाङ्कर

सम्प्रदायके आदि आचार्य और जगन्मान्य गुरु हैं। उनके श्रीचरणोंमें मैं पूर्ण श्रद्धा रखता हूँ।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'यह तो न मानना ही हुआ जो उनके भाष्यके विरुद्ध बातें कहते हो। भगवान् व्यासके असली भावोंको तो शङ्कर भगवान्ने ही समझा है, उन्होंने सम्पूर्ण भाष्यमें उसी एक निर्गुण, निर्विशेष उपाधिरहित अखण्ड सत्ताका वर्णन किया है। जब जगत् वास्तवमें कुछ है ही नहीं और जीव-ब्रह्ममें जब कुछ भेद ही नहीं, तब स्तुति कैसी? विनय और प्रार्थना किसकी? सब नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्मस्वरूप ही तो हैं। ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, जो कुछ यह भास रहा है, स्वप्नके पदार्थोंके समान सब मिथ्या है।'

प्रभुने कहा—'व्यास भगवान्ने तो ब्रह्मसूत्रोंका भाष्य स्वयं ही किया है और उस भाष्यको करनेपर ही उन्हें शान्ति प्राप्त हुई है और तभीसे उन्होंने और कुछ लिखना ही छोड़ दिया है। श्रीमद्भागवत ही ब्रह्मसूत्रोंका निर्विवाद भाष्य है। यह भगवान् व्यासदेवकी अन्तिम कृति है, इसमें जो कुछ कहा गया है वही सबसे अधिक मान्य है।* आप तो सर्वशास्त्रवेत्ता हैं, ठीक-ठीक बताइये श्रीमद्भागवतमें निर्विशेष ब्रह्मकी प्रधानता है या साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रको ही सविशेष पूर्णब्रह्म परमात्मा बताया गया है?'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'हाँ, यह तो सत्य है कि श्रीमद्भागवतको भगवान् व्यासदेवने सभी शास्त्रोंका सार लेकर बनाया है। श्रीनारदजीके उपदेशसे उन्होंने भगवान्की लीलाओंका वर्णन करनेसे परम शान्ति भी

* सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥
(श्रीमद्भा० १२। १३। १५)

प्राप्त की है और आत्माराम मुनियोंतकके लिये उन्होंने ग्रन्थके आदिमें भगवत्-भक्ति करते रहनेका संकेत करके उसका कारण बताया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥
(श्रीमद्भा० १ । ७ । १०)

अर्थात् 'भगवान्‌के गुणोंमें दिव्यता ही ऐसी है कि कैसे भी अज्ञानरहित आत्माराम मुनि क्यों न हों, वे भी भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते ही हैं। इस बातको मैं मानता हूँ, किन्तु भगवान् शङ्कराचार्यजीने जो एकदम सविशेष ब्रह्मको गौण बताकर और परम साध्य निर्विशेष ब्रह्मको ही माना है, यह क्यों? यही मेरी शङ्का है।'

प्रभुने कहा—'भगवान् शङ्कराचार्य श्रीमद्भागवतको भी यथाविधि जानते थे, भागवतके प्रति भी उनकी परम श्रद्धा थी। इस बातको भी वे जानते थे कि श्रीमद्भागवत भगवान् व्यासदेवजीद्वारा प्रकट हुआ और उसके प्रतिपाद्य सविशेष सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही हैं। फिर भी उन्होंने निर्विशेष ब्रह्मको ही अपने भाष्यमें प्रधानता देते हुए उसे ही चरम लक्ष्य माना है। यह उनकी महानता ही है। महान् पुरुषोंके सिवा ऐसा साहस कोई दूसरा नहीं कर सकता। उन्होंने लोककल्याणके ही निमित्त ऐसा किया है।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'सूत्रोंके अर्थका अनर्थ करनेमें कौन सा लोककल्याण है?'

प्रभुने धीरेसे कहा—'भगवन्! अर्थ कैसा और अनर्थ कैसा? ये तो सब बुद्धिके विकार हैं। असली पदार्थ कहीं शब्दोंद्वारा व्यक्त किया जा सकता है या उसकी सिद्धि तर्कके द्वारा की जा सकती है? असली पदार्थ

तो अनुभवगम्य है। किसी पदका कुछ भी अर्थ लगा लें, सभी ठीक है। अर्थ लगानेमें बुद्धिचातुर्यके सिवा और है ही क्या ? अर्थ लगाना, व्याख्यान करना, भाष्य और पुस्तकोंकी रचना करना यह सब लौकिकी बुद्धिका काम है, इससे मुक्ति थोड़े ही मिल सकती है ? केवल लोगोंका मनोरञ्जन करना है।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'हाँ, यह तो बताओ कि भगवान् शंकरने क्या सोचकर जगत्को एकदम उड़ा दिया और निर्विशेष ब्रह्मको ही परमसाध्य तत्त्व माना ?'

प्रभुने धीरे धीरे मधुर स्वरमे कहा—'भगवन् ! शङ्का या तर्कका होना अज्ञान या पूर्वजन्मकृत पापोंका फल है। वे महाभाग पुरुष धन्य हैं जिन्हें ईश्वरके अस्तित्वमें किसी प्रकारकी शङ्का ही नहीं उठती। वे ईश्वरको सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी और चराचर विश्वका साक्षी मानकर उन्हींका चिन्तन करते रहते हैं। उनके लिये पढ़ना, लिखना, बातें करना और ध्यान-उपासना करना आवश्यक नहीं। जो सदा भगवान्को सर्वत्र समझकर और सभीमें भगवत्-बुद्धि रखकर व्यवहार करेगा, उससे कभी अनर्थका काम होनेका ही नहीं। ग्रन्थभार तो अज्ञानका चिह्न है। जिन्हें भगवान्के सर्वान्तर्यामीपनेका विश्वास नहीं, जिनके मनमे भाँति-भाँतिकी शङ्काएँ सदा उठा ही करती हैं, उन्हींके लिये शास्त्र हैं कि शास्त्रोंके द्वारा वे अपनी तार्किक बुद्धिको श्रद्धामय बना लें। यदि अन्ततक बुद्धि तर्कमें ही फँसी रही तो शास्त्रोंका पढ़ना व्यर्थ है, शास्त्रोंके पठनका फल है तर्कातीत होकर श्रद्धालु बन जाना। जो जैसा तार्किक होता है, उसके लिये वैसे ही शास्त्रकी आवश्यकता होती है।

दो प्रकारके पुरुष होते हैं—एक हृदयप्रधान, दूसरे मस्तिष्कप्रधान। हृदयप्रधान कम होते हैं, मस्तिष्कप्रधान अधिक होते

हैं। मस्तिष्कप्रधानवाले बिना तर्कके किसी बातको मानते ही नहीं। जैसे विषकी ओषधि विष ही है, अग्निके जलेको तेल लगाकर अग्निसे सेकनेसे ही ठीक होता है, उसी प्रकार तर्कवालोंकी बुद्धिको तर्कद्वारा ही परास्त करना चाहिये। तर्क करते-करते बुद्धिको इतने सूक्ष्म विषयमें ले जाना चाहिये कि वहाँसे आगे जानेकी बुद्धिकी शक्ति ही न रहे। तर्क करनेसे स्थूल बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है और सूक्ष्म बुद्धि ही परमार्थकी ओर बढ़ सकती है। भगवान् शङ्करने तर्क और युक्तियोंद्वारा भगवत्तत्त्वको इस खूबीके साथ वर्णन किया है कि भारी-से-भारी तार्किक भी वहाँसे आगे नहीं बढ़ सकता। सचमुच भगवान् शङ्करने तर्कका अन्त कर डाला है। वेदान्तश्रवण और पठनका इतना ही प्रयोजन है *कि जिनकी बुद्धि तार्किक है वे उसके द्वारा उसे सूक्ष्म और परिष्कृत* बनाकर उसे परमार्थगामिनी बनावें। सदा तर्कोंमें ही फँसे रहना लक्ष्य नहीं है, क्योंकि परमार्थका मार्ग तो तर्कातीत है।

अज्ञानमें और श्रद्धामें आकाश-पातालका अन्तर है। अज्ञानीको भी तर्क नहीं उठता किन्तु वह परमार्थकी ओर थोड़े ही बढ़ सकता है, जबतक उसे सच्ची श्रद्धा न हो। और जिसके हृदयमें श्रद्धा है, वह कभी अज्ञानी रह ही नहीं सकता क्योंकि सच्ची श्रद्धा तो विचारका अन्त होनेपर होती है। जहाँ तर्क और शङ्का उठना पूर्वजन्मकृत पापोंका फल है, वहाँ तर्क उठनेपर आलसी और अज्ञानियोंकी भाँति उसे दबाना भी महापाप है। ऐसा आलसी परमार्थी हो ही नहीं सकता। वह असली श्रद्धालु न होकर श्रद्धालु बननेका ढोंग करता है और ढोंगीसे भगवान् बहुत दूर रहते हैं।

जो हृदयप्रधान हैं, भावुक हैं, सरल हैं, उनके मनमें शङ्का उठती ही नहीं। वे तो सदा अपने प्यारेका गुणगान ही सुनना चाहते हैं। उन्हें

सविशेष या निर्विशेषकी सिद्धिसे कोई प्रयोजन नहीं। भक्ति करते चलो। सविशेष-निर्विशेष जैसा भी होगा वह अपने-आप ही प्रकट हो जायगा। उसके लिये तो श्रीकृष्णचरणाम्बुज ही सत्य है। जगत् चाहे सत्य हो अथवा असत्य, इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं।'*

प्रकाशानन्दजीने कहा—'तब तो यह दम्भ हुआ कि समझते कुछ और हैं और सिद्ध कुछ और करते हैं। भगवान् शङ्कर तो इस जगत्‌को त्रिकालमें भी सत्य नहीं मानते, वे तो इसे अनिर्वचनीय ब्रह्मकी मायाका एक भ्रमपूर्ण पसारा समझते हैं। ऐसा माननेवाले वे सविशेष ब्रह्मकी उपासना करनेको कैसे कहेंगे?'

प्रभुने कहा—'कहेंगे क्या? उन्होंने स्वयं की है, हृदयकी गतिको कोई रोक सकता है? जगत् नहीं है हम ब्रह्म ही हैं, ये मस्तिष्कके विचार हैं, उनके हृदयसे तो पूछिये। वे स्वयं कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

'चाहे जीव-ब्रह्ममें भेद न भी हो, तो भी हे नाथ! मैं तुम्हारा हूँ किन्तु तुम स्वयं मेरे नहीं हो, 'समुद्रकी तरङ्गें' तो सब कहते हैं, किन्तु 'तरङ्गोंका समुद्र' ऐसा कोई नहीं कहता।' यह उन महापुरुषके वाक्य हैं जो जीवनभर जीव-ब्रह्मकी एकताको ही सिद्ध करते रहे थे।'

आश्चर्यके सहित प्रकाशानन्दजीने कहा—'यह तो आचार्यका विनोद है। जैसे यहाँ कल्पित जगत् है, वैसे ही व्यवहारमें उन्होंने यह बात कह दी। असलमें जब जगत्‌का अस्तित्व ही नहीं तो कैसी विनय

---

* श्रीकृष्णचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्।
जगत् सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम॥

और कैसी प्रार्थना ! सदा अपनेको ब्रह्म ही समझते रहनेका अभ्यास करते रहना चाहिये ।'

प्रभुने कहा—'भगवन् ! आपका यह कहना ठीक तो है, किन्तु मैं फिर उसी बातको दुहराता हूँ कि यह संसारसे क्षुब्ध हुई बुद्धिको बहलानेकी बात है । सच्ची शान्ति तो हृदयकी आहसे ही होती है । जब सभी तर्कोंको भूलकर एकान्तमें भगवान् शङ्कराचार्यजीकी भाँति इस प्रकार दीन होकर प्रार्थना करे, तभी हृदयको सच्ची शान्ति मिल सकती है । आचार्य-चरण *अपनी प्रसिद्ध षट्पदीमें प्रभुसे प्रार्थना करते हैं—*

मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥'

संसारको त्रिकालमें भी सत्य न माननेवाले भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—'आप मत्स्यादि अवतार धारण करके सदा पृथ्वीका परिपालन करते रहते हैं । हे प्रभो ! संसारतापोंसे सन्तप्त हुआ मैं आपकी शरण आया हूँ, आप मेरी रक्षा करें ।' यह सच्चे हृदयकी आवाज है ।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'यथार्थमें तो यह जगत् असत्य ही है और जीव ही ब्रह्म है । किन्तु जो लोग इसे नहीं समझते और असत्य जगत्को ही सत्य समझते हैं, उनके लिये जैसे भगवान् शङ्करने संसारकी व्यावहारिक सत्ता मानी है, उसी प्रकार यह व्यावहारिक प्रार्थना है । वैसे तो मुक्ति ही जीवका चरम लक्ष्य है और भ्रम दूर होते ही इस अज्ञानका नाश हो जाता है और अज्ञानके नाश होते ही जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। हो क्या जाता है उसे अपने असली स्वरूपका बोध हो जाता है ।'

प्रभुने अत्यन्त ही नम्रताके साथ कहा—'भगवन् ! आप ज्ञानी हैं, पण्डित हैं, शास्त्रज्ञ हैं, हम सबके गुरु हैं । आपके सामने मैं कह ही

कथा सकता हूँ ? किन्तु मैं फिर कहूँगा, यह हृदयकी बात नहीं है। विचारोंका परिष्कृत स्वरूप है, भगवन् ! प्रेम ही ब्रह्मका सच्चा स्वरूप है। प्रेमकी उपलब्धि ही जीवका चरम लक्ष्य है। वह कहनेकी चीज नहीं। उसका गान वाणीसे नहीं, हृदयसे होता है, वह कहा नहीं जाता, अनुभव किया जाता है; उसकी सिद्धि नहीं की जाती, वह स्वतःसिद्ध है; उसे साधनोंद्वारा कोई प्राप्त नहीं कर सकता, उसकी प्राप्ति तो प्रभुकृपासे ही होती है। मैं फिर कहता हूँ, भगवान् शङ्करने केवल मस्तिष्कप्रधान पुरुषोंकी बुद्धिको अत्यन्त सूक्ष्म करनेके ही निमित्त शारीरक भाष्यकी रचना की है। उनका हृदय तो प्रभुप्रेमके सामने मुक्ति आदिको तुच्छ समझता है। वे स्वयं कहते हैं—

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित् फलं स्वेप्सितं
केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

(प्रबोधसुधाकर)

'बहुत लोग प्रतिदिन अनेक कामनाओंके सहित उपासना करके मनोवाञ्छित फल चाहते हैं, कुछ लोग यज्ञ-यागादिके द्वारा स्वर्गकी इच्छा करते हैं। बहुत-से योगादिके द्वारा मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं, किन्तु हमें तो नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके पदारविन्दोंके ध्यानमें ही तत्परताके साथ संलग्न रहनेकी इच्छा है। हमें उत्तम लोकोंसे क्या ? हमें राजा बन जानेसे, स्वर्गसे और यहाँतक कि मोक्षसे क्या लेना ? हमें तो सतत उन्हीं अरुण वर्णके चरणोंका ध्यान बना रहे।'

इस श्लोकको कहते-कहते प्रभुका गला भर आया। उनके शरीरमें सभी सात्त्विक विकारोंका उदय हो उठा। उन्होंने अपने भावको

संवरण करना चाहा, किन्तु वे उसमें समर्थ न हो सके। प्रभुकी आँखें ऊपर चढ़ गयीं। शरीरसे पसीना निकलने लगा। बेहोश होकर वे वहीं एक तकियेके सहारे लुढ़क गये। उनकी ऐसी दशा देखकर प्रकाशानन्दजी आश्चर्यचकित हो गये और अपने वस्त्रसे स्वयं उनको हवा करने लगे। उपस्थित सभी संन्यासियोंपर प्रभुकी बातोंका और उनकी इस अद्भुत दशाका बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा। बहुत-से तो उसी समय 'हरि-हरि' करके नाचने लगे। प्रकाशानन्दजीके हृदयमें भी खलबली मच गयी। उनका मन बार-बार कह रहा था—'अरे मूर्ख! तेरे अज्ञानको मिटानेके निमित्त साक्षात् श्रीहरि संन्यासीका वेष धारण करके तेरे सामने उपस्थित हैं; तू इनके पादपद्मोंको पकड़कर अपने पूर्वकृत पापोंके लिये क्षमा-याचना क्यों नहीं करता।' किन्तु इतनी भारी प्रतिष्ठाका लालच अभी उनके हृदयमेंसे समूल नष्ट नहीं हुआ था। वे हृदयसे तो प्रभुके चरणोंके दास बन चुके थे। हृदय तो उन्होंने उसी समय श्रीकृष्णचैतन्य-नामधारी हरिके चरणाम्भोजोंमें समर्पित कर दिया था, किन्तु शरीरको अभी लोकलज्जावश बचाये हुए थे।

उसी समय प्रभुको होश हुआ। वे कुछ लज्जित-से हुए तकियेसे हटकर एक ओर बैठ गये। उसी समय भोजनके लिये बुलावा आ गया, सभी भोजन करने बैठ गये। प्रभुने बड़े ही सङ्कोचसे संन्यासियोंके साथ बैठकर भिक्षा पायी। अन्तमें वे श्रीप्रकाशानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम करके भक्तोंके सहित चन्द्रशेखरके घर चले गये।

श्रीप्रकाशानन्दजीका आत्मसमर्पण

भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट
स्वच्छन्दं पिब यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु।
सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधां
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज ॥*

भक्तचित्तचोर श्रीगौराङ्गने अद्वैत वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित श्रीप्रकाशानन्दजीका मन हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वे अनजान भोले मनुष्यकी भाँति प्रभुके मनसे चरणकिङ्कर बन गये; क्योंकि वे प्रभुके अपने निजजन थे। प्रभुके चले जानेपर प्रकाशानन्दजी अपने मठमें पहुँचे। वहाँ उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगने लगा। वेदान्तके ग्रन्थ उन्हें काटनेको दौड़ने लगे। उनका चित्त अब श्रीचैतन्यचरणोंके चिन्तनमें ही सुखका अनुभव करने लगा। महाप्रभुकी मनोहर मूर्ति उनके हृदयमें गड़-सी गयी। वे उनकी अनुपम रूपमाधुरीका मन-ही-मन रसास्वादन

---

* हे भैया! बताऊँ कैसा जीवन तुम्हें बिताना चाहिये? अच्छा तो सुनो—'देखो, व्रजकी पुण्यभूमिमें किसी वृक्षके नीचे पड़ रहो और भूख लगे तो आसपासके गाँवोंमेंसे जाकर टुकड़े माँग लाओ। किसीने सम्मानसे भोजन करा दिया या और किसी भाँतिसे प्रतिष्ठा की तो उसे भयङ्कर विषके समान समझो। यदि गाँवके मूर्ख आकर तुम्हें देखकर हँसें और अपमान करें तो समझना ये हमें अमृत पिला रहे हैं। पीनेके लिये श्यामरंगवाला सुन्दर स्वच्छ यमुनाजीका जल और ओढ़नेके लिये रास्तेमें पड़े हुए चिथड़ोंकी गुदड़ी, इससे अधिक संग्रह ठीक नहीं। बस, श्रीराधारमण बाँकेविहारी मुरलीधरका ध्यान करते हुए वृन्दावनको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी मत जाओ।'

करने लगे । उन्हें अपने पूर्वकृत अपराधोंके लिये घोर सन्ताप होने लगा—'हाय, जो इतने सरल हैं, ऐसे विनम्र हैं, इतने सुन्दर हैं—उनके प्रति मैंने कैसे-कैसे कटु शब्द कहे ! उनका श्रीविग्रह कितना तेजोमय, प्रकाशमय और आनन्दमय है, उनके रोम-रोमसे प्रेमका प्रवाह फूट-फूटकर निकलता रहता है । सरलताकी तो साक्षात् साकार सजीव मूर्ति ही हैं ।' श्रीमत्प्रकाशानन्दजी ऐसा सोच ही रहे थे कि उसी समय महाराष्ट्रीय सज्जन वहाँ आ उपस्थित हुए । वे स्वामी प्रकाशानन्दजीको प्रणाम करके बैठ गये और थोड़ी देर पश्चात् धीरे-धीरे पूछने लगे—'भगवन् ! आपने उन बङ्गाली स्वामीजीके दर्शन किये । अब तो आपने प्रत्यक्ष ही देख लिया कि उनका शरीर ही प्रेममय है ।'

इतना सुनते ही प्रकाशानन्दजीने उनके पैर पकड़ लिये और रोते-रोते कहने लगे—'भैया ! तुमने मेरा उद्धार करा दिया । अभिमानके वशीभूत होकर अपनेको पण्डित समझनेवाले मुझ पतितने उन महापुरुषकी न जाने कितनी बार निन्दा की ! वे तो साक्षात् ईश्वर हैं । शरीरधारी नारायण हैं । उन्होंने जो बातें कहीं सो सभी सत्य हैं ।'

अपने पैरोंको जल्दीसे खींचते हुए उन महाराष्ट्रीय सज्जनने प्रकाशानन्दजीसे कहा—'भगवन् ! आप यह मुझपर कैसा अपराध चढ़ा रहे हैं ? मेरे लिये तो आप भी साक्षात् शङ्कर हैं । आपको क्या ज्ञान और क्या अज्ञान ? आप तो सर्वज्ञ हैं । लोकशिक्षणके लिये और भक्तिका माहात्म्य प्रकट करनेके लिये ही आपने ऐसा किया । आपने अपने जीवनमें इस बातको प्रत्यक्ष करके दिखा दिया कि कितना भी भारी ज्ञानी क्यों न हो उसे उन अरविन्दाक्ष भगवान् श्रीहरिका आश्रय कभी न छोड़ना चाहिये । जो ज्ञानके अभिमानमें अच्युतका आश्रय त्याग देते हैं उनका अवश्य ही अधःपतन हो जाता है । आपने तो अपने जीवनसे

भक्तिका माहात्म्य प्रकट किया है। भगवन्! आपके चरणोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है। मैं तो आपको बहुत ही श्रेष्ठ समझता हूँ।'

इस प्रकार बहुत देरतक बातें होती रहीं। महाराष्ट्रीय सज्जन स्वामीजीसे विदा लेकर अपने घर चले गये। दूसरे दिन इस सुखद संवादको सुनानेके लिये वे प्रभुके पास आ रहे थे कि उन्हें रास्तेमें ही गङ्गास्नान करके लौटते हुए प्रभु मिल गये। जल्दीमें उन्होंने प्रणाम करके कहा—'प्रभो! प्रभो! महान् आश्चर्यकी बात! आपकी माया अपार है प्रभो! ओहो! जो आपकी इतनी भारी निन्दा किया करते थे, वे वेदान्त-शिरोमणि श्रीमत्प्रकाशानन्द अब बालकोंकी भाँति रो रहे हैं। अब उन्हें वेदान्तचिन्तन, शास्त्रोंका पठन-पाठन कुछ भी नहीं भाता है, अब वे निरन्तर श्रीचैतन्यचरणोंका ही चिन्तन करते रहते हैं।'

इस संवादको सुनते ही प्रभु उछलने लगे और परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—'भगवान् बड़े दयालु हैं, उन्होंने पूज्यपाद प्रकाशानन्दजीके ऊपर कृपा कर दी। उन्हें प्रेमदान देकर अपना लिया। अहा! उन महापुरुषके चरणोंकी धूलिको मैं अपने मस्तकपर चढ़ाकर अपने जीवनको कृतार्थ करूँगा।' इतना कहते-कहते प्रभु बिन्दुमाधवजीके मन्दिरमें दर्शन करने गये। भगवान्‌की मनोहर मूर्तिके दर्शनोंसे प्रभु भावावेशमें आकर नृत्य करने लगे। श्रीसनातन, चन्द्रशेखर वैद्य, तपन मिश्र आदि भक्त भी प्रभुके साथ ताली बजा-बजाकर नाचने और—

हरिहरये नमः कृष्णयादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

—इस पदको बड़े ही स्वरके साथ गाने लगे। महाप्रभु बाह्यज्ञानशून्य होकर नृत्य कर रहे थे। बहुत-से दर्शनार्थी प्रभुका नृत्य देखनेके लिये

एकत्रित हो गये । संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनि सुनकर शिष्योंके सहित श्रीस्वामी प्रकाशानन्दजी भी वहाँ आ उपस्थित हुए और वे भी प्रभुके स्वरमें स्वर मिलाकर—

हरिहरये नमः कृष्णयादवाय नमः ।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन ॥

—इस पदका गायन करने लगे । थोड़ी देरके अनन्तर प्रभुने संकीर्तन बंद कर दिया । उन्हें अब कुछ बाह्य ज्ञान हुआ । सामने सशिष्य प्रकाशानन्दजीको देखकर प्रभुने उनके चरणोंमें भक्तिभावसे प्रणाम किया । इसपर प्रकाशानन्दजी प्रभुके पैरोंमें पड़ गये । अपने पैरोंको जोरसे खींचते हुए प्रभु दीनभावसे कहने लगे—'भगवन् ! यह आप कैसा अनर्थ कर रहे हैं । गुरुजन होकर आप मेरे ऊपर पाप क्यों चढ़ा रहे हैं ? मैं तो आपके शिष्योंके शिष्योंतकके बराबर नहीं हूँ, यद्यपि आपकी दृष्टिमें सभी ब्रह्मस्वरूप हैं, फिर भी लोकमर्यादाके हिसाबसे आपको ऐसा न करना चाहिये । आप तो मेरे परम वन्दनीय हैं ।'

धीरे-धीरे प्रकाशानन्दजीने कहा—'प्रभो ! मैं अपने पूर्वकृत पापोंका प्रायश्चित्त कर रहा हूँ । मैंने आपकी लोगोंके सामने बहुत निन्दा की थी ।'

प्रभुने कानोंपर हाथ रखते हुए कहा—'श्रीहरि श्रीहरि ! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं ! गुरुजन अपने शिष्य तथा सेवकोंकी कभी बुराई कर ही नहीं सकते । वे तो सदा उनके कल्याणकी ही बातें सोचा करते हैं । आप भला मेरी कभी बुराई कर सकते हैं !' इस प्रकार बहुत देरतक दोनों महापुरुषोंके बीच बातें होती रहीं । अन्तमें दोनों ही एक दूसरेसे विदा हुए ।

सायंकालके समय एकान्तमें श्रीप्रकाशानन्दजी महाप्रभुके पास स्वयं आये । आते ही उन्होंने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और एक

प्रकाशानन्दजी प्रभुके पैरोंमें पड़ गये

कम्पायमान शिष्यकी भाँति नम्रतासे एक ओर बैठ गये। प्रभुने इनको उठाके आलिङ्गन किया और खींचकर अपने समीप बैठा लिया।

तब प्रकाशानन्दजीने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए बड़ी ही नम्रताके साथ कहा—'प्रभो! मैंने अबतक अपना अमूल्य समय अभिमान और आत्मश्लाघामें ही बिता दिया। परमार्थपथसे मैं अब तक एकदम अनभिज्ञ ही रहा, इसलिये अब मुझे क्या करना चाहिये, मेरा मुख्य कर्तव्य क्या है, सो बता दीजिये।'

प्रभुने कहा—'भगवन्! आप साधारण जीव नहीं हैं। आप तो जीवन्मुक्त हैं। आप जो भी कुछ करना चाहते हैं और आप जो भी कुछ करेंगे उसका एकमात्र उद्देश्य लोकसंग्रह और लोकशिक्षण ही होगा। इसलिये भगवन्! मैं तो यही समझता हूँ कि प्राणिमात्रका परमपुरुषार्थ श्रीकृष्णप्रेमकी उपलब्धि करना ही है। प्रभुके पादपद्मोंमें प्रीति हो—यही सब साधनोंका अन्तिम फल है और सभी कार्य इसी एक उद्देश्यकी पूर्तिके निमित्त करने चाहिये।'

प्रकाशानन्दजीने पूछा—'प्रभो! प्रभुपादपद्मोंमें प्रेम कैसे हो?'

प्रभुने कहा—'सजातीय और विजातीय दो पदार्थ हैं। जीव भगवान्‌का अंश है, यदि उसे सजातीय भगवान्‌की ओर लगावेंगे तो आनन्दकी उपलब्धि होगी और विजातीय संसारी कामोंमें फँसाये रक्खेंगे तो यह सदा दुखी ही बना रहेगा। इसलिये अनन्य भावसे उन्हीं प्रभुकी शरण जानेमें कल्याण है, यही प्रेमप्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है।'

प्रकाशानन्दजीने कहा—'प्रभो! शास्त्रोंका सिद्धान्त है, 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' अर्थात् दूसरेसे तो सदा भय ही होता है, इसका क्या अभिप्राय है? जबतक सेव्य-सेवक-भाव है, तबतक द्वैत है और द्वैत भयका कारण है, फिर किस भावसे शरणमें जाऊँ?'

प्रभुने कहा—'भगवन् ! आप ध्यानपूर्वक इस बातपर विचार करें। वास्तवमें यह बात ठीक है कि द्वैतमें सदा भय ही होता है। बिना अद्वैतभावनाके शान्ति नहीं, किन्तु आप सोचिये—अंशमें और अंशीमें, सेव्यमें और सेवकमें, सखा और सखामें, पितामें और पुत्रमें तथा पतिमें और पत्नीमें क्या द्वैधीभाव रहता है ? जहाँ द्वैत है वहाँ प्रेम कहाँ ? प्रेम तो एक होनेपर ही होता है। जिसे हम अपना कहकर स्वीकार कर चुके वह दूसरा रह ही नहीं जाता। व्यवहारमें भी देखा जाता है, जब कोई गुप्त बात कहनी होती है, तो कहनेवाला पासमें बैठे हुए आदमियोंकी ओर शङ्कित दृष्टिसे देखता है। तब सुननेवाला कहता है—'तुम निश्चिन्त होकर कहो, यहाँ कोई 'दूसरा' नहीं है। अर्थात् सभी अपने हैं।' इसलिये अपनापन स्थापित हो जानेपर फिर भयका क्या काम ? फिर तो दिन दूना आनन्द ही बढ़ता जाता है। सम्बन्ध पाँच ही प्रकारसे हो सकता है—अंश-अंशी-सम्बन्ध, स्वामी-सेवक-सम्बन्ध, सख्य-सम्बन्ध, पिता-पुत्रका सम्बन्ध और पति-पत्नीका सम्बन्ध। इन्हें ही क्रमसे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्ताभाव कहते हैं। इनमेंसे भगवान्‌के साथ कोई भी सम्बन्ध स्थापित हो जानेपर फिर ये दूसरे नहीं रहते। अपने ही हो जाते हैं, द्वैत न रहकर अद्वैत बन जाते हैं। शान्त-भावमें ऐश्वर्यकी भावना रहनेसे कुछ द्वैतका अंश शेष रह जाता है। दास्यभावमें निरन्तर सेवककी भावना रखनेसे शान्तकी अपेक्षा कुछ द्वैतभाव कम हो जाता है, सख्यमें दासकी अपेक्षा कुछ कम होता है, किन्तु कुछ द्वैत तो सख्यमें भी बना ही रहता है। सखा अपने सखासे यह इच्छा तो रखता ही है कि यह भी हमसे स्नेह करें। सख्यकी अपेक्षा वात्सल्यभावमें द्वैत बहुत ही कम हो जाता है। क्योंकि असली पिता अपनेमें और पुत्रमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं समझता। पुत्र पिताका आत्मा ही है। किन्तु फिर भी द्वैधीभाव समूल नष्ट नहीं होता। लालन-

पालनजन्य कुछ सूक्ष्म द्वैतांश शेष रह ही जाता है। हाँ, कान्ताभावमें द्वैतका नाम नहीं। पत्नी अपने मनको ही पतिके मनमें नहीं मिला देती है, किन्तु वह हृदयमें हृदयको मिलाकर अपने शरीरको भी पतिके शरीरमें मिला देती है। उसकी सभी चेष्टाएँ, सभी क्रियाएँ केवल पतिके ही सुखके निमित्त होती हैं। उसके लिये अपना अस्तित्व रहता ही नहीं। वहाँ न स्वामी-सेवक-भाव है, न अंशांशी-भाव। वहाँ तो अद्वैत-भाव है। पत्नी अपने लिये सुख नहीं चाहती। उसे अपने सुखमें प्रसन्नता नहीं होती। उसकी प्रसन्नता तो प्रियतमकी प्रसन्नतामें है। प्यारा प्रसन्न है, इसलिये उसे भी प्रसन्न रहना चाहिये, क्योंकि प्यारेसे पृथक् उसका अस्तित्व ही नहीं। तब प्यारेसे विरुद्ध उसकी कोई चेष्टा हो ही कैसे सकती है! इसीका नाम मधुरभाव है, यही सर्वश्रेष्ठ भाव है। इसमें भावान्वित हुए पुरुषकी सभी क्रियाएँ बंद हो जाती हैं। उसका अपनापन एकदम नष्ट हो जाता है। उसका शरीर यन्त्रकी तरह अपने-आप ही थोड़ी-बहुत चेष्टा करता रहता है। ऐसा भाव किसी भाग्यवान् पुरुषको ही प्राप्त हो सकता है। लाखोंमें क्या करोड़ोंमें कोई एक इस भाववाले पुरुष होते हैं, फिर उनके दर्शन तो किसी परम सौभाग्यशाली पुरुषको ही प्राप्त हो सकते हैं। आप तो श्रीकृष्णके निज जन हैं। आपके लिये कौन-सा भाव दुर्लभ है? भगवान्‌ने आपको तो अपना कहकर वरण कर लिया है। जिसे वे अपना कहकर स्वीकार कर लेते हैं वही इस भावमें दीक्षित हो सकता है। योग-यज्ञ और जप-तप करके ही कोई अपनेको इस भावमें दीक्षित होनेका अधिकारी समझ बैठे, तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा ही कही जा सकती है।'

अत्यन्त ही दीनभावसे प्रकाशानन्दजीने कहा—'प्रभो! आज मेरा पुनर्जन्म हुआ। मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि भगवान्‌ने मुझे अपनी शरणमें ले लिया। अब मेरे पुनर्जन्मका नाम रख दीजिये और मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं कहाँ रहूँ और क्या करूँ?'

प्रभुने प्रेमपूर्वक कहा—‘प्रबोधानन्दजी ! आपको बोध तो पहलेसे ही था, अब प्रभुकी परम कृपा होनेसे आपको प्रकर्ष बोध हुआ है। इसलिये आजसे प्रकाशानन्दजीके स्थानमें आपका नाम प्रबोधानन्दजी हुआ। रहनेका एक ही ठाम है, ‘श्रीवृन्दावनधाम’, और करनेका एक ही काम है ‘श्रीवृन्दावनविहारीका अहर्निश नाम-संकीर्तन।’ श्रीकृष्ण-कृष्ण रटिये और वृन्दावनमें बसिये। इसीमें परम कल्याण है। प्राणीमात्रके उद्धारका यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।’

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीप्रकाशानन्दजी उसी समय प्रभुकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ाकर मठ, मन्दिर, शिष्य, सम्पत्ति सभी-को छोड़कर श्रीवृन्दावनके लिये चल दिये और वहाँ पहुँचकर कालियदमन घाटके समीप रहने लगे। अन्तिम जीवन इन्होंने अत्यन्त ही मधुरभावसे व्यतीत किया। ये पागलोंकी तरह ऊपर हाथ उठा-उठाकर नृत्य किया करते थे। ये हृदयसे अपनेको श्रीकृष्णकी सहचरी गोपी समझते। इनका मधुरभावका गुप्त नाम था ‘गुणचूड़ा सखी’। कालियदमनके समीप ये एक कुटियामें रहकर अहर्निश कृष्णकीर्तन किया करते थे। प्रकाण्ड पण्डित होनेके साथ ये संस्कृतके अच्छे कवि भी थे। इनकी कविता बड़ी ही सुन्दर, सुललित तथा भावपूर्ण होती थी। इन्होंने वृन्दावनकी पवित्र भूमिमें ही अपने इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग किया। कालियदमनके समीप अभीतक इनकी समाधि बनी है।

इनके बनाये हुए ‘श्रीचैतन्यचन्द्रामृत,’ ‘श्रीवृन्दावनरसामृत,’ ‘श्रीवृन्दावनशतक’ और ‘श्रीराधारससुधानिधि’—ये चार ग्रन्थ पाये जाते है, जिनमें हजारों श्लोक हैं। ‘श्रीचैतन्यचन्द्रामृत’ बड़ा ही मधुर काव्य है। उसके बहुत-से छन्द तो इतने भावपूर्ण है कि पढ़ते-पढ़ते चित्त नाचने लगता है। इनके एक-एक पदसे महाप्रभुके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा

प्रकट होती है। इनकी चैतन्यचरणोंमें बड़ी ही अनोखी और अहैतुकी भक्ति थी। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णचैतन्यके गुणगान करनेमें ही इन्होंने अपनी कमनीय कविताका सदुपयोग किया है। स्थानाभावसे यहाँ हम इनकी सुन्दर कविताओंको उद्धृत नहीं कर सकते। 'चैतन्यचन्द्रामृत' में एक स्थलपर श्रीचैतन्यचरणोंमें अपनी प्रगाढ प्रीति प्रदर्शित करते हुए ये कहते हैं—

> निष्ठां प्राप्ता व्यवहृतिततिर्लौकिकी वैदिकी वा
> या वा लज्जा प्रहसनसमुद्गाननाट्योत्सवेषु।
> ये वाभूवन्नहह सहजप्राणदेहार्थधर्मा
> गौरश्चौरः सकलमहरत् कोऽपि मे तीव्रवीर्यः॥

'अत्यन्त ही बलवान् किसी गौरवर्णके चोरने आकर हमारी लौकिकी और वैदिकी व्यवहारनिष्ठाको, (सङ्कीर्तन करते समय) जोर-जोरसे हँसने, गाने तथा नृत्योत्सवमें होनेवाली लज्जाको और प्राण तथा देहके कारणस्वरूप जो स्वाभाविक धर्म हैं, उन सभीको जबरदस्ती छीन लिया। अर्थात् उस गौराङ्ग चोरने हमे इन सभी वस्तुओंसे रहित बना दिया।' अहा, धन्य है, ऐसे लूटे हुए यात्रीको और लूटनेवाले चोरको। हम लूटनेवाले चोरके और लुटनेवाले महाभाग यात्रीके चरणोंमें बार-बार प्रणाम करते है।

प्रभुने प्रेमपूर्वक कहा—'प्रबोधानन्दजी ! आपको बोध तो पहलेसे ही था, अब प्रभुकी परम कृपा होनेसे आपको प्रकर्ष बोध हुआ है। इसलिये आजसे प्रकाशानन्दजीके स्थानमें आपका नाम प्रबोधानन्दजी हुआ। रहनेका एक ही ठाम है, 'श्रीवृन्दावनधाम', और करनेका एक ही काम है 'श्रीवृन्दावनविहारीका अहर्निश नाम-संकीर्तन ।' श्रीकृष्ण-कृष्ण रटिये और वृन्दावनमें बसिये । इसीमें परम कल्याण है। प्राणीमात्रके उद्धारका यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है ।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीप्रकाशानन्दजी उसी समय प्रभुकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ाकर मठ, मन्दिर, शिष्य, सम्पत्ति सभीको छोड़कर श्रीवृन्दावनके लिये चल दिये और वहाँ पहुँचकर कालियदमन घाटके समीप रहने लगे। अन्तिम जीवन इन्होंने अत्यन्त ही मधुरभावसे व्यतीत किया। ये पागलोंकी तरह ऊपर हाथ उठा-उठाकर नृत्य किया करते थे। ये हृदयसे अपनेको श्रीकृष्णकी सहचरी गोपी समझते। इनका मधुरभावका गुप्त नाम था 'गुणचूड़ा सखी'। कालियदमनके समीप ये एक कुटियामें रहकर अहर्निश कृष्णकीर्तन किया करते थे। प्रकाण्ड पण्डित होनेके साथ ये संस्कृतके अच्छे कवि भी थे। इनकी कविता बड़ी ही सुन्दर, सुललित तथा भावपूर्ण होती थी। इन्होंने वृन्दावनकी पवित्र भूमिमें ही अपने इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग किया। कालियदमनके समीप अभीतक इनकी समाधि बनी है।

इनके बनाये हुए 'श्रीचैतन्यचन्द्रामृत,' 'श्रीवृन्दावनरसामृत,' 'श्रीवृन्दावनशतक' और 'श्रीराधारससुधानिधि'—ये चार ग्रन्थ पाये जाते हैं, जिनमें हजारों श्लोक हैं। 'श्रीचैतन्यचन्द्रामृत' बड़ा ही मधुर काव्य है। उसके बहुत-से छन्द तो इतने भावपूर्ण हैं कि पढ़ते-पढ़ते चित्त नाचने लगता है। इनके एक-एक पदसे महाप्रभुके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा

निष्ठां प्राप्ता व्यवहृतिततिर्लौकिकी वैदिकी वा
या वा लज्जा प्रहसनसमुद्गाननाट्योत्सवेषु ।
ये वाभूवन्नहह सहजप्राणदेहार्थधर्मा
गौरश्चौरः सकलमहरत् कोऽपि मे तीव्रवीर्यः ॥

'अत्यन्त ही बलवान् किसी गौरवर्णके चोरने आकर हमारी लौकिकी और वैदिकी व्यवहारनिष्ठाको, (सङ्कीर्तन करते समय) जोर-जोरसे हँसने, गाने तथा नृत्योत्सवमें होनेवाली लज्जाको और प्राण तथा देहके कारणस्वरूप जो स्वाभाविक धर्म हैं, उन सभीको जबरदस्ती छीन लिया । अर्थात् उस गौराङ्ग चोरने हमें इन सभी वस्तुओंसे रहित बना दिया ।' अहा, धन्य है, ऐसे लुटे हुए यात्रीको और लूटनेवाले चोरको । हम लूटनेवाले चोरके और लुटनेवाले महाभाग यात्रीके चरणोंमें बार-बार प्रणाम करते हैं ।

श्रीसनातन वृन्दावनको और प्रभु पुरीको

कालेन वृन्दावनकेलिवार्ता
लुप्तेति तां ख्यापयितुं विशिष्य।
कृपामृतेनाभिषिषेच देव-
स्तत्रैव रूपञ्च सनातनञ्च ॥*

(श्रीचैतन्यचन्द्रो० ना० ९ । ४८)

लगभग दो मास काशीजीमें निवास करके महाप्रभुने दो प्रधान कार्य किये। एक तो सनातनजीको शास्त्रीय शिक्षा दी और दूसरे श्रीपाद प्रकाशानन्दजीको प्रेमदान दिया। प्रकाशानन्दजी-जैसे प्रकाण्ड पण्डितके भावपरिवर्तनके कारण प्रभुकी ख्याति सम्पूर्ण काशी नगरीमें फैल गयी। बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंके लिये आने-जाने लगे। बहुत-से

---

* समयके प्रभावसे वृन्दावनकी केलि-कथाएँ लुप्तप्राय हो गयी थीं, उन्हीं लीलाओंको विस्तारके सहित प्रकाशित करनेके निमित्त श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने श्रीरूप तथा श्रीसनातनको कृपारूपी अमृतसे अभिषिक्त करके वृन्दावन भेजा।

वेदान्ती पण्डित प्रभुको शास्त्रार्थके लिये ललकारते। प्रभु नम्रतापूर्वक कह देते—'मैं शास्त्रार्थ क्या जानूँ ! जिन्हें शास्त्रोंके वाक्योंके ही बालकी खाल निकालनी हो वे निकालते रहें, मैंने तो सभी शास्त्रोंका सार यही समझा है कि सब समय, सर्वत्र, सदा भगवान् नारायणका ही ध्यान करना चाहिये। जो आस्तिक पुरुष मेरी इस बातका खण्डन करें, वह मेरे सामने आवें।'

प्रभुके इस उत्तरको सुनकर सभी चुप हो जाते और अपना-सा मुख लेकर लौट जाते। बहुत भीड़-भाड़ और लोगोंके गमनागमनसे प्रभुका चित्त ऊब-सा गया। प्रभुको बहुत बातें करना प्रिय नहीं था। वे श्रीकृष्णकथाके अतिरिक्त एक शब्द सुनना भी नहीं चाहते थे, संसारी लोगोंके सम्पर्कसे सांसारिक बातें छिड़ ही जाती हैं, यह बात प्रभुको पसंद नहीं थी। इसलिये उन्होंने शीघ्र ही पुरी जानेका निश्चय कर लिया। प्रभुके निश्चयको समझकर दीनभावसे हाथ जोड़े हुए श्रीसनातनजीने पूछा—'प्रभो! मेरे लिये क्या आज्ञा होती है ?'

प्रभुने कहा—'तुम भी अपने भाईके ही पथका अनुसरण करो। वृन्दावनमें रहकर तुम दोनों भाई व्रजमण्डलके लुप्त तीर्थोंका फिरसे उद्धार करो और भगवान्‌की अप्रकट लीलाओंका भक्तिग्रन्थोंद्वारा प्रचार करो। तुम दोनों ही भाई वैराग्यवान् हो, पण्डित हो, रसमर्मज्ञ हो, कविहृदयके हो, तुम्हारे द्वारा जिन ग्रन्थोंका प्रणयन होगा उनसे लोगोंका बहुत अधिक कल्याण होगा। व्रजमण्डलमें आये हुए गौड़ीय भक्तोंकी देख-रेखका कार्य भी मैं तुम्हीं लोगोंको सौंपता हूँ।'

हाथ जोड़े हुए विवशताके स्वरमें सनातनजीने कहा—'प्रभो! हम अधम भला इस इतने बड़े कार्यके योग्य कैसे हो सकते हैं ! किन्तु

हमें इससे क्या ? हम तो यन्त्र हैं, यन्त्री जिस प्रकार घुमावेगा, घूमेंगे, जो करावेगा, करेंगे । हमारा इसमें अपना पुरुषार्थ तो कुछ काम देगा ही नहीं ।'

प्रभुने कहा—'तुम इस कार्यमें प्रवृत्त तो हो, श्रीहरि स्वतः ही तुम्हारे हृदयमें शक्तिका सञ्चार करेंगे । तुम्हारे हृदयमें स्वतः ही श्रीकृष्ण-लीलाओंकी स्फुरणा होने लगेगी ।' इस प्रकार सनातनको समझा-बुझाकर प्रभुने उन्हें वृन्दावन जानेके लिये राजी कर लिया ।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही प्रभुने गङ्गास्नान करके पुरीकी ओर प्रस्थान कर दिया । तपन मिश्र, चन्द्रशेखर, रघुनाथ, परमानन्द कीर्तनिया, महाराष्ट्रीय ब्राह्मण तथा सनातन आदि प्रभुके अन्तरङ्ग भक्त उनके पीछे-पीछे चले । प्रभुने सभीको समझा-बुझाकर लौटा दिया, वे सभीको प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करके बलभद्र भट्टाचार्यके सहित आगे बढ़े । भक्त-गण मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े । श्रीसनातनजीको प्रभुवियोगसे अपार दुःख हुआ । चन्द्रशेखर वैद्य उन्हें जैसे-तैसे उठाकर अपने घर लाये । दूसरे दिन वे भी सबसे विदा लेकर राजपथसे वृन्दावनकी ओर चले ।

इधर श्रीरूपजीने सुबुद्धिरायजीके साथ सभी वनोंकी यात्रा की । वे एक महीनेतक व्रजमें भ्रमण करते रहे । फिर उन्हें अपने भाई सनातनकी चिन्ता हुई, इसलिये उनकी खोजमें वे अपने छोटे भाई अनूपके सहित सोरों होकर गङ्गाजीके किनारे-किनारे प्रयाग होते हुए काशी आये । काशीजीमें आकर उन्हें सनातनजीका और प्रभुका सभी समाचार मिला । श्रीसनातनजी मथुरामें जाकर अपने दोनों भाइयोंकी खोज करने लगे । सहसा इनकी सुबुद्धिरायजीसे भेंट हो गयी । उनसे पता चला कि रूप और अनूप तो काशी होते हुए आपकी ही खोजमें गौड़देशको गये हैं । रूपजी गङ्गाजीके किनारे-किनारे आये थे और सनातनजी सड़क-सड़क गये थे, इसीलिये रास्तेमें इन दोनों भाइयोंकी भेंट नहीं हुई । सनातनजी अब

परम वैरागी संन्यासीकी भाँति त्यागमय जीवन बिताते हुए व्रजमण्डलके लुप्त तीर्थोंके उद्धारमें प्रवृत्त हुए। उन्हें किसी भक्तसे मथुरामें 'मथुरा-माहात्म्य' नामकी पुस्तक मिल गयी। उसीके अनुसार वे व्रजमण्डलके सभी वनों और कुञ्जोंमें घूम-घूमकर लुप्त तीर्थोंका पता लगाने लगे। वे घर-घरसे टुकड़े माँगकर खाते थे और रात्रिमें किसी पेड़के नीचे पड़ रहते थे। इसी प्रकार वे अपने जीवनको बिताने लगे।

इधर महाप्रभु भक्तोंसे विदा होकर झाड़ीखण्डके रास्तेसे पुरीकी ओर चलने लगे। रास्तेमें भिक्षाका प्रबन्ध उसी प्रकार बलभद्र भट्टाचार्य करते। कभी-कभी तो केवल साग और वनके कच्चे-पक्के फलोंके ही ऊपर निर्वाह करना पड़ता। प्रभु रास्तेमें—

राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्॥

इस पदका बड़े ही स्वरके सहित उच्चारण करते जाते थे। रास्तेमें चलते-चलते प्रभुको बड़े जोरोंकी प्यास लगी। सामनेसे उन्हें आता हुआ एक ग्वालेका लड़का दीखा। उसके सिरपर एक मटकी थी। प्रभुने उससे पूछा—'क्यों भाई! इसमें क्या है?'

उस बच्चेने बड़ी ही नम्रताके साथ कहा—'स्वामीजी! इसमें मट्ठा है, मैं अपने पिताको देनेके लिये जाता हूँ।'

प्रभुने कहा—'मुझे बड़ी प्यास लग रही है। क्या तुम मुझे यह मट्ठा पिला सकते हो?'

लड़केने कहा—'महाराज! मैं पिला तो देता, किन्तु मेरे पिता मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।'

प्रभुने कहा—'अच्छी बात है, तो तुम उन्हींके पास इसे ले जाओ।' इतना कहकर प्रभु आगे चलने लगे। थोड़ी देरमें उस लड़केने कुछ सोचकर कहा—'स्वामीजी! लौट आइये, आप इस मट्ठेको पी लीजिये।'

प्रभुने कहा—'तुम्हारे पिता नाराज होंगे, तब तुम क्या कहोगे ?'

उसने कहा—'महाराज ! उनके लिये तो मैं और भी ला सकता हूँ । देर हो जायगी तो थोड़े नाराज हो जायँगे, किन्तु आपको न जाने आगे कहाँ पानी मिलेगा ? धूप तेज पड़ रही है । आप प्यासे जायँगे, इससे मेरा दिल धड़क रहा है । चाहे कुछ भी क्यों न हो, मैं आपको प्यासा न जाने दूँगा ।'

प्रभुने कहा—'नहीं भाई ! तुम्हारे पिता तुमसे नाराज हों, यह ठीक नहीं है । मुझे तो कहीं-न-कहीं आगे जल मिल ही जायगा ।'

प्रभुकी इस बातको सुनकर उस बच्चेने आकर प्रभुके पैर पकड़ लिये और रोते-रोते उनसे मट्ठा पीनेकी प्रार्थना करने लगा । दयालु प्रभु उसके आग्रहको टाल न सके और उसके कहनेसे उस मिट्टीके बड़े बर्तनके सम्पूर्ण मट्ठेको पी गये । मट्ठेको पीकर प्रभुने जोरोंसे उस लड़केको आलिङ्गन किया । प्रभुका आलिङ्गन पाते ही वह प्रेममें उन्मत्त होकर 'हरि हरि' कहकर नृत्य करने लगा । उस समय उसकी दशा बड़ी ही विचित्र हो गयी थी । उसके शरीरमें सात्त्विक भाव उदय होने लगे । इस प्रकार प्रभु उस बालकको प्रेमदान देकर आगे बढ़े । कई दिनोंके पश्चात् प्रभु पुरीके समीप पहुँच गये । दूरसे ही उन्हें श्रीजगन्नाथजीकी पताका दिखायी दी । श्रीमन्दिरकी पताकाके दर्शन होते ही, प्रभुने भूमिमें लोटकर जगन्नाथजीकी फहराती हुई विशाल पताकाको प्रणाम किया और वे अठारह नालापर पहुँचे । अठारह नालापर पहुँचकर आपने भक्तोंको खबर देनेके निमित्त बलभद्रभट्टाचार्यको भेजा और आप वहीं थोड़ी देरतक बैठकर रास्तेकी थकान मिटाने लगे ।
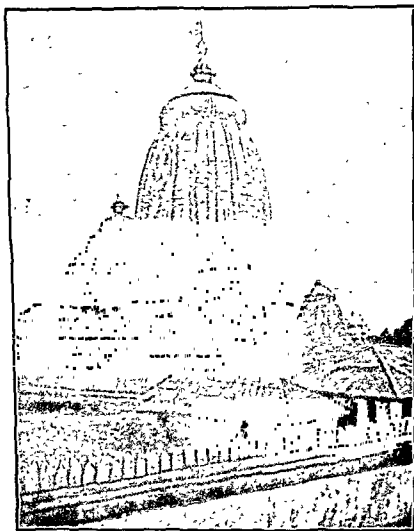
श्रीजगन्नाथजीका मन्दिर नील चक्र और ध्वजासहित

प्रभुका पुरीमें भक्तोंसे पुनर्मिलन

अद्यास्माकं सफलमभवज्जन्म नेत्रे कृतार्थे
सर्वस्तापः सपदि विरतो निर्वृतिं प्राप चेतः ।
किं वा भूमो बहुलमपरं पश्य जन्मान्तरं नो
वृन्दारण्यात् पुनरुपगतो नीलशैलं यतीन्द्रः ॥*

(श्रीचैतन्यचन्द्रो० ना०)

'संन्यासिचूडामणि श्रीचैतन्य वृन्दावनसे लौटकर पुनः नीलाचल आ गये हैं'---इस सुखद संवादके श्रवणमात्रसे ही गौरभक्तोंमें अपार आनन्द छा गया। वे परस्पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए एक दूसरेका आलिङ्गन करने लगे। कोई जल्दीसे दौड़कर कानोंमें अमृतका सिञ्चन करनेवाले इस प्रिय समाचारको दूसरेसे कहता, वह तीसरेके पास दौड़ा जाता। इसी प्रकार क्षणभरमें यह संवाद सम्पूर्ण जगन्नाथपुरीमें फैल गया।

महाप्रभु जब वृन्दावनको जा रहे थे, तभी सब भक्तोंने समझ लिया था कि प्रभुके ये अन्तिम दर्शन हैं। जो वृन्दावनका नाम सुनते ही मूर्च्छित हो जाते हैं, जिनकी दृष्टिमें वृन्दावनसे बढ़कर विश्वब्रह्माण्डमें कोई उत्तम स्थान ही नहीं है, वे वृन्दावन पहुँचकर फिर वहाँसे क्यों लौटने लगे ? अब तो प्रभु वृन्दावनवास करते हुए उस बाँकेबिहारीके साथ

---

* आज हमारा जन्म सफल हुआ, नेत्रोंका होना सार्थक हुआ, शरीरके सम्पूर्ण ताप इसी क्षण विलीन हो गये। हृदय आनन्दसे भर गया, मनके सभी सन्ताप मिट गये। अधिक क्या कहें, आज हमारा दूसरा जन्म ही हुआ है जो कि यतीन्द्र श्रीगौरप्रभु पुनः नीलाचलको लौट आये।

निरन्तर आनन्दविहारमें ही निमग्न रहेंगे, किन्तु जब भक्तोंने सुना, प्रभु वृन्दावनसे लौट आये हैं, तब तो उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही और सभी प्रेमोन्मत्त होकर संकीर्तन करते हुए एक स्थानपर एकत्रित होने लगे। सभी मिलकर प्रभुको लेने चले। सार्वभौम भट्टाचार्य और राय रामानन्दजी उन सभी भक्तोंके अग्रणी थे। उन्होंने दूरसे देखा, काषायाम्बर धारण किये हुए प्रभु श्रीहरिके मधुर नामोंका उच्चारण करते-करते मत्त गजेन्द्रकी भाँति आनन्दमें विभोर हुए श्रीमन्दिरकी ओर चले आ रहे हैं, तब तो सभीने भूमिमें लोटकर प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया। अपने पैरोंके नीचे पड़े हुए सभी भक्तोंको प्रभुने अपने कोमल करोंसे स्वयं उठाया और सभीको एक-एक करके छातीसे लगाया। आज चिरकालके अनन्तर प्रभुका प्रेमालिङ्गन प्राप्त करके सभीको परम प्रसन्नता हुई और सभी अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे।

भक्तोंको साथ लेकर प्रभु श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये गये। पुजारीने प्रभुको देखते ही उनके चरणोंमें प्रणाम किया और उन्हें जगन्नाथजीकी प्रसादी माला पहनायी तथा उनके सम्पूर्ण शरीरपर प्रसादी चन्दनका लेप किया। आज चिरकालमें जगन्नाथजीके दर्शन करके भक्त-चूडामणि श्रीगौराङ्ग प्रेममें विह्वल होकर जोरोंसे रुदन करने लगे। भक्तोंने मन्दिरके श्रीआँगनमें ही सङ्कीर्तन आरम्भ कर दिया। नर्तकोंके अग्रणी श्रीचैतन्यदेव दोनों हाथोंको ऊपर उठा-उठाकर नृत्य करने लगे। महाप्रभुके नृत्यको देखनेके लिये लोगोंकी अपार भीड़ वहाँ आकर एकत्रित हो गयी। सभी प्रभुके उद्दण्ड नृत्यको देखकर अपने आपेको भूल गये और भावावेशमें आकर सभी—

हरिहरये नमः कृष्णयादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

—कह-कहकर नृत्य करने लगे।

कुछ कालके अनन्तर प्रभुने सङ्कीर्तन बंद कर दिया और आप श्रीमन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हुए भक्तोंके सहित काशी मिश्रके घर अपने पूर्वके निवासस्थानपर आये। मिश्रजीने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया। इतनेमें ही परमानन्दपुरी भी प्रभुका आगमन सुनकर भीतरसे बाहर निकल आये। प्रभुने श्रद्धापूर्वक पुरीके चरणोंमें प्रणाम किया। पुरी महाराजने प्रभुका आलिङ्गन किया और वे उन्हें हाथ पकड़कर भीतर ले गये। सभीके बैठ जानेपर प्रभु अपनी यात्राका वृत्तान्त बताने लगे। व्रजमण्डलकी बातें करते करते उनका गला भर आया, नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी। तब सार्वभौमने प्रभुसे अपने यहाँ भिक्षा करनेकी प्रार्थना की।

प्रभुने कहा—'भट्टाचार्य महाशय! आज चिरकालमें तो मेरी भक्तोंसे भेंट हुई है, तिसपर भी मैं अकेला ही भिक्षा करूँ, यह मुझे अच्छा नहीं प्रतीत होता। आज तो मेरी इच्छा है कि अपने सभी भक्तोंके सहित यहीं भगवान्‌का प्रसाद पाऊँ।' इस बातसे भट्टाचार्यको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे काशी मिश्र, वाणीनाथ तथा और भी दो-चार भक्तोंको साथ लेकर महाप्रसाद लेने चले। सभी भक्तोंके खानेयोग्य बहुत बढ़िया-बढ़िया बहुत-सी प्रसादी वस्तुएँ भट्टाचार्यजीने वहाँ लाकर उपस्थित कर दीं। प्रभुने भक्तोंको साथ लेकर बड़े ही स्नेहके सहित भगवान्‌का प्रसाद पाया। प्रभुके पास प्रसाद पानेसे सभीको परम प्रसन्नता प्राप्त हुई, सभी अपने-अपने भाग्यकी प्रशंसा करने लगे। प्रसाद पाकर प्रभु विश्राम करने लगे और भक्त अपने-अपने घरोंको चले गये।

इधर स्वरूप गोस्वामीने दामोदर पण्डितके हाथों प्रभुके आगमनका सुखद संवाद नवद्वीपमें शची माता, विष्णुप्रिया तथा अन्यान्य सभी भक्तोंके

समीप पठाया। प्रभुके आगमनका संवाद सुनकर गौरभक्त आनन्दके सहित नृत्य करने लगे। वे जल्दी-जल्दी रथ-यात्राके समयकी प्रतीक्षा करने लगे। श्रीशिवानन्द सेन समाचार सुनते ही यात्राकी तैयारियाँ करने लगे। शान्तिपुराधीश श्रीअद्वैताचार्य अपने सभी भक्तोंके सहित नीलाचलके लिये तैयार हुए। श्रीनित्यानन्दजी अपने परिकरके साथ प्रभुदर्शनकी लालसासे पुरी पहुँचनेकी उत्सुकता प्रकट करने लगे। श्रीखण्ड, कुलियाग्राम, काञ्चनपाड़ा, कुमारहट्ट, शान्तिपुर तथा नवद्वीपके सैकड़ों भक्त प्रभुदर्शनोंकी लालसासे चले। सदाकी भाँति श्रीशिवानन्द सेनजीने ही सबकी यात्राका प्रबन्ध किया। सभी भक्त तथा भक्तोंकी स्त्रियाँ प्रभुके निमित्त भाँति-भाँतिके पदार्थ लेकर और विष्णुप्रिया तथा शची मातासे आज्ञा माँगकर प्रभुके दर्शनोंके निमित्त रथयात्राको उपलक्ष्य बनाकर पैदल ही पुरीकी ओर चल दिये। अबके शिवानन्दजीके साथ उनका कुत्ता भी चला। उन्होंने उसे बहुत रोका, किन्तु वह किसी प्रकार भी न रुका, तब तो सेन महाशय उसे भोजन कराते हुए साथ-ही-साथ ले चले। रास्तेमें घाटवालोंने कुत्तेको पार उतारनेमें कई जगह आपत्ति भी की, किन्तु सेन महाशय प्रचुर द्रव्य देकर उसे जिस किसी भाँति पार करा ही ले गये। एक दिन उन्हें घाटवालोंसे उतराईका हिसाब करते-करते बहुत देर हो गयी। उनके नौकर कुत्तेको भात देना भूल ही गये। इससे कुत्ता क्रुद्ध होकर और इन सबका साथ छोड़कर न जाने किधर चला गया। जब शिवानन्दजीने कुत्तेकी खोज करायी तो उसका कहीं भी पता नहीं चला, इससे उन्हें अपार दुःख हुआ।

दूसरे दिन सभी भक्त प्रभुके समीप पहुँचे। भक्तोंने देखा कि वही कुत्ता प्रभुके समीप बैठा है और प्रभु उसे अपने हाथसे खीर खिला रहे हैं और हँसते-हँसते उससे कह रहे हैं।

कृष्ण कहो, राम कहो, हरि भजो बावरे।
हरिके भजन बिनु खाओगे क्या पामरे॥

प्रभुकी मधुर वाणीको सुनकर कुत्ता प्रेमपूर्वक पूँछ हिलाता हुआ अपनी भाषामें राम, कृष्ण, हरि आदि भगवान्के सुमधुर नामोंका कीर्तन कर रहा था। शिवानन्द सेन उस कुत्तेको प्रभुके पास बैठा देखकर परम आश्चर्य करने लगे। यह कुत्ता पहले कभी जगन्नाथपुरीमें नहीं आया था और न उसने प्रभुका निवासस्थान देखा था, फिर यह अकेला ही यहाँ कैसे आ गया? सेन महाशय समझ गये कि यह कोई पूर्वजन्मका सिद्ध है, किसी कारणवश इसे कुत्तेकी योनि प्राप्त हो गयी है। तभी तो प्रभु इसे इतना अधिक प्यार कर रहे हैं, यह सोचकर उन्होंने कुत्तेको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। कुत्ता पूँछ हिलाता हुआ वहाँसे कहीं अन्यत्र चला गया। इसके अनन्तर फिर किसीने उस कुत्तेको नहीं देखा।

महाप्रभु सभी भक्तोंसे मिले। भक्तोंकी पत्नियोंने प्रभुको दूरसे ही प्रणाम किया। प्रभु स्त्रियोंकी ओर न तो कभी देखते थे, न उनका स्पर्श करते थे और न स्त्रियोंके सम्बन्धकी बातें ही सुनते थे। स्त्रियोंका प्रसङ्ग छिड़ते ही प्रभु अत्यन्त ही सङ्कुचित हो जाते और उस प्रसङ्गको जल्दी-से-जल्दी समाप्त कर देते।

नवद्वीपमें प्रभुके घरके समीप परमेश्वर नामका एक भक्त रहता था। वह लड्डू बेचकर अपने परिवारका निर्वाह करता था। बाल्यकालसे ही वह प्रभुके प्रति अत्यन्त ही स्नेह रखता था। जब महाप्रभु बहुत ही छोटे थे, तभी परमेश्वर उन्हें गोदमें बिठाकर उनसे 'हरि' 'हरि' बुलवाया करता था और खानेके लिये रोज लड्डू देता था। प्रभु भी उससे बहुत स्नेह करते थे। अब वह बूढ़ा हो गया था, अबके वह भी अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके सहित प्रभुके दर्शनोंको आया था। प्रभुके पास भीतर

स्त्रियाँ नहीं जाती थीं, वे दूरसे ही प्रभुका दर्शन करती थीं। भक्त परमेश्वरको इस बातका क्या पता था। उसने अपने काँपते हुए हाथोंसे भूमिमें लोटकर प्रभुको प्रणाम किया और प्रेमके साथ कहने लगा—'प्रभो! अपने परमेश्वरको तो भूल ही गये होंगे। मुझे अब शायद न पहचान सकेंगे।'

प्रभुने उसका आलिङ्गन करते हुए अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—'परमेश्वर! भला, तुम्हें मैं कभी भूल सकता हूँ? तुम्हारे लड्डू तो अभीतक मेरे गलेमें ही अटके हुए हैं, वे नीचे भी नहीं उतरे! तुम मुझे पुत्रकी तरह प्यार करते थे।'

परमेश्वरने बड़े ही उल्लासके साथ कहा—'प्रभो! आपका पुत्र, पुत्रवधू तथा घरसे सभी आपके दर्शनोंके लिये आये हैं। वे सभी आपके दर्शनोंको उत्सुक हैं।' यह कहकर भक्तने सभीसे प्रभुके पाद स्पर्श कराये। भक्तवत्सल प्रभु सङ्कोचके कारण कुछ भी न कह सके। वे लज्जित भावसे नीचा सिर किये हुए चुपचाप बैठे रहे। परमेश्वरके चले जानेपर भक्तोंने उसे समझाया कि प्रभुके समीप सपरिवार नहीं जाया जाता। बेचारा सरल भक्त इस बातको क्या समझे। उसकी समझमें कुछ भी नहीं आया। तब भक्तोंने उसे समझा दिया। इस प्रकार सभी भक्त प्रभुके समीप रहकर पूर्वकी भाँति सत्सङ्गके सुखका अनुभव करने लगे। भक्तोंकी पत्नियाँ बारी-बारीसे रोज प्रभुका निमन्त्रण करतीं और उन्हें अपने निवासस्थानपर बुलाकर भिक्षा करातीं।

इधर प्रभुके दर्शनोंकी लालसासे श्रीरूपजी अपने भाई अनूपके सहित गौड़ देश होते हुए पुरीको आने लगे। रास्तेमें अनूपजीको ज्वर आ गया, दैवकी गति, ज्वर-ही-ज्वरमें वे इस नश्वर शरीरको परित्याग करके परलोकवासी बन गये। श्रीरूपने अत्यन्त ही दुःखके साथ अपने कनिष्ठ भाईका शरीर गङ्गाजीके पावन प्रवाहमें प्रवाहित कर दिया और

वे संसारकी अनित्यताका विचार करते हुए पुरीमें आये । श्रीवृन्दावनमें ही उन्होंने श्रीकृष्णलीलाविषयक एक नाटक लिखना आरम्भ कर दिया था । रास्तेमें वे नाटकके विषयको सोचते जाते थे और रात्रिको जहाँ ठहरते थे, वहीं उस सोचे हुए विषयको लिख लेते थे । उनकी इच्छा थी कि एक ही नाटकको दो भागोंमें विभक्त करेंगे, पूर्व भागमें तो श्रीकृष्णकी वृन्दावन-लीलाओंका वर्णन करके दूसरेमें द्वारकाकी लीलाओंका वर्णन करेंगे । इसी विचारसे वे श्रीकृष्णकी सभी लीलाओंको सम्मिलितरूपसे ही लिख रहे थे । रास्तेमें चलते-चलते जब वे उड़िया देशमें 'सत्यभामापुर' नामक ग्राममें आये, तो वहाँ स्वप्नमें श्रीसत्यभामाजीने प्रत्यक्ष होकर इन्हें आदेश दिया कि 'तुम हमारी लीलाओंका पृथक् ही वर्णन करो । व्रजकी लीलाओंके साथ हमारा वर्णन मत करो ।' श्रीसत्यभामाजीका आदेश पाकर आपने उसी समय द्वारकाकी लीलाओंका पृथक् वर्णन करनेका निश्चय किया और उसका वर्णन उन्होंने 'ललितमाधव' नामक नाटकमें किया । उसी समय 'विदग्धमाधव और ललितमाधव' इन दोनों नामोंकी उत्पत्ति हुई ।

नीलाचलमें पहुँचकर ये प्रभुके समीप नहीं गये । ये दोनों ही भाई नम्रताकी तो सजीव मूर्ति ही थे, यवनोंके संसर्गमें रहनेके कारण ये अपनेको अत्यन्त ही नीच समझते थे और यहाँतक कि मन्दिरमें घुसकर दर्शन भी नहीं करते थे, दूरसे ही जगन्नाथजीकी ध्वजाको प्रणाम कर लेते थे । इसीलिये रूपजी महात्मा हरिदासजीके स्थानपर जाकर ठहरे । हरिदासजी तो जातिके यवन थे, किन्तु गौरभक्त उनका चतुर्वेदी ब्राह्मणोंसे भी अधिक सम्मान करते थे, वे भी जगन्नाथजीके मन्दिरमें प्रवेश नहीं करते थे । । यहाँतक कि जिस रास्तेसे मन्दिरके पुजारी और सेवक जाते थे, उस रास्तेसे भी कभी नहीं निकलते थे । प्रभु नित्यप्रति समुद्रस्नान करके हरिदासजीके स्थानपर आते थे । दूसरे दिन जब प्रभु

नित्यकी भाँति हरिदासजीके आश्रमपर आये, तब श्रीरूपजीने भूमिपर लोटकर प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभुकी दृष्टि ऊपरकी ओर थी। हरिदासजीने धीरेसे कहा—'प्रभो! रूपजी प्रणाम कर रहे हैं।'

रूपका नाम सुनते ही चौंककर प्रभुने कहा—'हैं! क्या कहा? रूप आये हैं क्या?' यह कहते-कहते प्रभुने उनका आलिङ्गन किया और उन्हें यहीं रहनेकी आज्ञा दी। इसके अनन्तर प्रभुने सभी गौड़ीय तथा पुरीके भक्तोंके साथ श्रीरूपजीका परिचय करा दिया। श्रीरामानन्द राय और सार्वभौम महाशय दोनों ही कवि थे। रूपजीका परिचय पाकर वे दोनों ही परम सन्तुष्ट हुए और प्रभुसे इनकी कविता सुननेके लिये प्रार्थना करने लगे।

एक दिन प्रभु राय रामानन्दजी, सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप दामोदर तथा अन्यान्य भक्तोंको साथ लेकर हरिदासजीके निवासस्थान-पर श्रीरूपजीके नाटकोंको सुननेके लिये आये। सबके बैठ जानेपर प्रभुने रूपजीसे कहा—'रूप! तुम अपने नाटकोंको इन लोगोंको सुनाओ। ये सभी काव्यमर्मज्ञ, रसज्ञ और कवि हैं।'

इतना सुनते ही रूपजी लज्जाके कारण पृथ्वीकी ओर ताकने लगे। उनके मुखसे एक भी शब्द नहीं निकला। तब प्रभुने बड़े ही स्नेहके साथ कहा—'वाह जी, यह अच्छी रही! हम यहाँ तुम्हारी कविता सुनने आये हैं, तुम शरमाते हो!! शरमकी कौन-सी बात है? कविताका तो फल ही यह है कि वह रसिकोंके सामने सुनायी जाय। हाँ, सुनाओ, सङ्कोच मत करो। देखो, ये राय बड़े भारी रसमर्मज्ञ हैं। इन्हे तो हम पकड़ लाये हैं।'

रायने कहा—'हाँ जी, सुनाइये। इस प्रकार शरमानेसे काम न चलेगा। पहले तो अपने नाटकका नाम बताइये, फिर विषय बताइये, तब उसके कहीं-कहींके स्थलोंको पढ़कर सुनाइये।' इसपर भी रूप चुप ही रहे।

तब प्रभु स्वयं कहने लगे—'इन्होंने 'ललितमाधव' और 'विदग्धमाधव'—ये दो नाटक लिखे हैं। 'विदग्धमाधव' में तो भगवान्‌की व्रजकी लीलाओंका वर्णन है और 'ललितमाधव' में द्वारकापुरीकी लीलाओंका। इनसे ही सुनिये। इन्होंने रथके सम्मुख नृत्य करते समय जो मेरे भावोंको समझकर श्लोक बनाया था, उसे तो मैंने आपलोगोंको सुना ही दिया, अब इनके नाटक-मेंसे कुछ सुनिये।'

रायने कुछ प्रेमपूर्वक भर्त्सनाके स्वरमें कहा—'क्यों जी, सुनाते क्यों नहीं! देखो प्रभु भी कह रहे हैं। प्रभुकी आज्ञा नहीं मानते? हाँ, पहले विदग्धमाधवका मङ्गलाचरण सुनाइये।' नान्दीके मुखसे भगवान्‌की वन्दनामें जो प्रारम्भमें श्लोक कहा गया है उसे ही सुनाइये। इतना सुनते ही लजाते हुए श्रीरूपजी धीरे-धीरे 'विदग्धमाधव' का मङ्गलाचरण पढ़ने लगे—

सुधानां चान्द्रीनामपि मधुरिमोन्माददमनी
दधाना राधादिप्रणयघनसारैः सुरभिताम्।
समन्तात् सन्तापोद्गमविषमसंसारसरणी-
प्रणीतां ते तृष्णां हरतु हरिलीलाशिखरिणी ॥*

(विदग्धमाधव ना० १ । १)

---

* जो चन्द्रमामें उत्पन्न हुए अमृतकी मधुरिमाके मदको चूर्ण करनेवाली है अर्थात् चन्द्रामृतसे भी मीठी है, और श्रीराधादि व्रजाङ्गनाओंके प्रणयरूपी कर्पूरद्वारा विशेषरूपसे सुगन्धित बनी हुई है, वह हरि-लीला-रूपिणी शिखरिणी (श्रीखण्ड) सन्तापको उत्पन्न करनेवाले विषम संसारमार्गमें भ्रमण करनेसे उत्पन्न हुई तृष्णाको सब ओरसे मिटा दे (दही, मीठा, कर्पूर, इलायची, केशर आदि डालकर श्रीखण्ड बनाते हैं। यहाँ प्रेम, प्रेमयुक्त लीला, हाव-भाव, कटाक्ष और व्रजाङ्गनाओंके प्रबल प्रणय आदिको मिलाकर हरिलीलारूपी श्रीखण्ड तैयार किया गया है)।

श्लोकको सुनते ही सभी एक स्वरमें 'वाह ! वाह !!' करने लगे। श्रीरूपजीका लज्जाके कारण मुख लाल पड़ गया, वे नीचेकी ओर देख रहे थे। इसपर रायने कहा—'रूपजी ! आप तो बहुत ही अधिक सङ्कोच करते हैं। इसीलिये, लीजिये मैं आपके काव्यकी प्रशंसा ही नहीं करता। अच्छा, तो यह तो भगवान्‌की वन्दना हुई। अब भगवत्-स्वरूप जो गुरुदेव हैं, जो कि प्राणियोंके एकमात्र भजनीय और इष्ट हैं, भगवत्-वन्दनाके अनन्तर उनकी वन्दनामें जो कुछ कहा हो, उसे और सुनाइये।'

यह सुनकर श्रीरूपजी और भी अधिक सिकुड़ गये। महाप्रभुके सम्मुख उन्हींके सम्बन्धका श्लोक पढ़नेमें उन्हें बड़ी घबड़ाहट सी होने लगी। किन्तु, फिर भी राय महाशयके आग्रहसे रुक-रुककर वे लजाते हुए पढ़ने लगे—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ॥*

(विदग्धमाधव ना० १ । २)

इसे सुनते ही प्रभु कहने लगे—'भगवान् जाने इन कवियोंको राजा लोग दण्ड क्यों नहीं देते। किसीकी प्रशंसा करने लगते हैं, तो

* अपनी उत्कृष्ट एवं उज्ज्वल रसमयी भक्तिसम्पदाको, जो बहुत दिनोंसे किसीको अर्पित नहीं की गयी है, बाँटनेके लिये ही जिन्होंने दयावश कलियुगमें अवतार धारण किया है, वे सुवर्णके समान सुन्दर कान्तिसे देदीप्यमान शचीनन्दन (श्रीगौराङ्ग) तुम्हारे हृदयमें स्फूर्ति लाभ करें।

आकाश-पाताल एक कर देते हैं। इनसे बढ़कर झूठा और कौन होगा ? इस श्लोकमें तो अतिशयोक्तिकी हद कर डाली है।'

रायने कहा—'प्रभो ! इसे तो हम ही समझ सकते हैं, यथार्थ वर्णन तो इसी श्लोकमें किया गया है। ऐसे स्वाभाविक गुणपूर्ण श्लोककी रचना सभी कवि नहीं कर सकते।' इतना कहकर रायने 'विदग्धमाधव' के अन्य भी बहुत-से स्थलोंको सुना और सुनकर उनके काव्यकी हृदयसे भूरि-भूरि प्रशंसा की। 'विदग्धमाधव' को सुन लेनेपर राय रामानन्दजी कहने लगे—'अपने दूसरे नाटक 'ललितमाधव' की माधुरीकी बानगी भी इन सभी उपस्थित भक्तोंको चखा दीजिये। हाँ, उसका भी पहले मङ्गलाचरणका श्लोक सुनाइये।'

यह सुनकर श्रीरूपजी फिर उसी लहजेके साथ श्लोक पढ़ने लगे—

सुररिपुसुदृशामुरोजकोकान्
मुखकमलानि च खेदयन्नखण्डः।
चिरमखिलसुहृच्चकोरनन्दी
दिशतु मुकुन्दयशःशशी मुदं वः॥*
(ललितमा० ना० १।१)

धन्य है, धन्य है और साधु-साधुकी ध्वनि समाप्त होनेपर राय महाशयने कहा—'श्रीभगवान्‌की स्तुतिके अनन्तर इष्टस्वरूप श्रीगुरुदेव-

* असुरोंकी स्त्रियोंके स्तनरूप चकवाओंको और मुखरूपी कमल-समूहोंको जो शोकग्रस्त बनाते हैं और अपने चकोरवृन्दके समान समस्त सुहृद्वर्गको (अपनी सुन्दर शीतल किरणोंसे) सुखी बनाते हैं वे ही श्रीमुकुन्दके यशरूपी पूर्ण चन्द्र तुम्हें चिरकालतक प्रसन्नता प्रदान करें।

की स्तुतिमें जो श्लोक हो उसे भी सुनाइये। उसके श्रवणसे यहाँ सभी उपस्थित भक्तोंको अत्यन्त ही आह्लाद होगा। हाँ, सुनाइये।'

प्रभुकी ओर न देखते हुए धीरे-धीरे श्रीरूपजी पढ़ने लगे—

निजप्रणयितां सुधामुदयमाप्नुवन् यः क्षितौ
किरत्यलमुरीकृतद्विजकुलाधिराजस्थितिः ।
स लुञ्चिततमस्ततिर्मम शचीसुताख्यः शशी
वशीकृतजगन्मनाः किमपि शर्म विन्यस्यतु ॥*

(ललितमा० १।२)

इस श्लोकको सुनते ही प्रभु कुछ बनावटी क्रोधके स्वरमें कहने लगे—'रूपने और सम्पूर्ण काव्य तो बहुत ही सुन्दर बनाया। इनका एक-एक श्लोक अमूल्य रत्नके समान है, किन्तु जाने क्या समझकर इन्होंने ये दो-एक अतिशयोक्तिपूर्ण श्लोक मणियोंमें काँचके टुकड़ोंके समान मिला दिये हैं!'

इसपर भक्तोंने एक स्वरसे कहा—'हमें तो यही श्लोक सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुआ है।' बातको यहीं समाप्त करनेके लिये राय महाशयने कहा—'अच्छा, छोड़िये इस प्रसंगको। आगे काव्यकी मधुरिमाका पान कीजिये। हाँ, रूपजी! इस नाटकके भी भावपूर्ण अच्छे अच्छे स्थल पढ़कर सुनाइये।'

---

* जो अवनिपर उदित होकर द्विजराजकी स्थितिमें रहते हुए निज प्रणयरूपी रसामृतको वितीर्ण कर रहे हैं और अज्ञानरूपी अन्धकारसमूहको दूर करते हैं, वे ही सम्पूर्ण जगत्‌के मनको वशमें करनेवाले 'शचीनन्दन' नामके चन्द्रमा हमारा कल्याण करें—हमारे लिये मङ्गल विधान करें।

इतना सुनते ही श्रीरूपजी नाटकके अन्यान्य स्थलोंको बड़े स्वरके साथ सुनाने लगे। सभी रसमर्मज्ञ भक्त उनके भक्तिभावपूर्ण काव्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। अन्तमें प्रभु रूपजीका प्रेमसे आलिङ्गन करके भक्तोंको साथ लेकर अपने स्थानपर चले गये।

इस प्रकार भक्तोंके साथ रथयात्रा और चातुर्मासके सभी त्यौहारों तथा पर्वोंको पहलेकी भाँति धूमधामसे मनाकर, क्वारके दशहरेके बाद भक्तोंको गौड़के लिये विदा किया। नित्यानन्दजीसे प्रभुने प्रतिवर्ष पुरी न आनेका पुनः आग्रह किया, किन्तु उन्होंने प्रभु-प्रेमके कारण इसे स्वीकार नहीं किया। सभी भक्त गौड़ देशको लौट गये। श्रीरूप कुछ दिनों प्रभुके पास और रहे। अन्तमें कुछ समयके पश्चात् प्रभुने उन्हें वृन्दावनमें ही जाकर निवास करनेकी आज्ञा दी। प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके ये गौड़ देश होते हुए वृन्दावन जानेके लिये उद्यत हुए। यही इनकी प्रभुसे अन्तिम भेंट थी। यहाँसे जाकर ये अन्तिम समयतक श्रीवृन्दावनकी पवित्र भूमिमें ही श्रीकृष्णकीर्तन करते हुए निवास करते रहे। ब्रजकी परम पावन भूमिको छोड़कर ये एक रात्रिके लिये भी ब्रजसे बाहर नहीं गये। प्रभुने जाते समय इनका प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया और भक्तिविषयक ग्रन्थोंके प्रणयनकी आज्ञा प्रदान की। इन्होंने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीकृष्णके गुणगानमें ही अपना सम्पूर्ण समय बिताया। गौड़में इनकी कुछ धन-सम्पत्ति थी, उसका परिवारवालोंमें यथारीति विभाग करनेके निमित्त इन्हें गौड़ भी जाना था, इसलिये ये प्रभुसे विदा होकर गौड़ देशको ही गये और वहाँ इन्हें लगभग एक वर्ष धन-सम्पत्तिकी व्यवस्था करनेके निमित्त ठहरना पड़ा।

देखते ही खिल उठे और इनकी यथायोग्य अभ्यर्चना की । सनातन प्रभुके दर्शनोंके लिये बड़े उत्सुक हो रहे थे, किन्तु मन्दिरके समीप न जानेके लिये विवश थे, तब हरिदासजीने इन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—'आप घबड़ाइये नहीं, प्रभु यहाँ नित्यप्रति आते हैं, वे अभी आते ही होंगे।' इतनेमें ही दोनोंने श्रीहरिके मधुर नामोंका संकीर्तन करते हुए प्रभुको दूरसे आते हुए देखा । प्रभुको देखते ही एक ओर हटकर श्रीसनातनजी भूमिपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे । हरिदासजीने कहा—'प्रभो ! सनातन साष्टाङ्ग कर रहे हैं ।' 'सनातन यहाँ कहाँ ?' इतना कहते हुए प्रभु जल्दीसे सनातनका आलिङ्गन करनेके लिये दौड़े । प्रभुको अपनी ओर आते देखकर सनातनजी जल्दीसे उठकर एक ओर दौड़े और कातर स्वरसे कहते जाते थे—'प्रभो ! मैं नीच एक तो वैसे ही अधम, नीच और यवन-संसर्गी था, तिसपर भी मेरे सम्पूर्ण शरीरमें खाज हो रही है । आप मेरा स्पर्श न करें ।' किन्तु प्रभु कब सुननेवाले थे । जल्दीसे दौड़कर उन्होंने बलपूर्वक सनातनजीको पकड़ लिया और उनका गाढ़ालिङ्गन करते हुए वे कहने लगे—'आज हम कृतार्थ हो गये । सनातनके शरीरकी सुन्दर सुगन्धिको सूँघकर हमारे लोक-परलोक दोनों ही सुधर गये ।' सचमुच प्रभुने सनातनजीके दिव्य शरीरमेंकी खाजमें से एक प्रकारकी दिव्य सुगन्धिका अनुभव किया । सनातनजी सङ्कोचके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये । महाप्रभुकी अपार अनुकम्पाके भारसे दबे हुए वे विवश होकर पृथ्वीकी ओर देखने लगे । महाप्रभुकी अहैतुकी कृपाके स्मरणसे उनका हृदय पिघल रहा था और वह पानी बन-बनकर आँखोंके द्वारा निकलकर प्रभुके काषाय रंगवाले वस्त्रोंको भिगो रहा था ।

थोड़ी देरके अनन्तर प्रभु वहीं एक आसनपर बैठ गये । नीचा सिर किये हुए भूमिपर सनातनजी और हरिदासजी बैठ गये । प्रभु धीरे-धीरे रूपके आनेका और उनके मिलने आदिका सभी वृत्तान्त

नीलाचलमें श्रीसनातनजी

वृन्दावनात् पुनः प्राप्तं श्रीगौरः श्रीसनातनम् ।
देहपाताद्वन् स्नेहाच्छुद्धं चक्रे परीक्षया ॥*

(श्रीचैतन्य चरि० अ० ली० ४ । १)

श्रीरूप तो सम्पत्तिकी व्यवस्था करनेके निमित्त गौड़ देशमें ठहरे हुए हैं, अब इनके भाई श्रीसनातनजीका समाचार सुनिये। सनातनजीने 'मथुरामाहात्म्य' हस्तगत करके उसीके अनुसार व्रजमण्डलके समस्त तीर्थोंकी यात्रा की। यात्राके अनन्तर उन्हें अपने भाईसे भेंट करने तथा प्रभुके दर्शनोंकी इच्छा हुई। अपने भाइयोंका समाचार जाननेके लिये वे व्रजसे नीलाचलकी ओर चल पड़े। गौड़ तो उन्हें जाना ही नहीं था, क्योंकि ये जेलरको इस बातका वचन दे आये थे। अतः प्रयागसे काशी होते हुए झाड़ीखण्डके विकट रास्तेसे ये पुरीकी ही ओर चले। इन्होंने सब लोगोंके जानेवाले राजमार्गसे यात्रा करना उचित नहीं समझा, इसीलिये ये जंगलके कण्टकाकीर्ण भयङ्कर पथके ही पथिक बने। रास्तेमें जंगलकी झाड़ियोंकी विषैली वायु लगनेसे इनके सम्पूर्ण अङ्गमें भयङ्कर खुजली हो गयी। खुजली पक भी गयी और उससे पीब बहने लगा। जैसे-तैसे ये पुरीमें पहुँचे। पुरीमें ये कहाँ ठहरें ? पहले कभी आये नहीं थे। इतना इन्होंने सुन रक्खा था कि प्रभु कहीं मन्दिरके ही समीपमें रहते हैं, किन्तु यवनोंके संसर्गी होनेके कारण ये अपनेको मन्दिरके समीप जानेका अधिकारी ही नहीं समझते थे, इसलिये ये महात्मा हरिदासजीका स्थान पूछते-पूछते वहाँ पहुँचे। हरिदासजी इन्हें

---

* श्रीवृन्दावनसे लौटे हुए श्रीसनातनको महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवने श्रीजगन्नाथजीके रथके चक्रके नीचे दबकर मरनेके विचारसे हटाकर और कठिन परीक्षा करके शुद्ध बना दिया।

देखते ही खिल उठे और इनकी यथायोग्य अभ्यर्चना की। सनातन प्रभुके दर्शनोंके लिये बड़े उत्सुक हो रहे थे, किन्तु मन्दिरके समीप न जानेके लिये विवश थे, तब हरिदासजीने इन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—'आप घबड़ाइये नहीं, प्रभु यहाँ नित्यप्रति आते हैं, वे अभी आते ही होंगे।' इतनेमें ही दोनोंने श्रीहरिके मधुर नामोंका संकीर्तन करते हुए प्रभुको दूरसे आते हुए देखा। प्रभुको देखते ही एक ओर हटकर श्रीसनातनजी भूमिपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे। हरिदासजीने कहा—'प्रभो! सनातन साष्टाङ्ग कर रहे हैं।' 'सनातन यहाँ कहाँ?' इतना कहते हुए प्रभु जल्दीसे सनातनका आलिङ्गन करनेके लिये दौड़े। प्रभुको अपनी ओर आते देखकर सनातनजी जल्दीसे उठकर एक ओर दौड़े और कातर स्वरसे कहते जाते थे—'प्रभो! मैं नीच एक तो वैसे ही अधम, नीच और यवन-संसर्गी था, तिसपर भी मेरे सम्पूर्ण शरीरमें खाज हो रही है। आप मेरा स्पर्श न करें।' किन्तु प्रभु कब सुननेवाले थे। जल्दीसे दौड़कर उन्होंने बलपूर्वक सनातनजीको पकड़ लिया और उनका गाढ़ालिङ्गन करते हुए वे कहने लगे—'आज हम कृतार्थ हो गये। सनातनके शरीरकी सुन्दर सुगन्धिको सूँघकर हमारे लोक-परलोक दोनों ही सुधर गये।' सचमुच प्रभुने सनातनजीके दिव्य शरीरमेंकी खाजमेंसे एक प्रकारकी दिव्य सुगन्धिका अनुभव किया। सनातनजी सङ्कोचके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। महाप्रभुकी अपार अनुकम्पाके भारसे दबे हुए वे विवश होकर पृथ्वीकी ओर देखने लगे। महाप्रभुकी अहैतुकी कृपाके स्मरणसे उनका हृदय पिघल रहा था और वह पानी बन-बनकर आँखोंके द्वारा निकलकर प्रभुके काषाय रंगवाले वस्त्रोंको भिगो रहा था।

थोड़ी देरके अनन्तर प्रभु वहीं एक आसनपर बैठ गये। नीचे सिर किये हुए भूमिपर सनातनजी और हरिदासजी बैठ गये। प्रभुने धीरे-धीरे रूपके आनेका और उनके मिलने आदिका सभी वृत्तान्त सुना

दिया । इसी प्रसंगमें प्रभुने श्रीअनूपके परलोकगमनका समाचार भी सुना दिया । भाईके वैकुण्ठवासका समाचार सुनकर वीतराग महात्मा सनातनजीका भी हृदय उमड़ आया । वे अपने अश्रुओंके प्रभावको रोक नहीं सके । प्रभुके कमलमुखपर भी कुछ विषण्णताके भाव प्रतीत होने लगे । प्रभुने धीरे-धीरे भर्राई हुई आवाजसे कहा—'सनातन ! तुम्हारे भाईने सद्गति पायी । वे परमभागवत पुरुषोंके लोकमें परमानन्द-सुखका अनुभव करते होंगे, उनसे बढ़कर सौभाग्यशाली हो ही कौन सकता है जिन्होंने देहत्यागके पूर्व अपना घरबार त्याग दिया, व्रजमण्डलके सभी तीर्थोंकी यथाविधि यात्रा की और अन्तिम समयमें अपने परमभागवत गुरुस्वरूप ज्येष्ठ भ्राता श्रीरूपजीकी गोदमें सिर रखकर भगवती भागीरथीके रम्य तटपर इस नश्वर शरीरको त्याग दिया और वैकुण्ठवासी बन गये, उन महाभागके निमित्त तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये । ऐसी मृत्युके लिये तो इन्द्रादि देवता भी तरसते हैं ।'

रुँधे हुए कण्ठसे आँसू पोंछते हुए श्रीसनातनजीने कहा—'प्रभो ! मैं उन महाभागके शरीरके लिये रुदन नहीं कर रहा हूँ । वे तो नित्य हैं, शाश्वत धाममें जाकर अपने इष्टदेव श्रीसीतारामजीके चरणाश्रित बन गये होंगे, किन्तु मुझे इसी बातका सोच रहा कि अन्तिम समय मैं उनके दर्शन नहीं कर सका । मैं अभागा उनके निधनकालके दर्शनोंसे वञ्चित ही रहा ।'

प्रभुने करुण स्वरमें कहा—'रूप कहते थे, उनकी निष्ठा अलौकिक थी, अन्तिम समयमें उन्होंने श्रीसीतारामजीका ध्यान और स्मरण करते हुए प्रसन्नतापूर्वक ही शरीरत्याग किया ।'

सनातनजीने पश्चात्तापके स्वरमें कहा—'प्रभो ! मैं उनकी निष्ठा आपके सम्मुख क्या बताऊँ । कहनेको तो वे हमारे छोटे भाई थे, किन्तु

निष्ठामें वे हम दोनोंसे बढ़कर थे। उनकी-जैसी निष्ठा मैंने आजतक किसीमें भी नहीं देखी। हमारी तो निष्ठा ही क्या, उनके सामने हमारी निष्ठा तो नहींके ही समान है। वे सदा हमारे साथ रहते और तीनों ही मिलकर श्रीमद्भागवतकी कथा सुना करते। उनके इष्टदेव श्रीसीतारामजी थे। हम दोनोंने एक दिन परीक्षाके निमित्त उनसे कहा—'अनूप! तुम स्वयं समझदार हो, श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाओंकी अपेक्षा श्रीकृष्णचन्द्रजीकी लीलाओंमें अधिक माधुर्य है, इसलिये तुम श्रीकृष्णको ही अपना उपास्यदेव क्यों नहीं बना लेते? इससे तीनों ही भाई श्रीकृष्णोपासक होकर साथ-ही-साथ उपासना-भजन और कथा-कीर्तन किया करेंगे।' वे हम दोनोंका अत्यधिक आदर करते थे, हमारी बातको उन्होंने कभी नहीं टाला। हमारे ऐसे कथनको उन्होंने स्वीकार कर लिया और कहा—'आप दोनों भाई ही मेरे गुरु, माता, पिता तथा शिक्षक हैं। आप जैसा कहेंगे वैसा ही करूँगा। कल मुझे कृष्णमन्त्रकी ही दीक्षा दे देना।' इतना कहकर वे सोने चले गये। हमने देखा, वे रात्रिभर हाय-हाय करते रहे, एक क्षणको भी नहीं सोये। प्रातःकाल उन्होंने आकर हमसे कहा—'भाइयो! मैं क्या करूँ, यह सिर तो मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें चढ़ा चुका। रात्रिको मैंने बहुत चेष्टा की कि उस चढ़ाये हुए सिरको फिरसे लौटा लूँ, किन्तु मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। मैं इस शरीरको प्रसन्नतापूर्वक त्याग सकता हूँ, किन्तु मुझसे श्रीसीतारामजीकी उपासना न छोड़ी जायगी।' उनकी ऐसी ऐकान्तिक निष्ठाको देखकर हमें परम आश्चर्य हुआ और अपनी निष्ठाको बार-बार धिक्कारने लगे। सो, प्रभो! वे मेरे भाई सचमुच ही अनूप थे, उनकी उपमा किसीसे दी ही नहीं जा सकती।'

प्रभुने कहा—'यथार्थ निष्ठा तो इसीका नाम है। ठीक इसी प्रकार मैंने श्रीरामोपासक मुरारी गुप्तसे भी यही बात कही थी और उन्होंने भी यही उत्तर दिया था। सेव्य-सेवकका भाव इसी प्रकार ऐकान्तिक और दृढ़

होना चाहिये, जो किसी प्रकारके भी प्रलोभन आनेपर हिल न सके। तभी प्रभुप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है।' इस प्रकार प्रभु बहुत देरतक श्रीसनातनजीसे बातें करते रहे। अन्तमें उन्हें वहीं हरिदासजीके ही समीप रहनेका आदेश देकर आप अपने स्थानके लिये चले गये और गोविन्दके हाथों दोनोंके ही लिये श्रीजगन्नाथजीका महाप्रसाद भिजवाया। इस प्रकार सनातनजी पुरीमें ही हरिदासजीके समीप रहने लगे। प्रभु नियमितरूपसे इन दोनोंको देखनेके लिये आया करते थे।

श्रीसनातनजी लगभग चैत्रमासमें पुरी पधारे थे। वे भीतर मन्दिरमें दर्शनोंके लिये न जाकर दूरसे ही मन्दिरकी पताकाको प्रणाम कर लेते थे। शरीरका भोग अच्छे-अच्छे महापुरुषोंको भी भोगना पड़ता है, सनातनजीकी भयङ्कर खाज अभी अच्छी नहीं हुई। खुजाते-खुजाते उनके सम्पूर्ण शरीरमें बड़े-बड़े घाव हो गये और उनमेंसे निरन्तर पीव बहता रहता था।

ज्येष्ठका महीना था। प्रभु पुरीसे चार-पाँच मीलकी दूरीपर यमेश्वर टोटामें गये हुए थे। बारह बजे उन्होंने सनातनको भी भिक्षाके लिये वहीं बुलाया। यमेश्वर जानेके लिये दो मार्ग थे—एक तो सिंहद्वार होकर सीधे सड़क-सड़क जाना होता है, दूसरे समुद्रके किनारे-किनारे भी यमेश्वर जा सकते हैं। ज्येष्ठकी प्रखर धूपके कारण समुद्र-किनारेकी बालू जल रही थी। यदि उसमें कचा चना डाल दिया जाय तो क्षणभरमें भुनकर खिल जाय। उस बालूमें मनुष्यकी तो बात ही क्या, बारह बजे पशु भी जानेमें हिचकता है, किन्तु जब सनातनजीने सुना कि प्रभुने मुझे बुलाया है, तब तो वे अपने भाग्यकी सराहना करते हुए उसी बालुकामय पथसे नंगे पैरों ही प्रभुके समीप पहुँचे। शरीरको तो सर्दी-गर्मीका सुख-दुःख व्यापता ही है। सनातनजीके पैरोंमें बड़े-बड़े छाले पड़ गये। प्रभुने उन्हें देखते ही पूछा—'अरे! तुम इतनी धूपमें किधर होकर आये हो?'

सरलताके साथ सनातनजीने कहा—'प्रभो ! समुद्रतटके रास्तेसे ही आया हूँ ।'

प्रभुने उनके पैरोंके छालोंको देखते हुए कहा—'देखो, नंगे पैरों तप्त बालूमें आनेसे तुम्हारे पैरोंमें छाले पड़ गये । तुम सिंहद्वारके रास्तेसे होकर क्यों नहीं आये ?'

सनातनजीने दीनताके साथ कहा—'प्रभो ! सिंहद्वार होकर श्रीजगन्नाथजीके सेवक तथा दर्शनार्थी आते-जाते रहते हैं, उनसे कहीं भूलमें स्पर्श हो जाय तो मैं ही पापका भागी बनूँगा । इसी भयसे मैं सिंहद्वार होकर नहीं आया ।'

प्रभु इनकी ऐसी मर्यादा, दीनता और सरलताको देखकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और उनका जोरोंसे गाढ़ालिङ्गन करते हुए कहने लगे—'सनातन ! तुम धन्य हो, तुम्हीं वैष्णवताके सच्चे रहस्यको समझे हो । यद्यपि तुम्हारे लिये स्वयं कोई विधि-निषेध नहीं है, फिर भी तुम लोकमर्यादाके निमित्त ऐसा व्यवहार करते हो, यह सर्वश्रेष्ठ है । मनुष्य चाहे कितनी भी उन्नति क्यों न कर ले फिर भी उसे मर्यादाका उल्लङ्घन न करना चाहिये । क्योंकि मर्यादा भङ्ग करनेसे लोकनिन्दा होती है और लोकनिन्दासे सदा पतनका भय बना रहता है ।' सनातनके आलिङ्गनसे प्रभुके सुवर्णके समान सुन्दर शरीरमें कई जगह पीव लग गया, इससे सनातनजीको अपार दुःख हुआ, वे सोचने लगे—'क्या करूँ, प्रभु तो मेरा आलिङ्गन बिना किये मानते ही नहीं ! इसलिये अब इस भयङ्कर शरीरको रखकर क्या करूँगा । प्रभुके दर्शन तो हो ही गये । रथयात्राके दिन जगन्नाथजीके दर्शन और करके उन्हींके रथके नीचे पिचकर मर जाऊँगा ।'

महाप्रभु इनके मनोभावको समझ गये । वे एक दिन भक्तोंके सहित आकर सनातनजीसे बातें करने लगे । उन्होंने बातों-ही-बातोंमें कहा—

'सनातन ! शरीर त्यागनेसे तुमने क्या लाभ सोचा है ? मनुष्यका अन्तिम पुरुषार्थ प्रभुप्राप्ति है, यदि शरीर त्यागनेसे प्रभुप्राप्ति हो सके, तो मैं तो हजारों बार शरीर धारण करके उन्हें त्यागनेको तैयार हूँ। इस प्रकार शरीर त्यागना तामसी प्रवृत्ति है। जो संसारी तापोंसे त्रिस होकर किसी कारणसे शरीरसे ऊबकर प्राण त्याग देते हैं, उनकी सद्गति नहीं होती। उन्हें फिर कर्मोंके भोगके निमित्त आसुरी प्रकृतिके शरीर धारण करने होते हैं। शरीरका सदुपयोग श्रीकृष्णसंकीर्तन करनेमें ही है। यदि भगवन्नाम-चिन्तन और स्मरण बना रहता है तो फिर शरीर कैसी भी दशामें रहे, विवेकी पुरुषको शरीरकी कुछ भी परवा न करनी चाहिये।'

प्रभुकी बात सुनकर नीचा सिर किये हुए सनातनजीने कहा—'प्रभो! इस बेकार और अपवित्र शरीरको रखवाकर आप इससे क्या कराना चाहते हैं? इससे तो अब दूसरोंको दुःखके सिवा किसी प्रकारका लाभ नहीं पहुँचता।'

प्रभुने कहा—'तुम्हें हानि-लाभसे क्या? तुम तो अपने शरीरको मुझे सौंप चुके। दान की हुई वस्तुको लौटाकर कोई उसका मनमाना उपयोग कर सकता है? तुम्हारे जाने मैं इसका कुछ भी उपयोग करूँ, तुम्हें इसे नष्ट करनेका अधिकार नहीं है। इससे मुझे बड़े-बड़े काम कराने हैं।'

सनातनजीने धीरेसे कहा—'प्रभो! आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति ही किसमें है? जैसी आप आज्ञा करेंगे, वही मैं करूँगा।'

इस प्रकार सनातनजीको समझा-बुझाकर प्रभु भक्तोंके सहित स्नानके लिये चले गये।

सनातनजीने आत्मघातका विचार तो परित्याग कर दिया, किन्तु प्रभुके आलिङ्गन करनेके कारण उन्हें सदा संकोच बना रहता। वे

सदा प्रभुसे बचे ही रहते किन्तु प्रभु उन्हें खोजकर आलिङ्गन करते। इससे वे सदा व्यथित-से बने रहते। एक दिन उन्होंने अपनी मनोव्यथा पुरीमें ही प्रभुके समीप निवास करनेवाले जगदानन्द पण्डितसे कही। जगदानन्दजीने कहा—'आपका पुरीमें ही रहना ठीक नहीं है। आषाढ़में रथयात्राके दर्शन करके यहाँसे सीधे वृन्दावन चले जाइये। आपके लिये प्रभुने वही देश दिया है, उस प्रभुदत्त देशमें जाकर भगवन्नाम-जप करते हुए समय व्यतीत कीजिये।'

सनातनजीने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'पण्डितजी! आपने यह बड़ी ही उत्तम सम्मति दी। आषाढ़के पश्चात् मैं यहाँसे अवश्य ही चला जाऊँगा।' ऐसा निश्चय करके वे रथयात्राकी प्रतीक्षा करने लगे। एक दिन बातों-ही-बातोंमें उन्होंने प्रभुसे कहा—'प्रभो! मुझे पण्डित जगदानन्दजीने बड़ी सुन्दर सम्मति दी है। रथयात्रा करके मैं वृन्दावन चला जाऊँगा और वहीं रहूँगा।' प्रभु जगदानन्दजीके ऐसे भावको समझकर उनके ऊपर प्रेमका क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे—'जगदानन्द अपनेको अब बड़ा भारी पण्डित समझने लगा, जो सनातन-जीको भी शिक्षा देने लगा। हमें शिक्षा दे तो ठीक भी है, सनातनजी तो अभी इसे सैकड़ों वर्षोंतक पढ़ा सकते हैं। मूर्ख कहींका, कलका छोकड़ा होकर इतने बड़े लोगोंको सम्मति देने चला है।'

इस बातको सुनकर जगदानन्दजी तो सन्न पड़ गये, काटो तो शरीरमें रक्त नहीं! वे डबडबायी आँखोंसे पृथ्वीकी ओर देखने लगे। तब सनातनजीने अत्यन्त ही विनम्र भावसे प्रभुके पैर पकड़े हुए कहा—'प्रभो! जगदानन्दजीने तो मेरे हितकी ही बात कही है। आप मुझ पतितको स्पर्श करते हैं, इस बातसे किसे दुःख न होगा? मैं स्वयं संकुचित बना रहता हूँ।'

प्रभुने फिर उसी स्वरमें कहा—'इसे मेरे शरीरकी इतनी चिन्ता क्यों ! यह शरीरको ही सब कुछ समझता है । इसे वैष्णवोंके माहात्म्यका पता नहीं । सनातनजीके शरीरको यह अन्य साधारण लोगोंके शरीरके समान समझता है । इसे पता नहीं, सनातनजीका शरीर चिन्मय है । उसे खुजली और कुष्ठ कहाँ ! यह तो उन्होंने मेरे प्रेमकी परीक्षाके निमित्त अपने शरीरमें उत्पन्न कर ली है कि मैं घृणा करके इनके शरीरको स्पर्श न करूँ । कोई भाग्यवान् पुरुष सनातनजीके शरीरको सूँघे तो सही, उसमेंसे दिव्य सुगन्ध निकलती रहती है । मैं कुछ सनातनजीके ऊपर कृपा करनेके निमित्त उनका आलिङ्गन थोड़े ही करता हूँ, मैं तो उनके शरीर-स्पर्शसे अपने देहको पावन बनाता हूँ ।'

प्रभुके मुखसे अपनी इतनी भारी प्रशंसा सुनकर सनातनजी रोते-रोते कहने लगे—'प्रभो ! मैंने ऐसा कौन-सा घोर अपराध किया है, मेरे किन जन्मोंके अनन्त पाप आज आकर उदय हुए हैं, जो आप मुझे यह प्रशंसारूपी हलाहल विष पिला रहे हैं । जगदानन्दजीका आज भाग्य उदय हुआ । आज त्रिलोकीमें इनसे बढ़कर भाग्यवान् कौन होगा, जिनकी वात्सल्यस्नेहसे पुत्रकी भाँति प्रभु भर्त्सना कर रहे हैं । हाय, ऐसी प्रेममयी भर्त्सना जिनके भाग्यमें बदा है, वे महानुभाव धन्य हैं ! गुरुजन जिनकी नित्य आलोचना करते रहते हैं, वे परम सौभाग्यशाली पुरुष हैं । हे करुणाके सागर प्रभो ! इस अधमको किस अपराधसे अपनेपनसे पृथक् करके आपने यह प्रशंसारूपी सर्पिणी बलपूर्वक मेरे गलेसे लपेट दी ! नाथ ! मैं अब अधिक सहन न कर सकूँगा ।'

सनातनजीकी ऐसी कातर वाणी सुनकर प्रभु कुछ लज्जित-से हो गये और अत्यन्त ही प्रेमके स्वरमें जगदानन्दजीकी ओर देखकर कहने लगे—'जगदानन्दने मेरे शरीरके स्नेहसे और तुम्हारे आग्रहसे ही

ऐसी सम्मति दे दी होगी। मैंने अपने क्रोधके आवेशमें ऐसी बातें इनके लिये कह दीं। इसका कारण मेरा तुम्हारे ऊपर सहज स्नेह ही है॥ तुम इस वर्ष यहीं मेरे पास ही रहो, अगले वर्ष वृन्दावन जाना।" इतना कहकर प्रभुने सनातनजीका फिर जोरोंसे आलिङ्गन किया। बस, फिर क्या था! न जाने वह खुजली और उसकी पीड़ा कहाँ चली गयी!! उसी समय उनकी खाज अच्छी हो गयी और दो-चार दिनमें उनके घाव अच्छे होकर उनका शरीर सुवर्णके समान कान्तिवाला बन गया।

रथयात्राके समय अद्वैताचार्य, नित्यानन्द आदि सभी गौड़ीय भक्त प्रतिवर्षकी भाँति अपने स्त्री-बच्चोंके सहित पुरीमें आये। प्रभुने उन सबसे सनातनजीका परिचय कराया। सनातनजी प्रभुके परम कृपापात्र इन सभी प्रेमी भक्तोंका परिचय पाकर परम प्रसन्न हुए और उन्होंने सभीकी चरणवन्दना की। सभीने सनातनजीकी श्रद्धा, दीनता और तितिक्षाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। बरसातके चार महीने रहकर सभी भक्त देशके लिये लौट गये, किन्तु सनातनजी वहीं रह गये। वे दूसरे वर्ष प्रभुसे विदा होकर और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके पुरीसे सीधे ही काशी होते हुए वृन्दावन पहुँचे। पुरीसे चलते समय वे बलभद्र भट्टाचार्यसे उस रास्तेके सभी स्थानोंके नाम लिख ले गये थे, जिस रास्तेसे प्रभु वृन्दावन गये थे उन सभी स्थानोंका दर्शन करते हुए और प्रभुकी लीलाओंका स्मरण करते हुए उसी रास्तेसे सनातनजी वृन्दावनतक पहुँचे। तबतक रूपजी वृन्दावनमें नहीं पहुँचे थे। सनातनजी वहीं वृन्दावनके वृक्षोंके नीचे अपना समय बिताने लगे। कुछ दिनोंके अनन्तर गौड़ देशसे श्रीरूपजी भी वृन्दावन पहुँच गये और दोनों भाई साथ ही श्रीकृष्णकथाकीर्तन करते हुए कालयापन करने लगे।

श्रीरघुनाथदासजीका गृहत्याग

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥*
(श्रीमद्भा० ५ । ५ । १८)

सप्तग्रामके भूम्यधिकारी श्रीगोवर्धनदास मजूमदारके पुत्र श्रीरघुनाथदासजीको पाठक भूले न होंगे । शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यजीके घरपर ठहरे हुए प्रभुके उन्होंने दर्शन किये थे और प्रभुने उन्हें मर्कट-वैराग्य त्यागकर घरमें ही रहते हुए भगवत्-भजन करनेका उपदेश दिया था और उनके गृहत्यागके अत्यन्त आग्रह करनेपर प्रभुने कह दिया था—'अच्छा देखा जायगा । अब तो तुम घर चले जाओ, हम शीघ्र ही वृन्दावनको जायँगे, वहाँसे लौटकर जब हम आ जायँ, तब जैसा उचित हो वैसा करना ।'

अब जब रघुनाथजीने सुना कि प्रभु व्रजमण्डलकी यात्रा करके पुरी लौट आये हैं, तब तो वे चैतन्यचरणोंके दर्शनोंके लिये अत्यन्त ही लालायित हो उठे । उनका मनमधुप प्रभुके पादपद्मोंका मकरन्द पान करनेके निमित्त पागल-सा हो गया, वे गौराङ्गका चिन्तन करते हुए ही

---

* मृत्युके पाशसे बँधे हुए पुरुषको जो संसारबन्धनसे छुड़ानेमें समर्थ नहीं होता वह अक्षर पढ़ानेपर भी वास्तविक गुरु नहीं है, कुटुम्बमें उत्पन्न होनेपर भी स्वजन नहीं है, वीर्यसे उत्पन्न करनेवाला होनेपर भी सच्चा पिता नहीं है, शरीरको पैदा करनेवाली होनेपर भी वह वास्तविक माता नहीं है, माननीय होनेपर भी वह यथार्थ दैव नहीं है और पाणिग्रहण करनेपर भी वह सच्चा पति नहीं है ।

समयको व्यतीत करने लगे। ऊपरसे तो सभी संसारी कामोंको करते रहते, किन्तु भीतर उनके हृदयमें चैतन्यविरहजनित अग्नि जलती रहती। वे उसी समय सब कुछ छोड़-छाड़कर चैतन्यचरणोंका आश्रय ग्रहण कर लेते, किन्तु उस समय उनके परिवारमें एक विचित्र घटना हो गयी।

सप्तग्रामका ठेका पहले एक मुसलमान भूम्यधिकारीपर था। वही उस मण्डलका चौधरी था, उसपरसे ही इन्हें इस इलाकेका अधिकार प्राप्त हुआ था। वह प्रतिवर्ष आमदनीका चतुर्थांश अपने पास रखकर तीन अंश बादशाहके दरबारमें जमा करता था। उस मण्डलकी समस्त आमदनी बीस लाख रुपये सालानाकी थी। हिसाबसे इन मजूमदार भाइयोंको पन्द्रह लाख राजदरबारमें जमा करने चाहिये और पाँच लाख अपने पास रखने चाहिये, किन्तु ये अपने कायस्थपनेके बुद्धिकौशलसे बारह ही लाख जमा करते और आठ लाख स्वयं रख लेते। चिरकालसे ठेका इन्हींपर रहनेसे इन्हें भूम्यधिकारी होनेका स्थायी अधिकार प्राप्त हो जाना चाहिये था, क्योंकि बारह वर्षमें ठेका स्थायी हो जाता है, इस बातसे उस पुराने चौधरीको चिढ़ हुई। उसने राजदरबारमें अपना अधिकार दिखाते हुए इन दोनों भाइयोंपर अभियोग चलाया और राजमन्त्रीको अपनी ओर मिला लिया। इसीलिये इन्हें पकड़नेके लिये राजकर्मचारी आये। अपनी गिरफ्तारीका समाचार सुनकर हिरण्यदास और गोवर्धनदास— दोनों भाई घर छोड़कर भाग गये। घरपर अकेले रघुनाथदासजी ही रह गये, चौधरीने इन्हें ही गिरफ्तार करा लिया और कारावासमें भेज दिया। यहाँ इन्हें इस बातके लिये रोज डराया और धमकाया जाता था कि ये अपने ताऊ (पिताके बड़े भाई) और पिताका पता बता दें, किन्तु इन्हें उनका क्या पता था, इसलिये ये कुछ भी नहीं बता सकते थे। इससे क्रुद्ध होकर चौधरी इन्हें भाँति-भाँतिकी यातनाएँ देनेकी चेष्टा करता, बुद्धिमान् और प्रत्युत्पन्नमति रघुनाथदासजीने सोचा—'ऐसे काम नहीं चलेगा। किसी-न-

किसी प्रकार इस चौधरीको ही वशमें करना चाहिये।' ऐसा निश्चय करके वे मन-ही-मन उपाय सोचने लगे। एक दिन जब चौधरी इन्हें बहुत तंग करना चाहता था, तब इन्होंने स्वाभाविक स्नेह दर्शाते हुए अत्यन्त ही कोमल स्वरसे कहा—'चौधरीजी! आप मुझे क्यों तंग करते हैं? मेरे ताऊ, पिता और आप—तीनों भाई-भाई हैं। मैं अबतक तो आप तीनोंको भाई ही समझता हूँ। आप तीनों भाई आपसमें चाहे लड़ें या प्रेमसे रहें, मुझे बीचमें क्यों तंग करते हैं? आप तो आज लड़ रहे हैं कल फिर सभी भाई एक हो जायँगे। मैं तो जैसा उनका लड़का वैसा ही आपका लड़का। मैं तो आपको भी अपना बड़ा ताऊ ही समझता हूँ। आप कोई अनपढ़ तो हैं ही नहीं, सभी बातें जानते हैं। मेरे साथ ऐसा बर्ताव आपको शोभा नहीं देता।'

गुलाबके समान खिले हुए मुखसे स्नेह और सरलताके ऐसे शब्द सुनकर चौधरीका कठोर हृदय भी पसीज गया। उसने अपनी मोटी-मोटी भुजाओंसे रघुनाथदासजीको छातीसे लगाया और आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद कण्ठसे कहने लगा—'बेटा! सचमुच धनके लोभसे मैंने बड़ा पाप किया। तुम तो मेरे सगे पुत्रके समान हो, आजसे तुम मेरे पुत्र हुए। मैं अभी राजमन्त्रीसे कहकर तुम्हें छुड़वाये देता हूँ। तुम्हारे ताऊ और पिता जहाँ भी हों उन्हें खबर कर देना कि अब डर करनेका कोई काम नहीं है। वे खुशीसे अपने घर आकर रहें।' यह कहकर उन्होंने राजमन्त्रीसे रघुनाथदासजीको मुक्त करा दिया। वे अपने घर आकर रहने लगे। अब तो उन्हें इस संसारका यथार्थ रूप मालूम पड़ गया। अबतक वे समझते थे कि इस संसारमें सम्भवतया थोड़ा-बहुत सुख भी हो, किन्तु इस घटनासे उन्हें पता चल गया कि संसार दुःख और कलहका घर है। कहीं तो दीनताके दुःखसे दुखी होकर लोग मर रहे हैं, कहीं कामपीड़ित हुए कामीजन कामिनियोंके पीछे कुत्तोंकी भाँति घूम रहे हैं। कहीं कोई

भाईसे लड़ रहा है, तो किसी जगह पिता-पुत्रसे कलह हो रहा है। कहीं किसीको दस-बीस गाँवोंकी जमींदारी मिल गयी है या कोई अच्छी राज-नौकरी या राजपदवी प्राप्त हो गयी है तो वह उसीके मदमें चूर हुआ लोगोंको तुच्छ समझ रहा है। किसीकी कविताकी कलाकोविदोंने प्रशंसा कर दी है, तो वह अपनेको ही उशना और वेदव्यास समझता है। कोई विद्याके मदमें, कोई धनके मदमें, कोई सम्पत्ति, अधिकार और प्रतिष्ठाके मदमें चूर हैं। किसीका पुत्र मूर्ख है तो वह उसीकी चिन्तामें सदा दुखी बना रहता है। इसके विपरीत किसीका सर्वगुणसम्पन्न पुत्र है, तो उसे थोड़ा भी रोग होनेसे पिताका हृदय धड़कने लग जाता है, यदि कहीं वह मर गया तो फिर प्राणान्तके ही समान दुःख होता है। ऐसे संसारमें सुख कहाँ, शान्ति कहाँ, आनन्द तथा उल्लास कहाँ ? यहाँ तो चारों ओर घोर विषण्णता, भयंकर दुःख और भाँति-भाँतिकी चिन्ताओंका साम्राज्य है। सच्चा सुख तो शरीरधारी श्रीगुरुके चरणोंमें ही है। उन्हींके चरणोंमें जाकर परमशान्ति प्राप्त हो सकती है। जो प्रतिष्ठा नहीं चाहते, नेतृत्व नहीं चाहते, मान, सम्मान, बड़ाई और गुरुपनेकी जिनकी कामना नहीं है, जो इस संसारमें नामी पुरुष बननेकी वासनाको एकदम छोड़ चुके हैं, उनके लिये गुरुचरणोंके अतिरिक्त कोई दूसरा सुखकर, शान्तिकर, आनन्दकर तथा शीतलता प्रदान करनेवाला स्थान नहीं है। इसलिये अब मैं संसारी भोगोंसे पूर्ण इस घरमें नहीं रहूँगा। अब मैं श्रीचैतन्यचरणोंका ही आश्रय ग्रहण करूँगा, उन्हींकी शान्तिदायिनी सुखमयी क्रोड़में बालककी भाँति क्रीड़ा करूँगा। उनके अरुण रंगवाले सुन्दर तलुओंको अपनी जिह्वासे चाटूँगा और उसी अमृतोपम माधुरीसे मेरी तृप्ति हो सकेगी। चैतन्यचरणाम्बुजोंकी पावन परागके सिवा सुखका कोई भी दूसरा साधन नहीं। यह सोचकर वे कई बार पुरीकी ओर भगे भी, किन्तु धनी पिताने अपने सुचतुर कर्मचारियोंद्वारा इन्हें फिरसे पकड़वा मँगवाया और

सदा इनकी देख-रेख रखनेके निमित्त दस-पाँच पहरेदार इनके ऊपर बिठा दिये। अब ये बन्दीकी तरह पहरोंके भीतर रहने लगे। लोगोंकी आँख बचाकर ये क्षणभरको भी कहीं अकेले नहीं जा सकते थे। इससे इनकी विरह-व्यथा और भी अधिक बढ़ गयी। ये 'हा गौर! हा प्राणवल्लभ!' कह-कहकर जोरोंसे रुदन करने लगते। कभी-कभी जोरोंसे रुदन करते हुए कहने लगते—'हे हृदयरमण! इस वेदनापूर्ण सागरसे कब उबारोगे! कब अपने चरणोंकी शरण दोगे! कब इस अधमको अपनाओगे! कब इसे अपने पास बुलाओगे! किस समय अपनी मधुमयी अमृतवाणीसे भक्ति-तत्त्वके सुधासिक्त वचनोंसे इस हृदयकी दहकती हुई ज्वालाको बुझाओगे। हे मेरे जीवनसर्वस्व! हे मेरी बिना डाँड़की नौकाके पतवार! मेरी जीर्ण-शीर्ण तरीके कैवर्तक प्रभो! मुझे इस अन्धकूपसे बाँह पकड़कर बाहर निकालो।' इनके ऐसे वे सिर-पैरके प्रलापको सुनकर प्रेममयी माताको इनके लिये अपार दुःख होने लगा। उन्होंने अपने पति, इनके पिता गोवर्धनदास मजूमदारसे कहा—'हमारे कुलका एकमात्र सहारा यह रघु पागल हो गया है। इसे बाँधकर रखिये, ऐसा न हो यह कहीं भाग जाय।'

पिताने मार्मिक स्वरमें आह भरते हुए कहा—'रघुको दूसरे प्रकारका पागलपन है। वह संसारी बन्धनको छिन्न-भिन्न करना चाहता है। रस्सीसे बाँधनेसे यह नहीं रुकनेका। जिसे कुबेरके समान अतुल सम्पत्ति, राजाके समान अपार सुख, अप्सराके समान सुन्दर स्त्री और भाग्यहीनोंको कभी प्राप्त न होनेवाला अतुलनीय ऐश्वर्य ही जब घरमें बाँधनेको समर्थ नहीं है, उसे बेचारी रस्सी कितने दिनों बाँधकर रख सकती है!' माता अपने पतिके उत्तरसे और पुत्रके पागलपनसे अत्यन्त ही दुखी हुई। पिता भलीभाँति रघुनाथपर दृष्टि रखने लगे।

उन्हीं दिनों श्रीपाद नित्यानन्दजी ग्रामोंमें घूम-घूमकर संकीर्तनकी धूम मचा रहे थे। वे चैतन्यप्रेममें पागल बने अपने सैकड़ों भक्तोंको

साथ लिये इधर-उधर घूम रहे थे। उनके उद्दण्ड नृत्यको देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते, चारों ओर उनके यश और कीर्तिकी धूम मच गयी। हजारों, लाखों मनुष्य नित्यानन्द प्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगे। उन दिनों गौड़ देशमें 'निताई' के नामकी धूम थी। अच्छे-अच्छे सेठ-साहूकार और भूम्यधिपति इनके चरणोंमें आकर लोटते और ये उनके मस्तकोंपर निर्भय होकर अपना चरण रखते, वे कृतकृत्य होकर लौट जाते। लाखों रुपये भेंटमें आने लगे। नित्यानन्दजी खूब उदारता-पूर्वक उन्हें भक्तोंमें बाँटने लगे और सत्कर्मोंमें द्रव्यको व्यय करने लगे। पानीहाटी संकीर्तनका प्रधान केन्द्र बना हुआ था। वहाँके राघव पण्डित महाप्रभु तथा नित्यानन्दजीके अनन्य भक्त थे। नित्यानन्दजी उन्हींके यहाँ अधिक ठहरते थे। रघुनाथजीने जब नित्यानन्दजीका समाचार सुना तो वे पिताकी अनुमति लेकर बीसों सेवकोंके साथ पानीहाटीमें उनके दर्शनोंके लिये चल पड़े। उन्होंने दूरसे ही गङ्गाजीके किनारे बहुत-से भक्तोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रके समान देदीप्यमान उच्चासनपर बैठे हुए नित्यानन्दजीको देखा। उन्हें देखते ही इन्होंने भूमिपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। किसी भक्तने कहा—'श्रीपाद ! हिरण्य मजूमदारके कुँवर शाह रघुनाथदासजी आये हैं, वे प्रणाम कर रहे हैं।' खिलखिलाते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'अहा ! रघु आया है ? आज यह चोर जेलमेंसे कैसे निकल भागा ? इसे यहाँ आनेकी आज्ञा कैसे मिल गयी ? (फिर रघुनाथदासजीकी ओर देखकर कहने लगे) रघु ! आ, यहाँ आकर मेरे पास बैठ।'

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही विनीत भावसे डरते-से सिकुड़े हुए रघुनाथदासजी सभी भक्तोंके पीछे जूतियोंमें बैठ गये। नित्यानन्दजीने अब रघुनाथदासजीपर अपनी कृपा की। महापुरुष धनिकोंको यदि किसी कामके करनेकी आज्ञा दें, तो उसे उनकी परम कृपा ही समझनी

किसीके हाथकी मनी पूड़ी तो क्या फलाहारी मिठाईतक नहीं खाते वे भी 'दही-चिउरा' अथवा 'चिउरा-दही' को मजेमें खा लेते हैं।

नित्यानन्दजीकी आज्ञा पाते ही रघुनाथदासजीने फौरन आदमियोंको इधर-उधर भेजा। बोरियोंमें भरकर मनों बढ़िया चिउरा आने लगे। इधर-उधरसे दूध-दहीके सैकड़ों घड़ोंको सिरपर रखे हुए सेवक आ पहुँचे। जो भी सुनता वही चिउराउत्सव देखनेके लिये दौड़ा आता। इस प्रकार थोड़ी ही देरमें वहाँ एक बड़ा भारी मेला-सा लग गया। चारों ओर मनुष्योंके सिर ही-सिर दीखते थे। सामने सैकड़ों घड़ोंमें दूध-दही भरा हुआ रखा था। हजारों बड़े-बड़े मिट्टीके कुल्हड़ दही-चिउरा खानेके लिये रखे थे। दूध और दहीके अलग-अलग चिउरा भिगोये गये। दहीमें कर्पूर, केशर आदि सुगन्धित द्रव्य मिलाये गये; केला, सन्देश, नारिकेल आदि भी बहुत-से मँगाये गये। जो भी वहाँ आया सभीको दो-दो कुल्हड़ दिये गये। नित्यानन्दने महाप्रभुका आह्वान किया। नित्यानन्दजीको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्रत्यक्ष श्रीचैतन्य चिउराउत्सव देखनेके लिये आये हैं। उन्होंने उनके लिये अलग पात्रोंमें चिउरा परोसे और 'हरि-हरि' ध्वनिके साथ सभीको प्रसाद पानेकी आज्ञा दी। पचासों आदमी परोस रहे थे। जिसे जहाँ जगह मिली, वह वहीं बैठकर प्रसाद पाने लगा, सभीको उस दिनके चिउरोंमें एक प्रकारके दिव्य स्वादका अनुभव हुआ, सभीने खूब तृप्त होकर प्रसाद पाया। शामतक जो भी आता रहा, उसे ही प्रसाद देते रहे। रघुनाथदासजीको नित्यानन्दजीका उच्छिष्ट प्रसाद मिला। उस दिन राघव पण्डितके यहाँ नित्यानन्दजीका भोजन बना था। उसे सभी भक्तोंने मिलकर शामको पाया। रघुनाथदास उस दिन वहीं राघव पण्डितके घर रहे।

दूसरे दिन उन्होंने नित्यानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे आज्ञा माँगी। नित्यानन्दजीने 'चैतन्यचरणप्राप्ति' का आशीर्वाद दिया। इस आशीर्वादको पाकर रघुनाथदासजीको परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने राघव पण्डितको बुलाया और भक्तोंको कुछ भेंट करनेकी इच्छा प्रकट

चाहिये। क्योंकि धन अनित्य पदार्थ है और फिर यह एकके पास सदा स्थायी भी नहीं रहता। महापुरुष ऐसी अस्थिर वस्तुको अपनी अमोघ आज्ञा प्रदानकर स्थिर और सार्थक बना देते हैं। धनका सर्वश्रेष्ठ उपयोग ही यह है कि उसका व्यय महापुरुषोंकी इच्छासे हो, किन्तु ऐसा सुयोग सभीके भाग्यमें नहीं होता। किसी भाग्यशालीको ही ऐसा अमूल्य और दुर्लभ अवसर प्राप्त हो सकता है। नित्यानन्दजीके कहनेसे रघुनाथदास-जीने दो-चार हजार रुपये ही खर्च किये होंगे, किन्तु इतने ही खर्चसे उनका वह काम अमर हो गया और आज भी प्रतिवर्ष पानीहाटीमें 'चूराउत्सव' उनके इस कामकी स्मृति दिला रहा है। लाखों मनुष्य उन दिनों रघुनाथदासजीके चिउरोंका स्मरण करके उनकी उदारता और त्यागवृत्तिको स्मरण करके गद्गद कण्ठसे अश्रु बहाते हुए प्रेममें विभोर होकर नृत्य करते हैं। महामहिम रघुनाथदासजी सौभाग्यशाली थे, तभी तो नित्यानन्दजीने कहा—'रघु! आज तो तुम बुरे फँसे, अब यहाँसे सहजमें ही नहीं निकल सकते। मेरे सभी साथी भक्तोंको आज दही-चिउरा खिलाना होगा।' बङ्गाल तथा बिहारमें चिउराको सर्वश्रेष्ठ भोजन समझते हैं। पता नहीं, वहाँके लोगोंको उनमें क्या स्वाद आता है? चिउरा कच्चे धानोंको कूटकर बनाये जाते हैं और उन्हें दहीमें भिगोकर खाते हैं। बहुत-से लोग दूधमें भी चिउरा खाते हैं। दही-चिउरा ही सर्वश्रेष्ठ भोजन है। इसके दो भेद हैं—'दही-चिउरा और 'चिउरा-दही'। जिसमें चिउरोंके साथ यथेष्ट दही-चीनी दी जाय उसे तो 'दही-चिउरा' कहते हैं और जहाँ दही-चीनीका सङ्कोच हो और चिउरा अधिक होनेके कारण पानीमें भिगोकर दही-चीनीमें मिलाये जायँ, वहाँ उन्हें 'चिउरा-दही' कहते हैं। बहुत-से लोग तो पहले चिउरोंको दूधमें भिगो लेते हैं, फिर उन्हें दही-चीनीसे खाते हैं। अजीब स्वाद है। भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके भिन्न-भिन्न पदार्थोंके साथ स्वाद भी भिन्न-भिन्न हैं। एक बात और। चिउरोंमें छूत-छात नहीं। जो ब्राह्मण,

किसीके हाथकी भली पूड़ी तो क्या फलाहारी मिठाईतक नहीं खाते थे वे भी 'दही-चिउरा' अथवा 'चिउरा-दही' को मजेमें खा लेते हैं।

नित्यानन्दजीकी आज्ञा पाते ही रघुनाथदासजीने फौरन आदमियों-को इधर-उधर भेजा। बोरियोंमें भरकर मनों बढ़िया चिउरा आने लगे। इधर-उधरसे दूध-दहीके सैकड़ों घड़ोंको सिरपर रखे हुए सेवक आ पहुँचे। जो भी सुनता वही चिउराउत्सव देखनेके लिये दौड़ा आता। इस प्रकार थोड़ी ही देरमें वहाँ एक बड़ा भारी मेला-सा लग गया। चारों ओर मनुष्योंके सिर-ही-सिर दीखते थे। सामने सैकड़ों घड़ोंमें दूध-दही भरा हुआ रखा था। हजारों बड़े-बड़े मिट्टीके कुल्हड़ दही-चिउरा खानेके लिये रखे थे। दूध और दहीके अलग-अलग चिउरा भिगोये गये। दहीमें कर्पूर, केशर आदि सुगन्धित द्रव्य मिलाये गये; केला, सन्देश, नारिकेल आदि भी बहुत-से मँगाये गये। जो भी वहाँ आया सभीको दो-दो कुल्हड़ दिये गये। नित्यानन्दने महाप्रभुका आह्वान किया। नित्यानन्दजीको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्रत्यक्ष श्रीचैतन्य चिउराउत्सव देखनेके लिये आये हैं। उन्होंने उनके लिये अलग पात्रोंमें चिउरा परोसे और 'हरि-हरि' ध्वनिके साथ सभीको प्रसाद पानेकी आज्ञा दी। पचासों आदमी परोस रहे थे। जिसे जहाँ जगह मिली, वह वहीं बैठकर प्रसाद पाने लगा, सभीको उस दिनके चिउरोंमें एक प्रकारके दिव्य स्वादका अनुभव हुआ, सभीने खूब तृप्त होकर प्रसाद पाया। शामतक जो भी आता रहा, उसे ही प्रसाद देते रहे। रघुनाथदासजीको नित्यानन्दजीका उच्छिष्ट प्रसाद मिला। उस दिन राघव पण्डितके यहाँ नित्यानन्दजीका भोजन बना था। उसे सभी भक्तोंने मिलकर शामको पाया। रघुनाथदास उस दिन वहीं राघव पण्डितके घर रहे।

दूसरे दिन उन्होंने नित्यानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे आज्ञा माँगी। नित्यानन्दजीने 'चैतन्यचरणप्राप्ति' का आशीर्वाद दिया। इस आशीर्वादको पाकर रघुनाथदासजीको परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने राघव पण्डितको बुलाया और भक्तोंको कुछ भेंट करनेकी इच्छा प्रकट

थी। राघव पण्डितने उन्हें सहर्ष सम्मति दे दी। तब रघुनाथदासजीने नित्यानन्दजीके भण्डारीको बुलाकर सौ रुपये और सात तोला सोना नित्यानन्दजीके लिये दे दिया और उससे कह दिया कि हम चले जायँ, तब प्रभुपर यह बात प्रकट हो। फिर सभी भक्तोंको बुलाकर यथायोग्य उन्हें दस, पाँच, बीस या पचास रुपये भेंट दे-देकर सभीकी चरण-वन्दना की। चलते समय राघव पण्डितको भी वे सौ रुपये और दो तोला सोना दे गये। इस प्रकार सभीकी यथायोग्य पूजा करके रघुनाथदासजी अपने घर लौट आये।

वे शरीरसे तो लौट आये, किन्तु उनका मन नीलाचलमें प्रभुके पास पहुँच गया। अब उन्हें नीलाचलके सिवा कुछ सूझता ही नहीं था। जब उन्होंने सुना कि गौड़ देशके सैकड़ों भक्त सदाकी भाँति रथयात्राके उपलक्ष्यसे श्रीचैतन्यचरणोंमें चार महीने निवास करनेके निमित्त नीलाचल जा रहे हैं, तब तो उनकी उत्सुकता परिधिको पार कर गयी; किन्तु वे सबके साथ प्रकटरूपसे नीलाचल जा ही कैसे सकते थे? इसलिये वे किसी दिन एकान्तमें छिपकर घरसे भागनेका उद्योग करने लगे।

समय आनेपर प्रारब्ध सभी सुयोगोंको स्वयं ही लाकर उपस्थित कर देता है। एक दिन अरुणोदयके समय रघुनाथजीके गुरु तथा आचार्य यदुनन्दनजी उनके पास आये। उन्हें देखते ही रघुनाथदासजीने उन्हें भक्तिभावसे प्रणाम किया। आचार्यने स्नेहके साथ इनके कन्धेपर हाथ रखकर कहा—'भैया रघु! तुम उस पुजारीको क्यों नहीं समझाते? वह चार-पाँच दिनसे हमारे यहाँ पूजा करने आया ही नहीं। यदि वह नहीं कर सकता तो किसी दूसरे ही आदमीको नियुक्त कर दो।'

धीरे-धीरे रघुनाथदासजीने कहा—'नहीं, मैं उसे समझा दूँगा।' यह कहकर वे धीरे-धीरे आचार्यके साथ चलने लगे। उनके साथ-ही-साथ वे बड़े फाटकसे बाहर आ गये। प्रातःकाल समझकर रात्रिके जगे हुए पहरेदार सो गये थे। रघुनाथदासजीको बाहर जाते हुए किसीने नहीं,

देखा। जब वे बातें करते-करते यदुनन्दनाचार्यजीके घरके समीप पहुँच गये तब उन्होंने धीरेसे कहा—'अच्छा, तो मैं अब जाऊँ ?'

कुछ सम्भ्रमके साथ आचार्यने कहा—'हाँ, हाँ, तुम जाओ। लो, मुझे पता भी नहीं, तुम बातों-ही-बातोंमें यहाँतक चले आये! तुम अब जाकर जो करनेयोग्य कार्य हों, उन्हें करो।' बस, इसे ही वे गुरु-आज्ञा समझकर और अपने आचार्य महाराजकी चरणवन्दना करके रास्तेको बचाते हुए एक जंगलकी ओर हो लिये।

जो शरीरपर पहने थे, वही एक वस्त्र था। पासमें न पानी पीनेको पात्र था और न मार्गव्ययके लिये एक पैसा। बस, चैतन्यचरणोंका आश्रय ही उनका पावन पाथेय था। उसे ही कल्पतरु समझकर वे निश्चिन्त भावसे पगडण्डीके रास्तेसे चल पड़े। धूप-छाँहकी कुछ भी परवा न करते हुए वे बिना खाये-पीये 'गौर-गौर' कहकर रुदन करते हुए जा रहे थे। जो घरके पासके बगीचेमें भी पालकीसे ही जाते थे, जिन्होंने कभी कोसभरका भी मार्ग पैदल तय नहीं किया था, वे ही गोवर्धनदास मजूमदारके इकलौते लाड़िले लड़ैते लड़के कुँवर रघुनाथदास आज पन्द्रह कोस—३० मील—शामतक चले और शामको एक ग्वालेके घेरमें पड़ रहे। भूख-प्यासका इन्हें ध्यान नहीं था। ग्वालेने थोड़ा-सा दूध लाकर इन्हें दे दिया, उसे ही पीकर ये सो गये और प्रातःकाल बहुत ही सँवेरे फिर चल पड़े। वे सोचते थे, यदि पुरी जानेवाले वैष्णवोंने भी हमें देख लिया तो फिर हम पकड़े जायँगे। इसीलिये ये गाँवोंमें न होकर पगडण्डीके रास्तेसे जा रहे थे।

इधर प्रातःकाल होते ही रघुनाथदासकी खोज होने लगी। रघुनाथ यहाँ, रघुनाथ वहाँ, यही आवाज चारों ओर सुनायी देने लगी। किन्तु रघुनाथ यहाँ-वहाँ कहाँ? वह तो जहाँका था वहाँ ही पहुँच गया। अब झींखते रहो। माता छटपटाने लगी, स्त्री सिर पीटने लगी, पिता आँखें मलने लगे, ताऊ बेहोश होकर भूमिपर गिर पड़े। उसी समय गोवर्धन-

दास मजूमदारने पाँच घुड़सवारोंको बुलाकर उनके हाथों शिवानन्द सेनके पास एक पत्री पठायी कि 'रघु घरसे भागकर तुम्हारे साथ पुरी जा रहा है। उसे फौरन इन लोगोंके साथ लौटा दो।' घुड़सवार पत्री लेकर पुरी जानेवाले वैष्णवोंके पास रास्तेमें पहुँचे। पत्र पढ़कर सेन महाशयने उत्तर लिख दिया—'रघुनाथदासजी हमारे साथ नहीं आये हैं, न हमसे उनका साक्षात्कार ही हुआ। यदि वे हमें पुरी मिलेंगे तो हम आपको सूचित करेंगे।' उत्तर लेकर नौकर लौट आये। पत्रको पढ़कर रघुनाथदासजीके सभी परिवारके प्राणी शोकसागरमें निमग्न हो गये।

इधर रघुनाथदासजी मार्गकी कठिनाइयोंकी कुछ भी परवा न करते हुए, भूख-प्यास और सर्दी-गर्मीसे उदासीन होते हुए पचीस-तीस दिनके मार्गको केवल बारह दिनोंमें ही तय करके प्रभुसेवित श्रीनीलाचल-पुरीमें जा पहुँचे। उस समय महाप्रभु श्रीस्वरूपादि भक्तोंके सहित बैठे हुए कृष्णकथा कर रहे थे। उसी समय दूरसे ही भूमिपर लेटकर रघुनाथदासजीने प्रभुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। सभी भक्त सम्भ्रमके सहित उनकी ओर देखने लगे। किसीने उन्हें पहचाना ही नहीं। रास्तेकी थकान और सर्दी-गर्मीके कारण उनका चेहरा एकदम बदल गया था। मुकुन्दने पहचानकर जल्दीसे कहा—'प्रभो! रघुनाथदासजी हैं।' प्रभुने अत्यन्त ही उल्लासके साथ कहा—'हाँ, रघु आ गया? बड़े आनन्दकी बात है।' यह कहकर प्रभुने उठकर रघुनाथदासजीका आलिङ्गन किया। प्रभुका प्रेमालिङ्गन पाते ही रघुनाथदासजीकी सभी रास्तेकी थकान एकदम मिट गयी। वे प्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे, प्रभु अपने कोमल करोंसे उनके अश्रु पोंछते हुए धीरे-धीरे उनके सिरपर हाथ फेरने लगे। प्रभुके सुखद स्पर्शसे सन्तुष्ट होकर रघुनाथदासजीने उपस्थित सभी भक्तोंके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और सभीने उनका आलिङ्गन किया।

रघुनाथदासजीके उतरे हुए चेहरेको देखकर प्रभुने स्वरूप दामोदरजी-से कहा—'स्वरूप! देखते हो न, रघुनाथ कितने कष्टसे यहाँ आया है।

इसे पैदल चलनेका अभ्यास नहीं है। बेचारेको क्या काम पड़ा होगा? इनके पिता और ताऊको तो तुम जानते ही हो। चक्रवर्तीजी (प्रभुके पूर्वाश्रमके नाना श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती) के साथ उन दोनोका भ्रातृभावका व्यवहार था, इसी सम्बन्धसे ये दोनों भी हमें अपना धेवता करके ही मानते हैं। घोर संसारी हैं। वैसे साधु-वैष्णवोंकी श्रद्धाके साथ सेवा भी करते हैं, किन्तु उनके लिये धन-सम्पत्ति ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। वे परमार्थसे बहुत दूर हैं। रघुनाथके ऊपर भगवान्‌ने परम कृपा की, जो इसे उस अन्धकूपसे निकालकर यहाँ ले आये।

रघुनाथदासजीने धीरे-धीरे कहा—'मैं तो इसे श्रीचरणोंकी ही कृपा समझता हूँ, मेरे लिये तो ये ही युगलचरण सर्वस्व हैं।'

महाप्रभुने स्नेहके स्वरमें स्वरूप गोस्वामीसे कहा—'रघुनाथको आजसे मैं तुम्हें ही सौंपता हूँ। तुम्हीं आजसे इसके पिता, माता, भाई, गुरु और सखा सब कुछ हो। आजसे मैं इसे 'स्वरूपका रघु' कहा करूँगा।' यह कहकर प्रभुने रघुनाथदासजीका हाथ पकड़कर स्वरूप गोस्वामीके हाथमें दे दिया। रघुनाथदासजीने फिरसे स्वरूप दामोदरजीके चरणोंमें प्रणाम किया और स्वरूप गोस्वामीने भी उन्हें आलिङ्गन किया।

उसी समय गोविन्दने धीरेसे रघुनाथको बुलाकर कहा—'रास्तेमें न जाने कहाँपर कब खानेको मिला होगा, थोड़ा प्रसाद पा लो।' रघुनाथजीने कहा, 'समुद्रस्नान और श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके अनन्तर प्रसाद पाऊँगा।' यह कहकर वे समुद्रस्नान करने चले गये और वहींसे श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते हुए प्रभुके वासस्थानपर लौट आये।

महाप्रभुके भिक्षा कर लेनेपर गोविन्दने प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद रघुनाथदासजीको दिया। प्रभुका प्रसादी महाप्रसाद पाकर रघुनाथजी वहीं निवास करने लगे। गोविन्द उन्हें नित्य महाप्रसाद दे देता था और ये उसे भक्तिभावसे पा लेते थे। इस प्रकार ये घर छोड़कर विरक्त-जीवन बिताने लगे।

श्रीरघुनाथदासजीका उत्कट वैराग्य

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः ।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥
आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः ।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः ॥*

(श्रीमद्भा० ७ । १५ । ३६, ४०)

वैराग्य ही है भूषण जिनका ऐसे श्रीरघुनाथदासजी पुरीमें आकर प्रभुके चरणोंके समीप रहने लगे । पाँच दिनोंतक तो वे गोविन्दसे

---

* जो त्रिवर्गके क्षेत्ररूप गृहसे प्रथम विरक्त होकर पुनः उन त्रिवर्गोंका ही सेवन करता है वह निर्लज्ज मानो वमन किये हुए अन्नको फिरसे खाता है ।

यदि ज्ञानद्वारा कामनाओंको नष्ट करके अपनेको परब्रह्मरूप जान लिया तो लम्पट पुरुष फिर किस कारण और किस इच्छासे इस नाशवान् देहको माल खिला खिलाकर मोटा बनाता है ।

महाप्रसाद लेकर पाते रहे। पीछे उन्होंने सोचा—"महाप्रसादको इस प्रकार रोज यहींसे खाना ठीक नहीं है। यहाँ प्रभुके समीप और भी तो विरक्त वैष्णव हैं, वे सभी अपनी-अपनी भिक्षा लाते हैं, मुझे भी अपनी भिक्षा स्वयं लानी चाहिये। विरागी होकर यदि भिक्षा माँगनेमें सङ्कोच हुआ, तो मेरे ऐसे वैराग्यको धिक्कार है।' यह सोचकर उन्होंने प्रभुके यहाँसे महाप्रसाद लेना बंद कर दिया।

रात्रिमें जगन्नाथजीकी पुष्पाञ्जलिके अनन्तर भगवान्‌को शयन कराकर सेवकगण अपने-अपने घरोंको चले जाते हैं। उस समय सिंह-द्वारपर बहुत-से अन्नार्थी दरिद्र भिक्षुक अपना पल्ला फैलाये खड़े रहते हैं। सेवक मन्दिरसे निकलकर कुछ थोड़ा-बहुत बचा हुआ प्रसाद उन्हें बाँट देते हैं। बहुत-से यात्री भी प्रसाद मोल मँगाकर थोड़ा-थोड़ा उन भिक्षुकोंको बँटवा देते हैं, कोई पैसा-धेला दे भी देता है। उस समयका वहाँका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक होता है। सभी भिक्षुक चाहते हैं कि सबसे पहले हमें ही प्रसाद मिल जाय, क्योंकि प्रसाद चुक जानेपर जिन्हें नहीं मिलता, उनके लिये बाँटनेवाले फिर थोड़े ही लाते हैं, इसीलिये बाँटनेवालेको चारों ओरसे घेर लेते हैं। जिसे मिल गया उसे मिल गया, जो रह गया सो रह गया, किन्तु वहाँ थोड़ा-बहुत प्रायः सभीको मिल जाता है। रघुनाथदासजी भी उन्हीं भिक्षुकोंमे अपनी फटी गुदड़ी ओढ़कर खड़े हो जाते थे। बिना माँगे किसीने सबोंके साथमें दे दिया तो ले लिया, किसी दिन चुक गया तो वैसे ही चले आये, वे बाँटनेवाले-पर अन्य भिक्षुकोंकी भाँति टूटे नहीं पड़ते थे।

महाप्रभुने जब दो-एक दिन रघुनाथदासजीको महाप्रसाद पाते नहीं देखा तब उन्होंने गोविन्दसे पूछा—"गोविन्द! रघु प्रसाद नहीं पाता। वह खाता कहाँसे है?"

गोविन्दने कहा—'प्रभो ! वे अब सिंहद्वारपर अन्य भिक्षुकोंके साथ खड़े होकर भिक्षा माँगते हैं।'

प्रभु इस बातको सुनकर बड़े ही सन्तुष्ट हुए और हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते हुए गोविन्दसे कहने लगे—'गोविन्द ! सचमुच रघु रत्न है, उसे सच्चा वैराग्य है। वैराग्य होनेपर मान, प्रतिष्ठा, इन्द्रियस्वाद और लोकलज्जाकी परवा ही नहीं रहती। त्यागी होकर जो परमुखापेक्षी बना रहता है, वह तो कूकरके समान है। त्यागीको अपनी वृत्ति सदा स्वतन्त्र रखनी चाहिये। भिक्षा माँगकर खाना ही उसके लिये परम भूषण है, और दूसरोंके अन्नकी इच्छा रखना ही भारी दूषण है। जो त्यागी होकर अपनी जिह्वाको वशमें नहीं कर सकता, घर छोड़नेपर जिसे भिक्षाका सङ्कोच है, वह तो इन्द्रियोंका गुलाम है। परमार्थका पथ उससे बहुत दूर है। वैरागीको निरन्तर नाम-जप करते रहना चाहिये। समयपर जो भी रूखा-सूखा भिक्षामें प्राप्त हो जाय उसीपर निर्वाह करके केवल कृष्ण-कथा-कीर्तनके निमित्त इस शरीरको धारण किये रहना चाहिये। रघुने यह बहुत सुन्दर काम किया।'

इतने त्यागसे रघुनाथजीको कुछ-कुछ शान्तिका अनुभव होने लगा। हजारों आदमी जिनके आश्रयसे खाते थे, आजसे पन्द्रह दिन पूर्व जो हजारों आदमियोंके स्वामी बने हुए थे, सेवक जिनके समीप सदा हाथोंकी अञ्जलियाँ बाँधे खड़े रहते थे, वे ही मजूमदारके प्यारे पुत्र रघु एक मुट्ठी सिद्ध अन्नके लिये घंटों सिंहद्वारपर खड़े हुए बाँटनेवालेकी प्रतीक्षा करते रहते हैं और कभी-कभी तो वैसे-के-वैसे ही चले जाते हैं। अपने आसनपर जाकर जल पीकर ही बिना कुछ खाये सो जाते हैं, कभी चावल न मिलनेपर कोई दयालु पुरुष पैसे-धेलेका चना दिलवा देता है उन्हें ही चबाकर पड़ रहते हैं। बढ़िया-बढ़िया व्यञ्जनोंके थालोंको आजसे पंद्रह

दिन पहले सेवक इस भयसे डरते-डरते लाते थे कि कहीं किसीमें अधिक नमक तो न पड़ गया हो, कोई पदार्थ अधिक गीला तो न रह गया हो। वे ही रघु आज सूखे चनोंको जलके साथ गलेके नीचे उतारते हैं। वाह रे वैराग्य! धन्य है तेरी शक्तिको, जो महान् विलासीको भी परम तितिक्षावान् बना देती है!

रघुनाथदासजीने एक दिन विनम्र भावसे स्वरूप गोस्वामीसे निवेदन किया—'प्रभुने मुझे घर-बार छुड़ाकर किस निमित्त यहाँ बुलाया है, इसे जाननेकी मेरी बड़ी अभिलाषा है। मुझे क्या करना चाहिये। मैं अपना कर्तव्य जानना चाहता हूँ।'—रघुनाथजी बड़े ही संकोची थे, वे प्रभुके सामने कभी भी अपने मुँहसे कोई बात नहीं निकालते थे। उनकी ओर कभी आँखें उठाकर देखते नहीं थे, जो कुछ कहलाना होता, उसे या तो स्वरूप गोस्वामीद्वारा कहलाते या गोविन्दके द्वारा। स्वयं वे सम्मुख होकर कोई बात नहीं पूछते थे।

एक दिन महाप्रभु स्वरूप गोस्वामीके साथ कथावार्ता कर रहे थे, उसी समय रघुनाथदासजीने आकर प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर स्वरूप गोस्वामीकी वन्दना करके चुपचाप पीछेको एक ओर बैठ गये।

प्रभुने हँसते हुए कहा—'तुम्हारा यह रघु तो बड़ा ही संकोची है, हमसे बोलता ही नहीं। हमें पता भी नहीं क्या करता रहता है। तुमसे तो सब बातें कहता होगा, तुम्हीं इसकी बातें बताओ!' एक घुटनेको खड़ा करके उससे अपने दायें कपोलको सटाकर नीची दृष्टि किये हुए रघुनाथजी चुपचाप बैठे थे। अपने ही सम्बन्धका प्रसंग छिड़नेपर वे और भी अधिक संकुचित-से बन गये। संकोचके कारण वे अपने अंगोंमें समा जाना चाहते थे, स्वरूप गोस्वामीने धीरे-धीरे कहा—'रघु बड़ा पुरुषार्थ करता है। आपसे बातें कहनेमें इसे संकोच होता है। कल मुझसे

कहता था (फिर रघुनाथदासजीकी ओर देखकर उन्हींसे कहने लगे) हाँ भाई ! तुम जो मुझसे कल प्रभुसे कहनेके लिये कहते थे, उसे अब तुम्हीं प्रभुसे पूछो ।'

प्रभुने पुचकारते हुए कहा—'हाँ भाई ! कहो क्या बात पूछना चाहते थे ?'

रघुनाथजी कुछ विवशताके भावसे सिरको थोड़ा और नीचा करके चुपचाप ही बैठे रहे, उन्होंने कुछ भी नहीं कहा । तब प्रभुने स्वरूप गोस्वामीसे कहा—'अच्छा, तुम्हीं बताओ क्या पूछना चाहता था ?'

स्वरूपजीने कुछ रुक-रुककर कहा—'कहता था कि मेरा घर-बार क्यों छुड़ाया है ? मेरा कर्तव्य क्या है ? मुझे क्या करना चाहिये—इन बातोंको प्रभुसे पूछो ।'

यह सुनकर प्रभु हँसने लगे और रघुनाथजीको लक्ष्य करके कहने लगे—'तुम्हारे गुरु तो ये ही स्वरूपजी हैं । मैंने तुम्हें इन्हींको सौंप दिया है । साध्यसाधनतत्त्व तो ये मुझसे भी अधिक जानते हैं । मुझे भी कोई बात पूछनी होती है, तो इन्हींसे पूछता हूँ ।' इतना कहकर प्रभु चुप हो गये और फिर अपने-आप ही कहने लगे—यदि तुम्हारी इच्छा ऐसी ही है कि मैं ही तुमसे कुछ कहूँ तो मैंने तो सभी शास्त्रोंका सार यही समझा है कि श्रीकृष्ण-कीर्तन और नाम-स्मरण ही संसारमें सुखका सर्वश्रेष्ठ साधन है । प्रेमकी उपलब्धि नाम-स्मरणसे ही हो सकती है । अब नाम-स्मरण कैसा बनके करना चाहिये, बस यही समझनेकी बात है ।

जिसे प्रेमकी प्राप्ति करनी हो उसे सबसे पहले साधु-संग करना चाहिये । भजन, कीर्तन, सत्संग, भगवत्-लीलाओंका स्मरण यही मुख्य कर्म है, इन धर्मोंका पालन करना चाहिये । संसारी लोगोंसे विशेष सम्बन्ध रखना, संसारी लोगोंसे इधर-उधरकी , बहुत-सी बातें करना,

दूसरोंकी निन्दा-स्तुति करना, इसीको ऋषियोंने लोकधर्म बताया है । इन बातोंसे सदा बचे रहना चाहिये । दूसरोंके गुण-दोषोंका कथन एकदम परित्याग कर देना चाहिये । यदि कुछ कहना ही हो तो दूसरोंके गुणोंको ही कहना चाहिये । दूसरोंके अवगुणोंपर तो ध्यान ही न देना चाहिये । चाहे कोई कितना भी बड़ा ज्ञानी, ध्यानी, मानी और पण्डित क्यों न हो, जहाँ उसने दूसरोंकी निन्दाके वाक्य मुखसे निकाले वहीं उसे पतित हुआ समझना चाहिये । दूसरोंके यथार्थ गुणोंकी स्तुतिके अनन्तर जहाँ यह वाक्य निकला कि 'अजी, और तो सब ठीक है; बस, उनमें यही एक दोष है' वहाँ ही वह दोष उस मनुष्यके हृदयमें प्रवेश कर जाता है । क्योंकि दोषोंके परमाणु अति सूक्ष्म होते हैं, जबतक वे हृदयमें प्रवेश नहीं करते,तबतक दूसरोंकी निन्दा हो नहीं सकती । निन्दा करनेमें हम तभी समर्थ हो सकेंगे, जब दोषोंके परमाणु हमारे हृदयमें आ जायँगे । ज्यों-ज्यों दूसरोंकी निन्दा करोगे, त्यों-ही-त्यों वे परमाणु बढ़ने लगेंगे और वे तुम्हारे हृदयकी पवित्रता, सरलता, सच्चरित्रता और ज्ञानार्जनकी इच्छा आदि सद्वृत्तियोंको दबाकर वहाँ अज्ञान और मोहका साम्राज्य स्थापित कर देंगे । इसलिये 'अदोषदर्शी होना यह वैष्णवोंके लिये सबसे मुख्य काम है । जो भगवद्भक्त महात्मा हैं, भागवत और साधु पुरुष हैं, उनकी निरन्तर सेवा करते रहना चाहिये । मान-प्रतिष्ठा और विषय-भोगोंकी इच्छा—इन सभीको कामतृष्णा कहते हैं । विरक्त पुरुषोंको इनसे सदा बचे रहना चाहिये । इस प्रकार सबसे विरक्त होकर निरन्तर भगवन्नामोंका जप, भगवल्लीलाओंका श्रवण और भगवत्-गुणोंका कीर्तन—ये ही सभी परमार्थके पथिकोंके लिये कर्तव्य कर्म हैं । इन कर्मोंके करनेवालेको कभी संसारमोह नहीं होता । मैं संक्षेपमें तुझे वैष्णवोंके मुख्य-मुख्य कर्म बताता हूँ ।

(१) ग्राम्यकथा कभी श्रवण नहीं करनी चाहिये, ग्राम्यकथा सुनने-से चित्तमें वे ही बातें स्मरण होती हैं जिससे भजनमें चित्त नहीं लगता ।

(२) ग्राम्यकथा कहनी भी न चाहिये। विषयी लोगोंकी बातें करनेसे चित्त विषयमय बन जाता है।

(३) अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ न खाने चाहिये, क्योंकि ऐसे पदार्थोंमें विषयलोलुपता बढ़ती है।

(४) अच्छे, चमकीले और बहुत स्वच्छ वस्त्र न पहनने चाहिये, क्योंकि उनके पहननेसे जीवनमें बनावट आती है और बनावटसे वृत्ति बहिर्मुखी बन जाती है।

(५) सदा अभिमानरहित होकर बर्ताव करना चाहिये। हृदयमें अभिमान आते ही सभी साधन नष्ट हो जाते हैं।

(६) दूसरोंको सदा मान देते रहना चाहिये, दूसरोंको मान देने-से आत्माका सम्मान होता है और आत्मसम्मान ही सर्वश्रेष्ठ सम्मान है। इसके सामने सभी सम्मान तुच्छातितुच्छ हैं।

(७) सदा, सर्वत्र और सब अवस्थाओंमें भगवन्नामोंका जप करते रहना चाहिये। नामजपसे श्रीकृष्णचरणोंमें प्रीति उत्पन्न होती है।

(८) शुद्ध और श्रेष्ठ भावसे श्रीभगवान्‌की पूजा करते रहना चाहिये। मानसिक पूजा ही सर्वश्रेष्ठ पूजा है।

इस प्रकार इन धर्मोंके पालन करनेवाले वैष्णवको ही प्रभुप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है।

महाप्रभुके उपदेशामृतको पान करके रघुनाथदासजीकी साध्य-साधनतत्त्वजिज्ञासारूपी पिपासा भलीभाँति शान्त हो गयी। उस दिनसे वे अहर्निश नामसंकीर्तन ही करते रहते। दिन-रात्रिके आठ पहरोंमेंसे वे साढ़े सात पहर भगवन्नामोंका जप करते रहते और आधा पहर भोजन तथा शयनमें बिताते।

उसी समय पीछे आनेवाले गौड़ीय भक्त भी पुरी आ गये। और सदाकी भाँति चार महीने रहकर देशको लौट गये, गोवर्धनदासजी मजूमदारने जब भक्तोंके पुरीसे लौटनेका समाचार सुना तो उन्होंने उसी समय अपना आदमी शिवानन्दजीके पास भेजकर रघुनाथदासजीका पता लगवाया। सेन महाशयके यहाँ पहुँचकर आदमीने उन्हें प्रणाम करके पूछा—'मेरे स्वामीने आपसे पुछवाया है कि मेरा लड़का रघुनाथदास यहाँसे पुरी भाग गया है, वह आपको पुरीमें तो नहीं मिला ?'

सेन महाशयने कहा—'पुरीमें सभी विरक्त वैष्णवोंसे अधिक रघुनाथदास तितिक्षु हैं। उनका नाम वहाँ सभी जानते हैं। वे सिंहद्वारपर भिक्षा जो मिल जाता है, उसे ही खाकर अहर्निश श्रीकृष्णकीर्तन करते रहते हैं। वे सकुशल प्रभुके पादपद्मोंके समीप निवास कर रहे हैं।'

सेवकने सभी वृत्तान्त सप्तग्राममें जाकर अपने स्वामीसे कह दिया—'मेरा इकलौता पुत्र एक मुट्ठी चावलोंके लिये मन्दिरके द्वारपर खड़ा रहता है।' इस समाचारको सुनते ही धन-सम्पत्तिको ही सब कुछ समझनेवाला पिता शोकसे 'हाय, हाय' करने लगा। माता अश्रुओंसे पृथ्वीको भिगोने लगी। अन्तमें पिताने अपने पुत्रके लिये ४००) देकर एक सेवक और रसोइया शिवानन्दजी सेनके पास भेजा। सेन महाशयने कहा—'अभी जाड़ेके दिन हैं, तुमलोग कहाँ जाओगे ? चार-पाँच महीने ठहरो, जब हम चलेंगे तभी चलना।' सेवक इस उत्तरको सुनकर लौट आये और जब सेन महाशय दूसरी बार वर्षाके आरम्भमें चलने लगे, तब रुपये लेकर वे सेवक भी उनके साथ चले। पुरीमें पहुँचकर सेवकोंने रघुनाथदासजीको उनके पिताका सभी समाचार सुनाया और जो द्रव्य वे साथ लाये थे, उसे भी उन्हें देना चाहा, किन्तु उन्होंने द्रव्य लेना स्वीकार नहीं किया। रघुनाथदासजीके अस्वीकार करनेपर भी सेवक द्रव्य लेकर वहीं रहने लगे।

रघुनाथदासजीने सोचा—'जब द्रव्य आ ही गया है, तो इसके द्वारा प्रभुकी सेवा ही क्यों न की जाय ।' यही सोचकर वे महीनेमें दो बार प्रभुका निमन्त्रण करते और उन्हें भगवान्‌के प्रसादीके सुन्दर-सुन्दर पदार्थ लाकर भोजन कराते । प्रभु इनकी प्रसन्नताके निमित्त इनके निमन्त्रणपर जाकर भिक्षा कर आते थे । इस प्रकार दो वर्षोंतक रघुनाथदासजी प्रभुका निमन्त्रण करते रहे । उसमें खर्च ही क्या होना था, महीनेमें लगभग आठ आने खर्च होते थे ।

एक दिन रघुनाथदासजीने सोचा—'जब मैंने घर-बार, कुटुम्ब-परिवार सबको छोड़ दिया है और सबसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया है, तो फिर मैं पिताके रुपयोंसे प्रभुका निमन्त्रण भी क्यों करूँ ? इस निमन्त्रणसे प्रभु सन्तुष्ट थोड़े ही होते होंगे । वे तो मेरी प्रसन्नताके निमित्त यहाँ आकर भिक्षा कर जाते हैं ।' यह सोचकर उन्होंने प्रभुका निमन्त्रण करना बंद कर दिया ।

एक दिन प्रभुने स्वरूप गोस्वामीसे पूछा—'स्वरूप ! न जाने क्या बात है, अब रघु हमारा निमन्त्रण नहीं करता । कहीं नाराज तो नहीं हो गया ?'

स्वरूप गोस्वामीजीने कहा—'प्रभो ! रघुने सोचा होगा, विषयी लोगों-के द्रव्यसे प्रभुका निमन्त्रण करनेसे क्या लाभ ? इससे प्रभु भी सन्तुष्ट न होते होंगे और मेरे मनमें भी संकल्प-विकल्प रहता है, यही सोचकर उन्होंने निमन्त्रण करना छोड़ दिया ।

प्रभुने कहा—'स्वरूप ! तुम ठीक कहते हो । विषयी लोगोंके अन्न खानेसे रजोगुणके भावोंकी वृद्धि होती है । विषयी लोगोंके अन्नमें कामनाओंके परमाणु रहते हैं । संसारी लोग कामनाशून्य होकर तो अपने जामाताको भी नहीं खिलाते । सकाम परमाणुओंसे बुद्धि भी मलिन

हो जाती है और मलिन बुद्धिसे श्रीकृष्णकीर्तन हो नहीं सकता । अतः जहाँतक हो, विषयी धनिक पुरुषोंके अन्नसे तो बचना ही चाहिये । मैं तो रघुके प्रेमसंकोचसे आजतक चला जाता था, उसने बड़ा अच्छा किया जो निमन्त्रण बंद कर दिया ।' इतना कहकर प्रभु स्वरूप गोस्वामीसे रघुनाथजीके त्याग और वैराग्यकी बड़ाई करने लगे ।

इधर अब रघुनाथदासजीको सिंहद्वारपर खड़े होकर माँगना कुछ बुरा-सा प्रतीत होने लगा । लोग उनसे परिचित हो गये थे, इसलिये बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदार्थ देने लगे । प्रभुने सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थोंके खानेके लिये निषेध कर दिया था; इसलिये उन्होंने सिंहद्वारकी भिक्षा भी बंद कर दी । अब वे भिक्षुकोंके साथ क्षेत्रमें जाकर वहाँसे प्रसादी भात ले आते थे ।

महाप्रभु सायंकालके समय रोज रघुनाथजीको सिंहद्वारपर खड़ा हुआ देख जाते थे । जब उन्होंने दो-चार दिन रघुनाथदासजीको वहाँ नहीं देखा तब उन्होंने एक दिन गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द ! रघु अब सिंहद्वारपर नहीं दीखता, पता नहीं, वह अब कहाँसे भिक्षा करता है ?'

गोविन्दने कहा—'प्रभो ! अब उन्होंने सिंहद्वारकी भिक्षा बंद कर दी है, अब वे क्षेत्रसे जाकर दिनमें ही माँग लाते हैं ।'

प्रभुने सन्तुष्टिके स्वरमें कहा—'रघुने यह सर्वोत्तम कार्य किया । सिंहद्वारपर भिक्षाकी लालसासे खड़े रहना वेश्यावृत्ति है । मुँहसे भले ही नाम-जप करते रहो, चित्तमें सदा यही बनी रहती है कि कोई अब देनेवाला आ जाय । यह आवेगा तो जरूर कुछ-न-कुछ देगा । अच्छा, इसने नहीं दिया तो यह तो जरूर ही कुछ देगा । बस, ये ही भाव उठते रहते हैं । क्षेत्रमें अच्छा है अपना एक बार जाकर ले आये और श्रीकृष्णकीर्तन करते रहे ।' इतनेमें ही स्वरूप गोस्वामी आ गये । उन्हें

देखते ही प्रभु उल्लासके स्वरमें कहने लगे—'हाँ, हाँ, तुम खूब आ गये, कैसे ठीक समयपर पहुँचे। अभी-अभी तुम्हारे रघुका ही प्रसङ्ग चल रहा था। उसने सिंहद्वारकी भिक्षा क्यों बंद कर दी है?'

स्वरूप गोस्वामीने धीरेसे कहा—'वह विचित्र है, जहाँ उसे कुछ भी वैराग्यमें कमी दीखती है, वहीं उस कामको बंद कर देता है। उसने सिंहद्वारकी भिक्षामें कुछ दोष देखा होगा।'

प्रभुने कहा—'उसकी इस बातसे हम बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हैं, उसे बुलाओ तो सही कहाँ है?'

गोविन्द उसी समय जाकर रघुनाथदासजीको बुला लाये। प्रभुको और स्वरूप गोस्वामीको प्रणाम करके धीरे-धीरे भगवन्नामोंका उच्चारण करते हुए रघु स्वरूपके एक ओर बैठ गये। प्रभु जल्दीसे उठे और भीतरसे कुछ चीज उठाकर ले आये।

प्रभु आकर रघुनाथजीके ही समीप बैठ गये। रघुनाथदासजी संकोचके कारण और भी अधिक सिकुड़ गये। प्रभु उनके सुन्दर बालोंपर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए कहने लगे—'रघु! मैं तुमपर बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हूँ। मैं प्रसन्न होकर तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ, किन्तु मुझ निष्किञ्चनके पास देनेको और है ही क्या? जो मेरी सबसे प्यारी सम्पत्ति है, उसे ही तुम्हें देकर मैं सन्तुष्ट हूँगा। शङ्करारण्य सरस्वती वृन्दावन गये थे, उन्होंने वृन्दावनसे लौटकर यह गुञ्जामाला और यह गोवर्धन पर्वतकी शिला प्रसादीरूपमें मुझे दी थी। तुम तो जानते ही होगे कि गिरिराज गोवर्धन पर्वत तो श्रीकृष्णका साक्षात् विग्रह ही है। श्रीकृष्णमें और गोवर्धनमें किसी भी प्रकारका भेदभाव नहीं है। इसीलिये आज तीन वर्षोंसे मैं इस सुन्दर शिलाको अपने नेत्रजलसे स्नान कराता रहा हूँ। मेरी विकलताकी अवस्थामें यह शिला मेरे हृदयको शीतल

चनाती रही है। इसके स्पर्शसे मेरी आँखें पवित्र हुई हैं। ललाट धन्य हुआ है, अनेकों बार इसने मेरे हृदयको परम शीतलता प्रदान की है। भगवान्‌को गुञ्जामाला बहुत प्रिय थी, वे गोवर्धन पर्वतसे गुञ्जोंको पेड़ोंसहित उखाड़-उखाड़कर उनकी मालाएँ बनाकर स्वयं पहनते और अपने साथी गोप-ग्वालोंको भी पहनाते। इसीलिये मैं इसे भजनके समय पहना करता हूँ। ये दोनों वस्तुएँ मुझे अत्यन्त ही प्रिय हैं, इन्हें मैं तुम्हें सौंपता हूँ। तुम आजसे इस गोवर्धनशिलाकी सात्त्विक पूजा किया करना। सात्त्विक पूजामें एक कमण्डलु जल और तुलसीपत्र बस इतनी ही वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। जलसे स्नान करा दिया; तुलसी चढ़ा दी और भक्तिभावसे दण्डवत् कर ली, यही सात्त्विक सेवाका विधान है। तुलसी तथा जलके अभावमें केवल श्रद्धासहित प्रणाम करनेसे भी काम चल सकता है। लो सम्हालो अपनी चीजोंको।'

प्रभुप्रदत्त उन दोनों वस्तुओंको पाकर रघुनाथजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे प्रभुकी इस अपार कृपाके बोझसे दब-से गये। उन्होंने अत्यन्त ही पुलकित अङ्गसे प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भक्तिभावसे उन दोनों पूज्य वस्तुओंको हाथ फैलाकर दीन भिक्षुककी भाँति उन्हें स्वीकार किया। उस दिनसे वे उस शिलाकी पूजा करने लगे। पूजाके लिये एक-एक बिलस्तके दो वस्त्र और एक काष्ठका आसन स्वरूप गोस्वामीने इन्हें दिया और मिट्टीका एक टोंटनीदार करवा भी लाकर इन्हें दिया। इनके द्वारा ये भगवान्‌की सात्त्विक पूजा करते। इनका वैराग्य बड़ा ही उत्कट था। साधारण लोगोंको तो इनके वैराग्यकी कथा सुनकर विश्वास ही न होगा।

ये वस्त्रोंमें बस एक फटी गुदड़ी ही रखते। गुदड़ीके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वस्त्र नहीं पहनते थे। रात्रिमें केवल घंटे-डेढ़-घंटे

सोते थे, नहीं तो निरन्तर भगवन्नामस्मरण ही करते रहते। जिह्वाका स्वाद तो इन्होंने घर छोड़नेपर फिर कभी लिया ही नहीं। भिक्षामें जो भी रूखा-सूखा, मीठा-कड़वा जो कुछ मिल जाता सबको मिला-जुलाकर खा लेते थे। अब इनके घोर वैराग्यकी एक अद्भुत कथा सुनिये। इससे इनकी तितिक्षा, सहनशीलता, जिह्वासंयमकी कठोरता और निष्किञ्चनताका पता लग जायगा।

ये दोपहरको क्षेत्रसे भिक्षा लाते थे। उसमें भी इन्हें कुछ परतन्त्रता-सी दिखायी देने लगी। भण्डारी इन्हें अधिक भिक्षा देने लगा तथा और भी इन्होंने उसमें संग्रहके भाव देखे। अतः इन्होंने क्षेत्रसे अन्न लाना भी बंद कर दिया। अब ये दूसरी ही तरह इस पेटरूपी गड्ढेको आटने लगे।

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि जगन्नाथजीमें दूकानोंपर भगवान्‌का प्रसादी भात बिकता है, दूकानदारोंकी दूकानपर जब दो-तीन दिन भात नहीं बिकता है, तो वह सड़ जाता है। उस सड़े हुए चावलोंको वे गौओंके लिये रास्तेमें फेंक देते हैं। तैलङ्गदेश वहाँसे पासमें ही है, पुरीमें बड़ी-बड़ी तैलङ्गी गौएँ वैसे ही इधर-उधर घूमती रहती हैं, उनका पेट इसी प्रकारके भातसे भर जाता है। सिंहद्वारके समीपमें बहुत-सी दूकानें हैं, उन्हींपर प्रसाद बिकता है। सड़े भातको वे वहीं डाल देते हैं, गौएँ भी पेट भरनेपर उस सड़े भातको नहीं खाती हैं। उसी भातको सायंकालके समय रघुनाथदासजी उठा ले जाते थे। फिर उसमें बहुत-सा जल डालकर धोते थे। उनमेंसे बहुत सड़े-सड़े दानोंको बीन-बीनकर वे निकाल देते और जो कुछ अच्छे चावलके दाने शेष रह जाते उन्हें ही थोड़े नमकके साथ खाकर वे पानी पी लेते थे। बस, इसी प्रकार वे समय बिताने लगे। इस सारे कामको वे रात्रिमें ही करते थे, जिसमें कोई देखने न पावे।

भक्त रघुनाथदास और श्रीचैतन्य

एक दिन स्वरूप गोस्वामीने इन्हें इस भातको खाते हुए देख लिया। उन्होंने हँसकर कहा—'क्यों रघु! अकेले-ही-अकेले ऐसे सुस्वादु पदार्थको खा जाते हो, हमें एक दिन भी नहीं देते।' रघुनाथदासजी कुछ लज्जितभावसे चुप हो गये।

महाप्रभु तो अपने भक्तोंकी एक-एक बातकी खोज-खबर रखते थे। एक दिन प्रभुने गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द! मालूम पड़ता है, रघु अब क्षेत्रसे भी भिक्षा नहीं लाता। यह भिक्षा कहाँ करता है?'

गोविन्दने रघुनाथदासका सभी वृत्तान्त सुना दिया। सुनकर प्रभुके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उसी दिन सायंकालके समय प्रभु रघुनाथजीके स्थानपर गये। उस समय वे धीरे-धीरे उस सुस्वादु अन्नको खा रहे थे। प्रभु धीरे-धीरे जाकर उनके पीछे खड़े हो गये। रघुनाथदास-जीको क्या पता कि मेरे पीछे कौन खड़ा है? ज्यों ही उन्होंने ग्रासको मुँहमें दिया त्यों ही प्रभुने धीरेसे कहा—'क्यों जी, स्वरूपके रघु! हमारा निमन्त्रण भी बंद कर दिया और ऐसे सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंको भी आप-ही-आप छिपकर चुपके-चुपके खा जाते हो, हमें इसमेंसे कुछ भी नहीं देते।' यह कहकर प्रभुने उनके पात्रमेंसे एक मुट्ठी चावल जल्दीसे उठाकर अपने मुँहमें डाल लिये।

'हाय, हाय' करते हुए अत्यन्त ही करुण स्वरमें रघुनाथदासजी रोते-रोते और उस पात्रको दोनों हाथोंसे पकड़े हुए कहने लगे—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं? नाथ! यह आपके योग्य नहीं है। प्रभो! इस गले हुए उच्छिष्ट अन्नको खाकर मुझे पापका भागी न बनाइये।' मुँहमें भरे हुए ग्रासको जल्दी-जल्दी प्रभु खाते हुए फिर दूसरा ग्रास लेनेके लिये उनकी ओर लपके, इतनेमें ही हल्ला-गुल्ला सुनकर स्वरूप गोस्वामी भी वहाँ आ उपस्थित हुए। प्रभुको रघुनाथसे भात छीनते देख-

कर उन्होंने उनका हाथ पकड़ लिया और कहने लगे—'प्रभो! यह आपके योग्य नहीं है।'

प्रभु उस सूखे भातको कठिनतासे निगलते-निगलते कहने लगे—'स्वरूप! तुमसे मैं सत्य कहता हूँ, जितना स्वाद आजके इन चावलोंमें आया है, उतना जीवनपर्यन्त किसी भी पदार्थमें नहीं मिला।' अहा, धन्य है, ऐसी भक्तवत्सलताको। हे प्रभो! यह आपके वैराग्यका ही स्वाद है। हे गौर! तुम्हीं जीवोंको प्रेम प्रदान करते हो और फिर तुम्हीं उसका रसास्वादन करके मग्न होते हो। हे चैतन्य! तुम्हारी लीला विचित्र है, तुम्हारी माया अपरम्पार है। हम पाप-पंकमें फँसे हुए विषयोंको ही सर्वश्रेष्ठ सुख समझनेवाले क्षुद्र प्राणी तुम्हारी लीलाओंका रहस्य समझ ही क्या सकते हैं। जिसके ऊपर तुम कृपा करते हो, वह संसार-सागरसे बात-की-बातमें पार हो जाता है।

इस प्रकार महामना श्रीरघुनाथदासजी चैतन्यचरणोंकी अपार अनुकम्पाका अनुभव करते हुए सोलह वर्षोंतक पुरीमें इसी प्रकारका त्याग-वैराग्ययुक्त प्रेममय जीवन बिताते रहे।*

* आगेकी पुण्य लीलाओंके लिये पाँचवाँ खण्ड देखनेकी प्रार्थना है।

श्रीहरिः

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

(पञ्चम खण्ड)

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥

लेखक—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९१	प्रथम	संस्करण	३,२५०
सं० १९९४	द्वितीय	संस्करण	३,०००
सं० २००९	तृतीय	संस्करण	१०,०००
		कुल	१६,२५०

मूल्य—
अजिल्द ॥।) बारह आना
सजिल्द १=) एक रुपया दो आना

श्रीहरिः

विषय-सूची

चित्र-सूची

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

मीठी मुरलीके बजानेमें जो प्रवीण है, पीताम्बर ही जिसका परम प्रिय परिधान है, पके हुए पेंचूके समान अरुण रंगके जिसके अधर हैं, सुन्दर, शीतल, सुखद, सौम्य और सुहावना जिसका मुखारविन्द है, जो सदा मन्द-मन्द मुस्कराता ही रहता है, विषादसे जिसका वैर है और कमलके समान खिले हुए, खुले हुए, कुछ-कुछ टेढ़े हुए और कानोंतक मिले हुए जिसके दोनों नेत्र हैं, उस काले कृष्णको छोड़कर जाना चाहूँ भी तो किसकी शरणमें जाऊँ ? इसलिये उस निठुरकी ही पदधूलिको मस्तकपर चढ़ाता हूँ ।

श्रीहरिः

समर्पण

हे नाथ हे रमानाथ व्रजजनार्तिनाशन ।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवे ॥

प्यारे ! लो, तुम्हारा काम तो पूरा हो गया, किन्तु हृदयमें बड़ी हलचल पैदा हो गयी । सभी प्रिय बन्धु छोड़कर चले गये । गम्भीरा-मन्दिरमें उन्मत्त हुए चैतन्यका चित्र हृदयपटलपर ज्यों-का-त्यों ही अङ्कित है । प्यारे ! अब कबतक ऐसा जीवन और बितवाओगे ? हृदयरमण ! चैतन्यदेवके रुदनमें, उनकी मस्तीमें, उनके विरहमें, उनकी बेकली और बेचैनीमें मेरा कुछ भी साझा नहीं है क्या ? बस, जीवनमें हृदयसे, सच्चे दिलसे, एक बार जोरोंकी आह निकल जाय, वह यह कि—

हा हन्त हा हन्त कथं न यामि ।

'इस ऐसे शुष्क जीवन-भारको कबतक और ढोता रहूँ' तो यह जीवन धन्य हो जाय, प्यारे ! कभी ऐसी आह निकलेगी भी क्या ?

वैशाखी पूर्णिमाकी सन्ध्या संवत् १९८९	तुम्हारा ही अकिञ्चन 'प्रभु'

अन्तिम निवेदन

भ्रमन् वनान्ते नवमञ्जरीषु
न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्नन् ।
सा किं न रम्या स च किं न रन्ता
'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' ॥*

(सु० र० भां० ९६ । ५९)

विधिका कैसा विचित्र विधान है, 'दयानिधिकी गतिको कौन समझ सकता है । 'विश्वमें उनकी इच्छाके विना पत्ता भी नहीं हिलता' यह कितना ध्रुव सत्य है । जिसे हम करना नहीं चाहते दैव उसे करा लेता है । जो हम करना चाहते हैं, दैवके प्रतिकूल होनेसे उसे हम नहीं कर सकते । हम एक अदृश्य शक्तिके हाथके खिलौने हैं, तभी तो कहा है 'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' अर्थात् ईश्वरकी इच्छा ही बड़ी बलवती है ।

परसालके विचारोंका स्मरण होता है, कुछ लज्जा भी आती है और हँसी भी । लज्जा तो अपनी दुर्बलता और कमजोरीके कारण आती है और हँसी अपने अज्ञानजन्य विचारोंपर । परसाल यही वैशाख-ज्येष्ठका महीना था, गङ्गाजीके किनारेकी तप्त बालुकामें ठीक-ठीक दोपहरीमें पैदल चलता था । किसी दिन बीस मील तो किसी दिन पचीस मील । प्रातः-

---

* उपवनके भीतर नयी-नयी मञ्जरियोंपर झूमते हुए भौंरेने चम्पाकी गन्ध न ली ? क्या वह रमणीय न थी या वह भौंरा ही रमनेवाला नहीं था ? नहीं, 'असलमें केवल भगवान्‌की इच्छा ही प्रबल है ।'

कालसे बारह बजेतक चलता ही रहा । बारह-एक बजे जहाँ भी गाँव मिल गया रोटी माँगी, खायी और फिर चल पड़ा । उन दिनों चलते रहना ही जीवनका व्यापार था । आज तो गङ्गाजीकी उस तप्त बालुकामें होकर बारह बजे नंगे पैरों स्नान करने जाता हूँ, तो कष्ट प्रतीत होता है, किन्तु उन दिनों तो एक धुन सवार थी । धुनमें कष्ट कहाँ ! वहाँ तो लक्ष्यपर पहुँचना ही एकमात्र ध्येय रह जाता है । कष्ट, असुविधाएँ ये सब पीछे ही पड़ी रह जाती हैं । परसाल इन दिनों स्वप्नमें भी विचार नहीं था कि अब इसी स्थितिमें लौटकर फिर इसी जगह गङ्गाकिनारे आना पड़ेगा । मैं अपनेको पूर्ण त्यागका अधिकारी मान बैठा था । सोचता था—'चलो, पिण्ड छूटा, अब न लिखना पड़ेगा, न पढ़ना । बस—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव ।

यही जीवनभर एकमात्र रट रहेगी । कलमका अब क्या काम !'

कानपुरके समीप नानामऊ नामक एक स्थानमें पूज्यपाद श्रीअनंगबोधाश्रमजी महाराज मिले । उनसे तीन-चार वर्ष पूर्वका ही परिचय था । तितिक्षाकी तो साक्षात् मूर्ति हैं । मैंने अपने जीवनभरमें इतनी तितिक्षा करनेवाला दूसरा व्यक्ति आजतक नहीं देखा । वे महापुरुष दस-पंद्रह वर्षसे सदा दिगम्बर-वेषमें ही रहते हैं । जाड़ा हो, गर्मी हो, चाहे मूसलाधार जल गिरता हो, वे सदा नंगे ही रहते हैं । माघ-पूसके जाड़ेमें गङ्गाजीके किनारे कितनी सर्दी होती है, इसे गङ्गाकिनारेपर रहनेवाले व्यक्ति ही समझ सकते हैं, परन्तु वहाँ नंगे रहनेवाले व्यक्ति मैंने और भी बहुत-से देखे हैं, किन्तु ये महापुरुष तो ज्येष्ठ-वैशाखकी धूपमें बारह बजेसे चार बजेतक गङ्गाजीकी दहकती बालूमें जान-बूझकर पड़े रहते हैं । कोई पुरुष इसका अनुमान भी नहीं लगा सकता । किन्तु यह कविकल्पना थोड़े ही है, प्रत्यक्ष बात है । वे महापुरुष कहीं चले थोड़े ही गये हैं, अब भी गङ्गाकिनारे वे कहीं तपी हुई बालूमें ही पड़े होंगे.। वे अधिकतर

कानपुर (या शायद उन्नाव) के जिलेमें 'बक्सर' नामक ग्राममें कभी-कभी दो-चार महीनेके लिये ठहर जाते हैं। नहीं तो काशीसे ऋषिकेशतक गङ्गाके किनारे-किनारे ही विचरते रहते हैं। काशीसे आगे नहीं बढ़ते और ऋषिकेश-से ऊपर नहीं चढ़ते। सहसा पड़े हुए मिल गये। मुझे टाटकी लँगोटी पहने देखकर हँसने लगे, बोले—'लिखना-पढ़ना बिल्कुल छोड़ दिया न ? अब तो लिखने-पढ़नेकी कोई वासना नहीं है ?' मैंने कुछ गर्वपूर्ण नम्रताके साथ कहा—'जी नहीं, अब कोई वाञ्छा नहीं। सब फेंक-फाँक आया।' आप हँसने लगे और बोले—'यह शास्त्र-वासना भी बड़ी प्रबल वासना होती है, इसका छूटना बड़ा कठिन है, चलो, भगवान्‌की तुम्हारे ऊपर बड़ी कृपा हुई जो तुम्हारी यह वासना छूट गयी।' मैं चुप रहा। वहीं निश्चय हुआ कि हरिद्वारतक साथ-ही-साथ चलेंगे। किन्तु हमारा-उनका साथ कैसा ? वे महापुरुष यदि चलें तो एक दिनमें पचास-पचास साठ-साठ मील चले जायँ और न चलें तो दस-दस बीस-बीस दिन एक ही स्थानपर पड़े रहें। चलते समय वे रात्रि, दिन, दोपहरी, वर्षा किसीकी भी परवा नहीं करते थे। अस्तु, मैंने कहा—'जहाँतक चल सकेंगे साथ-साथ चलेंगे।'

उन महापुरुषके साथ मैं चलने लगा। उनसे किसी प्रकारका सङ्कोच या भय तो था ही नहीं। जिस प्रकार निर्भीक पुत्र अपने सरल पितासे सभी बातें बिना किसी सङ्कोचके करता है, उसी प्रकार उनसे बातें होतीं। उनके जीवनमें सचमुच मस्ती थी। मुझसे वे अनुमानसे दुगुने लंबे होंगे। लंबा और इकहरा पतला शरीर था, चिरकालकी घोर तितिक्षाके कारण उनके शरीरका चर्म जंगली भैंसेके समान काला और मोटा पड़ गया था, दूरसे देखनेसे बिल्कुल प्रेत-से प्रतीत होते। जब वे अपने सम्पूर्ण शरीरमें गङ्गारज लपेट लेते तब तो उनके देव होनेमें किसीको सन्देह ही न रहता। गङ्गाजीकी धाराको छोड़कर वे पगभर भी

नहीं जाते थे । बिल्कुल तीरपर ही कोई गाँव मिल जाय तो भिक्षा कर ली, नहीं तो हरि-इच्छा । माताके दर्शनोंसे वे अपनेको वञ्चित रखना नहीं चाहते थे । विरक्ती मस्ती ही तो ठहरी । दिनमें बीसों बार गङ्गाजी-को पार करते, कभी इस पारपर चलने लगते तो कभी उस पार पहुँच जाते । गर्मियोंमें प्रायः सर्वत्र ही गङ्गाजी पार उतरनेयोग्य हो जाती हैं, वे घाट-कुघाटकी कुछ भी परवा नहीं करते; जहाँ मौज आयी वहीं पार हो गये । भय तो उन्हें होना ही किसका था । मैं भी उनका अनुकरण और अनुसरण करने लगा । एक स्थानपर पार उतर रहे थे, उनके पास तो कुछ वस्त्र या पात्र था ही नहीं, जल्दीसे पार हो गये । मेरे पास जलपात्र था, लँगोटी थी और एक टाटकी चादर थी । जल अधिक था, मेरी लँगोटी आदि भीग गयी । वे महापुरुष हँसकर बोले—'ब्रह्मचारी ! इस लँगोटीकी भी इल्लत ही है, इसे भी फेंक दो ।' बस, इतना सुनना था, कि मैंने लँगोटी फेंक दी । चदरा फेंक दिया और कमण्डलु भी इधर-उधर लुढ़कने लगा । उस समय अपनेको दिगम्बर-वेषमें देखकर मुझे बड़ा ही आनन्द आया । वे महापुरुष जोरोंसे हँसते हुए कहने लगे—'अभी नहीं भाई ! अभी नहीं । अभी तो इतने वस्त्र ठीक ही हैं । जब लँगोटी छोड़नेका समय आवेगा, तब मैं बताऊँगा ।' मैंने भी कुछ बिल्कुल छोड़नेकी इच्छासे लँगोटी नहीं फेंकी थी, उनकी आज्ञा पाते ही लँगोटी पहन ली ।

इस बातका कटु अनुभव मुझे वहीं हुआ कि शरीरका प्रारब्ध महापुरुषोंको भी नहीं छोड़ता । शारीरिक दुःख-सुख सभीको भोगने पड़ते हैं, किन्तु भगवत्परायण विज्ञानी पुरुष उन्हें अपनेमें नहीं समझता । वह द्रष्टाकी भाँति दूर खड़ा होकर दुःख-सुखको देखता रहता है । इतने बड़े तितिक्षु महापुरुषको भी शारीरिक पीड़ा बेचैन बनाये हुए थी । उनके आधे मस्तकमें घोर दर्द हो रहा था, उनकी पीड़ा असह्य थी, किन्तु वे उसे बड़े साहसके साथ सहन कर रहे थे । मुझे पेटकी भयङ्कर

पीड़ा प्रायः होती है, उसी अनुभवके आधारपर मैं कह सकता हूँ कि उनकी पीड़ा बड़ी ही भयङ्कर थी, वे उसके कारण बेचैन थे। उन्हें कहीं लक्ष्य बनाकर जाना-आना तो था ही नहीं। उनकी मौज आती फिर पीछे लौट जाते। मेरा तो लक्ष्य अति शीघ्र श्रीबदरीनारायण पहुँचना था, अतः वे महात्मा एक स्थानपर डट गये। मैं रामपाळजीके साथ उनकी चरण-वन्दना करके आगे चल पड़ा। मैं उनके दुःखको किसी प्रकार बटा ही नहीं सकता था, जानेकी शीघ्रताके कारण मैं उनके साथके लिये नहीं रुक सका।

रास्तेमें मैं सोचता था—"ये महापुरुष कहते हैं, अभी नहीं, अभी कुछ देरी है। मुझे अब क्या देरी है। नीचे कुछ लोगोंका सङ्कोच अवश्य है। पहाड़पर आप-से-आप लँगोटी उतर पड़ेगी, फिर चेष्टा नहीं करूँगा। कौन जानता था कि लँगोटीके साथ कम्बल और बिछौना-ओढ़ना भी रखना पड़ेगा।

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबा उन दिनों कासगंजमें पधारे हुए थे। सोरोंसे हम गङ्गाकिनारा छोड़कर उनके दर्शनोंके लिये गये। परम वात्सल्य-स्नेह प्रकट करते हुए रामपाळजीसे मेरी सभी छोटी-बड़ी बातें पूछीं, मेरे पैरोंमें बड़ी-बड़ी बिवाइयोंको देखकर उनका नवनीतके समान स्निग्ध हृदय वात्सल्य-स्नेहके कारण द्रवीभूत होने लगा। उन्होंने अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—"भैया! इतनी तितिक्षा ठीक नहीं। थोड़ा कम चला करो।" किन्तु मैं तो इसे तितिक्षा समझता ही नहीं था। शीघ्र-से-शीघ्र श्रीबदरीनारायण पहुँचना ही मेरा लक्ष्य था। उन दिनों "कल्याण" का श्रीकृष्णाङ्क निकलनेवाला था। महाराज उसके लिये माँगे गये लेखों-की विषय-सूची पढ़वा रहे थे। बीचमें ही आप कहने लगे—'अमुक विषयपर तो ब्रह्मचारीजी बड़ा अच्छा लिखते।'

किसी सत्सङ्गी बन्धुने कहा—"ब्रह्मचारीजीने तो कलमसे लिखना अब छोड़ ही दिया है।"

महाराजने सरलताके साथ कहा—'भैया ! अभी क्या पता ! हाँ, इस समय तो छोड़ ही दिया है, भविष्यकी भगवान् जानें ।'

इससे मुझे कुछ-कुछ भय-सा हुआ 'क्या सचमुच मुझे फिर लौटकर लिखना पढ़ना पड़ेगा । महापुरुषोंके वाक्य अन्यथा थोड़े ही होते हैं । श्रावणमें ही मुझे पहाड़से लौटकर यहाँ आना पड़ा और जो कुछ हुआ वह पाठकोंके सम्मुख है । मार्गशीर्षकी पूर्णिमाको श्रीचैतन्य-चरितावलीका लिखना प्रारम्भ किया और आज वैशाखी पूर्णिमाको इसकी परिसमाप्ति हो गयी । इसके बीचमें जो शारीरिक क्लेश हुए उनका उल्लेख करना विषयान्तर हो जायगा । और पाठकोंको उससे कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं यह तो मेरा निजी रोना है ।

मुझे न अपने इस नीचे लौटनेका दुःख है और न मेरे पहले लक्ष्यमें किसी प्रकारका परिवर्तन ही हुआ है । इस बातको अब भी मैं मानता हूँ कि बिना सर्वस्व त्याग किये श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति बहुत कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है । और त्यागमय जीवन बितानेके लिये (१) भक्त और भगवल्लीलाओंका श्रवण, (२) नामजप और (३) महात्माओंका पादोदक-पान—ये तीन ही प्रधान और सर्वश्रेष्ठ साधन हैं । जिसे भगवान्-के किसी भी नाममें श्रद्धा नहीं, जिसे भगवान् और भक्तोंकी लीलाओंके श्रवणमें आनन्द नहीं आता और जो महात्माओंकी चरण-धूलिको मस्तक-पर चढ़ाने तथा उनके पादोदक पान करनेमें सङ्कोच करता है, वह कभी भी श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्तिका अधिकारी नहीं हो सकता । इन साधनोंके ही द्वारा त्यागमय जीवन अपने-आप बन जाता है और त्यागमय जीवन होनेपर श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्ति हो जाना अनिवार्य ही है । श्रीकृष्ण न जाने क्यों हृदयमें अकेले ही रहना अधिक पसंद करते हैं । जिस हृदयमें संसारी प्रिय पदार्थोंके प्रति परिग्रहके भाव हैं, जहाँ विषय-सुखकी वासनाएँ

विराजमान हैं, जहाँ संसारी द्रव्य संग्रह करनेकी इच्छा है, श्रीकृष्ण उस स्थानसे दूर भाग जाते हैं। उस कृपालु कृष्णने कहा—'अभी तुम्हें और साधना करनी होगी, साधन करो, भक्तोंका पादोदक पान करो, श्रीमद्भागवतका श्रवण करो, भक्तोंके चरित्र सुनो, तब तुम्हें मेरी उपलब्धि हो सकेगी।' क्या करता? किसीको स्त्री-पुत्रोंका, किसीको धनका, किसीको तप-वैराग्यका और किसीको विद्याका सहारा होता है, किन्तु यहाँ तो इनमेंसे कोई भी वस्तु अपने पास नहीं है। यदि थोड़ा-बहुत कुछ सहारा कहिये, विश्वास समझिये उसी गिरिधर गोपालका है। दूसरा कौन इस उभयभ्रष्ट व्यक्तिको सहारा दे सकता है। उस कृपालु कृष्णने अपार कृपा की। यहाँ लाकर पटक दिया। साधु-सङ्गका सुयोग प्राप्त कराया, चैतन्य-चरित्र लिखाया, अपना सुयश सुनवाया और गङ्गामाताका नित्यप्रतिका 'दरस-परस अरु मज्जन पान' प्रदान किया। वे चाहते तो विषयोंमें भी लाकर पटक देते, किन्तु वे दयामय बड़े ही कृपालु हैं। निर्बलोंकी वे स्वयं ही सहायता करते हैं, किन्तु निर्बल भी सच्चा और सरल होना चाहिये, जिसे दूसरेका सहारा ही न हो, यहाँ तो इतनी सचाई और सरलता प्रतीत नहीं होती, फिर भी वे अपनी असीम कृपा प्रदर्शित करते हैं, यह उनकी स्वाभाविक भक्तवत्सलता ही है।

इन पाँच महीनोंमें निरन्तर चैतन्य-चरित्रोंका चिन्तन होता रहा। उठते-बैठते, सोते-जागते, नहाते-धोते, खाते-पीते, भजन-ध्यान, पाठ-पूजा और जप करते सब समय चैतन्य ही साथ बने रहे। मैंने उन्हें शची-माताकी गोदमें बालकरूपसे देखा और गम्भीरा मन्दिरमें रोते हुए भी उनके दर्शन किये। प्यारे सखाकी तरह छायाकी तरह वे सदा मेरे साथ ही बने रहे। मैंने उन्हें खेलते देखा, पढ़ते देखा, पढ़ाते देखा, गया जाते देखा, आते देखा, रोते-चिल्लाते देखा, सङ्कीर्तन करते देखा, भावावेशमें देखा, भक्तोंकी पूजा ग्रहण करते देखा, उन्मादी देखा, विक्षिप्तावस्थामें देखा,

गृह त्याग करते देखा, संन्यास लेते हुए देखा, पुरी जाते हुए देखा, सार्वभौमका उद्धार करते देखा, दक्षिणके तीर्थोंमें भ्रमण करते देखा, रामानन्दजीके साथ कथोपकथन करते देखा, तीर्थ-यात्रा करते देखा, पुनः पुरीमें लौटते हुए देखा, भक्तोंसे बातें करते देखा, उनके यहाँ भिक्षा करते देखा, रथके आगे हाथ उठा-उठाकर नृत्य करते देखा, प्रतापरुद्ररायको प्रेम प्रदान करते हुए देखा, लीला करते देखा, नाचते हुए देखा, भक्तोंके साथ रोते हुए देखा, वृन्दावन जाते हुए देखा, शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर रहते हुए देखा, विष्णुप्रियाजीको पादुका प्रदान करते हुए देखा, रूप-सनातनसे बातें करते देखा, लौटते देखा, फिर वन-पथसे वृन्दावनकी ओर जाते देखा, काशीमें देखा, प्रयागमें देखा, वृन्दावनमें देखा, आते हुए देखा, श्रीमद्वल्लभाचार्यके साथ प्रेमवार्ता करते देखा, संन्यास-वेषधारी रूपको उपदेश देते देखा, काशीमें अत्यन्त नम्र हुए संन्यासी-सभामें उनकी मनमोहिनी सरल बातें सुनीं। वहाँ उन्हें परम विनयीकी भाँति सरल और सीधे संन्यासीके रूपमें देखा, वहाँसे चलते हुए उनके साथ-ही साथ पुरीमें आया। पुरीमें उनकी जिस-जिस भक्तसे भेंट हुई, जिस-जिससे उन्होंने बातें कीं मैं एक तटस्थ व्यक्तिकी भाँति दूर खड़ा हुआ उनकी बातें सुनता रहा। निरन्तर महाप्रभुके साथ रहनेसे मैं उनके सभी भक्तोंसे भलीभाँति परिचित हो गया, वे कैसे बातें करते थे, प्रभु उन्हें कैसे उत्तर देते थे, बात करते समय भक्तोंकी कैसी चेष्टा हो जाती थी, प्रभु-प्रेमके आवेशमें कैसी भङ्गी बनाकर बातें करते थे, इन बातोंको मैंने अपने सम्मुख ही प्रत्यक्ष रीतिसे देखा। अवधूत नित्यानन्द, राय रामानन्द, सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप गोस्वामी, जगदानन्द पण्डित, वक्रेश्वर पण्डित, हरिदास, रूप, सनातन, जीव, गोपालभट्ट, रघुनाथदास तथा अन्यान्य जितने भी पृथक्-पृथक् स्थानोंके भक्त हैं, उन सबसे ही प्रगाढ़ परिचय हो गया। उपर्युक्त महानुभावोंमें-

से अब भी कोई आ जाय तो मुझे वे चिरपरिचित-से ही प्रतीत होंगे। यह मैं कुछ अभिमानकी नीयतसे नहीं, सत्य-सत्य घटना कह रहा हूँ कि लिखते समय मुझे कुछ भी पता नहीं रहता था कि मैं क्या लिख रहा हूँ और कहाँ लिख रहा हूँ! हाथ कुछ लिखता जाता था, मैं प्रत्यक्ष उस घटनाको अपनी आँखोंके सामने होती हुई-सी देखता था, क्या लिखा गया और क्या नहीं लिखा गया, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं चलता। मानो कोई लिखनेवाला व्यक्ति और ही है और मैं तो उन लीलाओंका द्रष्टामात्र हूँ। चैतन्य मुझे जानते हैं, वे मुझे कहीं भी साथ ले जानेमें आपत्ति नहीं करते। यही नहीं किन्तु वे मुझे सदा अपने साथ रखते हैं और मैं उनसे छिपकर उनकी सभी बातें देख रहा हूँ यही भाव मेरा रहता। यह ग्रन्थ इतनी जल्दी कैसे लिखा गया, इसका मुझे स्वयं पता नहीं। क्या लिखा गया, इसे तो मैं जब ग्रन्थ छपकर मेरे पास आ जायगा तब पाठककी हैसियतसे पढ़कर बता सकूँगा। अबतक तो लिखते समय यही प्रतीत हुआ कि कोई लिखवा रहा है, हाथ लिख रहा है, मैं उस घटनाका आनन्द लूट रहा हूँ। रात्रिमें लिखे हुएकी जो कथा सुनाते उसमें मेरी दृष्टि 'एक भाषा-संशोधक' व्यक्तिकी-सी रहती, मानो किसीकी लिखी हुई भाषाको संशोधन कर रहा हूँ। 'का' की जगह 'की' क्यों कर दी। यहाँ यह विभक्ति उपयुक्त नहीं, अमुक शब्द छूट गया; बस इतना ही विचार रहता। इसलिये क्या लिखा गया इसे मैं नहीं जानता। पुस्तक छपकर आवेगी, तो वह जितनी ही पाठकोंको नयी होगी उतनी ही मेरे लिये भी। मैं भी उसे पढ़कर मनन करूँगा।

यह मैं फिर स्पष्ट बताये देता हूँ कि केवल 'चैतन्यभागवत' और 'चैतन्यचरितामृत' से केवल इसकी कथानक घटनाएँ ही ली गयी हैं, बाकी तो यह नानापुराणनिगमागमसम्मत जो ज्ञान है उसीके आधारपर लिखी गयी है। 'अमियनिमाईचरित' की मैंने केवल सूचीभर देखी

है। मैंने उसे बिल्कुल पढ़ा ही नहीं। तब मैं कैसे कहूँ कि उसमें क्या है। घटना तो उन्होंने भी इन्हीं ग्रन्थोंसे ली होगी और क्या है, इसका मुझे कुछ पता नहीं।' 'चैतन्यमंगल' भावुक भक्तोंकी चीज है, इसलिये मुझ-जैसे शुष्क-चरितलेखकोंके यह कामकी विशेष नहीं है, इसलिये उसकी घटनाओंका आश्रय बहुत ही कम लिया गया है। घटना-क्रम देखनेके लिये पुस्तकें पढ़ता नहीं तो दिन-रात चिन्तनमें ही बीतता।

पहले इच्छा थी चैतन्यसम्प्रदायके सिद्धान्तोंका विस्तारके साथ वर्णन करें, चैतन्यजीवनसे क्या सीखना चाहिये, इस बातको भूमिकामें बताऊँ तथा अन्यान्य बहुत-सी बातोंका यहीं भूमिकामें उल्लेख करूँ, किन्तु अब सोचा—'इन बातोंका चैतन्यचरित्रसे क्या सम्बन्ध? तुम यथा-शक्ति जैसे वे करावें घटनाओंका उल्लेख कर दो। पाठक स्वयं ही निर्णय कर लेंगे।' यही बात मुझे उचित भी प्रतीत हुई। इसलिये इन बातोंका भूमिकामें उल्लेख नहीं किया। चैतन्य-चरित्रसे हमें क्या सीखना चाहिये, चैतन्यदेवके भाव कैसे थे, उनका जीवन कितना विशुद्ध, प्रेममय, विरहमय और मस्तीमय था इन सभी बातोंको पाठक इस सम्पूर्ण पुस्तकको पढ़कर स्वयं ही समझनेकी चेष्टा करें। लेखककी बुद्धिके ही ऊपर अवलम्बित न रहें।

एक निवेदन उन परम पूज्य साम्प्रदायिक भक्तोंके श्रीचरणोंमें और करना है, जो श्रीचैतन्यदेवको साक्षात् श्रीकृष्ण और अवतारी समझकर मानते और पूजते हैं। उन परम श्रद्धास्पद महानुभावोंके पूज्य पादोंमें इतना ही निवेदन है कि इस पुस्तकमें कहीं भी इस बातकी चेष्टा नहीं की गयी कि उनकी मान्यतामें व्याघात हो किन्तु यह बात ध्रुव सत्य है, कि यह चरित्र भक्त गौराङ्गका है, भगवान् गौराङ्गका नहीं और परम भागवत भक्त ईश्वरका ही स्वरूप है, उसमें और ईश्वरमें कोई अन्तर नहीं। अतः वे भाई मेरे ऊपर कोप न करें। वे यही समझें कि यह पुस्तक

अधूरी ही है, चैतन्यदेवने भक्तवेश तो धारण किया ही था। भक्त बनकर ही उन्होंने लीला की थी। बस, इतना ही वे इस पुस्तकमें समझें। 'वे साक्षात् परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम' थे इस बातका इस पुस्तकमें कहीं खण्डन नहीं किया गया है, साथ ही इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा भी नहीं की गयी है। लेखक इससे एकदम तटस्थ ही रहा है। यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक प्रचारकी दृष्टिसे लिखा भी नहीं गया है। साम्प्रदायिक भावोंका प्रचार करनेवाले तो बहुत-से ग्रन्थ हैं, यह तो चैतन्यदेवको भक्त मानकर उनके त्याग, वैराग्य और प्रेमके भावोंको सार्वदेशिक बनानेकी नीयतसे लिखा गया है। 'चैतन्य-चरितावली' के चैतन्य किसी एक ही देश, एक ही सम्प्रदाय और एक ही भावके लोगोंके न होकर वे सार्वदेशिक हैं। उनके ऊपर सभीका समान अधिकार है, इसलिये साम्प्रदायिक बन्धु मेरी इस धृष्टताको क्षमा करें।

मुझमें न तो विद्या है, न बुद्धि, चैतन्य-चरित्र लिखनेके लिये जितनी क्षमता, दक्षता, पटुता, सच्चरित्रता, एकनिष्ठा, सहनशीलता, भक्ति, श्रद्धा और प्रेमकी आवश्यकता है, उसका शतांश भी मैं अपनेमें नहीं पाता। फिर भी इस कार्यको करानेके लिये मुझे ही निमित्त बनाया गया है, वह उस काले चैतन्यकी इच्छा। वह तो मूकको भी वाचाल बना सकता है और पङ्गुसे भी पर्वतलङ्घन करा सकता है। इसलिये अपने सभी प्रेमी बन्धुओंसे मेरी यही प्रार्थना है कि वे मेरे कुल-शील, विद्या-बुद्धिकी ओर ध्यान न दें। वे चैतन्यरूपी मधुर मधुके रसास्वादनसे ही अपनी रसनाको आनन्दमय बनावें।

श्रीस्वामी विष्णुपुरी नामक एक परमहंसजीने श्रीमद्भागवतसे कुछ सुन्दर-सुन्दर श्लोकोंको चुनकर 'भक्तिरत्नावली' नामक एक पुस्तक बनायी है। उसके अन्तमें उन्होंने जो श्लोक लिखा है उसे ही लिखकर मैं इस अन्तिम वक्तव्यको समाप्त करता हूँ—

एतस्यामहमल्पबुद्धिविभवोऽप्येकोऽपि कुत्र ध्रुवं
मध्ये भक्तजनस्य मे कृतिरियं न स्यादवज्ञास्पदम्।
किंविद्याः शरघाः किमुज्ज्वलकुलाः किंपौरुषाः किंगुणा-
स्तन्नु किं सुन्दरमादरेण रसिकैर्नापीयते तन्मधु ॥

'यद्यपि मुझ बुद्धिहीन व्यक्तिमें एक भी गुण नहीं है, तो भी मैं रसिक भक्तोंके बीचमें अवज्ञाको प्राप्त न हो सकूँगा। मधुर रसके उपासक भक्त तो मीठेके लोलुप होते हैं, वह मिठास किसके द्वारा लाया गया है, इसकी वे कुछ भी परवा नहीं करते। मधुकी मक्खीमें विद्या नहीं है, उसका उज्ज्वल कुलमें जन्म भी नहीं हुआ है, वह नन्ही-सी मक्खी स्वयं पुरुषार्थ करके मधु बनानेमें भी असमर्थ है, उसमें स्वयं कोई गुण भी नहीं। किन्तु वह छोटे-बड़े हजारों पुष्पोंसे थोड़ा-थोड़ा मधु लाकर उसे छत्ते-में इकट्ठा कर देती है। लोग फूलोंका नाम भूलकर उसे मक्खियोंका 'मधु' कहने लगते हैं। उनके इन अवगुणोंके कारण, रसिकजन क्या उस सुन्दर मधुका अनादर कर देते हैं? नहीं, वे उसे आदरके साथ सेवन करते हैं।' यही विनय इस क्षुद्र दीन-हीन-कंगाल लेखककी भी है। इति शम्।

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे! हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

श्रीहरिबाबाका बाँध
गँवा (बदायूँ)
वैशाखी पूर्णिमाका प्रातःकाल
सं० १९८९

भक्तचरणदासानुदास
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्रीचैतन्य अथाह सागरके जलमें कूद पड़े

श्रीहरिः

छोटे हरिदासको स्त्री-दर्शनका दण्ड

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य ।
संदर्शनं विषयिणामथ योषिताञ्च
हा हन्त! हन्त! विषभक्षणतोऽप्यसाधु ॥*

(श्रीचैतन्यचन्द्रोदयना० ८ । २४)

सचमुच संसारके आदिसे सभी महापुरुष एक स्वरसे निष्किञ्चन, भगवद्भक्त अथवा ज्ञाननिष्ठ वैरागीके लिये कामिनी और काञ्चन—इन दोनों वस्तुओंको विष बताते आये हैं। उन महापुरुषोंने संसारके सभी प्रिय लगनेवाले पदार्थोंका वर्गीकरण करके समस्त विषय-सुखोंका समावेश इन दो ही शब्दोंमें कर दिया है। जो इन दोनोंसे बच गया वह इस अगाध समुद्रके परले पार पहुँच गया, और जो इनमें फँस गया वह

---

* महाप्रभु चैतन्यदेव सार्वभौम भट्टाचार्यसे कहते हैं—

खेदके साथ कहना पड़ता है कि जो लोग इस असार संसाररूपी समुद्रके उस पार जाना चाहते हैं और जिनका भगवान्‌के भजनकी ओर झुकाव हो चला है, ऐसे निष्किञ्चन भगवद्भक्तके लिये स्त्रियों और विषयी पुरुषोंका स्वेच्छासे दर्शन करना विष खा लेनेसे भी बुरा है अर्थात् स्त्रियों और विषयी लोगोंके संसर्गकी अपेक्षा विष खाकर मर जाना सर्वश्रेष्ठ है।

मँझधारमें डुबकियाँ खाता बिलबिलाता रहा। कबीरदासने क्या ही सुन्दर कहा है—

> चलन चलन सब कोइ कहे, बिरला पहुँचे कोय।
> एक 'कनक' अरु 'कामिनी', घाटी दुरलभ दोय॥

यथार्थमें इन दो घाटियोंका पार करना अत्यन्त ही कठिन है, इसीलिये महापुरुष स्वयं इनसे पृथक् रहकर अपने अनुयायियोंको कहकर, लिखकर, प्रसन्न होकर, नाराज होकर तथा भाँति-भाँतिसे घुमा-फिराकर इन्हीं दो वस्तुओंसे पृथक् रहनेका उपदेश देते हैं। त्याग और वैराग्यके साकार स्वरूप महाप्रभु चैतन्यदेवजी भी अपने विरक्त भक्तोंको सदा इनसे बचे रहनेका उपदेश करते और स्वयं भी उनपर कड़ी दृष्टि रखते। तभी तो आज त्यागिशिरोमणि श्रीगौरका यशसौरभ दिशा-विदिशाओंमें व्याप्त हो रहा है। व्रजभूमिमें असंख्यों स्थान महाप्रभुके अनुयायियोंके त्याग-वैराग्यका अभीतक स्मरण दिला रहे हैं।

पाठक महात्मा हरिदासजीके नामसे तो परिचित ही होंगे। हरिदासजी वयोवृद्ध थे और सदा नाम-जप ही किया करते थे। इनके अतिरिक्त एक दूसरे कीर्तनिया हरिदास और थे। वे हरिदासजीसे अवस्थामें बहुत छोटे थे, गृहत्यागी थे और महाप्रभुको सदा अपने सुमधुर स्वरसे संकीर्तन सुनाया करते थे। भक्तोंमें वे 'छोटे हरिदास' के नामसे प्रसिद्ध थे। वे पुरीमें ही प्रभुके पास रहकर भजन-सङ्कीर्तन किया करते थे।

प्रभुके समीप बहुत-से विरक्त भक्त पृथक्-पृथक् स्थानोंमें रहते थे। वे सभी भक्तिके कारण कभी-कभी प्रभुको अपने स्थानपर बुलाकर भिक्षा कराया करते थे। भक्तवत्सल गौर उनकी प्रसन्नताके निमित्त उनके यहाँ चले आते थे और उनके भोजनकी प्रशंसा करते हुए भिक्षा भी पा लेते

श्रीजगन्नाथजीका मन्दिर

स्नेह रखते थे। माधवी दासी परम तपस्विनी और सदाचारिणी थी। इन तीनोंका ही महाप्रभुके चरणोंमें दृढ़ अनुराग था। महाप्रभु माधवी दासीकी गणना राधाजीके गणोंमें करते थे। उन दिनों राधाजीके गणोंमें साढ़े तीन पात्रोंकी गणना थी—(१) स्वरूप-दामोदर, (२) राय रामानन्द, (३) शिखि माहिती और आधे पात्रमें माधवीदेवीकी गणना थी। इन तीनोंका महाप्रभुके प्रति अत्यन्त ही मधुर श्रीमतीजीका-सा सरस भाव था।

भगवानाचार्यजीने प्रभुके निमन्त्रणके लिये बहुत बढ़िया महीन शुक्ल चावल लानेके लिये छोटे हरिदासजीसे कहा। छोटे हरिदासजी माधवी दासीके घरमें भीतर चले गये और भीतर जाकर उनसे चावल माँगकर ले आये। आचार्यने विधिपूर्वक चावल बनाये। कई प्रकारके शाक, दाल, पना तथा और भी कई प्रकारकी चीजें उन्होंने प्रभुके निमित्त बनायीं। नियत समयपर प्रभु स्वयं आ गये। आचार्यने इनके पैर धोये और सुन्दर-स्वच्छ आसनपर बैठाकर उनके सामने भिक्षा परोसी। सुगन्धियुक्त बढ़िया चावलोंको देखकर प्रभुने पूछा—'भगवान! ये ऐसे सुन्दर चावल कहाँसे मँगाये?'

सरलताके साथ भगवानजीने कहा—'प्रभो! माधवीदेवीके यहाँसे मँगाये हैं।'

सुनते ही महाप्रभुके भावमें एक प्रकारका विचित्र परिवर्तन-सा हो गया। उन्होंने गम्भीरताके साथ पूछा—'माधवीके यहाँसे लेने कौन गया था?'

उसी प्रकार उन्होंने उत्तर दिया—'प्रभो! छोटे हरिदास गये थे।'

यह सुनकर महाप्रभु चुप हो गये और मन-ही-मन कुछ सोचने लगे। पता नहीं वे हरिदासजीकी किस बातसे पहलेसे ही असन्तुष्ट थे।

उनका नाम सुनते ही वे भिक्षासे उदासीन-से हो गये। फिर कुछ सोचकर उन्होंने भगवान्के प्रसादको प्रणाम किया और अनिच्छापूर्वक कुछ थोड़ा-बहुत प्रसाद पा लिया। आज वे प्रसाद पाते समय सदाकी भाँति प्रसन्न नहीं दीखते थे, उनके हृदयमें किसी गहन विषयपर द्वन्द्व-युद्ध हो रहा था। भिक्षा पाकर वे सीधे अपने स्थानपर आ गये।' आते ही उन्होंने अपने निजी सेवक गोविन्दको बुलाया। हाथ जोड़े हुए गोविन्द प्रभुके सम्मुख उपस्थित हुआ। उसे देखते ही प्रभु रोषके स्वरमें कुछ दृढ़ताके साथ बोले—'देखना, आजसे छोटा हरिदास हमारे यहाँ कभी न आने पावेगा। यदि उसने भूलमें भी हमारे दरवाजेमें प्रवेश किया तो फिर हम बहुत अधिक असन्तुष्ट होंगे। मेरी इस बातका ध्यान रखना और दृढ़ताके साथ इसका पालन करना।'

गोविन्द सुनते ही सन्न रह गया। वह प्रभुकी इस आज्ञाका कुछ भी अर्थ न समझ सका। धीरे-धीरे वह प्रभुके पाससे उठकर स्वरूप गोस्वामीके पास चला गया। उसने सभी वृत्तान्त उनसे कह सुनाया। सभी प्रभुकी इस भीषण आज्ञाको सुनकर चकित हो गये। प्रभु तो ऐसी आज्ञा कभी नहीं देते थे। वे तो पतितोंसे भी प्रेम करते थे, आज यह बात क्या हुई। वे लोग दौड़े-दौड़े हरिदासके पास गये और उसे सब सुनाकर पूछने लगे—'तुमने ऐसा कोई अपराध तो नहीं कर डाला जिससे प्रभु इतने क्रुद्ध हो गये?' इस बातके सुनते ही छोटे हरिदासका मुख सफेद पड़ गया। उसके होश-हवास उड़ गये। अत्यन्त ही दुःख और पश्चात्तापके स्वरमें उसने कहा—'और तो मैंने कोई अपराध किया नहीं, हाँ, भगवानाचार्यके कहनेसे माधवी दासीके घरसे मैं थोड़े-से चावलोंकी भिक्षा अवश्य माँग लाया था।'

सभी भक्त समझ गये कि इस बातके अंदर अवश्य ही कोई गुप्त रहस्य है। प्रभु इसीके द्वारा भक्तोंको त्याग-वैराग्यकी कठोरता समझाना

ले आते थे, उन्होंने उनसे भिक्षा लाना ही बंद कर दिया। स्वरूप गोस्वामी डरते-डरते एकान्तमें प्रभुके पास गये। उस समय प्रभु स्वस्थ होकर कुछ सोच रहे थे। स्वरूपजी प्रणाम करके बैठ गये। प्रभु प्रसन्नता-पूर्वक उनसे बातें करने लगे। प्रभुको प्रसन्न देखकर धीरे-धीरे स्वरूप गोस्वामी कहने लगे—'प्रभो! छोटे हरिदासने तीन दिनसे कुछ नहीं खाया है। उसके ऊपर इतनी अप्रसन्नता क्यों? उसे अपने कियेका बहुत दण्ड मिल गया, अब तो उसे क्षमा मिलनी चाहिये।'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहके साथ विवशताके स्वरमें कहा—'स्वरूपजी! मैं क्या करूँ। मैं स्वयं अपनेको समझानेमें असमर्थ हूँ। जो पुरुष साधु होकर प्रकृतिसंसर्ग रखता है और उनसे सम्भाषण करता है, मैं उससे बातें नहीं करना चाहता। देखो, मैं तुम्हें एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण बात बताता हूँ इसे ध्यानपूर्वक सुनो और सुनकर हृदयमें धारण करो, वह यह है—

शृणु हृदयरहस्यं यत्प्रशस्तं मुनीनां
न खलु न खलु योषित्सन्निधिः संनिधेयः।
हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरप्रैः
विहिततशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम्॥*

(सु० र० मां० ३६५। ७२)

---

* मैं तुमसे हृदयके रहस्यको बतलाता हूँ जिसकी सभी ऋषि-मुनियोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसे सुनो ([illegible]) स्त्रियोंकी सन्निधिमें नहीं रहना चाहिये, नहीं [illegible] मृग-सुन्दर नेत्रोंवाली कामिनी अपने [illegible] के चित्तको भी, [illegible] लेती है।

चाहते हैं। सभी मिलकर प्रभुके पास गये और प्रभुके पैर पकड़कर प्रार्थना करने लगे—'प्रभो ! हरिदास अपने अपराधके लिये हृदयमे अत्यन्त ही दुखी हैं। उन्हे क्षमा मिलनी चाहिये। भविष्यमें उनसे ऐसी भूल कभी न होगी। उन्हें दर्शनोंसे वञ्चित न रखिये।'

प्रभुने उसी प्रकार कठोरताके स्वरमें कहा—'तुमलोग अब इस सम्बन्धमें मुझसे कुछ भी न कहो। मैं ऐसे आदमीका मुख भी देखना नहीं चाहता जो वैरागीका वेष बनाकर स्त्रियोंसे सम्भाषण करता है।'

अत्यन्त ही दीनताके साथ स्वरूप गोस्वामीने कहा—'प्रभो ! उनसे भूल हो गयी, फिर माधवीदेवी तो परम साध्वी भगवद्भक्तिपरायणा देवी हैं, उनके दर्शनोंके अपराधके ऊपर इतना कठोर दण्ड न देना चाहिये।'

प्रभुने दृढ़ताके साथ कहा—'चाहे कोई भी क्यों न हो ! स्त्रियोंसे बात करनेकी आदत पड़ना ही विरक्त साधुके लिये ठीक नहीं। शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा है कि अपनी सगी माता, बहिन और युवती लड़कीसे भी एकान्तमें बातें न करनी चाहिये। ये इन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि अच्छे-अच्छे विद्वानोंका मन भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।' प्रभुका ऐसा दृढ़ निश्चय देखकर और उनके स्वरमे दृढ़ता देखकर फिर किसीको कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ।

हरिदासजीने जब सुना कि प्रभु किसी भी तरह क्षमा करनेके लिये राजी नहीं हैं, तब तो उन्होंने अन्न-जल बिलकुल छोड़ दिया। उन्हे तीन दिन बिना अन्न-जलके हो गये, किंतु प्रभु अपने निश्चयसे तिलभर भी न डिगे। तब तो स्वरूप गोस्वामीजीको बड़ी चिन्ता हुई। प्रभुके पास रहनेवाले सभी विरक्त भक्त डरने लगे। उन्होंने नेत्रोंसे तो क्या मनसे भी स्त्रियोंका चिन्तन करना त्याग दिया। कुछ विरक्त स्त्रियोंसे भिक्षा,

ले आते थे, उन्होंने उनसे भिक्षा लाना ही बंद कर दिया। स्वरूप गोस्वामी डरते-डरते एकान्तमें प्रभुके पास गये। उस समय प्रभु स्वस्थ होकर कुछ सोच रहे थे। स्वरूपजी प्रणाम करके बैठ गये। प्रभु प्रसन्नतापूर्वक उनसे बातें करने लगे। प्रभुको प्रसन्न देखकर धीरे-धीरे स्वरूप गोस्वामी कहने लगे—'प्रभो! छोटे हरिदासने तीन दिनसे कुछ नहीं खाया है। उसके ऊपर इतनी अप्रसन्नता क्यों? उसे अपने कियेका बहुत दण्ड मिल गया, अब तो उसे क्षमा मिलनी चाहिये।'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहके साथ विवशताके स्वरमें कहा—'स्वरूपजी! मैं क्या करूँ। मैं स्वयं अपनेको समझानेमें असमर्थ हूँ। जो पुरुष साधु होकर प्रकृतिसंसर्ग रखता है और उनसे सम्भाषण करता है, मैं उससे बातें नहीं करना चाहता। देखो, मैं तुम्हें एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण बात बताता हूँ इसे ध्यानपूर्वक सुनो और सुनकर हृदयमें धारण करो, वह यह है—

> शृणु हृदयरहस्यं यत्प्रशस्तं मुनीनां
> न खलु न खलु योषित्सन्निधिः संनिधेयः।
> हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरप्रैः
> पिहितशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम्॥*
>
> (सु० र० भां० ३६५। ७२)

---

* मैं तुमसे हृदयके रहस्यको बतलाता हूँ जिसकी सभी ऋषि-मुनियोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसे सुनो; (विरक्त पुरुषोंको) स्त्रियोंकी सन्निधिमें नहीं रहना चाहिये, नहीं रहना चाहिये, क्योंकि हरिणीके समान सुन्दर नेत्रोंवाली कामिनी अपने तीक्ष्ण कटाक्ष बाणोंसे बड़े-बड़े महापुरुषोंके चित्तको भी, जो शान्तिके कवचसे ढँका हुआ है, शीघ्र ही अपनी ओर खींच लेती है।

हो गया, उसके लिये इतनी ग्लानिका क्या काम ? सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं।'

प्रभुने कुछ उत्तेजनाके साथ निश्चयात्मक स्वरमें कहा—'श्रीपाद ! इसे मैं भी जानता हूँ कि सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं। फिर मैं ही इससे कैसे बच सकता हूँ। मैं भी तो ऐसा करनेके लिये मजबूर ही हूँ। इसका एक ही उपाय है, आप यहाँ सभी भक्तोंको साथ लेकर रहें, मैं अकेला अलालनाथमें जाकर रहूँगा। बस, ऊपरके कामोंके निमित्त गोविन्द मेरे साथ वहाँ रहेगा।' यह कहकर प्रभुने गोविन्दको जोरोंसे आवाज दी और आप अपनी चद्दरको उठाकर अलालनाथकी ओर चलने लगे। जल्दीसे उठकर पुरी महाराजने प्रभुको पकड़ा और कहने लगे—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, आपकी माया जानी नहीं जाती। पता नहीं क्या कराना चाहते हैं। अच्छी बात है, जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये। मेरा ही यहाँ क्या रखा है ? केवल आपके ही कारण मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ। आपके बिना मैं यहाँ रहने ही क्यों लगा ? यदि आपने ऐसा ही निश्चय कर लिया है तो ठीक है। अब मैं इस सम्बन्धमें कभी कुछ न कहूँगा। यह कहकर पुरी महाराज अपनी कुटियामें चले गये, प्रभु फिर वहीं लेट गये।

जब स्वरूप गोस्वामीने समझ लिया कि प्रभु अब किसीकी भी न सुनेंगे तो वे जगदानन्द, भगवानाचार्य, गदाधर गोस्वामी-आदि दस-पाँच भक्तोंके साथ छोटे हरिदासके पास गये और उसे समझाने लगे—'उपवास करके प्राण गँवानेसे क्या लाभ ? जीओगे तो भगवन्नाम-जाप करोगे, स्थानपर जाकर न सही, जब प्रभु जगन्नाथजीके दर्शनोंको जाया करें तब दूरसे दर्शन कर लिया करो। उनके होकर उनके दरबारमें पड़े रहोगे तो कभी-न-कभी वे प्रसन्न हो ही जायँगे।

इसलिये भैया ! मेरे जाने, वह भूखों मर ही क्यों न जाय अब मैं जो निश्चय कर चुका उससे हटूँगा नहीं ।' स्वरूपजी उदास मनसे लौट गये । उन्होंने सोचा—'प्रभु परमानन्दपुरी महाराजका बहुत आदर करते हैं, यदि पुरी उनसे आग्रह करें, तो सम्भवतया वे मान भी जायँ ।' यह सोचकर वे पुरी महाराजके पास गये । सभी भक्तोंके आग्रह करनेपर पुरी महाराज प्रभुसे जाकर कहनेके लिये राजी हो गये । वे अपनी कुटियामेंसे निकलकर प्रभुके शयनस्थानमें गये । पुरीको अपने यहाँ आते देखकर प्रभु उठकर खड़े हो गये और उनकी यथाविधि अभ्यर्चना करके उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया । बातों-ही बातोंमें पुरीजीने हरिदासका प्रसंग छेड़ दिया और कहने लगे—'प्रभो ! इन अल्प शक्तिवाले जीवोंके साथ ऐसी कड़ाई ठीक नहीं है । बस, बहुत हो गया, अब सबको पता चल गया, अब कोई भूलसे भी ऐसा व्यवहार न करेगा । अब आप उसे क्षमा कर दीजिये और अपने पास बुलाकर उसे अन्न-जल ग्रहण करनेकी आज्ञा दे दीजिये ।'

पता नहीं प्रभुने उसका और भी पहले कोई ऐसा निन्द्य आचरण देखा था या उसके बहाने सभी भक्तोंको घोर वैराग्यकी शिक्षा देना चाहते थे । हमारी समझमें आ ही क्या सकता है ! महाप्रभु पुरीके कहनेपर भी राजी नहीं हुए । उन्होंने उसी प्रकार दृढ़ताके स्वरमें कहा—'भगवन् ! आप मेरे पूज्य हैं, आपकी उचित-अनुचित सभी प्रकारकी आज्ञाओंका पालन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, किन्तु न जाने क्यों, इस बातको मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता । आप इस सम्बन्धमें मुझसे कुछ भी न कहें ।'

पुरी महाराजने अपने वृद्धपनेके सरल भावसे अपना अधिकार-सा दिखाते हुए कहा—'प्रभो ! ऐसा हठ ठीक नहीं होता, जो हो गया, सो

हो गया, उसके लिये इतनी ग्लानिका क्या काम ? सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं।'

प्रभुने कुछ उत्तेजनाके साथ निश्चयात्मक स्वरमें कहा—'श्रीपाद ! इसे मैं भी जानता हूँ कि सभी अपने स्वभावसे मजबूर हैं। फिर मैं ही इससे कैसे बच सकता हूँ। मैं भी तो ऐसा करनेके लिये मजबूर ही हूँ। इसका एक ही उपाय है, आप यहाँ सभी भक्तोंको साथ लेकर रहें, मैं अकेला अलालनाथमें जाकर रहूँगा। बस, ऊपरके कार्मोंके निमित्त गोविन्द मेरे साथ वहाँ रहेगा।' यह कहकर प्रभुने गोविन्दको जोरोंसे आवाज दी और आप अपनी चद्दरको उठाकर अलालनाथकी ओर चलने लगे। जल्दीसे उठकर पुरी महाराजने प्रभुको पकड़ा और कहने लगे—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, आपकी माया जानी नहीं जाती। पता नहीं क्या कराना चाहते हैं। अच्छी बात है, जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये। मेरा ही यहाँ क्या रखा है ? केवल आपके ही कारण मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ। आपके बिना मैं यहाँ रहने ही क्यों लगा ? यदि आपने ऐसा ही निश्चय कर लिया है तो ठीक है। अब मैं इस सम्बन्धमें कभी कुछ न कहूँगा। यह कहकर पुरी महाराज अपनी कुटियामें चले गये, प्रभु फिर वहीं लेट गये।

जब स्वरूप गोस्वामीने समझ लिया कि प्रभु अब किसीकी भी न सुनेंगे तो वे जगदानन्द, भगवानाचार्य, गदाधर गोस्वामी आदि दस-पाँच भक्तोंके साथ छोटे हरिदासके पास गये और उसे समझाने लगे—'उपवास करके प्राण गँवानेसे क्या लाभ ? जीओगे तो भगवन्नाम-जाप करोगे, स्थानपर जाकर न सही, जब प्रभु जगन्नाथजीके दर्शनोंको जाया करें तब दूरसे दर्शन कर लिया करो। उनके होकर उनके दरबारमें पड़े रहोगे तो कभी-न-कभी वे प्रसन्न हो ही जायँगे।

कीर्तनिया हरिदासजीकी समझमें यह बात आ गयी, उसने भक्तोंके आग्रहसे अन्न-जल ग्रहण कर लिया। वह नित्यप्रति दर्शनोंको मन्दिरमें जाते समय दूरसे प्रभुके दर्शन कर लेता और अपनेको अभागी समझता हुआ कैदीकी तरह जीवन बिताने लगा। उसे खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था, किसीसे मिलनेकी इच्छा नहीं होती थी, गाना-बजाना उसने एकदम छोड़ दिया। सदा वह अपने अशद् व्यवहारके विषयमें ही सोचता रहता। होते-होते उसे संसारसे एकदम वैराग्य हो गया। ऐसा प्रभुकृपाशून्य जीवन बिताना उसे भार-सा प्रतीत होने लगा। अब उसे भक्तोंके सामने मुख दिखानेमें भी लज्जा होने लगी। इसलिये उसने इस जीवनका अन्त करनेका ही दृढ़ निश्चय कर लिया।

एक दिन अरुणोदय कालमें वह उठा। प्रभु उस समय समुद्र-स्नान करनेके निमित्त जाया करते थे। स्नानको जाते हुए प्रभुके उसने दर्शन किये और पीछेसे उनकी पदधूलिको मस्तकपर चढ़ाकर और कुछ वस्त्रमें बाँधकर श्रीनीलाचलसे चल पड़ा। काशी होता हुआ वह त्रिवेणी-तटपर पहुँचा। जहाँपर गङ्गा-यमुनाके सितासित सलिलका सम्मिलन होता है, उसी स्थानपर धारामें खड़े होकर उसने उच्चस्वरसे कहा—'जिस शरीरने महाप्रभुकी इच्छाके विरुद्ध बर्ताव किया है, हे माता जाह्नवी! हे पतितपावनी श्रीकृष्णसेविता कालिन्दी माँ! दोनों ही माता मिलकर इस अपवित्र शरीरको अपने परम पावन प्रवाहमें बहाकर पावन बना दो। हे अन्तर्यामी प्रभो! यदि मैंने जीवनमें कुछ भी थोड़ा बहुत सुकृत किया हो तो उसके फलस्वरूप मुझे जन्म-जन्मान्तरोंतक आपके चरणोंके समीप रहनेका सौभाग्य प्राप्त हो।' यह कहकर वह जोरोंसे प्रवाहकी ओर लपका। उसकी प्रार्थनाको पूर्ण करनेके निमित्त दोनों ही माताएँ एक होकर अपने तीक्ष्ण प्रवाहके साथ बहाकर उसके शरीरको साथ ले गयीं।

कोई गौड़ीय वैष्णव भक्त उसकी इन बातोंको सुन रहा था, उसने नवद्वीपमें आकर श्रीवास पण्डितसे यह समाचार सुनाया। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'हरिदासने ऐसा कौन-सा दुष्कर्म कर डाला?'

रथयात्राके समय सदाकी भाँति वे इस बार भी अद्वैताचार्य आदि भक्तोंके साथ नीलाचल पधारे तब उन्होंने प्रभुसे पूछा—'प्रभो! छोटा हरिदास कहाँ है?'

प्रभुने हँसकर कहा—'कहीं अपने दुष्कर्मका फल भोग रहा होगा।'

तब उन्होंने उस वैष्णवके मुखसे जो बात सुनी थी, वह कह सुनायी। इसके पूर्व ही भक्तोंको हरिदासजीकी आवाज एकान्तमें प्रभुके समीप सुनायी दी थी, मानो वे सूक्ष्म शरीरसे प्रभुको गायन सुना रहे हों। तब बहुतोंने यही अनुमान किया था कि हरिदासने विष खाकर या और किसी भाँति आत्मघात कर लिया है और उसीके परिणामस्वरूप उसे प्रेतयोनि प्राप्त हुई है या ब्रह्मराक्षस हुआ है, उसी शरीरसे वह प्रभुको गायन सुनाता है। किन्तु कई भक्तोंने कहा—'जो इतने दिन प्रभुकी सेवामें रहा हो और नित्य श्रीकृष्णकीर्तन करता रहा हो, उसकी ऐसी दुर्गति होना सम्भव नहीं। अवश्य ही वह गन्धर्व बनकर अलक्षित भावसे प्रभुको गायन सुना रहा है।' आज श्रीवास पण्डितसे निश्चितरूपसे हरिदासजीकी मृत्युका समाचार सुनकर सभीको परम आश्चर्य हुआ और सभी उनके गुणोंका बखान करने लगे। प्रभुने दृढ़तायुक्त प्रसन्नताके स्वरमें कहा—'साधु होकर स्त्रियोंसे संसर्ग रखनेवालोंको ऐसा ही प्रायश्चित्त ठीक भी हो सकता है। हरिदासने अपने पापके उपयुक्त ही प्रायश्चित्त किया।'

धन माँगनेवाले भृत्यको दण्ड

धनमपि परदत्तं दुःखमौचित्यभाजां
भवति हृदि सदेवानन्दकारीतरेषाम्।
मलयजरसबिन्दुर्बाधते नेत्रमन्त-
र्जनयति च स एवाह्लादमन्यत्र गात्रे ॥*

(सु० र० भां० ६७ । १८)

प्रेमरूपी धनकी प्राप्तिमें ही जो सदा यत्नशील रहते हैं, वे उदर-पूर्तिके लिये अन्न और अङ्गरक्षाके लिये साधारण वस्त्रोंके अतिरिक्त किसी प्रकारके धनका संग्रह नहीं करते। धनका स्वभाव है लोभ उत्पन्न करना और लोभसे द्वेषकी प्रगाढ़ मित्रता है। जहाँ लोभ रहेगा वहाँ दूसरोंके प्रति द्वेष अवश्य विद्यमान रहेगा। द्वेषसे घृणा होती है और पुरुषोंके प्रति घृणा करना यही नाशका कारण है। इन्हीं सब बातोंको सोचकर तो त्यागी महापुरुष द्रव्यका स्पर्श नहीं करते। वे जहाँतक हो सकता है, द्रव्यसे दूर ही रहते हैं। गृहस्थियोंका तो द्रव्यके बिना काम चलना ही कठिन है, उन्हें तो गृहस्थी चलानेके लिये द्रव्य रखना ही होगा, किन्तु

---

* विषयोंके त्यागसे ही पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है, ऐसा जिन्हें दृढ़ विश्वास हो गया है उन औचित्यके उपासक महापुरुषोंको दूसरोंके द्वारा दिया हुआ धन भी दुःखदायी ही प्रतीत होता है, वही धन यदि विषयी पुरुषोंके लिये दे दिया जाय तो उनके हृदयमें वह परम आनन्द और आह्लाद उत्पन्न करनेवाला होता है, जिस प्रकार सुगन्धित मलयाचल चन्दनका रस आँखोंमें डालनेसे दुःखदायी प्रतीत होता है और अन्य अङ्गोंमें लगानेसे शीतलता प्रदान करनेवाला होता है।

उन्हें भी अधर्मसे या अनुचित उपायोंसे धनार्जन करनेकी प्रवृत्तिको एकदम त्याग देना चाहिये । धर्मपूर्वक न्यायोचित रीतिसे प्राप्त किया हुआ धन ही फलीभूत होता है और वही उन्हें संसारी बन्धनोंसे छुटाकर धीरे-धीरे परमार्थकी ओर ले जाता है । जो संखिया वैसे ही बिना सोचे-विचारे खा लिया जाय तो वह मृत्युका कारण होता है और उसे ही वैद्यके कथनानुसार शोधकर खाया जाय तो वह रसायनका काम करता है, उससे शरीर नीरोग होकर सम्पूर्ण अङ्ग पुष्ट होते हैं । इसलिये वैद्यरूपी शास्त्रकी बतायी हुई धर्मरूपी विधिसे सेवन किये जानेवाला विषरूपी धन भी अमरता प्रदान करनेवाला होता है । महाप्रभु चैतन्यदेव जिस प्रकार स्त्रीसंगियोंसे डरते थे, उसी प्रकार धनलोलुपोंसे भी वे सदा सतर्क रहते थे । जो स्त्रीसेवन अविधिपूर्वक कामवासनाकी पूर्तिके लिये किया जाता है, शास्त्रोंमें उसीकी निन्दा और उसी कामिनीको नरकका द्वार बताया है । जिसका पाणिग्रहण शास्त्रमर्यादाके साथ विधिपूर्वक किया गया है, वह तो कामिनी नहीं, धर्मपत्नी है । उसका उपयोग कामवासनातृप्ति न होकर धार्मिक कृत्योंमें सहायता प्रदान करना है । ऐसी स्त्रियोंका सङ्ग तो प्रवृत्तिमार्गवाले गृहस्थियोंके लिये परम धर्म है । इसी प्रकार धर्मपूर्वक, विधियुक्त, विनय और पात्रताके साथ उपार्जन किया हुआ धन धर्म तथा सुखका प्रधान कारण होता है । उस धनको कोई अन्यायसे अपनाना चाहता है तो वह विषयी है, ऐसे विषयी लोगोंका साथ कभी भी न करना चाहिये ।

श्रीअद्वैताचार्य गृहस्थी थे, इस बातको तो पाठक जानते ही होंगे । उनके दो स्त्रियाँ थीं, छः पुत्र थे, दो-चार दासी-दास भी थे, बड़े पुत्र अच्युतानन्दको छोड़कर सभी घर-गृहस्थीवाले थे । सारांश कि उनका परिवार बहुत बड़ा था । इतना बड़ा परिवार होनेपर भी वे भक्त थे । भक्तोंको बहुधा लोग बावला कहा करते हैं । एक कहावत भी है—

भक्त बावले ज्ञानी अल्हड, योगी बड़े निखट्ट ।
कर्मकांडी ऐसे डोलें, ज्यों भाड़ेके टट्टू ॥

अस्तु, बावले भक्तोंके यहाँ 'यह मेरा है, यह तेरा है' का तो हिसाब ही नहीं । जो भी आओ, खूब खाओ । जिसे जिस चीजकी आवश्यकता हो, ले जाओ । सबके लिये उनका दरवाजा खुला रहता है । वास्तवमें उदारता इसीका नाम है । जिसके यहाँ मित्र, अतिथि, स्वजन और अन्य जन बिना संकोचके घरकी भाँति रोज भोजन करते हैं, जिसका हाथ सदा खुला रहता है, वही सच्चा उदार है, वही श्रीकृष्ण-प्रेमका अधिकारी भी होता है । जिसे पैसोंसे प्रेम है, जो द्रव्यका लोभी है, वह भगवान्से प्रेम कर ही कैसे सकता है ? वैष्णवोंके लिये अद्वैताचार्य-जीका घर धर्मशाला ही नहीं किन्तु निःशुल्क भोजनालय भी था । जो भी आवे जबतक रहना चाहे आचार्यके घर पड़ा रहे । आचार्य सत्कार-पूर्वक उसे खिलाते-पिलाते थे । इस उदार वृत्तिके कारण आचार्यपर कुछ कर्ज भी हो गया था ।

उनके यहाँ बाउल विश्वास नामका एक भृत्य था । आचार्यके चरणोंमें उसकी अनन्य श्रद्धा थी और वह उनके परिवारकी सदा तन-मनसे सेवा किया करता था । वह आचार्यके साथ-साथ पुरी भी जाया करता था । आचार्यको द्रव्यका संकोच होता है, इससे उसे मानसिक दुःख होता था, उनके ऊपर कुछ ऋण भी हो गया है, इसका उसे स्वयं ही सोच था । पुरीमें उसने प्रभुका इतना अधिक प्रभाव देखा । महाराज प्रतापरुद्रजी प्रभुको ईश्वरतुल्य मानते थे और गुरुभावसे उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करनेके लिये तत्पर रहते थे । विश्वासने सोचा—'महाराजसे ही आचार्यके ऋणपरिशोधके लिये क्यों न कहा जाय ? यदि महाराजके कानोंतक यह बात पहुँच गयी तो सदाके लिये इनके व्ययका सुदृढ़ प्रबन्ध हो जायगा ।' यह सोचकर

उसने आचार्यसे छिपकर स्वयं जाकर महाराज प्रतापरुद्रजीको एक प्रार्थनापत्र दिया। उसमें उसने आचार्यको साक्षात् ईश्वरका अवतार बताकर उनके ऋणपरिशोध और व्ययका स्थायी प्रबन्ध कर देनेकी प्रार्थना की।

महाराजने यह पत्र प्रभुके पास पहुँचा दिया। पत्रको पढ़ते ही प्रभु आश्चर्यचकित हो गये। उनके प्रभावका इस प्रकार दुरुपयोग किया जाता है, यह सोचकर उन्हें विश्वासके ऊपर रोष आया। उसी समय गोविन्दको बुलाकर प्रभुने कठोरताके साथ आज्ञा दी—'गोविन्द! देखना आजसे बाउल विश्वास हमारे यहाँ न आने पावे। वह हमारे और आचार्यके नामको बदनाम करनेवाला है।' गोविन्द सिर नीचा किये हुए चुपचाप लौट गया। उसने नीचे जाकर ठहरे हुए भक्तोंसे कहा। भक्तोंके द्वारा आचार्यको इस बातका पता लगा। वे जल्दीसे प्रभुके पास दौड़े आये और उनके पैर पकड़कर गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'प्रभो! यह अपराध तो मेरा है। बाउलने जो भी कुछ किया है, मेरे ही लिये किया है। इसके लिये उसे दण्ड न देकर मुझे दण्ड दीजिये। अपराधके मूल कारण तो हमीं हैं।' महाप्रभु आचार्यकी प्रार्थनाकी उपेक्षा न कर सके। आचार्यके अवतारी होनेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु अवतारी होकर क्षुद्र पैसोंके लिये विषयी पुरुषोंसे प्रार्थना की जाय यह अवतारी पुरुषोंके लिये महान् कलङ्ककी बात है। आवश्यकता पड़नेपर याच्ञा करना पाप नहीं है, किन्तु अवतारपनेकी आड़में द्रव्य माँगना महापाप है, बेचारा बावला बाउल क्या जाने, उस अशिक्षित नौकरको इतनी समझ कहाँ, उसने तो अपनी तरफसे अच्छा ही समझकर यह काम किया था। प्रभुने अज्ञानमें किये हुए उसके अपराधको क्षमा कर दिया और भविष्यमें फिर ऐसा कभी न करनेके लिये उसे समझा दिया।

गोपीनाथ पट्टनायक सूलीसे बचे

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥*

(श्रीमद्भा० २ । ३ । १०)

पाठकवृन्द राय रामानन्दजीके पिता राजा भवानन्दजीको तो भूले ही न होंगे । उनके राय रामानन्द, गोपीनाथ पट्टनायक और वाणीनाथ आदि पाँच पुत्र थे, जिन्हें प्रभु पाँच पाण्डवोंकी उपमा दिया करते थे और भवानन्दजीका पाण्डु कहकर सम्मान और सत्कार किया करते थे । वाणीनाथ तो सदा प्रभुकी ही सेवामें रहते थे । राय रामानन्द पहले विद्यानगरके शासक थे, पीछेसे उस कामको छोड़कर वे सदा पुरीमें ही प्रभुके पादपद्मोंके सन्निकट निवास किया करते थे और महाप्रभुको निरन्तर श्रीकृष्ण-कथा श्रवण कराते रहते । उनके छोटे भाई गोपीनाथ पट्टनायक 'माल जाठ्या दण्डपाट' नामक उड़ीसा राज्यान्तर्गत एक प्रान्तके शासक थे । ये बड़े शौकीन थे, इनका रहन-सहन, टाट-बाट सब राजसी ढंगका ही था । धन पाकर जिस प्रकार प्रायः लोग विषयी बन जाते हैं, उसी प्रकारके ये विषयी बने हुए थे । विषयी लोगोंकी इच्छा सर्वभुक् अग्निके समान होती है, उसमें धनरूपी ईंधन कितना भी क्यों न डाल दिया जाय उसकी तृप्ति नहीं होती । तभी तो विषयी पुरुषोंको शास्त्रकारोंने अविश्वासी

---

* चाहे तो निष्काम भावसे, चाहे सम्पूर्ण सांसारिक सुखोंकी इच्छासे अथवा मोक्षकी ही इच्छासे बुद्धिमान् पुरुषको सर्वदा तीव्र भक्तियोगसे उन परम पुरुष श्रीकृष्णकी [नामस्मरण, संकीर्तन और लीला-कथारूपी यशोंद्वारा] आराधना करते रहना चाहिये ।

कहा है । विषयी लोगोंके वचनोंका कभी विश्वास न करना चाहिये । उनके पास कोई धरोहरकी चीज रखकर फिर उसे प्राप्त करनेकी आशा व्यर्थ है । विषय होता ही तब है जब हृदयमें अविवेक होता है और अविवेकमें अपने-पराये या हानि-लाभका ध्यान नहीं रहता । इसलिये विषयी पुरुष अपनेको तो आपत्तिके जालमें फँसाता ही है साथ ही अपने संसर्गियोंको भी सदा क्लेश पहुँचाता रहता है । विषयियोंका संसर्ग होनेसे किसे क्लेश नहीं हुआ है ? इसीलिये नीतिकारोंने कहा है—

दुर्वृत्तसंगतिरनर्थपरम्पराया

हेतुः सतां भवति किं वचनीयमत्र ।

लङ्केश्वरो हरति दाशरथेः कलत्रं

प्राप्नोति बन्धनमसौ किल सिन्धुराजः ॥

'इसमें विशेष कहने-सुननेकी बात ही क्या है ? यह तो सनातनकी रीति चली आयी है कि, विषयी पुरुषोंसे संसर्ग रखनेसे अच्छे पुरुषोंको भी क्लेश होता ही है । देखो, उस विषयी रावणने तो जनकनन्दिनी सीताजीका हरण किया और बन्धनमें पड़ा बेचारा समुद्र ।' साथियोंके दुःख-सुखका उपभोग सभीको करना होता है । वह सम्बन्धी ही नहीं जो सुखमें सम्मिलित रहता है और दुःखमें दूर हो जाता है । किन्तु एक बात है, यदि खोटे पुरुषोंका सौभाग्यवश किसी महापुरुषसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध हो जाता है तो उसके इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं । साधुपुरुष तो सदा विषयी पुरुषोंसे दूर ही रहते हैं, किन्तु विषयी किसी भी प्रकारसे उनके शरणापन्न हो जाय, तो फिर उसका बेड़ा पार ही समझना चाहिये । महापुरुषोंको यदि किसीके दुःखको देखकर दुःख भी होता है तो फिर वह उस दुःखसे छूट ही जाता है, जब संसारी दुःख महापुरुषोंकी तनिक-सी इच्छासे छूट जाते हैं, तब शुद्ध हृदयसे और श्रद्धाभक्तिपूर्वक जो उनकी शरणमें आता है उसका कल्याण तो होगा ही—

इसमें कहना ही क्या ? राजा भवानन्दजी शुद्ध हृदयसे प्रभुके भक्त थे। उनके पुत्र गोपीनाथ पट्टनायक महान् विषयी थे। पिताका महाप्रभुके साथ सम्बन्ध था। इसी सम्बन्धसे उनका प्रभुके साथ थोड़ा-बहुत सम्बन्ध था। इस सम्बन्धीके सम्बन्धीके सम्बन्ध-संसर्गके ही कारण वे सूलीपर चढ़े हुए भी बच गये। महापुरुषोंकी महिमा ऐसी ही है।

गोपीनाथ एक प्रदेशके शासक थे। सम्पूर्ण प्रान्तकी आय उन्हींके पास आती थी। वे उसमेंसे अपना नियत वेतन रखकर शेष रुपयोंको राजदरबारमें भेज देते थे। किन्तु विषयियोंमें इतना संयम कहाँ कि वे दूसरेके द्रव्यकी परवा करें ? हम बता ही चुके हैं कि, अविवेकके कारण विषयी पुरुषोंको अपने परायेका ज्ञान नहीं रहता। गोपीनाथ पट्टनायक भी राजकोषमें भेजनेवाले द्रव्यको अपने ही खर्चमें व्यय कर देते। इस प्रकार उड़ीसाके महाराजके दो लाख रुपये उनकी ओर हो गये। महाराजने इनसे अपने रुपये माँगे, किन्तु इनके पास रुपये कहाँ ? उन्हें तो वेश्या और कलावंतोंने अपना बना लिया। गोपीनाथने महाराजसे प्रार्थना की कि, 'मेरे पास नकद रुपये तो हैं नहीं। मेरे पास ये दस-बीस घोड़े हैं, कुछ और भी सामान है, इसे जितनेमें समझें, ले लें, शेष रुपये मैं धीरे-धीरे देता रहूँगा।' महाराजने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और घोड़ोंकी कीमत निश्चय करनेके निमित्त अपने एक लड़केको भेजा।

वह राजकुमार बड़ा बुद्धिमान् था, उसे घोड़ोंकी खूब परख थी, वह अपने दस-बीस नौकरोंके साथ घोड़ोंकी कीमत निश्चय करने वहाँ गया। राजकुमारका स्वभाव था कि वह ऊपरको सिर करके बार-बार इधर-उधर मुँह फिरा-फिराकर बातें किया करता था। राजपुत्र था, उसे अपने राजपाट और अधिकारका अभिमान था, इसलिये कोई उसके सामने बोलतातक नहीं था। उसने चारों ओर घोड़ोंको देख-भालकर मूल्य निश्चय करना आरम्भ किया। जिन्हें गोपीनाथ दो-चार हजारके

मूल्यका समझते थे, उनका उसने बहुत ही थोड़ा मूल्य बताया। महाराज गोपीनाथको भवानन्दजीके सम्बन्धसे पुत्रकी भाँति मानते थे, इसलिये ये बड़े ढीठ हो गये थे। राजपुत्रोंको वे कुछ समझते ही नहीं थे। जब राजपुत्रने दो-चार घोड़ोंका ही इतना कम मूल्य लगाया, तब गोपीनाथसे न रहा गया। उन्होंने कहा—'श्रीमन्! यह तो आप बहुत ही कम मूल्य लगा रहे हैं!'

राजपुत्रने कुछ रोषके साथ कहा—'तुम क्या चाहते हो, दो लाख रुपये इन घोड़ोंमें ही बेबाक कर दें? जितनेके होंगे उतने ही तो लगावेंगे।'

गोपीनाथने अपने रोषको रोकते हुए कहा—श्रीमन्! घोड़े बहुत बढ़िया नस्लके हैं। इतना मूल्य तो इनके लिये बहुत ही कम है।'

इस बातसे कुछ कुपित होकर राजपुत्रने कहा—'दुनियाभरके रद्दी घोड़े इकट्ठे कर रखे हैं और चाहते हैं इन्हें ही देकर दो लाख रुपयोंसे बेबाक हो जायँ। यह नहीं होनेका। घोड़े जितनेके होंगे, उतनेके ही लगाये जायँगे।'

राजप्रसादप्राप्त मानी गोपीनाथ अपने इस अपमानको सहन नहीं कर सके। उन्होंने राजपुत्रकी उपेक्षा करते हुए धीरेसे व्यंगके स्वरमें कहा—'कम-से-कम मेरे ये घोड़े तुम्हारी तरह ऊपर मुँह उठाकर इधर-उधर तो नहीं देखते।' उनका भाव था कि तुम्हारी अपेक्षा घोड़ोंका मूल्य अधिक है।

आत्मसम्मानी राजपुत्र इस अपमानको सहन नहीं कर सका। वह क्रोधके कारण जलने लगा। उस समय तो उसने कुछ नहीं कहा। उसने सोचा कि यहाँ हम कुछ कहें तो बात बढ़ जाय और न जाने महाराज उसका क्या अर्थ लगावें। शासनमें अभी हम स्वतन्त्र नहीं हैं, यही सोचकर वह वहाँसे चुपचाप महाराजके पास चला गया। वहाँ जाकर उसने

गोपीनाथकी बहुत-सी शिकायतें करते हुए कहा—'पिताजी ! वह तो महा-विषयी है, एक भी पैसा देना नहीं चाहता । उलटे उसने मेरा घोर अपमान किया है । उसने मेरे लिये ऐसी बुरी बात कही है, जिसे आपके सामने कहनेमें मुझे लज्जा आती है । सब लोगोंके सामने वह मेरी ऐसी निन्दा कर जाय ? नौकर होकर उसका ऐसा भारी साहस ! यह सब आपकी ही ढीलका कारण है । उसे जबतक चांगपर न चढ़ाया जायगा तबतक रुपये वसूल नहीं होंगे, आप निश्चय समझिये ।'

महाराजने सोचा—'हमें तो रुपये मिलने चाहिये । सचमुच जब-तक उसे भारी भय न दिखाया जायगा, तबतक वह रुपये नहीं देनेका । एक बार उसे चागपर चढ़ानेकी आज्ञा दे दें । सम्भव है इस भयसे रुपये दे दे । नहीं तो पीछे उसे अपनी विशेष आज्ञासे छोड़ देंगे । भवानन्दके पुत्रको भला हम दो लाख रुपयोंके पीछे चांगपर थोड़े ही चढ़वा सकते हैं । अभी कह दें, इससे राजकुमारका क्रोध भी शान्त हो जायगा और रुपये भी सम्भवतया मिल ही जायँगे ।' यह सोचकर महाराजने कह दिया—'अच्छा भाई, वही काम करो, जिससे उससे रुपये मिलें । चढ़वा दो उसे चागपर ।'

बस, फिर क्या था ! राजपुत्रने फौरन आज्ञा दी कि गोपीनाथको यहाँ बाँधकर लाया जाय । क्षणभरमें उसकी आज्ञा पालन की गयी । गोपीनाथ बाँधकर चांगके समीप खड़े किये गये । अब पाठकोंको चागका भी परिचय करा दें कि यह चाग क्या बला है । असलमें चाग एक प्रकारसे सूलीका ही नाम है । सूलीमें और चागमें इतना ही अन्तर है कि सूली गुदामें होकर डाली जाती है और सिरमें होकर पार निकाल ली जाती है । इससे जल्दी प्राण नहीं निकलते—बहुत देरमें तड़प-तड़पकर प्राण निकलते हैं । चांग उससे कुछ सुखकर प्राणनाशक क्रिया है । एक बड़ा-सा मञ्च होता है । उस मञ्चके नीचे भागमें

तीक्ष्ण धारवाला एक बहुत बड़ा खड्ग लगा रहता है। उस मञ्चपरसे अपराधीको इस ढंगसे फेंकते हैं कि जिससे उसपर गिरते ही उसके प्राणोंका अन्त हो जाय। इसीका नाम 'चाग चढ़ाना' है। बड़े-बड़े अपराधियोंको ही चांगपर चढ़ाया जाता है।

'गोपीनाथ पट्टनायक चांगपर चढ़ाये जायँगे'—इस बातका हल्ला चारों ओर फैल गया। सभी लोगोंको इस बातसे महान् आश्चर्य हुआ। महाराज जिन राजा भवानन्दको अपने पिताके समान मानते थे, उनके पुत्रको वे चांगपर चढ़ा देंगे, सचमुच इन राजाओंके चित्तकी बात समझी नहीं जाती, ये क्षणभरमें प्रसन्न हो सकते हैं और पलभरमें क्रुद्ध। इनका कोई अपना नहीं। ये सब कुछ कर सकते हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिकी बातें कहते हुए सैकड़ों पुरुष महाप्रभुके शरणापन्न हुए और सभी हाल सुनाकर प्रभुसे उनके अपराध क्षमा करा देनेकी प्रार्थना करने लगे।

प्रभुने कहा—'भाई! मैं कर ही क्या सकता हूँ? राजाकी आज्ञाको टाल ही कौन सकता है? ठीक ही है, विषयी लोगोंको ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये। जब वह राजद्रव्यको भी अपने विषय-भोगमें उड़ा देता है तो राजाको उससे क्या लाभ? दो लाख रुपये कुछ कम तो होते ही नहीं। जैसा उसने किया, उसका फल भोगे। मैं क्या करूँ?'

भवानन्दजीके सगे-सम्बन्धी और स्नेही प्रभुसे भाँति-भाँतिकी अनुनय-विनय करने लगे। प्रभुने कहा—'भाई! मैं तो भिक्षुक हूँ, यदि मेरे पास दो लाख रुपये होते तो देकर उसे छुड़ा लाता, किन्तु मेरे पास तो दो कौड़ी भी नहीं। मैं उसे छुड़ाऊँ कैसे? तुम लोग जगन्नाथजीसे जाकर प्रार्थना करो, वे दीनानाथ हैं, सबकी प्रार्थनापर अवश्य ही ध्यान देंगे।'

इतनेमें ही बहुत-से पुरुष प्रभुके समीप और भागते हुए आये। उन्होंने संवाद दिया कि 'भवानन्द, वाणीनाथ आदि सभी परिवारके लोगोंको राजकर्मचारी बाँधकर लिये जा रहे हैं।'

सभी लोगोंको आश्चर्य हुआ। भवानन्दजीके बन्धनका समाचार सुनकर तो प्रभुके सभी विरक्त और अन्तरङ्ग भक्त तिलमिला उठे। स्वरूप-दामोदरजीने अधीरताके साथ कहा—'प्रभो! भवानन्द तो सपरिवार आपके चरणोंके सेवक हैं उनको इतना दुःख क्यों? आपके कृपापात्र होते हुए भी वे वृद्धावस्थामें इतना क्लेश सहें, यह उचित प्रतीत नहीं होता। इससे आपकी भक्तवत्सलताकी निन्दा होगी।'

महाप्रभुने कुछ प्रेमयुक्त रोषके स्वरमें कहा—'स्वरूप! तुम इतने समझदार होकर भी ऐसी बच्चोंकी-सी बातें कर रहे हो? तुम्हारी इच्छा है कि मैं राजदरबारमें जाकर भवानन्दके लिये राजासे प्रार्थना करूँ कि वे इन्हें मुक्त कर दें? अच्छा, मान लो मैं जाऊँ भी और कहूँ भी और राजाने कह दिया कि आप ही दो लाख रुपये दे जाइये, तब मैं क्या उत्तर दूँगा? राजदरबारमें साधु-ब्राह्मणोंको तो कोई घास-फूँसकी तरह भी नहीं पूछता।'

स्वरूप गोस्वामीने कहा—'आपसे राजदरबारमें जानेके लिये कहता ही कौन है? आप तो अपनी इच्छामात्रसे ही विश्व-ब्रह्माण्डको उलट-पुलट कर सकते हैं। फिर भवानन्दको सपरिवार इस दुःखसे बचाना तो साधारण-सी बात है। आपको बचाना ही पड़ेगा, न बचावें तो आपकी भक्तवत्सलता ही झूठी हो जायगी, वह झूठी है नहीं। भवानन्द आपके भक्त हैं और आप भक्तवत्सल हैं, इस बातमें तो किसीको सन्देह ही नहीं।'

राजदरबारमें चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। सभीके मुखोंपर गोपीनाथके चांगपर चढ़नेकी ही बात थी। सभी इस असम्भव और

अद्भुत घटनाके कारण भयभीत-से प्रतीत होते थे। समाचार पाकर महाराजके प्रधान मन्त्री चन्दनेश्वर महापात्र महाराजके समीप पहुँचे और अत्यन्त ही विस्मय प्रकट करते हुए कहने लगे—'श्रीमन्! यह आपने कैसी आज्ञा दे दी! भवानन्दके पुत्र गोपीनाथ पट्टनायक तो आपके भाई-के समान हैं। उन्हें आप प्राणदण्ड दिला रहे हैं, सो भी दो लाख रुपयोंके ऊपर! वे यदि देनेसे इन्कार करें तो भी ऐसा करना उचित था! किन्तु वे तो देनेको तैयार हैं। उनके घोड़े आदि उचित मूल्यपर ले लिये जायँ, जो शेष रहेगा, उसे वे धीरे-धीरे देते रहेंगे।'

महाराजकी स्वयं इच्छा नहीं थी। महामन्त्रीकी बात सुनकर उन्होंने कहा—'अच्छी बात है। मुझे इस बातका क्या पता? यदि वे रुपये देना चाहते हैं, तो उन्हें छोड़ दो। मुझे तो रुपयोंसे काम है उनके प्राण लेनेसे मुझे क्या लाभ?

महाराजकी ऐसी आज्ञा मिलते ही उन्होंने दरबारमें जाकर गोपी-नाथजीको सपरिवार मुक्त कर देनेकी आज्ञा लोगोंको सुना दी। इस आज्ञाको सुनते ही लोगोंके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। क्षणभरमें ही बहुत-से मनुष्य इस सुखद संवादको सुनानेके निमित्त प्रभुके पास पहुँचे और सभी एक स्वरसे कहने लगे—'प्रभुने गोपीनाथको चांगसे उतरवा दिया।'

प्रभुने कहा—'यह सब उनके पिताकी भक्तिका ही फल है। जगन्नाथ-जीने ही उन्हें इस विपत्तिसे बचाया है।'

लोगोंने कहा—'भवानन्दजी तो आपको ही सर्वस्व समझते हैं और वे कह भी रहे हैं कि महाप्रभुकी ही कृपासे हम इस विपत्तिसे बच सके हैं।'

प्रभुने लोगोंसे पूछा—'चांगके समीप खड़े हुए भवानन्दजीक उस समय क्या हाल था ?'

लोगोंने कहा—'प्रभो ! उनकी बात कुछ न पूछिये । अपने पुत्रक चांगपर चढ़े देखकर भी न उन्हें हर्ष था न विषाद । वे आनन्दके सहित प्रेममें गद्गद होकर—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस महामन्त्रका जप कर रहे थे । दोनों हाथोंकी उँगलियोंके पोरोंसे वे मन्त्रकी संख्याको गिनते जाते थे ! उन्हें आपके ऊपर दृढ़ विश्वास था !'

प्रभुने कहा—'सब पुरुषोत्तम भगवान्‌की कृपा है । उनकी भगवत्-भक्तिका ही फल है कि, इतनी भयङ्कर विपत्तिसे सहजमें ही छुटकारा मिल गया, नहीं तो राजाओंका क्रोध कभी निष्फल नहीं जाता ।'

इतनेमें ही भवानन्दजी अपने पाँचों पुत्रोंको साथ लिये हुए प्रभुके दर्शनोंके लिये आ पहुँचे । उन्होंने पुत्रोंके सहित प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टांग प्रणाम किया और गद्गद कण्ठसे दीनताके साथ वे कहने लगे—'हे दयालो ! हे भक्तवत्सल !! आपने ही हमारा इस भयङ्कर विपत्तिसे उद्धार किया है । प्रभो ! आपकी असीम कृपाके बिना ऐसा असम्भव कार्य कभी नहीं हो सकता कि चांगपर चढ़ा हुआ मनुष्य फिर जीवित ही उतर आवे !'

प्रभु उनकी भगवद्भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'इसे समझा दो, अब कभी ऐसा काम न करे । राजाके पैसेको कभी भी अपने खर्चमें न लावे ।' इस प्रकार समझा-बुझाकर प्रभुने उन सब पिता-पुत्रों-को विदा किया । उसी समय काशी मिश्र भी आ पहुँचे । प्रभुको प्रणाम करके

उन्होंने कहा—'प्रभो ! आज आपकी कृपासे ये पिता-पुत्र तो खूब विपत्तिसे बचे ।'

प्रभुने कुछ खिन्नता प्रकट करते हुए कहा—'मिश्रजी ! क्या बताऊँ ? मैं तो इन विषयी लोगोंके संसर्गसे बड़ा दुखी हूँ । मैं चाहता हूँ, इनकी कोई बात मेरे कानोंमें न पड़े । किन्तु जब यहाँ रहता हूँ, तब लोग मुझसे आकर कह ही देते हैं । सुनकर मुझे क्लेश होता ही है, इसलिये पुरी छोड़कर अब मैं अलालनाथमें जाकर रहूँगा । वहाँ न इन विषयी लोगोंका संसर्ग होगा और न ये बातें सुननेमें आवेंगी ।'

मिश्रजीने कहा—'आपको इन बातोंसे क्या ? यह तो संसार है । इसमें तो ऐसी बातें होती ही रहती हैं । आप किस-किसका शोक करेंगे ? आपसे क्या, कोई कुछ भी करे ! आपके भक्त तो सभी विषयत्यागी वैरागी हैं । रघुनाथदासजीको देखिये सब कुछ छोड़-छाड़कर क्षेत्रके टुकड़ोंपर निर्वाह करते हैं । रामानन्द तो पूरे संन्यासी हैं ही ।'

प्रभुने कहा—'चाहे कैसा भी क्यों न हो, अपना कुछ सम्बन्ध रहनेसे दुःख-सुख प्रतीत होता ही है । ये विषयी ठहरे, बिना रुपया चुकाये मानेंगे नहीं, महाराज फिर इन्हें चांगपर चढ़ावेंगे । आज बच गये तो एक-न-एक दिन फिर यही होना है ।'

मिश्रजीने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं होगा । महाराज भवानन्दजीको बहुत प्यार करते हैं ।' इसके अनन्तर और भी बहुत-सी बातें होती रहीं । अन्तमें काशी मिश्र प्रभुकी आज्ञा लेकर चले गये ।

महाराज प्रतापरुद्रजी अपने कुलगुरु श्रीकाशी मिश्रके अनन्य भक्त थे । पुरीमें जब भी वे रहते, तभी रोज उनके घर आकर पैर दबाते थे । मिश्रजी भी उनसे अत्यधिक स्नेह मानते थे । एक दिन रात्रिमें महाराज आकर मिश्रजीके पैर दबाने लगे । बातों-ही-बातोंमें मिश्रजीने

प्रभुने लोगोंसे पूछा—'चागके समीप खड़े हुए भवानन्दजीका उस समय क्या हाल था ?'

लोगोंने कहा—'प्रभो ! उनकी बात कुछ न पूछिये । अपने पुत्रको चागपर चढ़े देखकर भी न उन्हें हर्ष या न विषाद । वे आनन्दके सहित प्रेममें गद्गद होकर—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका जप कर रहे थे । दोनों हाथोंकी उँगलियोंके पोरोंसे वे मन्त्रकी संख्याको गिनते जाते थे ! उन्हें आपके ऊपर दृढ़ विश्वास था ।'

प्रभुने कहा—'सब पुरुषोत्तम भगवान्‌की कृपा है । उनकी भगवत्-भक्तिका ही फल है कि, इतनी भयङ्कर विपत्तिसे सहजमें ही छुटकारा मिल गया, नहीं तो राजाओंका क्रोध कभी निष्फल नहीं जाता ।'

इतनेमें ही भवानन्दजी अपने पाँचों पुत्रोंको साथ लिये हुए प्रभुके दर्शनोंके लिये आ पहुँचे । उन्होंने पुत्रोंके सहित प्रभुके पादपद्मोंमें साष्टांग प्रणाम किया और गद्गद कण्ठसे दीनताके साथ वे कहने लगे—'हे दयालो ! हे भक्तवत्सल !! आपने ही हमारा इस भयङ्कर विपत्तिसे उद्धार किया है । प्रभो ! आपकी असीम कृपाके बिना ऐसा असम्भव कार्य कभी नहीं हो सकता कि चांगपर चढ़ा हुआ मनुष्य फिर जीवित ही उतर आवे !'

प्रभु उनकी भगवद्भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'इसे समझा दो, अब कभी ऐसा काम न करे । राजाके पैसेको कभी भी अपने खर्चमें न लावे ।' इस प्रकार समझा-बुझाकर प्रभुने उन सब पिता-पुत्रों-को विदा किया । उसी समय काशी मिश्र भी आ पहुँचे । प्रभुको प्रणाम करके

उन्होंने कहा—'प्रभो ! आज आपकी कृपासे ये पिता-पुत्र तो खूब विपत्तिसे बचे ।'

प्रभुने कुछ खिन्नता प्रकट करते हुए कहा—'मिश्रजी ! क्या बताऊँ ? मैं तो इन विषयी लोगोंके संसर्गसे बड़ा दुखी हूँ । मैं चाहता हूँ, इनकी कोई बात मेरे कानोंमें न पड़े । किन्तु जब यहाँ रहता हूँ, तब लोग मुझसे आकर कह ही देते हैं । सुनकर मुझे क्लेश होता ही है, इसलिये पुरी छोड़कर अब मैं अलालनाथमें जाकर रहूँगा । वहाँ न इन विषयी लोगोंका संसर्ग होगा और न ये बातें सुननेमें आवेंगी ।'

मिश्रजीने कहा—'आपको इन बातोंसे क्या ? यह तो संसार है । इसमें तो ऐसी बातें होती ही रहती हैं । आप किस-किसका शोक करेंगे ? आपसे क्या, कोई कुछ भी करे ! आपके भक्त तो सभी विषयत्यागी वैरागी हैं । रघुनाथदासजीको देखिये सब कुछ छोड़-छाड़कर क्षेत्रके टुकड़ोंपर निर्वाह करते हैं । रामानन्द तो पूरे संन्यासी है ही ।'

प्रभुने कहा—'चाहे कैसा भी क्यों न हो, अपना कुछ सम्बन्ध रहनेसे दुःख-सुख प्रतीत होता ही है । ये विषयी ठहरे, बिना रुपया चुराये मानेंगे नहीं, महाराज फिर इन्हें चांगपर चढ़ावेंगे । आज बच गये तो एक-न-एक दिन फिर यही होना है ।'

मिश्रजीने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं होगा । महाराज भवानन्दजीको बहुत प्यार करते हैं ।' इसके अनन्तर और भी बहुत-सी बातें होती रहीं । अन्तमें काशी मिश्र प्रभुकी आज्ञा लेकर चले गये ।

महाराज प्रतापरुद्रजी अपने कुलगुरु श्रीकाशी मिश्रके अनन्य भक्त थे । पुरीमें जब भी वे रहते, तभी रोज उनके घर आकर पैर दबाते थे । मिश्रजी भी उनसे अत्यधिक स्नेह मानते थे । एक दिन रात्रिमें महाराज आकर मिश्रजीके पैर दबाने लगे । बातों-ही-बातोंमें मिश्रजीने

प्रसंग छेड़ दिया कि महाप्रभु तो पुरी छोड़कर अब अलालनाथ जाना चाहते हैं।

पैरोंको पकड़े हुए सम्भ्रमके साथ महाराजने कहा—'क्यों, क्यों ? उन्हें यहाँ क्या कष्ट है ? जो भी कोई कष्ट हो उसे दूर कीजिये। मैं आपका सेवक सब प्रकारसे स्वयं उनकी सेवा करनेको उपस्थित हूँ।'

मिश्रजीने कहा—'उन्हें गोपीनाथवाली घटनासे बड़ा कष्ट हुआ है। वे कहते हैं, विषयियोंके संसर्गमें रहना ठीक नहीं है।'

महाराजने कहा—'श्रीमहाराज ! मैंने तो उन्हें धमकानेके लिये ऐसा किया था। वैसे भवानन्दजीके प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है। इस छोटी-सी बातके पीछे प्रभु पुरीको क्यों परित्याग कर रहे हैं। दो लाख रुपयोंकी कौन-सी बात है ? मैं रुपयोंको छोड़ दूँगा। आप जैसे भी बने तैसे प्रभुको यहीं रखिये।'

मिश्रजीने कहा—'रुपये छोड़नेको वे नहीं कहते। रुपयोंकी बात सुनकर तो उन्हें और अधिक दुःख होगा। वैसे ही वे इस झंझटसे दूर रहना चाहते हैं। कहते हैं—'रोज-रोज यही झगड़ा चलता रहेगा। गोपीनाथ फिर ऐसा ही करेगा।'

महाराजने कहा—'आप उन्हें रुपयोंकी बात कहें ही नहीं। गोपीनाथ तो अपना ही आदमी है। अब झगड़ा क्यों होगा ? मैं उसे समझा दूँगा, आप महाप्रभुको जाने न दें। जैसे भी रख सकें अनुनय-विनय और प्रार्थना करके उन्हें यहीं रखें।'

महाराजके चले जानेपर दूसरे दिन मिश्रजीने सभी बातें आकर प्रभुसे कहीं। सब बातोंको सुनकर प्रभु कहने लगे—'यह आपने क्या किया ? यह तो दो लाख रुपये आपने मुझे ही दिलवा दिये। इस राज-प्रतिग्रहको लेकर मैं उलटा पापके भागी बना।'

मिश्रजीने सभी बातें प्रभुको समझा दीं। महाराजके शील, स्वभाव, म्रता और सद्गुणोंकी प्रशंसा की। प्रभु उनके भक्तिभावकी बातें सुनकर सन्तुष्ट हुए और उन्होंने अलालनाथ जानेका विचार परित्याग कर दिया।

इधर महाराजने आकर गोपीनाथजीको बुलाया और उन्हें पुत्रकी भाँति समझाते हुए कहने लगे—'देखो, इस प्रकार व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिये। तुमने बिना पूछे इतने रुपये खर्च कर दिये इसलिये हमें क्रोध आ गया। जाओ, वे रुपये माफ किये। अब फिर ऐसा काम कभी भी न करना। यदि इतने वेतनसे तुम्हारा काम नहीं चलता है, तो हमसे कहना चाहिये था। अबतक तुमने यह बात हमसे कभी नहीं कही। आजसे हमने तुम्हारा वेतन भी दुगुना कर दिया।' इस प्रकार दो लाख रुपये माफ हो जानेपर और वेतन भी दुगुना हो जानेसे गोपीनाथजीको परम प्रसन्नता हुई। उसी समय वे आकर प्रभुके पैरोंमें पड़ गये और रोते-रोते कहने लगे—'प्रभो! मुझे अब अपने चरणोंकी शरणमें लीजिये, अब मुझे इस विषय-जंजालसे छुड़ाइये।'

प्रभुने उन्हें प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया और फिर कभी ऐसा काम न करनेके लिये कहकर विदा किया।

जब महापुरुषोंकी तनिक-सी कृपा होनेपर गोपीनाथ सपरिवार सूलीसे बच गये, दो लाख रुपये माफ हो गये, वेतन दुगुना हो गया और पहलेसे भी अधिक राजाके प्रीतिभाजन बन गये, तब जो अनन्यभावसे महापुरुषोंके चरणोंकी सेवा करते हैं और उनके ऊपर जो महापुरुषोंकी कृपा होती है, उस कृपाके फलका तो कहना ही क्या? उस कृपासे तो फिर मनुष्यका इस संसारसे ही सम्बन्ध छूट जाता है। वह तो फिर सर्वतोभावेन प्रभुका ही हो जाता है। धन्य है ऐसी कृपालुताको!

श्रीशिवानन्द सेनकी सहनशीलता

न भवति भवति च न चिरं
भवति चिरं चेत् फले विसंवादी।
कोपः सत्पुरुषाणां
तुल्यः स्नेहेन नीचानाम्॥*
(सु० र० भां० ४९। १०। १०७)

पहले तो महापुरुषोंको क्रोध होता ही नहीं है। यदि किसी विशेष कारणवश क्रोध हो भी जाय तो वह स्थायी नहीं रहता, क्षणभरमें ही शान्त हो जाता है। यदि कोई ऐसा ही भारी कारण आ उपस्थित हुआ और महापुरुषोंका कोप कुछ कालतक बना रहा तो उसका परिणाम सुखकारी ही होता है। महापुरुषोंका बड़ा भारी कोप और नीच पुरुषोंका अत्यधिक स्नेह दोनों बराबर ही हैं। बल्कि कुपुरुषोंके प्रेमसे सत्पुरुषोंका

* सज्जनोंको क्रोध और नीच पुरुषोंको स्नेह पहले तो होता ही नहीं, यदि होता भी है तो देरतक नहीं ठहरता, यदि देरतक रहा भी तो फल उलटा ही होता है। इस प्रकार सत्पुरुषोंका कोप नीच पुरुषोंके स्नेहके ही समान है।

क्रोध लाख दर्जे अच्छा है, किन्तु सत्पुरुषोंके क्रोधको सहन करनेकी शक्ति सब किसीमें नहीं होती है । कोई परम भाग्यवान् क्षमाशील भगवद्भक्त ही महापुरुषोंके क्रोधको बिना मनमें विकार लाये सहन करनेमें समर्थ होते हैं और इसीलिये वे संसारमें सुयशके भागी बनते हैं । क्योंकि शास्त्रोंमें मनुष्यका भूषण सुन्दर रूप बताया गया है, सुन्दर रूप भी तभी शोभा पाता है, जब उसके साथ सद्गुण भी हों । सद्गुणोंका भूषण ज्ञान है और ज्ञानका भूषण क्षमा है ।* चाहे मनुष्य कितना भी बड़ा ज्ञानी क्यों न हो, उसमें कितने ही सद्गुण क्यों न हों, उसका रूप कितना भी सुन्दर क्यों न हो, यदि उसमें क्षमा नहीं है, यदि वह लोगोंके द्वारा कही हुई कड़वी बातोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन नहीं कर सकता तो उसका रूप, ज्ञान और सभी प्रकारके सद्गुण व्यर्थ ही हैं । क्षमावान् तो कोई शिवानन्दजी सेनके समान लाखों-करोड़ोंमें एक-आध ही मिलेंगे । महात्मा शिवानन्दजी तो क्षमाके अवतार ही थे—इसे पाठक नीचेकी घटनासे समझ सकेंगे ।

पाठकोंको यह तो पता ही है कि, गौड़ीय भक्त रथ-यात्राको उपलक्ष्य बनाकर प्रतिवर्ष ज्येष्ठके अन्तमें अपने स्त्री-बच्चोंके सहित श्री-जगन्नाथपुरीमें आते थे और बरसातके चार मास बिताकर अन्तमें अपने-अपने घरोंको लौट जाते थे । उन सबके लानेका, मार्गमें सभी प्रकारके प्रबन्ध करनेका भार प्रभुने शिवानन्दजीको ही सौंप दिया था । वे भी प्रतिवर्ष अपने पाससे हजारों रुपये व्यय करके बड़ी सावधानीके साथ भक्तोंको अपने साथ लाते थे । सबसे अधिक कठिनाई घाटोंपर उतरनेकी थी । एक-एक, दो-दो रुपये उतराई लेनेपर भी घाटवाले यात्रियोंको ठीक

---

* नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः ।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा ॥

समयपर नहीं उतारते थे। यद्यपि महाप्रभुके देशव्यापी प्रभावके कारण गौरभक्तोंको इतनी अधिक असुविधा नहीं होती थी फिर भी कोई-कोई खोटी बुद्धिवाला घटवारिया इनसे कुछ-न-कुछ अड़ंगा लगा ही देता था। ये बड़े सरल थे, सम्पूर्ण भक्तोंका भार इन्हींके ऊपर था, इसलिये घटवारिया, पहले-पहल इन्हें ही पकड़ते थे।

एक बार नीलाचल आते समय पुरीके पास ही किसी घटवारियाने शिवानन्द सेनजीको रोक रखा। वे भक्तोंके ठहरने और खाने-पीनेका कुछ भी प्रबन्ध न कर सके। क्योंकि घटवारियोंने उन्हें वहीं बैठा लिया था। इससे नित्यानन्दजीको उनके ऊपर बड़ा क्रोध आया। एक तो वे दिन-भरके भूखे थे, दूसरे रास्ता चलकर आये थे, तीसरे भक्तोंको निराश्रय भटकते देखनेसे उनका क्रोध उमड़ पड़ा। वे सेन महाशयको भली-बुरी बातें सुनाने लगे, उसी क्रोधके आवेशमें आकर उन्होंने यहाँतक कह डाला कि '*इस शिवानन्दके तीनों पुत्र मर जायँ, इसकी धन-सम्पत्ति नाश हो* जाय, इसने हमारे तथा भक्तोंके रहने और खाने-पीनेका कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया।' नित्यानन्दजीके क्रोधमें दिये हुए ऐसे अभिशापको सुनकर सेन महाशयकी पत्नीको अत्यन्त ही दुःख हुआ, वे फूट-फूटकर रोने लगीं। जब बहुत रात्रि बीतनेपर घाटवालोंसे जैसे-तैसे पिण्ड छुड़ाकर शिवानन्द-जी अपने बाल-बच्चोंके समीप आये तब उनकी धर्मपत्नीने रोते-रोते कहा—'गुसाईंने क्रुद्ध होकर हमें ऐसा भयङ्कर शाप दे दिया है। हमने उनका ऐसा क्या बिगाड़ा था? अब भी वे क्रुद्ध हो रहे हैं, आप उनके पास न जायँ।'

शिवानन्दजीने दृढताके साथ पत्नीकी बातकी अवहेलना करते हुए कहा—'पगली कहींकी! तू उन महापुरुषकी महिमा क्या जाने? मेरे तीनों पुत्र चाहे अभी मर जायँ और धन-सम्पत्तिकी तो मुझे कुछ परवा नहीं। वह तो सब गुसाईंकी ही है, वे चाहें तो आज ही सबको छीन लें। मैं

अभी उनके पास जाऊँगा और उनके चरण पकड़कर उन्हें शान्त करूँगा।' यह कहते हुए वे नित्यानन्दजीके समीप चले। उस समय भी नित्यानन्द-जीका क्रोध शान्त नहीं हुआ था। वृद्ध शिवानन्दजीको अपनी ओर आते देखकर उनकी पीठमें उठकर एक जोरोंसे लात मारी। सेन महाशयने कुछ भी नहीं कहा। उसी समय उनके ठहरने और खाने-पीनेकी समुचित व्यवस्था करके हाथ जोड़े हुए कहने लगे—'प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हुआ, जिन चरणोंकी रजके लिये इन्द्रादि देवता भी तरसते हैं वही चरण आपने मेरी पीठसे छुआये। मैं सचमुच कृतार्थ हो गया। गुसाईं! अज्ञानके कारण मेरा जो अपराध हुआ हो, उसे क्षमा करें। मैं अपनी मूर्खतावश आपको क्रुद्ध करनेका कारण बना—इस अपराधके लिये मैं लज्जित हूँ। प्रभो! मुझे अपना सेवक समझकर मेरे समस्त अपराधोंको क्षमा करें और मुझपर प्रसन्न हों।'

शिवानन्दजीकी इतनी सहनशीलता, ऐसी क्षमा और ऐसी एकान्त निष्ठाको देखकर नित्यानन्दजीका हृदय भर आया। उन्होंने जल्दीसे उठ-कर शिवानन्दजीको गलेसे लगाया और उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहने लगे—'शिवानन्द! तुम्हीं सचमुच प्रभुके परम कृपापात्र बननेयोग्य हो। जिसमें इतनी अधिक क्षमा है वह प्रभुका अवश्य ही अन्तरङ्ग भक्त बन सकता है।' सचमुच नित्यानन्दजीका यह आशीर्वाद फलीभूत हुआ और प्रभुने सेन महाशयके ऊपर अपार कृपा प्रदर्शित की। प्रभुने अपने उच्छिष्ट महाप्रसादको शिवानन्दजीके सम्पूर्ण परिवारके लिये भिजवानेकी गोविन्दको स्वयं आज्ञा दी। इनकी ऐसी ही तपस्याके परिणामस्वरूप तो कवि कर्णपूर-जैसे परम प्रतिभावान् महाकवि और भक्त इनके यहाँ पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए।

नित्यानन्दजीका ऐसा बर्ताव शिवानन्दजी सेनके भगिनी-पुत्र श्रीकान्तको बहुत ही अरुचिकर प्रतीत हुआ। वह युवक था, शरीरमें

युवावस्थाका नूतन रक्त प्रवाहित हो रहा था, इस बातसे उसने अपने मामाका घोर अपमान समझा और इसकी शिकायत करनेके निमित्त वह सभी भक्तोंसे अलग होकर सबसे पहले प्रभुके समीप पहुँचा। बिना वस्त्र उतारे ही वह प्रभुको प्रणाम करने लगा। इसपर गोविन्दने कहा—'श्रीकान्त! तुम यह शिष्टाचारके विरुद्ध बर्ताव क्यों कर रहे हो? अंगरखेको उतारकर तब साष्टाङ्ग प्रणाम किया जाता है। पहले वस्त्रोंको उतार लो, रास्तेकी थकान मिटा लो, हाथ-मुँह धो लो, तब प्रभुके सम्मुख प्रणाम करने जाना।' किन्तु उसने गोविन्दकी बात नहीं सुनी। प्रभु भी समझ गये, अवश्य ही कुछ दालमें काला है, इसलिये उन्होंने गोविन्दसे कह दिया—'श्रीकान्तके लिये क्या शिष्टाचार और नियम, यह जो करता है ठीक ही है, इसे तुम मत रोको। इसी दशामें इसे बातें करने दो।' इतना कहकर प्रभु उससे भक्तोंके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें पूछने लगे। पुराने भक्तोंकी बात पूछकर प्रभुने नवीन भक्तोंके सम्बन्धमें पूछा कि अबके बालभक्तोंमेंसे कौन-कौन आया है? प्रभुके पीछे जो बच्चे उत्पन्न हुए थे, वे भी अबके अपनी-अपनी माताओंके साथ प्रभुके दर्शनोंकी उत्कण्ठासे आ रहे थे। श्रीकान्तने सभी बच्चोंका परिचय देते हुए शिवानन्दजीके पुत्र परमानन्द-दासका भी परिचय दिया और उसकी प्रखर प्रतिभा तथा प्रभुदर्शनोंकी उत्कण्ठाकी भी प्रशंसा की। प्रभु उस बच्चेको देखनेके लिये लालायित-से प्रतीत होने लगे। इन सभी बातोंमें श्रीकान्त नित्यानन्दजीकी शिकायत करना भूल ही गये। इतनेमें ही सभी भक्त आ उपस्थित हुए। प्रभुने सदाकी भाँति उन सबका स्वागत-सत्कार किया और उन्हें रहनेके लिये यथायोग्य स्थान दिलाकर सभीके प्रसादकी व्यवस्था करायी।

पुरीदास या कवि कर्णपूर

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥*

(भर्तृहरि० नीति० २४)

कविता एक भगवद्दत्त वस्तु है। जिसके हृदयमें कमनीय कविता करनेकी कला विद्यमान है उसके लिये फिर राज्यसुखकी क्या अपेक्षा ? इन्द्रासन उसके लिये तुच्छ है। कविता गणितकी तरह अभ्यास करनेसे नहीं आती, वह तो अलौकिक प्रतिभा है, किसी भाग्यवान् पुरुषको ही पूर्वजन्मोंके पुण्योंके फलस्वरूप प्राप्त हो सकती है। कवि क्या नहीं कर सकता ? जिसे चाहे अमर बना सकता है। जिसे चाहे पातालमें पहुँचा सकता है। भोज, विक्रम-जैसे अरबों-खरबों नहीं असंख्यों राजा हो गये, उनका कोई नाम क्यों नहीं जानता—इसलिये कि वे कालिदास-जैसे कविकुलचूडामणि महापुरुषके श्रद्धाभाजन नहीं बन सके। थोड़ी देरके लिये भगवान् रामकृष्णके अवतारीपनेकी बातको छोड़ दीजिये। सामान्य-दृष्टिसे ये केवल अपने प्रचण्ड दोर्दण्डबलके कारण बली नहीं बन सके।

---

* उन परमपुण्यवान् रससिद्ध कवीश्वरोंकी जय हो, जिनके यशरूपी शरीरको अवश्य प्राप्त होनेवाले बुढ़ापे तथा मरणका भय नहीं है। अर्थात् कवियोंका यथार्थ शरीर उनका सुयश ही है। उनका सुयश सदा अमर बना रहता है। उसका नाश कभी नहीं होता।

वाल्मीकि और व्यासने उन्हें बली और वीर बनाया। तभी तो मैं कहता हूँ, कवि ईश्वर है, अचतुर्भुज विष्णु है, एक मुखवाला ब्रह्मा है और दो नेत्रवाला शिव है। कवि वन्द्य है, पूज्य है, आदरणीय और सम्माननीय है। कविके चरणोंकी वन्दना करना ईश्वरकी वन्दनाके समान है। कवितारूपसे श्रीहरि ही उसके मुखसे भाषण करते हैं, जिसे सुनकर सुकृति और भाग्यवान् पुरुषोंका मनमयूर पंख फैलाकर नृत्य करने लगता है और नृत्य करते-करते अश्रुविमोचन करता है। उन अश्रुओंको बुद्धिरूपी मयूरी पान करती है और उन्हीं अश्रुओंसे आह्लादरूपी गर्भको धारण करती है, जिससे आनन्दरूपी पुत्रकी उत्पत्ति होती है। वे पिता धन्य हैं जिनके घरमें प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न होते हैं। ऐसा सौभाग्य श्रीशिवानन्द सेन-जैसे सुकृति, साधुसेवी और भगवद्भक्त पुरुषोंको ही प्राप्त हो सकता है जिनके कवि कर्णपूर-जैसे नैसर्गिक प्रतिभासम्पन्न कवि पुत्र उत्पन्न हुए। कविताका कोई निश्चय नहीं, वह कब परिस्फुट हो उठे। किसी-किसीमें तो जन्म-से ही वह शक्ति विद्यमान रहती है, जहाँ वे बोलने लगते हैं वहीं उनकी प्रतिभा फूटने लगती है। कवि कर्णपूर ऐसे ही स्वाभाविक कवि थे।

महाप्रभु जब संन्यास ग्रहण करके पुरीमें विराजमान थे, तब बहुत-से भक्तोंकी स्त्रियाँ भी अपने पतियोंके साथ प्रभुदर्शनोंकी लालसासे पुरी जाया करती थीं। एक बार जब शिवानन्द सेनजी अपनी पत्नीके साथ भक्तोंको लेकर पुरी पधारे तब श्रीमती सेन गर्भवती थीं। प्रभुने आज्ञा दी कि अबके जो पुत्र हो, उसका नाम पुरी गोस्वामीके नामपर रखना। प्रभुभक्त सेन महाशयने ऐसा ही किया, जब उनके पुत्र हुआ तो उसका नाम रखा परमानन्ददास। परमानन्ददास जब बड़े हुए तब

वे प्रभुदर्शनोंके लिये अपनी उत्कण्ठा प्रकट करने लगे। इनकी प्रभु-परायणा माताने बाल्यकालसे ही इन्हें गौर-चरित्र रटा दिये थे और सभी गौर-भक्तोंके नाम कण्ठस्थ करा दिये थे। इनके पिता प्रतिवर्ष हजारों रुपये अपने पाससे खर्च करके भक्तोंको पुरी ले जाया करते थे और मार्गमें उनकी सभी प्रकारकी व्यवस्था स्वयं करते थे। इनका घरभर श्रीचैतन्यचरणों-का सेवक था। इनके तीन पुत्र थे—बड़े चैतन्यदास, मँझले रामदास और सबसे छोटे ये परमानन्ददास, पुरीदास या कर्णपूर थे। परमानन्ददास बालकपनसे ही होनहार, मेधावी, प्रत्युत्पन्नमति और सरस हृदयके थे। इनके बहुत आग्रहपर वे इन्हें इनकी माताके सहित प्रभुके पास ले गये। वैसे तो प्रभुने इन्हें देख लिया था, किन्तु सेन इन्हें एकान्तमें प्रभुके पैरोंमें डालना चाहते थे। एक दिन जब महाप्रभु स्वरूप गोस्वामी आदि दो-चार अन्तरङ्ग भक्तोंके सहित एकान्तमें बैठे श्रीकृष्णकथा कह रहे थे तभी सेन महाशय अपने पुत्र परमानन्दपुरीको प्रभुके पास लेकर पहुँच गये। सेनने इन्हें प्रभुके पैरोंमें लिटा दिया, ये प्रभुके पैरोंमें लेटे-ही-लेटे उनके अँगूठेको चूसने लगे, मानो वे प्रभुपादपद्मोंकी मधुरिमाको पी रहे हों। प्रभु इन्हें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने पूछा—'इसका नाम क्या रखा है ?'

धीरेसे सेन महाशयने कहा—'परमानन्ददास !'

प्रभुने कहा—'यह तो बड़ा लम्बा नाम हो गया, किसीसे लिया भी कठिनतासे जायगा। इसलिये पुरीदास ठीक है।' यह कहकर वे बच्चेके सिरपर हाथ फेरते हुए प्रेमसे कहने लगे—'क्यों रे पुरीदास ! ठीक है न तेरा नाम ? तू पुरीदास ही है न ?' बस उस दिनसे ये परमानन्ददास-की जगह पुरीदास हो गये।

एक बार सेन इन्हें फिर लेकर प्रभुके दर्शनोंको आये। तब प्रभुने इन्हे पुचकारकर कहा—'बेटा पुरीदास ! अच्छा, कृष्ण-कृष्ण कहो।' किन्तु

पुरीदासने कुछ भी नहीं कहा। तब तो प्रभु बहुत आश्चर्यमें रह गये। पिता भी कह-कहकर हार गये। प्रभुने भी पुचकारकर, पुचकारकर कई बार कहा, किन्तु इन्होंने कृष्ण-कृष्ण ही न कहा। तब तो पिताको इस बातसे बड़ा दुःख हुआ कि हमारा यह पुत्र अभक्त होगा क्या, अभक्त पुत्रसे तो बिना पुत्रके ही रहना अच्छा। प्रभु भी आश्चर्य करने लगे कि हमने जगत्‌से श्रीकृष्ण नाम लिवाया, इस छोटे-से बालकसे श्रीकृष्ण नहीं कहला सके। इसपर स्वरूप गोस्वामीने कहा—'यह बालक बड़ा ही बुद्धिमान् है, इसने समझा है कि प्रभुने हमें मन्त्र प्रदान किया है। इसलिये अपने इष्ट मन्त्रको मन-ही-मन जप रहा है। मन्त्र किसीके सामने प्रकट थोड़े ही किया जाता है।' इस बातसे सभीको सन्तोष हुआ।

एक दिन जब इनकी अवस्था केवल सात ही वर्षकी थी तब सेन महाशय इन्हें प्रभुके समीप ले गये। प्रभुने पूछा—'कुछ पढ़ता भी है यह?'

सेनने धीरेसे कहा—'अभी क्या पढ़ने लायक है, ऐसे ही थोड़ा-बहुत कुछ खेल करता रहता है।'

प्रभुने कहा—'पुरीदास, अच्छा बेटा! कुछ सुनाओ तो सही।'

इतना सुनते ही सात वर्षका बालक स्वयं ही इस स्वरचित श्लोक-को बोलने लगा—

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥*

* जो वृन्दावनकी रमणियोंके कानोंके नील कमल, आँखोंके अञ्जन, वक्षः-स्थलकी इन्द्रनीलमणि एवं समस्त आभरणरूप हैं उन भगवान् हरिकी जय हो।

सात वर्षके बालकके मुखसे ऐसा भावपूर्ण श्लोक सुनकर सभी उपस्थित भक्तोंको परमाश्चर्य हुआ । इसे सभीने प्रभुकी पूर्णकृपाका फल ही समझा । तब प्रभुने कहा—'तैंने सबसे पहले अपने श्लोकमें व्रजाङ्गनाओंके कानोंके आभूषणका वर्णन किया है, अतः तू कवि होगा और 'कर्णपूर'के नामसे तेरी ख्याति होगी ।' तभीसे ये 'कवि कर्णपूर' हुए ।

ये महाप्रभुके भावोंको भलीभाँति समझते थे । सच्चे सुकविसे भला किसके मनोभाव छिपे रह सकते हैं ? ये सुकवि थे । इन्होंने अपनी अधिकांश कविता श्रीचैतन्यदेवके ही सम्बन्धमें की है । इनके बनाये हुए आनन्द-वृन्दावन (चम्पू), अलङ्कारकौस्तुभ (अलङ्कार), श्रीचैतन्य-चरित (काव्य), श्रीचैतन्यचन्द्रोदय (नाटक) और गौरगनोद्देशदीपिका प्रभृति ग्रन्थ मिलते हैं । इनका चैतन्य-चरित महाकाव्य बड़ा ही सुन्दर है । चैतन्यचन्द्रोदय नाटककी भी खूब ख्याति है । 'गौरगनोद्देशदीपिका' में इन्होंने श्रीकृष्णकी लीला और श्रीचैतन्यकी लीलाओंको समान मानते हुए यह बताया है कि गौर-भक्तोंमेंसे कौन-कौन भक्त श्रीकृष्णलीलाकी किस-किस सखीके अवतार थे । इसमें रूप, सनातन, रघुनाथदास आदि सभी गौर-भक्तोंको भिन्न-भिन्न सखियोंका अवतार बताया गया है । बड़ी विशाल कल्पना है, कविप्रतिभा ही जो ठहरी, जिस ओर लग गयी उसी ओर कमाल करके दिखा दिया । अपने पिताके सम्बन्धमें ये लिखते हैं—

पुरा वृन्दावने वीरा दूती सर्वाश्च गोपिकाः ।
निनाय कृष्णनिकटं सेदानीं जनको मम ॥

अर्थात् 'पहले श्रीकृष्णलीलामें वीरा नामकी दूती जो सभी गोपिकाओंको श्रीकृष्णके पास ले जाया करती थी । उसी वीरा दूतीके अवतार मेरे पिता (श्रीशिवानन्द सेन) हैं ।' इसी प्रकार सभीके सम्बन्धकी

इन्होंने बड़ी सुन्दर कल्पनाएँ की हैं। धन्य है ऐसे कविको और धन्य है उनके कमनीय काव्यामृतको जिसका पान करके आज भी गौर-भक्त उसी चैतन्यरूपी आनन्दसागरमें किलोलें करते हुए परमानन्दसुखका अनुभव करते हैं। अक्षरोंको जोड़नेवाले कवि तो बहुत हैं, किन्तु सत्-कवि वही है, जिसकी सभी लोग प्रशंसा करें। सभी जिसके काव्यामृतको पान करके लट्टू हो जायँ। एक कविने कविके सम्बन्धमें एक बड़ी ही सुन्दर बात कही है—

> सत्यं सन्ति गृहे गृहेऽपि कवयो येषां वचश्चातुरी
> स्वे हर्म्ये कुलकन्यकेव लभते स्वल्पैर्गुणैर्गौरवम्।
> दुष्प्रापः स तु कोऽपि कोविदमतिर्यद्वाग्रसग्राहिणां
> पण्यस्त्रीव कलाकलापकुशला चेतांसि हर्तुं क्षमा॥

'वैसे तो बोलने-चालने और बातें बनानेमें जो औरोंकी अपेक्षा कुछ व्युत्पन्नमतिके होते हैं ऐसे कवि कहलानेवाले महानुभाव घर-घर मौजूद हैं। अपने परिवारमें जो लड़की थोड़ी भी सुन्दरी और गुणवती होती है, उसीकी कुलवाले बहुत प्रशंसा करने लगते हैं। क्योंकि उसके लिये उतना बड़ा परिवार ही संसार है। ऐसे अपने ही घरमें कवि कहलानेवाले सज्जनोंकी गणना सुकवियोंमें थोड़े ही हो सकती है। सच्चा सुकवि तो वही है जिसकी कमनीय कविता अज्ञात कुलगोत्रवाले कलाकोविदोंके मनको भी हठात् अपनी ओर आकर्षित कर ले। उनकी वाणी सुनते ही उनके मुखोंसे वाह-वाह निकल पड़े। जैसे कलाकलापमें कुशल वाराङ्गनाके कुलगोत्रको न जाननेवाले पुरुष भी उसके गायन और कलासे मुग्ध होकर स्वयं ही उसकी ओर खिंच-से जाते हैं।'

ऐसे सुकवियोंके चरणोंमें हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है।

विवेचन तो कर लेते हैं, किन्तु महापुरुषोंके दोषोंके ऊपर ध्यान नहीं देते, वे अवगुणोंकी उपेक्षा करके गुणोंको ही ग्रहण करते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, हृदयसे उनके गुणोंके प्रति तो श्रद्धाके भाव रखते हैं, किन्तु जहाँ उन्हें कोई मर्यादाके विरुद्ध कार्य करते देखते हैं वहाँ उनकी आलोचना भी करते हैं और उन्हें उस दोषसे पृथक् रखनेके लिये प्रयत्नशील भी होते हैं। कुछ ऐसे भी भक्त या कुभक्त होते हैं जो महापुरुषके प्रभावको देखकर मन-ही-मन डाह करते हैं और उनके कामोंमें सदा छिद्रान्वेषण ही करते रहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारके भक्त तो महापुरुषोंसे यथाशक्ति लाभ उठाते हैं, किन्तु ये चौथे निन्दक महाशय अपना नाश करके महापुरुषका कल्याण करते हैं, अपनी नीचताके द्वारा महापुरुषोंकी सद्वृत्तियोंको उभाड़कर उन्हें लोगोंके सम्मुख रखते हैं। उनके बराबर परोपकारी संसारमें कौन हो सकता है, जो अपना सर्वस्व नाश करके लोककल्याणके निमित्त महापुरुषोंके द्वारा क्षमा और सहनशीलताका आदर्श उपस्थित कराते हैं।

महाप्रभुके दरबारमें पहले और दूसरे प्रकारके भक्तोंकी ही संख्या अधिक थी। प्रायः उनके सभी भक्त उन्हें 'सचल जगन्नाथ' 'संन्यास-वेषधारी पुरुषोत्तम' मानकर भगवद्बुद्धिसे उनकी सेवा-पूजा किया करते थे, किन्तु आलोचक और निन्दकोंका एकदम अभाव ही हो, सो बात नहीं थी। उनके बहुत-से आलोचक भी थे, किन्तु प्रभु उनकी बातें ही नहीं सुनते थे। कोई भूलमें आकर उनसे कह भी देता, तो वे उसे उस बातके सुनानेसे एकदम रोक देते थे। यह तो बाहरके लोगोंकी बात रही, उनके अन्तरङ्ग भक्तों तथा साथियोंमें भी ऐसे थे, जो खरी कहनेके लिये प्रभुके सामने भी नहीं चूकते थे, किन्तु उनका भाव शुद्ध था। एक त्यागाभिमानी रामचन्द्रपुरी नामके उनके घोर निन्दक संन्यासी भी

थे, किन्तु प्रभुकी अलौकिक क्षमाके सामने उन्हें अन्तमें पुरीको ही छोड़कर जाना पड़ा। पहले दामोदर पण्डितकी आलोचनाकी एक घटना सुनिये।

महाप्रभु श्रीमन्दिरके समीप ही रहते थे। वहीं कहीं पासमें ही एक उड़िया ब्राह्मणीका घर था। वह ब्राह्मणी विधवा थी, उसका एक तेरह-चौदह वर्षका लड़का प्रभुके पास आया करता था। उस लड़केका सौन्दर्य अपूर्व ही था। उसके शरीरका रंग तप्त काञ्चनके समान बड़ा ही सुन्दर था, अङ्ग-प्रत्यङ्ग सभी सुडौल-सुन्दर थे। शरीरमें स्वाभाविक बाल्चापल्य था। अपनी दोनों बड़ी-बड़ी सुहावनी आँखोंसे वह जिस पुरुषकी भी ओर देख लेता वही उसे प्यार करने लगता। वह प्रभुको प्रणाम करनेके लिये नित्यप्रति आता। प्रभु उससे अत्यधिक स्नेह करने लगे। उसे पासमें बिठाकर उससे प्रेमकी मीठी-मीठी बातें पूछते, कभी-कभी उसे प्रसाद भी दे देते। बच्चोंका हृदय तो बड़ा ही सरल और सरस होता है, उनसे जो भी प्रेमसे बोले वे उसीके हो जाते हैं। प्रभुके प्रेमके कारण उस बच्चेका ऐसा हाल हो गया कि उसे प्रभुके दर्शनोंके बिना चैन ही नहीं पड़ता था। दिनमें दो-दो, तीन-तीन बार वह प्रभुके पास आने लगा।

दामोदर पण्डित प्रभुके पास ही रहते थे। उन्हें उस अद्वितीय रूप-लावण्ययुक्त अल्पवयस्क बच्चेका प्रभुके पास इस प्रकारसे आना बहुत ही बुरा लगने लगा। वे एकान्तमें बच्चेको डाँट भी देते और उसे यहाँ आनेको निषेध भी कर देते, किन्तु हृदयका सच्चा प्रेम किसकी परवा करता है। अत्यन्त स्नेह मनुष्योंको ढीठ भी बना देता है। [illegible] मना करनेपर भी वह लड़का बिना किसीकी बात सुने [illegible] प्रभुके पास चला जाता और वहाँ उनके पास बैठा रहता। [illegible] भावमें उससे मीठी-मीठी बातें किया करते।

मनुष्यके स्वभावमें एक प्रकारकी क्रूरता होती है। जब हम किसीपर अपना पूर्ण अधिकार समझते हैं और उसीपर अपना पूर्ण अधिकार समझनेवाला कोई दूसरा पुरुष भी हो जाता है तो हम मन-ही-मन उससे डाह करने लगते हैं, फिर चाहे वह कितना भी सर्वगुणसम्पन्न क्यों न हो, हमें वह राक्षस-सा प्रतीत होता है। दामोदर पण्डितका भी यही हाल था। उन्हें उस विधवाके सुन्दर पुत्रकी सूरतसे घृणा थी, उसके नामसे चिढ़ थी, उसे देखते ही वे जल उठते। एक दिन उन्होंने उस लड़केको प्रभुके पास बैठा देखा। प्रभु उससे हँस-हँसकर बातें कर रहे थे। उस समय तो उन्होंने प्रभुसे कुछ नहीं कहा। जब वह लड़का उठकर चला गया तो उन्होंने कुछ प्रेमपूर्वक रोषके स्वरमें कहा—'प्रभो! आप दूसरोंको ही उपदेश देनेके लिये हैं, अपने लिये नहीं सोचते कि हमारे आचरणको देखकर कोई क्या समझेगा?'

प्रभुने सम्भ्रमके साथ कहा—'क्यों, क्यों, पण्डितजी! मैंने ऐसा कौन-सा पापकर्म कर डाला?'

उसी प्रकार रोषके साथ दामोदर पण्डितने कहा—'मुझे इस लड़केका आपके पास इस प्रकार निस्संकोचभावसे आना अच्छा प्रतीत नहीं होता। आपको पता नहीं, लोग क्या मनमें सोचेंगे? संसारी लोग विचित्र होते हैं, अभी तो सब गुसाईं-गुसाईं कहते हैं। आपके इस आचरणसे सभी आपकी निन्दा करने लगेंगे और तब सब ईश्वरपना भूल जायँगे।'

प्रभुने सरलतापूर्वक कहा—'दामोदर! इस लड़केमें तो मुझे कोई भी दोष नहीं दीखता; बड़ा सरल, भोला-भाला और गौके बछड़ेके समान सीधा है।'

दामोदर पण्डितने कहा—'आपको पता नहीं, यह विधवाका पुत्र है, इसकी माता अभी युवती है, वैसे वह बड़ी तपस्विनी, सदाचारिणी तथा भगवत्परायणा है, फिर भी उसमें तीन दोष हैं। वह युवती है, अत्यधिक सुन्दरी है और विधवा तथा अपने घरमें अकेली ही है, आप अभी युवक हैं, अद्वितीय रूपलावण्ययुक्त हैं। हम तो आपके मनोभावोंको समझते हैं, किन्तु लोक किसीको नहीं छोड़ता। वह जरा-सा छिद्र पाते ही निन्दा करने लगता है। लोगोंके मुखोंको हम थोड़े ही पकड़ लेंगे। इतने दिनकी जमी हुई प्रतिष्ठा सभी धूलमें मिल जायगी।'

दामोदर पण्डितकी बातोंसे प्रभुको हृदयमें सन्तोष हुआ कि इन्हें मेरी पवित्रताका इतना अधिक ध्यान रहता है, किन्तु उनके भोलेपनपर उन्हें हँसी भी आयी। उस समय तो उन्होंने उनसे कुछ भी नहीं कहा। दूसरे दिन एकान्तमें बुलाकर कहने लगे—'दामोदर पण्डित! मैं समझता हूँ, तुम्हारा नवद्वीपमें ही रहना ठीक होगा, वहाँ तुम्हारे भयसे भक्तवृन्द मर्यादाके विरुद्ध आचरण न कर सकेंगे और तुम माताजीकी भी देख-रेख करते रहोगे। वहीं जाकर माताके समीप रहो और बीचमें मुझे देखनेके लिये यहाँ आ जाया करना। माताजीके चरणोंमें मेरा प्रणाम कहना और उन्हें समझा देना कि मैं सदा उनके बनाये हुए व्यञ्जनोंको खानेके लिये नवद्वीपमें आता हूँ और प्रत्यक्षरीतिसे भगवान्‌के भोग लगाये हुए नैवेद्यको पाता हूँ।' इतना कहकर और जगन्नाथजीका प्रसाद देकर उन्हें नवद्वीपको विदा किया। ये नवद्वीपमें आकर शचीमाताके समीप रहने लगे, उनके भयसे नवद्वीपके भक्त कोई भी मर्यादाके विरुद्ध कार्य नहीं करते थे। इनकी आलोचना बड़ी ही खरी तथा तीव्र होती थी।

निन्दकके प्रति भी सम्मानके भाव

क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥*

(सु० र० भां० ८७। १)

महात्मा दादूदयालजीने निन्दा करनेवालेको अपना पीर—गुरु बताकर उसकी खूब स्तुति की है। जिन पाठशालाओंमें परीक्षक होते हैं और वे सदा परीक्षा ही लेते रहते हैं, उसी प्रकार इन निन्दकोंको भी समझना चाहिये। परीक्षक उन्हीं छात्रोंकी परीक्षा करते हैं, जो विद्वान् बननेकी इच्छासे पाठशालामें पढ़नेके निमित्त प्रवेश करते हैं। जो बालक पढ़ता ही

* जिसके हाथमें क्षमारूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन लोग क्या बिगाड़ सकते हैं? जहाँ तिनके ही न हों, वहाँ यदि अग्नि गिर भी पड़े तो थोड़ी देरमें आप-से-आप ही शान्त हो जायगी।

नहीं, जो जानवरोंकी तरह पैदा होते ही खाने-पीनेकी चिन्तामें लग जाता है उसकी परीक्षक परीक्षा ही क्या करेगा ! वह तो निरक्षरताकी परीक्षामें पहले ही उत्तीर्ण हो चुका है । इसी प्रकार निन्दक लोग उन्हींकी निन्दा करते हैं जो इहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति करना चाहते हैं, जो श्रेष्ठ बननेकी इच्छासे उन्नतिकी पाठशालामें प्रवेश करते हैं । जिसके जीवनमें कोई विशेषता ही नहीं, जो आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि धर्मोंमें अन्य प्राणियोंके समान व्यवहार करता है उसकी निन्दा-स्तुति दोनों समान हैं ।

इहलौकिक उन्नतिमें निन्दा चाहे कुछ विघ्न भी कर सके, किन्तु पारलौकिक उन्नतिमें तो निन्दा सहायता ही करती है । निन्दाके दो भेद हैं—एक तो अपवाद, दूसरा प्रवाद । बुरे काम करनेपर जो निन्दा होती है उसे अपवाद कहते हैं । उससे बचनेकी सभीको जी-जानसे कोशिश करनी चाहिये, किन्तु कोई निन्दित कर्म किया तो है नहीं और वैसे ही लोग डाहसे, द्वेषसे या भ्रमसे निन्दा करने लगे हैं उसे प्रवाद कहते हैं । उन्नतिके पथकी ओर अग्रसर होनेवाले व्यक्तिको प्रवादकी परवा न करनी चाहिये । प्रवाद ही उन्नतिके कण्टकाकीर्ण शिखरपर चढ़ानेके लिये सहारेकी लाठीका काम देता है । जो लोकरञ्जनके लिये प्रवादकी भी परवा करके उसकी अयथार्थता लोगोंपर प्रकट करते हैं वे तो ईश्वर हैं । ईश्वरोंके तो वचनोंको ही सत्य मानना चाहिये, उनके आचरणोंकी सर्वत्र नकल न करनी चाहिये । धोबीके प्रवादपर निष्कलङ्क और पतिपरायणा सती-साध्वी जगन्माता सीताजीको श्रीरामचन्द्रजीने त्याग दिया । लोगोंके दोष लगानेपर भगवान् स्यमन्तकमणिको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान हो गये । ये कार्य उन्हीं अवतारी पुरुषोंको शोभा देते हैं । हम साधारण कोटिके जीव यदि इस प्रकारके प्रवादोंकी परवा करें तब तो हमलोगोंको पैर रखनेकी जगह भी न मिलेगी, क्योंकि जगत् प्रवादप्रिय है, इसे दूसरोंकी

झूठी निन्दा करनेमें मजा मिलता है। ऐसे ही एक निन्दक महाशय स्वामी रामचन्द्रपुरी प्रभुके समीप कुछ काल रहे थे, उनका वृत्तान्त सुनिये।

भगवान् माधवेन्द्रपुरी श्रीशङ्कराचार्यके दस नामी संन्यासियोंमें होनेपर भी भक्तिभावके उपासक थे। वे ब्रजविहारीको ही सविशेष, निर्विशेष, साकार-निराकार तथा देशकाल और कार्यकारणसे पृथक् सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म समझते थे। वे निर्विशेष ब्रह्मकी निन्दा नहीं करते थे। उनका कथन था—'भाई! जिन्हें निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मके ध्यानसे आनन्द आता हो, वे भले ही ध्यान और अभ्यासके द्वारा उस निराकार ब्रह्मका ध्यान करें, किन्तु हमारा मन तो उस यमुनाके पुलिनोंपर गौओंके पीछे दौड़नेवाले किसी श्यामरंगके छोकरेने हर लिया है। हमारी आँखोंमें तो वही गड़ गया है। उसके सिवा हमें दूसरा रूप भाता ही नहीं, विश्व हमें नीला-ही-नीला दीखता है।'*

ये रामचन्द्रपुरीजी भी उन्हीं भगवान् माधवेन्द्रपुरीके शिष्य थे। उनके शिष्योंमें परमानन्दपुरी, रङ्गपुरी, रामचन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी आदिके नाम मिलते हैं। इन सबमें ईश्वरपुरी ही अपने गुरुमें अत्यधिक श्रद्धा रखते थे और उनकी छोटी-से-छोटी सेवा अपने ही हाथोंसे करते थे, इसीलिये इनपर गुरु महाराजका प्रसाद सबसे अधिक हुआ और उसीके फलस्वरूप इन्हें गौराङ्ग महाप्रभुके [illegible]
विख्यात पद प्राप्त हो सका। ये रामचन्द्र[illegible]
तबीयतके और गुरुनिन्दक थे। जब भ[illegible]

समय आया और वे इस नश्वर शरीरको परित्याग करके गोलोकको गमन करने लगे तब श्रीकृष्णविरहमें छटपटाते हुए रुदन करने लगे। रोते-रोते वे विकलताके साथ साँस भर-भरकर वेदनाके स्वरमें कहते—'हा नाथ! तुम्हें कब देख सकूँगा, मथुरामें जाकर आपके दर्शन न कर सका! हे मेरे मनमोहन! इस अधमको भी उबारो, मैं आपके विरहजन्य दुःखसे जला जा रहा हूँ!' उनकी इस पीड़ाको, विकलताको, कातरता और अधीरताको कोई सच्चा भगवत्-रसिक ही समझ सकता था। शुष्क तबीयतके, अक्खड़ प्रकृतिके ज्ञानाभ्यासी रामचन्द्रपुरी इस व्यथाका मर्म क्या जानें। उन्होंने वे ही सुनी हुई ज्ञानकी बातें छाँटनी शुरू कर दीं। उन शिक्षकमानी महात्माको यह भी ध्यान नहीं रहा कि जिन महापुरुषसे हमने दीक्षा ली है वे भी इन बातोंको जानते होंगे। वे गुरुजीको उपदेश करने लगे—'महाराज! आप ये कैसी मोहकी-सी भूली-भूली बातें कह रहे हैं, यह हृदय ही मथुरा है, आप ही ब्रह्म हैं, जगत् त्रिकालमें भी नहीं हुआ। आप इस शोकको दूर कीजिये और अपनेको ही ब्रह्म अनुभव कीजिये।' धीरेसे क्षीणस्वरमें महाराजने अपने प्रिय शिष्य ईश्वरपुरी महाराज-को बुलाया और उन्हें आज्ञा दी कि रामचन्द्रको मेरे सामनेसे हटा दो। रामचन्द्रपुरी गुरुकी असन्तुष्टताको लिये हुए ही बाहर हुए। भगवान् माधवेन्द्रपुरीने श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण कहते हुए और अन्तिम समय-में इस श्लोकका उच्चारण करते हुए इस पाञ्चभौतिक नश्वर शरीरको त्याग दिया—

> अयि दीनदयार्द्र नाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
> हृदयं त्वदलोककातरं दयित! भ्राम्यति किं करोम्यहम् ॥*
>
> (पद्यावल्याम्)

---

* हे दीनोंके ऊपर दया करनेवाले प्रभो! हे दयालो! हे मथुरानाथ! तुम्हारे मनोहर मुखकमलको कब देख सकूँगा? नाथ! यह हृदय तुम्हें न देखनेके

पुरी महाराजके निधनके अनन्तर ईश्वरपुरी महाराज तो गौड़ देशकी ओर चले गये और रामचन्द्रपुरी तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे। भ्रमण करते करते ये प्रभुकी कीर्ति और प्रशंसा सुनकर पुरीमें आये। आकर उन्होंने अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता परमानन्दजी पुरीके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर प्रभुसे मिलनेके लिये गये। प्रभु इनका परिचय पाकर उठकर खड़े हो गये और इनके चरणोंमें गुरुभावसे श्रद्धाके साथ प्रणाम किया। और भी प्रभुके साथी बहुत-से विरक्त भक्त वहाँ आ गये, सभीने गुरुभावसे पुरीको प्रणाम किया और बहुत देरतक भगवत्सम्बन्धी बातें होती रहीं। प्रभुके पास आये हुए अतिथियोंका भार इन्हीं सब विरक्त वैष्णवोंपर था। वे लोग भिक्षा करके लाते थे और उसीसे आगत अतिथियोंका स्वागत-सत्कार करते थे। महाप्रभुकी भिक्षाका कोई नियम नहीं था, जो भी भक्त निमन्त्रण करके प्रसाद दे जाय उसे ही प्रभु पा लेते थे। सार्वभौम भट्टाचार्य आदि गृहस्थी भक्त प्रभुको अपने घरपर भी बुलाकर भिक्षा कराते थे और विरक्त भक्त भी बारी-बारीसे प्रभुको भिक्षा करा दिया करते थे। सामान्यतया प्रभुकी भिक्षामें चार आनेका खर्च था। चार आनेके प्रसादमें प्रभुकी भिक्षाका काम चल जाता। और सब तो इधर-उधरसे भिक्षा कर लाते थे। केवल श्रीईश्वरपुरीके शिष्य काशीश्वर और सेवक गोविन्द ये दो प्रभुके ही समीप भिक्षा पाते थे। इन चार आनोंके प्रसादमें तीनोंका ही काम चल जाता था। इसके अतिरिक्त प्रेमके कारण कोई और भी अधिक मिष्टान्न आदि पदार्थ ले आवे तो प्रभु उसकी भी अवहेलना नहीं करते थे। प्रसादमें उनकी भेद-बुद्धि नहीं थी। भक्त प्रेमपूर्वक प्रभुको आग्रह कर-करके खूब खिलाते थे

कारण कातर होकर तुम्हारे लिये छटपटा रहा है, चारों ओर घूम रहा है, प्राणवल्लभ! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?

और प्रभु भी उनके आग्रहको मानकर इच्छा न होनेपर भी थोड़ा-बहुत खा लेते थे।

उस दिन नवागत रामचन्द्रपुरीका निमन्त्रण जगदानन्दजीने किया। मन्दिरसे प्रसाद लाकर उन्होंने प्रेमपूर्वक उन्हें भिक्षा करायी। वे तो प्रेमी थे, प्रभुको जिस प्रकार प्रेमपूर्वक आग्रहके साथ भिक्षा कराते थे, उसी प्रकार आग्रह कर-करके उन्हें भी खूब खिलाया। वे महाशय आग्रह करनेसे खा तो बहुत गये, किन्तु जाते ही उन्होंने जगदानन्द पण्डितकी निन्दा करनी आरम्भ कर दी। कहने लगे—"सचमुच हमने जो सुना था कि श्रीकृष्णचैतन्यके सभी भक्त पेटू हैं, यह बात ठीक ही निकली। भला, साधु होकर जो इतना अन्न खायगा, वह भजन-पूजन कैसे कर सकेगा?' इस प्रकारकी बहुत-सी बातें वे लोगोंसे कहते। स्वयं त्यागके अभिमानके कारण भिक्षा करके खाते। जहाँ-तहाँ एकान्त स्थानों और पेड़ोंके नीचे पड़े रहते और महाप्रभुके आचरणकी लोगोंमें खूब निन्दा करते। वे अपने स्वभावसे विवश थे, प्रभुका इतना भारी प्रभाव उन्हें अखरता था। उनमें ही क्या विशेषता है कि लोग उन्हींकी पूजा करते हैं। वे संन्यासी होकर भी गृहस्थियोंके घरमें रहते हैं। हम विरक्तोंकी भाँति एकान्त स्थानोंमें निवास करते हैं। वे रोज बढ़िया-बढ़िया पदार्थ संन्यासीधर्मके विरुद्ध अनेकों बार खाते हैं। हम यति-धर्मका पालन करते हुए रूखी-सूखी भिक्षापर ही निर्वाह करते हैं। वे सदा लोगोंसे घिरे रहते हैं। हमलोगोंसे एकदम पृथक् रहते हैं। फिर भी मूर्ख लोग हमारा सत्कार न करके उन्हींका सबसे अधिक सत्कार करते हैं। मालूम होता है लोग यतिधर्मसे अनभिज्ञ हैं, हम उन्हें समझाकर उनके भ्रमको दूर कर देंगे। यह सोचकर वे प्रभुके आचरणोंकी निन्दा करने लगे और यतिधर्मके व्याजसे अपनी प्रशंसा करने लगे।

भक्तोंने जाकर यह बात प्रभुसे कही। प्रभु तो किसीके सम्बन्धका निन्दावाक्य सुनना ही नहीं चाहते थे, इसलिये उन्होंने इस बातकी एकदम उपेक्षा ही कर दी। रामचन्द्रजी अपने स्वभावानुसार प्रभुकी तथा उनके भक्तोंकी सदा कड़ी आलोचना करते रहते थे।

एक दिन वे प्रातःकाल प्रभुके पास पहुँचे। उस समय प्रभु समुद्र-स्नान करके बैठे हुए भगवन्नामोंका जप कर रहे थे। एक ओर सुन्दर कमण्डलु रखा था, दूसरी ओर श्रीमद्भागवतकी पुस्तक रखी थी। रात्रिकी प्रसादी मालाएँ भी वहाँ टँग रही थीं। पुरीको देखते ही प्रभुने उन्हें उठकर सादर प्रणाम किया और बैठनेके लिये आसन दिया। जिस प्रकार मीठा और विष्ठा पास-पास रहनेपर मक्खीकी दृष्टि विष्ठापर ही जाती है और वह मीठेको छोड़कर विष्ठापर ही बैठती है उसी प्रकार छिद्रान्वेषण-स्वभाववाले रामचन्द्रपुरीकी दृष्टि सामने दीवालपर चढ़ती हुई चींटियोंके ऊपर पड़ी। दीवालपर चींटियोंका चढ़ना कोई नयी बात नहीं थी, किन्तु वे तो छिद्रान्वेषणके ही निमित्त आये थे। इसलिये बोले—'क्यों जी! हम समझते हैं, तुम मीठा बहुत खाते हो, तभी तो तुम्हारे यहाँ इतनी चींटी हैं।'

प्रभु इसे अस्वीकार न कर सके। उन्होंने सरलताके साथ कहा—'भगवन्! भगवान्के प्रसादमें मैं मीठे-खट्टेका विचार नहीं करता।'

पुरीने अपना गुरुत्व जताते हुए कहा—'यह बात ठीक नहीं है, ऐसा आचरण यतिधर्मके विरुद्ध है। संन्यासीको स्वादिष्ट पदार्थ तो कभी खाने ही न चाहिये। भिक्षामें जो भी कुछ रूखा-सूखा मिल गया उसीसे उदरपूर्ति कर लेनी चाहिये। साधुको स्वादसे क्या प्रयोजन? तुम्हारे सभी भक्त खूब खाते हैं और तान दुपट्टा सोते हैं, भला इतना

अधिक खानेपर भजन कैसे हो सकता है! सुना है, तुम भी बहुत खाते हो।'

प्रभुने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'अब आप जैसा उपदेश करेंगे, वैसा ही करूँगा।'

पुरीने कुछ गर्वके स्वरमें कहा—'हम क्या उपदेश करेंगे, तुम स्वयं समझदार हो। संन्यासी होकर संन्यासियोंका-सा आचरण करो, इस दूकानदारीको छोड़ो। लोगोंका मनोरञ्जन करनेसे क्या लाभ? संन्यासीका जीवन तो घोर तितिक्षामय होना चाहिये।' यह सुनकर प्रभु चुप हो गये और रामचन्द्रपुरी उठकर चले गये। तब प्रभुने गोविन्दको बुलाकर कहा—'गोविन्द! आजसे मेरे लिये एक 'चौठि' भात और पाँच पीठाके व्यञ्जन, बस यही भिक्षामें लिया करना। इससे अधिक मेरे लिये किसीसे भिक्षा ली तो मैं बहुत असन्तुष्ट होऊँगा।' जगन्नाथजीका प्रसाद सदा मिट्टीकी हाँड़ियोंमें बनता है। एक हाँड़ीके चौथाई भागको 'एक चोठि' या एक चौथाई बोलते हैं। मालूम पड़ता है, उन दिनों मोल लेनेपर एक हाँड़ी भात दो-तीन पैसेमें मिलता होगा और एक-दो पैसेमें दूसरे व्यञ्जन। चार पैसेके प्रसादमें चार-पाँच आदमियोंकी भलीभाँति तृप्ति हो जाती होगी। अब प्रभुने केवल एक पैसेका ही भोग लेना स्वीकार किया। काशीश्वर और गोविन्दसे कह दिया—'तुमलोग अन्यत्र जाकर भिक्षा ले आया करो। गोविन्द उदास मनसे लौट गया। वह प्रभुकी इस कठोर आज्ञाका कुछ भी अभिप्राय न समझ सका। गोविन्द प्रभुका अत्यन्त ही अन्तरङ्ग भक्त था, उसका प्रभुके प्रति मातृवत् स्नेह था। प्रभुकी सेवामें ही उसे परमानन्द सुखका अनुभव होता था। उसे पता था कि प्रभु जिस बातका निश्चय कर लेते हैं, फिर उसे सहसा जल्दी नहीं छोड़ते। इसलिये उसने प्रभुके आज्ञापालनमें

आनाकानी नहीं की । उस दिन एक ब्राह्मणने प्रभुका निमन्त्रण किया था । वह बहुत-सा सामान प्रभुकी भिक्षाके निमित्त लाया था, किन्तु उसने उतना ही प्रसाद उसमेंसे लिया जितनेकी प्रभुने आज्ञा दी थी, शेष सभी लौटा दिया । इस बातसे उस ब्राह्मणको अपार दुःख हुआ, किन्तु प्रभुने अधिक लेनेकी स्वीकृति ही नहीं दी ।

भक्तोंको इस बातका पता चला । सभी रामचन्द्रपुरीको खोटी-खरी सुनाने लगे । सभी प्रभुके समीप आ-आकर प्रार्थना करने लगे, किन्तु प्रभुने इससे अधिक भिक्षा स्वीकार ही नहीं की । यह बात रामचन्द्रपुरीको भी मालूम हुई । वह भी प्रभुके भावोंको ताड़नेके निमित्त प्रभुके समीप आये । प्रभुने पूर्ववत् ही उठकर उन्हें प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और बैठनेके लिये अपनेसे ऊँचा आसन दिया । आसनपर बैठते हुए गुरुत्वके भावसे पुरी कहने लगे—'हमने सुना है, तुमने हमारे कहनेसे अपना आहार घटा दिया है, यह बात ठीक नहीं है । हमारे कहनेका अभिप्राय यह था कि आहार-विहार युक्त करना चाहिये । इतना अधिक भी न करना चाहिये कि भजनमें बैठा ही न जाय और इतना कम भी न करना चाहिये कि शरीर कृश हो जाय । युक्तिपूर्वक भोजन करना चाहिये । शरीर सुखानेसे क्या लाभ ?'

प्रभुने धीरेसे नम्रताके साथ कहा—'मैं आपका बच्चा हूँ, आप गुरुजन जैसी आज्ञा करेंगे, वैसा ही मैं करूँगा ।'

उसी स्वरमें पुरी कहने लगे—'हाँ, यह तो ठीक है, किन्तु भोजन पेट भरके किया करो ।' इतना कहकर पुरी महाराज चले गये । किन्तु प्रभुने अपना आहार उतना ही रखा, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया । इससे भक्तोंको तो बड़ा ही दुःख हुआ । वे सब परमानन्दजी

पुरीके पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना करने लगे कि वे प्रभुको समझा दें। भक्तोंके कहनेपर परमानन्दजी प्रभुके पास गये और अत्यन्त ही क्षीण देखकर कहने लगे—'आप इतने कृश क्यों हो गये हैं, सुना है, आपने अपना आहार भी अति सूक्ष्म कर दिया है, इसका कारण क्या है ?'

प्रभुने सरलतापूर्वक उत्तर दिया—'श्रीपाद रामचन्द्रजी पुरीने मुझे ऐसी ही आज्ञा दी थी कि संन्यासीको कम आहार करना चाहिये।'

कुछ रोषके स्वरमें परमानन्दजीने कहा—'आपने भी किसकी बात मानी ? उसे आप नहीं जानते, उसका तो स्वभाव ही दूसरोंकी निन्दा करना है, ऐसे निन्दकोंके उपदेशपर चलने लगें तो सभी रसातलमें पहुँच जायँ। आपकी तो बात ही क्या है, *वह तो महामहिम श्रीगुरु-चरणोंकी निन्दा किये बिना नहीं रहता था।* उसके कहनेसे आप शरीरको सुखा रहे हैं, इससे हमें बड़ा कष्ट होता है। आप हमारे आग्रहसे भरपेट भोजन कीजिये।'

प्रभुने सरलताके साथ कहा—'आप भी गुरु हैं, वे भी मान्य हैं। आपकी आज्ञाको भी टाल नहीं सकता, आजसे कुछ अधिक खाया करूँगा।' प्रभुके ऐसा विश्वास दिलानेपर पुरी उठकर अपने आसनपर चले गये। उस दिनसे प्रभुने आहार कुछ बढ़ाया तो अवश्य, किन्तु पहलेके बराबर उनका आहार फिर कभी हुआ ही नहीं। सभी भक्त मन-ही-मन रामचन्द्रपुरीको कोसने लगे और भगवान्से प्रार्थना करने लगे कि जल्दी ही इनके श्वेत पैर पुरीकी पावनभूमिको परित्याग करके कहीं अन्यत्र चले जायँ। भक्तोंकी प्रार्थना भगवान्ने सुन ली और थोड़े दिनों बाद रामचन्द्रपुरी महाशय अपने-आप ही पुरी छोड़कर किसी अन्य स्थानके लिये चले गये।

महात्मा हरिदासजीका गोलोकगमन

विनिश्चितं वदामि ते न चान्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥*

जिनकी भाग्यवती जिह्वापर श्रीहरिके मधुर नाम सदा विराजमान रहते हैं, नामसंकीर्तनके द्वारा जिनके रोम-रोममें राम रम गया है, जिन्होंने कृष्णकीर्तनके द्वारा इस कलुषित कलेवरको चिन्मय बना लिया है, वे नामप्रेमी संत समय-समयपर संसारको शिक्षा देनेके निमित्त इस अवनिपर अवतरित होकर लोगोंके सम्मुख नाममाहात्म्य प्रकट करते हैं। वे नित्य-सिद्ध और अनुग्रहसृष्टिके जीव होते हैं। न उनका जन्म है और न उनकी मृत्यु। उनकी कोई जाति नहीं, कुटुम्ब-परिवार नहीं। वे वर्णाश्रम-से परे मत-मतान्तरोंसे रहित और यावत् भौतिक पदार्थोंसे संसर्ग रखनेवाले सम्बन्ध हैं उन सभीसे पृथक् ही रहते हैं। अपने अलौकिक आचरणके द्वारा संसारको साधनपथकी ओर अग्रसर करनेके निमित्त ही उनका अवतरण होता है। वे ऊपरसे इसी कार्यके निमित्त उतरते हैं और कार्य समाप्त

---

* मैं खूब सोच-विचारकर निश्चितरूपसे कहता हूँ, मेरे वचनोंको मिथ्या मत समझना। मैं कहता हूँ और दावेके साथ कहता हूँ, जो लोग श्रीहरिका भजन करते हैं वे कठिनतासे पार होनेवाले इस असार संसाररूपी समुद्रको बात-की-बातमें तर जाते हैं।

होनेपर ऊपर ही चले जाते हैं। हम संसारी लोगोंकी दृष्टिमें उनके जन्म-मरण आदि सभी कार्य होते-से दीखते है। वे जन्मते भी हैं, बढ़ते भी हैं, रहते भी हैं, खाते-पीते तथा उठते-बैठते-से भी दीखते हैं, वृद्ध भी होते हैं और इस पाञ्चभौतिक शरीरको त्यागकर मृत्युको भी प्राप्त करते हैं। हम करें भी तो क्या करें, हमारी बुद्धि ही ऐसी बनी है। वह इन धर्मोंसे रहित व्यक्तिका अनुमान ही नहीं कर सकती। गोल छिद्रमें तो गोल ही वस्तु आवेगी, यदि तुम उसमें उसी नापकी चौकोनी वस्तु डालोगे तो तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ होगा। छिद्रकी बनावट देखकर ही उसमें वस्तु डालनी चाहिये। इसीलिये कभी न मरनेवाले अमर महात्माओंके भी शरीरत्यागका वर्णन किया जाता है। वास्तवमें तो श्रीहरिदासजी जैसे तब थे वैसे ही अब भी हैं, नामामृतने उन्हें सदाके लिये जरा, व्याधि तथा मरणसे रहित बनाकर अमर कर दिया। जो अमर हो गया उसकी मृत्यु कैसी? उसके लिये शोक कैसा? उनकी मृत्यु भी एक प्रकारकी लीला है और श्रीचैतन्य उस लीलाके सुचतुर सूत्रधार हैं। वे दुःखसे रहित होकर भी दुःख करते-से दीखते हैं, ममता-मोहसे पृथक् होनेपर भी वे उसमें सने-से मालूम पड़ते हैं। शोक, उद्वेग और सन्तापसे अलग होनेपर भी वे शोकयुक्त, उद्वेगयुक्त और सन्तापयुक्त-से दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी माया वे ही जानें। हम तो दर्शक हैं, जैसा देख रहे हैं, वैसा ही बतावेंगे, जैसा सुनेंगे, वैसा ही कहेंगे। लीला है, बनावट है, छद्म है, नाटक है या सत्य है, इसे वे ही जानें।

दोपहर हो चुका था, प्रभुका सेवक गोविन्द नित्यकी भाँति महाप्रसाद लेकर हरिदासके पास पहुँचा। रोज वह हरिदासजीको आसनपर बैठे हुए नाम-जप करते पाता था। उस दिन उसने देखा हरिदासजी सामनेके तख्तपर आँख बंद किये हुए लेट रहे हैं। उनके श्रीमुखसे आप-ही-आप निकल रहा था—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

गोविन्दने धीरेसे कहा—'हरिदास ! उठो, आज कैसे सुस्तीमें पड़े हो ।'

कुछ सम्भ्रमके साथ चौंककर आँखें खोलते हुए भर्राई आवाजमें हरिदासजीने पूछा—'कौन है ?'

गोविन्दने कहा—'कोई नहीं, मैं हूँ गोविन्द । क्यों क्या हाल है ? पड़े कैसे हो ? प्रसाद लाया हूँ, लो प्रसाद पा लो ।'

कुछ क्षीणस्वरमें हरिदासजीने कहा—'प्रसाद लाये हो ? प्रसाद कैसे पाऊँ ?'

गोविन्दने कुछ ममताके स्वरमें कहा—'क्यों, क्यों, बात क्या है, बताओ तो सही । तबीअत तो अच्छी है न ?'

हरिदासजीने फिर उसी प्रकार विषण्णतायुक्त वाणीमें कहा—'हाँ, तबीअत अच्छी है, किन्तु आज नामजपकी संख्या पूरी नहीं हुई । बिना संख्या पूरी किये प्रसाद कैसे पाऊँ ? तुम ले आये हो तो अब प्रसादका अपमान करते भी नहीं बनता ।' यह कहकर उन्होंने प्रसादको प्रणाम किया और उसमेंसे एक कण लेकर मुखमें डाल लिया । गोविन्द चला गया, उसने सब हाल महाप्रभुसे जाकर कहा ।

दूसरे दिन सदाकी भाँति समुद्रस्नान करके प्रभु हरिदासजीके आश्रममें गये । उस समय भी हरिदासजी जमीनपर पड़े झपकी ले रहे थे । पासमें ही मिट्टीके करवेमें जल भरा रखा था । आज आश्रम सदाकी भाँति झाड़ा-बुहारा नहीं गया था । इधर-उधर कूड़ा पड़ा था, मक्खियाँ भिनक रही थीं । प्रभुने आवाज देकर पूछा—'हरिदासजी ! तबीअत कैसी है ? शरीर तो स्वस्थ है न ?'

हरिदासजीने चौंककर प्रभुको प्रणाम किया और क्षीणस्वरमें कहा—'शरीर तो स्वस्थ है। मन स्वस्थ नहीं है।'

प्रभुने पूछा—'क्यों, मनको क्या क्लेश है, किस बातकी चिन्ता है?'

उसी प्रकार दीनताके स्वरमें हरिदासजीने कहा—'यही चिन्ता है प्रभो! कि नामसंख्या अब पूरी नहीं होती।'

प्रभुने ममताके स्वरमें कुछ बातपर जोर देते हुए कहा—'देखो, अब तुम इतने वृद्ध हो गये हो। बहुत हठ ठीक नहीं होती। नामकी संख्या कुछ कम कर दो। तुम्हारे लिये क्या संख्या और क्या जप? तुम तो नित्यसिद्ध पुरुष हो, तुम्हारे सभी कार्य केवल लोकशिक्षणके निमित्त होते हैं।'

हरिदासजीने कहा—'प्रभो! अब उतना जप होता ही नहीं, स्वतः ही कम हो गया है। हाँ, मुझे आपके श्रीचरणोंमें एक निवेदन करना था!'

प्रभु पासमें ही एक आसन खींचकर बैठ गये और प्यारसे कहने लगे—'कहो, क्या कहना चाहते हो?'

अत्यन्त ही दीनताके साथ हरिदासजीने कहा—'आपके लक्षणोंसे मुझे प्रतीत हो गया है कि आप शीघ्र ही लीलासंवरण करना चाहते हैं। प्रभो! मेरी श्रीचरणोंमें यही अन्तिम प्रार्थना है कि यह दुःखप्रद दृश्य मुझे अपनी आँखोंसे देखना न पड़े। प्रभो! मेरा हृदय फट जायगा। मैं इस प्रकार हृदय फटकर मृत्यु नहीं चाहता। मेरी तो मनोकामना यही है कि नेत्रोंके सामने आपकी मनमोहिनी मूरत हो, हृदयमें आपके सुन्दर सुवर्णवर्णकी सलोनी सूरत हो, जिह्वापर मधुरातिमधुर श्रीकृष्णचैतन्य यह त्रैलोक्यपावन नाम हो और आपके चारु चरित्रोंका चिन्तन करते-करते मैं इस नश्वर शरीरको त्याग करूँ। यही मेरी

साध है, यही मेरी उत्कट अभिलाषा है। आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। इस भिक्षाको तो आप मुझे अवश्य ही दे दें।'

प्रभुने डबडबायी आँखोंसे कहा—'ठाकुर हरिदास! मालूम पड़ता है, अब तुम लीलासंवरण करना चाहते हो। देखो, यह बात ठीक नहीं। पुरीमें मेरा और कौन है? तुम्हारी ही सङ्गतिसे तो यहाँ पड़ा हुआ हूँ। हम-तुम साथ ही रहे, साथ ही सङ्कीर्तन किया, अब तुम मुझे अकेला छोड़कर जाओगे, यह ठीक नहीं है।'

धीरे-धीरे खिसककर प्रभुके पैरोंमें मस्तक रगड़ते हुए हरिदास कहने लगे—'प्रभो! ऐसी बात फिर कभी अपने श्रीमुखसे न निकालें। मेरा जन्म म्लेच्छकुलमें हुआ। जन्मका अनाथ, अनपढ़ और अनाश्रित, संसारसे तिरस्कृत और हीन कर्मोंके कारण अत्यन्त ही अधम, तिसपर भी आपने मुझे अपनाया; नरकसे लेकर स्वर्गमें बिठाया। बड़े-बड़े श्रोत्रिय ब्राह्मणोंसे सम्मान कराया, त्रैलोक्यपावन पुरुषोत्तमक्षेत्रका देवदुर्लभ वास प्रदान किया। प्रभो! इस दीन-हीन कंगालको रङ्कसे चक्रवर्ती बना दिया, यह आपकी ही सामर्थ्य है। आप करनी-न-करनी सभी कुछ कर सकते हैं। आपकी महिमाका पार कौन पा सकता है? मेरी प्रार्थना-को स्वीकार कीजिये और मुझे अपने मनोवाञ्छित वरदानको दीजिये।'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'हरिदास! तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध करनेकी भला सामर्थ्य ही किसकी है? जिसमें तुम्हें सुख हो, वही करो।'

प्रभु इतना कहकर अपने स्थानको चले गये। महाप्रभुने गोविन्दसे कह दिया कि 'हरिदासकी खूब देख-रेख रखो, अब वे इस पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़ना चाहते हैं।' गोविन्द प्रसाद लेकर रोज जाता था, किन्तु हरिदासजीकी भूख तो अब समाप्त हो गयी। फूटे हुए फोड़ेमें

महात्मा हरिदासजीका गोलोकगमन

पुलटिस बाँधनेसे लाभ ही क्या ! छिद्र हुए घड़ेमें जल रखनेसे प्रयोजन ही क्या ! उसमें अब जल सुरक्षित न रहेगा।

महाप्रभु नित्य हरिदासजीको देखने जाया करते थे। एक दिन उन्होंने देखा, हरिदासजीके शरीरकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय है। वे उसी समय अपने आश्रमपर गये और उसी समय गोविन्दके द्वारा अपने सभी अन्तरङ्ग भक्तोंको बुलाया। सबके आ जानेपर प्रभु उन्हें साथ लिये हुए हरिदासजीके आश्रममें जा पहुँचे। हरिदासजी पृथ्वीपर पड़े हुए धीरे-धीरे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस महामन्त्रका जप कर रहे थे। प्रभुने पूछा—'क्यों हरिदास! कहो, क्या हाल है ?'

'सब आनन्द है प्रभो!' कहकर हरिदासने कष्टके साथ करवट बदली। महाप्रभु उनके मस्तकपर धीरे-धीरे हाथ फिराने लगे। राय रामानन्द, सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप दामोदर, वक्रेश्वर पण्डित, गदाधर गोस्वामी, काशीश्वर, जगदानन्द पण्डित आदि सभी अन्तरङ्ग भक्त हरिदासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये। धीरे-धीरे भक्तोंने संकीर्तन आरम्भ किया। भट्टाचार्य जोशमें आकर उठ खड़े हुए और जोरोंसे नृत्य करने लगे। अब तो सभी भक्त उठकर और हरिदासजीको घेरकर जोरोंके साथ गाने, बजाने और नाचने लगे। संकीर्तनकी कर्णप्रिय ध्वनि सुनकर सैकड़ों आदमी वहाँ एकत्रित हो गये। कुछ क्षणके अनन्तर प्रभुने संकीर्तन बंद करा दिया, भक्तोंके सहित हरिदासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये। प्रभुके दोनों कमलके समान नेत्रोंमें जल भरा हुआ था, कण्ठ शोकके कारण गद्गद हो रहा था। उन्होंने कष्टके साथ धीरे-धीरे रामानन्द तथा सार्वभौम आदि भक्तोंसे कहना आरम्भ किया—'हरिदासजीके भक्तिभावका बखान सहस्र

मुखवाले शेषनागजी भी अनन्त वर्षोंमें नहीं कर सकते। इनकी सहिष्णुता, जागरूकता, तितिक्षा और भगवन्नाममें अनन्यभावसे निष्ठा आदि सभी बातें परम आदर्श और अनुकरणीय हैं। इनका जैसा वैराग्य था वैसा सभी मनुष्योंमें नहीं हो सकता। कोटि-कोटि पुरुषोंमें कहीं खोजनेसे किसीमें मिल सके तो मिले, नहीं तो इन्होंने अपना आचरण असम्भव-सा ही बना लिया था।' यह कहकर प्रभु बेंतोंकी घटना, वेश्याकी घटना, नागकी घटना तथा इनके सम्बन्धकी और प्रलोभन-सम्बन्धी दैवी घटनाओंका वर्णन करने लगे। सभी भक्त इनके अनुपमेय गुणोंको सुनकर इनके पैरोंकी धूलिको मस्तकपर मलने लगे। उसी समय बड़े कष्टसे हरिदासजीने प्रभुको सामने आनेका सङ्केत किया। भक्तवत्सल चैतन्य उन महापुरुषके सामने बैठ गये। अबतक उनकी आँखें बंद थीं, अब उन्होंने दोनो आँखोंको खोल लिया और बिना पलक मारे अनिमेषभावसे वे प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारने लगे। मानो वे अपने दोनों बड़े-बड़े नेत्रोंद्वारा महाप्रभुके मनोहर मुखारविन्दके मकरन्दका तन्मयताके साथ पान कर रहे हों। उनकी दृष्टि महाप्रभुके श्रीमुखकी ओरसे क्षणभरको भी इधर-उधर हटती नहीं थी। सभी मौन थे, चारों ओर नीरवता और स्तब्धता छायी हुई थी। हरिदासजी अत्यन्त ही पिपासुकी तरह प्रभुकी मकरन्दमाधुरीको पी रहे थे। अब उन्होंने पासमें बैठे हुए भक्तोंकी धीरे-धीरे पदधूलि उठाकर अपने काँपते हुए हाथोंसे शरीरपर मली। उनकी दोनों आँखोंकी कोरोंमेंसे अश्रुओंकी बूँदें निकल-निकलकर पृथ्वीमें विलीन होती जाती थीं। मानो वे नीचेके लोकमें हरिदास-विजयोत्सवका संवाद देने जा रही हों। उनकी आँखोंके पलक गिरते नहीं थे, जिह्वासे धीरे-धीरे 'श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीकृष्णचैतन्य' इन नामोंको उच्चारण कर रहे थे। देखते-ही-देखते उनके प्राणपखेरू इस जीर्ण-शीर्ण कलेवरको परित्याग करके न जाने किस लोककी ओर चले गये। उनकी

मुखवाले शेषनागजी भी अनन्त वर्षोंमें नहीं कर सकते। इनकी सहिष्णुता, जागरूकता, तितिक्षा और भगवन्नाममें अनन्यभावसे निष्ठा आदि सभी बातें परम आदर्श और अनुकरणीय हैं। इनका जैसा वैराग्य था वैसा सभी मनुष्योंमें नहीं हो सकता। कोटि-कोटि पुरुषोंमें कहीं खोजनेसे किसीमें मिल सके तो मिले, नहीं तो इन्होंने अपना आचरण असम्भव-सा ही बना लिया था।' यह कहकर प्रभु बेंतोंकी घटना, वेश्याकी घटना, नागकी घटना तथा इनके सम्बन्धकी और प्रलोभन-सम्बन्धी दैवी घटनाओंका वर्णन करने लगे। सभी भक्त इनके अनुपमेय गुणोंको सुनकर इनके पैरोंकी धूलिको मस्तकपर मलने लगे। उसी समय बड़े कष्टसे हरिदासजीने प्रभुको सामने आनेका सङ्केत किया। भक्तवत्सल चैतन्य उन महापुरुषके सामने बैठ गये। अबतक उनकी आँखें बंद थीं, अब उन्होंने दोनों आँखोंको खोल लिया और बिना पलक मारे अनिमेषभावसे वे प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारने लगे। मानो वे अपने दोनों बड़े-बड़े नेत्रोंद्वारा महाप्रभुके मनोहर मुखारविन्दके मकरन्दका तन्मयताके साथ पान कर रहे हों। उनकी दृष्टि महाप्रभुके श्रीमुखकी ओरसे क्षणभरको भी इधर-उधर हटती नहीं थी। सभी मौन थे, चारों ओर नीरवता और स्तब्धता छायी हुई थी। हरिदासजी अत्यन्त ही पिपासुकी तरह प्रभुकी मकरन्दमाधुरीको पी रहे थे। अब उन्होंने पासमें बैठे हुए भक्तोंकी धीरे-धीरे पदधूलि उठाकर अपने काँपते हुए हाथोंसे शरीरपर मली। उनकी दोनों आँखोंकी कोरोंमेंसे अश्रुओंकी बूँदें निकल-निकलकर पृथ्वीमें विलीन होती जाती थीं। मानो वे नीचेके लोकमें हरिदास-विजयोत्सवका संवाद देने जा रही हों। उनकी आँखोंके पलक गिरते नहीं थे, जिह्वासे धीरे-धीरे 'श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीकृष्णचैतन्य' इन न[illegible] उच्चारण कर रहे थे। देखते-ही-देखते उनके प्राणपखेरू इस कलेवरको परित्याग करके न जाने किस लोककी ओर चले गये।

टोटा गोपीनाथजीका मन्दिर

आँखें खुली-की-खुली ही रह गयीं, उनके फिर पलक गिरे नहीं। मछलीकी तरह मानो वे पलकहीन आँखें, निरन्तररूपसे त्रैलोक्यको आनन्द प्रदान करनेवाले चैतन्यरूपी जलका आश्रय ग्रहण करके उसीकी ओर टकटकी लगाये अविच्छिन्नभावसे देख रही हैं। सभी भक्तोंने एक साथ हरिध्वनि की। महाप्रभु उनके प्राणहीन कलेवरको अपनी गोदीमें उठाकर जोरोंके साथ नृत्य करने लगे। सभी भक्त रुदन करते हुए 'हरि बोल, हरि बोल' की हृदयविदारक ध्वनिसे मानो आकाशके हृदयके भी टुकड़े-टुकड़े करने लगे। उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। जहाँ चैतन्य हरिदासके प्राणहीन शरीरको गोदीमें लेकर रोते-रोते नृत्य कर रहे हों वहाँ अन्य भक्तोंकी क्या दशा हुई होगी, इसका पाठक ही अनुमान लगा सकते हैं। उसका कथन करना हमारी शक्तिके बाहरकी बात है।

इस प्रकार बड़ी देरतक भक्तोंके सहित प्रभु कीर्तन करते रहे। अनन्तर श्रीजगन्नाथजीका प्रसादी वस्त्र मँगाया गया। उससे उनके शरीरको लपेटकर उनका बड़ा भारी विमान बनाया गया। सुन्दर कलावेकी डोरियोंसे कसकर उनका शरीर विमानपर रखा गया। [illegible] झाँझ, करताल, शंख, मृदङ्ग और शङ्ख, घड़ियाल [illegible] बजाते हुए विमानके आगे-आगे चलने लगे। सभी भक्त बारी-बारीसे हरिदासजीके विमानको कंधा लगाते थे। महाप्रभु सबसे आगे विमानके सामने अपना उद्दण्ड नृत्य करते जाते थे। वे हरिदासकी गुणावलीका निरन्तर गान कर रहे थे। इस प्रकार खूब धूम-धामके साथ वे हरि[illegible] शवको लेकर समुद्रतटपर पहुँचे।

पान किया । सभी भक्तोंने हरिदासजीके पादोदकसे अपनेको कृतकृत्य समझा । बादमें एक गड्ढा खोदकर उसमें हरिदासजीके शरीरको समाधिस्थ किया गया। क्योंकि वे संन्यासी थे, संन्यासीके शरीरकी शास्त्रोंमें ऐसी ही विधि बतायी है। प्रभुने अपने हाथोंसे गड्ढेमें बालू दी और उनकी समाधिपर सुन्दर-सा एक चबूतरा बनाया । सभीने शोकयुक्त प्रेमके आवेशमें उन्मत्त होकर समाधिके चारों ओर संकीर्तन किया और समुद्रस्नान करके तथा हरिदासजीकी समाधिकी प्रदक्षिणा करके सभीने पुरीकी ओर प्रस्थान किया । पथमें प्रभु हरिदासजीकी प्रशंसा करते-करते प्रेममें पागलोंकी भाँति प्रलाप करते जाते थे । सिंहद्वारपर पहुँचकर प्रभु रोते-रोते अपना अञ्चल पसार-पसारकर दूकानदारोंसे भिक्षा माँगने लगे । वे कहते थे—'भैया ! मैं अपने हरिदासका विजयोत्सव मनाऊँगा, मुझे हरिदासके नामपर भिक्षा दो ।' दूकानदार अपना-अपना सभी प्रसाद प्रभुकी झोलीमें डालने लगे । तब स्वरूपदामोदरजीने प्रभुका हाथ पकड़कर कहा—'प्रभो ! *यह आप क्या कर रहे हैं !* भिक्षा माँगनेके लिये हम आपके सेवक ही बहुत हैं, आपको इस प्रकार माँगते देखकर हमें दुःख हो रहा है, आप चलिये । जित [illegible] हेंगे उतना ही प्रसाद हमलोग माँग-माँगकर एकत्रित [illegible] प्रभुके [illegible]

श्रीहरिदासजीका समाधि-मन्दिर

पान किया। सभी भक्तोंने हरिदासजीके पादोदकसे अपनेको कृतकृत्य समझा। बालूमें एक गड्ढा खोदकर उसमें हरिदासजीके शरीरको समाधिस्थ किया गया। क्योंकि वे संन्यासी थे, संन्यासीके शरीरकी शास्त्रोंमें ऐसी ही विधि बतायी है। प्रभुने अपने हाथोंसे गड्ढेमे बालू दी और उनकी समाधिपर सुन्दर-सा एक चबूतरा बनाया। सभीने शोकयुक्त प्रेमके आवेशमें उन्मत्त होकर समाधिके चारों ओर संकीर्तन किया और समुद्रस्नान करके तथा हरिदासजीकी समाधिकी प्रदक्षिणा करके सभीने पुरीकी ओर प्रस्थान किया। पथमें प्रभु हरिदासजीकी प्रशंसा करते-करते प्रेममे पागलोंकी भाँति प्रलाप करते जाते थे। सिंहद्वारपर पहुँचकर प्रभु रोते-रोते अपना अञ्चल पसार-पसारकर दूकानदारोंसे भिक्षा माँगने लगे। वे कहते थे—'भैया! मैं अपने हरिदासका विजयोत्सव मनाऊँगा, मुझे हरिदासके नामपर भिक्षा दो।' दूकानदार अपना-अपना सभी प्रसाद प्रभुकी झोलीमें डालने लगे। तब स्वरूपदामोदरजीने प्रभुका हाथ पकड़कर कहा—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं? भिक्षा माँगनेके लिये हम आपके सेवक ही बहुत हैं, आपको इस प्रकार माँगते देखकर हमें दुःख हो रहा है, आप चलिये। जितना भी आप चाहेंगे उतना ही प्रसाद हमलोग माँग-माँगकर एकत्रित कर देंगे।' इस प्रकार प्रभुको समझा-बुझाकर स्वरूप गोस्वामीने उन्हें स्थानपर भिजवा दिया और आप चार-पाँच भक्तोंको साथ लेकर दूकानोंपर महाप्रसाद माँगने चले। उस दिन दूकानदारोंने उदारताकी हद कर डाली। उनके पास जितना भी प्रसाद था, सभी दे डाला। इतनेमें ही वाणीनाथ, काशी मिश्र आदि बहुत-से भक्त मनों प्रसाद लेकर प्रभुके आश्रमपर आ उपस्थित हुए। चारों ओर महाप्रसादका ढेर लग गया। जो भी सुनता वही हरिदासजीके विजयोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये दौड़ा आता। इस प्रकार हजारों आदमी वहाँ एकत्रित हो गये। महाप्रभु स्वयं अपने हाथोंसे सभीको

श्रीहरिदासजीका समाधि-मन्दिर
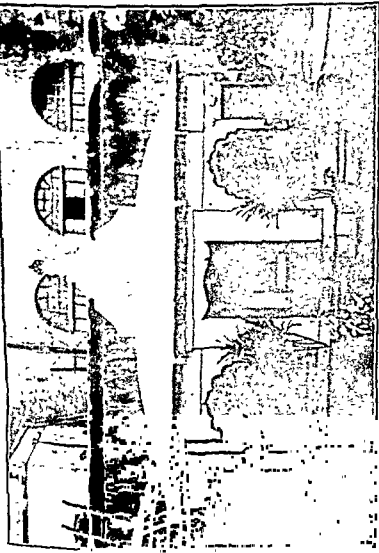
सिद्ध वकुल वृक्ष

परोसने लगे। महाप्रभुका परोसना विचित्र तो होता ही था। एक-एक पत्तलपर चार-चार, पाँच-पाँच आदमियोंके योग्य भोजन और तारीफकी बात यह कि लोग सभीको खा जाते थे। भक्तोंने आग्रहपूर्वक कहा—'जबतक महाप्रभु प्रसाद न पा लेंगे, तबतक हममेंसे कोई एक ग्रास भी मुँहमें न देगा।' तब प्रभुने परोसना बंद कर दिया और आप पुरी तथा भारती आदि संन्यासियोंके साथ काशी मिश्रके लाये हुए प्रसादको पाने लगे; क्योंकि उस दिन प्रभुका उन्हींके यहाँ निमन्त्रण था। महाप्रभुने सभी भक्तोंको खूब आग्रहपूर्वक भोजन कराया। सभीने प्रसाद पा लेनेके अनन्तर हरिध्वनि की। तब प्रभु ऊपरको हाथ उठाकर कहने लगे—'हरिदासजीका जिसने संग किया, जिसने उनके दर्शन किये, उनके गड्ढेमें बालू दी, उनका पादोदक पान किया, उनके विजयोत्सवमें प्रसाद-पाया, वह कृतार्थ हो गया। उसे श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्ति अवश्य ही हो सकेगी। वह अवश्य ही भगवत्कृपाका भाजन बन सकेगा।' यह कहकर प्रभुने जोरोंसे हरिदासजीकी जय बोली। 'हरिदासजीकी जय' के विशाल घोषसे आकाशमण्डल गूँजने लगा। हरि-हरि-ध्वनिके साथ हरिदासजीका विजयोत्सव समाप्त हुआ।

श्रीक्षेत्र जगन्नाथपुरीमें टोटा गोपीनाथजीके रास्तेमें समुद्रतीरपर अब भी हरिदासजीकी सुन्दर समाधि बनी है। वहाँपर एक बहुत पुराना बकुल (मौलसिर) का वृक्ष है, उसे 'सिद्ध बकुल' कहते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि हरिदासजीने दातौन करके उसे गाड़ दिया था उसीसे यह वृक्ष हो गया। अब भी वहाँ प्रतिवर्ष अनन्त चतुर्दशीके दिवस हरिदासजीका विजयोत्सव मनाया जाता है। उन महामना हरिदासजीके चरणोंमें हम कोटि-कोटि प्रणाम करते हुए उनके इस विजयोत्सव प्रसंगको समाप्त करते हैं।

भक्त कालिदासपर प्रभुकी परमकृपा

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥*

(श्रीमद्भा० ७ । ५ । ३२)

वैष्णव-ग्रन्थोंमें 'भक्त-पद-रज', 'भक्त-पादोदक' और 'भक्तोच्छिष्ट द्रव्य' इन तीनोंका अत्यधिक माहात्म्य वर्णन किया गया है । श्रद्धालु भक्तोंने इन तीनोंको ही साधनबल बताया । सचमुच जिन्हें इन तीनों वस्तुओंमें पूर्ण श्रद्धा हो गयी, जिनकी बुद्धिमेंसे भक्तोंके प्रति भेदभाव मिट गया, जो भगवत्स्वरूप समझकर सभी भक्तोंकी पदधूलिको श्रद्धापूर्वक सिरपर चढ़ाने लगे तथा भक्तोंके पादोदकको भक्तिभावसे पान

* जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है, ऐसे परम पूजनीय भगवद्भक्त महापुरुषोंके चरणोंके नीचेकी धूलिको जबतक सर्वाङ्गमें लगाकर उसमें स्नान न किया जाय तबतक किसीको भी प्रभुपादपद्मोंकी प्रीति प्राप्त नहीं हो सकती ।

करने लगे, वे निहाल हो गये, उनके लिये भगवान् फिर दूर नहीं रह जाते। उनकी पदधूलिकी लालसासे भगवान् उनके पीछे-पीछे घूमते रहते हैं, किन्तु इन तीनोंमें पूर्ण श्रद्धा होना ही तो महाकठिन है। महाप्रसाद, गोविन्द, भगवन्नाम और वैष्णवोंके श्रीविग्रहमें पूर्ण विश्वास भगवत्-कृपापात्र किसी विरले ही महापुरुषको होता है। यों दूध पीनेवाले बनावटी मजनू तो बहुत-से घूमते हैं। उनकी परीक्षा तो कटोराभर खून माँगनेपर ही हो सकती है। वे महापुरुष धन्य हैं, जो भक्तोंकी जाति-पाँति नहीं पूछते। भगवान्में अनुराग रखनेवाले सच्चे भगवत्-भक्तको वे ईश्वर-तुल्य ही समझकर उनकी सेवा-पूजा करते हैं। भक्तप्रवर श्री-कालिदास ऐसे ही परम भागवत भक्तोंमेंसे एक जगद्वन्द्य श्रद्धालु भक्त थे। उनकी अद्वितीय भक्तिनिष्ठाको सुनकर सभीको परम आश्चर्य होगा।

कालिदासजी जातिके कायस्थ थे। इनका घर श्रीरघुनाथदासजीके गाँवसे कोस-डेढ़-कोस भेदा या भदुआ नामक ग्राममें था। जाति-सम्बन्धसे ये रघुनाथदासजीके समीपी और सम्बन्धी थे। भगवन्नाममें इनकी अनन्य निष्ठा थी। उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-खेलते तथा बातें करते-करते भी सदा इनकी जिह्वापर भगवन्नाम ही विराजमान रहता। हरे कृष्ण हरे रामके बिना ये किसी बातको कहते ही नहीं थे। भगवत्-भक्तोंके प्रति इनकी ऐसी अद्भुत निष्ठा थी, कि जहाँ भी किसी भगवत्-भक्तका पता पाते वहीं दौड़े जाते और यथाशक्ति उनकी सेवा करते। भक्तोंको अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलानेमें इन्हें परमानन्दका अनुभव प्राप्त होता। भक्तोंको जब ये श्रद्धापूर्वक सुस्वादु पदार्थ खिलाते तो उनके दिव्य स्वादोंका ये स्वयं भी अनुभव करते। स्वयं खानेसे इन्हें इतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी कि भक्तोंको खिलानेसे। भक्तोंको खिलाकर ये स्वयं उनका उच्छिष्ट महाप्रसाद पाते, कोई-कोई भक्त संकोचवश

इन्हें अपना उच्छिष्ट नहीं देता तो ये उसके बर्तनोंको ही चाटते। उसी महाप्रसादको पाकर ये अपनेको कृतार्थ समझते। निरन्तर भगवन्नामोंका जप करते रहना, भक्तोंका पादोदक पान करना, उनकी पदधूलिको मस्तकपर चढ़ाना और उनके उच्छिष्ट महाप्रसादको पूर्ण श्रद्धाके साथ पाना ही ये इनके साधनबल थे। इनके अतिरिक्त ये योग, यज्ञ, तप, पूजा, पाठ, अध्ययन और अभ्यास आदि कुछ भी नहीं करते थे। इनका विश्वास था कि हमें इन्हीं साधनोंके द्वारा प्रभुपादपद्मोंकी प्रीति प्राप्त हो जायगी। ऐसा इन्हें दृढ़ विश्वास था, इसमें बनावटकी गन्धतक भी नहीं थी।

इनके गाँवमें ही एक झाड़ू नामके भूमिमाली जातिके शूद्र भगवत्-भक्त थे। उनकी पत्नी भी अत्यन्त ही पतिपरायणा सती-साध्वी नारी थी। दोनों ही खूब भक्तिभावसे श्रीकृष्णकीर्तन किया करते थे। एक दिन भक्त कालिदासजी उन दोनों भक्तदम्पतीके दर्शनोंके निमित्त उनके घरपर गये। उन दिनों आमोंकी फसल थी, इसलिये वे उनकी भेंटके लिये बहुत बढ़िया-बढ़िया सुन्दर आम ले गये थे। प्रतिष्ठित कुलोद्भूत कालिदासको अपनी टूटी झोंपड़ीमें आया देखकर उस भक्तदम्पतीके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। उन दोनोंने उठकर कालिदासजीकी अभ्यर्थना की और उन्हें बैठनेके लिये एक फटा-सा आसन दिया। कालिदासजीके सुखपूर्वक बैठ जानेपर कुछ लज्जितभावसे अत्यन्त ही कृतज्ञता प्रकट करते हुए झाड़ू भक्त कहने लगे—'महाराज! आपने अपनी पदधूलिसे इस शूद्राधमकी कुटीको परम पावन बना दिया। आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुषोंका हम-जैसे नीच जातिके पुरुषोंके यहाँ आना साक्षात् भगवान्‌के पधारनेके समान है। हम एक तो वैसे ही शूद्र हैं दूसरे धन-हीन, फिर आपकी किस प्रकार सेवा करें। आप-जैसे अतिथि हमारे यहाँ

काहेको आने लगे, हम आपका सत्कार किस वस्तुसे करें। आज्ञा हो तो किसी ब्राह्मणके यहाँसे कोई वस्तु बनवा लावें।'

कालिदासजीने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—'आप दोनोंके शुभ दर्शनोंसे ही मेरा सर्वश्रेष्ठ सत्कार हो चुका। यदि आप कृपा करके कुछ करना ही चाहते हैं, तो यही कीजिये कि अपने चरणोंको मेरे मस्तकपर रखकर उनकी पावन परागसे मेरे मस्तकको पवित्र बना दीजिये। यही मेरी आपसे प्रार्थना है, इसीके द्वारा मुझे सब कुछ मिल जायगा।'

अत्यन्त ही दीनताके साथ गिड़गिड़ाते हुए झाड़ू भक्तने कहा—'स्वामी! आप यह कैसी भूली-भूली-सी बातें कर रहे हैं। भला, हम जातिके शूद्र, धर्म-कर्मसे हीन, आपके शरीरको स्पर्श करनेतकके भी अधिकारी तो नहीं हैं, फिर हम आपको अपने पैर कैसे छुआ सकते हैं। हमारी यही आपसे प्रार्थना है कि ऐसी पाप चढ़ानेवाली बात फिर आप कभी भी अपने मुँहसे न निकालें। इससे हमारे सर्वनाश होनेकी सम्भावना है।'

कालिदासजीने कहा—'जो भगवान्का भक्त है, उसकी कोई जाति नहीं होती। वह तो जाति-बन्धनोंसे परे होता है। उससे श्रेष्ठ कोई नहीं होता, वही सबसे श्रेष्ठ होता है। इसलिये आप जाति-कुलका भेदभाव न करें। आप परम भागवत हैं, आपकी पदधूलिसे मैं पावन हो जाऊँगा, आप मेरे ऊपर अवश्य कृपा करें।

झाड़ू भक्तने कहा—'मालिक! आपकी इस बातको मैं मानता हूँ, कि भगवद्भक्त वर्ण और आश्रमोंसे परे होता है। वह सबका गुरु और पूजनीय होता है, उससे बढ़कर कोई भी नहीं होता, किन्तु वह भक्त

होना चाहिये। मैं अधम भला भक्तिभाव क्या जानूँ। मुझे तो भगवान्‌में तनिक भी प्रीति नहीं। मैं तो संसारी गर्तमें फँसा हुआ नीच विषयी पुरुष हूँ।'

कालिदासजीने कहा—'सचमुच सच्चे भक्त तो आप ही हैं। जो अपनेको भक्त मानकर सबसे अपनी पूजा कराता है, अपने भक्तिभावका विज्ञापन बाँटता फिरता है, वह तो भक्त नहीं दूकानदार है, भक्तिके नामपर पूजा-प्रतिष्ठा खरीदनेवाला बनिया है। सच्चा भक्त तो आपकी तरह सदा अमानी, अहंकाररहित सदा दूसरोंको मान प्रदान करनेवाला होता है, उसे इस बातका स्वप्नमें भी अभिमान नहीं होता कि मैं भक्त हूँ। यही तो उसकी महानता है। आप छिपे हुए सच्चे भगवद्भक्त हैं। हीन कुलमें उत्पन्न होकर आपने अपनेको छिपा रखा है, फिर भी भक्ति ऐसी अलौकिक कस्तूरी है कि वह कितनी भी क्यों न छिपायी जाय, सच्चे पारखी तो उसे पहचान ही लेते हैं। कृपा करके अपनी चरणधूलिसे मेरे अंगको पवित्र बना दीजिये।

इस प्रकार कालिदासजी बहुत देरतक उनसे आग्रह करते रहे, किन्तु झाड़ू भक्तने उसे स्वीकार नहीं किया। अन्तमें वे दोनों पति-पत्नीको श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके उनसे विदा हुए। झाड़ू भक्तने शिष्टाचारके अनुसार उन्हें थोड़ी दूर घरसे बाहरतक पहुँचानेके लिये उनके पीछे-पीछे आये। जब कालिदासजीने उनसे आग्रहपूर्वक लौट जानेको कहा तो वे लौट गये। कालिदासजी वहीं खड़े रहे। झाड़ू भक्त जब अपनी कुटियामें घुस गये तब जिस स्थानपर उनके चरण पड़े थे, उस स्थानकी धूलिको उठाकर उन्होंने अपने सम्पूर्ण शरीरपर लगाया और एक ओर घरके बाहर छिपकर बैठ गये।

रात्रिका समय था। झाड़ू भक्तकी स्त्रीने अपने पतिसे कहा—'कालिदासजी ये प्रसादी आम दे गये हैं, इन्हें भगवत्-अर्पण करके पा लो। भक्तका दिया हुआ प्रसाद है—इसके पानेसे कोटि जन्मोंके पाप कटते हैं।'

झाड़ू भक्तने उल्लासके साथ कहा—'हाँ, हाँ, उन आमोंको अवश्य लाओ। उनके पानेसे तो श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होगी।'

पतिकी आज्ञा पाते ही पतिपरायणा पत्नी उन आमोंकी टोकरीको उठा लायी। झाड़ूने मनसे ही आमोंको भगवत्-अर्पण किया और फिर उन्हें प्रसाद समझकर पाने लगे। उनके चूस लेनेपर जो बचता उसे उनकी पतिव्रता स्त्री चूसती जाती और गुठली तथा छिलकोंको बाहरकी ओर फेंकती जाती। पीछे छिपे हुए कालिदासजी उन गुठलियोंको उठा-उठाकर चूसते और उनमें वे अमृतके समान स्वादका अनुभव करते। इस प्रकार भक्तोंके उच्छिष्ट प्रसादको पाकर अपनेको कृतार्थ समझकर वे बहुत रात्रि बीते अपने घर आये।

इस प्रकारकी इनकी भक्तोंके प्रति अनन्य श्रद्धा थी। एक बार गौड़ीय भक्तोंके साथ वे भी नीलाचलमें प्रभुके दर्शनोंके लिये पधारे। इनके ऐसे भक्तिभावकी बातें सुनकर प्रभु इनसे अत्यधिक सन्तुष्ट हुए और इन्हें बड़े ही सम्मानके साथ अपने पास रखा।

महाप्रभु जब जगन्नाथजीके मन्दिरमें दर्शनोंके लिये जाते, तब सिंहद्वारके समीप वे एक गड्ढेमें पैर धोया करते थे। गोविन्द उनके साथ ही जाता था। प्रभुने कठोर आज्ञा दे रखी थी कि यहाँ हमारे पादोदकको कोई भी पान न करे इसलिये वहाँ जाकर प्रभुके पादोदक पान करने-

का साहस किसीको भी नहीं होता था। किन्तु भक्तोंका पादोदक और *भक्तभुक्त अन्न ही जिनके साधनका एकमात्र बल है, वे कालिदासजी* भला कब माननेवाले थे। वे निर्भीक होकर प्रभुके समीप चले गये और उनके पैर धोये हुए जलको पीने लगे। एक चुल्लू पीया, प्रभु चुपचाप उनके मुखकी ओर देखते रहे। दूसरा चुल्लू पीया, प्रभु थोड़े-से मुस्कराये, *तीसरा चुल्लू पीया, प्रभु जोरोंसे हँस पड़े। चौथे चुल्लूके लिये ज्यों ही* उन्होंने हाथ बढ़ाया त्यों ही प्रभुने उनका हाथ पकड़ लिया और कहने *लगे—'बस, बहुत हुआ। अब फिर कभी ऐसा साहस न करना।'* इस प्रकार अपनेको बड़भागी समझते हुए कालिदासजी जगन्नाथजी-के दर्शन करते हुए प्रभुके *साथ-ही-साथ अपने निवासस्थानपर आये।* महाप्रभुने भिक्षा पायी और भिक्षा पानेके अनन्तर सङ्केतसे गोविन्दको आज्ञा दे दी कि कालिदासजीको हमारा उच्छिष्ट प्रसाद दे दो। प्रभुका सङ्केत समझकर गोविन्दने कालिदासजीको प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद दे दिया। पादोदकके अनन्तर प्रभुके अधरामृतसिञ्चित उच्छिष्ट प्रसाद-को पाकर उनकी प्रसन्नताका वारापार नहीं रहा। धन्य है, ऐसे भक्ति-भावको और धन्य है उनके ऐसे देवदुर्लभ सौभाग्यको, जिनके लिये महाप्रभुने स्वयं उच्छिष्ट प्रसाद देनेकी आज्ञा प्रदान की।

जगदानन्दजीके साथ प्रेम-कलह

अनिर्दयोपभोगस्य रूपस्य मृदुनः कथम्।
कठिनं खलु ते चेतः शिरीषस्येव बन्धनम्॥*

(सु० र० भां० ३१९। १)

प्रेम-कलहमें कितना मिठास है, इसका अनुभव प्रेमी हृदय ही कर सकता है। यदि प्रेममेंसे कलह पृथक् कर दी जाय तो उसका स्वाद उसी प्रकारका होगा जिस प्रकार चीनी निकालकर भाँति-भाँतिके मेवा डालकर बनाये हुए हलुएका। चीनीके बिना जिस प्रकार खूब घी डालकर बनाया हुआ भी हलुआ स्वादिष्ट और चित्तको प्रसन्नता प्रदान करनेवाला नहीं होता उसी प्रकार जबतक बीच-बीचमें मधुर-मधुर कलहका सम्पुट न लगता रहे, तबतक उसमें निरन्तर रस नहीं आता। प्रणय-कलह प्रेमको नित्य नूतन बनाती रहती है। कलह प्रेमरूपी कभी न फटनेवाली चद्दरकी सज्जी है, वह उसे समय-समयपर धोकर खूब साफ बनाती रहती है। किन्तु यह कलह मधुरभावके उपासकोंमें ही भूषण समझी जाती है, अन्य भावोंमें तो इसे दूषण कहा है।

---

* तुम्हारा रूप तो दयाभावसे धीरे-धीरे उपभोग करनेयोग्य अत्यन्त ही मृदुल है, परन्तु चित्त शिरीष-पुष्पके बन्धनकी भाँति इतना कठोर क्यों है? [जैसे शिरीषके फूलोंकी पंखुड़ियाँ कितनी मुलायम, कितनी कोमल तथा सुखस्पर्शयुक्त होती हैं। कामिनियाँ अपने कोमल करकमलोंकी अत्यन्त ही मुलायम उँगलियोंसे भी डरते-डरते छूती हैं कि उन्हें कष्ट न हो, तिसपर भी जिसमें वे पंखुड़ियाँ बँधी रहती हैं, वह बन्धन कितना अधिक कठोर होता है। विधाताकी विचित्र गति है।]

पण्डित जगदानन्दजीको पाठक भूले न होंगे, ये नवद्वीपमें श्रीनिवास पण्डितके यहाँ प्रभुके साथ सदा कीर्तनमें सम्मिलित होते थे। संन्यास ग्रहण करके जब प्रभु पुरीके लिये पधारे तो ये भी प्रभुका दण्ड लिये हुए एक साधारण सेवककी भाँति उनके पीछे-पीछे चले और रास्तेभर ये स्वयं भिक्षा माँगकर प्रभु तथा अन्य सभी साथियोंको भोजन बनाकर खिलाते थे। प्रभुके पहले वृन्दावन जानेपर ये भी साथ चले थे। और फिर रामकेलिसे ही उनके साथ लौट भी आये थे। प्रभुके नीलाचलमें स्थायी रहनेपर ये भी वहाँ स्थायीरूपसे रहने लगे। बीच-बीचमें प्रभुकी आज्ञासे शचीमाताके लिये भगवान्का प्रसादी वस्त्र और महाप्रसाद लेकर ये नवद्वीप आया-जाया भी करते थे। प्रभुके प्रति इनका अत्यन्त ही मधुरभाव था। भक्त इनके अत्यन्त ही कोमल मधुरभावको देखकर इन्हें सत्यभामाका अवतार बताया करते थे और सचमुच इनकी उपासना थी भी इसी भावकी। ये प्रभुके संन्यासकी कुछ भी परवा नहीं करते थे। ये चाहते थे, प्रभु खूब अच्छे-अच्छे पदार्थ खायँ, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनें और अच्छे-अच्छे स्वच्छ और सुन्दर आसनोंपर शयन करें। प्रभु यतिधर्मके विरुद्ध इन वस्तुओंका सेवन करना चाहते नहीं थे। बस, इसी बातपर कलह होती। कलहका प्रधान कारण यही था कि जगदानन्द प्रभुके शरीरकी तनिक-सी भी पीड़ाको सहन नहीं कर सकते थे और प्रभु शरीर-पीड़ाकी कभी परवा ही नहीं करते थे। जगदानन्दजी अपने प्रेमके उद्रेकमें प्रभुसे कड़ी बातें भी कह देते और प्रभु भी इनसे सदा डरते-से रहते।

एक बार ये महाप्रसाद और वस्त्र लेकर नवद्वीपमें शचीमाताके समीप गये। माता इन्हें देखकर अपने निमाईके दर्शनोंका अनुभव करती थीं और सभी गौरभक्त भी इनके दर्शनोंसे श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शनोंका-सा आनन्द प्राप्त करते। ये जाते तो सभी भक्तोंसे मिलकर ही

आते । नवद्वीपसे आचार्यके घर शान्तिपुर होते हुए ये शिवानन्दजी सेन-के घर भी गये । वहाँसे ये एक कलस सुगन्धित चन्दनादि तैल प्रभुके निमित्त लेते आये । प्रभु सदा भावमें विभोर-से रहते । उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी नसें ढीली हो जातीं और सम्पूर्ण शरीरमें पीड़ा होने लगती । इन्होंने सोचा कि इस तैलसे प्रभुकी वातपित्तजन्य सभी व्याधियाँ शान्त हो जाया करेंगी । प्रेमके आवेशमें पण्डित होकर भी ये इस बातको भूल गये कि संन्यासीके लिये तैल लगाना शास्त्रोंमें निषेध है । प्रेममें युक्तायुक्त-विचारणा रहती ही नहीं । प्रेमीके लिये कोई लौकिक नियम नहीं, उसकी मथुरा तो तीन लोकसे न्यारी है । जगदानन्दजीने तैल लाकर गोविन्दको दे दिया और उससे कह दिया कि इसे प्रभुके अङ्गोंमें मल दिया करना ।

गोविन्दने प्रभुसे निवेदन किया—'प्रभो ! जगदानन्द पण्डित गौड़देशसे यह चन्दनादि तैल लाये हैं और शरीरमें मलनेके लिये कह गये हैं । अब जैसी आज्ञा हो वैसा ही मैं करूँ ।'

प्रभुने कहा—'एक तो जगदानन्द पागल हैं, उनके साथ तू भी पागल हो गया । भला, संन्यासी होकर कहीं तैल लगाया जाता है, फिर तिसपर भी सुगन्धित तैल ?' रास्तेमें जाते हुए देखेंगे, वे ही कहेंगे—'यह शौकीन संन्यासी कैसा शृंगार करता है । सभी विषयी कहकर मेरी निन्दा करेंगे । मुझे ऐसा तैल लगाना ठीक नहीं है ।' गोविन्द इस उत्तरको सुनकर चुप हो गया ।

दो-चार दिनके पश्चात् जगदानन्दजीने गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द ! तुमने वह तैल प्रभुके शरीरमें लगाया नहीं ?'

गोविन्दने कहा—'वे लगाने भी दें तब तो लगाऊँ ! वे तो मुझे डाँटते थे ।'

जगदानन्दजीने धीरेसे कहा—'अरे ! तैने भी उनके डाँटनेका खूब खयाल किया ! वे तो ऐसे कहते ही रहेंगे, तू लगा देना । मेरा नाम ले देना ।'

गोविन्दने कहा—'पण्डितजी ! ऐसे लगानेका तो मेरा साहस नहीं है । हाँ, आप कहते हैं तो एक बार फिर निवेदन करूँगा ।'

दो-चार दिनके पश्चात् एकान्तमें अत्यन्त ही दीनताके साथ गोविन्दने कहा—'प्रभो ! ये बेचारे कितना परिश्रम करके इतनी दूरसे तैलको लाये हैं, थोड़ा-सा लगा लीजिये । उनका भी मन रह जायगा और फिर यह तो ओषधि है, रोगके लिये ओषधि लगानेमें क्या दोष !'

प्रभुने प्रेमके रोषमें कहा—'तुम सब तो मिलकर मुझे अपने धर्मसे च्युत करना चाहते हो । आज सुगन्धित तैल लगानेको कह रहे हो, कल कहोगे कि एक मालिस करनेवाला और रख लो । जगदानन्दकी तो बुद्धि बिगड़ गयी है, पण्डित होकर उन्हें इतना ज्ञान नहीं कि संन्यासीके लिये सुगन्धित तैल छूना भी महापाप है । वे यदि परिश्रम करके लाये हैं, तो इसे जगन्नाथजीके मन्दिरमें दे आओ । वहाँ दीपकोंमें जल जायगा । उनका परिश्रम भी सफल हो जायगा और भगवत्-पूजामें काम आनेसे यह तैल भी सार्थक हो जायगा ।' गोविन्द प्रभुकी मीठी फटकारको सुनकर एकदम चुप हो गया, फिर उसने एक भी शब्द तैलके सम्बन्धमें नहीं कहा ।

गोविन्दने सभी बातें जाकर जगदानन्दजीसे कह दीं । दूसरे दिन जगदानन्दजी मुँह फुलाये हुए कुछ रोषमें भरे हुए प्रभुके समीप आये । प्रभु उनके हाव-भावको ही देखकर समझ गये कि ये जरूर कुछ खरी-खोटी सुनाने आये हैं, इसलिये उन्होंने पहले-से-पहले ही प्रसङ्ग छेड़ दिया । वे अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए धीरे-धीरे मधुर वचनोंमें

जगदानन्दजीसे कहने लगे—'जगदानन्दजी ! आप गौड़देशसे बड़ा सुन्दर तैल लाये हैं। मेरी तो इच्छा होती है, थोड़ा-सा इसमेंसे लगाऊँ, किन्तु क्या करूँ, संन्यास धर्मसे विवश हूँ। आप स्वयं ही पण्डित हैं, यह बात आपसे छिपी थोड़े ही है कि संन्यासीके लिये सुगन्धित तैल लगाना महापाप है। इसीलिये मैं लगा नहीं सकता। आप एक काम करें, इस तैलको जगन्नाथजीकी भेंट कर आइये, वहाँ इसके दीपक जल जायँगे, आपका सभी परिश्रम सफल हो जायगा।'

जगदानन्दजीने कुछ रोषके स्वरमें कहा—'आपसे यह बिना सिर-पैरकी बात कह किसने दी। मैं कब तैल लाया हूँ ?'

प्रभुने हँसते-हँसते कहा—'आप सच्चे, मैं झूठा। इस तैलके कलसको मेरे यहाँ कोई देवदूत रख गया।'

यह सुनकर जगदानन्दजी रोषमें उठे और उस तैलके कलसको उठाकर जोरसे आँगनमें दे मारा। कलस आँगनमें गिरते ही चकनाचूर हो गया। सम्पूर्ण तैल आँगनमें बहने लगा। कलसको फोड़कर जगदानन्दजी जल्दीसे अपने घरको चले गये और भीतरसे घरके किवाड़ बंद करके पड़ रहे। दो दिनतक न तो अन्न-जल ग्रहण किया और न बाहर ही निकले। प्रणयकोपमें भीतर ही पड़े रहे।

तीसरे दिन प्रभु स्वयं उनके घर पहुँचे और किवाड़ खटखटाकर बोले—'पण्डित ! पण्डित ! भीतर क्या कर रहे हैं, बाहर तो आइये, आपसे एक बात कहनी है।' किन्तु पण्डित किसकी सुनते हैं, वे तो खटपाटी लिये पड़े हैं।

तब प्रभुने उसी स्वरमें बाहर खड़े-ही-खड़े कहा—'देखिये, मैं आपके द्वारपर भिक्षाके लिये खड़ा हूँ और आप किवाड़ भी नहीं खोलते। अतिथि जिसके आश्रमसे निराश होकर लौट जाता है, वह उस मनुष्यके

जगदानन्दजीने धीरेसे कहा—'अरे ! तैंने भी उनके डाँटनेका खूब खयाल किया ! वे तो ऐसे कहते ही रहेंगे, तू लगा देना। मेरा नाम ले देना।'

गोविन्दने कहा—'पण्डितजी ! ऐसे लगानेका तो मेरा साहस नहीं है। हाँ, आप कहते हैं तो एक बार फिर निवेदन करूँगा।'

दो-चार दिनके पश्चात् एकान्तमें अत्यन्त ही दीनताके साथ गोविन्दने कहा—'प्रभो ! वे बेचारे कितना परिश्रम करके इतनी दूरसे तैलको लाये हैं, थोड़ा-सा लगा लीजिये। उनका भी मन रह जायगा और फिर यह तो ओषधि है, रोगके लिये ओषधि लगानेमें क्या दोष !'

प्रभुने प्रेमके रोषमें कहा—'तुम सब तो मिलकर मुझे अपने धर्मसे च्युत करना चाहते हो। आज सुगन्धित तैल लगानेको कह रहे हो, कल कहोगे कि एक मालिश करनेवाला और रख लो। जगदानन्दकी तो बुद्धि बिगड़ गयी है, पण्डित होकर उन्हें इतना ज्ञान नहीं कि संन्यासीके लिये सुगन्धित तैल छूना भी महापाप है। वे यदि परिश्रम करके लाये हैं तो इसे जगन्नाथजीके मन्दिरमें दे आओ। वहाँ दीपकोंमें जल जायगा उनका परिश्रम भी सफल हो जायगा और भगवत्-पूजामें काम आ यह तैल भी सार्थक हो जायगा।' गोविन्द प्रभुकी मीठी फटकार सुनकर एकदम चुप हो गया, फिर उसने एक भी शब्द तैलके सम्बन्धमें नहीं कहा।

गोविन्दने सभी बातें जाकर जगदानन्दजीसे कह दीं। दू[illegible] जगदानन्दजी मुँह फुलाये हुए कुछ रोषमें भरे हुए प्रभुके समी[illegible] प्रभु उनके हाव-भावको ही देखकर समझ गये कि ये जरूर खोटी सुनाने आये हैं, इसलिये उन्होंने पहले-से-पहले ही [illegible] दिया। वे अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए धीरे-धीरे

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'पाइये पाइये, देखिये भात ठण्डा हुआ जाता है।'

प्रभुने कहा—'चाहे ठण्डा हो या गरम जबतक आप मेरे साथ बैठकर न पावेंगे, तबतक मैं कभी भी न पाऊँगा। अपने लिये एक पत्तल और परोसिये।'

जगदानन्दजीने मानमिश्रित हास्यके स्वरमें कहा—'पाइये भी, मेरी क्या बात है, मैं तो पीछे ही पाता हूँ, सो आपके पा लेनेपर पाऊँगा।'

प्रभुने कहा—'चाहे सदा पीछे ही क्यों न पाते हैं, आज तो मेरे साथ ही पाना पड़ेगा।'

जगदानन्दजीने कुछ गम्भीरताके स्वरमें कहा—'प्रभो! मैंने और रमाई, रघुनाथ आदि सभीने तो बनाया है। इन्हें प्रसाद देकर तब मैं पा सकता हूँ। अब आपकी आज्ञाको टाल थोड़े ही सकता हूँ। अवश्य पा लूँगा।'

यह सुनकर प्रभु प्रसाद पाने लगे। जो पदार्थ चुक जाता उसे ही जगदानन्दजी फिर उतना ही परोस देते। इस भयसे कि जगदानन्दजी नाराज हो जायँगे, प्रभु मना भी नहीं करते और उनकी प्रसन्नताके निमित्त खाते ही जाते। और दिनोंकी अपेक्षा कई गुना अधिक खा गये, तो भी जगदानन्द मानते नहीं हैं, तब प्रभुने दीनताके-से स्वरमें कहा—'बाबा! अब दया भी करोगे या नहीं। अन्य दिनोंकी अपेक्षा दस गुना तो खा गया, अब कबतक और खिलाते जाओगे!' इतना कहकर प्रभुने भोजन समाप्त किया। जगदानन्दजीने मुखशुद्धिके लिये लौंग, इलायची और हरीतकीके टुकड़े दिये। प्रभु उन्हें खाते हुए फिर वहीं बैठ गये और कहने लगे—'जबतक आप मेरे सामने प्रसाद न पा लेंगे तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा।'

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'अब आप इतनी चिन्ता क्यों

सभी पुण्योंको लेकर चला जाता है। देखिये, आज मेरी आपके यहाँ भिक्षा है, जल्दीसे तैयार कीजिये, मैं समुद्रस्नान और भगवान्के दर्शन करके अभी आता हूँ।' प्रभु इतना कहकर चले गये। अब जगदानन्दजी-का क्रोध कितनी देर रह सकता था। 'प्रभुके लिये भिक्षा बनानी है' बस, इस विचारके आते ही, न जाने उनका क्रोध कहाँ चला गया। वे जल्दीसे उठे। उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर स्नान किया और रघुनाथ, रमाई पण्डित तथा और भी अपने साथी दो-चार गौड़ीय विरक्त भक्तोंको बुलाकर वे प्रभुकी भिक्षाका प्रबन्ध करने लगे। भोजन बनानेमें तो वे परम प्रवीण थे ही, भाँति-भाँतिके बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदार्थ उन्होंने प्रभुके लिये बना डाले। अभी वे पूरे पदार्थोंको बना भी नहीं पाये थे, कि इतनेमें ही मुसकराते हुए प्रभु स्वयं आ उपस्थित हुए। मनमें अत्यन्त ही प्रसन्न होते हुए और ऊपरसे हास्यसे युक्त किञ्चित् रोषयुक्त मुखसे उन्होंने एक बार प्रभुकी ओर देखा और फिर शाकको उलटने-पुलटने लगे। प्रभु जल्दीसे एक आसन स्वयं ही लेकर बैठ गये। अब तो जगदानन्दजी उठे। उन्होंने नीची दृष्टि किये हुए वहीं बैठे-ही-बैठे एक थालमें प्रभुके पादपद्मोंको पखारा। प्रभुने इसमें तनिक भी आपत्ति नहीं की। फिर उन्होंने भाँति-भाँतिके पदार्थोंको सजाकर प्रभुके सामने परोसा। प्रभु चुपचाप बैठे रहे। जगदानन्दजीका अब मौन भंग हुआ। उन्होंने अपनी हँसीको भीतर-ही-भीतर रोकते हुए लज्जायुक्त मधुर वाणीसे अपनापन प्रकट करते हुए कहा—'प्रसाद पाते क्यों नहीं हैं?'

प्रभुने कहा—'मैं नहीं पाऊँगा।'

जगदानन्दजीने उसी भावसे नीची दृष्टि किये हुए कहा—'तब आये क्यों थे, कोई बुलाने भी तो नहीं गया था?'

प्रभुने कहा—'अपनी इच्छासे आया था, अपनी इच्छासे ही नहीं पाता।'

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'पाइये पाइये, देखिये भात ठण्डा हुआ जाता है।'

प्रभुने कहा—'चाहे ठण्डा हो या गरम जबतक आप मेरे साथ बैठकर न पावेंगे, तबतक मैं कभी भी न पाऊँगा। अपने लिये एक पत्तल और परोसिये।'

जगदानन्दजीने मानमिश्रित हास्यके स्वरमें कहा—'पाइये भी, मेरी क्या बात है, मैं तो पीछे ही पाता हूँ, सो आपके पा लेनेपर पाऊँगा।'

प्रभुने कहा—'चाहे सदा पीछे ही क्यों न पाते हैं, आज तो मेरे साथ ही पाना पड़ेगा।'

जगदानन्दजीने कुछ गम्भीरताके स्वरमें कहा—'प्रभो! मैंने और रमाई, रघुनाथ आदि सभीने तो बनाया है। इन्हें प्रसाद देकर तब मैं पा सकता हूँ। अब आपकी आज्ञाको टाल थोड़े ही सकता हूँ। अवश्य पा लूँगा।'

यह सुनकर प्रभु प्रसाद पाने लगे। जो पदार्थ चुक जाता उसे ही जगदानन्दजी फिर उतना ही परोस देते। इस भयसे कि जगदानन्दजी नाराज हो जायँगे, प्रभु मना भी नहीं करते और उनकी प्रसन्नताके निमित्त खाते ही जाते। और दिनोंकी अपेक्षा कई गुना अधिक खा गये, तो भी जगदानन्द मानते नहीं हैं, तब प्रभुने दीनताके-से स्वरमें कहा—'बाबा! अब दया भी करोगे या नहीं। अन्य दिनोंकी अपेक्षा दस गुना तो खा गया, अब कबतक और खिलाते जाओगे?' इतना कहकर प्रभुने भोजन समाप्त किया। जगदानन्दजीने मुखशुद्धिके लिये लौंग, इलायची और हरीतकीके टुकड़े दिये। प्रभु उन्हें खाते हुए फिर वहीं बैठ गये और कहने लगे—'जबतक आप मेरे सामने प्रसाद न पा लेंगे तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा।'

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'अब आप इतनी चिन्ता क्यों

करते हैं, अब तो सबके साथ मुझे प्रसाद पाना ही है, आप चलकर आराम करें ।' यह सुनकर प्रभु गोविन्दसे कहने लगे—'गोविन्द ! तू यहीं रह और जबतक ये प्रसाद पा न लें तबतक मेरे पास मत आना'। यह कहकर प्रभु अकेले ही कमण्डलु उठाकर अपने निवासस्थानपर चले गये।

प्रभुके चले जानेपर जगदानन्दजीने गोविन्दसे कहा—'तुम जल्दी जाकर प्रभुके पैरोंको दबाओ । मैं तुम्हारे लिये प्रसाद रख छोड़ूँगा । सम्भव है प्रभु सो जायँ ।' यह सुनकर गोविन्द चला गया और लेटे हुए प्रभुके पैर दबाने लगा । प्रभुने पूछा—'जगदानन्दने प्रसाद पाया ?' गोविन्दने कहा—'प्रभो ! वे पा लेंगे, उन्हें अभी थोड़ा कृत्य शेष है ।' यह कहकर वह धीरे-धीरे प्रभुके तलुओंको दबाने लगे । प्रभु कुछ झपकी-सी लेने लगे । थोड़ी देर बाद जल्दीसे आँख मलते-मलते कहने लगे—'गोविन्द ! जा देख तो सही, जगदानन्दने प्रसाद पाया या नहीं । यदि पा लिया हो या पा रहे हों तो मुझे आकर फौरन सूचना देना ।' प्रभुकी आज्ञासे गोविन्द फिर गया । उसने जाकर देखा सब भक्तोंको प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद देकर उसी पत्तलपर जगदानन्दजी खाने बैठे हैं । गोविन्दको देखते ही वे कहने लगे—'गोविन्द ! तुम्हारे लिये मैंने अलग परोसकर रख दिया है, आओ तुम भी बैठ जाओ ।'

गोविन्दने कहा—'मैं पहले प्रभुको सूचना दे आऊँ, तब प्रसाद पाऊँगा । यह कहकर वह प्रभुको सूचना देने चला गया । 'जगदानन्दजी प्रसाद पा रहे हैं' यह सुनकर प्रभुको सन्तोष हुआ और उन्होंने गोविन्दको भी प्रसाद पानेके लिये भेज दिया । गोविन्दने आकर सभी भक्तोंके साथ बैठकर प्रसाद पाया और फिर सभी भक्त अपने-अपने स्थानोंको चले गये ।

इस प्रकारकी प्रेम-कलह महाप्रभु और जगदानन्दजीके बीचमें प्रायः होती रहती थी । इसमें दोनों ही आनन्दका अनुभव करते थे ।

जगदानन्दजीकी एकनिष्ठा

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
*न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥**

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४७)

शास्त्रोंमें भक्तोंके उत्तम, मध्यम और प्राकृतरूपसे तीन भेद बताये हैं । जो भक्त अपने इष्टदेवको सर्वव्यापक समझकर प्राणिमात्रके प्रति श्रद्धाके भाव रखता है और सभी वस्तुओंमें इष्टबुद्धि रखकर उनका आदर करता है, वह सर्वोत्तम भक्त है । जो अपने इष्टमें प्रीति रखता है और अपने ही समान इष्टबन्धुओंके प्रति श्रद्धाके भाव, असाधकोंके प्रति कृपाके भाव, विद्वेषियों और भिन्नमतवालोंके प्रति उपेक्षाके भाव रखता है, वह मध्यम भक्त है और जो अपने इष्टके विग्रहमें ही श्रद्धाके

---

* जो पुरुष पूज्य श्रीविग्रहोंमें ही श्रद्धाके साथ श्रीहरिकी पूजा करता है और भगवद्भक्तोंकी तथा अन्य पुरुषोंकी पूजा नहीं करता, उनकी उपेक्षा करता है, उसे शास्त्रोंमें प्राकृत भक्त कहा गया है ।

साथ उन श्रीहरिकी पूजा करता तथा भगवत्-भक्तोंकी तथा अन्य पुरुषोंसे एकदम उदासीन रहता है, वह प्राकृत भक्त है। प्राकृत भक्त बुरा नहीं है, सच पूछिये तो भक्तिका सच्चा श्रीगणेश तो यहींसे होता है, जो पहले प्राकृत भक्त नहीं बना वह उत्तम तथा मध्यम भक्त बन ही कैसे सकता है। नीचेकी सीढ़ियोंको छोड़कर सबसे ऊँचीपर बिना योगेश्वरेश्वरकी कृपासे कोई भी नहीं जा सकता।

पण्डित जगदानन्दजी सरल प्रकृतिके भक्त थे, वे प्रभुके शरीर-सुखके पीछे सब कुछ भूल जाते थे। प्रभुके अतिरिक्त उनके लिये कोई पूजनीय संन्यासी नहीं था, प्रभुके सभी काम लीला हैं, यही उनकी भावना थी। महाप्रभु भी इनके ऊपर परमकृपा रखते थे। इनके क्षण-क्षणमें रूठने और क्रुद्ध होनेके स्वभावसे वे पूर्ण-रीत्या परिचित थे, इसीलिये इनसे कुछ भय भी करते थे। साधु-संन्यासीके लिये जिस प्रकार स्त्रीस्पर्श पाप है, उसी प्रकार रूई भरे हुए गुदगुदे वस्त्रका उपयोग करना पाप है। इसीलिये महाप्रभु सदा केले-के पत्तोंपर सोया करते थे। वे दिन-रात्रि श्रीकृष्णविरहमें छटपटाते रहते थे। आहार भी उन्होंने बहुत ही कम कर दिया था। इसी कारण उनका शरीर अत्यन्त ही क्षीण हो गया था। उस क्षीण शरीरको केलेके पत्तोंपर पड़ा देखकर सभी भक्तोंको अपार दुःख होता था, किन्तु प्रभुके सम्मुख कुछ कहनेकी हिम्मत ही किसकी थी? सब मन मसोसकर इस दारुण दुःखको सहते और विधाताको धिक्कारते रहते कि ऐसा सुकुमार सुन्दर स्वरूप देकर फिर इस प्रकारका जीवन प्रभुको प्रदान किया, यह उस निर्दयी दैवका कैसा क्रूर कर्म है।

जगदानन्दजी प्रभुकी इस कठोरतासे सदा असन्तुष्ट रहते और अपने भोले स्वभावके कारण उनसे कभी-कभी इस प्रकारके हठोंको

त्यागनेका आग्रह भी किया करते, किन्तु प्रभु तो धीर थे, वे भला किसीके कहने-सुननेसे न्यायमार्गका कब परित्याग करने लगे । इसीलिये जगदानन्दजीके सभी प्रयत्न असफल ही होते, फिर भी वे अपने सीधे स्वभावके कारण सदा प्रभुको सुखी रखनेकी ही चेष्टा किया करते । उन्होंने जब देखा कि प्रभुके शरीरको केलोंके पत्तोंपर कष्ट होता है तो वे बाजारसे एक सुन्दर-सा वस्त्र खरीद लाये । उसे गेरुए रंगमें रँगकर उसके तोशक-तकिये बनाये । स्वयं सेमरकी रूई लाकर उन्होंने गद्दे-तकियेमें भरी और उन्हें गोविन्दको ले जाकर दे दिया । गोविन्दसे उन्होंने कह दिया—'इसे प्रभुके नीचे बिछा देना और ऊपरसे उनका वस्त्र डाल देना ।' गोविन्दने जगदानन्दजीकी आज्ञासे डरते-डरते ऐसा ही किया । महाप्रभुने जब बिस्तरपर पैर रखा तभी उन्हें कुछ गुदगुदा-सा प्रतीत हुआ । वस्त्रको उठाकर देखा तो उसके नीचे गद्दा बिछा है और एक रंगीन तकिया लगा हुआ है । गद्दे-तकियेको देखकर प्रभुको क्रोध आ गया । उन्होंने उसी समय जोरसे गोविन्दको आवाज दी । गोविन्दका दिल धड़कने लगा । वह सब कुछ समझ गया कि प्रभुने गद्दे-तकियेको देख लिया और अब न जाने मुझे क्या-क्या कहेंगे । गोविन्द डरते-डरते धीरे-धीरे किवाड़की आड़में जाकर खड़ा हो गया । प्रभुने फिर आवाज दी—'गोविन्द ! कहाँ चला गया ? सुनता नहीं ।'

धीरे-धीरे काँपती आवाजमें गोविन्दने कहा—'प्रभो ! मैं उपस्थित हूँ, क्या आज्ञा है ?'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे सने हुए शब्दोंमें प्रेमयुक्त रोषके साथ कहा—'तुम सब मिलकर मुझे धर्मभ्रष्ट करनेपर तुले हुए हो । मैंने अपना शरीर तुमलोगोंके अधीन कर रखा है, किन्तु तुम चाहते हो कि मैं विषय-भोगोंमें आसक्त रहूँ । विषयोंके उपभोगके लिये ही तो मैंने घर-बार

छोड़कर संन्यास लिया है, घरपर मैं विषय नहीं भोग सकता था। क्यों ठीक है न ?'

गोविन्दने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वह चुपचाप नीचा सिर किये हुए खड़ा रहा। स्वरूप गोस्वामी एक ओर चुपचाप बैठे हुए प्रभुको पद सुनानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे भी चुप ही बैठे रहे। प्रभु फिर कहने लगे—'पता नहीं, ये लोग भजन-ध्यान सब शरीरसुखके ही लिये करते हैं क्या ? दिन-रात्रि मेरे शरीरकी ही चिन्ता ! भाई ! चैतन्य तो इस शरीरसे पृथक् है, वह तो नित्य सुखमय, आनन्दमय और प्रेममय है। उसे ये संसारी पदार्थ भला क्या सुख पहुँचा सकते हैं। जिसे चैतन्य समझकर तुम सुखी बनाना चाहते हो, वह तो अचैतन्य है, नश्वर है, क्षणभंगुर है, विनाशी और सदा बदलते रहनेवाला है, इसीको सुखी बनानेका प्रयत्न करना महामूर्खता है।'

स्वरूप गोस्वामी चुपचाप सुनते रहे। प्रभुने फिर उसी प्रकार रोषके स्वरमें कहा—'क्यों रे गोविन्द ! तुझे यह सूझी क्या ? मैंने क्या सोचा कि मैं गद्दा-तकिया लगाकर विषयी पुरुषोंकी भाँति सोऊँगा ? तू ठीक-ठीक बता तुझे पैसे कहाँ मिले ? यह वस्त्र किससे माँगा ? सिलाईके दाम कहाँसे आये ?'

गोविन्दने धीरेसे सिर नीचा किये ही उत्तर दिया—'प्रभो ! जगदानन्द पण्डित मुझे इन्हें दे गये हैं और उन्हींकी आज्ञासे मैंने इसे बिछा दिया है।' जगदानन्दजीका नाम सुनकर प्रभु कुछ सहम गये। उन्हें इसके उपयोग न करनेका प्रत्यक्ष परिणाम आँखोंके सामने दीखने लगा। उनकी दृष्टिमें जगदानन्दकी रोषभरी दृष्टि साकार होकर नृत्य करने लगी। महाप्रभु फिर कुछ भी न कह सके। वे सोचने लगे कि अब क्या कहूँ, उनका रोष कपूरकी तरह एकदम न जाने कहाँ उड़ गया।

हृदयके भावोंके प्रवीण पारखी स्वरूप गोस्वामी महाप्रभुके मनोभावको ताड़ गये। इसीलिये धीरेसे कहने लगे—'प्रभो! हानि ही क्या है, जगदानन्दजीको कष्ट होगा, इन्होंने प्रेमपूर्वक बड़े परिश्रमसे इसे स्वयं बनाया है। सेमलकी रूई है, फिर आपका शरीर भी तो अत्यन्त ही निर्बल है, मुझे स्वयं इसे केलेके पत्तोंपर पड़ा हुआ देखकर कष्ट होता है। अस्वस्थावस्थामें गद्देका उपयोग करनेमें तो मुझे कोई हानि प्रतीत नहीं होती। रुग्णावस्थाको ही आपत्तिकाल कहते हैं और आपत्तिकालमें नियमोंका पालन न हो सके तो कोई हानि भी नहीं। कहा भी है, 'आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति।'

प्रभुने धीरे-धीरे प्रेमके स्वरमें स्वरूप गोस्वामीको समझाते हुए कहा—'स्वरूप! तुम स्वयं समझदार हो। तुम स्वयं सब कुछ सीखे हुए हो, तुम्हें कोई सिखा ही क्या सकता है। तुम सोचो तो सही, यदि संन्यासी इसी प्रकार अपने मनको समझाकर विषयोंमें प्रवृत्त हो जाय तो अन्तमें वह धीरे-धीरे महाविषयी बनकर पतित हो जायगा। विषयोंका कहीं अन्त ही नहीं। एकके पश्चात् दूसरी इच्छा उत्पन्न होती जाती है। जहाँ एक बार नियमसे भ्रष्ट हुए वहाँ फिर नीचेकी ओर पतन ही होता जाता है। पानीका प्रवाह ऊपरसे एक बार छूटना चाहिये, बस फिर वह नीचेकी ही ओर चलेगा। जिसके खूब साफ-सुथरे वस्त्र होते हैं, वही धूलि, मिट्टी और गंदी जगहमें न बैठनेकी परवा करता है, जहाँ एक बार वस्त्र मैले हुए कि फिर कहीं भी बैठनेमें संकोच नहीं होता। फिर वह वस्त्रोंकी रही-सही पवित्रताकी भी परवा नहीं करता। इसलिये तुम मुझसे गद्देपर सोनेका आग्रह मत करो। आज गद्दा है तो कल पलङ्ग भी चाहिये। परसों एक पैर दबानेवाले नौकरको रखनेकी आवश्यकता प्रतीत होगी। क्या इसीलिये मैंने संन्यास लिया है कि ये ही सब सुख भोगता रहूँ।'

प्रभुके इस मार्मिक उपदेशको सुनकर स्वरूप गोस्वामी फिर कुछ भी नहीं बोले। उन्होंने गोविन्दसे गद्दे-तकियेको उठानेका संकेत किया। गोविन्दने संकेत पाते ही वे मुलायम वस्त्र उठाकर एक ओर रख दिये। प्रभु उन्हीं पड़े हुए पत्तोंपर लेट गये।

दूसरे दिन स्वरूप गोस्वामी बहुत-से केलोंके खोपले उठा लाये और उन्हें अपने नखोंसे बहुत ही महीन चीर-चीरकर प्रभुके एक पुराने वस्त्रमें भर दिया। बहुत कहने-सुननेपर प्रभुने उस गद्देको बिछाना स्वीकार कर लिया।

जगदानन्दजीने गोविन्दके द्वारा जब सब समाचार सुना तब तो उन्हें अत्यन्त ही क्षोभ हुआ, किन्तु उन्होंने अपना क्षोभ प्रभुके सम्मुख प्रकट नहीं होने दिया, प्रभु भी सब कुछ समझ गये, इसलिये उन्होंने गद्दे तकियेवाली बात फिर छेड़ी ही नहीं। जगदानन्दजीकी बहुत दिनोंसे वृन्दावन जानेकी इच्छा थी। उन्होंने प्रभुपर अपनी इच्छा प्रकट भी की थी, किन्तु प्रभुने इन्हे वृन्दावन जानेकी आज्ञा नहीं दी। महाप्रभु जानते थे, ये सरल हैं, सीधे हैं, भोले हैं और संसारी बातोंसे एकदम अनभिज्ञ हैं। इन्हें देश, काल तथा पात्र देखकर बर्ताव करना नहीं आता। यों ही जो मनमें आता है कह देते हैं। सब लोग क्या जानें कि इनके हृदयमें द्वेष नहीं है। वे तो इनके क्रोधयुक्त वचनोंको सुनकर इन्हें बुरा-भला ही कहेंगे। ऐसे सरल मनुष्यको रास्तेमें अत्यन्त ही क्लेश होगा। यही सब समझ-सोचकर प्रभु इन्हें गौड़ तो भेज देते थे क्योंकि वहाँके सभी भक्त इनके स्वभावसे परिचित थे, किन्तु वृन्दावन जानेकी आज्ञा नहीं देते थे। अबके जगदानन्दजीने फिर निश्चय किया कि 'प्रभु आज्ञा दे दें तो अवश्य व्रजमण्डलकी यात्रा कर आवें।' यह सोचकर उन्होंने एक

दिन एकान्तमें स्वरूप गोस्वामीसे सलाह करके प्रभुसे वृन्दावन जानेकी आज्ञा माँगी।

प्रभुने कहा—'वैसे तो मैं आपको जानेके लिये अनुमति दे भी देता, किन्तु अब तो कभी अनुमति न दूँगा। मुझसे क्रुद्ध होकर जायँगे तो मेरा मन सदा उदास बना रहेगा।'

जगदानन्दजीने प्रेमयुक्त मधुरवाणीसे कहा—'प्रभो! आपपर भला कोई क्रोध कर सकता है। फिर मैं तो आपका सेवक हूँ। मैं सचे हृदयसे कह रहा हूँ, क्रोध करके मैं नहीं जाता हूँ। मेरी तो बहुत दिनोंसे इच्छा थी। उसे आपके सम्मुख भी कई बार प्रकट कर चुका हूँ।'

इसपर बातका समर्थन करते हुए स्वरूपदामोदरजी कहने लगे—'हाँ प्रभो! इनकी बहुत दिनोंकी इच्छा है। भला, ये आपपर कभी क्रुद्ध हो सकते हैं। गौड़ भी तो ये प्रतिवर्ष जाया ही करते हैं, इसी प्रकार इन्हें व्रज जानेकी भी आज्ञा दे दीजिये।'

जगदानन्दजीने कहा—'हाँ प्रभो! वृन्दावनकी पावन धूलिको मस्तकपर चढ़ानेकी मेरी उत्कट इच्छा है, आपकी आज्ञाके बिना जा नहीं सकता।'

प्रभुने कहा—'अच्छी बात है, आपकी उत्कट इच्छा है तो जाइये, किन्तु इतना ध्यान रखना कभी किसीसे विशेष बातें न करना। यहाँसे काशीजीतक तो कोई भय नहीं। आगे डाकू मिलते हैं, वे बङ्गाली समझकर आपको मार ही डालेंगे। इसलिये वहाँसे किसी धर्मात्मा क्षत्रियके साथ जाना। वृन्दावनमें सदा सनातनके ही साथ रहना। उन्हींके साथ तीर्थ और वनोंकी यात्रा करना। साधु-महात्माओंको दूरसे ही प्रणाम करना। उनसे बहुत अधिक सम्पर्क न रखना और न उनके साथ अधिक दिन ठहरना ही। व्रजकी यात्रा करके शीघ्र ही लौट आना। सनातनसे कह

लीलाओंका ही वर्णन किया है । उनकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण और चैतन्यमें कोई भेद-भाव होता तब तो वे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते ।

मुकुन्द सरस्वती नामके एक संन्यासी थे, उन्होंने सनातन गोस्वामीको एक अपने ओढ़नेका गेरुए रंगका वस्त्र दिया था । सनातनजी तो एक गुदड़ीके सिवा कुछ रखते ही नहीं थे, उसे महात्माकी प्रसादी समझकर उन्होंने रख छोड़ा । उस दिन जगदानन्द-जीके निमन्त्रणमें वे उसी वस्त्रको सिरसे बाँधकर गये । सनातनजीके सिरपर गेरुए रंगका वस्त्र देखकर जगदानन्दजीने समझा कि यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र है, अतः बड़े ही स्नेहके साथ पूछने लगे—'सनातनजी ! आपने यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र कहाँ पाया ?'

सनातनजीने सरलताके साथ कहा—'यह प्रभुका प्रसादी नहीं है । ... सरस्वती नामक एक बड़े अच्छे संन्यासी हैं, उन्होंने ही यह ...झे दिया है ।' इतना सुनते ही जगदानन्दजीका क्रोध उमड़

देना, मैं भी व्रज आऊँगा, मेरे लिये कोई स्थान ठीक कर लें।' इस प्रकार उन्हें भाँति-भाँतिसे समझा-बुझाकर वृन्दावनके लिये विदा किया।

जगदानन्दजी सभी गौरभक्तोंकी वन्दना करके और महाप्रभुकी चरणरज सिरपर चढ़ाकर झाड़ीखण्डके रास्तेसे वृन्दावनकी ओर चलने लगे। भिक्षा माँगते-खाते ये काशी, प्रयाग होते हुए वृन्दावन पहुँचे। वहाँ रूप-सनातन दोनों भाइयोंने इनका बड़ा सत्कार किया। ये सदा सनातन गोस्वामीके ही साथ रहते थे। उन्हींको साथ लेकर इन्होंने व्रजमण्डलके बारहों वनोंकी यात्रा की। सनातनजी घर-घरसे भिक्षा माँग लाते थे और इन्हें अन्न लाकर दे देते थे और ये अपना बना लेते थे। सनातनजी तो स्वयं व्रजवासियोंके घरोंमेंसे टुकड़े माँगकर ले आते थे और उन्हींपर निर्वाह करते थे। कभी जगदानन्दजीके समीप भी प्रसाद पा लेते थे।

सब वनोंके दर्शन करते हुए ये महावन होते हुए गोकुलमें आये। गोकुलमें ये दोनों यमुनाजीके तटपर एक गुफामें ठहरे। रहते तो दोनों गुफामें थे किन्तु भोजनके लिये जगदानन्द तो एक मन्दिरमें जाते थे और वहाँ अपना भोजन अपने हाथसे बनाकर पाते थे। सनातनजी महावनमेंसे जाकर मधुकरी कर लाते थे। तबतक गोकुल इतना बड़ा गाँव नहीं बना था। गोस्वामियोंकी ही दो-तीन बैठकें तथा मन्दिर थे। इसीलिये भिक्षाके लिये इन्हें डेढ़-दो मील रोज आना पड़ता था।

एक दिन जगदानन्दजीने सनातनजीका निमन्त्रण किया। सनातनजी तो समान दृष्टि रखनेवाले उच्चकोटिके भक्त थे। वे संन्यासीमात्रको चैतन्यका ही विग्रह समझकर उनके प्रति उदार भाव रखते थे। वे अपने गुरुमें और श्रीकृष्णमें कोई भेदभाव नहीं मानते थे इसीलिये उन्होंने श्रीचैतन्यदेवको श्रीकृष्ण या अवतारी सिद्ध न करके श्रीकृष्ण-

लीलाओंका ही वर्णन किया है। उनकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण और चैतन्यमें कोई भेद-भाव होता तब तो वे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते।

मुकुन्द सरस्वती नामके एक संन्यासी थे, उन्होंने सनातन गोस्वामीको एक अपने ओढ़नेका गेरुए रंगका वस्त्र दिया था। सनातनजी तो एक गुदड़ीके सिवा कुछ रखते ही नहीं थे, उसे महात्माकी प्रसादी समझकर उन्होंने रख छोड़ा। उस दिन जगदानन्द-जीके निमन्त्रणमें वे उसी वस्त्रको सिरसे बाँधकर गये। सनातनजीके सिरपर गेरुए रंगका वस्त्र देखकर जगदानन्दजीने समझा कि यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र है, अतः बड़े ही स्नेहके साथ पूछने लगे—'सनातनजी! आपने यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र कहाँ पाया?'

सनातनजीने सरलताके साथ कहा—'यह प्रभुका प्रसादी नहीं है। मुकुन्द सरस्वती नामक एक बड़े अच्छे संन्यासी हैं, उन्होंने ही यह वस्त्र मुझे दिया है।' इतना सुनते ही जगदानन्दजीका क्रोध उमड़ पड़ा। वे भला इस बातको कब सहन कर सकते थे कि गौरभक्त होकर कोई दूसरे संन्यासीके वस्त्रको सिरपर चढ़ावे। उनका आदर केवल चैतन्यदेवके ही वस्त्रमें सीमित था। जो कोई उसका आदर छोड़कर औरका आदर करता है, उनकी दृष्टिमें वह बुरा काम करता है। इसीलिये क्रोधमें भरकर वे चूल्हेकी हाँड़ीको उठाकर सनातनजीको मारने दौड़े। सनातनजी उनके ऐसे व्यवहारको देखकर लज्जित-से हो गये। जगदानन्द-जीने भी हाँड़ीको चूल्हेपर रख दिया और अपनी बातके समर्थनमें कहने लगे—'आप महाप्रभुके प्रधान पार्षदोंमेंसे हैं। भला, इस बातको कौन गौरभक्त सहन कर सकेगा कि आप किसी दूसरे संन्यासीके वस्त्रको सिरपर चढ़ावें।'

इस बातको सुनकर हँसते हुए सनातनजी कहने लगे—'मैं दूसरे

ही आपकी एकनिष्ठाकी बातें सुना करता था, किन्तु आज प्रत्यक्ष आपकी निष्ठाका परिचय प्राप्त हुआ। श्रीचैतन्यचरणोंमें आपका इतना दृढ़ अनुराग है, उसका लेशमात्र भी मुझमें नहीं है। आपकी एकनिष्ठाको धन्य है। मैंने तो वैसे ही आपको दिखानेके लिये इसे पहन लिया था कि आप क्या कहेंगे? वैसे तो मैं गेरुए वस्त्रका अधिकारी भी नहीं हूँ। वैष्णवको गेरुए वस्त्रका आग्रह ही नहीं होता।' इस प्रकार उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया। जगदानन्दजीकी यह निष्ठा बुरी नहीं थी। किन्तु यही साध्य नहीं है। साध्य तो यही है कि वे गेरुए वस्त्रमात्रमें चैतन्यके वस्त्रका अनुभव करते, उसमें शङ्काका स्थान ही न रह जाता। यदि कहें कि पतिव्रता स्त्रीकी भाँति परपुरुषका मुख देखना जिस प्रकार पाप है उसी प्रकार मधुररसके उपासकोंको अपने इष्टदेवके प्रति ऐसी निष्ठा ही सर्वोत्तम कही जाती है, सो ठीक नहीं। कारण कि पतिव्रताकी दृष्टिमें तो पतिके सिवा संसारमें कोई है ही नहीं। उसके लिये तो पति ही सर्वस्व है। पतिको छोड़कर दूसरा कोई तीर्थ उसके लिये है ही नहीं। परकीयाभावमें ऐसी निष्ठा प्रायः देखी जाती है, किन्तु उसमें भी संकीर्णता नहीं। वह भी संसारके सम्पूर्ण सौन्दर्यमें अपने स्वामीके सौन्दर्यका ही मान करती है। जैसे श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंने लता-पत्ता और जीव-जन्तुओंमें श्रीकृष्णस्पर्शजन्य आनन्दका ही अनुभव किया था। अस्तु, हमारा मतलब इतना ही है कि हमारी दृष्टिमें यह प्राकृत निष्ठा है। उत्तम निष्ठा इससे दूर है, किन्तु इसके द्वारा उसकी प्राप्ति हो सकती है।

जगदानन्दजी कुछ काल व्रजमें रहकर महाप्रभुके समीप पुरीमें जानेकी तैयारियाँ करने लगे। प्रभुके लिये सनातनजीने रासलीला-स्थलीकी रज, गोवर्धनपर्वतकी शिला, गुंजाओंकी माला और पके हुए

सूखे पीलू—ये चीजें प्रसादके लिये दीं। इन अकिञ्चन, त्यागी, भिक्षुक भक्तोंकी ये ही चीजें सर्वस्व थीं। टेंटी और पीलू व्रजमें ही अधिक होते हैं। बङ्गालमें तो लोग इन्हें पहचानते ही नहीं। पीलू बहुत कड़वा होता है और टेंटी उससे भी अधिक कड़वी। टेंटीका अचार ठीक पड़ता है। पकी टेंटीको व्रजमें पैंचू बोलते हैं। देखनेमें वह लाल-लाल बड़ी ही सुन्दर मालूम पड़ती है, किन्तु खानेमें ठीक आती है। व्रजके गौ चरानेवाले ग्वाल पैंचू और पके पीलू खाया करते हैं। उनमें बीज-ही-बीज भरे रहते हैं। रस तो बहुत ही थोड़ा बीजोंमें लगा हुआ होता है। बीजोंमेंके रसको चूसकर 'शरीफे' के बीजोंकी भाँति उन्हें थूक देते हैं। ये ही व्रजके मेवा हैं। श्रीकृष्ण भगवान्‌को ये ही बहुत प्रिय थे। क्यों प्रिय थे, इसका क्या पता! इसीसे तो खीजकर किसी भक्तने कहा है—

> काबुलमें मेवा करी, व्रजमें टेंटी खायँ।
> कहूँ कहूँ गोपालकी, भूलि सिटल्ली जायँ॥

अस्तु, जगदानन्दजी सनातनजीके दिये हुए प्रसादको लेकर, उनसे विदा होकर पुरी आये। प्रभु इन्हें सकुशल लौटा हुआ देखकर परम प्रसन्न हुए। इन्होंने सनातनजीकी दी हुई सभी चीजें प्रभुके अर्पण कीं। प्रभुने सभीको श्रद्धापूर्वक सिरपर चढ़ाया। सब चीजें तो प्रभुने रख लीं, पीलुओंको उन्होंने भक्तोंमें बाँट दिया। भक्तोंने 'वृन्दावनके फल' समझकर उन्हें बड़े आदरसे ग्रहण किया। एक तो वृन्दावनके फल फिर महाप्रभुके हाथसे दिये हुए सभी भक्त बड़े चावसे खाने लगे। जो पहले वृन्दावन हो आये थे वे तो जानते थे कि ये अमृतफल किस प्रकार खाये जाते हैं, इसलिये वे तो मुँहमें डालकर उनकी गुठलियोंको धीरे-धीरे चूसने लगे। जो नहीं जानते थे वे जल्दीसे मुँहमें डालकर चबाने लगे। चबाते ही मुँह जहर कड़वा हो गया, नेत्रोंमें पानी

आ गया। सभी सी-सी करते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे। न तो खाते ही बनता था, न थूकते ही। वृन्दावनके प्रभुदत्त प्रसादको भला थूकें कैसे और खाते हैं तो प्राणोंपर बीतती है। खैर, जैसे-तैसे जलके साथ भक्त उन्हें निगल गये। प्रभु हँसते-हँसते कह रहे थे—'व्रजका प्रसाद पाना कोई सरल काम नहीं है। जो विषयभोगोंको ही सर्वस्व समझे बैठे हैं, उनका न तो व्रजकी भूमिमें वास करनेका ही अधिकार है और न व्रजके महाप्रसादको पानेका ही। व्रजवासी बननेका सौभाग्य तो उसे ही प्राप्त हो सकेगा जिसकी सभी वासनाएँ दूर हो गयी होंगी।' इस प्रकार जगदानन्दजीके आनेसे सभी भक्तोंको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे उसी प्रकार सुखपूर्वक फिर प्रभुके पास रहने लगे। जगदानन्दजीका हृदय शुद्ध था, उनका प्रभुके प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। वे प्रभुके शरीरसे ही अत्यधिक प्रेम करते थे। यह ठीक भी है। जिस कागजपर चित्र बना हुआ है उस कागजको यदि कोई प्यार करता है तो वह एक-न-एक दिन उसपर खिंचे हुए चित्रके सौन्दर्यसे भी प्यार करने लगेगा। जो सौन्दर्यको ही सर्वस्व समझकर कागजको व्यर्थ समझकर फेंक देता है तो कागज तो उसके हाथसे चला ही जाता है, साथ ही उसपर खिंचा हुआ चित्र और उसमेंका सौन्दर्य भी उसे फिर कभी नहीं मिल सकता। यह हो नहीं सकता कि हम घृतसे तो प्रेम करें और जिस पात्रमें घृत रखा है उसकी उपेक्षा कर दें। पात्रके साथ घृतका आधाराधेयभावका सम्बन्ध है। आधेयसे प्रेम करनेपर आधारसे अपने-आप ही प्रेम हो जाता है। आधारका प्रेम ही आधेयके प्रेमको प्राप्त करा सकता है। यही सर्वशास्त्रोंका सिद्धान्त है।

श्रीरघुनाथ भट्टको प्रभुकी आज्ञा

दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः ।
कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥*

(सु० र० भां० १८८ । १२६)

परमहंस रामकृष्णदेव एक कथा कहा करते थे—‘एक बगीचेमें बहुत-से साधु पड़े हुए थे । वहाँ एक परम सुन्दरी स्त्री दर्शनोंके लिये गयी ।

* दारा संसारको उत्पन्न करनेवाली है । संसारी बन्धुजन संसार-बन्धनको बढ़ानेवाले हैं । इन्द्रियोंके रूप, रस, स्पर्शादि विषय विषके समान परमार्थसे मृत्यु प्राप्त करानेवाले हैं । मोहरूपी मदिराको पान करके जो पुरुष उन्मत्त न हो गया हो, उसे छोड़कर कौन ऐसा पुरुष होगा जो इन परमार्थके शत्रुओंसे सुहृद-पनेकी आशा रखेगा ?

सभी साधु परम विरक्त थे, उन सबके गुरु आजन्म ब्रह्मचारी थे, इसलिये उन्होंने शिष्य भी ऐसे ही किये थे जिन्होंने जन्मसे ही संसारी सुख न भोगा हो। वे सभी स्त्रीसुखसे अनभिज्ञ थे। इसलिये उनके मनमें उस माताके दर्शनसे किसी प्रकारका विकार नहीं हुआ। उनमेंसे एकने पहले स्त्रीसुख भोगा था इसलिये उस माताके दर्शनसे उसकी छिपी हुई कामवासना जाग्रत हो उठी। वह विषयसुखकी इच्छा करने लगा।' इस कथाको कहकर वे कहते—'देखो, जिस बर्तनमें एक बार दही जम चुका है, उसमें दूधके फटनेका सन्देह ही बना रहता है, जो घड़ा कोरा है उसमें कोई भय नहीं। इसी प्रकार जो विषयसुखसे बचे हुए हैं वे कोरे घड़ेके समान हैं।' इसके उदाहरणमें वे अपने युवक भक्तोंमेंसे नरेन्द्र (विवेकानन्द) आदिका दृष्टान्त देकर कहते—'सर्वोत्तम तो यही है कि संसारी विषयोंसे एकदम दूर रहा जाय। विषय ही बन्धनके हेतु हैं।' महाप्रभु चैतन्यदेव भी जिसे वासनाहीन अधिकारी समझते उसे संसारमें प्रवेश करनेको मना कर देते और आजन्म ब्रह्मचारी रहकर श्रीकृष्णकीर्तन करनेका ही उपदेश देते। विरक्त भक्तोंको तो वे स्त्रियोंसे तनिक भी संसर्ग न रखनेकी शिक्षा देते रहते। स्वयं कभी भी न तो स्त्रियोंकी ओर आँख उठाकर देखते और न उनके अङ्गका ही कभी स्पर्श करते।

०

एक दिनकी बात है कि आप टोटा यमेश्वरको जा रहे थे। उसी समय रास्तेमें एक देवदासी कन्या अपने कोकिलकूजित कमनीय कण्ठसे महाकवि जयदेवके अमर काव्य गीतगोविन्दके पदको गाती जा रही थी! वसन्तका सुहावना समय था, नारीकण्ठकी मधुरिमासे मिश्रित उस त्रैलोक्यपावन पदको सुनते ही प्रभुका मनमयूर नृत्य करने लगा। उनके कानोंमें—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली ।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली ॥*

—यह पदावली एक प्रकारकी मादकताका सञ्चार करने लगी। अपने प्रियतमके ऐसे सुन्दर स्वरूपका वर्णन सुनते ही वे प्रेममें विह्वल हो गये और कानोंमें सुधाका सञ्चार करनेवाले उस व्यक्तिको आलिङ्गन करनेके लिये दौड़े। प्रेमके उद्रेकमें वे स्त्री-पुरुषका भाव एकदम भूल गये। रास्तेमें काँटोंकी बाढ़ लगी हुई थी, उसका भी ध्यान नहीं रहा। पैरमें काँटे चुभते जाते थे, किन्तु आप उनकी कुछ भी परवा न करके उस पदकी ही ओर लक्ष्य करके दौड़े जा रहे थे। पीछे आनेवाले गोविन्दने जोरोंसे दौड़कर और प्रभुको रोककर कहा—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं, देखते नहीं हैं यह तो स्त्री है।'

'स्त्री है', इतना सुनते ही प्रभु सहम गये और वहीं गिरकर बड़े ही करुणस्वरमें अधीरताके साथ कहने लगे—'गोविन्द! मैं तेरे इस उपकारके लिये सदा ऋणी रहूँगा, तूने आज मुझे स्त्री-स्पर्शरूपी पापसे बचाया। यदि सचमुच मैं भूलसे भी स्त्रीस्पर्श कर लेता तो समुद्रमें कूदकर आज ही अपने प्राणोंको गँवा देता।'

---

* एक सखी दूसरी सखीसे कह रही है—'सखि! देख तो सही इन श्रीहरिकी कैसी अपूर्व शोभा है! नील रङ्गके सुकोमल कलेवरपर सुगन्धित चन्दन लगा हुआ है, शरीरमें पीले वस्त्र पहने हैं। गलेमें मनोहर वनमाला पड़ी हुई है। रासक्रीड़ाके समय काञ्चनमय मकरकुण्डल हिल-हिलकर कमनीय कपोलोंको अधिक शोभायुक्त बना रहे हैं और वे मन्द-मन्द मुसकाते हैं।'

प्रभुकी ऐसी दीनतायुक्त बातें सुनकर गोविन्दने लज्जितभावसे कहा—'प्रभो ! आपकी रक्षा करनेवाला मैं कौन हूँ, जगन्नाथजीने ही आपकी रक्षा की है। मैं भला किस योग्य हूँ !'

महाप्रभु फिर आगे नहीं गये और लौटकर उन्होंने यह बात अपने सभी विरक्त भक्तोंके सम्मुख कही और गोविन्दकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। तभी आपने गोविन्दसे कहा—'गोविन्द ! तुम सदा मेरे साथ ही रहा करो। मुझे अब शरीरका होश नहीं रहता। पता नहीं, किस समय मैं क्या अनर्थ कर बैठूँ।'

काशीवासी पण्डित तपन मिश्रको तो पाठक भूले ही न होंगे। उनके पुत्र रघुनाथ भट्टाचार्य प्रभुके अनन्य सेवक थे। प्रभु जब काशी पधारे थे तभी इन्होंने प्रभुको आत्मसमर्पण कर दिया था। प्रभुके पुरी आ जानेपर इनकी पुनः प्रभुके पादपद्मोंके दर्शनोंकी इच्छा हुई। अतः ये काशीजीसे गौड़ होते हुए नीलाचलकी ओर चल दिये। रास्तेमें इन्हें रामदास विश्वास नामक एक कायस्थ महाशय मिले। ये गौड़ेश्वरके दरबारमें मुनीम थे। रामानन्दी सम्प्रदायके थे, वैसे बड़े भारी पण्डित, विनयी और ब्रह्मण्य थे। वे भी जगन्नाथजीके दर्शनोंको जा रहे थे। रघुनाथजीको देखकर उन्होंने प्रणाम किया और इतने योग्य साथीको पाकर वे परम प्रसन्न हुए। उन्होंने रघुनाथजीकी पुटली जबरदस्ती ले ली तथा और भी उनकी विविध प्रकारसे सेवा करने लगे। रघुनाथजी इससे कुछ सङ्कुचित होते और कहते—'आप इतने बड़े पण्डित हैं, इतने भारी प्रतिष्ठित पुरुष हैं, आपको मेरी इस प्रकारकी सेवा करना शोभा नहीं देता।' वे विनीतभावसे उत्तर देते—'मैं नीच, अधम, छोटी जातिमें उत्पन्न होनेवाला भला आपकी सेवा कर ही क्या सकता हूँ ? फिर भी जो मुझसे हो सकती है, उससे आप मुझे वञ्चित न रखिये। साधु-ब्राह्मणोंकी सेवा करना तो हमारा कर्तव्य है।

हम तो इनके दास हैं।' इस प्रकार दोनों ही बड़े आनन्दके साथ प्रेमपूर्वक पुरी पहुँचे। पुरीमें प्रभुके स्थानका पता लगाकर रघुनाथजी वहाँ पहुँचे और उन्होंने प्रभुके पादपद्मोंमें श्रद्धा-भक्तिके सहित साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभु इन्हें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और इनका आलिङ्गन करके तपन मिश्र तथा चन्द्रशेखर आदि भक्तोंकी कुशल-क्षेम पूछने लगे। रघुनाथजीने सभीकी कुशल सुनायी और उनके प्रणाम भी निवेदन किये। प्रभुने उस दिन रघुनाथजीको अपने पास ही प्रसाद पवाया और उनके रहनेके लिये अपने ही स्थानमें एक सुन्दर-सा स्थान दिया। आठ महीनोंतक रघुनाथ भट्ट प्रभुके चरणोंके समीप रहे। भोजन बनानेमें तो वे बड़े ही प्रवीण थे। प्रभुको वे प्रायः अपने यहाँ भिक्षा कराया करते थे और उनके उच्छिष्ट प्रसादको पाकर अपनेको कृतकृत्य समझते। महाप्रभु इनके बनाये हुए व्यञ्जनोंको बड़े ही आनन्दके साथ इनकी प्रशंसा करते हुए पाते थे। आठ महीनेके अनन्तर प्रभुने इन्हें आज्ञा दी—'देखो, तुम्हारे माता-पिता वृद्ध हैं, तुम्हीं उनकी एकमात्र सन्तान हो। उनकी स्वाभाविक इच्छा तुम्हें गृहस्थी बनानेकी होगी ही, किन्तु तुम गृहस्थीके झंझटमें कभी मत पड़ना। इसी प्रकार ब्रह्मचारी रहना और विवाह न करना। वृद्ध माता-पिताकी सेवा करना तो तुम्हारा कर्तव्य ही है, क्योंकि उनके दूसरा कोई पुत्र नहीं है। जब वे परलोकवासी हो जायँ तो तुम विरक्तभावसे वृन्दावनमें ही अपना समय बिताना। एक बार पुरी आकर मुझसे फिर मिल जाना।' इतना कहकर उन्होंने इन्हें विदा किया। वे भी इनसे विदा होकर प्रभुके वियोगमें रोते-रोते काशीजीको चले गये।

चार-पाँच वर्षमें इनके माता-पिता दोनों ही परलोकवासी हो गये। शास्त्रीय विधिके अनुसार उनकी अन्त्येष्टि करके ये पुरी पधारे और प्रभुसे सभी बातें आकर निवेदन कीं। प्रभुने इन्हें आठ

फिर अपने पास रखकर भक्तितत्त्वकी शिक्षा दी और अन्तमें इन्हें वृन्दावनमें रूप-सनातनके समीप रहनेकी आज्ञा दी। प्रभुकी आज्ञाको शिरोधार्य करके ये वृन्दावनकी ओर चलनेके लिये तैयार हुए।

पुरीके सभी भक्तोंकी पदधूलि इन्होंने अपने मस्तकपर चढ़ायी। तब ये हाथ जोड़े हुए प्रभुके समीप खड़े हो गये। प्रभुने इन्हें बार-बार आलिङ्गन किया और जगन्नाथजीकी प्रसादी चौदह हाथ लंबी तुलसीकी माला और बिना कत्था-चूना लगा हुआ प्रसादी पान इन्हें दिया। महाप्रभुकी दी हुई उन दोनों प्रसादी वस्तुओंको इन्होंने श्रद्धापूर्वक मस्तकपर चढ़ाया और डबडबायी आँखोंसे पृथिवीकी ओर देखते हुए चुपचाप खड़े रहे। प्रभु इन्हें उपदेश करने लगे—'देखो, श्रीवृन्दावनकी पवित्र भूमिको त्यागकर कहीं अन्यत्र न जाना। वैराग्ययुक्त होकर निरन्तर श्रीमद्भागवतका पाठ किया करना। रूप-सनातन इन दोनोंको अपना बड़ा समझना। जो कोई शङ्का हुआ करे इन्हींसे पूछ लिया करना। निरन्तर नाम-जप करते रहोगे तो कृपालु श्रीकृष्ण कभी-न-कभी तो कृपा करेंगे ही। मङ्गलमय भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें, तुम्हें शीघ्र ही कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो। अब जाओ, सभी वृन्दावनवासी भक्तोंको मेरा स्मरण दिलाना।' इस प्रकार महाप्रभुके शुभाशीर्वादको पाकर ये काशी, प्रयाग होते हुए श्रीवृन्दावनधाममें पहुँचे। वहाँ रूप और सनातन इन दोनों भाइयोंने इनका बड़ा भारी सत्कार किया और अपने पास ही रखा। ये रूप गोस्वामीकी सत्संगसभामें श्रीमद्भागवतका पाठ किया करते थे। इनका गला बड़ा ही सुरीला था। भागवतके श्लोकोंको इतनी तानके साथ ये कहते कि सुननेवाले रोने लगते। एक ही श्लोकको कई प्रकारसे कहते। कहते-कहते स्वयं भी हिचकियाँ भर-भरकर रोने लगते। इनका प्रेम अद्भुत था। ये सदा वृन्दावनविहारीके प्रेममें छके-से

रहते थे। हृदयमें श्रीगोविन्दजीका ध्यान था, जिह्वा सदा हरिरसका पान करती रहती थी। साधुओंका सत्संग और ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताना इससे बढ़कर संसारमें सुखकर जीवन और हो ही क्या सकता है ? मनीषियोंने संसारकी सभी वस्तुओंको भयप्रद बताकर केवल एक वैराग्यको ही भयरहित माना है। ऐसा जीवन बिताना ही सर्वश्रेष्ठ वैराग्य है जैसा कि राजर्षि योगिराज भर्तृहरिने कहा है—

> भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
> स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
> संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
> वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम्॥

अर्थात् 'भक्तभयहारी भगवान्‌के पादपद्मोंमें प्रीति हो। इस शरीरको नाशवान् समझकर इसके प्रति अप्रीति हो; संसारी भाई, बन्धु तथा कुटुम्बियोंमें ममता न हो और हृदयमें कामजन्य वासनाका अभाव हो, कामिनीके कमनीय कलेवरको देखकर उसमें आसक्ति न होती हो। तथा संसारी लोगोंके संसर्गजन्य दोषसे रहित पवित्र और शान्त—विजन वनमें निवास हो तो इससे बढ़कर वाञ्छनीय वैराग्य और हो ही क्या सकता है ?'

सचमुच जो स्त्रीसंसर्गसे रहित होकर एकान्तस्थानमें ब्रह्मचर्यपूर्वक वृन्दावनविहारीका ध्यान करता हुआ अपने समयको बिता रहा है, वह देवताओंका भी वन्दनीय है, उसकी पदधूलि इस समस्त पृथिवीको पावन बना देती है, वह नररूपमें साक्षात् नारायण है; शरीरधारी ब्रह्म है और वैकुण्ठपतिका परम प्रिय प्रधान पार्षद है।

गम्भीरा मन्दिरमें श्रीगौराङ्ग

प्रेमानामाद्भुतार्थः श्रवणपथगतः कस्य नाम्नां महिम्नः
को वेत्ता कस्य वृन्दावनविपिनमहामाधुरीषु प्रवेशः।
को वा जानाति राधां परमरसचमत्कारमाधुर्यसीमा-
मेकश्चैतन्यचन्द्रः परमकरुणया सर्वमाविश्चकार ॥*

(श्रीप्रकाशानन्द)

महाप्रभु गौराङ्गदेव चौबीस वर्षकी अल्पावस्थामें कठोर संन्यास-धर्मकी दीक्षा लेकर पुरी पधारे। पहले छः वर्षोंमें तो वे भारतवर्षके विविध तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे और सबसे अन्तमें आपने श्रीवृन्दावनधामकी यात्रा की। महाप्रभुकी यही अन्तिम यात्रा थी। वृन्दावनसे लौटकर अन्तके अठारहों वर्षोंतक आप अविच्छिन्नभावसे सचल जगन्नाथके रूपमें पुरी अथवा नीलाचलमें ही अवस्थित रहे। फिर आपने पुरीकी पावन पृथिवीका परित्याग करके कहींको भी पैर नहीं बढ़ाया। गौड़देशसे रथयात्राके समय प्रतिवर्ष बहुत-से भक्त आया करते थे और वे बरसातके चार महीनोंतक प्रभुके पादपद्मोंके सन्निकट रहकर अपने-अपने स्थानोंको चले जाया करते थे। छः वर्षोंतक तो प्रभु उनके साथ उसी प्रकार क्रीड़ा, उत्सव और संकीर्तन करते रहे। अन्तमें आपका प्रेमोन्माद साधारण सीमाको उल्लङ्घन करके

---

* प्रेम नामक अद्भुत पदार्थ किसके कर्णगोचर हो सकता था? नामकी महिमाको कौन जान सकता था? वृन्दावनकी माधुरीमें किसका प्रवेश हो सकता था? उत्तम रस-शृंगारके चमत्कारपूर्ण माधुर्यकी सीमा—राधाको कौन जान पाता? एक श्रीचैतन्यचन्द्र महाप्रभुने अपनी स्वाभाविक परम करुणाके द्वारा इन सभी बातोंको पृथिवीपर प्रकट कर दिया।

पराकाष्ठातक पहुँच गया, उसमें फिर भला इस प्राकृतिक शरीरका होश कहाँ, ये तो प्रकृतिके परेकी बात हैं। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंका वहाँ प्रवेश नहीं, यह सब तो त्रिगुणातीत विषय है। उसमें मिलना-जुलना, बातचीत करना, खाना-पीना तथा अन्यान्य कार्योंका सम्पादन करना हो ही नहीं सकता। शरीर स्वयं ही यन्त्रके समान इन कार्योंको आवश्यकतानुसार करता रहता है। चित्तसे इन कामोंका कोई सम्बन्ध नहीं, चित्त तो अविच्छिन्नभावसे उसी प्रियतमकी रूपमाधुरीका पान करता रहता है। महाप्रभुका चित्त भी बारह वर्षोंतक शरीरको छोड़कर वृन्दावनके किसी काले रंगके ग्वाल-बालकके साथ चला गया था। उनका बेमनका शरीर पुरीमें काशी मिश्रके विशाल घरके एक निर्जन गम्भीरा मन्दिरमें पड़ा रहता था। इससे पूर्व कि हम महाप्रभुकी उस दिव्योन्मादकारी प्रेमावस्थाके सम्बन्धमें कुछ कहें, यह जान लेना आवश्यक है कि यह गम्भीरा मन्दिर वास्तवमें क्या है?

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके समीप ही उड़ीसाधिप महाराज प्रताप-रुद्रजीके कुलगुरु पण्डित काशी मिश्रजीके विशाल घरमें प्रभु निवास करते थे। मिश्रजीका वह भवन बहुत ही बड़ा था। अनुमानसे जाना जाता है कि उसमें तीन परकोटे रहे होंगे और सैकड़ों मनुष्य उसमें सुखपूर्वक रह सकते होंगे। तभी तो गौड़देशसे आये हुए प्रायः सभी भक्त चार महीनों-तक वहीं निवास करते थे। महाप्रभु उसी भवनमें रहते थे। अन्यान्य दूसरे मकानोंमें परमानन्द पुरी, ब्रह्मानन्द भारती, स्वरूपदामोदर, रघुनाथदास, जगदानन्द, वक्रेश्वर पण्डित तथा अन्यान्य विरक्त भक्त रहते थे। महाप्रभु सदासे ही एकान्तप्रिय थे, उन्हें भीड़-भम्भड़में विशेष रहना अरुचिकर था। उसी भवनमें एकान्तमें एक गुफाकी तरह छोटा-सा स्थान था, वह कोलाहल-शून्य, एकदम निभृत और नीरव मन्दिर था। महाप्रभु जब सबसे पृथक् होकर एकान्तकी इच्छा करते तब उस निभृत मन्दिरमें जाकर

विश्राम करते उसका दरवाजा इतना छोटा था कि एक आदमी ही उसमें संकोचके साथ घुस सकता था। महाप्रभु जब थक जाते या भीड़-भाड़से ऊब जाते तो उसमें जाकर सो जाते।

महाप्रभु जैसे भक्तवत्सल और कृपालु स्वामी थे उसी प्रकारका सच्चा स्वामिभक्त उन्हें गोविन्द नामक सेवक भी प्राप्त हुआ था। गोविन्दका महाप्रभुके प्रति वात्सल्यभाव था, वह निःस्वार्थ-भावसे बड़ी ही तत्परताके साथ प्रभुके शरीरकी खूब ही देख-रेख रखता। एक दिन महाप्रभु संकीर्तनसे श्रान्त होकर गम्भीराके दरवाजे-पर पड़कर सो रहे। नियमानुसार गोविन्द आया और उसने कहा—'प्रभो! मैं शरीरकी मालिश करूँगा, मुझे भीतर आने दीजिये।' प्रभु तो भावावेशमें बेहोश पड़े थे। उन्हें शरीर-मर्दनका क्या ध्यान? दो-चार बार प्रार्थना करनेपर आपने पड़े-ही-पड़े कह दिया—'आज नहीं, जाओ सो रहो।'

गोविन्दने विनीतभावसे कहा—'प्रभो! मेरा नित्यका नियम है, मुझे आज सेवासे वञ्चित न कीजिये।'

प्रभुने झुँझलाकर कहा—'नहीं, यह सब कुछ नहीं, शरीरमें बड़ी पीड़ा हो रही है, मुझसे उठा नहीं जाता, जाकर सो रहो।'

गोविन्दने फिर अत्यन्त ही विनीतभावसे कहा—'प्रभो! थोड़े हट जायँ, बस मैं एक पैर देकर ही भीतर आ जाऊँगा, मुझे नींद न आवेगी।'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—'भैया गोविन्द! मुझमें हिलनेकी भी सामर्थ्य नहीं।' सेवापरायण स्वामिभक्त सेवक क्या करता? सेवा करना उसका प्रधान कर्तव्य है। प्रभुको लाँघकर जाना पाप है, किन्तु उनकी सेवा न करना यह उससे भी अधिक पाप है। इसलिये यह सोचकर कि 'चाहे मुझे नरक ही क्यों न भोगना पड़े, मैं सेवामें

प्रमाद नहीं करूँगा।' यह सोचकर वह प्रभुको लाँघकर ही चला गया और वहाँ जाकर उसने प्रभुकी चरणसेवा की तथा सम्पूर्ण शरीरको धीरे-धीरे दबाया। बहुत देर हो जानेपर प्रभुको चैतन्यता प्राप्त हुई। तब आपने गोविन्दको पास ही बैठा देखकर पूछा—'अरे गोविन्द! तू अभीतक बैठा ही है, सोने क्यों नहीं गया?'

उसने कहा—'प्रभो! सोने कैसे जाता, आप तो दरवाजेको घेरकर शयन कर रहे हैं।'

प्रभुने पूछा—'तब तू आया कैसे था?'

गोविन्दने कुछ लज्जितस्वरसे कहा—'प्रभो! मैं आपके श्रीअङ्गको लाँघ करके ही आया था, इसके लिये मुझे जितने दिनोंतक भी नरक भोगना पड़े उतने दिनोंतक सहर्ष नरक भोग सकता हूँ। आपके शरीरकी सेवाके निमित्त मैं सब कुछ कर सकता हूँ, किन्तु अपने सोनेके लिये मैं ऐसा पाप नहीं कर सकता।' उसकी ऐसी निष्ठा देखकर प्रभुने उसे छातीसे लगाया और उसे श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्तिका आशीर्वाद दिया।

इस घटनासे भी जाना जाता है कि गम्भीरा मन्दिर बहुत ही छोटा होगा। पहले तो महाप्रभु यदा-कदा ही उसमें शयन करते रहे, ज्यों-ज्यों उनकी एकान्तनिष्ठा बढ़ती गयी और प्रेमोन्माद बढ़ता गया, त्यों-ही-त्यों वे गम्भीरा मन्दिरमें अपना अधिक समय बिताने लगे। अन्तके बारह वर्ष तो आपके गम्भीरा मन्दिरमें ही बीते। उस स्थानका नाम पहलेसे ही गम्भीरा था या प्रभुके गम्भीरभावसे रहनेके कारण उसको लोग गम्भीरा कहने लगे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं। अनुमान ऐसा ही लगाया जाता है, कि प्रभुके अन्तःपुरके समान उसमें अपने अन्तरङ्गभक्तोंके साथ रागमय ऐकान्तिक जीवन बितानेके ही कारण उस स्थानको भक्त 'गम्भीरा' के नामसे पुकारने लगे होंगे। प्रभुने गम्भीरा मन्दिरमें रहकर जो बारह वर्ष बिताये और उस अवस्थामें जो

उन्होंने लीलाएँ कीं। उन्हें भक्त 'गम्भीरा लीला' के नामसे जानते और कहते हैं। गौड़ीय वैष्णवग्रन्थोंमें सर्वत्र 'गम्भीरा लीला' शब्दका व्यवहार मिलता है।

इन बारह वर्षोंमें प्रभुके शरीरमें जो-जो प्रेमके भाव उत्पन्न हुए, उनकी जैसी-जैसी अलौकिक दशाएँ हुईं वह किसी भी महापुरुषके शरीरमें प्रत्यक्ष रीतिसे प्रकट नहीं हुईं। उन्होंने प्रेमकी पराकाष्ठा करके दिखा दी, मधुर रसका आस्वादन किस प्रकार किया जाता है, इसका उन्होंने साकार स्वरूप दिखला दिया। उन दिनों स्वरूपदामोदर और राय रामानन्द, ये ही प्रभुके उस भावके प्रधान ज्ञाता थे। महाप्रभु निरन्तर वियोगिनी श्रीराधिकाजीके भावमें भावान्वित रहते। स्वरूप गोस्वामी और राय रामानन्दजीको वे अपनी ललिता और विशाखा सखी समझते। बस, इन्हींके कारण उन्हें थोड़ी-बहुत शान्ति होती। वास्तवमें मधुर-भावके मर्मज्ञ ये दोनों महानुभाव ललिता और विशाखाकी भाँति प्रभुकी विरहवेदनाको कम करनेमें सब भाँतिसे उनकी सहायता करते और सदा प्रभुकी सेवा-शुश्रूषामें ही तत्पर रहते। स्वरूप गोस्वामीका गला बड़ा ही कोमल था। वे अपनी सुरीली तानसे मधुरभावके पद गा-गाकर प्रभुको सुनाया करते थे। महाप्रभुको श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका गोपीगीत श्रीजयदेवका गीतगोविन्द और चण्डीदास तथा विद्यापति ठाकुरके पद बहुत ही प्रिय थे। स्वरूप गोस्वामी अपने सुन्दर सुरीले स्वरसे इन्हीं सबको सुनाया करते थे। राय रामानन्दजी कृष्णकथा कहा करते थे, इसी प्रकार रसास्वादन करते-करते रात्रि बीत जाती और सूर्य उदय होनेपर पता चलता कि अब प्रातःकाल हो गया है। उस समय प्रभुकी जो भी दशा होती उसे स्वरूपदामोदरजी अपने 'कड़चा' में लिखते जाते थे। सचमुच उन्हीं महानुभावकी कृपासे तो आज संसार श्रीचैतन्यदेवके प्रेमकी अलौकिक दशाओंको समझ सका है, नहीं तो वे भाव प्रत्यक्ष-

रूपसे संसारमें अप्रकट ही बने रहते। ये भाव मानवीय भाषामें व्यक्त किये ही नहीं जाते। इन भावोंको व्यक्त करनेकी तो भाषा ही दूसरी है और उसका नाम 'मूकभाषा' है। कोई परम रसमर्मज्ञ लोकातीत भाववाला पुरुष यत्किञ्चित् उसका वर्णन कर सकता है। इसीलिये स्वरूपदामोदरजीने संसारके ऊपर उपकार करके उसका थोड़ा-बहुत वर्णन किया। वास्तवमें चैतन्यके भावोंको वे ही ठीक-ठीक वर्णन कर भी सकते थे। उस समय प्रभु सदा शरीरज्ञानशून्य-से बने रहते। उनके अन्तरङ्ग भक्त ही उनके शरीरकी देख-रेख और सेवा-शुश्रूषा करते थे। उनमें गोविन्द, जगदानन्द, रघुनाथदास, स्वरूपदामोदर और राय रामानन्दजी—ये ही मुख्य थे। स्वरूप गोस्वामी जो कुछ लिखते थे उसे रघुनाथदासजी कण्ठस्थ करते जाते थे। इस प्रकार स्वरूपदामोदरजीका कड़चा रघुनाथदासजीके गलेका सर्वोत्तम हार बन गया। महाप्रभु और स्वरूपदामोदरजीके तिरोभावके अनन्तर रघुनाथदासजी पुरी छोड़कर श्रीवृन्दावनको चले गये और वहीं एकान्तमें वास करने लगे। 'श्रीचैतन्यचरितामृत' के लेखक गोस्वामी कृष्णदास कविराज उनके परमप्रिय शिष्य थे, इसलिये 'स्वरूप गोस्वामीका कड़चा' उनसे कविराजजीको प्राप्त हुआ। कविराज महाशयने उसी कड़चाके आधारपर अपने परम प्रसिद्ध 'श्रीचैतन्यचरितामृत' नामक ग्रन्थके अन्तिम सात अध्याय लिखे हैं। इसलिये अब 'स्वरूपदामोदरजीका कड़चा' नामका कोई अलग ग्रन्थ तो मिलता नहीं। इन सात अध्यायोंको ही उसका सार समझना चाहिये। उन महापुरुषने उस अलौकिक दिव्य ग्रन्थका जनतामें क्यों नहीं प्रचार और प्रसार होने दिया, इसे तो वे ही जानें। हम पामर प्राणी भला इस सम्बन्धमें क्या समझ सकते हैं? संसारको उन्होंने इस इतने अधिक दिव्यरसका अनधिकारी समझा होगा। प्रायः देखनेमें भी आता है कि महापुरुष अपना सम्पूर्ण प्रेम किसीपर प्रकट नहीं करते। यदि

अर्थात् 'जो पुरुष प्रेमके विकारको वर्णन करनेका प्रयत्न करता है, उसका प्रयत्न उसी बौने (बावन) के समान है जो सबसे छोटा होनेपर भी आकाशमें स्थित चन्द्रमाको पकड़ना चाहता है। जिस प्रकार अनन्त—अथाह महासागरमेंसे वायु एक कणको उड़ा लाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णप्रेमार्णवपयका एक कण जीवोंको स्पर्श कर सकता है। क्षण-क्षणमें प्रेमकी अनन्त तरङ्गें उठती हैं, भला साधारण जीव उनका पार कैसे पा सकता है? श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु जिस प्रेमरसका आस्वादन करते हैं उसे तो उनके परम प्रियगण श्रीस्वरूपदामोदर तथा रामानन्द राय आदि ही जान सकते हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने अपनेको भी प्रेमतत्त्वके वर्णन करनेका अनधिकारी साबित कर दिया है और आप उसीका समर्थन करते हुए स्पष्ट स्वीकार भी करते हैं।

लिख्यते श्रीलगौरेन्दोरत्यद्भुतमलौकिकम्।
यैर्दृष्टं तन्मुखाच्छ्रुत्वा दिव्योन्मादविचेष्टितम्॥
(श्रीचैतन्यच० १७। १)

अर्थात् 'श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी अत्यद्भुत अलौकिक दिव्योन्मादकारक चेष्टाओंको—जिन्होंने (श्रीरघुनाथदासजीने) अपनी आँखोंसे उन चेष्टाओंको प्रत्यक्ष देखा है, उन्हींके मुखसे सुनकर मैं लिखता हूँ।' इस बातसे तो अब सन्देहके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। यदि कोई साधारण मनुष्य उनसे इस बातको कहता तो वे उसका विश्वास भी न करते, किन्तु जब साक्षात् रघुनाथजी ही उनसे कह रहे हैं जो कि निरन्तर बारह वर्षोंतक प्रभुके समीप ही रहे थे तब तो उन्हें भी विश्वास करना ही पड़ा, इस बातको वे स्वयं कहते हैं—

शास्त्रलोकातीत येइ येइ भाव हय,
इतर लोकेर ताते ना हय निश्चय।

रघुनाथदासेर सदा प्रभुके संगे स्थिति,
तार मुखे सुनि लिखि करिया प्रतीति ॥

अर्थात् 'महाप्रभुकी इन दिव्योन्मादकारी भावोंको यदि कोई इतर पुरुष कहता तो सम्भवतया निश्चय भी न होता, किन्तु सदा प्रभुके सङ्ग रहनेवाले रघुनाथजीने अपने मुखसे इन भावोंको मुझे बताया तब मैंने इन्हें अपने ग्रन्थमें लिख दिया। इसमें अब शङ्काके लिये स्थान ही नहीं।' इस प्रकार स्थान-स्थानपर उन्होंने इन भावोंको अवर्णनीय बताया है और सात अध्यायोंमें बड़ी सुन्दरतासे वर्णन करके अन्तमें कह दिया है—

प्रभुर गंभीरा लीला ना पारि बूझिते।
बुद्धि प्रवेश नाहि ताते ना पारि वर्णिते ॥

अर्थात् 'महाप्रभुकी गम्भीरा लीला कुछ जानी नहीं जा सकती, बुद्धिका तो वहाँ प्रवेश ही नहीं फिर वर्णन कैसे हो सकता है!' जिस प्रेमोन्मादकारी लीलाको वर्णन करनेमें प्रेमके एकमात्र उपासक, गौर-कृपाके पूर्णपात्र तथा आयुभर वृन्दावनमें ही वास करके प्रेमकी साधना करनेवाले कविराज गोस्वामी अपनी वृद्धावस्थासे काँपती हुई लेखनीको ही असमर्थ बताते हैं तो हम कल-परसोंके छोकरे जिनका कि प्रेममार्गमें प्रवेश तो क्या झुकाव भी नहीं हुआ है, ऐसे साधारण कोटिके जीव उसका वर्णन ही क्या कर सकते हैं? हमारे लिये तो सबसे सरल उपाय यही है कि इस प्रसङ्गको छोड़ ही दें। किन्तु इस प्रसङ्गको छोड़ना उसी प्रकार होगा जिस प्रकार दूधको दुहकर, औटाकर, जमाकर और उसका दही बनाकर दिनभर मथते रहे और जब मक्खन निकलनेका समय आया तभी उसे छोड़ बैठे। महाप्रभुके जीवनका यही तो सार है, यहींपर तो प्रेमकी पराकाष्ठा होती है, यही तो उनका जीवोंके लिये अन्तिम उपदेश है, इसीको तो ध्रुव लक्ष्य बनाकर साधक आगे बढ़ सकते हैं। इसलिये

इसे छोड़ देना मानो इतने सब किये करायेको बिना सार समझे छोड़ देना है। इसलिये हम इसका अपनी क्षुद्र बुद्धिके अनुसार उन्हीं कविराज गोस्वामीके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करते हुए वर्णन करते हैं। अन्य स्थानोंमें तो हमने अपने स्वाभाविक स्वतन्त्रतासे काम लिया है, किन्तु इस विषयमें हम जहाँतक हो सकेगा, इन्हीं पूर्वपुरुषोंकी प्रणालीका ही अनुकरण करेंगे। अक्षरोंका अनुवाद कर देना तो हमारी प्रकृतिके प्रतिकूल है, इसके लिये तो हम मजबूर हैं किन्तु कैसे भी क्यों न करें इन्हीं महानुभावोंके आश्रयसे इस दुर्गम पथको पार कर सकेंगे। इसलिये श्रीचैतन्यदेवके दिव्योन्मादके वर्णन करनेके पूर्व अति संक्षेपमें हम पाठकोंको यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि ये प्रेमके भाव, महाभाव तथा विरहकी दशा कितनी होती हैं और इनका वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषयपर मधुररतिके उपासक वैष्णवोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और विस्तारके साथ इन सभी विषयोंका विशदरूपसे वर्णन किया गया है, उन सबको यहाँ बतानेके लिये न तो इतना स्थान ही है और न हममें इतनी योग्यता ही है। हम तो विषयको समझनेके लिये बहुत ही संक्षेपमें इन बातोंका दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं जिससे पाठकोंको महाप्रभुकी प्रेमोन्मादकारी दशाको समझनेमें सुगमता हो। वैसे इन दशाओंको समझकर कोई प्रेमी थोड़े ही बन सकता है, जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होता है उसकी दशा अपने-आप ही ऐसी हो जाती है। पिङ्गल पढ़कर कोई कवि नहीं बन सकता। स्वाभाविक कविकी कविता अपने-आप ही पिङ्गलके अनुसार बन जाती है। इसलिये इन बातोंका वर्णन प्रेम प्राप्त करनेके निमित्त नहीं, किन्तु प्रेमकी दशा समझनेके लिये करते हैं।

और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा रागके तीन भेद हो सकते हैं— पूर्वराग, मिलन और विछोह या विरह।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, संसारी विषय-भोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। प्रेमीकी दशा उस पुरुषकी-सी हो जाती है जिसे अपने प्राणोंसे अत्यन्त ही मोह हो और उसे फाँसीके लिये कारागारके फाँसीघरमें बन्द कर रखा हो; जिस प्रकार प्राणोंके भयसे उसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ होती हैं उसी प्रकारकी चेष्टाएँ रागीकी अथवा प्रेमीकी भी होती हैं। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें इन सब दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है। इस सम्बन्धमें अष्ट सात्त्विक विकारोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ विकारोंका वर्णन करते हैं। वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। ये भय, शोक, विस्मय, क्रोध और हर्षकी अवस्थामें उत्पन्न होते हैं। प्रेमके लिये ही इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये।

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टा-रहित होकर निश्चल हो जाती हैं उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी।

प्रेमकी अवस्थाओंका संक्षिप्त परिचय

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति ॥*

लोकमर्यादाको मेटकर मोहनसे मन लगानेको मनीषियोंने प्रेम कहा है। प्रेमके लक्षणमें इतना ही कहना यथेष्ट है कि—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

अर्थात् 'गोपियोंके शुद्धप्रेमको ही 'काम' के नामसे पुकारनेकी परिपाटी पड़ गयी है।' इससे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका एकदम अभाव होता है। क्योंकि गोपिकाओंके काममें किसी प्रकारके अपने शरीरसुखकी इच्छा नहीं थी। वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके निमित्त। इसलिये शुद्धप्रेम इन्द्रिय

---

* मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम तो होता ही नहीं, कदाचित् किसीको हो भी जाय तो उसे प्रेमका सारभूत विरह प्राप्त नहीं होता। यदि विरह भी प्राप्त हो जाय तो फिर वह जीवित तो कदापि रह ही नहीं सकता। श्रीरूप गोस्वामी भी कहते हैं—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

अर्थात् 'जबतक भुक्ति और मुक्तिकी इच्छारूपिणी पिशाची हृदयमें बैठी हुई है तबतक वहाँ भक्तिसुखकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?'

और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा रागके तीन भेद हो सकते हैं—पूर्वराग, मिलन और विछोह या विरह।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, संसारी विषय-भोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। प्रेमीकी दशा उस पुरुषकी-सी हो जाती है जिसे अपने प्राणोंसे अत्यन्त ही मोह हो और उसे फाँसीके लिये कारावासके फाँसीघरमें बन्द कर रखा हो; जिस प्रकार प्राणोंके भयसे उसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ होती हैं उसी प्रकारकी चेष्टाएँ रागीकी अथवा प्रेमीकी भी होती हैं। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें इन सब दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है। इस सम्बन्धमें अष्ट सात्त्विक विकारोंका बहुत उल्लेख आता है और वे हैं। अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ विकारोंका वर्णन करते हैं। वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। ये भय, शोक, विस्मय, क्रोध और हर्षकी अवस्थामें उत्पन्न होते हैं। प्रेमके लिये ही इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये।

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टा-रहित होकर निश्चल हो जाती हैं उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी।

उन्होंने स्वयं कहा है—'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।' अर्थात् 'मुझे कँपकँपी छूट रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं।'

स्वेद—शरीरमेंसे पसीना छूटना या पसीनेमें 'लथपथ' हो जाना इसे 'स्वेद' कहते हैं।

अश्रु—बिना प्रयत्न किये शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षके कारण आँखोंमेंसे जो जल निकलता है उसे 'अश्रु' कहते हैं। हर्षमें जो अश्रु निकलते हैं वे ठण्डे होते हैं और वे प्रायः आँखोंकी कोरसे नीचेको बहते हैं। शोकके अश्रु गरम होते हैं और वे बीचसे ही बहते हैं।

स्वरभङ्ग—मुखसे अक्षर स्पष्ट उच्चारण न हो सके उसे 'स्वर-भेद','गद्‌गद' या 'स्वरभङ्ग' कहते हैं।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोंसे मुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फीकापन आ जाता है उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं। उसका असली स्वरूप है, आकृतिका बदल जाना।

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खड़े हो जायँ उसे 'पुलक' या 'रोमाञ्च' कहते हैं।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका ज्ञान ही न रह जाय उसे प्रलय कहते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे बेहोशी हो जाती है। इस अवस्थामें प्रायः लोग पृथिवीपर गिर पड़ते हैं। बेहोश होकर धड़ामसे पृथिवीपर गिर पड़नेका नाम 'प्रलय' है।

ये उपर्युक्त भाव हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोक आदि सभी कारणोंसे होते हैं, किन्तु प्रेमके पक्षमें ही ये प्रशंसनीय हैं।

पीछे हम पूर्वराग, मिलन और वियोग अथवा विछोह—ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं। अब उनके सम्बन्धमें कुछ सुनिये।

पूर्वराग—प्यारेसे साक्षात्कार तो हुआ नहीं है, किन्तु चित्त उसके लिये तड़प रहा है इसे ही संक्षेपमें पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात्रि उसीका ध्यान, उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाय इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामें शरीरसे घर-द्वार तथा जीवनसे भी एकदम वैराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लीजिये—

> हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
> हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
> हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
> हा! हा!! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे? ॥*

इस श्लोकमें परम करुणापूर्ण सम्बोधनोंद्वारा बड़ी ही मार्मिकताके साथ प्यारेसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच अनुराग इसीका नाम है। ऐसी लगन हो तब कहीं वह निगोड़ा इस ओर दृष्टिपात करता है। बड़ा निर्दयी है!

मिलन—यह विषय वर्णनातीत है। सम्मिलनमें क्या सुख है, यह बात तो अनुभवगम्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसीलिये कवियोंने इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। सम्मिलनसुखको तो दो ही एक होकर जान सकते हैं। वे स्वयं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ होते है फिर कोई वर्णन करे भी तो कैसे करे! अनुभव होनेपर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये इस

---

* हे देव! हे दयालो! हे विश्वके एकमात्र बन्धु! ओ काले! अरे ओ चपल! हे करुणाके सागर! हे स्वामिन्! हे मेरे साथ रमण करनेवाले! हे मेरे नेत्रोंके सुख देनेवाले प्राणेश! तुम कब हमें दर्शन दोगे?

विषयमें सभी कवि उदासीन-से ही दीख पड़ते हैं। श्रीमद्भागवतादिमें वर्णन है, किन्तु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसङ्गवश यत्किञ्चित् है। सभीने विरहके वर्णनमें ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यत्किञ्चित् विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमें मजा है। सम्मिलन सुखको तो वे दोनों ही लूटते हैं। सुनिये, रसिक रसखानजीने दूर खड़े होकर इस सम्मिलनका बहुत ही थोड़ा वर्णन किया है। किन्तु वर्णन करनेमें कमाल कर दिया है। दो प्रेमियोंके सम्मिलनका इतना सजीव और जीता-जागता चित्र शायद ही किसी अन्य कविकी कवितामें मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

> ऐ री ! आज काल्हि सब लोकलाज त्यागि दोऊ,
> सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसायबो।
> यह 'रसखान' दिन द्वैमें बात फैलि जैहै,
> कहाँ लौं सयानी ! चंद हाथन छिपायबो॥
> आज हौं निहारयो बीर, निकट कालिंदी-तीर,
> दोउनको दोउनसौं मुख मुसकायबो।
> दोउ परैं पैयाँ दोउ लेत हैं बलैयाँ, उन्हैं,
> भूल गईं गैयाँ, इन्हैं गागर उठायबो॥

कैसा सजीव वर्णन है! वह भी कालिन्दी-कूलपर एकान्तमें हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्तःपुरमें होता तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ!

> 'दोउ परैं पैयाँ दोउ लेत हैं बलैं
> भूल गईं गैयाँ, इन्

—कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है । धन्य है ऐसे सम्मिलनको !

विरह—इन तीनोंमें उत्तरोत्तर एक दूसरीसे श्रेष्ठ है । पूर्वानुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है, प्रेमरूपी दूधका विरह ही मक्खन है । इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

बिरहा बिरहा मत कहौ, बिरहा है सुलतान ।
जेहि घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान ॥

अब विरहके भी तीन भेद हैं—भविष्य विरह, वर्तमान विरह और भूत विरह । इनमें भी परस्पर उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है । भावी विरह बड़ा ही करुणोत्पादक है, उससे भी दुःखदायी वर्तमान विरह । भूत विरह तो दुःख-सुखकी पराकाष्ठासे परे ही है ।

पहले भावी विरहको ही लीजिये । 'प्यारा कल चला जायगा' बस, इस भावके उदय होते ही जो कलेजेमें एक प्रकारकी ऐंठन-सी होने लगती है, उसी ऐंठनका नाम 'भावी विरह' है । इसका उदय नायिकाके ही हृदयमें उत्पन्न होता हो, सो बात नहीं है । अपने प्यारेके विछोहमें सभीके हृदयमें यह विरह-वेदना उत्पन्न हो सकती है ।

जिस कन्याको आज पंद्रह-बीस वर्षोंसे पुत्रीकी तरह लाड़-प्यार किया था, वही शकुन्तला आश्रम त्यागकर अपने पतिके घर जायगी, इस बातके स्मरणसे ही शकुन्तलाके धर्मपिता भगवान् कण्व ऋषिका कलेजा काँपने लगा । हाय ! अब शकुन्तला फिर देखनेको न मिलेगी ! इस विचारसे वे शोकयुक्त हुए बैठे हैं । वे कैसे भी सहृदय क्यों न थे, किन्तु थे तो ज्ञानोपासक । चिन्तामें एकदम रागमार्गीय गोपिकाओंकी भाँति अपनेको भूल नहीं गये । वे उस अन्तःकरणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति-पर विचार करते-करते कहने लगे । ऋषिके इन वाक्योंमें कितनी करुणा-

है, कैसी वेदना है, पुत्री-विरहका यह संस्कृतभाषामें सर्वोत्कृष्ट श्लोक कहा जा सकता है। ऋषि सोच रहे हैं—

> यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
> कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
> वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
> पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

'शकुन्तला आज चली जायगी' इस विचारके आते ही मेरे हृदयमें एक प्रकारकी कँपकँपी-सी हो रही है, एक प्रकारकी विचित्र उत्कण्ठा-सी प्रतीत होती है। गला अपने-आप रुद्ध-सा हो रहा है, अश्रु स्वतः ही निकले पड़ते हैं, एक प्रकारकी जड़ताका अनुभव कर रहा हूँ। न जाने क्यों दिलमें घबड़ाहट-सी हो रही है। जब वनवासी वीतराग मुझ मुनिकी ही ऐसी दशा है, तो गृहस्थाश्रमके मोहमें फँसे हुए गृहस्थियों-की तो पुत्री-वियोगके समय न जाने क्या दशा होती होगी?'

इन वाक्योंमें भगवान् कण्वकी छिपी हुई भारी वेदना है। वे अपने भारी ज्ञानके प्रभावसे उसे छिपाना चाहते हैं, किन्तु श्रीकृष्णके मथुरागमनका समाचार सुनकर गोपिकाओंको जो भावी विरह-वेदना हुई वह तो कुछ बात ही दूसरी है। वैसे तो सभीका विरह उत्कृष्ट है, किन्तु राधिकाजीके विरहको ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। एक सखी इस हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप जाती है। उसे सुनते ही राधिकाजी कर्तव्यविमूढिनी-सी होकर प्रलाप करने लगती हैं। उनके प्रलापको मिथिलाके अमर कवि श्रीविद्यापति ठाकुरके शब्दोंमें सुनिये। अहा! कितना बढ़िया वर्णन है। राधिकाजी कह रही हैं—

> कि करिब, कोथा याब, सोयाय ना हय।
> ना याय कठिन प्राण किबा लागि रय॥

पियार लागिया हाम कोन देशे याब ।
रजनी प्रभात हैले कार मुख चाब ॥
बन्धु याबे दूर देशे मरिब आमि शोके ।
सागरे त्यजिब प्राण नाहि देखे लोके ॥
नहेत पियार गलार माला ये करिया ।
देशे देशे भरमिब योगिनी हइया ॥
विद्यापति कवि इह दुःख गान ।
राजा शिवसिंह लछिमा परमान ॥

'मैं क्या करूँ ! कहाँ जाऊँ ! कुछ अच्छा नहीं लगता । अरे ! ये निठुर प्राण भी तो नहीं निकलते । प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ, रजनी बीतनेपर प्रातःकाल किसके कमलमुखकी ओर निहारूँगी ? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरह-शोकमें मर जाऊँगी । समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दूँगी जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ । नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशोंमें योगिनी बनकर घूमती रहूँगी । कवि विद्यापति इस दुःखपूर्ण गानको गाता है, इसमें लछिमा और राजा शिवसिंह प्रमाण हैं ।' यह भावी विरहका उदाहरण है । अब वर्तमान विरहकी बात सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे, विविध प्रकारके आनन्दका अनुभव किया वही जानेके लिये एकदम तैयार खड़ा है । उस समय जो दिलमें एक प्रकारकी धड़कन होती है, सीनेमें कोई मानो साथ ही सैकड़ों सुइयाँ चुभो रहा हो, उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है उसे ही 'वर्तमान विरह' कहते हैं ।

शकुन्तला अपने धर्मपिता भगवान् कण्वके पैर छूकर और प्रियंवदा आदि सखियोंसे मिल-जुलकर पासकी कुटियामेंसे धीरे-धीरे

निकलकर भगवान् कण्वकी हवनवेदीवाले चबूतरेके नीचे एक पे
सहारेसे खड़ी हो गयी है। सभी शिष्यवर्ग शोकसे सिर नीचा किये
ऊपर खड़े हैं। शकुन्तलाकी सखियाँ सुबकियाँ भर रही हैं, घर बनमें
छिन्न वल्कल वस्त्रोंकी पुटलियोंको बगलमें दाबे एक ओर नाई
भगवान् कण्वका कलेजा फटा-सा जा रहा है, मानो उसे कोई
खींच रहा हो। इतने बड़े कुलपति होकर अपनी विरहवेदनाको कि
पर प्रकट करें। जो सुनेगा वही हँसेगा कि इतने बड़े ज्ञानी ध्यानी
कैसी भूली-भूली मोहकी-सी बातें कर रहे हैं। इस भयसे वे और किसी
से न कहकर वृक्षोंसे कह रहे हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

है, लोकलाजकी परवा की है। 'प्रेममें नेम कहाँ ?' यहाँ तो सब कुछ छोड़ना होता है। इस प्रकारकी गम्भीरता और वाक्चातुरी रागमार्गमें दूषण ही समझा जाता है, इन भावोंमें प्रेमकी न्यूनता ही समझी जाती है। इसीलिये तो कवियोंने नायिकाओंके ही द्वारा ये भाव प्रकट कराये हैं। सचमुच ये भाव सरस नारीहृदयमें पूर्णरीत्या प्रकट हो सकते हैं। गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है ? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले कृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओं-की क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमर वाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है ?

> एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
> व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
> विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
> गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कह रहे हैं—'राजन् ! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुईं, नाना भाँतिके आर्तवचनोंको कहती हुई और लोकलाज आदि बातकी भी परवा न करती हुई वे व्रजकी स्त्रियाँ ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द ! हा माधव !! हा दामोदर !!! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं इसी [illegible]का नाम 'भूत विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण [illegible] मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका [illegible] क्षणभरमें इस शरीरको भस्म-कर दें। प्यारेके [illegible] है, किन्तु पता नहीं वह आशा कब पूरी

निकलकर भगवान् कण्वकी हवनवेदीवाले चबूतरेके नीचे एक पेड़के सहारेसे खड़ी हो गयी है । सभी शिष्यवर्ग शोकसे सिर नीचा किये इधर-उधर खड़े हैं । शकुन्तलाकी सखियाँ सुबकियाँ भर रही हैं, साथ जानेवाले शिष्य वल्कल वस्त्रोंकी पुटलियोंको बगलमें दाबे एक ओर खड़े हैं । भगवान् कण्वका कलेजा कटा-सा जा रहा है, मानो उसे बलात् कोई खींच रहा हो । इतने बड़े कुलपति होकर अपनी विरहवेदनाको किस-पर प्रकट करें । जो सुनेगा वही हँसेगा कि इतने बड़े ज्ञानी महर्षि ये कैसी भूली-भूली मोहकी-सी बातें कर रहे हैं । इस भयसे वे और किसी-से न कहकर वृक्षोंसे कह रहे हैं—

> पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
> नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
> आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
> सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

'वृक्षो ! यह शकुन्तला अपने पतिके घर जा रही है । देखो, तुम्हारे प्रति तो इसका अत्यन्त ही स्नेह था । जबतक यह तुम्हें पानी नहीं पिला लेती थी तबतक स्वयं भी पानी नहीं पीती थी । इसे गहने पहिननेका यद्यपि बड़ा भारी शौक था, फिर भी यह तुम्हारे स्नेहके कारण तुम्हारे पत्तोंको नहीं तोड़ती थी । वसन्तमें जब तुमपर नये-ही नये फूल आते थे तब यह उस खुशीमें बड़ा भारी उत्सव मनाती थी । हाय ! वही तुम सब लोगोंकी रक्षा करनेवाली शकुन्तला अब जा रही है, तुम सब मिलकर इसे आज्ञा दो ।'

महर्षिके एक-एक शब्दमें करुणा फूट-फूटकर निकल रही है । मूक वृक्षोंके प्रति अपनी वेदना प्रकट करके ऋषिने उसे और भी अधिक हृदयग्राही बना दिया है । किन्तु इसमें भावको छिपानेकी चेष्टा की गयी

है, लोकलाजकी परवा की है। 'प्रेममें नेम कहाँ ?' वहाँ तो सब कुछ छोड़ना होता है। इस प्रकारकी गम्भीरता और वाक्चातुरी रागमार्गमें दूषण ही समझा जाता है, इन भावोंमें प्रेमकी न्यूनता ही समझी जाती है। इसीलिये तो कवियोंने नायिकाओंके ही द्वारा ये भाव प्रकट कराये हैं। सचमुच ये भाव सरस नारीहृदयमें पूर्णरीत्या प्रकट हो सकते हैं। गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है ? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले कृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओं-की क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमर वाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है ?

> एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
> व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
> विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
> गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कह रहे हैं—'राजन् ! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुई, नाना भाँतिके आर्तवचनोंको कहती हुई और लोकलाज आदि बातकी भी परवा न करती हुई वे व्रजकी स्त्रियाँ ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द ! हा माधव !! हा दामोदर !!! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं इसी द्विविधाका नाम 'भूत विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण है। यदि मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या ? फिर तो क्षणभरमें इस शरीरको भस्म कर दें। प्यारेके मिलनकी आशा तो अवश्य है, किन्तु पता नहीं वह आशा कब पूरी

होगी। पूरी होगी भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चय नहीं। बस, प्यारेके एक ही बार, दूरसे ही थोड़ी ही देरके लिये क्यों न हों, दर्शन हो जायँ। बस, इसी एक लालसासे वियोगिनी अपने शरीरको धारण किये रहती है। उस समय उसकी दशा विचित्र होती है। साधारणतया उस विरहकी दश दशाएँ बतायी गयी हैं। वे ये हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगो तानवं मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥

(उज्ज्वलनीलमणि शृं० ६४)

'चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये ही विरहकी दश दशाएँ हैं।' अब इनका संक्षिप्त विवरण सुनिये।

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमें सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है। मनमें दूसरे विचारोंके लिये स्थान ही न रहे। व्रजभाषागगनके परम प्रकाशमान 'सूर' ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन किया है—

नाहिन रह्यो मनमें ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
स्याम गात सरोज आनन ललित-गति मृदु-हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन-प्यास॥

प्यासेको फिर नींद कहाँ? नींद तो आँखोंमें ही आती है और आँखें ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामें नींद वहाँ आ ही नहीं सकती। इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है। यदि विरहिणीको क्षणभरके लिये निद्रा आ जाय तो वह स्वप्नमें तो प्रियतमके दर्शन-सुखका आनन्द उठा ले। किन्तु उसकी आँखोंमें नींद कहाँ ? राधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही हैं—

> याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
> अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥

(पद्यावली)

'प्यारी सखी ! वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमें तो कर लेती हैं। मुझ दुःखिनीके भाग्यमें तो यह सुख भी नहीं बदा है। मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्णके साथ-ही-साथ मथुराको चली गयी। वह मेरे पास आती ही नहीं।' धन्य है, निद्रा आवे कहाँ ? आँखोंमे तो प्यारेके रूपने अड्डा जमा लिया है। एक म्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं ?

उद्वेग—हृदयमें जो एक प्रकारकी हलचलजन्य वेकली-सी होती है उसीका नाम उद्वेग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्वेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

> व्याकुल ही तड़पौं बिनु प्रीतम,
> कोऊ तौ नेकु दया उर लाओ।
> प्यासी तजौं तनु रूप-सुधा बिनु,
> पानिय पीको पपीहै पिआओ॥
> जीयमें हौस कहूँ रहि जाय न,
> हा ! 'हरिचंद' कोऊ उठि धाओ।
> आवै न आवै पिआरो अरे !
> कोउ हाल तौ जाइकै मेरी सुनाओ॥

पागलपनकी हद हो गयी न ! भला, कोई जाकर हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता ! अब चौथी दशा कृशताका समाचार सुनिये।

कृशता—प्यारेकी यादमें विना खाये-पीये दिन-रात्रि चिन्ता करनेके कारण जो शरीर दुबला हो जाता है उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं। इसका उदाहरण लीजिये। गोपियोंकी दशा देखकर ऊधोजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुणस्वरसे राधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं। अन्धे सूरने इस वर्णनमें कमाल कर दिया है, सुनिये—

चित दै सुनौ स्याम प्रबीन।
हरि ! तुम्हारे बिरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाद भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुंदरि, गमन मोतन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी, गिरि धरनि बलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहि आसा लीन॥

यदि इसी एक अद्वितीय पदको विरहकी सभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दें तो सम्पूर्ण विरह-वेदनाके चित्रको खींचनेमें पर्याप्त होगा। विरहिणी राधाकी 'कृशता' 'मलिनता' 'चिन्ता' 'उद्वेग' 'व्याधि' 'मोह' और मृत्युतककी दसों दशाओंका वर्णन इसी एक पदमें कर दिया है। मृत्युको शास्त्रकारोंने साक्षात् मृत्यु न बताकर 'मृत्युतुल्य अवस्था' ही

बताया है। राधिकाजीकी इससे बढ़कर और मृत्युतुल्य अवस्था हो ही क्या सकती है?

मलिनाङ्गता—शरीरकी सुधि न होनेसे शरीरपर मैल जम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, वस्त्र गंदे हो जाते हैं इसे ही 'मलिनता' या मलिनाङ्गता कहते हैं। ऊपरके पदमें राधिकाजीके लिये आया ही है—

तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।

प्रलाप—शोकके आवेशमें अपने-परायेको भूलकर जो पागलोंकी तरह भूली-भूली बातें करने लगते हैं उनका नाम प्रलाप है। सीताजीकी खोजमें लक्ष्मणजीके साथ रामचन्द्रजी वनोंमें फिर रहे हैं। हृदयमे भारी विरह है, अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, वे चौंककर खड़े हो जाते हैं और प्रलाप करने लगते हैं—

कोऽहं ब्रूहि सखे स्वयं स भगवानार्यः स को राघवः
के यूयं बत नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।
कान्तारे किमिहास्महे बत सखे देव्या गतिर्मृग्यते
का देवी जनकाधिराजतनया हा जानकि क्वासि हा॥

भगवान् लक्ष्मणजीसे चौंककर पूछते हैं—'भैया! मैं कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही?'

लक्ष्मण कहते हैं—'प्रभो आप साक्षात् भगवान् हैं।'

फिर पूछते हैं—'कौन भगवान्?'

लक्ष्मण कहते हैं—'रघुमहाराजके वंशमें उत्पन्न होनेवाले श्रीराम।'

फिर चारों ओर देखकर पूछते हैं—'अच्छा तुम कौन हो?'

यह सुनकर अत्यन्त ही अधीर होकर लक्ष्मणजी दीनताके साथ कहते हैं—'हे स्वामिन्! हे दयालो! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं। मैं आपका चरणसेवक लक्ष्मण हूँ।'

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—'तब फिर हम यहाँ जंगलोंमे क्यों घूम रहे हैं ?'

शान्तिके साथ धीरेसे लक्ष्मणजी कहते हैं—'हम देवीकी खोज कर रहे हैं ।'

चौंककर भगवान् पूछते हैं—'कौन देवी ?'

लक्ष्मणजी कहते हैं—'जगद्वन्दिनी, जनकनन्दिनी श्रीसीताजी ।'

बस, सीताजीका नाम सुनते ही 'हा सीते ! हा जानकि ! तू कहाँ चली गयी' कहते-कहते भगवान् मूर्छित हो जाते हैं । इन बेसिर-पैरकी बातोंका ही नाम 'प्रलाप' है ।

व्याधि—शरीरमें किसी कारणसे जो वेदना होती है उसे 'व्याधि' कहते हैं और मनकी वेदनाको 'आधि' कहते हैं । विरहकी 'व्याधि' भी एक दशा है । उदाहरण लीजिये । श्रीराधाजी अपनी प्रिय सखी ललितासे कह रही हैं—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि ।
तीव्रः प्रौढविसूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेपजन्मा ज्वरः ॥

(ललितमाधवनाटक)

हे सखी ! गोकुलपति उस गोपालका विच्छेदज्वर मुझे बड़ी ही पीड़ा दे रहा है । यह पात्रमें तपाये सुवर्णसे भी अधिक उत्तापदायी है । पृथिवीपर जितने जहर हैं उन सबसे भी अधिक क्षोभ पहुँचानेवाला है, वज्रसे भी दुःसह, हृदयमें छिदे हुए शल्यसे भी अधिक कष्टदायी है तथा

तीव्र विसूचिकादि रोगोंसे भी बढ़कर यन्त्रणाएँ पहुँचा रहा है। प्यारी सखी! यह ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको भेदन कर रहा है।' इसीका नाम 'विरहव्याधि' ।

उन्माद—साधारण चेष्टाएँ जब बदल जाती हैं और विरहके आवेशमें जब विरहिणी अटपटी और विचित्र चेष्टाएँ करने लगती है तो उसे ही 'विरहोन्माद' कहते हैं। उदाहरण लीजिये। उद्धवजी मथुरा पहुँचकर श्रीराधिकाजीकी चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती
प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
विषमविषयखेदोद्गारविभ्रान्तचित्ता॥

अर्थात् 'हे कृष्ण! राधिकाजीकी दशा क्या पूछते हो, उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है, बिना बात ही खिल-खिलाकर हँसने लगती है। चेतनावस्थामें हो या अचेतनावस्थामें, तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्गार निकालती है। कभी धूलिमें ही लोट जाती है, कभी थर-थर काँपने ही लगती है, हे मुरारे! मैं क्या बताऊँ, वह विधुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरहखेदसे विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।'

नीचेके पदमें भारतेन्दु बाबूने भी उन्मादिनीका बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, किन्तु इसे 'विरहोन्माद' न कहकर 'प्रेमोन्माद' कहना ही ठीक होगा। सुनिये, साँवरेके सनेहमें सनी हुई एक सखीकी कैसी विचित्र दशा हो गयी है, पद्य पढ़ते-पढ़ते भाव सजीव होकर आँखोंके सामने नृत्य करने लगता है—

भूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी-सी गोपी,
दुखी-सी, रहति कछु नाहीं सुधि देहकी।
मोही-सी, लुभाई-सी, कछु मोदक-सो खायो सदा,
बिसरी-सी रहै नेकु खबर न गेहकी॥
रिसभरी रहै, कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेहकी।
पूछेते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी॥

मोह—अत्यन्त ही वियोगमें अंगोंके शिथिल हो जानेसे जो एक प्रकारकी मूर्छा-सी हो जाती है उसे मोह कहते हैं। यह मृत्युके समीपकी दशा है। इसका चित्र तो हमारे रसिक हरिश्चन्द्रजी ही बड़ी खूबीसे खींच सकते हैं। लीजिये मोहमें मग्न हुई एक विरहिनके साक्षात् दर्शन कीजिये—

थाकी गति अंगनकी, मति परि गई मंद,
सूख झाँझरी-सी ह्वै कै देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज, जित तित लागे दूर जान॥
'हरीचंद' रावरे बिरह जग दुखमयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहू अथान लागे,
आयो प्राननाथ ! अब प्रान लागे मुरझान॥

सचमुच यदि प्राणनाथके पधारनेकी आशा न होती, ये कुम्हिलाये हुए नैन और अथाये हुए बैन कबके पथरा गये होते। मुरझाये हुए प्राण

प्राणनाथकी आशासे ही अटके हुए हैं। मोहकी दशाका इससे उत्तम उदाहरण और कहाँ मिलेगा ?

मृत्यु—मृत्युकी अब हम व्याख्या क्या करें। मृत्यु हो गयी तो झगड़ा मिटा, दिनरात्रिके दुःखसे बचे, किन्तु ये मधुररसके उपासक रागानुयायी भक्त कवि इतनेसे ही विरहिणीका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। मृत्युका वे अर्थ करते हैं 'मृत्युके समान अवस्था हो जाना' इसका दृष्टान्त लीजिये। बंगलाभाषाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददासजीकी अमर वाणीमें ही व्रजवासियोंकी इस दसवीं दशाका दर्शन कीजिये—

माधव ! तुहु यब निरदय भेल।
मिछई अवधि दिन, गणि कत राखब व्रजवधू-जीवन-शेल ॥१॥
कोइ धरनितल, कोइ यमुनाजल कोइ कोइ लुटइ निकुंज ॥२॥
एतदिन विरहे, मरणपथ पेखलु तोहे तिरिवध पुनपुंज ॥३॥
तपत सरोवर, थोरि सलिल जनु आकुल सफरी परान ॥४॥
जीवन मरन, मरण वर जीवन 'गोविंददास' दुख जान ॥५॥

दूती कह रही है—"प्यारे माधव ! भला यह भी कोई अच्छी बात है, तुम इतने निर्दय बन गये ? दुनियाभरके झूठे ? कलकी कह आये थे, अब कल-ही-कल कितने दिन हो गये। इस प्रकार झूठमूठ दिन गिनते-गिनते कबतक उन सबको बहलाते रहेंगे। अब तुम्हें व्रजकी दयनीय दशा क्या सुनाऊँ। वहाँका दृश्य बड़ा करुणोत्पादक है। कोई गोपी तो पृथ्वीपर लोट-पोट हो रही है, कोई यमुनाजीमें ही कूद रही है, कोई-कोई निभृत निकुञ्जोंमें ही लंबी-लंबी साँसें ले रही हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त ही कष्टके साथ रात्रि-दिनको बिता रही हैं, तुम्हारे विरहमें अब वे मृत्युके समीप ही पहुँच चुकी हैं। यदि वे सब मर गयीं तो सैकड़ों स्त्रियोंके

वधका पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा। उनकी दशा ठीक उसी मछलीकी-सी है जो थोड़े जलवाले गड्ढेमें पड़ी हो और सूर्य उस गड्ढेके सब जलको सोख चुका हो, वे जिस प्रकार थोड़ी-सी कीचमें सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तड़फती रहती हैं उसी प्रकार वे तुम्हारे विरहमे तड़फ रही हैं। यह जीते हुए ही मरण है, यही नहीं किन्तु इस जीवनसे तो मरण ही लाख दर्जे अच्छा। गोविन्ददास कहते हैं, उनके दुःखको ऐसा ही समझो।'

नियमानुसार तो यहाँ विरहका अन्त हो जाना चाहिये था, किन्तु वैष्णव कवि मृत्युके बाद भी फिर उसे होशमें लाते हैं और फिर मृत्युसे आगे भी बढ़ते हैं। रागमार्गीय ग्रन्थोंमें इससे आगेके भावोंका वर्णन है।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान (प्रतिक्षणवर्द्धमानं) प्रवर्द्धनशील कहा गया है। अनुराग हृदयमें बढ़ते-बढ़ते जब सीमाके समीपतक पहुँच जाता है तो उसे ही 'भाव' कहते हैं। वैष्णवगण इसी अवस्थाको 'प्रेमका श्रीगणेश' कहते हैं। जब भाव परम सीमातक पहुँचता है तो उसका नाम 'महाभाव' होता है। महाभावके भी 'रूढ़ महाभाव' और 'अधिरूढ़ महाभाव' दो भेद बताये गये हैं। अधिरूढ़ महाभावके भी 'मोदन' और 'मादन' दो रूप कहे हैं। 'मादन' ही 'मोहन' के भावमें परिणत हो जाता है, तब फिर 'दिव्योन्माद' होता है। 'दिव्योन्माद' ही 'प्रेम' या रतिकी पराकाष्ठा या सबसे अन्तिम स्थिति है। इसके उद्‌घूर्णा, चित्रजल्पादि बहुत-से भेद हैं। यह दिव्योन्माद श्रीराधिकाजीके ही शरीरमें प्रकट हुआ था। दिव्योन्मादावस्थामें कैसी दशा होती है, इस बातका अनुमान श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकसे कुछ-कुछ लगाया जा सकता है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥*
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

इस श्लोकमें 'रौति' और 'रोदिति' ये दो क्रियाएँ साथ दी हैं। इससे खूब जोरोंसे ढाढ़ मारकर रोना ही अभिव्यञ्जित होता है। 'रु' धातु शब्द करनेके अर्थमें व्यवहृत होती है। जोरोंसे रोनेके अनन्तर जो एक करुणाजनक 'हा' शब्द अपने-आप ही निकल पड़ता है वही यहाँ 'रौति' क्रियाका अर्थ होगा। इसमें उन्मादकी अवस्थाका वर्णन नहीं है। यह तो 'उन्मादकी-सी अवस्था' का वर्णन है। उन्मादावस्था तो इससे भी विचित्र होती होगी। यह तो सांसारिक उन्मादकी बात हुई, अब दिव्योन्माद तो फिर उन्मादसे भी बढ़कर विचित्र होगा! वह अनुभव-गम्य विषय है। श्रीराधिकाजीको छोड़कर और किसीके शरीरमें यह प्रकटरूपसे देखा अथवा सुना नहीं गया।

भावोंकी चार दशा बतायी हैं—(१) भावोदय, (२) भावसन्धि, (३) भावशावल्य और (४) भावशान्ति।

किसी कारणविशेषसे जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है उसे भावोदय कहते हैं। जैसे सायंकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव

* श्रीकृष्णके श्रवण-कीर्तनका ही जिसने व्रत ले रखा है ऐसा पुरुष अपने प्यारे श्रीकृष्णके नाम-संकीर्तनसे उनमें अनुरक्त एवं विह्वलचित्त होकर संसारी लोगोंकी कुछ भी परवा न करता हुआ कभी तो जोर-जोरसे हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी पागलके समान नाचने लगता है।

हृदयमें उदित हो गया । हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं तो उस अवस्थाका नाम भावसन्धि है। जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटने-पर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है । बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भावशावल्य कहते हैं। जैसे पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयङ्कर दशाका तथा धनको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहोना मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रबन्ध करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ । इसी प्रकार जब इष्ट वस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है उसे 'भावशान्ति' कहते हैं । जैसे रासमे अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था वह शान्त हो गया ।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्या, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध इन सबको व्यभिचारीभाव कहते हैं । इनका वैष्णव शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है ।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय । दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूपमाधुरी आँखोंमें समा जाय, किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय तब सभी बेड़ा पार हो जाय । एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये फिर भाव, महा-भाव, अधिरूढ़भाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो अपने आप उदित होंगी । पानीकी इच्छा होनी चाहिये । ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा त्यों-त्यों तड़फड़ाहट अपने आप ही

बढ़ने लगेगी। उस तड़फड़ाहटको छिपानेके लिये प्रयत्न न करना होगा। किन्तु हृदयमें किसीको स्थान दें तब न। उसने तो कामक्रोधादि चोरोंको स्थान दे रखा है। वहाँ फिर महाराज प्रेमदेव कैसे पधार सकते हैं? सच तो हमारा हृदय तो पत्थरका है। कम्प, रोमाञ्च, अश्रु आदि आठ विकारोंमेंसे एक भी तो हमारे शरीरमें स्वेच्छासे उदित नहीं होता। भगवान् वेदव्यास तो कहते हैं—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

अर्थात् 'उस पुरुषके हृदयको वज्रकी तरह—फौलादकी तरह—समझना चाहिये जिसके नेत्रोंमें हरिनामस्मरणमात्रसे ही जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो जाते हों और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न होता हो।' सचमुच हमारा तो हृदय ऐसा ही है। कैसे करें, क्या करनेसे नेत्रोंमें जल और हृदयमें प्रेमकी विकृति उत्पन्न हो। महाप्रभु चैतन्यदेव भी रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया
वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा
तव नामग्रहणे भविष्यति॥

अर्थात् 'हे नाथ! तुम्हारा नाम ग्रहण करते-करते कब हमारे दोनों नेत्रोंसे जलकी धारा बहने लगेगी। कब हम गद्गद कण्ठसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए पुलकित हो उठेंगे?' वे महाभाग तो अपनी साधको पूरी कर

हृदयमें उदित हो गया । दो भाव जब आकर मिल जाते हैं तो उस अवस्थाका नाम भावसन्धि है। जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटने-पर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भावशावल्य कहते हैं। जैसे पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयङ्कर दशाका तथा पुत्रको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहीन मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रबन्ध करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ। इसी प्रकार प्रिय इष्ट वस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है उसे 'भावशान्ति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण गोपियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध इन सबको व्यभिचारीभाव कहते हैं। इनका वैष्णव शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय। दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूपमाधुरी आँखोंमें समा जाय, किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय तब सभी बेड़ा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये फिर भाव, महा-भाव, अधिरूढ़भाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो अपने आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा त्यों-त्यों तड़फड़ाहट

महाप्रभुका दिव्योन्माद

सिञ्चन् सिञ्चन् नयनपयसा पाण्डुगण्डस्थलान्तं
मुञ्चन् मुञ्चन् प्रतिमुहुरहो दीर्घनिःश्वासजातम्।
उच्चैः क्रन्दन् करुणकरुणोद्गीर्णहाहेतिरावो
गौरः कोऽपि व्रजविरहिणीभावमग्नश्चकास्ति ॥*

(श्रीप्रबोधानन्द)

पाठकोंको सम्भवतया स्मरण होगा, इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि श्रीचैतन्यदेवके शरीरमें प्रेमके सभी भाव क्रमशः धीरे-धीरे ही प्रस्फुटित हुए। यदि सचमुच प्रेमके ये उच्च भाव एक साथ ही उनके शरीरमें उदित हो जाते तो उनका हृदय फट जाता। उनका क्या किसी भी प्राणीका शरीर इन भावोंके वेगको एक साथ सहन नहीं कर सकता। गयामें आपको छोटे-से मुरली बजाते हुए श्याम दीखे, उन्हींके फिर दर्शन पानेकी लालसासे वे रुदन करने लगे। तभीसे धीरे-धीरे उनके भावोंमें वृद्धि होने लगी। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन भावोंमें मधुर ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। पुरीमें प्रभु इसी भावमें विभोर रहते थे। मधुर भावमें राधाभाव सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण रस, सम्पूर्ण भाव और अनुभाव राधाभावमें ही जाकर परिसमाप्त हो

---

* श्रीगौरसुन्दर अपने निरन्तरके नयनजलसे दोनों गण्डस्थलोंको पाण्डुरङ्गके बनाते हुए, प्रतिक्षण दीर्घनिःश्वास छोड़ते हुए और करुणस्वरसे हा! हा! शब्द करके जोरोंसे रुदन करते हुए किसी व्रजविरहिणीके भावमें सदा निमग्न रहने लगे।

गये। अठारह वर्ष नेत्रोंमेंसे इतनी जलधारा बहायी कि कोई मनुष्य इतने रक्तका जल कभी बना ही नहीं सकता। गौरभक्तोंका कहना है कि महाप्रभु गरुडस्तम्भके समीप जगमोहनके इसी ओर जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ नीचे एक छोटा-सा कुण्ड था। महाप्रभु दर्शन करते-करते इतना रोते थे कि उस गड्ढेमें अश्रुजल भर जाता था। एक-दो दिन नहीं, साल-दो-साल नहीं, पूरे अठारह साल इसी प्रकार वे रोते। उन्मादावस्थामें भी उनका श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंका जाना बंद नहीं हुआ। यह काम उनका अन्ततक अक्षुण्णभावसे चलता रहा। वैष्णव भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके ये सभी भाव प्रकट हुए। क्यों न हों, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे। महाप्रभुके उन दिव्यभावोंका वृत्तान्त पाठक अगले प्रकरणोंमें पढ़ेंगे। अन्तमें श्रीललितकिशोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलाते हुए हम इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

जमुना पुलिन कुंज गहवरकी
कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै
मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं
बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम
ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

महाप्रभुका दिव्योन्माद

सिञ्चन् सिञ्चन् नयनपयसा पाण्डुगण्डस्थलान्तं
मुञ्चन् मुञ्चन् प्रतिमुहुरहो दीर्घनिःश्वासजातम् ।
उच्चैः क्रन्दन् करुणकरुणोद्गीर्णहाहेतिरावो
गौरः कोऽपि व्रजविरहिणीभावमग्नश्चकास्ति ॥*

(श्रीप्रबोधानन्द)

पाठकोंको सम्भवतया स्मरण होगा, इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि श्रीचैतन्यदेवके शरीरमें प्रेमके सभी भाव क्रमशः धीरे-धीरे ही प्रस्फुटित हुए। यदि सचमुच प्रेमके ये उच्च भाव एक साथ ही उनके शरीरमें उदित हो जाते तो उनका हृदय फट जाता। उनका क्या किसी भी प्राणीका शरीर इन भावोंके वेगको एक साथ सहन नहीं कर सकता। गयामें आपको छोटे-से मुरली बजाते हुए श्याम दीखे, उन्हींके फिर दर्शन पानेकी लालसासे वे रुदन करने लगे। तभीसे धीरे-धीरे उनके भावोंमें वृद्धि होने लगी। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन भावोंमें मधुर ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। पुरीमें प्रभु इसी भावमें विभोर रहते थे। मधुर भावमें राधाभाव सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण रस, सम्पूर्ण भाव और अनुभाव राधाभावमें ही जाकर परिसमाप्त हो

---

* श्रीगौरसुन्दर अपने निरन्तरके नयनजलसे दोनों गण्डस्थलोंको पाण्डुरङ्ग-के बनाते हुए, प्रतिक्षण दीर्घनिःश्वास छोड़ते हुए और करुणस्वरसे हा! हा! शब्द करके जोरोंसे रुदन करते हुए किसी व्रजविरहिणीके भावमें सदा निमग्न रहने लगे।

जाते हैं, इसलिये अन्तके बारह वर्षोंमें प्रभु अपनेको राधा मानकर ही श्रीकृष्णके विरहमें तड़पते रहे। कविराज गोस्वामी कहते हैं—

> राधिकार भावे प्रभुर सदा अभिमान।
> सेइ भावे आपनाके हय 'राधा' ज्ञान॥
> दिव्योन्माद ऐछे हय, कि इहा विस्मय?
> अधिरूढ़ भावे दिव्योन्माद-प्रलाप हय॥

अर्थात् 'महाप्रभु राधाभावमें भावान्वित होकर उसी भावसे सदा अपनेको 'राधा' ही समझते थे। यदि फिर उनके शरीरमें, 'दिव्योन्माद' प्रकट होता था तो इसमें विस्मय करनेकी ही कौन-सी बात है। अधिरूढ़ भावमें दिव्योन्माद प्रलाप होता ही है।' इसलिये अब आपकी सभी क्रियाएँ उसी विरहिणीकी भाँति होती थीं।

एक दिन स्वप्नमें आप रासलीला देखने लगे। अहा! प्यारेको बहुत दिनोंके पश्चात् आज वृन्दावनमें देखा है। वही सुन्दर अलकावली, वही माधुरी मुसकान, वे ही हाव-भाव-कटाक्ष, उसी प्रकार रासमें थिरकना, सखियोंको गले लगाना, कैसा सुख है! कितना आनन्द है!! ताथेई-ताथेई करके सखियोंके बीचमें श्याम नाच रहे हैं और सैनोंको चलाते हुए वंशी बजा रहे हैं। महाप्रभु भूल गये कि यह स्वप्न है या जाग्रति है। वे तो उस रसमें सराबोर थे। गोविन्दको आश्चर्य हुआ कि 'प्रभु आज इतनी देरतक क्यों सो रहे हैं, रोज तो अरुणोदयमें ही उठ जाते थे, आज तो बहुत दिन भी चढ़ गया है। सम्भव है, नाराज हों, इसलिये जगा दूँ।' यह सोचकर गोविन्द धीरे-धीरे प्रभुके तलवोंको दबाने लगा। प्रभु चौंककर उठ पड़े और 'कृष्ण कहाँ गये?' कहकर जोरोंसे रुदन करने लगे। गोविन्दने कहा—'प्रभो! दर्शनोंका समय हो गया है, नित्यकर्मसे निवृत्त होकर दर्शनोंको चलिये।' इतना

सुनते ही उसी भावमें यन्त्रकी तरह शरीरके स्वभावानुसार नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंको गये।

महाप्रभु गरुडस्तम्भके सहारे घंटों खड़े-खड़े दर्शन करते रहते थे। उनके दोनों नेत्रोंमेंसे जितनी देरतक वे दर्शन करते रहते थे उतनी देरतक जलकी दो धाराएँ बहती रहती थीं। आज प्रभुने जगन्नाथजीके सिंहासनपर उसी मुरलीमनोहरके दर्शन किये। वे उसी प्रकार मुरली बजा-बजाकर प्रभुकी ओर मन्द-मन्द मुसकान कर रहे थे, प्रभु अनिमेष-भावसे उनकी रूपमाधुरीका पान कर रहे थे। इतनेमें ही एक उड़ीसा-प्रान्तकी वृद्धा माई जगन्नाथजीके दर्शन न पानेसे गरुडस्तम्भपर चढ़कर और प्रभुके कन्धेपर पैर रखकर दर्शन करने लगी। पीछे खड़े हुए गोविन्दने उसे ऐसा करनेसे निषेध किया। इसपर प्रभुने कहा—'यह आदिशक्ति महामाया है, इसके दर्शनसुखमें विघ्न मत डालो, इसे यथेष्ट दर्शन करने दो।'

गोविन्दके कहनेपर वह वृद्धा माता जल्दीसे उतरकर प्रभुके पादपद्मोंमें पड़कर पुनः-पुनः प्रणाम करती हुई अपने अपराधके लिये क्षमा-याचना करने लगी। प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'मातेश्वरी! जगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये तुम्हें जैसी विकलता है ऐसी विकलता जगन्नाथजीने मुझे नहीं दी। हा! मेरे जीवनको धिक्कार है। जननी! तुम्हारी ऐसी एकाग्रताको कोटि-कोटि धन्यवाद है। तुमने मेरे कन्धेपर पैर रखा और तुम्हें इसका पता भी नहीं।' इतना कहते-कहते प्रभु फिर रुदन करने लगे। 'भावसन्धि' हो जानेसे स्वप्नका भाव जाता रहा और अब जगन्नाथजीके सिंहासनपर उन्हें सुभद्रा बलरामसहित जगन्नाथजीके दर्शन होने लगे। इससे महाप्रभुको कुरुक्षेत्रका भाव उदित हुआ, जब ग्रहणके स्नानके समय श्रीकृष्णजी अपने परिवारके सहित गोपिकाओंको मिले थे। इससे खिन्न होकर प्रभु अपने वासस्थानपर लौट आये।

अब उनकी दशा परम कातर विरहिणीकी-सी हो गयी। वे उदास मनसे नखोंसे भूमिको कुरेदते हुए विषण्णवदन होकर अश्रु बहाने लगे और अपनेको बार-बार धिक्कारने लगे। इसी प्रकार दिन बीता, शाम हुई, अँधेरा छा गया और रात्रि हो गयी। प्रभुके भावमें कोई परिवर्तन नहीं। वही उन्माद, वही बेकली, वही विरह-वेदना उन्हें रह-रहकर व्यथित करने लगी। राय रामानन्द आये, स्वरूप गोस्वामीने सुन्दर-सुन्दर पद सुनाये, राय महाशयने कथा कही। कुछ भी धीरज न बँधा। 'हाय! श्याम! तुम किधर गये? मुझ दुःखिनी अबलाको मँझधारमें ही छोड़ गये। हाय! मेरे भाग्यको धिक्कार है, जो अपने प्राणवल्लभको पाकर भी मैंने फिर गँवा दिया। अब कहाँ जाऊँ? कैसे करूँ? किससे कहूँ, कोई सुननेवाला भी तो नहीं। हाय! ललिते! तू ही कुछ उपाय बता। ओ बहिन विशाखे! अरी, तू ही मुझे धीरज बँधा। मैना! मर जाऊँगी। प्यारेके बिना मैं प्राण धारण नहीं कर सकती। जोगिन बन जाऊँगी। घर-घर अलख जगाऊँगी, नरसिंहा लेकर बजाऊँगी, तनमें भभूत रमाऊँगी, मैं मारी-मारी फिरूँगी, किसीकी भी न सुनूँगी। या तो प्यारेके साथ जीऊँगी या आत्मघात करके मरूँगी! हाय! निर्दयी! ओ निष्ठुर श्याम! तुम कहाँ चले गये?' बस, इसी प्रकार प्रलाप करने लगे। रामानन्दजी आधी रात्रि होनेपर गम्भीरा मन्दिरमें प्रभुको सुलाकर चले गये। स्वरूप गोस्वामी वहीं गोविन्दके समीप ही पड़ रहे। महाप्रभु जोरोंसे बड़े ही करुणस्वरमें भगवान्‌के इन नामोंका उच्चारण कर रहे थे—

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे! हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

इन नामोंकी सुमधुर गूँज गोविन्द और स्वरूप गोस्वामीके कानोंमें भर गयी। वे इन नामोंको सुनते-सुनते ही सो गये। किन्तु प्रभुकी आँखोंमें नींद कहाँ, उनकी तो प्रायः सभी रातें हा नाथ! हा प्यारे! करते-करते
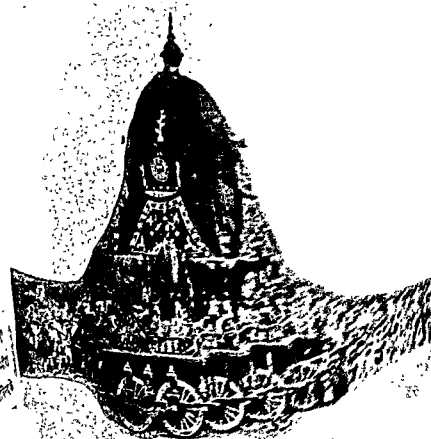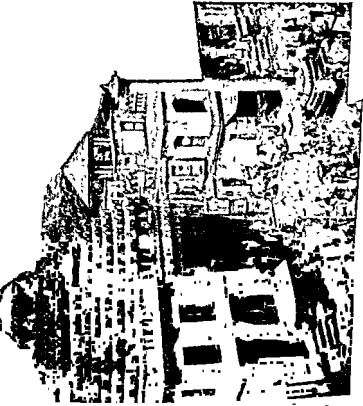
श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरका सिंहद्वार

ही बीतती थीं। थोड़ी देरमें स्वरूप गोस्वामीकी आँखें खुलीं तो उन्हें प्रभुका शब्द सुनायी नहीं दिया। सन्देह होनेसे वे उठे, गम्भीरामें जाकर देखा, प्रभु नहीं हैं। मानो उनके हृदयमें किसीने वज्र मार दिया हो। अस्त-व्यस्तभावसे उन्होंने दीपक जलाया। गोविन्दको जगाया। दोनों ही उस विशाल भवनके कोने-कोनेमें खोज करने लगे, किन्तु प्रभुका कहीं पता ही नहीं। सभी घबड़ाये से इधर-उधर भागने लगे। गोविन्दके साथ वे सीधे मन्दिरकी ओर गये, वहाँ जाकर क्या देखते हैं, सिंहद्वारके समीप एक मैले स्थानमें प्रभु पड़े हैं। उनकी आकृति विचित्र हो गयी थी। उनका शरीर खूब लंबा पड़ा था। हाथ पैर तथा सभी स्थानोंकी सन्धियाँ बिलकुल खुल गयी थीं। मानो किसीने टूटी हड्डियाँ लेकर चर्मके खोलमें भर दी हों। शरीर अस्त-व्यस्त पड़ा था। श्वास-प्रश्वासकी गति एकदम बंद थी। कविराज गोस्वामीने वर्णन किया है—

प्रभु पड़ि आछेन दीर्घ हात पाँच छय।
अचेतन देह नासाय श्वास नाहि वय॥
एक-एक हस्त-पाद-दीर्घ तिन हात।
अस्थि, ग्रंथिभिन्न, चर्म आछे मात्र तात॥
हस्त, पाद, ग्रीवा, कटि, अस्थि-संधि यत।
एक-एक वितस्ति भिन्न हय्या छे तत॥
चर्ममात्र उपरे, संधि आछे दीर्घ हय्या।
दुःखित हेला सबे प्रभुरे देखिया॥
मुखे लाला-फेन प्रभुर उत्तान-नयन।
देखिया सकल भक्तेर देह छाड़े प्रान॥*

* प्रभु पाँच-छः हाथ लंबे पड़े हुए थे, देह अचेतन थी, नासिकासे श्वास नहीं बह रहा था, एक-एक हाथ-पैर तीन-तीन हाथ लंबे हो गये थे,

अर्थ स्पष्ट है, भक्तोंने समझा प्रभुके प्राण शरीर छोड़कर चले गये। तब स्वरूप गोस्वामीने जोरोंसे प्रभुके कानोंमें कृष्णनामकी ध्वनि की। उस सुमधुर और कर्णप्रिय ध्वनिको सुनकर प्रभुको कुछ-कुछ बाह्य ज्ञान-सा होने लगा। वे एक साथ ही चौंककर 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहते हुए उठ बैठे। प्रभुके उठनेपर धीरे-धीरे अस्थियोंकी सन्धियाँ अपने आप जुड़ने लगीं।

श्रीगोस्वामी रघुनाथदासजी वहीं थे, उन्होंने अपनी आँखोंसे प्रभुकी यह दशा देखी होगी। उन्होंने अपने 'चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष' नामक ग्रन्थमें इस घटनाका यों वर्णन किया है—

> क्वचिन्मिश्रावासे व्रजपतिसुतस्योरुविरहा-
> च्छ्लथत्सरसन्धित्वाद्दधदधिकदैर्घ्यं भुजपदोः।
> लुठन् भूमौ काक्वा विकलविकलं गद्गदवचा
> रुदन्छ्रीगौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति॥

किसी समय काशी मिश्रके भवनमें श्रीकृष्णविरह उत्पन्न होनेपर प्रभुकी सन्धियाँ ढीली पड़ जानेसे हाथ-पैर लंबे हो गये थे। पृथिवीपर काकुस्वरसे, गद्गद वचनोंसे जोरोंके साथ रुदन करते-करते लोट-पोट होने लगे, वे ही श्रीगौराङ्ग हमारे हृदयमें उदित होकर हमें मदमें मतवाला बना रहे हैं। उन हृदयमें उदित होकर मतवाले बनानेवाले श्रीगौराङ्गके और मदमत्त बने श्रीरघुनाथदासजीके चरणोंमें हमारा साष्टाङ्ग प्रणाम है।

हड्डियोंकी सभी सन्धियाँ अलग-अलग हो गयी थीं, केवल ऊपर चर्म-ही-चर्म चढ़ा हुआ था। हाथ, पैर, ग्रीवा और कटि हड्डियोंके जोड़ एक-एक वितस्ति अलग-अलग हो गये थे। ऊपर चर्ममात्र था, सन्धि लंबी हो गयी थी। महाप्रभुकी ऐसी दशा देखकर सभी भक्त दुःखी हो गये। उनके मुखसे लार और फेन बह रहा था, नेत्र चढ़े हुए थे। उनकी ऐसी दशा देखकर भक्तोंके प्राण शरीरको परित्याग करके जाने लगे।

गोवर्धनके भ्रमसे चटकगिरिकी ओर गमन

समीपे नीलाद्रेश्चटकगिरिराजस्य कलना-
दये गोष्ठे गोवर्धनगिरिपतिं लोकितुमितः।
व्रजन्नस्मीत्युक्त्वा प्रमद इव धावन्नवधृते
गणैः स्वैर्गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति॥*

(चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष)

महाप्रभुकी अब प्रायः तीन दशाएँ देखी जाती थीं—अन्तर्दशा, अर्धबाह्यदशा और बाह्यदशा। अन्तर्दशामें वे गोपीभावसे या राधा-भावसे श्रीकृष्णके विरहमें, मिलनमें भाँति-भाँतिके प्रलाप किया करते थे। अर्धबाह्यदशामें अपनेको कुछ-कुछ समझने लगते और अब थोड़ी देर पहले जो देख रहे थे, उसे ही अपने अन्तरङ्ग भक्तोंको सुनाते थे और उस भावके बदलनेके कारण पश्चात्ताप प्रकट करते हुए रुदन भी करते

---

* श्रीरघुनाथदास गोस्वामी कहते हैं—नीलाचलके निकट समुद्रकी बालुकाके चटकपर्वतको देखकर गोवर्धनके भ्रमसे 'मैं गिरिराज गोवर्धनके दर्शन करूँगा' ऐसा कहकर महाप्रभु उस ओर दौड़ने लगे। अपने सभी विरक्त वैष्णवों-से वेष्टित वही गौराङ्ग हमारे हृदयमें उदित होकर हमें पागल बना रहे हैं।

अर्थ स्पष्ट है, भक्तोंने समझा प्रभुके प्राण शरीर छोड़कर चले गये। तब स्वरूप गोस्वामीने जोरोंसे प्रभुके कानोंमें कृष्णनामकी ध्वनि की। उस सुमधुर और कर्णप्रिय ध्वनिको सुनकर प्रभुको कुछ-कुछ बाह्य ज्ञान-सा होने लगा। वे एक साथ ही चौंककर 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहते हुए उठ बैठे। प्रभुके उठनेपर धीरे-धीरे अस्थियोंकी सन्धियाँ अपने आप जुड़ने लगीं।

श्रीगोस्वामी रघुनाथदासजी वहीं थे, उन्होंने अपनी आँखोंसे प्रभुकी यह दशा देखी होगी। उन्होंने अपने 'चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष' नामक ग्रन्थमें इस घटनाका यों वर्णन किया है—

> क्वचिन्मिश्रावासे व्रजपतिसुतस्योरुविरहा
> च्छ्लथच्छ्रीसन्धित्वाद्दधदधिकदैर्घ्यं भुजपदोः।
> लुठन् भूमौ काक्वा विकलविकलं गद्गदवचा
> रुदन्श्रीगौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति॥

किसी समय काशी मिश्रके भवनमें श्रीकृष्णविरह उत्पन्न होनेपर प्रभुकी सन्धियाँ ढीली पड़ जानेसे हाथ-पैर लंबे हो गये थे। पृथिवीपर काकुस्वरसे, गद्गद वचनोंसे जोरोंके साथ रुदन करते-करते लोट-पोट होने लगे, वे ही श्रीगौराङ्ग हमारे हृदयमें उदित होकर हमें मदमें मतवाला बना रहे हैं। उन हृदयमें उदित होकर मतवाले बनानेवाले श्रीगौराङ्गके और मदमत्त बने श्रीरघुनाथदासजीके चरणोंमें हमारा साष्टाङ्ग प्रणाम है।

हड्डियोंकी सभी सन्धियाँ अलग-अलग हो गयी थीं, केवल ऊपर चर्म-ही-चर्म चढ़ा हुआ था। हाथ, पैर, ग्रीवा और कटि हड्डियोंके जोड़ एक-एक वितस्ति अलग-अलग हो गये थे। ऊपर चर्ममात्र था, सन्धि लंबी हो गयी थी। महाप्रभुकी ऐसी दशा देखकर सभी भक्त दुःखी हो गये। उनके मुखसे लार और फेन बह रहा था, नेत्र चढ़े हुए थे। उनकी ऐसी दशा देखकर भक्तोंके प्राण शरीरको परित्याग करके जाने लगे।

गोवर्धनके भ्रमसे चटकगिरिकी ओर गमन

समीपे नीलाद्रेश्चटकगिरिराजस्य कलना-
दये गोष्ठे गोवर्धनगिरिपतिं लोकितुमितः।
व्रजन्नस्मीत्युक्त्वा प्रमद इव धावन्नवधृते
गणैः स्वैर्गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥*

(चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष)

महाप्रभुकी अब प्रायः तीन दशाएँ देखी जाती थीं—अन्तर्दशा, अर्धबाह्यदशा और बाह्यदशा। अन्तर्दशामें वे गोपीभावसे या राधाभावसे श्रीकृष्णके विरहमें, मिलनमें भाँति-भाँतिके प्रलाप किया करते थे। अर्धबाह्यदशामें अपनेको कुछ-कुछ समझने लगते और अब थोड़ी देर पहले जो देख रहे थे, उसे ही अपने अन्तरङ्ग भक्तोंको सुनाते थे और उस भावके बदलनेके कारण पश्चात्ताप प्रकट करते हुए रुदन भी करते

---

* श्रीरघुनाथदास गोस्वामी कहते हैं—नीलाचलके निकट समुद्रकी बालुकाके चटकपर्वतको देखकर गोवर्धनके भ्रमसे 'मैं गिरिराज गोवर्धनके दर्शन करूँगा' ऐसा कहकर महाप्रभु उस ओर दौड़ने लगे। अपने सभी विरक्त वैष्णवोंसे वेष्टित वही गौराङ्ग हमारे हृदयमें उदित होकर हमें पागल बना रहे हैं।

थे । बाह्यदशामें खूब अच्छी—भली बातें करते थे और सभी भक्तोंका यथायोग्य सत्कार करते, बड़ोंको प्रणाम करते, छोटोंकी कुशल पूछते । इस प्रकार उनकी तीन ही दशाएँ भक्तोंको देखनेमें आती थीं । तीसरी दशामें तो वे बहुत ही कम कभी-कभी आते थे, नहीं तो सदा अन्तर्दशा या अर्धबाह्यदशामें ही मग्न रहते थे । स्नान, शयन, भोजन और पुरुषोत्तम-दर्शन, ये तो शरीरके स्वभावानुसार स्वतः ही सम्पन्न होते रहते थे । अर्ध-बाह्यदशामें भी इन कामोंमें कोई विघ्न नहीं होता था । प्रायः उनका अधिकांश समय रोनेमें और प्रलापमें ही बीतता था । रोनेके कारण आँखें सदा चढ़ी-सी रहती थीं, निरन्तरकी अश्रुधाराके कारण उनका वक्षःस्थल सदा भीगा ही रहता था । अश्रुओंकी धारा बहनेसे कपोलोंपर कुछ हल्की-सी पपड़ी पड़ गयी थी और उनमें कुछ पीलापन भी आ गया था । रामानन्द राय और स्वरूपदामोदर ही उनके एकमात्र सहारे थे । विरहकी वेदनामें इन्हें ही ललिता और विशाखा समझकर तथा इनके गलेसे लिपट-कर वे अपने दुःखको कुछ शान्त करते थे । स्वरूप गोस्वामीके कोकिल-कूजित कण्ठसे कविता श्रवण करके वे परमानन्द सुखका अनुभव करते थे । उनका विरह उन प्रेममयी पदावलियोंके श्रवणसे जितना ही अधिक बढ़ता था, उतनी ही उन्हें प्रसन्नता होती थी और वे उठकर नृत्य करने लगते थे ।

एक दिन महाप्रभु समुद्रकी ओर जा रहे थे, दूरसे ही उन्हें बालुकाका चटक नामक पहाड़-सा दीखा । बस फिर क्या था, जोरोंकी हुंकार मारते हुए आप उसे ही गोवर्धन समझकर उसी ओर दौड़े । इनकी अद्भुत हुंकारको सुनकर जो भी भक्त जैसे बैठा था, वह वैसे ही इनके पीछे दौड़ा । किन्तु भला, ये किसके हाथ आनेवाले थे ! वायुकी भाँति आवेशके झोंकोंके साथ उड़े चले जा रहे थे । उस समय इनके सम्पूर्ण शरीरमें सभी सात्त्विक विकार उत्पन्न हो गये थे । बड़ी ही विचित्र और

अभूतपूर्व दशा थी। कविराज गोस्वामीने अपनी मार्मिक लेखनीसे बड़ी ही ओजस्विनी भाषामें इनकी दशाका वर्णन किया है। उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

> प्रति रोमकूपे मांस व्रणेर आकार।
> तार उपरे रोमोद्गम कदंब प्रकार॥
> प्रतिरोमे प्रस्वेद पड़े रुधिरेर धार।
> कंठ घर्घर, नाहि वर्णेर उच्चार॥
> दुई नेत्रे भरि, अश्रु बहये अपार।
> समुद्रे मिलिला येन गंगा-यमुना धार॥
> वैवर्ण शंख प्राय, स्वेद हेल अंग।
> तबे कंप उठे येन समुद्रे तरंग॥

अर्थात् 'प्रत्येक रोमकूप मानो मांसका फोड़ा ही बन गया है, उनके ऊपर रोम ऐसे दीखते हैं जैसे कदम्बकी कलियाँ। प्रत्येक रोमकूपसे रक्तकी धारके समान पसीना बह रहा है। कण्ठ घर्घर शब्द कर रहा है, एक भी वर्ण स्पष्ट सुनायी नहीं देता। दोनों नेत्रोंमेंसे अपार अश्रुओंकी दो धाराएँ बह रही हैं मानो गङ्गाजी और यमुनाजी मिलनेके लिये समुद्रकी ओर जा रही हों। वैवर्णके कारण मुख शंखके समान सफेद-सा पड़ गया है। शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया है। शरीरमेंसे कँपकँपी ऐसे उठती है मानो समुद्रमेंसे तरङ्गें उठ रही हों।'

ऐसी दशा होनेपर प्रभु और आगे न बढ़ सके। वे थर-थर काँपते हुए एकदम भूमिपर गिर पड़े। गोविन्द पीछे दौड़ा आ रहा था, उसने प्रभुको इस दशामें पड़ा हुआ देखकर उनके मुखमें जल डाला और अपने वस्त्रसे वायु करने लगा। इतनेमें ही जगदानन्द पण्डित, गदाधर गोस्वामी, रमाई, नदाई तथा स्वरूपदामोदर-आदि भक्त पहुँच गये।

प्रभुकी ऐसी विचित्र दशा देखकर सभीको परम विस्मय हुआ। सभी प्रभुको चारों ओरसे घेरकर उच्चस्वरसे संकीर्तन करने लगे। अब प्रभुको कुछ-कुछ होश आया। वे हुंकार मारकर उठ बैठे और अपने चारों ओर भूले-से, भटके-से, कुछ गँवाये-से इधर-उधर देखने लगे। और स्वरूप-गोस्वामीसे रोते-रोते कहने लगे—'अरे! हमें यहाँ कौन ले आया? गोवर्धन-परसे यहाँ हमें कौन उठा लाया? अहा! वह कैसी दिव्य छटा थी, गोवर्धनकी नीरव निकुञ्जमें नन्दलालने अपनी वही बाँसकी वंशी बजायी। उसकी मीठी ध्वनि सुनकर मैं भी उसी ओर उठ धायी। राधारानी भी अपनी सखी-सहेलियोंके साथ उसी स्थानपर आयीं। अहा! उस साँवरेकी कैसी सुन्दर मन्द मुसकान थी! उसकी हँसीमें जादू था। सभी गोपिकाएँ थकी-सी, जकी-सी, भूली-सी, भटकी-सी, उसीको लक्ष्य करके दौड़ी आ रही थीं। सहसा वह साँवला अपनी सर्वश्रेष्ठ सखी श्रीराधिकाजीको साथ लेकर न जाने किधर चला गया। तब क्या हुआ कुछ पता नहीं। यहाँ मुझे कौन उठा लाया?' इतना कहकर प्रभु बड़े ही जोरोंसे हा कृष्ण! हा प्राणवल्लभ! हा हृदयरमण! कहकर जोरोंसे रुदन करने लगे।

प्रभुकी इस अद्भुत दशाका समाचार सुनकर श्रीपरमानन्दजी पुरी और ब्रह्मानन्दजी भारती भी दौड़े आये। अब प्रभुकी एकदम बाह्य दशा हो गयी थी, अतः उन्होंने श्रद्धापूर्वक इन दोनों पूज्य संन्यासियोंको प्रणाम किया और संकोचके साथ कहने लगे—'आपने क्यों कष्ट किया! व्यर्थ ही इतनी दूर आये।'

पुरी गोस्वामीने हँसकर कहा—'हम भी चले आये कि चलकर तुम्हारा नृत्य ही देखें।'

इतना सुनते ही प्रभु लज्जित-से हो गये। भक्तवृन्द महाप्रभुको साथ लेकर उनके निवासस्थानपर आये

———

श्रीकृष्णान्वेषण

पयोराशेस्तीरे स्फुरदुपवनालीकलनया
मुहुर्वृन्दारण्यस्मरणजनितप्रेमविवशः ।
क्वचित् कृष्णावृत्तिप्रचलरसनो भक्तिरसिकः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥

(स्त० मा० १ चैतन्याष्टक ६)

महाप्रभु एक दिन समुद्रकी ओर स्नान करनेके निमित्त जा रहे थे । दूरसे ही समुद्रतटकी शोभाको देखकर वे मुग्ध हो गये । वे खड़े होकर

---

* समुद्रतटके सुन्दर उपवनको देखकर प्रभुको बार-बार वृन्दावनकी निभृत निकुञ्ज याद आने लगी । उस अनुपम अरण्यके स्मरणमात्रसे ही प्रभु प्रेमविवश हो गये । उन भक्तिरसिक श्रीगौराङ्गकी चञ्चल रसना निरन्तर 'कृष्ण-कृष्ण' इन नामोंकी आवृत्ति करने लगी । ऐसे वे श्रीगौराङ्ग फिर कभी हमारे दृष्टिगोचर होंगे क्या ?

उस अद्भुत छटाको निहारने लगे । अनन्त जलराशिसे पूर्ण सरितापति सागर अपने नीलरङ्गके जलसे अठखेलियाँ करता हुआ कुछ गम्भीर-सा शब्द कर रहा है । समुद्रके किनारेपर खजूर, ताड़, नारियल और अन्य विविध प्रकारके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष अपने लंबे-लंबे पल्लवरूपी हाथोंसे पथिकोंको अपनी ओर बुला-से रहे हैं । वृक्षोंके अङ्गोंका जोरोंसे आलिङ्गन किये हुए उनकी प्राणप्यारी लताएँ धीरे-धीरे अपने कोमल करोंको हिला-हिलाकर संकेतसे उन्हें कुछ समझा रही हैं । नीचे एक प्रकारकी नीली-नीली घास अपने हरे-पीले-लाल तथा भाँति-भाँतिके रंगवाले पुष्पोंसे उस वन्यस्थलीकी शोभाको और भी अधिक बढ़ाये हुए है । मानो श्रीकृष्णकी गोपियोंके साथ होनेवाली रासक्रीड़ाके निमित्त नीले रङ्गके विविध चित्रोंसे चित्रित कालीन बिछ रही हो । महाप्रभु उस मनमोहिनी दिव्य छटाको देखकर आत्मविस्मृत-से बन गये । वे अपनेको प्रत्यक्ष श्रीवृन्दावनमें ही खड़ा हुआ समझने लगे । समुद्रका नीला जल उन्हें यमुनाजल ही दिखायी देने लगा । उस क्रीड़ास्थलीमें सखियोंके साथ श्रीकृष्णको क्रीड़ा करते न देखकर उन्हें रासमें भगवान्‌के अन्तर्धान होनेकी लीला स्मरण हो उठी । बस, फिर क्या था, लगे वृक्षोंसे श्रीकृष्णका पता पूछने । वे अपनेको गोपी समझकर वृक्षोंके समीप जाकर बड़े ही करुणस्वरमें उन्हें सम्बोधन करके पूछने लगे—

हे कदम्ब ! हे निम्ब ! अंब ! क्यों रहे मौन गहि ।
हे बट ! उतँग सुरंग बीर कहु तुम इत उत लहि ॥
हे असोक ! हरि-सोक लोकमनि पियहि बतावहु ।
अहो पनस ! सुभ सरस मरत-तिय अमिय पियावहु ॥

इतना कहकर फिर आप ही-आप कहने लगे—'अरी सखियो ! ये पुरुष जातिके वृक्ष तो उस साँवलेके संगी-साथी ही हैं । पुरुष जाति तो निर्दयी

होती है। ये परायी पीरको क्या जाने। चलो, लताओंसे पूछें। स्त्री-जाति होनेसे उनका चित्त दयामय और कोमल होता है, वे हमें अवश्य ही प्यारेका पता बतावेंगी। सखि! इन लताओंसे तो पूछो। देखें, ये क्या कहती हैं!' यह कहकर आप लताओंको सम्बोधन करके उसी प्रकार अश्रु-विमोचन करते हुए गद्गद कण्ठसे करुणाके साथ पूछने लगे—

> हे मालति! हे जाति! जूथके! सुनि हित दे चित।
> मान-हरन मन-हरन लाल गिरिधरन लखे इत॥
> हे केतकि! इततें कितहूँ चितये पिय रूसे।
> कै नँदनन्दन मन्द मुसुकि तुमरे मन मूसे॥

फिर स्वतः ही कहने लगी—'अरी सखियो! ये तो कुछ भी उत्तर नहीं देतीं। चलो, किसी औरसे ही पूछें।' यह कहकर आगे बढ़ने लगे। आगे फलोंके भारसे नवे हुए बहुत-से वृक्ष दिखायी दिये। उन्हें देखकर कहने लगे—'सखि! ये वृक्ष तो अन्य वृक्षोंकी भाँति निर्दयी नहीं जान पड़ते। देखो, सम्पत्तिशाली होकर भी कितने नम्र हैं। इन्होंने इधरसे जानेवाले प्यारेका अवश्य ही सत्कार किया होगा। क्योंकि जो सम्पत्ति पाकर भी नम्र होते हैं, उन्हें कैसा भी अतिथि क्यों न हो, प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होता है। इनसे प्यारेका पता अवश्य लग जायेगा। हाँ, तो मैं ही पूछती हूँ।' यह कहकर वे वृक्षोंसे कहने लगे—

> हे मुक्ताफल! बेल धरे मुक्ताफल माला।
> देखे नैन-बिसाल मोहना नँदके लाला॥
> हे मन्दार! उदार बीर करबीर! महामति।
> देखे कहुँ बलबीर धीर, मन-हरन धीर-गति॥

फिर चन्दनकी ओर देखकर कहने लगे—'यह बिना ही माँगे सबको शीतलता और सुगन्ध प्रदान करता है, यह हमारे ऊपर अवश्य दया करेगा', इसलिये कहते हैं—

हे चन्दन ! दुखदन्दन ! सबकी जरन जुड़ावहु ।
नँदनन्दन, जगवन्दन, चन्दन ! हमहिं बतावहु ॥

फिर पुष्पोंसे फूली हुई लताओंकी ओर देखकर मानो अपने साथकी सखियोंसे कह रहे हैं—

पूछो री इन लतनि फूलि रहिं फूलनि जोई ।
सुन्दर पियके परस बिना अस फूल न होई ॥

प्यारी सखियो ! अवश्य ही प्यारेने अपनी प्रिय सखीको प्रसन्न करनेके निमित्त इनपरसे फूल तोड़े हैं, तभी तो ये इतनी प्रसन्न हैं। प्यारेके स्पर्श बिना इतनी प्रसन्नता आ ही नहीं सकती। यह कहकर आप उनकी ओर हाथ उठा-उठाकर कहने लगे—

हे चम्पक ! हे कुसुम ! तुम्हें छबि सबसों न्यारी ।
नेंक बताय जु देहु जहाँ हरि कुंज-बिहारी ॥

इतनेमें ही कुछ मृग उधरसे दौड़ते हुए आ निकले। उन्हें देख-देखकर जल्दी कहने लगे—

हे सखि ! हे मृगवधू ! इन्हें किन पूछहु अनुसरि ।
डहडहे इनके नैन अबहिं कहुँ देखे हैं हरि ॥

हे तुलसी ! कल्यानि ! सदा गोविंद-पद-प्यारी ।
क्यों न कहौ तुम नन्द-सुवन सौं बिथा हमारी ॥

इतना कहकर आप जोरोंसे समुद्रकी ओर दौड़ने लगे और समुद्रके जलको यमुना समझकर कहने लगे—

हे जमुना ! सब जानि बूझि तुम हठहिं गहत हो ।
जो जल जग उद्धार ताहि तुम प्रकट बहत हो ॥

थोड़ी देरमें उन्हें मालूम हुआ कि करोड़ों कामदेवोंके सौन्दर्यको फीका बनानेवाले श्रीकृष्ण कदम्बके नीचे खड़े मुरली बजा रहे हैं । उन्हें देखते ही प्रभु उनकी ओर जल्दीसे दौड़े । बीचमें ही मूर्छा आनेसे बेहोश होकर गिर पड़े । उसी समय राय रामानन्द, स्वरूप गोस्वामी, शंकर, गदाधर पण्डित और जगदानन्द आदि वहाँ आ पहुँचे । प्रभु अब अर्धबाह्य दशामें थे । वे आँखें फाड़-फाड़कर चारों ओर कृष्णकी खोज कर रहे थे और स्वरूप गोस्वामीके गलेको पकड़कर रोते-रोते कह रहे थे— 'अभी तो थे, अभी इसी क्षण तो मैंने उनके दर्शन किये थे । इतनी ही देरमें वे मुझे ठगकर कहाँ चले गये । मैं अब प्राण धारण न करूँगी । प्यारेके विरहमें मर जाऊँगी । हाय ! दुर्भाग्य मेरा पीछा नहीं छोड़ता । पाये हुएको भी मैं गँवा बैठी ।' राय रामानन्दजी भाँति-भाँतिकी कथाएँ कहने लगे । स्वरूप गोस्वामीसे प्रभुने कोई पद गानेके लिये कहा । स्वरूप गोस्वामी अपनी उसी पुरानी सुरीली तानसे गीतगोविन्दके इस पदको गाने लगे—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ॥
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते ।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥ १ ॥

उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे ।
अलिकुलसङ्कुलकुसुमसमूहनिराकुलवकुलकलापे॥२॥

इस पदको सुनते ही प्रभुके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग फड़कने लगे । वे सिर हिलाते हुए कहने लगे—'अहा, विहरति हरिरिह सरसवसन्ते !' ठीक है, स्वरूप ! आगे सुनाओ । मेरे कर्णोंमें इस अमृतको चुआ दो । तुम चुप क्यों हो गये ? इस अनुपम रससे मेरे हृदयको भर दो, कानोंमें होकर बहने लगे । और कहो, और कहो । आगे सुनाओ, फिर क्या हुआ । स्वरूप पदको आगे गाने लगे—

मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले ।
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले॥३॥
मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेसरकुसुमविकासे ।
मिलितशिलीमुखपाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे ॥४॥

महाप्रभुने कहा—'अहा धन्य है, रुको मत, आगे बढ़ो । हाँ 'स्मरतूणविलासे' ठीक है, फिर ?' स्वरूप गोस्वामी गाने लगे—

विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे ।
विरहिनिकृन्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकिदन्तुरिताशे॥५॥
माधविकापरिमलललिते नवमालतिजातिसुगन्धौ ।
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ॥६॥

महाप्रभु कहने लगे—'धन्य धन्य, 'अकारणबन्धौ' सचमुच वसन्त युवक-युवतियोंका अकृत्रिम सखा है । आगे कहो, आगे'—स्वरूप उसी स्वरमें मस्त होकर गाने लगे—

स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणमुकुलितपुलकितचूते ।
वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ॥७॥

श्रीजयदेवभणितमिदमुदयतिहरिचरणस्मृतिसारम्।
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम्॥८॥

महाप्रभु इस पदको सुनते ही नृत्य करने लगे। उन्हें फिर आत्म-विस्मृति हो गयी। वे बार-बार स्वरूप गोस्वामीका हाथ पकड़कर उनसे पुनः-पुनः पद-पाठ करनेका आग्रह कर रहे थे। प्रभुकी ऐसी उन्मत्तावस्था-को देखकर सभी विस्मृत-से बन गये। स्वरूप गोस्वामी प्रभुकी ऐसी दशा देखकर पद गाना नहीं चाहते थे, प्रभु उनसे बार-बार आग्रह कर रहे थे। जैसे-तैसे रामानन्दजीने उन्हें बिठाया, उनके ऊपर जल छिड़का और वे अपने वस्त्रसे वायु करने लगे। प्रभुको कुछ-कुछ चेत हुआ। तब राय महाशय सभी भक्तोंके साथ प्रभुको समुद्रतटपर ले गये। वहाँ जाकर सबने प्रभुको स्नान कराया। स्नान कराके सभी भक्त प्रभुको उनके निवासस्थानपर ले गये। अब प्रभुकी कुछ-कुछ बाह्य ज्ञान हुआ। तब सभी भक्त अपने-अपने घरोंको चले गये।

उन्मादावस्थाकी अद्भुत आकृति

अनुद्घाट्य द्वारत्रयमुरु च भित्तित्रयमहो
विलङ्घ्योच्चैः कालिङ्गिकसुरभिमध्ये निपतितः।
तनूद्यत्संकोचात् कमठ इव कृष्णोरुविरहा-
द्विराजन् गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति॥*

(चैत० स्त० कल्पवृक्ष)

महाप्रभुकी दिव्योन्मादावस्था बड़ी ही अद्भुत थी। उन्हें शरीरका ही जब होश नहीं था, तब शरीरको स्वस्थ रखनेकी परवा तो रह ही कैसे सकती है? अपनेको शरीरसे एकदम पृथक् समझकर सभी चेष्टाएँ किया करते थे। उनको हृदयको हिला देनेवाली अपूर्व बातोंको सुनकर ही हम शरीराध्यासियोंके तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या एक शरीरधारी प्राणी इस प्रकार शरीरकी सुधि भुलाकर ऐसे भयङ्कर व्यापार कर सकता है, जिसके श्रवणसे ही भय मालूम पड़ता हो, किन्तु चैतन्यदेवने तो ये सभी चेष्टाएँ की थीं और श्रीरघुनाथदास गोस्वामीने प्रत्यक्ष अपनी आँखोंसे उन्हें देखा था। इतनेपर भी कोई अविश्वास करे तो करता रहे। महाप्रभुकी गम्भीराकी दशा वर्णन करते हुए कविराज गोस्वामी कहते हैं—

गम्भीरा-भितरे रात्रे नाहि निद्रा-लव,
भित्ते मुख-शिर घषे क्षत हय सब।
तीन द्वारे कपाट प्रभु यायेन बाहिरे,
कभू सिंहद्वारे पड़े, कभू सिन्धु नीरे॥

---

* श्रीरघुनाथ गोस्वामी कहते हैं—'बंद हुए तीनों द्वारोंको बिना खोले ही और तीनों परकोटाओंकी भित्तियोंको लाँघकर जो कृष्णविरहमें पागल हुए शरीरको संकोचके कारण उन्मादावस्थामें कछुएकी तरह बनाये हुए कलिङ्गदेशीय गौओंके बीचमें जा पड़े थे, वे ही गौराङ्ग मेरे हृदयमें उदित होकर मुझे मदमत्त बना रहे हैं।'

अर्थात् 'गम्भीरा मन्दिरके भीतर महाप्रभु एक क्षणके लिये भी नहीं सोते थे। कभी मुख और सिरको दीवारोंसे रगड़ने लगते। इस कारण रक्तकी धारा बहने लगती और सम्पूर्ण मुख क्षत-विक्षत हो जाता। कभी द्वारोंके बंद रहनेपर भी बाहर आ जाते, कभी सिंहद्वारपर जाकर पड़ रहते तो कभी समुद्रके जलमें ही कूद पड़ते।' कैसा दिलको दहला देनेवाला हृदयविदारक वर्णन है।

कभी-कभी बड़े ही करुणस्वरमें जोरोंसे रुदन करने लगते, उस करुणाक्रन्दनको सुनकर पत्थर भी पसीजने लगते और वृक्ष भी रोते हुए-से दिखायी पड़ते। वे बड़े ही करुणापूर्ण शब्दोंमें रोते-रोते कहते—

कहाँ मोर प्राणनाथ मुरलीवदन
काहाँ करों काहाँ पाओं व्रजेन्द्रनन्दन।
काहारे कहिब, केवा जाने मोर दुःख,
व्रजेन्द्रनन्दन बिना फाटे मोर बुक॥

'हाय! मेरे प्राणनाथ कहाँ हैं? जिनके मुखपर मनोहर मुरली विराजमान है ऐसे मेरे मनमोहन मुरलीधर कहाँ हैं? अरी, मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मैं अपने प्यारे व्रजेन्द्रनन्दनको कहाँ पा सकूँगा? मैं अपनी विरह-वेदनाको किससे कहूँ? कहूँ भी तो मेरे दुःखको जानेगा ही कौन? परायी पीरको समझनेकी सामर्थ्य ही किसमें है? उन प्यारे व्रजेन्द्रनन्दन प्राणधनके बिना मेरा हृदय फटा जा रहा है।' इस प्रकार वे सदा तड़पते-से रहते। मछली जैसे कीचड़में छटपटाती है, सिर कटनेपर बकरेका सिर जिस प्रकार थोड़ी देरतक इधर-उधर छटपटाता-सा रहता है उसी प्रकार वे दिन-रात छटपटाते रहते। रात्रिमें उनकी विरह-वेदना और भी अधिक बढ़ जाती। उसी वेदनामें वे स्थानको छोड़कर इधर-उधर भाग जाते और जहाँ भी बेहोश होकर गिर पड़ते वहीं पड़े रहते। एक दिनकी एक अद्भुत घटना सुनिये—

नियमानुसार स्वरूप गोस्वामी और राय रामानन्दजी प्रभुको कृष्ण-कथा और विरहके पद सुनाते रहे। सुनाते-सुनाते अर्धरात्रि हो गयी। राय महाशय अपने घर चले गये, स्वरूप गोस्वामी अपनी कुटियामें पड़ रहे।

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि गोविन्दका महाप्रभुके प्रति वात्सल्य-भाव था। उसे प्रभुकी ऐसी दयनीय दशा असह्य थी। जिस प्रकार वृद्धा माता अपने एकमात्र पुत्रको पागल देखकर सदा उसके शोकमें उद्विग्न-सी रहती है, उसी प्रकार गोविन्द सदा उद्विग्न बना रहता। प्रभु कृष्णविरहमें दुखी रहते और गोविन्द प्रभुकी विरहावस्थाके कारण सदा खिन्न-सा बना रहता। वह प्रभुको छोड़कर पलभर भी इधर-उधर नहीं जाता। प्रभुको भीतर सुलाकर आप गम्भीराके दरवाजेपर सोता। हमारे पाठकोंमेंसे बहुतोंको अनुभव होगा कि किसी यन्त्रका इञ्जिन सदा धक्-धक् शब्द करता रहता है। सदा उसके पास रहनेवाले लोगोंके कानमें वह शब्द भर जाता है, फिर सोते-जागतेमें वह शब्द बाधा नहीं पहुँचाता, उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता, उसके इतने भारी कोलाहलमें भी नींद आ जाती है। रात्रिमें सहसा वह बंद हो जाय तो झट उसी समय नींद खुल जाती है और अपने चारों ओर देखकर उस शब्दके बंद होनेकी जिज्ञासा करने लगते हैं। गोविन्दका भी यही हाल था। महाप्रभु रात्रिभर जोरोंसे करुणाके साथ पुकारते रहते—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

ये शब्द गोविन्दके कानोंमें भर गये थे, इसलिये जब भी ये बंद हो जाते तभी उसकी नींद खुल जाती और वह प्रभुकी खोज करने लगता। स्वरूप गोस्वामी और राय महाशयके चले जानेपर प्रभु जोरोंसे रोते-रोते श्रीकृष्णके नामोंका कीर्तन करते रहे। गोविन्द द्वारपर ही सो रहा था। रात्रिमें सहसा उसकी आँखें अपने-आप ही खुल गयीं।

गोविन्द शंकित तो सदा बना ही रहता था, वह जल्दीसे उठकर बैठा हो गया, उसे प्रभुकी आवाज नहीं सुनायी दी। घबड़ाया-सा काँपता हुआ वह गम्भीराके भीतर गया। जल्दीसे चकमक जलाकर उसने दीपकको जलाया। वहाँ उसने जो कुछ देखा, उसे देखकर वह सन्न रह गया। महाप्रभुका बिस्तरा ज्यों-का-त्यों ही पड़ा है, महाप्रभु वहाँ नहीं हैं। गोविन्दको मानो लाखों बिच्छुओंने एक साथ काट लिया हो। उसने जोरोंसे स्वरूप गोस्वामीको आवाज दी। गुसाईं-गुसाईं! प्रलय हो गयी, हाय, मेरा भाग्य फूट गया। गुसाईं! जल्दी दौड़ो। महाप्रभुका कुछ पता नहीं।' गोविन्दके करुणाक्रन्दनको सुनकर स्वरूप गोस्वामी जल्दीसे उतरकर नीचे आये। दोनोंके हाथ काँप रहे थे। काँपते हुए हाथोंसे उन्होंने उस विशाल भवनके कोने-कोनेमें प्रभुको ढूँढ़ा। प्रभुका कुछ पता नहीं। उस किलेके समान भवनके तीन परकोटा थे, उनके तीनों दरवाजे ज्यों-के-त्यों ही बंद थे। अब भक्तोंको आश्चर्य इस बातका हुआ कि प्रभु गये किधरसे। आकाशमेंसे उड़कर तो कहीं चले नहीं गये। सम्भव है यहीं कहीं पड़े हों। घबड़ाया हुआ आदमी पागल ही हो जाता है। बावला गोविन्द सुईकी तरह जमीनमें हाथसे टटोल-टटोलकर प्रभुको ढूँढ़ने लगा। स्वरूप गोस्वामीने कुछ प्रेमकी भर्त्सनाके साथ कहा—'गोविन्द! क्या तू भी पागल हो गया? अरे! महाप्रभु कोई सुई तो हो ही नहीं गये जो इस तरह हाथसे टटोल रहा है, जल्दीसे मशाल जला। समुद्रतटपर चलें, सम्भव है वहीं पड़े होंगे। इस विचारको छोड़ दे कि किवाड़ें बंद होनेपर वे बाहर कैसे गये। कैसे भी गये हों, बाहर ही होंगे।' काँपते-काँपते गोविन्दने जल्दीसे मशालमें तैल डाला, उसे दीपकसे जलाकर वह स्वरूपगोस्वामीके साथ जानेको तैयार हुआ। जगदानन्द, वक्रेश्वर पण्डित, रघुनाथदास आदि सभी भक्त मिलकर प्रभुको खोजने चले। सबसे पहले मन्दिरमें ही भक्त खोजते थे।

इसलिये सिंहद्वारकी ही ओर सब चले। वहाँ उन्होंने बहुत-सी मोटी-मोटी तैलङ्गी गौओंको खड़े देखा। पगला गोविन्द जोरोंसे चिल्ला उठा—'यहीं होंगे।' किसीने उसकी बातपर ध्यान नहीं दिया। भला गौओंके बीचमें प्रभु कहाँ, सब आगे बढ़ने लगे। किन्तु विक्षिप्त गोविन्द गौओंके भीतर घुसकर देखने लगा। वहाँ उसने जो कुछ देखा उसे देखकर वह डर गया। जोरोंसे चिल्ला उठा—'गुसाईं! यहाँ आओ देखो, यह क्या पड़ा है?' सभी उसी ओर दौड़े। कोई भी न जान सका यह गौओंके बीचमें कौन-सा जानवर पड़ा है, गौएँ उसे बड़े ही स्नेहसे चाट रही हैं। गोविन्द मशालको उसके समीप ले गया और जोरोंसे चिल्ला उठा—'महाप्रभु हैं।' भक्तोंने भी ध्यानसे देखा। सचमुच महाप्रभु ही हैं। उस समय उनकी आकृति कैसी बन गयी थी उसे कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

> पेटेर भितर हस्त-पाद कूर्मेर आकार।
> मुखे फेन, पुलकाङ्ग नेत्रे अश्रुधार॥
> अचेतन पड़िया छेन येन कूष्माण्डफल।
> बाहिरे जड़िमा अन्तरे आनन्दविह्वल॥
> गाभि सब चौदिके शुँके प्रभुर श्रीअङ्ग।
> दूर कैले नाहि छाड़े प्रभुर अङ्ग सङ्ग॥

अर्थात् 'महाप्रभुके हाथ-पैर पेटके भीतर घुँसे हुए थे। उनकी आकृति कछुएकी-सी बन गयी थी। मुखसे निरन्तर फेन निकल रहा था, सम्पूर्ण अङ्गके रोम खड़े हुए थे। दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी। वे कूष्माण्ड फलकी भाँति अचेतन पड़े हुए थे। बाहरसे तो जड़ता प्रतीत होती थी, किन्तु भीतर-ही-भीतर वे आनन्दमें विह्वल हो रहे थे। गौएँ चारों ओर खड़ी होकर प्रभुके श्रीअङ्गको सूँघ रही थीं। उन्हें बार-

बार हटाते थे, किन्तु वे प्रभुके अङ्गके सङ्गको छोड़ना ही नहीं चाहती थीं। फिर वहीं आ जाती थीं।'

अस्तु, भक्तोंने मिलकर संकीर्तन किया। कानोंमें जोरोंसे हरिनाम सुनाया, जल छिड़का, वायु की तथा और भी भाँति-भाँतिके उपाय किये, किन्तु प्रभुको चेतना नहीं हुई। तब विवश होकर भक्तवृन्द उन्हें उसी दशामें उठाकर निवासस्थानकी ओर ले चले। वहाँ पहुँचनेपर प्रभुको कुछ-कुछ होश होने लगा। उनके हाथ-पैर धीरे-धीरे पेटमेंसे निकलकर सीधे होने लगे। शरीरमें कुछ-कुछ रक्तका सञ्चार-सा होता हुआ प्रतीत होने लगा। थोड़ी ही देरमें अर्धबाह्य दशामें आकर इधर-उधर देखते हुए जोरोंके साथ क्रन्दन करते हुए कहने लगे—'हाय, हाय! मुझे यहाँ कौन ले आया? मेरा वह मनमोहन श्याम कहाँ चला गया? मैं उसकी मुरलीकी मनोहर तानको सुनकर ही गोपियोंके साथ उधर चली गयी। श्यामने अपने सङ्केतके समय वही मनोहारिणी मुरली बजायी। उस मुरली-रवमें ऐसा आकर्षण था कि सखियोंकी पाँचों इन्द्रियाँ उसी ओर आकर्षित हो गयीं। ठकुरानी राधारानी भी गोपियोंको साथ लेकर सङ्केतके शब्दको सुनकर उसी ओर चल पड़ीं। अहा! उस कुञ्ज-काननमें वह कदम्ब विटपके निकट ललित त्रिभङ्गीगतिसे खड़ा बाँसुरीमें सुर भर रहा था। वह भाग्यवती मुरली उसके अधरामृतपानसे उन्मत्त-सी होकर शब्द कर रही थी। उस शब्दमें कितनी करुणा थी, कैसी मधुरिमा थी, कितना आकर्षण था, कितनी मादकता, मोहकता, प्रवीणता, पटुता, प्रगल्भता और परवशता थी। उसी शब्दमें बावली बनी मैं उसी ओर निहारने लगी। वह छिछोरा मेरी ओर देखकर हँस रहा था।' फिर चौंककर कहने लगे—'स्वरूप! मैं कहाँ हूँ? मैं कौन हूँ? मुझे यहाँ क्यों ले आये? अभी-अभी तो मैं वृन्दावनमें था। यहाँ कहाँ?'

प्रभुकी ऐसी दशा देखकर स्वरूप गोस्वामी श्रीमद्भागवतके उसी प्रसङ्गके श्लोकोंको बोलने लगे। उनके श्रवणमात्रसे ही प्रभुकी उन्मादावस्था फिर ज्यों-की-त्यों हो गयी। वे बार-बार स्वरूप गोस्वामीसे कहते—'हाँ सुनाओ, ठीक है, वाह-वाह, सचमुच, हाँ यही तो है, इसीका नाम तो अनुराग है।' ऐसा कहते-कहते वे स्वयं ही श्लोककी व्याख्या करने लगते। फिर स्वयं भी बड़े करुणस्वरमें श्लोक बोलने लगते—

प्रेमच्छेदरुजोऽवगच्छति हरिर्नायं न च प्रेम वा
स्थानास्थानमवैति नापि मदनो जानाति नो दुर्बलाः।
अन्यो वेद न चान्यदुःखमखिलं नो जीवनं वाश्रवं
द्वित्राण्येव दिनानि यौवनमिदं हा हा विधेः का गतिः॥*

इस श्लोककी फिर आप ही व्याख्या करते-करते कहने लगे—'हाय! दुःख भी कितना असह्य है, यह प्रेम भी कैसा निर्दयी है। मदन हमारे ऊपर दया नहीं करता। कितनी बेकली है, कैसी विवशता है, कोई मनकी बातको क्या जाने। अपने दुःखका आप ही अनुभव हो सकता है। अपने पास तो कोई प्यारेको रिझानेकी वस्तु नहीं। मान लें

* ये श्रीकृष्ण न तो हमारे प्रेमको ही जानते हैं और न उसके विच्छेदसे होनेवाली पीड़ाका ही अनुभव करते हैं। इधर, यह कामदेव स्थानास्थानका विचार नहीं करता, इसे हमारी दुर्बलताका ज्ञान नहीं है [हमपर प्रहार करता ही जा रहा है]। किसीसे कहें भी तो क्या कहें, कोई परायी पीरका अनुभव भी तो नहीं करता। हमारे जीवन और कष्टकी ओर भी तो ध्यान नहीं देता। यह यौवन भी अधिक टिकाऊ नहीं है; दो-तीन दिनमें इसका भी अन्त है। हाय! विधाताकी कैसी वाम गति है!

वह हमारे नवयौवनके सौन्दर्यसे मुग्ध होकर हमें प्यार करने लगेगा, सो यह यौवन भी तो स्थायी नहीं। जलके बुद्बुदोंके समान यह भी तो क्षणभङ्गुर है। दो-चार दिनोंमें फिर अँधेरा-ही-अँधेरा है। हा! विधाताकी गति कैसी वाम है! यह इतना अपार दुःख हम अबलाओंके ही भाग्यमें क्यों लिख दिया? हम एक तो वैसे ही अबला कही जाती हैं, रहे-सहे बलको यह विरहकूकर खा गया। अब दुर्बलातिदुर्बल होकर हम किस प्रकार इस असह्य दुःखको सहन कर सकें।' इस प्रकार प्रभु अनेक श्लोकोंकी व्याख्या करने लगे। विरहके वेगके कारण आप-से-आप ही उनके मुखसे विरहसम्बन्धी ही श्लोक निकल रहे थे और स्वयं उनकी व्याख्या भी करते जाते थे। इस प्रकार व्याख्या करते-करते जोरोंसे रुदन करते-करते फिर उसी प्रकार श्रीकृष्णके विरहमें उन्मत्त-से होकर करुण-कण्ठसे प्रार्थना करने लगे—

हा हा कृष्ण प्राणधन, हा हा पद्मलोचन।
हा हा दिव्य सद्गुण-सागर!
हा हा श्यामसुन्दर, हा हा पीताम्बर-धर।
हा हा रासविलास-नागर!
काहाँ गेले तोमा पाई, तुमि कह, ताहाँ याई।
एत कहि चलिला धाय्या!

हे कृष्ण! हा प्राणधन! हा पद्मलोचन! ओ दिव्य सद्गुणोंके सागर! ओ श्यामसुन्दर! प्यारे, पीताम्बर-धर! ओ रासविलास-नागर! कहाँ जानेसे तुम्हें पा सकूँगा? तुम कहो वहीं जा सकता हूँ। इतना कहते-कहते प्रभु फिर उठकर बाहरकी ओर दौड़ने लगे। तब स्वरूप गोस्वामीने उन्हें पकड़कर बिठाया। फिर आप अचेतन हो गये। होशमें आनेपर स्वरूप गोस्वामीसे कुछ गानेको कहा। स्वरूप गोस्वामी अपनी उसी सुरीली तानसे गीतगोविन्दके सुन्दर-सुन्दर पद गाने लगे।

लोकातीत दिव्योन्माद

स्वकीयस्य प्राणार्बुदसदृशगोष्ठस्य विरहात्
प्रलापानुन्मादात् सततमतिकुर्वन् विकलधीः ।
दधद्भित्तौ शश्वद्वदनविधुघर्षेण रुधिरं
क्षतोत्थं गौराङ्गो हृदय उदयन्मां मदयति ॥*

(चैत० स्त० कल्पवृक्ष)

महाप्रभुकी दिव्योन्मादकी अवस्थाका वर्णन करना कठिन तो है ही, साथ ही बड़ा ही हृदयविदारक है । हम वज्रजैसे हृदय रखनेवालोंकी बात छोड़ दीजिये, किन्तु जो सहृदय हैं, भावुक हैं, सरस हैं, परपीड़ानुभवी हैं, मधुर रतिके उपासक हैं, कोमल हृदयके हैं, जिनका हृदय परपीड़ाश्रवणसे ही भर आता है, जिनका अन्तःकरण अत्यन्त लुजलुजा—शीघ्र ही द्रवित हो जानेवाला है, वे तो इन प्रकरणोंको पढ़ भी नहीं सकते । सचमुच इन अपठनीय अध्यायोंका लिखना हमारे ही भाग्यमें बदा था । क्या करें, विवश हैं हमारे हाथमें बलपूर्वक यह लौहकी लेखनी दे दी गयी है । इतना ग्रन्थ लिखनेपर भी यह डाकिनी अभी ज्यों-की-त्यों ही बनी है, घिसती भी नहीं । न जाने किस यन्त्रालयमें यह खास तौरसे हमारे ही लिये बनायी गयी थी । हाय ! जिसके

---

* जो अपने असंख्य प्राणोंके समान प्रिय हैं, उस व्रजके विरहमें विकल हो उन्मादवश जो निरन्तर अधिक प्रलाप कर रहे हैं तथा जो अपने चन्द्रमाके समान सुन्दर श्रीमुखको दीवारमें घिसनेके कारण बहे हुए रक्तसे रञ्जित कर रहे हैं, ऐसे श्रीगौराङ्गदेव हमारे हृदयमें उदित होकर हमें मदमत्त बना रहे हैं ।

मुखकमलके वर्णनमें इस लेखनीने स्थान-स्थानपर अपना कलाकौशल दिखाया है, आज उसी मुखकमलके संघर्षणकी करुण-कहानी इसे लिखनी पड़ेगी। जिस श्रीमुखकी शोभाको स्मरण करके लेखनी अपने लौहपनेको भूल जाती थी, वही अब अपने काले मुँहसे उस रक्तसे रञ्जित मुखका वर्णन करेगी। इस लेखनीका मुख ही काला नहीं है। किन्तु इसके पेटमें भी काली स्याही भर रही है और स्वयं भी काली ही है। इसे मोह कहाँ, ममता कैसी, रुकना तो सीखी ही नहीं। लेखनी! तेरे इस क्रूर कर्मको बार-बार धिक्कार है।

महाप्रभुकी विरह-वेदना अब अधिकाधिक बढ़ती ही जाती थी। सदा राधाभावमें स्थित होकर आप प्रलाप करते रहते थे। कृष्णको कहाँ पाऊँ, श्याम कहाँ मिलेंगे, यही उनकी टेक थी। यही उनका अहर्निशका व्यापार था। एक दिन राधाभावमें ही आपको श्रीकृष्णके मथुरागमनकी स्फूर्ति हो आयी, आप उसी समय बड़े ही करुणस्वरमें राधाजीके समान इस श्लोकको रोते-रोते गाने लगे—

क नन्दकुलचन्द्रमाः क शिखिचन्द्रिकालङ्कृतः
क मन्दमुरलीरवः क नु सुरेन्द्रनीलद्युतिः।
क रासरसताण्डवी क सखि जीवरक्षौषधि-
र्निधिर्मम सुहृत्तमः क बत हन्त हा धिग्विधिम्॥ *

---

* प्यारी सखि! वह नन्दकुलका प्रकाशक चन्द्र कहाँ है? प्यारी! वह मयूरकी पुच्छोंका मुकुट पहननेवाला वनमाली कहाँ चला गया? अहा! वह मुरलीकी मन्द-मन्द मनोहर ध्वनि सुनानेवाला अब कहाँ गया? वह इन्द्रनील मणिके समान कमनीय कान्तिमान् प्यारा कहाँ है? रासमण्डलमें थिरक-थिरककर नृत्य करनेवाला वह नटराज कहाँ चला गया? सखि! हमारे जीवनकी एकमात्र अमोघ ओषधिस्वरूप वह छलिया कहाँ है? हमारे प्राणोंसे भी प्यारा वह सुहृद् किस देशमें चला गया? हमारी अमूल्य निधिको कौन लूट ले गया? हा विधाता! तुझे बार-बार धिक्कार है।

इस प्रकार विधाताको बार-बार धिक्कार देते हुए प्रभु उसी भावावेशमें श्रीमद्भागवतके श्लोकोंको पढ़ने लगे। इस प्रकार आधीराततक आप अश्रु बहाते हुए गोपियोंके विरहसम्बन्धी श्लोकोंकी ही व्याख्या करते रहे।

अर्धरात्रि बीत जानेपर नियमानुसार स्वरूप गोस्वामीने प्रभुको गम्भीराके भीतर सुलाया और राय रामानन्द अपने घरको चले गये। महाप्रभु उसी प्रकार जोरोंसे चिल्ला-चिल्लाकर नाम-संकीर्तन करते रहे। आज प्रभुकी वेदना पराकाष्ठाको पहुँच गयी। उनके प्राण छटपटाने लगे। अङ्ग किसी प्यारेके आलिङ्गनके लिये छटपटाने लगे। मुख किसीके मुखको अपने ऊपर देखनेके लिये हिलने लगा। ओष्ठ किसीके मधुमय, प्रेममय शीतलतापूर्ण अधरोंके स्पर्शके लिये स्वतः ही काँपने लगे। प्रभु अपने आवेशको रोकनेमें एकदम असमर्थ हो गये। वे जोरोंसे अपने अति कोमल सुन्दर श्रीमुखको दीवारमे घिसने लगे। दीवारकी रगड़के कारण उसमेंसे रक्त बह चला। प्रभुका गला रुँधा हुआ था, श्वास कष्टसे बाहर निकलता था। कण्ठ घर-घर शब्द कर रहा था। रक्तके बहनेसे वह स्थान रक्तवर्णका हो गया। वे लंबी-लंबी साँस लेकर गों-गों ऐसा शब्द कर रहे थे। उस दिन स्वरूप गोस्वामीको भी रात्रिभर नींद नहीं आयी। उन्होंने प्रभुका दबा हुआ 'गों गों' शब्द सुना। अब इस बातको कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

विरहे व्याकुल प्रभुर उद्वेग उठिला।
गम्भीरा-भितरे मुख घर्षिते लागिला॥
मुखे, गण्डे, नाके, क्षत हइल अपार।
भावावेशे ना जानेन प्रभु पड़े रक्तधार॥

सर्वरात्रि करेन भावे मुखसंघर्षण ।
गों-गों शब्द करेन, स्वरूप सुनिल तखन ॥*

गों-गों शब्द सुनकर स्वरूप गोस्वामी उसी क्षण उठकर प्रभुके पास आये । उन्होंने दीपक जलाकर जो देखा उसे देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये । महाप्रभु अपने मुखको दीवारमें घिस रहे हैं । दीवार लाल हो गयी है, नीचे रुधिर पड़ा है । गेरुए रंगके वस्त्र रक्तमें सराबोर हो रहे हैं । प्रभुकी दोनों आँखें चढ़ी हुई हैं । वे बार-बार ओरोंसे मुखको उसी प्रकार रगड़ रहे हैं । नाक छिल गयी है । उनकी दशा विचित्र थी—

रोमकूपे रक्तोद्गम दंत सब हाले ।
क्षणे अंग क्षीण हय क्षणे अंग फूले ॥

जिस प्रकार सेही नामके जानवरके शरीरपर लंबे-लंबे काँटे होते हैं और क्रोधमें वे एकदम खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रभुके अङ्गके सम्पूर्ण रोम सीधे खड़े हुए थे, उनमेंसे रक्तकी धारा बह रही थी । दाँत हिल रहे थे और कड़-कड़ शब्द कर रहे थे । अङ्ग कभी तो फूल जाता था और कभी क्षीण हो जाता था । स्वरूप गोस्वामीने इन्हें पकड़कर उस कर्मसे रोका । तब प्रभुको कुछ बाह्य ज्ञान हुआ । स्वरूप गोस्वामीने दुःखित चित्तसे पूछा—'प्रभो ! यह आप क्या कर रहे हैं ! मुँहको क्यों घिस रहे हैं ?'

---

* महाप्रभु जब विरहमें अत्यन्त ही व्याकुल हुए तो उन्हें उद्वेग उठा । गम्भीराके भीतर अपने मुखको घिसने लगे । मुख, कपोल, नाक— ये सभी घायल हो गये, भावावेशमें प्रभुको ज्ञान नहीं पड़ा । मुखसे रक्तकी धारा बह रही थी, सम्पूर्ण रात्रि भावमें विभोर होकर मुखको घिसते रहे । गों-गों शब्द करते थे । स्वरूप गोस्वामीने उनका गों-गों शब्द सुना ।

महाप्रभु उनके प्रश्नको सुनकर स्वस्थ हुए और कहने लगे—'स्वरूप! मैं तो एकदम पागल हो गया हूँ। न जाने क्यों रात्रि मेरे लिये अत्यन्त ही दुःखदायी हो जाती है। मेरी वेदना रात्रिमें अत्यधिक बढ़ जाती है। मैं विकल होकर बाहर निकलना चाहता था। अँधेरेमें दरवाजा ही नहीं मिला। इसीलिये दीवारमें दरवाजा करनेके निमित्त मुँह घिसने लगा। यह रक्त निकला या घाव हो गया, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं।'

इस बातसे स्वरूपदामोदरको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने अपनी चिन्ता भक्तोंपर प्रकट की, उनमेंसे शङ्करजीने कहा—'यदि प्रभुको आपत्ति न हो, तो मैं उनके चरणोंको हृदयपर रखकर सदा शयन किया करूँगा, इससे वे कभी ऐसा काम करेंगे भी तो मैं रोक दूँगा।' उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की, प्रभुने कोई आपत्ति नहीं की। इसलिये उस दिनसे शङ्करजी सदा प्रभुके पादपद्मोंको अपने वक्षःस्थलपर धारण करके सोया करते थे। प्रभु इधर-से-उधर करवट भी लेते, तभी उनकी आँखें खुल जातीं और वे सचेष्ट हो जाते। वे रात्रि-रात्रिभर जागकर प्रभुके चरणोंको दबाते रहते थे। इस मन्त्रसे प्रभु अब बाहर नहीं भाग सकते थे। उसी दिनसे शङ्करजीका नाम पड़ गया 'प्रभुपादोपाधान'। सचमुच वे प्रभुके पैरोंके *तकिया ही* थे। उन तकिया लगानेवाले महाराजके, और तकिया बने हुए सेवकके चरणोंमें हमारा बार-बार प्रणाम है।

६

शारदीय निशीथमें दिव्य गन्धका अनुसरण

कुरङ्गमदजिद्वपुःपरिमलोर्मिकृष्टाङ्गनः ।
स्वकाङ्गनलिनाष्टके शशियुताब्जगन्धप्रथः ॥
मदेन्दुवरचन्दनागुरुसुगन्धिचर्चार्चितः ।
स मे मदनमोहनः सखि तनोति नासास्पृहाम् ॥ *

(गोविन्दलीला० ८ । ६)

विरहव्यथासे व्यथित व्यक्तियोंके लिये प्रकृतिके यावत् सौन्दर्य-पूर्ण सामान हैं वे ही अत्यन्त दुःखदायी प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण ऋतुओंमें श्रेष्ठ वसन्तऋतु, शुक्लपक्षका प्रवृद्ध चन्द्र, शीतल मन्द सुगन्धित मलय मारुत, मेघकी घनघोर गर्जना, अशोक, तमाल, कमल, मृणाल आदि शोक-नाशक और शीतलता प्रदान करनेवाले वृक्ष तथा उनके नवपल्लव, मधुकर, हंस, चकोर, कृष्णसार, सारङ्ग, मयूर, कोकिल, शुक, शारिका आदि सुहावने सुन्दर और सुमधुर वचन बोलनेवाले पक्षी ये सभी विरहकी अग्निको और अधिक बढ़ाते हैं। विरहिणीको सुख कहाँ, आनन्द कैसा? प्रकृतिका कोई भी प्रिय पदार्थ उसे प्रसन्नता प्रदान नहीं कर सकता।

---

* श्रीराधिकाजी अपनी सखी विशाखाजीसे कह रही हैं—

सखि ! जो मृगमदको भी लजानेवाली अपने शरीरकी सुगन्धसे गोपाङ्गनाओंको अपनी ओर खींच रहे हैं, जिनके कमलवत् आठों अङ्गोंमें कर्पूरयुक्त पद्मगन्ध सुवासित हो रही है; जिनका सम्पूर्ण शरीर कस्तूरी, कर्पूर, चन्दन और अगरसे चर्चित है वे मदनमोहन मेरी नासिकाकी तृष्णाको और बढ़ा रहे हैं। अर्थात् उस वनमालीके वपुकी दिव्य गन्ध मुझे हठात् अपनी ओर खींच रही है।

सभी उसे रुलाते हैं, सभीको विरहिणीके खिझानेमें ही आनन्द आता है। पपीहा पी-पी कहकर उसके कलेजेमें कसक पैदा करता है, वसन्त उसे उन्मादी बनाता है। फूले हुए वृक्ष उसकी हँसी करते हैं और मलयाचलका मन्दवाही मारुत उसकी मीठी-मीठी चुटकियाँ लेता है। मानो ये सब प्रपञ्च विधाताने विरहिणीको ही खिझानेके लिये रचे हों। बेचारी सबकी सहती है, दिन-रात रोती है और इन्हीं सबसे अपने प्रियतमका पता पूछती है, कैसी बेबसी है। क्यों, है न ? सहृदय पाठक अनुभव तो करते ही होंगे।

वैशाखी पूर्णिमा थी, निशानाथ अपनी सहचरी निशादेवीके साथ खिलखिलाकर हँस रहे थे। उनका सुमधुर श्वेत हास्यका प्रकाश दिशा-विदिशाओंमें व्याप्त था। प्रकृति इन पति-पत्नियोंके सम्मेलनको दूरसे देखकर मन्द-मन्द मुसकरा रही थी। पवन धीरे-धीरे पैरोंकी आहट बचाकर चल रहा था। शोभा सजीव होकर प्रकृतिका आलिङ्गन कर रही थी। समुद्रतटके जगन्नाथवल्लभ नामक उद्यानमे प्रभु विरहिणीकी अवस्थामें विचरण कर रहे थे। स्वरूपदामोदर, राय रामानन्द प्रभृति अन्तरङ्ग भक्त उनके साथ थे। महाप्रभुके दोनों नेत्रोंसे निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। मुख कुछ-कुछ म्लान था। चन्द्रमाकी चमकीली किरणें उनके श्रीमुखका धीरे-धीरे चुम्बन कर रही थीं। अनजानके उस चुम्बनसुखसे उनके अरुण रंगके अधर श्वेतवर्णके प्रकाशके साथ और भी अधिक द्युतिमान् होकर शोभाकी भी शोभाको बढ़ा रहे थे। महाप्रभुका वही उन्माद, वही बेकली, वही छटपटाहट, उसी प्रकार रोना, उसी तरहकी प्रार्थना करना था, उसी प्रकार घूम घूमकर वे अपने प्रियतमकी खोज कर रहे थे। प्यारेको खोजते-खोजते वे अत्यन्त ही करुणस्वरसे इस श्लोकको पढ़ते जाते थे—

तच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि
मच्चापलञ्च तव वा मम वाधिगम्यम्।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासि
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम् ॥
(कृष्णकर्णामृत श्लोक ३२)

हे प्यारे, मुरलीविहारी! तुम्हारा शैशवावस्थाका मनोहर माधुर्य त्रिभुवनविख्यात है। संसारमें उसकी मधुरिमा सर्वत्र व्याप्त है, उससे प्यारी वस्तु कोई विश्वमें है ही नहीं और मेरी चपलता, चञ्चलता, उच्छृङ्खलता तुमपर विदित ही है। तुम ही मेरी चपलतासे पूर्णरीत्या परिचित हो। बस, मेरे और तुम्हारे सिवा तीसरा कोई उसे नहीं जानता। प्यारे! बस, एक ही अभिलाषा है, इसी अभिलाषासे अभीतक इन प्राणोंको धारण किये हुए हूँ। वह यह कि जिस मनोहर मुखकमलको देखकर व्रजवधू भूली-सी, भटकी-सी, सर्वस्व गँवाई-सी बन जाती हैं, उसी कमलमुखको अपनी दोनों आँखें फाड़-फाड़कर एकान्तमें देखना चाहती हूँ। हृदयरमण! क्या कभी देख सकूँगी? प्राणवल्लभ! क्या कभी ऐसा सुयोग प्राप्त हो सकेगा? बस, इसी प्रकार प्रेम प्रलाप करते हुए प्रभु जगन्नाथवल्लभ नामक उद्यानमें परिभ्रमण कर रहे थे। वे प्रत्येक वृक्षको आलिङ्गन करते, उससे अपने प्यारेका पता पूछते और फिर आगे बढ़ जाते। प्रेमसे लताओंकी भाँति वृक्षोंसे लिपट जाते, कभी मूर्छित होकर गिर पड़ते, कभी फिर उठकर उसी ओर दौड़ने लगते। उसी समय वे क्या देखते हैं कि अशोकके वृक्षके नीचे खड़े होकर वे ही मुरलीमनोहर अपनी मदमाती मुरलीको मन्द-मन्द मुसकानके साथ बजा रहे हैं। वे मुरलीमें ही कोई सुन्दर-सा मनोहारी गीत गा रहे हैं, न उनके साथ कोई सखा है, न पासमें कोई गोपिका ही। अकेले ही वे अपने स्वाभाविक टेढ़ेपनसे ललित त्रिभङ्गी गतिसे खड़े हैं।

बाँसकी वह पूर्वजन्मकी परम तपस्विनी मुरली अरुण रंगके अधरोंका धीरे-धीरे अमृत पान कर रही है। महाप्रभु उस मनोहर मूर्तिको देखकर उसीकी ओर दौड़े। प्यारेको आलिङ्गनदान देनेके लिये वे शीघ्रतासे बढ़े। हा सर्वनाश! प्रलय हो गयी! प्यारा तो गायब! अब उसका कुछ भी पता नहीं। महाप्रभु वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े!

थोड़ी देरमें वे इधर-उधर सूँ-सूँ करके कुछ सूँघने लगे। उन्हें श्रीकृष्णके शरीरकी दिव्य गन्ध आ रही थी। गन्ध तो आ रही थी, किन्तु श्रीकृष्ण दिखायी नहीं देते थे। इसीलिये उसी गन्धके सहारे-सहारे वे श्रीकृष्णकी खोज करनेके लिये फिर चल पड़े। अहा! प्यारेके शरीरकी दिव्य गन्ध कैसी मनोहारिणी होगी, इसे तो कोई रतिसुखकी प्रवीणा नायिका ही समझ सकती है, हम अरसिकोंका उसमें प्रवेश कहाँ! हाय रे! प्यारेके शरीरकी दिव्य गन्ध घोर मादकता पैदा करनेवाली है, जैसे मद्यपीकी आँखोंसे ओझल बहुत ही उत्तम गन्धयुक्त सुरा रक्खी हो, किन्तु वह उसे दीखती न हो। जिस प्रकार वह उस आसवके लिये विकल होकर तड़पता है, उसी प्रकार प्रभु उस गन्धको सूँघकर तड़प रहे थे। उस गन्धकी उन्मादताका वर्णन कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

सेहे गन्ध वश नासा, सदा करे गन्धेर आशा।
कभू पाय कभू ना पाय॥
पाइले पिया पेट भरे, पिइ पिइ तबू करे।
ना पाइल तृष्णाय मरिजाय॥
मदन मोहन नाट, पसारि चाँदेर हाट।
जगन्नारी-ग्राहक लोभाय॥
बिना-मूल्ये देय गन्ध, गन्ध दिया करे अन्ध।
घर याइते पथ नाहि पाय॥

एइ मत गौरहरि, गन्धे कैल मन चुरि ।
भृङ्ग प्राय–इति उति धाय ॥
जाय वृक्ष लता पाशे, कृष्ण–स्फुरे सेइ आशे ।
गन्ध न पाय, गन्धमात्र पाय ॥

श्रीकृष्णके अङ्गकी उस दिव्य गन्धके वशमें नासिका हो गयी है, वह सदा उसी गन्धकी आशा करती रहती है । कभी तो उस गन्धको पा जाती है और कभी नहीं भी पाती है । जब पा लेती है तब पेट भरकर खूब पीती है और फिर भी 'पीऊँ और पीऊँ' इसी प्रकार कहती रहती है । नहीं पाती है तो प्याससे मर जाती है । इस नटवर मदनमोहनने रूपकी हाट लगा रखी है । ग्राहकरूपी जो जगत्‌की स्त्रियाँ हैं उन्हें लुभाता है । यह ऐसा विचित्र व्यापारी है कि बिना ही मूल्य लिये हुए वैसे ही उस दिव्य गन्धको दे देता है और गन्धको देकर अन्धा बना देता है । जिससे वे बेचारी स्त्रियाँ अपने घरका रास्ता भूल जाती हैं । इस प्रकार गन्धके द्वारा जिनका मन चुराया गया है, ऐसे गौरहरि भ्रमरकी भाँति इधर-उधर दौड़ रहे थे । वे वृक्ष और लताओंके समीप जाते हैं कि कहीं श्रीकृष्ण मिल जायँ किन्तु वहाँ श्रीकृष्ण नहीं मिलते, केवल उनके शरीरकी दिव्य गन्ध ही मिलती है ।

इस प्रकार श्रीकृष्णकी गन्धके पीछे घूमते-घूमते सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत हो गयी । निशा अपने प्राणनाथके वियोगदुःखके स्मरणसे कुछ म्लान-सी हो गयी । उसके मुखका तेज फीका पड़ने लगा । भगवान् भुवनभास्करके आगमनके भयसे निशानाथ भी धीरे-धीरे अस्ताचलकी ओर जाने लगे । स्वरूप गोस्वामी और राय रामानन्द प्रभुको उनके निवासस्थानपर ले गये ।

प्रभुकी सभी बातें कहते, उनकी दशा बताते और सभीका कुशल-क्षेम लेकर लौट आते। शचीमाताके लिये प्रभु प्रतिवर्ष जगन्नाथजीका प्रसाद भेजते और भाँति-भाँतिके आश्वासनोंद्वारा माताको प्रेम-सन्देश पठाते। प्रभुके सन्देशको कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

तोमार सेवा छाँड़ि आमि करिनूँ सन्यास।
'बाउल' हय्या आमि कैलूँ धर्म नाश॥
एइ अपराध तुमि ना लइह आमार।
तोमार अधीन आमि—पुत्र से तोमार॥
नीलाचले आछि आमि तोमार आज्ञाते।
यावत् जीव तावत् आमि नारिब छाँड़िते॥

अर्थात् हे माता! मैंने तुम्हारी सेवा छोड़कर पागल होकर संन्यास धारण कर लिया है, यह मैंने धर्मके विरुद्ध आचरण किया है, मेरे इस अपराधको तुम चित्तमें मत लाना। मैं अब भी तुम्हारे अधीन ही हूँ। निमाई अब भी तुम्हारा पुराना ही पुत्र है। नीलाचलमें मैं तुम्हारी ही आज्ञासे रह रहा हूँ और जबतक जीऊँगा तबतक नीलाचलको नहीं छोड़ूँगा। इस प्रकार प्रतिवर्ष वे प्रेम-सन्देश और प्रसाद भेजते।

एक बार जगदानन्द पण्डित प्रभुकी आज्ञासे नवद्वीप गये। वहाँ जाकर उन्होंने शचीमाताको प्रसाद दिया, प्रभुका कुशल-समाचार बताया और उनका प्रेम-सन्देश भी कह सुनाया। निमाईको ही सर्वस्व समझनेवाली माँ अपने प्यारे पुत्रकी ऐसी दयनीय दशा सुनकर फूट-फूटकर रोने लगी। उसके अतिक्षीण शरीरमें अब अधिक दिनोंतक जीवित रहनेकी सामर्थ्य नहीं रही थी। जो कुछ थोड़ी-बहुत सामर्थ्य थी भी सो निमाईकी ऐसी भयङ्कर दशा सुनकर उसके शोकके कारण विलीन हो गयी। माता अब अपने जीवनसे निराश हो बैठी, निमाईका

श्रीअद्वैताचार्यजीकी पहेली

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥*

(श्रीमद्भागवत ६। ३। २२)

मातृभक्त श्रीगौराङ्ग उन्मादावस्थामें भी अपनी स्नेहमयी जननीको एकदम नहीं भूले थे। जब वे अन्तर्दशासे कभी-कभी बाह्य दशामें आ जाते तो अपने प्रिय भक्तोंकी और प्रेममयी माताकी कुशल-क्षेम पूछते और उनके समाचार जाननेके निमित्त जगदानन्दजीको प्रतिवर्ष गौड़ भेजते थे। जगदानन्दजी गौड़में जाकर सभी भक्तोंसे मिलते, उनसे

* इस मनुष्यलोकमें मनुष्यके शरीर धारण करनेका केवल इतना ही प्रयोजन है कि वह भगवान् वासुदेवके प्रति भक्ति करे और उनके सुमधुर नामोंका सदा अपनी जिह्वासे उच्चारण करता रहे।

प्रभुकी सभी बातें कहते, उनकी दशा बताते और सभीका कुशल-क्षेम लेकर लौट आते । शचीमाताके लिये प्रभु प्रतिवर्ष जगन्नाथजीका प्रसाद भेजते और भाँति-भाँतिके आश्वासनोंद्वारा माताको प्रेम-सन्देश पठाते ।

प्रभुके सन्देशको कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

> तोमार सेवा छाँड़ि आमि करिनूँ सन्न्यास ।
> 'बाउल' हइया आमि कैलूँ धर्म नाश ॥
> एइ अपराध तुमि ना लइह आमार ।
> तोमार अधीन आमि–पुत्र से तोमार ॥
> नीलाचले आछि आमि तोमार आज्ञाते ।
> यावत् जीव तावत् आमि नारिब छाड़िते ॥

अर्थात् हे माता ! मैंने तुम्हारी सेवा छोड़कर पागल होकर संन्यास धारण कर लिया है, यह मैंने धर्मके विरुद्ध आचरण किया है, मेरे इस अपराधको तुम चित्तमें मत लाना । मैं अब भी तुम्हारे अधीन ही हूँ । निमाई अब भी तुम्हारा पुराना ही पुत्र है । नीलाचलमें मैं तुम्हारी ही आज्ञासे रह रहा हूँ और जबतक जीऊँगा तबतक नीलाचलको नहीं छोड़ूँगा । इस प्रकार प्रतिवर्ष वे प्रेम-सन्देश और प्रसाद भेजते ।

एक बार जगदानन्द पण्डित प्रभुकी आज्ञासे नवद्वीप गये । वहाँ जाकर उन्होंने शचीमाताको प्रसाद दिया, प्रभुका कुशल-समाचार बताया और उनका प्रेम-सन्देश भी कह सुनाया । निमाईको ही सर्वस्व समझनेवाली माँ अपने प्यारे पुत्रकी ऐसी दयनीय दशा सुनकर फूट-फूटकर रोने लगी । उसके अतिक्षीण शरीरमें अब अधिक दिनोंतक जीवित रहनेकी सामर्थ्य नहीं रही थी । जो कुछ थोड़ी-बहुत सामर्थ्य थी भी सो निमाईकी ऐसी भयङ्कर दशा सुनकर उसके शोकके कारण विलीन हो गयी । माता अब अपने जीवनसे निराश हो बैठी, निमाईका

चन्द्रवदन अब जीवनमें फिर देखनेको न मिल सकेगा, इस बातसे माताकी निराशा और भी बढ़ गयी। वह अब इस विषमय जीवन-भारको बहुत दिनोंतक ढोते रहनेमें असमर्थ-सी हो गयी। माताने पुत्रको रोते-रोते आशीर्वाद पठाया और जगदानन्दजीको प्रेमपूर्वक विदा किया। जगदानन्दजी वहाँसे अन्यान्य भक्तोंके यहाँ होते हुए श्रीअद्वैताचार्यजीके घर गये। आचार्यने उनका अत्यधिक स्वागत-सत्कार किया और प्रभुके सभी समाचार पूछे। आचार्यका शरीर भी अब बहुत वृद्ध हो गया था। उनकी अवस्था ९० से ऊपर पहुँच गयी थी। खाल लटक गयी थी, अब वे घरसे बाहर बहुत ही कम निकलते थे। जगदानन्दको देखकर मानो फिर उनके शरीरमें नवयौवनका सञ्चार हो गया और वे एक-एक करके सभी विरक्त भक्तोंका समाचार पूछने लगे। जगदानन्दजी दो-चार दिन आचार्यके यहाँ रहे। जब उन्होंने प्रभुके पास जानेके लिये अत्यधिक आग्रह किया तब आचार्यने उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी और प्रभुके लिये एक पहेलीयुक्त पत्र भी लिखकर दिया। जगदानन्दजी उस पत्रको लेकर प्रभुके पास पहुँचे।

महाप्रभु जब बाह्य दशामें आये, तब उन्होंने सभी भक्तोंके कुशल-समाचार पूछे। जगदानन्दजीने सबका कुशल-क्षेम बताकर अन्तमें अद्वैताचार्यकी वह पहेलीवाली पत्री दी। प्रभुकी आज्ञासे वे सुनाने लगे। प्रभुको कोटि-कोटि प्रणाम कर लेनेके अनन्तर उसमें यह पहेली थी—

> बाउलके कहिह—लोक हइल बाउल।
> बाउलके कहिह—हाटे ना बिकाय चाउल॥
> बाउलके कहिह—काजे नाहिक आउल।
> बाउलके कहिह—इहा कहिया छे बाउल॥*

* श्रीचैतन्य प्राणियोंके जीवनके आधार चावलरूपी हरिनामके

सभी समीपमें बैठे हुए भक्त इस विचित्र पहेलीको सुनकर हँसने लगे। महाप्रभु मन-ही-मन इसका मर्म समझकर कुछ मन्द-मन्द मुसकराये और जैसी उनकी आज्ञा, इतना कहकर चुप हो गये। प्रभुके बाहरी प्राण श्रीस्वरूपगोस्वामीको प्रभुकी मुसकराहटमें कुछ विचित्रता प्रतीत हुई। इसलिये दीनताके साथ पूछने लगे—'प्रभो! मैं इस विचित्र पहेलीका अर्थ समझना चाहता हूँ। आचार्य अद्वैत रायने यह कैसी अनोखी पहेली भेजी है। आप इस प्रकार इसे सुनकर क्यों मुसकराये।'

प्रभुने धीरे-धीरे गम्भीरताके स्वरमें कहा—'अद्वैताचार्य कोई साधारण आचार्य तो हैं ही नहीं। वे नामके ही आचार्य नहीं हैं, किन्तु आचार्यपनेके सभी कार्य भलीभाँति जानते हैं। उन्हें शास्त्रीय विधिके अनुसार पूजापाठ करनेकी सभी विधि मालूम है। पूजामें पहले तो बड़े सत्कारके साथ देवताओंको बुलाया जाता है, फिर उनकी षोडशोपचार रीतिसे विधिवत् पूजा की जाती है, यथास्थान पधराया जाता है। जिस माङ्गलिक कार्यके निमित्त उनका आह्वान किया जाता है और वह कार्य जब समाप्त हो जाता है,

व्यापारी हैं। अद्वैताचार्य उनके प्रधान आढ़तिया हैं। जैसा ही पागल व्यापारी है वैसा ही पागल आढ़तिया भी है और पागलोंका-सा ही प्रलापपूर्ण पत्र भी पठाया है। पागलोंके सिवा इसके मर्मको कोई समझ ही क्या सकता है। पागल आढ़तिया कहता है—'उस बावले व्यापारीसे कहना। सब लोगोंके कोठी-कुठिला हरिनामरूपी चावलोंसे भर गये। अब इस बाजारमें इस सस्ते मालकी बिक्री नहीं रही। अब यह व्यापार साधारण हो गया। तुम-जैसे उत्तम श्रेणीके व्यापारीके योग्य अब यह व्यापार नहीं है। इसलिये अब इस हाटको बन्द कर दो। बावले व्यापारीको बावले आढ़तियाने यह सन्देश भिजवाया है।'

तब देवताओंसे हाथ जोड़कर कहते हैं—'गच्छ गच्छ परं स्थानम्' अर्थात् 'अब अपने परम स्थानको पधारिये !' सम्भवतया यही उनका अभिप्राय हो, वे ज्ञानी पण्डित हैं, उनके अर्थको ठीक-ठीक समझ ही कौन सकता है।' इस बातको सुनकर स्वरूपगोस्वामी कुछ अन्यमनस्क-से हो गये। सभीको पता चल गया कि महाप्रभु अब शीघ्र ही लीला-संवरण करेंगे। इस बातके स्मरणसे सभीका हृदय फटने-सा लगा। उसी दिनसे प्रभुकी उन्मादावस्था और भी अधिक बढ़ गयी। वे रात-दिन उसी अन्तर्दशामें निमग्न रहने लगे। प्रतिक्षण उनकी दशा लोक-बाह्य-सी ही बनी रहती थी। कविराज गोस्वामीके शब्दोंमें सुनिये—

स्तम्भ, कम्प, प्रस्वेद, वैवर्ण, अश्रुस्वर-भेद।
देह हैल पुलके व्यापित ॥
हासे, कान्दे, नाचे, गाय, उठि इति-उति धाय।
क्षणे भूमे पड़िया मूर्छिते ॥

'शरीर सन्न पड़ जाता है, कँपकँपी छूटने लगती है। शरीरसे पसीना बहने लगता है, मुख म्लान हो जाता है, आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगती है। गला भर आता है, शब्द ठीक-ठीक उच्चारण नहीं होते हैं। देह रोमाञ्चित हो जाती है। हँसते हैं, जोरोंसे रुदन करते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, उठ-उठकर इधर-उधर भागने लगते हैं, क्षणभरमें मूर्छित होकर भूमिपर गिर पड़ते हैं।' प्यारे! पगले, दयालु चैतन्य! क्या इस पागलपनमें हमारा कुछ भी साझा नहीं है। हे दीनवत्सल! इस पागलपनमेंसे यत्किञ्चित् भी हमें मिल जाय तो यह सार-हीन जीवन सार्थक बन जाय। मेरे गौर! उस मादक मदिराका एक प्याला मुझको भी क्यों नहीं पिला देता? हे मेरे पागलशिरोमणि! तेरे चरणोंमें मैं कोटि-कोटि नमस्कार करता हूँ।

समुद्रपतन और मृत्युदशा

शरज्ज्योत्स्नासिन्धोरवकलनया जातयमुना-
भ्रमाद्धावन् योऽस्मिन् हरिविरहतापार्णव इव ।
निमग्नो मूर्च्छातः पयसि निवसन् रात्रिमखिलां
प्रभाते प्राप्तः स्वैरवतु स शचीसूनुरिह नः ॥*

(श्रीचै० चरिता० अ० ली० १८ । १)

सर्व शास्त्रोंमें श्रीमद्भागवत श्रेष्ठ है । श्रीमद्भागवतमें भी दशम स्कन्ध सर्वश्रेष्ठ है, दशम स्कन्धमें भी पूर्वार्ध श्रेष्ठ है और पूर्वार्धमें भी रासपञ्चाध्यायी सर्वश्रेष्ठ है और रासपञ्चाध्यायीमें भी 'गोपी-गीत' अतुलनीय

* जो शरज्ज्योत्स्नापूर्ण रात्रिमें समुद्रको देखकर यमुनाके भ्रमसे हरिविरहरूपी तापार्णवमें निमग्न हुए जलमें कूद पड़े और समस्त रात्रिभर वहीं मूर्छित पड़े रहे । प्रातःकाल स्वरूपादि अपने अन्तरङ्ग भक्तोंको जो प्राप्त हुए वे ही शचीनन्दन श्रीगौराङ्ग इस संसारमें हमारी रक्षा करें ।

है। उसकी तुलना किसीसे की ही नहीं जा सकती, वह अनुपमेय है। उसे उपमा भी दें तो किसकी दें, उससे श्रेष्ठ या उसके समान संसारमें कोई गीत है ही नहीं। महाप्रभुको भी रासपञ्चाध्यायी ही अत्यन्त प्रिय थी। वे सदा रासपञ्चाध्यायीके ही श्लोकोंको सुना करते थे और भावावेशमें उन्हीं भावोंका अनुकरण भी किया करते थे।

एक दिन राय रामानन्दजीने श्रीमद्भागवतके तैंतीसवें अध्यायमेंसे भगवान्‌की कालिन्दीकूलकी जल-क्रीड़ाकी कथा सुनायी। प्रभुको दिनभर यही लीला स्फुरण होती रही। दिन बीता, रात्रि आयी, प्रभुकी विरहवेदना भी बढ़ने लगी। वे आज अपनेको सँभालनेमें एकदम असमर्थ हो गये। पता नहीं किस प्रकार वे भक्तोंकी दृष्टि बचाकर समुद्रके किनारे-किनारे आईटोटाकी ओर चले गये। वहाँ विशाल सागरकी नीली-नीली तरंगें उठकर संसारको हृदयकी विशालता, संसारकी अनित्यता और प्रेमकी तन्मयताकी शिक्षा दे रही थीं। प्रेमावतार गौराङ्गके हृदयसे एक सुमधुर संगीत स्वतः ही उठ रहा था। महाप्रभु उस संगीतके स्वरको श्रवण करते-करते पागल हुए बिना सोचे-विचारे ही समुद्रकी ओर बढ़ रहे थे। अहा! समुद्रके किनारेके सुन्दर-सुन्दर वृक्ष अपनी शरत्कालीन शोभासे सागरकी सुषमाको और भी अधिक शक्तिशालिनी बना रहे थे। शरद्‌की सुहावनी शर्वरी थी, अपने प्रिय पुत्र चन्द्रमाकी श्रीवृद्धि और पूर्ण ऐश्वर्यसे प्रसन्न होकर पिता सागर आनन्दसे उमड़ रहे थे। महाप्रभु उसमें कृष्णाङ्ग-स्पर्शसे पुलकित और आनन्दित हुई कालिन्दीका दर्शन कर रहे थे। उन्हें समुद्रकी एकदम विस्मृति हो गयी, वे कालिन्दीमें गोपिकाओंके साथ क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णके प्रत्यक्ष दर्शन करने लगे। बस, फिर क्या था, आप उस क्रीड़ा-सुखसे क्यों वञ्चित रहते, जोरोंसे हुङ्कार करते हुए अथाह सागरके जलमें कूद पड़े। और अपने प्यारेके साथ जलविहारका आनन्द लेने लगे। इसी प्रकार जलमें डूबते और उछलते हुए उन्हें सम्पूर्ण रात्रि बीत गयी।

इधर प्रभुको स्थानपर न देखकर भक्तोंको सन्देह हुआ कि प्रभु कहाँ चले गये। स्वरूपगोस्वामी गोविन्द, जगदानन्द, वक्रेश्वर, रघुनाथदास, शङ्कर आदि सभी भक्तोंको साथ लेकर व्याकुलताके साथ प्रभुकी खोजमें चले। श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके सिंहद्वारसे लेकर उन्होंने तिल-तिलभर जगहको खोज डाला। सभीके साथ वे जगन्नाथ-वल्लभ नामक उद्यानमें गये, वहाँ भी प्रभुका कोई पता नहीं। वहाँसे निराश होकर वे गुण्टिचा-मन्दिरमें गये। सुन्दराचलमें उन्होंने इन्द्रद्युम्न सरोवर, समीपके सभी बगीचे तथा मन्दिर खोज डाले। सभीको परम आश्चर्य हुआ कि प्रभु गये भी तो कहाँ गये। इस प्रकार उन्हें जब कहीं भी प्रभुका पता नहीं चला तब वे निराश होकर फिर पुरीमें लौट आये। इस प्रकार प्रभुकी खोज करते-करते उन्हें सम्पूर्ण रात्रि बीत गयी। प्रातः-कालके समय स्वरूपगोस्वामीने कहा—'अब चलो, समुद्रके किनारे प्रभु-की खोज करें, वहाँ प्रभुका अवश्य ही पता लग जायगा।' यह कहकर वे भक्तोंको साथ लेकर समुद्रके किनारे-किनारे चल पड़े।

इधर महाप्रभु रात्रिभर जलमें उछलते और डूबते रहे। उसी समय एक मल्लाह वहाँ जाल डालकर मछली मार रहा था, महाप्रभुका मृत्यु-अवस्थाको प्राप्त वह विकृत शरीर उस मल्लाहके जालमें फँस गया। उसने बड़ा भारी मच्छ समझकर उसे किनारेपर खींच लिया। उसने जब देखा कि यह मच्छ नहीं कोई मुर्दा है, तो उठाकर प्रभुको किनारे-पर फेंक दिया। बस, महाप्रभुके अङ्गका स्पर्श करना था कि वह मल्लाह आनन्दमें उन्मत्त होकर नृत्य करने लगा। प्रभुके श्रीअङ्गके स्पर्शमात्रसे ही उसके शरीरमें सभी सात्त्विक भाव आप-से-आप ही उदित हो उठे। वह कभी तो प्रेममें विह्वल होकर हँसने लगता, कभी रोने लगता, कभी गाने लगता और कभी नाचने लगता। वह भयभीत हुआ वहाँसे दौड़ने लगा। उसे भ्रम हो गया कि मेरे शरीरमें भूतने प्रवेश किया है, इसी भयसे

वह भागता-भागता आ रहा था कि इतनेमें ये भक्त भी वहाँ पहुँच गये। उसकी ऐसी दशा देखकर स्वरूपगोस्वामीने उससे पूछा—'क्यों भाई! तुमने यहाँ किसी आदमीको देखा है, तुम इतने डर क्यों रहे हो। अपने भयका कारण तो हमें बताओ।'

भयसे काँपते हुए उस मल्लाहने कहा—'महाराज! आदमी तो मैंने यहाँ कोई नहीं देखा। मैं सदाकी भाँति मछली मार रहा था कि एक मुर्दा मेरे जालमें फँस आया। उसके अङ्गमें भूत था, वही मेरे अङ्गमें लिपट गया है। इसी भयसे मैं भूत उतरवानेके लिये ओझाके *पास जा रहा हूँ। आपलोग इधर न जायँ। वह बड़ा ही भयङ्कर मुर्दा* है, ऐसा विचित्र मुर्दा तो मैंने आजतक कभी देखा ही नहीं।' उस समय महाप्रभुका मृत्युदशामें प्राप्त शरीर बड़ा ही भयानक बन गया था। कविराज गोस्वामीने मल्लाहके मुखसे प्रभुके शरीरका जो वर्णन कराया है, उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

जालिया कहे—इहाँ एक मनुष्य ना देखिल।
जाल बाहिते एक मृत मोर जाले आइल॥
बड़ मत्स्य बले, आमि उठाइलूँ यतने।
मृतक देखिते मोर भय हैल मने॥
जाल खसाइते तार अङ्ग-स्पर्श हइल।
स्पर्शमात्रे सेइ भूत हृदये पशिल॥
भये कम्प हैल, मोर नेत्रे वहे जल।
गद्‌गद्‌ वाणी मोर उठिल सकल॥
कि वा ब्रह्मदैत्य, कि वा भूत, कहने ना जाय।
दर्शनमात्रे मनुष्येर पशे सेइ काय॥
शरीर दीघल तार—हाथ पाँच सात।
एक हस्त पद तार, तिन तिन हाथ॥

अस्थि-सन्धि छूटि चर्म करे नड़-चड़े।
ताहा देखि, प्राण कार नाहि रहे धरे॥
मड़ा रूप धरि, रहे उत्तान-नयन।
कभू गों-गों करे, कभू देखि अचेतन॥

स्वरूपगोस्वामीके पूछनेपर जालिया (मल्लाह) कहने लगा—मनुष्य तो मैंने यहाँ कोई देखा नहीं है। जाल डालते समय एक मृतक मनुष्य मेरे जालमें आ गया। मैंने उसे बड़ा मत्स्य जानकर उठाया। जब मैंने देखा कि यह तो मुर्दा है, तब मेरे मनमें भय हुआ। जालसे निकालते समय उसके अङ्गसे मेरे अङ्गका स्पर्श हो गया। स्पर्शमात्रसे ही वह भूत मेरे शरीरमें प्रवेश कर गया। भयके कारण मेरे शरीरमें कँप-कँपी होने लगी, नेत्रोंसे जल बहने लगा और मेरी वाणी गद्गद हो गयी। या तो वह ब्रह्मदैत्य है या भूत है, इस बातको मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। वह दर्शनमात्रसे ही मनुष्यके शरीरमें प्रवेश कर जाता है। उसका शरीर पाँच-सात हाथ लंबा है। उसके एक-एक हाथ पाँव तीन-तीन हाथ लंबे हैं। उसके हड्डियोंकी सन्धियाँ खुल गयी हैं। उसके शरीरके ऊपरका चर्म लुजुर-बुजुर-सा करता है। उसे देखकर किसीके भी प्राण नहीं रह सकते। बड़ा ही विचित्र रूप धारण किये है, दोनों नेत्र चढ़े हुए हैं। कभी तो गों-गों शब्द करता है और कभी फिर अचेतन हो जाता है।

इस बातको मल्लाहके मुखसे सुनकर स्वरूपगोस्वामी सब कुछ समझ गये कि वह महाप्रभुका ही शरीर होगा। उनके अङ्ग-स्पर्शसे ही इसकी ऐसी दशा हो गयी है। भयके कारण इसे पता नहीं कि यह प्रेमकी अवस्था है। यह सोचकर वे कहने लगे—'तुम ओझाके पास क्यों जाते हो, हम बहुत अच्छी ओझाई जानते हैं। कैसा भी भूत क्यों

न हो, हमने जहाँ मन्त्र पढ़ा नहीं बस, वहीं उसी क्षण वह भूत भागता ही हुआ दिखायी देता है। फिर वह क्षणभर भी नहीं ठहरता।' ऐसा कहकर स्वरूपगोस्वामीने वैसे ही झूठ-मूँठ कुछ पढ़कर अपने हाथको उसके मस्तकपर छुआया और जोरोंसे उसके गालपर तीन तमाचे मारे। उसके ऊपर भूत थोड़े ही था। उसे भूतका भ्रम था, विश्वासके कारण वह भय दूर हो गया।

तब स्वरूपगोस्वामीने उससे कहा—'तू जिन्हें भूत समझ रहा है, वे महाप्रभु चैतन्यदेव हैं, प्रेमके कारण उनकी ऐसी दशा हो जाती है। तू उन्हें हमको बता कहाँ हैं। हम उन्हींकी खोजमें तो आये हैं।'

इस बातको सुनकर वह मल्लाह प्रसन्न होकर सभी भक्तोंको साथ लेकर प्रभुके पास पहुँचा। भक्तोंने देखा, सुवर्णके समान प्रभुका शरीर चाँदीके चूरेके समान समुद्रकी बालुकामें पड़ा हुआ है, आँखें ऊपरको चढ़ी हुई हैं, पेट फूला हुआ है, मुँहमेंसे झाग निकल रहे हैं। बिना किसी प्रकारकी चेष्टा किये हुए उनका शरीर गीली बालुकासे सना हुआ निश्चेष्ट पड़ा हुआ है। सभी भक्त प्रभुको घेरकर बैठ गये।

हम संसारी लोग तो मृत्युको ही अन्तिम दशा समझते हैं, इसलिये संसारी दृष्टिसे प्रभुके शरीरका यहीं अन्त हो गया। फिर उसे चैतन्यता प्राप्त नहीं हुई। किन्तु रागानुगामी भक्त तो मृत्युके पश्चात् भी विरहिणीको चैतन्यता लाभ कराते हैं। उनके मतमें मृत्यु ही अन्तिम दशा नहीं है। इस प्रसङ्गमें हम बंगला भाषाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्री-गोविन्ददासजीका एक पद उद्धृत करते हैं। इससे पाठकोंको पता चल जायगा कि श्रीकृष्णनामश्रवणसे मृत्युदशाको प्राप्त हुई भी राधिकाजी फिरसे चैतन्यता प्राप्त करके बातें कहने लगीं।

कुञ्ज भवने धनी। तुया गुण गणि गणि।
अतिशय दुरबली भेल॥
दशमीक पहिल, दशा हेरि सहचरी।
धरे सङ्के बाहिर केल॥
शुन माधव कि बलब तोय।
गोकुल तरुणी, निचय मरण जानि।
राइ राइ करि रोय॥
तहि एक सुचतुरी, ताक श्रवण भरि।
पुन पुन कहे तुया नाम॥
बहु क्षणे सुन्दरी, पाइ परान कोरि।
गद्गद् कहे श्याम नाम॥
नामक आछ गुणे, शुनिले त्रिभुवने।
मृतजने पुन कहे बात॥
गोविन्ददास कह, इह सब आन नह।
याइ देखह मझु साथ॥

श्रीकृष्णसे एक सखी श्रीराधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—हे श्यामसुन्दर! राधिकाजी कुञ्जभवनमें तुम्हारे नामको दिन-रात रटते-रटते अत्यन्त ही दुबली हो गयी हैं। जब उनकी मृत्युके समीपकी दशा मैंने देखी तब उन्हें उस कुञ्जकुटीरसे बाहर कर लिया। प्यारे माधव! अब तुमसे क्या कहूँ, बाहर आनेपर उसकी मृत्यु हो गयी, सभी सखियाँ उसकी मृत्युदशाको देखकर रुदन करने लगीं। उनमें एक चतुर सखी थी, वह उसके कानमें तुम्हारा नाम बार-बार कहने लगी।

बहुत देरके अनन्तर उस सुन्दरीके शरीरमें कुछ-कुछ प्राणोंका सञ्चार होने लगा। थोड़ी देरमें वह गद्गद कण्ठसे 'श्याम' ऐसा कहने लगी। तुम्हारे नामका त्रिभुवनमें ऐसा गुण सुना गया है कि मृत्यु-दशाको प्राप्त हुआ प्राणी भी पुनः बात कहने लगता है। सखी कहती है—'तुम इस बातको झूठ मत समझना। यदि तुम्हें इस बातका विश्वास न हो, तो मेरे साथ चलकर उसे देख आओ।' यह पद गोविन्ददास कवि-द्वारा कहा गया है।'

इसी प्रकार भक्तोंने भी प्रभुके कानोंमें हरिनाम सुनाकर उन्हें फिर जाग्रत किया। वे अर्धबाह्यदशामें आकर कालिन्दीमें होनेवाली जल-केलिका वर्णन करने लगे। 'वह साँवला सभी सखियोंको साथ लेकर यमुनाजीके सुन्दर शीतल जलमें घुसा। सखियोंके साथ वह नाना भाँति-की जलक्रीड़ा करने लगा। कभी किसीके शरीरको भिगोता, कभी दस-बीसोंको साथ लेकर उनके साथ दिव्य-दिव्य लीलाओंका अभिनय करता। मैं भी उस प्यारेकी क्रीड़ामें सम्मिलित हुई। वह क्रीड़ा बड़ी ही सुखकर थी।' इस प्रकार कहते-कहते प्रभु चारों ओर देखकर स्वरूपगोस्वामीसे पूछने लगे—'मैं यहाँ कहाँ आ गया? वृन्दावनसे मुझे यहाँ कौन ले आया?' तब स्वरूपगोस्वामीने सभी समाचार सुनाये और वे उन्हे स्नान कराकर भक्तोंके साथ वासस्थानपर ले गये।

महाप्रभुका अदर्शन अथवा लीलासंवरण

अद्यैव हसितं गीतं पठितं यैः शरीरिभिः।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते कष्टं कालस्य चेष्टितम् ॥*

(सु० र० भां० ३९० । ३९१)

महाभारतमें स्थान-स्थानपर क्षात्रधर्मकी निन्दा की गयी। युद्धमें खड्ग लेकर जो क्षत्रिय अपने भाई-बन्धुओं और सगे-सम्बन्धियोंका बात-की-बातमें वध कर सकता है, ऐसे कठोर धर्मको धर्मराज युधिष्ठिर-ऐसे महात्माने परम निन्द्य बताकर भी उसमें प्रवृत्त होनेके लिये अपनी विवशता बतलायी है। किन्तु क्षात्रधर्मसे भी कठोर और क्रूर कर्म हम-जैसे क्षुद्र लेखकोंका है, जिनके हाथमें वज्रके समान बलपूर्वक लोहेकी लेखनी

---

* जो प्राणी आज ही जिस शरीरसे हँस रहे थे, सुन्दर-सुन्दर पद गा रहे थे, उत्तम-उत्तम श्लोकोंका पाठ कर रहे थे, वे ही न जाने आज ही कहाँ अदृश्य हो गये। अब उनका पाञ्चभौतिक शरीर दीखता ही नहीं। हा ! कराल कालकी कैसी कठोर और कष्टप्रद क्रीडा है। उसकी ऐसी चेष्टाको बार-बार धिक्कार है।

दे दी जाती है और कहा जाता है कि उस महापुरुषकी अदर्शन-लीला लिखो ! हाय ! कितना कठोर कर्म है, हृदयको हिला देनेवाले इस प्रसङ्गका वर्णन हमसे क्यों कराया जाता है ? कलतक जिसके मुखकमलको देखकर असंख्य भावुक भक्त भक्तिभागीरथीके सुशीतल और सुखकर सलिलरूपी आनन्दमें विभोर होकर अवगाहन कर रहे थे, उनके नेत्रोंके सामनेसे वह आनन्दमय दृश्य हटा दिया जाय, यह कितना गर्हणीय काम होगा। हाय रे विधाता ! तेरे सभी काम निर्दयतापूर्ण होते हैं ! निर्दयी ! दुनियाभरकी निर्दयताका ठेका तैंने ही ले लिया है। भला, जिनके मनोहर चन्द्रवदनको देखकर हमारा मनकुमुद खिल जाता है, उसे हमारी आँखोंसे ओझल करनेमें तुझे क्या मजा मिलता है ? तेरा इसमें लाभ ही क्या है ? क्यों नहीं तू सदा उसे हमारे पास ही रहने देता ? किन्तु कोई दयावान् हो उससे तो कुछ कहा-सुना भी जाय, जो पहलेसे ही निर्दयी है, उससे कहना मानो अरण्यमें रोदन करना है। हाय रे विधाता !

सचमुच लीलासंवरणके वर्णन करनेके अधिकारी तो व्यास-वाल्मीकि ही हैं। इनके अतिरिक्त जो नित्य महापुरुषोंकी लीलासंवरणका उल्लेख करते हैं, वह उनकी अनधिकार चेष्टा ही है। महाभारतमें जब अर्जुनकी त्रिभुवनविख्यात शूरता, वीरता और युद्धचातुर्यकी बातें पढ़ते हैं तो पढ़ते-पढ़ते रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हमारी आँखोंके सामने लंबी-लंबी भुजाओंवाले गाण्डीवधारी अर्जुनकी वह विशाल और भव्य मूर्ति प्रत्यक्ष होकर नृत्य करने लगती है। उसीको जब श्रीकृष्णके अदर्शनके अनन्तर आभीर और भीलोंद्वारा लुटते देखते हैं, तो यह सब दृश्य-प्रपञ्च स्वप्नवत् प्रतीत होने लगता है। तब यह प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है कि यह सब उस खिलाड़ी श्रीकृष्णकी खिलवाड़ है, लीला-प्रियश्यामकी ललित लीलाके सिवा कुछ नहीं है। पाण्डवोंकी सब रित्रता,

कष्टसहिष्णुता, शूरता, कार्यदक्षता, पटुता, श्रीकृष्णप्रियता आदि गुणोंको पढ़ते हैं तब रोंगटे खड़े हो जाते हैं, हृदय उनके लिये भर आता है, किन्तु उन्हें ही जब हिमालयमें गलते हुए देखते हैं, तो छाती फटने लगती है। सबसे पहले द्रौपदी बर्फमें गिर जाती है। उस कोमलाङ्गी अबलाको बर्फमें ही बिलबिलाती छोड़कर धर्मराज आगे बढ़ते हैं। वे मुड़कर भी उसकी ओर नहीं देखते। फिर प्यारे नकुल-सहदेव गिर पड़ते हैं। धर्मराज उसी प्रकार दृढ़तापूर्वक बर्फपर चढ़ रहे हैं। हाय, गजब हुआ। जिस भीमके पराक्रमसे यह ससद्वीपा वसुमती प्राप्त हुई थी वह भी बर्फमें पैर फिसलनेसे गिर पड़ा और तड़फने लगा। किन्तु युधिष्ठिर किसकी सुनते हैं, वे आगे बढ़े ही जा रहे हैं। अब वह हृदय-विदारक दृश्य आया। जिसके नामसे मनुष्य तो क्या स्वर्गके देवता थर-थर काँपते थे, *यह गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन मूर्च्छित होकर गिर* पड़ा और हा तात! कहकर चीत्कार मारने लगा, किन्तु धर्मराजने मुड़कर भी उनकी ओर नहीं देखा!

सचमुच स्वर्गारोहणपर्वको पढ़ते-पढ़ते रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कैसा भी वज्रहृदय क्यों न हो बिना रोये न रहेगा। जब मुझ-जैसे कठोर हृदयवालेकी आँखोंसे भी अश्रुविन्दु निकल पड़े तब फिर सहृदय पाठकोंकी तो बात ही क्या?

इसी प्रकार जब वाल्मीकीय रामायणमें, श्रीरामकी सुकुमारता, ब्राह्मणप्रियता, गुरुभक्ति, शूरता और पितृभक्तिकी बातें पढ़ते हैं तो हृदय भर आता है। सीताजीके प्रति उनका कैसा प्रगाढ़ प्रेम था। हाय! जिस *समय कामान्ध रावण जनकनन्दिनीको चुरा ले गया, तब उन मर्यादा-* पुरुषोत्तमकी भी मर्यादा टूट गयी। वे अकेली जानकीके पीछे विश्व-ब्रह्माण्डको अपने अमोघ बाणके द्वारा भस्म करनेको उद्यत हो गये।

उस समय उनका प्रचण्ड क्रोध, दुर्धर्ष तेज और असहनीय रोष देखते ही बनता था। दूसरे ही क्षण वे साधारण कामियोंकी भाँति रो-रोकर लक्ष्मणसे पूछने लगते—'भैया! मैं कौन हूँ, तुम कौन हो? हम यहाँ क्यों फिर रहे हैं? सीता कौन है? हा सीते! हा प्राणवल्लभे! तू कहाँ चली गयी?' ऐसा कहते-कहते बेहोश होकर गिर पड़ते हैं। उनके अनुज ब्रह्मचारी लक्ष्मणजी बिना खाये-पीये और भूख-नींदका परित्याग किये छायाकी तरह उनके पीछे-पीछे फिरते हैं और जहाँ श्रीरामका एक बूँद पसीना गिरता है, वहीं वे अपने कलेजेको काटकर उसका एक प्याला खून निकालकर उससे उस स्वेद-बिन्दुको धोते हैं। उन्हीं लक्ष्मणका जब श्रीरामचन्द्रजीने छद्मवेशधारी यमराजके कहनेसे परित्याग कर दिया और वे श्रीरामके प्यारे भाई सुमित्रानन्दन महाराज दशरथके प्रिय पुत्र सरयू नदीमें निमग्नकर अपने प्राणोंको खोते हैं तो हृदय फटने लगता है। उससे भी अधिक करुणापूर्ण तो यह दृश्य है कि जब श्रीरामचन्द्रजी भी अपने भाइयोंके साथ उसी प्रकार सरयूमें शरीरको निमग्नकर अपने नित्यधामको पधारते हैं। सचमुच इन दोनों महाकवियोंने इन करुणापूर्ण प्रसङ्गोंको लिखकर करुणाकी एक अविच्छिन्न धारा बहा दी है जो इन ग्रन्थोंके पठन करनेवालोंके नेत्र-जलसे सदा बढ़ती ही रहती है। महाभारत और रामायणके ये ही दो स्थल मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, इन्हीं हृदयविदारक प्रकरणोंको जब पढ़ता हूँ, तभी कुछ हृदय पसीजता है और श्रीराम-कृष्णकी लीलाओंकी कुछ-कुछ झलक-सी दिखायी देने लगती है।

यह हम-जैसे नीरस हृदयवालोंके लिये है। जो भगवत्-कृपा-पात्र हैं, जिनके हृदय कोमल हैं, जो सरस हैं, भावुक हैं, प्रेमी हैं और श्रीराम-कृष्णके अनन्य उपासक हैं, उन सबके लिये तो ये प्रकरण अत्यन्त ही असह्य हैं। उनके मतमें तो श्रीराम-कृष्णका कभी अदर्शन हुआ ही नहीं, वे नित्य

हैं, शाश्वत हैं। आत्मासे नहीं, वे शरीरसे भी अभी ज्यों-के-त्यों ही विराजमान हैं। इसीलिये श्रीमद्वाल्मीकीयके पारायणमें उत्तरकाण्ड छोड़ दिया जाता है। वैष्णवगण राजगद्दी होनेपर ही रामायणकी समाप्ति समझते हैं और वहीं रामायणका नवाह समाप्त हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने तो इस प्रकरणको एकदम छोड़ ही दिया है। भला वे अपनी कोमल और भक्तिभरी लेखनीसे सीतामाताका परित्याग, उनका पृथ्वीमें समा जाना और गुप्तारघाटपर रामानुज लक्ष्मणका अन्तर्धान हो जाना इन हृदयविदारक प्रकरणोंको कैसे लिख सकते थे।

इसी प्रकार श्रीचैतन्यचरित्रलेखकोंने भी श्रीचैतन्यकी अन्तिम अदर्शन-लीलाका वर्णन नहीं किया है। सभी इस विषयमें मौन ही रहे हैं। हाँ 'चैतन्यमंगल' कारने कुछ थोड़ा-सा वर्णन अवश्य किया है, सो अदर्शन-की दृष्टिसे नहीं। उसमें श्रीचैतन्यदेवके सम्बन्धकी सब करामाती अलौकिक चमत्कारपूर्ण घटनाओंका ही वर्णन किया गया है। इसीलिये उनका शरीर साधारण लोगोंकी भाँति शान्त नहीं हुआ, इसी दृष्टिसे अलौकिक घटना ही समझकर उसका वर्णन किया गया है। नहीं तो सभी वैष्णव इस दुःखदायी प्रसङ्गको सुनना नहीं चाहते। कोमल प्रकृतिके वैष्णव भला इसे सुन भी कैसे सकते हैं? इसीलिये एक भौतिक घटनाओंको ही सत्य और इतिहास माननेवाले महानुभावने लिखा है कि 'श्रीचैतन्यदेवके भक्तोंकी अन्धभक्तिने श्रीचैतन्यदेवकी मृत्युके सम्बन्धमें एकदम पर्दा डाल दिया है।' उन भोले भाईको यह पता नहीं कि चैतन्य तो नित्य हैं। भला चैतन्यकी भी कभी मृत्यु हो सकती है। जिस प्रकार अग्नि कभी नहीं बुझती .उसी प्रकार चैतन्य भी कभी नहीं मरते। अज्ञानी पुरुष ही इन्हें बुझा और मरा हुआ समझते हैं। अग्नि तो सर्वव्यापक है, विश्व उसीके ऊपर अवलम्बित है। संसारमेंसे अग्नितत्त्व निकाल दीजिये

उसी क्षण प्रलय हो जाय। शरीरके पेटकी अग्निको शान्त कर दीजिये उसी क्षण शरीर ठंडा हो जाय। सर्वव्यापक अग्निके ही सहारे यह विश्व खड़ा है। वह हमें इन चर्म-चक्षुओंसे सर्वत्र प्रत्यक्ष नहीं दीखती। दो लकड़ियोंको घिसिये, अग्नि प्रत्यक्ष हो जायगी। इसी प्रकार चैतन्य सर्वत्र व्यापक हैं। त्याग, वैराग्य और प्रेमका अवलम्बन कीजिये,चैतन्य प्रत्यक्ष होकर ऊपरको हाथ उठा-उठाकर नृत्य करने लगेंगे। जिसका जीवन अग्निमय हो, जो श्रीकृष्णप्रेममें छटपटाता-सा दृष्टिगोचर होता हो, जिसके शरीरमें त्याग, वैराग्य और प्रेमने घर बना लिया हो, जो दूसरोंकी निन्दा और दोष-दर्शनसे दूर रहता हो, वहाँ समझ लो कि श्रीचैतन्य वहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हो गये हैं। यदि सचमुच चैतन्यके दर्शन करनेके तुम उत्सुक हो तो इन्हीं स्थानोंमें चैतन्यके दर्शन हो सकेंगे। किन्तु ये सब बातें तो ज्ञानकी हैं। भक्तको इतना अवकाश कहाँ कि वह इन ज्ञानगाथाओंको श्रवण करे। वह तो श्रीचैतन्य-चरित्र ही सुनना चाहता है। उसमें इतना पुरुषार्थ कहाँ? उसका पुरुषार्थ तो इतना ही है कि वह भक्तरूपमें या भगवान्‌रूपमें श्रीकृष्णने जो-जो लीलाएँ की हैं उन्हींको बार-बार सुनना चाहता है। उसकी इच्छा नहीं कि सभी लीलाओंको सुन ले। श्रीकृष्णकी सभी लीलाओंका पार तो वे स्वयं ही नहीं जानते फिर दूसरा कोई तो जान ही क्या सकता है? भक्त तो चाहता है, चाहे कूपसे ला दो या घड़ेसे हमारी तो एक लोटेकी प्यास है, नदीसे लाओगे तो भी एक ही लोटा पीवेंगे और घड़ेसे दोगे तो भी उतना ही। समुद्रमेंसे लाओ तो सम्भव है, हमसे पिया भी न जाय। क्योंकि उसका पान तो कोई अगस्त्य-जैसे महापुरुष ही कर सकते हैं। इसलिये भावुक भक्त सदा श्रीकृष्ण और उनके दूसरे स्वरूप श्रीकृष्ण-भक्तोंकी ही लीलाओंका श्रवण करते रहते हैं। उनका कोमल

हृदय इन अप्रकट और अदर्शन लीलाओंको श्रवण नहीं कर सकता, क्योंकि शिरीषकुसुमके समान, छुईमुईके पत्तोंके समान उनका शीघ्र ही द्रवित हो जानेवाला हृदय होता है। यह बात भी परम भावुक भक्तोंकी है, किन्तु हम-जैसे वज्रके समान हृदय रखनेवाले पुरुष क्या करें? भक्तका तो लक्षण ही यह है कि भगवन्नामके श्रवणमात्रसे ही चन्द्रकान्त-मणिके समान उसके दोनों नेत्र बहने लगें। आँसू ही भक्तका आभूषण है, आँसूमें ही श्रीकृष्ण छिपे रहते हैं। जिस आँखमें आँसू नहीं वहाँ श्रीकृष्ण नहीं। तब हम कैसे करें, हमारी आँखोंमें तो आँसू आते ही नहीं। हाँ, ऐसे-ऐसे हृदयविदारक प्रकरणोंको कभी पढ़ते हैं तो दो-चार बूँदें आप-से-आप ही निकल पड़ती हैं, इसलिये भक्तोंको कष्ट देनेके निमित्त नहीं, अपनी आँखोंको पवित्र करनेके निमित्त, अपने वज्रके समान हृदयको पिघलानेके निमित्त हम यहाँ अति संक्षेपमें श्रीचैतन्य-देवके अदर्शनका यत्किञ्चित् वृत्तान्त लिखते हैं।

चौबीस वर्ष नवद्वीपमें रहकर गृहस्थाश्रममें और चौबीस वर्ष संन्यास लेकर पुरी आदि तीर्थोंमें प्रभुने बिताये। संन्यास लेकर छः वर्षोंतक आप तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे और अन्तमें अठारह वर्षोंतक अचल जगन्नाथजीके रूपमें पुरीमें ही रहे। बारह वर्षोंतक निरन्तर दिव्योन्मादकी दशामें रहे। उसका यत्किञ्चित् आभास पाठकोंको पिछले प्रकरणोंमें मिल चुका है। जिन्होंने प्रार्थना करके प्रभुको बुलाया था उन्होंने ही अब पहेली भेजकर गौरहाट उठानेकी अनुमति दे दी। इधर स्नेहमयी शचीमाता भी इस संसारको त्यागकर परलोकवासिनी बन गयीं। श्रीचैतन्य जिस कार्यके लिये अवतरित हुए थे, वह कार्य भी सुचारुरीतिसे सम्पन्न हो गया। अब उन्होंने लीलासंवरण करनेका निश्चय कर लिया। उनके अन्तरङ्ग भक्त तो प्रभुके रंग-ढंगको ही देखकर अनुमान लगा रहे थे

अब हमसे ओझल होना चाहते हैं। इसलिये वे सदा सचेष्ट ही बने रहते थे।

शाके १४५५ (संवत् १५९०, ई० सन् १५३३) का आषाढ़ महीना था। रथयात्राका उत्सव देखनेके निमित्त गौड़देशसे कुछ भक्त आ गये थे। महाप्रभु आज अन्य दिनोंकी अपेक्षा अत्यधिक गम्भीर थे। भक्तोंने इतनी अधिक गम्भीरता उनके जीवनमें कभी नहीं देखी। उनके ललाटसे एक अद्भुत तेज-सा निकल रहा था, अत्यन्त ही दत्तचित्त होकर प्रभु स्वरूपगोस्वामीके मुखसे श्रीकृष्णकथा श्रवण कर रहे थे। सहसा वे वैसे ही जल्दीसे उठकर खड़े हो गये और जल्दीसे अकेले ही श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरकी ओर दौड़ने लगे। भक्तोंको परम आश्चर्य हुआ। महाप्रभु इस प्रकार अकेले मन्दिरकी ओर कभी नहीं जाते थे, इसलिये भक्त भी पीछे पीछे प्रभुके पादपद्मोंका अनुसरण करते हुए दौड़ने लगे। आज महाप्रभु अपने नित्यके नियमित स्थानपर—गरुड़स्तम्भके समीप नहीं रुके, वे सीधे मन्दिरके दरवाजेके समीप चले गये। सभी परम विस्मित-से हो गये। महाप्रभुने एक बार द्वारपरसे ही उझककर श्रीजगन्नाथजीकी ओर देखा और फिर जल्दीसे आप मन्दिरमें घुस गये। महान् आश्चर्य! अघटित घटना! ऐसा पहले कभी भी नहीं हुआ था। मन्दिरके सभी कपाट अपने-आप ही बंद हो गये, महाप्रभु अकेले ही मन्दिरके भीतर थे। सभी भक्तगण चुपचाप दरवाजेपर खड़े इस अलौकिक दृश्यको उत्सुकताके साथ देख रहे थे। गुञ्जाभवनमें एक पूजा करनेवाले भाग्यवान् पुजारी प्रभुकी इस अन्तिम लीलाको प्रत्यक्ष देख रहे थे। उन्होंने देखा, महाप्रभु जगन्नाथजीके सम्मुख हाथ जोड़े खड़े हैं और गद्गद-कण्ठसे प्रार्थना कर रहे हैं—

प्रभुने श्रीजगन्नाथजीके विग्रहका आलिङ्गन किया

'हे दीनवत्सल प्रभो ! हे दयामय देव ! हे जगत्पिता जगन्नाथदेव ! सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगोंमें कलियुगका एकमात्र धर्म श्रीकृष्णसंकीर्तन ही है । हे नाथ ! आप अब जीवोंपर ऐसी दया कीजिये कि वे निरन्तर आपके सुमधुर नामोंका सदा कीर्तन करते रहें । प्रभो ! अब घोर कलियुग आ गया है, इसमें जीवोंको आपके चरणोंके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं । इन अनाश्रित जीवोंपर कृपा करके अपने चरणकमलोंका आश्रय प्रदान कीजिये ।' बस, इतना कहते-कहते प्रभुने श्रीजगन्नाथजीके श्रीविग्रहको आलिङ्गन किया और उसी क्षण आप उसमें लीन हो गये ।

पुजारी जल्दीसे यह कहता हुआ—'प्रभो ! यह आप क्या कर रहे हैं, दयालो ! यह आपकी कैसी लीला है' जल्दीसे प्रभुको पकड़नेके लिये दौड़ा ! किन्तु प्रभु अब वहाँ कहाँ ! वे तो अपने असली स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो गये । पुजारी मूर्छित होकर गिर पड़ा और हा देव ! हे प्रभो ! हे दयालो ! कहकर जोरोंसे चीत्कार करने लगा । द्वारपर खड़े हुए भक्तोंने पुजारीका करुणाक्रन्दन सुनकर जल्दीसे किवाड़ खोलनेको कहा, किन्तु पुजारीको होश कहाँ ! जैसे-तैसे बहुत कहने-सुननेपर पुजारीने किवाड़ खोले । भक्तोंने मन्दिरमें प्रवेश किया और प्रभुको वहाँ न देखकर अधीर होकर वे पूछने लगे—'प्रभु कहाँ हैं ?' पुजारीने लड़खड़ाती हुई वाणीमें रुक-रुककर सभी कहानी कह सुनायी । सुनते ही भक्तोंकी जो दशा हुई, उसका वर्णन यह काले मुखकी लेखनी भला कैसे कर सकती है ! भक्त पछाड़ खा-खाकर गिरने लगे, कोई दीवारसे सिर रगड़ने लगा। कोई पत्थरसे माथा फोड़ने लगा । कोई रोते-रोते धूलिमें लोटने लगा । स्वरूपगोस्वामी तो प्रभुके बाहरी प्राण ही थे । वे प्रभुके वियोगको कैसे सह सकते थे । वे चुपचाप स्तम्भित भावसे खड़े रहे । उनके पैर लड़खड़ाने

लगे। भक्तोंने देखा उनके मुँहसे कुछ धुआँ-सा निकल रहा है। उसी समय फटसे एक आवाज हुई। स्वरूपगोस्वामीका हृदय फट गया और उन्होंने भी उसी समय प्रभुके ही पथका अनुसरण किया।'

भक्तोंको जगन्नाथपुरी अब उजड़ी हुई नगरी-सी मालूम हुई। किसीने तो उसी समय समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दिये। किसीने कुछ किया, और बहुत-से पुरीको छोड़कर विभिन्न स्थानोंमें चले गये। पुरीसे अब गौरहाट उठ गयी। वक्रेश्वर पण्डितने फिर उसे जमानेकी चेष्टा की, किन्तु उसका उल्लेख करना विषयान्तर हो जायगा। किसीके जमानेसे हाट थोड़े ही जमती है, लाखों मठ हैं और उनके लाखों ही पैर पुजानेवाले महन्त हैं, उनमें वह चैतन्यता कहाँ? साँप तो निकल गया, पीछेसे लकीरको पीटते रहो। इससे क्या? इस प्रकार अड़तालीस वर्षोंतक इस धराधामपर प्रेमरूपी अमृतकी वर्षा करनेके पश्चात् महाप्रभु अपने सत्स्वरूपमें जाकर अवस्थित हो गये। बोलो प्रेमावतार श्रीचैतन्यदेवकी जय! बोलो उनके सभी प्रिय पार्षदोंकी जय! बोलो भगवन्नामप्रचारक श्रीगौरचन्द्रकी जय!

नामसंकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥
(श्रीमद्भागवत १२। १३। २३)

'जिनके नामका सुमधुर संकीर्तन सर्व पापोंको नाश करनेवाला है और जिनको प्रणाम करना सकल दुःखोंको नाश करनेवाला है उन सर्वोत्तम श्रीहरिके पादपद्मोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।'

इति शम्

श्रीमती विष्णुप्रियादेवी

गौरशक्तिं महामायां नवद्वीपनिवासिनीम्।
विष्णुप्रियां सतीं साध्वीं तां देवीं प्रणतोऽस्म्यहम्॥*

(प्र० द० प्र०)

यह विश्व महामाया शक्तिके ही अवलम्बसे अवस्थित है। शक्तिहीन संसारकी कल्पना ही नहीं हो सकती। सर्वशक्तिमान् शिव भी शक्तिके बिना शव बने पड़े रहते हैं। जब उनके अचेतन शवमें शक्तिदेवीका सञ्चार होता है, तभी वे शवसे शिव बन जाते हैं। शक्ति प्रच्छन्न रहती है और शक्तिमान् प्रकट होकर प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। यथार्थमें तो उस शक्तिकी ही साधना कठोर है। वनवासी वीतरागी विरक्त तपस्वियोंकी अपेक्षा छिपकर साधना करनेवाली सती-साध्वी, शक्तिरूपिणी देवीकी तपस्याको मैं अधिक श्रेष्ठ मानता हूँ। हृदयपर हाथ रखकर उस सतीकी तपश्चर्याकी कल्पना तो कीजिये, जो संसारमें रहकर भी संसारसे एकदम पृथक् रहती है। उसका सम्पूर्ण संसार पतिकी मनोहर मूर्तिमें ही सन्निहित हो जाता है। उसकी सभी इन्द्रियोंके व्यापार, चित्त और मनकी क्रियाएँ एकमात्र पतिके ही लिये होती हैं। पतिके रूपका चिन्तन ही उसके मनका आहार बन जाता है। अहा! कितनी ऊँची स्थिति होती होगी, क्या कोई शरीरको सुखाकर ही अपनेको कृतकृत्य समझनेवाला तपस्वी इस भयङ्कर तपस्याका अनुमान लगा सकता है?

---

* नवद्वीपमें निवास करनेवाली श्रीगौराङ्गदेवकी शक्ति महामायास्वरूपिणी सती-साध्वी श्रीविष्णुप्रियादेवीको मैं प्रणाम करता हूँ।

भगवान् बुद्धदेवके राज्य-त्यागकी सभी प्रशंसा करते हैं, किन्तु उस साध्वी गोपाका कोई नाम भी नहीं जानता जो अपने पाँच वर्षके पुत्र राहुलको संन्यासी बनाकर स्वयं भी राजमहल परित्याग करके अपने पति भगवान् बुद्धदेवके साथ भिक्षुणीवेषमें द्वार-द्वार भिक्षा माँगती रही। परमहंस रामकृष्णदेवके वैराग्यकी बात सभीपर विदित है, किन्तु उस भोली बाला शारदादेवीका नाम बहुत कम लोग जानते हैं जो पाँचवर्षकी अबोध बालिकाकी दशामें अपने पितृगृहको परित्याग करके अपने पगले पतिके घरमें आकर रहने लगी। परमहंसदेवने जब प्रेमके पागलपनमें संन्यास लिया था, तब वह जगन्माता पूर्ण युवती थी। अपने पतिके पागलपनकी बातें सुनकर वह लोकलाजकी कुछ भी परवा न करके अपने संन्यासी स्वामीके साथ रहने लगी। कल्पना तो कीजिये। युवावस्था रूपलावण्ययुक्त परम रूपवान् पुरुषकी सेवा, सो भी एकान्तमें और वह भी पादसेवाका गुरुतर कार्य। परम आश्चर्यकी बात तो यह है कि वह पुरुष भी परपुरुष नहीं अपना सगा स्वामी ही है, जिसपर भी किसी प्रकारका विकार मनमें न आना। 'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' * कहनेवाले वे कवि कल्पना करें कि क्या ऐसी घोर तपस्या पञ्चाग्नि तापने और शीतमें सैकड़ों वर्षोंतक जलमें खड़े रहनेवाली तपस्यासे कुछ कम है! अहा! ऐसी सती-साध्वी देवियोंके चरणोंमें हम कोटि-कोटि प्रणाम करते हैं। महाप्रभुके त्याग-वैराग्यका वृत्तान्त तो पाठक पिछले प्रकरणोंमें पढ़ ही चुके हैं, किन्तु उनसे भी बढ़कर त्याग और वैराग्य श्रीमती विष्णुप्रिया-जीका था। प्रभुका साधन सभी भक्तोंके समक्षमें हुआ, इससे भक्तोंके द्वारा वह संसारको विदित हो गया परन्तु श्रीविष्णुप्रियाजीकी साधना घरके भीतर एक गहरे कोनेमें नर-नारियोंकी दृष्टिसे एकदम अलग हुई इसलिये वह उतनी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकी। उनकी साधनाका

* स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा आठगुना कामोद्वेग बताया जाता है।

जो भी कुछ थोड़ा-बहुत समाचार मिलता है, उसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या कोई भी व्यक्ति इस प्रकारकी कठोरता कर सकता है ? अबला कही जानेवाली नारी-जातिके द्वारा क्या इतनी तीव्रतम तपस्या सम्भव हो सकती है ? किन्तु इसमें अविश्वासकी तो कोई बात ही नहीं। अद्वैताचार्यजीके प्रिय शिष्य ईशान नागरने प्रत्यक्ष देखकर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अद्वैत-प्रकाश' में इसका उल्लेख किया है। उस कठोरताकी कथाको सुनकर तो कठोरताका भी हृदय फटने लगेगा। बड़ी ही करुण कहानी है।

महाप्रभु संन्यास लेकर गृहत्यागी वैरागी बन गये, उससे उस पतिप्राणा प्रियाजीको कितना अधिक क्लेश हुआ होगा, यह विषय अवर्णनीय है। मनुष्यकी शक्तिके बाहरकी बात है। एक बार वृन्दावन जाते समय केवल विष्णुप्रियाजीकी ही तीव्र विरहवेदनाको शान्त करनेके निमित्त क्षणभरके लिये प्रभु अपने पुराने घरपर पधारे थे। उस समय विष्णुप्रियाजीने अपने संन्यासी पतिके पादपद्मोंमें प्रणत होकर उनसे जीवनालम्बनके लिये किसी चिह्नकी याचना की थी। दयामय प्रभुने अपने पादपद्मोंकी पुनीत पादुकाएँ उसी समय प्रियाजीको प्रदान की थीं और उन्हींके द्वारा जीवन धारण करते रहनेका उपदेश किया था। पतिकी पादुकाओंको पाकर पतिपरायणा प्रियाजीको परम प्रसन्नता प्राप्त हुई और उन्हींको अपने जीवनका सहारा बनाकर वे इस पाञ्चभौतिक शरीरको टिकाये रहीं। उनका मन सदा नीलाचलके एक निभृत स्थानमें किन्हीं अरुण रंगवाले दो चरणोंके बीचमें भ्रमण करता रहता। शरीर यहाँ नवद्वीपमें रहता, उसके द्वारा वे अपनी वृद्धा सासकी सदा सेवा करती रहतीं। शचीमाताके जीवनका एकमात्र अवलम्बन अपनी प्यारी पुत्र-वधूका कमलके समान म्लान मुख ही था। माता उस म्लान मुखको विकसित और प्रफुल्लित करनेके लिये भाँति-भाँतिकी चेष्टाएँ करतीं।

पुत्रवधूके सुवर्णके समान शरीरको सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे सजातीं। प्रभुके भेजे हुए जगन्नाथजीके बहुत ही मूल्यवान् पट्टवस्त्रको वे उन्हें पहनातीं तथा और भी विविध प्रकारसे उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करतीं। किन्तु विष्णुप्रियाजीकी प्रसन्नता तो पुरीके गम्भीरा मन्दिर-के किसी कोनेमें थिरक रही है, वह नवद्वीपमें कैसे आ जाय। शरीर तो उसके एक ही है, इसीलिये इन वस्त्राभूषणोंसे विष्णुप्रियाजीको अणुमात्र भी प्रसन्नता न होती। वे अपनी वृद्धा सासकी आज्ञाको उल्लङ्घन नहीं करना चाहतीं थीं। प्रभुके प्रेषित प्रसादी पट्टवस्त्रका अपमान न हो, इस भयसे वे उस मूल्यवान् वस्त्रको भी धारण कर लेतीं, और आभूषणोंको भी पहन लेतीं किन्तु उन्हें पहनकर वे बाहर नहीं जाती थीं।

प्रभुका पुराना भृत्य ईशान अभीतक प्रभुके घरपर ही था। शचीमाता उसे पुत्रकी भाँति प्यार करतीं। वही प्रियाजी तथा माताजीकी सभी प्रकार-की सेवा करता था। ईशान बहुत वृद्ध हो गया था, इसीलिये प्रभुने वंशीवदन नामक एक ब्राह्मणको माताकी सेवाके निमित्त और भेज दिया था। ये दोनों ही तन-मनसे माता तथा प्रियाजीकी सभी सेवा करते थे। प्रियाजीके पास काञ्चना नामकी एक उनकी सेविका सखी थी, वह सदा प्रियाजीके साथ ही रहती और उनकी हर प्रकारकी सेवा करती। दामोदर पण्डित भी नवद्वीपमें ही रहकर माताकी देख-रेख करते रहते और बीच-बीचमें पुरी जाकर माताजी तथा प्रियाजीका सभी संवाद सुना आते। विष्णुप्रियाजी उन दिनों घोर त्यागमय जीवन बिताती थीं। दामोदर पण्डितके द्वारा प्रभु जब इनके घोर वैराग्य और कठिन तपका समाचार सुनते तब वे मन-ही-मन अत्यधिक प्रसन्न होते।

विष्णुप्रियाजीका एकमात्र अवलम्बन वे प्रभुकी पुनीत पादुकाएँ ही थीं। अपने पूजागृहमें वे एक उच्चासनपर उन पादुकाओंको पधराये

हुए थीं और नित्यप्रति धूप, दीप, नैवेद्य आदिसे उनकी पूजा किया करती थीं। वे निरन्तर—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इसी महामन्त्रको जपती रहतीं। उन्होंने अपना आहार बहुत ही कम कर दिया था, किन्तु शचीमाताके आग्रहसे वे कभी-कभी कुछ अधिक भोजन कर लेती थीं।

पुत्रशोकसे जर्जरित हुई वृद्धा माताका हृदय फट गया था। पुत्रकी दिव्योन्मादकारी अवस्था सुनकर तो उसके घायल हृदयमें मानो किसीने विषसे बुझे हुए बाण बेध दिये हों। एक दिन माताने अधीर होकर भक्तोंसे कहा—'निमाईके विरहदुःखकी ज्वाला अब मेरे अन्तःकरणको तीव्रताके साथ जला रही है, अब मेरा यह पार्थिव शरीर टिक न सकेगा, इसलिये तुम मुझे भगवती भागीरथीके तटपर ले चलो।' भक्तोंने जगन्माताकी आज्ञाका पालन किया, और वे स्वयं अपने कन्धोंपर पालकी रखकर माताको गङ्गाकिनारे ले गये। पीछेसे पालकीपर चढ़कर विष्णुप्रियाजी भी वहाँ पहुँच गयीं। पुत्रशोकसे तड़फड़ाती हुई माताने अपनी प्यारी पुत्रवधूको अपने पास बुलाया। उसके हाथको अपने हाथसे धीरे-धीरे पकड़कर माताने कष्टके साथ पुत्रवधूका माथा चूमा और उसे कुछ उपदेश करके इस नश्वर शरीरको त्याग दिया। शचीमाताके वैकुण्ठगमनसे सभी भक्तोंको अपार दुःख हुआ। सासकी क्रिया कराकर प्रियाजी घर लौटीं। अब वे नितान्त अकेली रह गयी थीं। ईशान माताके पहले ही परलोकवासी बन चुका था, उसे अपनी स्नेहमयी माताका यह हृदय-विदारक दृश्य अपनी आँखोंसे नहीं देखना पड़ा। घरमें वंशीवदन था, और दामोदर पण्डित भी गृहके कार्योंकी देख-देख करते थे। विष्णु-

प्रियाजीका वैराग्य अब और भी अधिक बढ़ गया, अब वे दिनरात्रि अपने प्राणनाथके विरहमें तड़पती रहती थीं। अभीतक माताके वियोगका दुःख कम नहीं हुआ था कि प्रियाजीको यह हृदयविदारक समाचार मिला कि श्रीगौर अपनी लीलाको संवरण करके अपने नित्यधामको चले गये। इस दुस्सह समाचारको सुनकर तपस्विनी विष्णुप्रियाजी, कटे हुए केलेके वृक्षके समान भूमिपर गिर पड़ीं। उन्होंने अन्न-जलका एकदम परित्याग कर दिया। स्वामिनी-भक्त वंशीवदन ऐसी दशामें कैसे अन्नग्रहण करता। वह प्रियाजीका मन्त्रशिष्य भी था, इसलिये उसने भी अपने मुँहमें अन्नका दाना नहीं दिया। भक्तोंने आकर भाँति-भाँतिकी विनती की, किन्तु प्रियाजीने अन्न-जल ग्रहण करना स्वीकार ही नहीं किया। जब स्वप्नमें आकर प्रत्यक्ष श्रीगौराङ्गदेवने उनसे अभी कुछ दिन और शरीर धारण करनेकी आज्ञा दी, तब उन्होंने थोड़ा अन्न ग्रहण किया।

एक दिन प्रियाजी भीतर शयन कर रही थीं, वंशीवदन बाहर बरामदेमें सो रहा था। उसी समय स्वप्नमें उन्होंने देखा—मानो प्रत्यक्ष श्रीगौराङ्ग आकर कह रहे हैं—'जिस नीमके नीचे मैंने माताके स्तनका पान किया था, उसीके नीचे मेरी काष्ठकी मूर्ति स्थापित करो, मैं उसीमें आकर रहूँगा।' विष्णुप्रियादेवी उसी समय चौंककर उठ बैठीं, प्रातःकाल होनेको था, वंशीवदन भी जाग गया और उसने भी उसी क्षण ठीक यही स्वप्न देखा था। जब दोनोंने परस्पर एक दूसरेको स्वप्नकी बात सुनायी, तब तो शीघ्र ही दारुमयी मूर्तिकी स्थापनाका आयोजन होने लगा। वंशीवदनने उसी नीमकी एक सुन्दर लकड़ी काटकर बढ़ईसे एक बहुत ही सुन्दर श्रीगौराङ्गकी मूर्ति बनवायी। पंद्रह दिनमें मूर्ति बनकर तैयार हो गयी, वंशीवदनने लोहेकी सलाकासे उसपर अपना नाम खोदा। जब वस्त्राभूषण पहनाकर श्रीगौराङ्गविग्रहको सिंहासनपर पधराया गया, तब सभीको उसमें प्रत्यक्ष श्रीगौराङ्गके दर्शन होने लगे। वंशी-

वदनने दूर-दूरसे भक्तोंको बुलाकर खूब धूमधामसे उस मूर्तिकी प्रतिष्ठा की और एक बड़ा भारी मण्डारा किया। देवी विष्णुप्रियाजीने श्रीविग्रहकी नित्य-नैमित्तिक पूजाके निमित्त अपने भाई तथा भाईके पुत्र यादव-नन्दनको मन्दिरमें नियुक्त किया। श्रीविष्णुप्रियाजी नित्यप्रति मन्दिरमें दर्शन करनेके निमित्त जाया करती थीं और वंशीवदन भी उस मनोहर मूर्तिके दर्शनोंसे परम प्रसन्न होता था। वह मूर्ति अबतक श्रीनवद्वीपमें विराजमान है और उसके गोस्वामी पुजारी उन्हीं श्रीयादवनन्दनाचार्य-के वंशजोंमेंसे होते हैं। आजकल वे सभी श्रीमान् और धन-सम्पन्न हैं, भक्तोंमें वे महाप्रभुके स्यालकवंश गोस्वामी बोले जाते हैं।

कुछ कालके अनन्तर वंशीवदन भी इस असार संसारको परित्याग करके परलोकवासी बन गये। अब प्रियाजीकी सभी सेवाका भार वृद्ध दामोदर पण्डितके ही ऊपर पड़ा। अपने प्रिय शिष्यके वियोगसे प्रियाजीको अत्यधिक क्लेश हुआ, और अब उन्होंने घरसे बाहर निकलना भी बंद कर दिया। पहले अँधेरेमें काञ्चनाके साथ गङ्गास्नान करनेके निमित्त घाटपर चली जाती थीं, अब घरमें ही गङ्गाजल मँगाकर स्नान करने लगीं। कोई भी पुरुष उनके दर्शन नहीं कर सकता था। उन्होंने वैसे तो पर-पुरुषसे जीवनभरमें कभी बातें नहीं कीं, किन्तु अब उन्होंने भक्तोंको भी दर्शन देना बंद कर दिया। शामके समय पर्देकी आड़मेंसे भक्तोंको उनके चरणोंके दर्शन होते थे, उन अरुण रंगके कोमल चरण-कमलोंके दर्शनसे ही भक्त अपनेको कृतकृत्य समझते।

श्रीमद् अद्वैताचार्यजी अभीतक जीवित थे। वृद्धावस्थाके कारण उनका शरीर बहुत ही अधिक जर्जरित हो गया था। उन्होंने जब प्रिया-जीके ऐसे कठोर तपकी बात सुनी, तब तो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य ईशान नागरको प्रियाजीका समाचार लेनेके निमित्त नवद्वीप भेजा। शान्ति-

पुरसे नागर महाशय आये। यहाँ दामोदर पण्डित और श्रीवास पण्डितसे मिलकर उन्होंने जगन्माता श्रीविष्णुप्रियाजीके दर्शनोंकी इच्छा प्रकट की। दामोदर पण्डित ईशान नागरको प्रियाजीके अन्तःपुरमें ले गये, और वे प्रियाजीके चरणकमलोंके दर्शनोंसे कृतार्थ हुए। उन दिनों प्रियाजीका तप अलौकिक हो रहा था। वे सदा पूजामन्दिरमें ही बैठी रहतीं। एक पात्रमें चावल भरकर सामने रख लेतीं और दूसरे पात्रको खाली ही रखतीं। प्रातःकाल स्नान करके वे महामन्त्रका जप करने बैठतीं। एक बार—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—यह सोलह नामोंवाला मन्त्र कह लिया और एक चावल उस खाली पात्रमें डाल दिया। इस प्रकार तीसरे पहरतक वे निरन्तर जप करती रहतीं। जपकी संख्याके साथ डाले हुए उतने ही चावलोंको तीसरे पहर बनातीं। उनमें न तो नमक डालतीं और न दाल बनातीं। बस, उन्हींमेंसे थोड़े-से चावल भोग लगाकर प्रसादरूपमें स्वयं पा लेतीं, और शेष थोड़े-से भक्तोंको प्रसाद बाँटनेके निमित्त थालीमें छोड़ देतीं।' जिसे काञ्चना भक्तोंमें बाँट देती। पाठक, अनुमान तो लगावें। बत्तीस अक्षरवाले इस मन्त्रको जपनेसे कितने चावल तीसरे पहरतक होते होंगे, उन्हें ही बिना दाल-सागके पाना और प्रसादके लिये शेष भी छोड़ देना। अल्पाहारकी यहाँ हद हो गयी। ईशान नागरने अपने 'चैतन्यप्रकाश' नामक ग्रन्थमें स्वयं वर्णन किया है—

विष्णुप्रिया माता शचीदेवीर अन्तर्धाने।
भक्त-द्वारे द्वाररुद्ध कैला स्वेच्छाक्रमे॥
तार आज्ञा विना ताने निषेध दर्शने।
अत्यन्त कठोर व्रत करिला धारणे॥

प्रत्यूषेते स्नान करि कृताह्निक हय्या ।
हरिनाम करि किछु तण्डुल लइया ॥
नाम प्रति एक तण्डुल मृत-पात्रे राखय ।
हेन मते तृतीय प्रहर नाम लय ॥
जपान्ते सेइ संख्यार तण्डुल मात्र लय्या ।
यत्ने पाक करे मुख वस्त्रेते बान्धिया ॥
अलवण अनुपकरण अन्न लय्या ।
महाप्रभुर भोग लगाय काकुति करिया ॥
विविध विलाप करि दिया आचमनी ।
मुष्टिक-प्रसाद मात्र भुञ्जेन आपनि ॥
अवशेषे प्रसादान्न बिलाय भक्तेरे ।
एछन कठोर व्रत के करिते पारे ॥

अर्थात् 'शचीमाताके अन्तर्धान हो जानेके अनन्तर श्रीविष्णुप्रिया-देवी भक्तोंके द्वारा अपने घरके किवाड़ बंद करा लेती थीं । द्वार खुल-वाने न खुलवानेका अधिकार उन्होंने स्वयं ही अपने अधीन कर रक्खा था । उनकी आज्ञाके बिना कोई भी उनके दर्शन नहीं कर सकता था । उन्होंने अत्यन्त ही कठोर व्रत धारण कर रक्खा था । प्रातःकाल नित्य-कर्मोंसे निवृत्त होकर वे हरिनाम-जप करनेके निमित्त कुछ चावल अपने सम्मुख रख लेती थीं और प्रति मन्त्रपर एक-एक चावल मिट्टीके पात्रमें डालती जाती थीं । इस प्रकार वे तीसरे पहरतक जप करती थीं । फिर तीसरे पहर यत्नपूर्वक वस्त्रसे मुखको बाँधकर उन चावलोंका पाक करती थीं । बिना नमक और बिना दाल-शाकके उन चावलोंका महाप्रभुको भोग लगाती थीं, भाँति-भाँतिके स्नेह वचन कहतीं, स्तुति-प्रार्थना करके विविध भाँतिके विलाप करतीं, अन्तमें आचमनी देकर भोग उसारतीं

और उसमेंसे एक मुट्ठीभर चावल प्रसाद समझकर पा लेतीं । शेष बचा हुआ प्रसाद भक्तोंमें वितरित कर दिया जाता था । इस प्रकारका कठोर व्रत कौन कर सकेगा ?' सचमुच कोई भी इस व्रतको नहीं कर सकता । श्रीगौराङ्गकी अर्धाङ्गिनी ! सचमुच तुम्हारा यह व्रत तुम-जैसी तपस्वीकी प्रणयिनीके ही अनुरूप है । माता ! तुम्हारे ही तपसे तो गौर-भक्त तप और व्रतका कठोर नियम सीखे हैं । हमारी माताएँ तुम्हें अपना आदर्श बना लें तो यह अशान्तिपूर्ण संसार स्वर्गसे भी बढ़कर सुखकर और आनन्दप्रद बन जाय ।

श्रीईशान नागरने प्रियाजीका सभी वृत्तान्त अपने प्रभु अद्वैताचार्यसे जाकर कहा । आचार्यने सुनकर कुछ अन्यमनस्कभावसे कहा-- 'अच्छा, जैसी श्रीकृष्णकी इच्छा ।'

अवधूत नित्यानन्दजी भी जाह्नवी और वसुमती नामकी अपनी दोनों गृहिणियोंको छोड़कर परलोकवासी बन चुके थे । वसुमतीकी गोदमें वीरचन्द्र नामक एक पुत्र था, जाह्नवीकी गोद खाली थी । जाह्नवीदेवी पढ़ी-लिखी और देश-कालको समझनेवाली थीं । पतिके पश्चात् वे ही भक्तोंको मन्त्रदीक्षा देती थीं । उनका आजतक कभी श्रीविष्णुप्रियाजीसे साक्षात्कार नहीं हुआ था । अपने पति अवधूत नित्यानन्दके द्वारा वे विष्णुप्रियाजीके गुणोंको सुनती रहती थीं । अब जब उन दोनोंने विष्णुप्रियाजीके ऐसे कठोर तपकी बात सुनी तब तो श्रीविष्णुप्रियाजीके दर्शनोंकी उनकी इच्छा प्रबल हो उठी । वे दोनों शान्तिपुरमें श्रीअद्वैताचार्यके घर आयीं और वहाँसे अद्वैताचार्यकी गृहिणी श्रीसीतादेवीको साथ लेकर विष्णुप्रियाजीके दर्शनोंको चलीं । नवद्वीपमें वे वंशीवदनके घर आकर उतरीं । इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि वंशीवदन इस असार संसारको सदाके लिये त्याग गये थे, उनके चैतन्यदास और

नितांईदास ये दो पुत्र थे। बड़े पुत्रके उन दिनों एक पुत्र हुआ था, जिसका नाम घरवालोंने रामचन्द्र रक्खा था। आगे चलकर ये ही रमाई पण्डितके नामसे प्रसिद्ध हुए। इनमें वंशीवदनका अंश माना जाता है।

विष्णुप्रियाजीने अवधूतकी धर्मपत्नियोंके आगमनका समाचार सुना। उन्होंने उन बेचारियोंको पहले कभी नहीं देखा था। हाँ, वे सुना करती थीं कि अवधूत अब गृहस्थी बनकर रहते हैं। प्रियाजी बाहर तो निकलती ही नहीं थीं। किन्तु जब उन्होंने अवधूतकी गृहिणियोंका और सीतादेवीका समाचार सुना, तब तो अपने प्रिय शिष्य वंशीवदनके घर जानेमें कोई आपत्ति न समझी। वंशीवदन उनके पुत्रके समान था, वंशीवदनका पुत्र चैतन्यदास भी प्रियाजीके चरणोंमें अत्यधिक भक्ति रखता था, उसके घरको कृतार्थ करने और उसके पुत्र रामचन्द्रको देखने तथा सीतादेवी आदिसे मिलनेके निमित्त प्रियाजी चैतन्यदासके घर पधारीं। चैतन्यदासका घर प्रियाजीके घरके अत्यन्त ही समीप था। प्रियाजीके पधारनेसे परिवारके सभी लोगोंके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। *नित्यानन्दजीकी गृहिणी जाह्नवीदेवीने उठकर विष्णुप्रियाजीका स्वागत* किया। दोनों ही महापुरुषोंकी अर्धाङ्गिनी सगी दो बहिनोंके समान परस्पर हृदय-से-हृदय मिलाकर मिलीं। तब जाह्नवीदेवी एकान्तमें प्रियाजीको लेकर उनसे स्नेहकी बातें करने लगीं। जाह्नवीने स्नेहसे प्रियाजीके कोमल करको अपने हाथमें लेते हुए कहा—'बहिन! तुम इतना कठोर तप क्यों कर रही हो? इस शरीरको सुखानेसे क्या लाभ? इसी शरीरसे तो तुम हरिनाम ले सकती हो। बहिन! तुम्हारी ऐसी दयनीय दशा देखकर मेरी छाती फटी जाती है। मेरे पति महाप्रभुकी आज्ञासे अवधूतवेष छोड़कर गृहस्थी बन गये। उन्हें इतनी कठोरता अभीष्ट नहीं थी। मेरे पति मुझसे अन्तिम समयमें कह गये थे, शरीरको कष्ट देना ठीक नहीं है। बहुत कठोरता कामकी नहीं होती।'

धीरे-धीरे आँखोंमें आँसू भरकर प्रियाजीने कहा—'बहिन! तुम अपने पतिकी आज्ञाका पालन करो। मेरे पति तो भिक्षुक बनकर, भिक्षापर निर्वाह करके, स्त्रियोंके स्पर्शसे दूर रहकर घोर तपस्वीकी तरह जीवनभर रहे। उन्होंने अपने शरीरको कभी सुख नहीं पहुँचाया। मैं तो जितना बन सकेगा, शरीरको सुखाऊँगी।' इतना कहते-कहते प्रियाजी रुदन करने लगीं।

इसके अनन्तर उन्होंने जाकर सीतादेवीके पैर छुए। सीतामाताने उनके हाथ पकड़ते हुए कहा—'तुम गौराङ्गकी गृहिणी हो, जगन्माता हो, तुम मेरे पैर मत छुओ।' विष्णुप्रियाजी अधीर होकर वृद्धा सीता-माताकी गोदमें लुढ़क गयीं। सीतामाताने उनके सिरको गोदीमें रखते हुए कहा—'इस कमलवदनको देखकर ही मैं गौराङ्गके दुःखको भूल जाती हूँ। विष्णुप्रिये! तुम इतनी कठोरता मत करो। मेरे वृद्ध पति तुम्हारे इस कठोर व्रतसे सदा खिन्न-से रहते हैं।' विष्णुप्रियाजीके दोनों कमलके समान बड़े-बड़े नेत्रोंसे निरन्तर अश्रु निकल रहे थे। सीतामाता उन्हें अपने अञ्चलसे पोंछ देतीं और उसी क्षण वे फिर भर आते। सीतादेवीके वस्त्र भीग गये, किन्तु विष्णुप्रियाजीके नेत्रोंका जल न रुका। रोते-रोते उन्होंने सबसे विदा ली। जाह्नवीदेवीने पूछा—'बहिन! अब कब भेंट होगी?

अपने आँसुओंसे जाह्नवीदेवीके वक्षःस्थलको भिगोती हुई विष्णु-प्रियाजीने कहा—'अब मिलना क्या? जब दैवकी इच्छा होगी।' इतना कहते-कहते प्रियाजीने रोते-रोते जाह्नवीदेवी और वसुमतीदेवीका आलिङ्गन किया, सीतामाताके पैर छुए और वे घरको चली आयीं।

अब विष्णुप्रियाजीका वियोग दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ने लगा। अब वे दिन-रात रोती ही रहती थीं। काञ्चना उन्हें श्रीचैतन्यलीलाएँ सुना-सुनाकर सान्त्वना प्रदान करती रहती, किन्तु विष्णुप्रियाजीका हृदय

अपने पतिके पास पतिलोकमें जानेके लिये तड़फ रहा था। इसलिये रात-दिन उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा ही प्रवाहित होती रहती।

फाल्गुनी पूर्णिमा थी, चैतन्यदेवके जन्मका दिवस था। विष्णु-प्रियाजीकी अधीरता आज अन्य दिनोंकी अपेक्षा अत्यधिक बढ़ गयी थी। वे पगलीकी तरह हा प्राणनाथ! हा हृदयरमण! हा जीवन-सर्वस्व! कहकर लंबी-लंबी साँसें छोड़ती थीं। काञ्चना उनकी ऐसी दशा देखकर चैतन्यचरित्र सुना-सुनाकर सान्त्वना देने लगी किन्तु आज वे शान्त होती ही नहीं थीं, थोड़ी देरके पश्चात् उन्होंने कहा—'काञ्चने! तू यादवको तो बुला ला, आज मैं उनकी मूर्तिके भीतरसे दर्शन करना चाहती हूँ।'

काञ्चनाने उसी समय आज्ञाका पालन किया। वह जल्दीसे यादवाचार्य गोस्वामीको बुला लायी। आचार्यने मन्दिरके कपाट खोले। लंबी-लंबी साँस लेती हुई वस्त्रसे शरीर ढककर विष्णुप्रियादेवीजीने मन्दिरमें प्रवेश किया और थोड़ी देर एकान्तमें रहनेकी इच्छासे किवाड़ बंद करा दिये। यादवाचार्यने किवाड़ बंद कर दिये। काञ्चना द्वारपर खड़ी रही। जब बहुत देर हो गयी तब काञ्चनाने व्यग्रताके साथ आचार्यसे किवाड़ खोलनेको कहा। आचार्यने डरते-डरते किवाड़ खोले। बस, अब वहाँ क्या था, श्रीविष्णुप्रियाजी तो अपने पतिके साथ एकीभूत हो गयीं। उसके पश्चात् फिर किसीको श्रीविष्णुप्रियाजीके इस भौतिक शरीरके दर्शन नहीं हुए। मन्दिरको शून्य देखकर काञ्चना चीत्कार मारकर बेहोश होकर गिर पड़ी, सभी भक्त हाहाकार करने लगे। हा गौर! हा विष्णुप्रिये! की करुणाभरी ध्वनिसे दिशा-विदिशाएँ भर गयीं। भक्तोंके करुणाक्रन्दनसे आकाशमण्डल गूँजने लगा।

श्रीश्रीनिवासाचार्यजी

गौरशक्तिधरं सौम्यं सुन्दरं सुमनोहरम्।
गोपालानुगतं विज्ञं श्रीनिवासं नमाम्यहम्॥*

(प्र० द० ब्र०)

आचार्य श्रीनिवासजीके पूजनीय पितृदेव श्रीचैतन्यदास वर्दवान जिलेके अन्तर्गत चाकन्दी नामक ग्राममें रहते थे। वे श्रीचैतन्यदेवके अनन्य भक्तोंमेंसे थे। असलमें उनका नाम तो था गङ्गाधर भट्टाचार्य किन्तु श्रीचैतन्यके प्रेमबाहुल्यके कारण लोग इन्हें 'चैतन्यदास' कहने लगे थे।

महाप्रभु जब गृह त्यागकर कटवामें केशव भारतीके स्थानपर संन्यास-दीक्षा लेने आये, तब वहाँ उनके दर्शनोंके लिये बहुत-से आदमी

---

* जो साक्षात् श्रीचैतन्यदेवके प्रेमके दूसरे विग्रह समझे जाते हैं, जो चैतन्यदेवके ही समान सुन्दर, सौम्य और लोगोंके मनको हठात् अपनी ओर आकर्षित करनेवाले थे, उन आचार्यप्रवर श्रीगोपालभट्टजीके प्रिय शिष्य श्रीश्रीनिवासाचार्यके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।

आये हुए थे। उन आगत मनुष्योंमेंसे भट्टाचार्य गङ्गाधरजी भी थे। उन्होंने यह हृदयविदारक दृश्य अपनी आँखोंसे देखा था। बस, उसी शोकमें वे पागलोंकी तरह हा चैतन्य! हा चैतन्य! कहकर फिरने लगे, तभीसे ये चैतन्यदासके नामसे पुकारे जाने लगे।

ईश्वरकी इच्छा बड़ी ही प्रबल होती है, वृद्धावस्थामें चैतन्यदासजीको सन्तानका मुख देखनेकी इच्छा हुई। विवाह तो इनका बहुत पहले ही हो चुका था, इनकी धर्मपत्नी श्रीलक्ष्मीप्रियाजी बड़ी ही पतिपरायणा सती-साध्वी नारी थीं। वे अपने पतिको संसारी विषयोंसे विरक्त देखकर खिन्न नहीं होती थीं। पतिकी प्रसन्नतामें ही वे अपनी प्रसन्नता समझतीं। इस वृद्धावस्थामें दम्पतीको पुत्र-दर्शनकी लालसा हुई। दोनों ही पति-पत्नी पुरीमें महाप्रभुके दर्शनोंके लिये गये। महाप्रभुने आशीर्वाद दिया कि 'तुम्हारे जो पुत्र होगा, उसमें हमारी शक्तिका अंश रहेगा, वह हमारा ही दूसरा विग्रह होगा।' महाप्रभुका वरदान अन्यथा थोड़े ही हो सकता था। इसके दूसरे ही वर्ष लक्ष्मीप्रियाजीने चाकन्दीमें एक पुत्र-रत्न प्रसव किया। माता-पिताने उसका नाम रक्खा श्रीनिवास। ये ही श्रीनिवास आगे चलकर श्रीनिवासाचार्यके नामसे भक्तोंमें अत्यधिक प्रसिद्ध हुए।

श्रीनिवास बाल्यकालसे ही बुद्धिमान्, सुशील, सौम्य और मेधावी प्रतीत होते थे। सतरह-अठारह वर्षकी अल्पावस्थामें ही ये व्याकरण, काव्य तथा अलङ्कार-शास्त्रोंमें पारङ्गत हो गये थे। इनकी ननसाल जाजिग्राममें थी, इनके नाना श्रीबलरामाचार्य भी परम भक्त और सच्चे वैष्णव थे। इनकी माता तो बड़ी पतिपरायणा और चैतन्य-चरणोंमें श्रद्धा रखनेवाली थीं। बाल्यकालसे ही उसने अपने प्रिय पुत्र श्रीनिवासको चैतन्य-लीलाएँ कण्ठस्थ करा दी थीं। बच्चेके हृदयमें बाल्यकालकी जमी हुई

छाप सदाके लिये अमिट-सी हो जाती है। श्रीनिवासके हृदयमें भी चैतन्यकी मनमोहिनी मूर्ति समा गयी। वे चैतन्य-चरणोंके दर्शनोंके लिये छटपटाने लगे।

एक दिन ये अपनी ननसाल जाजिग्रामको जा रहे थे, रास्तेमें श्रीखण्डनिवासी श्रीनरहरि सरकारसे इनकी भेंट हो गयी। सरकार महाशय महाप्रभुके अनन्य भक्त थे और गौर-भक्तोंमें वे 'सरकार ठाकुर' के नामसे प्रसिद्ध थे। पण्डित गोस्वामी (गदाधर पण्डित) के ये अत्यन्त ही कृपापात्र थे। वे इनके ऊपर बहुत प्यार करते थे।

श्रीनिवासजीने सरकार ठाकुरकी ख्याति तो सुन रक्खी थी, किन्तु उनके दर्शनोंका सौभाग्य उन्हें आजतक कभी प्राप्त नहीं हुआ था। इधर ठाकुर सरकारने भी बालक श्रीनिवासकी असाधारण प्रतिभा और प्रभुपरायणताकी प्रशंसा सुन रखी थी और वे उस होनहार बालकको देखनेके लिये लालायित भी थे। सहसा दोनोंकी रास्तेमें भेंट हो गयी। श्रीनिवासजीने श्रद्धा-भक्तिके सहित सरकार ठाकुरके चरणोंमें प्रणाम किया और सरकार ठाकुरने इन्हें प्रेमालिङ्गन प्रदान करके प्रभु-प्रेम-प्राप्तिका आशीर्वाद दिया। उन महापुरुषका आशीर्वाद पाकर श्रीनिवास अपनी ननसाल होकर लौट आये और अपने पितासे महाप्रभुकी लीलाओंको बड़े ही चावसे सुनने लगे। उन्होंने एक-एक करके प्रभुके सभी अन्तरङ्ग भक्तोंके संक्षिप्त चरित्र जान लिये।

कालकी गति विचित्र होती है, चैतन्यदासजीको ज्वर आने लगा और उसी ज्वरमें वे इस असार संसारको त्यागकर वैकुण्ठवासी बन गये। श्रीनिवास अब पितृहीन हो गये। लक्ष्मीप्रिया पतिके शोकमें दिन-रात रोने लगी।

श्रीनिवासजीके नाना श्रीबलरामाचार्यके कोई सन्तान नहीं थी, ये ही उनकी सम्पूर्ण सम्पत्तिके एकमात्र उत्तराधिकारी थे, अतः ये अपनी माताको लेकर जाजिग्राममें जाकर रहने लगे। इनकी बार-बार इच्छा होती थी कि सब कुछ छोड़-छाड़कर श्रीचैतन्य-चरणोंकी ही शरण लें, किन्तु स्नेहमयी माताके बन्धनके कारण वे ऐसा कर नहीं सकते थे, किन्तु एक बार पुरी चलकर उनके दर्शनोंसे तो इन नेत्रोंको कृतार्थ कर लें यह उनकी प्रबल वासना थी। जाजिग्रामकी भक्त-मण्डलीमें इनका अत्यधिक आदर था। इस अल्पावस्थामें ही इनकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी थी। अतः इन्होंने अपनी इच्छा सरकार ठाकुरपर प्रकट की। सरकार ठाकुरने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'तुम पुरी जाकर श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शन अवश्य करो। मैं तुम्हारे साथ एक आदमी किये देता हूँ।' यह कहकर उन्होंने एक आदमी इनके साथ कर दिया और ये उसके साथ पुरीकी ओर चल पड़े।

श्रीचैतन्यदेवके प्रेममें विभोर हुए ये अनेक बातें सोचते जाते थे कि 'श्रीचैतन्य-चरणोंमे जाकर यों प्रणत हूँगा, यों उनके प्रति अपना भक्ति-भाव प्रकट करूँगा। एक दिन स्वयं उन्हें अपने हाथोंसे बनाकर भिक्षा कराऊँगा।' श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शनोंकी उत्कट उत्कण्ठाके कारण ही उनके मनमें ऐसे भाव उठ रहे थे कि रास्तेमें उन्होंने एक बड़ा ही हृदय-विदारक समाचार सुना। 'जिनके दर्शनोंकी लालसासे हम पुरी जा रहे हैं, वे तो अपनी लीलाको संवरण कर चुके। चैतन्यदेव इस नश्वर शरीरको छोड़कर अपने नित्य-धामको चले गये।' इस समाचारको सुनते ही इनका हृदय फट गया, वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। बड़ी देरके पश्चात् इन्हें होश आया, तब दुःखित मनसे श्रीचैतन्यकी लीलास्थलोंके दर्शनोंके ही निमित्त वे रोते-रोते आगे बढ़े।

पुरीमें जाकर उन्होंने देखा वह भरी-पूरी नगरी गौराङ्गके बिना श्रीहीन तथा विधवा स्त्रीकी भाँति निरानन्दपूर्ण बनी हुई है। सभी गौर-भक्त गौर-विरहमें तप्त मछलीकी भाँति तड़प रहे हैं। गौरने स्वप्नमें ही इन्हें गदाधर पण्डितके पास जानेका आदेश दे दिया था। पण्डित गोस्वामीकी ख्याति ये पहलेसे ही सुनते रहते थे। पुरीमें ये गदाधर गोस्वामीका पता पूछते-पूछते उनके आश्रममें पहुँचे। वहाँ उन्होंने विरह-वेदनामें बेचैन बैठे हुए पण्डित गोस्वामीको देखा। पण्डित गोस्वामी चैतन्य-विरहमें विक्षिप्त-से हो गये थे। उनके दोनों नेत्रोंसे सतत अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। श्रीनिवासजी 'हा चैतन्य !' कहते-कहते उनके चरणोंमें गिर पड़े। आँसुओंके भरे रहनेके कारण पण्डित गोस्वामी श्रीनिवासजीको देख नहीं सके। उन्होंने अत्यन्त ही करुणस्वरमें कहा—'भैया! तुम कौन हो ? इस सुमधुर नामको सुनाकर तुमने मेरे शिथिल अङ्गोंमें पुनः शक्तिका सञ्चार-सा कर दिया है। आज मेरे हृदयमें तुम्हारे इन सुमधुर वाक्योंसे बड़ी शान्ति-सी प्रतीत हो रही है। तुम श्रीनिवास तो नहीं हो।' दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए श्रीनिवासजीने कहा—'प्रभो! इस अधम भाग्यहीनका ही नाम श्रीनिवास है। स्वामिन्! इस दीन-हीन कंगालका नाम आपको याद है, प्रभो! मैं बड़ा हतभागी हूँ कि इस जीवनमें श्रीचैतन्य-चरणोंके साक्षात् दर्शन न कर सका। महाप्रभु यदि स्वप्नमें मुझे आदेश न देते तो मैं उसी क्षण अपने प्राणोंको विसर्जन करनेका संकल्प कर चुका था। चैतन्यचरणोंके दर्शन बिना इस जीवनसे क्या लाभ !'

पण्डित गोस्वामीने उठकर श्रीनिवासजीका आलिङ्गन किया और उनके कोमल अंगपर अपना शीतल प्रेममय करकमल धीरे-धीरे फिराने लगे। उनके प्रेम-स्पर्शसे श्रीनिवासजीका सम्पूर्ण शरीर पुलकित

हो उठा। तब अधीरताके साथ पण्डित गोस्वामीने करुणकण्ठसे कहा—
'श्रीनिवास ! अब मैं भी अधिक दिनोंतक जीवित नहीं रह सकता। गौरके विरहमें मेरे प्राण तड़प रहे हैं। मैं तो उसी दिन समुद्रमें कूदकर इन प्राणोंका अन्त कर देता, किन्तु प्रभुकी आज्ञा थी कि मैं तुम्हें श्रीमद्भागवत पढ़ाऊँ। मेरी स्थिति अब पढ़ानेयोग्य तो रही नहीं, किन्तु महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य है। प्रभु तुम्हें वृन्दावनमें जाकर रूप-सनातनके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेके लिये आदेश दे गये हैं। वे तुम्हारे द्वारा गौड़देशमें भक्तिका प्रचार कराना चाहते हैं। तुम अब आ गये, लाओ मैं प्रभुकी आज्ञाका पालन करूँ। इससे पहले तुम पुरीके सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध गौर-भक्तोंके दर्शन कर आओ।'

पण्डित गोस्वामीने अपना एक आदमी श्रीनिवासजीके साथ कर दिया। उसके साथ वे श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते हुए सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानन्द आदि भक्तोंके दर्शनोंके लिये गये और उन सबकी चरण-वन्दना करके इन्होंने अपना परिचय दिया। सभीने इनके ऊपर पुत्रकी भाँति स्नेह प्रकट किया। इन सबसे विदा होकर फिर ये भक्त हरिदासजीकी समाधिके दर्शनोंके लिये गये। वहाँ हरिदासजी-की नामनिष्ठा और उनकी सहिष्णुताका स्मरण करके ये मूर्च्छित हो गये और घण्टों वहाँकी धूलिमें लोटते-लोटते अश्रुविमोचन करते रहे। श्रीचैतन्यकी सभी लीलास्थलियोंके दर्शन करके ये पुनः पण्डित गोस्वामीके समीप लौट आये। तब गदाधरजीने इन्हें महाप्रसादका भोजन कराया। भोजनके अनन्तर स्वस्थ होनेपर इन्होंने श्रीमद्भागवतके पाठकी जिज्ञासा की। गदाधर गोस्वामीके नेत्रोंसे जल निरन्तर बह रहा था। खाते-पीते, पढ़ते-लिखते हर समय उनका अश्रुप्रवाह जारी ही रहता। वे बड़े कष्टसे पोथीको श्रीनिवासजीको देकर पढ़ाने लगे।

श्रीनिवासजीने देखा । पोथीका एक भी अक्षर ठीक-ठीक नहीं पढ़ा जाता । सभी पृष्ठ पण्डित गोस्वामीके नेत्रोंके जलसे भीगे हुए हैं । निरन्तरके अश्रु-प्रवाहसे पोथीके सभी अक्षर मिटकर पृष्ठ काले रंगके बन गये हैं । श्रीनिवासजीने उसे पढ़नेमें अपनी असमर्थता प्रकट की । तब गदाधर गोस्वामीने कहा—'श्रीनिवास ! अब मेरे जीनेकी तुम विशेष आशा मत रक्खो । संसार मुझे सूना-सूना दीखता है । हाय ! जहाँ गौर नहीं, वहाँ मैं कैसे रह सकूँगा । मेरे प्राण गौर-दर्शनोंके लिये लालायित हो रहे हैं । यदि तुम पढ़ना ही चाहते हो तो आज ही तुम गौड़ चले जाओ । नरहरि सरकारके पास मेरे हाथकी लिखी हुई एक नयी पोथी है, उसे ले आओ । बहुत सम्भव है, मैं तुम्हे पढ़ा सकूँ ।' श्रीनिवासजी समझ गये कि पण्डित गोस्वामीका शरीर अब अधिक दिनतक नहीं टिक सकता । वे उसी समय सरकार ठाकुरके समीपसे पोथी लानेके लिये चल पड़े । श्रीखण्डमें आकर उन्होंने सभी वृत्तान्त सरकार ठाकुरसे कहा और वे जल्दीसे पोथी लेकर पुरीके लिये चल दिये ।

अभी वे पुरीके आधे ही मार्गमें पहुँचे थे कि उन्हें यह हृदयको हिला देनेवाला दूसरा समाचार मिला कि पण्डित गोस्वामीने गौर विरहकी अग्निमें अपने शरीरको जला दिया, वे इस संसारको छोड़कर गौरके समीप पहुँच गये । दुःखित श्रीनिवासके कलेजेमें सैकड़ों बर्छियोंके लगनेसे जितना घाव होता है, उससे भी बड़ा घाव हो गया । वे रो-रोकर भूमिपर लोटने लगे । 'हाय ! उन महापुरुषसे मैं श्रीमद्भागवत भी न पढ़ सका । अब पुरी जाना व्यर्थ है ।' यह सोचकर वे फिर गौड़की ही ओर लौट पड़े । वहाँ पानीहाटीसे कुछ दूरपर उन्होंने एक तीसरा हृदयविदारक समाचार सुना । एक मनुष्यने कहा—'महाप्रभुके

तिरोभावके अनन्तर श्रीपाद नित्यानन्दजीकी दशा विचित्र ही हो गयी थी। उन्होंने संकीर्तनमें जाना एकदम बंद कर दिया था, वे खड़दहके अपने मकानमें ही पड़े-पड़े 'हा गौर! हा गौर!' कहकर सदा रुदन किया करते थे। कभी-कभी कीर्तनके लिये उठते तो क्षणभरमें ही मूर्छित होकर गिर पड़ते और घण्टोंमें जाकर होशमें आते। सभी भक्त उनकी मनोव्यथाको समझते थे, इसलिये कोई उनसे संकीर्तनमें चलनेका आग्रह नहीं करता था। एक दिन वे श्यामसुन्दरके मन्दिरमें भक्तोंके साथ संकीर्तन कर रहे थे, संकीर्तन करते-करते ही वे अचेत होकर भूमिपर गिर पड़े। यह उनकी अचेतनता अन्तिम ही थी। भक्तोंने भाँति-भाँतिके यत्न किये किन्तु फिर वे सचेत नहीं हुए। वे गौरधाममें जाकर अपने भाई निमाईके साथ मिल गये।'

श्रीनिवासजीके ऊपर मानो वज्र गिर पड़ा हो, वे खिन्न-चित्तसे क्रन्दन करते-करते सरकार ठाकुरके समीप पहुँचे और रो-रोकर सभी समाचार सुनाने लगे। भक्तिभवनके इन प्रधान स्तम्भोंके टूट जानेसे भक्तोंको अपार दुःख हुआ। सरकार ठाकुर बच्चोंकी तरह ढाह मारकर रुदन करने लगे। श्रीनिवासजीके दोनों नेत्र रुदन करते-करते फूल गये थे। वे कण्ठ रुँध जानेके कारण कुछ कह भी नहीं सकते थे। सरकार ठाकुरने इन्हें कई दिनोंतक अपने ही यहाँ रक्खा। इसके अनन्तर वे घर नहीं गये। अब उनकी इच्छा श्रीचैतन्यकी क्रीड़ा-भूमिके दर्शनोंकी हुई। वे उसी समय सरकार ठाकुरसे विदा होकर नवद्वीपमें आये। उन दिनों विष्णुप्रियादेवीजी घोर तपस्यामय जीवन बिता रही थीं। वे किसीसे भी बातें नहीं करती थीं, किन्तु उन्हें स्वप्नमें श्रीगौराङ्गका आदेश हुआ कि 'श्रीनिवास हमारा ही अंश है, इससे मिलनेमें कोई क्षति नहीं। इसके ऊपर तुम कृपा करो।' तब उन्होंने श्रीनिवासजीको स्वयं बुलाया। वे इस छोटे बालकके ऐसे त्याग, वैराग्य, प्रेम और रूपलावण्यको देखकर

बड़ी ही प्रसन्न हुईं। प्रियाजीने इनके ऊपर परम कृपा प्रदर्शित की। इनसे बातें कीं, इनके मस्तकपर अपना पैर रक्खा और अपने घरके बाहरी दालानमें इन्हें कई दिनोंतक रक्खा।

जगन्माता विष्णुप्रियाजीसे विदा होकर ये शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यकी जन्मभूमिको देखने गये। वहाँसे वे नित्यानन्दजीके घर खड़दहमें पहुँचे। वहाँ अवधूतकी पत्नी श्रीमती जाह्नवीदेवीने इनपर अपार प्रेम प्रदर्शित किया और कई दिनोंतक अपने घरमें ही इन्हें रक्खा। उन दोनों माताओंकी चरण-वन्दना करके ये खानाकुल कृष्णनगरके गोस्वामी अभिरामदासजीके दर्शनोंको गये। उन्होंने ही इन्हें वृन्दावनमें जाकर भक्ति-ग्रन्थोंके अध्ययन करनेकी अनुमति दी। उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके ये अपनी मातासे आज्ञा लेकर काशी-प्रयाग होते हुए वृन्दावन पहुँचे। वहाँ जीव गोस्वामीने इनका बड़ा सत्कार किया। उन्होंने ही गोपाल-भट्टसे इन्हें मन्त्र-दीक्षा दिलायी। ये वृन्दावनमें ही रहकर श्रीरूप और सनातन आदि गोस्वामियोंके बनाये हुए भक्ति-शास्त्रोंका अध्ययन करने लगे। वहीं इनकी नरोत्तमदासजी तथा श्यामानन्दजीके साथ भेंट हुई और उन्हींके साथ ये गोस्वामियोंके ग्रन्थोंका अध्ययन करने लगे।

श्रीजीव गोस्वामीजीने जब समझ लिया कि ये तीनों ही योग्य बन गये हैं, तीनों ही तेजस्वी, मेधावी और प्रभावशाली हैं, तब इन्हें गौड़देशमें भक्तितत्त्वका प्रचार करनेके निमित्त भेजा। नरोत्तमदासजीको 'ठाकुर' की उपाधि दी और श्रीनिवासजीको आचार्यकी। भक्ति-ग्रन्थोंके बिना भक्ति-मार्गका यथाविधि प्रचार हो नहीं सकता। अतः जीव गोस्वामीने बहुत-से ग्रन्थोंको मोमजामेके कपड़ोंमें बँधवा-बँधवाकर तथा कई सुरक्षित संदूकोंमें बंद कराकर एक बैलगाड़ीमें लादकर इनके साथ भेजा। रक्षाके लिये साथमें दस अस्त्रधारी सिपाही भी कर दिये। तीनों

ही तेजस्वी युवक अपने आचार्यों तथा भक्तोंके चरणोंमें प्रणाम करके काशी-प्रयाग होते हुए गौड़देशकी ओर जाने लगे ।

रास्तेमें बाँकुड़ा जिलेके अन्तर्गत वनविष्णुपुर नामकी एक छोटी-सी राजधानी पड़ती है, वहाँ पहुँचकर डाकुओंने इनकी सभी संदूकें छीन लीं और सभीको मार भगाया । इस बातसे सभीको अपार कष्ट हुआ । असलमें उस राज्यके शासक राजा वीरहम्मीर ही डाकुओंको उत्साहित कर दिया करते थे और उस गाड़ीको भी धन समझकर उन्हींने ही लुटवा लिया था । पुस्तकोंके लुट जानेसे दुःखी होकर श्रीनिवासजीने श्यामानन्दजीसे और नरोत्तम ठाकुरसे कहा—'आपलोग अपने-अपने स्थानोंको जाइये और आचार्यचरणोंकी आज्ञाको शिरोधार्य करके भक्तिमार्गका प्रचार कीजिये । मैं या तो पुस्तकोंको प्राप्त करके लौटूँगा या यहीं कहीं प्राण गँवा दूँगा ।' बहुत कहने-सुननेपर वे दोनों आगेके लिये चले गये । श्रीनिवासजी वनविष्णुपुरमें घूम-घूमकर पुस्तकोंकी खोज करने लगे । दैवसंयोगसे उनका राजसभामें प्रवेश हो गया । राजा वीरहम्मीर श्रीमद्भागवतके बड़े प्रेमी थे, उनकी सभामें रोज कथा होती थी । एक दिन कथावाचक राज-पण्डितको अशुद्ध अर्थ करते देखकर इन्होंने उसे टोका, तब राजाने कुतूहलके साथ इनके मैले-कुचैले वस्त्रोंको देखकर इन्हींसे अर्थ करनेको कहा । बस, फिर क्या था, वे धाराप्रवाहरूपसे एक ही श्लोकके नाना भाँतिसे युक्ति और शास्त्रप्रमाणद्वारा विलक्षण-विलक्षण अर्थ करने लगे । इनके ऐसे प्रकाण्ड पाण्डित्यको देखकर सभी श्रोता मन्त्रमुग्ध-से बन गये । राजाने इनके चरणोंमें प्रणाम किया । पूछनेपर इन्होंने अपना सभी वृत्तान्त सुनाया । तब डबडबाई आँखोंसे राजा इन्हें भीतर ले गया और इनके पैरोंमें पड़कर कहने लगा—'आपका वह पुस्तकोंको लूटनेवाला डाकू मैं ही हूँ । ये आपकी पुस्तकें ज्यों-की-त्यों ही रक्खी हैं ।' श्रीजीव

गोस्वामीकी दी हुई सभी वस्तुओंको सुरक्षित पाकर ये प्रेममें गद्गद होकर अश्रुविमोचन करने लगे, इन्होंने श्रद्धा-भक्तिके साथ उन पुस्तकोंको प्रणाम किया और अपने परिश्रमको सफल हुआ समझकर अत्यन्त ही प्रसन्न हो गये। उसी दिनसे राजाने वह कुत्सित कर्म एकदम त्याग दिया और वह इनका मन्त्रशिष्य बन गया।

वनविष्णुपुरके राजाका उद्धार करके फिर ये जाजिग्राममें अपनी माताके दर्शनोंके लिये आये। बहुत दिनोंके पश्चात् अपने प्यारे पुत्रको पाकर स्नेहमयी माताकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा, वह प्रेममें गद्गद कण्ठसे रुदन करने लगी। आचार्य श्रीनिवास अब वहीं रहकर भक्ति-मार्गका प्रचार करने लगे। उनकी वाणीमें आकर्षण था, चेहरेपर तेज था, सभी वैष्णव इनका अत्यधिक आदर करते थे। वैष्णवसमाजके ये सम्माननीय अग्रणी समझे जाते थे। उन्चास वर्षकी अवस्थामें इन्होंने अपना पहला विवाह किया और कुछ दिनों बाद दूसरा विवाह भी कर लिया। इस प्रकार दो विवाह करनेपर भी ये विरक्तोंकी ही भाँति जीवन बिताने लगे। बीचमें ये एक बार पुनः अपने गुरुदेवके दर्शनोंके निमित्त वृन्दावन पधारे थे, तबतक इनके गुरु श्रीगोपाल भट्टका वैकुण्ठवास हो चुका था। कुछ दिन वृन्दावन रहकर ये पुनः गौड़देशमें आकर प्रचारकार्य करने लगे।

ठाकुर नरोत्तमदासजी

लोकनाथप्रियं धीरं लोकातीतं च प्रेमदम्।
श्रीनरोत्तमनामाख्यं तं विरक्तं नमाम्यहम्॥*
(प्र० द० म०)

पद्मानदीके किनारेपर खेतरी नामकी एक छोटी-सी राजधानी है। उसी राज्यके स्वामी श्रीकृष्णानन्ददत्त मजूमदारके यहाँ नारायणीदेवीके गर्भमे ठाकुर नरोत्तमदासजीका जन्म हुआ। ये बाल्यकालसे ही विरक्त थे। घरमें अतुल ऐश्वर्य था, सभी प्रकारके संसारी सुख थे, किन्तु इन्हें

* श्रीलोकनाथ गोस्वामीके परम प्रिय शिष्य, महाधैर्यवान् और लोकातीत कर्म करनेवाले उन श्रीनरोत्तमदासजीके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ, जो राजपाटको छोड़कर विरक्त बनकर लोगोंको प्रेमदान देते रहे।

कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। ये वैष्णवोंके द्वारा श्रीगौराङ्गकी लीलाओंको श्रवण किया करते थे। श्रीरूप तथा सनातन और श्री-रघुनाथदासजीके त्याग और वैराग्यकी कथाएँ सुन-सुनकर इनका मन राज्य, परिवार तथा धन-सम्पत्तिसे एकदम फिर गया। ये दिन-रात श्रीगौराङ्गकी मनोहर मूर्तिका ही ध्यान करते रहे। सोते-जागते, उठते-बैठते इन्हें चैतन्यलीलाएँ ही स्मरण होने लगीं। घरमें इनका चित्त एकदम नहीं लगता था। इसलिये ये घरको छोड़कर कहीं भाग जानेकी बात सोच रहे थे। गौराङ्ग महाप्रभु तथा उनके बहुत-से प्रिय पार्षद इस संसारको त्यागकर वैकुण्ठवासी बन चुके थे। बालक नरोत्तमदास कुछ निश्चित न कर सके कि किसके पास जाऊँ। पण्डित गोस्वामी, स्वरूपदामोदर, नित्यानन्दजी, अद्वैताचार्य तथा सनातन आदि बहुत-से प्रभुपार्षद इस संसारको छोड़ गये थे। अब किसकी शरणमें जानेसे गौरप्रेमकी उपलब्धि हो सकेगी—इसी चिन्तामें ये सदा निमग्न रहते। एक दिन स्वप्नमें इन्हें श्रीगौराङ्गने दर्शन दिये और आदेश दिया कि 'तुम वृन्दावनमें जाकर लोकनाथ गोस्वामीके शिष्य बन जाओ।' बस, फिर क्या था, ये एक दिन घरसे छिपकर वृन्दावनके लिये भाग गये और वहाँ श्रीजीव गोस्वामीके शरणापन्न हुए। इन्होंने अपने स्वप्नका वृत्तान्त जीव गोस्वामी-को सुनाया। इसे सुनकर उन्हें प्रसन्नता भी हुई और कुछ खेद भी। प्रसन्नता तो इनके राजपाट, धन-धान्य तथा कुटुम्ब-परिवारके परित्याग और वैराग्यके कारण हुई। खेद इस बातका हुआ कि लोकनाथ गोस्वामी किसीको शिष्य बनाते ही नहीं। शिष्य न बनानेका उनका कठोर नियम है।

श्रीलोकनाथ गोस्वामी और भूगर्भ गोस्वामी दोनों ही महाप्रभुके संन्यास लेनेसे पूर्व ही उनकी आज्ञासे वृन्दावनमें आकर चीरघाटपर एक कुञ्जकुटीर बनाकर साधन-भजन करते थे। लोकनाथ गोस्वामीका

वैराग्य बड़ा ही अलौकिक था। वे कभी किसीसे व्यर्थकी बातें नहीं करते। प्रायः वे सदा मौनी-से ही बने रहते। शान्त एकान्त स्थानमें वे चुपचाप भजन करते रहते, स्वतः ही कुछ थोड़ा बहुत प्राप्त हो गया, उसे पा लिया, नहीं तो भूखे ही पड़े रहते। शिष्य न बनानेका इन्होंने कठोर नियम कर रक्खा था, इसलिये आजतक इन्होंने किसीको भी मन्त्रदीक्षा नहीं दी थी। श्रीजीव गोस्वामी इन्हें लोकनाथ गोस्वामीके आश्रममें ले गये और वहाँ जाकर इनका उनसे परिचय कराया। राजा कृष्णानन्ददत्तके सुकुमार राजकुमार नरोत्तमदासके ऐसे वैराग्यको देखकर गोस्वामी लोकनाथजी अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। जब इन्होंने अपनी दीक्षाकी बात कही तब उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'हमें तो गौरने आज्ञा नहीं दी। हमारा तो शिष्य न करनेका नियम है। तुम किसी और गुरुकी शरणमें जाओ।' इस उत्तरसे राजकुमार नरोत्तमदासजी हताश या निराश नहीं हुए, उन्होंने मन-ही-मन कहा—'मुझमें शिष्य बननेकी सच्ची श्रद्धा होगी तो आपको ही दीक्षा देनी होगी।' यह सोचकर ये छिपकर वहीं रहने लगे।

श्रीलोकनाथ गोस्वामी प्रातःकाल उठकर यमुनाजीमें स्नान करने जाते और दिनभर अपनी कुञ्जकुटीरमें बैठे-बैठे हरिनाम-जप किया करते। नरोत्तमदास छिपकर उनकी सेवा करने लगे। वे जहाँ शौच जाते, उस शौचको उठाकर दूर फेंक आते। जिस कँकरीले, पथरीले और कण्टकाकीर्ण रास्तेसे वे यमुनास्नान करने जाते उस रास्तेको खूब साफ करते। उसमेंके काँटेदार वृक्षोंको काटकर दूसरी ओर फेंक देते; वहाँ सुन्दर वालुका बिछा देते। कुञ्जको बाँध देते। उनके हाथ धोनेको नरम-सी सुन्दर मिट्टी लाकर रख देते। दोपहरको उनके लिये भिक्षा लाकर चुपके-से रख जाते। सारांश यह कि जितनी वे कर सकते थे और जो भी उनके सुखका उपाय सूझता उसे ही सदा करते रहते। इस प्रकार

उन्हें गुप्त रीतिसे सेवा करते हुए बारह-तेरह महीने बीत गये। जब सब बातें गोस्वामीजीको विदित हो गयीं तो उनका हृदय भर आया। अब वे अपनी प्रतिज्ञाको एकदम भूल गये, उन्होंने राजकुमार नरोत्तमको हृदयसे लगा लिया और उन्हें मन्त्र-दीक्षा देनेके लिये उद्यत हो गये। बात-की-बातमें यह समाचार सम्पूर्ण वैष्णवसमाजमें फैल गया। सभी आकर नरोत्तमदासजीके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। दीक्षातिथि श्रावणकी पूर्णिमा निश्चित हुई, उस दिन सैकड़ों विरक्त भक्त श्रीलोकनाथ गोस्वामीके आश्रमपर एकत्रित हो गये। जीव गोस्वामीने माला पहनाकर नरोत्तमदासजीको गुरुके चरणोंमें भेजा। गुरुने पहले उनसे कहा—'जीवनभर अविवाहित रहना होगा! सांसारिक सुखोंको एकदम तिलाञ्जलि देनी होगी! मांस-मछली जीवनमें कभी न खानी होगी!' नतमस्तक होकर नरोत्तमदासजीने सभी बातें स्वीकार कीं। तब गोस्वामीजीने इन्हें विधिवत् दीक्षा दी। नरोत्तम ठाकुरका अब पुनर्जन्म हो गया। उन्होंने श्रद्धा-भक्तिके सहित सभी उपस्थित वैष्णवोंकी चरण-वन्दना की। गुरुदेवकी पदधूलि मस्तकपर चढ़ायी और वे उन्हींकी आज्ञासे श्रीजीव गोस्वामीके समीप रहकर भक्तिशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त करते रहे।

कालान्तरमें श्रीजीव गोस्वामीने इन्हें और श्यामानन्द तथा श्रीनिवासाचार्यको भक्तिमार्गका प्रचार करनेके निमित्त गौड़देशको भेजा। श्रीश्यामानन्दजीने तो अपनी प्रखर प्रतिभा और प्रबल पाण्डित्य तथा अलौकिक प्रभावके कारण सम्पूर्ण उड़ीसादेशको भक्ति-रसामृतमें प्लावित बना दिया। श्रीनिवासाचार्यने वैष्णवसमाजमें नवीन जागृति पैदा की और नरोत्तम ठाकुरने शिथिल होते हुए वैष्णवधर्मको फिरसे प्रभावान्वित बना दिया। बड़े पण्डित और भट्टाचार्य अपने ब्राह्मणपनेके अभिमानको छोड़कर कायस्थकुलोद्भूत श्रीनरोत्तम ठाकुरके मन्त्रशिष्य

बन गये। इनका प्रभाव सभी श्रेणीके लोगोंपर पड़ता था। इनके पिता भी इन्हें पूज्य दृष्टिसे देखते थे। उन्होंने इन्हींके आदेशानुसार श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका एक बड़ा भारी मन्दिर बनवाया और उसमें श्रीगौराङ्ग और विष्णुप्रियाजीकी युगल मूर्तियोंकी स्थापना की गयी। इसके उपलक्ष्यमें एक बड़ा भारी महामहोत्सव किया और बहुत दिनोंतक निरन्तर कीर्तन-सत्सङ्ग होता रहा।

नरोत्तम ठाकुरका प्रभाव उन दिनों बहुत ही अधिक था, बड़े-बड़े राजे-महाराजे इनके मन्त्र-शिष्य थे। बड़े पण्डित इन्हें निःसङ्कोच भावसे साष्टाङ्ग प्रणाम करते। ये बँगला भाषाके सुकवि भी थे। इन्होंने गौरप्रेममें उन्मत्त होकर हजारों पदोंकी रचना की है। इनकी पदावलियोंका वैष्णवसमाजमें बड़ा आदर है। इन्होंने परमायु प्राप्त की थी। अन्तसमय ये गङ्गाजीके किनारे गम्भीला नामक ग्राममें अपने एक शिष्य गङ्गानारायण पण्डितके यहाँ चले गये।

कार्तिककी कृष्णा पञ्चमीका दिन था। प्रातःकाल ठाकुर महाशय अपने प्रिय शिष्य गङ्गानारायण पण्डित तथा रामकृष्णके साथ गङ्गा-स्नानके निमित्त गये। वे कमरतक जलमें चले गये और अपने शिष्योंसे कहा—'हमारे शरीरको तो थोड़ा मलो।' शिष्योंने गुरुदेवकी आज्ञाका पालन किया। देखते-ही-देखते ठाकुर महाशयका निर्जीव शरीर गङ्गामाताके सुशीतल जलमें गिरकर अठखेलियाँ करने लगा। नरोत्तम ठाकुर इस असार संसारको त्यागकर अपने सत्य और नित्य लोकको चले गये। वैष्णवोंके हाहाकारसे गङ्गाका किनारा गूँजने लगा। गङ्गामाताका हृदय भी अपने लाड़ले पुत्रके शोकसे उमड़ने लगा और वह भी अपनी मर्यादाको छोड़कर बढ़ने लगी।

महाप्रभुके वृन्दावनस्थ छः गोस्वामिगण

> रुद्रोऽद्रिं जलधिं हरिर्दिविषदो दूरं विहायाश्रिताः
> भोगीन्द्राः प्रबला अपि प्रथमतः पातालमूले स्थिताः ।
> लीना पद्मवने सरोजनिलया मन्येऽर्थिसार्थोद्भिया
> दीनोद्धारपरायणाः कलियुगे सत्पूरुषाः केवलम् ॥*
>
> (सु० र० भां० ७४ । ४४)

महाप्रभु चैतन्यदेवके छः गोस्वामी अत्यन्त ही प्रसिद्ध हैं। उनके नाम (१) श्रीरूप, (२) श्रीसनातन, (३) श्रीजीव, (४) श्रीगोपाल,

* 'याचकोंका समूह मुझसे कुछ माँगने न लगे' इस भयसे भगवान् शंकर पर्वतपर रहने लगे, विष्णुने समुद्रमें डेरा डाला, समस्त देवताओंने सुदूरवर्ती आकाशकी शरण ली, वासुकि आदि नागराजोंने समर्थ होकर भी पहलेसे ही पातालमें अपना स्थान बना लिया है और लक्ष्मीजी कमलवनमें छिप गयीं। अब तो इस कलिकालमें केवल संत पुरुष ही दीनोंका उद्धार करनेवाले रह गये हैं।

भट्ट, (५) श्रीरघुनाथ भट्ट और (६) श्रीरघुनाथदासजी हैं। इन छहोंका थोड़ा-बहुत विवरण पाठक पिछले प्रकरणोंमें पढ़ ही चुके होंगे। श्रीरूप और सनातन तो प्रभुकी आज्ञा लेकर ही पुरीसे वृन्दावनको गये थे, बस तबसे वे फिर गौड़ देशमें नहीं लौटे। श्रीजीव इनके छोटे भाई अनूपके प्रिय पुत्र थे। पूरा परिवार-का-परिवार ही विरक्त बन गया। दैवी परिवार था। जीव गोस्वामी या तो महाप्रभुके तिरोभाव होनेके अनन्तर वृन्दावन पधारे होंगे, या प्रभुके अप्रकट होनेके कुछ ही काल पहले। इनका प्रभुके साथ भेंट होनेका वृत्तान्त कहीं नहीं मिलता। ये नित्यानन्दजीकी आज्ञा लेकर ही वृन्दावन गये थे, इससे महाप्रभुका अभाव ही लक्षित होता है। रघुनाथ भट्टको प्रभुने स्वयं ही पुरीसे भेजा था। गोपाल भट्ट जब छोटे थे, तभी प्रभुने उनके घर दक्षिणकी यात्रामें चतुर्मास बिताया था, इसके अनन्तर पुनः इनको प्रभुके दर्शन नहीं हुए। रघुनाथदासजी प्रभुके लीलासंवरण करनेके अनन्तर और स्वरूपगोस्वामीके परलोक-गमनके पश्चात् वृन्दावन पधारे और फिर उन्होंने वृन्दावनकी पावन भूमि छोड़कर कहीं एक पैर भी नहीं रक्खा। ब्रजमें ही वास करके उन्होंने अपनी शेष आयु व्यतीत की। इन सबका अत्यन्त ही संक्षेपमें पृथक्-पृथक् वर्णन आगे करते हैं।

१—श्रीरूपजी गोस्वामी

श्रीरूप और सनातनजीका परिचय पाठक पीछे प्राप्त कर चुके हैं, अनुमानसे श्रीरूपजीका जन्म संवत् १५४५ के लगभग बताया जाता है, ये अपने अग्रज श्रीसनातनजीसे साल-दो-साल छोटे ही थे, किन्तु प्रभुके प्रथम कृपापात्र होनेसे ये वैष्णव-समाजमें सनातनजीके बड़े भाई ही माने जाते हैं। रामकेलिमें इन दोनों भाइयोंकी प्रभुसे भेंट, रूपजीका प्रयागमें प्रभुसे मिलन, पुरीमें पुनः प्रभुके दर्शन-नाटकोंकी रचना, प्रभुकी आज्ञासे

प्रातःकाल ये उठकर उसी स्थानपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा—'एक गौ वहाँ खड़ी है और उसके स्तनोंमेंसे आप-से-आप ही दूध बहकर एक छिद्रमें होकर नीचे जा रहा है।' तब तो उनके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। ये उसी समय उस स्थानको खुदवाने लगे। उसमेंसे गोविन्ददेवजीकी मनमोहिनी मूर्ति निकली, उसे लेकर ये पूजा करने लगे। कालान्तरमें जयपुरके महाराज मानसिंहजीने गोविन्ददेवजीका लाल पत्थरोंका एक बड़ा ही भव्य और विशाल मन्दिर बनवा दिया जो अद्यावधि श्रीवृन्दावनकी शोभा बढ़ा रहा है। औरङ्गजेबके आक्रमणके भयसे जयपुरके महाराज पीछेसे यहाँकी श्रीमूर्तिको अपने यहाँ ले गये थे। पीछे फिर 'नये गोविन्ददेवजी' का नया मन्दिर बना, जिसमें गोविन्ददेवजीके साथ ही अगल-बगलमें श्रीचैतन्यदेव और श्रीनित्यानन्दजीके विग्रह भी पीछेसे स्थापित किये गये, जो अब भी विद्यमान हैं।

जब श्रीरूपजी नन्दग्राममें निवास करते थे, तब श्रीसनातनजी एक दिन उनके स्थानपर उनसे मिलने गये। इन्होंने अपने अग्रजको देखकर उनको अभिवादन किया और बैठनेके लिये सुन्दर-सा आसन दिया। श्रीरूपजी अपने भाईके लिये भोजन बनाने लगे। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा कि भोजनका सभी सामान प्यारीजी ही जुटा रही हैं, सनातनजीको इससे बड़ा क्षोभ हुआ। ये चुपचाप बैठे देखते रहे। जब भोजन बनकर तैयार हो गया तो श्रीरूपजीने उसे भगवान्‌के अर्पण किया, भगवान् प्यारीजीके साथ प्रत्यक्ष होकर भोजन करने लगे। उनका जो उच्छिष्ट महाप्रसाद बचा उसका उन्होंने श्रीसनातनजीको भोजन कराया। उसमें अमृतसे भी बढ़कर दिव्य स्वाद था। सनातनजीने कहा—'भाई! तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो रोज प्यारी-प्यारेके अधरामृत-उच्छिष्ट अन्नका प्रसाद पाते हो, किन्तु सुकुमारी लाड़िलीजीको तुम्हारे सामान जुटानेमें कष्ट होता होगा, यही सोचकर मुझे दुःख होता है।' इतना कहकर

गौड़देश होते हुए पुनः वृन्दावनमें आकर निरन्तर वास करते रहनेके समाचार तो पाठक पिछले अध्यायोंमें पढ़ ही चुके होंगे, अब इनके वृन्दावनवासकी दो-चार घटनाएँ सुनिये ।

आप ब्रह्मकुण्डके समीप निवास करते थे, एक दिन आप निराहार रहकरके ही भजन कर रहे थे, भूख लग रही थी, किन्तु ये भजनको छोड़कर भिक्षाके लिये जाना नहीं चाहते थे, इतनेहीमें एक काले रंगका ग्वालेका छोकरा एक मिट्टीके पात्रमें दुग्ध लेकर इनके पास आया और बोला—'लो बाबा ! इसे पी लो । भूखे भजन क्यों कर रहे हो, गाँवोंमें जाकर भिक्षा क्यों नहीं कर आते ।' तुम्हें पता नहीं—

भूखे भजन न होई, यह जानहिं सब कोई ।

रूपजीने वह दुग्ध पीया । उसमें अमृतसे भी बढ़कर स्वाद निकला । तब तो वे समझ गये कि 'साँवरे रंगका छोकरा वही छलिया वृन्दावन-वासी है, वह अपने राज्यमें किसीको भूखा नहीं देख सकता ।' आश्चर्यकी बात तो यह थी कि जिस पात्रमें वह छोकरा दुग्ध दे गया था, वह दिव्य पात्र पता नहीं अपने-आप ही कहाँ चला गया । इस समाचारको सुनकर श्रीसनातनजी दौड़े आये और उन्हें आलिङ्गन करके कहने लगे—'भैया ! यह मनमोहन बड़ा सुकुमार है, इसे कष्ट मत दिया करो । तुम स्वयं ही ब्रजवासियोंके घरोंसे टुकड़े माँग लाया करो ।' उस दिनसे श्रीरूपजी मधुकरी भिक्षा नित्यप्रति करने जाने लगे ।

एक दिन श्रीगोविन्ददेवजीने इन्हें स्वप्नमें आज्ञा दी कि 'भैया ! मैं अमुक स्थानमें जमीनके नीचे दबा हुआ पड़ा हूँ । एक गौ रोज मुझे अपने स्तनोंमेंसे दूध पिला जाती है, तुम उस गौको ही लक्ष्य करके मुझे बाहर निकालो और मेरी पूजा प्रकट करो ।'

प्रातःकाल वे उठकर उसी स्थानपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा—'एक गौ वहाँ खड़ी है और उसके स्तनोंमेंसे आप-से-आप ही दूध बहकर एक छिद्रमें होकर नीचे जा रहा है।' तब तो उनके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। ये उसी समय उस स्थानको खुदवाने लगे। उसमेंसे गोविन्ददेवजीकी मनमोहिनी मूर्ति निकली, उसे लेकर ये पूजा करने लगे। कालान्तरमें जयपुरके महाराज मानसिंहजीने गोविन्ददेवजीका लाल पत्थरोंका एक बड़ा ही भव्य और विशाल मन्दिर बनवा दिया जो अद्यापि श्रीवृन्दावनकी शोभा बढ़ा रहा है। औरङ्गजेबके आक्रमणके भयसे जयपुरके महाराज पीछेसे यहाँकी श्रीमूर्तिको अपने यहाँ ले गये थे। पीछे फिर 'नये गोविन्ददेवजी' का नया मन्दिर बना, जिसमें गोविन्ददेवजीके साथ ही अगल-बगलमें श्रीचैतन्यदेव और श्रीनित्यानन्दजीके विग्रह भी पीछेसे स्थापित किये गये, जो अब भी विद्यमान हैं।

जब श्रीरूपजी नन्दग्राममें निवास करते थे, तब श्रीसनातनजी एक दिन उनके स्थानपर उनसे मिलने गये। इन्होंने अपने अग्रजको देखकर उनको अभिवादन किया और बैठनेके लिये सुन्दर-सा आसन दिया। श्रीरूपजी अपने भाईके लिये भोजन बनाने लगे। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा कि भोजनका सभी सामान प्यारीजी ही जुटा रही हैं, सनातनजीको इससे बड़ा क्षोभ हुआ। वे चुपचाप बैठे देखते रहे। जब भोजन बनकर तैयार हो गया तो श्रीरूपजीने उसे भगवान्‌के अर्पण किया, भगवान् प्यारीजीके साथ प्रत्यक्ष होकर भोजन करने लगे। उनका जो उच्छिष्ट महाप्रसाद बचा उसका उन्होंने श्रीसनातनजीको भोजन कराया। उसमे अमृतसे भी बढ़कर दिव्य स्वाद था। सनातनजीने कहा—'भाई! तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो रोज प्यारी-प्यारेके अधरामृत-उच्छिष्ट अन्नका प्रसाद पाते हो, किन्तु सुकुमारी लाड़िलीजीको तुम्हारे सामान जुटानेमें कष्ट होता होगा, यही सोचकर मुझे दुःख होता है।' इतना कहकर

श्रीसनातनजी चले गये और उनका जो उच्छिष्ट महा-महाप्रसाद शेष रहा उसको बड़ी ही रुचि और स्वादके साथ श्रीरूपजीने पाया।

किसी काव्यमें श्रीरूपजीने प्यारीजीकी वेणीकी काली नागिनसे उपमा दी थी। यह सोचकर सनातनजीको बड़ा दुःख हुआ कि भला प्यारीजीके अमृतपूर्ण आननके समीप विषवाली काली नागिनीका क्या काम! वे इसी चिन्तामें मग्न ही थे कि उन्हें सामनेके कदम्बके वृक्षपर प्यारेके साथ प्यारीजी झूलती हुई दिखायी दीं। उनके सिरपर कालेरंगकी नागिन-सी लहरा रही थी, उसमें क्रूरताका काम नहीं, क्रोध और विषका नाम नहीं। वह तो परम सौम्या, प्रेमियोंके मनको हरनेवाली और चञ्चला-चपला बड़ी ही चित्तको अपनी ओर खींचनेवाली नागिन थी। श्रीसनातनजीको इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उनकी शङ्काका समाधान प्यारीजीने स्वतः ही अपने दुर्लभ दर्शनोंको देकर कर दिया।

इस प्रकार इनके भक्ति और प्रेमके माहात्म्यकी बहुत-सी कथाएँ कही जाती हैं। ये सदा युगल-माधुरीके रूपमें छके-से रहते थे। अके-से, जके-से, भूले-से, भटके-से ये सदा वृन्दाविपिनकी वनवीथियोंमें विचरण किया करते थे। इनका आहार था प्यारे-प्यारीकी रूपसुधाका पान, बस उसीके मदमें ये सदा मस्त बने रहते। ये सदा प्रेममें मग्न रहकर नामजप करते रहते और शेष समयमें भक्तिसम्बन्धी पुस्तकोंका प्रणयन करते। इनके बनाये हुए भक्तिभावपूर्ण सोलह ग्रन्थ मिलते हैं।

(१) हंसदूत, (२) उद्धवसन्देश, (३) कृष्णजन्मतिथिविधि, (४) गणोद्देशदीपिका, (५) स्तवमाला, (६) विदग्धमाधव, (७) ललितामाधव, (८) दानलीला, (९) दानकेलिकौमुदी, (१०) भक्तिरसामृतसिन्धु, (११) उज्ज्वलनीलमणि, (१२) मथुरामाहात्म्य,

(१३) आख्यातचन्द्रिका, (१४) पद्यावली, (१५) नाटकचन्द्रिका और (१६) लघुभागवतामृत ।

वृन्दावनमें रहकर इन्होंने श्रीकृष्ण-प्रेमका साकार रूप खड़ा करके दिखला दिया। ये सदा नामसंकीर्तन और पुस्तक-प्रणयनमें ही लगे रहते थे। 'वृन्दावनकी यात्रा' नामक पुस्तकमें इनके वैकुण्ठवासकी तिथि संवत् १६४० (ईस्वी सन् १५६३) की श्रावण शुक्ला द्वादशी लिखी है। इस प्रकार ये लगभग ७४ वर्षोंतक इस धराधामपर विराजमान रहकर भक्तितत्त्वका प्रकाश करते रहे।

२—श्रीसनातनजी गोस्वामी

श्रीसनातनजीका जन्म संवत् १५४४ के लगभग अनुमान किया जाता है, इनके कारावासका वृत्तान्त, उससे मुक्तिलाभ करके प्रयागमें आगमन, प्रभुके पादपद्मोंमें रहकर शास्त्रीय शिक्षाका श्रवण, वृन्दावन-गमन, पुनः लौटकर पुरीमें आगमन, शरीरमें भयंकर खुजलीका हो जाना, श्रीजगन्नाथजीके रथके नीचे प्राण त्यागनेका निश्चय, प्रभुकी आज्ञासे वृन्दावनमें जाकर भजन और पुस्तकप्रणयन करते रहनेका वृत्तान्त तो पाठक पीछे पढ़ ही चुके होंगे, अब इनके सम्बन्धकी भी वृन्दावनकी दो-चार घटनाएँ सुनिये।

एक दिन ये श्रीयमुनाजी स्नान करनेके निमित्त जा रहे थे, रास्तेमें एक पारस पत्थरका टुकड़ा इन्हें पड़ा हुआ मिला। इन्होंने उसे वहीं धूलिसे ढक दिया। दैवात् उसी दिन एक ब्राह्मण उनके पास आकर धनकी याचना करने लगा। इन्होंने बहुत कहा—'भाई ! हम भिक्षुक हैं, माँगकर टुकड़े खाते हैं, भला हमारे पास धन कहाँ है, किसी धनी सेठ साहूकारके समीप जाओ।' किन्तु वह मानता ही नहीं था, उसने कहा—'श्रीमहाराज ! मैंने धनकी कामनासे ही अनेकों वर्षोंतक शिवकी

पारसमें अरु संतमें, संत अधिक कर मान।
वह लोहा सोना करै, वह करै आपु समान॥

ये मथुराजीमें मधुकरी करनेके लिये एक चौबेके घर जाया करते थे। उस चौबेकी स्त्री परम भक्ता और श्रीमदनमोहन भगवान्‌की उपासिका थी। उसके घर बालभावसे श्रीमदनमोहन भगवान् विराजते थे। सनातनजी उनकी मनोहर मूर्तिके दर्शनोंसे अत्यन्त ही प्रसन्न होते, असलमें तो ये मदनमोहनजीके दर्शनोंके ही लिये वहाँ जाते थे। उस चौबिनका एक छोटा-सा बालक था। मदनमोहन भी बालक ही ठहरे। दोनोंमें खूब दोस्ती थी। मदनमोहन तो गँवार ग्वाले ही ठहरे। वे आचार-विचार क्या जानें। उस चौबिनके लड़केके साथ ही एक पात्रमें भोजन करते। सनातनजीको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ये मदनमोहन सरकार बड़े विचित्र हैं।

एक दिन ये मधुकरी लेने गये। चौबिन इन्हें भिक्षा देने लगी। इन्होंने आग्रहपूर्वक कहा—'माता! यदि तुम मुझे कुछ देना ही चाहती हो तो इस बच्चेका उच्छिष्ट अन्न मुझे दे दो।' चौबिनने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और इन्हें वही मदनमोहनका उच्छिष्ट प्रसाद दे दिया। बस, फिर क्या था, इन्हें तो उस माखनचोरकी लपलपाती जीभसे लगे हुए अन्नका चस्का लग गया, ये नित्यप्रति उसी उच्छिष्ट अन्नको लेने जाने लगे।

एक दिन स्वप्नमें मदनमोहनजीने कहा—'भाई! शहरमें तो हमें ऊब-सी मालूम पड़ती है, तुम उस चौबिनसे मुझे ले आओ, मैं तो जंगलमें ही रहूँगा।' ठीक उसी रात्रिको चौबिनको भी यही स्वप्न हुआ कि तू मुझे सनातन साधुको दे दे। दूसरे दिन ये गये और इन्होंने

आराधना की, इसलिये शिवजीने सन्तुष्ट होकर रात्रिके समय स्वप्नमें मुझसे कहा—'हे ब्राह्मण ! तू जिस इच्छासे मेरा पूजन करता है, वह इच्छा तेरी वृन्दावनमें सनातन गोस्वामीके समीप जानेसे पूर्ण होगी।' बस, उन्हींके स्वप्नसे मैं आपकी शरण आया हूँ।' इसपर सनातनजीको उस पारस पत्थरकी याद आ गयी। उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, मेरे साथ यमुनाजी चलो।' यह कहकर ये उसे यमुना-किनारे ले गये। दूरसे ही अँगुलीके इशारेसे इन्होंने उसे पारसकी जगह बता दी। उसने बहुत ढूँढ़ा; किन्तु पारस नहीं मिला। तब तो उसने कहा—'आप मेरी वञ्चना न कीजिये, यदि हो तो आप ही ढूँढ़कर दे दीजिये।'

इन्होंने कहा—'भाई ! इसमें वञ्चनाकी बात ही क्या है, मैं तो उसका स्पर्श नहीं कर सकता, तुम धैर्यके साथ ढूँढ़ो, यहीं मिल जायगा।' ब्राह्मण ढूँढ़ने लगा, सहसा उसे पारसका टुकड़ा मिल गया। उसी समय उसने एक लोहेके टुकड़ेसे उसे छुआकर उसकी परीक्षा की, देखते-ही-देखते लोहेका टुकड़ा सोना बन गया। ब्राह्मण प्रसन्न होकर अपने घरको चल दिया।

वह आधे ही रास्तेमें पहुँचा होगा कि उसका विचार एकदम बदल गया। उसने सोचा—'जो महापुरुष घर-घरसे टुकड़े माँगकर खाते हैं और संसारमें इतनी अमूल्य समझी जानेवाली इस मणिको हाथसे स्पर्श नहीं करते। अवश्य ही उनके पास इस असाधारण पत्थरसे बढ़कर भी कोई और वस्तु है। मैं तो उनसे उसीको प्राप्त करूँगा। इस पारस-को देकर तो उन्होंने मुझे बहका दिया।' यह सोचकर वह लौटकर फिर इनके समीप आया और चरणोंमें गिरकर रो-रोकर अपनी सभी मनोव्यथा सुनायी। उसके सच्चे वैराग्यको देखकर इन्होंने पारसको यमुनाजीमें फेंकवा दिया और उसे अमूल्य हरिनामका उपदेश किया। जिससे कुछ कालमें वह परम संत बन गया। किसीने ठीक ही कहा है—

पारसमें अरु संतमें, संत अधिक कर मान।
वह लोहा सोना करै, यह करै आपु समान॥

ये मथुराजीमें मधुकरी करनेके लिये एक चौबेके घर जाया करते थे। उस चौबेकी स्त्री परम भक्ता और श्रीमदनमोहन भगवान्‌की उपासिका थी। उसके घर बालभावसे श्रीमदनमोहन भगवान् विराजते थे। सनातनजी उनकी मनोहर मूर्तिके दर्शनोंसे अत्यन्त ही प्रसन्न होते, असलमें तो वे मदनमोहनजीके दर्शनोंके ही लिये वहाँ जाते थे। उस चौबिनका एक छोटा-सा बालक था। मदनमोहन भी बालक ही ठहरे। दोनोंमें खूब दोस्ती थी। मदनमोहन तो गँवार ग्वाले ही ठहरे। ये आचार-विचार क्या जानें। उस चौबिनके लड़केके साथ ही एक पात्रमें भोजन करते। सनातनजीको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ये मदनमोहन सरकार बड़े विचित्र हैं।

एक दिन ये मधुकरी लेने गये। चौबिन इन्हें भिक्षा देने लगी। इन्होंने आग्रहपूर्वक कहा—'माता! यदि तुम मुझे कुछ देना ही चाहती हो तो इस बच्चेका उच्छिष्ट अन्न मुझे दे दो।' चौबिनने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और इन्हें वही मदनमोहनका उच्छिष्ट प्रसाद दे दिया। बस, फिर क्या था, इन्हें तो उस माखनचोरकी लपलपाती जीभसे लगे हुए अन्नका चस्का लग गया, ये नित्यप्रति उसी उच्छिष्ट अन्नको लेने जाने लगे।

एक दिन स्वप्नमें मदनमोहनजीने कहा—'माई! शहरमें तो हमें ऊबन-सी मालूम पड़ती है, तुम उस चौबिनसे मुझे ले आओ, मैं तो जंगलमें ही रहूँगा।' ठीक उसी रात्रिको चौबिनको भी यही स्वप्न हुआ कि तू मुझे सनातन साधुको दे दे। दूसरे दिन ये गये और इन्होंने

कहा—'माताजी ! मदनमोहन अब वनमें रहना चाहते हैं, तुम्हारी क्या इच्छा है ?'

कुछ प्रेमयुक्त रोषके स्वरमें चौबिनने कहा—'साधु बाबा ! इसकी यह सब करतूत मुझे पहलेसे ही मालूम है। एक जगह रहना तो यह जानता ही नहीं, यह बड़ा निर्मोही है, कोई इसका सगा नहीं।' भला, जिस यशोदाने इसका लालन-पालन किया, खिला-पिलाकर इतना बड़ा किया, उसे भी बटाऊकी तरह छोड़कर चला गया। मुझसे भी कहता था—'मेरा यहाँ मन नहीं लगता।' मैंने भी सोच लिया—'मन नहीं लगता तो मेरी बलासे। जब तुझे ही मेरा मोह नहीं, तो मुझे भी तेरा मोह नहीं। भले ही तू साधुके साथ चला जा।' ऐसा कहते-कहते आँखोंमें आँसू भरकर उसने मदनमोहनको सनातनजीके साथ कर दिया। ऊपरसे तो वह ऐसी बातें कह रही थीं, किन्तु उसका हृदय अपने मदनमोहनके विरहसे तड़फ रहा था। सनातनजी मदनमोहनको साथ लेकर यमुनाके किनारे आये। अब मदनमोहनके रहनेके लिये उन्होंने सूर्यघाटके समीप एक सुरम्य टीलेपर फूँसकी झोंपड़ी बना ली और उसीमें वे मदनमोहनकी पूजा करने लगे। अब वे घर-घरसे आटेकी चुटकी माँग लाते और उसीकी बिना नमककी मधुकरी बनाकर मदनमोहनको भोजन कराते।

एक दिन मदनमोहनने मुँह बनाकर कहा—'साधु बाबा ! ये बिना नमककी बाटियाँ हमसे तो खायी नहीं जातीं। थोड़ा नमक भी किसीसे माँग लाया करो।'

सनातनजीने झुँझलाकर कहा—'यह इल्लत मुझसे मत लगाओ, खानी हो तो ऐसी ही खाओ, नहीं अपने घरका रास्ता पकड़ो।'

मदनमोहन सरकारने कुछ हँसकर कहा—'एक कंकड़ी नमकको

कौन मना करेगा, कहींसे ले आना माँगकर ।' दूसरे दिनसे ये आटेके साथ थोड़ा नमक भी लाने लगे ।

चटोरे मदनमोहनको तो मीठे माखन और मिश्रीकी चाट पड़ी हुई थी, इसलिये एक दिन बड़ी ही दीनतासे बोले—'साधु बाबा ! ये रूखे टिक्कड़ तो हमारे गलेके नीचे नहीं उतरते । थोड़ा घी भी कहींसे लाया करो तो अच्छा है ।'

अब सनातनजी मदनमोहनजीको खरी-खरी सुनाने लगे । उन्होंने कहा—'देखो जी ! सुनो मेरी सच्ची बात । मेरे पास तो ये ही सूखे टिक्कड़ हैं, तुम्हें घी-चीनीकी चाट थी तो किसी धनिकके यहाँ जाते, मुझ भिक्षुकके यहाँ तो ये ही सूखे टिक्कड़ मिलेंगे । तुम्हारे गलेके नीचे उतरें चाहे न उतरें, मैं किसी धनिकके पास घी-बूरा माँगने नहीं जाऊँगा । थोड़ा यमुना-जलके साथ सटक लिया करो । मिट्टी भी तो सटक जाते थे ।' बेचारे मदनमोहन अपना-सा मुँह बनाये चुप हो गये । उस लँगोटीबंद साधुसे वे और कह ही क्या सकते थे ।

दूसरे दिन उन्होंने देखा, एक बड़ा भारी धनिक व्यापारी उनके समीप आ रहा है । ये बैठे भजन कर रहे थे, उसने दूरसे ही इनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और बड़े ही करुणस्वरसे कहने लगा—'महात्माजी ! मेरा जहाज यमुनाजीमें अड़ गया है, ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि वह निकल जाय, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ।' इन्होंने कहा—'भाई ! मैं कुछ नहीं जानता, इस झोंपड़ीमें जो बैठा है, उससे कहो ।'

व्यापारीने भगवान् मदनमोहनसे प्रार्थना की—'हे भगवन् ! यदि मेरा जहाज निकल जाय, तो बिक्रीके आधे द्रव्यसे मैं आपकी सेवा करूँ ।' बस, फिर क्या था, जहाज उसी समय निकल गया । उन दिनों नदियोंके द्वारा नावसे ही व्यापार होता था । रेल, तार और

मोटर आदि यन्त्र तो तब थे ही नहीं। महाजनका माल दुगुने दामोंमें बिका। उसी समय उसने हजारों रुपये लगाकर बड़ी उदारताके साथ मदनमोहनजीका मन्दिर बनवा दिया। और भगवान्‌की सेवाके लिये पुजारी, रसोइया, नौकर-चाकर तथा और भी बहुत-से कामवाले रख दिये। वह मन्दिर वृन्दावनमें अभीतक विद्यमान है।

इनकी ख्याति सुननेपर अकबर बादशाह इनके दर्शनोंके लिये आया और इनसे कुछ सेवाके लिये प्रार्थना करने लगा। जब बहुत मना करनेपर भी वह न माना तब इन्होंने अपने कुटियाके समीपके यमुनाजीके फूटे हुए घाटके कोनेको सुधरवानेकी आज्ञा दी। उसी समय अकबरको वहाँकी सभी भूमि अमूल्य रत्नोंसे जटित दिखायी देने लगी। तब तो वह इनके पैरोंमें गिरकर कहने लगा—'प्रभो! मेरे अपराधको क्षमा कीजिये, मेरा सम्पूर्ण राज्य भी यहाँके एक रत्नके मूल्यके बराबर नहीं।' यही घटना श्रीहरिदास स्वामीजीके सम्बन्धमें भी कही जाती है, दोनों ही ठीक हैं। भक्तोंकी लीला अपरम्पार है, उन्हें श्रद्धापूर्वक सुन लेना चाहिये। तर्क करना हो तो दर्शनशास्त्रोंको पढ़ो।

इन्होंने भी भक्तितत्त्वकी खूब पर्यालोचना की है, इनके बनाये हुए चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) बृहद्भागवतामृत (दो खण्ड), (२) हरिभक्तिविलास, टीकादिक्प्रदर्शिनी, (३) वैष्णवतोषिणी (दशम स्कन्धकी टिप्पणी), (४) लीलास्तव (दशम चरित्र)।

सत्तर वर्षकी आयुमें सं० १६१५ (ईस्वी सन् १५५८) की आषाढ सुदी चतुर्दशीके दिन इनका गोलोकगमन बताया जाता है। ये परम विनयी, भागवत और भगवत्-रस-रसिक वैष्णव थे।

३—श्रीजीव गोस्वामीजी

श्रीअनूप-तनय स्वामी श्रीजीवजीका वैराग्य परमोत्कृष्ट था। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे। स्त्रियोंके दर्शनतक नहीं करते थे। पिताके वैकुण्ठ-वास हो जानेपर और दोनों ताउओंके गृहत्यागी-विरागी बन जानेपर इन्होंने भी उन्हींके पथका अनुसरण किया और ये भी सब कुछ छोड़-छाड़कर श्रीवृन्दावनमें जाकर अपने पितृव्योंके चरणोंका अनुसरण करते हुए शास्त्र-चिन्तन और श्रीकृष्ण-कीर्तनमें अपना समय बिताने लगे। ये अपने समयके एक नामी पण्डित थे। व्रजमण्डलमें इनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। देवताओंको भी अप्राप्य व्रजकी पवित्र भूमिको परित्याग करके ये कहीं भी किसीके आग्रहसे बाहर नहीं जाते थे। सुनते हैं, एक बार अकबर बादशाहने अत्यन्त ही आग्रहके साथ इन्हें आगरे बुलाया था और इनकी आज्ञानुसार ही उसने इन्हें घोड़ागाड़ीमें बैठाकर उसी दिन रात्रिको वृन्दावन पहुँचा दिया था। इनके सम्बन्धकी भी दो-एक घटना सुनिये—

सुनते हैं, एक बार कोई दिग्विजयी पण्डित दिग्विजयकी इच्छासे वृन्दावनमें आया। श्रीरूप तथा सनातनजीने तो उससे बिना शास्त्रार्थ किये ही विजयपत्र लिख दिया। किन्तु श्रीजीव गोस्वामी उससे भिड़ गये और उसे 'परास्त' करके ही छोड़ा। इस समाचारको सुनकर श्रीरूप गोस्वामीने इन्हें डाँटा और यहाँतक कह दिया—'जो वैष्णव दूसरोंको मान नहीं देना जानता, वह सच्चा वैष्णव ही नहीं। हमें जय-पराजयसे क्या? तुम जयकी इच्छासे उससे भिड़ पड़े इसलिये अब हमारे सामने मत आना।' इससे इन्हें अत्यन्त ही दुःख हुआ और ये अनशन करके यमुना-किनारे जा बैठे। श्रीसनातनजीने जब यह समाचार सुना तो

उन्होंने रूप गोस्वामीके पास आकर पूछा—'वैष्णवोंको जीवके ऊपर दया करनी चाहिये अथवा अदया।'

श्रीरूपजीने कहा—'यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि वैष्णवको जीवमात्रके प्रति दयाके भाव प्रदर्शित करने चाहिये।'

बस, इतना सुनते ही सनातनजीने जीव गोस्वामीजीको उनके पैरोंमें पड़नेका संकेत किया। जीव गोस्वामी अधीर होकर उनके पैरोंमें गिर पड़े और अपने अपराधको स्मरण करके बालकोंकी भाँति फूट-फूटकर रुदन करने लगे। श्रीरूपजीका हृदय भर आया, उन्होंने इन्हें हृदयसे लगाया और इनके अपराधको क्षमा कर दिया।

सुनते हैं, परम भक्ता मीराबाई भी इनसे मिली थीं। उन दिनों ये एकान्तमें वास करते थे और स्त्रियोंको इनके आश्रममें जानेकी मनाही थी। जब मीराबाईने इनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की और उन्हें उत्तर मिला कि वे स्त्रियोंसे नहीं मिलते, तब मीराबाईजीने सन्देश पठाया—'वृन्दावन तो बाँकेविहारीका अन्तःपुर है। इसमें गोपिकाओंके सिवा किसी दूसरेका प्रवेश नहीं। ये विहारीजीके नये पट्टीदार पुरुष और कहाँसे आ बसे, इन्हें किसी दूसरे स्थानकी खोज करनी चाहिये।' इस बातसे इन्हें परम प्रसन्नता हुई और ये मीराबाईजीसे बड़े प्रेमसे मिले।

इन्होंने एक योग्य आचार्यकी भाँति भक्ति-मार्गका खूब ही प्रचार किया। अपने पितृव्योंकी भाँति इन्होंने भी बहुत-से ग्रन्थ बनाये। कृष्णदास गोस्वामीने इन तीनोंके ही ग्रन्थोंकी संख्या चार लाख बतायी है। यहाँ ग्रन्थसे तात्पर्य अनुष्टुप्छन्द या एक श्लोकसे है। पुस्तकसे नहीं। श्रीरूपके बनाये हुए सब एक लक्ष ग्रन्थ या श्लोक बताये जाते हैं। सब पुस्तकोंमें इतने श्लोक हो सकते हैं। श्रीजीव गोस्वामीके बनाये

हुए नीचे लिखे ग्रन्थ मिलते हैं—श्रीभागवत षट्सन्दर्भ, वैष्णवतोषिणी, लघुतोषिणी और गोपालचम्पू ।

इनके वैकुण्ठवासकी ठीक-ठीक तिथि या संवत्का पता हमें किसी भी ग्रन्थसे नहीं चला ।

४–श्रीरघुनाथदासजी गोस्वामी

श्रीरघुनाथदासजीका वैराग्य, गृहत्याग और पुरीनिवासका वृत्तान्त तो पाठक पढ़ ही चुके होंगे । महाप्रभु तथा श्रीस्वरूपगोस्वामीके तिरोभावके अनन्तर ये अत्यन्त ही दुखी होकर वृन्दावन चले आये । इनकी इच्छा थी कि हम गोवर्धनपर्वतसे कूदकर अपने प्राणोंको गँवा दें, किन्तु श्रीरूप-सनातन आदिके समझाने-बुझानेपर इन्होंने शरीरत्यागका विचार परित्याग कर दिया । ये राधाकुण्डके समीप सदा वास करते थे । कहते हैं, ये चौबीस घंटेमें केवल एक बार थोड़ा-सा मट्ठा पीकर ही रहते थे । ये सदा प्रेममें विभोर होकर 'राधे-राधे' चिल्लाते रहते । इनका जन्म-संवत् अनुमानसे १४१६ शकाब्द बताया जाता है, इन्होंने अपनी पूर्ण आयुका उपभोग किया । जब शकाब्द १५१२ में श्रीनिवासाचार्यजी गौड़देशको आ रहे थे, तब इनका जीवित रहना बताया जाता है । इनका त्याग-वैराग्य बड़ा ही अद्भुत और अलौकिक था । इन्होंने जीवनभर कभी जिह्वाका स्वाद नहीं लिया, सुन्दर वस्त्र नहीं पहने, और भी किसी प्रकारके संसारी सुखका उपभोग नहीं किया । लगभग सौ वर्षोंतक ये अपने त्याग-वैराग्यमय श्वासोंसे इस स्वार्थपूर्ण संसारके वायुमण्डलको पवित्रता प्रदान करते रहे । इनके बनाये हुए (१) स्तवमाला, (२) स्तवावली और (३) श्रीदानचरित—ये तीन ग्रन्थ बताये जाते हैं । इनके समान त्यागमय जीवन किसका हो सकता है ? राजपुत्र होकर भी इतना त्याग ?

दास महाशय ! आपके श्रीचरणोंमें हमारे कोटि-कोटि प्रणाम हैं। प्रभो ! इस वासनायुक्त अधमके हृदयमें भी अपनी शक्तिका सञ्चार कीजिये।

५-श्रीरघुनाथ भट्ट

हम पहले ही बता चुके हैं, तपन मिश्रजीके सुपुत्र श्रीरघुनाथ भट्ट अपने माता-पिताके परलोकगमनके अनन्तर आठ महीने प्रभुके पादपद्मोंमें रहकर उन्हींकी आज्ञासे वृन्दावन जाकर रहने लगे थे। ये भागवतके बड़े भारी पण्डित थे, इनका स्वर बड़ा ही कोमल था। ये रूप गोस्वामीकी सभामें श्रीमद्भागवतकी कथा कहते थे। इनका जन्म-संवत् अनुमानसे १४२५ बताया जाता है। ये कितने दिनतक अपने कोकिल-कूजित कमनीय कण्ठसे श्रीमद्भागवतकी कूक मचाकर वृन्दावनको बारहों महीने वसन्त बनाते रहे, इसका ठीक-ठीक वृत्तान्त नहीं मिलता।

६-श्रीगोपाल भट्ट

ये श्रीरङ्गक्षेत्रनिवासी वेङ्कट भट्टके पुत्र तथा श्रीप्रकाशानन्दजी सरस्वतीके भतीजे थे। पिताके परलोकगमनके अनन्तर ये श्रीवृन्दावन-वास करनेके निमित्त चले आये। दक्षिण-यात्रामें जब ये छोटे थे तभी प्रभुने इनकेघरपर चौमासेके चार मास बिताये थे। उसके बाद इनकी फिर महाप्रभुसे भेंट नहीं हुई। इनके आगमनका समाचार श्रीरूप-सनातनजीने प्रभुके पास पठाया था, तब प्रभुने एक पत्र भेजकर रूप और सनातन इन दोनों भाइयोंको लिखा था कि उन्हें स्नेहसे अपने पास रखना और अपना सगा भाई ही समझना। महाप्रभुने अपने बैठनेका आसन और डोरी इनके लिये भेजी थी। इन दोनों प्रभु-प्रसादी अमूल्य वस्तुओंको पाकर ये परम प्रसन्न हुए। ध्यानके समय

ये प्रभुकी प्रसादी डोरीको सिरपर धारण करके भजन किया करते थे। इनके उपास्यदेव श्रीराधारमणजी थे।

सुनते हैं, इनके उपास्यदेव पहले शालग्रामके रूपमें थे, उन्हींकी ये सेवा-पूजा किया करते थे, एक बार कोई धनिक वृन्दावनमें आया। उसने सभी मन्दिरोंके ठाकुरोंके लिये सुन्दर वस्त्राभूषण प्रदान किये। इन्हें भी लाकर बहुत-से सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और गहने दिये। वस्त्र और गहनोंको देखकर इनकी इच्छा हुई कि यदि हमारे भी ठाकुरजीके हाथ-पैर होते तो हम भी उन्हें इन वस्त्राभूषणोंको धारण कराते। बस, फिर क्या था। भगवान् तो भक्तके अधीन हैं, वे कभी भक्तकी इच्छाको अन्यथा नहीं करते। उसी समय शालग्रामकी मूर्तिमेंसे हाथ-पैर निकल आये और भगवान् श्रीराधारमण मुरलीधारी श्याम बन गये। भट्टजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने भगवान्‌को वस्त्राभूषण पहनाये और भक्तिभावसे उनकी स्तुति की। श्रीनिवासाचार्यजी इन्हींके शिष्य थे। इनके मन्दिरके पुजारी श्रीगोपालनाथदासजी भी इनके शिष्य थे। इनके परलोकगमनके अनन्तर श्रीगोपालनाथदासजी ही उस गद्दीके अधिकारी हुए। श्रीगोपालनाथदासजीके शिष्य श्रीगोपीनाथदासजीने अपने छोटे भाई दामोदरदासजीको शिष्य बनाकर उनसे विवाह करनेके लिये कह दिया। वर्तमान श्रीराधारमणजीके गोस्वामिगण इन्हीं श्रीदामोदरजीके वंशज हैं। वृन्दावनमें श्रीराधारमणजीकी वही मनोहर मूर्ति अपने अद्भुत और अलौकिक प्रभावको धारण किये हुए अपने प्रिय भक्त श्रीगोपाल भट्टकी भक्ति और एकनिष्ठाकी घोषणा कर रही है। भक्त-वत्सल भगवान् क्या नहीं कर सकते।

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !!

श्रीचैतन्य-शिक्षाष्टक

प्रेमोद्भावितहर्षेर्ष्योद्वेगदैन्यार्तिमिश्रितम् ।
लपितं गौरचन्द्रस्य भाग्यवद्भिर्निषेव्यते ॥*

(श्रीचैतन्य चरि० अ० ली० २० । १)

महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवने संन्यास लेनेके अनन्तर अपने हाथसे किसी भी ग्रन्थकी रचना नहीं की । उन्हें इतना अवकाश ही कहाँ था, वे तो सदा प्रेमवारुणी पान करके पागल-से बने रहते थे । ऐसी दशामें पुस्तक-प्रणयन करना उनके लिये अशक्य था । किन्तु उनके भक्तोंने उनके उपदेशामृतके आधारपर अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर डाली । व्यास, वाल्मीकि, शंकर, रामानुज आदि बहुत-से महापुरुष अपनी अमर कृतिसे ही अन्धे हुए संसारको दिव्यालोक प्रदान करते हैं । दत्तात्रेय, जड़भरत, ऋषभदेव, अजगरमुनि आदि बहुत-से सिद्ध महापुरुष अपने लोकातीत आचरणोंद्वारा ही संसारको त्याग, वैराग्य और भोगोंकी अनित्यताका पाठ पढ़ाते हैं ।

* श्रीगौराङ्ग प्रभुके प्रेमवश प्रकट हुए हर्ष, ईर्ष्या, उद्वेग, दैन्य और आर्ति आदि भावोंसे मिश्रित प्रलापको भाग्यवान् पुरुष ही श्रवण कर पाते हैं ।

बुद्धदेव, कबीरदास और परमहंस रामकृष्णदेव-जैसे बहुत-से परोपकारी महापुरुष अपनी अमोघ वाणीके ही द्वारा संसारका कल्याण करते हैं। श्रीचैतन्यदेवने तो अपने जीवनको ही प्रेमका साकार स्वरूप बनाकर मनुष्योंके सम्मुख रख दिया। चैतन्य-चरित्रकी मनुष्य ज्यों-ज्यों आलोचना और प्रत्यालोचना करेंगे, त्यों-ही-त्यों वे शास्त्रीय सिद्धान्त साम्प्रदायिक, संकुचित सीमासे निकलकर संसारके सम्मुख सार्वदेशिक बन सकेंगे। चैतन्यदेवने किसी नये धर्मकी रचना नहीं की। संन्यासधर्म या त्याग-धर्म जो ऋषियोंका सनातन धर्म है, उसीके वे शरणापन्न हुए और संसारके सम्मुख महान् त्यागका एक सर्वोच्च आदर्श उपस्थित करके लोगोंको त्यागका यथार्थ मर्म सिखा दिया। समयके प्रभावसे ज्ञानमार्गमें जो शुष्कता आ गयी थी, संसारको असार बताते-बताते जिनका हृदय भी साररहीन और शुष्क बन गया था, उसी शुष्कताको उन्होंने मेटकर त्यागके साथ सरलताका भी सम्मिश्रण कर दिया। उस त्यागमय प्रेमने सोनेमें सुहागेका काम दिया। यही श्रीचैतन्यका मैंने सार सिद्धान्त समझा है। किन्तु मैं अपनी मान्यताके लिये अन्य किसीको बाध्य नहीं करता। पाठक, स्वयं चैतन्यचरित्रका अध्ययन करें और यथामति उनके सार सिद्धान्तका स्वयं ही पता लगानेका प्रयत्न करें। महाप्रभुने समय-समयपर आठ श्लोक कहे हैं। वे सब महाप्रभुरचित ही बताये जाते हैं। वैष्णवमण्डलीमें ये आठ श्लोक 'शिक्षाष्टक' के नामसे अत्यन्त ही प्रसिद्ध हैं। उनपर बड़ी टीका-टिप्पणियाँ भी लिखी गयी हैं। ग्रन्थके अन्तमें उन आठ श्लोकोंको अर्थसहित देकर हम इस ग्रन्थको समाप्त करते हैं। जो 'श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली' को आदिसे अन्ततक पढ़ेंगे वे परम भागवत तथा प्रेमी तो अवश्य ही होंगे, यदि न भी होंगे तो इस चारु चरित्रके पठन और चिन्तनसे अवश्य ही वे प्रेमदेवकी मनमोहिनी मूर्तिके अनन्य उपासक बन जायँगे। चैतन्य-चरितावलीरूपी रसभरी

धाराने हमारे और पाठकोंके बीचमें एक प्रकारका सम्बन्ध स्थापित कर दिया है । चाहे हमारा 'चैतन्य-चरितावली' के सभी पाठकोंसे शरीर-सम्बन्ध न भी हो, किन्तु मानसिक सम्बन्ध तो उसी दिन जुड़ चुका जिस दिन उन्होंने अचैतन्य जगत्को छोड़कर चैतन्य-चरित्रकी खोज की । उन सभी प्रेमी बन्धुके श्रीचरणोंमें हृदयसे इस हृदयहीन नीरस लेखककी यही प्रार्थना है कि आपलोग कृपा करके अपने प्रेमका एक-एक कण भी इस दीन-हीन कंगालको प्रदान कर दें तो इसका कल्याण हो जाय । कहावत है—

'बूँद-बूँदसे घट भरै, टपकत रीतो होय ।'

—बस, प्रत्येक पाठक हमारे प्रति थोड़ा भी प्रेम प्रदर्शित करनेकी कृपा करें तो हमारा यह रीता घड़ा परिपूर्ण हो जाय । क्या उदार और प्रेमी पाठक इतनी भिक्षा हमें दे सकेंगे ? यह हम हृदयसे कहते हैं, हमें धनकी या और किसी सांसारिक उपभोगोंकी अभी तो इच्छा प्रतीत होती नहीं । आगेकी वह साँवला जाने । अच्छे-अच्छोंको लाकर फिर उसने इसी मायाजालमें फँसा दिया है, फिर हम-जैसे कीट-पतङ्गोंकी तो गणना ही क्या ! उसे तो अभीतक देखा ही नहीं । शास्त्रोंसे यह बात सुनी है कि प्रेमी भक्त ही उसके स्वरूप हैं, इसीलिये उनके सामने अकिञ्चन भिखारीकी तरह हम पल्ला पसारकर भीख माँग रहे हैं । हमें यह भी विश्वास है कि इतने बड़े दाताओंके दरवाजोंमे हम निराश होकर न लौटेंगे, अवश्य ही हमारी झोलीमें वे कुछ-न-कुछ तो डालेंगे ही । भीख माँगनेवाला कोई गीत गाकर या कुछ कहकर ही दाताओंके चित्तको अपनी ओर खींचकर भीख माँगता है । अतः हम भी चैतन्योक्त इन आठ श्लोकोंको ही कहकर पाठकोंसे भीख माँगते हैं ।

(१)

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

जो चित्तरूपी दर्पणके मैलको मार्जन करनेवाला है, जो संसार-रूपी महादावाग्निको शान्त करनेवाला है, प्राणियोंको मङ्गलदायिनी कैरव चन्द्रिकाको वितरण करनेवाला है, जो विद्यारूपी वधूका जीवन-स्वरूप है और आनन्दरूपी समुद्रको प्रतिदिन बढ़ानेहीवाला है उस श्रीकृष्णसंकीर्तनकी जय हो, जय हो !

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

(२)

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पितानियमितः स्मरणेन कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥

प्राणनाथ ! तुम्हारी कृपामें कुछ कसर नहीं और मेरे दुर्भाग्यमें कुछ सन्देह नहीं । भला, देखो तो सही तुमने 'नन्द-नन्दन' 'व्रजचन्द्र' 'मुरलीमनोहर' 'राधारमण' ये कितने सुन्दर-सुन्दर कानोंको प्रिय लगनेवाले अपने मनोहारी नाम प्रकट किये हैं, फिर वे नाम रीते ही हों सो बात नहीं, तुमने अपनी सम्पूर्ण शक्ति सभी नामोंमें समानरूपसे भर दी है। जिसका भी आश्रय ग्रहण करें, उसीमें तुम्हारी पूर्ण शक्ति मिल जायगी।

सम्भव है, वैदिकक्रिया-कलापोंकी भाँति तुम उनके लेनेमें कुछ देश, काल और पात्रका नियम रख देते तो इसमें कुछ कठिनता होनेका भय भी था, सो तुमने तो इन बातोंका कोई भी नियम निर्धारित नहीं किया। स्त्री हो, पुरुष हो, द्विज हो, अन्त्यज हो, शूद्र हो, अनार्य हो, कोई भी क्यों न हो, सभी प्राणी शुचि-अशुचि किसीका भी विचार न करते हुए सभी अवस्थाओंमें, सभी समयोंमें सर्वत्र उन सुमधुर नामोंका संकीर्तन कर सकते हैं। हे भगवन्! तुम्हारी तो जीवोंके ऊपर इतनी भारी कृपा और मेरा ऐसा भी दुर्दैव कि तुम्हारे इन सुमधुर नामोंमें सच्चे हृदयसे अनुराग ही उत्पन्न नहीं होता।

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

(३)

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

हरिनामसंकीर्तन करनेवाले पुरुषको किस प्रकारके गुरु बनाने चाहिये और दूसरोंके प्रति उसका व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसको कहते हैं—'भागवत बननेवालेको मुख्यतया दो गुरु बनाने चाहिये— एक तो तृण और दूसरा वृक्ष।' तृणसे तो नम्रताकी दीक्षा ले, तृण सदा सबके पैरोंके नीचे ही पड़ा रहता है। कोई दयालु पुरुष उसे उठाकर आकाशमें चढ़ा भी देते हैं, तो वह फिर ज्यों-का-त्यों ही पृथ्वीपर आकर पड़ जाता है। वह स्वप्नमें भी किसीके सिरपर चढ़नेकी इच्छा नहीं करता। तृणके अतिरिक्त दूसरे गुरु 'वृक्ष' से 'सहिष्णुता' की दीक्षा लेनी चाहिये। सुन्दर वृक्षका जीवन परोपकारके ही लिये होता है। वह भेद-भाव शून्य होकर समानभावसे सभीकी सेवा करता रहता है।

जिसकी इच्छा हो वही उसकी सुखद शीतल सघन छायामें आकर अपने तनकी ताप बुझा ले। जो उसकी शाखाओंको काटता है, उसे भी वह वैसी ही शीतलता प्रदान करता है और जो जल तथा खादसे उसका सिञ्चन करता है, उसको भी वैसी ही शीतलता। उसके लिये शत्रु-मित्र दोनों समान हैं। उसके पुष्पोंकी सुगन्धि जो भी उसके पास पहुँच जाय, वही ले सकता है। उसके गोंदको जो चाहे छुटा लावे। उसके कच्चे-पके फलोंको जिसकी इच्छा हो, वही तोड़ लावे। वह किसीसे भी मना नहीं करेगा। दुष्ट स्वभाववाले पुरुष उसे खूब फलोंसे समृद्ध देखकर डाह करने लगते हैं और ईर्ष्यावश उसके ऊपर पत्थर फेंकते हैं किन्तु वह उनके ऊपर तनिक भी रोष नहीं करता, उलटे उसके पास यदि पके फल हुए तो सर्वप्रथम तो प्रहार करनेवालेको पके ही फल देता है, यदि पके फल उस समय न मौजूद हुए तो कच्चे ही देकर अपने अपकारीके प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करता है। दुष्ट स्वभाववाले उसीकी छायामें बैठकर शान्तिलाभ करते हैं, पीछेसे उसकी सीधी शाखाओंको काटनेकी इच्छा करते हैं। वह बिना किसी आपत्तिके अपने शरीरको कटाकर उनके कामोंको पूर्ण करता है। उस गुरुसे सहिष्णुता सीखनी चाहिये।

मान तो मृगतृष्णाका जल है, इसलिये मानके पीछे जो पड़ा, वह प्यासे हिरणकी भाँति सदा तड़फ-तड़फकर ही मरता है, मानका कहीं अन्त नहीं, ज्यों-ज्यों आगेको बढ़ते चलो त्यों-ही-त्यों वह वालुकामय जल और अधिक आगे बढ़ता चलेगा। इसलिये वैष्णवको मानकी इच्छा कभी न करनी चाहिये, किन्तु दूसरोंको सदा मान प्रदान करते रहना चाहिये। सम्मानरूपी सम्पत्तिकी अनन्त खानि भगवान्‌ने हमारे हृदयमें दे रक्खी है। जिसके पास धन है और वह धनकी आवश्यकता रखनेवाले व्यक्तिको उसके माँगनेपर नहीं देता, तो वह 'कंजूस' कहलाता है।

इसलिये सम्मानरूपी धनको देनेमें किसीके साथ कंजूसी न करनी चाहिये। तुम परम उदार बनो, दोनों हाथोंसे सम्पत्तिको लुटाओ, जो तुमसे मानकी इच्छा रक्खें उन्हें तो मान देना ही चाहिये, किन्तु जो न भी माँगें उन्हें भी बस भर-भरकर देते रहो। इससे तुम्हारी उदारतासे सर्वान्तर्यामी प्रभु अत्यन्त ही प्रसन्न होंगे। सभीमें उसी प्यारे प्रभुका रूप देखो। सभीको उनका ही विग्रह समझकर नम्रतापूर्वक प्रणाम करो। ऐसे बनकर ही इन सुमधुर नामोंके संकीर्तन करनेके अधिकारी बन सकते हो—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

(४)

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

संसारमें सब सुखोंकी खानि धन है। जिसके पास धन है, उसे किसी बातकी कमी नहीं। धनी पुरुषके पास गुणी, पण्डित तथा भाँति-भाँतिकी कलाओंके कोविद आप-से-आप ही आ जाते हैं। धनसे भी बढ़कर शक्तिशालिनी जन सम्पत्ति है। जिसकी आज्ञामें दस आदमी हैं। जिसके कहनेसे अनेकों आदमी क्षणभरमें रक्त बहा सकते हैं, वह अच्छे-अच्छे धनिकोंकी भी परवा नहीं करता। पैसा पास न होनेपर भी अच्छे-अच्छे लखपती-करोड़पती उससे थर-थर काँपते हैं। उस जनशक्तिसे भी बढ़कर आकर्षक सुन्दरी है। सुन्दरी संसारमें किसके मनको आकर्षित नहीं कर सकती। अच्छे-अच्छे करोड़पतियोंके कुमार सुन्दरीके तनिक-से कटाक्षपर लाखों रुपयोंको पानीकी तरह बहा देते हैं।

हजारों वर्षोंकी सञ्चित की हुई तपस्याको अनेकों तपस्वीगण उसकी टेढ़ी भौंहके ऊपर वार देनेको बाध्य होते हैं। धनी हो चाहे गरीब, पण्डित हो चाहे मूर्ख, शूरवीर हो अथवा निर्बल, जिसके ऊपर भी भौंहरूपी कमानसे कटाक्षरूपी बानको खींचकर सुन्दरीने एक बार मार दिया प्रायः वह मूर्छित हो ही जाता है। तभी तो राजर्षि भर्तृहरिने कहा है 'कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः' अर्थात् कामदेवके मदको चूर्ण करनेवाले इस संसारमें विरले ही मनुष्य हैं। कामदेवकी सहचरी सेनानायिका सुन्दरी ही है। उस सुन्दरीसे भी बढ़कर कविता है। जिसको कविताकामिनीने अपना कान्त कहकर वरण कर लिया है, उसके मन त्रैलोक्यकी सम्पत्ति भी तुच्छ है। वह धनहीन होनेपर भी शाहंशाह है। प्रकृति उसकी मोल ली हुई चेरी है। वह राजा है, महाराजा है, दैव है और विधाता है। इस संसारमें कमनीय कवित्व-शक्ति किसी विरले ही भाग्यवान् पुरुषको प्राप्त हो सकती है। किन्तु प्यारे! मैं तो धन, जन, सुन्दरी तथा कविता इनमेंसे किसी भी वस्तुकी आकांक्षा नहीं रखता। तब तुम पूछोगे—'तो तुम और चाहते ही क्या हो।' इसका उत्तर यही है कि हे जगदीश! मैं कर्मबन्धनोंको मेटनेकी प्रार्थना नहीं करता। मेरे प्रारब्धको मिटा दो ऐसी भी आकांक्षा नहीं रखता। भले ही मुझे चौरासी लाख क्या चौरासी अरब योनियोंमें भ्रमण करना पड़े, किन्तु प्यारे प्रभो! तुम्हारी स्मृति हृदयसे न भूले। तुम्हारे पुनीत पाद-पद्मोंका ध्यान सदा अक्षुण्ण भावसे ज्यों-का-त्यों ही बना रहे। तुम्हारे प्रति मेरी अहैतुकी भक्ति उसी प्रकार बनी रहे। मैं सदा चिल्लाता रहूँ—

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!
हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

१)

(१ किङ्करं

अयि नन्दतनूज ां विषमे भवाम्बुधौ।

पतितं म पादपङ्कज-

कृपया तव सदृशं विचिन्तय ॥

स्थितधूली

है। मुझे इसमें तुमने क्यों फेंक दिया,

यह संसार समुद्रके समान हैयत नहीं। मैं अपने कर्मोंके अधीन
हे नाथ! इसकी मुझे कोई शिकावार-बार डूबता हूँ और फिर तुम्हारी
होकर ही इसमें गोते लगा रहा हूँ। हूँ। इस अथाह सागरके सम्बन्धमें
करुणाके सहारे ऊपर तैरने लगताउना गहरा है, किन्तु हे मेरे रमण!
मैं कुछ भी नहीं जानता कि यह कितक गया हूँ। कभी-कभी खारा पानी
मैं इसमे डुबकियाँ मारते-मारते भी लगती है। कभी कानोंमे पानी भर
मुँहमें चला जाता है, तो कै-सी होने जलसे चिरचिराने लगती हैं। कभी-
जाता है, तो कभी आँखें ही नमकीन जाता है। हे मेरे मनोहर मल्लाह!
कभी नाकमें होकर भी जल चअपना नौकर जानकर, सेवक समझकर
हे मेरे कोमलप्रकृति केवट! मुझे ग्वालेके छोकरे हो न, बड़े चपल हो।
कहीं बैठनेका स्थान दो। तुम तो ! बैठनेके लिये तुम्हें स्थान कहाँ दूँ।
पूछ सकते हो, 'इस अथाह जलमें तुम्हें बिठा दूँ।' तो हे मेरे रसिक-
मेरे पास नाव भी तो नहीं जिसमें ता, तुम्हें सुलाता नहीं, सुझाता हूँ।
शिरोमणि! मैं चालाकी नहीं क जलमें रहनेपर भी नहीं डूबता और
तुम्हारे पास एक ऐसा स्थान है, जोहुओंको आश्रय दे रक्खा है। तुम्हारे
उसमें तुमने मुझ-जैसे अनेकों डूबते मत हैं, ये तो जलमें ही रहनेके आदी
ये अरुण वर्णके जो कोमल चरणक कण जलमें रहते हुए भी निश्चिन्त
हैं। इन कमलोंमें सैकड़ों धूलिकेनन्दजीके लाड़िले लाल! उन्हीं धूलि-
रूपसे बिना डूबे ही बैठे हैं। हे मुझे भी उन पावन पद्मोंमें रेणु बनाकर
कणोंमें मेरी भी गणना कर लो। मु

बिठा लो। वहाँ बैठकर मैं तुम्हारी धीरे-धीरे पैर हिलानेकी क्रीड़ाके साथ थिरक-थिरककर सुन्दर स्वरसे इन नामोंका गायन करता रहूँगा—

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!
हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

(६)

नयनं गलदश्रुधारया
वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा
तव नामग्रहणे भविष्यति॥

प्यारे! मैंने ऐसा सुना है कि आँसुओंके भीतर जो सफेद-सफेद काँचका-सा छोटा-सा घर दीखता है, उसीके भीतर तुम्हारा घर है। तुम सदा उसीमें वास करते हो। यदि यह बात ठीक है, तब तो प्रभो! मेरा नाम लेना व्यर्थ ही है। मेरी आँखें आँसू तो बहातीं ही नहीं, तुम तो भीतर ही छिपे बैठे रहते होगे। बोलना-चालना तो वाचालतामें होता है, तुम सम्भवतया मौनियोंसे प्यार करते होगे, किन्तु दयालो! मौन कैसे रहूँ? यह वाणी तो अपने-आप ही फूट पड़ती है। वाणीको रोक दो, गलेको रुद्ध कर दो, जिससे स्पष्ट एक भी शब्द न निकल सके। सुस्तीमें सभी वस्तुएँ शिथिल हो जाती हैं। तुम कहते हो—'तेरे ये शरीरके बाल क्यों पड़े हैं?' प्यारे! इनमें विद्युत्का सञ्चार नहीं हुआ है। अपनी विरहरूपी बिजली इनमें भर दो जिससे ये तुम्हारे नामका शब्द सुनते ही चौंककर खड़े हो जायँ। हे मेरे विधाता! इनकी सुस्ती मिटा दो, इनमें ऐसी शक्ति भर दो जिससे फुरहुरी आती रहें। बस, जहाँ तुम्हारे नामकी ध्वनि सुनी, वहीं दोनों नेत्र लबालब अश्रुसे भर आये, वाणी अपने-आप ही

रुक गयीं, शरीरके सभी रोम बिल्कुल खड़े हो गये। प्यारे! तुम्हारे इन मधुर नामोंको लेते हुए कभी मेरी ऐसी स्थिति हो भी सकेगी क्या?

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!
हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

(७)

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

हाय रे प्यारे! लोग कहते हैं आयु अल्प है, किन्तु प्यारे! मेरी आयु तो तुमने अनन्त कर दी है और तुम मुझे अमर बनाकर कहीं छिप गये हो। हे चोर! जरा आकर मेरी दशा तो देखो। तुम्हें बिना देखे मेरी कैसी दशा हो रही है, जिसे लोग "निमेष" कहते हैं, पलक मारते ही जिस समयको व्यतीत हुआ बताते हैं, वह समय मेरे लिये एक युगसे भी बढ़कर हो गया है। इसका कारण है तुम्हारा विरह। लोग कहते हैं, वर्षा चार ही महीने होती है, किन्तु मेरा जीवन तो तुमने वर्षामय ही बना दिया है। मेरे नेत्रोंसे सदा वर्षाकी धाराएँ ही छूटती रहती हैं क्योंकि तुम दीखते नहीं हो, कहीं दूर जाकर छिप गये हो। नैयायिक चौबीस गुण बताते हैं, सात पदार्थ बताते हैं। इस संसारमें विविध प्रकारकी वस्तुएँ बतायी जाती हैं, किन्तु प्यारे मोहन! मेरे लिये तो यह सम्पूर्ण संसार सूना-सूना-सा ही प्रतीत होता है, इसका एकमात्र कारण है तुम्हारा अदर्शन। तुम मुझे यहाँ फँसाकर न जाने कहाँ चले गये हो, इसलिये मैं सदा रोता-रोता चिल्लाता रहता हूँ—

श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!
हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

(८)

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥

हे सखि ! इन व्यर्थकी बातोंमें क्या रक्खा है । तू मुझे उसके गुणोंको क्यों सुनाती है ? वह चाहे दयामय हो या धोखेबाज, प्रेमी हो या निष्ठुर, रसिक हो या जारशिरोमणि । मैं तो उसकी चेरी बन चुकी हूँ । *मैंने तो अपना अंग उसे ही अर्पण कर दिया है ।* वह चाहे तो इसे हृदयसे चिपटाकर प्रेमके कारण इसके रोमोंको खड़ा कर दे या अपने विरहमें जलसे निकाली हुई मर्माहत मछलीकी भाँति तड़फाता रहे । मैं उस लम्पटके पाले अब तो पड़ ही गयी हूँ । अब सोच करनेसे हो ही क्या सकता है, जो होना था सो हो चुका । मैं तो अपना सर्वस्व उसपर वार चुकी । वह इस शरीरका स्वामी बन चुका । अब कोई अपर पुरुष इसकी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देख सकता । उसके अनन्त सुन्दर और मनोहर नाम हैं, उनमेसे मैं तो रोते-रोते इन्हीं नामोंका उच्चारण करती हूँ—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

प्रेमी पाठकोंका प्रेम दिन दूना रात चौगुना बढ़ता रहे, क्या इस भिखारीको भी उसमेंसे एक कण मिलेगा ?

इति शम् ।

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

क्योंकि तुम दीखते नहीं हो, कहीं दूर
चौबीस गुण बताते हैं, सात पदार्थ बताते हैं ।
वस्तुएँ बतायी जाती हैं, किन्तु प्यारे मोहन !
संसार सूना-सूना-सा ही प्रतीत होता है, इस
तुम्हारा अदर्शन ! तुम मुझे यहाँ फँसाकर न जाने
इसलिये मैं सदा रोता-रोता चिल्लाता रहता हूँ—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !

हे नाथ ! नारायण ! वा

श्रीहरिः

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीबदरीनारायणसे लौटनेपर जब यहाँ आया था, तब वही एक जलपात्र, भिक्षापात्र और टाटकी कथरी मेरी सम्पत्ति थी। यहाँ आनेपर बहुत दिनोंके पश्चात् पुस्तक लिखनेकी प्रेरणा हुई और उसी समय सभी आवश्यकीय पुस्तकें भी बिना विलम्बके एकत्रित हो गयीं। जिसने लिखवानेकी प्रेरणा की उसीने पुस्तकें जुटा दीं। उसकी लीला है, उसे धन्यवाद तो क्या दूँ! सेवकके धन्यवादका मूल्य ही क्या है? मूल्य न भी हो, तो भी मैं बिना ही मूल्य दे दूँ तो यह मेरी अनधिकार चेष्टा समझी जायगी। अतः उन भगवत्कृपापात्र बन्धुओंका ही शुभनाम मैं यहाँ दिये देता हूँ, जिनके पवित्र हृदयमें उसने ऐसी परम पावन प्रेरणा की। जितनी पुस्तकोंकी मैं सूची दे रहा हूँ, उनमेंसे मैंने किसीको तो केवल उलट-पुलटकर ही देखा, किसीकी विषय-सूची ही देखी, किसीको कुछ पढ़ा भी। आद्योपान्त पूरी तो शायद ही कोई पढ़ी हो। कहावत है—'लेखक लोग पुस्तकें पढ़ते नहीं सूँघते हैं।' यथार्थ बात ऐसी ही है। इन पुस्तकोंको मैंने केवल सूँघाभर है। फिर भी उनका उल्लेख कर देना तो आवश्यक ही है। लेखक, प्रकाशक, अनुवादक सभीके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

विनीत—लेखक

श्रीहरिः

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीवदरीनारायणसे लौटनेपर जब यहाँ आया था, तब वही एक जलपात्र, भिक्षापात्र और टाटकी कथरी मेरी सम्पत्ति थी। यहाँ आनेपर बहुत दिनोंके पश्चात् पुस्तक लिखनेकी प्रेरणा हुई और उसी समय सभी आवश्यकीय पुस्तकें भी विना विलम्बके एकत्रित हो गयीं। जिसने लिखवानेकी प्रेरणा की उसीने पुस्तकें जुटा दीं। उसकी लीला है, उसे धन्यवाद तो क्या दूँ? सेवकके धन्यवादका मूल्य ही क्या है? मूल्य न भी हो, तो भी मैं विना ही मूल्य दे दूँ तो यह मेरी अनाधिकार चेष्टा समझी जायगी। अतः उन भगवत्कृपापात्र बन्धुओंका ही शुभनाम मैं यहाँ दिये देता हूँ, जिनके पवित्र हृदयमे उसने ऐसी परम पावन प्रेरणा की। जितनी पुस्तकोंकी मैं सूची दे रहा हूँ, उनमेंसे मैंने किसीको तो केवल उलट-पुलटकर ही देखा, किसीकी विषय-सूची ही देखी, किसीको कुछ पढ़ा भी। आद्योपान्त पूरी तो शायद ही कोई पढ़ी हो। कहावत है—'लेखक लोग पुस्तकें पढ़ते नहीं सूँघते हैं।' यथार्थ बात ऐसी ही है। इन पुस्तकोंको मैंने केवल सूँघाभर है। फिर भी उनका उल्लेख कर देना तो आवश्यक ही है। लेखक, प्रकाशक, अनुवादक सभीके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

विनीत—लेखक

	नाम पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	किनके द्वारा प्राप्त
१	श्रीश्रीचैतन्यभागवत आदिखण्ड (बंगला)	श्रीवृन्दावनदासठाकुर; श्री-भक्तिसिद्धान्तसरस्वतीद्वारा सम्पादित । गौड़ीय भाष्य	श्रीगौड़ीयमठ, कलकत्ता	पू० हरिबाबाजी
२	श्रीश्रीचैतन्यभागवत मध्यखण्ड (बंगला)	"	"	"
३	श्रीश्रीचैतन्यमंगल	श्रीलोचनदासठाकुर; श्रीभक्ति-सिद्धान्तसरस्वतीद्वारा सम्पादित	श्रीचैतन्यमठ, नदिया	"
४	श्रीअमियनिमाईचरित (प्रथम खण्ड)	श्रीशिशिरकुमार घोष	नं० २ आनन्द चट्टो-पाध्याय लैन बागबाजार, कलकत्ता	श्रीरामेश्वरप्रसादजी गँवा (बदायूँ)
५	श्रीअमियनिमाईचरित (द्वितीय खण्ड)	"	"	"
६	" तृतीय खण्ड	"	"	"
७	" चतुर्थ खण्ड	"	"	"
८	" पञ्चम खण्ड	"	"	"
९	" षष्ठ खण्ड	"	"	"

१०	लार्ड गौराङ्ग (अंग्रेजी) (प्रथम खण्ड)	श्रीशिशिरकुमार घोष	'अमृतबाजार, पत्रिका' कार्यालय, कलकत्ता	पू० हरिबाबाजी
११	,, (द्वितीय खण्ड)	,,	,,	,,
१२	लाइफ ऑफ लव			
१३	श्रीरायरामानन्द (बंगला)	श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण	नं० २५ बागबाजार स्ट्रीट कलकत्ता	श्रीरामेश्वरप्रसादजी गँवा (बदायूँ)
१४	श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत (बंगला)	श्रीकविराज कृष्णदास गोस्वामीविरचित (अमृत-प्रवाह और अनुभाष्यसहित)	गौड़ीय मठ, कलकत्ता	,,
१५	गम्भीराय श्रीगौराङ्ग (बंगला)	श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण	नं० २५ बागबाजार स्ट्रीट कलकत्ता	,,
१६	नीलाचले व्रजमाधुरी (बंगला)	,,	,,	,,
१७	श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत (बंगला) (प्रथम खण्ड)	श्री 'म' कथित	१३। २ गुरुप्रसाद चौधरी लैन, कलकत्ता	,,

२५	ब्रजमाधुरीसार (हिन्दी)	सं० वियोगीहरिजी	हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग	श्रीरामेश्वरप्रसादजी, गँवा (बदायूँ)
२६	श्रीचैतन्यचरितामृत मूल (बंगला)	श्रीकविराज कृष्णदासजी गोस्वामी	श्रीविपिनविहारी विश्वास, कलकत्ता	लाला बाबूलालजी, गँवा (बदायूँ)
२७	श्रीमद्भागवत (मूल)	भगवान् वेदव्यासप्रणीत	श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेस, मुम्बई	,,
२८	श्रीश्रीभक्तमाल (बंगला)	श्रीलालदासबाबाजी (कृष्णदास) नाभाजीकी भक्तमाला बंगला अनुवाद	नं० २१ नन्दकुमार चौधरी द्वितीय लेन, कलकत्ता	,,
२९	श्रीमद्भागवत (हिन्दी अनुवाद)(प्रथम खण्ड)	श्री० कु० रामस्वरूप शर्मा कृत अनुवाद	लक्ष्मीनारायणप्रेस मुरादाबाद	,,
३०	,, (द्वितीय खण्ड)	,,	,,	,,
३१	श्रीमद्भागवत (चूर्णिका टीका, संस्कृत)			श्रीठाकुरद्वारा पुस्तकालय गँवा (बदायूँ)
३२	श्रीमद्भागवत (श्रीधरी टीका)	श्रीधरस्वामीकृत संस्कृत टीका	लीथोकी छपी	,,
३३	,,	,,	,,	पं० बदरीप्रसादजी, अनूपशहर

	नाम पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	किनके द्वारा प्राप्त
१८	श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत (बंगला) (द्वितीय खण्ड)	श्री'म'कथित	१३ । २ गुरुप्रसाद चौधरी लैन, कलकत्ता	श्रीरामेश्वरप्रसादजी, गॅवा (बदायूँ)
१९	" (तृतीय खण्ड)	"	"	"
२०	" (चतुर्थ खण्ड)	"	"	"
२१	गीतगोविन्दम् (बंगाक्षरोंमें)	श्रीकविजयदेवविरचितम् संस्कृतटीका, बंगानुवाद	" १६६, बहुबाजार स्ट्रीट कलकत्ता	" "
२२	रामचरितमानस (हिन्दी)	गो० तुलसीदासजी, बाबू श्यामसुन्दरलाल बी० ए० द्वारा भाषाटीका	इण्डियन-प्रेस, प्रयाग	"
२३	विनय-पत्रिका (हिन्दी)	गो० तुलसीदासजी, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकृत भाषाटीका	गीताप्रेस, गोरखपुर	"
२४	श्रीविष्णुप्रियागौराङ्गस्तवावली (संस्कृत)	अ० श्रीरामानन्द व्याख्यानविशारद	ला० हरजीमल गणेशीलाल नया बाजार, दिल्ली	"

२५	व्रजमाधुरीसार (हिन्दी)	सं० वियोगीहरिजी	हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग	श्रीरामेश्वरप्रसादजी, गँवा (बदायूँ)
२६	श्रीचैतन्यचरितामृत मूल (बंगला)	श्रीकविराज कृष्णदासजी गोस्वामी	श्रीविपिनविहारी विश्वास, कलकत्ता	लाला बाबूलालजी, गँवा (बदायूँ)
२७	श्रीमद्भागवत (मूल)	भगवान् वेदव्यासप्रणीत	श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेस, मुम्बई	„
२८	श्रीश्रीभक्तमाल (बंगला)	श्रीलालदासबाबाजी (कृष्णदास) नाभाजीकी भक्तमाला बंगला अनुवाद	नं० २१ नन्दकुमार चौधरी द्वितीय लैन, कलकत्ता	„
२९	श्रीमद्भागवत (हिन्दी अनुवाद) (प्रथम खण्ड)	श्रृ० कु० रामस्वरूप शर्मा कृत अनुवाद	लक्ष्मीनारायणप्रेस मुरादाबाद	„
३०	„ (द्वितीय खण्ड)	„	„	„
३१	श्रीमद्भागवत (चूर्णिका टीका, संस्कृत)			श्रीठाकुरद्वारा पुस्तकालय गँवा (बदायूँ)
३२	श्रीमद्भागवत (श्रीधरी टीका)	श्रीधरस्वामीकृत संस्कृत टीका	लीथोकी छपी	„
३३	„	„	„	पं० बदरीप्रसादजी, अनूपशहर

	नाम पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	किनके द्वारा प्राप्त
४५	श्रीमाध्वगौड़ीयतत्त्व-दिग्दर्शनम्	श्रीबाँकेविहारीलालजी 'बाँकेपिया'	निदानमहलरोड, लखनऊ	आचार्य श्रीअनन्तलाल गोस्वामी राधारमणजीका मन्दिर श्रीवृन्दावन
४६	भक्तचरितावली (हिन्दी)	श्रीशशिभूषण वसुकी बंगला पुस्तकका अनुवाद, अ० लक्ष्मीप्रसाद पाण्डेय	इण्डियनप्रेस, प्रयाग	बाबू रामशरणजी अग्रवाल, बी० ए०, एल० टी० मास्टर, डी० ए० वी० हाई स्कूल, बुलन्दशहर
४७	श्रीसुभाषितरत्नभाण्डागारम् (संस्कृत)	श्रीकाशीनाथ शर्माद्वारा संगृहीत	निर्णयसागर-प्रेस, मुम्बई	श्रीरारमज पं० गंगासहायजी गँवा (बदायूँ)
४८	श्रीगौराङ्गमहाप्रभु(हिन्दी)	बा० शिवनन्दनसहायजी	खड्गविलासप्रेस, बाँकीपुर	श्रीआनन्द ब्रह्मचारीजी

४९	भक्तचरितावली (हिन्दी)	श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी	हिन्दीप्रेस, प्रयाग	श्रीआनन्द-ब्रह्मचारीजी
५०	श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि खण्ड) हिन्दी	अनु० श्रीराधाचरण गोस्वामी	श्रीराधारमणजीका मन्दिर, श्रीवृन्दावन	पू० हरिबाबाजी
५१	श्रीमनुस्मृति	श्रीकुल्लूक भट्टविरचित टीका		”

इन पुस्तकोंके अतिरिक्त 'कल्याण' सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजीने गीताप्रेससे अबतककी प्रकाशित सभी पुस्तकें तथा श्री बा० बाँकेविहारीलालजी "बाँकेपिया" जीने अपनी बिना मूल्य वितरित की जानेवाली छोटी-छोटी १४ पुस्तकें भेजी थीं। समयाभावके कारण मैं इन्हें देख भी न सका। मेरे विषयसे इनका बहुत ही कम सम्बन्ध था।

विनीत—

लेखक

श्रीचैतन्य-चरित्र-सम्बन्धी ग्रन्थ

विभिन्न भाषाओंमें हमें श्रीचैतन्यदेवके चरित्रसम्बन्धी जिन ग्रन्थोंका पता चला है, उनके नाम नीचे दिये देते हैं—

संस्कृत

१–श्रीमुरारी गुप्तका कड़चा—ले० श्रीमुरारी गुप्त (ये महाप्रभुके समकालीन थे ।)

२–चैतन्य-चरित काव्य—ले० श्रीमुरारी गुप्त ।

३–श्रीचैतन्यचरित महाकाव्य—ले० कवि कर्णपूर (कोई-कोई इसे इनके बड़े भाई चैतन्यदासकृत बताते हैं । ये तीनों भाई प्रभुके सामने वर्तमान थे ।)

४–श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक—ले० कवि कर्णपूर ।

५–श्रीगौरगणोद्देशदीपिका—ले० कवि कर्णपूर (इसमें कौन गौरभक्त किस सखीके अवतार हैं, यह बात बतायी गयी है ।)

६–श्रीचैतन्यचन्द्रामृत—श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीकृत ।

७–श्रीगोविन्दकड़चा—ले० श्रीगोविन्ददासजी ।

८–श्रीचैतन्यचरित—श्रीचूड़ामणिदासकृत ।

९–श्रीकृष्णचैतन्योदयावली—श्रीप्रद्युम्न मिश्रकृत (ये महाप्रभुके चचेरे भाई थे ।)

१०–अनन्तसंहिता ।

११–चैतन्यस्तवकल्पवृक्ष—(यह स्तवावलीके ही अन्तर्गत है, श्री० गो० रघुनाथदासकृत ।)

१२–श्रीचैतन्यशतक—श्री० कवि कर्णपूर ।

१३–श्रीचैतन्यशतक—श्रीवासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य ।

१४–श्रीमद्गौराङ्गलीलास्मरणमंगलस्तोत्र । —श्रीकेदारनाथभक्तिविनोद

बँगला

१५–श्रीचैतन्यभागवत— श्रीवृन्दावनदास ठाकुरकृत ।

१६–श्रीचैतन्यचरितामृत—श्रीगोस्वामी कृष्णदासजी कविराजकृत ।

१७–श्रीचैतन्यमंगल—ठाकुर लोचनदासजीकृत ।

१८–मनःसन्तोषिनी—श्रीजगजीवनजी (श्रीकृष्णचैतन्योदयावलीका बँगला अनुवाद है ।)

१९–श्रीनरोत्तम ठाकुरकी पदावली ।

२०–'महाप्रकाश'—श्री० वासुदेव घोष, माधव घोष और गोविन्द घोष (ये तीनों सगे भाई थे, एक पद्यमें तीनों ही अपना नाम देते हैं, तीनों ही प्रसिद्ध पदकार और प्रभुके भक्त थे ।)

२१–गौराङ्ग-उदय—श्रीमुकुन्द पारिषद ।

२२–गौर-चन्द्रिका—श्रीमुकुन्द पारिषद ।

२३–प्रेमविलास—श्रीनित्यानन्ददास (महाप्रभुके पीछेकी लीलाओंका इन्होंने वर्णन किया है ।)

२४–श्रीगौराङ्गमहाभारत—प्रभुपाद हरिदास गोस्वामीद्वारा सम्पादित । (श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीचैतन्यभागवतके पद्योंके भावोंको लेकर पहले यह 'नवद्वीपलीला' और 'नीलाचललीला'के नामसे क्रमशः निकला था । बड़ा भारी पोथा होनेसे ही इसका नाम 'गौराङ्गमहाभारत' रख दिया । बड़े साइजमें छपे हुए १७७४ पृष्ठ हैं और अक्षर भी बहुत महीन हैं ।)

२५–'श्रीअमियनिमाईचरित'—ले० महात्मा शिशिरकुमार घोष (पृथक्-पृथक् छः खण्डोंमें है । घोष महाशय 'अमृतबाजारपत्रिका' नामक अंग्रेजी प्रसिद्ध दैनिक पत्रके सम्पादक थे ।

२६–निमाईसंन्यासनाटक —ले० डी० एल० राय महाशय ।

२७–गम्भीराय श्रीगौराङ्ग—ले० श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण ।

२८–नीलाचलेव्रजमाधुरी—ले० श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण ।

इनके अतिरिक्त श्रीविद्याभूषण महाशयने 'श्रीमद्दासगोस्वामी' 'श्रीस्वरूप दामोदर' 'श्रीराय रामानन्द' नामकी कई बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी हैं । इन सभीमें गौरचरित्र ही है, क्योंकि ये सभी महानुभाव श्रीगौराङ्गके अङ्ग ही थे ।

'श्रीश्रीविष्णुप्रियागौराङ्ग' नामक बँगला मासिक पत्रिकाके सम्पादक श्रीपाद हरिदास गोस्वामीने 'गौराङ्गमहाभारत' के सिवा श्रीश्रीविष्णुप्रियाचरित, श्रीलक्ष्मीप्रियाचरित, श्रीविष्णुप्रियानाटक, श्रीगौरगीतिका, बाङ्गालीर ठाकुर श्रीगौराङ्ग, श्रीविष्णुप्रियाविलापगीति, श्रीमुरारीगुप्त प्रतिष्ठित श्रीनिताई गौरलीलाकाहिनी आदि छोटी-बड़ी बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं, इनकी सबमें ही प्रकारान्तरसे वे ही सब चैतन्य-चरितकी बातें हैं ।

अंग्रेजी

29—Lord Gouranga (In two parts): By Mahatma Shishir Kumar Ghosh.

30—Life of Love.

31—Chaitanya and his Age: By Rai Bahadur Dinesh Chandra Sen.

32—Chaitanya and his Contemporaries: By Rai Bahadur Dinesh Chandra Sen.

33—Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu: By Thakur Bhakti Vinode.

34—Chaitanya's Pilgrimages and Teachings: By Sir Jadunath Sircar.

हिन्दी

३५–श्रीचैतन्यचरितामृत (ब्रजभाषामें प्रतिध्वनि आदि खण्ड) ले० श्रीराधाचरणदास गोस्वामी विद्यावागीश।

३६–श्रीगौराङ्ग महाप्रभु—या० शिवनन्दनसहाय।

गुजराती

३७–प्रेमावतार चैतन्यदेव—श्रीनर्मदाशङ्कर पंड्या।

इनके अतिरिक्त उड़िया, मराठी, तैलगु या अन्य भाषाओंमें श्रीचैतन्यदेवके जीवन-चरित्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ होंगे, उनका हमें पता नहीं चला है। हाँ उर्दूमें ४ भागोंमें एक 'गोराचाँद' नामक ग्रन्थ भी हमने देखा है।